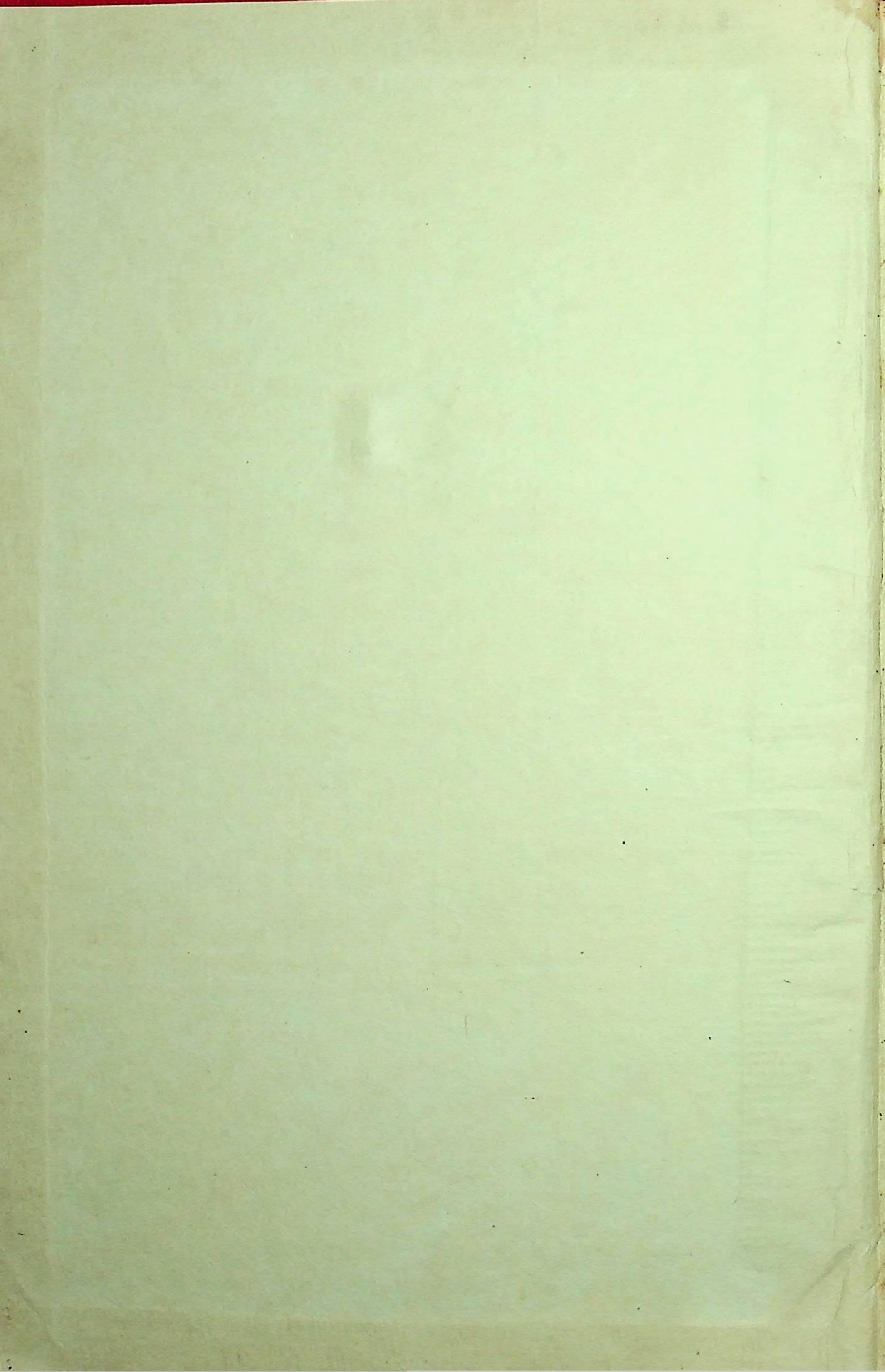
श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य

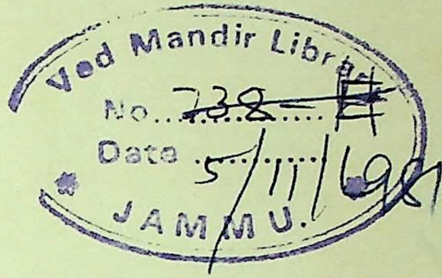
अथवा

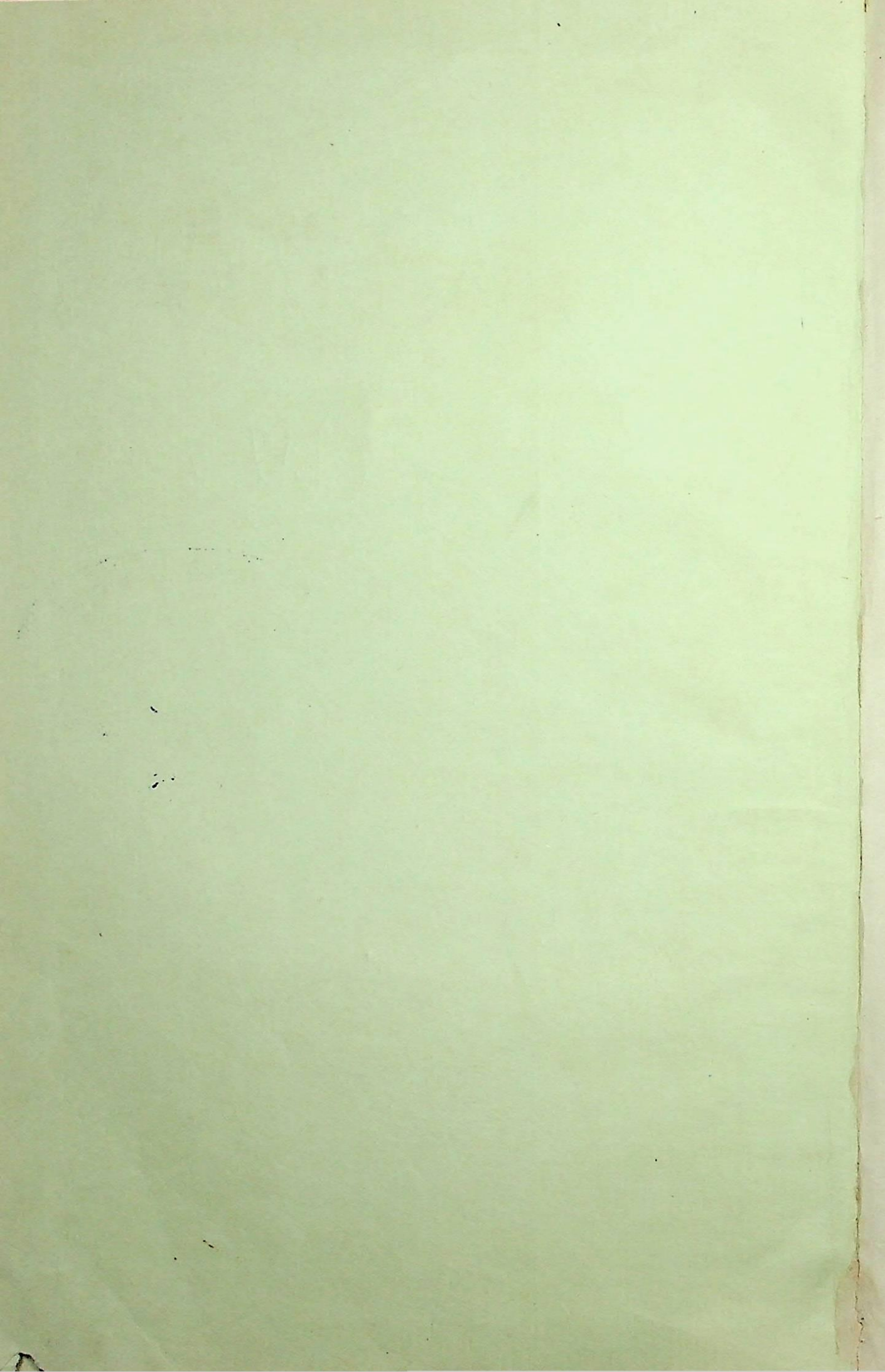
कर्मयोगशास्त्र

लेखक

बाल गंगाधर तिलक







The Hindu Philosophy of Life, Ethics and Religion

ॐ तत्सत् ।

श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य
अथवा
कर्मयोगशास्त्र

गीताकी बहिरंगपरीक्षा, मूल संस्कृत श्लोक, भाषा-अनुवाद, अर्थ-निर्णायक टिप्पणियाँ, पूर्वी और पश्चिमी मतोंकी तुलना, इत्यादिसहित ।

लेखक

लो. बाल गंगाधर तिलक

अनुवाद

श्रीमान माधवरावजी सप्रे

उन्नीसवाँ संस्करण

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
— गीता ३. १९

शक १९०२ : सन् १९८०

मूल्य ५० रुपये

प्रकाशक :

दी. ज. तिलक
शै. श्री. तिलक
५६८ नारायण पेठ
लो. तिलक-मंदिर
(गायकवाड सदन)
पूना ३०

मुद्रक :

सुभाष परशुराम बर्वे,
परशुराम प्रोसेस,
३४।८ एरंडवन
पुणे ४११००४

। अथ समर्पणम् ।

श्रीगीतार्थः क्व गंभीरः व्याख्यातः कविभिः पुरा ।
आचार्यैर्यश्च बहुधा क्व मेऽल्पविषया मतिः ॥
तथापि चापलादस्मि वक्तुं तं पुनरुद्यतः ।
शास्त्रार्थान् संमुखीकृत्य प्रयत्नान् नव्यैः सहोचितैः ॥
तमार्याः श्रोतुमर्हन्ति कार्याकार्य-दिदृक्षवः ।
एवं विज्ञाप्य सुजनान् कालिदासाक्षरैः प्रियैः ॥
बालो गांगाधरिश्चाऽहं तिलकान्वयजो द्विजः ।
महाराष्ट्रे पुण्यपुरे वसन् शांडिल्यगोत्रभृत् ॥
शाके मुन्यग्निवसुभू-संमिते शालिवाहने ।
अनुसृत्य सतां मार्गं स्मरंश्चापि वचो* हरेः ॥
समर्पये ग्रंथमिमं श्रीशाय जनतात्मने ।
अनेन प्रीयतां देवो भगवान् पुरुषः परः ॥

---

* यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

— गीता ९. २७

गीतारहस्यके भिन्न भिन्न संस्करण

मराठी –	पहला	संस्करण	जून १९१५
	दूसरा	,,	सितंबर १९१५
	तीसरा	,,	१९१८
	चौथा	,,	१९२३
	पाँचवाँ	,,	(दो भागोंमें पहला संस्करण) १९२४–१९२६
	छठा	,,	१९५०
	सातवाँ	,,	१९५६
	आठवाँ	,,	१९६३
	नवाँ	,,	१९६८
	दसवाँ	,,	१९७३
हिन्दी –	पहला	,,	१९१७
	दूसरा	संस्करण	१९१८
	तीसरा	,,	१९१९
	चौथा	,,	१९२४
	पाँचवाँ	,,	१९२५
	(दो भागोंमें पहला सस्करण)		१९२६
	छठा	,,	१९२८
	सातवाँ	,,	१९३३
	आठवाँ	,,	१९४८
	नवाँ	,,	१९५०
	दसवाँ	,,	१९५५
	ग्यारहवाँ	,,	१९५९
	बारहवाँ	,,	१९६२
	तेरहवाँ	,,	१९६५
	चौदहवाँ	,,	१९६९
	पंद्रहवाँ	,,	१९७३
	सोलहवाँ	,,	१९७५
	सत्रहवाँ	**,,**	**१९७६**
	अठारहवाँ	**,,**	**१९७८**
	उन्नीसवाँ		**१९८०**
गुजराती –	पहला	,,	१९१७
	दूसरा	,,	१९२४
	तीसरा	,,	१९५६
	चौथा	,,	१९७३

कानडी	–	पहला	संस्करण	१९१९
		दूसरा	,,	१९५६
		तीसरा	,,	१९७१
तेलगू	–	पहला	,,	१९१९
बंगला	–	पहला	,,	१९२४
तमील	–	पहला	,,	(दो भागोंमें अपूर्ण) १९२४
अंग्रेजी	–	पहला	,,	(दो भागोंमें) १९३६
		दूसरा	,,	१९६५
		तीसरा	,,	१९७१

लो. तिलकजीके अंग्रेजी ग्रंथ

(१)	The Orion	पहला	संस्करण	१८९३
	वेदकालका निर्णय	दूसरा	,,	१९१६
		तीसरा	,,	१९२५
		चौथा	,,	१९५५
		पांचवाँ	,,	१९७२
(२)	The Arctic Home in the Vedas	पहला	,,	१९०३
	(आर्योंका मूल निवासस्थान)	दूसरा	,,	१९२५
		तीसरा	,,	१९५६
		चौथा	,,	१९७१
(३)	Vedic Chronology & Vedanga Jyotish (वेदोंका कालनिर्णय और वेदांग ज्योतिष)	पहला	संस्करण	१९२५

भारतीय आध्यात्मिकताका सुमधुर फल

"प्रत्यक्ष अनुभवसे यह स्पष्ट दिखाई देता है, कि श्रीमद्भगवद्गीता वर्तमान युगमेंभी उतनीही नव्यतापूर्ण एवं स्फूर्तिदात्री है, जितनीकी महाभारतमें समाविष्ट होते समय थी। गीताके संदेशका प्रभाव केवल दार्शनिक अथवा विद्वच्चर्चाका विषय नहीं है, अपितु आचार-विचारोंके क्षेत्रमेंभी वह सदैव जीता-जागता प्रतीत होता है। एक राष्ट्र तथा संस्कृतिका पुनरुज्जीवन, गीताका उपदेश, करता रहा है। संसारके अत्युच्च शास्त्रविषयक ग्रंथोंमें गीताका अविरोधसे समावेश हुआ है। गीता-ग्रंथ-पर स्वर्गीय लोकमान्य तिलकजीकी यह व्याख्या निरी मल्लीनाथी व्याख्या नहीं है, वह एक स्वतंत्र प्रबंध है और उसमें नैतिक सत्यका उचित निरूपणभी है। अपनी सूक्ष्म और व्यापक विचारप्रणाली तथा प्रभावोत्पादक लेखनशैलीके कारण मराठी भाषाकी पहला श्रेणीका यह पहला प्रचंड गद्य-ग्रंथ अभिजात वाङ्मयमें समाविष्ट हुआ है। इस एकही ग्रंथसे सिद्ध होता है, कि यदि तिलकजी चाहते, तो मराठी साहित्य और नीतिशास्त्रके इतिहासमें एक अनोखा स्थान पा सकते। किंतु विधाताने उनकी महत्ताके लिये वाङ्मय-क्षेत्र नहीं रखा था, इसलिये केवल मनोरंजनार्थ उन्होंने अनुसंधानका महान् कार्य किया। यह घटना अर्थपूर्ण है, कि उनकी कीर्ति अजरामर करनेवाले उनके अनुसंधान-ग्रंथ, उनके जीवितकार्योंसे विवशतापूर्वक लिये गये विश्रांति-कालमें निर्मित हुए हैं। स्वर्गीय तिलकजीकी प्रतिभाके ये गौण आविष्कारभी इस हेतुसे संबद्ध हैं, कि इस राष्ट्रका महान् भवितव्य उसके उज्ज्वल गतेतिहासके योग्य हो। गीतारहस्यका विषय जो गीता-ग्रंथ है, वह भारतीय आध्यात्मिकताका परिपक्व सुमधुर फल है। मानवी श्रम, जीवन और कर्मकी महिमाका उपदेश अपनी अधिकारवाणीसे देकर, सच्चे अध्यात्मका सनातन संदेश गीता दे रही है, जो कि आधुनिक कालके ध्येयवादके लिये आवश्यक है।"



बाबू अरविंद घोष

— बाबू अरविंद घोष

दिव्य 'टीका'-मौक्तिक

"अपनी बाल्यावस्थामेंही मुझे ऐसे शास्त्रीय ग्रंथकी आवश्यकता प्रतीत हुई, कि जो जीवितावस्थाके मोह तथा कसौटीके समय मेरा अचूक मार्गदर्शन करे। मैंने कहीं पढ़ा था, कि केवल सात सौ श्लोकोंमें गीताने सारे शास्त्रोंका और उपनिषदोंका सार – गागरमें सागर – भर दिया है। मेरे मनका निश्चय हुआ। गीता-पठनके उद्देश्यसे मैंने संस्कृतका अध्ययन किया। गीता मेरा बाइबल या कुराणही नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष माताही है। अपनी लौकिक मातासे तो कई दिनोंसे मैं बिछुड़ा हूँ; किंतु तभीसे गीतामैयाने मेरे जीवनमें माताका स्थान ग्रहण कर लिया है। आपत्कालमें वही मेरा सहारा है।



महात्मा गांधी

स्वर्गीय लोकमान्य तिलकजी अपने अभ्यास एवं विद्वत्ताके ज्ञानसागरसे, 'गीताप्रसाद'के बलपरही, यह दिव्य 'टीका'-मौक्तिक पा सके। बुद्धिसे खोज़ निकालनेके व्यापक सत्यका भंडारही उन्हें गीतामें प्राप्त हुआ।

गीतापर तिलकजीकी यह टीकाही उनका शाश्वत स्मारक है। स्वतंत्रताके युद्धमें विजयश्री प्राप्त होनेपरभी वह सदाके लिये बनाही रहेगा। भविष्यमेंभी, तिलकजीका विशुद्ध चारित्र्य और गीतापर उनकी महान् टीका, इन दोनों बातोंसे उनकी स्मृति चिरप्रेरक होगी। उनके जीवन-कालमें अथवा सांप्रतभी ऐसा कोई व्यक्ति मिलना असंभव है, जिसका उनसे अधिक व्यापक और गहरा शास्त्रज्ञान हो। गीतापर उनकी जो अधिकारयुक्त टीका है, उससे अधिक अच्छे और मौलिक ग्रंथकी निर्मिति न अभीतक हुई है और न निकट भविष्यमें उसके होनेकीभी संभवना है। गीता और वेदसे उत्पन्न समस्याओंका तिलकजीने जिस शास्त्रीय रीतीसे निराकरण किया है, आजतक उससे अधिक शोध-कार्य किसीनेभी नहीं किया है। अथाह विद्वत्ता, असीम स्वार्थत्याग और आजन्म देशसेवाके कारण जनताजनार्दनके हृन्मंदिरमें तिलकजीने अद्वितीय स्थान पा लिया है।"

– महात्मा गांधी

(वाराणसी-कानपुरके अभिभाषण)

प्रकाशकोंका निवेदन

हमारे पितामह स्वर्गीय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक महोदय प्रणीत श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र ग्रंथका उन्नीसवाँ संस्करण प्रकाशित करनेका सुअवसर आज प्राप्त हुआ है। इसके तीन संस्करण लोकमान्यजीके जीवन-कालमेंही प्रसिद्ध हो चुके थे। चतुर्थ संस्करणमें इस ग्रंथका थोड़ेमें इतिहास दिया था। यहाँभी उसको दुहराना हम उचित मानते हैं।

यह सर्वत्र सुविदितही है, कि यह गीतारहस्य ग्रंथ लो. तिलक महोदयने ब्रह्मदेश (बर्मा) के मंडाले नगरके कारागृह-वासके समय लिखा था। हमारे पासकी इस ग्रंथकी पेन्सिलसे लिखी हुई मूल चार हस्तलिखित बहियोंसे ज्ञात होता है कि मंडालेमें दि. २ नवंबर सन् १९१० को इस ग्रंथके लेखनका आरंभ करके, लगभग ९०० पृष्ठोंके इस संपूर्ण ग्रंथका लेखन दि. ३० मार्च १९११ के रोज, अर्थात् केवल पांच महीनोंमें, उन्होंने पूर्ण कर दिया। सोमवार दि. ८ जून १९१४ के रोज लोकमान्य महोदयकी मंडालेके कारागृहसे मुक्तता हुई। वहाँसे पूना लौट आनेपर कई सप्ताहोंतक राह देखनेपरभी, मंडालेके कारागृहके अधिकारीको सौंपे गये गीतारहस्यके हस्त-लिखितोंको जल्द लौटा देनेका सरकारका इरादा दीख नहीं पड़ा। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, त्यों-त्यों सरकारके हेतुके बारेमें लोग अधिकाधिक साशंक होते गये और कोई कोई तो आखिर स्पष्ट कहने लगे, "कि सरकारका लक्षण कुछ ठीक नहीं लगता; मालूम होता है, बहियाँ न देनेका विचार है।" ऐसे शब्द जब किसीके मुँहसे लोकमान्यजी सुनते थे, तब वे कहा करते थे, कि "डरनेका कोई कारण नहीं। यद्यपि बहियाँ सरकारके पास हैं, तोभी ग्रंथका एक-एक शब्द मेरे मस्तिष्कमें है। विश्रामके समय 'सिंहगढ़' किलेपर जाकर अपने बंगलेमें बैठकर मैं फिरसे ग्रंथ यथा-पूर्व लिख डालूँगा।" आत्मविश्वासकी यह तेजस्वी भाषा ढलती उम्रवाले अर्थात् ६० वर्षके वयोवृद्ध गृहस्थकी है, और ग्रंथभी मामूली नहीं, बल्कि गहन तत्त्वज्ञान-विषयक पूरे ९०० पृष्ठोंका है। इन बातोंपर ध्यान देनेसे लोकमान्य महोदयके प्रवृत्तिप्रधान प्रयत्नवादकी यथार्थ कल्पना त्वरित की जा सकती है। सौभाग्यसे तदनंतर जल्दीही सरकारसे सभी बहियाँ सुरक्षित प्राप्त हुईं, और लोकमान्यके जीवन-कालमेंही इस ग्रंथके तीन हिंदी संस्करण प्रकाशित हुए।

ऊपर यह उल्लेख किया गया है, कि गीतारहस्यका मूल हस्तलिखित चार बहियोंमें है। उन बहियोंके संबंधमें अधिक जानकारी इस प्रकार है :–

वही	विषय	पृष्ठ	लेखन-काल
१	रहस्य. प्र. १ से ८	१ से ४१३	२ नवंबर १९१० से ८ दिसंबर १९१०
२	रहस्य. प्र. ९ से १३	१ से ४०२	१३ दिसंबर १९१० से १५ जनवरी १९११
३	रहस्य. प्र. १४ से १५	१ से १४७	१५ जनवरी १९११ से ३० जनवरी १९११
	वहिरंगपरीक्षण	१५१–२४४ ४०१–४१२	
	मुखपृष्ठ, समर्पण	२४५–२४७	
	श्लोकोंका अनुवाद (अध्याय १–३)	२४९–३९९	
४	श्लोकोंका अनुवाद (अध्याय ४ से १८)	१–३४० ३४४–३७४ ३८५–४०७	१० मार्च १९११ से ३० मार्च १९११
	प्रस्तावना	३४१–३४३ ३७५–३८४	

ग्रंथकी अनुक्रमणिका, समर्पण और प्रस्तावनाभी लोकमान्य महोदयने कारागृहमेंही लिखी थी, और स्थान-स्थानपर ऐसी सूचनाएँ लिखकर, कि किस विषयके बाद कौन विषय हो, ग्रंथ परिपूर्ण कर रखा था। इससे ज्ञात होता है, कि उनको यह विश्वास नहीं था, कि अपने जीते जी कारागृहसे मुक्तता होगी या नहीं, और उनकी यह अत्युत्कट इच्छा थी, कि यदि मुक्तता न हो, तोभी अपना परिश्रमपूर्वक संपादन किया हुआ ज्ञान और उससे सूझे हुए विचार व्यर्थ न जायें, बल्कि उनका लाभ अगली पीढ़ीको मिले। पहली दो बहियोंके आरंभमें उन बहियोंमें वर्णित विषयोंकी अनुक्रमणिका है। ग्रंथका मुखपृष्ठ और समर्पण तीसरी बहीके २४५ से २४७ पृष्ठोंमें है और प्रस्तावना चौथी बहीके ३४१ से ३४३ और ३७५ से ३८४ पृष्ठोंमें है। कारागृहसे मुक्तता होनेपर प्रस्तावनामें कुछ सुधार किया गया है और वह प्रकाशन-कालमें सहायक व्यक्तियोंके निर्देशतकही सीमित है। यह विषय प्रथम संस्करणकी प्रस्तावनाके अंतिम परिच्छेदके पहलेके परिच्छेदमें है। अंतिम परिच्छेद तो कारागृहमेंही लिखा हुआ था।

इनमेंसे पहली बहीके पहले आठ प्रकरणोंको 'पूर्वार्ध' संज्ञा दी गई है (यह प्रथम बहीके प्रथम पृष्ठके चित्रसे ज्ञात होगा), दूसरीको उत्तरार्ध भाग पहला और तीसरीको उत्तरार्ध भाग दूसरा, इस प्रकार संज्ञाएँ दी गई हैं। इससे ज्ञात होता है, कि ग्रंथके दो भाग करनेका उनका विचार था। इनमेंसे पहली बहीके आठ प्रकरणोंका हस्तलिखित केवल एक महीनेमेंही लिखकर तैयार हुआ था और येही

प्रकरण अत्यंत महत्त्वके हैं। इससे लोकमान्य महोदयकी इस विषयकी ओतप्रोत तैयारीका और उनके लेखनके अस्खलित प्रवाहका यथार्थ ज्ञान पाठकोंको सहजही होगा। बहीके पृष्ठ फाड़ देनेकी अथवा नये जोडनेकी, कारागृहके नियमानुसार, उनको आज्ञा न थी, किंतु पुनर्विचारसे सूझी बातोंके नये पृष्ठ बीच-बीचमें जोडनेकी सुविधा उनको मिली थी। यह जानकारी दूसरी और तीसरी बहीके आवरणके अंदरके बाजूमें लिखी है। पहली तीन बहियाँ केवल एक-एक महीनेमें लिखी गई हैं और अंतिम बही सिर्फ़ एक पखवाडेमें लिखी गई है। मुख्य विषय दाहिने हाथके पृष्ठोंपर लिखके उनके पीछेके कोरे पृष्ठोंपर अगले पृष्ठोंमें समावेश करनेके लिये नयी बातें लिखी हुई हैं। आशा है, कि मूल हस्तलिखित प्रतिसंबंधी जिज्ञासा उक्त जानकारीसे पूर्ण होगी।

इस ग्रंथका जन्म होनेके पहलेभी प्रस्तुत विषयके संबंधमें उनका व्यासंग जारी था, इसका उत्तम प्रमाण उनके अन्य दो ग्रंथ है। 'मासानां मार्गशीर्षोऽहं' (गीता १०-३५, गीतार. पृष्ठ ७७४) इस श्लोकका अर्थ निश्चित करते समय, उन्होंने वेदोंके महोदधिमें डुबकी लगा कर, 'ओरायन' रूपी रत्न जनताको दे दिया और वेदोदधिका पर्यटन करते करते आर्योंके मूल वसतिस्थानका पता लगाया है। कालानुक्रमसे गीतारहस्य यद्यपि अंतिम ग्रंथ है, तोभी उक्त दो ग्रंथोंका पूर्व वृत्तान्त ध्यानमें रखनेसे, महत्त्वकी दृष्टिसे गीतारहस्यकोही आद्यस्थान देना पड़ता है। गीताविषयक व्यासंगसेही ये ग्रंथ निर्माण हुए हैं। 'ओरायन' ग्रंथकी प्रस्तावनामें लोकमान्य महाशयने गीताके अभ्यासका उल्लेख किया है।

'ओरायन' और 'आर्योंका मूल वसतिस्थान' ये दोनों अंग्रेजी ग्रंथ यथावकाश प्रकाशित हुए और जगत्‌भरमें विख्यात हो गये। परंतु गीतारहस्य लिखनेका मुहूर्त लोकमान्यके तीसरे दीर्घ कारावाससे प्राप्त हुआ। गीतारहस्यके पहलेके दोनों ग्रंथोंका लेखनभी कारागृहमेंही हुआ है। सार्वजनिक कार्य-प्रवृत्तियोंकी उपाधिसे मुक्त होकर ग्रंथलेखनके लिये आवश्यक स्वस्थता कारागृहमें मिल सकी; परंतु प्रत्यक्ष ग्रंथलेखनका आरंभ करनेके पूर्व उनको जिन बड़ी भारी मुसीबतोंका सामना करना पड़ा, उन्हें उनकेही शब्दोंमें इस जगह कहना उचित है – "ग्रंथके संबंधमें तीन बार तीन हुक्म आये ... कुछ दिनके बाद मेरे पास सब पुस्तकें रखनेकी मनाही की गयी और सिर्फ़ चार पुस्तकेंही एक समय रखनेका हुक्म हुआ। उसपर बर्मा सरकारसे अर्ज करनेपर, ग्रंथ लेखनके लिये आवश्यक सब पुस्तकें मेरे पास रखनेकी आज्ञा हुई। जब मैं वहाँसे लौटा, तब पुस्तकोंकी संख्या ३५० से ४०० तक पहुँची थी। ग्रंथलेखनके लिये जो काग़ज़ देते थे, वेभी छूटे न दे कर, जिल्ददार किताब, भीतरके पृष्ठ गिनके और उनपर दोनों ओर क्रमांक लिखकर, देते थे और लिखनेको स्याही न देके सिर्फ़ नोकदार पेन्सिलें देते थे" (लोकमान्य तिलक महाशयके कारागारसे छूटनेके बादकी पहली मुलाक़ात – 'केसरी' दि. ३० जून १९१४)।

इस प्रकार वाचकवृन्द कल्पना कर सकते हैं, कि तिलक महोदयको ग्रंथलेखनमें कैसी-कैसी मुसीबतोंका सामना करना पड़ा होगा, परंतु उनकी चिंता न करके सन् १९१० के जाड़ेमें उन्होंने हस्तलिखित प्रति तैयार कर दी। ग्रंथके हस्तलिखितके तैयार होनेका समाचार उन्होंने सन् १९११ के आरंभके एक पत्रमें दिया था और वह पत्र सन् १९११ के मार्च महीनेके 'मराठा' पत्रके एक अंकमें समग्र प्रसिद्ध हुआ है। गीतारहस्यमें किया गया विवेचन लोगोंको अधिक सुगम हो, इसलिये तिलक महोदयने सन् १९१४ के गणेशोत्सवमें चार व्याख्यान दिये, और बादमें ग्रंथ छापनेके कामका आरंभ होकर १९१५ के जून महीनेमें उसका पूर्णावतार हुआ। इसके आगेका इतिहास सबको सुविदितही है।

सन् १९५६ ईसवीमें, लोकमान्य टिलकजीकी जन्मशताब्दीके उपलक्ष्यमें, इस मौलिक ग्रंथके नये संस्करणको प्रकाशित करते समय, यह निश्चय किया गया, कि इस ग्रंथका वेष्टनभी नया हो। इच्छा थी, कि वेष्टनपर स्वर्गीय लोकमान्य तिलक महोदयका तथा उनकी कल्पनाके अनुसार कुरुक्षेत्रकी रणभूमिका चित्र रहे। हमारे चित्रकार-मित्र श्रीमान् दलालजीने हमारी मूल कल्पनाकी अपेक्षाभी इतनी अधिक सफलतापूर्वक ये दोनों चित्र चित्रित किये हैं, कि उनकी अलग प्रशंसा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रही। चित्रकारसे मोहक एवं अत्युत्तम चित्र खिचवाये जानेपरभी छपाईका कार्यभी उतनीही लगनसे करना पड़ता है। शिवराज फाईन आर्ट लिथो वर्क्स (नागपुर) ने वेष्टनछपाईका वह कार्य सुचारू रूपसे पूर्ण कर दिया है।

सोलहवाँ संस्करणको संशोधित तथा दोषरहित बनानेके लिये श्री. भगवान नारायण कानडेजीने अत्यधिक परिश्रम किये थे। उन्नीसवाँ संस्करणके सभी ग्रंथ बीक चुके है और इस मौलिक तथा शास्त्रीय ग्रंथके लिये सतत माँग हो रही है। इसलिये यह उन्नीसवाँ संस्करण तुरन्त प्रकाशित किया है।

परशुराम प्रोसेसके श्री. सुभाष बर्वेजीने यह ग्रंथ तुरन्त छपवा दिया इसलिये आपको धन्यवाद प्रदान करना हम अपना कर्तव्य मानते है।

कागज़का मूल्य अधिकाधिक बढ रहा है और छपाईकी दरोंमेंभी वृद्धि होती रही है अतः इस ग्रंथका मूल्य बढा देना अपरिहार्य-सा हो गया है।

इस प्रकार ग्रंथकी सजावटमें अनेकोंने परिश्रम उठाये हैं। पाठकोंके हाथमें आज यह ग्रंथ हम दे रहे हैं। आशा है, पाठक इसका सहर्ष और सानन्द स्वीकार करेंगे।

पूना,
दि. ८।११।१९८०

दी. ज. टिळक
श्री. श्री. टिळक

अनुवादककी भूमिका

भूमिका लिखकर महात्मा तिलकके ग्रंथका परिचय कराना, मानो सूर्यको दीपकसे दिखलानेका प्रयत्न करना है। यह ग्रंथ स्वयं प्रकाशमान् होनेके कारण अपना परिचय आपही दे देता है। परंतु भूमिका लिखनेकी प्रणाली-सी पड़ गई है। ग्रंथको पातेही पत्र उलट-पलटकर पाठक भूमिका खोज़ने लगते हैं। इसलिये उक्त प्रणालीकी रक्षा करने और पाठकोंकी मनस्तुष्टि करनेके लिये इस शीर्षकके नीचे दो शब्द लिखना आवश्यक हो गया है।

संतोषकी बात है, कि श्रीसमर्थ रामदासस्वामीकी अशेष कृपासे, तथा सद्‌गुरु श्रीरामदासानुदास महाराजके (हनुमानगढ़, वर्धा निवासी श्रीधर विष्णु परांजपे) प्रत्यक्ष अनुग्रहसे, जब मेरे हृदयमें अध्यात्म-विषयकी जिज्ञासा उत्पन्न हुई है, तभीसे इस विषयके अध्ययनके महत्त्वपूर्ण अवसर अनायास मिलते जाते हैं। यह उसी कृपा और अनुग्रहका फल था, कि मैं संवत् १९७० में श्रीसमर्थके दासबोधका हिंदी अनुवाद कर सका। अब उसी कृपा और अनुग्रहके प्रभावसे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलककृत श्रीमद्‌भगवद्‌गीतारहस्यके अनुवाद करनेका अनुपम अवसर हाथ लग गया हैं।

जब मुझे यह काम सौंपा गया, तब ग्रंथकारने अपनी यह इच्छा प्रकट की, कि मूल ग्रंथमें प्रतिपादित सब भाव ज्यों-के-त्यों हिंदीमें पूर्णतया व्यक्त किये जायँ; ग्रंथमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंपर जो आक्षेप होंगे, उनके उत्तरदाता मूल लेखकही हैं। इसलिये मैंने अपने लिये दो कर्तव्य निश्चित किये :– (१) यथा-मति मूल भावोंकी पूरी पूरी रक्षा की जावे, और (२) अनुवादकी भाषा यथाशक्ति शुद्ध, सरल, सरस और सुबोध हो। अपनी अल्पबुद्धि और सामर्थ्यके अनुसार इन दोनों कर्तव्योंके पालन करनेमें मैंने कोई बात उठा नहीं रखी है; और मेरा आंतरिक विश्वास है, कि मूल ग्रंथके भाव यत्किंचितभी अन्यथा नहीं हो पाये हैं। परंतु संभव है, कि विषयकी कठिनता और भावोंकी गंभी-रताके कारण मेरी भाषाशैली कहीं कहीं क्लिष्ट अथवा दुर्बोध-सी हो गई हो; और यहभी संभव है, कि ढूँढनेवालोंको इसमें 'मराठीपनकी बू'भी मिलजाय। परंतु इसके लिये क्या किया जाय? लाचारी है। मूल ग्रंथ मराठीमें है, मैं स्वयं महाराष्ट्रका हूँ, मराठीही मेरी मातृभाषा है, महाराष्ट्र देशके केंद्रस्थल पूनामेंही यह अनुवाद छापा गया है। और मैं हिंदीका कोई 'धुरंधर' लेखकभी नहीं हूँ। ऐसी अवस्थामें, यदि इस ग्रंथमें उक्त दोष न मिले, तो बहुत आश्चर्य होगा।

यद्यपि मराठी 'रहस्य'को हिंदी पोशाक पहनाकर सर्वांगसुंदर रूपसे हिंदी पाठकोंके उत्सुक हृदयोंमें प्रवेश करानेका यत्न किया गया है; और ऐसे महत्त्वपूर्ण

विषयको समझानेके लिये उन सब साधनोंकी सहायता ली गई है, कि जो हिंदी साहित्य-संसारमें प्रचलित हैं; फिरभी स्मरण रहे, कि यह केवल अनुवादही है – इसमें वह तेज नहीं आ सकता, कि जो मूलग्रंथमें है। गीताके संस्कृत श्लोकोंके मराठी अनुवादके विषयमें स्वयं महात्मा तिलकने उपोद्घातमें (पृष्ठ ६००) यह लिखा है :– "स्मरण रहे, कि अनुवाद आखिर अनुवादही है। हमने अपने अनुवादमें गीताके सरल, खुले और प्रधान अर्थको ले आनेका प्रयत्न किया है सही ; परंतु संस्कृत शब्दोंमें और विशेषतः भगवानकी प्रेमयुक्त, रसीली, व्यापक और क्षण-क्षणमें नई रुचि उत्पन्न करानेवाली वाणीमें लक्षणासे अनेक व्यंग्यार्थ उत्पन्न करनेकी जो सामर्थ्य है, उसे ज़राभी न घटा-बढ़ाकर, दूसरे शब्दोंमें ज्यों-का-त्यों झलका देना असंभव है. . . !" ठीक यही बात महात्मा तिलकके ग्रंथके हिंदी अनुवादके विषयमें कही जा सकती है।

एक तो विषय तात्त्विक, दूसरे गंभीर, और फिर महात्मा तिलककी वह ओजस्विनी, व्यापक एवं बिकट भाषा कि जिसके मर्मको ठीक ठीक समझ लेना कोई साधारण बात नहीं है। इन दुहरी-तिहरी कठिनाइयोंके कारण यदि वाक्यरचना कहीं कठिन हो गई हो, दुरूह हो गई हो, या अशुद्धभी हो गई हो, तो उसके लिये सहृदय पाठक मुझे क्षमा करें। ऐसे ग्रंथके अनुवादमें किन किन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है और अपनी स्वतंत्रताका त्यागकर पराधीनताके किन किन नियमोंसे बंध जाना होता है, इसका अभव वे सहानुभूतिशील पाठक और लेखकही कर सकते हैं, कि जिन्होंने इस ओर कभी ध्यान दिया हो।

राष्ट्रभाषा हिंदीको इस बातका अभिमान है, कि वह महात्मा तिलकके गीता-रहस्यसंबंधी विचारोंको अनुवाद-रूपमें उस समय पाठकोंको भेंट कर सकी है, जब कि और किसीभी भाषाका अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ; – यद्यपि दो-एक अनुवाद तैयार थे। इससे, आशा है, कि हिंदीप्रेमी अवश्य प्रसन्न होंगे।

अनुवादका श्रीगणेश जुलाई १९१५ में हुआ था और दिसंबरमें उसकी पूर्ति हुई। जनवरी १९१६ से छपाईका आरंभ हुआ, जो जून सन् १९१६ में समाप्त हो गया। इस प्रकार एक वर्षमें यह ग्रंथ तैयार हो पाया। यदि मित्रमंडलीने मेरी पूर्ण सहायता न की होती, तो मैं, इतने समयमें, इस कामको कभी पूरा न कर सकता। इनमें वैद्य विश्वनाथराव लुखे और श्रीयुत मौलिप्रसादजीका नाम उल्लेख करने-योग्य है। कविवर बा. मैथिलीशरण गुप्तने कुछ मराठी पद्योंका हिंदी रूपांतर करनेमें अच्छी सहायता दी है, इसलिये वे धन्यवादके भागी हैं। श्रीयुत पं. लल्लीप्रसाद पांडेयने जो सहायता की है, वह अवर्णनीय एवं अत्यंत प्रशंसाके योग्य है। लेख लिखनेमें, हस्तलिखित प्रतिको दुहरानेमें और प्रूफका संशोधन करनेमें आपने दिन-रात कठिन परिश्रम किया है। अधिक क्या कहा जाय, घर छोड़कर महीनोंतक आपको इस कामके लिये पूनामें रहना पड़ा है। इस सहायता और उपकारका बदला केवल

धन्यवाद दे देनेसेही नहीं हो जाता; हृदय जानता है, कि मैं आपका कैसा ऋणी हूँ। हिं. चि. ज. के संपादक श्रीयुत भास्कर रामचंद्र भालेरावने तथा औरभी अनेक मित्रोंने समय-समयपर यथाशक्ति सहायता की है। अतः इन सब महाशयोंको में आंतरिक धन्यवाद देता हूँ।

एक वर्षसे अधिक समयतक इस ग्रंथके साथ मेरा अहोरात्र सहवास रहा है। सोते-जागते इसी ग्रंथके विचारोंकी मधुर कल्पनाएँ नजरोंमें झूलती रही हैं। इन विचारोंसे मुझे मानसिक तथा आत्मिक अपार लाभ हुआ है। अतः जगदीश्वरसे यही विनय है, कि इस ग्रंथके पढनेवालोंकोभी इससे लाभान्वित होनेका मंगलमय आशीर्वाद दीजिये।

श्रीरामदासी मठ, रायपूर (सी. पी.)
देवशयनी ११, मंगलवार,
संवत् १९७३ वि.

माधवराव सप्रे

प्रस्तावना

सन्तों की उच्छिष्ट उक्ति है मेरी बानी।
जानूँ उसका भेद भला क्या मैं अज्ञानी ।।*

श्रीमद्भगवद्गीतापर अनेक संस्कृत भाष्य, टीकाएँ अथवा देशी भाषाओंमें अनुवाद या सर्वमान्य विस्तृत निरूपण हैं, फिरभी यह ग्रंथ क्यों प्रकाशित किया गया ? यद्यपि इसका कारण ग्रंथके आरंभमेंही बतलाया गया है, तथापि कुछ बातें ऐसी हैं, कि जिनका ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयके विवेचनमें उल्लेख न हो सकता था, अतः उन बातोंको प्रकट करनेके लिये प्रस्तावनाको छोड़ और दूसरा स्थान नहीं है। इनमें सबसे पहली बात स्वयं ग्रंथकारके विषयमें है। कोई तैंतालीस वर्ष हुए जब हमारा भगवद्गीतासे प्रथम परिचय हुआ था। सन् १८७२ ईसवीमें हमारे पूज्य पिताजी अंतिम रोगसे आक्रान्त हो शय्यापर पड़े हुए थे, उस समय उन्हें 'भाषा-विवृत्ति' नामक भगवद्गीताकी मराठी टीका सुनानेका काम हमें मिला था। तब, अर्थात् अपनी आयुके सोलहवें वर्षमें गीताका भावार्थ पूर्णतया समझमें न आ सकता था। फिरभी छोटी अवस्थामें मनपर जो संस्कार होते हैं, वे दृढ हो जाते हैं, इस कारण उस उमय भगवद्गीताके संबंधमें जो चाह उत्पन्न हो गई थी, वह स्थिर बनी रही और आगे जब संस्कृत और अंग्रेजीका अधिक अभ्यास हो गया, तब हमने गीताके संस्कृत भाष्य, अन्यान्य टीकाएँ और अनेक पंडितोंके मराठी तथा अंग्रेजीमें लिखे हुए विवेचनभी समय-समयपर पढ़े। परंतु तब मनमें शंका उत्पन्न हुई, कि जो गीता अपने स्वजनोंके साथ युद्ध करनेको बड़ा भारी कुकर्म समझकर खिन्न होने-वाले अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये बतलाई गई है, उस गीतामें ब्रह्मज्ञानसे या भक्तिसे मोक्ष-प्राप्तिकी विधिका – निरे मोक्ष-मार्गका – विवेचन क्यों किया गया है ? यह शंका इसलिये औरभी दृढ़ होती गई, कि गीताकी किसीभी टीकामें इस विषयका योग्य उत्तर ढूँढ़े न मिला। कौन जानता है, कि हमारे समानही और लोगोंकोभी यही शंका हुई न होगी ! परंतु टीकाओंपरही निर्भर रहनेसे, टीका-कारोंका दिया हुआ उत्तर समाधानकारक न भी जँचे, तोभी उसको छोड़ और दूसरा उत्तर सूझताही नहीं है। इसीलिये जब हमने गीताकी समस्त टीकाओं और भाष्योंको लपेटकर एक ओर धर दिया और केवल गीताकेही स्वतंत्र विचार-पूर्वक अनेक पारायण किये, तब टीकाकारोंके चंगुलसे छूटे, और यह बोध हुआ, कि मूल गीता निवृत्ति-प्रधान नहीं है, वह तो कर्म-प्रधान है, और अधिक क्या कहें ! गीतामें अकेला 'योग' शब्दही 'कर्मयोग'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। महा-

---

* साधु **तुकारामके** एक 'अभंग'का भाव।

भारत, वेदान्तसूत्र, उपनिषद् और वेदान्तशास्त्रविषयक अन्यान्य संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषाके ग्रंथोंके अध्ययनसेभी वही मत दृढ होता गया; और चार-पाँच स्थानोंपर इसी विषयपर व्याख्यान इस इच्छासे दिये, कि सर्वसाधारणमें उस विषयके संबंधमें उक्त मत प्रकट कर देनेसे, अधिक चर्चा होगी, एवं सत्य तत्त्वका निर्णय करनेमें औरभी सुविधा हो जायगी। इनमेंसे पहला व्याख्यान नागपुरमें जनवरी सन् १९०२ में हुआ और दूसरा सन् १९०४ ईसवीके अगस्त महीनेमें करवीर एवं संकेश्वर मठके जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यकी उपस्थितिमें उन्हींकी आज्ञासे, संकेश्वर मठमें हुआ था, और उस समय नागपुरवाले व्याख्यानका विवरणभी समाचारपत्रोंमें प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त जब जब समय मिल गया, तब तब इसी विचारसे, कुछ विद्वान् मित्रोंके साथ समय-समयपर वाद-विवादभी किया। इन्हीं मित्रोंमें स्वर्गीय श्रीपतिबाबा भिंगारकर थे। इनके सहवाससे भागवत संप्रदायके कुछ प्राकृत ग्रंथ देखनेमें आये, और गीतारहस्यमें वर्णित कुछ बातें तो आपके और हमारे वाद-विवादमेंही पहले निश्चित हो चुकी थी। यह बड़े दुःखकी बात है, कि आप इस ग्रंथको देख न पाये। अस्तु; इस प्रकार यह मत निश्चित हो गया, कि गीताका प्रतिपाद्य विषय प्रवृत्ति-प्रधान है; और इसको लिखकर ग्रंथरूपमें प्रकाशित करनेका विचार कियेभी अनेक वर्ष बीत गये। वर्तमान समयमें पाये जानेवाले भाष्यों, टीकाओं या अनुवादोंमें जो गीता-तात्पर्य स्वीकृत नहीं हुआ है, केवल उसेही यदि पुस्तकरूपसे प्रकाशित कर देते, और इसका कारण न बतलाते, कि प्राचीन टीकाकारोंका निश्चित किया हुआ तात्पर्य हमें ग्राह्य क्यों नहीं है, तो बहुत संभव था, कि लोग कुछका कुछ समझने लग जाते – उनको भ्रम हो जाता; और समस्त टीकाकारोंके मतोंका संग्रह करके उनकी सकारण अपूर्णता दिखला देना, एवं अन्य धर्मों या तत्त्वज्ञानोंके साथ गीता-धर्मकी तुलना करना कोई ऐसा साधारण काम न था, जो शीघ्रतापूर्वक चटपट हो जाय। अतएव यद्यपि हमारे मित्र श्रीयुत दाजीसाहेब खरे और दादासाहेब खापर्डेने कुछ पहलेही यह प्रकाशित कर दिया था, कि हम गीतापर एक नवीन ग्रंथ शीघ्रही प्रसिद्ध करनेवाले हैं; तथापि ग्रंथ लिखनेका काम इस समझसे टलता गया, कि हमारे पास जो सामग्री है वह अभी, अपूर्ण है; जब सन् १९०८ ईसवीमें सजा देकर हम मंडाले भेज दिये गये, तब तो इस ग्रंथके लिखे जानेकी आशा बहुत कुछ घटही गई थी। किंतु कुछ समय बाद ग्रंथ लिखनेके लिये आवश्यक पुस्तकें आदि सामग्री पूनासे मँगा लेनेकी अनुमति जब सरकारकी मेहरबानीसे मिल गई, तब सन् १९१०–११ के कुछ कालमें (संवत् १९६७, कार्तिक शुक्ल १ से चैत्र कृष्ण ३० के भीतर) इस ग्रंथकी पांडु-लिपि (मसविदा) मंडालेके जेलखानेमें पहले पहल लिखी गई। और फिर समयानुसार जैसे जैसे विचार सूझते गये, वैसे वैसे उसमें काट-छाँट होती गई; उस समय समग्र पुस्तकें वहाँ न होनेके कारण कई स्थानोंमें जो अपूर्णता रह गई थी, उसे वहाँसे छुटकारा हो जानेपर पूर्ण तो कर लिया गया है: परंतु अभीभी यह नहीं कहा

जा सकता, कि यह ग्रंथ सर्वांशमें पूर्ण हो गया। क्योंकि मोक्ष और नीति-धर्मके तत्त्व गहन तो हैंही; साथही उनके संबंधमें अनेक प्राचीन और अर्वाचीन पंडितोंने इतना विस्तृत विवेचन किया है, कि व्यर्थ फैलावसे बचकर यह निर्णय करना कई बार कठिन हो जाता है, कि उसमेंसे इस छोटे-से ग्रंथमें किन किन बातोंका समावेश किया जावे? परंतु अब हमारी स्थिति महाराष्ट्रके कविकी इस उक्तिके अनुसार हो गई है:–

यम-सेना की विमल ध्वजा अब 'जरा' दृष्टिमें आती है।
करती हुई युद्ध रोगोंसे देह हारती जाती है॥*

और हमारे सांसारिक साथीभी पहलेही चल बसे हैं। अतएव अब इस ग्रंथको यह समझकर प्रसिद्ध कर दिया है, कि हमें जो बातें मालूम हो गई हैं और जिन विचारोंको हमने सोचा है, वे सब लोगोंकोभी ज्ञात हों जाएँ; फिर कोई-न-कोई 'समानधर्मा' अभी या आगे उत्पन्न होकर उन्हें पूर्ण करही लेगा।

आरंभमेंही यह कह देना आवश्यक है, कि यद्यपि हमें यह मत मान्य नहीं है, कि सांसारिक कर्मोंको गौण अथवा त्याज्य मानकर, ब्रह्मज्ञान और भक्ति प्रभृति निरे निवृत्ति-प्रधान मोक्ष-मार्गकाही निरूपण गीतामें है; तथापि हम यहभी नहीं कहते, कि मोक्ष-प्राप्ति-मार्गका विवेचन भगवद्गीतामें बिलकुलही नहीं है। हमनेभी इस ग्रंथमें स्पष्ट दिखला दिया है, कि गीताशास्त्रके अनुसार इस जगत्‌में प्रत्येक मनुष्यका पहला कर्तव्य यही है, कि वह परमेश्वरके शुद्ध स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करके उसके द्वारा अपनी बुद्धिको, जितनी हो सके उतनी, निर्मल और पवित्र कर ले, परंतु यह गीताका मुख्य विषय नहीं है। युद्धके आरंभमें अर्जुन इस कर्तव्य-मोहमें फँसा था, कि, कि युद्ध करना क्षत्रियका धर्म भलेही हो, परंतु विपरीत पक्षमें कुलक्षय आदि घोर पातक होनेसे जो युद्ध मोक्ष-प्राप्तिरूप आत्मकल्याणका नाशकर डालेगा, उस युद्धको करना चाहिये अथवा नहीं। अतएव हमारा यह अभिप्राय है, कि उस मोहको दूर करनेके लिये शुद्ध वेदान्तशास्त्रके आधारपर कर्म-अकर्मका और साथही साथ मोक्षके उपायोंकाभी पूर्ण विवेचन कर, इस प्रकार निश्चय किया गया है, कि एक तो कर्म कभी छूटतेही नहीं है; और दूसरे, उनको छोड़नाभी नहीं चाहिये; एवं गीतामें उस युक्तिका, अर्थात् ज्ञानमूलक और भक्ति-प्रधान-कर्मयोगकाही प्रतिपादन किया गया है, कि जिससे कर्म करनेपर कोईभी पाप नहीं लगता तथा अंतमें उसीसे मोक्षभी मिल जाता है। कर्म-अकर्मके या धर्म-अधर्मके इस विवेचनकोही वर्तमानकालीन निरे आधिभौतिक पंडित नीतिशास्त्र कहते हैं। सामान्य पद्धतिके अनुसार गीताके श्लोकोंके क्रमसे टीका लिखकरभी यह दिखलाया जा सकता था, कि यह विवेचन गीतामें किस प्रकार किया गया है; परंतु वेदान्त,

---

* महाराष्ट्र-कविवर्य **मोरोपंतकी** 'केका'का भाव।

मीमांसा, सांख्य, कर्मविपाक अथवा भक्ति प्रभृति शास्त्रोंके जिन अनेक वादों अथवा प्रमेयोंके आधारपर गीतामें कर्मयोगका प्रतिपादन किया गया है, और जिनका उल्लेख कभी कभी बहुतही संक्षिप्त रीतिसे पाया जाता है, उन शास्त्रीय सिद्धान्तोंका पहलेसेही ज्ञान हुए बिना गीताके विवेचनका पूर्ण रहस्य सहसा ध्यानमें नहीं जमता। इसीलिये गीतामें जो जो विषय अथवा सिद्धान्त आये हैं, उनके शास्त्रीय रीतिसे प्रकरणोंमें विभाग करके उनकी प्रमुख प्रमुख युक्तियोंसहित गीतारहस्यमें उनका पहले संक्षेपमें निरूपण किया गया है; और फिर उसीमें वर्तमान युगकी आलोचनात्मक पद्धतिके अनुसार गीताके प्रमुख सिद्धान्तोंकी तुलना अन्यान्य धर्मोंके और तत्त्वज्ञानोंके साथ प्रसंगानुसार संक्षेपमें कर दिखलाई गई है। इस रीतिसे इस पुस्तकके पूर्वार्धमें जो गीतारहस्य नामक निबंध है, वह कर्मयोगविषयक एक छोटासा किंतु स्वतंत्र ग्रंथही कहा जा सकता है। जो हो; इस प्रकारके सामान्य निरूपणमें गीताके प्रत्येक श्लोकका पूर्ण विचार हो नहीं सकता था। अतएव अंतमें गीताके प्रत्येक श्लोकका अनुवाद दे दिया है; और उसीके साथ स्थान-स्थानपर यथेष्ट टिप्पणियाँभी इसलिये जोड़ दी गई हैं, कि जिसमें पूर्वापर संदर्भ पाठकोंकी समझमें भली भाँति आ जाय, अथवा पुराने टीकाकारोंने अपने संप्रदायकी सिद्धिके लिये गीताके कुछ श्लोकोंकी जो खींचातानी की है, उसे पाठक समझ जायँ (गीता ३.१७–१९; ६. ३; १८. २); या वे सिद्धान्त सहजही ज्ञात हो जाय कि जो गीतारहस्यमें बतलाये गये हैं, और यहभी ज्ञात हो जाय, कि उनमेंसे कौनकौनसे सिद्धान्त गीताकी संवादात्मक प्रणालीके अनुसार कहाँ कहाँ किस प्रकार आये हैं? इसमें संदेह नहीं, कि ऐसा करनेसे कुछ विचारोंकी द्विरुक्ति अवश्य हो गई है; परंतु गीतारहस्यका विवेचन गीताके अनुवादसे इसलिये पृथक् रखना पड़ा है, कि गीता-ग्रंथके तात्पर्यके विषयमें साधारण पाठकोंमें जो भ्रम फैल गया है, वह भ्रम अन्य रीतिसे पूर्णतया दूर नहीं हो सकता था; और इस पद्धतिसे पूर्व इतिहास और आधारसहित यह दिखलानेमें सुविधा हो गई है, कि वेदान्त, मीमांसा और भक्ति प्रभृतिविषयक गीताके सिद्धान्त भारत, सांख्यशास्त्र, वेदान्त-सूत्र, उपनिषद् और मीमांसा आदि मूल ग्रंथोंसे कैसे और कहाँ आये हैं? इससे यहभी स्पष्टतया बतलाना सुगम हो गया है, कि संन्यास-मार्ग और कर्मयोग-मार्गमें क्या भेद हैं, तथा अन्यान्य धर्ममतों और तत्त्वज्ञानोंके साथ गीताकी तुलना करके व्यावहारिक कर्म-दृष्टिसे गीताके महत्त्वका योग्य निरूपण करना सरल हो गया है। यदि गीतापर अनेक प्रकारकी टीकाएँ न लिखी गई होतीं और अनेकोंने अनेक प्रकारसे गीताके तात्पर्यार्थोंका प्रतिपादन न किया होता, तो हमें अपने ग्रंथके सिद्धान्तके लिये पोषक और आधारभूत मूल संस्कृत वचनोंके अवतरण स्थान-स्थानपर देनेकी कोई आवश्यकताही न थी। किंतु वर्तमान समय दूसरा है; और लोगोंके मनमें यह शंका हो सकती थी, कि हमने जो गीतार्थ अथवा सिद्धान्त बतलाया है, वह ठीक है या नहीं? इसीलिये

हमने सर्वत्र स्थलनिर्देश कर बतला दिया है, कि हमारे कथनके लिये प्रमाण क्या है, और मुख्य मुख्य स्थानोंपर तो मूल संस्कृत वचनोंकोही अनुवादसहित उद्धृत कर दिया है। इसके व्यतिरिक्त इन संस्कृत वचनोंको उद्धृत करनेका औरभी एक प्रयोजन है, वह यह, कि इनमेंसे अनेक वचन साधारण तथा वेदान्त-ग्रंथोंसे प्रमाणार्थ लिये जाते हैं, अतः पाठकोंको यहाँ उनका सहजही ज्ञान हो जायगा और उन सिद्धान्तोंको भली भाँति समझभी सकेंगे। किंतु यह कब संभव है, कि वे सभी पाठक संस्कृतज्ञ हों? इसलिये समस्त ग्रंथकी रचना इस ढंगसे की गई है, कि यदि संस्कृत न जाननेवाले पाठक संस्कृत श्लोकोंको छोड़कर केवल ग्रंथही पढ़ते चले जायँ, तोभी अर्थमें कहीं भी गडबड न हो। इस कारण संस्कृत श्लोकोंका शब्दशः अनुवाद न लिखकर अनेक स्थलोंपर उनका केवल सारांश देकरही निर्वाह कर लेना पड़ा है। परंतु मूल श्लोक सदैव ऊपर रखा गया है। इसलिये इस प्रणालीसे भ्रम होनेकी कुछभी आशंका नहीं है।

कहा जाता है, कि कोहनूर हीरा जब भारतवर्षसे विलायत पहुँचाया गया, तब वहाँ फिर उसके नये पहलू बनानेपर वह औरभी तेजस्वी हो गया। हीरेके लिये उपयुक्त होनेवाला यह न्याय सत्यरूपी रत्नोंके लियेभी प्रयुक्त हो सकता है। गीतामें प्रतिपादित धर्म, सत्य और अभय है सही; परंतु वह जिस समय और जिस स्वरूपमें बतलाया गया था, उस देश-काल आदि परिस्थितिमें अब बहुत अंतर हो गया है; इस कारण अब उसका तेज पहलेकी भाँति कितनोंहीकी दृष्टिमें नहीं समाता है। किसी कर्मको भला-बुरा माननेके पहले, जिस समय यह सामान्य प्रश्नही महत्त्वका समझा जाता था, कि "कर्म करना चाहिये अथवा न करना चाहिये", उस समय गीता बतलाई गई है, इस कारण उसका बहुत-सा अंश अब कुछ लोगोंको अनावश्यक प्रतीत होता है; और, उसपरभी निवृत्ति-मार्गीय टीकाकारोंकी लीपा-पोतीने तो गीताके कर्मयोगके विवेचनको आजकल बहुतेरोंके लिये दुर्बोध कर डाला है। इसके अतिरिक्त कुछ नये विद्वानोंकी यह समझ हो गई है, कि अर्वाचीन कालमें आधिभौतिक ज्ञानकी पश्चिमी देशोंमें जो बाढ़ हुई है, उस बाढके कारण अध्यात्म शास्त्रके आधारपर किये गये कर्मयोगके प्राचीन विवेचन वर्तमान-कालके लिये पूर्णतया उपयुक्त नहीं हो सकते; किंतु यह समझ ठीक नहीं। इस समझकी पोल खोलनेके लिये गीतारहस्यके विवेचनमें गीताके सिद्धान्तोंकी जोड़केही पश्चिमी पंडितोंके सिद्धान्तभी हमने स्थान-स्थानपर संक्षेपमें दिये हैं। वस्तुतः गीताका धर्म-अधर्म विवेचन इस तुलनासे कुछ अधिक सुदृढ नहीं हो जाता; तथापि अर्वाचीन कालकी आधिभौतिक शास्त्रोंकी अश्रुतपूर्व-वृद्धिसे जिनकी दृष्टिमें चकाचौंध लग गई है, अथवा जिन्हें आजकलकी एकदेशीय शिक्षापद्धतिके कारण आधिभौतिक अर्थात् बाह्य-दृष्टिसेही नीतिशास्त्रका विचार करनेकी आदत पड़ गई है, उन्हें इस तुलनासे इतना तो स्पष्ट ज्ञान हो जायगा, कि मोक्ष-धर्म और नीति, ये दोनों विषय

आधिभौतिक ज्ञानके परे हैं; और वे यहभी जान जाएँगे, कि इसीसे प्राचीन-कालमें हमारे शास्त्रकारोंने इस विषयमें जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं, उनके आगे मानवी ज्ञानकी गति अबतक नहीं पहुँच पाई है; यही नहीं, किंतु पश्चिमी देशोंमेंभी अध्यात्म-दृष्टिसे इन प्रश्नोंका विचार अभीतक हो रहा है, और इन आध्यात्मिक ग्रंथकारोंके विचार गीताशास्त्रके सिद्धान्तोंसे कुछ अधिक भिन्न नहीं हैं। गीता-रहस्यके भिन्न भिन्न प्रकरणोंमें जो तुलनात्मक विवेचन है, उससे यह बात स्पष्ट हो जायगी। परंतु यह विषय अत्यंत व्यापक है, इस कारण पश्चिमी पंडितोंके मतोंका जो सारांश विभिन्न स्थलोंपर हमने दे दिया है, उसके संबंधमें यहाँ इतना बतला देना आवश्यक है, कि गीतार्थको प्रतिपादन करनाही हमारा मुख्य काम है, अतएव गीताके सिद्धान्तोंको प्रमाण मानकर पश्चिमी मतोंका अनुवाद हमने केवल यही दिखलानेके लिये किया है कि इन सिद्धान्तोंसे पश्चिमी नीतिशास्त्रज्ञों अथवा पंडितोंके सिद्धान्तोंका यहाँ तक मेल है; और यह काम हमने इस ढँगसे किया है, कि जिससे सामान्य पाठकोंको उनका अर्थ समझनेमें कोई कठिनाई न हो। अब यह निर्विवाद है, कि इन दोनोंके बीच जो सूक्ष्म भेद हैं – और वे हैं भी बहुतही, अथवा इन सिद्धान्तोंके जो पूर्ण उपपादन या विस्तार हैं, उन्हें जाननेके लिये मूल पश्चिमी ग्रंथही देखने चाहिये। पश्चिमी विद्वान् कहते हैं, कि कर्म-अकर्मविवेक अथवा नीतिशास्त्रपर पहला नियमबद्ध ग्रंथ यूनानी तत्त्ववेत्ता अरिस्टाटलने लिखा है। परंतु हमारा मत है, कि अरिस्टाटलसेभी पहले, उनकी अपेक्षा अधिक व्यापक और तात्त्विक-दृष्टिसे, इन प्रश्नोंका विचार महाभारत एवं गीतामें हो चुका था, तथा अध्यात्म-दृष्टिसे गीतामें जिस नीतितत्त्वका प्रतिपादन किया गया है, उससे भिन्न कोई और नीतितत्त्व अबतक नहीं निकला है। "संन्यासियोंके समान रहकर तत्त्वज्ञानके विचारमें शांतिसे आयु बिताना अच्छा है, अथवा अनेक प्रकारकी राजकीय उथल-पुथल करना भला है" – इस विषयका जो स्पष्टीकरण अरिस्टाटलने किया है, वह गीतामें है; और साक्रेटीज़के इस मतकाभी गीतामें एक प्रकारसे समावेश हो गया है, कि "मनुष्य जो कुछ पाप करता है, वह अज्ञानसेही करता है।" क्योंकि गीताका तो यही सिद्धान्त है, कि ब्रह्मज्ञानसे बुद्धिकेसम हो जानेपर, फिर मनुष्यसे कोईभी पाप हो नहीं सकता। एपिक्युरियन और स्टोइक पंथोंके यूनानी पंडितोंका यह कथनभी गीताको ग्राह्य है, कि पूर्ण अवस्थामें पहुँचे हुए परम ज्ञानी पुरुषका व्यवहारही नीति-दृष्टिसे सबके लिये आदर्शके समान प्रमाण है; और इन पंथवालोंने परम ज्ञानी पुरुषका जो वर्णन किया है, वह गीताके स्थितप्रज्ञके वर्णनके समानही है। इसी प्रकार मिल, स्पेन्सर, और कांट प्रभृति आधिभौतिकवादियोंका यह जो कथन है, कि नीतिकी पराकाष्ठा अथवा कसौटी यही है, कि प्रत्येक मनुष्यको सारी मानव-जातिके हितार्थ उद्योग करना चाहिये, उसकाभी गीतामें वर्णित स्थित-प्रज्ञके 'सर्वभूतहिते रतः' इस बाह्य लक्षणमें समावेश हो गया है, एवं, कांट और

ग्रीनका, नीतिशास्त्रकी उपपत्तिविषयक तथा इच्छास्वातंत्र्यसंबंधी सिद्धान्तभी उपनिषदोंके ज्ञानके आधारपर गीतामें आ गया है। इसकी अपेक्षा यदि गीतामें और कुछ अधिकता न होती, तोभी वह सर्वमान्य हो गयी होती। परंतु गीता इतनेहीसे संतुष्ट नहीं हुई, प्रत्युत उसने यह दिखलाया है, कि मोक्ष, भक्ति और नीति-धर्मके बीच आधिभौतिक ग्रंथकारोंको जिस विरोधका आभास होता है, वह विरोध सच्चा नहीं है, अथवा ज्ञान और कर्ममें संन्यास-मार्गियोंके मतसे समक्षमें जो विरोध है, वहभी ठीक नहीं है, और ब्रह्मविद्याका और भक्तिका जो मूलतत्त्व है, वही नीतिका और सत्कर्मकाभी आधार है; एवं इस बातकाभी निर्णय कर दिया है, कि ज्ञान, संन्यास, कर्म और भक्तिके समुचित मेलसे, इस लोगमें आयु बितानेके किस मार्गको मनुष्य स्वीकार करे? इस प्रकार गीता-ग्रंथ प्रधानतासे कर्मयोगका है, और इसीलिये, "ब्रह्मविद्यान्तर्गत (कर्म-)योगशास्त्र" इस नामसे समस्त वैदिक ग्रंथोंमें उसे अग्रस्थान प्राप्त हो गया है। गीताके विषयमें जो कहा जाता है, कि "गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः" – अकेली गीताकाही पूरा पूरा अध्ययन कर लेना बस है; शेष शास्त्रोंके योयो विस्तारसे क्या करना है, यह वह झूठ नहीं है, अतएव जिन लोगोंको हिंदु धर्म और नीतिशास्त्रके मूल तत्त्वोंसे परिचय कर लेना हो, उन लोगोंसे हम सविनय किंतु आग्रहपूर्वक कहते हैं, कि सबसे पहले आप इस अपूर्व ग्रंथका अध्ययन कीजिये। इसका कारण यह है, कि क्षर-अक्षर-सृष्टिका और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञानका विचार करनेवाले सांख्य, न्याय, मीमांसा, उपनिषद् और वेदान्त आदि प्राचीन शास्त्र उस समय, जितने हो सकते थे उतने, पूर्ण अवस्थामें आ चुके थे; और उसके बादही वैदिक धर्मको जो ज्ञानमूलक, भक्ति-प्रधान एवं कर्मयोग-प्रधान अंतिम स्वरूप प्राप्त हुआ, तथा वर्तमान-कालमें प्रचलित वैदिक धर्मका जो मूल है, वही गीतामें प्रतिपादित होनेके कारण हम कह सकते हैं, कि संक्षेपसे किंतु निस्संदिग्ध रीतिसे वर्तमानकालीन हिंदु धर्मके तत्त्वोंको समझा देनेवाला, गीताकी जोड़का दूसरा ग्रंथही संस्कृत साहित्यमें नहीं है।

उल्लिखित वक्तव्यसे पाठक सामान्यतः समझ होये होंगे, कि गीतारहस्यके विवेचनका ढंग कैसा है। गीतापर जो शांकरभाष्य है, उसके तीसरे अध्यायके आरंभके पुरातन टीकाकारोंके अभिप्रायोंके उल्लेखसे ज्ञात होता है, कि गीतापर पहले कर्मयोग-प्रधान टीकाएँ रही होंगी। किंतु इस समय ये टीकाएं उपलब्ध नहीं हैं; अतएव यह कहनेमें कोई क्षति नहीं, कि गीताका यह कर्मयोग-प्रधान और तुलनात्मक पहलाही विवेचन है। इसमें कुछ श्लोकोंके अर्थ उन अर्थोंसे भिन्न हैं, कि जो आजकलकी टीकाओंमें पाये जाते हैं, एवं ऐसे अनेक विषयभी बतलाये गये हैं, कि जो अबतककी प्राकृत टीकाओंमें विस्तारसहित कहींभी वर्णित नहीं थे। इन विषयोंको और उनकी उपपत्तियोंको यद्यपि हमने संक्षेपमेंही बतलाया है, तथापि यथाशक्य सुस्पष्ट और सुबोध रीतिसे बतलानेके उद्योगमें हमने कोई बात

उठा नहीं रखी है; और ऐसा करनेमें यद्यपि कहीं कहीं द्विरुक्ति हो गई है, तोभी हमने उसकी कोई परवाह नहीं की; और जिन शब्दोंके अर्थ अबतक भाषामें प्रचलित नहीं हो पाये हैं उनके पर्याय शब्द उनके साथ-ही-साथ अनेक स्थलोंपर दे दिये हैं; इसके अतिरिक्त इस विषयके प्रमुख सिद्धान्त सारांशरूपसे स्थान-स्थानपर, उपपादनसे पृथककर दिखला दिये गये हैं। फिरभी शास्त्रीय और गहन विषयोंका थोड़े शब्दोंमें विचार करना सदैव कठिन है, और इन विषयोंकी हिंदी परिभाषाभी अभी स्थिर नहीं हो पाई है; अतः हम जानते हैं, कि भ्रमसे, दृष्टिदोषसे, अथवा अन्यान्य कारणोंसे, हमारे इस नये ढँगके विवेचनमें कठिनाई, दुर्बोधता, अपूर्णता अथवा अन्य दोषभी रह गये होंगे। परंतु भगवद्गीता पाठकोंसे अपरिचितभी नहीं है। ऐसे बहुतेरे लोग हैं, जो नित्य नियमसे भगवद्गीताका पाठ किया करते हैं; और ऐसे लोगभी थोड़े नहीं हैं, कि इसका जो शास्त्रीय दृष्टिसे अध्ययन कर चुके हैं या कर रहे हैं। अतः ऐसे अधिकारी पुरुषोंसे हमारी एक प्रार्थना है, कि जब उनके हाथमें यह ग्रंथ पहुँचे, और यदि उन्हें इसमें उक्त प्रकारके कुछ दोष मिल जाएँ, तो वे कृपा कर हमें उनकी सूचना दे दें; जिससे हम उनका विचार करेंगे, और यदि इस ग्रंथके द्वितीय संस्करणके प्रकाशित करनेका अवसर आयेगा, तो इसमें यथायोग्य संशोधन कर दिया जावेगा। संभव है, कुछ लोग समझें, कि हमारा कोई विशेष संप्रदाय है और उसी संप्रदायकी सिद्धिके लिये हम गीताका एक विशेष प्रकारका अर्थ कर रहे हैं। इसलिये यहाँ इतना कह देना आवश्यक है, कि यह गीतारहस्य ग्रंथ किसीभी व्यक्तिविशेष अथवा संप्रदायके उद्देश्यसे लिखा नहीं गया है। हमारी बुद्धिके अनुसार गीताके मूल संस्कृत श्लोकका जो सरल अर्थ होता है, वही हमने लिखा है। ऐसा सरल अर्थ कर देनेसे, – और आजकल संस्कृतका बहुत-कुछ प्रचार हो जानेसे बहुतेरे लोग समझ सकेंगे, कि अर्थ सरल है या नहीं, – यदि इसमें कुछ सांप्रदायिकता आ जावे, तो वह गीताकी है, हमारी नहीं। अर्जुनने भगवानसे स्पष्टही कहा था, कि "मुझे दो-चार मार्ग बतलाकर उलझनमें न डालिये, निश्चयपूर्वक ऐसा एकही मार्ग बतलाइये, कि जो श्रेयस्कर हो" (गीता ३. २; ५. १) इससे प्रकटही है, कि गीतामें किसी-न-किसी एकही विशेष मतका प्रतिपादन होना चाहिये (गीता ३. ३१); और मूल गीताकाही अर्थ करके निराग्रह-बुद्धिसे हमें देखना है, कि वह विशेष मत कौन-सा है; और हमें पहलेहीसे कोई मत स्थिर करके, गीताके अर्थकी इसलिये खींचातानी नहीं करनी है, कि उस पहलेसेही निश्चित किये हुए मतसे गीताका मेल नहीं मिलता। सारांश, गीताके वास्तविक रहस्यका, – फिर चाहे वह रहस्य किसीभी संप्रदायका अथवा पंथका हो – गीताभक्तोंमें प्रसार करके, भगवानकेही अंतिम कथनानुसार यह ज्ञान-यज्ञ करनेके लिये हम प्रवृत्त हुए हैं; और हमें आशा है, कि इस ज्ञान-यज्ञकी अव्यंगताकी सिद्धिके लिये, ऊपर जो ज्ञानभिक्षा माँगी गई है, उसे हमारे देशबंधु और धर्मबंधु बड़े आनंदसे दे देंगे।

प्राचीन टीकाकारोंके प्रतिपादित गीता-तात्पर्यके और हमारे मतानुसार गीताके रहस्यमें भेद क्यों पड़ता है, उसके कारण गीतारहस्यमें विस्तारपूर्वक बतलाये बन गये हैं। परंतु यहाँ यह बतला देना आवश्यक है, कि गीताके तात्पर्यके संबंधमें यद्यपि इस प्रकार मतभेद हो, तोभी गीतापर जो अनेक भाष्य और टीकाएँ हैं, अथवा पहले या वर्तमान समयमें गीताके जो भाषानुवाद हुए हैं, उनसे हमें यह ग्रंथ लिखते समय अन्यान्य बातोंमें सदैवही प्रसंगानुसार थोड़ी-बहुत सहायता मिली है; एतदर्थ हम उन सबके अत्यंत ऋणी हैं। इसी प्रकार उन पश्चिमी पंडितोंकाभी उपकार मानना चाहिये, कि जिनके ग्रंथोंके सिद्धान्तोंका हमने स्थान-स्थानपर उल्लेख किया है। और तो क्या! यदि इन सब ग्रंथोंकी सहायता न मिली होती, तो संदेहही है, कि यह ग्रंथ लिखा जाता या नहीं। इसीसे हमने प्रस्तावनाके आरंभमेंही साधु तुकारामका यह वाक्य लिख दिया हैं – "सन्तोंकी उच्छिष्ट उक्ति है मेरी बानी।" सदा सर्वदा एकसाही उपयोगी होनेवाला अर्थात् त्रिकाल-अबाधित जो ज्ञान है, उसका निरूपण करनेवाले गीता जैसे ग्रंथसे कालभेदके अनुसार मनुष्यको नवीन नवीन स्फूर्ति प्राप्त हो, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि ऐसे व्यापक ग्रंथका तो यह धर्मही रहता है। परंतु इतनेहीसे प्राचीन पंडितोंके वे परिश्रम व्यर्थ नहीं हो जाते, कि जो उन्होंने इन ग्रंथोंकेलिये किये हैं। पश्चिमी पंडितोंने गीताके जो अनुवाद अंग्रेजी और जर्मन प्रभृति यूरोपकी भाषाओंमें किये हैं, उनके लियेभी यही न्याय उपयुक्त होता है। ये अनुवाद प्रायः गीताकारोंके प्राचीन टीकाके आधारसे किये जाते हैं। फिरभी कुछ पश्चिमी पंडितोंने स्वतंत्र रीतिसे गीताके अर्थ करनेका उद्योग आरंभ कर दिया है। परंतु सच्चे (कर्म-) योगका तत्त्व अथवा वैदिक-धार्मिक संप्रदायोंका इतिहास भली भाँति समझ न सकनेके कारण, या बहिरंग परीक्षासेही उनकी विशेष रुचिके कारण, अथवा ऐसेही और कुछ कारणोंसे पश्चिमी पंडितोंके ये विवेचन अधिकतर अपूर्ण और कुछ कुछ स्थानोंमें तो सर्वथा भ्रामक और गलत हैं। यहाँपर पश्चिमी पंडितोंके गीताविषयक ग्रंथोंका विस्तृत विचार करने अथवा उनकी जाँच करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। उन्होंने जो प्रमुख प्रश्न उपस्थित किये हैं, उनके संबंधमें हमारा जो वक्तव्य है, वह इस ग्रंथके परिशिष्ट-प्रकरणमें दिया गया है। किंतु यहाँ गीताविषयक उन अंग्रेजी लेखोंका उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है, कि जो इन दिनों हमारे देखनेमें आये हैं। पहला लेख मि. ब्रुक्सका है; मि. ब्रुक्स थिऑसफिस्ट पंथके हैं, उन्होंने अपने गीताविषयक ग्रंथमें सिद्ध किया है, कि भगवद्गीता कर्मयोग-प्रधान है; और वे अपने व्याख्यानोंमेंभी इसी मतका प्रतिपादन किया करते हैं। दूसरा लेख मद्रासके मि. एस्. राधाकृष्णन्‌का है, और वह छोटे निबंधके रूपमें अमरिकाके "सार्वराष्ट्रीय नीतिशास्त्रसंबंधी त्रैमासिक"में प्रकाशित हुआ है (जुलाई १९११)। इसमें आत्मस्वातंत्र्य और नीति-धर्म, इन दो विषयोंके

संबंधमें गीता और कांटकी समता दिखलाई गई है। हमारे मतसे यह साम्य इससेभी कहीं अधिक व्यापक है, और कांटकी अपेक्षा ग्रीनकी नैतिक उपपत्ति गीतासे कहीं अधिक मिलती-जुलती है। परंतु इन दोनों प्रश्नोंका स्पष्टीकरण इस ग्रंथमें कियाही गया है, अतः यहाँ उसको दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार पंडित सीतानाथ तत्त्वभूषण-कर्तृक 'कृष्ण और गीता' नामक एक अंग्रेजी ग्रंथभी इन दिनों प्रकाशित हुआ है और उसमें उक्त पंडितजीके गीतापर दिये हुए बारह व्याख्यान हैं। किंतु उक्त ग्रंथोंके पाठ करनेसे कोईभी जान लेगा, कि तत्त्वभूषणजीके अथवा मि. ब्रुक्सके प्रतिपादनमें और हमारे प्रतिपादनमें बहुत अंतर है। फिरभी इन लेखोंसे ज्ञात होता है, कि गीताविषयक हमारे विचार कुछ अपूर्व नहीं हैं; और इस सुचिन्हकाभी ज्ञान होता है, कि गीताके कर्मयोगकी ओर लोगोंका ध्यान अधिकाधिक आकर्षित हो रहा है, अतएव यहाँपर हम इन सब आधुनिक लेखकोंका अभिनंदन करते हैं।

यह ग्रंथ मंडालेमें लिखा तो गया था, पर लिखा गया पेन्सिलसे; और काटछाँटके अतिरिक्त इसमें औरभी कितनेही नये सुधार किये गये थे। इसलिये इसके सरकारके यहाँसे लौट आनेपर प्रेसमें देनेकेलिये इसकी नकल शुद्ध करनेकी आवश्यकता हुई; और यदि यह काम हमारेही भरोसेपर छोड़ दिया जाता, तो इसके प्रकाशित होनेमें न जाने और कितना समय लग गया होता। परंतु श्रीयुत वामन गोपाल जोशी, नारायण कृष्ण गोगटे, रामकृष्ण दत्तात्रेय पराडकर, रामकृष्ण सदाशिव पिंपुटकर, अप्पाजी विष्णु कुलकर्णी प्रभृति सज्जनोंने इस काममें बड़े उत्साहसे सहायता दी; एतदर्थ उनका उपकार मानना चाहिये। इसी प्रकार श्रीयुत कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकरने, और विशेषतया वेदशास्त्रसंपन्न दीक्षित काशीनाथ-शास्त्री लेलेने बंबईसे यहाँ आकर, ग्रंथकी हस्तलिखित प्रतिको पढ़नेका कष्ट उठाया, एवं अनेक उपयुक्त तथा मार्मिक सूचनाएँ दी, जिसके लिये हम उनके ऋणी हैं। फिरभी स्मरण रहे, कि इस ग्रंथमें प्रतिपादित मतोंकी जिम्मेदारी सर्वथा हमारीही है। इस प्रकार ग्रंथ छापनेयोग्य तो हो गया, परंतु युद्धके कारण कागजकी कमी होनेवाली थी। इस कमीको बंबईके स्वदेशी कागजके पुतलीघरके मालिक मेसर्स 'डी. पदमजी और सन'ने हमारी इच्छाके अनुसार अच्छा स्वदेशी कागज समयपर दे करके, दूर कर दिया। इससे गीता-ग्रंथको छापनेके लिये अच्छा स्वदेशी कागज मिल सका। किंतु ग्रंथ अनुमानसे अधिक बढ़ गया, इससे कागज़की फिर कमी हुई। इस कमीकी, पूनेके 'रे पेपर मिल'के मालिकोंने पूर्ति यदि दूर न कर दी होती, तो पाठकोंको और कुछ महीनोंतक ग्रंथके प्रकाशित होनेकी प्रतीक्षा करनी पड़ती। अतः उक्त दोनों पुतलीघरोंके मालिकोंको न केवल हमही, प्रत्युत पाठकभी धन्यवाद दें। अब अंतमें प्रूफ़-संशोधनका काम रह गया; जिसे श्रीयुत रामकृष्ण दत्तात्रेय पराडकर, रामकृष्ण सदाशिव पिंपुटकर और हरि रघुनाथ भागवतने स्वीकार किया।



लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

जन्म : २३ जुलाई १८५६]   [मृत्यु : १ अगस्त १९२०



उसमेंभी स्थान-स्थानपर अन्यान्य ग्रंथोंका जो उल्लेख हैं, उनको मूल ग्रंथोंसे ठीक ठीक जाँचने, एवं यदि कहीं कोई व्यंग रह गया हो, तो उसे दिखलानेका काम श्रीयुत हरि रघुनाथ भागवतने अकेलेही किया है। तात्पर्य यह है, कि बिना इन लोगोंकी सहायताके इस ग्रंथको हम इतनी शीघ्रतासे प्रकाशित न कर पाते। अतएव हम इन सबको हृदयसे धन्यवाद देते हैं। अब रही छपाई, चित्रशाला छापाखानेके स्वत्वाधिकारीने इस ग्रंथको सावधानीपूर्वक और शीघ्रतासे छाप देना स्वीकारकर तदनुसार इस कामको पूर्ण कर दिया; इस निमित्त अंतमें उनकाभी उपकार मानना आवश्यक है। खेतमें फसल हो जानेपरभी फसलसे अन्न तैयार करके भोजन करनेवालोंके मुंहमें पहुँचनेतक, जिस प्रकार अनेक लोगोंकी सहायता अपेक्षित रहती है, वैसीही कुछ अंशोंमें ग्रंथकारकी – कमसे कम हमारी तो स्थिति है। अतएव उक्त रीतिसे जिन लोगोंने हमारी सहायता की है, – फिर चाहे उनके नाम यहाँ आये हों अथवा नभी आये हों, – उन सबको फिर एक बार धन्यवाद देकर हम इस प्रस्तावनाको समाप्त करते हैं।

प्रस्तावना समाप्त हो गई। अब जिस विषयके विचारमें आजतक बहुतेरे वर्ष बीत गये हैं और जिसके नित्य सहवास एवं चिंतनसे मनको समाधान होकर आनंद होता गया, वह विषय आज ग्रंथके रूपमें हमसे पृथक् हानेवाला है, इसलिये यद्यपि दुख होता है, तथापि ये विचार – सध गये तो व्याजसहित, अन्यथा कमसे कम ज्यों-के-त्यों – अगली पीढीके लोगोंको देनेके लियेही हमें प्राप्त हुए थे; अतएव वैदिक धर्मके राजगुह्यके इस पारसको कठोपनिषद्के "उत्तिष्ठत! जाग्रत! प्राप्य वरान्निबोधत!" (कठ. ३. १४) – उठो! जागो! और (भगवानके दिये हुए) इस वरदानको समझ लो! इस मंत्रसे हम होनहार पाठकोंको प्रेमोदपूर्वक सोंपते हैं। इसीमें कर्म-अकर्मका सारा बीज है; और स्वयं भगवानकाही निश्चयपूर्वक यह आश्वासन है, कि सृष्टिके इस नियमपर ध्यान देकर कि इस धर्मका स्वल्प आचरणभी बड़े-बड़े संकटोंसे बचाता है। इससे अधिक और क्या चाहिये! बिना किये कुछभी होता नहीं है; तुमको बस केवल "निष्काम बुद्धिसे कर्म करते रहना चाहिये" निरी स्वार्थपरायण-बुद्धिसे गृहस्ती चलाते चलाते जो लोग हारकर थक गये हों, उनका समय बितानेके लिये, अथवा संसारको छोड़ देनेकी तैयारीके लियेभी, गीता नहीं कही गई है, गीताशास्त्रकी प्रवृत्ति प्रत्युत इसलिये हुई है, कि वह और तात्त्विक दृष्टिसे इस बातका उपदेश करे, कि मोक्ष-दृष्टिसे संसारके कर्मही किस प्रकार किये जावें, संसारमें मनुष्यमात्रका सच्चा कर्तव्य क्या है, अतः अंतमें हमारी यही बिनती है, कि प्रत्येक मनुष्य पूर्व अवस्थामेंही – चढ़ती हुई उम्रमें ही – गृहस्थाश्रमके, अथवा, संसारके, इस प्राचीन शास्त्रको, जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी समझे बिना न रहे।

पूना, अधिक वैशाख
संवत् १९७२ वि.

बाळ गंगाधर टिळक

गीतारहस्यकी अनुक्रमणिका

गीतारहस्यके प्रत्येक प्रकरणके विषयोंकी अनुक्रमणिका

चौथा प्रकरण – आधिभौतिक सुखवाद

पाँचवा प्रकरण – सुखदुःखविवेक

छठा प्रकरण – आधिदैवतपक्ष और क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार

सातवाँ प्रकरण – कापिलसांख्यशास्त्र अथवा क्षराक्षरविचार

आठवाँ प्रकरण – विश्वकी रचना और संहार

मूल अगम्य, इसलिये यद्यपि माया परतंत्र हो, तथापि अनादि – मायात्मक प्रकृतिका विस्तार अथवा सृष्टिही कर्म – अतएव कर्मभी अनादि – कर्मके अखंडित प्रयत्न – परमेश्वर उसमें हस्तक्षेप नहीं करता, और कर्मानुसारही फल देता है (पृ. २६९) – कर्मबंधकी सुदृढता और प्रवृत्तिस्वातंत्र्यवादकी प्रस्तावना – कर्म-विभाग; संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण – 'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः' – वेदान्तको मीमांसकोंका नैष्कर्म्य-सिद्धिवाद अग्राह्य है – ज्ञान बिना कर्मबंधसे छुटकारा नहीं – ज्ञान शब्दका अर्थ – ज्ञानप्राप्ति कर लेनेके लिये शारीर आत्मा स्वतंत्र है (पृ. २८४) – परंतु उसके पास कर्म करनेके निजी साधन नहीं हैं, इस कारण उतनेहीके लिये परावलंबी – मोक्षप्राप्त्यर्थ आचरित स्वल्प कर्मभी व्यर्थ नहीं जाता – अतः कभी-न-कभी दीर्घ उद्योग करते रहनेसे सिद्धि अवश्य मिलती है – कर्मक्षयका स्वरूप – कर्म नहीं छूटते, फलाशाको छोड़ो – कर्मका बंधकत्व मनमें है, न कि कर्ममें – इसलिये ज्ञान कभी हो, मोक्षही उसका फल – तथापि उसमेंभी अंतकालका महत्त्व (पृ. २८९) – कर्मकांड और ज्ञानकांड – श्रौतयज्ञ और स्मार्तयज्ञ – कर्मप्रधान गार्हस्थ्यवृत्ति – उसीके दो भेद, ज्ञानयुक्त और ज्ञानरहित – उसके अनुसार भिन्न भिन्न गतियाँ – देवयान और पितृयाण – कालवाचक या देवतावाचक – तीसरी नरककी गति – जीवन्मुक्तावस्थाका वर्णन। ... ... पृ. २६२–३०२

ग्यारहवाँ प्रकरण – संन्यास और कर्मयोग

अर्जुनका प्रश्न, कि संन्यास और कर्मयोग, दोनोंमें श्रेष्ठ मार्ग कौन-सा – इस पंथके समानही पश्चिमी पंथ – संन्यास और कर्मयोगके पर्याय शब्द – संन्यास शब्दका अर्थ – कर्मयोग संन्यास मार्गका अंग नहीं है, दोनों स्वतंत्र – इस संबंधमें टीकाकारोंका गोलमाल – गीताका स्पष्ट सिद्धान्त कि इन दोनों मार्गोंमें कर्मयोगही श्रेष्ठ – संन्यासमार्गीय टीकाकारोंका किया हुआ विपर्यास – उसपर उत्तर – अर्जुनको अज्ञानी नहीं मान सकते (पृ. ३१३) – इस बातके गीतामें निर्दिष्ट कारण, कि कर्मयोगही श्रेष्ठ क्यों है – आचार अनादि कालसे द्विविध, अतः श्रेष्ठताका निर्णय करनेमें उपयोगी नहीं – जनककी तीन और गीताकी दो निष्ठाएँ – कर्मोंको बंधक कहनेसे, यह सिद्ध नहीं होता, कि उन्हें छोड़ देना चाहिये; फलाशा छोड़ देनेसे निर्वाह हो जाता है – कर्म छूट नहीं सकते – कर्म छोड़ देनेपर खानेके लियेभी न मिलेगा – ज्ञान हो जानेपर अपना कर्तव्य न रहे, अथवा वासनाका क्षय हो जाय, तोभी कर्म नहीं छूटते – अतएव ज्ञानप्राप्तिके पश्चातभी निःस्वार्थबुद्धिसे कर्म अवश्य करना चाहिये – भगवानका और जनका उदाहरण – फलाशात्याग, वैराग्य और कर्मोत्साह (पृ. ३२१) – लोकसंग्रह और उसका लक्षण – ब्रह्मज्ञानका यही सच्चा पर्यवसान – तथापि वह लोकसंग्रहभी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके अनुसार और निष्काम (पृ. ३३८) – स्मृतिग्रंथोंमें वर्णित चार आश्रमोंका आयु बितानेका

मार्ग – गृहस्थाश्रमका महत्त्व – भावगतधर्म – भागवत और स्मार्तके मूल अर्थ – गीतामें कर्मयोग अर्थात् भागवतधर्मही प्रतिपाद्य – गीताके कर्मयोग और मीमांसकोंके कर्ममार्गका भेद – स्मार्त संन्यास और भागवत लसंन्यासका भेद – दोनोंकी एकता – मनुस्मृतिके वैदिक कर्मयोगकी और भागवतधर्मकी प्राचीनता – गीताके अध्याय-समाप्तिसूचक संकल्पका अर्थ – गीताकी अपूर्वता और प्रस्थानत्रयीके तीन भागोंकी सार्थकता (पृ. ३५३)– संन्यास (सांख्य) और कर्मयोग (योग), दोनों मार्गोंके भेद-अभेदका नकशेमें संक्षिप्त वर्णन – आयु बितानेके भिन्न भिन्न मार्ग – गीताका सिद्धान्त, कि कर्मयोगही सबसे श्रेष्ठ – उस सिद्धान्तका प्रतिपादक ईशावास्योप-निषदका मंत्र – उस मंत्रपर शांकरभाष्यका विचार – मनु और अन्यान्य स्मृतियोंके ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक वचन। ... ... पृ. ३०३–३६७

बारहवाँ प्रकरण – सिद्धावस्था और व्यवहार

समाजकी पूर्णावस्था – पूर्णावस्थामें सभी स्थितप्रज्ञ – नीतिकी परमावधि – पश्चिमी स्थितप्रज्ञ – स्थितप्रज्ञकी विधिनियमोंसे परेकी स्थिति – कर्मयोगी स्थि प्रज्ञका आचरणही परम नीति – पूर्णावस्थावाली परमावधिकी नीतिमें और ल। ।। समाजकी नीतिमें भेद – दासबोधमें वर्णित उत्तम पुरुषका लक्षण – परंतु इस भेदसे नीति-धर्मकी नित्यता नहीं घटती (पृ. ३७९) – स्थितप्रज्ञ इन भेदोंको किस दृष्टिसे करता है ? – समाजका श्रेय, कल्याण अथवा सर्वभूतहित – तथापि इस बाह्य-दृष्टिकी अपेक्षा साम्यबुद्धिही श्रेष्ठ – अधिकांश लोगोंके अधिक हित और साम्यबुद्धि, इन तत्त्वोंकी तुलना – साम्यबुद्धिसे जगतमें बर्ताव करना – परोपकार और अपना निर्वाह – आत्मौपम्यबुद्धि – उसका व्यापकत्व, महत्त्व और उपपत्ति – 'वसुधैव कुटुंबकम्' (पृ. ३९२) – बुद्धि सम हो जाय, तोभी पात्र-अपात्रका विचार नहीं छूटता – निर्वैरका अर्थ निष्क्रिय अथवा निष्प्रतिकार नहीं है – जैसेको तैसा – दुष्ट निग्रह – देशाभिमान, कुलाभिमान इत्यादिकी उपपत्ति – देशकाल-मर्यादापरिपालन और आत्मरक्षा – ज्ञानी पुरुषका कर्तव्य – लोकसंग्रह और कर्मयोग – विषयोपसंहार – स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ। ... ...पृ. ३६८–४०६

तेरहवाँ प्रकरण – भक्तिमार्ग

अल्पबुद्धिवाले साधारण मनुष्योंके लिये निर्गुण ब्रह्मस्वरूपकी दुर्बोधता – ज्ञान-प्राप्तिके साधन, श्रद्धा और बुद्धि – दोनोंकी परस्परापेक्षा – श्रद्धासे व्यवहारसिद्धि – श्रद्धासे परमेश्वरका ज्ञान हो जानेपरभी निर्वाह नहीं होता – मनमें उसके प्रति-फलित होनेके लिये निरतिशय और निर्हेतुक प्रेमसे परमेश्वरका चिंतन करना पड़ता है, – इसीको भक्ति कहते हैं – सगुण अव्यक्तका चिंतन कष्टमय और दुःसाध्य – अतएव उपासनाकेलिये प्रत्यक्ष वस्तु होनी चाहिये – ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग

चौदहवाँ प्रकरण – गीताध्यायसंगति

वर्णित नहीं हैं, परस्पर एक दूसरेसे गूंथे हुए हैं, और उनका ज्ञानविज्ञान यह एकही नाम है – तेरहसे लेकर सत्रहवें अध्यायतकका सारांश – अठारहवेंका उपसंहार कर्मयोगप्रधानही है – अतः मीमांसकोंकी उपक्रम – उपसंहार आदि दृष्टिसे गीतामें कर्मयोगही प्रतिपाद्य निश्चित होता है – चतुर्विध पुरुषार्थ – अर्थ और काम धर्मानुकूल होने चाहिये – किंतु मोक्षका और धर्मका विरोध नहीं है – गीताका संन्यासप्रधान अर्थ क्योंकर किया गया है ? – सांख्य + निष्काम कर्म = कर्मयोग – गीतामें क्या नहीं है ? – तथापि अंतमें कर्मयोगही प्रतिपाद्य है – संन्यासमार्गवालोंसे प्रार्थना। ... ...पृ. ४४३–४७१

पंद्रहवाँ प्रकरण – उपसंहार

कर्मयोगशास्त्र और आचारसंग्रहका भेद – यह भ्रमपूर्ण समझ, कि वेदान्तसे नीतिशास्त्रकी उपपत्ति नहीं लगती – गीता वही उपपत्ति बतलाती है – केवल नीतिदृष्टिसे गीताधर्मका विवेचन – कर्मकी अपेक्षा बुद्धिकी श्रेष्ठता – नकुलोपाख्यान – ईसाइयों और बौद्धोंके तत्सदृश सिद्धान्त – 'अधिकांश लोगोंका अधिक हित' और 'मनोदैवत', इन दो पश्चिमी पक्षोंसे गीतामें प्रतिपादित साम्यबुद्धिकी तुलना – पश्चिमी आध्यात्मिक पक्षसे गीताकी उपपत्तिकी समता – कांट और ग्रीनके सिद्धान्त – वेदान्त और नीति (पृ. ४८८) – नीतिशास्त्रमें अनेक पंथ होनेका कारण – पिंड-ब्रह्मांडकी रचनाके विषयमें मतभेद – गीताके आध्यात्मिक उपपादनकी महत्त्वपूर्ण विशेषता – मोक्ष, नीतिधर्म और व्यवहारकी एकवाक्यता – ईसाइयोंका संन्यासमार्ग – सुखहेतुक पश्चिमी कर्ममार्ग – गीताके कर्ममार्गसे उसकी तुलना – चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था और नीतिधर्मके बीच भेद – दुःखनिवारक पश्चिमी कर्ममार्ग और निष्काम गीताधर्म (पृ. ४९८) – कर्मयोगका कलियुगवाला संक्षिप्त इतिहास – जैन और बौद्ध यति – शंकराचार्यके संन्यासी – मुसलमानी राज्य – भगवद्भक्त, संतमंडली और रामदास – गीताधर्मका जिंदापन – गीताधर्मकी अभयता, नित्यता और समता – ईश्वरसे प्रार्थना। ... ...पृ. ४७२–५०९

परिशिष्ट-प्रकरण – गीताकी बहिरंगपरीक्षा

महाभारतमें, योग्य कारणोंसे उचित स्थानपर गीता कही गई है; वह प्रक्षिप्त नहीं है। **भाग १. गीता और महाभारतका कर्तृत्व** – गीताका वर्तमान स्वरूप – महाभारतका वर्तमान स्वरूप – महाभारतमें गीताविषयक सात उल्लेख – दोनोंके एक-से मिलतेजुलते श्लोक और भाषासादृश्य – इसी प्रकार अर्थसादृश्य – इससे सिद्ध होता है, कि गीता और महाभारत दोनोंका प्रणेता एकही है। **भाग २. गीता और उपनिषदोंकी तुलना** – शब्दसादृश्य और अर्थसादृश्य – गीताका अध्यात्मज्ञान उपनिषदोंकाही है – उपनिषदोंका और गीताका मायावाद – उपनिषदोंकी अपेक्षा गीताकी विशेषता – सांख्यज्ञान और वेदान्तकी एकवाक्यता – व्यक्तोपासना अथवा

भक्तिमार्ग – परंतु कर्मयोगमार्गका प्रतिपादनही सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषत – इंद्रिय-निग्रह करनेके लिये गीतामें बतलाया गया योग, पातंजल-योग और उपनिषद्। – **भाग ३. गीता और ब्रह्मसूत्रोंकी पूर्वापरता** – गीतामें ब्रह्मसूत्रोंका स्पष्ट उल्लेख – ब्रह्मसूत्रोंमें 'स्मृति' शब्दसे गीताका अनेक बार उल्लेख – दोनों ग्रंथोंके पूर्वापरका विचार – ब्रह्मसूत्र या तो वर्तमान गीताके समकालीन हैं या औरभी पुराने, बादके नहीं – गीतामें ब्रह्मसूत्रोंके उल्लेख होनेका एक प्रबल कारण। – **भाग ४. भागवत-धर्मका उदय और गीता** – गीताका भक्तिमार्ग वेदान्त, सांख्य और योगको लिये हुए है – वेदान्तके मत गीतामें पीछेसे नहीं मिलाये गये हैं – वैदिक धर्मका अत्यंता प्राचीन स्वरूप कर्मप्रधान है – तदनंतर ज्ञानका अर्थात् वेदान्त, सांख्य और वैराग्यक प्रादुर्भाव – दोनोंकी एकवाक्यता प्राचीन कालमेंही हो चुकी है – फिर भक्तिका प्रादुर्भाव – अतएव पूर्वोक्त मार्गोंके साथ पहलेसेही भक्तिकी एकवाक्यता करनेकी आवश्यकता – यही भागवतधर्मकी अतएव गीताकीभी दृष्टि – गीताका ज्ञान-कर्मसमुच्चय उपनिषदोंका है, परंतु भक्तिका मेल अधिक है – भागवतधर्मविषयक प्राचीन ग्रंथ, गीता और नारायणीयोपाख्यान – श्रीकृष्णका और सात्वत अथवा भागवतधर्मके उदयका काल एकही – बुद्धके पूर्व लगभग सात-आठ सौ अर्थात् ईसाके पूर्व पंद्रहसौ वर्ष – ऐसा माननेका कारण – न माननेसे होनेवाली अनवस्था – भागवतधर्मका मूलस्वरूप नैष्कर्म्यप्रधान फिर भक्तिप्रधान, और अंतमें विशिष्टा-द्वैतप्रधान – मूल गीता ईसासे प्रथम कोई नौ सौ वर्षकी है। – **भाग ५. वर्तमान गीताका काल** – वर्तमान महाभारत और वर्तमान गीताका समय एकही – इनमेंसे वर्तमान महाभारत भाससे, अश्वघोष, आश्वलायन, सिकंदर और मेषादि गणनाके पूर्वका, किंतु बुद्धके पश्चातका – अतएव शकसे प्रथम लगभग पाँच सौ वर्षका – वर्तमान गीता कालिदास, बाणभट्ट, भासकवि, पुराणों और बौधानके, एवं बौद्ध-धर्मके महायान पंथकेभी प्रथमकी, अर्थात् शकसे प्रथम पाँच सौ वर्षकी – **भाग ६. गीता और बौद्ध ग्रंथ**–गीताके स्थितप्रज्ञके और बौद्ध अर्हतके वर्णनमें समता–बौद्ध-धर्मका स्वरूप और उससे पहलेके ब्राह्मणधर्मसे उसकी उत्पत्ति – उपनिषदोंके आत्मवादको छोड़कर केवल निवृत्तिप्रधान आचारकोही बुद्धने अंगीकार किया – बौद्धमतानुसार इस आचारके दृश्य कारण, अथवा चार आर्य सत्य – बौद्ध गार्हस्थ्यधर्म और वैदिक स्मार्तधर्ममें समता – ये सब विचार मूल वैदिक धर्मकेही हैं – तथापि महाभारत और गीताविषयक पृथक् विचार करनेका प्रयोजन – मूल अनात्मवादी और निवृत्ति-प्रधान धर्मसेही आगे चल कर भविष्यप्रधान बौद्ध-धर्मका उत्पन्न होना असंभव– महायान पंथकी उत्पत्ति – यह माननेके लिये प्रमाण, कि उसका प्रवृत्तिप्रधान भक्ति-धर्म गीतासेही ले लिया गया है – उससे निर्णीत होनेवाला गीताका समय। – **भाग ७. गीता और ईसाइयोंकी बाइबल** – ईसाई धर्मसे गीतामें किसीभी तत्त्वका लिया जाना असंभव – ईसाई धर्म यहुदी धर्मसे धीरे धीरे स्वतंत्र रीतिपर नहीं निकला है –

वह क्यों उत्पन्न हुआ है, इस विषयमें पुराने ईसाई पंडितोंकी राय – एसीन पंथ और यूनानी तत्त्वज्ञान – ईसाई धर्मके साथ बौद्ध धर्मकी अद्‌भुत समता – इनमें बौद्ध-धर्मकी निर्विवाद प्राचीनता – इस बातका प्रमाण, कि यहुदियोंके देशमें बौद्ध यतियोंका प्रवेश प्राचीन समयमेंही हो गया था – अतएव ईसाई धर्मके तत्त्वोंका बौद्ध-धर्मसेही अर्थात् पर्यायसे वैदिक धर्मसेही अथवा गीतासेही लिया जाना पूर्ण संभव है – इससे सिद्ध होनेवाली गीताकी निस्सन्दिग्ध प्राचीनता। पृ. ५१०–५९५

गीतारहस्यके संक्षिप्त चिन्होंका ब्योरा, और संक्षिप्त चिन्होंसे जिन ग्रंथोंका उल्लेख किया है, उनका परिचय

अथर्व. अथर्व वेद । कांड, सूक्त और ऋचाके क्रमसे आगेके अंक हैं ।

अष्टा. अष्टावक्रगीता । अध्याय और श्लोक । अष्टेकर और मंडलीका गीतासंग्रहका संस्करण ।

ईश. ईशावास्योपनिषद् । आनंदाश्रमका संस्करण ।

ऋ. ऋग्वेद । मंडल, सूक्त और ऋचा ।

ऐ. अथवा **ऐ. उ.** ऐतरेयोपनिषद् । अध्याय, खंड और श्लोक । आनन्दाश्रमका संस्करण ।

ऐ. ब्रा., ऐतरेय ब्राह्मण । पंचिका और खंड । डॉ. हौडाका संस्करण ।

क. अथवा कठ. कठोपनिषद् । वल्ली और मंत्र । आनंदाश्रमका संस्करण ।

केन. केनोपनिषद् (=तलवकारोपनिषद्) । खंड और मंत्र । आनंदाश्रमका संस्करण ।

कै. कैवल्योपनिषद् । खंड और मंत्र । २८ उपनिषद्, निर्णयसागरका संस्करण ।

कौषी. कौषीतक्युपनिषद् अथवा कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् । अध्याय और खंड । कहीं कहीं इस उपनिषदके पहले अध्यायकोही ब्राह्मणानुक्रमसे तृतीय अध्याय कहते हैं । आनंदाश्रमका संस्करण ।

गा. तुकाराम महाराजकी गाथा (मराठी) दामोदर सांवलाराम संस्करण. ई.सन १९०० ।

गी. भगवद्‌गीता । अध्याय और श्लोक । **गी. शां. भा.** गीता शांकरभाष्य । **गी. रा. भा.** गीता रामानुजभाष्य । आनंदाश्रमवाली गीता, और शांकरभाष्यकी प्रतिके अंतमें शब्दोंकी सूचि हैं, जो अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुई । हमने निम्मलिखित टीकाओंका उपयोग किया – श्रीवेंकटेश्वर प्रेसका रामानुजभाष्य; कुंभकोणके कृष्णाचार्यद्वारा प्रकाशित माध्वभाष्य; जगद्धितेच्छु छापाखानेमें (पूना) छपी हुई आनंदगिरीकी टीका और परमार्थप्रपा टीका; नेटिव ओपिनियन छापाखाने (बम्बई) में छपी हुई मधुसूदनी टीका; निर्णयसागरमें छपी हुई श्रीधरी और वामनी (मराठी) टीका; आनंदाश्रममें छपा हुआ पैशाचभाष्य; गुजराती प्रिंटिंग प्रेसकी वल्लभसंप्रदायी तत्त्वदीपिका; बम्बईमें छपे हुए महाभारतकी नीलकण्ठी; और मद्रासम छपी हुई ब्रह्मानंदी । परंतु इनमेंसे पैशाचभाष्य और ब्रह्मानंदीको छोड़कर शेष टीकाएँ और निम्बार्क संप्रदायकी एवं दूसरी कुछ और टीकाएँ – कुल पंद्रह संस्कृत टीकाएँ – गुजराती प्रिंटिंग प्रेसने अभी अभी छाप कर प्रकाशित की हैं, अतः अब इस एकही ग्रंथसे सारा काम हो जाता है ।

गी. र. अथवा **गीतार.** गीतारहस्य । हमारे ग्रंथका पहला निबंध ।

छां. छान्दोग्योपनिषद् । अध्याय, खंड और मंत्र । आनंदाश्रमका संस्करण ।

जै. सू. जैमिनीके मीमांसासूत्र । अध्याय, पाद और सूत्र । कलकत्तेका संस्करण ।

ज्ञा. ज्ञानेश्वरी, साथी इंदिरा प्रेस संस्करण ।

तै. अथवा **तै. उ.** तैत्तिरीय उपनिषद् । वल्ली, अनुवाक और मन्त्र । आनंदाश्रमका संस्करण ।

तै. ब्रा. तैत्तिरीय ब्राह्मण । काण्ड, प्रपाठक, अनुवाक और मंत्र । आनंदाश्रमका संस्करण ।

तै. सं. तैत्तिरीय संहिता । काण्ड, प्रपाठक, अनुवादक और मंत्र ।

दा. अथवा **दास.** श्रीसमर्थ रामदासस्वामीकृत दासबोध । धुलिया सत्कार्योत्तेजक सभाकी प्रतिका, चित्रशाला प्रेसमें छपा हुआ हिंदी अनुवाद ।

ना. पं. नारदपंचरात्र । कलकत्तेका संस्करण ।

ना. सू. नारदसूत्र । बम्बईका संस्करण ।

नृसिंह. उ. नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् ।

पातंजलसू. पातंजलयोगसूत्र । तुकाराम तात्याका संस्करण ।

पंच. पंचदशी । निर्णयसागरका सटीक संस्करण ।

प्रश्न. प्रश्नोपनिषद् । प्रश्न और मंत्र । आनंदाश्रमका संस्करण ।

बृ. अथवा **बृह.** बृहदारण्यकोपनिषद् । अध्याय, ब्राह्मण और मंत्र । आनंदाश्रमका संस्करण । साधारण पाठ काण्व; केवल एक स्थानपर माध्यंदिन शाखाके पाठका उल्लेख है ।

ब्र. सू. आगे **वे. सू.** देखो ।

भाग. श्रीमद्भागवतपुराण । निर्णयसागरका संस्करण ।

भा. ज्यो. भारतीय ज्योतिःशास्त्र । स्वर्गीय शंकर बालकृष्ण दीक्षितकृत ।

मत्स्य. मत्स्यपुराण । आनंदाश्रमका संस्करण ।

मनु मनुस्मृति । अध्याय और श्लोक । डॉ. जालीका संस्करण । मंडलिकके अथवा अन्य किसीभी संस्करणमें येही श्लोक प्रायः एकही स्थानपर मिलेंगे । मनु पर जो टीका है, वह मंडलीकके संस्करणकी है ।

म. भा. श्रीमन्महाभारत । इसके आगेके अक्षर विभिन्न पर्वोंके दर्शक हैं; अंकके अध्यायके और श्लोकोंके हैं । कलकत्तेके बाबू प्रतापचंद्र रायके द्वारा मुद्रित संस्कृत प्रतिकाही हमने सर्वत्र उपयोग किया है । बम्बईके संस्करणमें येही श्लोक कुछ आगे-पीछे मिलेंगे ।

मि. प्र. मिलिंदप्रश्न । पाली ग्रंथ । अंग्रेजी अनुवाद ।

मुं. अथवा **मुंड.** मुंडकोपनिषद् । मुंडक, खंड और मंत्र । आनंदाश्रमका संस्करण ।

मैत्र्यु. मैत्र्युपनिषद् अथवा मैत्रायण्युपनिषद् । प्रपाठक और मंत्र । आनंदाश्रमका संस्करण ।

याज्ञ. याज्ञवल्क्यस्मृति । अध्याय और श्लोक । बम्बईका छापा हुआ । इसकी अपराके टीकाकाभी (आनंदाश्रमका संस्करण) दो-एक स्थानोंपर उल्लेख है ।

यो. अथवा **योग.** योगवाशिष्ठ । प्रकरण, सर्ग और श्लोक । छठें प्रकरणके दो भाग हैं, (पू.) पूर्वार्ध, और (उ.) उत्तरार्ध । निर्णयसागरका सटीक संस्करण ।

रामपू. रामपूर्वतापिन्युपनिषद् । आनंदाश्रमका संस्करण ।

वाज. सं. वाजसनेयि संहिता । अध्याय और मंत्र । वेबरका संस्करण ।

वाल्मीकिरा. अथवा **वा. रा.** वाल्मीकिरामायण । कांड, अध्याय. और श्क । बम्बईका संस्करण ।

विष्णु. विष्णुपुराण, अंश, अध्याय और श्लोक । बम्बईका संस्करण ।

वेसू. वेदान्तसूत्र अथवा ब्रह्मसूत्र । अध्योय, पाद और सूत्र । **वे. सू. शां. भा.** वेदान्तसूत्र–शांकरभाष्य । आनंदाश्रमवाले संस्कणकाही सर्वत्र उपयोग किया है ।

शां. सू. शांडिल्यसूत्र । बम्बईका संस्करण ।

शिव. शिवगीता । अध्याय और श्लोक । अष्टेकर और मंडलीके गीतासंग्रहका संस्करण ।

श्वे. श्वेताश्वतरोपनिषद् । अध्याय और मंत्र । आनंदाश्रमका संस्करण ।

सां. का. सांख्यकारिका । तुकाराम तात्याका संस्करण ।

सूर्यगी. सूर्यगीता । अध्याय और श्लोक । मद्रासका संस्करण ।

हरि. हरिवंश । पर्व, अध्याय और श्लोक । बम्बईका संस्करण ।

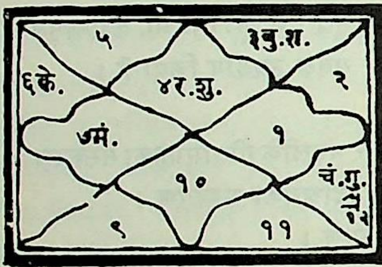
S. B. E. – Sacred Books of the East Series.

टिप्पणी :– इनके अतिरिक्त और कितनेही संस्कृत, अंग्रेजी, मराठी एवं पाली ग्रंथोंका स्थान-स्थानपर उल्लेख है । परंतु उनके नाम यथास्थानपर प्रायः पूरे लिख दिये गये हैं, अथवा वे समझमें आ सकते हैं, इसलिये उनके नाम इस सूचिमें शामिल नहीं किये गये ।

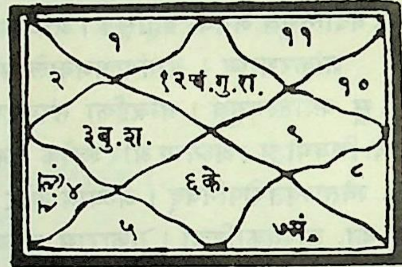
लोकमान्य तिलकजीकी जन्मकुंडली, राशिकुंडली
तथा
जन्मकालीन स्पष्टग्रह

शके १८७८ आषाढ कृष्ण ६, सूर्योदयात् गत घटि २, पल ५

जन्मकुंडली



राशिकुंडली



जन्मकालीन स्पष्टग्रह

रवि	चंद्र	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	राहु	केतु	लग्न
३	११	६	२	११	३	२	११	५	३
८	१६	४	२४	१७	१०	१७	२७	२७	१९
१९	३	३४	२९	५२	८	१८	३९	३९	२१
५१	४६	३७	१७	१६	२	७	१६	१६	३१

६।

Hindu Philosophy of Ethics.

Part I.

- अथ -

॥ श्रीमद्भगवद्गीता-रहस्य ॥

॥ आरंभः ॥

बाळ गंगाधर टिळक

कार्तिक शुद्ध १ शा. १८३२ -

मंडाले; २ नोव्हेंबर १९१० - ८ डिसेंबर १९१० -

- पूर्वार्ध - प्रकरण १-८ -

मंडालेके कारागृहमें लिखित गीतारहस्यकी मूल हस्तलिखित
प्रथम बहीका प्रथम पृष्ठ

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ तत्सत्.

- श्रीमद्भगवद्गीता - रहस्य -

अथवा.

- कर्मयोग - शास्त्र. -

प्रकरण १लें.

विषयप्रवेश.

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
महाभारत · आदिपर्व -

श्रीमद्भगवद्गीता हा आमच्या धर्मग्रंथांपैकी एक अत्यंत-
तेजस्वी व निर्मळ हिरा आहे. पिंडब्रह्मांडज्ञानपूर्वक आत्मवि-
द्येचीं गूढ व पवित्र तत्त्वें थोडक्यांत पण असंदिग्ध रीतीनें सांगून, व
त्यांच्या आधारें मनुष्यमात्रास आपल्या, आध्यात्मिक पूर्णाव-
स्थेची म्हणजे परमपुरुषार्थाची ओळख करून देणारा, व त्याबरोबर च
भक्तीची ज्ञानाशीं [illegible] ... यांची सांगड
घालून संसारांत भोगावे लागणाऱ्या [illegible] आणि विशे-
षतः निष्काम कर्तव्याचरणास प्रवृत्त करणारा, दुसरा बाल-
-बोध ग्रंथ संस्कृतांतच काय पण जगांतील इतर वाङ्म-
यांत ही सांपडणें दुर्मिळ होय. केवळ काव्य या दृष्टीनें जरी

याजे

श्रीगणेशाय नमः ।

ॐ तत्सत् ।

श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य
अथवा
कर्मयोगशास्त्र

▭ ▭

पहला प्रकरण

विषयप्रवेश

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ *

— महाभारत, आदिम श्लोक ।

श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्मग्रंथोंका एक अत्यंत तेजस्वी और निर्मल हीरा है । पिंड-ब्रह्मांड-ज्ञानसहित आत्मविद्याके गूढ़ और पवित्र तत्त्वोंको थोड़ेंमें और स्पष्ट रीतिसे समझा देनेवाला, उन्हीं तत्त्वोंके आधारपर मनुष्यमात्रके पुरुषार्थकी — अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णावस्थाकी — पहचान करा देनेवाला, भक्ति, और ज्ञानका मेल कराके इन दोनोंका शास्त्रोक्त व्यवहारके साथ संयोग करा देनेवाला और इसके द्वारा संसारसे त्रस्त मनुष्यको शांति देकर उसे निष्काम कर्तव्यके आचरणमें लगानेवाला गीताके समान वालबोध ग्रंथ, संस्कृतकी कौन कहे, समस्त संसारके साहित्यमेंभी नहीं मिल सकता । केवल काव्यकीही दृष्टिसे यदि इसकी परीक्षा की जाय तोभी यह ग्रंथ उत्तम काव्योंमें गिना जा सकता है; क्योंकि इसमें आत्मज्ञानके अनेक गूढ़ सिद्धान्त ऐसी प्रासादिक भाषामें लिखे गये हैं, कि वे बूढ़ों और बच्चोंको एकसमान सुगम हैं; और इसमें ज्ञानयुक्त भक्तिरसभी भरा पड़ा है । जिस ग्रंथमें समस्त वैदिक धर्मका सार स्वयं श्रीकृष्ण भगवानकी वाणीसे संग्रहित

---

* नारायणको, मनुष्योंमें जो श्रेष्ठ नर है उसको, सरस्वती देवीको और व्यासजीको नमस्कार करके फिर 'जय' अर्थात् महाभारतको पढ़ना चाहिये — यह

किया है, उसकी योग्यताका वर्णन कैसे किया जाय? महाभारतकी लड़ाई समाप्त होनेपर एक दिन श्रीकृष्ण और अर्जुन प्रेमपूर्वक बातचीत कर रहे थे। उस समय अर्जुनके मन इच्छा हुई कि श्रीकृष्णसे एक बार फिर गीता सुने। तुरंत अर्जुनने विनती की, "महाराज! आपने जो उपदेश मुझे युद्धके आरंभमें दिया था उसे मैं भूल गया हूँ। कृपा करके फिर एक बार उसे बतलाइये।" तब श्रीकृष्ण भगवानने उत्तर दिया कि – उसे "उस समय मैंने अत्यंत योगयुक्त अंतःकरणसे उपदेश किया था। अब संभव नहीं कि मैं वैसेही उपदेश फिर कर सकूँ।" यह बात अनुगीताके प्रारंभ (महाभारत अश्वमेध अध्याय १६, श्लोक १० से १३) में दी हुई है। सच पूछें तो भगवान् श्रीकृष्णचंद्रके लिये कुछभी असंभव नहीं है; परंतु उनके उक्त कथनसे यह बात अच्छी तरह मालूम हो सकती है, कि गीताका महत्त्व कितना अधिक है। यह ग्रंथ, वैदिक धर्मके भिन्न भिन्न संप्रदायोंमें, वेदके समान, आज क़रीब ढ़ाई हजार वर्षोंसे सर्वमान्य तथा प्रमाणस्वरूप हो गया है; इसका कारणभी उक्त ग्रंथका महत्त्वही है। इसी लिये गीता-ध्यानमें इस स्मृतिकालीन ग्रंथका अलंकार-युक्त, परंतु यथार्थ वर्णन इस प्रकार किया गया है :–

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

अर्थात् जितने उपनिषद् हैं वे मानों गौएँ हैं, श्रीकृष्ण स्वयं दूध दुहनेवाले (ग्वाला) हैं, बुद्धिमान् अर्जुन (उन गौओंको पन्हानेवाला) भोक्ता बछड़ा (वत्स) है, और जो दूध दुहा गया वही मधुर गीतामृत है। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं, कि हिंदुस्थानकी सब भाषाओंमें इसके अनेक अनुवाद, टीकाएँ और विवेचन हो चुके हैं; परंतु जबसे पश्चिमी विद्वानोंको संस्कृत भाषाका ज्ञान होने लगा है, तबसे ग्रीक, लेटिन, जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी आदि यूरोपकी भाषाओंमेंभी इसके अनेक अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। तात्पर्य यह है, कि इस समय यह अद्वितीय ग्रंथ समस्त संसारमें प्रसिद्ध है।

श्लोकका अर्थ है। महाभारत (उ. ४८. ७–९ और २०–२२; तथा बन. १२. ४४–४६) में लिखा है, कि नर और नारायण ये दोनों ऋषि दो स्वरूपोंमें विभक्त – साक्षात् परमात्मा – ही हैं, और इन्हीं दोनोंने आगे चलकर अर्जुन तथा श्रीकृष्णका अवतार लिया। सब भागवतधर्मीय ग्रंथोंके आरंभमें इन्हींको प्रथम इसलिये नमस्कार करते हैं, कि निष्काम कर्म-युक्त नारायणीय तथा भागवत-धर्मको इन्होंनेही पहलेपहल जारी किया था। इस श्लोकमें कहीं कहीं 'व्यास'के बदले 'चैव' पाठभी है; परंतु हमें यह युक्तिसंगत नहीं मालूम होता; क्योंकि, जैसे भागवत-धर्मके प्रचारक नर-नारायणको प्रणाम करना सर्वथा उचित है, वैसेही इस धर्मके दो मुख्य ग्रंथों (महाभारत और गीता) के कर्ता व्यासजीकोभी नमस्कार करना उचित है। महाभारतका प्राचीन नाम 'जय' है (मभा. आ. ६२. २०)।

इस ग्रंथमें सब उपनिषदोंका सार आ गया है; इसीसे इसका पूरा नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषत्' है। गीताके प्रत्येक अध्यायके अंतमें जो अध्याय-समाप्ति-दर्शक संकल्प है, उसमें "इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे" इत्यादि शब्द हैं। यह संकल्प यद्यपि मूलग्रंथ (महाभारत) में नहीं है, तथापि यह गीताकी सभी प्रतियोंमें पाया जाता है। इससे अनुमान होता है, कि गीताकी किसीभी प्रकारकी टीका हो जानेके पहलेही, जब महाभारतसे गीता नित्यपाठके लिये अलग निकाल ली गयी तभीसे उक्त संकल्पका प्रचार हुआ होगा। इस दृष्टिसे, गीताके तात्पर्यका निर्णय करनेके कार्यमें उसका महत्त्व कितना है, यह आगे चलकर बताया जायगा। यहाँ इस संकल्पके केवल दो पद (भगवद्गीतासु उपनिषत्सु) विचारणीय हैं। 'उपनिषत्' शब्द हिंदीमें पुल्लिग माना जाता है; परंतु वह संस्कृतमें स्त्रीलिंग है। इसलिये "श्रीभगवानसे गाया गया अर्थात् कहा गया उपनिषद्" यह अर्थ प्रकट करनेके लिये संस्कृतमें "श्रीमद्-भगवद्गीता उपनिषत्" ये दो विशेषण-विशेष्यरूप स्त्रीलिंग शब्द प्रयुक्त हुए हैं; और यद्यपि ग्रंथ एकही है, तथापि सम्मानके लिये 'श्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषत्सु' ऐसा सप्तमीके बहुवचनका प्रयोग किया गया है। शंकराचार्यके भाष्यमेंभी इस ग्रंथको लक्ष्य करके 'इति गीतासु' यह बहुवचनांत प्रयोग पाया जाता है। परंतु नामको संक्षिप्त करनेके समय आदरसूचक प्रत्यय, पद तथा अंतिम सामान्य जाति-वाचक 'उपनिषत्' शब्दभी उड़ा दिया गया; जिससे 'श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद्' इन प्रथमाके एकवचनान्त शब्दों के बदले पहले 'भगवद्गीता' और फिर केवल 'गीता'-ही संक्षिप्त नाम प्रचलित हो गया। ऐसे बहुत-से संक्षिप्त नाम प्रचलित हैं। जैसे — कठ, छांदोग्य, केन इत्यादि। यदि 'उपनिषद्' शब्द मूल नाममें न होता तो 'भागवतम्', 'भारतम्', 'गोपीगीतम्' इत्यादि शब्दोंके समान इस ग्रंथका नामभी 'भगवद्गीतम्' या केवल 'गीतम्' बन जाता; जैसा कि नपुंसकलिंगके शब्दोंका स्वरूप होता है। परंतु जब कि ऐसा हुआ नहीं है और 'भगवद्गीता' या 'गीता' यही स्त्रीलिंग शब्द अबतक बना रहा है, तब उसके सामने 'उपनिषत्' शब्दको नित्य अध्याहृत समझना-ही चाहिये। अनुगीताकी अर्जुनमिश्रकृत टीकामें 'अनुगीता' शब्दका अर्थभी इसी रीतिसे किया गया है।

परंतु सात सौ श्लोकोंकी भगवद्गीताकोही गीता नहीं कहते। अनेक ज्ञान-विषयक ग्रंथभी गीता कहलाते हैं। उदाहरणार्थ, महाभारतके शांतिपर्वांतर्गत मोक्ष-पर्वके कुछ फुटकर प्रकरणोंको पिंगलगीता, शपांकगीता, मंकिगीता, बोध्यगीता, विचख्युगीता, हारितगीता, वृत्रगीता, पराशरगीता और हंसगीता कहते हैं। अश्वमेघ पर्वकी अनुगीताके एक भागका विशेषनाम 'ब्राह्मणगीता' है। इनके सिवा अवधूत-गीता, अष्टावक्रगीता, ईश्वरगीता, उत्तरगीता, कपिलगीता, गणेशगीता, देवीगीता, पांडवगीता, ब्रह्मगीता, भिक्षुगीता, यमगीता, रामगीता, व्यासगीता, शिवगीता,

सूतगीता, सूर्यगीता इत्यादि अनेक गीताएँ प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे कुछ तो, स्वतंत्र रीतिसे निर्माण की गयी हैं और शेष भिन्न भिन्न पुराणोंमें हैं। जैसे, गणेशपुराणके अंतिम क्रीडाखंडके १३८ से १४८ अध्यायोंमें गणेशगीता कहीं गयी है। इसे यदि थोड़ें हेर-फेरके साथ भगवद्गीताकी नक़ल कहें तो कोई हानि नहीं। कूर्मपुराणके उत्तरभागके पहले ग्यारह अध्यायोंमें ईश्वरगीता है। इसके बाद व्यासगीताका आरंभ हुआ है। स्कंदपुराणांतर्गत सूतसंहिताके चौथे अर्थात् यज्ञवैभवखंड के उपरिभागके आरंभ (१ से १२ अध्यायतक) में ब्रह्मगीता है और इसके बादके अध्यायोंमें सूतगीता, है। यह तो हुई आठ स्कंदपुराणकी ब्रह्मगीता; दूसरी एक और ब्रह्मगीता है, जो योगवासिष्ठके निर्वाण प्रकरणके उत्तरार्ध (सर्ग १७३ से १८१ तक) में आ गयी है। यमगीताएँ तीन प्रकारकी हैं। पहली विष्णुपुराणके तीसरे अंशके सातवें अध्यायमें; दूसरी, अग्निपुराणके तीसरे खंडके ३८१ वें अध्यायमें; और तीसरी, नृसिंहपुराणके आठवें अध्यायमें है। यही हाल रामगीताका है। महाराष्ट्रमें जो रामगीता प्रचलित है वह अध्यात्मरामायणके उत्तरकांडके पाँचवें सर्गमें है; और यह अध्यात्मरामायण ब्रह्मांड़पुराणका एक भाग माना जाता है; परंतु इसके सिवा एक दूसरी रामगीता 'गुरुज्ञान-वासिष्ठ-तत्त्वसारायण' नामक ग्रंथमें है, जो मद्रासकी ओर प्रसिद्ध है। यह ग्रंथ वेदान्तविषयपर लिखा गया है। इसमें ज्ञान, उपासना और कर्म-संबंधी तीन कांड हैं। इसके उपासनाकांडके द्वितीय पादके पहले अठारह अध्यायोंमें रामगीता है और कर्मकांडके तृतीय पादके पहले पाँच अध्यायोंमें सूर्यगीता है। कहते हैं कि शिवगीता पद्मपुराणके पातालखंडमें है। पर इस पुराणकी जो प्रति पूणेके आनंदाश्रममें छपी है उसमें शिवगीता नहीं है। पंडित ज्वालाप्रसादने अपने 'अष्टादशपुराणदर्शन' ग्रंथमें लिखा है कि शिवगीता गौड़ीय पद्मोत्तरपुराणमें है। नारदपुराणमें अन्य पुराणोंके साथ साथ, पद्मपुराणकीभी जो विषयानुक्रमणिका दी गयी है, उसमें शिवगीताका उल्लेख पाया जाता है। श्रीमद्-भागवतपुराणके ग्यारहवें स्कंधके तेरहवें अध्यायमें हंसगीता और तेईसवें अध्यायमें भिक्षुगीता कही गयी है। तीसरे स्कंधके कपिलोपाख्यान (अ. २३–३३) को कई लोग 'कपिलगीता' कहते हैं; परंतु 'कपिलगीता' नामक एक छपी हुई स्वतंत्र पुस्तक हमारे देखनेमें आई है, जिसमें हठयोगका प्रधानतः वर्णन किया गया है; और लिखा है, कि यह कपिलगीता पद्मपुराणसे ली गयी है; परंतु यह गीता पद्मपुराणमें हैही नहीं। इसमें एक स्थान (४. ७) पर जैन, जंगम और सूफ़ीका उल्लेख किया गया है, जिससे कहना पडता है, कि यह गीता मुसलमानी शासनकालके बादकी होगी। भागवतपुराणहीके समान देवीभागवतमेंभी, सातवें स्कंधके ३१ से ४० अध्यायतक एक गीता है, और देवीसे कही जानेके कारण उसे देवीगीता कहते हैं। केवल भगवद्गीताहीका सार अग्निपुराणके तीसरे खंडके ३८० वें अध्यायमें, तथा गरुडपुराणके पूर्वखंडके २४२ वें अध्यायमें दिया हुआ है। इसी तरह कहा

जाता है, कि रामावतारमें वसिष्ठजीने जो उपदेश रामचंद्रजीको दिया, उसीको योगवासिष्ठ कहते हैं; परंतु इस ग्रंथके अंतिम (अर्थात् निर्वाण) प्रकरणमें 'अर्जुनोपाख्यान'भी शामिल है; जिसमें उस भगवद्गीताका सारांश दिया गया है, कि जिसे कृष्णावतारमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा था। इस उपाख्यानमें भगवद्गीताके अनेक श्लोक ज्यों-कि-त्यों पाये जाते हैं (योग. ६ पू. सर्ग ५२–५८)। ऊपर कहा जा चुका है कि पुणेमें छपे हुए पद्मपुराणमें शिवगीता नहीं मिलती; परंतु उसके न मिलनेपरभी इस प्रतिके उत्तरखंडके १७१ से १८८ अध्यायतक भगवद्गीताके महात्म्यका वर्णन है, और भगवद्गीताके प्रत्येक अध्यायके लिये महात्म्यवर्णनका एक एक अध्याय है; और इसके संवंधमें कथाभी कही गयी है। इसके सिवा वराहपुराणमें एक गीतामहात्म्य है और शिवपुराणमें तथा वायुपुराणमेंभी गीता-महात्म्यका होना वतलाया जाता है; परंतु कलकत्तेके छपे हुए वायुपुराणमें वह हमें नहीं मिला। भगवद्गीताकी छपी हुई पुस्तकोंके आरंभमें 'गीता-ध्यान' नामक नौ श्लोकोंका एक प्रकरण पाया जाता है। नहीं जान पड़ता, कि यह कहाँसे लिया गया है; परंतु इसका "भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला०" श्लोक, थोड़े हेरफेरके साथ, हालहीमें प्रकाशित 'ऊरुभंग' नामक भास कविकृत नाटकके आरंभमें दिया हुआ है। इससे ज्ञात होता है, कि उक्त 'ध्यान' भास कविके समयके अनंतर प्रचार-में आया होगा। क्योंकि यह माननेकी अपेक्षा कि भाससरीखे प्रसिद्ध कविने इस श्लोकको गीता-ध्यानसे लिया है; यही कहना अधिक युक्तिसंगत होगा, कि गीता-ध्यानकी रचना भिन्न भिन्न स्थानोंसे लिये हुए, और कुछ नये बनाये हुए श्लोकों-से की गयी है। भास कवि कालिदाससे पहिले हो गया है। इसलिये उसका समय कम-से-कम संवत् ४३५ (शक तीन सौ) से अधिक अर्वाचीन नहीं हो सकता।*

ऊपर कही गयी बातोंसे यह वात अच्छी तरह ध्यानमें आ सकती है, कि भगवद्-गीताके कौन-से और कितने अनुवाद तथा कुछ हेरफेरके साथ कितनी नक़लें, तात्पर्य और महात्म्य-पुराणोंमें मिलतें हैं। इस बातका पता नहीं चलता, कि अवधूत और अष्टावक्र आदि दो-चार गीताओंको कब और किसने स्वतंत्र रीतिसे रचा; अथवा वे किस पुराणसे ली गयी हैं। तथापि इन सब गीताओंकी रचना तथा विषय-विवेचन-को देखनेसे यही मालूम होता है, कि ये सब ग्रंथ, भगवद्गीताके जगप्रसिद्ध होनेके वादही, बनाये गये हैं। इन गीताओंके संवंधमें यह कहनेसेभी कोई हानि नहीं कि वे इसी लिये रची गयी हैं, कि किसी विशिष्ट पंथ या विशिष्ट पुराणमें भगवद्गीताके समान एक-आध गीताके रहे बिना उस पंथ या पुराणकी पूर्णता नहीं हो सकती थी। जिस तरह श्रीभगवानने भगवद्गीतामें अर्जुनको विश्वरूप दिखाकर

---

* उपर्युक्त अनेक गीताओं तथा भगवद्गीताको श्री. हरि रघुनाथ भागवतने पुणेसे प्रकाशित किया।

ज्ञान बतलाया है, उसी तरह शिवगीता, देवीगीता और गणेशगीतामेंभी वर्णन है। शिवगीता, ईश्वरगीता आदिमें तो भगवद्गीताके अनेक श्लोक अक्षरश: पाये जाते हैं। यदि ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो इन सब गीताओंमें भगवद्गीताकी अपेक्षा कुछ अधिक विशेषता नहीं है; और भगवद्गीतामें अध्यात्मज्ञान और कर्मका मेल कर देनेकी जो अपूर्व शैली है वह इनमेंसे किसीभी गीतामें नहीं है। भगवद्गीतामें पातंजलयोग अथवा हठयोग और कर्मत्यागरूप संन्यासका यथोचित वर्णन न देखकर, उसकी पूर्तिके लिये कृष्णार्जुन-संवादके रूपमें, किसीने उत्तरगीता बादमें लिख डाली है। अवधूत और अष्टावक्र आदि गीताएँ बिलकुल एकदेशीय हैं। क्योंकि इनमें केवल संन्यासमार्गकाही प्रतिपादन किया गया है। यमगीता और पांडवगीता तो केवल भक्तिविषयक संक्षिप्त स्तोत्रोंके समान हैं। शिवगीता, गणेशगीता और सूर्यगीता ऐसी नहीं हैं। यद्यपि इनमें ज्ञान और कर्मके समुच्चयका युक्तियुक्त समर्थन अवश्य किया गया है, तथापि इनमें नवीनता कुछभी नहीं है; क्योंकि यह विषय प्राय: भगवद्गीतासेही लिया गया है। इन कारणोंसे भगवद्गीताके प्रगल्भ तथा व्यापक तेज़के सामने बादकी बनी हुई कोईभी पौराणिक गीता ठहर नहीं सकी, और इन नक़ली गीताओंसे उलटे भगवद्गीताकाही महत्त्व अधिक बढ़ गया है। यही कारण है, कि 'भगवद्गीता'का 'गीता'नाम प्रचलित हो गया है। अध्यात्म-रामायण और योगवासिष्ठ यद्यपि विस्तृत ग्रंथ हैं तोभी वे बादमें बने हैं। और यह बात उनकी रचनासेही स्पष्ट मालूम हो जाती है। मद्रासका 'गुरुज्ञानवासिष्ठ तत्त्वसारायण' नामक ग्रंथ कइयोंके मतानुसार बहुत प्राचीन है; परंतु हम ऐसा नहीं मानते; क्यों कि उसमें १०८ उपनिषदोंका उल्लेख है, जिनकी प्राचीनता सिद्ध नहीं हो सकती। सूर्यगीतामें विशिष्टाद्वैत मतका उल्लेख पाया जाता है (३.३०); और कई स्थानोंमें भगवद्गीताहीका युक्तिवाद लिया हुआ-सा जान पड़ता है (१.६८)। इसलिये यह ग्रंथभी बहुत पीछेसे – श्रीशंकराचार्यकेभी बाद – बनाया गया होगा।

अनेक गीताओंके होनेपरभी भगवद्गीताकी श्रेष्ठता निर्विवाद सिद्ध है। इसी कारण उत्तरकालीन वैदिकधर्मीय पंडितोंने, अन्य गीताओंपर अधिक ध्यान नहीं दिया, और भगवद्गीताहीकी परीक्षा करने और उसीका तात्पर्य अपने बंधुओंको समझा देनेमें, अपनी कृतकृत्यता मानने लगे। ग्रंथकी दो प्रकारसे परीक्षा की जाती है। एक अंतरंग-परीक्षा और दूसरी बहिरंग-परीक्षा कहलाती है। पूरे ग्रंथको देखकर उसके मर्म, रहस्य, मथितार्थ और प्रमेय ढूंढ़ निकालना 'अंतरंग-परीक्षा' है। ग्रंथको किसने और कब बनाया, उसकी भाषा सरस है या नीरस, काव्य-दृष्टिसे उसमें माधुर्य और प्रसाद गुण हैं या नहीं, शब्दोंकी रचनामें व्याकरणपर ध्यान दिया गया है या उस ग्रंथमें अनेक आर्ष प्रयोग हैं, उसमें किनकिन मतों-स्थलों और व्यक्तियोंका उल्लेख है; इन बातोंसे ग्रंथके कालनिर्णय और तत्कालीन समाज-

स्थितिका कुछ पता चलता है या नहीं; ग्रंथके विचार स्वतंत्र हैं अथवा चुराये हुए हैं; यदि उसमें दूसरोंके विचार भरे हैं, तो वे कौनसे हैं और कहाँसे लिये गये हैं; इत्यादि बातोंके विवेचनको 'वहिरंग-परीक्षा' कहते हैं। जिन प्राचीन पंडितोंने गीतापर टीका और भाष्य लिखे हैं उन्होंने उक्त बाहरी बातोंपर अधिक ध्यान नहीं दिया। इसका कारण यही है, कि वे लोग भगवद्गीतासरीखे अलौकिक ग्रंथकी परीक्षा करते समय उक्त बाहरी बातोंपर ध्यान देनेको ऐसाही समझते थे, जैसे-कि कोई मनुष्य एक-आध उत्तम सुगंधयुक्त फूलको पाकर उसके रंग, सौंदर्य, सुवास आदिके विषयमें कुछभी विचार न करे, और केवल उसकी पँखुरियाँ गिनता रहे अथवा जैसे कोई मनुष्य मधुमक्खीका मधुयुक्त छत्ता पाकर केवल उसके छिद्रोंको गिननेमेंही समय नष्ट कर दे! परंतु अब पश्चिमी विद्वानोंके अनुकरणसे हमारे आधुनिक विद्वान् लोग गीताकी बाह्य-परीक्षाभी बहुत कुछ करने लगे हैं। गीताके आर्ष प्रयोगोंको देखकर एकने यह निश्चित किया है कि यह ग्रंथ ईसासे कई शतक पहलेही बन गया होगा। इससे यह शंका बिलकुलही निर्मूल हो जाती है, कि गीताका भक्तिमार्ग उस ईसाई धर्मसे लिया गया होगा, कि जो गीताके बहुत पीछेसे प्रचलित हुआ है। गीताके सोलहवें अध्यायमें जिस नास्तिक मतका उल्लेख है उसे बौद्धमत समझकर दूसरेने गीताका रचना-काल बुद्धके बाद माना है। तीसरे विद्वान्का कथन है कि तेरहवें अध्यायमें 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव०' श्लोकमें ब्रह्मसूत्रका उल्लेख होनेके कारण गीता ब्रह्मसूत्रके बाद बनी होगी। इसके विरुद्ध कई लोग कहते हैं, कि ब्रह्मसूत्रमें अनेक स्थानोंपर गीताहीका आधार लिया गया है; जिससे गीताका उसके बाद बनना सिद्ध नहीं होता। कोई कोई ऐसाभी कहते हैं कि भारतीय युद्धमें रणभूमिपर अर्जुनको सात सौ श्लोकोंकी गीता सुनानेका समय मिलना संभव नहीं है। हाँ, यह संभव है कि श्रीकृष्णने अर्जुनको लड़ाईकी जल्दीमें दस-बीस श्लोक या उनका भावार्थ सुना दिया हो, और उन्हीं श्लोकोंके विस्तारकी संजयने धृतराष्ट्रसे, व्यासने शुकसे, वैशंपायनने जनमेजयसे और सूतने शौनकसे कहा हो; अथवा महाभारतकारनेभी उसको विस्तृत रीतिसे लिख दिया हो। गीताकी रचनाके संबंधमें मनकी ऐसी प्रवृत्ति होनेपर गीता-सागरमें डुबकियाँ लगाकर किसीने सात,* किसीने अठ्ठाईस, किसीने छत्तीस और किसीने सौ, इस तरह गीताके मूल श्लोक खोज निकाले हैं। कोई कोई तो यहाँतक कहते हैं कि अर्जुनको

---

* आजकल एक सप्तश्लोकी गीता प्रकाशित हुई है, उसमें केवल येही सात श्लोक हैं :– ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म इ० (गीता ८. १३); (२) स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या इ० (गीता ११. ३६); (३) सर्वतः पाणिपादं तत् इ० (गीता १३. १३); (४) कवि पुराणमनुशासितारं इ० (गीता ८. ९); (५) ऊर्ध्वमूलमधःशाखं इ० (गी. १५. १) (६) सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो इ० (१५. १५); (७) मन्मना भव मद्भक्तो इ० (गीता १८. ६५) इसी तरह औरभी अनेक संक्षिप्त गीताएँ बनी हैं।

रणभूमिपर गीताका ब्रह्मज्ञान बतलानेकी कोई आवश्यकताही नहीं थी और वेदान्त विषयका यह उत्तम ग्रंथ पीछेसे महाभारतमें जोड दिया गया है। यह नहीं कि बहिरंग-परीक्षाकी ये सब बातें सर्वथा निरर्थक हों। उदाहरणार्थ, ऊपर कही गयी फूलकी पँखुरियों तथा मधुके छत्तेके छिद्रोंकी बातकोही लीजिये। वनस्पतियोंके वर्गीकरणके समय फूलोंकी पँखुरियोंकाभी विचार अवश्य करना पडता है। इसी तरह गणितकी सहायतासे यह सिद्ध किया गया है, कि मधुमक्खियोंके छत्तेमें जो छेद होते हैं उनका आकार ऐसा होता है, कि मधुरसका घनफल तो कम होने नहीं पाता; और बाहरके आवरणका पृष्ठफल बहूत कम हो जाता है; जिससे मोमकी पैदाइश घट जाती है। इससे मधुमक्खियोंका जन्मजात चातुर्य व्यक्त होता है। इसी प्रकारके उपयोगोंपर दृष्टि देते हुए हमनेभी गीताकी बहिरंग-परीक्षा की है, और उसके कुछ महत्त्वके सिद्धान्तोंका विचार इस ग्रंथके अंतमें, परिशिष्टमें किया है; परंतु जिनको ग्रंथका रहस्यही जानना है, उनके लिये बहिरंग-परीक्षाके झगडेमें पडना अनावश्यक है। वाग्देवीके रहस्यको जाननेवालों तथा उसकी ऊपरी और बाहरी बातोंके जिज्ञासुओंमें जो भेद हैं उसे मुरारि कविने बड़ीही सरसताके साथ दरशाया है :–

अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किं त्वस्य गम्भीरताम् ।
आपातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः ।।

अर्थात्, समुद्रकी अगाध गहराई जाननेकी यदि इच्छा हो तो किससे पूछा जाय? इसमें संदेह नहीं, कि राम-रावण-युद्धके समय सैंकड़ों वानरवीर धड़ाधड़ समुद्रके ऊपरसे कूदते हुए लंकामें चले गये थे; परंतु उनमेंसे कितनोंको समुद्रकी गहराईका ज्ञान था? समुद्र-मंथनके समय देवताओंने मंथनदंड बनाकर जिस बड़े भारी पर्वतको नीचे छोड़ दिया था और जो सचमुच समुद्रके नीचे पातालतक पहुँच गया था, वही मंदराचल पर्वत समुद्रकी गहराईको जान सकता है। मुरारि कविके इस न्यायानुसार, गीताके रहस्यको जाननेके लिये, अब हमें उन पंडितों और आचार्योंके ग्रंथोंकी ओर ध्यान देना चाहिये, जिन्होंने गीता-सागरका मंथन किया है। इन दंडितोंमें महा-भारतके कर्ताही अग्रगण्य है। अधिक क्या कहे, आजकल जो गीता प्रसिद्ध है, उसके येही एक प्रकारसे कर्ताभी कहे जा सकते हैं। इसलिये प्रथम उन्हींके मतानुसार संक्षेपमें गीताका तात्पर्य दिया जाएगा।

'भगवद्गीता' अर्थात् 'भगवानसे गाया गया उपनिषत्' इस नामहीसे बोध होता है, कि गीतामें अर्जुनको उपदेश किया गया है वह प्रधान रूपसे भागवतधर्म – भगवान्के चलाये हुए धर्म – के विषयमें होगा। क्योंकि श्रीकृष्णको 'श्रीभगवान्'का नाम प्रायः भागवतधर्ममेंही दिया जाता है। यह उपदेश कुछ नया नहीं है। पूर्व कालमें यही उपदेश भगवानने विवस्वानको, विवस्वानने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुको किया थां। यह बात गीताके चौथे अध्यायके आरंभ (गीता ४.१)

में दी हुई है । महाभारतके, शांतिपर्वके अंतमें नारायणीय अथवा भागवत धर्मका विस्तृत निरूपण है, जिसमें ब्रह्मदेवके अनेक जन्मोंमें अर्थात् कल्पांतरोंमें भागवत-धर्मकी परंपराका वर्णन किया गया है । और अंतमें यह कहा गया है :–

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ ।
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः ।।

अर्थात् ब्रह्मदेवके वर्तमान जन्मके त्रेतायुगमें इस भागवत-धर्मने विवस्वान्-मनु-इक्ष्वाकुकी परंपरासे विस्तार पाया है (मभा. शां. ३४८. ५१, ५२)। यह परंपरा गीतामें दी हुई उक्त परंपरासे मिलती है (गीता ४. १ पर हमारी टीका देखो)। दो भिन्न धर्मोंकी परंपराका एक होना संभव नहीं है, इसलिये परंपराकी एकताके कारण यह अनुमान सहजही किया जा सकता है कि गीताधर्म और भागवतधर्म ये दोनों एकही हैं। इन धर्मोंकी यह एकता केवल अनुमानही पर अवलंबित नहीं है। क्योंकि नारायणीय या भागवत-धर्मके निरूपणमें वैशंपायन जनमेजयसे कहते हैं :–

एवमेष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ।।

अर्थात् हे नृपश्रेष्ठ जनमेजय ! यही उत्तम भागवत-धर्म, विधियुक्त और संक्षिप्त रीतिसे हरिगीता अर्थात् भगवद्गीतामें, तुझे पहलेही बतलाया गया है (मभा. शां. ३४६.१०)। इसके बाद एक अध्याय छोड़ कर दूसरे अध्याय (मभा. शां. ३४८. ८) में नारायणीय धर्मके संबंधमें फिरभी स्पष्ट रीतिसे कहा गया है कि :–

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे ।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ।।

अर्थात् कौरव-पांडव-युद्धके समय जब अर्जुन उद्विग्न हो गया था तब स्वयं भगवानने उसे यह उपदेश किया था। इसमें यह स्पष्ट है, कि 'हरिगीता'से भगवद्गीताहीका मतलब है। गुरुपरंपराकी एकताके अतिरिक्त यहभी ध्यानमें रखने योग्य है, कि जिस भागवत-धर्म या नारायणीय धर्मके विषयमें दो-बार कहा गया है, कि वही गीताका प्रतिपाद्य विषय है; उसीको 'सात्वत' या 'एकांतिक' धर्मभी कहा है। इसका विवेचन करते समय (शां. ३४७. ८०, ८१) दो लक्षण कहे गये हैं :–

नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः ।
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः ।।

अर्थात् यह नारायणीय धर्म प्रवृत्तिमार्गका होकरभी पुनर्जन्मको टालनेवाला अर्थात् पूर्ण मोक्षका दाता है। फिर इस बातका वर्णन किया गया है, कि यह धर्म प्रवृत्तिमार्ग-का कैसे है। प्रवृत्तिका यह अर्थ प्रसिद्धही है, कि संन्यास न लेकर मरणपर्यंत चातुर्वर्ण्य

विहित निष्काम कर्मही करता रहे। इसलिये यह स्पष्ट है, कि गीतामें जो उपदेश अर्जुनको किया गया है, वह भागवतधर्मका है; और उसको महाभारतकार प्रवृत्ति-विषयकही मानते हैं, क्योंकि उपर्युक्त धर्मभी प्रवृत्ति-विषयक है। साथ साथ यदि ऐसा कहा जाय, कि गीतामें केवल प्रवृत्तिमार्गकाही भागवतधर्म, है, तो यहभी ठीक नहीं। क्योंकि वैशंपायनने जनमेजयसे फिर कहा है (मभा. शां. ३४८. ५३)।

यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ।।

अर्थात् हे राजा! यतियों – अर्थात् संन्यासियों – के निवृत्तिमार्गका धर्मभी तुझे पहले भगवद्गीतामें संक्षिप्त रीतिसे भागवतधर्मके साथ बतला दिया गया है; परंतु यद्यपि गीतामें प्रवृत्तिधर्मके साथही यतियोंका निवृत्तिधर्मभी बतलाया गया है, तथापि मनु-इक्ष्वाकु इत्यादि गीताधर्मकी जो परंपरा गीतामें दी गयी है, वह यतिधर्मको लागू नहीं हो सकती। वह केवल भागवत-धर्महीकी परंपरासे मिलती है। सारांश यह है, कि उपर्युक्त वचनोंसे महाभारतकारका यही अभिप्राय जान पड़ता है, कि गीतामें अर्जुनको जो उपदेश किया गया है, वह विशेषकरके मनु-इक्ष्वाकु इत्यादि परंपरासे चले आये प्रवृत्ति-विषयक भागवतधर्महीका है; और उसमें निवृत्ति-विषयक यतिधर्मका जो निरूपण पाया जाता है वह केवल आनुषंगिक है। पृथु, प्रियव्रत और प्रल्हाद आदि भक्तोंकी कथाओंसे, तथा भागवतमें दिये गये निष्काम कर्मके वर्णनोंसे (भागवत ४. २२. ५१, ५२; ७. १०. २३ और ११. ४. ६) यह भली भाँति मालूम हो जाता है, कि महाभारतका प्रवृत्ति-विषयक नारायणीय धर्म और भागवत-पुराणका भागवतधर्म, ये दोनों मूलतः एक ही हैं। परंतु भागवतपुराणका मुख्य उद्देश्य यह नहीं है, कि वह भागवतधर्मके कर्मयुक्त-प्रवृत्तितत्त्वका समर्थन करे। यह समर्थन, महाभारतमें और विशेषकरके गीतामें किया गया है, परंतु इस समर्थनके समय भागवतधर्मीय भक्तिका यथोचित रहस्य दिखलाना व्यासजी भूल गये थे। इसलिये भागवतके आरंभके अध्यायोंमें लिखा है, कि (भागवत १. ५. १२) बिना भक्तिके केवल निष्काम कर्म व्यर्थ है यह सोच – कर, और महाभारतकी उक्त न्यूनताको पूर्ण करनेके लियेही, भागवत-पुराणकी रचना बादमें की गयी। इससे भागवतपुराणका मुख्य उद्देश्य स्पष्ट रीतिसे मालूम हो सकता है। यही कारण है कि भागवतमें अनेक प्रकारकी हरिकथाएँ कहकर भागवतधर्मकी भगवद्भक्तिके महात्म्यका जैसा विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, वैसा भागवतधर्मके कर्मविषयक अंगोंका विवेचन उसमें नहीं किया है। अधिक क्या कहें, भागवतकारका यहाँतक कहना है, कि बिना भक्तिके सब कर्मयोग वृथा हैं (भागः १. ५. ३४)। अतएव गीताके तात्पर्यका निश्चय करनेमें जिस महाभारतमें गीता कही गयी है, उसी नारायणीयोपाख्यानका जैसा उपयोग हो सकता है, वैसा भागवतधर्मीय होनेपरभी, भागवत-पुराणका उपयोग नहीं हो सकता; क्योंकि वह

केवल भक्तिप्रधान है। यदि उसका कुछ उपयोग कियाभी जाय, तो इस बातपरभी ध्यान देना पड़ेगा, कि महाभारत और भागवतपुराणके उद्देश्य और रचना-काल भिन्न भिन्न हैं। निवृत्ति-विषयक यतिधर्म और प्रवृत्तिविषयक भागवतधर्मका मूल स्वरूप क्या है? इन दोनोंमें भेद क्यों हैं? मूल भागवतधर्म इस समय किस रूपांतरसे प्रचलित है? इत्यादि प्रश्नोंका विचार आगे चलकर किया जायगा।

यह मालूम हो गया, कि स्वयं महाभारतकारके मतानुसार गीताका क्या तात्पर्य है। अब देखना चाहिये कि गीताके भाष्यकारों और टीकाकारोंने गीताका क्या तात्पर्य निश्चित किया है। इन भाष्यों तथा टीकाओंमें आजकल श्रीशंकराचार्य-कृत गीता-भाष्य अतिप्राचीन ग्रंथ माना जाता है। यद्यपि इसकेभी पूर्व गीतापर अनेक भाष्य और टीकाएँ लिखीं जा चुकीं थीं, तथापि वे अब उपलब्ध नहीं हैं; और इसी लिये जान नहीं सकते, कि महाभारतके रचना-कालसे शंकराचार्यके समय-तक गीताका अर्थ किस प्रकार किया जाता था। तथापि शांकरभाष्यहीमें इन प्राचीन टीकाकारोंके मतोंका जो उल्लेख है (गीता शांभा. अ. २ और ३ का उपोद्घात) उससे साफ़ साफ़ मालूम होता है, कि शंकराचार्यके पूर्वकालीन टीकाकार, गीताका अर्थ, महाभारत-कर्ताके अनुसारही ज्ञानकर्म समुच्चयात्मक किया करते थे। अर्थात् उसका यह प्रवृत्ति-विषयक अर्थ लगाया जाता था, कि ज्ञानी मनुष्यको ज्ञानके साथ साथ मृत्युपर्यंत स्वधर्मविहित कर्म करना चाहिये। परंतु वैदिक कर्मयोगका यह सिद्धान्त शंकराचार्यको मान्य नहीं था। इसलिये उसका खंडन करने और अपने मतके अनुसार गीताका तात्पर्य बतानेहीके लिये उन्होंने गीता-भाष्यकी रचना की है। यह बात उक्त भाष्यके आरंभके उपोद्घात-में स्पष्ट रीतिसे कही गई है। 'भाष्य' शब्दका अर्थभी यही है। 'भाष्य' और 'टीका' — का बहुतकरके समानार्थी उपयोग होता है; परंतु सामान्यतः 'टीका' मूलग्रंथके सरल अन्वय और उसके सुगम अर्थ करनेहीको कहते हैं। भाष्यकार इतनीही बातोंसे संतुष्ट नहीं रहता, वह उस ग्रंथकी न्याययुक्त समालोचना करता है; अपने मतानुसार उसका तात्पर्य बतलाता है; और उसीके अनुसार वह यहभी बतलाता है, कि ग्रंथका अर्थ कैसे लगाना चाहिये। गीताके शांकरभाष्यका यही स्वरूप है। परंतु गीताके तात्पर्यके विवेचनमें शंकराचार्यने जो भेद किया है उसका कारण जाननेके पहले थोड़ासा पूर्वकालीन इतिहासभी यहींपर जान लेना चाहिये। वैदिक धर्म केवल तांत्रिक धर्म नहीं है। उसमें जो गूढ़ तत्त्व हैं, उनका सूक्ष्म विवेचन प्राचीन समयहीमें उपनिषदोंमें हो चुका है; परंतु ये उपनिषद् भिन्न भिन्न ऋषियों-के द्वारा भिन्न भिन्न समयमें बनाए गये हैं। इसलिये उनमें कहीं कहीं विचार-विभिन्नता और परस्परविरुद्धताभी आगयी है। इस विचार-विरोधको मिटानेके लियेही बादरायणाचार्यने अपने वेदान्तसूत्रोंमें सब उपनिषदोंकी विचारैक्यता कर दी है; और इसी कारणसे वेदान्तसूत्रभी उपनिषदोंके समानही प्रमाण माने जाते

हैं। इन्हीं वेदान्तसूत्रोंके दूसरे नाम 'ब्रह्मसूत्र' अथवा 'शारीरकसूत्र' हैं। तथापि वैदिकधर्मके तत्त्वज्ञानका पूर्ण विचार इतनेसेही नहीं हो सकता। क्योंकि उपनिषदोंका ज्ञान प्रायः वैराग्यविषयक अर्थात् निवृत्तिविषयक है; और वेदान्तसूत्र तो सिर्फ़ उपनिषदोंका मतैक्य करनेहीके उद्देश्यसे बनाए गये हैं। इसलिये उनमेंभी वैदिक प्रवृत्तिमार्गका विस्तृत तात्त्विक विवेचन कहींभी नहीं किया है। इसीलिये उपर्युक्त कथनानुसार जब प्रवृत्तिमार्ग-प्रतिपादक भगवद्गीताने वैदिक धर्मकी तत्त्वज्ञान-संबंधी इस न्यूनताकी पूर्ति पहले पहल की, तब उपनिषदों और वेदान्तसूत्रोंके मार्मिक तत्त्वज्ञानकी पूर्णता करनेवाला यह भगवद्गीता ग्रंथभी, उन्हींके समान सर्वमान्य और प्रमाणभूत हो गया। और, अंतमें उपनिषदों, वेदान्तसूत्रों और भगवद्गीताका 'प्रस्थानत्रयी' नाम पड़ा। 'प्रस्थानत्रयी'का यह अर्थ है कि उसमें वैदिकधर्मके आधारभूत तीन मुख्य ग्रंथ हैं, जिनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गोंका नियमानुसार तथा तात्त्विक विवेचन किया है। इस तरह प्रस्थानत्रयीमें गीताके गिने जानेपर और प्रस्थानत्रयीका दिनोंदिन अधिकाधिक प्रचार होनेपर वैदिक धर्मके लोग उन मतों और संप्रदायोंको गौण अथवा अग्राह्य मानने लगे, जिनका समावेश उक्त तीन ग्रंथोंमें नहीं किया जा सकता था। परिणाम यह हुआ कि बौद्धधर्मके पतनके बाद वैदिकधर्मके जो जो संप्रदाय (अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत आदि) हिंदुस्थानमें प्रचलित हुये, उनमेंसे प्रत्येक संप्रदायके प्रवर्तक आचार्यको, प्रस्थानत्रयीके तीनों भागोंपर (अर्थात् भगवद्गीतापरभी) भाष्य लिखकर, यह सिद्धकर दिखानेकी आवश्यकता हुई, कि इन सब संप्रदायोंके जारी होनेके पहलेही जो तीन 'धर्मग्रंथ' प्रमाण समझे जाते थे, उन्हींके आधारपर हमारा संप्रदाय स्थापित हुआ है और अन्य संप्रदाय इन धर्मग्रंथोंके अनुसार नहीं है। ऐसा करनेका कारण यही है, कि यदि कोई आचार्य यह स्वीकार कर लेते कि अन्य संप्र-दायभी प्रमाणभूत धर्मग्रंथोंके आधारपर स्थापित हुये हैं, तो उनके संप्रदायका महत्त्व घट जाता – और, ऐसा करना किसीभी संप्रदायको इष्ट नहीं था। सांप्रदायिक दृष्टिसे प्रस्थानत्रयीपर भाष्य लिखनेकी यह रीति जब चल पड़ी, तब भिन्न भिन्न पंडित अनेक संप्रदायोंके भाष्योंके आधारपर टीकाएँ लिखने लगे। और गीतार्थ प्रतिपादन करने लगे। यह टीका उसी संप्रदायके लोगोंको अधिक मान्य हुआ करती थी जिसके भाष्यके अनुसार वह लिखी जाती थी। इस समय गीतापर जितने भाष्य और जितनी टीकाएँ उपलब्ध हैं, उनमेंसे प्रायः सब इसी सांप्रदायिक रीतिसे लिखी गयी हैं। इसका परिणाम यह हुआ, कि यद्यपि मूल गीतामें एकही अर्थ सुबोध रीतिसे प्रतिपादित हुआ है तथापि गीता भिन्न भिन्न संप्रदायोंकी समर्थक समझी जाने लगी। इन सब संप्रदायोंमें शंकराचार्यका संप्रदाय अतिप्राचीन है और तत्त्व-ज्ञानकी दृष्टिसे वही हिंदुस्थानमें सबसे अधिक मान्यभी हुआ है। श्रीमदाद्य-शंकराचार्यका जन्म संवत् ८४५ (शक ७१०) में हुआ था। बत्तीसवें वर्षमें उन्होंने

गुहा-प्रवेश किया (संवत् ८४५ से ८७७)।* श्रीशंकराचार्य बड़े भारी अलौकिक विद्वान् तथा ज्ञानी थे। उन्होंने अपनी दिव्य अलौकिक शक्तिसे उस समय चारों ओर फैले हुए जैन और बौद्धमतोंका खंडन करके अपना अद्वैत मत स्थापित किया; श्रुतिस्मृति-विहित वैदिक धर्मकी रक्षाके लिये, भरतखंडकी चारों दिशाओंमें चार मठ बनवाकर, वैदिक संन्यास-धर्म या संप्रदायको कलियुगमें पुनर्जन्म दिया, यह कथा किसीसे छिपी नहीं है। आप किसीभी धार्मिक संप्रदाय-को लीजिये, उसके दो स्वाभाविक विभाग अवश्य होंगे। पहला तत्त्वज्ञानका और दूसरा आचरणका। पहलेमें पिंड-ब्रह्मांडके विचारोंसे परमेश्वरके स्वरूपका निर्णय करके मोक्षकाभी शास्त्ररीत्यानुसार निर्णय किया जाता है। दूसरेमें इस बातका विवेचन किया जाता है, कि मोक्षकी प्राप्तिके साधन या उपायकी दृष्टिसे इस संसारमें मनुष्यको किस तरह बर्ताव करना चाहिए। इनमेंसे पहली अर्थात् तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर शंकराचार्यका कथन यह है कि :– (१) मैं, तू अथवा मनुष्यकी आँखसे दिखनेवाला सारा जगत् अर्थात् सृष्टिके पदार्थोंकी अनेकता सत्य नहीं है। इन सबमें एकही शुद्ध और नित्य परब्रह्म भरा हुआ है और उसीकी मायासे मनुष्यकी इंद्रियोंको भिन्नताका भास हुआ करता है; (२) मनुष्यकी आत्माभी मूलतः परब्रह्मरूपही है; और (३) आत्मा और परब्रह्मकी एकताका पूर्ण ज्ञान अर्थात् अनुभवसिद्ध पहचान हुए बिना कोईभी मोक्ष नहीं पा सकता। इसीको 'अद्वैतवाद' कहते हैं। क्योंकि एक शुद्ध, बुद्ध, नित्य और मुक्त परब्रह्मके सिवा दूसरी कोईभी स्वतंत्र और सत्य वस्तु नहीं है; दृष्टिगोचर भिन्नता मानवी दृष्टिका भ्रम, या मायाकी उपाधिसे होनेवाला आभास है; माया कुछ सत्य या स्वतंत्र वस्तु नहीं है – वह मिथ्या है यही उक्त सिद्धान्त का तात्पर्य है। केवल तत्त्वज्ञान-काही यदि विचार करना हो तो शांकर मतकी इससे अधिक चर्चा करनेकी आव-श्यकता नहीं है। परंतु शांकर-संप्रदाय इतनेसेही पूरा नहीं हो जाता। अद्वैत तत्त्व-ज्ञानके साथही शांकर-संप्रदायका औरभी एक सिद्धान्त है जो आचार-दृष्टिसे पहलेके समान महत्त्व का है। उसका तात्पर्य यह है, कि यद्यपि चित्तशुद्धिके द्वारा ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता पानेके लिये स्मृति ग्रंथोंमें कहे गये गृहस्था-श्रमके कर्म अत्यंत आवश्यक हैं, तथापि इन कर्मोंका आचरण सदैव नहीं करते रहना चाहिये; क्योंकि उन सब कर्मोंका त्याग करके अंतमें संन्यास लिये बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। इसका कारण यह है कि कर्म और ज्ञान, अंधकार और प्रकाशके समान परस्परविरोधी हैं। इसलिये सब वासनाओं और कर्मोंके छूटे बिना ब्रह्म-ज्ञानकी पूर्णताही नहीं हो सकती। इसी दूसरे सिद्धान्तको 'निवृत्तिमार्ग' कहते

---

*यह बात आजकल निश्चित हो चुकी है; परंतु हमारे मतसे श्रीमदाद्य-शंकराचार्यका समय इसके औरभी सौ वर्षपूर्व समझना चाहिये। इस आधारके लिये परिशिष्ट प्रकरण देखो।

हैं; और सब कर्मोंका संन्यास करके ज्ञानहीमें निमग्न रहते हैं, इसलिये 'संन्यास-निष्ठा' या 'ज्ञाननिष्ठा' भी कहते हैं। गीतापर श्रीशंकराचार्यका जो भाष्य है उसमें यह प्रतिपादन किया है कि उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रमें केवल अद्वैत ज्ञानही नहीं है, किंतु उनमें संन्यासमार्गका, अर्थात् शांकर-संप्रदायके उपर्युक्त दोनों भागोंका-भी उपदेश है (गीता शांभा. उपोद्घात और ब्रह्म. सू. शांभा. २. १. १४) इसके प्रमाण-स्वरूप गीताके कुछ वाक्यभी दिये गये हैं; जैसे "ज्ञानाग्नि: सर्व-कर्माणि भस्मसात्कुरुते" अर्थात् ज्ञानरूपी अग्निसेही सब कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं (गीता ४. ३७) और "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" – अर्थात् सब कर्मोंका अंत ज्ञानहीमें होता है (गीता ४. ३३)। सारांश यह है, कि बौद्ध धर्मकी हार होनेपर प्राचीन वैदिक धर्मके जिस विशिष्ट मार्गको श्रेष्ठ ठहराकर श्रीशंकराचार्यने स्थापित किया, उसीसे अनुकूल गीताकाभी अर्थ है। गीतामें ज्ञान और कर्मके समुच्चयका प्रतिपादन नहीं किया गया है, जैसे कि पहलेके टीकाकारोंने कहा है; किंतु उसमें शांकर-संप्रदायके उसी सिद्धान्तका उपदेश भगवानने अर्जुनको दिया गया है, कि कर्म ज्ञान-प्राप्तिका गौण साधन है और सर्व-कर्म-संन्यासपूर्वक ज्ञानहीसे मोक्षकी प्राप्ति होती है – येही बातें बतलानेके लिये शांकरभाष्य लिखा गया है। श्रीशंकराचार्यके पूर्व यदि एक-आध और भी संन्यास-विषयक टीका लिखी गयी हो तो वह इस समय उपलब्ध नहीं है। इसलिये यही कहना पड़ता है कि गीताके प्रवृत्ति-विषयक स्वरूपको बदल करके उसे निवृत्ति-मार्गका सांप्रदायिक रूप शांकरभाष्यके द्वाराही मिला है। श्रीशंकराचार्यके बाद उनके संप्रदायके अनुयायी मधुसूदन आदि जो अनेक टीकाकारहो गये हैं, उन्होंने इस विषयमें मुख्यत: शंकराचार्यहीका अनुकरण किया है। इसके बाद एक और अद्भुत विचार उत्पन्न हुआ, कि अद्वैत मतके मूलभूत महावाक्योंमें से 'तत्त्वमसि' नामक जो महावाक्य छांदोग्योपनिषद्में है, उसीका विवरण गीताके अठारह अध्यायोंमें किया गया है। परंतु इस महावाक्यके क्रमको बदलकर, पहले 'त्वं' फिर 'तत्' और फिर 'असि' इन पदोंको लेकर, इस नये क्रमानुसार प्रत्येक पदके लिये गीताके आरंभसे छ: छ: अध्याय श्रीभगवानने निष्पक्षपात बुद्धिसे बाँट दिये हैं। कयी लोग समझते हैं, कि गीतापर जो पैशाच भाष्य है वह किसीभी संप्रदाय-का नहीं है - बिलकुल स्वतंत्र है, और हनुमानजी (पवनसुत) कृत है। परंतु यथार्थ बात ऐसी नहीं है। भागवतके टीकाकार हनुमान पंडितनेही इस भाष्यको बनाया है और यह संन्यासमार्गका है। इसमें कुछ स्थानोंपर शांकरभाष्यकाही अर्थ शब्दश: दिया गया है। मराठीमें पहले और आजतक गीताके जो अनुवाद या निरूपण हुए हैं, वेभी प्राय: शांकरभाष्यके अनुसार हुए हैं। प्रोफेसर मेक्समूलर-की प्रकाशित 'प्राच्यधर्म-पुस्तकमाला'में स्वर्गवासी काशीनाथपंत तेलंगकृत भगवद्गीताका अंग्रेजी अनुवादभी है। इसकी प्रस्तावनामें लिखा है कि इस

अनुवादमें श्रीशंकराचार्य और शांकर-संप्रदायी टीकाकारोंका, जितना हो सका उतना, अनुकरण किया गया है।

गीता और प्रस्थानत्रयीके अन्य ग्रंथोंपर जब इस भाँति सांप्रदायिक भाष्य लिखनेकी रीति प्रचलित हो गयी, तब दूसरे संप्रदायभी इस बातका अनुकरण करने लगे। मायावाद, अद्वैत और संन्यासका प्रतिपादन करनेवाले शांकरसंप्रदायके लगभग ढ़ाई सौ वर्ष बाद, श्रीरामानुजाचार्य (जन्म संवत् १०७३) ने विशिष्टाद्वैत संप्रदाय चलाया। अपने संप्रदायको पुष्ट करनेके लिये उन्होंनेभी, शंकराचार्यहीके समान, प्रस्थानत्रयीपर (और गीतापरभी) स्वतंत्र भाष्य लिखे है। इस संप्रदाय का मत यह है, कि शंकराचार्यका माया-मिथ्यात्व-वाद और अद्वैत सिद्धान्त दोनों झूठे हैं। जीव, जगत् और ईश्वर ये तीन तत्त्व यद्यपि भिन्न हैं, तथापि जीव (चित्) और जगत् (अचित्) ये दोनों एकही ईश्वरके शरीर हैं। इसलिये चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एकही है, और ईश्वर शरीरके इस सूक्ष्म चित्-अचित्सेही फिर स्थूल चित् और स्थूल अचित् अर्थात् अनेक जीव और जगत्की उत्पत्ति हुई है। तत्त्व-ज्ञान-दृष्टिसे रामानुजाचार्यका कथन है (गीता रा. भा. २.१२, १३.२) कि इसी मतका (जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है) उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और गीतामेंभी प्रतिपादन हुआ है। अब यदि कहा जाय कि इन्हींके ग्रंथोंके कारण भागवतधर्ममें विशिष्टाद्वैत मत संमिलित हो गया है तो कुछ अतिशयोक्ति नहीं होगी; क्योंकि इनके पहले महाभारत और गीतामें भागवतधर्मका जो निरूपण पाया जाता है उसमें केवल अद्वैत मतहीका स्वीकार किया गया है। रामानुजाचार्य भागवतधर्मी थे। इसलिये यथार्थमें उनका ध्यान इस बातकी ओर जाना चाहिये था, कि गीतामें प्रवृत्ति-विषयक कर्मयोगका प्रतिपादन किया गया है। परंतु उनके समयमें मूल भागवतधर्मका कर्मयोग प्रायः लुप्त हो गया था; और उसको तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे विशिष्टाद्वैत स्वरूप तथा आचरणकी दृष्टिसे मुख्यतः भक्तिका स्वरूप प्राप्त हो चुका था। इन्हीं कारणोंसे रामानुजाचार्यने (गीता रा. भा. १८.१ और ३.१) यह निर्णय किया है, कि गीतामें यद्यपि ज्ञान, कर्म और भक्तिका वर्णन हैं तथापि तत्त्वज्ञान-दृष्टिसे विशिष्टाद्वैत और आचार-दृष्टिसे वासुदेवभक्तिही गीताका सारांश है और कर्मनिष्ठा कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है – वह केवल ज्ञाननिष्ठाकी उत्पादक है। शांकर-संप्रदायके अद्वैतज्ञानके बदले विशिष्टाद्वैत और संन्यासके बदले भक्तिको स्थापित करके रामानुजाचार्यने भेद तो किया, परंतु उन्होंने आचार-दृष्टिसे भक्तिहीको अंतिम कर्तव्य माना है। इससे वर्णाश्रम-विहित स्वधर्मोक्त सांसारिक कर्मोंका मरणपर्यंत किया जाना गौण हो जाता है; और यह कहा जा सकता है, कि गीताका रामानुजीय तात्पर्यभी एक प्रकारसे कर्मसंन्यासविषयकही है। कारण यह है कि कर्माचरणसे चित्तशुद्धि होनेके बाद ज्ञानकी प्राप्ति होनेपर चतुर्थाश्रमका स्वीकार करके ब्रह्मचिंतनमें निमग्न रहना, या प्रेमपूर्वक निस्सीम

वासुदेव-भक्तिमें तत्पर रहना, कर्मयोगकी दृष्टिसे एकही बात है। दोनों मार्ग निवृत्ति-विषयक हैं। यही आक्षेप, रामानुजके बाद प्रचलित हुए संप्रदायोंपरभी हो सकता है। मायाको मिथ्या कहनेवाले संप्रदायको झूठा मानकर वासुदेव-भक्तिकोही सच्चा मोक्ष-साधन बतलानेवाले रामानुज संप्रदायके बाद तीसरा संप्रदाय निकला। उसका मत है कि परब्रह्म और जीवको कुछ अंशोंमें एक, और कुछ अंशोंमें भिन्न मानना परस्पर-विरुद्ध और असंबद्ध बात है। इसलिए दोनोंको सदैव भिन्न मानना चाहिए; क्योंकि इन दोनोंमें पूर्ण अथवा अपूर्ण रीतिसेभी एकता नहीं हो सकती। इस तीसरे संप्रदायको 'द्वैत संप्रदाय' कहते हैं। इस संप्रदायके लोगोंका कहना है, कि इसके प्रवर्तक श्रीमध्वाचार्य (श्रीमदानंदतीर्थ) थे, जो संवत् १२५५में समाधिस्थ हुए और उस समय उनकी अवस्था ७९ वर्षकी थी। परंतु डॉक्टर भांडारकरने जो एक अंग्रेजी ग्रंथ – "वैष्णव, शैव, और अन्य पंथ" नामका हालहीमें प्रकाशित किया है उसके पृष्ठ ५६ में शिलालेख आदि प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया गया है, कि मध्वाचार्यका समय संवत् १२५४ से १३३३ तक था। प्रस्थानत्रयी पर (अर्थात् गीतापरभी) श्रीमध्वाचार्यके जो भाष्य हैं, उनमें प्रस्थानत्रयीके सब ग्रंथोंका द्वैतमत-प्रतिपादक होनाही बतलाया गया है। गीताके अपने भाष्यमें मध्वाचार्य कहते हैं, कि यद्यपि गीतामें निष्काम कर्मके महत्त्वका वर्णन है, तथापि वह केवल साधन है, और भक्तिही अंतिम निष्ठा है। भक्तिकी सिद्धि हो जानेपर कर्म करना या न करना एकही बात है। "ध्यानात् कर्मफलत्याग:" – परमेश्वरके ध्यान अथवा भक्तिकी अपेक्षा कर्मफलत्याग अर्थात् निष्काम कर्म करना श्रेष्ठ है इत्यादि गीताके कुछ वचन इस सिद्धान्तके विरुद्ध हैं; परंतु गीताके माध्वभाष्य (गीता मा. भा. १२.१३)में लिखा है, कि इन वचनोंको अक्षरश: सत्य न समझकर अर्थवादात्मक ही समझना चाहिये। चौथा संप्रदाय श्रीवल्लभाचार्य (जन्म संवत् १५३६) का है। रामानुजीय और माध्वसंप्रदायोंके समानही यह संप्रदाय वैष्णवपंथी है। परंतु जीव, जगत् और ईश्वरके संबंधमें इस संप्रदायका मत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत मतोंसे भिन्न है। यह पंथ इस मतको मानता है, कि मायारहित अर्थात् शुद्ध जीव और परब्रह्म एकही वस्तु है; दो नहीं। इसलिये इसको 'शुद्धाद्वैती' संप्रदाय कहते हैं। तथापि वह श्रीशंकराचार्यके समान इस बातको नहीं मानता, कि जीव और ब्रह्म एकही हैं; और इसके सिद्धान्त कुछ ऐसे हैं – जैसे जीव अग्निकी चिनगारीके समान ईश्वरके अंश हैं, मायात्मक जगत् मिथ्या नहीं है; माया परमेश्वरकी इच्छासे उससे विभक्त हुई एक शक्ति है; मायाधीन जीवको बिना ईश्वरकी कृपाके मोक्षज्ञान नहीं हो सकता; इसलिये मोक्षका मुख्य साधन भगवद्भक्तिही है जिससे यह संप्रदाय शांकर-संप्रदायसेभी भिन्न हो गया है। इस मार्गवाले परमेश्वरके अनुग्रहको 'पुष्टि' और 'पोषण'भी कहते हैं, जिससे यह पंथ 'पुष्टिमार्ग'भी कहलाता है। इस संप्रदायके तत्त्वदीपिका आदि

जितने गीतासंबंधी ग्रंथ हैं, उनमें यह निर्णय किया गया है, कि भगवानने अर्जुन-को पहले सांख्यज्ञान और कर्मयोग बतलाया है; एवं अंतमें उसको भक्त्यमृत पिला-कर कृतकृत्य किया है। इसलिये भगवद्भक्ति और विशेषतः निवृत्ति-विषयक पुष्टिमार्गीय भक्तिही गीताका प्रधान तात्पर्य है। यही कारण है कि भगवानने गीतामें यह उपदेश दिया है, कि "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" – सब धर्मोंको छोड़कर केवल मेरीही शरण ले (गीता १८. ६६)। उपर्युक्त संप्रदायोंके अतिरिक्त निंबार्कका चलाया हुआ एक और वैष्णव संप्रदाय है, जिसमें राधाकृष्णकी भक्ति कही गयी है। डाक्टर भांडारकरने निश्चित किया है, कि ये आचार्य रामानुजके बाद और मध्वाचार्यके पहले करीब संवत् १२१६ में हुए थे। जीव, जगत् और ईश्वरके संबंधमें निंबार्काचार्यका यह मत है, कि यद्यपि ये तीनों भिन्न हैं, तथापि जीव और जगतका व्यापार तथा अस्तित्व ईश्वरकी इच्छापर अवलंबित है स्वतंत्र नहीं है और परमेश्वरमही जीव और जगतके सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं। इस मतको सिद्ध करनेके लिये निंबार्काचार्यने वेदान्तसूत्रोंपर एक स्वतंत्र भाष्य लिखा है। इसी संप्रदायके केशव काश्मीरिभट्टाचार्यने गीतापर 'तत्त्वप्रकाशिका' नामक टीका लिखी है; और उसमें यह बतलाया है, कि गीताका वास्तविक अर्थ इसी संप्रदायके अनुकूल है। रामानुजाचार्यके विशिष्टाद्वैत पंथसे इस संप्रदायको अलग करनेके लिये इसे 'द्वैताद्वैत' संप्रदाय कह सकेंगे। यह बात स्पष्ट है, कि ये सब भिन्न भिन्न भक्तिपर संप्रदाय शांकर-संप्रदायके मायावादको स्वीकृत न करकेही पैदा हुए हैं; क्योंकि इनकी यह समझ थी, कि आँखसे दिखनेवाली वस्तुको सच्ची माने बिना व्यक्त की उपासना अर्थात् भक्ति निराधार या कुछ अंशोंमें मिथ्याभी हो जाती है। परंतु यह कोई आवश्यक बात नहीं है, कि भक्तिकी उपपत्तिके लिये अद्वैत और मायावादको बिलकुल छोड देनाही चाहिये। क्योंकि महाराष्ट्रके और अन्य साधु-संतोंने, मायावाद और अद्वैतका स्वीकार करकेभी भक्तिका समर्थन किया है; और मालूम होता है, कि यह पंथ श्रीशंकरा-चार्यके पहलेहीसे चला आ रहा है। इस पंथमें शांकर-संप्रदायके कुछ सिद्धान्त अद्वैत, मायाका मिथ्या होना, और कर्मत्यागकी आवश्यकता ग्राह्य और मान्य हैं। परंतु इस पंथका यहभी मत है, कि ब्रह्मात्मैक्यरूप मोक्षकी प्राप्तिका सबसे सुगम साधन भक्ति है। गीतामें भगवानने पहले यही कारन बतलाया है, कि "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्" (गीता १२. ५) अर्थात् अव्यक्त ब्रह्ममें चित्त लगाना अधिक क्लेशमय है; और फिर अर्जुनको यही उपदेश दिया है, कि "भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः" (गीता १२. २०) अर्थात् मेरे भक्तही मुझको अतिशय प्रिय हैं। अतएव यह बात है कि अद्वैतपर्यवसायी भक्तिमार्गही गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। श्रीधरस्वामीनेभी गीताकी अपनी टीका (गीता १८. ७८) में गीताका ऐसाही तात्पर्य निकाला है। मराठी भाषामें इस संप्रदायका

गीतासंबंधी सर्वोत्तम ग्रंथ 'ज्ञानेश्वरी' है। इसमें कहा है कि गीताके अठारह अध्यायोंमेंसे प्रथम चार अध्यायोंमें कर्म, बीचके सात अध्यायोंमें भक्ति और अंतिम सात अध्यायोंमें ज्ञानका प्रतिपादन किया गया है; और स्वयं ज्ञानेश्वरमहाराजने अपने ग्रंथके अंतमें कहा है, कि मैंने गीताकी यह टीका शंकराचार्यके भाष्यानुसार की है। परंतु ज्ञानेश्वरीको इस कारणसे बिलकुल स्वतंत्र ग्रंथही मानना चाहिये, कि इसमें गीताका मूल अर्थ बहुत बढ़ाकर अनेक सरस दृष्टान्तोंसे समझाया गया है; और इसमें विशेष करके भक्तिमार्गका तथा कुछ अंगमें निष्काम-कर्मका श्री शंकराचार्यसेभी उत्तम विवेचन किया गया है। ज्ञानेश्वरमहाराज स्वयं योगी थे, इसलिये गीताके छठेवें अध्यायके जिस श्लोकमें पातंजल योगाभ्यासका विषय आया है, उसकी उन्होंने विस्तृत टीका की है। उनका कहना है, कि श्रीकृष्ण भगवानने इस अध्यायके अंत (गीता ६. ४६) में अर्जुनको यह उपदेश करके कि "तस्माद्योगी भवार्जुन" – इसलिये हे अर्जुन ! तू योगी हो अर्थात् योगाभ्यासमें प्रवीण हो – अपना यह अभिप्राय प्रकट किया है, कि सब मोक्षपंथोंमें पातंजल योगही सर्वोत्तम है; और इसलिये आपने उसे 'पंथराज' कहा है। सारांश यह है, कि भिन्न भिन्न सांप्रदायिक भाष्यकारोंने तथा टीकाकारोंने गीताका अर्थ अपने मतोंके अनुकूलही निश्चितकर लिया है। प्रत्येक संप्रदायका यही कथन है, कि गीताका प्रवृत्तिविषयक कर्ममार्ग अप्रधान (गौण) है अर्थात् केवल ज्ञानका साधन है। गीतामें वही तत्त्वज्ञान पाया जाता है, जो उनके संप्रदायमें स्वीकृत हुआ है। उनके संप्रदायमें मोक्षकी दृष्टिसे जो आचार अंतिम कर्तव्य माने गये हैं, उन्हींका वर्णन गीतामें किया गया है – अर्थात् मायावादात्मक अद्वैत और कर्मसंन्यास, मायासत्यत्व-प्रतिपादक विशिष्टाद्वैत और वासुदेव-भक्ति, द्वैत आणि विष्णुभक्ति, शुद्धाद्वैत और भक्ति, शांकराद्वैत और भक्ति, पातंजल योग आणि भक्ति, केवल भक्ति, केवल योग या केवल ब्रह्मज्ञान (अनेक प्रकारके निवृत्तविषयक मोक्षमार्ग) ही गीताके प्रधान तथा प्रतिपाद्य विषय है।* भगवद्गीतामें कर्मयोग प्रधान माना गया है, इस प्रकार कोईभी नहीं कहता। हमाराही नहीं किंतु प्रसिद्ध महाराष्ट्र-कवि वामन पंडितकाभी मत ऐसाही है। गीतापर आपने 'यथार्थदीपिका' नामक विस्तृत मराठी टीका लिखी है। उसके उपोद्घातमें वे पहले लिखते हैं :– "हे भगवन् ! इस कलियुगमें जिसके मतमें जैसा जँचता है, उसी प्रकार हरएक आदमी गीताका अर्थ लिख देता है" और फिर शिकायतके तौरपर लिखते है :–

---

* भिन्न भिन्न सांप्रदायिक आचार्योंके गीताके भाष्य और मुख्य मुख्य पंद्रह टीकाग्रंथ बंबईके गुजराथी प्रिंटिंग प्रेसके मालिकने, हालहीमें एकत्र प्रकाशित किये हैं। भिन्न भिन्न टीकाकारोंके अभिप्रायको एकस्तथ जाननेके लिये यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है।

"हे परमात्मन्! सब लोगोंने किसी-न-किसी बहानेसे गीताका मनमाना अर्थ किया है, परंतु इन लोगोंका मनमाना अर्थ मुझे पसंद नहीं। भगवन्! मैं क्या करूं?" अनेक सांप्रदायिक टीकाकारोंके मतोंकी इस भिन्नताको देखकर कुछ लोग कहते हैं, कि जब कि ये सब मोक्ष-संप्रदाय परस्परविरोधी हैं; और जब कि इस बातका निश्चय नहीं किया जा सकता, कि इनमेंसे कोई एकही संप्रदाय गीतामें प्रतिपादित किया गया है, तब तो यही मानना उचित है, कि इन सब मोक्ष-साधनोंका – विशेषतः कर्म, भक्ति और ज्ञानका – वर्णन स्वतंत्र रीतिसे संक्षेपमें और पृथक् पृथक् करके भगवानने गीतामें अर्जुनका समाधान किया है। कुछ लोग कहते हैं, कि मोक्षके अनेक उपायोंका यह सब वर्णन पृथक् पृथक् नहीं है; किंतु इन सबकी एकताही गीतामें सिद्ध की गयी है। और, अंतमें, कुछ लोग तो यहभी कहते हैं, कि गीतामें प्रतिपादित ब्रह्मविद्या ऊपर ऊपरपर देखनेसे यद्यपि सुलभ मालूम होती है, तथापि उसका वास्तविक मर्म अत्यंत गूढ है, जो बिना गुरुके किसीकीभी समझमें नहीं आ सकता (गीता ४. ३४) गीतापर भलेही अनेक टीकाएँ हो जायँ, परंतु उसका गूढ़ार्थ जाननेके लिये गुरुदीक्षाके सिवा और कोई उपाय नहीं है।

अब यह बात स्पष्ट है, कि गीताके अनेक प्रकारके तात्पर्य कहे गये हैं। पहले तो स्वयं महाभारतकारने भागवत-धर्मानुसार अर्थात् प्रवृत्तिविषयक तात्पर्य बतलाया है। इसके बाद अनेक पंडित, आचार्य, कवि, योगी और भक्तजनोंने अपने अपने संप्रदायोंके अनुसार शुद्ध निवृत्तिविषयक तात्पर्य बतलाया है। इन भिन्न भिन्न तात्पर्योंको देखकर कोईभी मनुष्य घबडाकर सहजही यह प्रश्न कर सकता है! – क्या, ऐसे परस्पर-विरोधी अनेक तात्पर्य एकही गीताग्रंथसे निकल सकते हैं? और, यदि निकल सकते हैं, तो इस भिन्नताका हेतु क्या है? इसमें संदेह नहीं, कि भिन्न भिन्न भाष्योंके आचार्य बड़े विद्वान्, धार्मिक और सुशील थे। यदि कहा जाय, कि शंकराचार्यके समान महातत्त्वज्ञानी आजतक संसारमें कोईभी नहीं हुआ है, तोभी अतिशयोक्ति न होगी। तब फिर इनमें और इनके बादके आचार्योंमें इतना मतभेद क्यों हुआ? गीता कोई इंद्रजाल नहीं है, कि जिससे मनमाना अर्थ निकाल लिया जावे। उपर्युक्त संप्रदायके जन्मके पहलेही गीता बन चुकी थी और भगवानने अर्जुनको गीताका उपदेश इसलिये दिया था कि उसका भ्रम दूर हो; कुछ इसलिये नहीं कि उसका भ्रम औरभी बढ़ जाय। गीतामें एकही विशेष और निश्चित अर्थका उपदेश किया गया है (गीता ५. १, २) और अर्जुनपर उस उपदेशका अपेक्षित परिणामभी हुआ है। इतना सब कुछ होनेपरभी गीताके तात्पर्यार्थके विषयमें इतनी गड़बड़ क्यों हो रही है? यह प्रश्न कठिन है सही; परंतु इसका उत्तर उतना कठिन नहीं है, जितना पहले पहल मालूम पड़ता है। उदाहरणार्थ, एक मीठे और सुरस पक्वान्न (मिठाई)को देखकर अपनी अपनी रुचिके अनुसार किसीने उसे गेहूँका, किसीने घीका और किसीने शक्करका

बना हुआ बतलाया, तो हम उनमेंसे किसको झूठ समझें ? अपने अपने मतानुसार तीनोंका कहना ठीक है। इतना होनेपरभी इस प्रश्नका निर्णय नहीं हुआ कि वह पक्वान्न (मिठाई) बना किस चीजसे है। गेहूँ, घी और शक्करसे अनेक प्रकारके पक्वान्न (मिठाई) बन सकते हैं। परंतु प्रस्तुत पक्वान्नका निश्चय केवल इतना कहनेसेही नहीं हो सकता कि वह गोधूमप्रधान, घृतप्रधान, या शर्कराप्रधान है। समुद्र-मंथनके समय किसीको अमृत, किसीको विष, किसीको लक्ष्मी, ऐरावत, कौस्तुभ, पारिजात आदि भिन्न भिन्न पदार्थ मिले; परंतु इतनेहीसे समुद्रके यथार्थ स्वरूपका कुछ निर्णय नहीं हो गया। ठीक इसी तरह सांप्रदायिक रीतिसे गीतासागरको मथनेवाले टीकाकारोंकी अवस्था हो गई है। दूसरा उदाहरण लीजिये। कंसवधके समय भगवान् श्रीकृष्ण जब रंग-मंडपमें आये तब वे प्रेक्षकोंको भिन्न भिन्न स्वरूपके – जैसे योद्धाको वज्र-सदृश, स्त्रियोंको कामदेव-सदृश, माता-पिताको पुत्र-सदृश – दिखने लगे थे। (भाग. १०, पू. ४३. १७)। इसी तरह गीताके एक होनेपरभी वह भिन्न भिन्न संप्रदायवालोंको भिन्न भिन्न स्वरूपोंमें दिखने लगे है। आप किसीभी संप्रदायको लें; यह बात स्पष्ट मालूम हो जायगी, कि उसको सामान्यतः प्रमाणभूत धर्मग्रंथोंका अनुसरणही करना पड़ता है; क्योंकि ऐसा न करनेसे वह संप्रदाय सब लोगोंकी दृष्टिमें सर्वथा अप्रमाणित एवम् अमान्य हो जायगा ! इसलिये वैदिक धर्ममें अनेक संप्रदायोंके होनेपरभी कुछ विशेष बातोंको छोडकर – जैसे ईश्वर, जीव और जगतका परस्पर संबंध – शेष सब बातें सब संप्रदायोंमें प्रायः एकही-सी होती हैं। इसका परिणाम यह देख पड़ता है, कि हमारे धर्मके प्रमाणभूत ग्रंथोंपर जो सांप्रदायिक भाष्य या टीकाएँ हैं, उनमें मूलग्रंथोंके फी – सदी नब्बेसेभी अधिक वचनों या श्लोकोंका भावार्थ, एकही-सा है। जो कुछ भेद है, वह शेष वचनों या श्लोकोंके विषयहीमें है। यदि इन वचनोंका सरल अर्थ लिया जाय तो वह सभी संप्रदायोंके लिये समान अनुकूल नहीं हो सकता। इसलिये भिन्न भिन्न सांप्रदायिक टीकाकार इन वचनोंमेंसे जो अपने संप्रदायके लिये अनुकूल हों, उन्हींको प्रधान मानकर और अन्य सब वचनोंको गौण समझकर, अथवा प्रतिकूल वचनोंके अर्थको किसी युक्तिसे बदलकर, या सुबोध तथा सरल वचनोंमेंसे अपने अनुकूल श्लेषार्थ या अनुमान निकालकर, यह प्रतिपादन किया करते हैं, कि हमाराही संप्रदाय उक्त प्रमाणोंसे सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ, गीता २. १२ और १६; ३. १९; ६. ३; और १८. २ श्लोकोंपर हमारी टीका देखो। परंतु यह बात सहजही किसीकीभी समझमें आ सकती है, कि उक्त सांप्रदायिक रीतिसे ग्रंथका तात्पर्य निश्चित करना; और इस बातका अभिमान न करके, कि गीतामें अपनाही संप्रदाय प्रतिपादित हुआ है; अथवा अन्य किसीभी प्रकारका अभिमान न करके समग्र ग्रंथकी स्वतंत्र रीतिसे परीक्षा करना; और उस परीक्षाहीके आधारपर ग्रंथका मथितार्थ निश्चित करना, ये दोनों बातें स्वभावतः अत्यंत भिन्न हैं।

ग्रंथके तात्पर्य-निर्णयकी सांप्रदायिक दृष्टि सदोष है, इसलिये उसे यदि छोड़ दें, तो अब यह बतलाना चाहिये, कि गीताका तात्पर्य जाननेके लिये दूसरा साधन कौनसा है। ग्रंथ, प्रकरण और वाक्योंके अर्थका निर्णय करनेमें मीमांसक लोग अत्यंत कुशल होते हैं। इस विषयमें उन लोगोंका एक प्राचीन और सर्वमान्य श्लोक है :–

उपक्रमोपसंहारो अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये॥

जिसमें वे कहते हैं – किसीभी लेख, प्रकरण अथवा ग्रंथके तात्पर्यका निर्णय करनेमें, उक्त श्लोकमें कही हुई सात बातें साधन-(लिंग) स्वरूप हैं; इसलिये इन सब बातोंका अवश्य विचार करना चाहिये। इनमें सबसे पहली बात 'उपक्रमोपसंहारौ' अर्थात् ग्रंथका आरंभ और अंत है। कोईभी मनुष्य अपने मनमें कुछ विशेष हेतु रखकरही ग्रंथ लिखना आरंभ करता है; और उस हेतुके सिद्ध होनेपर ग्रंथको समाप्त करता है। अतएव ग्रंथके तात्पर्यनिर्णयके लिये उपक्रम और उपसंहारहीका सबसे पहले विचार किया जाना चाहिये। सीधी रेखाकी व्याख्या करते समय भूमितिशास्त्रमें ऐसा कहा गया है, कि आरंभके बिंदुसे जो रेखा दाहिने-बाएँ या ऊपर-नीचे किसी तरफ नहीं झुकती और अंतिम बिंदुतक सीधी चली जाती है, उसे सरल रेखा कहते हैं। ग्रंथके तात्पर्य-निर्णयमेंभी यही सिद्धान्त उपयुक्त है। जो तात्पर्य ग्रंथके आरंभ और अंतमें साफ साफ़ झलकता है वही ग्रंथका सरल तात्पर्य है। आरंभसे अंततक जानेके लिये यदि अन्य मार्ग होंभी, तो उन्हें टेढ़े समझना चाहिये। आद्यंत देखकर ग्रंथका तात्पर्य पहले निश्चित करलेना चाहिये; और तब यह देखना चाहिये, कि उस ग्रंथमें 'अभ्यास' अर्थात् पुनरुक्ति-स्वरूपमें बार बार क्या कहा गया है। क्योंकि ग्रंथकारके मनमें जिस बातको सिद्ध करनेकी इच्छा होती है, उसके समर्थनके लिये वह अनेक बार कई कारणोंका उल्लेख करके बार बार एकही निश्चित सिद्धान्तको प्रकट किया करता है और हर बार कहा करता है, कि "इसलिये यह बात सिद्ध हो गयी;" या "अतएव ऐसा करना चाहिये" इत्यादि। ग्रंथके तात्पर्यका निर्णय करनेके लिये जो चौथा साधन है उसकी 'अपूर्वता' और पाँचवें साधनको 'फल' कहते हैं। 'अपूर्वता' कहते हैं 'नवीनता'को। कोईभी ग्रंथकार जब ग्रंथ लिखना शुरू करता है, तब वह कुछ नई बात बतलाना चाहता है; बिना नवीनता या विशेष वक्तव्यके वह ग्रंथ लिखने प्रवृत्त नहीं होता। विशेष करके यह बात उस जमानेमें पाई जाती थी जब की छापा-खाने नहीं थे। इसलिये किसी ग्रंथके तात्पर्यका निर्णय करनेसे पहले यहभी देखना चाहिये, कि उसमें अपूर्वता, विशेषता या नवीनता क्या है। इसी तरह लेख अथवा ग्रंथके फलपरभी – अर्थात् उस लेख या ग्रंथसे जो परिणाम हुआ हो उसपरभी – ध्यान देना चाहिये। क्योंकि अमुक फल हो, इसी हेतुसे ग्रंथ लिखा जाता है। इसलिये

यदि घटित परिणाम पर ध्यान दिया जाय तो उससे ग्रंथकर्ताका आशय बहुत ठीक ठीक व्यक्त हो जाता है। छठा और सातवाँ साधन 'अर्थवाद' और 'उपपत्ति' हैं। 'अर्थवाद' मीमांसकोंका पारिभाषिक शब्द है (जै. सू. १. २. १. १८)। इस बातके निश्चित हो जानेपरभी, कि हमें मुख्यतः किस बातको बतलाकर जमा देना है अथवा किस बातको सिद्ध करना है, कभी कभी ग्रंथकार दूसरी अनेक बातोंका प्रसंगानुसार वर्णन किया करता है; जैसे प्रतिपादनके प्रवाहमें दृष्टान्त देनेके लिये, तुलना करके एकवाक्यता करनेके लिये, समानता और भेद दिखलानेके लिये, प्रतिपक्षियोंके दोष बतलाकर स्वपक्षका मंडन करनेके लिये, अलंकार और अतिशयोक्तिके लिये, और युक्तिवादके पोषक किसी विषयका पूर्व-इतिहास बतलानेके लिये कुछ और वर्णनभी कर देता है। उक्त कारणों या प्रसंगोंके अतिरिक्त औरभी अन्य कारण हो सकते हैं; और कभी तो विशेष कारणभी नहीं होता। ऐसी अवस्थामें ग्रंथकार जो वर्णन करता है, वह यद्यपि विषयांतर नहीं हो सकता, तथापि वह केवल गौरवके लिये या स्पष्टीकरणके लियेही किया जाता है, इसलिये यह नहीं माना जा सकता कि उक्त वर्णन हमेशा सत्यही होगा।* अधिक क्या कहा जाय, कभी कभी स्वयं ग्रंथकार यह देखनेके लिये सावधान नहीं रहता, कि ये अप्रधान बातें अक्षरशः सत्य हैं या नहीं। अतएव ये सब बातें प्रमाणभूत नहीं मानी जातीं; अर्थात् यह नहीं माना जाता, कि इन भिन्न भिन्न बातोंका ग्रंथकारके सिद्धान्त पक्षके साथ कोई घना संबंध है। उलटे यही माना जाता है, कि ये सब बातें अनावश्यक अथवा केवल प्रशंसा या स्तुतिहीके लिये हैं – ऐसा समझकरही मीमांसक लोग इन्हें 'अर्थवाद' कहा करते हैं, और इन अर्थवादात्मक बातोंको छोड़कर फिर ग्रंथका तात्पर्य निश्चित किया करते हैं। इतना कर लेनेपरभी उपपत्तिकी ओर ध्यान देनाही चाहिये। किसी विशेष बातको सिद्धकर दिखलानेके लिये बाधक प्रमाणोंका खंडन करना और साधक प्रमाणोंका तर्कशास्त्रानुसार मंडन करना 'उपपत्ति' अथवा 'उपपादन' कहलाता है। उपक्रम और उपसंहार-रूप आद्यंतके दो छोरोंके स्थिर हो जाने पर, बीचका मार्ग अर्थवाद और उपपत्तिकी सहायतासे निश्चित किया जा सकता है। अर्थवादसे यह मालूम हो सकता है, कि कौनसा विषय अप्रस्तुत या आनुषंगिक (अप्रधान) है। एक बार अर्थवादका निर्णय हो जानेपर ग्रंथ-तात्पर्यका निश्चय करनेवाला मनुष्य सब टेढ़े मेढ़े रास्तोंको छोड़ देता है, और ऐसा करनेपर जब पाठक या परीक्षक सीधे और प्रधान मार्गपर आ जाता है, तब वह उपपत्तिकी सहायतासे ग्रंथके आरंभसे अंतिम तात्पर्यतक आप-

---

* अर्थवादका वर्णन यदि वस्तुस्थिति (यथार्थता) के आधारपर किया गया हो तो उसे 'अनुवाद' कहते हैं; यदि विरुद्ध रीतिसे किया गया हो तो उसे 'गुणवाद' कहते हैं; और यदि इससे भिन्न प्रकारका हो तो उसे 'भूतार्थवाद' कहते हैं। 'अर्थवाद' सामान्य शब्द है; उसके सत्यासत्यके अनुसार उक्त तीन भेद किये गये हैं।

ही-आप पहुँच जाता है। हमारे प्राचीन मीमांसकोंके निश्चित किये ग्रंथ तात्पर्य-निर्णय के ये नियम सब देशोंके विद्वानोंको एकसमान मान्य हैं। इसलिये उपयोगिता और आवश्यकताके संबंधमें यहाँ अधिक विवेचन करनेकी आवश्यकता नहीं है।*

इसपर यह प्रश्न किया जा सकता है, कि क्या मीमांसकोंके उक्त नियम संप्रदाय चलानेवाले आचार्योंको मालूम नहीं थे? यदि ये सब नियम उनके ग्रंथोंहीमें पाये जाते हैं, तो फिर उनका बताया हुआ गीताका तात्पर्य एकदेशीय कैसे कहा जा सकता है? उसका उत्तर इतनाही है, कि एक बार किसीकी दृष्टि सांप्रदायिक (संकुचित) बन जाती है, तब वह व्यापकताका स्वीकार नहीं कर सकता – तब वह किसी-न-किसी रीतिसे यही सिद्ध करनेका यत्न किया करता है, कि प्रमाणभूत धर्मग्रंथोंमें अपनेही संप्रदायका वर्णन किया गया है। इन ग्रंथोंके तात्पर्यके विषयमें सांप्रदायिक टीकाकारोंकी पहलेसेही ऐसी धारणा हो जाती है, कि यदि उक्त ग्रंथोंका, उनके सांप्रदायके अर्थसे भिन्न कुछ दूसरा अर्थ हो सकता हो, तो वे यह समझते हैं, कि वह अर्थ सत्य नहीं है, उसका हेतु कुछ औरही है। इस प्रकार जब वे पहलेसे निश्चित किये हुए अपनेही संप्रदायके अर्थको सत्य मानने लगते हैं, और यह सिद्धकर दिखानेका यत्न करने लगते हैं, कि वही अर्थ सब धार्मिक ग्रंथोंमें प्रतिपादन किया गया है; तब वे इस बातकी परवाह नहीं करते कि हम मीमांसा-शास्त्रके कुछ नियमोंका उल्लंघन कर रहे हैं। हिंदु धर्मशास्त्रके मिताक्षरा, दायभाग इत्यादि ग्रंथोंमें स्मृतिवचनोंकी व्यवस्था या एकता इसी तत्त्वानुसारकी जाती हैं। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि यह बात केवल हिंदु धर्मग्रंथोंमेंही पाई जाती है। क्रिस्तानोंके आदिग्रंथ बायबल और मुसलमानोंके कुरानमेंभी इन लोगोंके सैंकड़ो सांप्रदायिक ग्रंथकारोंने ऐसाही अर्थांतर कर दिया है; और इसी तरह ईसाइयोंने पुरानी बायबलके कुछ वाक्योंका अर्थ यहूदियोंके अर्थसे भिन्न माना है। यहाँतक देखा जाता है, कि जब कभी यह बात पहलेहीसे निश्चित कर दी जाती है, कि किसी विषयपर अमुक ग्रंथ या लेखहीको प्रमाण मानना चाहिये और जब कभी इस प्रमाणभूत तथा नियमित ग्रंथहीके आधारपर सब बातोंका निर्णय करना पड़ता है, तब तो ग्रंथार्थ-निर्णयकी उसी पद्धतिका स्वीकार किया जाता है, जिसका

---

* ग्रंथ-तात्पर्य-निर्णयके ये नियम अंग्रेजी अदालतोंमेंभी पाले जाते हैं। उदाहरणार्थ, मान लीजिये कि किसी फैसलेका कुछ मतलब नहीं निकलता। तब हुक्मनामेको देखकर फैसलेके अर्थका निर्णय किया जाता है। और यदि किसी फैसलेमें कुछ ऐसी बातें हों जो मुख्य विषयका निर्णय करनेमें आवश्यक नहीं हैं, तो वे दूसरे मुकदमोंमें प्रमाण (नजीर) नहीं मानी जातीं। ऐसी बातोंको अंग्रेजीमें 'आबिटर डिक्टा' (Obiter Dicta) अर्थात् 'व्यर्थ विधान' कहते हैं; यथार्थमें यह अर्थवादहीका एक भेद है।

उल्लेख ऊपर किया गया है। आजकालके बड़े बड़े कायदे-पंडित, वकील और न्यायाधीश लोग, पहलेके प्रमाणभूत कानूनी किताबों और फैसलोंका अर्थ करनेमें जो खींचातानी करते हैं, उसका रहस्यभी यही है। यदि सामान्य लौकिक बातोंका यह हाल है, तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि हमारे प्रमाणभूत धर्मग्रंथों – उपनिषद्, वेदान्तसूत्र और गीता – परभी इसी खींचातानीके कारण, भिन्न भिन्न संप्रदायोंके अनेक भाष्य, टीकाग्रंथ लिखे गये हैं। परंतु इस सांप्रदायिक पद्धतिको छोड़कर, यदि उपर्युक्त मीमांसकोंकी पद्धतिसे भगवद्गीताके उपक्रम, उपसंहार आदिको देखें, तो मालूम हो जावेगा कि भारतीय युद्धका आरंभ होनेके पहले जब कुरुक्षेत्रमें दोनों पक्षोंकी सेनाएँ लड़ाईके लिये सुसज्जित हो गई थीं; और जब एक दूसरेपर शस्त्र चलानेहीवाला था, कि इतनेमें अर्जुन ब्रह्मज्ञानकी बड़ी बड़ी बातें बतलाने लगा और 'विमनस्क' होकर संन्यास लेनेको तैयार हो गया; तभी उसे अपने क्षात्रधर्ममें प्रवृत्त करनेके लिये भगवानने गीताका उपदेश दिया है। जब अर्जुन यह देखने लगा कि दुष्ट दुर्योधनके सहायक बनकर उससे लड़ाई करनेके लिये कौन-कौन-से शूर वीर आये हैं, तब वृद्ध भीष्म पितामह, गुरु द्रोणाचार्य, गुरुपुत्र अश्वत्थामा, विपक्षी बने हुए अपने बंधु कौरव-गण, अन्य सुहृद् तथा आप्त, मामा-चाचा आदि रिश्तेदार, अनेक राजा और राजपुत्र आदि सब लोग उसे दीख पड़े। तब वह मनमें सोचने लगा कि इन सबको केवल एक छोटेसे हस्तिनापुरके राज्यकी प्राप्तिके लिये निर्दयतासे मारना पड़ेगा और अपने कुलका क्षय करना पड़ेगा। इस महत्पापके भयसे उसका मन एकदम दुःखित और क्षुब्ध हो गया। एक ओर तो क्षात्रधर्म उससे कह रहा था, कि 'युद्ध कर'; और दूसरी ओर पितृभक्ति, गुरुभक्ति, बंधुप्रेम, सुहृत्प्रीति आदि अनेक धर्म उसे जबरदस्ती पीछे खींच रहे थे! यह बड़ा भारी संकट था। यदि लड़ाई करे तो अपनेही रिश्तेदारोंकी, गुरुजनोंकी, और बंधु-मित्रोंकी हत्या करके महापातकका भागी बनेगा और लड़ाई न करे तो क्षात्रधर्मसे च्युत होना पड़ेगा!! इधर देखो तो कुआँ और उधर देखो तो खाई!!! उस समय अर्जुनकी अवस्था वैसीही हो गयी थी जैसी जोरसे टकराती हुई दो रेलगाडियोंके बीचमें किसी असहाय मनुष्यकी हो जाती है। यद्यपि अर्जुन कोई साधारण पुरुष नहीं था, वह एक बड़ा भारी योद्धा था, तथापि धर्माधर्मके इस महान् नैतिक संकटमें पड़कर बेचारेका मुँह सूख गया, शरीरपर रोंगटे खड़े हो गये, धनुष्य हाथसे गिर पड़ा और वह "मैं नहीं लड़ूंगा" कहकर अति दुःखित चित्तसे रथमें बैठ गया। और अंतमें समीपवर्ती बंधुस्नेहका प्रभाव – उस ममत्वका प्रभाव जो मनुष्यको स्वभावतः प्रिय होता है – दूरवर्ती क्षत्रियधर्मपर जमही गया! तब वह मोहवश हो कहने लगा, "पिता-सम पूज्य वृद्ध और मित्रोंको मारकर तथा अपने कुलका क्षय करके घोर पाप करके, राज्यका एक टुकड़ा पानेसे भीख माँगकर जीवन निर्वाह करना कहीं श्रेयस्कर है! चाहे मेरे शत्रु मुझे

अभी निःशस्त्र देखकर मेरी गर्दन उड़ा दें; परंतु मैं अपने स्वजनोंकी हत्या करके उनके खून और शापसे ग्रस्त सुखोंका उपभोग नहीं करना चाहता। क्या क्षात्रधर्म इसीको कहते हैं? भाईको मारो, गुरुकी हत्या करो, पितृवध करनेसे न चुको, अपने कुलका नाश करो – क्या यही क्षात्रधर्म है? आग लगे ऐसे अनर्थकारी क्षात्र-धर्ममें और गाज गिरे ऐसी क्षात्रनीतिपर! दुश्मनोंको ये सब धर्मसंबंधी बातें मालूम नहीं हैं; वे दुष्ट हैं; तो क्या उनके साथ मैंभी पापी हो जाऊँ? कभी नहीं। मुझे यह देखना चाहिये कि मेरी आत्माका कल्याण कैसे होगा। मुझे तो यह घोर हत्या और पाप करना श्रेयस्कर नहीं जँचता; फिर चाहे क्षात्रधर्म शास्त्रविहित हो, तोभी इस समय मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है।" इस प्रकार विचार करते करते उसका चित्त डाँवाडोल हो गया और वह किंकर्तव्यविमूढ होकर भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें गया। तब भगवानने उसे गीताका उपदेश देकर उसके चंचल चित्तको स्थिर और शांत कर दिया। इसका यह फल हुआ, कि जो अर्जुन पहले भीष्म आदि गुरुजनोंकी हत्याके भयके कारण युद्धसे पराङ्मुख हो रहा था, वही अब गीताका उपदेश सुनकर अपना यथोचित कर्तव्य समझ गया; और अपनी इच्छासे युद्धके लिये तत्पर हो गया। यदि हमें गीताके उपदेशका रहस्य जानना है, तो इस उपक्रमोप-संहार और परिणामको अवश्य ध्यानमें रखना पड़ेगा। भक्तिसे मोक्ष कैसे मिलता है? ब्रह्मज्ञान या पातंजल योगसे मोक्षकी सिद्धि कैसे होती है? इत्यादि, केवल निवृत्ति-मार्ग या कर्मत्यागरूप संन्यास-धर्म-संबंधी प्रश्नोंकी चर्चा करनेका वहाँ कोई प्रयोजन नहीं था। भगवान् श्रीकृष्णका यह उद्देश्य नहीं था, कि, अर्जुन संन्यास-दीक्षा लेकर और बैरागी बनकर भीख मांगता फिरे, या लंगोटी लगा-कर और नीमके पत्ते खाकर मृत्युपर्यंत हिमालयमें योगाभ्यास साधता रहे। अथवा भगवानका यहभी उद्देश्य नहीं था कि अर्जुन धनुष्य-बाणको फेंक दे और हाथमें वीणा तथा मृदंग लेकर कुरुक्षेत्रकी धर्मभूमिमें उपस्थित भारतीय क्षात्रसमाजके सामने भगवन्नामका उच्चारण करता हुआ, बृहन्नडाके समान और एक बार अपना नाच दिखावें। अब तो अज्ञातवास पूरा हो गया था और अर्जुनको कुरुक्षेत्रम खड़े होकर औरही प्रकार का नाच नाचना था। गीता कहते कहते स्थान स्थानपर भगवानने अनेक प्रकारके अनेक कारण बतलाये हैं; और अंतमें अनुमानदर्शक अत्यंत महत्त्वके 'तस्मात्' ('इसलिये') पदका उपयोग करके अर्जुनको यही निश्चितार्थक कर्म-विषयक उपदेश दिया है कि "तस्माद्युध्यस्व भारत" – इसलिये हे अर्जुन! तू युद्ध कर (गीता २. १८); "तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः" – इसलिये हे कौंतेय अर्जुन! तू युद्धका निश्चय करके उठ (गीता २. ३७); "तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर" – इसलिये तू मोह छोड़कर अपना कर्तव्य-कर्म कर (गीता ३. १९); "कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं" – इसलिये तू कर्मही कर (गीता ४. १५); "मामनुस्मर युध्य च" – इसलिये मेरा स्मरण कर और

लड (गीता ८. ७); " करने-करानेवाला सब कुछ मैं ही हूँ, तू केवल निमित्त है, इसलिये युद्ध करके शत्रुओंको जीत " (गीत ११. ३३); " शास्त्रोक्त कर्तव्य करना तुझे उचित है " (गीता १६. २४)। अठारहवें अध्यायके उपसंहारमें भगवानने अपने निश्चित और उत्तम मतको औरभी एक बार प्रकट किया है – " इन सब कर्मोंको करना चाहिये " (गीता १८. ६)। और अंतमें (गीता १७. ७२), भगवानने अर्जुनसे प्रश्न किया है, कि " हे अर्जुन ! तेरा अज्ञानमोह अभीतक नष्ट हुआ कि नहीं ? " इसपर अर्जुनने संतोषजनक उत्तर दिया :–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ।।

अर्थात् " हे अच्युत ! स्वकर्तव्यसंबंधी मेरा मोह और संदेह नष्ट हो गया है; अब मैं आपके कथनानुसार सब काम करूँगा। " यह अर्जुनका केवल मौखिक उत्तर नहीं था; उसने सचमुच उस युद्धमें भीष्म-कर्ण-जयद्रथ आदिका वधभी किया। इसपर कुछ लोग कहते हैं, कि " भगवानने अर्जुनको जो उपदेश दिया है वह केवल निवृत्तविषयक ज्ञान, योग या भक्तिकाही है; और यही गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषयभी है। परंतु युद्धका आरंभ हो जानेके कारण बीच बीचमें, कर्मकी थोड़ी-सी प्रशंसा करके भगवानने अर्जुनको युद्ध पूरा करने दिया है; अर्थात् युद्धका समाप्त करना मुख्य बात नहीं है – उसे आनुषंगिक या अर्थवादात्मकही मानना चाहिये " परंतु ऐसे अधूरे और कमजोर युक्तिवादसे गीताके उपक्रमोपसंहार और परिणामकी उपपत्ति ठीक ठीक नहीं हो सकती। यहाँ (कुरुक्षेत्र) पर तो इसी बातके महत्त्व और आवश्यकताको दिखाना याकि स्वधर्मसम अपने कर्तव्यको मरणपर्यंत अनेक कष्ट और बाधाएँ सहकरभी करते रहना चाहिये। और इस बातको सिद्ध करनेके लिये श्रीकृष्णने गीताभरमें कहींभी बे-सिर-पैरका कारण नहीं बतलाया है, जैसा ऊपर लिखे हुए कुछ लोगोंके आक्षेपमें कहा गया है। यदि ऐसा युक्तिहीन कारण बतलायाभी गया होता तो अर्जुनसरीखा बुद्धिमान और छानबीन करनेवाला पुरुष इन बातोंका विश्वास कैसे कर लेता ? उसके मनमें मुख्य प्रश्न क्या था ? यही न, कि भयंकर कुलक्षयको प्रत्यक्ष आँखोंके आगे देखकरभी मुझे युद्ध करना चाहिये या नहीं; और युद्ध करनाही हो तो कैसे करे, जिससेकी पाप न लगे ? इस बिकट प्रश्नके (इस प्रधान विषयके) उत्तरको, कि " निष्काम बुद्धिसे युद्ध कर " या " कर्म कर " – अर्थवाद कहकरभी नहीं टाल सकते। ऐसा करना मानों घरके मालिकको उसीके घरमें मेहमान बना देना है। हमारा यह कहना नहीं है, कि गीतामें वेदान्त, भक्ति और पातंजल योगका उपदेश बिलकुल दियाही नहीं गया है। परंतु इन तीनों विषयोंका गीतामें जो मेल किया गया है, वह केवल ऐसाही होना चाहिये, कि जिससे परस्परविरुद्ध धर्मोंके भयंकर संकटमें पडे हुए, " यह करूँ कि वह " कहनेवाले कर्तव्य-मूढ अर्जुनको अपने कर्तव्यके विषयमें कोई निष्पाप मार्ग मिल जाय; और वह क्षात्रधर्मके

अनुसार अपने शास्त्रविहित कर्ममें प्रवृत्त हो जाय। इससे यही बात सिद्ध होती है, कि प्रवृत्तिधर्महीका ज्ञान गीताका प्रधान विषय है; और अन्य सब बातें उस प्रधान विषयहीकी सिद्धिके लिये कही गयी हैं। अर्थात् वे सब आनुषंगिक हैं। अतएव गीताधर्मका रहस्यभी प्रवृत्तिविषयक अर्थात् कर्मविषयकही होना चाहिये। परंतु इस बातका स्पष्टीकरण किसी टीकाकारने नहीं किया है, कि वह प्रवृत्तिविषयक रहस्य क्या है; और वेदान्तशास्त्रहीसे कैसे सिद्ध हो सकता है। जिस टीकाकारको देखो, वही गीताके आद्यंत के उपक्रम-उपसंहार तथा फलपर ध्यान न देकर निवृत्ति-दृष्टिसे इस बातका विचार करनेहीमें निमग्न दीख पडता है, कि गीताका ब्रह्मज्ञान या भक्ति अपनेही संप्रदायके कैसे अनुकूल है। मानों ज्ञान और भक्तिका कर्मसे नित्य संबंध बतलाना एक बडा भारी पाप है। यही शंका एक टीकाकारके मनमें हुई थी; और उसने लिखा था, कि स्वयं श्रीकृष्णके चरित्रको आँखोंके सामने रखकर भगवद्गीताका अर्थ करना चाहिये*। श्रीक्षेत्र काशीके सुप्रसिद्ध अद्वैती परमहंस श्रीकृष्णानंद स्वामीका – जो हालहीमें समाधिस्थ हुए हैं – भगवद्गीता-पर लिखा हुआ 'गीतार्थ-परामर्श' नामक संस्कृतमें एक निबंध है, उसमें स्पष्ट रीतिसे यही सिद्धान्त लिखा हुआ है, कि "तस्मात् गीता नाम ब्रह्मविद्यामूलं नीतिशास्त्रम्" अर्थात् – इसलिये गीता वह नीतिशास्त्र अथवा कर्तव्यधर्मशास्त्र है, जो कि ब्रह्म-विद्यासे सिद्ध होता है।† यही बात जर्मन पंडित प्रो. डॉयसेनने अपने 'उपनिषदों-का तत्त्वज्ञान' नामक ग्रंथमें कही है। इनके अतिरिक्त पश्चिमी और पूर्वी गीता-परीक्षक अनेक विद्वानोंकाभी यही मत है। तथापि इनमेंसे किसीने समस्त गीता-ग्रंथकी परीक्षा करके यह स्पष्टतया दिखलानेका प्रयत्न नहीं किया है, कि कर्मप्रधान दृष्टिसे उसके सब प्रतिपादनों और अध्यायोंका मेल कैसा है। बल्कि डॉयसेनने अपने ग्रंथमें कहा है ‡, कि यह प्रतिपादन कष्टसाध्य है। इसलिये प्रस्तुत ग्रंथका मुख्य उद्देश्य यही है, कि उक्त रीतिसे गीताकी परीक्षा करके उसके विषयोंका मेल अच्छी तरह प्रकटकर दिया जावे परंतु। ऐसा करनेसे पहले, गीताके आरंभमें परस्परविरुद्ध नीतिधर्मोंकी पकड़में फँसे अर्जुनपर जो संकट आया था उसका असली रूपभी दिखलाना चाहिये; नहीं तो गीतामें प्रतिपादित विषयोंका मर्म पाठकोंके ध्यानमें पूर्णतया नहीं जम सकेगा। इसलिये अब यह जाननेके लिये कर्म-अकर्म

---

* इस टीकाकारका नाम और उसकी टीकाके कुछ अवतरण बहुत दिन हुए एक महाशयने हमको पत्रद्वारा बतलाये थे। परंतु हमारी परिस्थितिकी गड़बड़में यह पत्र न जाने कहाँ खो गया।

† श्रीकृष्णानंदस्वामीकृत चारों निबंध (श्रीगीतारहस्य, गीतार्थप्रकाश, गीतार्थपरामर्श और गीतासारोद्धार) एकत्र करके राजकोटमें प्रकाशित किये गये हैं।

‡ Prof. Deussen's '*Philosophy of the Upanishads*' P. 362. (English Translation, 1906.)

के झगडे कैसे बिकट होते हैं और अनेक बार " इसे करूँ कि उसे " यह सूझ न पडनेके कारण मनुष्य कैसा घबड़ा उठता है, ऐसेही प्रसंगोंके अनेक उदाहरणोंका विचार किया जायगा, जो हमारे शास्त्रोंमें – विशेषत: महाभारतमें – पाये जाते हैं ।

दूसरा प्रकरण

कर्मजिज्ञासा

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः *

— गीता ४. १६

भगवद्गीताके आरंभमें, परस्पर-विरुद्ध दो धर्मोंकी उलझनमें फँस जानेके कारण अर्जुन जिस तरह कर्तव्यमूढ हो गया था, और उसपर जो आपत्ति आ पडी थी वह कुछ अपूर्व नहीं है। उन असमर्थ और अपनाही पेट पालनेवाले लोगोंकी बातही भिन्न है, जो संन्यास लेकर और संसारको छोड़कर वनमें चले जाते हैं अथवा जो कमजोरीके कारण जगतके अनेक अन्यायोंको चुपचाप सह लिया करते हैं। परंतु समाजमें रहकरही जिन महान् तथा कार्यकर्ता पुरुषोंको अपने सांसारिक कर्तव्योंका पालन धर्म तथा नीतिपूर्वक करना पडता है, उनपर ऐसी आपत्तियाँ अनेक बार आया करती हैं। युद्धके आरंभहीमें अर्जुनको कर्तव्य-जिज्ञासा और मोह हुआ। ऐसाही मोह युधिष्ठिरको – युद्धमें मरे हुए अपने रिश्तेदारोंका श्राद्ध करते समय – हुआ था। उसके इस मोहको दूर करनेके लिये 'शांतिपर्व' कहा गया है। कर्माकर्मसंशयके ऐसे अनेक प्रसंग ढूंढ़ कर अथवा कल्पित करके उनपर बड़े बड़े कवियोंने सुरस काव्य और उत्तम नाटक लिखे हैं। उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटककार शेक्सपीयरका हैमलेट नाटक लीजिये। डेन्मार्क देशके प्राचीन राजपुत्र हैमलेटके चाचाने अपने राजकर्ता भाई – हैमलेटके बाप – को मार डाला। हैमलेट-की माताको अपनी पत्नी बना लिया और राजगद्दीभी छीन ली। तब उस राज-कुमारके मनमें यह संघर्ष पैदा हुआ, कि ऐसे पापी चाचाका वध करके पुत्र-धर्मके अनुसार अपने पिताके ऋणसे मुक्त हो जाऊँ; अथवा अपने सगे चाचा, अपनी माताके पति और गिद्दीपर बैठे हुए राजापर दया करूँ? इस मोहमें पड जानेके कारण कोमल अंतःकरणके हैमलेटकी कैसी दशा हुई और श्रीकृष्णके समान कोई मार्ग-दर्शक और हितकर्ता न होनेके कारण वह कैसे पागल हो गया और अंतमें 'जियें या मरें' इसी बातकी चिंता करते उसका अंत कैसे हो गया, इत्यादि बातोंका चित्र इस नाटकमें बहुत अच्छी तरहसे दिखाया गया है। 'कोरियोलेनस' नामके दूसरे नाटकमेंभी इसी तरह एक और प्रसंगका वर्णन शेक्सपीयरने किया है।

---

* "पंडितोंकोभी इस विषयमें मोह हो जाया करता है, कि कर्म कौन-सा है और अकर्म कौन-सा है।" इस स्थानपर अकर्म शब्दको 'कर्मके अभाव' और 'बुरे कर्म' दोनों अर्थोंमें यथासंभव लेना चाहिये। मूल श्लोकपर हमारी टीका देखो।

रोम नगरमें कोरियोलेनस नामका एक शूर सरदार था। नगरवासियोंने उसको शहरसे निकाल दिया। तब वह रोमन लोगोंके शत्रुओंमें जा मिला और उसने प्रतिज्ञा की, कि "मैं तुम्हारा साथ कभी नहीं छोडूंगा।" कुछ समयके बाद इन शत्रुओंकी सहायतासे उसने रोमन लोगोंपर हमला किया और वह अपनी सेना लेकर रोम शहरके दरवाजेके पास आ पहुँचा। उस समय रोम शहरकी स्त्रियोंने कोरियोलेनसकी पत्नी और माताको सामने करके, मातृभूमिके संबंधके कर्तव्यका उसको उपदेश किया। अंतमें उसको रोमके शत्रुओंको दिये हुए वचनका भंग करना पडा। कर्तव्य-अकर्तव्यके मोहमें फँस जानेके ऐसे औरभी कई उदाहरण दुनियाके प्राचीन और आधुनिक इतिहासमें पाये जाते हैं। परंतु हम लोगोंको इतना दूर जानेकी कोई आवश्यकता नहीं। हमारा महाभारत-ग्रंथ ऐसे उदाहरणोंकी एक बड़ी भारी खानही है। ग्रंथके आरंभ (आ. २) में भारतका वर्णन करते हुए स्वयं व्यासजीने उसको 'सूक्ष्मार्थन्याययुक्तं', 'अनेकसमयान्वितं' आदि विशेषण दिये हैं। उसमें धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र, सब कुछ आ गया है। इतनाही नहीं, किंतु उसकी महिमा इस प्रकार गाई गयी, कि "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्" – अर्थात् जो कुछ इसमें है वही और स्थानोंमें है, जो इसमें नहीं है वह और किसीभी स्थानमें नहीं है (आ. ६२. ५३)। सारांश यह है, कि इस संसारमें अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं; ऐसे समय बड़े बड़े प्राचीन पुरुषोंने कैसा बर्ताव किया, इसका सुलभ आख्यानों-के द्वारा साधारण जनोंको बोध करा देनेहीके लिये 'भारत'का 'महाभारत' हो गया है। नहीं तो सिर्फ भारतीय युद्ध अथवा 'जय'नामक इतिहासका वर्णन करनेके लिये अठारह पर्वोंकी कुछ आवश्यकता नहीं थी।

अब यह प्रश्न किया जा सकता है, कि श्रीकृष्ण और अर्जुनकी बातें छोड़ दीजिये; हमारे-तुम्हारे लिये इतने गहरे पानीमें पैठनेकी क्या आवश्यकता है? क्या मनु आदि स्मृतिकारोंने अपने ग्रंथोंमें इस बातके स्पष्ट नियम नहीं बना दिये हैं, कि मनुष्य संसारमें किस तरह बर्ताव करे? किसीकी हिंसा मत करो, नीति-पर चलो, सच बोलो, गुरु और बड़ोंका सम्मान करो, चोरी और व्यभिचार मत करो; इत्यादि सब धर्मोंमें पाई जानेवाली साधारण आज्ञाओंका यदि पालन किया जाय, तो ऊपर लिखे कर्तव्य-अकर्तव्यके झगड़ेमें पडनेकी क्या आवश्यकता है? परंतु इसके विरुद्ध यहभी प्रश्न किया जा सकता है कि जबतक इस संसारके सब लोग उक्त आज्ञाओंके अनुसार बर्ताव नही करते हैं, तबतक सज्जनोंको क्या करना चाहिये? क्या ये लोग अपने सदाचारके कारण दुष्ट जनोंके फंदेमें अपनेको फँसा लें? या अपनी रक्षाके लिये 'जैसे को तैसा' इस न्यायसे उन लोगोंका प्रतिकार करें? इसके सिवा एक बात और है। यद्यपि उक्त साधारण नियमों-को नित्य और प्रमाणभूत मान लें, तथापि कार्यकर्ताओंको अनेक बार ऐसी आपत्तियोंका सामना करना पडता है कि उस समय उक्त साधारण नियमोंसे दो

या अधिक नियम एकसाथ लागू होते हैं। उस समय "यह करूँ या वह करूँ" इस चिंतामें पड़कर मनुष्य पागल-सा हो जाता है। अर्जुनपर ऐसीही आपत्ति आ पडी थी, परंतु अर्जुनके सिवा और लोगोंपरभी ऐसे कठिन प्रसंग अक्सर आया करते हैं। इस बातका मार्मिक विवेचन महाभारतमें कई स्थानोंमें किया गया है। उदाहरणार्थ, मनुने सब वर्णोंके लोगोंके लिये नीतिधर्मके मांच नियम बतलाये हैं – "अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः" (मनु. १०. ६३) – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काया, वाचा और मनकी शुद्धता, एवं इंद्रियनिग्रह – इन नीतिधर्मोंमेंसे एक अहिंसाही का विचार कीजिये। "अहिंसा परमो धर्मः" (मभा. आ. ११. १३) यह तत्त्व सिर्फ़ हमारे वैदिक धर्महीमें नहीं, किंतु अन्य सब धर्मोंमेंभी प्रधान माना गया है। बौद्ध और ईसाई धर्मग्रंथोंमें जो आज्ञाएँ हैं, उनमें अहिंसाको मनुकी आज्ञाके समान पहला स्थान दिया गया है। सिर्फ़ किसीकी जान ले लेनाही हिंसा नहीं है तो उसमें किसीके मन अथवा शरीरको दुख देनेकाभी समावेश किया जाता है। अर्थात्, किसी सचेतन प्राणीको किसी प्रकार दुःखित न करनाही अहिंसा है। पितृवध, मातृवध और मनुष्यवध – ये हिंसाके भयानक प्रकार हैं, अतः इस संसारमें सब लोगोंकी संमतिके अनुसार यह अहिंसाधर्म सब धर्मोंमें श्रेष्ठ माना गया है। परंतु अब कल्पना कीजिये, कि हमारी जान लेनेके लिये या हमारी पत्नी अथवा कन्यापर बलात्कार करनेके लिये, अथवा हमारे घरमें आग लगानेके लिये, या हमारा धन छीन लेनेके लिये, कोई दुष्ट मनुष्य हाथमें शस्त्र लेकर तैयार हो जाय और उस समय हमारी रक्षा करनेवाला हमारे पास कोई न हो; तो उस समय हमको क्या करना चाहिये ? क्या, "अहिंसा परमो धर्मः" कहकर ऐसे आततायी मनुष्यपर दया की जाय ? या, यदि वह दुष्ट सीधी तरहसे न माने तो यथाशक्ति उसका शासन किया जाय ? मनुजी कहते हैं :–

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।।

अर्थात् "ऐसे आततायी या दुष्ट मनुष्यको अवश्य मार डालें; उस समय यह विचार न करें कि वह गुरु है, बुढ़ा है, बालक है या विद्वान् ब्राह्मण है।" शास्त्रकार कहते हैं कि (मनु. ८. ३५०) ऐसे समय हत्या करनेका पाप हत्या करनेवालेको नहीं लगता; किंतु आततायी मनुष्य अपने अधर्महीसे मारा जाता है। आत्मरक्षाका यह हक़ – कुछ मर्यादाके भीतर – आधुनिक फौजदारी कानूनमेंभी स्वीकृत किया गया है। ऐसे प्रसंगोंपर अहिंसासे आत्मरक्षाकी योग्यता अधिक मानी जाती है। भ्रूणहत्या सबसे अधिक निंदनीय मानी है; परंतु जब बच्चा पेटमें टेढा होकर अटक जाता है तब क्या उसको काटकर निकाल नहीं डालना चाहिये ? यज्ञमें पशुका वध करना वेदनेभी प्रशस्त माना है (मनु. ५. ३१), परंतु पिष्टपशुके द्वारा वह टलभी सकता है (मभा. शां. ३३७; अनु. ११५. ५६)। तथापि हवा, पानी,

फल इत्यादि सब स्थानोंमें जो सैंकडों सूक्ष्म जीव-जंतु हैं उनकी हत्या कैसे टाली जा सकती है ? महाभारतमें (शां. १५. २६) अर्जुन कहता है :–

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित् ।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः ।।

" इस जगत्‌में ऐसे असंख्य सूक्ष्म जंतु हैं, कि जिनका अस्तित्व यद्यपि नेत्रोंसे देख नहीं पड़ता, तथापि तर्कसे सिद्ध है। और यदि हम अपनी आँखोंकी पलक हिलावें, तो उतनेहीसे, उन जंतुओंका नाश हो जाता है ! " ऐसी अवस्थामें यदि हम मुखसे कहते रहें, कि " हिंसा मत करो, हिंसा मत करो," तो उससे क्या लाभ होगा ? इसी सारासार विचारके अनुसार अनुशासन पर्वमें (अनु. ११६) शिकार करनेका समर्थन किया गया है। वनपर्वमें एक कथा है, कि कोई ब्राह्मण क्रोधसे किसी पति-व्रता स्त्रीको भस्मकर डालना चाहता था; परंतु जब उसका यत्न सफल नहीं हुआ तब वह उस स्त्रीकी शरणमें गया। तब धर्मका सच्चा रहस्य समझ लेनेके लिये उस ब्राह्मणको उस स्त्रीने किसी व्याधके यहाँ भेज दिया। यह व्याध मांस बेचा करता था; परंतु था अपने माता-पिताका बड़ा भक्त ! व्याधका वह व्यवसाय देख-कर ब्राह्मणको अत्यंत विस्मय और खेद हुआ। तब व्याधने उसे अहिंसाका सच्चा तत्त्व समझाकर बतला दिया कि इस जगत्‌में कौन किसको नहीं खाता ? " जीवो जीवस्य जीवनम् " (भाग. १. १३. ४६) – यही नियम सर्वत्र दीख पड़ता है। आपत्कालमें तो " प्राणस्यान्नमिदं सर्वम् " यह नियम सिर्फ़ स्मृतिकारोंहीने नहीं, (मनु. ५. २८; मभा. शां. १५. २१) कहा है तो उपनिषदोंमेंभी स्पष्ट कहा गया है। (वे. सू. ३. ४. २८; छां. ५. २. ८; बृ. ६. १. १४) यदि सब लोग हिंसा छोड़ दें तो क्षात्रधर्म कहाँ और कैसे शेष रहेगा। यदि क्षात्रधर्म नष्ट हो जाय तो प्रजाकी रक्षा कैसे होगी ? सारांश यह है कि नीतिके सामान्य नियमोंहीसे सदा काम नहीं चलता; नीतिशास्त्रके प्रधान नियम – अहिंसा – मेंभी कर्तव्य-अकर्तव्यका सूक्ष्म विचार करनाही पड़ता है।

अहिंसाधर्मके अनुसारही क्षमा, दया, शांति आदि गुण शास्त्रोंमें कहे गये हैं; परंतु सब समय शांतिसे कैसे काम चल सकेगा ? सदा शांत रहनेवाले मनुष्योंके बाल-बच्चोंकोभी दुष्ट लोग हरण किये बिना नहीं रहेंगे। इसी कारणका प्रथम उल्लेख करके प्रल्हादने अपने नाती, राजा बलिसे कहा है :–

न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा ।
... ...
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पंडितैरपवादिता ।।

" सदैव क्षमा करना अथवा क्रोध करना श्रेयस्कर नहीं होता। इसी लिये, हे तात ! पंडितोंने क्षमाके लिये कुछ अपवादभी कहे हैं (मभा. बन. २८. ६, ७) इसके बाद कुछ प्रसंगोंका वर्णन किया गया है, जो क्षमाके लिये उचित है; तथापि प्रल्हाद-

ने इस बातका उल्लेख नहीं किया, कि इन प्रसंगोंको पहचाननेका तत्त्व या नियम क्या हैं। यदि इन प्रसंगोंको पहचाने बिना, सिर्फ़ अपवादोंकाही कोई उपयोग करे, तो वह दुराचरण समझा जाएगा; इसलिये यह जानना अत्यंत आवश्यक और महत्वका है, कि इन प्रसंगोंको पहचाननेका नियम क्या है।

दूसरा तत्त्व 'सत्य' है, जो सब देशों और धर्मोंमें भलीभाँति माना जाता है और प्रमाण समझा जाता है। सत्यकी महानताका वर्णन कहाँतक किया जाय? वेदमें सत्यकी महिमाके विषयमें कहा है, कि सारी सृष्टिकी उत्पत्तिके पहले 'ऋतं' और 'सत्यं' उत्पन्न हुए; और सत्यहीसे आकाश, पृथ्वी, वायु आदि पंचमहाभूत स्थिर हैं – "ऋतंच सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत" (ऋ. १०. १९०. १), "सत्येनोत्तमिता भूमिः" (ऋ. १०. ८५. १) आदि मंत्र देखो। 'सत्य' शब्दका धात्वर्थभी यही है – "रहनेवाला अर्थात् कभी नष्ट न होनेवाला।" अथवा 'त्रिकाल-अबाधित'; इसीलिये सत्यके विषयमें कहा गया है, कि "सत्यके सिवा और धर्म नहीं है; सत्यही परब्रह्म है।" महाभारतमें कई जगह इस वचनका उल्लेख किया गया है, कि "नास्ति सत्यात्परो धर्मः" (मभा. शां. १६२. २४) और यहभी लिखा है कि:–

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

"हज़ार अश्वमेध और सत्य की तुलना की गयी तो सत्यही श्रेष्ठ सिद्ध हुआ" (आ. ७४. १०२)। यह वर्णन सामान्य सत्यके विषयमें हुआ। सत्यके विषयमें मनुजी एक और विशेष बात कहते हैं (मभा. मनु. ४. २५६) :–

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥

"मनुष्योंके सब व्यवहार वाणीसे हुआ करते हैं। एकके विचार दूसरेको बतानेके लिये शब्दके समान अन्य साधन नहीं है। वही सब व्यवहारोंका आश्रय-स्थान और वाणीका मूल स्रोत है। जो मनुष्य उसको मलिन कर डालता है, अर्थात् जो वाणीकी प्रतारणा करता है, वह सब पूंजीहीकी चोरी करता है।" इसलिये मनुने कहा है, कि "सत्यपूतां वदेद्वाचं" (मनु. ६. ४६) – जो सत्यसे पवित्र किया गया हो, वही बोला जाय। और धर्मोंकी अपेक्षा सत्यहीको पहला स्थान देनेके लिये उपनिषद्मेंभी कहा है, "सत्यं वद। धर्मं चर" (तै. १. ११. १)। जब बाणोंकी शय्यापर पड़े पड़े भीष्म पितामह शांति और अनुशासन पर्वोंमें युधिष्ठिरको सब धर्मोंका उपदेश देचुके, तब प्राण छोड़नेके पहले "सत्येषु यतितव्यं वः सत्यं हि परमं बलं" इस वचनको सब धर्मोंका सार कहकर उन्होंने सत्यहीके अनुसार बर्ताव करनेके लिये सब लोगोंको उपदेश किया है (मभा. अनु. १६७. ५०)। बौद्ध और ईसाई धर्मोंमेंभी इन्हीं नियमोंका अनुवाद पाया जाता है।

क्या उस बातकी कभी कल्पनाकी जा सकती है, कि जो सत्य इस प्रकार स्वयंसिद्ध और चिरस्थायी है, उसके लियेभी कुछ अपवाद होंगे ? परंतु दुष्ट जनोंसे भरे हुए इस जगतका व्यवहार बहुत कठिन है। कल्पना कीजिये, कि कुछ आदमी चोरोंसे पीछा किये जानेपर तुम्हारे सामने किसी स्थानमें जाकर छिप गये। इसके बाद हाथमें तलवार लिये हुए चोर तुम्हारे पास आकर पूछने लगे, कि वे आदमी कहाँ चले गये ? ऐसी अवस्थामें तुम क्या कहोगे ? क्या तुम सच बोलकर सब हाल कह दोगे, या उन निरपराधी जीवोंकी हिंसाको रोकोगे ? क्यों कि निरपराधोंकी हिंसाको रोकना सत्यहीके समान महत्त्वका धर्म है। मनु कहते हैं, "नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः" (मनु. २. ११०; मभा. शां. २८७. ३४) – जबतक कोई प्रश्न न करे, तबतक किसीसे बोलना न चाहिये; और यदि कोई अन्यायसे प्रश्न करे तो पूछनेपरभी उत्तर नहीं देना चाहिये। यदि मालूमभी हो, तो सिड़ी या पागलके समान कुछ हूँ-हूँ करके बात बना देनी चाहिये – "जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्।" अच्छा, पर हूँ-हूँ कर देना और बात बना देना एक तरहसे असत्य भाषण करना नहीं है ? महाभारत (मभा. आ. २१५. ३४) में कई स्थानोंमें कहा है, "न व्याजेन चरेद्धर्मम्" – धर्मसे प्रतारणा करके मनका समाधान नहीं कर लेना चाहिये; क्योंकि तुम धर्मको धोखा नहीं दे सकते। तुम खुद धोखा खा जाओगे। अच्छा, यदि हूँ-हूँ करके कुछ बात बना लेनेकाभी समय न हो, तो क्या करना चाहिये ? मान लीजिये, कोई चोर हाथमें तलवार लेकर छातीपर आ बैठा है; और पूछ रहा है, कि तुम्हारा धन कहाँ है ? यदि कुछ उत्तर न दोगे, तो जानहीसे हाथ धोना पड़ेगा। ऐसे समयपर क्या बोलना चाहिये ? सब धर्मोंका रहस्य जाननेवाले भगवान् श्रीकृष्ण – ऐसेही चोरोंकी कहानीका दृष्टान्त देकर – कर्णपर्व (मभा. क. ६९. ६१) में अर्जुनसे और आगे शांतिपर्वके सत्यानृतं अध्याय (मभा. शां. १०९. १५. १६) में भीष्म पितामह युधिष्ठिरसे कहते हैं :–

अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत्कथंचन।
अवश्यं कूजितव्ये वा शंकेरन् वाप्यकूजनात्।
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्॥

अर्थात् 'यह बात विचारपूर्वक निश्चित की गई है, कि यदि बिना बोले मोक्ष या छुटकारा हो सके, तोभी हो, बोलना नहीं चाहिये; और यदि बोलना आवश्यक हो, अथवा न बोलनेसे (दूसरों को) कुछ संदेह होना संभव हो, तो उस उमय सत्यके बदले असत्य बोलनाही अधिक प्रशस्त है।' इसका कारण यह है, कि सत्य धर्म केवल शब्दोच्चारहीके लिये नहीं है। अतएव जिस आचरणसे सब लोगोंका कल्याण हो, वह आचरण सिर्फ़ इसी कारणसे निंद्य नहीं माना जा सकता, कि शब्दोच्चार अयथार्थ है। जिससे सभीकी हानि हो, वह न तो सत्यही है; और न अहिंसाही।

शांतिपर्व (मभा. शां. ३१९. १३; २८७. १९) में सनत्कुमारके आधारपर नारदजी शुकजीसे कहते हैं :-

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् ।
यद्भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम ।।

"सच बोलना अच्छा है; परंतु सत्यसेभी अधिक ऐसा बोलना अच्छा है; जिससे सब प्राणियोंका हित हो। क्योंकि जिससे सब प्राणियोंका अत्यंत हित होता है, वही हमारे मतमें सत्य है।" 'यद्भूतहितं' पदको देखकर आधुनिक उपयोगितावादी अंग्रेजों का स्मरण करके यदि कोई उक्त वचनको प्रक्षिप्त कहना चाहें, तो उन्हें स्मरण रखना चाहिये, कि वह वचन महाभारतके वनपर्वमें – ब्राह्मण और व्याधके संवादमें – दो-तीन बार आया है। उनमेंसे एक जगह तो "अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतहितं परम्" पाठ है (मभा. वन. २०६. ७३); और दूसरी जगह "यद्भूतहिमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा" (वन. २०८. ४), ऐसा पाठभेद किया गया है। सत्यप्रतिज्ञ युधिष्ठिरने द्रोणाचार्यसे "नरो वा कुंजरो वा" कहकर उन्हें संदेहमें क्यों डाल दिया? इसका कारण वही है, जो ऊपर दिया गया है; और कुछ नहीं। ऐसेही और बातोंमेंभी यही नियम लगाया जाता है। हमारे शास्त्रोंका यह कथन नहीं है, कि झूठ बोलकर किसी खूनीकी जान बचाई जाये। शास्त्रोंमें खून करनेवाले आदमीके लिये देहांत प्रायश्चित्त अथवा वधदंडकी सज़ा कही गयी है। इसलिये वह सजा पाने योग्य अथवा वध्य है। सभी शास्त्रकारोंने कहा है कि इसीके समान और किसी समय जो आदमी झूठी गवाही देता है वह अपने सात या अधिक पूर्वजोंसहित नरकमें जाता है। (मनु. ८. ८९–९९; मभा. आ. ७. ३)। परंतु जब कर्णपर्वमें वर्णित उक्त चोरोंके दृष्टान्तके समान हमारे सच बोलनेसे निरपराधी आदमियोंकी जान जानेकी शंका हो, तो उस समय क्या करना चाहिये? ग्रीन नामक एक अंग्रेज ग्रंथकारने अपने 'नीतिशास्त्र का उपोद्घात' नामक ग्रंथमें लिखा है, कि ऐसे अवसरोंपर नीतिशास्त्र मूक हो जाते हैं। यद्यपि मनु और याज्ञवल्क्य ऐसे प्रसंगोंकी गणना सत्यापवादोंमें करते हैं, तथापि यह भी उनके मतसे गौण बात है। इसलिये अंतमें उन्होंने इस अपवादके लिये भी प्रायश्चित्त बतलाया है – "तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः" (याज्ञ. २. ८३; मनु. ८. १०४–१०६)।

कुछ बड़े अंग्रेजोंने – जिन्हें अहिंसाके अपवादके विषयमें आश्चर्य नहीं मालूम होता – हमारे शास्त्रकारोंको सत्यके विषयमें दोष देनेका यत्न किया है। इसलिये यहाँ इस बातका उल्लेख किया जाता है, कि सत्यके विषयमें प्रामाणिक ईसाई धर्मोपदेशक और नीतिशास्त्रके अंग्रेज ग्रंथकार क्या कहते हैं। क्राइस्टका शिष्य पॉल नये बाइबलमें कहता है, 'यदि मेरे असत्य भाषणसे प्रभुके सत्यकी महिमा और बढ़ती है (अर्थात् ईसाई धर्मका अधिक प्रचार होता है), तो इससेमैं पापी कैसे हो सकता हूँ'? (रोम. ३. ७) ईसाई धर्मके इतिहासकार मिलमैलने लिखा है, कि

प्राचीन ईसाई धर्मोपदेशक कई बार इसी तरह आचरण किया करते थे। यह बात सच है, कि वर्तमान समयके पाश्चिमात्य नीतिशास्त्रज्ञ किसीको धोखा देकर या भुलाकर धर्मभ्रष्ट करना न्याय्य नहीं मानेंगे; परंतु वेभी यह कहनेको तैयार नहीं हैं, कि सत्यधर्म अपवादरहित है। उदाहरणार्थ, यह देखिये, कि सिजविक नामके जिस पंडितका नीतिशास्त्र हमारे कॉलेजोंमें पढ़ाया जाता है, उसकी क्या राय है। कर्म और अकर्मके संदेहका निर्णय जिस तत्त्वके आधारपर यह ग्रंथकार किया करता है, उसको "सबसे अधिक लोगोंका सबसे अधिक सुख" (बहुत लोगोंका बहुत सुख) कहते हैं। इसी नियमके अनुसार उसने यह निर्णय किया है, कि छोटे लड़कोंको, पागलोंको, और इसी प्रकार बीमार आदमियोंको (यदि सच बात सुना देनेसे उसके स्वास्थ्यके बिगड़ जानेका भय हो), अपने शत्रुओंको, चोरोंको और (यदि बिना बोले काम चल न सकता हो तो) जो अन्यायसे प्रश्न करें, उसको उत्तर देनेके समय, अथवा वकीलोंको अपने व्यवसायमें झूठ बोलना अनुचित नहीं है।* मिलके नीतिशास्त्रके ग्रंथमेंभी इसी अपवादका समावेश किया गया है।† इन अपवादोंके अतिरिक्त सिजविक अपने ग्रंथमें यहभी लिखता है, कि 'यद्यपि कहा गया है, कि सब लोगोंको सच बोलना चाहिये, तथापि हम यह नहीं कह सकते, कि जिन राज-नीतिज्ञोंको अपनी कारवाई गुप्त रखनी पड़ती है, वे औरोंके साथ, तथा व्यापारी अपने ग्राहकोंसे हमेशा सचही बोला करें।'‡ किसी अन्य स्थानमें वह लिखता है, कि यही छूट पादरियों और सिपाहियोंको मिलती है। लेस्ली स्टीफन नामका एक और अंग्रेज ग्रंथकार है। उसने नीतिशास्त्रका विवेचन आधिभौतिक दृष्टिसे किया है। वहभी अपने ग्रंथमें ऐसेही उदाहरण देकर अंतमें लिखता है, 'किसी कार्यके परिणामकी ओर ध्यान देनेके बादही उसकी नीतिमत्ता निश्चित की जानी चाहिये। यदि मुझे यह विश्वास हो, कि झूठ बोलनेहीसे कल्याण होगा, तो मैं सत्य बोलनेके लिये कभी तैयार नहीं रहूँगा। मेरे इस विश्वासमें यह भाव हो सकता है, कि इस समय झूठ बोलनाही मेरा कर्तव्य है।'§ ग्रीन साहबने नीति-शास्त्र का विचार अध्यात्मदृष्टिसे किया है। आप उक्त प्रसंगोंका उल्लेख करके स्पष्ट

---

* Sidgwick's *Methods of Ethics*, Book III Chap. XI § 6. p. 355 (7th Ed.) Also, see pp. 315—317 (same Ed.).

† Mill's *Utilitarianism*, Chap. II pp. 33-34 (15th Ed. Longmans, 1907).

‡ Sidgwick's *Methods of Ethics*, Book IV. Chap. III, § p. 454 (7th Ed.); and Book II Chap. V. § 3. p. 169.

§ Leslie Stephen's *Science of Ethics* (Chap. IV§ 29. p. 369 (2nd Ed.) " And the certainty might be of such a kind as to make me think it a duty to lie. "

रीतिसे कहते हैं, कि ऐसे समय नीतिशास्त्र मनुष्यके संदेहकी निवृत्ति कर नहीं सकता। अंतमें आपने यह सिद्धान्त लिखा है, "नीतिशास्त्र यह नहीं कहता, कि किसी साधारण नियमके अनुसार – सिर्फ़ यह समझकर कि वह है – हमेशा चलनेमें कुछ विशेष महत्त्व है; किंतु उसका कथन सिर्फ़ यही है, कि 'सामान्यतः' उस नियमके अनुसार चलना हमारे लिये श्रेयस्कर है। इसका कारण यह है, कि ऐसे समय हम लोग केवल नीतिके लिये अपनी लोभमूलक नीच मनोवृत्तियोंको त्यागनेकी शिक्षा पाया करते हैं।"* नीतिशास्त्रपर ग्रंथ लिखनेवाले बेन, वेवेल आदि अन्य अंग्रेज पंडितोंकाभी ऐसाही मत है। ‡

यदि उक्त अंग्रेज ग्रंथकारोंके मतोंकी तुलना हमारे धर्मशास्त्रकारोंके बनाये हुए नियमोंके साथ की जाय, तो यह बात सहजही ध्यानमें आ जाएगी, कि सत्यके विषयमें अधिक अभिमानी कौन है। इसमें संदेह नहीं, कि हमारे शास्त्रोंमें कहा है :–

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पंचानृतान्याहुरपातकानि ।।

अर्थात् "हँसीमें, स्त्रियोंके साथ, विवाहके समय, जब जानपर आ बने तब, और संपत्तिकी रक्षाके लिये झूठ बोलना पाप नहीं है" (मभा. आ. ८२. १६ और महा. शां. १०९ तथा मनु. ८. ११०)। परंतु इसका मतलब यह नहीं है, कि स्त्रियोंके साथ हमेशा झूठही बोलना चाहिये। जिस भावसे सिजविक साहबने 'छोटे बच्चे, पागल और बीमार' के विषयमें अपवाद किया है, वही भाव महाभारतके उक्त कथनकाभी है। अंग्रेज ग्रंथकार पारलौकिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकी ओर कुछ ध्यान नहीं देते। उन लोगोंने तो खुल्लमखुल्ला यहाँतक प्रतिपादन किया है कि व्यापारियोंका अपने लाभके लिये झूठ बोलना अनुचित नहीं है। किंतु वह बात हमारे शास्त्रकारोंको संमत नहीं है। इन लोगोंने कुछ ऐसेही प्रसंगोंपर असत्य बोलनेकी अनुमति दी है, जबकि केवल सत्य शब्दोच्चारण (अर्थात् केवल वाचिक सत्य) और सर्वभूतहित (अर्थात् वास्तविक सत्य) में विरोध हो जाता है, और व्यवहारकी दृष्टिसे झूठ बोलना अपरिहार्य हो जाता है। इनकी राय है, कि सत्य आदि नीतिधर्म नित्य – अर्थात् सब समय एक समान अबाधित – हैं। अतएव यह अपरिहार्य झूठ बोलनाभी थोड़ा-सा पापही है; और उसके लिये प्रायश्चित्तभी कहा गया है। संभव है, कि आजकलके आधिभौतिक पंडित इन प्रायश्चित्तोंको निरर्थक हौवा कहेंगे; परंतु जिन्होंने ये प्रायश्चित्त कहे हैं और जिन लोगोंके

---

* Greens's *Prolegomena to Ethics*, § 315. p. 379, (5th Cheaper edition).

‡ Bain's *Mental and Moral Science*, p. 445 (Ed. 1875); and Whewell's *Elements of Morality*. Book II. Chaps. XIII and XIV. (4th Ed., 1864).

लिये ये कहे गये हैं, वे दोनों ऐसा नहीं समझते। वे तो सब उक्त सत्य अपवादको गौण ही मानते हैं। और इस विषयकी कथाओंमेंभी यही अर्थ प्रतिपादित किया गया है। देखिये, युधिष्ठिरने अडचनके समय एकही वार दबी हुई आवाजसे 'नरो वा कुंजरो वा' कहा था। इसका फल यह हुआ, कि उसका रथ, जो पहले जमीनसे चार अंगुल ऊपर अंतरिक्षमें चला करता था, अब और मामूली लोगोंके रथोंके समान धरतीपर चलने लगा। और अंतमें एक क्षणभरके लिये उसे नरकलोकमें रहना पड़ा (मभा. द्रोण. १९१. ५७. ५८ तथा स्वर्ग. ३. १५)। दूसरा उदाहरण अर्जुनका लीजिये। अश्वमेधपर्व (मभा. अश्व. ८१. १०) में लिखा है कि यद्यपि अर्जुनने भीष्मका वध शास्त्रधर्मके अनुसार कियाथा; तथापि उसने शिखंडीके पीछे छिपकर यह काम किया था, इसलिये उसको अपने पुत्र बभ्रुवाहनसे पराजित होना पड़ा। इन सब बातोंसे यही प्रकट होता है, कि विशेष प्रसंगोंके लिये कहे गये उक्त अपवाद मुख्य या प्रमाण नहीं माने जा सकते। हमारे शास्त्रकारोंका अंतिम तात्त्विक सिद्धान्त वही है, जो महादेवने पार्वतीसे कहा है –

आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः॥

"जो लोग, इस जगतमें स्वार्थके लिये, परार्थके लिये, या मज़ाकमेंभी कभी झूठ नहीं बोलते, उन्हींको स्वर्गकी प्राप्ति होती है" (मभा. अनु. १४४.१९)।

अपनी प्रतिज्ञा या वचनको पूरा करना सत्यहीमें शामिल है। भगवान् श्रीकृष्ण और भीष्म पितामह कहते हैं, "चाहे हिमालय पर्वत अपने स्थानसे हट जाय, अथवा अग्नि शीतल हो जाय, परंतु हमारा वचन टल नहीं सकता" (मभा. आ. १०३ तथा उ. ८१. ४८) भर्तृहरिनेभी सत्पुरुषोंका वर्णन इस प्रकार किया है :–

तेजस्विनः सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति।
सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम्॥

"तेजस्वी पुरुष आनंदसे अपनी जानभी दे देंगे; परंतु वे अपनी प्रतिज्ञाका त्याग कभी नहीं करेंगे" (नीतिश. ११०) इसी तरह श्रीरामचंद्रजीके एकपत्नी-व्रतके साथ उनका एक-बाण और एक-वचनका व्रतभी प्रसिद्ध है; जैसा इस सुभाषितमें कहा है – "द्विशरं नाभिसंधत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते।" हरिश्चंद्रने तो अपने स्वप्नमें दिये हुए वचनको सत्य करनेके लिये डोमकी नीच सेवाभी की थी। इसके उलटे, वेदमें यह वर्णन है, कि इंद्रादि देवताओंने वृत्रासुरके साथ जो प्रतिज्ञाएँ की थीं उन्हें मेट दिया और उसको मार डाला। ऐसीही कथापुराणोंमें हिरण्यकशिपु की है। व्यवहारमेंभी कुछ कौल-करार ऐसे होते हैं, कि जो न्यायालयमें बे-कायदा समझे जाते है; या जिनके अनुसार चलना अनुचित माना जाता है। अर्जुनके विषयमें ऐसीही कथा महाभारत (मभा. कर्ण. ६९) में है। अर्जुनने प्रतिज्ञा की थी, कि जो कोई मुझसे कहेगा, कि "तू अपना गांडीव धनुष्य किसी दूसरेको दे दे, उसका सि

मैं तुरंतही काट डालूंगा। " इसके वाद युद्धमें जब युधिष्ठिर कर्णसे पराजित हुआ तव उसने निराश होकर अर्जुनसे कहा, "तेरा गांडीव हमारे किस कामका है? तू इसे छोड़ दे!" यह सुनकर अर्जुन हाथमें तलवार ले युधिष्ठिरको मारने दौड़ा। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण वहीं थे। उन्होंने तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे सत्य धर्मका मार्मिक विवेचन करके अर्जुनको यह उपदेश किया, कि "तू मूढ़ है। तुझे अबतक सूक्ष्म-धर्म मालूम नहीं हुआ है। तुझे वृद्धजनोंसे इस विषयकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये; 'न वृद्धाः सेवितास्त्वया'– तूने वृद्धजनोंकी सेवा नहीं की है। यदि तू प्रतिज्ञाकी रक्षा करनाही चाहता है, तो तू युधिष्ठिरकी निर्भर्त्सना कर, क्योंकि सभ्यजनोंको निर्भर्त्सना मृत्युहीके समान है।" इस प्रकार बोध करके उन्होंने अर्जुनको ज्येष्ठ भ्रातृवधके पापसे बचाया। इस समय भगवान् श्रीकृष्णने जो सत्यानृत-विवेक अर्जुनको वताया है, उसीको आगे चलकर शांतिपर्वके सत्यानृत नामक अध्यायमें भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा है (शां. १०९)। यह उपदेश व्यवहारमें लोगोंको ध्यानमें रखना चाहिये। इसमें संदेह नहीं, कि इन सूक्ष्म प्रसंगोंको जानना बहुत कठिन काम है। देखिये, इस स्थानमें सत्यकी अपेक्षा भ्रातृधर्मही श्रेष्ठ माना गया है; और गीताका प्रसंग इसके उलटे है, जहाँ बंधुप्रेमकी अपेक्षा क्षात्रधर्म प्रबल माना है।

जब अहिंसा और सत्यके विषयमें इतना वाद-विवाद है, तब आश्चर्यकी बात नहीं, कि यही हाल नीतिधर्मके तीसरे तत्त्व अर्थात् अस्तेयकाभी हो। यह बात निर्विवाद सिद्ध है, कि न्यायपूर्वक प्राप्त किसीकी संपत्तिको चुरा ले जाने या लूट लेनेकी स्वतंत्रता यदि दूसरोंको मिल जाय, तो द्रव्यका संचय करना बंदहो जाएगा; समाजकी रचना बिगड़ जाएगी, चारों तरफ अनवस्था हो जाएगी और सभीकी हानि होगी। परंतु इस नियमकेभी अपवाद हैं। जब दुर्भिक्षके समय मोल देने, मजदूरी करने या भिक्षा माँगनेसेभी अनाज नहीं मिलता, तब ऐसी आपत्तिमें यदि कोई मनुष्य चोरी करके आत्मरक्षा करे, तो क्या वह पापी समझा जाएगा? महाभारत (शां. १४१) में यह कथा है कि किसी समय बारह वर्षतक दुर्भिक्ष रहा और विश्वामित्रपर ऐसीही बड़ी आपत्ति आयी। तब उन्होंने किसी श्वपच (चांडाल) के घरसे कुत्तेका मांस चुराया और वे इस अभक्ष्य भोजनसे अपनी रक्षा करनेके लिये प्रवृत्त हुए। उस समय श्वपचने विश्वामित्रको पंचनखा भक्ष्याः' (मनु. ५. १८)* इत्यादि शास्त्रार्थ बतलाकर अभक्ष्य-भक्षण और वहभी चोरी न करनेके विषयमें बहुत उपदेश किया। परंतु विश्वामित्रने उसको डाँटकर यह उत्तर दिया –

---

* मनु और याज्ञवल्क्यने कहा है कि कुत्ता, बंदर आदि जिन जानवरोंके पाँच पाँच नख होते हैं उन्हींमेंसे खरगोश, कछुआ, गोह आदि पाँच प्रकारके जानवरोंका मांस भक्ष्य है (मनु. ५. १८; याज्ञ. १. १७७)। इन पाँच जानवरोंके अतिरिक्त मनुजीने 'खड्ग' अर्थात् गेंडेकोभी भक्ष्य माना है। परंतु टीकाकारका कथन है,

पिबन्त्येवोदकं गावो मंडूकेषु रुवत्स्वपि ।
न तेऽधिकारो धर्मेऽस्ति मा भूरात्मप्रशंसकः ।।

"अरे ! यद्यपि मेंढ़क टर्र टर्र किया करते हैं, तोभी गौएँ पानी पीना बंद नहीं करतीं; चुप रह ! मुझे धर्मज्ञान बतानेका तेरा अधिकार नहीं है। व्यर्थ अपनी प्रशंसा मत कर।" उस समय विश्वामित्रने यह भी कहा है, कि "जीवितं मरणात्श्रेयो जीवन्धर्ममवाप्नुयात्" – अर्थात् यदि जिंदा रहेंगे तो धर्मका आचरण कर सकेंगे। इसलिये धर्मकी दृष्टिसेभी मरनेकी अपेक्षा जीवित रहना अधिक श्रेयस्कर है। मनुजीने अजीगर्त, वामदेव आदि अन्यान्य ऋषियोंके उदाहरण दिये हैं, जिन्होंने ऐसे संकट समय इसी प्रकार आचरण किया है (मनु. १०. १०५–१०८)। हाब्स नामक अंग्रेज ग्रंथकार लिखता है, "किसी कठिन अकालके समय जब अनाज मोल न मिले, या दानभी न मिले, तब यदि पेट भरनेके लिये कोई चोरी या साहस कर्म करे, तो उसका यह अपराध माफ समझा जाता है।"* और मिलने तो यहाँ तक लिखा है, कि ऐसे समय चोरी करके अपने प्राण बचाने यही मनुष्यका कर्तव्य है।

"मरनेसे जिंदा रहना श्रेयस्कर है" – क्या विश्वामित्रका यह तत्त्व सर्वथा अपवादरहित कहा जा सकता है ?। इस जगत्में सिर्फ़ जिंदा रहनाही पुरुषार्थ नहीं है। कौएभी काकबलि खाकर कई वर्षोंतक जीते रहते हैं। इसलिये वीरपत्नी विदुला अपने पुत्रसे कहती है, कि बिछौनेपर पड़े पड़े सड़ जाने या घरमें सौ वर्षकी आयुको व्यर्थ व्यतीतकर देनेकी अपेक्षा, यदि तू एक क्षणभी अपने पराक्रमकी ज्योति प्रकट करके मर जाएगा तो अच्छा होगा – "मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न धूमायितं चिरम्" (मभा. उ. १३२. १५)। यदि यह बात सच है, कि आज नहीं तो कल, अंतमें सौ वर्षके बाद तो मरना जरूरी है (मभा. १०. १, ३८; गीता २. २७), तो फिर उसके लिये रोने या डरनेसे क्या लाभ है ? अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिसे तो आत्मा नित्य और

कि इस विषयमें विकल्प है। इस विकल्पको छोड़ देनेपर शेष पाँचही जानवर रहते हैं; और उन्हींका मांस भक्ष्य समझा गया है। "पंच पंचनखा भक्ष्याः"का यही अर्थ है। तथापि मीमांसकोंके मतानुसार इस व्यवस्थाका भावार्थ यही है, कि जिन लोगोंको मांस खानेकी संमति दी गई है, वे उक्त पंचनखी पाँच जानवरोंके सिवा और किसी पंचनखी जानवरका मांस न खाये। इसका भावार्थ यह नहीं है, कि इन जानवरोंका मांस खानाही चाहिये। इस पारिभाषिक अर्थको वे लोग 'परिसंख्या' कहते हैं। "पंच पंचनखा भक्ष्याः" इसी परिसंख्याका मुख्य उदाहरण है। जबकि मांस खानाही निषिद्ध माना गया है तब इन पाँच जानवरोंका मांस खानाभी निषिद्धही समझा जाना चाहिये।

* Hobbes, *Leviathan*. Part II. Chap. XXVII. p. 139 (Morley's Universal Library Edition). Mill's *Utilitarianism*. Chap. V. p. 95. (15th Ed.) Thus, to save a life, it may not only be allowable but a duty to steal etc."

अमर है। इस लिये मृत्युका विचार करते समय प्रारब्ध कर्मानुसार प्राप्त सिर्फ़ इस शरीरकाही विचार बाकी रह जाता है। अच्छा यह तो सब जानते हैं, कि यह शरीर नाशवान् है; परंतु आत्माके कल्याणके लिये, इस जगतमें जो कुछ करना है, उसका एकमात्र साधन यही नाशवान् मनुष्यदेह है। इसीलिये मनुने कहा है, "आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि "—अर्थात् स्त्री और संपत्तिकी अपेक्षा हमको पहले स्वयं अपनीही रक्षा करनी चाहिये (मनु. ७. २१३)। यद्यपि मनुष्य-देह दुर्लभ और नाशवानभी है, तथापि जब उसका नाश करके उससेभी अधिक किसी शाश्वत वस्तुकी प्राप्ति कर लेनी होती है, (जैसे देश, धर्म और सत्यके लिये, अपनी प्रतिज्ञा, व्रत और बिरदकी रक्षाके लिये; एवं इज्ज़त, कीर्ति और सर्वभूतहितके लिये) तब ऐसे समयपर अनेक महात्माओंने इस तीव्र कर्तव्याग्निमें अपने प्राणोंकीभी आनंदसे आहुति दे दी है। रघुवंशमें कहा है कि जब राजा दिलीप अपने गुरु वसिष्ठकी गायकी सिंहसे रक्षा करनेके लिये उसको अपने शरीरका बलिदान देनेको तैयार हो गया, तब वह सिंहसे बोला, कि हमारे समान पुरुषोंकी "इस पंचभौतिक शरीरके विषयमें अनास्था रहती है। अतएव तू मेरे इस जड़ शरीरके बदले मेरे यशःस्वरूपी शरीरकी ओर ध्यान दे।" (रघु. २. ५७)। कथासरित्सागर और नागानंद नाटकमें यह वर्णन है, कि सर्पोंकी रक्षा करनेके लिये जीमूतवाहनने गरुडको स्वयं अपना शरीर अर्पण कर दिया। मृच्छकटिक नाटक (१०. २७) में चारुदत्त कहता है :—

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमः किल ।।

"मैं मृत्युसे नहीं डरता; मुझे यही दुःख है, कि मेरी कीर्ति कलंकित हो गई। यदि कीर्ति शुद्ध रहे, और मृत्यु आ जाय, तो मैं उसको पुत्रके जन्मके उत्सवके समान मानूंगा।" इसी तत्त्वके आधारपर महाभारतके वनपर्व और शांतिपर्व (मभा. वन. १०० तथा १३१; शां. ३४२)में राजा शिबि और दधीचि ऋषिकी कथाओंका वर्णन किया है। जब धर्म-(यम)राज श्येन पक्षीका रूप धारण करके कपोतके पीछे उड़े और जब वह कपोत अपनी रक्षाके लिये राजा शिबिकी शरणमें गया, तब राजाने स्वयं अपने शरीरका मांस काटकर उस श्येन पक्षीको दिया; और शरणागत कपोतकी रक्षा की। वृत्रासुर नामका देवताओंका एक शत्रु था। उसको मारनेके लिये दधीचि ऋषिकी हड्डियोंके वज्रकी आवश्यकता हुई। तब सब देवता मिलकर उक्त ऋषिके पास गये और बोले, "शरीरत्यागं लोकहितार्थं भवान् कर्तुमर्हति" — हे महाराज ! सब लोगोंके कल्याणके लिये आप देहत्याग कीजिये। यह बिनती सुनकर दधीचि ऋषिने बड़े आनंदसे अपना शरीर त्याग दिया और अपनी हड्डियाँ देवताओंको दे दीं। एक समयकी बात है, कि इंद्र ब्राह्मणका रूप धारण करके, दानशूर कर्णके पास कवच और कुंडल माँगने आया। कर्ण इन कवच-कुंडलोंको पहने हुएही

जन्मा था। जब सूर्यने जाना, कि इंद्र कवच-कुंडल माँगने जा रहा है, तब उसने पहलेहीसे कर्णको सूचना दे दी थी, कि तुम अपने कवच-कुंडल किसीको दान मत दो। यह सूचना देते समय सूर्यने कर्णसे कहा, " इसमें संदेह नहीं, कि तू बड़ा दानी है; परंतु यदि तू अपने कवच-कुंडल दानमें देगा, तो तेरे जीवनहीकी हानि हो जाएगी। इसलिये तू इन्हें किसीको न दो। क्योंकि मर जानेपर कीर्तिका क्या उपयोग ? " " मृतस्य कीर्त्या किं कार्यम्। " यह सुनकर कर्णने स्पष्ट उत्तर दिया, कि " जीवितेनापि मे रक्ष्या कीर्तिस्तद्विद्धि मे व्रतम् " – अर्थात् जान भलेही चली जाय तोभी कुछ परवाह नहीं; परंतु अपनी कीर्तिकी रक्षा करनाही मेरा व्रत है (मभा. बन. २९९. ३८) सारांश यह है, कि " यदि मर जाएगा, तो स्वर्गकी प्राप्ति होगी; और जीत जाएगा तो पृथ्वीका राज्य मिलेगा " इत्यादि क्षात्रधर्म (गीता २. ३७) और ' स्वधर्मे निधनं श्रेयः ' (गीता ३. ३५) यह सिद्धान्त उक्त तत्त्वपरही अवलंबित है ! इसी तत्त्वके अनुसार श्रीसमर्थ रामदास स्वामी कहते हैं, ' कीर्तिकी ओर देखनेसे सुख नहीं है; और सुखकी ओर देखने से कीर्ति नहीं मिलती (दासबोध १२. १०. १९; १९. १०. २५); और वे उपदेशभी करते हैं, कि " हे सज्जन मन ! ऐसा काम कर, जिससे मरनेपर कीर्ति बची रहे। " यहाँ प्रश्न हो सकता है, कि यद्यपि परोपकारसे कीर्ति प्राप्त होती है, तथापि मृत्युके बाद कीर्तिका क्या उपयोग है ? अथवा किसी सभ्य मनुष्यको अपकीर्ति की अपेक्षा मर जाना (गीता २. ३४), या जिंदा रहनेसे परोपकार करना अधिक प्रिय क्यों मालूम होता है ? इस प्रश्नका उचित उत्तर देनेके लिये आत्म-अनात्म विचारमें प्रवेश करना होगा। और इसीके साथ कर्म-अकर्मशास्त्रकाभी विचार करके यह जान लेना होगा, कि किस समयपर जान देनेके लिये तैयार होना उचित या अनुचित है। यदि इस बातका विचार नहीं किया जाएगा, तो जान देनेसे यशकी प्राप्ति तो दूरही रही, मूर्खतासे आत्महत्या करनेका पाप माथे चढ़ जाएगा।

माता, पिता, गुरु आदि वंदनीय और पूजनीय पुरुषोंकी पूजा तथा शुश्रूषा करनाभी सर्वमान्य धर्मोंमेंसे एक प्रधान धर्म समझा जाता है। यदि ऐसा न हो तो कुटुंब, गुरुकुल और सारे समाजकी व्यवस्था ठीक ठीक कभी रह न सकेगी। यही कारण है, कि सिर्फ़ स्मृति-ग्रंथोंहीमें नहीं, किंतु उपनिषदोंमेंभी, " सत्यं वद, धर्मं चर " कहा गया है। और जब शिष्यका अध्ययन पूरा हो जाता, और वह अपने घर जाने लगता, तब प्रत्येक गुरुका उसे यही उपदेश होता था, कि " मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। " (तै. १. ११. १ और ६) महाभारतके ब्राह्मण-व्याध आख्यानका तात्पर्यभी यही है (बन. अ. २१३)। परंतु इसमेंभी कभी कभी अकल्पित बाधाएँ खड़ीं हो जातीं हैं। देखिये, मनुजी कहते हैं (२. १४५)

उपाध्यायान् दशाचार्यः आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

" दस उपाध्यायोंसे आचार्य और सौ आचार्योंसे पिता, एवं हज़ार पिताओंसे माताका गौरव अधिक है। " इतना होनेपरभी यह कथा प्रसिद्ध है, (मभा. वन. ११६. १४) कि परशुरामकी माताने कुछ अपराध किया था, इसलिये उसने अपने पिताकी आज्ञासे अपनी माताको मार डाला। शांतिपर्व (मभा. शां. २६५) के चिरकारिकोप-आख्यानमें अनेक साधक-बाधक प्रमाणोंसहित इस बातका एक स्वतंत्र अध्याय में विस्तृत विवेचन किया गया है, कि पिताकी आज्ञासे माताका वध करना श्रेयस्कर है या पिताकी आज्ञाका भंग करना श्रेयस्कर है। इससे स्पष्ट जाना जाता है, कि महा-भारतके समय ऐसे सूक्ष्म प्रसंगोंकी नीतिशास्त्रकी दृष्टिसे चर्चा करनेकी पद्धति जारी थी। यह बात छोटोंसे लेकर बड़ोंतक सब लोगोंको मालूम है, कि पिताकी प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये उनकी आज्ञासे रामचंद्रने चौदह वर्ष बनवास किया। परंतु माताके संबंधमें जो न्याय ऊपर कहा गया है, वही पिताके संबंधमेंभी उपयुक्त होनेका समय कभी कभी आ सकता है। जैसे; मान लीजिये, कोई लड़का अपने पराक्रमसे राजा हो गया; और उसका पिता एक अपराधीके नाते इन्साफ़के लिये उसके सामने लाया गया; इस अवस्थामें वह लड़का क्या करे? – राजाके नाते अपने अपराधी पिताको दंड दे या उसको अपना पिता समझ कर छोड़ दे? मनुजी कहते हैं :–

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः।
नादण्डयो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।।

" पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र या पुरोहित – इनमेंसे कोईभी यदि अपने धर्मके अनुसार न चले, तो वह राजाके लिये दंडय नहीं हो सकता; अर्थात् राजा उसको उचित दंड दे " (मनु. ८. ३३५; मभा. शां. १२१. ६०)। क्योंकि इस जगह पुत्रधर्मकी योग्यतासे राजधर्मकी योग्यता अधिक है। इस न्यायका उदाहरण (मभा. वन. १०७; रामा. १. ३८ में) भारत और रामायण – दोनोंमें है, कि सूर्यवंशके महापराक्रमी सगर राजाने अपने लड़केको देशसे निकाल दिया था; क्योंकि वह 'नासमझ और दुराचारी' था, और प्रजाको दुःख दिया करता था। मनुस्मृतिमेंभी यह कथा है, कि आंगिरस नामक एक ऋषिको छोटी अवस्थाहीमें बहुत ज्ञान हो गया था। इसलिये उसके काका-मामा आदि बड़े बूढे रिश्तेदार उसके पास अध्ययन करने लगे। एक दिन पाठ पढाते पढाते आंगिरसने कहा, " पुत्रका इति होवा च ज्ञानेन परिगृह्य तान्। " बस, यह सुनकर सब वृद्धजन क्रोधसे लाल-पीले हो गये; और कहने लगे, कि यह लडका मस्त हो गया है। उसको उचित दंड दिलानेके लिये उन लोगोंने देवताओंसे शिकायत की। देवताओंने दोनों पक्षोंका कहना सुन लिया और यह निर्णय किया, कि " आंगिरसने जो कुछ तुम्हें कहा वही न्याय्य है। " इसका कारण यह है :–

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ।।

"सिरके बाल सफ़ेद हो जानेसेही कोई मनुष्य वृद्ध नहीं कहा जा सकता; देवगण उसी को वृद्ध कहते हैं, जो तरुण होनेपरभी ज्ञानवान् हो" (मनु. २. १५६ और मभा. बन. १३३. ११; शल्य. ५१. ४७.)। यह तत्त्व मनुजी और व्यासजीहीको नहीं, किंतु बुद्धकोभी मान्य था। क्योंकि, मनुस्मृतिके उक्त श्लोकका पहला चरण 'धम्मपद'* नामके पाली भाषाके प्रसिद्ध नीतिविषयक बौद्ध ग्रंथमें अक्षरशः आया है (धम्मपद २६०)। और उसके आगे यहभी कहा है, कि जो सिर्फ़ अवस्थाहीसे वृद्ध हो गया है, उसका जीना व्यर्थ है; यथार्थमें धर्मिष्ठ और वृद्ध होनेके लिये सत्य, अहिंसा आदि सद्‌गुणोंकी आवश्यकता है। 'चुल्लवग्ग' नामक दूसरे ग्रंथ (चुल्लवग्ग ६. १३. १) में स्वयं बुद्धकी यह आज्ञा है, कि यद्यपि धर्मका निरुपण करनेवाला भिक्षु नया हो, तथापि वह ऊँचे आसनपर बैठे और उन वयोवृद्ध भिक्षुओंकोभी उपदेश करे, जिन्होंने उसके पहले दीक्षा पाई हो। यह कथा सब लोग जानते हैं, कि प्रल्हादने अपने पिता हिरण्यकशिपुकी अवज्ञा करके भगवत्प्राप्ति कैसे कर ली थी। इससे यह जान पड़ता है कि छोटेबड़ेकाही नहीं तो जब कभी पिता-पुत्रके सर्वमान्य नातेसेभी कोई दूसरा अधिक बड़ा संबंध उपस्थित होता है, तब उतने समयके लिये निरुपाय होकर पिता-पुत्रका नाता भूल जाना पड़ता है। परंतु ऐसे अवसरके न होते हुएभी, यदि कोई मुँहज़ोर लड़का उक्त नीतिका अवलंब करके अपने पिताको गालियाँ देने लगे, तो वह केवल पशुके समान समझा जाएगा। पितामह भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा है, 'गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः' (मभा. शां. १०८. १७) – अर्थात् गुरु, माता-पितासेभी श्रेष्ठ है; परंतु महाभारतमें यहभी लिखा है, कि एक समय मरुत्त राजाके गुरुने लोभवश होकर स्वार्थके लिये उसका त्याग किया, तब मरुत्तने कहा :–

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम् ।

"यदि कोई गुरु इस बातका विचार न करे, कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये; और यदि वह अपनेही घमंडमें रहकर टेढ़े रास्तेसे चले, तो उसको

* 'धम्मपद' ग्रंथका अंग्रेजी अनुवाद 'प्राच्यधर्म-पुस्तकमाला' (*Sacred Books of the East*, Vol. *X*) में किया गया है; और चुल्लवग्गका अनुवादभी उसी मालाके Vol. *XVII* और *XX* में प्रकाशित हुआ है। धम्मपदका पाली श्लोक यह है :–

न तेन थेरो होति येनस्स पलितं सिरो ।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णो ति वुच्चति ।।

'थेर' शब्द वृद्ध भिक्षुओंके लिये प्रयुक्त हुआ है। यह संस्कृत 'स्थविर'का अपभ्रंश है।

शासन करना उचित है।" उक्त श्लोक महाभारतमें चार स्थानोंमें पाया जाता है (मभा. आ. १४२. ५२, ५३; उ. १७९, २४; शां. ५७. ७; १४०. ४८)। इनमेंसे पहले स्थानमें वही पाठ है, जो ऊपर दिया गया है। अन्य स्थानोंमें चौथे चरणके स्थानमें "दण्डो भवति शाश्वतः" "अथवा परित्यागो विधीयते" यह पाठांतरभी है। परंतु वाल्मीकिरामायण (रामा. २. २१. १३) में जहाँ यह श्लोक है, वहाँ ऐसाही पाठ है, जैसा ऊपर दिया गया है। इसलिये हमने इस ग्रंथमें उसीको स्वीकार किया है। इस श्लोकमें जिस तत्त्वका वर्णन किया गया है, उसीके आधारपर भीष्म पितामहने परशुरामसे और अर्जुनने द्रोचाणार्यसे युद्ध किया; और जब प्रल्हादने देखा, कि अपने गुरु, जिन्हें हिरण्यकशिपुने नियत किया है, भगवत्प्राप्तिके विरुद्ध उपदेशकर रहे हैं, तब उसने इसी तत्त्वके अनुसार उनका निषेध किया है। शांतिपर्वमें भीष्म पितामह श्रीकृष्णसे कहते हैं, कि यद्यपि गुरु पूजनीय हैं, तथापि उसकोभी नीतिकी मर्यादाका पालन करना चाहिये; नहीं तो—

समयत्यागिनो लुब्धान् गुरूनपि च केशव।
निहन्ति समरे पापान् क्षत्रियः स हि धर्मवित्॥

"हे केशव! जो गुरु मर्यादा, नीति अथवा शिष्टाचारका भंग करते हैं और जो लोभी या पापी हैं, उन्हें लड़ाईमें मारनेवाला क्षत्रियही धर्मज्ञ कहलाता है" (मभा. शां. ५५. १६)। इसी तरह तैत्तिरीयोपनिषद्में भी प्रथम 'आचार्य देवो भव' कहकर उसीके आगे कहा है, कि हमारे जो कर्म अच्छे हों उन्हींका अनुकरण करो; औरोंका नहीं—'यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि' (तै. १. ११. २)। इससे उपनिषदोंका वह सिद्धान्त प्रकट होता है, कि यद्यपि पिता और आचार्यको देवताके समान मानना चाहिये; तथापि यदि वे शराब पीते हों, तो पुत्र और छात्रको अपने पिता या आचार्यका अनुकरण नहीं करना चाहिये क्योंकि नीतिकी मर्यादा और धर्मका अधिकार माँ-बाप या गुरुसे अधिक बलवान् होता है। मनुजीकी निम्न आज्ञाकाभी यही रहस्य है—"धर्मका पालन करो; यदि कोई धर्मका नाश करेगा; अर्थात् धर्मकी आज्ञाके अनुसार आचरण नहीं करेगा; तो धर्म उस मनुष्यका नाश किये बिना नहीं रहेगा।" (मनु. ८. १४–१६) राजा तो गुरुसेभी अधिक श्रेष्ठ एक देवता है (मनु. ७. ८ और मभा. शां. ६८. ४०); परंतु वहभी इस धर्मसे मुक्त नहीं हो सकता। यदि वह इस धर्मका त्याग कर देगा, तो उसका नाश हो जाएगा—यह बात मनुस्मृतिमें कही गई है; और महाभारतमें वही भाव, वेन तथा खनीनेत्र राजाओंकी कथामें, व्यक्त किया गया है (मनु. ७. ४१ और ८. १२८; मभा. शां. ५९. ९२. १०० तथा अश्व. ४)।

अहिंसा, सत्य और अस्तेयके साथ इंद्रिय-निग्रहकीभी गणना सामान्य धर्ममें की जाती है (मनु. १०. ६३)। काम, क्रोध, लोभ आदि मनुष्यके शत्रु हैं। इसलिये जबतक मनुष्य इनको जीत नहीं लेगा, तबतक उसका या समाजका कल्याण

नहीं होगा। यह उपदेश सब शास्त्रोंमें किया गया है। विदुरनीति और भगवद्-गीतामेंभी कहा है :–

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

"काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरकके द्वार हैं। इनसे हमारा नाश होता है। इस लिये इनका त्याग करना चाहिये" (गीता १६. २१. मभा. उ. ३२. ७०)। परंतु गीताहीमें भगवान् श्रीकृष्णने अपने स्वरूपका यह वर्णन किया है, "धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ" – हे अर्जुन ! प्राणिमात्रमें धर्मके अनुकूल जो 'काम' है, वहीमैं हूँ (गीता ७. ११)। इससे यह बात सिद्ध होती है, कि जो 'काम'-धर्मके विरुद्ध है वही नरकका द्वार है। इसके अतिरिक्त जो दूसरे प्रकारका 'काम' है, अर्थात् जो धर्मके अनुकूल है, वह ईश्वरको मान्य है। मनुनेभी यही कहा है – "परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ" – जो अर्थ और काम धर्मके विरुद्ध हो उनका त्याग कर देना चाहिये (मनु. ४. १७६)। यदि सब प्राणी कलसे 'काम' का त्याग कर दें और मृत्युपर्यंत ब्रह्मचर्यव्रतसे रहनेका निश्चय कर लें, तो सौ-पचास वर्षहीमें सारी सजीव सृष्टिका लय हो जाएगा; और जिस सृष्टिकी रक्षाके लिये भगवान् बार बार अवतार धारण करते हैं, उसका अल्पकालहीमें उच्छेद हो जाएगा। यह बात सच है कि, काम और क्रोध मनुष्यके शत्रु हैं; परंतु कब ? जब वे अपने वशमें न रहें तब। यह बात मनु आदि शास्त्रकारोंको संमत है, कि सृष्टिका क्रम जारी रखनेके लिये – उचित मर्यादाके भीतर – काम और क्रोधकी अत्यंत आवश्यकता है (मनु. ५. ५६)। इन प्रबल मनोवृत्तियों का उचित रीतिसे निग्रह करना ही सब सुधारोंका प्रधान उद्देश्य है, उनका नाश करना कोई सुधार नहीं कहा जा सकता; क्योंकि भागवत (भाग. ११. ५. ११) में कहा है :–

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्ति जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥

"इस दुनियामें किसीसे यह कहना नहीं पड़ता, कि तुम मैथुन, मांस और मदिराका सेवन करो। ये तीनों मनुष्यको स्वभावहीसे पसंद हैं। इन तीनोंकी कुछ व्यवस्था कर देनेके लिये – अर्थात् इनके उपयोगको कुछ मर्यादित करके व्यवस्थित कर देनेके लिये – (शास्त्रकारोंने) अनुक्रमसे विवाह, सोमयाग और सौत्रामणी यज्ञकी योजना की है; परंतु तिस परभी निवृत्ति अर्थात् निष्काम आचारण इष्ट है।" यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है, कि जब 'निवृत्ति' शब्दका संबंध पंचम्यंत पदके साथ होता है, तब उसका अर्थ "अमुक वस्तुसे निवृत्ति अर्थात् अमुक कर्मका सर्वथा त्याग" हुआ करता है; तोभी कर्मयोगमें 'निवृत्ति' विशेषण कर्महीके लिये प्रयुक्त हुआ है। इसलिये 'निवृत्तिकर्म'का अर्थ "निष्काम बुद्धिसे किया जानेवाला कर्म" होता है। यही अर्थ मनुस्मृति और भागवतपुराणमें स्पष्ट रीतिसे पाया जाता

है (मनु. १२. ८९; भाग. ११. १०. १ और ७. १५. ४७) क्रोधके विषयमें किरात-काव्यमें (१. ३३) भारविका कथन है :–

अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ।

" जिस मनुष्यको अपमानित होनेपरभी क्रोध नहीं आता, उसकी मित्रता और द्वेष दोनों बराबर हैं । " क्षात्रकर्मके अनुसार देखा जाय तो विदुलाने यही कहा है :–

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी ।
क्षमावान्निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान् ।।

" जिस मनुष्यको (अन्यायपर) क्रोध आता है, जो (अपमान को) सह नहीं सकता, वही पुरुष कहलाता है । जिस मनुष्यमें क्रोध या चिढ़ नहीं है, वह नपुंसकहीके समान है " (मभा. उ. १३२. ३३) । इस बातका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, कि इस जगतके व्यवहारके लिये न तो सदा तेज या क्रोधही उपयोगी है, और न क्षमा । यही बात लोभके विषयमें कही जा सकती है; क्योंकि संन्यासीकोभी मोक्षकी इच्छा होती है ।

व्यासजीने महाभारतमें अनेक स्थानोंपर भिन्न भिन्न कथाओंके द्वारा यह प्रतिपादन किया है, कि शूरता, धैर्य, दया, शील, मित्रता, समता आदि सब सद्गुण अपने अपने विरुद्ध गुणोंके अतिरिक्त देश-काल आदिसे मर्यादित हैं । यह नहीं समझना चाहिये, कि कोई एकही सद्गुण सभी समय शोभा देता है । भर्तृहरिका कथन है :–

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।

" संकटके समय धैर्य, अभ्युदयके समय (अर्थात् जब शासन करनेकी सामर्थ्य हो तब) क्षमा, सभामें वक्तृता और युद्धमें शूरता शोभा देती है " (नीति. ६३) । शांतिके समय 'उत्तर'के समान बकबक करनेवाले पुरुष कुछ कम नहीं हैं । घर बैठे बैठे अपनी स्त्रीकी नथनीमेंसे तीर चलानेवाले कर्मवीर बहुतेरे होंगे; पर उनमेंसे रणभूमिपर धनुर्धर कहलानेवाला एक-आधही दीख पड़ता है । धैर्य आदि सद्गुण ऊपर लिखे समयपरही शोभा देते हैं, इतनाही नहीं, किंतु ऐसे प्रसंगके बिना उनकी सच्ची परीक्षाभी नहीं होती । सुखके साथी तो बहुतेरे हुआ करते हैं; परंतु " निकष-ग्रावा तु तेषां विपत् " – विपत्तिही उनकी परीक्षाकी सच्ची कसौटी है । 'प्रसंग' शब्दहीमें देश-कालके अतिरिक्त पात्रापात्र आदि बातोंकाभी समावेश हो जाता है । समतासे बढ़कर कोईभी गुण श्रेष्ठ नहीं है । भगवद्गीतामें स्पष्ट रीतिसे लिखा है, " समः सर्वेषु भूतेषु " यही सिद्ध पुरुषोंका लक्षण है । परंतु समता कहते किसे हैं ? यदि कोई मनुष्य योग्यता-अयोग्यताका विचार न करके सब लोगोंको समान रूपसे दान करने लगे, तो क्या हम उसे अच्छा कहेंगे ? इस प्रश्नका निर्णय भगवद्-गीताहीमें इस प्रकार किया है – " देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः " –

देश, काल और पात्रता का विचार करके जो दान किया जाता है, वही सात्त्विक कहलाता है (गीता १७. २०)। कालकी मर्यादा सिर्फ़ वर्तमान कालहीके लिये नहीं होती। ज्यों ज्यों समय बदलता जाता है, त्यों त्यों व्यावहारिक धर्ममेंभी परिवर्तन होता जाता है। इसलिये जब प्राचीन समयकी किसी बातकी योग्यता या अयोग्यताका निर्णय करना हो, तब उस समयके धर्म-अधर्मसंबंधी विश्वासकाभी अवश्य विचार करना पड़ता है (मनु. १. ८५)। और व्यास (मभा. शां. २५९. ८) कहते हैं :–

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥

"युगमानके अनुसार कृत, त्रेता, द्वापर और कलिके धर्मभी भिन्न भिन्न होते हैं।" महाभारत (मभा. आ. १२२; और ७६) में यह कथा है, कि प्राचीन कालमें स्त्रियोंके लिये विवाहकी मर्यादा नहीं थी; वे इस विषयमें स्वतंत्र और अनावृत थीं; परंतु जब इस आचारणका वुरा परिणाम दीख पड़ा तब श्वेतकेतुने विवाहकी मर्यादा स्थापित कर दी; और मदिरापानका निषेधभी पहले पहल शुक्राचार्यहीने किया। तात्पर्य यह है, कि जिस समय ये नियम जारी नहीं थे, उस समयके धर्म-अधर्मका और उसके वादके धर्म-अधर्मका विवेचनभी भिन्न भिन्न रीतिसे किया जाना चाहिये। इसी तरह यदि वर्तमान समयका प्रचलित धर्म आगे चलकर वदल जाय तो उसके साथ भविष्य कालके धर्म अधर्मका विवेचनभी भिन्न रीतिसे किया जाएगा। कालमानके अनुसार देशाचार, कुलाचार और जातिधर्मकाभी विचार करना पड़ता है। क्योंकि आचारही सब धर्मोंकी जड़ है। तथापि आचारोंमेंभी वहुत भिन्नता हुआ करती है। पितामह भीष्म कहते हैं –

न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः संप्रवर्तते।
तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः॥

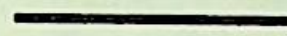
"ऐसा आचार नहीं मिलता, जो हमेशा सब लोगोंको समान हितकारक हो। यदि किसी एक आचारका स्वीकार किया जाय, तो दूसरा उससे वढ़कर मिलता है; यदि इस दूसरे आचारका स्वीकार किया जाय, तो वह किसी तीसरे आचारका विरोध करता है" (मभा. शां. २५९. १७. १८)। जब आचारोंमें ऐसी भिन्नता हो, तब भीष्म पितामहके कथनके अनुसार तारतम्य अथवा सार-असार-दृष्टिसे विचार करना चाहिये।

कर्म-अकर्म या धर्म-अधर्मके विषयमें सब संदेहोंका यदि निर्णय करने लगें तो दूसरा महाभारतही लिखना पड़ेगा। उक्त विवेचनसे पाठकोंके ध्यानमें यह वात आ जाएगी, कि गीताके आरंभमें क्षात्र धर्म और वंधुप्रेमके वीच झगड़ा उत्पन्न हो जानेसे अर्जुनपर जो गुजरी वह कुछ लोक-विलक्षण नहीं है; इस संसारमें ऐसी कठिनाइयाँ कार्यकर्ताओं और वड़े आदमियोंपर अनेक वार आयाही करती हैं;

और जब ऐसी कठिनाइयाँ आती हैं, तब कभी अहिंसा और आत्मरक्षाके बीच; कभी सत्य और सर्वभूतहितमें, कभी शरीररक्षा और कीर्तिमें, और कभी भिन्न भिन्न नातोंसे उपस्थित होनेवाले कर्तव्योंमें झगड़ा होने लगता है। तब शास्त्रोक्त, सामान्य तथा सर्वमान्य नीति-नियमोंसे काम नहीं चलता; और उनके लिये अनेक अपवाद उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे बिकट समयपर साधारण मनुष्योंसे लेकर बड़े पंडितोंकोभी यह जाननेकी स्वाभाविक इच्छा होती है, कि कार्य-अकार्यकी व्यवस्था – अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्य धर्मका निर्णय – करनेके लिये कोई चिरस्थायी नीति अथवा युक्ति है या नहीं। यह बात सच है, कि शास्त्रोंमें दुर्भिक्ष जैसे संकटके समय 'आपद्धर्म' कहकर कुछ सुविधाएँ दी गई हैं। उदाहरणार्थ, स्मृतिकारोंने कहा है, कि यदि आपत्कालमें ब्राह्मण कहींभी अन्न ग्रहणकर ले, तो वह दोषी नहीं होता; और उषस्ति चाक्रायणके इसी तरह बर्ताव करनेकी कथाभी छांदोग्योपनिषद (याज्ञ. ३. ४१; छां. १. १०) में है; परंतु उसमें और उक्त कठिनाइयोंमें बहुत भेद हैं। दुर्भिक्ष जैसे आपत्कालमें शास्त्रधर्म और भूख, प्यास आदि इंद्रियवृत्तियोंके बीचमेंही झगड़ा हुआ करता है। उस समय हमको इंद्रियाँ एक ओर खींचा करती हैं और शास्त्रधर्म दूसरी ओर खींचा करता है। परंतु जिन कठिनाइयोंका वर्णन ऊपर किया गया है, उनमेंसे बहुतेरी ऐसी हैं, कि उस समय इंद्रियवृत्तियोंका और शास्त्रका कुछभी विरोध नहीं होता; किंतु ऐसे दो धर्मोंमें परस्पर-विरोध उत्पन्न हो जाता है, जो शास्त्रोंहीसे विहित हैं। और फिर उस समय सूक्ष्म विचार करना पड़ता है, कि किस बातका स्वीकार किया जाए। यद्यपि कोई मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार इनमेंसे कुछ बातोंका निर्णय प्राचीन सत्पुरुषोंके ऐसेही समयपर किये हुए बर्तावसे कर सकता है, तथापि अनेक प्रसंग ऐसे होते हैं, कि उनमें बड़े बड़े बुद्धिमानोंकाभी मन चक्करमें पड़ जाता है। कारण यह है, कि जितना अधिक विचार किया जाता है, उतनीही अधिक उपपत्तियाँ और तर्क उत्पन्न होते हैं; और अंतिम निर्णय असंभव-सा हो जाता है। जब उचित निर्णय होने नहीं पाता तब अधर्म या अपराध हो जानेकीभी संभावना होती है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर मालूम होता है, कि धर्म-अधर्मका या कर्म-अकर्मका विवेचन एक स्वतंत्र शास्त्रही है, जो न्याय तथा व्याकरणसेभी अधिक गहन है। प्राचीन संस्कृत ग्रंथोंमें 'नीतिशास्त्र' शब्दका उपयोग प्रायः राज-नीतिशास्त्र विषयके लियेही किया गया है; और कर्तव्य-अकर्तव्यके विवेचनको 'धर्मशास्त्र' कहते हैं। परंतु आज-कल 'नीति' शब्दहीमें कर्तव्य अथवा सदा-चरणकाभी समावेश किया जाता है; इसलिये हमने वर्तमान पद्धतिके अनुसार, इस ग्रंथमें धर्म-अधर्म या कर्म-अकर्मके विवेचनहीको 'नीतिशास्त्र' कहा है। नीति, कर्म-अकर्म या धर्म-अधर्मके विवेचनका यह शास्त्र बड़ा गहन है; यह भाव प्रकट करनेहीके लिये "सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य" – अर्थात् धर्म या व्यावहारिक नीतिधर्मका स्वरूप सूक्ष्म है – यह वचन महाभारतमें कई जगह उपयुक्त हुआ है। पाँच

पांडवोंने मिलकर अकेली द्रौपदीके साथ विवाह कैसे किया? द्रौपदीके वस्त्रहरणके समय भीष्म-द्रोण आदि सत्पुरुष शून्य-हृदय होकर चुपचाप क्यों बैठे रहे? दुष्ट दुर्योधनकी ओरसे युद्ध करते समय भीष्म और द्रोणाचार्यने अपने पक्षका समर्थन करनेके लिये जो यह सिद्धान्त बतलाया, कि "अर्थस्य पुरुषो दासः दासस्त्वर्थो न कस्यचित्" – पुरुष अर्थ (संपत्ति) का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं हो सकता – (मभा. भी. ४३. ३५) यह तब सच है या झूठ? यदि सेवाधर्म कुत्तेकी वृत्तिके समान निंदनीय माना है – जैसे "सेवा श्ववृत्तिराख्याता" (मनु. ४. ६), तो अर्थके दास हो जानेके बदले भीष्म आदिओंने दुर्योधनकी सेवाहीका त्याग क्यों नहीं कर दिया? इन अनेकों प्रश्नका निर्णय करना बहुत कठिन है; क्योंकि प्रसंगोंके अनुसार भिन्न भिन्न मनुष्योंके भिन्न भिन्न अनुमान या निर्णय हुआ करते हैं। यही नहीं समझना चाहिये, कि धर्मके तत्त्व सिर्फ़ सूक्ष्मही हैं – "सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य" – (मभा. अनु. १०. ७०); किंतु महाभारत (बन. २०८. २) में यहभी कहा है, कि "बहुशाखा ह्यनंतिका" – अर्थात् उसकी शाखाएँभी अनेक हैं, और उससे निकलनेवाले अनुमानभी भिन्न भिन्न हैं। तुलाधार और जाजलिके संवादमें धर्मका विवेचन करते समय तुलाधारभी यही कहता है, कि "सूक्ष्मत्वान्न स विज्ञातुं शक्यते बहुनिह्नवः" अर्थात् धर्म बहुत सूक्ष्म और पेचीदा होता है। इसलिये वह समझमें नहीं आता (मभा. शां. २६१. ३७)। महाभारतकार व्यासजी इन सूक्ष्म प्रसंगोंको अच्छी तरह जानते थे; इसलिये उन्होंने यह समझा देनेके उद्देश्यहीसे अपने ग्रंथमें अनेक भिन्न भिन्न कथाओंका संग्रह किया है, कि प्राचीन समयके सत्पुरुषोंने ऐसे कठिन प्रसंगोंपर कैसा वर्ताव किया था। परंतु शास्त्र-पद्धतिसे सब विषयोंका विवेचन करके उसका सामान्य रहस्य महाभारत सरीखे धर्मग्रंथमें कहीं बतला देना आवश्यक था। इस रहस्य या मर्मका प्रतिपादन – अर्जुनकी कर्तव्य-मूढ़ताको दूर करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने पहले जो उपदेश दिया था, उसीके आधारपर – व्यासजीने भगवद्गीतामें किया है। इससे 'गीता' महाभारतका रहस्योपनिषद् और शिरोभूषण हो गयी है। और महाभारत गीतामें प्रतिपादित मूलभूत कर्मत-त्त्वोंका उदाहरणसहित विस्तृत व्याख्यान हो गया है। इस बातकी ओर उन लोगोंको अवश्य ध्यान देना चाहिये; जो यह कहा करते हैं, कि महाभारत ग्रंथमें 'गीता' बादमें घुसेड़ दी गई है। हम तो यही समझते हैं, कि यदि गीताकी कोई अपूर्वता या विशेषता है, तो वह यही है, कि जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। कारण यह है, कि यद्यपि केवल मोक्षशास्त्र अर्थात् वेदान्तका प्रतिपादन करनेवाले उपनिषद् आदि, तथा अहिंसा आदि सदाचारके सिर्फ़ नियम बनानेवाले स्मृति आदि अनेक ग्रंथ हैं; तथापि वेदान्तके गहन तत्त्वज्ञानके आधारपर 'कार्याकार्यव्यवस्थिति' करनेवाला, गीताके समान कोई दूसरा प्राचीन ग्रंथ संस्कृत साहित्यमें दीख नहीं पड़ता। गीताभक्तोंको यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं, कि 'कार्याकार्यव्यवस्थिति' शब्द गीताही (गीता १६. २४) में

प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द हमारा मनगढ़ंत नहीं है। भगवद्गीताहीके समान योग-वासिष्ठमेंभी वसिष्ठ मुनिने श्रीरामचंद्रजीको ज्ञान-मूलक प्रवृत्तिमार्गहीका उपदेश किया है। परंतु यह ग्रंथ गीताके बादका है; और उसमें गीताहीका अनुकरण किया है। अतएव ऐसे ग्रंथोंसे गीताकी उस अपूर्वता या विशेषतामें—जो ऊपर कही गई है—कोई बाधा नहीं आती।



तीसरा प्रकरण

कर्मयोगशास्त्र

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।*

— गीता २. ५०

यदि किसी मनुष्यको किसी शास्त्रके जाननेकी इच्छा पहलेहीसे न हो, तो वह उस शास्त्रके ज्ञानको पानेका अधिकारी नहीं हो सकता। ऐसे अधिकार-रहित मनुष्यको उस शास्त्रकी शिक्षा देना मानों चलनीमें दूध दुहनाही है। शिष्यको तो इस शिक्षासे कुछ लाभ होता नहीं; परंतु गुरुकोभी निरर्थक श्रम करके समय नष्ट करना पड़ता है। जैमिनी और बादरायणके सूत्रोंके आरंभमें इसी कारणसे "अथातो धर्मजिज्ञासा" और "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" कहा हुआ है। जैसे ब्रह्मोपदेश मुमुक्षुओंको और धर्मोपदेश धर्मेच्छुओंको देना चाहिये; वैसेही कर्मशास्त्रोपदेश उसी मनुष्यको देना चाहिये, जिसे यह जाननेकी इच्छा या जिज्ञासा हो, कि संसारमें कर्म कैसे करना चाहिये। इसीलिये हमने पहले प्रकरणमें, 'अथातो' कहकर, दूसरे प्रकरणमें 'कर्मजिज्ञासा'का स्वरूप और कर्मयोगशास्त्रका महत्त्व बतलाया है। जबतक पहलेहीसे इस बातका अनुभव न कर लिया जाय, कि अमुक काममें अमुक रुकावट है, तबतक उस रुकावटसे छुटकारा पानेकी शिक्षा देनेवाले शास्त्रका महत्त्व ध्यानमें नहीं आता; और महत्त्वको न जाननेसे केवल रटा हुआ शास्त्र समयपर ध्यानमें रहताभी नहीं है। यही कारण है, कि जो सद्‌गुरु हैं, वे पहले यह देखते हैं, कि शिष्यके मनमें जिज्ञासा है या नहीं; और यदि जिज्ञासा न हो, तो वे पहले उसीको जागृत करनेका प्रयत्न किया करते हैं। गीतामें कर्मयोगशास्त्रका विवेचन इसी पद्धतिसे किया गया है। जब अर्जुनके मनमें यह शंका आई, कि जिस लड़ाईमें मेरे हाथसे पितृवध और गुरुवध होगा, तथा जिसमें सभी राजाओं और अपने सब बंधुओंका नाश हो जाएगा, उसमें शामिल होना उचित है या अनुचित; और जब वह युद्धसे पराङ्मुख होकर संन्यास लेनेको तैयार हुआ; और जब भगवानके इस सामान्य युक्तिवादसेभी उसके मनका समाधान नहीं हुआ, कि "समयपर किये जानेवाले

---

* "इसलिये तू योगका आश्रय ले। कर्म करनेकी जो रीति, चतुराई या कुशलता है उसे योग कहते हैं" यह 'योग' शब्दकी व्याख्या अर्थात लक्षण है। इसके संबंधमे अधिक विचार इसी प्रकरणमें आगे चलकर किया है।

कर्मका त्याग करना मूर्खता और दुर्बलताका सूचक है; इससे तुझे स्वर्ग तो मिलेगाही नहीं, उलटे दुष्कीर्ति अवश्य होगी।" तब श्रीभगवानने पहले "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भावसे" अर्थात् जिस बातका शोक नहीं करना चाहिये, उसीका तो तू शोक कर रहा है; और साथ साथ ब्रह्मज्ञानकीभी बड़ी बड़ी बातें छाँट रहा है – कहकर अर्जुनका कुछ थोड़ा-सा उपहास किया; और फिर उसको कर्मके ज्ञानका उपदेश दिया। अर्जुनकी शंका निराधार नहीं थी। गत प्रकरणमें हमने यह दिखलाया है, कि अच्छे अच्छे पंडितोंकीभी कभी कभी "क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये?" यह प्रश्न चक्करमें डाल देता है। परंतु कर्म-अकर्मकी चिंतामें अनेक अड़चनें आती हैं; इसलिये कर्म छोड़ देना उचित नहीं है। विचारवान् पुरुषोंको ऐसी युक्ति अर्थात् 'योग'का स्वीकार करना चाहिये, जिससे सांसारिक कर्मोंका लोप तो होने न पावे, और कर्माचरण करनेवाला किसी पाप या बंधनमेंभी न फँसे; – यह कहकर श्रीकृष्णने अर्जुनको पहले यही उपदेश दिया है, "तस्माद्योगाय युज्यस्व" – अर्थात् तूभी इसी युक्तिका स्वीकार कर। यही 'योग' कर्मयोगशास्त्र है। और जब कि यह बात प्रगट है, कि अर्जुनपर आया हुआ संकट कुछ लोक-विलक्षण या अनोखा नहीं था – ऐसे अनेक छोटे-बड़े संकट संसारमें सभी लोगोंपर आया करते हैं – तब तो यह बात आवश्यक है, कि इस कर्मयोगशास्त्रका जो विवेचन भगवद्गीतामें किया है, उसे हर-एक मनुष्य सीखे। किसीभी शास्त्रके प्रतिपादनमें कुछ मुख्य और गूढ अर्थको प्रकट करनेवाले शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। अतएव उनके सरल अर्थको पहले जान लेना चाहिये; और यहभी देख लेना चाहिये, कि उस शास्त्रके प्रतिपादनकी मूल शैली कैसी है। नहीं तो फिर उसके समझनेमें कई प्रकारकी आपत्तियाँ और बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। इसलिये कर्मयोगशास्त्रके कुछ मुख्य मुख्य शब्दोंके अर्थकी परीक्षा यहाँपर की जाती है।

सबसे पहला शब्द 'कर्म' है। 'कर्म' शब्द 'कृ' धातुसे बना है। उसका अर्थ 'करना, व्यापार, हलचल' होता है; और इसी सामान्य अर्थमें गीतामें उसका उपयोग हुआ है – अर्थात् यही अर्थ गीतामें विवक्षित है। ऐसा कहनेका कारण यही है, कि मीमांसाशास्त्रमें और अन्य स्थानोंपरभी इस शब्दके जो संकुचित अर्थ दिये गये हैं, उनके कारण पाठकोंके मनमें कुछ भ्रम उत्पन्न न होने पावे। किसीभी धर्मको लीजिये; उसमें ईश्वर प्राप्तिके लिये कुछ-न-कुछ कर्म करनेके लिये कहा है। प्राचीन वैदिक धर्मके अनुसार देखा जाय, तो यज्ञयागही वह कर्म है; जिससे ईश्वरकी प्राप्ति होती है। वैदिक ग्रंथोंमें यज्ञ-यागकी विधि बताई गयी है; परंतु इसके विषयमें कहीं कहीं परस्पर-विरोधी वचनभी पाये जाते हैं। अतएव उनकी एकता और मेल दिखलानेकेही लिये जैमिनीके पूर्वमीमांसाशास्त्रका प्रचार हुआ है। जैमिनीके मतानुसार वैदिक या श्रौत यज्ञ-याग करनाही प्रधान और प्राचीन धर्म

है। मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब यज्ञके लिये करता है। यदि उसे धन कमाना है, तो यज्ञके लिये और धान्य-संग्रह करना है, तो यज्ञहीके लिये (मभा. शां. २६. २५)। जबकि यज्ञ करनेकी आज्ञा वेदोंहीने दी है, तब यज्ञके लिये मनुष्य कुछभी कर्म करे; वह उसको बंधक नहीं होगा। वह कर्म यज्ञका एक साधन है – वह स्वतंत्र रीतिसे साध्य वस्तु नहीं है। इसलिगे यज्ञसे जो फल मिलनेवाला हे, उसीमें उस कर्मके फलकाभी समावेश हो जाता है – उस कर्मका कोई अलग फल नहीं होता। परंतु यज्ञके लिये किये गये ये कर्म यद्यपि स्वतंत्र फल देनेवाले नहीं हैं, तथापि स्वयं यज्ञसे स्वर्गप्राप्ति (अर्थात् मीमांसकोंके मतानुसार एक प्रकारकी सुखप्राप्ति) होती है; और इस स्वर्गप्राप्तिके लियेही यज्ञकर्ता मनुष्य बड़े चावसे यज्ञ करता है। इसीसे स्वयं यज्ञकर्म 'पुरुषार्थ' कहलाता है; क्योंकि जिस वस्तुसे किसी मनुष्यकी प्रीति होती है और जिसे पानेकी उसके मनमें इच्छा होती है; उसे 'पुरुषार्थ' कहते हैं (जै. सू. ४. १. १. और २)। यज्ञका पर्यायवाची 'ऋतु' शब्द है। इसलिये 'यज्ञार्थ'के बदले 'ऋत्वर्थ'भी कहा करते हैं। इस प्रकार सब कर्मोंके दो वर्ग हो गये : एक 'यज्ञार्थ' (ऋत्वर्थ) कर्म, अर्थात् जो स्वतंत्र रीतिसे फल नहीं देते, अतएव अबंधक हैं; और दूसरे 'पुरुषार्थ' कर्म, अर्थात् जो पुरुषको लाभकारी होनेके कारण बंधक है। संहिता और ब्राह्मण ग्रंथोंमें सारा वर्णन यज्ञ-यागादिकोंकाही है। ऋग्वेद संहितामें इंद्र आदि देवताओंकी स्तुति-संबंधी सूक्त हैं, तथापि मीमांसकगण कहते हैं, कि सब श्रुतिग्रंथ यज्ञ आदि कर्मोंहीके प्रतिपादक हैं, क्योंकि उनका विनियोग यज्ञके समयमेंही किया जाता है। इन कर्मठ, याज्ञिक या केवल कर्मवादियोंका कहना है, कि वेदोक्त यज्ञ-याग आदि कर्म करनेसेही स्वर्गप्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं होती। चाहे ये यज्ञ-याग अज्ञानसे किये जायँ या ब्रह्मज्ञान से। यद्यपि उपनिषदोंमें ये यज्ञ ग्राह्य माने गये हैं, तथापि इनकी योग्यता ब्रह्मज्ञानसे कम ठहराई गयी है। इसलिये निश्चय किया गया है, कि यज्ञ-यागसे स्वर्गप्राप्ति भलेही हो जाय; परंतु इनके द्वारा सच्चा मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्षप्राप्तिके लिये ब्रह्मज्ञानहीकी नितान्त आवश्यकता है। भगवद्गीताके दूसरे अध्यायमें जिन यज्ञ-याग आदि काम्य कर्मोंका वर्णन किया है – "वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः" (गीता २.४२) – वे ब्रह्मज्ञानके बिना किये जानेवाले उपर्युक्त यज्ञ-याग आदि कर्मही हैं। इसी तरह यहभी मीमांसकोंहीके मतका अनुवाद है, कि "यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः" (गीता ३.९) अर्थात् यज्ञार्थ किये गये कर्म बंधक नहीं हैं; शेष सब कर्म बंधक हैं। इन यज्ञ-याग आदि वैदिक कर्मोंके अतिरिक्त, अर्थात् श्रौत कर्मोंके अतिरिक्त औरभी चातुर्वर्ण्यके भेदानुसार दूसरे आवश्यक धार्मिक कर्म मनुस्मृति आदि धर्मग्रंथोंमें वर्णित हैं; जैसे क्षत्रियके लिये युद्ध और वैश्यके लिये वाणिज्य। पहले पहल इन वर्णाश्रम-कर्मोंका प्रतिपादन स्मृति-ग्रंथोंमें किया गया था। इसलिये इन्हें 'स्मार्त कर्म' या 'स्मार्त यज्ञ'भी कहते हैं। इन श्रौत-स्मार्त कर्मोंके सिवा औरभी

धार्मिक कर्म हैं; जैसे व्रत, उपवास आदि। इनका विस्तृत प्रतिपादन पहलेपहल सिर्फ़ पुराणोंमें किया गया है, इसलिये इन्हें 'पौराणिक कर्म' कह सकेंगे। इन सब कर्मोंके औरभी तीन – नित्य, नैमित्तिक और काम्य – भेद किये गये हैं। स्नान, संध्या आदि जो हमेशा किये जानेवाले कर्म हैं, उन्हें नित्यकर्म कहते हें। इनके करनेसे कुछ विशेष फल अथवा अर्थकी सिद्धि नहीं होती; परंतु न करनेसे दोष अवश्य लगता हैं। नैमित्तिक कर्म उन्हें कहते हैं, जिन्हें किसी कारणके उपस्थित हो जानेसे करना पड़ता है; जैसे अनिष्ट ग्रहोंकी शांति, प्रायश्चित्त आदि, जिसकेलिये हम शांति या प्रायश्चित्त करते हैं, वह निमित्त यदि पहले न हो गया हो, तो हमें नैमित्तिक कर्म करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। जब हम कुछ विशेष इच्छा रखकर उसकी सफलताके लिये शास्त्रानुसार कोई कर्म करते हैं, तब उसे काम्य कर्म कहते हैं; जैसे वर्षा होनेके लिये या पुत्रप्राप्तिके लिये यज्ञ करना। नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मोंके सिवा कुछ और कर्म हैं; जैसे मदिरापान इत्यादि, जिन्हें शास्त्रोंने त्याज्य कहा है। इसलिये ये कर्म निषिद्ध कहलाते हैं। नित्य कर्म कौन कौन हैं, नैमित्तिक कौन कौन हैं और काम्य तथा निषिद्ध कर्म कौन कौन हैं – ये सब बातें धर्मशास्त्रोंमें निश्चित कर दी गयी हैं। यदि कोई किसी धर्मशास्त्रीसे पूछे कि अमुक पुरुषका कर्म पुण्यप्रद है या पापकारक, तो वह सबसे पहले इस बातका विचार करेगा, कि शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार वह कर्म यज्ञार्थ है या पुरुषार्थ; नित्य है या नैमित्तिक; अथवा काम्य है या निषिद्ध; और इन बातोंका विचार करके फिर वह अपना निर्णय करेगा। परंतु भगवद्‌गीताकी दृष्टि उससेभी व्यापक और विस्तीर्ण है। मान लीजिये, कि अमुक एक कर्म शास्त्रोंमें निषिद्ध नहीं माना गया है; अथवा उसे विहित कर्महीं कहा गया है – जैसे युद्धके समय क्षात्रधर्मही अर्जुनके लिये विहित कर्म था। पर इतनेहीसे यह सिद्ध नहीं होता, कि हमें वह कर्म हमेशा करतेही रहना चाहिये; अथवा उस कर्मका करना हमेशा श्रेयस्करही होगा। यह बात पिछले प्रकरणमें कही गयी है, कि कहीं कहीं तो शास्त्रकी आज्ञाएँभी परस्पर-विरुद्ध होती हैं। ऐसे समयमें मनुष्यको किस मार्ग स्वीकार करना चाहिये, इस बातका निर्णय करनेके लियें कोई युक्ति है या नहीं? यदि है तो वह कौन-सी? बस, यही गीताका प्रतिपाद्य विषय है। इस विषयमें कर्मके उपर्युक्त अनेक भेदोंपर ध्यान देनेकी कोई आवश्यकता नहीं। यज्ञ-याग आदि वैदिक कर्मों तथा चातुर्वर्ण्यके कर्मोंके विषयमें मीमांसकोंने जो सिद्धान्त किये हैं, वे गीतामें प्रतिपादित कर्मयोगसे कहाँतक मिलते हैं, यह दिखानेके लिये प्रसंगानुसार गीतामें मीमांसकोंके कथनकाभी कुछ विचार किया गया है; और अंतिम अध्याय (गीता १८. ६) में इसपरभी विचार किया है, कि ज्ञानी पुरुषको यज्ञयाग आदि कर्म करना चाहिये या नहीं। परंतु गीताके मुख्य प्रतिपाद्य विषयका क्षेत्र इससे व्यापक है। इसलिये गीताके प्रतिपादनमें 'कर्म' शब्दका "केवल श्रौत अथवा स्मार्त कर्म" इतनाही संकुचित अर्थ नहीं लिया जाना

चाहिये; किंतु उससे अधिक व्यापक रूप लेना चाहिये। सारांश, मनुष्य जो कुछ करता है – जैसे खाना, पीना, खेलना, रहना, उठना, बैठना, श्वोसोच्छ्वास करना, हँसना, रोना, सूँघना, देखना, बोलना, सुनना, चलना, देना, लेना, सोना, जागना, मारना, लड़ना, मनन और ध्यान करना, आज्ञा या निषेध करना, दान देना, यज्ञ-याग करना, खेती या व्यापारधंधा करना, इच्छा करना, निश्चय करना, चुप रहना इत्यादि इत्यादि – ये सब भगवद्गीताके अनुसार 'कर्म'ही हैं; चाहे वे कर्म कायिक हों, वाचिक हों अथवा मानसिक हों (गीता ५. ८, ९)। और तो क्या, जीना-मरनाभी कर्मही हैं। प्रसंग आनेपर यहभी विचार करना पड़ता ह कि 'जीना या मरना' इन दो कर्मोंमेंसे किसका स्वीकार किया जाये? इस विचारके उपस्थित होनेपर कर्म शब्दका अर्थ 'कर्तव्य कर्म' अथवा 'विहित कर्म' हो जाता है। (गीता ४. १६)। मनुष्यके कर्मके विषयमें यहाँतक विचार हो गया। अब इससे आगे बढ़कर सब चर-अचर सृष्टिके – अचेतन वस्तुकेभी – व्यापारमें 'कर्म' शब्दहीका उपयोग होता है। इस विषयका विचार आगे कर्मविपाक-प्रक्रियामें किया जाएगा।

कर्म शब्दसेभी अधिक भ्रमकारक शब्द 'योग' है। आजकल इस शब्दका रूढ़ार्थ "प्राणायामादिक साधनोंसे चित्तवृत्तियों या इंद्रियोंका निरोध करना" अथवा "पातंजल सूत्रोक्त समाधि या ध्यानयोग" हैं। उपनिषदोंमेंभी इसी अर्थमें इस शब्दका प्रयोग हुआ है (कठ. ६. ११)। परंतु ध्यानमें रखना चाहिये, कि ये संकुचित अर्थ भगवद्गीतामें विवक्षित नहीं है। 'योग' शब्द 'युज्' धातुसे बना है; जिसका अर्थ "जोड़, मेल, मिलाप, एकता, एकत्र अवस्थिति" इत्यादि होता है। और ऐसी स्थितिकी प्राप्तिके "उपाय, साधन, युक्ति या कर्म" कोभी योग कहते हैं। यही सब अर्थ अमरकोश (अ. ३. ३. २२) में इस तरहसे दिये हुए हैं – "योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु।" फलित ज्योतिषमें कोई ग्रह यदि इष्ट अथवा अनिष्ट हों, तो उन ग्रहोंका 'योग' इष्ट या अनिष्ट कहलाता है; और 'योगक्षेम' पदमें 'योग' शब्दका अर्थ "अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना" लिया गया है (गीता ९. २२)। भारतीय युद्धके समय द्रोणाचार्यको अजेय देखकर श्रीकृष्णने कहा है, कि "एको हि योगोऽस्य भवेद्वधाय" (मभा. द्रो. १८१. ३१) अर्थात् द्रोणाचार्य को जीतनेका एकही 'योग' (साधना या युक्ति) है; और आगे चलकर उन्होंने यहभी कहाना है कि हमने पूर्वकालमें धर्मकी रक्षाके लिये जरासंध आदि राजाओंको 'योग'हीसे मारा था। उद्योगपर्व (अ. १७२) में कहा गथा है, कि जब भीष्मने अंबा, अंबिका और अंबालिकाको हरण किया, तब अन्य राजा लोग 'योग, योग' कहकर उनका पीछा करने लगे थे। महाभारतमें 'योग' शब्दका प्रयोग इसी अर्थमें अनेक स्थानोंपर हुआ है। गीतामें 'योग', 'योगी' अथवा योग शब्दसे बने हुए सामासिक शब्द लगभग अस्सी बार आये है; परंतु चार-पाँच स्थानोंको छोड़ (गीता ६. १२ और २३) योग शब्दसे 'पातंजल योग' अर्थ कहींभी अभिप्रेत नहीं

है। सिर्फ़ 'युक्ति, साधन, कुशलता, उपाय, जोड़, मेल' ये ही अर्थ कुछ हेरफेरसे सारी गीतामें पाये जाते हैं। अतएव कह सकते हैं, कि गीताशास्त्रके व्यापक शब्दोंमेंसे 'योग'भी एक शब्द है; परंतु योग शब्दके उक्त सामान्य अर्थोंसेही – जैसे साधन, कुशलता, युक्ति आदिसेही – काम नहीं चल सकता। क्योंकि वक्ता इच्छाके अनुसार यह साधन संन्यासकाभी हो सकता है; कर्म और चित्तनिरोधका हो सकता है; मोक्षका अथवा औरभी किसीका हो सकता है। उदाहरणार्थ, गीतामें कहीं कहीं अनेक प्रकारकी व्यक्त सृष्टि निर्माण करनेकी भगवानकी ईश्वरी कुशलता और अद्‌भुत सामर्थ्यको 'योग' कहा गया है (गीता ७. २५; ९. ५; १०. ७; ११. ८) और इसी अर्थमें भगवानको 'योगेश्वर' कहा है (गीता १८. ७५)। परंतु यह गीताके 'योग' शब्दका मुख्य अर्थ नहीं है। इसलिये, वह बात स्पष्ट रीतिसे प्रकटकर देनेके लिये 'योग' शब्दसे किस विशेष प्रकारकी कुशलता, साधन, युक्ति अथवा उपायको गीतामें विवक्षित समझना चाहिये, उस ग्रंथमें योग शब्दकी व्याख्यायों की गयी है – "योगः कर्मसु कौशलम्" (गीता २. ५०) अर्थात् कर्म करनेकी किसी विशेष प्रकारकी कुशलता, युक्ति, चतुराई अथवा शैलीको योग कहते हैं। शांकरभाष्यमेंभी 'कर्मसु कौशलम्'का यही अर्थ लिया गया है – "कर्ममें स्वभावसिद्ध रहनेवाले बंधकत्वको तोड़नेकी युक्ति"। यदि सामान्यतः देखा जाय, तो एकही कर्मको करनेके लिये अनेक 'योग' या 'उपाय' होते हैं। परंतु उनमेंसे जो उपाय या साधन उत्तम हो उसीको 'योग' कहते हैं। जैसे द्रव्य उपार्जन करना एक कर्म है। इसके अनेक उपाय या साधन हैं – जैसे : चोरी करना, जालसाजी करना, भीख माँगना, सेवा करना, ऋण लेना, मेहनत करना आदि। यद्यपि धातुके अर्थानुसार इनमेंसे हरएकको 'योग' कह सकते हैं, तथापि यथार्थ 'द्रव्यप्राप्ति-योग' उसी उपाय कहते हैं, जिससे हम अपनी "स्वतंत्रता कायम रखकर मेहनत करते हुए धन प्राप्त कर सके।"

जब स्वयं भगवानने गीतामें 'योग' शब्दकी निश्चित और स्वतंत्र व्याख्या कर दी है (योगः कर्मसु कोशलम् – अर्थात् कर्म करनेकी एक प्रकारकी विशेष युक्तिको योग कहते हैं), तब सच पूछो, तो इस शब्दके मुख्य अर्थके विषयमें कुछभी शंका नहीं रहनी चाहिये; परंतु स्वयं भगवानकी बतलाई हुई इस व्याख्यापर ध्यान न दे कर टीकाकारोंने गीताका मथितार्थभी मनमाना निकाला है। अतएव इस भ्रमको दूर करनेके लिये 'योग' शब्दका कुछ अधिक स्पष्टीकरण होना चाहिये। यह शब्द पहलेपहल गीताके दूसरे अध्यायमें आया है; और वहीं इसका स्पष्ट अर्थभी बतला दिया है। भगवानने अर्जुनको पहले सांख्यशास्त्रके अनुसार यह समझा दिया, कि युद्ध क्यों करना चाहिये; इसके बाद उन्होंने कहा, कि "अब हम तुझे योगके अनुसार उपपत्ति बतलाते हैं" (गीता २. ३९)। और फिर इसका वर्णन किया है, कि जो लोग हमेशा यज्ञ-यागादि काम्य कर्मोंमें निमग्न रहते हैं और उनकी

बुद्धि फलाशासे कैसे व्यग्र हो जाती है (गीता २.४१–४६)। इसके पश्चात् उन्होंने यह उपदेश दिया है, कि बुद्धिको अव्यग्र, स्थिर या शांत रखकर, "आसक्तिको छोड़ दे; परंतु कर्मोंको छोड़ देनेके आग्रहमें न पड़" और "योगस्थ होकर कर्मोका आचरण कर" (गीता २.४८)। यहींपर पहले पहल 'योग' शब्दका अर्थभी स्पष्ट कर दिया है, कि "सिद्धि और असिद्धि दोनोंमें समत्वबुद्धि रखनेको योग कहते हैं।" इसके बाद यह कहकर, कि "फलकी आशासे काम करनेकी अपेक्षा समत्वबुद्धिका यह योगही श्रेष्ठ है" (गीता २.४९) और बुद्धिकी समता हो जानेपर कर्म करनेवालेको कर्मसंबंधी पाप-पुण्यकी बाधा नहीं होती। इसलिये तू इस 'योग'को प्राप्त कर।' तुरंतही योगका यह लक्षण फिरभी बतलाया है कि "योगः कर्मसु कौशलम्" (गीता २.५०)। इससे सिद्ध होता है, कि पाप-पुण्यसे अलिप्त रहकर कर्म करनेकी जो समत्वबुद्धिरूप विशेष युक्ति पहले बतलाई गई है, वही 'कौशल' है; और इसी कुशलता अर्थात् युक्तिसे कर्म करनेको गीतामें 'योग' कहा है। इसी अर्थको अर्जुनने आगे चलकर "योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन" (गीता ६.३३) – समताका अर्थात् समत्व-बुद्धिका यह योग जो आपने बतलाया – इस श्लोकमे स्पष्ट कर दिया है। इसके संबंधमें, कि ज्ञानी मनुष्यको इस संसारमें कैसे बर्ताव करना चाहिये, श्रीशंकराचार्यके पूर्वही प्रचलित हुए वैदिक धर्मके अनुसार दो मार्ग हैं: एक मार्ग यह है, कि ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर सब कर्मोंका संन्यास अर्थात् त्यागकर दें; और दूसरा यह, कि ज्ञानकी प्राप्ति हो जाने परभी कर्मोंको न छोड़ें – उनको जन्मभर ऐसी युक्तिके साथ करते रहें, कि उनके पाप-पुण्यकी बाधा न होने पावे। इन्हीं दो मार्गोंको गीतामें संन्यास और कर्म-योग कहा है (गीता ५.२)। संन्यास कहते हैं त्यागको, और योग कहते हैं मेल को। अर्थात् कर्मके त्याग और कर्मके मेलहीके उक्त दो भिन्न मार्ग हैं। इन्हीं दो भिन्न मार्गोंको लक्ष्य करके आगे (गीता ५.४) (सांख्य और योग) 'सांख्ययोगी' ये संक्षिप्त नामभी दिये गये हैं। बुद्धिको स्थिर करनेके लिये पातंजलयोग-शास्त्रके आसनोंका वर्णन छठे अध्यायमें है सही; परंतु वह किसके लिये है? तपस्वीके लिये नहीं; किंतु वह कर्मयोगी – अर्थात् युक्तिपूर्वक कर्म करनेवाले मनुष्यको 'समता'की युक्ति सिद्ध करनेके लिये बतलाया गया है। नहीं तो फिर "तपस्विभ्योऽधिको योगी" इस वाक्यका कुछ अर्थ ही नहीं हो सकता। इसी तरह इस अध्यायके अंत (६.४६) में अर्जुनको जो उपदेश दिया गया है, कि 'तस्माद्योगी भवार्जुन' उसका अर्थ ऐसा नहीं हो सकता, कि "हे अर्जुन! तू पातंजल-योगका अभ्यास करनेवाला बन जा।" इसलिये उक्त उपदेशका अर्थ "योगस्थः कुरु कर्माणि" (२.४८), "तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्" (गीता २.५०), 'योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत' (४.४२) इत्यादि वचनोंके अर्थके समानही होना चाहिये। अर्थात् उसका यही अर्थ लेना उचित है कि, "हे अर्जुन! तू युक्तिसे कर्म करनेवाला योगी अर्थात्

कर्मयोगी बन जा।" क्योंकि यह कहनाही संभव नहीं कि, "तू पातंजल योगका आश्रय लेकर युद्धके लिये तैयार रह।" इसके पहलेही साफ़ साफ कहा गया है, कि "कर्मयोगेण योगिनाम्" (गीता ३. ३) अर्थात् योगी पुरुष कर्म करनेवाले होते हैं। महाभारतके (मभा. शां. ३४८. ५६) नारायणीय अथवा भागवत धर्मके विवेचनमेंभी कहा गया है, कि इस धर्मके लोग अपने कर्मोंका त्याग किये बिनाही युक्तिपूर्वक कर्म करके (सुप्रयुक्तेन कर्मणा) परमेश्वरकी प्राप्ति कर लेते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि 'योगी' और 'कर्मयोगी' दोनों शब्द गीतामें समानार्थक हैं; और इनका अर्थ "युक्तिसे कर्म करनेवाला" होता है; तथा 'कर्मयोग' शब्दका प्रयोग करनेके बदले, गीता और महाभारतमें छोटेसे 'योग' शब्दकाही अधिक उपयोग किया गया है। "मैंने तुझे जो यह योग बतलाया है, इसीको पूर्वकालमें विवस्वानसे कहा था (गीता ४.१); और विवस्वानने मनुको बतलाया था; परंतु उस योगके बादमें नष्टसा हो जानेपर फिर वही योग तुझसे कहना पड़ा" – इस अवतरणमें भगवानने जो 'योग' शब्दका तीन बार उच्चारण किया है, उसमें पातंजल-योगका विवक्षित होना नहीं पाया जाता; किंतु "कर्म करनेकी किसी प्रकारकी विशेष युक्ति, साधन या मार्ग" अर्थ ही लिया जा सकता है। इसी तरह जब संजय गीताके कृष्ण-अर्जुन संवादको 'योग' कहता है। (गीता १८.७५) तबभी यही अर्थ पाया जाता है। श्रीशंकराचार्य स्वयं संन्यासमार्गवाले थे। तोभी उन्होंने अपने गीता-भाष्यके आरंभमेंही वैदिकधर्मके दो भेद – प्रवृत्ति और निवृत्ति – बतलाये हैं; और 'योग' शब्दका अर्थ श्रीभगवानकी की हुई व्याख्याके अनुसार कभी 'सम्यक्-दर्शनोपायकर्मानुष्ठानम्' (गीता ४४. २) और कभी "योगः युक्तिः" (गीता १०.७) किया है। इसी तरह महाभारतमेंभी 'योग' और 'ज्ञान' दोनों शब्दोंके विषयमें स्पष्ट लिखा है, कि "प्रवृत्तिलक्षणो योगः ज्ञानं संन्यासलक्षणम्" (मभा. अश्व. ४३.२५)। अर्थात् योगका अर्थ प्रवृत्तिमार्ग और ज्ञानका अर्थ संन्यास या निवृत्ति-मार्ग है। शांतिपर्वके अंतमें, नारायणीयोपाख्यानमें 'सांख्य' और 'योग' शब्द तो इसी अर्थमें अनेक बार आये हैं; और इसकाभी वर्णन किया गया है, कि ये दोनों मार्ग सृष्टिके आरंभमें भगवानने क्यों और कैसे निर्माण किये। (मभा. शां. २४० और ३४८)। पहले प्रकरणमें महाभारतसे जो वचन उद्धृत किये गये हैं, उनसे यह स्पष्टतया मालूम हो गया है, कि यही नारायणीय अथवा भागवतधर्म भगवद्गीताका प्रतिपाद्य तथा प्रधान विषय है। इसलिये कहना पड़ता है, कि 'सांख्य' और 'योग' शब्दोंका जो प्राचीन और पारिभाषिक अर्थ (सांख्य = निवृत्ति; योग = प्रवृत्ति) नारायणीय धर्ममें दिया गया है, वही अर्थ गीतामेंभी विवक्षित है। यदि इसमें किसीको शंका हो, तो गीतामें दी हुई इस व्याख्यासे – "समत्वं योग उच्यते" या "योगः कर्मसु कौशलम्" – तथा उपर्युक्त "कर्मयोगेण योगिनाम्" इत्यादि गीताके वचनोंसे उसे शंकाका समाधान हो सकता है। इसलिये अब यह निर्विवाद सिद्ध है, कि

गीतामें 'योग' शब्द प्रवृत्तिमार्ग अर्थात् 'कर्मयोग'के अर्थहीमें प्रयुक्त हुआ है। वैदिक धर्म-ग्रंथोंकी कौन कहे, यह 'योग' शब्द, पाली और संस्कृत भाषाओंके बौद्ध-धर्म-ग्रंथोंमेंभी, इसी अर्थमें प्रयुक्त है। उदाहरणार्थ, संवत् ३३५ के लगभग लिखे 'मिलिंदप्रश्न' नामक पालीग्रंथमें 'पुब्बयोगो' (पूर्वयोग) शब्द आया है; और वहाँ उसका अर्थ 'पुब्बकम्म' (पूर्वकर्म) किया गया है (मि. प्र. १. ४)। इसी तरह अश्वघोष कविकृत – जो शालिवाहन शकके आरंभमें हो गया है – 'बुद्धचरित' नामक संस्कृत काव्यके पहले सर्गके पचासवें श्लोकमें यह वर्णन है –

आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम।

अर्थात् " ब्राह्मणोंको योगविधिकी शिक्षा देने राजा जनक आचार्य (उपदेष्टा) हो गये। इनके पहले यह आचार्यत्व किसीकोभी प्राप्त नहीं हुआ था "। यहाँपर 'योग-विधि'का अर्थ निष्काम-कर्मयोगकी विधिही समझना चाहिये। क्योंकि गीता आदि अनेक ग्रंथ मुक्त कंटसे कह रहे हैं कि जनकजीके बर्तावका यही रहस्य है; और अश्वघोषने अपने 'बुद्धचरित' (मु. च. ९.१९ और २०) में यह दिखलानेके लिये, कि " गृहस्थाश्रममें रहकरभी मोक्षकी प्राप्ति कैसे की जा सकती है " जनक-हीका उदाहरण दिया है। जनकके दिखलाये हुए मार्गका नाम 'योग' था; और यह बात बौद्ध-धर्म-ग्रंथोंसेभी सिद्ध होती है। इसलिये गीताके 'योग' शब्दकाभी यही अर्थ लगाना पड़ता है। क्योंकि गीताहीके कथनानुसार (गीता ३.२०) जनककाही मार्ग उसमें प्रतिपादित किया गया है। सांख्य और योग इन दो मार्गोंके विषयमें अधिक विचार आगे किया जाएगा। प्रस्तुत प्रश्न यही है, कि गीतामें 'योग' शब्दका उपयोग किस अर्थमें किया गया है।

जब एक बार यह सिद्ध हो गया कि गीतामें 'योग'का प्रधान अर्थ कर्मयोग और 'योगी'का प्रधान अर्थ कर्मयोगी है, तो फिर यह कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि भगवद्गीताका प्रतिपाद्य विषय क्या है। स्वयं भगवान् अपने उपदेशको 'योग' कहते हैं (गीता ४. १–३); बल्कि छठे (गीता ६. ६३) अध्यायमें अर्जुनने और गीताके अंतिम उपसंहार (गीता १८. ७५) में संजयनेभी गीताके उपदेशको 'योग'ही कहा है। इसी तरह गीताके प्रत्येक अध्यायके अंतमें, जो अध्याय-समाप्ति-दर्शक संकल्प है, उसमेंभी साफ़ साफ़ कह दिया है, कि गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'योगशास्त्र'ही है। परंतु जान पड़ता है, कि उक्त संकल्पके शब्दोंके अर्थपर टीकाकारोंने ध्यान नहीं दिया। आरंभके दो पदों – " श्रीमद्भगवद्गीतासु उप-निषत्सु 'के बाद इस संकल्पमें दो शब्द " ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे " औरभी जोड़े गये हैं। पहले दो शब्दोंका अर्थ है – " भगवानसे गाये गये उपनिषदमें "; और पिछले दो शब्दोंका अर्थ " ब्रह्मविद्याका योगशास्त्र अर्थात् कर्मयोग-शास्त्र " है, जो कि इस गीताका विषय है। ब्रह्मविद्या और ब्रह्मज्ञान एकही बात है; और इसके प्राप्त हो जानेपर ज्ञानी पुरुषके लिये दो निष्ठाएँ या मार्ग खुले होते हैं (गीता ३. ३)। एक

सांख्य अथवा संन्यास मार्ग – अर्थात् वह मार्ग जिसका ज्ञान होनेपर कर्म करना छोड़ कर विरक्त होकर रहना पड़ता है; और दूसरा योग अथवा कर्ममार्ग – अर्थात् वह मार्ग, जिसमें कर्मोंका त्याग न करके ऐसी युक्तिसे नित्य कम करते रहना चाहिये जिससे मोक्ष-प्राप्तिमें कुछभी वाधा न हो। पहले मार्गका दूसरा नाम 'ज्ञाननिष्ठा'भी है, जिसका विवेचन उपनिषदोंमें अनेक ऋषियोंने और ग्रंथकारोंनेभी किया है। परंतु ब्रह्मविद्याके अंतर्गत कर्मयोगका या योगशास्त्रका तात्त्विक विवेचन भगवद्‌गीताके सिवा अन्य ग्रंथोंमें नहीं है। इस बातका उल्लेख पहले किया जा चुका है, कि अध्याय-समाप्ति-दर्शक संकल्प गीताकी सब प्रतियोंमें पाया जाता है; और इससे प्रकट होता है, कि गीताकी सभी टीकाओंके रचे जानेके पहलेही उसकी रचना हुई होगी। इस संकल्पके रचयिताने इस संकल्पमें "ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" इन दो पदोंको व्यर्थही नहीं जोड़ दिया है; किंतु उसने गीताशास्त्रके प्रतिपाद्य विषयकी अपूर्वता दिखानेहीके लिये उक्त पदोंको उस संकल्पमें साधार और हेतुसहित स्थान दिया है। अतः इस बातकाभी सहज निर्णय हो सकता है, कि गीतापर अनेक सांप्रदायिक टीकाओंके होनेके पहले गीताका तात्पर्य कैसे और क्या समझा जाता था। यह हमारे सौभाग्यकी वात है, कि इस कर्मयोगका प्रतिपादन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णहीने किया है, जो इस योगमार्गके प्रवर्तक और सब योगोंके साक्षात् ईश्वर (योगेश्वर = योग × ईश्वर) हैं; और लोकहितके लिये उन्होंने अर्जुनको उसका रहस्य बतलाया है। गीताके 'योग' और 'योगशास्त्र' शब्दोंसे हमारे 'कर्मयोग' और 'कर्मयोगशास्त्र' शब्द कुछ बड़े हैं सही; परंतु अब हमने कर्मयोगशास्त्र सरीखा बड़ा नामही इस ग्रंथ और प्रकरणको देना इसलिये पसंद किया है, कि जिससे गीताके प्रतिपाद्य विषयके संबंधमें कुछभी संदेह न रह जावे।

एकही कर्म करनेके जो अनेक योग, साधन या मार्ग हैं, उनमेंसे सर्वोत्तम और शुद्ध मार्ग कौन है; उसके अनुसार नित्य आचरण किया जा सकता है या नहीं; नहीं किया जा सकता, तो कौन कौन अपवाद उत्पन्न होते हैं, और वे क्यों उत्पन्न होते हैं; जिस मार्गको हमने उत्तम मान लिया है, वह उत्तम क्यों है; जिस मार्गको हम बुरा समझते हैं, वह बुरा क्यों है; यह अच्छापन या बुरापन किसके द्वारा या किस आधारपर निश्चित किया जा सकता है; अथवा इस अच्छेपन या बुरेपनका रहस्य क्या है – इत्यादि बातें जिस शास्त्रके आधारसे निश्चित की जाती हैं, उसको 'कर्मयोगशास्त्र' या गीताके संक्षिप्त रूपानुसार 'योगशास्त्र' कहते हैं। 'अच्छा' और 'बुरा' दोनों साधारण शब्द हैं। इन्हींके समान अर्थमें कभी कभी शुभ-अशुभ, हितकर-अहितकर, श्रेयस्कर-अश्रेयस्कर, पाप-पुण्य, धर्म्य-अधर्म्य इत्यादि शब्दोंका उपयोग हुआ करता है। कार्य-अकार्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, न्याय्य-अन्याय्य इत्यादि शब्दोंकाभी अर्थ वैसेही होता है। तथापि इन शब्दोंका उपयोग करनेवालोंके सृष्टिरचनाविषयक मत भिन्न भिन्न होनेके कारण 'कर्मयोग'शास्त्रके

निरूपणके पंथभी भिन्न भिन्न हो गये हैं। किसीभी शास्त्रको लीजिये; उसके विषयोंकी चर्चा साधारणतः तीन प्रकारसे की जाती है। (१) इस जड़ सृष्टिके पदार्थ ठीक वैसेही हैं, जैसे कि वे हमारी इंद्रियोंको गोचर होते हैं। इसके परे उनमें और कुछ नहीं है – इस दृष्टिसे उनके विषयमें विचार करनेकी एक पद्धति है, जिसे आधिभौतिक विवेचन कहते हैं। उदाहरणार्थ, सूर्यको देवता न मानकर केवल पाँचभौतिक जड़ पदार्थोंका एक गोला माने; और उष्णता, प्रकाश, वजन दूरी, और आकर्षण इत्यादि उसके केवल गुणधर्मोंहीकी परीक्षा करें; तो उसे सूर्यका आधिभौतिक विवेचन कहेंगे। दूसरा उदाहरण पेड़का लीजिये। इसका विचार न करके, कि पेड़के पत्ते निकलना, फूलना, फलना आदि क्रियाएँ किस अंतर्गत शक्तिके द्वारा होती हैं, जब केवल बाहरी दृष्टिसे विचार किया जाता है, कि जमीनमें बीज बोनेसे अंकुर फूटते हैं, फिर वे बढ़ते हैं; और उसीसे पत्ते, शाखा, फूल इत्यादि दृश्य विकार प्रकट होते हैं, तब उसे पेड़का आधिभौतिक विवेचन कहते हैं। रसायनशास्त्र, पदार्थविज्ञानशास्त्र, विद्युच्छास्त्र इत्यादि आधुनिक शास्त्रोंका विवेचन इसी ढंगका होता है। और तो क्या, आधिभौतिक पंडितभीको यह मानते हैं, कि उक्त रीतिसे किसी वस्तुके दृश्य गुणोंका विचार कर लेनेपर उनका काम पूरा हो जाता है – सृष्टिके पदार्थोंका इससे अधिक विचार करना निष्फल है। (२) जब उक्त दृष्टिको छोड़कर इस बातका विचार किया जाता है, कि जड़ सृष्टिके पदार्थोंके मूलमें क्या है; क्या, इन पदार्थोंका व्यवहार केवल उनके गुण-धर्मोंहीसे होला है, या उसके लिये किसी तत्त्वका आधारभी है; तो केवल आधिभौतिक विवेचनसेही काम नहीं चलता, हमको कुछ आगे बढ़ना पड़ता है। उदाहरणार्थ, जब हम यह मानते हैं, कि पाँचभौतिक सूर्यके जड़ या अचेतन गोलेमें सूर्य नामक एक देवताका अधिष्ठान है; और इसीके द्वारा इस अचेतन गोले (सूर्य)के सब व्यापार या व्यवहार होते रहते हैं, तब उसको उस विषयका आधिदैविक विवेचन कहते हैं। इस मतके अनुसार यह माना जाता है, कि पेड़में, पानीमें, हवामें अर्थात् सब पदार्थोंमें, अनेक देवता हैं; जो उन जड तथा अचेतन पदार्थोंसे भिन्न तो हैं, किंतु उनके व्यवहारोंको वे ही चलाते हैं। (३) परंतु जब यह माना जाता है, कि सृष्टिके हज़ारों जड़ पदार्थोंमें हज़ारों स्वतंत्र देवता नहीं हैं ; किंतु बाहरी सृष्टिके सब व्यवहारोंको चलानेवाली, मनुष्यके शरीरमें आत्मस्वरूपसे रहनेवाली, और मनुष्यको सारी सृष्टिका ज्ञान प्राप्त करा देनेवाली एकही चित्-शक्ति है, जो कि इंद्रियातीत है ओर जिसके द्वाराही इस जगतका सारा व्यवहार चल रहा है; तब उस विचार-पद्धतिको आध्यात्मिक विवेचन्न कहते हैं। उदाहरणार्थ, अध्यात्मवादियोंका मत है, कि सूर्य-चंद्र आदिका व्यवहार, यहाँतक कि वृक्षोंके पत्तोंका हिलनाभी, इसी अचिंत्य शक्तिकी प्रेरणासे हुआ करता है। सूर्य-चंद्र आदिमें या अन्य स्थानोंमें भिन्न भिन्न तथा स्वतंत्र देवता नहीं हैं। प्राचीन कालसे किसीभी विषयका विवेचन करनेके

लिये ये तीन मार्ग प्रचलित हैं; और इनका उपयोग उपनिषद्-ग्रंथोंमेंभी किया गया है। उदाहरणार्थ, ज्ञानेंद्रियाँ श्रेष्ठ हैं या प्राण श्रेष्ठ हैं, इस बातका विचार करते समय बृहदारण्यक आदि उपनिषदोंमें एक बार उक्त इंद्रियोंके अग्नि आदि देवता-ओंको और दूसरी बार उनके सूक्ष्म रूपों (अध्यात्म) को ले कर उनके बलाबल का विचार किया गया है (बृ. १.५.२१ और २२; छां. १.२ और ३; कौषी. २.८); और, गीताके सातवें अध्यायके अंतमें तथा आठवेंके आरंभमें ईश्वरके स्वरूपका जो विचार बतलाया गया है, वहभी इसी दृष्टिसे किया गया है। "अध्यात्मविद्या विद्यनाम्" (गीता १०. ३२) इस वाक्यके अनुसार हमारे शास्त्रकारोंने उक्त तीन मार्गोंमेंसे, आध्यात्मिक विवरणकोही अधिक महत्त्व दिया है। परंतु आजकल उप-र्युक्त तीन शब्दों (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक)के अर्थको थोड़ा-सा बदलकर प्रसिद्ध आधिभौतिक फ्रेंच पंडित कोंटने* आधिभौतिक विवेचनकोही अधिक महत्त्व दिया है। उसका कहना है, कि सृष्टिके मूल-तत्त्वको खोजते रहनेसे कुछ लाभ नहीं; यह तत्त्व अगम्य है। अर्थात् इसको समझ लेना कभीभी संभव नहीं। इसलिये इसकी कल्पित नींवपर किसी शास्त्रकी इमारतको खड़ा कर देना न तो संभव है और न उचित। असभ्य और जंगली मनुष्योंने पहले पहल जब पेड़, बादल और ज्वालामुखी पर्वत आदि हिलते-चलते पदार्थोंको देखा, तब उन लोगों ने अपने भोलेपनसे इन सब पदार्थोंको देवताही मान लिया। यह कोंटके मतानुसार, 'आधिदैविक' विचार हुआ; परंतु मनुष्योंने उक्त कल्पनाको शीघ्रही त्याग दिया और वे समझने-लगें कि इन सब पदार्थोंमें कुछ-न-कुछ आत्मतत्त्व अवश्य भरा हुआ है। कोंटके मतानुसार मानवी ज्ञानकी उन्नतिकी यह दूसरी सीढ़ी है। इसे वह 'आध्यात्मिक' कहता है; परंतु जब इस रीतिसे सृष्टिका विचार करने परभी प्रत्यक्ष उपयोगी शास्त्रीय ज्ञानकी कुछ वृद्धि नहीं हो सकी, तब अंतमें मनुष्य सृष्टिके पदार्थोंके दृश्य गुण-धर्मोंहीका और अधिक विचार करने लगा; जिससे

---

* फ्रान्स देशमें ऑगस्ट कोंट (Auguste Comte) नामक एक बड़ा पंडित गतशताब्दीमें हो चुका है। इसने समाजशास्त्रपर एक बहुत बड़ा ग्रंथ लिखकर बतलाया है, कि समाजरचनाका शास्त्रीय रीतिसे किस प्रकार विवेचन करना चाहिये। अनेक शास्त्रोंकी आलोचना करके इसने यह निश्चित किया है, कि किसीभी शास्त्रको लो, उसका विवेचन पहले पहल Theological पद्धतिसे किया जाता है; फिर Meta-physical पद्धतिसे होता है; और अंतमें उसको Positive स्वरूप मिलता है। उन्हीं तीन पद्धतियोंको हमने इस ग्रंथमें आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक ये तीन प्राचीन नाम दिये हैं। ये पद्धतियाँ कुछ कोंटकी निकाली हुई नहीं हैं; ये सब पुरानीही हैं तथापि उसने उनका ऐतिहासिक क्रम नई रीतिसे बाँधा है; और उनमें आधिभौतिक (Positive) पद्धतिकोही श्रेष्ठ बतलाया है; बस इतनाही कोंटका नया शोध है। कोंटके अनेक ग्रंथोंका अंग्रेजीमें अनुवाद हो गया है।

अब वह रेल और तार सरीखे उपयोगी आविष्कारोंको ढूंढ़ कर सृष्टिपर अपना अधिक प्रभाव जमाने लग गया है। इस मार्गको कोंटने 'आधिभौतिक' नाम दिया है। उसने निश्चित किया है, कि किसीभी शास्त्रया विषयका विवेचन करनेके लिये अन्य मार्गोंकी अपेक्षा यही आधिभौतिक मार्ग अधिक श्रेष्ठ और लाभकारी है। कोंटके मतानुसार समाजशास्त्र या कर्मयोगशास्त्रका तात्त्विक विचार करनेके लिये इसी आधिभौतिक मार्गका अवलंब करना चाहिये। इस मार्गका अवलंब करके इस पंडितने इतिहासकी आलोचना की; और सब व्यवहारशास्त्रोंका यही मथितार्थ निकाला है, कि इस संसारमें प्रत्येक मनुष्यका परम धर्म यही है, कि वह समस्त मानव-जातिसे प्रेम करें और सब लोगोंके कल्याणके लिये सदैव प्रयत्न करता रहे। मिल और स्पेन्सर आदि अंग्रेज पंडित इसी मतके पुरस्कर्ता कहे जा सकते हैं। इसके उलटे कांट, हेगेल, शोपेनहौएर आदि जर्मन तत्त्वज्ञानी पुरुषोंने, नीति-शास्त्रके विवेचनके लिये इस आधिभौतिक पद्धतिको अपूर्ण माना है और हमारे वेदान्तियोंकी नाईं अध्यात्मिबुद्धिसेही नीतिके समर्थन करने के मार्गको आजकल उन्होंने युरोपमें फिर स्थापित किया है। इसके विषयमें और अधिक आगे चलकर लिखा जाएगा।

एकही अर्थके विवक्षित होनेपरभी 'अच्छा और बुरा'के पर्यायवाची भिन्न भिन्न शब्दों का – जैसे 'कार्य-अकार्य' और 'धर्म्य-अधर्म्य'का – उपयोग क्यों होने लगा? इसका कारण यही है, कि विषय-प्रतिपादनका मार्ग या दृष्टि प्रत्येककी भिन्न भिन्न होती है। अर्जुनके सामने यह प्रश्न था, कि जिस युद्धमें भीष्म, द्रोण आदिका वध करना पड़ेगा, उसमें शामिल होना उचित है या नहीं (गीता. २.७) और यदि इसी प्रश्नका उत्तर देनेका प्रसंग किसी आधिभौतिक पंडितपर आता, तो वह पहले इस बातका विचार करता, कि भारतीय युद्धसे स्वयं अर्जुनको दृश्य हानि या लाभ कितना होगा; और कुल समाजपर उसका क्या परिणाम होगा। यह विचार करके तब उसने निश्चय किया होता, कि युद्ध करना 'न्याय्य' है या 'अन्याय्य'। इसका कारणय ह है कि किसी कर्मके अच्छेपन या बुरेपनका निर्णय करते समय ये आधिभौतिक पंडित यही सोचा करते हैं, कि इस संसारमें उस कर्मका आधिभौतिक परिणाम अर्थात् प्रत्यक्ष बाह्य परिणाम क्या होगा – ये लोग इस आधि-भौतिक कसौटीके सिवा और किसी साधन या कसौटीको नहीं मानते। परंतु ऐसे उत्तरसे अर्जुनका समाधान होना संभव नहीं था। उसकी दृष्टि उससेभी अधिक व्यापक थी। उसे केवल अपने सांसारिक हितका विचार नहीं करना था; किंतु उसे पारलौकिक दृष्टिसेभी यह निर्णय कर लेना था, कि इस युद्धका परिणाम मेरी आत्मा के लिये श्रेयस्कर होगा या नहीं। उसे इस बातकी कुछभी शंका नहीं थी, कि युद्धमें भीष्म-द्रोण आदिओंका वध होनेपर तथा राज्य प्राप्ति होनेपर मुझे ऐहिक सुख मिलेगा या नहीं; और मेरा शासन लोगोंको दुर्योधनसे अधिक सुख-

दायक होगा या नहीं। उसे यही देखना था, कि मैं जो कर रहा हूँ वह 'धर्म्य' है या 'अधर्म्य'; अथवा 'पुण्य' है या 'पाप'; और गीताका विवेचनभी इसी दृष्टिसे किया गया है। केवल गीतामेंही नहीं; किंतु महाभारतमें कई स्थानोंपरभी कर्म-अकर्मका जो विवेचन है, वह पारलौकिक और अध्यात्मदृष्टिसेही किया गया है। और वहाँ किसीभी कर्मका अच्छापन या बुरापन दिखलानेके लिये प्रायः सर्वत्र 'धर्म' और 'अधर्म' इन दो शब्दोंका उपयोग किया गया है। परंतु 'धर्म' और उसका प्रतियोगी 'अधर्म' ये दोनों शब्द अपने व्यापक अर्थके कारण कभी कभी भ्रम उत्पन्न कर दिया करते हैं। इसलिये यहाँपर इस बातकी कुछ अधिक मीमांसा करना आवश्यक है कि कर्मयोगशास्त्रमें इन शब्दोंका उपयोग मुख्यतः किस अर्थमें किया जाता है।

नित्य व्यवहारमें 'धर्म' शब्दका उपयोग केवल "पारलौकिक सुखका मार्ग" इसी अर्थमें किया जाता है। जब हम किसीसे प्रश्न करते हैं, कि "तेरा कौनसा धर्म है?" तब उससे हमारे पूछनेका यही हेतु होता हैकि तू अपने पारलौकिक कल्याणके लिये किस मार्ग – वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुहम्मदी या पारसी – पर चलता है; और वह हमारे प्रश्नके अनुसारही उत्तर देता है। इसी तरह स्वर्ग-प्राप्तिके लिये साधनभूत यज्ञ-याग आदि वैदिक विषयोंकी मीमांसा करते समय "अथातो धर्मजिज्ञासा" आदि धर्मसूत्रोंमेंभी धर्म शब्दका यही अर्थ लिया गया है; परंतु 'धर्म' शब्दका इतनाही संकुचित अर्थ नहीं है। इसके सिवा राजधर्म, प्रजाधर्म, देशधर्म, कुलधर्म, मित्रधर्म इत्यादि सांसारिक नीति-बंधनोंकोभी 'धर्म' कहते हैं। धर्म शब्दके इन दो अर्थोंको यदि पृथक् करके दिखलाना हो, तो पार-लौकिक धर्मको 'मोक्षधर्म' अथवा सिर्फ़ 'मोक्ष' और व्यावहारिक धर्म अथवा केवल नीतिको केवल 'धर्म' कहा करते हैं। उदाहरणार्थ, चतुर्विध पुरुषार्थकी गणना करते समय हम लोग 'धर्म अर्थ, काम, मोक्ष' कहा करते हैं। इसके पहले शब्द 'धर्म'मेंही यदि मोक्षका समावेश हो जाता, तो अंतमें मोक्षको पृथक् पुरुषार्थ बतलानेकी आवश्यकता न रहती। अर्थात् यह कहना पड़ता है, कि 'धर्म'पदसे इस स्थानपर संसारके सैंकड़ों नीतिधर्मही शास्त्रकारोंको अभिप्रेत हैं। उन्हींको हम लोग आज-कल कर्तव्यकर्म, नीति, नीतिधर्म अथवा सदाचरण कहते हैं; परंतु प्राचीन संस्कृत ग्रंथोंमें 'नीति' अथवा 'नीतिशास्त्र' शब्दोंका उपयोग विशेष करके राजनीतिहीके लिये किया जाता है। इसलिये पुराने ज़मानेमें कर्तव्यकर्म अथवा सदाचारके सामान्य विवेचनको 'नीतिप्रवचन' न कहकर 'धर्मप्रवचन' कहा करते थे। परंतु 'नीति' और 'धर्म' इन दो शब्दोंका यह पारिभाषिक भेद सभी संस्कृत-ग्रंथोंमें नहीं माना गया है। इसलिये हमनेभी इस ग्रंथमें 'नीति', 'कर्तव्य' और 'धर्म' शब्दोंका उपयोग एकही अर्थमें किया है; और मोक्षका विचार जिन स्थानोंपर करना है, उन प्रकरणोंके 'अध्यात्म' और 'भक्तिमार्ग' ये स्वतंत्र नाम रखे हैं। महाभारतमें

धर्म शब्द अनेक स्थानोंपर आया है; और जिस स्थानमें कहा गया हैं, कि "किसी-को कोई काम करना धर्म-संगत है", उस स्थानमें धर्म शब्दसे कर्तव्यशास्त्र अथवा तत्कालीन समाज-व्यवस्थाशास्त्रहीका अर्थ पाया जाता है; तथा जिस स्थानमें पारलौकिक कल्याणके मार्ग बतलानेका प्रसंग आया है, उस स्थानपर अर्थात् शांतिपर्वके उत्तरार्धमें 'मोक्षधर्म' इस विशिष्ट शब्दकी योजना की गई है। इसी तरह मन्वादि स्मृति-ग्रंथोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके विशिष्ट कर्मों अर्थात् चारों वर्णोंके कर्मोंका वर्णन करते समय केवल 'धर्म' शब्दकाही अनेक स्थानोंपर कई वार उपयोग किया गया है। और भगवद्गीतामेंभी जब भगवान् अर्जुनसे यह कहकर लड़नेके लिये कहते हैं, कि "स्वधर्ममपि चाऽवेक्ष्य" (गीता २. ३१) तब – और उसके बाद "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" (गीता ३. ३५) इस स्थानपरभी – 'धर्म' शब्द 'इस लोकके चातुर्वर्ण्यके धर्म' अर्थमेंही प्रयुक्त हुआ है। पुराने ज़मानेके ऋषियोंने श्रम-विभागरूप चातुर्वर्ण्य-संस्था इसलिये चलाई थी, कि समाजके सब व्यवहार सरलतासे होते जावें, किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या वर्गपरही सारा बोझ न पड़ने पावे, और समाजका सभी दिशाओंसे संरक्षण और पोषण भलीभाँति होता रहे। यह बात भिन्न है, कि कुछ समयके बाद चारों वर्णोंके लोग केवल जातिमात्रोपजीवी हो गये; अर्थात् सच्चे स्वकर्मको भूलकर वे केवल नामधारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो गये। इसमें संदेह नहीं, कि आरंभमें यह व्यवस्था समाजधारणार्थही की गई थी। और यदि चारों वर्णोंमेंसे कोईभी एक वर्ण अपना धर्म अर्थात् कर्तव्य छोड़ दे, यदि कोई वर्ण समूल नष्ट हो जाय और उसकी स्थानपूर्ति दूसरे लोगोंसे न की जाय, तो कुल समाज उतनाही पंगु होकर धीरे धीरे नष्टभी होने लग जाता है; अथवा वह निकृष्ट अवस्थाको तो अवश्यही पहुँच जाता है। यद्यपि यह बात सच है, कि यूरोपमें ऐसे समाज हैं, जिनका अभ्युदय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके बिनाही हुआ है; तथापि स्मरण रहे, कि उन देशोंमें चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था चाहे न हो; परंतु चारों वर्णोंके सब धर्मजातिरूपसे नहीं तो गुण-विभागरूपहीसे जागृत अवश्य रहते हैं। सारांश, जब हम धर्म शब्दका उपयोग व्यावहारिक दृष्टिसे करते हैं, तब हम यही देखा करते हैं कि, सब समाजाका धारण और पोषण कैसे होता है। मनुने कहा है – "असुखोदर्क अर्थात् जिसका परिणाम दुःखकारक होता है, उस धर्मको छोड़ दें" (मनु. ४. १७६) और शांति-पर्वके सत्यानृताध्याय (मभा. शां. १०९. १२) में धर्म-अधर्मका विवेचन करते हुए भीष्म और उसकेपूर्व कर्णपर्वमें श्रीकृष्ण कहते हैं :–

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

"धर्म शब्द धृ (= धारण करना) धातुसे बना है। धर्मसेही सब प्रजा बँधी हुई है। यह निश्चय किया गया है, कि जिससे (सब प्रजाका) धारण होता है वही धर्म

है" (मभा. कर्ण. ६९. ५९)। यदि यह धर्म छूट जाय, तो समझ लेना चाहिये, कि समाजके सारे बंधनभी टूट गये; और यदि समाजके बंधन टूटे, तो आकर्षण-शक्तिके बिना आकाशके सूर्यादि ग्रहमालाओंकी जो दशा हो जाती है, अथवा समुद्रमें मल्लाहके बिना नावकी जो दशा होती है, ठीक वही दशा समाजकीभी हो जाती है। इसलिये उक्त शोचनीय अवस्थासे समाजको नाशसे बचानेके लिये व्यासजीने कई स्थानोंपर कहा है, कि यदि अर्थ या द्रव्य पानेकी इच्छा हो, तो 'धर्मके द्वारा' अर्थात् समाजकी रचनाको न बिगाड़ते हुए प्राप्त करो; और यदि काम आदि वासनाओंको तृप्त करना हो, तो वह भी 'धर्मसेही' करो। महाभारतके अंतमें यही कहा है कि :–

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ।।

"अरे! भुजा उठा कर मैं चिल्ला रहा हूँ; (परंतु) कोईभी मेरी नहीं सुनता! धर्मसेही अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है, (इसलिये) इस प्रकारके धर्मका आचरण तुम क्यों नहीं करते हो?" अब इससे पाठकोंके ध्यानमें यह बात अच्छी तरह ज़म जायगी, कि महाभारतको जिस धर्म-दृष्टिसे पाँचवां वेद अथवा 'धर्मसंहिता' मानते हैं, उस 'धर्मसंहिता' शब्दके 'धर्म' शब्दका मुख्य अर्थ क्या है। यही कारण है, कि पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा इन दोनों पारलौकिक अर्थके प्रतिपादक ग्रंथोंके साथही – धर्मग्रंथके नातेसे – 'नारायणं नमस्कृत्य' इन प्रतीक शब्दोंके द्वारा – महाभारतकाभी समावेश ब्रह्मयज्ञके नित्यपाठमें कर दिया है।

धर्म-अधर्मके उपर्युक्त निरूपणको सुनकर कोई यह प्रश्न करे कि, यदि तुम्हें 'समाज-धारण' और दूसरे प्रकरणके सत्यानृतविवेकमें कथित 'सर्वभूतहित' ये दोनों तत्त्व मान्य हैं, तो तुम्हारी दृष्टिमें और आधिभौतिक दृष्टिमें भेदही क्या है? क्योंकि ये दोनों तत्त्व बाह्यत प्रत्यक्ष दिखनेवाले या आधिभौतिकही हैं। इस प्रश्नका विस्तृत विचार अगले प्रकरणोंमें किया गया है। यहाँ इतनाही कहना बस है, कि यद्यपि हमको यह तत्त्व मान्य है, कि समाज-धारणही धर्मका मुख्य बाह्य उपयोग है, तथापि हमारे मतकी विशेषता यह है, कि वैदिक अथवा अन्य सब धर्मोंका जो परम उद्देश्य आत्म-कल्याण या मोक्ष है, उसपरभी हमारी दृष्टि बनी है। समाज-धारणको लीजिये, चाहे सर्वभूतहितहीको, यदि ये बाह्योपयोगी तत्त्व हमारे आत्म-कल्याणके मार्गमें बाधा डालें, तो हमें इनकी ज़रूरत नहीं। हमारे आयुर्वेदग्रंथ यदि यह प्रतिपादन करते हैं, कि वैद्यकशास्त्रभी शरीररक्षाके द्वारा मोक्षप्राप्तिका साधन होनेके कारण संग्रहणीय है, तो यह कदापि संभव नहीं, कि जिस शास्त्रमें इस महत्त्वके विषयका विचार किया गया है, कि सांसारिक व्यवहार किस प्रकार करना चाहिये, उस कर्मयोगशास्त्रको हमारे शास्त्रकार आध्यात्मिक मोक्षज्ञानसे अलग बतलावें। इसीलिये हम समझते हैं, कि जो कर्म हमारे मोक्ष अथवा हमारी

आध्यात्मिक उन्नतिके अनुकूल हो, वही पुण्य है, वही धर्म और वही शुभकर्म है; और जो कर्म उसके प्रतिकूल वही पाप, अधर्म अथवा अशुभ है। यही कारण है, कि हम 'कर्तव्य-अकर्तव्य', 'कार्य-अकार्य' शब्दोंके बदले 'धर्म' और 'अधर्म' शब्दोंकाही (यद्यपि वे दो अर्थके अतएव कुछ संदिग्ध हों, तोभी) अधिक उपयोग करते हैं। यद्यपि बाह्य-सृष्टिके व्यावहारिक कर्मों अथवा व्यापारोंका विचार करनाही प्रधान विषय हो, तोभी उक्त कर्मोंके बाह्य परिणामके विचारके साथही साथ यह विचारभी हम लोग हमेशा करते हैं, कि ये व्यापार हमारी आत्माके कल्याणके अनुकूल हैं या प्रतिकूल। यदि आधिभौतिकवादीसे कोई यह प्रश्न करे, कि "मैं अपना हित छोड़कर लोगोंका हित क्यों करूँ?" तो वह इसके सिवा और क्या समाधानकारक उत्तर दे सकता है, कि "यह तो सामान्यतः मनुष्यस्वभावही है।" हमारे शास्त्रकारोंकी दृष्टि इससे परे पहुँची हुई है; और उस व्यापक आध्यात्मिक दृष्टिहीसे महाभारतमें कर्मयोगशास्त्रका विचार किया गया है; एवं श्रीमद्भगवद्गीतामें वेदान्तका निरूपणभी इतनेहीके लिये किया गया है। प्राचीन यूनानी पंडितोंकीभी यही राय है, कि 'अत्यंत हित' अथवा 'सद्‌गुणकी पराकाष्ठा'के समान कुछ-न-कुछ परम उद्देश्य कल्पित करके फिर उसी दृष्टिसे कर्म-अकर्मका विवेचन करना चाहिये। और ॲरिस्टॉटलने अपने नीतिशास्त्रके ग्रंथ (१. ७, ८) में कहा है, कि आत्माके हितमेंही इन सब बातोंका समावेश हो जाता है। तथापि इस विषयमें आत्माके हितको जितनी प्रधानता देनी चाहिये थी, उतनी ॲरिस्टॉटलने नहीं दी है। हमारे शास्त्रकारोंकी बात इस प्रकार नहीं है। उन्होंने निश्चित किया है कि, आत्माका कल्याण अथवा आध्यात्मिक पूर्णावस्थाही प्रत्येक मनुष्यका पहला और परम उद्देश्य है। अन्य प्रकारके हितोंकी अपेक्षा उसीको प्रधान जानना चाहिये और तदनुसार कर्म-अकर्मका विचार करना चाहिये। अध्यात्म-विद्याको छोड़कर कर्म-अकर्मका विचार करना ठीक नहीं है। जान पड़ता है कि वर्तमान समयमें पश्चिमी देशोंके कुछ पंडितोंनेभी कर्म-अकर्मके विवेचनकी इसी पद्धतिको स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, जर्मन तत्त्वज्ञानी कांटने पहले "शुद्ध (व्यवसायात्मक) बुद्धिकी मीमांसा" नामक आध्यात्मिक ग्रंथ लिखकर फिर उसकी पूर्तिके लिए "व्यावहारिक (वासनात्मक) बुद्धिकी मीमांसा" नामका नीतिशास्त्रविषयक ग्रंथ लिखा है* और इंग्लैंडमेंके ग्रीनने अपने "नीतिशास्त्रके उपोद्‌घात"का सृष्टिके मूलभूत आत्मतत्त्वसेही आरंभ किया है। परंतु इन ग्रंथोंके बदले केवल आधिभौतिक पंडितोंकेही

---

* कांट एक जर्मन तत्त्वज्ञानी था। इसे अर्वाचीन तत्त्वज्ञानशास्त्रका जनक समझते हैं। इसके *Critique ot Pure Reason* (शुद्ध बुद्धिकी मीमांसा) और *Critique of Practical Reason* (वासनात्मक बुद्धिकी मीमांसा) ये दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। ग्रीनके ग्रंथका नाम *Prolegomena to Ethics* है।

नीतिग्रंथ आजकल हमारे यहाँकी अंग्रेजी पाठशालाओंमें पढ़ाये जाते हैं, जिसका परिणाम यह दीख पड़ता है, कि गीतामें बतलाये गये कर्मयोगशास्त्रके मूलतत्त्वोंका – हमारे अंग्रेजी सीखे हुये कुछ विद्वानोंकोभी – स्पष्ट बोध नहीं होता।

उक्त विवेचनसे ज्ञात हो जायगा, कि व्यावहारिक नीतिबंधनोंके लिये अथवा समाज-धारणकी व्यवस्थाके लिये हम 'धर्म' शब्दका उपयोग क्यों करते हैं। महाभारत, भगवद्‌गीता आदि संस्कृत ग्रंथोंमें, तथा प्राकृत भाषा ग्रंथोंमेंभी, व्यावहारिक कर्तव्य अथवा नियमके अर्थमें धर्म शब्दका हमेशा उपयोग किया जाता है। कुलधर्म और कुलाचार, दोनों शब्द समानार्थक समझे जाते हैं। भारतीय युद्धमें एक समय कर्णके रथका पहिया पृथ्वीने निगल लिया था; उसको उठा कर ऊपर लानेके लिये जब कर्ण अपने रथसे नीचे उतरा तब अर्जुन उसका वध करनेके लिये उद्युक्त हुआ। यह देखकर कर्णने कहा, "निःशस्त्र शत्रुको मारना धर्मयुद्ध नहीं है।" इसे सुनकर श्रीकृष्णने कर्णको पिछली कई बातोंका स्मरण दिलाया; जैसे कि द्रौपदीका वस्त्रहरण और सब लोगोंने मिलकर अकेले अभिमन्युका किया वध इत्यादि। और प्रत्येक प्रसंगपर यह प्रश्न किया कि "हे कर्ण! उस समय तेरा धर्म कहाँ गया था?" इन सब बातोंका वर्णन महाराष्ट्र-कवि मोरोपंतने किया है। और महाभारतमेंभी इस प्रसंगपर "क्व ते धर्मस्तदा गतः"में 'धर्म' शब्दकाही प्रयोग किया गया है। तथा अंतमें कहा गया है, कि जो इस प्रकार अधर्म करे उसके साथ शठं प्रति शाठ्यंका बर्ताव करनाही उसको उचित दंड देना है। सारांश, क्या संस्कृत और क्या प्राकृत सभी ग्रंथोंमें 'धर्म' शब्दका प्रयोग उन सब नीति-नियमोंके लिये किया गया है, जो समाज-धारणके लिये शिष्टजनोंके द्वारा अध्यात्म-दृष्टिसे बनाये गये हैं। इसलिये उसी शब्दका उपयोग हमनेभी इस ग्रंथमें किया है। उक्त दृष्टिसे विचार करनेपर नीतिके उन नियमों अथवा 'शिष्टाचारों'को धर्मकी बुनियाद कह सकते हैं, जो समाज-धारणके लिये शिष्टजनोंके द्वारा प्रचलित किये गये हों; और जो सर्वमान्य हो चुके हों। और, इसलिये महाभारत (अनु. १०४. १५७) में एवं स्मृति-ग्रंथोंमें 'आचारप्रभवो धर्मः' अथवा 'आचारः परमो धर्मः' (मनु. १. १०८), अथवा धर्मका मूल बतलाते समय 'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः' (मनु. २. १२) इत्यादि वचन कहे हैं। परंतु कर्मयोगशास्त्रमें इतनेहीसे काम नहीं चल सकता; इस बातकाभी पूरा और मार्मिक विचार करना पड़ता है, (जैसे कि दूसरे प्रकरणमें किया है।) कि उक्त आचारकी प्रवृत्तिही क्यों हुई – इस आचारकी प्रवृत्तिका कारण क्या है।

'धर्म' शब्दकी दूसरी जो व्याख्या प्राचीन ग्रंथोंमें दी गई है, उसकाभी यहाँ थोड़ा विचार करना चाहिये। यह व्याख्या मीमांसकोंकी है: 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (जै. सू. १. १. २)। अर्थात् 'चोदना' याने प्रेरणा किसी अधिकारी पुरुषका यह कहना तू 'अमुक कर' अथवा 'मत कर' जबतक इस प्रकार कोई प्रबंध

नहीं कर दिया जाता, तबतक कोईभी काम किसीकोभी करनेकी स्वतंत्रता होती है। इसका आशय यही है, कि पहलेपहल निर्बंध या प्रबंधके कारण धर्म निर्माण हुआ। धर्मकी यह व्याख्या कुछ अंशमें, प्रसिद्ध अंग्रेज ग्रंथकार हॉब्सके मतसे मिलती है। असभ्य तथा जंगली अवस्थामें प्रत्येक मनुष्यका आचरण, समय-समयपर उत्पन्न होनेवाली उसकी मनोवृत्तियोंकी प्रबलताके अनुसार हुआ करता है। परंतु कुछ समयके बाद यह मालूम होने लगता है, कि इस प्रकारका मनमाना बर्ताव श्रेयस्कर नहीं है; और यह विश्वास होने लगता है, कि इंद्रियोंके स्वाभाविक व्यापारोंकी कुछ मर्यादा निश्चित करके उसके अनुसार बर्ताव करनेहीमें सब लोगोंका कल्याण है। तब प्रत्येक मनुष्य ऐसी मर्यादाओंका पालन कायदेके तौरपर करने लगता है; जो शिष्टाचारसे, या अन्य रीतिसे सुदृढ हो जाया करती हैं। और जब इस प्रकारकी मर्यादाओंकी संख्या बहुत बढ़ जाती है, तब उन्हींका एक शास्त्र बन जाता है। पिछले प्रकरणमें बतलाया गया है कि पूर्वसमयमें विवाहव्यवस्थाका प्रचार नहीं था। पहलेपहल उसे श्वेतकेतुने चलाया; और शुक्राचार्यने मदिरापानको निषिद्ध ठहराया। यह न देखकर, कि इन मर्यादाओंको निश्चित करनेमें श्वेतकेतु अथवा शुक्राचार्यका क्या हेतु था; केवल इसी एक बातपर ध्यान देकर, कि इन मर्यादाओंके निश्चित करनेका काम या कर्तव्य इन लोगोंको करना पड़ा; धर्म शब्दकी "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" व्याख्या बनाई गई है। धर्मभी हुआ तो पहले उसका महत्त्व किसी व्यक्तिके ध्यानमें आता है; और तभी उसकी प्रवृत्ति होती है। "खाओ-पीओ, मौज करो" ये बातें किसीको सिखलानी नहीं पड़ती; क्योंकि ये इंद्रियोंके स्वाभाविक धर्मही हैं। मनुजीने जो कहा है, कि "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने" (मनु. ५. ५६) – अर्थात् मांस भक्षण करना अथवा मद्यपान और मैथुन करना कोई (सृष्टि-कर्म-विरुद्ध) दोष नहीं है – उसका तात्पर्यभी यही है। ये सब बातें मनुष्यहीके लिये नहीं, किंतु प्राणिमात्रके लिये स्वाभाविक हैं – "प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्।" समाज-धारणके लिये अर्थात् सब लोगोंके सुखके लिये इस स्वाभाविक आचरणका उचित प्रतिबंध करनाही धर्म है। महाभारतके शांतिपर्व (मभा. शां. २९४ २९) मेंभी कहा है –

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

अर्थात् "आहार, निद्रा, भय और मैथुन मनुष्यों और पशुओंके लिये एकही समान स्वाभाविक हैं। मनुष्यों और पशुओंमें कुछ भेद है तो केवल धर्मका (अर्थात् इन स्वाभाविक वृत्तियोंको मर्यादित करनेका)। जिस मनुष्यमें यह धर्म नहीं है, वह पशुके समानही है।" आहारादि स्वाभाविक वृत्तियोंको मर्यादित करनेके विषयमें भागवतका श्लोक पिछले प्रकरणमें दिया गया है। इसी प्रकार भगवद्गीतामेंभी जब अर्जुनसे भगवान् कहते हैं (गीता ३. ३४) :–

इंद्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ।।

"इंद्रियों तथा इन इंद्रियोंमें अपने उपभोग्य अथवा त्याज्य पदार्थके विषयमें, जो प्रीति अथवा द्वेष होता है, वह स्वभावतः सिद्ध है। इनके वशमें हमें नहीं होना चाहिये। क्योंकि राग और द्वेष दोनों हमारे शत्रु हैं" – तब भगवानको धर्मका वही लक्षण अभिप्रेत है, जो स्वाभाविक तथा स्वैर मनोवृत्तियोंको मर्यादित करनेके विषयमें ऊपर दिया गया है। मनुष्यकी इंद्रियाँ उसे पशुके समान आचरण करनेके लिये कहा करती हैं, और उसकी बुद्धि उसको विरुद्ध दिशामें खींचा करती है। इस कलहाग्निमें जो लोग अपने शरीरमें संचार करनेवाले पशुत्वका यज्ञ करके कृतकृत्य (सफल) होते हैं, उन्हेंही सच्चा याज्ञिक कहना चाहिये, और वेही धन्य हैं।

धर्मको 'आचार-प्रभव' कहिये, 'धारणात्' धर्म मानिये अथवा 'चोदनालक्षण' धर्म समझिये; धर्मकी यानी व्यावहारिक नीतिबंधनोंकी कोईभी व्याख्या अपनाइये; परंतु जब धर्म-अधर्मका संशय उत्पन्न होता है, तब उसका निर्णय करनेके लिये उपर्युक्त तीनों लक्षणोंका कुछ उपयोग नहीं होता। पहली व्याख्यासे सिर्फ़ यह मालूम होता है, कि धर्मका मूलस्वरूप क्या है; उसका बाह्य उपयोग दूसरी व्याख्यासे मालूम होता है; और तीसरी व्याख्यासे यही बोध होता है, कि पहले पहल किसीने धर्मकी मर्यादा निश्चित कर दी है। परंतु अनेक आचारोंमें भेद पाया जाता है; इतनाही नहीं तो एकही कर्मके अनेक परिणाम होते हैं; और अनेक ऋषियोंकी आज्ञाएँ अर्थात् 'चोदना'भी भिन्न भिन्न हैं। इन कारणोंसे संशयके समय धर्मनिर्णयके लिये किसी दूसरे मार्गको ढूँढनेकी आवश्यकता होती है। यह मार्ग कौन-सा है? यही प्रश्न यक्षने युधिष्ठिरसे किया था। उसपर युधिष्ठिरने उत्तर दिया है कि :–

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुयतो विभिन्नाः नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पंथाः ।।

"यदि तर्कको देखें तो वह चंचल है, अर्थात् जिसकी बुद्धि जैसी तीव्र होती है वैसेही अनेक प्रकारके अनेक अनुमान तर्कसे निष्पन्न हो जाते हैं। श्रुति अर्थात् वेदाज्ञाएँ देखी जायें तो वेभी भिन्न भिन्न हैं, और यदि स्मृतिशास्त्रको देखें तो ऐसा एकभी ऋषि नहीं है, जिसका वचन अन्य ऋषियोंकी अपेक्षा अधिक प्रमाणभूत समझा जाय। अच्छा, (इस व्यावहारिक) धर्मका मूलभूततत्त्व देखा जाय, तो वहभी अंधकारमें छिपा हुआ है अर्थात् वह साधारण मनुष्योंकी समझमें नहीं आ सकता। इसलिये महाजन जिस मार्गसे गये हों, वही (धर्मका) मार्ग है" (मभा. वन. ३१२. ११५) ठीक है! परंतु महाजन किसको कहना चाहिये? उसका अर्थ "बड़ा अथवा बहुतसा जनसमूह" नहीं हो सकता। क्योंकि इन साधारण लोगोंके मनमें धर्म-अधर्मकी शंका कभी उत्पन्न नहीं होती, उनके बतलाये मार्गसे जाना मानो कठोपनिषद्में वर्णित 'अंधेनैव नीयमाना यथांधाः'– वाली नीतिहीको चरितार्थ करना है। अब यदि

महाजनका अर्थ " बड़े बड़े सदाचारी पुरुष " लिया जाय – और यही अर्थ उक्त श्लोकमें अभिप्रेत है – तो उन महाजनोंके आचरणमेंभी एकता कहाँ है ? निष्पाप श्रीरामचंद्रने अग्निद्वारा शुद्ध हो जानेपरभी अपनी पत्नीका त्याग केवल लोकापवादके लिये किया, और सुग्रीवको अपने पक्षमें मिलानेके लिये उससे 'तुल्यारिमित्र' – अर्थात् जो तेरा शत्रु वही मेरा शत्रु, और जो तेरा मित्र वही मेरा मित्र, इस प्रकार समझौता करके बेचारे वालीका वध किया, यद्यपि उसने श्रीरामचंद्रका कुछ अपराध नहीं किया था। परशुरामने तो पिताकी आज्ञासे प्रत्यक्ष अपनी माताका शिरच्छेद कर डाला। यदि पांडवोंका आचरण देखा जाय तो पाँचोंकी एकही स्त्री थी। स्वर्गके देवताओंको देखें तो कोई अहल्याका सतीत्व भ्रष्ट करनेवाला है, और कोई (ब्रह्मा) मृगरूपसे अपनीही कन्याका अभिलाष करनेके कारण रुद्रके बाणसे विद्ध होकर आकाशमें पड़ा हुआ है। (ऐ. ब्रा. ३. ३३) इन्हीं बातोंको मनमें लाकर 'उत्तररामचरित' नाटकमें भवभूतिने लवके मुखसे कहलाया है, कि " वृद्धास्ते न विचारणीयचरिताः " – इन वृद्धोंके कृत्योंका बहुत विचार नहीं करना चाहिये। अंग्रेजीमें शैतानका इतिहास लिखनेवाले एक ग्रंथकारने लिखा है, कि शैतानके साथियों और देवदूतोंके झगडोंका हाल देखनेसे मालूम होता है, कि कई बार देवताओंने ही दैत्योंको कपटजालमें फँसा लिया है। इसी प्रकार कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् (कौषी. ३. १ और ऐ. ब्रा. ७. २८) में इंद्र प्रतर्दनसे कहता है कि " मैंने वृत्रको (यद्यपि वह ब्राह्मण था) मार डाला; अरुन्मुख संन्यासियोंके टुकड़े टुकड़े करके भेडियोंको (खानेके लिये) दिये; और अपनी कई प्रतिज्ञाओंका भंग करके प्रल्हादके नातेदारों और गोत्रजोंका तथा पौलोम और कालखंज नामक दैत्योंका वध किया। (इससे) मेरा एक बालभी बाँका नहीं हुआ – " तस्यमें तत्र न लोम च मा मीयते ! " यदि कोई कहे, कि " तुम्हें इन महात्माओंके बुरे कर्मोंकी ओर ध्यान देनेका कुछभी कारण नहीं है; जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद (तैत्ति. १. ११. २) में बतलाया है; उनके जो कर्म अच्छे हों, उन्हींका अनुकरण करो; बाकी सब छोड़ दो। उदाहरणार्थ, परशुरामके समान पिताकी आज्ञाका पालन करो; परंतु माताकी हत्या मत करो "; तो वही पहला प्रश्न फिरभी उठता है, कि बुरा कर्म और भला कर्म समझनेके लिये साधन क्या है ? इसलिये अपनी करनीका उक्त प्रकारसे वर्णनकर इंद्र प्रतर्दनसे फिर कहता है, " जो पूर्ण आत्मज्ञानी है, उसे मातृवध, पितृवध भ्रूणहत्या अथवा स्तेय (चोरी) इत्यादि किसीभी कर्मका दोष नहीं लगता। इस बातको भलीभाँति समझ ले, कि आत्मा किसे कहते हैं – ऐसा करनेसे तेरे सारे संशयोंकी निवृत्ति हो जायगी। " इसके बाद इंद्रने प्रतर्दनको आत्मविद्याका उपदेश दिया। सारांश यह है, कि " महाजनो येन गतः स पंथाः " यह युक्ति यद्यपि सामान्य लोगोंके लिये सरल है, तोभी सब बातोंमें इससे निर्वाह नहीं हो सकता; और अंतमें महाजनोंके आचरणका सच्चा तत्त्व कितनाभी गूढ हो, तोभी आत्मज्ञानमें

घुसकर विचारवान् पुरुषोंको उसे ढूंढ़ निकालनाही पड़ता है। "न देवचरितं चरेत्" – देवताओंके केवल बाहरी चरित्रके अनुसार आचरण नहीं करना चाहिये – इस उपदेशका रहस्यभी यही है। इसके सिवा, कर्म-अकर्मका निर्णय करनेके लिये कुछ लोगोंने एक और सरल युक्ति बतलाई है। उनका कहना है, कि कोईभी सद्गुण हो, उसकी अधिकता न होने देनेके लिये हमें हमेशा यत्न करते रहना चाहिये; क्योंकि इस अधिकतासेही अंतमें सद्गुण दुर्गुण बन बैठता है। जैसे, दान सचमुच सद्गुण है; परंतु 'अतिदानाद्बलिर्बद्धः' – दानकी अधिकता होनेसेही राजा बलिने धोखा खाया। प्रसिद्ध यूनानी पंडित ॲरिस्टॉटलने अपने नीतिशास्त्रके ग्रंथमें कर्म-अकर्मके निर्णयकी यही युक्ति बतलाई है; और स्पष्टतया दिखलाया है, कि प्रत्येक सद्गुणकी अधिकता होनेपर दुर्दशा कैसे हो जाती है। कालिदासनेभी रघुवंशमें वर्णन किया है, कि केवल शूरता व्याघ्र सरीखे श्वापदका क्रूर काम है, और केवल नीतिभी डरपोकपन है; इसलिये अतिथि राजा तलवार और राजनीतिके योग्य मिश्रणसे अपने राज्यका प्रबंध करता था (रघु. १७. ४७)। भतृहरि आदियोंनेभी कुछ गुण-दोषोंका वर्णन कर कहा है, कि यदि ज्यादा बोलना वाचालताका लक्षण है, और कम बोलना गुम्मापन है; ज्यादा खर्च करे तो उडाऊ और कम करे तो कंजूस, आगे वढ़े तो दुःसाहसी और पीछे हटे तो ढ़ीला, अतिशय आग्रह करे तो जिद्दी और न करे तो चंचल, ज्यादा खुशामत करे तो नीच और ऐंठ दिखलावे तो घमंडी है; परंतु इस प्रकारकी स्थूल कसौटीसे अंततक निर्वाह नहीं हो सकता। क्योंकि, 'अति' किसे कहते हैं और 'नियमित' किसे कहते हैं – इसकाभी तो कुछ निर्णय होना चाहिये न; तथा, यह निर्णय कौन और किस प्रकार करे? किसी एकको अथवा किसी एक समयपर जो बात 'अति' होगी वही दूसरेको, अथवा दूसरे समयपर कम हो जायगी। हनुमानजीको, पैदा होतेही सूर्यको पकडनेके लिये उडान भरना कोई कठिन काम नहीं मालूम पड़ा (वा. रामा. ७. ३५); परंतु यही बात औरोंके लिये कठिन क्या असंभव जान पड़ती। इसलिये जब धर्म-अधर्मके विषयमें संदेह उत्पन्न हो, तब प्रत्येक मनुष्यको ठीक वैसाही निर्णय करना पड़ता है, जैसा श्येनने राजा शिबीसे कहा है :–

अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम।
विरोधिषु महीपालं निश्चित्य गुरुलाघवम्।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत्॥

अर्थात् परस्पर-विरुद्ध धर्मोंका तारतम्य अथवा लघुता और गुरुता देखकरही, प्रत्येक प्रसंगपर, अपनी बुद्धिके द्वारा सच्चे धर्म अथवा कर्मका निर्णय करना चाहिये (मभा. बन. १३१. ११, १२ और मनु. ६. २९९)। परंतु इतनेहीसे यहभी नहीं कहा जा सकता, कि धर्म-अधर्मके सार-असारका विचार करनाही शंकाके समय, धर्म-निर्णयकी एक सच्ची कसौटी है। क्योंकि व्यवहारमें अनेक बार देखा जाता है, कि अनेक पंडित लोग अपनी बुद्धिके अनुसार सार-असारका विचारभी

भिन्न भिन्न प्रकारसे किया करते है; और एकही बातकी नीतिमत्ताका निर्णयभी भिन्न भिन्नसे किया करते हैं। यही अर्थ उपर्युक्त 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' वचन प्रकारमें दिया गया है। इसलिये अब हमें यह जानना चाहिये, कि धर्म-अधर्म-संशयके इन प्रश्नोंका अचूक निर्णय करनेके लिये अन्य कोई साधन या उपाय हैं या नहीं; यदि हैं तो कौनसे हैं; और यदि अनेक उपाय हों तो उनमें श्रेष्ठ कौन है। बस, इस बातका निर्णय कर देनाही शास्त्रका काम है। शास्त्रका यही लक्षण है, कि "अनेक संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्" – अर्थात् अनेक शंकाओंके उत्पन्न होनेपर, सबसे पहले उन विषयोंके गुत्थमगुत्थेको सुलझा दे, जो समझमें नहीं आ सकते हैं; फिर उनके अर्थको सुगम और स्पष्ट कर दे और जो बातें आँखोंसे दीख न पड़ती हों उनका, अथवा आगे होनेवाली बातोंकाभी यथार्थ ज्ञान करा दे। जब हम इस बातको सोचते हैं, कि ज्योतिषशास्त्रके सीखनेसे आगे होनेवाले ग्रहणोंकाभी सब हाल मालूम हो जाता है, तब उक्त लक्षणके "परोक्षार्थस्य दर्शकम्" इस दूसरे भागकी सार्थकता अच्छी तरह दीख पड़ती है। परंतु अनेक संशयोंका समाधान करनेके लिये पहले यह जानना चाहिये, कि वे कोन-सी शंकाएँ हैं। इसीलिये प्राचीन और अर्वाचीन ग्रंथकारोंकी यह रीत है, कि किसीभी शास्त्रका सिद्धान्तपक्ष बतलानेके पहले उस विषयमें जितने पक्ष हो गये हों, उनका विचार करके उनके दोष और उनकी न्यूनताएँ दिखलाई जाती हैं। इसी रीतिका स्वीकार करके गीतामें कर्म-अकर्म निर्णयके लिये प्रतिपादन किया हुआ सिद्धान्त-पक्षीय योग अर्थात् युक्ति बतलानेके पहले, इसी कामके लिये जो अन्य युक्तियाँ पंडित लोग बतलाया करते हैं, उनकाभी अब हम विचार करेंगे। यह बात सच है, कि ये युक्तियाँ हमारे यहाँ पहले विशेष प्रचारमें न थीं; और विशेष करके पश्चिमी पंडितोंनेही वर्तमान समयमें उनका प्रचार किया है; परंतु इतनेहीसे यह नहीं कहा जा सकता, कि उनकी चर्चा इस ग्रंथमें न की जावे। क्योंकि न केवल तुलनाहीके लिये, परंतु गीताके आध्यात्मिक कर्मयोगका महत्त्व ध्यानमें लानेके लियेभी इन युक्तियोंको – संक्षेपमेंभी क्यों न हो – जान लेना अत्यंत आवश्यक है।

चौथा प्रकरण

आधिभौतिक सुखवाद

दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम् ।*

– महाभारत, शांति. १३९. ६१

मनु आदि शास्त्रकारोंने "अहिंसा सत्यमस्तेयं" इत्यादि जो नियम बनाये हैं उनका कारण क्या है, वे नित्य हैं कि अनित्य, उनकी व्याप्ति कितनी है, उनका मूलभूतत्त्व क्या है, यदि इनमेंसे कोई दो परस्परविरोधी धर्म एकही समयमें प्राप्त हों तो किस मार्गका स्वीकार करना चाहिये, इत्यादि प्रश्नोंका निर्णय ऐसी सामान्य युक्तियोंसे नहीं हो सकता, जो "महाजनो येन गतः स पंथाः" या "अति सर्वत्र वर्जयेत्" आदि वचनोंसे सूचित होती हैं। इसलिये अब यह देखना चाहिये, कि इन प्रश्नोंका उचित निर्णय कैसे हो; और श्रेयस्कर मार्ग निश्चित करनेके लिये निर्भ्रांत युक्ति क्या है; अर्थात् यह जानना चाहिये, कि परस्परविरुद्ध धर्मोंकी लघुता और गुरुता – न्यूनाधिक महत्ता – किस दृष्टिसे निश्चित की जावे। अन्य शास्त्रीय प्रतिपादनोंके अनुसार कर्म-अकर्म विवेचनसंबंधी प्रश्नोंकीभी चर्चा करनेके तीन मार्ग है; जैसे आधिभौतिक और आध्यात्मिक। इनके भेदोंका वर्णन पिछले प्रकरणमें करचुके हैं। हमारे शास्त्रकारोंके मतानुसार आध्यात्मिक मार्गही इन सब मार्गोंमें श्रेष्ठ है; परंतु अध्यात्ममार्गका महत्त्व पूर्ण रीतिसे ध्यानमें लानेके लिये दूसरे दो मार्गोंकाभी विचार करना आवश्यक है; इसीलिये इस प्रकरणमें पहले कर्म-अकर्म-परीक्षाके आधिभौतिक मूलतत्त्वोंकी चर्चा की गई है। जिन आधिभौतिक शास्त्रोंकी आजकल बहुत उन्नति हुई है, उनमें व्यक्त पदार्थोंके बाह्य और दृश्य गुणोंहीका विचार विशेषतासे किया जाता है। इसलिये जिन लोगोंने आधिभौतिक शास्त्रोंके अध्ययनहीमें अपनी उम्र बिता दी है और जिनको इस शास्त्रकी विचारपद्धतिका अभिमान है, उन्हें बाह्य परिणामोंकाही विचार करनेकी आदत-सी पड़ जाती है। इसका परिणाम यह होता है, कि उनकी तत्त्वज्ञानदृष्टि थोड़ी-सी संकुचित हो जाती है; और किसीभी बातका विवेचन करते समय वे लोग आध्यात्मिक, पारलौकिक, अव्यक्त या अदृश्य कारणोंको विशेष महत्त्व नहीं देते। परंतु यद्यपि वे लोग उक्त कारणसे आध्यात्मिक और पारलौकिक दृष्टिको छोड दें, तथापि उन्हें यह मानना पड़ेगा कि मनुष्योंके सांसारिक व्यवहारोंको सरलता-पूर्वक चलाने और लोकसंग्रह करनेके लिये नीति-नियमोंकी अत्यंत आवश्यकता

---

* "दुःखसे सभी ऊब जाते हैं और सुखकी इच्छा सभी करते हैं।"

है। इसीलिये हम देखते हैं, कि उन पंडितोंकोभी कर्मयोगशास्त्र बहुत महत्त्वका मालूम होता है, कि जो लोग पारलौकिक विषयोंमें अनास्था रखते हैं, या जिन लोगोंका अव्यक्त अध्यात्मज्ञानमें (अर्थात् परमेश्वरमेंभी) विश्वास नहीं है। ऐसे पंडितोंने पश्चिमी देशोंमें इस बातकी बहुत चर्चा की है – और वह चर्चा अबतक जारी है – कि केवल आधिभौतिक शास्त्रकी रीतिसे (अर्थात् केवल सांसारिक दृश्य युक्तिवादसेही) कर्म-अकर्म-शास्त्रकी उपपत्ति दिखलाई जा सकती है या नहीं। इस चर्चासे उन लोगोंने यह निश्चय किया है, कि नीतिशास्त्रका विवेचन करनेमें अध्यात्मशास्त्रकी कुछभी आवश्यकता नहीं है। किसी कर्मके भले या बुरे होनेका निर्णय उस कर्मके बाह्य परिणामोंसे – जो प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं – किया जाना चाहिये; और ऐसाही कियाभी जा सकता है। क्योंकि, मनुष्य जो जो कर्म करता है, वह सब सुखके लिये या दुःख-निवारणार्थही किया करता है। और तो क्या 'सब मनुष्योंका सुख' ही ऐहिक परमोद्देश है; और यदि सब कर्मोंका अंतिम दृश्य फल इस प्रकार निश्चित है, तो नीति-निर्णयका सच्चा मार्ग यही होना चाहिये, कि सब कर्मोंकी नीतिमत्ता, सुखप्राप्ति या दुःखनिवारणका तारतम्य अर्थात् लघुता – गुरुता देखकर, निश्चित की जावे। जब कि व्यवहारमें किसी वस्तुका भला-बुरापन केवल बाहरी उपयोगहीसे निश्चित किया जाता है, – जैसे, जो गाय छोटे सींगोवाली और सीधी होकरभी अधिक दूध देती है, वही अच्छी समझी जाती है – तब इसी प्रकार जिस कर्मसे सुख-प्राप्ति या दुःख-निवारणात्मक बाह्य फल अधिक हो, उसीको नीतिकी दृष्टिसेभी श्रेयस्कर समझना चाहिये। जब हम लोगोंको केवल बाह्य और दृश्य परिणामोंकी लघुता-गुरुता देखकर नीतिमत्ताके निर्णय करनेकी यह सरल और शास्त्रीय कसौटी प्राप्त हो गई है, तब उसके लिये आत्म-अनात्मके गहरे विचार-सागरमें चक्कर खाते रहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। "अर्के चेन्मधु विंदेत किमर्थं पर्वतं व्रजेत"* – पासहीमें मधु मिल जाय तो मधु-मक्खीके छत्तेकी खोजमें जंगलमें क्यों जाएँ? किसीभी कर्मके केवल बाह्य फलको देखकर नीति और अनीतिका निर्णय करनेवाले उक्त पक्षको हमने "आधि-भौतिक सुखवाद" कहा है। क्यों कि नीतिमत्ताका निर्णय करनेके लिये इस मतके अनुसार जिन सुख-दुःखोंका विचार किया जाता है, वे सब प्रत्यक्ष दिखनेवाले, और केवल बाह्य अर्थात् बाह्य पदार्थोंका इंद्रियोंके साथ संयोग होनेपर उत्पन्न होने-वाले, यानी आधिभौतिक हैं; और यह पंथभी सब संसारका केवल आधिभौतिक

---

* कुछ लोग इस श्लोकमें 'अर्क' शब्दसे 'आर्क या मदार' के पेड़काभी अर्थ लेते हैं। परंतु ब्रह्मसूत्र ३. ४. ३. के शांकरभाष्यकी टीकामें आनंदगिरीने 'अर्क' शब्दका अर्थ 'समीप' किया है। इस श्लोकका दूसरा चरण यह है – "सिद्धस्यार्थस्य संप्राप्तौ को विद्वान्यत्नमाचरेत्।"

दृष्टिसे विचार करनेवाले पंडितोंसेही चलाया गया है। इसका विस्तृत वर्णन इस ग्रंथमें करना असंभव है – भिन्न भिन्न ग्रंथकारोंके मतोंका सिर्फ़ सारांश देनेके लियेही स्वतंत्र ग्रंथ लिखना पड़ेगा, इसलिये श्रीमद्‌भगवद्‌गीताके कर्मयोगशास्त्रका स्वरूप और महत्त्व पूरी तौरसे ध्यानमें आ जानेके लिये नीतिशास्त्रके इस आधि-भौतिक पंथका जितना स्पष्टीकरण अत्यावश्यक है, उतनाही संक्षिप्त रीतिसे इस प्रकरणमें एकत्रित किया गया है। इससे अधिक बातें जाननेके लिये पाठकोंको पश्चिमी विद्वानोंके मूल ग्रंथही पढ़ने चाहिये। ऊपर कहा गया है, कि परलोक या आत्मविद्याके विषयमें आधिभौतिकवादी उदासीन रहा करते हैं; परंतु इसका यह मतलब नहीं है, कि इस पंथके सब विद्वान् लोग स्वार्थसाधक, अपस्वार्थी अथवा अनीतिमान् हुआ करते हैं। यदि इन लोगोंमें पारलौकिक दृष्टि नहीं है तो न सही। ये मनुष्यके कर्तव्यके विषयमें यही कहते हैं, कि प्रत्येक मनुष्यको अपनी ऐहिक दृष्टिहीको – जितनी बन सके उतनी – व्यापक बना कर समूचे जगत्‌के कल्याणके लिये प्रयत्न करना चाहिये। इस तरह अंतःकरणसे और उत्साहके साथ उपदेश करनेवाले कांट, मिल, स्पेन्सर आदि सात्त्विक वृत्तिके अनेक पंडित इस पंथमें हैं; और उनके ग्रंथ अनेक प्रकारके उदात्त और प्रगल्भ विचारोंसे भरे रहनेके कारण सब लोगोंके पढ़ने योग्य हैं। यद्यपि कर्मयोगशास्त्रके पंथ भिन्न हैं, तथापि जबतक "संसारका कल्याण" यह बाहरी उद्देश्य छूट नहीं गया है तबतक भिन्न रीतिसे नीतिशास्त्रका प्रतिपादन करनेवाले किसी मार्ग या पंथका उपहास करना अच्छी बात नहीं है। अस्तु; आधिभौतिकवादियोंमें इस विषयपर मतभेद है, कि नैतिक कर्म-अकर्मका निर्णय करनेके लिये जिस आधिभौतिक बाह्य सुखका विचार करना है वह किसका है? स्वयं अपना है या दूसरेका; एकही व्यक्तिका है, या अनेक व्यक्तियोंका? अब संक्षेपमें इस बातका क्रमशः विचार किया जायगा, कि नये और पुराने सभी आधिभौतिक-वादियोंके मुख्यतः कितने वर्ग हो सकते हैं; और उनके ये पंथ कहाँतक उचित अथवा निर्दोष हैं।

इनमेंसे पहला वर्ग केवल स्वार्थ-सुखवादियोंका है। इस पंथका कहना है, कि परलोक और परोपकार सब झूठ है। आध्यात्मिक धर्मशास्त्रोंको चालाक लोगोंने अपना पेट भरनेके लिये लिखा है। इस दुनियामें स्वार्थही सत्य है, और जिस उपायसे स्वार्थ सिद्ध हो सके, अथवा जिसके द्वारा स्वयं अपने आधिभौतिक सुखकी वृद्धि हो उसीको न्याय्य, प्रशस्त या श्रेयस्कर समझना चाहिये। हमारे हिंदुस्थानमें बहुत पुराने समयमें चार्वाकने बडे उत्साहसे इस मतका प्रतिपादन किया था और रामायणमें जाबालिने अयोध्याकांडके अंतमें श्रीरामचंद्रजीको जो कुटिल उपदेश दिया है वह, तथा महाभारतमें वर्णित कणिकनीति (मभा. आ. १४२)भी इसी प्रकारकी है। चार्वाकका मत है, कि जब पंचमहाभूत एकत्र हो जाते हैं, तब उनके मिलापसे आत्मा नामका एक गुण उत्पन्न हो जाता है; और देहके जलनेपर

उसके साथ साथ वहभी चल जाता है। इसलिये विद्वानोंका कर्तव्य है, कि आत्म-विचारके झंझटमें न पड़कर जबतक यह शरीर जीवित अवस्थामें है, तबतक "ऋण ले कर भी त्योहार मनावें" – ? "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" – क्योंकि मरने पर कुछ नहीं है। चार्वाक हिंदुस्थानमें पैदा हुआ था, इसलिये उसने घृतहीसे अपनी तृष्णा बुझा ली। नहीं तो उक्त सूत्रका रूपांतर "ऋणं कृत्वा सुरां पिबेत्" हो गया होता। कहाँका धर्म और कहाँका परोपकार! इस संसारमें जितने पदार्थ परमेश्वरने, – शिव, शिव! भूल हो गई। परमेश्वर आया कहाँसे? – इस संसारमें जितने पदार्थ हैं, वे सब मेरेही उपभोगके लिये हैं। उनका दूसरा कोईभी उपयोग नहीं दिखाई पड़ता – अर्थात् है ही नहीं! मैं मरा कि दुनिया डूबी! इसलिये जबतक मैं जीता हूँ, तब आज यह तो कल वह; इस प्रकार सब कुछ अपने अधीन करके अपनी सारी काम-वासनाओंको तृप्त कर लूँगा। यदि में तप करूंगा, अथवा कुछ ज्ञान दूंगा तो वह सब मैं अपने महत्त्वको बढ़ानेहीके लिये करूँगा; और यदि मैं राजसूय या अश्वमेध यज्ञ करूँगा, तो उसे मैं यही प्रकट करनेके लिये करूँगा, कि मेरी सत्ता या अधिकार सर्वत्र अबाधित है। सारांश, इस जगतका मैंही केंद्र हूँ; और केवल यही सब नीतिशास्त्रोंका रहस्य है। बाकी सब झूठ है। ऐसेही आसुरी मताभिमानियोंका वर्णन गीताके सोलहवें अध्यायमें किया गया है–"ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी" (गीता १६. १४) – "मैंही ईश्वर, मैंही भोगनेवाला; और मैंही सिद्ध बलवान् और सुखी हूँ।" यदि श्रीकृष्णके बदले जाबालिके समान इस पंथवाला कोई आदमी अर्जुनको उपदेश करनेके लिये होता, तो वह पहले अर्जुनके कान मलकर यह बतलाता, कि "अरे तू मूर्ख तो नहीं है? लड़ाईमें सबको जीत कर अनेक प्रकारके राजभोग और विलासोंके भोगनेका यह बढ़िया मौका पाकरभी तू "यह करूँ कि वह करूं?" इत्यादि व्यर्थ भ्रममें कुछका कुछ बक रहा है। यह मौक़ा फिरसे मिलनेका नहीं। कहाँका आत्मा और कहाँके कुटुंबियोंको लिये बैठा है। उठ, तैयार हो; सब लोगोंको ठोक-पीटकर सीधा कर दे; और हस्तिनापुरके साम्राज्यका सुखसे नष्कंटक उपभोग कर! इसीमें तेरा परम कल्याण है। स्वयं अपने दृश्य तथा ऐहिक मुखके सिवा इस संसारमें और रखाही क्या है?" परंतु अर्जुनने इस घृणित, स्वार्थ-साधक और आसुरी उपदेशकी प्रतीक्षा नहीं की – उसने पहलेही श्रीकृष्णसे कह दिया कि :–

एतान्न हंतुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।।

"पृथ्वीहीका क्यों, परंतु यदि तीनों लोकोंका राज्य (इतना बड़ा विषय-सुख) भी (इस युद्धके द्वारा) मुझे मिल जाय, तोभी मैं कौरवोंको मारना नहीं चाहता। भलेही वे मेरी गर्दन उड़ा दें!" (गीता १. ३५)। अर्जुनने पहलेहीसे जिस स्वार्थ-परायण और आधिभौतिक सुखवाद-पंथका इस तरह निषेध किया है, उसके आसुरी

मतका केवल उल्लेख करनाही उसका खंडन करना कहा जा सकता है। दूसरोंके हित-अनहितकी कुछभी परवाह न करके सिर्फ़ अपने खुदके विषयोपभोग-सुखको परम-पुरुषार्थ मान कर नीतिमत्ता और धर्मको ठुकरा देनेवाले आधिभौतिक वादियोंकी यह अत्यंत कनिष्ठ श्रेणी कर्मयोगशास्त्रके सब ग्रंथकारोंके द्वारा, और सामान्य लोगोंके द्वाराभी बहुतही अनीति की, त्याज्य और गर्ह्य मानी गई है। अधिक क्या कहा जाय, यह पंथ नीतिशास्त्र अथवा नीतिविवेचनके नामकोभी पात्र नहीं है। इसलिये इसके बारेमें अधिक विचार न करके आधिभौतिक सुखवादियोंके दूसरे वर्गकी ओर ध्यान देना चाहिये।

खुल्लमखुल्ला या प्रकट स्वार्थ संसारमें चल नहीं सकता। क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है, कि यद्यपि आधिभौतिक विषयसुख प्रत्येकको इष्ट होता है; तथापि जब हमारा सुख अन्य लोगोंके सुखोपभोगमें बाधा डालता है, तब वे लोग बिना विघ्न उपस्थित किये नहीं रहते। इसलिये दूसरे कई आधिभौतिक पंडित प्रतिपादन किया करते हैं, कि यद्यपि स्वयं अपना सुख या स्वार्थ-साधनही हमेशा उद्देश्य है, तथापि सब लोगोंको अपनेही समान रियायत दिये बिना सुखका मिलना संभव नहीं है। इसलिये अपने सुखके लियेही दूरदर्शिताके साथ अन्य लोगोंके सुखकी ओरभी ध्यान देना चाहिये। इन आधिभौतिकवादियोंकी गणना हम दूसरे वर्गमें करते हैं। बल्कि यह कहना चाहिये, कि नीतिकी आधिभौतिक उपपत्तिका यथार्थ आरंभ यहींसे होता है। क्योंकि इस वर्गके लोग चार्वाकके मतानुसार यह नहीं कहते, कि समाज-सुधारके लिये नीतिके बंधनोंकी कुछ आवश्यकताही नहीं है। किंतु इन लोगोंने अपनी विचारदृष्टिसे इस बातका कारण बतलाया है, कि सभी लोगोंको उनका पालन क्यों करना चाहिये। इनका कहना यह है, कि यदि इस बातका सूक्ष्म विचार किया जाय, कि संसारमें अहिंसा-धर्म कैसे चला और लोग उसका पालन क्यों करते हैं, तो यही मालूम होगा, कि ऐसे स्वार्थमूलक भयके सिवा उसका दूसरा कोई कारण नहीं है, जो इस वाक्यसे प्रकट होता है – "यदि मैं लोगोंको मारूँगा तो वे मुझेभी मार लेंगे; और फिर मुझे अपने सुखोंसे हाथ धोना पडेगा।" अहिंसा-धर्मके अनुसारही अन्य सब धर्मभी इसी या ऐसेही स्वार्थ-मूलक कारणोंसे प्रचलित हुए हैं। हमें दुःख हुआ, तो हम रोते हैं; और दूसरोंको हुआ, तो हमें दया आती है। क्यों? इसी लिये न, कि हमारे मनमें यह डर पैदा होता है, कि कहीं भविष्यमें हमारीभी ऐसीही दुःखमय अवस्था न हो जाय। परोपकार, उदारता, दया, ममता, कृतज्ञता, नम्रता, मित्रता इत्यादि जो गुण लोगोंके सुखके लिये आवश्यक मालूम देते हैं, वे सब – यदि उनका मूलस्वरूप देखा जाय तो – अपनेही सुखके लिये या अपनेही दुःखनिवारणार्थ हैं। कोई किसीकी सहायता करता है, या कोई किसीको दान देता है। क्यों? इसीलिये न कि जब हमपरभी आ बीतेगी, तब वे हमारी सहायता करेंगे। हम अन्य लोगोंको इसलिये प्यार करते

हैं, कि वेभी हमको प्यार करें। और कुछ नहीं तो हमारे मनमें यह स्वार्थमूलक हेतु अवश्य रहता है कि लोग हमें अच्छा कहें। परोपकार और परार्थ दोनों शब्द केवल भ्रांतिमूलक हैं। यदि कुछ सच्चा है तो स्वार्थ; और स्वार्थ कहते हैं अपने लिये सुख-प्राप्ति या अपने दुःखनिवारणको। माता बच्चेको दूध पिलाती है; इसका कारण यह नहीं है, कि वह बच्चेसे प्रेम करती हो; सच्चा कारण तो यही है, कि उसके स्तनोंमें दूध भर जानेसे उसे जो दुःख होता है, उसे कम करनेके लिये – अथवा भविष्यमें यही लडका मुझे प्यार करके सुख देगा, इस स्वार्थ-सिद्धिके लियेही वह उपाय करती है – इस प्रकार उक्त कथनका अर्थ होता है। इस बातको दूसरे वर्गके आधिभौतिकवादी मानते हैं, कि स्वयं अपनेही सुखके लियेभी क्यों न हो, परंतु भविष्यपर दृष्टि रखकर ऐसे नीतिधर्मका पालन करना चाहिये, कि जिससे दूसरोंको भी सुख हो। बस, यही इस मतमें और चार्वाकके मतमें भद है। तथापि चार्वाक मतके अनुसार इस मतमेंभी यह माना जाता है, कि मनुष्य केवल विषय-सुखमें, रूप स्वार्थमें ढला हुआ एक पुतला है। इंग्लैंडमें हॉब्स और फ्रान्समें हेल्वेशिअसने इस बातका प्रतिपादन किया है। परंतु इस मतके अनुयायी अब न तो इंग्लैंडमेंही और न कहीं बाहरभी अधिक मिलेंगे। हॉब्सके नीतिधर्मकी इस उपपत्तिके प्रसिद्ध होनेपर बटलरसरीखे* विद्वानोंने उसका खंडन करके सिद्ध किया, कि मनुष्य-स्वभाव केवल स्वार्थी नहीं है; स्वार्थके समानही उसमें जन्मसेही भूतदया, प्रेम, कृतज्ञता आदि सद्गुणभी कुछ अंशमें रहते हैं। इसलिये किसी व्यवहार या कर्मका नैतिक दृष्टिसे विचार करते समय केवल स्वार्थ या दूरदर्शी स्वार्थकी ओर ही ध्यान न दे कर मनुष्य-स्वभावकी दो स्वाभाविक प्रवृत्तियों (अर्थात् स्वार्थ और परार्थ) की ओर नित्य ध्यान देना चाहिये। जब हम देखते हैं कि व्याघ्र सरीखे क्रूर जानवरभी अपने बच्चोंकी रक्षाके लिये प्राण देनेको तैयार हो जाते हैं, तब हम यह कभी नहीं कह सकते कि मनुष्यके हृदयमें प्रेम और परोपकारबुद्धि जैसे सद्गुण केवल स्वार्थहीसे उत्पन्न हुए हैं। इससे सिद्ध होता है, कि धर्म-अधर्मकी परीक्षा केवल दूरदर्शी स्वार्थसे करना शास्त्रकी दृष्टिसेभी उचित नहीं है। यह बात हमारे प्राचीन पंडितोंकोभी अच्छी तरहसे मालूम थी, कि केवल संसारमें लिप्त रहनेके कारण जिस मनुष्यकी बुद्धि शुद्ध नहीं रहती है, वह मनुष्य जो कुछ परोपकारके नामसे करता है, बहुधा अपनेही हितके लिये करता है। महाराष्ट्रमें तुकाराम महाराज एक बड़े भारी भगवद्भक्त हो गये हैं। वे कहते हैं, कि "बहु

---

* हॉब्सका मत उसके *Leviathan* नामक ग्रंथमें संग्रहीत है, तथा बटलरका मत उसके *Sermon on Human Nature* नामक निबंधमें है। हेल्वेशिअसकी पुस्तकका सारांश मोर्लेने अपने *Diderot* विषयक ग्रंथ (*Vol. II, Chap.* V) में दिया है।

दिखलानेके लिये तो रोती है सासके हितके लिये; परंतु हृदयका भाव कुछ औरही रहता है। (तु. गा. ३५८३. २)" बहुतसे पंडित तो हेल्वेशिअससेभी आगे बढ़ गये हैं। उदाहरणार्थ, "मनुष्यकी स्वार्थप्रवृत्ति तथा परार्थप्रवृत्तिभी दोषमय होती है" – "प्रवर्तनालक्षणा दोषाः" इस गौतम-न्यायसूत्र (१. १. १८) के आधारपर ब्रह्मसूत्रभाष्यमें श्रीशंकराचार्यने जो कुछ कहा है (वे. सू. शां. भा. २. २. ३), उसपर टीका करते हुए आनंदगिरि लिखते हैं, कि "जब हमारे हृदयमें कारुण्यवृत्ति जागृत होती है, और हमको उससे जो दुःख होता है, उस दुःखको हटानेके लिये हम अन्य लोगोंपर दया या परोपकार किया करते हैं।" आनंदगिरिका यही युक्तिवाद प्रायः हमारे सब संन्यासमार्गीय ग्रंथोंमें पाया जाता है; जिससे यह सिद्ध करनेका प्रयत्न दीख पड़ता है, कि सब कर्म स्वार्थमूलक होनेके कारण त्याज्य हैं। परंतु बृहदारण्यकोपनिषद् (बृ. २. ४. ४. ५) में याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयीका जो संवाद दो स्थानोंपर है, उसमें इसी युक्तिवादका उपयोग एक दूसरीही अद्‌भुत रीतिसे किया गया है। मैत्रेयीने पूछा "हम अमर कैसे बनेंगे ?" इस प्रश्नका उत्तर देते समय याज्ञवल्क्य उससे कहते हैं, "हे मैत्रेयी ! स्त्री अपने पतिको चाहती है, वह पतिहीके लिये नहीं किंतु वह अपनी आत्माके लिये उसे चाहती है। इसी तरह हम अपने पुत्रसे उसके हितार्थ प्रेम नहीं करते; किंतु हम स्वयं अपनेही लिये उससे प्रेम करते हैं।* द्रव्य, पशु और अन्य वस्तुओंके लियेभी यही न्याय उपयुक्त है। "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" – अपने आत्माके प्रीत्यर्थही सब पदार्थ हमें प्रिय लगते हैं। और यदि इस तरह सब प्रेम आत्ममूलक है, तो क्या हमको सबसे पहले यह जाननेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये, कि आत्मा (हम) क्या है ?" यह कहकर अंतमें याज्ञवल्क्यने यही उपदेश दिया है, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः" – अर्थात् "सबसे पहले यह देखो, कि आत्मा कौन है, फिर उसके विषयमें सुनो और उसका मनन तथा ध्यान करो।" इस उपदेशके अनुसार एक बार आत्माके सच्चे स्वरूपकी पहचान होनेपर सब जगत् आत्ममय दिख पडने लगता है; और स्वार्थ तथा परार्थका भेदही मनमें रहने नहीं पाता। याज्ञवल्क्यका यह युक्तिवाद दिखनेमें तो हॉब्सके मतानुसारही है; परंतु यह बातभी किसीसे छिपी नहीं है, कि इन दोनोंके निकाले गये अनुमान एक दूसरेके विरुद्ध हैं। हॉब्स स्वार्थहीको प्रधान मानता है; और सब परार्थोंको दूरदर्शी स्वार्थ काही

---

*"What say you of natural affection? Is that also a species of self-love? Yes; All is self-love. *Your* children are loved only because they are yours. *Your* friend for a like reason. And *Your* country engages you only so far as it has a connection with *Yourself*" ह्यूमनेभी इसी यक्तिवादका उल्लेख अपने *Of the Dignity or Meanness of Human Nature* नामक निबंधमें किया है। स्वयं ह्यूमका मत इससे भिन्न है।

एक स्वरूप मानकर कहता है, कि इस संसारमें स्वार्थके सिवा और कुछ नहीं। याज्ञवल्क्य 'स्वार्थ' शब्दके 'स्व' (अपना) पदके आधारपर दिखलाते हैं, कि अध्यात्मदृष्टिसे अपने एकही आत्मामें सब भूतोंका और सब भूतोंमें अपने आत्माका, अविरोध भावसे समावेश कैसे होता है। यह दिखला कर उन्होंने स्वार्थ और परार्थमें दिखनेवाले द्वैतके झगड़ेकी जड़हीको काट डाला है। याज्ञवल्क्यके उक्त मत और संन्यासमार्गीय मतपर अधिक विचार आगे किया जायगा। यहाँपर याज्ञवल्क्य आदियोंके मतोंका उल्लेख यही दिखलानेके लिये किया गया है, कि "सामान्य मनुष्योंकी प्रवृत्ति स्वार्थ-विषयक अर्थात् आत्मसुखविषयक होती है" – इस एकही बातको थोड़ा-बहुत महत्त्व दे कर, अथवा इसी एक बातको सर्वथा अपवाद-रहित मान कर, हमारे प्राचीन ग्रंथकारोंने उसी बातसे हॉब्सके विरुद्ध दूसरे अनुमान कैसे निकाले हैं।

जब यह बात सिद्ध हो चुकी, कि मनुष्यका स्वभाव केवल स्वार्थमूलक अर्थात् तमोगुणी या राक्षसी नहीं है – जैसा कि अंग्रेजी ग्रंथकार हॉब्स और फ्रेंच पंडित हेल्वेशिअस कहते हैं – किंतु मनुष्य-स्वभावमें स्वार्थके साथही परोपकारबुद्धिकी सात्त्विक मनोवृत्तिभी जन्मसे स्वतंत्र रूपसे पाई जाती है। अर्थात् जब यह सिद्ध हो चुका कि परोपकार केवल दूरदर्शी स्वार्थ नहीं है, तब स्वार्थ अर्थात् स्वसुख और परार्थ अर्थात् दूसरोंका सुख, इन दोनों तत्त्वोंपर समदृष्टि रखकर कार्य-अकार्य व्यवस्थाशास्त्रकी रचना करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। यही आधिभौतिक-वादियोंका तीसरा वर्ग है। इस पक्षमेंभी यह आधिभौतिक मत मान्य है, कि स्वार्थ-परार्थ दोनों सासांरिक सुखवाचक हैं। सांसारिक सुखके परे कुछभी नहीं है। भेद केवल इतनाही है, कि इस पंथके लोग स्वार्थबुद्धिके समान परार्थबुद्धिकोभी स्वाभाविक मानते हैं। इसलिये वे कहते हैं कि नीतिका विचार करते समय स्वार्थके समान परार्थकी ओरभी ध्यान देना चाहिये। सामान्यतः स्वार्थ और परार्थमें विरोध उत्पन्न नहीं होता; इसलिये मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब प्रायः समाजकेभी हितका होता है। यदि किसीने धनसंचय किया, तो उससे समस्त समाजकाभी हित होता है; क्योंकि, अनेक व्यक्तियोंके समूहको समाज कहते हैं; और यदि उस समाजका प्रत्येक व्यक्ति दूसरेकी हानि न कर यदि अपना लाभ करने लगे, तो उससे कुल समाजका हितही होगा। अतएव इस पंथके लोगोंने निश्चित किया है, कि अपने सुखकी ओर दुर्लक्ष न करके यदि कोई मनुष्य लोकहितका कुछ काम कर सके, तो ऐसा करना उसका कर्तव्य है। परंतु इस पक्षके लोग परार्थकी श्रेष्ठताको स्वीकार नहीं करते; किंतु वे यही कहते हैं, कि हर समय अपनी बुद्धिके अनुसार इस बातका विचार करते रहो, कि स्वार्थ श्रेष्ठ है या परार्थ। इसका परिणाम यह होता है कि जब स्वार्थ और परार्थमें विरोध उत्पन्न होता है, तब इस प्रश्नका निर्णय करते समय बहुधा मनुष्य स्वार्थहीकी ओर अधिक झुक जाया करता है,

कि लोक-सुखके लिये अपने कितने सुखका त्याग करना चाहिये। उदाहरणार्थ, यदि स्वार्थ और परार्थको एक समान प्रबल मान लें, तो सत्यके लिये प्राण देने और राज्य खो देनेकी बात तो दूरही रही; परंतु इस पंथके मतसे यहभी निर्णय नहीं हो सकता, कि बहुतसी द्रव्यकी बहुतसी हानिभी सहनी चाहिये या नहीं। यदि कोई उदार मनुष्य परार्थके लिये प्राण दे दें, तो इस पंथवाले कदाचित् उसकी स्तुति कर देंगे; परंतु जब उनपर आबीतेगी तब स्वार्थ-परार्थ दोनोंहीका आश्रय करनेवाले ये लोग स्वार्थकी ओरही अधिक झुकेंगे। ये लोग, हॉब्सके समान परार्थको एक प्रकारका दूरदर्शी स्वार्थ नहीं मानते, किंतु ये समझते हैं, कि हम स्वार्थ और परार्थको तराजूमें तोल कर उनके तारतम्य अर्थात् उनकी न्यूनाधिकताका विचार करके बड़ी चतुराईसे अपने स्वार्थका निर्णय किया करते हैं। अतएव ये लोग अपने मार्गको 'उदात्त' या बुद्धिमान स्वार्थ (परंतु है तो स्वार्थही) कहकर उसकी बड़ाई मारते है;* परंतु देखिये, भर्तृहरिने क्या कहा है :—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये॥
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

"जो अपने लाभको त्याग कर दूसरोंका हित करते हैं, वेही सच्चे सत्पुरुष हैं। स्वार्थको न छोड़ कर जो लोग लोकहितके लिये प्रयत्न करते हैं, वे पुरुष सामान्य हैं और अपने लाभके लिये जो दूसरोंका नुकसान करते हैं वे केवल नीच मनुष्यही नहीं हैं, उनको मनुष्याकृति राक्षस समझना चाहिये। परंतु एक प्रकारके मनुष्य औरभी हैं, जो लोकहितका निरर्थक नाश किया करते हैं – मालूम नहीं पड़ता कि ऐसे मनुष्योंको क्या नाम दिया जाय" (भर्तृ. नी. श. ७४) इसी तरह राजधर्मकी उत्तम स्थितिका वर्णन करते समय कालिदासनेभी कहा है –

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः।
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव॥

अर्थात् "तू अपने सुखकी परवाह न करके लोकहितके लिये प्रतिदिन कष्ट उठाया करता है! अथवा तेरी वृत्ति (पेशा) ही यही है" (शाकुं. ७. ७) भर्तृहरि या कालिदास यह जानना नहीं चाहते थे, कि कर्मयोगशास्त्रमें स्वार्थ और परार्थको स्वीकार करके उन दोनों तत्त्वोंके तारतम्य-भावसे धर्म-अधर्म या कर्म-अकर्मका निर्णय कैसे करना चाहिये; तथापि परार्थके लिये स्वार्थ छोड़ देनेवाले पुरुषोंको उन्होंने जो प्रथम स्थान दिया है; वही नीतिकी दृष्टिसेभी न्याय्य है। इसपर

---

* अंग्रेजीमें इसे enlightened self-interest कहते हैं। enlightened क भाषांतर 'उदात्त' या बुद्धिमान शब्दोंसे किया है।

इस पंथके लोगोंका यह कहना है, कि "यद्यपि तात्त्विक दृष्टिसे परार्थ श्रेष्ठ है, तथापि परम सीमाकी शुद्ध नीतिकी ओर न देखकर हमें सिर्फ यही निश्चित करना है, कि साधारण व्यवहारमें 'सामान्य' मनुष्योंको कैसे चलना चाहिये। और इसलिये हम 'बुद्धिमान स्वार्थ'को जो अग्रस्थान देते हैं, वही व्यावहारिक दृष्टिसे उचित है!"* परंतु हमारी समझके अनुसार इस युक्तिवादसे कुछ लाभ नहीं है। बाज़ारमें जितने माप-तौल नित्य उपयोगमें लाये जाते हैं, उनमें थोड़ाबहुत फ़र्क रहताही है; बस, यही कारण बतला कर यदि प्रमाणभूत सरकारी माप-तौलमेंभी कुछ न्यूनाधिकता रखी जाय तो क्या उनके खोटे-पनके लिये हम अधिकारियोंको दोष नहीं देंगे? इसी न्यायका उपयोग कर्मयोगशास्त्रमेंभी किया जा सकता है। नीति-धर्मके पूर्ण, शुद्ध और नित्य स्वरूपका शास्त्रीय निर्णय करनेके लिये ही नीतिशास्त्रकी प्रवृत्ति हुई है; और इस कामको यदि नीतिशास्त्र नहीं करेगा, तो हमें उसको निष्फल कहना पड़ेगा। सिज्विकका यह कथन सत्य है, कि 'बुद्धिमान् स्वार्थ' सामान्य मनुष्योंका मार्ग है। भर्तृहरिका मतभी ऐसाही है। परंतु यदि इस बातकी खोज़ की जाय, कि पराकाष्ठाकी नीतिमत्ताके विषयमें उक्त सामान्य लोगोंका क्या मत है; तो यह मालूम होगा कि, सिज्विकने बुद्धिमान स्वार्थको जो महत्त्व दिया है, वह गलत है। क्योंकि साधारण लोगभी यही कहते हैं, कि निष्कलंक नीतिके तथा सत्पुरुषोंके आचारणके लिये यह कामचलाऊ मार्ग श्रेयस्कर नहीं है। इसी बातका वर्णन भर्तृहरिने उक्त श्लोकमें किया है।

आधिभौतिक सुखवादियोंके निम्नलिखित तीन वर्गोंका अबतक वर्णन किया गया :– (१) केवल स्वार्थी; (२) दूरदर्शी स्वार्थी; और (३) उभयवादी अर्थात् बुद्धिमान स्वार्थी। इन तीन वर्गोंके मुख्य दोषभी बतला दिये गये हैं; परंतु इतनेहीसे सब आधिभौतिक पंथ पूरे नहीं हो जाते। उसके आगे का – और सब आधिभौतिक पंथों में श्रेष्ठ पंथ वह है – जिसमें कुछ सात्त्विक तथा आधिभौतिक पंडितोंने† यह प्रतिपादन किया है, कि "एकही मनुष्यके सुखको न देखकर – सब मनुष्यजातिके आधिभौतिक सुख-दुःखके तारतम्यको देखकरही – नैतिक कार्य-अकार्यका निर्णय करना चाहिये।" एकही कृत्यसे, एकही समयमें, समाजके या संसारके सब लोगोंको सुख होना असंभव है। कोई एक बात किसीको सुखकारक मालूम होती

---

* Sidgwick's *Methods of Ethics*, Book I, Chap. II § 2. pp. 18-29; also, Book IV, Chap. IV § 3 p. 474. यह तीसरा पंथ कुछ सिज्विकका निकाला हुआ नहीं है; सामान्य सुशिक्षित अंग्रेजी लोक प्रायः इसी पंथके अनुयायी हैं। इसे Common-sense morality कहते हैं।

† बेंथेम, मिल आदि पंडित इस पंथके अगुआ हैं। Greatest good of the greatest number का हमने "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख" यह भाषांतर किया है।

है, तो वही दूसरेको दु:खदायक हो जाती है। परंतु जैसे घुग्घुको प्रकाश नापसंद होनेके कारण कोई प्रकाशहीको त्याज्य नहीं कहता, उसी तरह यदि किसी विशिष्ट संप्रदायको कोई बात लाभदायक मालूम न हो तो कर्मयोगशास्त्रमेंभी यह नहीं कहा जा सकता, कि वह सभी लोगोंको हितावह नहीं है। और, इसी लिये "सब लोगोंका सुख" इन शब्दोंका अर्थभी "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख" करना पड़ता है। इस पंथके मतका सारांश यह है, कि "जिससे, अधिकांश लोगोंका अधिक सुख हो, उसी बातको नीतिकी दृष्टिसे उचित और ग्राह्य मानना चाहिये, और उसी प्रकारका आचरण करना इस संसारमें मनुष्यका सच्चा कर्तव्य है।" आधिभौतिक सुखवादियोंका उक्त तत्त्व आध्यात्मिक पंथको मंजूर है। यदि यह कहा जाय तोभी कोई आपत्ति नहीं कि आध्यात्मिकवादियोंनेही इस तत्त्वको अत्यंत प्राचीन कालमें ढूंढ निकाला था। और भेद इतनाही है, कि अब आधिभौतिकवादियोंने उसका एक विशिष्ट रीतिसे उपयोग किया है। तुकाराममहाराजने कहा है, कि "संतजनोंकी विभूतियाँ केवल जगतके कल्याणके लिये हैं – वे लोग परोपकार करनेमें अपने शरीरको कष्ट दिया करते हैं।" अर्थात् इस तत्त्वकी सच्चाई और योग्यताके विषयमें कुछभी संदेह नहीं है। स्वयं श्रीमद्भगवद्गीतामेंभी, पूर्ण योगयुक्त अर्थात् कर्मयोगयुक्त ज्ञानी पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए, यह बात दो बार स्पष्ट कही गई है, कि वे लोग 'सर्वभूतहिते रताः' अर्थात् सब प्राणियोंका कल्याण करनेहीमें निमग्न रहा करते हैं (गी. ५. २५; १२. ४)। इस बातका पता दूसरे प्रकरणमें दिये हुए महाभारतके "यद्भूतहितमत्यंतं तत् सत्यमिति धारणा" वचनसे स्पष्टतया चलता है, कि धर्म-अधर्मका निर्णय करनेके लिये हमारे शास्त्रकार इस तत्त्वको हमेशा ध्यानमें रखते थे। परंतु हमारे शास्त्रकारोंके कथनानुसार 'सर्वभूतहित'को ज्ञानी पुरुषोंके आचरणका बाह्य लक्षण समझ कर धर्म-अधर्मका निर्णय करनेके किसी विशेष प्रसंगपर स्थूलमानसे उस तत्त्वका उपयोग करना एक बात है, और उसीको नीतिमत्ताका सर्वस्व मान कर – दूसरी किसी बातका विचार न करके – केवल इसी नींव पर नीतिशास्त्रका भव्य भवन निर्माण करना दूसरी बात है। इन दोनोंमें बहुत भिन्नता है। आधिभौतिक पंडित दूसरे मार्गको स्वीकार करके प्रतिपादन करते हैं, कि नीतिशास्त्रका अध्यात्मविद्यासे कुछभी संबंध नहीं है। इसलिये अब यह देखना चाहिये, कि उनका कहना कहाँ तक युक्तिसंगत है। 'सुख' और 'हित' दोनों शब्दोंके अर्थमें बहुत भेद है। परंतु यदि इस भेदपर ध्यान न दें; और 'सर्वभूतहितका अर्थ 'अधिकांश लोगोंका अधिक सुख' मान लें, और कार्य-अकार्य-निर्णयके काममें केवल इसी तत्त्वका उपयोग करें; तो यह साफ़ दीख पड़ेगा कि बडी बडी अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। मान लीजिये, कि इस तत्त्वका कोई आधिभौतिक पंडित अर्जुनको उपदेश देने लगता, तो वह अर्जुनसे क्या कहता? यही न; कि यदि युद्धमें जय मिलनेपर अधिकांश

लोगोंका अधिक सुख होना संभव है तो भीष्म पितामहकोभी मारकर युद्ध करना तेरा कर्तव्य है। दीखनेमें तो यह उपदेश बहुत सीधा और सहज दीख पडता है; परंतु कुछ विचार करनेपर इसकी अपूर्णता और कठिनाई समझमें आ जाती है। पहले यही सोचिये, कि अधिक यानी कितना ? पांडवोंकी सात अक्षौहिणियाँ थीं और कौरवोंकी ग्यारह। इसलिये यदि पांडवोंकी हार हुई होती तो कौरवोंको सुख हुआ होता। क्या, इसी युक्तिवादसे पांडवोंका पक्ष अन्याय्य कहा जाता ? भारतीय युद्धहीकी बात कौन कहे; औरभी अनेक अवसर ऐसे हैं कि जहाँ नीतिका निर्णय केवल संख्यासे कर बैठना बडी भारी भूल हैं। व्यवहारमें सब लोग यही समझते हैं कि लाखों दुर्जनोंको सुख होनेकी अपेक्षा एकही सज्जनको जिससे सुख हो, वही सच्चा सत्कार्य है। इस समझको सच बतलानेके लिये एकही सज्जनके सुखको लाख दुर्जनोंके सुखकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् मानना पडेगा; और ऐसा करनेपर "अधिकांश लोगोंका अधिक बाह्य" सुखवाला (जो कि नीतिमत्ताकी परीक्षाका एकमात्र साधन माना गया है) सिद्धान्त उतनाही शिथिल हो जायगा। इसलिये कहना पड़ता है कि, लोकसंख्याकी न्यूनाधिकताका नीतिमत्ताके साथ कोई नित्य-संबंध नहीं हो सकता। यह बातभी ध्यानमें रखनेयोग्य है, कि कभी जो बात साधारण लोगोंको सुखदायक मालूम होती है, वही बात किसी दूरदर्शी पुरुषको परिणाममें सबके लिये हानिप्रद दीख पड़ती है। उदाहरणार्थ, साक्रेटीज और ईसामसीहकोही लीजिये। दोनों अपने अपने मतसे परिणाममें कल्याणकारक समझ करही अपने देशबंधुओंको उपदेश करते थे; परंतु इनके देशबंधुओंने इन्हें "समाजके शत्रु" समझकर मौतकी सजा दी। इस विषयमें "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख" इसी तत्त्वके अनुसार उस समय लोगोंने और उनके नेताओंने मिल कर आचरण किया था; परंतु अब हम नहीं कह सकते कि उन लोगोंका बर्ताव न्याययुक्त था। सारांश, यदि "अधिकांश लोगोंके अधिक सुख" को ही क्षणभरके लिये नीतिका मूलतत्त्व मान लें, तोभी उससे ये प्रश्न हल नहीं हो सकते, कि लाखों-करोडों मनुष्योंका सुख किसमें है; उसका निर्णय कौन और कैसे करे ? साधारण अवसरोंपर निर्णय करनेका यह काम उन्हीं लोगोंको सौंप दिया जा सकता है, कि जिनके बारेमें सुख-दुःखका प्रश्न उपस्थित हो। परंतु साधारण असवरपर इतना प्रयत्न करनेकी कोई आवश्यकताही नहीं रहती। और जब विशेष कठिनाईका कोई समय आता है, तब साधारण मनुष्योंमें यह अचूक विचार-शक्ति नहीं रहती, कि हमारा सुख किस बातमें है। ऐसी अवस्थामें यदि इन साधारण और अनधिकारी लोगोंके हाथ यह नीतिका एकमेव तत्त्व "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख" लग जाय, तो वही भयानक परिणाम होगा; जो सैतानके हाथमें मशाल देनेसे होता है। यह बात उक्त दोनों उदाहरणों (साक्रेटीज और ईसामसीह) से भली भाँति प्रकट हो जाती है। इस उत्तरमें कुछ जान नहीं, कि "नीतिधर्मका

हमारा तत्त्व शुद्ध और सच्चा है; मूर्ख लोगोंने उसका दुरुपयोग किया तो हम क्या कर सकते हैं ?" कारण यह है, कि यद्यपि तत्त्व शुद्ध और सच्चा हो, तथापि उसका उपयोग करनेके अधिकारी कौन हैं, वे उसका उपयोग कब और कैसे करते हैं, इत्यादि बातोंकी मर्यादाभी, उसी तत्त्वके साथ देनी चाहिये। नहीं तो संभव है, कि हम अपनेको साक्रेटीजके सदृश्य नीति-निर्णय करनेमें समर्थ मानकर अर्थका अनर्थ कर बैठें।

केवल संस्थाकी दृष्टिसे नीतिका उचित निर्णय नहीं हो सकता; और इस तर्कका निश्चय करनेके लिये कोईभी बाहरी साधन नहीं कि अधिकांश लोगोंका अधिक सुख किसमें है। इन दो आक्षेपोंके सिवा इस पंथपर औरभी बड़े बड़े आक्षेप किये जा सकते हैं। जैसे, विचार करनेपर यह अपने आप ही मालूम हो जायगा, कि किसी कामके केवल बाहरी परिणामसेही उसके न्याय्य अथवा अन्याय्य होनेका निर्णय करना बहुधा असंभव हो जाता है। हम लोग किसी घड़ीको, उसके ठीक ठीक समय बतलाने न बतलाने पर, अच्छी या खराब कहा करते हैं। परंतु इसी नीतिका उपयोग मनुष्यके कार्योंके संबंधमें करनेके पहले हमें यह बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये, कि मनुष्य केवल घड़ी या यंत्र नहीं है। यह बात सच है, कि सब सत्पुरुष जगत्के कल्याणार्थ प्रयत्न किया करते हैं। परंतु इससे यह उलटा अनुमान निश्चयपूर्वक नहीं किया जा सकता, कि जोभी कोई लोगोंके कल्याणार्थ प्रयत्न करता है, उसे सत्पुरुषही होना चाहिये। इसलिये यह देखना चाहिये, कि मनुष्यका अंतः-करण कैसा है। यंत्र और मनुष्यमें यदि कुछ भेद है तो यही, कि एक हृदयहीन है, और दूसरा हृदययुक्त है; और इसीलिये अज्ञानसे या भूलसे किये गये अपराधको कायदेमें क्षम्य मानते हैं। तात्पर्य, कोई काम अच्छा है या बुरा, धर्म्य है या अधर्म्य, नीतिका है अथवा अनीतिका, इत्यादि बातोंका उच्चा निर्णय उस कामके केवल बाहरी फल या परिणाम – अर्थात् वह अधिकांश-लोगोंको अधिक सुख देगा कि नहीं इतनेही – से नहीं किया जा सकता। उसीके साथ साथ यहभी जानना चाहिये, कि उस कामको करनेवालेकी बुद्धि, वासना या हेतु कैसा है। एक समयकी बात है, कि अमरिकाके एक बड़े शहरमें सब लोगोंके सुख और उपयोगके लिये ट्रामवेकी बहुत आवश्यकता थी। परंतु सरकारी अधिकारियोंकी आज्ञा पाये बिना ट्रामवे नहीं बनाई जा सकती थी। सरकारी मंजूरी मिलनेमें बहुत देरी हुई। तब ट्रामवेके व्यवस्थापकने अधिकारियोंको रिश्वत देकर जल्द मंजूरी ले ली। ट्रामवे बन गई और उससे शहरके सब लोगोंकी सुभीता और फायदा हुआ। कुछ दिनोंके बाद रिश्वतकी बात प्रकट हो गई; और उस व्यवस्थापकपर फौजदारी मुकदमा चलाया गया। पहली ज्यूरी (पंचायत) का एकमत नहीं हुआ; इसलिये दूसरी ज्यूरी चुनी गई। दूसरी ज्यूरीने व्यवस्थापकको दोषी ठहराया। अतएव उसे सज़ा दी गई। इस उदाहरणमें "अधिक लोगोंके अधिक सुख"वाले नीतितत्त्वसे काम

चलने का नहीं। क्योंकि यद्यपि "घूस देनेसे ट्रामवे बन गई" यह बाहरी परिणाम अधिक सुखदायक था; तथापि इतनेहीसे घूस देना न्याय्य हो नहीं सकता।* दान करनेको अपना धर्म (दातव्य) समझ कर निष्काम-बुद्धिसे दान करना, और कीर्तिके लिये या अन्य फलकी आशासे दान करना, इन दो कृत्योंका बाहरी परिणाम यद्यपि एक-सा हो, तथापि श्रीमद्भगवद्गीतामें पहले दानको सात्त्विक और दूसरेको राजस कहा है (गीता १७. २०. २१)। और यहभी कहा गया है, कि यदि वही दान कुपात्रोंको दिया जाय, तो वह तामस अथवा गर्ह्य है। यदि किसी गरीबने एक-आध धर्म-कार्यके लिये चार पैसे दिये और किसी अमीरने उसीके लिये सौ रुपये दिये, तो लोगोंमें दोनोंकी नैतिक योग्यता एकही समझी जाती है। परंतु यदि केवल "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख" किसमें है, इसी बाहरी साधनद्वारा विचार किया जाय तो ये दोनों दान नैतिक दृष्टिसे समान योग्यताके नहीं कहे जा सकते। "अधि-कांश लोगोंका अधिक सुख" इस आधिभौतिक नीति-तत्त्वमें जो बहुत बड़ा दोष है, वह यही है, कि इसमें कर्ताके मनके हेतु या भावका कुछभी विचार नहीं किया जाता। और यदि अंतःस्थ हेतुपर ध्यान दें, तो इस प्रतिज्ञासे विरोध खड़ा हो जाता है, कि अधिकांश लोगोंका अधिक सुखही नीतिमत्ताकी एकमात्र कसौटी है। कायदा-कानून बनानेवाली सभा अनेक व्यक्तियोंके समूहसे बनी होती है। इसलिये उक्त मतके अनुसार इस सभाके बनाये हुए कायदों या नियमोंकी योग्यता-अयोग्यता पर विचार करते समय यह जाननेकी कुछ आवश्यकताही नहीं, कि सभासदोंके अंतः-करणोंमें कैसा भाव था – हम लोगोंको अपना निर्णय केवल इस बाहरी विचारके आधारपर कर लेना चाहिये, कि इनके कायदोंसे अधिकोंको अधिक सुख हो सकेगा या नहीं। परंतु, उक्त उदाहरणसे यह साफ़ साफ़ ध्यानमें आ सकता है, कि सभी स्थानोंमें यह न्याय उपयुक्त हो नहीं सकता। हमारा यह कहना नहीं है, कि "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख या हित"वाला तत्त्व बिलकुलही निरुपयोगी है। केवल बाह्य परिणामोंका विचार करना होता तो उससे बढ़कर दूसरा तत्त्व कहीं नहीं मिलेगा। परंतु हमारा यह कथन है, कि जब नीतिकी दृष्टिसे किसी बातको न्याय्य अथवा अन्याय्य कहना हो, तब केवल बाह्य परिणामोंको देखनेसे काम नहीं चल सकता। उसके लिये औरभी कई बातोंपर विचार करना पड़ता है। अतएव नीतिमत्ताका निर्णय करनेके लिये पूर्णतया इसी तत्त्वपर अवलंबित नहीं रह सकते। इसलिये इससेभी अधिक निश्चित और निर्दोष तत्त्वको खोज निकालना आवश्यक है। गीताके प्रारंभमें जो यह कहा गया है, कि "कर्मकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है।" (गीता २. ४९) उसकाभी यही अभिप्राय है। यदि केवल बाह्य

* यह उदाहरण डॉक्टर पॉल केरसकी *The Ethical Problem* (pp. 58, 59, 2nd Ed.) नामक पुस्तकसे लिया है।

कर्मोंपर ध्यान दें, तो वे बहुधा भ्रामक होते हैं। "स्नान-संध्या, तिलक-माला" इत्यादि बाह्य कर्मोंके होते हुएभी 'पेटमें क्रोधाग्नि 'का भड़कते रहना असंभव नहीं है, परंतु यदि हृदयका भाव शुद्ध हो, तो बाह्यकर्मोंका महत्त्व नहीं रहता।" "सुदामाके मुठ्ठीभर चावल" सरीखे अत्यंत अल्पबाह्य कर्मकी धार्मिक और नैतिक योग्यता, अधिकांश लोगोंको अधिक सुख देनेवाले हजारों मन अनाजके बराबरही समझी जाती है। इसी लिये प्रसिद्ध जर्मन तत्त्वज्ञानी कांटने * कर्मके बाह्य और दृश्य परिणामोंके तारतम्य-विचारको गौण माना है। एवं नीतिशास्त्रके अपने विवेचनका प्रारंभकर्ताकी शुद्ध बुद्धि (शुद्ध भाव) हीसे किया है। यह नहीं समझना चाहिये, कि आधिभौतिक सुखवादकी यह न्यूनता बड़े बड़े आधिभौतिकवादियोंके ध्यानमें नहीं आई। ह्यूमने † स्पष्ट लिखा है – जब कि मनुष्यका कर्म (काम या कार्य) ही उसके शीलका द्योतक है, और जब लोगोंमें वही नीतिमत्ताका दर्शकभी माना जाता है, तब केवल बाह्य परिणामोंहीसे उस कर्मको प्रशंसनीय या गर्हणीय मान लेना असंभव है। यह बात मिल साहबको भी मान्य है, कि "किसी कर्मकी नीतिमत्ता कर्ताके हेतुपर अर्थात् वह उसे जिस बुद्धि या भावसे करता है, उसपर पूर्णतया अवलंबित रहती है!" परंतु अपने पक्षमंडनके लिये मिलसाहबने यह युक्तिवाद किया है, कि "जबतक बाह्य कर्मोंमें कोई भेद नहीं होता तबतक कर्मकी नीतिमत्तामें कुछ फ़र्क नहीं हो सकता, चाहे कर्ताके मनमें उस कामको करनेकी वासना किसी भावसे हुई हो।"§ मिलके इस युक्तिवादमें सांप्रदायिक आग्रह दीख पड़ता है; क्योंकि बुद्धि या भावमें भिन्नता होनेपर यद्यपि दो कर्म दीखनेमें एकहीसे हों, तोभी वे तत्त्वतः एक योग्यताके कभी नहीं हो सकते। और इसी लिये मिलसाहबकी कही हुई 'जब तक (बाह्य) कर्मोंमें भेद नहीं होता, इत्यादि' मर्यादाको ग्रीनसाहब‡ निर्मूल बतलाते हैं। गीताकाभी यही अभिप्राय है। इसका

---

* Kant's *Theory of Ethics*, (trans. by Abbott) 6th Ed. p. 6.

† "For as actions are objects of our moral sentiment, so far only as they are indications of the internal character, passions and affections, it is impossible that they can give rise either to praise or blame, where they proceed not from these principles, but are derived altogether from external objects." Hume's *Inquiry concerning Human Understanding*, *Section* VIII, part II (p. 368 of Hume's Eassys – The World Library Edition).

§ "Morality of the action depends entirely upon the intention, that is, upon what the agent *wills to do*, But the motive, that is,the feeling which makes him will so to do, when makes no difference in the act, makes none in the morality." Mill's *Utilitarianism*, p.27.

‡ Green's *Prolegomena to Ethics* § 292 note p. 348. 5th Cheaper Edition.

कारण गीतामें यह बतलाया गया है, कि यदि एकही धर्म-कार्यके लिये दो मनुष्य समान धन प्रदान करें, तोभी अर्थात् दोनोंके बाह्य कर्म एकसमान होनेपरभी, दोनोंकी बुद्धि या भावकी भिन्नताके कारण एक दान सात्त्विक और दूसरा राजस या तामसभी हो सकता है। इस विषयपर अधिक विचार पूर्वी और पश्चिमी मतोंकी तुलना करते समय करेंगे। अभी केवल इतनाही देखना है, कि कर्मके केवल बाहरी परिणामपरही अवलंबित रहनेवाली आधिभौतिक सुखवादकी श्रेष्ठ श्रेणीभी नीति-निर्णयके काममें कैसे अपूर्ण सिद्ध हो जाती है; और इसे सिद्ध करनेके लिये हमारी समझमें मिलसाहबकी उक्त स्वीकृति काफ़ी है।

"अधिकांश लोगोंका अधिक सुख"वाले आधिभौतिक पंथमें सबसे भारी दोष यह है, कि उसमें कर्ताकी बुद्धि या भावका कुछभी विचार नहीं किया जाता। मिलसाहबके लेखहीसे यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है, कि उस (मिल)के युक्ति-वादको सच मानकरभी इस तत्त्वका उपयोग सब स्थानोंपर एकसमान नहीं किया जा सकता। क्यों कि वह केवल बाह्य फलके अनुसार नीतिका निर्णय करता है, अर्थात् उसका उपयोग किसी विशेष मर्यादाके भीतरही किया जा सकता है; या यों कहिये कि वह एकदेशीय है। इसके सिवा इस मतपर एक औरभी आक्षेप किया जा सकता है, कि स्वार्थकी अपेक्षा परार्थ क्यों और कैसे श्रेष्ठ है? – इस प्रश्नकी कुछ भी उपपत्ति न बतलाकर ये लोग इस तत्त्वको सच मान लिया करते हैं। फल यह यह होता है, कि बुद्धिमान स्वार्थकी बेरोक वृद्धि होने लगती है। यदि स्वार्थ और परार्थ ये दोनों बातें मनुष्यके जन्मसेही विद्यमान रहती हैं, अर्थात् स्वाभाविक हैं; तो प्रश्न होता है, कि मैं स्वार्थकी अपेक्षा लोगोंके सुखको अधिक महत्त्वपूर्ण क्यों समझूं? यह उत्तर तो संतोषदायक होही नहीं सकता, कि तुम अधिकांश लोगोंके अधिक सुखको देखकर ऐसा करो। क्यों कि मूल प्रश्नही यह है, कि मैं अधिकांश लोगोंके अधिक सुखके लिये यत्न क्यों करूँ? यह बात सच है, कि अन्य लोगोंके हितमें अपनाभी हित सम्मिलित रहता है, इस लिये यह प्रश्न, हमेशा नहीं उठता। परंतु आधिभौतिक पंथके उक्त तीसरे वर्गकी अपेक्षा इस अंतिम (चौथे) वर्गकी यही विशेषता है, कि इस आधिभौतिक पंथके लोग यह मानते हैं, कि जब स्वार्थ और परार्थमें विरोध खड़ा हो जाय, तब बुद्धिमान स्वार्थका त्याग करके परार्थ-साधन-हीके लिये यत्न करना चाहिये। इस पंथकी उक्त विशेषताकी कुछभी उपपत्ति नहीं दी गई है। इस अभावकी ओर एक विद्वान् आधिभौतिक पंडितका ध्यान आकर्षित हुआ। उसने छोटे कीड़ोंसे लेकर मनुष्यतक सब सजीव प्राणियोंके व्यवहारोंका खूब निरीक्षण किया; और अंतमें यह सिद्धान्त निकाला, कि जब कि छोटे कीड़ोंसे लेकर मनुष्यों तकमं यही गुण अधिकाधिक बढ़ता और प्रकट होता चला आ रहा है, कि वे स्वयं अपनेही समान अपनी संतानों और जातियोंकी रक्षा करते हैं; और किसीको दुःख न देते हुए अपने बंधुओंकी यथासंभव सहायता

करते हैं; तब हम कह सकते हैं, कि सजीव सृष्टिके आचरणका यही परस्पर-सहायताका गुण - प्रधान नियम है। सजीव सृष्टिमें यह नियम पहले पहल संतानोत्पादन और संतानके लालन-पालनके बारेमें दीख पड़ता है। ऐसे अत्यंत सूक्ष्म कीड़ोंकी सृष्टिको देखनेसे – कि जिसमें स्त्री-पुरुषका कुछ भेद नहीं है – ज्ञात होगा कि एक कीड़ेकी देह बढ़ते बढ़ते फट जाती है; और उससे दो कीड़े बन जाते हैं। अर्थात् यही कहना पड़ेगा कि संतानके लिये – दूसरेके लिये – यह कीड़ा अपने शरीरकोभी त्याग देता है। इसी तरह सजीव सृष्टिमें इस कीड़ेसे ऊपरके दर्जेके स्त्री-पुरुषात्मक प्राणीभी अपनी अपनी संतानके पालन-पोषणके लिये स्वार्थत्याग करनेमें आनंदित हुआ करते हैं। यही गुण बढ़ते बढते मनुष्य जातिके असभ्य और जंगली समाजमेंभी इस रूपमें पाया जाता है, कि वे लोग न केवल अपनी संतानोंकी रक्षा करनेमें – वरन अपने जाति-भाइयोंकी सहायता करनेमेंभी सुखसे प्रवृत्त हो जाते हैं। इसलिये मनुष्यको – जो कि सजीव सृष्टिका शिरोमणि है – स्वार्थके समान परार्थमेंभी सुख मानते हुए सृष्टिके उपर्युक्त नियमकी उन्नति करने तथा स्वार्थ और परार्थके वर्तमान विरोधको समूल नष्ट करनेके उद्योगमें लगे रहना चाहिये। बस इसीमें उसकी इतिकर्तव्यता है।* यह युक्तिवाद तो ठीक है; परंतु यह तत्त्व कुछ नया नहीं है, कि परोपकार करनेका सद्गुण मूक सृष्टिमेंभी पाया जाता है, इसलिये उसे परमावधि तक पहुँचानेके प्रयत्नमें ज्ञानी मनुष्योंको सदैव लगे रहना चाहिये। इस तत्त्वमें विशेषता सिर्फ़ यही है, कि आजकल आधिभौतिक शास्त्रोंके ज्ञानकी बहुत वृद्धि होनेके कारण इस तत्त्वकी आधिभौतिक उपपत्ति उत्तम रीतिसे बतलाई गई है। यद्यपि हमारे शास्त्रकारोंकी दृष्टि आध्यात्मिक है, तथापि हमारे प्राचीन ग्रंथोंमें कहा है कि :–

अष्टादशपुराणानां सारं सारं समुद्धृतम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

"परोपकार करना पुण्यकर्म है और दूसरोंको पीडा देना पापकर्म है। वह यही अठारह पुराणोंका सार है।" भर्तृहरिनेभी कहा है, कि "स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमान् एकः सतां अग्रणीः" – परार्थहीको जिस मनुष्यने अपना स्वार्थ बना लिया है, वही सब सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ है। अच्छा, अब यदि छोटे कीड़ोंसे मनुष्यतककी सृष्टिकी उत्तरोत्तर क्रमशः बढ़ती हुई श्रेणियोंको देखें, तो एक और भी प्रश्न उठता है। वह यह है – क्या, मनुष्योंमें केवल परोपकारबुद्धिहीका उत्कर्ष हुआ है, या उसीके

---

* यह उपपत्ति स्पेन्सरके Data of Ethics नामक ग्रंथमें दी हुई है। स्पेन्सरने मिलको एक पत्र लिखकर स्पष्ट कह दिया था, कि मेरे और आपके मतमें क्या भेद है। उस पत्रके अवतरण उक्त ग्रंथमें दिये गये हैं। pp. 57, 123. Also see Bain's Mental and Moral Science, pp. 721, 722 (Ed. 1875.)

साथ उनमें न्याय-बुद्धि, दया, समानपन, दूरदृष्टि, तर्क, शूरता, धृति, क्षमा, इंद्रिय-निग्रह इत्यादि अनेक अन्य सात्त्विक सद्‌गुणोंकीभी वृद्धि हुई है ? जब इसपर विचार किया जाता है, तब कहना पडता है, कि अन्य सब सजीव प्राणियोंकी अपेक्षा मनुष्योंमें सभी सद्‌गुणोंका उत्कर्ष हुआ है। इन सब सात्त्विक गुणोंके समूहको 'मनुष्यत्व' नाम दीजिये। अब यह बात सिद्ध हो चुकी है, कि परोपकारकी अपेक्षा मनुष्यत्वको हम श्रेष्ठ मानते हैं। ऐसी अवस्थामें किसीभी कर्मकी योग्यता-अयोग्यताका विचार या नीतिमत्ताका निर्णय करनेके लिये उस कर्मकी परीक्षा केवल परोपकारहीकी दृष्टिसे नहीं की जा सकती – अब उस कर्मकी परीक्षा मनुष्यत्वकी दृष्टिसे – अर्थात् मनुष्यजातिमें अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा जिन जिन गुणोंका उत्कर्ष हुआ है, उन सबको ध्यान रखकरही – की जानी चाहिये। अकेले परोपकारको ध्यानमें रखकर कुछ-न-कुछ निर्णय कर लेनेके बदले अब तो यही मानना पड़ेगा, कि जो कर्म सब मनुष्योंके 'मनुष्यत्व' या 'मनुष्यपन'को शोभा दें, या जिस कर्मसे 'मनुष्यत्व'की वृद्धि हो, वही सत्कर्म और वही नीति-धर्म है। यदि एक बार इस व्यापक दृष्टिको स्वीकार कर लिया जाय, तो "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख" उक्त दृष्टिका एक अत्यंत छोटा भाग हो जायगा और इस मतका कोई स्वतंत्र महत्त्व नहीं रह जायगा, कि सब कर्मोंके धर्म-अधर्म या नीतिमत्ताका विचार केवल "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख" तत्त्वके अनुसार किया जाना चाहिये – और तब तो धर्म-अधर्मका निर्णय करनेके लिये मनुष्यत्वकाभी विचार करना आवश्यक होगा। और जब हम इस बातका सूक्ष्म विचार करने लगेंगे, कि 'मनुष्यपन' या मनुष्यत्वका यथार्थ स्वरूप क्या है, तब हमारे मनमें याज्ञवल्क्यके अनुसार "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" यह विषय आप-ही-आप उपस्थित हो जायगा। नीतिशास्त्रका विवेचन करनेवाले एक अमेरिकन ग्रंथकारने इस समुच्चयात्मक मनुष्यत्वके धर्मकोही 'आत्मा' कहा है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह मालूम हो जायगा, कि केवल स्वार्थ या अपनेही विषय-सुखकी कनिष्ठ श्रेणीसे बढ़ते बढ़ते आधिभौतिक सुखवादियोंकोभी परोपकारकी श्रेणी तक और अंतमें मनुष्यत्वकी श्रेणीतक कैसे आना पड़ता है। परंतु मनुष्यत्वके विषयमेंभी और आधिभौतिकवादियोंके मनमें प्रायः सब लोगोंके बाह्य विषय-सुखहीकी कल्पना प्रधान होती है, अतएव आधिभौतिकवादियोंकी यह अंतिम श्रेणीभी जिसमें – अंतःशुद्धि, और अंतःसुखका कुछ विचार नहीं किया जाता – हमारे अध्यात्मवादी शास्त्रकारोंके मतानुसार निर्दोष नहीं है। यद्यपि इस बातको साधारणतया मानभी लें, कि मनुष्यके सब प्रयत्न सुख-प्राप्तिके तथा दुःख-निवारणकेही लिये हुआ करते हैं; तथापि जबतक पहले इस बातका निर्णय न हो जाय, कि सच्चा सुख किसमें है – आधिभौतिक अर्थात् सांसारिक विषयभोगहीमें है, अथवा और किसीमें बात है – तबतक कोईभी आधिभौतिक पक्ष ग्राह्य नहीं समझा जा सकता।

इस बातको आधिभौतिक सुखवादीभी मानते हैं, कि शारीरिक सुखसे मानसिक सुखकी योग्यता अधिक है। पशुको जितने सुख मिल सकते हैं, वे सब किसी मनुष्यको देकर उससे पूछो कि "क्या, तुम पशु होना चाहते हो?" तो वह कभी इस बातके लिये राजी न होगा। इसी तरह, ज्ञानी पुरुषोंको यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं, कि तत्त्वज्ञानके गहन विचारोंसे बुद्धिमें जो एक प्रकारकी शांति उत्पन्न होती है, उसकी योग्यता सांसारिक संपत्ति अथवा बाह्योपभोगसे हज़ार गुना बढ़ कर है। अच्छा, यदि लोकमतको देखें, तोभी यही ज्ञात होगा, की नीतिका निर्णय करना केवल संख्यापर अवलंबित नहीं है। लोग जो कुछ किया करते हैं, वह सब केवल आधिभौतिक सुखकेही लिये नहीं किया करते – वे आधिभौतिक सुखहीको अपना परम उद्देश्य नहीं मानते। बल्कि हम लोग यही कहा करते हैं, कि बाह्य सुखोंकी कौन कहे, विशेष प्रसंग आनेपर अपनी जानकीभी परवाह नहीं करनी चाहिये। क्योंकि ऐसे समयमें आध्यात्मिक दृष्टिके अनुसार जिन सत्य आदि नीति-धर्मोंकी योग्यता अपनी जानसेभी अधिक है, उनका पालन करनेके लिये मनोनिग्रह करनेमेंही मनुष्यका मनुष्यत्व है। यही हाल अर्जुनका था। उसकाभी प्रश्न यह नहीं था, कि लड़ाई करनेपर किसको कितना सुख होगा। उसका श्रीकृष्णसे यही प्रश्न था, कि "मेरा, अर्थात् मेरे आत्माका श्रेय किसमें है सो मुझे बतलाइये" (गीता. २.७; ३.२) आत्माका यह नित्यका श्रेय और सुख आत्माकी शांतिमें है। इसी लिये बृहदारण्यकोपनिषद् (बृ. २. ४. २) में कहा गया है, कि "अमृतत्वस्य तु नाशस्ति वित्तेन" अर्थात् सांसारिक सुखसंपत्तिके यथेष्ट मिल जानेपरभी आत्मसुख और शांति नहीं मिल सकती। इसी तरह कठोपनिषद्में लिखा है, कि जब मृत्यु नचिकेताको पुत्र, पौत्र, पशु, धान्य, द्रव्य इत्यादि अनेक प्रकारकी सांसरिक संपत्ति देने सिद्ध हुआ तो उसने साफ़ जवाब दिया, कि "मुझे आत्मविद्या चाहिये, संपत्ति नहीं।" और 'प्रेय' अर्थात् इंद्रियोंको प्रिय लगनेवाले सांसारिक सुखमें तथा 'श्रेय' अर्थात् आत्माके सच्चे कल्याणमें भेद दिखलाते हुए (कठ. १. २. २ में) कहा है, कि :–

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मंदो योगक्षेमाद् वृणीते॥

"जब प्रेय (तात्कालिक बाह्य इंद्रियसुख) और श्रेय (सच्चा और चिरकालिक कल्याण) ये दोनों मनुष्यके सामने उपस्थित होते हैं, तब बुद्धिमान् मनुष्य उन दोनों में किसी एकको चुन लेता है। जो मनुष्य यथार्थमें बुद्धिमान् होता है, वह प्रेयकी अपेक्षा श्रेयको अधिक पसंद करता है; परंतु जिसकी बुद्धि मंद होती है, उसको आत्मकल्याणकी अपेक्षा प्रेय अर्थात् बाह्य सुखही अधिक अच्छा लगता है।" इस लिये यह मान लेना उचित नहीं, कि संसारमें इंद्रियगम्य विषय-सुखही मनुष्यका ऐहिक परम उद्देश्य है; तथा मनुष्य जो कुछ करता है वह सब केवल बाह्य अर्थात् आधिभौतिक सुखहीके लिये अथवा अपने दुःखोंको दूर करनेके लियेही करता है।

इंद्रियगम्य बाह्यसुखोंकी अपेक्षा बुद्धिगम्य अंतःसुखकी – अर्थात् आध्यात्मिक सुखकी – योग्यता अधिक तो हैही; परंतु इसके साथ साथ एक बात यहभी है, कि विषय-सुख अनित्य है। वह दशा नीति-धर्मकी नहीं है। इस बातको सभी मानते हैं, कि अहिंसा, सत्य आदि धर्म कुछ बाहरी उपाधियों अर्थात् बाह्य सुखदुःखोंपर अवलंबित नहीं हैं; किंतु ये सभी अवसरोंके लिये और सब कामोंमें एकसमान उपयोगी हो सकते हैं। अतएव ये नित्य हैं। बाह्य बातोंपर अवलंबित न रहनेवाली, नीति-धर्मोंकी यह नित्यता उनमें कहाँसे और कैसे आई – अर्थात् इस नित्यताका कारण क्या है? इस प्रश्नका आधिभौतिक-वादसे हल होना असंभव है। कारण यह है, कि यदि बाह्यसृष्टिके सुख-दुःखोंके अवलोकनसे कुछ सिद्धान्त निकाला जाय, तो सब सुख-दुःखोंके स्वभावतः अनित्य होनेके कारण, उनके अपूर्ण आधारपर बने हुए नीति-सिद्धान्तभी वैसेही अनित्य होंगे। और, ऐसी अवस्थामें सुख-दुखोंकी कुछभी परवाह न करके सत्यके लिये जान दे देनेकी सत्य-धर्मकी जो त्रिकालाबाधित नित्यता है, वह "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख"के तत्त्वसे सिद्ध नहीं हो सकेगी। इसपर यह आक्षेप किया जाता है, कि जब सामान्य व्यवहारोंमें सत्यके लिये प्राण देनेका समय आ जाता है, तो बड़े बड़े लोगभी असत्य पक्ष ग्रहण करनेमें संकोच नहीं करते; और उस समय हमारे शास्त्रकारभी जादा सख्ती नहीं करते; तब सत्य आदि धर्मोंकी नित्यता क्यों माननी चाहिये? परंतु यह आक्षेप या दलील ठीक नहीं है; क्योंकि जो लोग सत्यके लिये जान देनेका साहस नहीं कर सकते, वेभी अपने मुंहसे इस नीति-धर्मकी नित्यताको मानाही करते हैं। इसी लिये महाभारतमें अर्थ, काम आदि पुरुषार्थोंकी सिद्धि करनेवाले सब व्यावहारिक धर्मोंका विवेचन करके, अंतमें भारत-सावित्रीमें (और विदुरनीतिमेंभी) व्यासजीने सब लोगोंको यही उपदेश किया है :–

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नि यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

अर्थात् "सुख-दुःख अनित्य हैं; परंतु (नीति) धर्म नित्य हैं। इसलिये सुखकी इच्छासे, भयसे, लोभसे अथवा प्राण-संकट आनेपरभी धर्मको कभी नहीं त्यागना चाहिये। यह जीव नित्य है; और सुखदुःख आदि विषय अनित्य हैं।" इसीलिये व्यासजी उपदेश करते हैं, कि अनित्य सुखदुःखोंका विचार न करके नित्य-जीवका संबंध नित्य-धर्मसेही जोड़ देना चाहिये। (मभा. स्व. ५. ६; उ. ३९. १२, १३)। यह देखनेके लिये, व्यासजीका उक्त उपदेश उचित है या नहीं, हमें अब इस बातका वचार करना चाहिये, कि सुख-दुःखका यथार्थ स्वरूप क्या है, और नित्य सुख किसे कहते हैं।

पाँचवाँ प्रकरण

सुखदुःखविवेक

सुखमात्यंतिकं यत्तत् बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम् । *

– गीता ६. २१

हमारे शास्त्रकारोंको यह सिद्धान्त मान्य है, कि इस संसारका प्रत्येक मनुष्य सुख-प्राप्तिके लिये या प्राप्त सुखकी वृद्धिके लिये, दुःखको टालने या काम करनेके लिये ही सदैव प्रयत्न किया करता है। भृगुजी भरद्वाजसे शांतिपर्व (मभा. शां. १९०. ९) में कहते हैं, कि " इह खलु अमुष्मिश्च लोके वस्तुप्रवृत्तयः सुखार्थमभिधीयंते। न ह्यतःपरं त्रिवर्गफलं विशिष्टतरमस्ति। " अर्थात् इस लोक तथा परलोकमें सारी प्रवृत्ति केवल सुखके लिये है; और धर्म, अर्थ, कामका इसके अतिरिक्त कोई अन्य फल नहीं है। परंतु शास्त्रकारोंका कथन है, कि मनुष्य यह न समझकर कि सच्चा सुख किसमें है – मिथ्या सुखहीको सत्य सुख मान बैठता है; और इस आशासे, कि आज नहीं तो कल सुख अवश्य मिलेगा – वह अपनी आयुके दिन व्यतित किया करता है। अकस्मात, एक दिन मृत्युके झपेटेमें पड़कर वह इस संसारको छोड़कर चल बसता है। परंतु उसके उदाहरणसे अन्य लोक सावधान होनेके बदले उसीका अनुकरण करते हैं। इस प्रकार यह भव-चक्र चलता रहा है, और कोई मनुष्य सच्चे और नित्य सुखका विचार नहीं करता ! इस विषयमें पूर्वी और पश्चिमी तत्त्व-ज्ञानियोंमें बड़ाही मतभेद है, कि यह संसार केवल दुःखमय है, या सुखप्रधान अथवा दुःखप्रधान है। परंतु इन पक्षवालोंमेंसे सभीको यह बात मान्य है, कि मनुष्यका कल्याण अपने दुःखका अत्यंत निवारण करके अत्यंत सुख-प्राप्ति करनेहीमें है। 'सुख' शब्दके बदले प्रायः 'हित', 'श्रेय' और कल्याण शब्दोंका अधिक उपयोग हुआ करता है। इनका भेद आगे चलकर बतलाया जायगा। यदि यह मान लिया जाय, कि सुख शब्दमेंही सब प्रकारके सुख और कल्याणका समावेश हो जाता है, तो सामान्यतः कहा जा सकता है, कि प्रत्येक मनुष्यका प्रयत्न केवल सुखके लिये हुआ करता है। परंतु इस सिद्धान्तके आधारपर सुख-दुःखका जो लक्षण महाभारतांतर्गत पराशरगीता (मभा. शां. २९५.२७) में दिया गया है, कि " यदिष्टं तत्सुखं प्राहुः द्वेष्यं दुःखमिहेष्यते " – जो कुछ हमें इष्ट है वही सुख है; और जिसका हम द्वेष करते हैं, अर्थात् जो हमें नहीं चाहिये, वही दुःख है – उसे शास्त्रकी दृष्टिसे पूर्ण निर्दोष नहीं कह

---

* " जो केवल बुद्धिसे ग्राह्य हो और इंद्रियोंसे परे हो, उसे आत्यंतिक सुख कहते हैं। "

सकते । क्योंकि इस व्याख्याके 'इष्ट' शब्दका अर्थ इष्ट वस्तु या पदार्थभी हो सकता है, और इस अर्थको माननेसे इष्ट पदार्थकोभी सुख कहना पड़ेगा । उदाहरणार्थ, प्यास लगनेपर पानी इष्ट होता है; परंतु इस बाह्य पदार्थ 'पानी'को 'सुख' नहीं कहते । यदि ऐसा होगा, तो नदीके पानीमें डूबनेवालेके बारेमें कहना पड़ेगा, कि वह सुखमें डूबा है । सच बात यह है, कि पानी पीनेसे जो इंद्रियतृप्ति होती है, उसे सुख कहते हैं । इसमें संदेह नहीं, कि मनुष्य इस इंद्रियतृप्ति या सुखको चाहता है; परंतु इससे यह व्यापक सिद्धान्त नहीं बताया जा सकता, कि जिसकी चाह होती है वह सब सुखही है । इसी लिये नैयायिकोंने सुखदुःखको वेदना कह कर उसकी व्याख्या इस तरहसे की है, 'अनुकूलवेदनीयं सुखं' जो वेदना हमारे अनुकूल है, वह सुख है; और 'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखं' जो वेदना हमारे प्रतिकूल है, वह दुःख है । ये वेदनाएँ जन्मसिद्ध अर्थात् मूलहीकी और अनुभवगम्य मात्र हैं । इसलिये नैयायियोंकी उक्त व्याख्यासे बढ़कर सुखदुःखका अधिक उत्तम लक्षण बतलाया नहीं जा सकता । ये वेदनारूप सुख-दुःख केवल मनुष्यके व्यापारोंसेही उत्पन्न नहीं होते हैं, तो कभी कभी क्रुद्ध देवताओंके कोपसेभी बड़े बड़े रोग और दुःख उत्पन्न हुआ करते हैं, जिन्हें मनुष्यको अवश्य भोगना पड़ता है । इसीलिये वेदान्त-ग्रंथोंमें सामान्यतः इन सुख-दुःखोंके तीन भेद-आधिदैविक, आधि भौतिक और आध्यात्मिक किये गये हैं । देवता-ओंकी कृपा या कोपसे जो सुख-दुःख मिलते हैं, उन्हें 'आधिदैविक' कहते हैं । बाह्य-सृष्टिके – पृथ्वी आदि पंचमहाभूतात्मक पदार्थोंका मनुष्यकी इंद्रियोंसे संयोग होनेपर – शीतोष्ण आदिके कारण जो सुखदुःख उत्पन्न हुआ करते हैं, उन्हें 'आधिभौतिक' कहते हैं । और, ऐसे बाह्यसंयोगके बिना उत्पन्न होनेवाले अन्य सब सुखदुःखोंको 'आध्यात्मिक' कहते हैं । यदि सुख-दुःखका यह वर्गीकरण स्वीकार किया जाय, तो शरीरहीके वात-पित्त आदि दोषोंके परिमाणके बिगड़ जानसे उत्पन्न होनेवाले ज्वर आदि दुःखोंको – तथा उन्हीं दोषोंका परिणाम यथोचित रहनेसे अनुभवमें आनेवाले शारीरिक स्वास्थ्यको – आध्यात्मिक सुख-दुःख कहना पड़ता है । क्योंकि, यद्यपि ये सुखदुःख पंचमहाभूतात्मक शरीरसे संबंध रखते हैं – अर्थात् ये शारीरिक हैं – तथापि हमेशा यह नहीं कहा जा सकता, कि ये शरीरसे बाहर रहनेवाले पदार्थोंके संयोगसे पैदा हुए हैं । और इसलिये आध्यात्मिक सुख-दुःखोंके, वेदान्तकी दृष्टिसे फिर भी दो भेद – शारीरिक और मानसिक – करने पडते हैं । परंतु इस प्रकार सुख-दुःखोंके 'शारीरिक' और 'मानसिक' दो भेद कर दें, तो फिर आधिदैविक सुख-दुःखोंको भिन्न माननेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती । क्योंकि, यह तो स्पष्टही है कि देवताओंकी कृपा अथवा क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखोंकोभी आखिर मनुष्य अपनेही शरीर या मनके द्वारा भोगता है । अतएव हमने इस ग्रंथमें वेदान्त-ग्रंथोंकी परिभाषाके अनुसार सुख-दुःखोंका त्रिविध वर्गीकरण नहीं किया है । किंतु उनके दोही वर्ग (बाह्य या शारीरिक और आभ्यन्तर या मानसिक) किये हैं, और इसी

वर्गीकरणके अनुसार, हमने इस ग्रंथमें सब प्रकारके शारीरिक सुख-दुःखोंको 'आधिभौतिक' और सब प्रकारके मानसिक सुख-दुःखोंको 'आध्यात्मिक' कहा है। वेदान्तग्रंथमें जैसे तीसरा वर्ग 'आधिदैविक' दिया गया है, वैसे हमने नहीं किया है। क्योंकि, हमारे मतानुसार सुख-दुःखोंका शास्त्रीय रीतिसे विवेचन करनेके लिये यह द्विविध वर्गीकरणही अधिक सुभीतेका है। सुखदुःखका जो विवेचन आगे किया गया है, उसे पढ़ते समय यह बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये, कि वेदान्त-ग्रंथोंके और हमारे वर्गीकरणमें भेद है।

सुख-दुःखोंको चाहे आप द्विविध मानिये अथवा त्रिविध, इसमें संदेह नहीं, कि दुःखकी चाह किसीभी मनुष्यको नहीं होती। इसीलिये वेदान्त और सांख्यशास्त्र (सां. का. १; गीता ६. २१, २२) में कहा गया है, कि सब प्रकारके दुःखोंकी अत्यंत निवृत्ति करना और आत्यंतिक तथा नित्य सुखकी प्राप्ति करनाही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है। जब यह बात निश्चित हो चुकी, कि मनुष्यका परम साध्य या उद्देश्य आत्यंतिक सुखही है, तब ये प्रश्न मनमें सहजही उत्पन्न होते हैं, कि अत्यंत सत्य और नित्य सुख किसको कहना चाहिये? उसकी प्राप्ति होना संभव है या नहीं? यदि संभव है तो कब और कैसे? इत्यादि। और जब हम इन प्रश्नोंपर विचार करने लगते हैं, तब सबसे पहले यही प्रश्न उठता है, कि नैयायिकोंके बतलाये हुए लक्षणके अनुसार सुख और दुःख दोनों भिन्न भिन्न स्वतंत्र वेदनाएँ, " अनुभव या वस्तुएँ हैं " अथवा " जो उजेला नहीं वह अँधेरा " इस न्यायके अनुसार इन दोनों वेदनाओं-मेंसे एकका अभाव होनेपर दूसरी संज्ञाका उपयोग किया जाता है। भर्तृहरिने कहा है, कि " प्याससे जब मुँह सूख जाता है, तब हम उस दुःखका निवारण करनेके लिये पानी पीते हैं। भूखसे जब हम व्याकुल हो जाते हैं, तब मिष्टान्न खाकर उस व्यथाको हटाते हैं; और काम-वासनाके प्रदीप्त होनेपर उसको स्त्रीसंग द्वारा तृप्त करते हैं। इतना कहकर अंतमें कहा है कि :–

प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः।

" किसी व्याधि अथवा दुःखके उत्पन्न होनेपर उसका जो निवारण या प्रतिकार किया जाता है, उसीको लोक भ्रमवश 'सुख' कहा करते हैं। " दुःखनिवारणके अतिरिक्त 'सुख' कोई भिन्न वस्तु नहीं है। यह नहीं समझना चाहिये, कि उक्त सिद्धान्त मनुष्योंके सिर्फ़ उन्हीं व्यवहारोंके विषयमें उपयुक्त होता है, जो स्वार्थहीके लिये किये जाते हैं। पिछले प्रकरणमें आनंदगिरिका यह मत बतलायाही गया है, कि जब हम किसीपर कुछ उपकार करते हैं, तब उसका कारण यही होता है, कि उसके दुःखको देखनेसे हमारी कारुण्यवृत्ति हमारे लिये असह्य हो जाती है; और इस दुःसहत्वकी व्यथाको दूर करनेके लियेही हम परोपकार किया करते हैं। इस पक्षके स्वीकृत करनेपर हमें महाभारतके अनुसार यह मानना पड़ेगा कि :–

तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ।

"पहले जब कोई तृष्णा उत्पन्न होती है, तब उसकी पीड़ासे दुःख होता है; और उस दुःखकी पीड़ासे फिर सुख उत्पन्न होता है" (मभा. शां. २५. २२; १७४. १९)। संक्षेपमें इस पंथका यह कहना है, कि मनुष्यके मनमें पहले एक-आध आशा, वासना या तृष्णा उत्पन्न होती है; और जब उससे दुःख होने लगे, तब उस दुःखका जो निवारण किया जाता है, वही सुख कहलाता है। सुख कोई दूसरी भिन्न वस्तु नहींहै। अधिक क्या कहें उस पंथके लोगोंने यहभी अनुमान निकाला है, कि मनुष्यकी सब सांसारिक प्रवृत्तियाँ केवल वासनात्मक या तृष्णात्मकही हैं, और जबतक सब सांसारिक कर्मोंका त्याग नहीं किया जायगा, तबतक वासना या तृष्णाकी जड़ उखड़ नहीं सकती; और जबतक तृष्णा या वासनाकी जड़ नष्ट नहीं हो जाती, तबतक सत्य और नित्य सुखका मिलनाभी संभव नहीं है। बृहदारण्यक (बृ. ४. ४. २२; वे. सू. ३. ४. १५) में विकल्पसे और जाबाल-संन्यास आदि उपनिषदोंमें प्रधानतासे उसीका प्रतिपादन किया गया है; तथा अष्टावक्र-गीता (९. ८; १०. ३–८) एवं अवधूत-गीता (३. ४६) में इसीका अनुवाद है। इस पंथका अंतिम सिद्धान्त यही है, कि जिस किसीको आत्यंतिक सुख या मोक्ष प्राप्त करना है, उसे उचित है, कि वह जितना जल्द हो सके उतना जल्द संसारको छोड़कर संन्यास ले ले। स्मृति-ग्रंथोंमें जिसका वर्णन किया गया है, और श्रीशंकराचार्यने कलियुगमें जिसकी स्थापना की है, वह श्रौत-स्मार्त संन्यासमार्ग इसी तत्त्वपर चलाया गया है। सच है; यदि सुख कोई स्वतंत्र वस्तुही नहीं है, जो कुछ है, सो दुःखही है; और वहभी तृष्णामूलक है, तो इन तृष्णा आदि विकारोंकोही पहले समूल नष्ट कर देनेपर फिर स्वार्थ और परार्थकी सारी झंझटें आप-ही-आप दूर हो जायगी; और तब मनकी जो मूल साम्यावस्था या शांति है, वही रह जायगी। इसी अभिप्रायसे महाभारतान्तर्गत शांतिपर्वकी, पिंगलगीतामें, और मंकिगीतामें भी, कहा गया है, कि :–

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

"सांसारिक काम अर्थात् वासनाकी तृप्ति होनेसे जो सुख होता है और जो सुख स्वर्गमें मिलता है, उन दोनों सुखोंकी योग्यता तृष्णाके क्षयसे होनेवाले सुखके सोलहवें हिस्सेके बराबरभी नहीं है" (मभा. शां. १७४. ४८; १७७. ४९)। वैदिक संन्यासमार्गकाही आगे चलकर जैन और बौद्ध-धर्ममें अनुकरण किया गया है। इसीलिये इन दोनों धर्मोके ग्रंथोंमें तृष्णाके दुष्परिणामोंका और उसकी त्याज्यताका वर्णन, उपर्युक्त वर्णनहीके समान और कहीं कहीं तो उससेभी बढ़ा चढ़ा किया गया है (उदाहरणार्थ, 'धम्मपद'के 'तृष्णा-वर्ग'को देखिये)। तिब्बतके

बौद्ध-धर्मग्रंथोंमें तो यहाँतक कहा गया है, कि महाभारतका उक्त श्लोक, बुद्धत्व प्राप्त होनेपर गौतम बुद्धके मुखसे निकला था। *

तृष्णाके जो दुष्परिणाम ऊपर बतलाये गये हैं, वे श्रीमद्भगवद्गीताकोभी मान्य हैं। परंतु गीताका यह सिद्धान्त है, कि उन्हें दूर करनेके लिये कर्मका त्याग नहीं कर बैठना चाहिये। अतएव यहाँ सुख-दुःखकी उक्त उपपत्तिपर कुछ सूक्ष्म विचार करना आवश्यक है। संन्यासमार्गके लोगोंका यह कथन सर्वथा सत्य नहीं माना जा सकता, कि सब सुख तृष्णा आदि दुःखोंके निवारण होनेपरही उत्पन्न होते हैं। एकबार अनुभवकी हुई (देखी हुई, सुनी हुई, इत्यादि) वस्तुकी जब फिर चाह होती है तब उसे काम, वासना या इच्छा कहते हैं। जब इच्छित वस्तु जल्द नहीं मिलती, तब दुःख होता है; जिससे वह इच्छा तीव्र होने लगती है, अथवा जब इच्छित वस्तुके मिलनेपरभी पूरा सुख नहीं मिलता; और उसकी चाह अधिकाधिक बढ़ने लगती है, तब उसी इच्छाको तृष्णा कहते हैं; परंतु इस प्रकार केवल इच्छाके तृष्णा-स्वरूपमें बदल जानेके पहलेही, यदि वह इच्छा पूर्ण हो जाय, तो उससे प्राप्त होने-वाले सुखके बारेमें हम यह नहीं कह सकेंगे, कि वह तृष्णा-दुःखके क्षय होनेसे उत्पन्न हुआ है। उदाहरणार्थ, प्रतिदिन नियत समयपर भोजन मिलता है, उसके बारेमें अनुभव यह नहीं है, कि भोजन करनेके पहले हमें दुःखही होता हो। यदि नियत समयपर भोजन न मिले तो हमारा जी भूखसे व्याकुल हो जाया करता है - अन्यथा नहीं। अच्छा, यदि हम मान लें, कि तृष्णा और इच्छा एकही अर्थके द्योतक हैं; तोभी यह सिद्धान्त सच नहीं माना जा सकता, कि सब सुख तृष्णामूलकही हैं। उदा-हरणके लिये, एक छोटे बच्चेके मुँहमें अचानक यदि, एक मिश्रीकी डली डाल दो तो यह कहा नहीं जा सकेगा, कि उस बच्चेको मिश्री खानेसे जो सुख हुआ वह पूर्व-तृष्णाके क्षयसे हुआ है। इसी तरह मान लो, कि राह चलते चलते हम किसी रमणीय बागमें जा पहुँचे; और वहाँ कोयलका मधुर गान एकाएक सुन पड़ा, अथवा किसी मंदिरमें भगवानकी मनोहर छबि दीख पड़ी; तब ऐसी अवस्थामें यह नहीं कहा जा सकता, कि उस गानके सुननेसे, या उस छबिके दर्शनसे होनेवाले सुखकी हम पहलेहीसे इच्छा किये बैठे थे। सच बात तो यही है, कि सुखकी इच्छा किये बिनाही उस समय हमें सुख मिला। इन उदाहरणोंपर ध्यान देनेसे यह अवश्यही मानना पड़ेगा, कि संन्यास-मार्गवालोंकी सुखकी उक्त व्याख्या ठीक नहीं है; और यहभी मानना पड़ेगा, कि इंद्रियोंमें भलीबुरी वस्तुओंका उपभोग करनेकी स्वाभाविक शक्ति होनेके कारण जब वे अपना व्यापार करती रहती हैं; और जब

---

* Rockhill's *Life of Buddha* p. 33 यह श्लोक 'उदान'नामक पाली ग्रंथ (२. २) में है। परंतु उसमें ऐसा वर्णन नहीं है कि यह श्लोक बुद्धके मुखसे, उसे 'बुद्धत्व' प्राप्त होनेके समय निकला था। इससे यह साफ़ मालूम हो जाता है, कि यह श्लोक पहले पहल बुद्धके मुखसे न निकला हो।

कभी उन्हें अनुकूल या प्रतिकूल विषयकी प्राप्ति हो जाती है, तब पहले तृष्णा या इच्छाके न रहनेपरभी हमें सुख-दुःखका अनुभव हुआ करता है। इसी बातको ध्यान रखकर गीता (२. १४) में कहा गया है, कि 'मात्रास्पर्शोंसे शीत-उष्ण आदिका अनुभव करनेपर सुख-दुःख उत्पन्न हुआ करता है। सृष्टिके बाह्य पदार्थोंको 'मात्रा' कहते हैं। गीताके उक्त पदोंका अर्थ यह है, कि जब उन बाह्य पदार्थोंका इंद्रियोंसे स्पर्श अर्थात् संयोग होता है, तब सुख या दुःखकी वेदना उत्पन्न होती है। यही कर्मयोगशास्त्रकाभी सिद्धान्त है। कानको कर्कश आवाज़ अप्रिय क्यों मालूम होती है ? जिह्वाको मधुर रस प्रिय क्यों लगता है ? आँखोंको पूर्ण चंद्रका प्रकाश आल्हादकारक क्यों प्रतीत होता है ? इत्यादि बातोंका कारण कोईभी नहीं बतला सकता। हम लोग केवल इतनाही जानते हैं, कि जीभको मधुर रस मिलनेसे वह संतुष्ट हो जाती है। इससे प्रकट होता है, कि आधिभौतिक सुखका स्वरूप केवल इंद्रियोंके अधीन है; और इसलिये कभी कभी इन इंद्रियोंके व्यापारोंको जारी रखनेमेंही सुख मालूम होता है – चाहे इसका परिणाम भविष्यमें कुछभी हो। उदाहरणार्थ, कभी कभी ऐसा होता है, कि मनमें कुछ विचार आनेसे उस विचारके सूचक शब्द आप-ही-आप मुँहसे बाहर निकल पड़ते हैं। ये शब्द कुछ इस इरादेसे बाहर नहीं निकाले जाते, कि इनको कोई जान लें; बल्कि कभी कभी तो इन स्वाभाविक व्यापारोंसे हमारे मनकी गुप्त बातमी प्रकट हो जाया करती है, जिससे हमको, उल्टे नुकसान हो सकता है। छोटे बच्चे जब चलना सीखते हैं, तब वे दिनभर यहाँ वहाँयोंही चलते फिरते हैं। इसका कारण यह है, कि उन्हें चलते रहनेकी क्रियामेंही उस समय आनंद मालूम होता है। इसलिये सब सुखोंको दुःखाभावरूपही न कहकर यही कहा गया है, कि "इंद्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ" (गीता ३. ३४) अर्थात् इंद्रियोंमें और उनके शब्दस्पर्श आदि विषयोंमें जो राग (प्रेम) और द्वेष हैं, वे दोनों पहलेहीसे 'व्यवस्थित' अर्थात् स्वतंत्र-सिद्ध हैं। और अब हमें यही जानना है, कि इंद्रियोंके ये व्यापार आत्माके लिये कल्याणदायक कैसे होंगे या करलिये जा सकेंगे। इसके लिये श्रीकृष्ण भगवान्का यही उपदेश है, इंद्रियों और मनकी वृत्तियोंका नाश करनेका प्रयत्न करनेके बदले उनको अपने आत्माके लिये लाभदायक बनानेके अर्थ अपने अधीन रखना चाहिये – उन्हे स्वतंत्र नहीं होने देना चाहिये। भगवानके इस उपदेशमें, तृष्णा तथा उसीके साथ सब मनोवृत्तियोंकोभी समूल नष्ट करनेके लिये कहनेमें, जमीन-आसमानका अंतर है। गीताका यह तात्पर्य नहीं है, कि संसारके सब कर्तृत्व और पराक्रमका बिलकुल नाश कर दिया जाय; बल्कि उसके अठारहवें अध्याय (गीता १८. २६) में तो कहा है, कि कार्य-कर्तामें समबुद्धिके साथ धृति और उत्साहके गुणोंका होनाभी आवश्यक है। इस विषयपर विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ हमको केवल यही जानना है, कि 'सुख' और 'दुःख' दोनों भिन्न वृत्तियाँ हैं, या उनमेंसे एक दूसरीका अभाव मात्रही है।

इस विषयमें गीताका मत उपर्युक्त विवेचनसे पाठकोंके ध्यानमें आही गया होगा। 'क्षेत्र'का अर्थ बतलाते समय 'सुख' और 'दुःख'की अलग अलग गणना की गई है (गीता १३. ६); बल्कि यहभी कहा गया है, 'सुख' सत्त्वगुणका और 'तृष्णा' रजोगुणका लक्षण है (गीता १४. ६, ७); और सत्त्वगुण तथा रजोगुण दोनों अलग हैं। इससेभी भगवद्गीताका यह मत साफ़ मालूम हो जाता है, कि सुख और दुःख दोनों एक दूसरेके प्रतियोगी हैं; और भिन्न भिन्न दो वृत्तियाँ हैं। अठारहवें अध्यायमें राजस त्यागकी जो न्यूनता दिखलाई है, कि "कोईभी काम यदि दुःखकारक है, तो उसे छोड़ देनेसे त्यागफल नहीं मिलता; किंतु ऐसा त्याग राजस कहलाता है" (गीता १८. ८), वहभी इस सिद्धान्तके विरुद्ध है, कि "सब सुख तृष्णा-क्षयमूलकही हैं।"

अब यदि यहमान लें, कि सब सुख तृष्णा-क्षयरूप अथवा दुःखाभावरूप नहीं हैं, और यहभी मान लें, कि सुख-दुःख दोनों स्वतंत्र वस्तुएँ हैं; तोभी – इन दोनों वेदनाओंके परस्पर-विरोधी या प्रतियोगी होनेके कारण – यह दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है, कि जिस मनुष्यको दुःखका कुछभी अनुभव नहीं है, उसे सुखका स्वाद मालूम हो सकता है या नहीं? कई लोगोंका तो यहाँतक कहना है, कि दुःखका अनुभव किये बिना सुखका स्वादही नहीं मालूम हो सकता। इसके विपरीत, स्वर्गके देवताओंके नित्यसुखका उदाहरण देकर कुछ पंडित प्रतिपादन करते हैं, कि सुखका स्वाद मालूम होनेके लिये दुःखके पूर्वानुभवकी कोई आवश्यकता नहीं है। जिस तरह किसीभी खट्टे पदार्थको पहले चखे बिनाही शहद, गुड, शक्कर, आम, केला इत्यादि पदार्थोंका भिन्न भिन्न प्रकारका मीठापन मालूम हो जाया करता है, उसी तरह सुखकेभी अनेक प्रकार होनेके कारण पूर्व-दुःखानुभवके बिनाही भिन्न भिन्न प्रकारके सुखों (जैसे, रुईदार गद्दीपरसे ऊठकर परोंकी गद्दीपर बैठना इत्यादि)का सदैव अनुभव करते रहनाभी सर्वथा संभव है। परंतु सांसारिक व्यवहारोंको देखनेसे मालूम हो जायगा, कि यह वादही निरर्थक है। पुराणोंमें देवताओंपरभी संकट पड़नेके कई उदाहरण हैं; और पुण्यका अंश घटतेही कुछ समयके बाद स्वर्ग-सुखकाभी नाश हो जाया करता है। इसलिये स्वर्गीय सुखका उदाहरण ठीक नहीं है। और, यदि ठीकभी हो, तो स्वर्गीय सुखका उदाहरण हमारे किस काम का? यदि यह सत्य मान लें, कि "नित्यमेव सुखं स्वर्गे" तो इसीके आगे (मभा. शां. १९०. १४) यहभी कहा है, कि "सुखं दुःखमिहोभयम्" – अर्थात् इस संसारमें सुख और दुःख दोनों मिश्रित हैं। इसीके अनुसार समर्थ श्रीरामदास स्वामीनेभी कहा है, "हे विचारवान् मनुष्य, इस बातको अच्छी तरह सोचकर देख ले, कि इस संसारमें पूर्ण सुखी कौन है?" इसके सिवा द्रौपदीने सत्यभामाको यह उपदेश दिया है कि :–

सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं दुःखेन साध्वी लभते सुखानि ।

अर्थात् " सुख सुखसे कभी नहीं मिलता; साध्वी स्त्रीको सुख-प्राप्तिके लिये दुःख या कष्ट सहना पड़ता है " (मभा. बन. २३३. ४)। इससे कहना पड़ेगा, कि यह उपदेश इस संसारके अनुभवके अनुसार सत्य है। देखिये, यदि जामुन किसीके होंठपर धर दिया जाय, तोभी उसको चबानेके लिये पहले मुँह खोलना पड़ता है; और यदि मुँहमें चला जाय, तो उसे खानेका कष्ट सहनाही पड़ता है। सारांश, यह बात सिद्ध है, कि दुःखके बाद सुख पानेवाले मनुष्यके सुखास्वादमें, और हमेशा विषयोपभोगोंमेंही निमग्न रहनेवाले मनुष्यके सुखास्वादमें बहुत भारी अंतर है। इसका कारण यह है, कि हमेशा सुखका उपभोग करते रहनेसे सुखका अनुभव करनेवाली इंद्रियाँभी शिथिल-सी होती जाती हैं। कहाभी है कि :–

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।
काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः ॥

अर्थात् " श्रीमानोंमें सुस्वादु अन्नका सेवन करनेकोभी शक्ति नहीं रहती; परंतु गरीब लोग काष्ठकोभी पचा जाते हैं " (मभा. शां. २८. २९)। अतएव जब कि हमको इस संसारकेही व्यवहारोंका विचार करना है, तब कहना पड़ता है, कि इस प्रश्नको अधिक हल करते रहनेमें कोई लाभ नहीं, कि बिना दुःख पाये हमेशा सुखका अनुभव किया जा सकता है या नहीं। इस संसारमें यही क्रम सदासे सुन पड़ रहा है, कि " सुखस्यानंतरं दुःखं दुःखस्यानंतरं सुखम् " (मभा. वन. २६०. ४९; शां. २५. २३.) अर्थात् सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख मिलाही करता है। और महाकवि कालिदासनेभी मेघदूत (मे. १. १४) में वर्णन किया है :–

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥

" किसीकीभी स्थिति हमेशा सुखमय या हमेशा दुःखमय नहीं होती। सुख-दुःखकी दशा पहियेके समान ऊपर और नीचेकी ओर हमेशा बदलती रहती है। " फिर यह दुःख चाहे हमारे सुखकी मिठासको अधिक बढ़ानेके लिये उत्पन्न हुआ हो या इस प्रकृतिके संसारमें उसका औरभी कुछ उपयोग होता हो; उक्त अनुभव-सिद्ध क्रमके बारेमें मतभेद हो नहीं सकता। यहाँ, यह बात कदाचित् असंभव न होगी, कि कोई मनुष्य हमेशाही विषय-सुखका उपभोग किया करे और उससे उसका जीभी न ऊबे। परंतु इस कर्मभूमि (मृत्युलोक या संसार)में यह बात सर्वथा असंभव है, कि दुःखका बिलकुल नाश हो जाय और हमेशा सुख-ही-सुखका अनुभव मिलता रहे।

यदि यह बात सिद्ध है, कि संसार केवल सुखमय नहीं है, किंतु वह सुख-दुःखात्मक है, तो अब तीसरा प्रश्न आप-ही-आप मनमें पैदा होता है, कि संसारमें सुख अधिक है या दुःख? जो पश्चिमी पंडित आधिभौतिक सुखकोही परम साध्य

मानते हैं, उनमेंसे वहुतेरोंका कहना है, कि यदि संसारमें सुखसे दुःखही अधिक होता, तो (सब नहीं तो) अधिकांश लोग अवश्यही आत्महत्या कर डालते। क्योंकि जब उन्हें मालूम हो जाता, कि संसार दुःखमय है, तो वे फिर उसमें रहनेकी झंझटमें क्यों पड़ते? बहुधा देखा जाता है, कि मनुष्य अपनी आयु अर्थात् जीवनसे नहीं ऊवता; इसलिये निश्चयपूर्वक यही अनुमान किया जा सकता है, कि इस संसारमें मनुष्यको दुःखकी अपेक्षा सुखही अधिक मिलता है; और इसलिये धर्म-अधर्मका निर्णयभी, सुखकोही सब लोगोंका परम साध्य समझ कर, किया जाना चाहिए। अब यदि उपर्युक्त मतकी अच्छी तरह जाँचकी जाय तो मालूम हो जायगा, कि यहाँ आत्महत्याका जो संबंध सांसारिक सुखके साथ जोड़ दिया गया है, वह वस्तुतः सत्य नहीं है। हाँ, यह बात सच है, कि कभी कभी कोई मनुष्य संसारसे त्रस्त होकर आत्महत्या कर डालता है; परंतु सब लोग उसकी गणना 'अपवाद'में अर्थात् पागलोंमें किया करते हैं। इससे यही बोध होता है, कि सर्वसाधारण लोगभी 'आत्महत्या करने या न करने'का संबंध सांसारिक सुखके साथ नहीं जोड़ते किंतु उसे (अर्थात् आत्महत्या करने या न करनेको) एक स्वतंत्र बात समझते हैं। यदि असभ्य और जंगली मनुष्योंके उस 'संसार' या जीवनका विचार किया जावे, जो सुधरे हुए और सभ्य मनुष्योंकी दृष्टिसे अत्यंत कष्टदायक और दुःखमय प्रतीत होता है; तोभी वही अनुमान निष्पन्न होगा, जिसका उल्लेख ऊपरके वाक्यमें किया गया है। प्रसिद्ध सृष्टिशास्त्रज्ञ चार्ल्स डार्विनने अपने प्रवास-ग्रंथमें कुछ ऐसे जंगली लोगोंका वर्णन किया है, जिन्हें उसने दक्षिण-अमरिकाके अत्यंत दक्षिण प्रांतोंमें देखा था। उस वर्णनमें लिखा है, कि वे असभ्य लोग – स्त्री, पुरुष सब – कडाकेके जाड़ेके अपने देशमें बारहों महीने नंगे घूमते रहते हैं; इनके अपने पास अनाजका कुछभी संग्रह न करते रहनेसे इन्हें कभी कभी भूखों रहना पड़ता है; तथापि इनकी संख्या दिनोंदिन बढ़तीही जाती है*। देखिये, ये जंगली मनुष्यभी अपनी जान नहीं देते; परंतु क्या इससे यह अनुमान किया जा सकता है, कि उनका संसार या जीवन सुखमय है? कदापि नहीं। यह बात सच है, कि वे आत्महत्या नहीं करते; परंतु इसके कारणका यदि सूक्ष्म विचार किया जावे, तो मालूम होगा, कि हर एक मनुष्यको – चाहे वह सभ्य हो या असभ्य – केवल इसी बातमें अत्यंत आनंद मालूम होता है, कि "मैं पशु नहीं हूँ मनुष्य हूँ।" और अन्य सब सुखोंकी अपेक्षा मनुष्य होनेके सुखको वह इतना अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है, कि यह संसार कितनाभी कष्टमय क्यों न हो; तथापि वह उसकी ओर ध्यान नहीं देता; और न वह अपने इस मनुष्यत्वके दुर्लभ सुखको खो देनेके लिये कभी तैयार रहता है। मनुष्यकी बात तो दूर रही, पशु-पक्षीभी आत्महत्या नहीं करते तो क्या इससे कह सकते हैं, कि उनकाभी संसार या जीवन सुखमय है? तात्पर्य यह है, कि "मनुष्य या पशु-पक्षी आत्महत्या नहीं

* Darwin's *Naturalist's Voyage Round the World* – Chap. X.

करते" इस बातसे यह भ्रामक अनुमान नहीं करना चाहिये, कि उनका जीवन सुखमय है। सच्चा अनुमान यही हो सकता है, कि संसार कैसाभी हो, उससे कुछ अपेक्षा न रखते हुये; सिर्फ अचेतन अर्थात् जड़ अवस्थासे सचेतन यानी सजीव अवस्थामें आनेहीसे अनुपम आनंद मिलता है; और उसमेंभी मनुष्यत्वका आनंद तो सबसे श्रेष्ठ है। हमारे शास्त्रकारोंनेभी कहा है :–

> भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
> बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृता ।।
> ब्राह्मणेषु च विद्वांसः विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
> कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः ।।

अर्थात् "अचेतन पदार्थोंकी अपेक्षा सचेतन प्राणी श्रेष्ठ है। सचेतन प्राणियोंमें बुद्धिमान्, बुद्धिमानोंमें मनुष्य, मनुष्योंमें ब्राह्मण, ब्राह्मणोंमें विद्वान्, विद्वानोंमें कृतबुद्धि (वे मनुष्य जिनकी बुद्धि सुसंस्कृत हो), कृतबुद्धियोंमें कर्ता (काम करनेवाले), और कर्ताओंमें ब्रह्मवादी श्रेष्ठ हैं।" इस प्रकार शास्त्रों (मनु. १. ९६, ९७; मभा. उद्यो. ५. १ और २) में क्रमशः बढ़ती हुई श्रेणियोंका जो वर्णन है, उसकाभी रहस्य वही है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। और उसी न्यायसे प्राकृत भाषा-ग्रंथोंमेंभी कहा गया है, कि चौरासी लाख योनियोंमें नरदेह श्रेष्ठ है, नरोंमें मुमुक्षु श्रेष्ठ है और मुमुक्षुओंमें सिद्ध श्रेष्ठ है। संसारमें जो कहावत प्रचलित है, कि "सबको अपनी जान अधिक प्यारी होती है।" उसकाभी कारण वही है, जो ऊपर लिखा गया है। और इसी कारणसे संसारके दुःखमय होनेपरभी जब कोई मनुष्य आत्महत्या करता है, तो उसको लोग पागल कहते हैं; और धर्मशास्त्रके अनुसार वह पापी समझा जाता है (मभा. कर्ण. ७०. २८)। तथा आत्महत्याका प्रयत्नभी कानूनके अनुसार जुर्म माना जाता है। संक्षेपमें यह सिद्ध हो गया, कि "मनुष्य आत्महत्या नहीं करता" – इस बातसे संसारके सुखमय होनेका अनुमान करना उचित नहीं है। ऐसी अवस्थामें हमको, "यह संसार सुखमय है या दुःखमय?" इस प्रश्नका निर्णय करनेके लिये, पूर्वकर्मानुसार नरदेहप्राप्ति-रूप अपने नैसर्गिक भाग्यकी बातको छोड़कर, केवल उसके पश्चात् अर्थात् इस संसारहीकी बातोंका विचार करना चाहिये। "मनुष्य आत्महत्या नहीं करता; बल्कि वह जीनेकी इच्छा करता रहता है" – यह तो सिर्फ संसारकी प्रवृत्तिका कारण है। आधिभौतिक पंडितोंके कथनानुसार संसारके सुखमय होनेका यह कोई सबूत या प्रमाण नहीं है। यह बात इस प्रकारभी कही जा सकती है, कि आत्महत्या न करनेकी बुद्धि स्वाभाविक है; वह संसारके सुखदुःखोंके तारतम्यसे उत्पन्न नहीं हुई है; और, इसीलिये इससे यह सिद्ध हो नहीं सकता कि संसार सुखमय है।

केवल मनुष्यजन्म पानेके सौभाग्यको और (उसके बादके) मनुष्यके सांसारिक व्यवहार या 'जीवन'को भ्रमवश एकही नहीं समझ लेना चाहिये। केवल मनुष्यत्व, और मनुष्यके नित्य व्यवहार अथवा सांसारिक जीवन, ये दोनों भिन्न भिन्न बातें हैं। इस भेदको ध्यानमें रखकर यह निश्चय करना है, कि इस संसारमें श्रेष्ठ नरदेह-धारी प्राणीके लिये सुख अधिक है अथवा दुःख? इस प्रश्नका यथार्थ निर्णय करनेके लिये केवल यही सोचना एकमात्र साधन या उपाय है, कि प्रत्येक मनुष्यके 'वर्तमान समयकी' वासनाओंमेंसे कितनी वासनाएँ सफल हुई और कितनी निष्फल। 'वर्तमान समयकी' कहनेका कारण यह है, कि जो बातें सभ्य या सुधरी हुई दशाके सभी लोगोंको प्राप्त हो जाया करती हैं, उनका नित्य व्यवहारमें उपयोग होने लगता है; और उनसे जो सुख हमें मिलता है, उसे हम लोग भूल जाया करते हैं। एवं जिन वस्तुओंको पानेकी नई इच्छा उत्पन्न होती है, उनमेंसे जितनी हमें प्राप्त हो सकती हैं, सिर्फ़ उन्हींके आधारपर हम इस संसारके सुख-दुःखोंका निर्णय किया करते हैं। इस बातकी तुलना करना, कि हमें वर्तमानकालमें कितने सुख-साधन उपलब्ध हैं और सौ वर्ष पहले इनमेंसे कितने सुखसाधन प्राप्त हो गये थे; और इस बातका विचार करना कि आजके दिन मैं सुखी हूँ या नहीं; दोनों बातें अत्यंत भिन्न हैं। इन बातोंको समझनेके लिये उदाहरण लीजिये। इसमें संदेह नहीं, कि सौ वर्ष पहलेकी बैलगाड़ीकी यात्रासे वर्तमान समयकी रेल-गाड़ीकी यात्रा अधिक सुखकारक है। परंतु अब इस रेल-गाडीसे मिलनेवाले सुखके 'सुखत्व'को हम भूल गये हैं। और इसका परिणाम यह दीख पडता है, कि किसी दिन रेल-गाडी देरसे आती है; और हमारी डाक हमें समयपर नहीं मिलती, तो हमें अच्छा नहीं लगता – कुछ दुःखही-सा होता है। अतएव मनुष्यके वर्तमान समयके सुख-दुःखोंका विचार, उन सुख-साधनोंके आधारपर नहीं किया जाता कि जो उपलब्ध हैं; किंतु यह विचार मनुष्यकी 'वर्तमान' आवश्यकताओंके (इच्छाओं या वासनाओं) आधारपरही किया जाता है। और, जब हम इन आवश्यकताओं, इच्छाओं या वासनाओंका विचार करने लगते हैं तब मालूम हो जाता है, कि उनका तो कुछ अंतही नहीं – वे अनंत और अमर्यादित हैं। यदि हमारी एक इच्छा आज सफल हो जाय, तो कल दूसरी नई इच्छा उत्पन्न हो जाती है; और मनमें यह भाव उत्पन्न होता है, कि वह इच्छाभी सफल हो। ज्यों ज्यों मनुष्यकी इच्छा या वासना सफल होती जाती है, त्यों त्यों उसकी इच्छाकी दौड़ एक कदम आगेही बढ़ती चली जाती है; और जब कि यह बात अनुभवसिद्ध है, कि इन सब इच्छाओं या वासनाओंका सफल होना संभव नहीं, तब इसमें संदेह नहीं, कि मनुष्य दुःखी हुए बिना रह नहीं सकता। यहाँ निम्न दो बातोंके भेदपर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिये : (१) सब सुख केवल तृष्णा-क्षयरूपही है; और (२) मनुष्यको कितनाही सुख मिले, तोभी वह असंतुष्टही रहता है। यह कहना एक बात है, कि प्रत्येक सुख दुःखाभावरूप नहीं

है, किंतु सुख और दुःख इंद्रियोंकी दो स्वतंत्र वेदनाएँ हैं, और यह कहना उससे बिलकुलही भिन्न है, कि प्राप्त किसी एक समय सुखोंको भूलकर अधिकाधिक सुख पानेके लिये असंतुष्ट बने रहना। इनमेंसे पहली बात सुखके वास्तविक स्वरूपके विषयमें है; और दूसरी बात यह है, कि प्राप्त सुखसे मनुष्यकी पूरी तृप्ति होती है या नहीं? विषय-वासना हमेशा अधिकाधिक बढ़तीही जाती है, इसलिये जब प्रतिदिन नये सुख नहीं मिल सकते, तब यही मालूम होता है, कि पूर्वप्राप्त सुखोंकोही बार-बार भोगते रहना चाहिये – और इसीसे मनकी इच्छाका दमन नहीं होता। विटेलियस नामक एक रोमन बादशाह था। कहते हैं, कि बार-बार जिव्हाका सुख पानेके लिये, भोजन करनेपर वह किसी औषधिके द्वारा कै कर डालता था; और प्रतिदिन अनेक बार भोजन किया करता था। परंतु, अंतमें पछतानेवाले ययाति राजाकी कथा इससेभी अधिक शिक्षादायक है। यह राजा शुक्राचार्यके शापसे, बूढ़ा हो गया था; परंतु उन्हींकी कृपासे इसको यह सहुलियतभी मिल गयी थी, कि अपना बुढ़ापा किसीको देकर उसके बदलेमें उसकी जवानी ले लें। तब इसने अपने पुरु नामक बेटेसे उसकी तरुणावस्था माँग ली और सौ दो सौ नहीं, पूरे एक हज़ार वर्षतक लगातार सब प्रकारके विषय-सुखोंका उपभोग किया। अंतमें उसने यही अनुभव किया, कि इस दुनियाके सारे पदार्थ एक मनुष्यकी सुख-वासनाको तृप्त करनेमें असमर्थ हैं। महाभारतके आदिपर्वमें व्यासजीने कहा है, कि तब उसके मुखसे यही उद्गार निकाल पड़ा कि :–

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

अर्थात् "सुखोंके उपभोगसे विषय-वासनाकी तृप्ति तो होतीही नहीं; किंतु विषय-वासना दिनोंदिन उसी प्रकार बढ़ती जाती है, जैसे अग्निकी ज्वाला हवनपदार्थोंसे बढ़ती जाती है" (मभा. आ. ७५. ४९)। यही श्लोक मनुस्मृतिमेंभी पाया जाता है (मनु. २. ९४)। तात्पर्य यह है, कि चाहे जितने सुखके साधन उपलब्ध हों, तोभी इंद्रियोंकी इच्छा उत्तरोत्तर बढ़तीही जाती है। इसलिये केवल सुखोपभोगसे सुखकी इच्छा कभी तृप्त नहीं हो सकती; उसको रोकने या दबानेके लिये कुछ अन्य उपाय अवश्यही करना पड़ता है। यह तत्त्व हमारे सभी धर्मशास्त्र-ग्रंथ-कारोंको पूर्णतया मान्य है; और इसलिये उनका प्रथम उपदेश यह है; कि प्रत्येक मनुष्यको अपने कामोपभोगकी मर्यादा बांध लेनी चाहिये। जो लोग कहा करते है, कि इस संसारमें परम साध्य केवल विषयोपभोगही है, वे यदि उक्त अनुभूत सिद्धान्तपर थोड़ाभी ध्यान दें, तो उन्हें अपने मतकी निस्सारता तुरंतही मालूम हो जायगी। वैदिक धर्मका यह सिद्धान्त बौद्धधर्ममेंभी पाया जाता है; और ययाति राजाके सदृश, मान्धाता नामक पौराणिक राजानेभी मरते समय कहा है :–

न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति ।
अपि दिब्बेसु कामेसु रतिं सो नाधिगच्छति ।।

"कार्षापण नामक महामूल्यवान् सिक्के की यदि वर्षा होने लगे, तोभी कामवासना की तित्ति अर्थात् तृप्ति नहीं होती; और स्वर्गका सुख मिलनेपरभी कामी पुरुषकी कामेच्छा पूरी नहीं होती।" यह वर्णन धम्मपद (१८६, १८७) नामक बौद्ध-ग्रंथमें है। इससे कहा जा सकता है कि विषयोपभोगरूपी सुखकी पूर्ति कभी हो नहीं सकती; और इसीलिये हरएक मनुष्यको हमेशा ऐसा मालूम होता है, कि "मैं दुःखी हूँ !" मनुष्योंकी इस स्थितिको विचारनेसे वही सिद्धान्त स्थिर करना पड़ता है, जो महाभारत (मभा. शां. २०५. ६; ३३०. १६) में कहा गया है :–

सुखाद्बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः ।

अर्थात् "इस जीवनमें यानी संसारमें सुखकी अपेक्षा दुःखही अधिक है।" यही सिद्धान्त साधु तुकारामने इस प्रकार दिया है : – "सुख देखो तो राईबराबर और दुःख पर्वतके समान है।" उपनिषत्कारोंकाभी सिद्धान्त ऐसाही है (मैत्र्यु. १. २–४)। गीता (गीता ८. १५ और ९. ३३) मेंभी कहा गया है, कि मनुष्यका जन्म अशाश्वत और 'दुःखोंका घर' है, तथा यह संसार अनित्य और 'सुखरहित' है। जर्मन पंडित शोपेनहरका ऐसाही मत है, जिसे सिद्ध करनेके लिये उसने एक विचित्र दृष्टान्त दिया है। वह कहता है, कि मनुष्यकी समस्त सुखेच्छाओंमेंसे जितनी सुखेच्छाएँ सफल होती हैं, उसी परिमाणसे हम उसे सुखी समझते हैं, और जब सुखेच्छाओंकी अपेक्षा सुखोपभोग कम हो जाता है, तब कहा जाता है, कि वह मनुष्य उस परिमाणसे दुःखी है। इस परिमाणको गणित-रीतिसे समझाना हो तो सुखोपभोगको सुखेच्छासे भाग देना चाहिये और अपूर्णांकके रूपमें सुखेच्छा ऐसा लिखना चाहिये। परंतु यह अपूर्णांक हैभी विलक्षण; क्योंकि इसका हर (अर्थात् सुखेच्छा), अंश (अर्थात् सुखोपभोग)की अपेक्षा, हमेशा अधिकाधिक बढ़ताही रहता है। यदि यह अपूर्णांक पहले $\frac{१}{२}$ हो, और यदि आगे – उसका अंश १ से ३ हो जाय, तो उसका हर २ से १० हो जायगा – अर्थात् वही अपूर्णांक $\frac{३}{१०}$ हो जाता है। तात्पर्य यह है, यदि अंश तिगुना बढता है, तो हर पचगुना बढ़ जाता है, जिसका फल यह होता है, कि वह अपूर्णांक पूर्णताकी ओर न जा कर अधिकाधिक अपूर्णताकी ओर चला जाता है। इसका मतलब यही है, कि कोई मनुष्य कितनाही सुखोपभोग करे, उसकी सुखेच्छा दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है; जिससे यह आशा करना व्यर्थ है, कि मनुष्य पूर्ण सुखी हो सकता है। प्राचीन कालमें कितना सुख था, इसका विचार करते समय हम लोग इस अपूर्णांकके अंशका तो पूर्ण ध्यान रखते हैं, परंतु इस बातको भूल जाते हैं, कि अंशकी अपेक्षा हर कितना बढ़ गया है। किंतु जब हमें सुख-दुःखकी मात्राकाही निर्णय करना है, तो हमें किसी 'काल'का विचार न

करके सिर्फ़ यही देखना चाहिये, कि उक्त अपूर्णांकके अंश और हरमें कैसा संबंध है। फिर हमें आप-ही-आप मालूम हो जायगा, कि इस अपूर्णांकका पूर्ण होना असंभव है। "न जातु कामः कामानाम्" इस मनुवचनका (२. ९४) भी यही अर्थ है। संभव है, कि बहुतेरोंको सुख-दुःख नापनेकी गणितकी यह रीति पसंद न हो; क्योंकि यह उष्णतामापक यंत्रके समान कोई निश्चित साधन नहीं है। परंतु इस युक्तिवादसे प्रकट हो जाता है, कि इस बातको सिद्ध करनेके लियेभी कोई निश्चित साधन नहीं, कि "संसारमें सुखही अधिक है।" यह आपत्ति दोनों पक्षोंके लिये समानही है। इसलिये उक्त प्रतिपादनके साधारण सिद्धान्तमें – अर्थात् उस सिद्धान्तमें जो सुखोपभोगकी अपेक्षा सुखेच्छाकी अमर्यादित वृद्धिसे निष्पन्न होता है – यह आपत्ति कुछ बाधा नहीं डाल सकती। धर्म-ग्रंथोंमें तथा संसारके इतिहासमें सिद्धान्तके पोषक अनेक उदाहरण मिलते हैं। किसी जमानेमें स्पेन देशमें मुसलमानोंका राज्य था। वहाँ तीसरा अब्दुल रहमान* नामक एक बहुतही न्यायी और पराक्रमी बादशाह हो गया है। उसने यह देखनेके लिये – कि मेरेदिन कैसे कटते हैं – एक रोज़नामचा बनाया था; जिसे देखके अंतमें उसे यह ज्ञात हुआ, कि पचास वर्षके शासन-कालमें उसके केवल चौदह दिन सुखपूर्वक बीते। किसीने हिसाब करके बतलाया है, कि संसारभरके – विशेषतः यूरोपके – प्राचीन और अर्वाचीन सभी तत्त्वज्ञानियोंके मतोंको देखो; तो यही मालूम होगा, कि उनमेंसे प्रायः आधे लोग संसारको दुःखमय कहते हैं, और प्रायः आधे उसे सुखमय कहते हैं। अर्थात् संसारको सुखमय तथा दुःखमय कहनेवालोंकी संख्या प्रायः बराबर है। † यदि इस तुल्य संख्यामें हिंदु तत्त्वज्ञोंके मतोंको जोड़ दें, तो कहना नहीं होगा, कि संसारको दुःखमय माननेवालोंकी संख्याही अधिक हो जायगी।

संसारके सुख-दुःखोंके उक्त विवेचनको सुनकर कोई संन्यासमार्गीय पुरुष कह सकता है, कि यद्यपि तुम इस सिद्धान्तको नहीं मानते कि "सुख कोई सच्चा पदार्थ नहीं है; फलतः सब तृष्णात्मक कर्मोंको छोड़े बिना शांति नहीं मिल सकती।" तथापि तुम्हारेही कथनानुसार यह बात सिद्ध है, कि तृष्णासे असंतोष और असंतोषसे दुःख उत्पन्न होता है। तब ऐसी व्यवस्थामें यह कह देनेमें क्या हर्ज है, कि इस असंतोषको दूर करनेके लिये मनुष्यको अपनी तृष्णाओंका और उन्हींके साथ सब सांसारिक कर्मोंकाभी त्याग करके सदा संतुष्टही रहना चाहिये – फिर तुम्हें इस बातका विचार नहीं करना चाहिये, कि उन कर्मोंको तुम परोपकारके लिये करना चाहते हो या स्वार्थके लिये। महाभारत (मभा. वन. २१५. २२) में कहा है, कि "असंतोषस्य नास्त्यन्तस्तुष्टिस्तु परमं सुखम्" अर्थात् असंतोषका अंत

* *Moors in Spain*, p. 128 (Story of the Nations Series).

† Macmillan's *Promotion of Happiness*, *p*. 26.

नहीं है और संतोषही परम सुख है। जैन और बौद्ध धर्मोंकी नींवभी इसी तत्त्वपर डाली गयी है; तथा पश्चिमी देशोंमें शोपेनहर* ने अर्वाचीन कालमें इसी मतका प्रतिपादन किया है; परंतु इसके विरुद्ध यह प्रश्न भी किया जा सकता है, कि जिव्हासे कभी कभी गालियाँ वगैरह अपशब्दोंका उच्चारण करना पड़ता है, तो क्या जीभहीको समूल काटकर फेंक देना चाहिये ? या अग्निसे कभी कभी मकान जल जाते हैं, तो क्या लोगोंने अग्निका सर्वथा त्यागही कर दिया है ? और उन्होंने भोजन बनानाही छोड़ दिया हैं ? अग्निकी बात कौन कहे; जब हम विद्युत्-शक्तिकोभी मर्यादामें रखकर उसको नित्यव्यवहारके उपयोगमें लाते हैं, तो उसी तरह तृष्णा और असंतोषकीभी सुव्यवस्थित मर्यादा बाँधना कुछ असंभव नहीं है। हाँ, यदि असंतोष सर्वांशमें और सभी समय हानिकारक होता, तो बात दूसरी थी; परंतु विचार करनेसे मालूम होगा कि सचमुच बात ऐसी नहीं है। असंतोष यह अर्थ बिलकुल नहीं, कि किसी चीज़को पानेके लिये रात-दिन हाय हाय करते रहें, रोते रहें; (या न मिलनेपर सिर्फ़ शिकायतही किया करें)। ऐसे असंतोषको शास्त्रकारोंनेभी निंद्य माना है। परंतु उस इच्छाका मूलभूत असंतोष कभी निंदनीय नहीं कहा जा सकता, जो यह कहे, कि तुम अपनी वर्तमान स्थितिमेंही पड़े पड़े सड़ते मत रहो; किंतु उसमें यथाशक्ति शांत और समचित्तसे अधिकाधिक सुधार करते जाओ; तथा शक्तिके अनुसार उसे उत्तम अवस्थामें ले जानेका प्रयत्न करो। जो समाज चार वर्णोंमें विभक्त है, उसके ब्राह्मणोंने ज्ञानकी, क्षत्रियोंने ऐश्वर्यकी और वैश्योंने धन-धान्यकी उक्त प्रकारकी इच्छा या वासना छोड़ दी, तो कहना नहीं होगा, कि वह समाज शीघ्रही अधोगतिको पहुँच जायगा। इसी अभिप्रायको मनमें रखकर व्यासजीने (मभा. शां. २३. ९) युधिष्ठिरसे कहा है, कि "यज्ञो विद्या समुत्थानमसंतोषः श्रियं प्रति" – अर्थात् यज्ञ, विद्या, उद्योग और ऐश्वर्यके विषयमें असंतोष (रखना) ये क्षत्रियके गुण हैं। उसी तरह विदुलानेभी अपने पुत्रको उपदेश करते समय (मभा. उ. १३२–३३) कहा है, कि "संतोषो वै श्रियं हन्ति" – अर्थात् संतोषसे ऐश्वर्यका नाश होता है; और किसी अन्य अवसरपर एक वाक्य (मभा. सभा. ५५. ११) में यहभी कहा गया है, कि "असंतोषः श्रियो मूलम्" अर्थात् असंतोषही ऐश्वर्यका मूल है।† ब्राह्मणधर्ममें संतोष एक गुण बतलाया गया है सही; परंतु उसका अर्थ केवल यही है, कि वह चातुर्वर्ण्य-धर्मानुसार द्रव्य

---

* Schopenhauer's *World as Will and Representation*, Vol. II, chap. 46. संसारके दुःखमयत्वका, शोपेनहरकृत वर्णन अत्यंतही सरस है। मूल ग्रंथ जर्मन भाषामें है और उसका भाषांतर अंग्रेजीमेंभी हो चुका है।

† Cf. "Unhappiness is the cause of progress." Dr. Paul Caru's, *The Ethical Problem*, p. 251 (2nd Ed.).

और ऐहिक ऐश्वर्यके विषयमें संतोष रखें। यदि कोई ब्राह्मण कहने लगे, कि मुझे जितना ज्ञान प्राप्त हो चुका है, उसीसे मुझे संतोष है, तो वह स्वयं अपना नाश कर बैठेगा। इसी तरह यदि कोई वैश्य या शूद्र, अपने अपने धर्मके अनुसार जितना मिला है उतना पा करही, सदा संतुष्ट बना रहे तो उसकीभी वही दशा होगी। सारांश यह है, कि असंतोष सब भावी उत्कर्षका, प्रयत्नका, ऐश्वर्यका और मोक्षका बीज है। हमें इस बातका सदैव ध्यान रखना चाहिये, कि यदि हम असंतोषका पूर्णतया नाश कर डालेंगे तो, इस लोक और परलोकमेंभी हमारी दुर्गति होगी। श्रीकृष्णका उपदेश सुनते समय जब अर्जुनने कहा, कि "भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्तिमेऽमृतम्" (गीता १०. १८) अर्थात् आपके अमृततुल्य भाषणको सुनकर मेरी तृप्ति होतीही नहीं। इसलिये आप फिरसे अपनी विभूतियोंका वर्णन कीजिये – तब भगवानने फिरसे अपनी विभूतियोंका वर्णन आरंभ किया। उन्होंने ऐसा नहीं कहा, कि तू अपनी इच्छाको वशमें रख। असंतोष या अतृप्ति अच्छी बात नहीं है। इससे सिद्ध होता है, कि योग्य और कल्याणकारक बातोंमें उचित असंतोषका होना भगवानकोभी इष्ट है। भर्तृहरिकाभी इसी आशयका एक श्लोक है। यथा "यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ" अर्थात् रुचि या इच्छा अवश्य होनी चाहिये, परंतु वह यशके लियेही हो। और व्यसनभी होना चाहिये, परंतु वह विद्याका हो, अन्य बातोंका नहीं। काम-क्रोध आदि विकारोंके समान असंतोषकोभी वशसे बाहर नहीं होने देना चाहिये। यदि वह वशमें न रहेगा, तो निःसंदेह हमारे सर्वस्वका नाशकर डालेगा। इसी हेतुसे केवल विषयभोगकी प्रीतिके लिये तृष्णा लादकर और एक आशाके बाद दूसरी आशा रखकर सांसारिक सुखोंके पीछे हमेशा भटकनेवाले पुरुषोंकी संपत्तिको गीताके सोलहवें अध्यायमें 'आसुरी संपत्ति' कहा है। ऐसे रात-दिनके लालचीपनसे मनुष्यके मनकी सात्त्विक वृत्तियोंका नाश हो जाता है – उसकी अधोगति होती है; और तृष्णाकी पूरी तृप्ति होना असंभव होनेके कारण कामोपभोग-वासना नित्य अधिकाधिक बढ़ती जाती है; तथा वह मनुष्य अंतमें उसी दशामें मर जाता है! इसके विपरीत तृष्णा या असंतोषके इस दुष्परिणामसे बचनेके लिये सब प्रकारकी तृष्णाओंके साथ सब कार्योंको एकदम छोड़ देनाभी सात्त्विक मार्ग नहीं है। उपर्युक्त कथनानुसार तृष्णा या असंतोष भावी उत्कर्षका बीज है। इसलिये चोरके डरसे साहकोही मार डालनेका प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिये। युक्तिका मध्यम मार्ग तो यही है, कि हम इस बातका भली भाँति विचार किया करें कि किस तृष्णा या किस असंतोषसे हमें दुःख होता है; और जो विशिष्ट आशा, तृष्णा या असंतोष दुःखकारक हो उसे छोड़ दें। उसके लिये समस्त कर्मोंको छोड़ देना उचित नहीं। केवल दुःखकारी आशाओंकोही छोड़ने और स्वधर्मानुसार कर्म करनेकी इस युक्ति या कौशल्यकोही योग अथवा कर्मयोग कहते हैं (गीता २. ५०); और यही गीताका मुख्यतः प्रतिपाद्य विषय है। इसलिये यहाँ

थोड़ा-सा इस बातका और विचार कर लेना चाहिये, कि गीतामें किस प्रकारकी आशाको दुःखकारी कहा है।

मनुष्य कानसे सुनता है, त्वचासे स्पर्श करता है, आँखोंसे देखता है, जिव्हासे स्वाद लेता है तथा नाकसे सूँघता है। इंद्रियोंके ये व्यापार जिस परिमाणसे इंद्रियोंकी वृत्तियोंके अनुकूल या प्रतिकूल होते हैं, उसी परिमाणमें मनुष्यको सुख अथवा दुःख हुआ करता है। सुख-दुःखके वस्तुस्वरूपके लक्षणका यह वर्णन पहले हो चुका है; परंतु सुख-दुःखोंका विचार केवल इसी परिभाषासे पूरा नहीं हो जाता। आधिभौतिक सुख-दुःखोंके उत्पन्न होनेके लिये बाह्य पदार्थोका संयोग इंद्रियोंके साथ होना यद्यपि प्रथमतः आवश्यक है, तथापि इसका विचार करनेपर – कि आगे इन सुख-दुःखोंका अनुभव मनुष्य किस रीतिसे करता है – तो यह मालूम होगा, कि इंद्रियोंके स्वाभाविक व्यापारसे उत्पन्न होनेवाले इन सुख-दुःखोंको जाननेका (अर्थात् इन्हें अपने लिये स्वीकार या अस्वीकार करनेका) काम हरएक मनुष्यको अपने मनके अनुसारही करना पडता है। महाभारतमें कहा है, कि "चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा" (मभा. शां. ३११. १७) – अर्थात् देखनेका काम केवल आँखोंसेही नहीं होता; किंतु उसमें मनकीभी सहायता आवश्यक है। और यदि मन व्याकुल हो, तो आँखोंसे देखनेपरभी अनदेखा-सा हो जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (बृ. १. ५. ३) मेंभी यह वर्णन पाया जाता है; यथा (अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्) "मेरा मन दूसरी ओर लगा था; इसलिये मुझे नहीं दीख पड़ा" और (अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौतम्) "मेरा मन दूसरी ओर था; इसलिये मैं सुन नहीं सका" – इससे यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है, कि आधिभौतिक सुखदुःखोंका अनुभव करनेके लिये इंद्रियोंके साथ मनकीभी सहायता होनी चाहिये; और आध्यात्मिक सुख-दुःख तो मानसिक ही होते हैं। सारांश यह है, कि सब प्रकारके सुख-दुःखोंका अनुभव अंतमें हमारे मनपरही अवलंबित रहता है; और यदि यह बात सच है, तो यहभी आप-ही-आप सिद्ध हो जाता है, कि मनोनिग्रहसे सुख-दुःखोंके अनुभवकाभी निग्रह अर्थात् दमन करना कुछ असंभव नहीं है। इसी बातको ध्यान रखते हुए मनुजीने सुख-दुःखोंका लक्षण नैयायिकोंके लक्षणसे भिन्न प्रकार बतलाया है। उनका कथन है, कि :–

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

अर्थात् "जो दूसरोंकी (बाह्य-वस्तुओंकी) अधीनतामें है, वह सब दुःख है; और जो अपने (मनके) अधिकारमें है, वह सुख है। यही सुख-दुःखका संक्षिप्त लक्षण है" (मनु. ४. १६०) नैयायिकोंके बतलाये हुए लक्षणको 'वेदना' शब्दमें शारीरिक और मानसिक, दोनों वेदनाओंका समावेश होता है; और उससे सुख-दुःखका

बाह्य वस्तुस्वरूपभी मालूम हो जाता है; और मनुका विशेष ध्यान सुख-दुःखोंके केवल आंतरिक अनुभवपर है। बस, इस बातको ध्यानमें रखनेसे सुख-दुःखोंके उक्त दोनों लक्षणोंमें कुछ विरोध नहीं पड़ेगा। इस प्रकार जब सुख-दुःखोंके लिये इंद्रियोंका अवलंब अनावश्यक हो गया, तब तो यही कहना चाहिये कि :-

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिंतयेत्।

"मनसे दुःखोंका चिंतन न करनाही दुःखनिवारणकी अचूक औषधि है" (मभा. शां. २०५. २); और इसी तरह मनको कठोर बनाकर सत्य तथा धर्मके लिये सुखपूर्वक अग्निमें जलकर भस्म हो जानेवालोंके अनेक उदाहरण इतिहासमेंभी मिलते हैं। इसलिये गीताका कथन है, कि हमें जो कुछ करना है, उसे मनोनिग्रहके साथ और उसकी फलाशाको छोड़ कर तथा सुख-दुःखोंमें समभाव रखकर करना चाहिये। ऐसा करनेसे न तो हमें कर्माचरणका त्याग करना पड़ेगा और न हमें उसके दुःखकी बाधाही होगी। फलाशा-त्यागका यह अर्थ नहीं है, कि हमें जो फल मिले उसे छोड़ दें; अथवा ऐसी इच्छा रखें, कि वह फल कभी किसीको न मिले। इसी तरह फलाशामें और कर्म करनेकी केवल इच्छा, आशा, हेतु या फलके लिये किसी बातकी योजना करनेमेंभी बहुत अंतर है। केवल हाथपैर हिलानेकी इच्छा होनेमें और अमुक मनुष्यको पकड़नेके लिये या किसी मनुष्यको लात मारनेके लिये हाथ-पैर हिलानेकी इच्छामें बहुत भेद है। पहली इच्छा केवल कर्म करनेकीही है, उसमें दूसरा कोई हेतु नहीं होता; और यदि यह इच्छा छोड़ दी जाय, तो कर्मका करनाही रुक जायगा। इस इच्छाके अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्यको इस बातका ज्ञानभी होना चाहिये, कि हरएक कर्मका कुछ-न-कुछ फल अथवा परिणाम अवश्यही होगा। बल्कि ऐसे ज्ञानके साथ साथ उसे इस बातकी इच्छा अवश्य होनी चाहिये, कि मैं अमुक फलप्राप्तिके लिये अमुक प्रकारकी योजना करकेही अमुक कर्म करना चाहता हूँ। नहीं तो उसके सभी कार्य पागलोंके-से निरर्थक सिद्ध होंगे। ये सब इच्छाएँ, हेतु, योजनाएँ, परिणाममें दुःखकारक नहीं होती; और, गीताका यह कथनभी नहीं है, कि कोई उनको छोड़ दें। परंतु स्मरण रहे, कि उस स्थितिसे बहुत आगे बढ़कर जब मनुष्यके मनमें यह भाव होता है, कि "मैं जो कर्म करता हूँ, मेरे उस कर्मका अमुक फल मुझे अवश्यही मिलना चाहिये।" अर्थात् जब कर्मफलके विषयमें, कर्ताकी बुद्धिमें ममत्वकी यह आसक्ति, अभिमान, अभिनिवेश, आग्रह या इच्छा उत्पन्न हो जाती है और मन उसीसे ग्रस्त हो जाता है और जब इच्छानुसार फल मिलनेमें बाधा होने लगती है, तभी दुःख-परंपराका प्रारंभ हुआ करता है। यदि यह बाधा अनिवार्य अथवा दैवकृत हो, तो केवल निराशामात्र होती है, परंतु वह कहीं मनुष्यकृत हुई तो फिर क्रोध या द्वेषभी उत्पन्न हो जाता है, जिससे कुकर्म होनेपर मर मिटना पड़ता है। कर्मके परिणामके विषयमें जो यह ममत्वयुक्त आसक्ति

होती है, उसीको 'फलाशा', 'संग', 'अहंकार-वुद्धि' और 'काम' कहते हैं; और यह बतलानेके लिये, कि संसारकी दुःखपरंपरा यहींसे शुरू होती है, गीताके दूसरे अध्यायमें कहा गया है, कि विषय-संगसे काम, काममे क्रोध, क्रोधसे मोह और अंतमें मनुष्यका नाशभी होता है (गीता २. ६२, ६३)। अब यह बात सिद्ध हो गई, कि जड़ सृष्टिके अचेतन कर्म स्वयं दुःखके मूल कारण नहीं हैं, किंतु मनुष्य उनमें जो फलाशा, संग, काम या इच्छा लगाये रहता है, वही यथार्थमें दुःखका मूल है। ऐसे दुःखोंसे वचे रहनेका सहज उपाय यही है, कि सिर्फ़ विषयकी फलाशा, संग, काम या आसक्तिको मनोनिग्रहद्वारा छोड़ देना चाहिये। संन्यासमार्गियोंके कथनानुसार सब विषयों और कर्मोंहीको, अथवा सब प्रकारकी इच्छाओंहीको, छोड़ देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसी लिये गीता (गीता २. ६४) में कहा है, कि जो मनुष्य फलाशाको छोड़कर यथाप्राप्त विषयोंका निष्काम और निस्संग-बुद्धिसे सेवन करता है, वही सच्चा स्थितप्रज्ञ है। संसारके कर्मव्यवहार कभी रुक नहीं सकते। मनुष्य चाहे इस संसारमें रहे या न रहे; परंतु प्रकृति अपने गुणधर्मानुसार सदैव अपना व्यापार करतीही रहेगी। जड़ प्रकृतिको न तो इसमें कुछ सुख है, और न दुःख। मनुष्य व्यर्थही अपने आपको महत्त्व देकरही प्रकृतिके व्यवहारोंमें आसक्त हो जाता है, इसीलिये वह सुख-दुःखका भागी हुआ करता है। यदि वह इस आसक्त-वुद्धिको छोड़ दे और अपने सब व्यवहार इस भावनासे करने लगे, कि "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" (गीता ३. २८) – प्रकृतिके गुणधर्मानुसारही सब व्यापार हो रहे हैं – तो असंतोषजन्य कोईभी दुःख उसको होही नहीं सकता। इसलिये यह समझकर, कि प्रकृति तो अपना व्यापार करतीही रहती है; उसके लिये संसारको दुःखप्रधान मानकर रोते नहीं रहना चाहिये; और न उसको त्यागनेहीका प्रयत्न करना चाहिये। महाभारत (मभा. शां. २५. २६) में व्यासजीने युधिष्ठिरको यह उपदेश दिया है, कि :–

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥

"चाहे सुख हो या दुःख, प्रिय हो अथवा अप्रिय, जो जिस समय जैसे प्राप्त हो वह उस समय वैसेही, मनको निराश न करते हुए (अर्थात् नाराज बनकर अपने कर्तव्यको न छोड़ते हुए) सेवन करते रहो!" इस उपदेशका महत्त्व पूर्णतया तभी ज्ञात हो सकता है, जब कि हम इस बातको ध्यानमें रखें, कि संसारमें अनेक कर्तव्य ऐसे हैं, जिन्हें दुःख सह करभी करना पड़ता है। भगवद्गीतामेंभी स्थितप्रज्ञका यह लक्षण बतलाया है, कि "यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्" (गीता

२. ५७) – अर्थात् शुभ अथवा अशुभ जो कुछ आ पड़े, उसके बारेमें जो सदा निष्काम या निस्संग रहता है, और जो उसका अभिनंदन या द्वेष कुछभी नहीं करता, वही स्थितप्रज्ञ है। फिर पाँचवें अध्याय (गीता ५. २०)में कहा है, कि "न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्" – सुख पा कर फूल न जाना चाहिये। और दुःखमें कातरभी न होना चाहिये। एवं दूसरे अध्याय (गीता २. १४, १५)में इन सुख-दुःखोंको निष्काम-बुद्धिसे भोगनेका उपदेश किया है। भगवान् श्रीकृष्णने उसी उपदेशको बार बार दुहराया है (गीता ५. ९; १३. ९)। वेदान्तशास्त्रकी परिभाषामें उसीको "सब कर्मोंको ब्रह्मार्पण करना" कहते हैं। और भक्ति-मार्गमें 'ब्रह्मार्पण'के बदले 'श्रीकृष्णार्पण' शब्दकी योजना की जाती है। बस यही, गीतार्थ का सारांश है।

कर्म चाहे किसीभी प्रकारका हो, परंतु कर्म करनेकी इच्छा और अपने उद्योगको बिना छोड़े तथा फल-प्राप्तिकी आसक्ति न रखकर (अर्थात् निस्संग-बुद्धिसे) उसे करते रहना चाहिये; और साथ-ही-साथ हम भविष्यमें परिणाम-स्वरूप मिलनेवाले सुख-दुःखोंकोभी एकही समान भोगनेके लिये तैयार रहना चाहिये। ऐसा करनेसे अमर्यादित तृष्णादि और असंतोषजनित दुष्परिणामोंसे तो हम बचेंगेही; परंतु दूसरा लाभ यह होगा, कि तृष्णा या असंतोषके साथ साथ कर्मकोभी त्याग देनेसे जीवनकेही नष्ट हो जानेका जो प्रसंग आ सकता है, वह भी नहीं आ सकेगा; और हमारी मनोवृत्तियाँ शुद्ध होकर प्राणिमात्रके लिये हितप्रद हो जायेंगी। इसमें संदेह नहीं, कि इस तरह फलाशा छोड़नेके लियेभी इंद्रियोंका और मनका वैराग्यसे पूरा दमन करना पड़ता है; परंतु स्मरण रहे, कि इंद्रियोंको वशमें करके स्वार्थके बदले वैराग्यसे तथा निष्काम-बुद्धिसे लोकसंग्रहके लिये उन्हें अपने अपने व्यापार करने देना कुछ और बात है; और संन्यास-मार्गानुसार तृष्णाको मारनेके लिये इंद्रियोंके सभी व्यापारोंको अर्थात् कर्मोंको आग्रहपूर्वक समूल नष्ट कर डालना बिलकुलही भिन्न बात है। इन दोनोंमें ज़मीन-आसमानका अंतर है। गीतामें जिस वैराग्यका और जिस इंद्रिय-निग्रहका उपदेश किया गया है, वह पहले प्रकारका है; दूसरे प्रकारका नहीं; और उसी तरह अनुगीता (मभा. अश्व. ३२. १७-२३) में जनक-ब्राह्मण-संवादमें राजा जनक ब्राह्मणरूपधारी धर्मसे कहते हैं कि :–

शृणु बुद्धिं च यां ज्ञात्वा सर्वत्र विषयो मम।
नाहमात्मार्थमिच्छामि गन्धान् घ्राणगतानपि।।

... ...

नाहमात्मार्थमिच्छामि मनो नित्यं मनोन्तरे।
मनो मे निर्जितं तस्मात् वशे तिष्ठति सर्वदा।।

अर्थात् "जिस (वैराग्य) बुद्धिको मनमें धारण करके मैं सब विषयोंका सेवन करता हूँ, उसका हाल सुनो। नाकसे मैं 'अपने लिये' वास नहीं लेता (आँखोंसे मैं 'अपने लिये' नहीं देखता, इत्यादि), और मनकाभी उपयोग मैं आत्माके लिये अर्थात् अपने लाभके लिये नहीं करता। अतएव मेरी नाक (आँख इत्यादि) और मन मेरे वशमें हैं, अर्थात् मैंने उन्हें जीत लिया है।" गीताके वचनकाभी (गीता ३. ६, ७) यही तात्पर्य है, कि जो मनुष्य केवल इंद्रियोंकी वृत्तिओंको तो रोक देता है, और मनसे विषयोंका चिंतन करता रहता है, वह पूरा ढ़ोंगी है; और जो मनुष्य मनोनिग्रहपूर्वक काम्य-बुद्धिको जीत कर, सब मनोवृत्तियोंको लोकसंग्रहके लिये अपना अपना काम करने देता है, वही श्रेष्ठ है। बाह्य जगत् या इंद्रियोंके व्यापार हमारे उत्पन्न किये हुए नहीं हैं, वे स्वभावसिद्ध हैं। हम देखते हैं, जब कोई संन्यासी बहुत भूखा होता है तब उसको चाहे वह कितनाही निग्रही हो – भीख माँगनेके लिये कहीं बाहर जानाही पड़ता है (गीता ३. ३३); या बहुत देरतक एक जगह बैठे रहनेसे ऊबकर वह उठ खड़ा हो जाता है। तात्पर्य यह है, कि निग्रह चाहे जितना हो; परंतु इंद्रियोंके जो स्वभावसिद्ध व्यापार हैं, वे कभी नहीं छूटते। और यदि यह बात सच है, तो इंद्रियोंकी वृत्तिओं तथा सब कर्मोंको और सब प्रकारकी इच्छाओं या असंतोषको नष्ट करनेके दुराग्रहमें न पड़ना (गीता २. ४७; १८. ५९), एवं मनोनिग्रहपूर्वक फलाशा छोड़ कर सुख-दुःखको एक बराबर समझना (गीता २. १८), तथा निष्काम-बुद्धिसे लोकहितके लिये कर्मोंका शास्त्रोक्त रीतिसे करते रहनाही, श्रेष्ठ तथा आदर्श मार्ग है। इसीलिये –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽऽस्त्वकर्मणि॥

इस श्लोकमें (गीता २. ४७) श्रीभगवान् अर्जुनको पहले यह बतलाते हैं, कि तू इस कर्मभूमिमें पैदा हुआ है, इसलिये "तुझे कर्म करनेकाही अधिकार है"; परंतु इस बातकोभी ध्यानमें रख, कि तेरा यह अधिकार केवल (कर्तव्य) कर्म करनेतकही सीमित है। इस 'एव' पदका अर्थ है 'केवल'; जिससे यह सहज विदित होता है, कि मनुष्यका अधिकार कर्मके सिवा अन्य बातोंमें – अर्थात् कर्मफलके विषयमें नहीं है। यह महत्त्वपूर्ण बात केवल अनुमानपरही अवलंबित नहीं रख दी है; क्योंकि दूसरे चरणमें भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दोंमें पुनः कह दिया है, कि "तेरा अधिकार कर्मफलके विषयमें कुछभी नहीं है।" अर्थात् किसी कर्मका फल मिलना – न मिलना तेरे अधिकारकी बात नहीं है। वह सृष्टिके कर्मविपाकपर या ईश्वरपर अवलंबित है। फिर जिस बातमें हमारा अधिकारही नहीं है उसके विषयमें आशा – करना कि वह अमुक प्रकार हो – केवल मूर्खताका लक्षण है; परंतु यह तीसरी बातभी अनुमानपर अवलंबित नहीं है। तीसरे चरणमें कहा गया है, कि "इसलिये तू कर्म-

फलकी लालचसे किसीभी कामको मत कर। " क्योंकि, कर्मविपाकके अनुसार तेरे कर्मोका जो फल प्राप्त होगा वह अवश्य होगाही। तेरी इच्छासे उसमें कुछ न्यूनाधिकता नहीं हो सकती; और उसके देरीसे या जल्दीसे मिल जानेकी संभावना नहीं है। परंतु तेरे लालचीपनसे तो तुझे केवल व्यर्थ दुःखही मिलेगा। अब यहाँ कोई – विशेषतः संन्यासमार्गी पुरुष – प्रश्न करेंगे, कि कर्म करके फलाशा छोड़नेके झगड़ेमें पड़नेकी अपेक्षा कर्माचरणकोही छोड़ देना क्या अच्छा नहीं होगा? इसलिये भगवान्ने अंतमें अपना निश्चित मतभी बतला दिया है, कि "कर्म न करनेका (अकर्मणि) तू हठ मत कर। तेरा जो अधिकार है उसके अनुसार – परंतु फलाशा छोड़कर – कर्म करता जा। " कर्मयोगकी दृष्टिसे ये सब सिद्धान्त इतने महत्त्वपूर्ण हैं, कि उक्त श्लोकके चारों चरणोंको यदि हम कर्मयोगशास्त्र या गीता-धर्मके चतुःसूत्रही कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

यह मालूम हो गया, कि इस संसारमें सुख-दुःख हमेशा क्रमसे मिला करते हैं; और यहाँ सुख की अपेक्षा दुःखकी मात्रा अधिक है। ऐसी अवस्थामेंभी जब यह सिद्धान्त बतलाया जाता है, कि सांसारिक कर्मोंको छोड़ नहीं देना चाहिये; तब कुछ लोगोंकी यह समझ हो सकती है, कि दुःखकी आत्यंतिक निवृत्ति करने और अत्यंत सुख प्राप्त करनेके सब मानवी प्रयत्न व्यर्थ हैं। और केवल आधिभौतिक अर्थात् इंद्रियगम्य बाह्य विषयोपभोगरूपी सुखोंकोही देखें, तो यह नहीं कहा जा सकता, कि उनकी यह समझ ठीक नहीं है। यह सच है, कि यदि कोई बालक पूर्णचंद्रको पकड़नेके लिये हाथ फैला दे, तो जैसे आकाशका चंद्रमा उसके हाथमें कभी नहीं आता; उसी तरह आत्यंतिक सुखकी आशा रखकर केवल आधिभौतिक सुखके पीछे लगे रहनेसे आत्यंतिक सुखकी प्राप्ति कभी नहीं होगी। परंतु स्मरण रहे, कि आधिभौतिक सुखही समस्त प्रकारके सुखोंका भांडार नहीं है। इसलिये उपर्युक्त कठिनाईमेंभी आत्यंतिक और नित्य सुखप्राप्तिका मार्ग ढूँढ़ लिया जा सकता है। यह ऊपर बतलाया जा चुका है, कि सुखोंके दो भेद हैं – एक शारीरिक और दूसरा मानसिक और शरीर अथवा इंद्रियोंके व्यापारोंकी अपेक्षा मनको अंतमें अधिक महत्त्व देना पड़ता है। ज्ञानी पुरुष जो यह सिद्धान्त बतलाते हैं, कि शारीरिक (अर्थात् आधिभौतिक) सुखकी अपेक्षा मानसिक सुखकी योग्यता अधिक है, उसे वे कुछ अपने ज्ञानके घमंडसे नहीं बतलाते। प्रसिद्ध आधिभौतिकवादी मिलनेभी अपने उपयुक्ततावादविषयक ग्रंथमें साफ़ मंजूर किया है,* कि उस सिद्धान्तमेंही श्रेष्ठ मनुष्य-

---

* " It is better to be a human being dissatisfied than a pig satisfied, better to be Socrates dissatisfied than a fool satisfied. And if the fool, or the pig, is of a different opininon, it is because they only know their own side of the question. " *Utilitarianism;* p. 14 (Longmans 1907).

जन्मकी सच्ची सार्थकता और महत्ता है। कुत्ते, शूकर और बैल इत्यादिकोभी इंद्रियसुखका आनंद मनुष्योंके समानही होता है; और मनुष्यकी यदि यह समझ होती, कि संसारमें सच्चा सुख विषयोपभोगही है; तो मनुष्य पशु बननेपरभी राजी हो गया होता। परंतु पशुओंके सब विषय-सुखोंके नित्य मिलनेका अवसर आनेपरभी कोई मनुष्य पशु होनेको राजी नहीं होता। इससे यही विदित होता है, कि पशुकी अपेक्षा मनुष्यमें कुछ-न-कुछ विशेषता अवश्य है। इस विशेषताको समझनेके लिये, उस आत्माके स्वरूपका विचार करना पड़ता है, जिसे मन और बुद्धिद्वारा स्वयं अपना और बाह्यसृष्टिका ज्ञान होता है; और, ज्योंही यह विचार किया जायगा त्योंही स्पष्ट मालूम हो जायगा, कि पशु और मनुष्यके लिये विषयोपभोगसुख तो एकही-सा है; परंतु उसकी अपेक्षा मन और बुद्धिके अत्यंत उदात्त व्यापारमें तथा शुद्धावस्थामें जो सुख है, वही मनुष्यका श्रेष्ठ और आत्यंतिक सुख है। यह सुख आत्मवश है, इसकी प्राप्ति किसी बाह्यवस्तुपर अवलंबित नहीं है और इसकी प्राप्तिके लिये दूसरोंके सुखको न्यून करनेकीभी कुछ आवश्यकता नहीं है। यह सुख अपनेही प्रयत्नसे हमीको मिलता है। और ज्यों ज्यों हमारी उन्नति होती जाती है, त्यों त्यों इस सुखका स्वरूपभी अधिकाधिक शुद्ध और निर्मल होता चला जाता है। भर्तृहरिने सच कहा है, कि "मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः" – मनके प्रसन्न होनेपर क्या दरिद्रता और क्या अमीरी, दोनों समानही हैं। प्लेटो नामक प्रसिद्ध यूनानी तत्त्ववेत्तानेभी यह प्रतिपादन किया है, कि शारीरिक (अर्थात् बाह्य या आधिभौतिक) सुखकी अपेक्षा मनका सुख श्रेष्ठ है, और मनके सुखसेभी बुद्धिग्राह्य (अर्थात् परम आध्यात्मिक) सुख अत्यंत श्रेष्ठ है।* इसलिये यदि हम अभी मोक्षके विचारको छोड़ दें, तोभी यही सिद्ध होता है, कि जो बुद्धि आत्मविचारमें निमग्न हो, उसेही परम सुख मिल सकता है। इसी कारण भगवद्गीतामें सुखके – सात्त्विक, राजस और तामस तीन भेद किये गये हैं और इनका लक्षणभी बतलाया गया है। यथा – आत्मनिष्ठ बुद्धि (अर्थात् सब भूतोंमें एकही आत्माको जानकर, आत्माके उसी सच्चे स्वरूपमें रत होनेवाली बुद्धि) की प्रसन्नतासे जो आध्यात्मिक सुख प्राप्त होता है, वही श्रेष्ठ और सात्त्विक सुख है – "तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं आत्मबुद्धिप्रसादजम्" (गीता १८. ३७); जो आधिभौतिक सुख इंद्रियोंसे और इंद्रियोंके विषयोंसे होता है वह सात्त्विक सुखसे कम दर्जेका होता है, और राजस कहलाता है (गीता १८. ३८)। और जिस सुखसे चित्तको मोह होता है, तथा जो सुख, निद्रा या आलस्यसे उत्पन्न होता है, उसकी योग्यता तामस अर्थात् अत्यन्त कनिष्ठ श्रेणीकी है। इस प्रकरणके आरंभमें गीताका जो श्लोक दिया है, उसका यही तात्पर्य है। और गीता (गीता ६. २२) में यहभी कहा है, कि इस

---

* *Republic Book IX.*

परम सुखका अनुभव मनुष्यको यदि एक बारभी हो जाता है, तो फिर कितनेही भारी दुःखके जबरदस्त धक्के क्यों न लगते रहें, उसकी यह सुखमय स्थिति कभी नहीं डिगने पाती। यह आत्यंतिक सुख स्वर्गकेभी विषयोपभोगसुखमें नहीं मिल सकता और इसे पानेके लिये पहले अपनी बुद्धि प्रसन्न होनी चाहिये। जो मनुष्य बुद्धिको प्रसन्न रखनेकी युक्तिको बिना सोचे-समझे केवल विषयोपभोगमेंही निमग्न हो जाता है, उसका सुख अनित्य और क्षणिक होता है। इसका कारण यह है, कि जो इंद्रियसुख आज है, वह कल नहीं रहता। इतनाही नहीं; किंतु जो बात हमारी इंद्रियोंको आज सुखकारक प्रतीत होती है, वही किसी कारणसे दूसरे दिन दुःखमय हो जाती है। उदाहरणार्थ, ग्रीष्म ऋतुमें जो ठंडा पानी हमें अच्छा लगता है, वही शीतकालमें अप्रिय हो जाता है। अस्तु, इतना करनेपरभी उससे सुखेच्छाकी पूर्ण तृप्ति होनेही नहीं पाती। इसलिये, सुखका व्यापक अर्थ लेकर यदि हम उस शब्दका उपयोग सभी प्रकारके सुखोंके लिये करें, तोभी हमें सुख-सुखमें भेद करनाही पड़ेगा। नित्य व्यवहारमें सुखका अर्थ मुख्यतः इंद्रियसुखही होता है। परंतु जो इंद्रियातीत है, अर्थात् जो केवल आत्मनिष्ठ बुद्धिकोही ज्ञात हो सकता है, उसमें और विषयोपभोगरूपी सुखमें जब भिन्नता प्रकट करनी हो, तब आत्मबुद्धि-प्रसादसे उत्पन्न होनेवाले सुखको – अर्थात् आध्यात्मिक सुखको – श्रेय, कल्याण, हित, आनंद अथवा शांति कहते हैं; और विषयोभोगसे होनेवाले आधिभौतिक सुखको केवल सुख या प्रेय कहते हैं। पिछले प्रकरणके अंतमें दिये हुए कठोपनिषदके वाक्यमें, प्रेय और श्रेयमें नचिकेताने जो भेद बतलाया है उसकाभी अभिप्राय यही है। मृत्युने उसे अग्निका रहस्य पहलेही बतला दिया था। परंतु इस सुखके मिलनेपरभी जब उसने आत्मज्ञान-प्राप्तिका वर माँगा, तब मृत्युने उसके बदलेमें उसे अनेक सांसारिक सुखोंका लालच दिखलाया। परंतु नचिकेता इन अनित्य, आधिभौतिक सुखोंको कल्याणकारक नहीं समझता था। क्योंकि ये (प्रेय) सुख बाहरी दृष्टिसे अच्छे हैं, पर आत्माके श्रेयके लिये अच्छे नहीं। इसीलिये उसने उन सुखोंकी ओर ध्यान नहीं दिया। किंतु उस आत्मविद्याकी प्राप्तिके लियेही हठ किया; जिसका परिणाम आत्माके लिये श्रेयस्कर या कल्याणकारक है, और उसे अंतमें पाकरही छोड़ा। सारांश यह है, कि आत्मबुद्धि-प्रसादसे उत्पन्न होनेवाले केवल बुद्धिगम्य सुखको – अर्थात् आध्यात्मिक सुखकोही – हमारे शास्त्रकार श्रेष्ठ सुख मानते हैं। और उनका कथन है, कि यह नित्य सुख आत्मवश है, इसलिये सभीको प्राप्त हो सकता है; तथा सब लोगोंको चाहिये, कि वे इसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करें। पशु-धर्मसे प्राप्त सुखमें, और मानवी सुखमें जो कुछ विशेषता या विलक्षणता है, वह यही है; और यह आत्मानंद केवल बाह्य उपाधियोंपर कभी निर्भर न होनेके कारण सब सुखोंमें नित्य, स्वतंत्र और श्रेष्ठ है। इसीको गीतामें निर्वाण, अर्थात् परम शांति कहा है (गीता ६. १५), और यही स्थितप्रज्ञोंकी

ब्राह्मी अवस्थाकी परमावधिका सुख है (गीता २. ७१; ६. २८; १२. १२; १८. ६२) ।

अब इस बातका निर्णय हो चुका, कि आत्माकी शांति या सुखही अत्यंत श्रेष्ठ है; और वह आत्मवश होनेके कारण सब लोगोंको प्राप्यभी है। परंतु यह प्रकट है, कि यद्यपि सब धातुओंमें सोना अधिक मूल्यवान् है, तथापि केवल सोनेसेही – लोहा इत्यादि अन्य धातुओंके विना – जैसे संसारकाम नहीं चल सकता, अथवा जैसे केवल शक्करसेही – विना नमकके – काम नहीं चल सकता, उसी तरह आत्म-सुख या शांतिकोभी समझना चाहिये। इसमें संदेह नहीं, कि इस शांतिके साथ – शरीर-धारणके लिये सही – कुछ सांसारिक वस्तुओंकी आवश्यकता होती है; और इसी अभिप्रायसे आशीर्वादके संकल्पमें केवल 'शांतिरस्तु' न कह कर "शांतिः पुष्टिस्तुष्टिश्चास्तु" – अर्थात् शांतिके साथ पुष्टि और तुष्टिभी चाहिये – कहनेकी रीति है। यदि शास्त्रकारोंकी यह समझ होती, कि केवल शांतिसे ही तुष्टि हो सकती है, तो इस संकल्पमें 'पुष्टि' शब्दको व्यर्थ घुसेड़ देनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। इसका यह मतलब नहीं है, कि पुष्टि – अर्थात् ऐहिक सुखोंकी वृद्धिके लिये रात-दिन लालच करते रहो। उक्त संकल्पका भावार्थ यही है, कि तुम्हें शांति, पुष्टि और तुष्टि (संतोष), तीनों उचित परिमाणमें मिलें; और इनकी प्राप्तिके लिये तुम्हें यत्नभी करना चाहिये। कठोपनिषद्काभी यही तात्पर्य है। नचिकेता जब मृत्युके अर्थात् यमके लोकमें गया तब यमने उससे कहा, कि तुम कोईभी तीन वर माँग लो; और उससे माँगेपर दे दिये, इतनीही कथा इस उपनिषदमें विस्तारसे दी गयी है; पर उस समय नचिकेताने एकदम यह वर नहीं माँगा, कि मुझे ब्रह्मज्ञानका उपदेश करो। किंतु उसने कहा, कि "मेरे पिता मुझपर क्रुद्ध हैं, इसलिये प्रथम वर आप मुझे यही दीजिये, कि वे मुझपर प्रसन्न हो जावें।" अनंतर उसने दूसरा वर माँगा कि "अग्निके – अर्थात् ऐहिक समृद्धि प्राप्त करा देनेवाले यज्ञ आदि कर्मोंके – ज्ञानका उपदेश करो।" इन दोनों वरोंको प्राप्त करके अंतमें उसने तीसरा वर यह माँगा, कि "मुझे आत्मविद्याका उपदेश करो।" परंतु जब यमराज कहने लगे, कि इस तीसरे वरके बदलेमें तुझे औरभी अधिक संपत्ति देता हूँ; तब – अर्थात् प्रेय (सुख) की प्राप्तिके लिये आवश्यक यज्ञ आदि कर्मोंका ज्ञान प्राप्त हो जाने-पर उसीकी अधिक आशा न करके – नचिकेताने इस बातका आग्रह किया, कि "अब मुझे श्रेय (आत्यंतिक सुख)की प्राप्ति करा देनेवाले ब्रह्मज्ञानकाही उपदेश करो।" सारांश यह है, कि इस उपनिषद्के अंतिम मंत्रमें जो वर्णन है, उसके अनुसार 'ब्रह्मविद्या' और 'योगविधि' (अर्थात् यज्ञ-याग आदि कर्म), दोनोंको प्राप्त करके नचिकेता मुक्त हो गया है (कठ. ६. १८)। इससे ज्ञान और कर्म इन दोनोंका समुच्चयही इस उपनिषद्का तात्पर्य सिद्ध होता है। इसी विषयपर इंद्रकीभी एक कथा है। कौषीतकी उपनिषद्में कहा गया है, कि इंद्र तो स्वयं ब्रह्मज्ञानी थाही,

और उसने प्रतर्दनकोभी ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया था। तथापि जब इंद्रका राज छिन लिया गया और प्रल्हादको त्रैलोक्यका आधिपत्य मिला, तव इंद्रने देवगुरु बृहस्पतिसे पूछा, कि " मुझे बतलाइये कि श्रेय किसमें है ? " तव बृहस्पतिने राज्यभ्रष्ट इंद्रको ब्रह्मविद्या अर्थात् आत्मज्ञानका उपदेश करके कहा, कि " श्रेय इसीमें है " – एतावच्छ्रेय इति – परंतु इससे इंद्रका समाधान नहीं हुआ। उसने फिर प्रश्न किया, " क्या औरभी कुछ अधिक है ? " – को विशेषो भवेत् ? – तव बृहस्पतिने उसे शुक्राचार्यके पास भेजा। वहाँभी वही हाल हुआ; और शुक्राचार्यने कहा, कि " प्रल्हादको वह विशेषता मालूम है। " तव अंतमें इंद्र ब्राह्मणका रूप धारण करके प्रल्हादका शिष्य वनकर सेवा करने लगा। एक दिन प्रल्हादने उससे कहा, कि शील (सत्य तथा धर्मसे चलने का स्वभाव) ही त्रैलोक्यका राज्य पाने का रहस्य है और वही श्रेय है। अनंतर, जब प्रल्हादने कहा, कि " मैं तेरी सेवासे प्रसन्न हूँ, तू चाहे जो वर माँग, " तब ब्राह्मण-वेशधारी इंद्रने यही वर माँगा, कि " आप अपना शील मुझे दीजिये। " प्रल्हादके 'तस्थातु' कहतेही उसके 'शील'के साथ धर्म, सत्य, वृत्त, श्री अथवा ऐश्वर्य आदि सब देवता उसके शरीरसे निकल कर इंद्र-शरीरमें प्रविष्ट हो गये। फलतः इंद्र अपना राज्य पा गया। यह प्राचीन कथा भीष्मने युधिष्ठिरसे महाभारतके शांतिपर्व (मभा. शां. १२४)में कही है। इस सुंदर कथासे हमें यह बात साफ़ मालूम हो जाती है, कि केवल ऐश्वर्यकी अपेक्षा केवल आत्मज्ञानकी योग्यता भले ही अधिक हो, परंतु जिसे इस संसारमें रहना है, उसको अन्य लोगोंके समानही अपने लिये तथा अपने देशके लिये, ऐहिक समृद्धि प्राप्त कर लेनेकी आवश्यकता और नैतिक हक़भी है। इसलिये जब यह प्रश्न उठे, कि इस संसारमें मनुष्यका सर्वोत्तम ध्येय या परम उद्देश्य क्या है, तो हमारे कर्मयोगशास्त्रमें अंतिम उत्तर यही मिलता है, कि शांति और पुष्टि, प्रेय और श्रेय अथवा ज्ञान और ऐश्वर्य दोनोंको एक साथ प्राप्त करो। सोचनेकी बात है, कि जिन भगवान्से बढ़कर ससारमें और कोई श्रेष्ठ नहीं और जिनके दिखलाये हुए मार्गपर अन्य सभी लोग चलते हैं (गीता ३ २३); उस भगवानने क्या ऐश्वर्य और संपत्तिको छोड़ दिया है ?

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

अर्थात् " समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, संपत्ति, ज्ञान और वैराग्य इन छः बातोंको 'भग' कहते हैं "। भग शब्दकी ऐसी व्याख्या पुराणोंमें है (विष्णु. ६. ५. ७४)। कुछ लोग इस श्लोकके 'ऐश्वर्य' शब्दका अर्थ 'योगैश्वर्य' किया करते हैं। क्योंकि 'श्री' अर्थात् संपत्तिसूचक शब्द आगे आया है। परंतु व्यवहारमें ऐश्वर्य शब्दमें सत्ता, यश और संपत्तिका, तथा ज्ञानमें वैराग्य और धर्मका समावेश हुआ करता है। इससे हम बिना किसी बाधाके कह सकते हैं, कि लौकिक दृष्टिसे उक्त श्लोकका

सब अर्थ, ज्ञान और ऐश्वर्य इन्हीं दो शब्दोंसे शक्य हो जाता है। और जब कि स्वयं भगवाननेही ज्ञान और ऐश्वर्यको अंगीकार किया है, तब हमेंभी उस बातको प्रमाण समझकर स्वीकार करना चाहिये (गीता. ३. २१; मभा. शां. ३४१. २५)। कर्मयोगमार्गका सिद्धान्त यह कदापि नहीं, कि कोरा आत्मज्ञानही इस संसारमें परम साध्य वस्तु है। यह तो संन्यासमार्गका सिद्धान्त है; जो कहता है, कि संसार दुःखमय है; इसलिये उसको एकदम छोड़ही देना चाहिये। भिन्न भिन्न मार्गोंके इन सिद्धान्तोंको एकत्र करके गीताके अर्थका अनर्थ करना उचित नहीं है। स्मरण रहे गीताहीका कथन है, कि ज्ञानके बिना केवल ऐश्वर्य, सिवा आसुरी संपतके और कुछ नहीं है। इसलिये यही सिद्ध होता है, कि ऐश्वर्यके साथ ज्ञान, और ज्ञानके साथ ऐश्वर्य, अथवा शांतिके साथ पुष्टि, हमेशा होनी चाहिये। ऐसा कहनेपर, कि ज्ञानके साथ ऐश्वर्य होना अत्यावश्यक है; कर्म करनेकी आवश्यकता आप-ही-आप उत्पन्न होती है। क्योंकि मनुका कथन है "कर्माण्यारममाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते" (मनु. ९. ३००) – कर्म करनेवाले पुरुषकोही इस जगतमें श्री अथवा ऐश्वर्य मिलता है, और प्रत्यक्ष अनुभवसेभी यही बात सिद्ध होती है; एवं गीतामें जो उपदेश अर्जुनको दिया गया है, वहभी ऐसाही है (गीता ३.८)। इसपर कुछ लोगोंका कहना ', कि मोक्षकी दृष्टिसे कर्मकी आवश्यकता न होनेके कारण अंतमें – अर्थात् ज्ञानोत्तर अवस्थामें – सब कर्मोंको छोड़ देनाही चाहिये। परंतु यहाँ तो केवल सुख-दुःखका विचार करना है। और अबतक मोक्ष तथा कर्मके स्वरूपकी परीक्षाभी नहीं की गई है; इसलिए उक्त आक्षेपका उत्तर यहाँ नहीं दिया जा सकता। आगे चलकर नौवें तथा दसवें प्रकरणमें अध्यात्म और कर्मविपाकका स्पष्ट विवेचन करके ग्यारहवें प्रकरणमें बतला दिया जायगा, कि यह आक्षेपभी बेसिर-पैरका है।

सुख और दुःख दो भिन्न तथा स्वतंत्र वेदनाएँ हैं। सुखेच्छा केवल सुखोप-भोगसेही तृप्त नहीं हो सकती। इसलिये संसारमें बहुधा दुःखकाही अधिक अनुभव होता है। परंतु इस दुःखको टालनेके लिये तृष्णा या असंतोष और साथ साथ सब कर्मोंकाभी समूल नाश करना उचित नहीं। उचित यही है, कि केवल फलाशा छोड़-कर सब कर्मोंको करते रहना चाहिये। केवल विषयोपभोग-सुख कभी पूर्ण न होनेवाला, अनित्य और पशुधर्म है। अतएव इस संसारमें बुद्धिमान मनुष्यका सच्चा ध्येय इस अनित्य पशुधर्मसे ऊंचे दर्जेका होना चाहिये। आत्मबुद्धि-प्रसादसे प्राप्त होनेवाला शांति-सुखही वह सच्चा ध्येय है; परंतु आध्यात्मिक सुखही यद्यपि इस प्रकार ऊंचे दर्जेका हो, तथापि उसके साथ इन सांसारिक जीवनमें ऐहिक वस्तुओंकीभी उचित आवश्यकता है; और इसलिये सदा निष्काम-बुद्धिसे प्रयत्न अर्थात् कर्म करतेही रहना चाहिये। – इतनी सब बातें जब कर्मयोगशास्त्रके अनुसार सिद्ध हो चुकीं, तो अब सुखकी दृष्टिसे विचार करनेपरभी यह बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, कि आधिभौतिक सुखोंकोही परम साध्य मानकर कर्मोंके केवल सुख-

दुःखात्मक बाह्यपरिणामोंके तारतम्यसेही नीतिमत्ताका निर्णय करना अनुचित है। कारण यह है, कि जो वस्तु कभी पूर्णावस्थाको पहुँचही नहीं सकती, उसे परम साध्य मानना मानो 'परम' शब्दका दुरुपयोग करके मृगजलके स्थानमें जलकी खोज़ करना है। जब हमारा परम साध्यही अनित्य तथा अपूर्ण है, तब उसकी आशामें बैठे रहनेसे हमें अनित्य-वस्तुको छोड़कर और मिलेगाही क्या? "धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये" इस वचनका मर्मभी यही है। "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख" इस शब्दसमूहके 'सुख' शब्दके अर्थके विषयमें आधिभौतिकवादियोंमेंभी बहुत मतभेद है। उनमेंसे बहुतेरोंका कहना है, कि बहुधा मनुष्य सब विषय-सुखोंको लात मारकर केवल सत्य अथवा धर्मके लिये जान देनेको तैयार हो जाता है। इससे यह मानना अनुचित है, कि मनुष्यकी इच्छा सदैव आधिभौतिक सुख-प्राप्तिकीही रहती है। इसलिये उन पंडितोंने यह सूचना की है, कि सुखके बदलेमें हित अथवा कल्याण शब्दकी योजना करके "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख" इस सूत्रका रूपांतर "अधिकांश लोगोंका अधिक हित या कल्याण" कर देना चाहिये, परंतु इतना करनेपरभी इस मतमें यह दोष बनाही रहता है, कि कर्ताकी बुद्धिका कुछभी विचार नहीं किया जाता। अच्छा, यदि यह कहें, कि विषय-सुखोंके साथ मानसिक सुखोंकाभी विचार करना चाहिये; तो उससे आधिभौतिक पक्षकी इस पहलीही प्रतिज्ञाका विरोध हो जाता है, कि किसीभी कर्मकी नीतिमत्ताका निर्णय केवल उसके बाह्य-परिणामोंसेही करना चाहिये; और तब अंशतः अध्यात्म-पक्षका स्वीकार करना पड़ता है, तो उसे अधूरा या अंशतः स्वीकार करनेसे क्या लाभ होगा? इसीलिये हमारे कर्मयोग-शास्त्रमें यह अंतिम सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि, सर्वभूतहित, अधिकांश लोगोंका अधिक सुख और मनुष्यत्वका परम उत्कर्ष इत्यादि नीतिनिर्णयके सब बाह्य साधनोंको अथवा आधिभौतिक मार्गको गौण या अप्रधान समझना चाहिये; और आत्मप्रसाद-रूपी आत्यंतिक सुख तथा उसीके साथ रहने-वाली कर्ताकी शुद्ध-बुद्धिकोही आध्यात्मिक कसौटी जान कर उसीसे कर्म-अकर्मकी परीक्षा करनी चाहिये। उन लोगोंकी बात छोड़ दो, जिन्होंने यह कसम खा ली हो, कि हम दृश्य सृष्टिके परे तत्त्वज्ञानमें प्रवेशही न करेंगे। जिन लोगोंने ऐसी कसम खाई नहीं है, उन्हें युक्तिसे यह मालूम हो जायगा, कि मन और बुद्धिकेभी परे जाकर नित्य आत्माके नित्य कल्याणकोही कर्मयोग-शास्त्रमें प्रधान मानना चाहिये। कई लोग भूलसे समझ बैठते हैं, कि जहाँ एक बार वेदान्तमें घुसे, कि बस, फिर सभी कुछ ब्रह्ममय हो जाता है; और वहाँ व्यवहारकी उपपत्तिका कुछ पताही नहीं चलता। आजकल जितने वेदान्तविषयक ग्रंथ पढ़े जाते हैं, वे प्रायः संन्यास-मार्गके अनुयायियोंकेही लिखे हुए हैं; और संन्यासमार्गवाले इस तृष्णारूपी संसारके सब व्यवहारोंको निःसार समझते हैं, इसलिये उनके ग्रंथोंमें कर्मयोगकी ठीक उपपत्ति सचमुच नहीं मिलती। अधिक क्या कहें; इन परसंप्रदाय-असहिष्णु ग्रंथ-

कारोंने संन्यासमार्गीय कोटिक्रम या युक्तिवादको कर्मयोगमें संमिलित करके ऐसाभी प्रयत्न किया है, जिससे लोग समझने लगें, कि कर्मयोग और संन्यास दो स्वतंत्र मार्ग नहीं हैं; किंतु संन्यासही अकेला शास्त्रोक्त मोक्षमार्ग है। परंतु यह ठीक नहीं है। संन्यास-मार्गके समान कर्मयोग-मार्गभी वैदिक धर्ममें अनादि कालसे स्वतंत्रता-पूर्वक चला आ रहा है, और इस मार्गके संचालकोंने वेदान्ततत्त्वोंको न छोड़ते हुए कर्मयोग शास्त्रकी ठीक ठीक उपपत्तिभी दिखलाई है। भगवद्गीता ग्रंथ इसी पंथका है। यदि गीताको छोड़ दें, तोभी जान पड़ेगा, कि अध्यात्म-दृष्टिसे कार्य अकार्य-शास्त्रका विवेचन करनेकी पद्धति ग्रीन सरीखे ग्रंथकार द्वारा इंग्लैंडमेंही शुरू कर दी गई है * और जर्मनीमें तो उससेभी पहले यह पद्धति प्रचलित थी। दृश्य सृष्टिका कितनाही विचार करें; परंतु जब तक यह बात ठीक मालूम नहीं हो जाती, कि इस सृष्टिको देखनेवाला और कर्म करनेवाला कौन है, तबतक तात्त्विक दृष्टिसे इस विषयकाभी विचार पूरा नहीं हो सकता, कि इस संसारमें मनुष्यका परम साध्य, श्रेष्ठ कर्तव्य या अंतिम ध्येय क्या है। इसीलिये याज्ञवल्क्यका यह उपदेश कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" प्रस्तुत विषयमेंभी अक्षरशः उपयुक्त होता है। दृश्य जगतकी परीक्षा करनेसे यदि परोपकार सरीखे तत्त्वही अंतमें निष्पन्न होते हैं, तो उससे आत्मविद्याका महत्त्व कम तो होता नहीं, उलटे उससे सब प्राणियोंमें एकही आत्माके होनेका एक और सबूत मिल जाता है। इस बातका तो कुछ उपायही नहीं है, कि आधिभौतिकवादी अपनीही बनाई हुई मर्यादासे स्वयं बाहर नहीं जा सकते। परंतु हमारे शास्त्रकारोंकी दृष्टि इस संकुचित मर्यादाके परे पहुँच गई है; और इसलिये उन्होंने आध्यात्मिक दृष्टिसेही कर्मयोगशास्त्रकी पूरी उपपत्ति दी है। इस उपपत्तिकी चर्चा करनेके पहले कर्म-अकर्म-परीक्षाके एक और पूर्वपक्षकाभी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। इसलिये अब उस पंथका विवेचन किया जायगा।

---

* *Prolegomena to Ethics*, Book I; and Kant's *Metaphysics of Morals* (Trans. by Abbot in Kant's *Theory of Ethics.*)

छठा प्रकरण

आधिदैवतपक्ष और क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ।*

कर्म-अकर्मकी परीक्षा करनेका – आधिभौतिक मार्गके अतिरिक्त – दुसरा पंथ आधिदैवतवादियोंका है। इस पंथके लोगोंका यह कथन है, कि जब कोई मनुष्य कर्म-अकर्मका या कार्य-अकार्यका निर्णय करता है, तब वह इस झगड़ेमें नहीं पड़ता, कि किसका किस कर्मसे कितना सुख अथवा दुःख होगा; अथवा उनमेंसे सुखका जोड़ अधिक होगा या दुःखका। वह आत्म-अनात्म-विचारकी झंझटमेंभी नहीं पड़ता; और ये झगड़े बहुतेरोंकी तो समझमें नहीं आते। यहभी नहीं कहा जा सकता, कि प्रत्येक प्राणी प्रत्येक कर्मको केवल अपने सुखके लियेही करता है। आधिभौतिकवादी कुछभी उपपत्ति कहें; परंतु यदि इस बातका थोड़ासा विचार किया जाय, कि धर्म-अधर्मका निर्णय करते समय मनुष्यके मनकी स्थिति कैसी होती है, तो यह ध्यानमें आ जायगा, कि मनकी स्वाभाविक और उदात्त मनोवृत्तियाँ – करुणा, दया, परोपकार आदि – ही किसी कामको करनेके लिये मनुष्यको एकाएक प्रवृत्त किया करती हैं। उदाहरणार्थ, जब कोई भिकारी दीख पड़ता है; तब मनमें यह विचार आनेके पहलेही – कि उसे "दान करनेसे जगत्का अथवा अपने आत्माका कितना हित होगा" – मनुष्यके हृदयमें करुणावृत्ति जागृत हो जाती है; और वह अपनी शक्तिके अनुसार उस याचकको कुछ दान कर देता है। इसी प्रकार जब बालक रोता है, तब माता उसे दूध पिलाते समय इस बातका कुछभी विचार नहीं करती, कि बालकको पिलानेसे कितने लोगोंका इस बातका कितना हित होगा। अर्थात् ये उदात्त मनोवृत्तियाँही कर्मयोगशास्त्रकी यथार्थ नींव हैं। हमें किसीने ये मनोवृत्तियाँ दी नहीं हैं; किंतु ये निसर्गसिद्ध अर्थात् स्वाभाविक अथवा स्वयंभू देवताही हैं। जब न्यायाधीश न्यायासनपर बैठता है, तब उसकी बुद्धिमें न्यायदेवताकी प्रेरणा हुआ करती है; और वह उसी प्रेरणाके अनुसार न्याय किया करता है। परंतु जब कोई न्यायाधीश इस प्रेरणाका अनादर करता है, तभी उससे अन्याय हुआ करते हैं। न्यायदेवताके सदृशही करुणा, दया, परोपकार, कृतज्ञता, कर्तव्यप्रेम, धैर्य आदि सद्गुणोंकी जो स्वाभाविक मनोवृत्तियाँ हैं, वेभी देवता हैं। प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः इन देवताओंके शुद्ध स्वरूपोंसे परिचित

---

* "वही बोलना चाहिये जो सत्यपूत अर्थात् सत्यसे शुद्ध किया गया है; और वही आचरण करना चाहिये जो मनको शुद्ध मालूम हो।"

रहता है। परंतु यदि लोभ, द्वेष, मत्सर आदि कारणोंसे वह इन देवताओंकी परवाह न करे, तो उसे देवता क्या करें? यह बात सच है, कि कई बार इन देवताओंमेंभी विरोध उत्पन्न हो जाता है, और तब कोई कार्य करते समय हमें संदेह हो जाता है कि किस देवताकी स्फूर्ति बलवती मानें? तब इस संदेहका निर्णय करनेके लिये न्याय, करुणा आदि देवताओंके अतिरिक्त किसी दूसरेकी सलाह लेना आवश्यक जान पड़ता है। परंतु ऐसे अवसरपर अध्यात्मविचार अथवा सुख-दुःखकी न्यूनाधिकताके झगड़ेमें न पड़कर यदि हम अपने मनोदेवताकी गवाही लें, तो वह एकदम इस बातका निर्णय कर देता है, कि इन दोनोंमेंसे कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर है। यही कारण है, कि उक्त सब देवताओंमें मनोदेवता श्रेष्ठ है। 'मनोदेवता' शब्दमें इच्छा, क्रोध, लोभ आदि सभी मनोविकारोंको शामिल नहीं करना चाहिये। किंतु इस शब्दसे मनकी वह ईश्वरदत्त और स्वाभाविक शक्तिही अभीष्ट है, कि जिसकी सहायतासे केवल भले-बुरेका निर्णय किया जाता है। इसी शक्तिका एक बड़ा भारी नाम 'सदसद्विवेक-बुद्धि' * है और यदि किसी संदेहग्रस्त अवसरपर मनुष्य स्वस्थ अंतःकरणसे और शांतिके साथ विचार करे, तो यह सदसद्विवेक-बुद्धि कभी उसको धोखा नहीं देगी। इतनाही नहीं तो ऐसे अवसरोंपर हम दूसरोंसे यही कहा करते हैं, "कि तू अपने मनसे पूछ।" इस बड़े देवताके पास एक सूची हमेशा मौजूद रहती है। उसमें यह लिखा होता है, कि किस सद्गुणको किस समय कितना महत्त्व दिया जाना चाहिये। यह मनोदेवता समय समयपर इसी सूचीके अनुसार अपना निर्णय झट प्रकट किया करता है। मान लीजिये, किसी समय आत्मरक्षा और अहिंसामें विरोध उत्पन्न हुआ; और यह शंका उपस्थित हुई, कि दुर्भिक्षके समय अभक्ष्य भक्षण करना चाहिये या नहीं? तब इस संशयको दूर करनेके लिये यदि हम शांत चित्तसे इस मनोदेवताकी मिन्नत करें, तो झट उसका यही निर्णय प्रकट होगा, कि "अभक्ष्य भक्षण करो।" इसी प्रकार यदि कभी स्वार्थ और परार्थ अथवा परोपकारके बीच विरोध उत्पन्न हो जाय, तो उसका निर्णयभी इस मनोदेवताको मनाकर करना चाहिये। मनोदेवताके घरकी – धर्म-अधर्मके न्यूनाधिक भावकी – यह सूची एक ग्रंथकारको शांतिपूर्वक विचार करनेसे उपलब्ध हुई है, जिसे उसने अपने ग्रंथमें प्रकाशित किया है। † इस सूचीमें नम्रतायुक्त पूज्यभावको पहला अर्थात् अत्युच्च स्थान दिया गया है; और उसके बाद करुणा, कृतज्ञता, उदारता,

---

* इस सदसद्विवेक-बुद्धिको अंग्रेजी में Conscience कहते हैं और आधिदैवतपक्ष Intuitionist School कहलाता है।

† इस ग्रंथकारका नाम James Martineau (जेम्स मार्टिनो) है। इसने यह सूची अपने *Types of Ethical Theory* (Vol. II, p. 266. 3rd Ed). नामक ग्रंथमें दी है। मार्टिनो अपने पंथको Idio-psychological कहता है। परंतु हम उसे आधिदैवत पक्षहीमें शामिल करते हैं।

वात्सल्य आदि भावोंको क्रमशः नीचेकी श्रेणियोंमें शामिल किया है। इस ग्रंथकारका मत है, कि जब ऊपर और नीचेकी श्रेणियोंके सद्‌गुणोंमें विरोध उत्पन्न हो, तब ऊपरकी श्रेणीके देवताकोही अधिक मान देना चाहिये। उसके मतके अनुसार कार्य-अकार्यका अथवा धर्म-अधर्मका निर्णय करनेके लिये इसकी अपेक्षा और कोई उचित मार्ग नहीं है। इसका कारण यह है, कि यद्यपि हम अत्यंत दूरदृष्टिसे यह निश्चित कर लें, कि "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख" किसमें है, तथापि सारासार बुद्धिमें यह कहनेकी सत्ता या अधिकार नहीं है, कि "जिसमें अधिकांश लोगोंका हित हो वही तू कर।" इसलिये अंतमें इस प्रश्नका निर्णयही नहीं होता, कि "जिसमें अधिकांश लोगोंका हित है, वह बात मैं क्यों करूँ?" और सारा झगड़ा ज्यों-का त्यों बना रहता है। राजासे बिना अधिकार प्राप्त किये ही जब कोई न्यायाधीश न्याय करता है, तब उसके निर्णयकी जो दशा होती है, ठीक वही दशा उस कार्य-अकार्यके निर्णयकीभी होती है, जो दूरदृष्टिपूर्वक सुखदुःखोंका विचार करके किया जाता है। केवल दूरदृष्टि यह बात किसीसे नहीं कह सकती, कि "तू यह कर, तुझे यह करनाही चाहिये।" इसका कारण यही है, कि दूरदृष्टिभी हो तोभी वह मनुष्यकृतही है; और इसी कारणसे वह अपना प्रभाव मनुष्योंपर नहीं जमा सकती। ऐसे समयपर आज्ञा करनेवाला हमसे श्रेष्ठ कोई अधिकारी अवश्य होना चाहिये। और यह काम ईश्वरदत्त सदसद्विवेकदेवताही कर सकता है। क्योंकि वह मनुष्यकी अपेक्षा श्रेष्ठ है अतएव मनुष्यपर अपना अधिकार जमानेमें समर्थ है। यह सदसद्विवेकबुद्धि या 'देवता' स्वयंभू है। इसी कारण व्यवहारमें यह कहनेकी रीत है, कि मेरा 'मनोदेवता' अमुक प्रकारकी गवाही नहीं देता। जब कोई मनुष्य एक-आध बुरा काम कर बैठता है, तब पश्चात्तापसे वह स्वयं लज्जित हो जाता है; या उसका मन उसे हमेशा टोकता रहता है। यहभी उपर्युक्त देवताके शासनकाही फल है। इस बातसे उबत स्वतंत्र मनोदेवताका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। कारण कि आधिदैवत पंथके मतानुसार यदि उपर्युक्त सिद्धान्त न माना जाय, तो इस प्रश्नकी उपपत्ति नहीं हो सकती, कि हमारा मन हमें क्यों टोका करता है।

ऊपर दिया हुआ वृत्तान्त पश्चिमी आधिदैवत पंथके मतका है। पश्चिमी देशोंमें इस पंथका प्रचार विशेषतः ईसाई धर्मोपदेशकोंने किया है। उनके मतके अनुसार धर्म-अधर्मका निर्णय करनेके लिये केवल आधिभौतिक साधनोंकी अपेक्षा यह ईश्वरदत्त साधन सुलभ, श्रेष्ठ एवं ग्राह्य है। यद्यपि हमारे देशमें प्राचीन कालमें कर्मयोगशास्त्रका ऐसा कोई स्वतंत्र पंथ नहीं था, तथापि उपर्युक्त मत हमारे प्राचीन ग्रंथोंमें कई जगह पाया जाता है। महाभारतमें अनेक स्थानोंपर मनकी भिन्न भिन्न वृत्तियोंको देवताओंका स्वरूप दिया गया है। पिछले प्रकरणमें यह बतलायाभी गया है, कि धर्म, सत्य, वृत्त, शील, श्री आदि देवताओंने प्रल्हादके शरीरको छोड़ कर इंद्रके शरीरमें कैसे प्रवेश किया। कार्य-अकार्यका अथवा

धर्म-अधर्मका निर्णय करनेवाले देवताका नामभी 'धर्म'ही है। ऐसे वर्णन पाये जाते हैं, कि शिबि राजाके सत्त्वकी परीक्षा करनेके लिये श्येनका रूप धर कर, और युधिष्ठिरकी परीक्षा लेनेके लिये यक्षरूपसे तथा दूसरी बार कुत्ता बन कर 'धर्म'देवता प्रकट हुए थे। स्वयं भगवद्गीता (गीता १०. ३४) मेंभी कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा ये सब देवता माने गये हैं। इनमेंसे स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मनके धर्म हैं। मनभी एक देवता है; और परब्रह्मका प्रतीक मान कर उपनिषदोंमें उसकी उपासनाभी बतलाई गई है (तै. ३. ४; छां. ३. १८)। जब मनुजी कहते हैं, कि "मनःपूतं समाचरेत्" (६. ४६) – मनको जो पवित्र मालूम हो, वही करना चाहिये – तब यही बोध होता है, कि उन्हें 'मन' शब्दसे मनोदेवताही अभिप्रेत है। साधारण व्यवहारमें हम यही कहा करते हैं, कि जो मनोदेवताको अच्छा मालूम हो, वही करना चाहिये। मनुजीने मनुसंहिताके चौथे अध्याय (४. १६१) में यह बात विशेष स्पष्ट कर दी है कि :–

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
यत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥

"वह कर्म प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये, जिसके करनेसे हमारा अंतरात्मा संतुष्ट हो और जो कर्म इसके विपरीत हो, उसे छोड़ देना चाहिये।" इसी प्रकार चातुर्वर्ण्य-धर्म आदि व्यावहारिक नीतिके मूलतत्त्वोंका उल्लेख करते समय मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृति-ग्रंथकारभी यही कहते हैं :–

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

"वेद, स्मृति, शिष्टाचार और अपने आत्माको प्रिय मालूम होना धर्मके ये चार मूलतत्त्व हैं" (मनु. २. १२)। "अपने आत्माको जो प्रिय मालूम हो" – इसका अर्थ यही है कि मनको जो शुद्ध मालूम हो। इससे स्पष्ट होता है, कि श्रुति, स्मृति और सदाचारसे यदि किसी कार्यकी धर्मता या अधर्मताका निर्णय नहीं हो सकता था, तब निर्णय करनेका चौथा साधन 'मनःपूतता' समझी जाती थी। पिछले प्रकरणमें कही गई प्रल्हाद और इंद्रकी कथा बतला चुकनेपर 'शील'के लक्षणके विषयमें, धृतराष्ट्रने महाभारतमें यह कहा है :–

यदन्येषां हितं न स्यात् आत्मनः कर्म पौरुषम।
अपत्रपेत वायेन न तत्कुर्यात् कथंचन॥

अर्थात् "हमारे जिस कर्मसे लोगोंका हित नहीं हो सकता अथवा जिसके करनेसे स्वयं अपनेहीको लज्जा मालूम होती है, वह कभी नहीं करना चाहिये (मभा. शां. १२४. ६६)। इससे पाठकोंके ध्यानमें यह बात आ जायगी, कि "लोगोंका हित हो नहीं सकता"; "और लज्जा मालूम होती है" इन दो पदोंसे "अधिकांश

लोगोंका अधिक हित " और 'मनोदेवता' इन दोनों पक्षोंका इस श्लोकमें एक साथ उल्लेख किया गया है। मनुस्मृति (मनु. १२. ३५, ३७) मेंभी कहा गया है, कि जिस कर्म करनेसे या उसे करते हुए लज्जा मालूम होती है वह तामस है और जो कर्म करनेमें लज्जा मालूम नहीं होती – एवं अंतरात्मा संतुष्ट होता है – वह सात्त्विक है। धम्मपद नामक बौद्ध-ग्रंथ (धम्मपद ६७ और ६८) मेंभी इसी प्रकारके विचार पाये जाते हैं। कालिदासभी यही कहते हैं, कि जब कर्म-अकर्मका निर्णय करनेमें कुछ संदेह हो, तब –

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

" सत्पुरुष लोग अपने अंतःकरणहीकी गवाहीको प्रमाण मानते हैं " (शाकुंतल १. २०)। पातंजल योग इसी बातकी शिक्षा देता है, कि चित्तवृत्तियोंका निरोध करके मनको किसी एकही विषयपर कैसे स्थिर करना चाहिये; और यह योगशास्त्र हमारे यहाँ बहुत प्राचीन समयसे प्रचलित है। अतएव जब कभी धर्म-अधर्मके विषयमें कुछ संदेह उत्पन्न हो, तब हम लोगोंको किसीके यह सिखानेकी आवश्यकता नहीं थी कि " अंतकरणको स्वस्थ और शांत करनेपर जो उचित मालूम हो, वही करना चाहिये। " सब स्मृति-ग्रंथोंके आरंभमें, इस प्रकारके वर्णन मिलते हैं, कि स्मृतिकार ऋषि अपने मनको एकाग्र करकेही धर्म-अधर्म बतलाया करते थे। (मनु. १. १)। योंही देखनेसे तो, " किसी काममें मनकी गवाही लेना ' यह मार्ग अत्यंत सुलभ प्रतीत होता है, परंतु जब हम तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे इस बातका सूक्ष्म विचार करने लगते हैं, कि ' शुद्ध मन ' किसे कहना चाहिये; तब यह सरल पक्ष अंततक काम नहीं दे सकता। और यही कारण है, कि हमारे शास्त्रकारोंने कर्मयोगशास्त्रकी इमारत इस कच्ची नींवपर खड़ी नहीं की है। अब इस बातका विचार करना चाहिये, कि यह तत्त्वज्ञान कौन-सा है। परंतु उसका विवेचन करनेके पहले यहाँपर इस बातका उल्लेख करना आवश्यक है, कि पश्चिमी आधिभौतिकवादियोंने इस आधिदैवत पक्षका किस प्रकार खंडन किया है। कारण यह है, कि यद्यपि इस विषयमें आध्यात्मिक और आधिभौतिक पंथोंके कारण भिन्न भिन्न हैं; तथापि उन दोनोंका अंतिम निर्णय एकही-सा है। अतएव, पहले आधिभौतिक कारणोंका उल्लेखकर देनेसे आध्यात्मिक कारणोंकी महत्ता और सयुक्तता पाठकोंके ध्यानमें शीघ्र आ जायगी।

ऊपर कह आये हैं, कि आधिदैविक पंथमें शुद्ध मनोदेवताकोही अग्रस्थान दिया गया है इससे यह प्रकट होता है, कि " अधिकांश लोगोंका अधिक सुख "वाले आधिभौतिक नीतिपंथमें कर्ताकी बुद्धि या हेतुके कुछभी विचार न किये जानेका जो दोष पहले बतलाया गया है, वह इस आधिदैवत पक्षमें नहीं है। परंतु जब हम इस बातका सूक्ष्म विचार करने लगते हैं, कि सदसद्विवेकरूपी शुद्ध मनोदेवता किसे कहना चाहिये; तब इस पंथमेंभी दूसरी अनेक अपरिहार्य बाधाएँ उपस्थित हो जाती

हैं। कोईभी बात लीजिये; कहनेकी आवश्यकता नहीं है, कि उसके बारेमें भली-भाँति विचार करना – वह ग्राह्य है अथवा अग्राह्य है, करनेके योग्य है या नहीं, उससे लाभ अथवा सुख होगा या नहीं; इत्यादि बातोंका निर्णय करना – नाक अथवा आँख जैसी इंद्रियोंका काम नहीं है। किंतु वह काम उस स्वतंत्र इंद्रियका है, जिसे मन कहते हैं। अर्थात्, कार्य-अकार्य अथवा धर्म-अधर्मका निर्णय मनही करता है। चाहे आप उसे इंद्रिय कहें या देवता। यदि आधिदैविक पंथ का सिर्फ़ यही कहना हो, तो कोई आपत्ति नहीं। परंतु पश्चिमी आधिदैवत पक्ष इससे एक पग औरभी आगे बढ़ा हुआ है। उसका यह कथन है, – भला अथवा बुरा (सत् अथवा असत्) न्याय्य अथवा अन्याय्य, धर्म अथवा अधर्मका निर्णय करना एक बात है; और इस बातका निर्णय करना दूसरी बात है, कि अमुक पदार्थ भारी है या हलका है, गोरा है या काला, अथवा गणितका कोई उदाहरण सही है या गलत – ये दोनों बातें अत्यंत भिन्न हैं। इनमेंसे दूसरे प्रकारकी बातोंका निर्णय न्यायशास्त्रका आधार लेकर मन कर सकता है; परंतु पहले प्रकारकी बातोंका निर्णय करनेके लिये केवल मन असमर्थ है। अतएव यह काम सदसद्विवेचन-शक्तिरूप देवताही किया करता है, जो कि हमारे मनमें रहता है। इसका कारण वे यह बतलाते हैं, कि जब हम किसी गणितके उदाहरणकी जाँच करके निश्चय करते हैं, कि वह सही है या गलत, तब हम पहले उसके गुणा, जोड़ आदिकी जाँच कर लेते हैं, और फिर अपना निश्चय स्थिर करते हैं। अर्थात् इस निश्चयके स्थिर होनेके पहले मनको अन्य क्रिया या व्यापार करने पड़ते हैं; परंतु भले-बुरेका निर्णय इस प्रकार नहीं किया जाता। जब हम यह सुनते हैं, कि किसी एक आदमीने किसी दूसरेको जानसे मार डाला, तब हमारे मुँहसे एकाएक ये उद्गार निकल पड़ते हैं; "राम राम! उसने बहुत बुरा काम किया!" और इस विषयमें हमें कुछभी विचार नहीं करना पड़ता। अतएव, यह नहीं कहा जा सकता, कि कुछभी विचार न करके आप-ही-आप जो निर्णय हो जाता है, और जो निर्णय विचार-पूर्वक किया जाता है, वे दोनों एकही मनोवृत्तिके व्यापार हैं। इसलिये यह मानना चाहिये, कि सदसद्विवेचन-शक्तिभी एक स्वतंत्र मानसिक देवता है। सब मनुष्योंके अंतःकरणमें यह देवता या शक्ति एकही-सी जागृत रहती है। इसलिये हत्या करना सभी लोगोंको दोष प्रतीत होता है; उसके विषयमें किसीको कुछ सिखलानाभी नहीं पड़ता। इस आधिदैविक युक्तिवादका आधिभौतिक पंथके लोगोंका यह उत्तर है, कि सिर्फ़ "हम एक-आध बातका निर्णय एकदम कर सकते हैं;" इतनेहीसे यह नहीं माना जा सकता, कि जिस बातका निर्णय विचार-पूर्वक किया जाता है वह उससे भिन्न है। किसी कामको जल्द अथवा धीरे करना अभ्यासपर अवलंबित है। उदाहरणार्थ, गणितका विषय लीजिये। व्यापारी लोग मनके भावसे सेर-छटाँकके दाम एकदम मुखाग्र गणितकी रीतिसे बतलाया करते हैं। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता, कि गुणाकार करनेकी उनकी शक्ति

या देवता किसी अच्छे गणितज्ञसे भिन्न है। कोई काम अभ्यासके कारण इतना अच्छी तरह सध जाता है, कि बिना विचार कियेही कोई मनुष्य उसको शीघ्र और सरलतापूर्वक कर लेता है। उत्तम लक्ष्यभेदी मनुष्य उड़ते हुए पक्षियोंको बंदूकसे सहज मार गिराता हैं, इससे कोईभी यह नहीं कहता, कि लक्ष्यभेद एक स्वतंत्र देवता है। इतनाही नहीं; किंतु निशाना मारना, उड़ते हुए पक्षियोंकी गतिको जानना, इत्यादि शास्त्रीय बातोंको कोईभी निरर्थक और त्याज्य नहीं कह सकता। नेपोलियनके विषयमें यह प्रसिद्ध है, कि जब वह समरांगणमें खड़ा होकर चारों ओर सूक्ष्म दृष्टिसे देखता था, तब उसके ध्यानमें यह बात एकदम आ जाया करती थी, कि शत्रु किस स्थानपर कमजोर है। इतनेहीसे किसीने यह सिद्धान्त नहीं निकाला है, कि युद्धकला एक स्वतंत्र देवता है, और उसका अन्य मानसिक शक्तियोंसे कुछभी संबंध नहीं है। इसमें संदेह नहीं; कि किसी एक काममें किसीकी बुद्धि स्वभावतः काम देती है; और किसीकी कम परंतु सिर्फ़ इस असमानताके आधारपरही हम यह नहीं कहते, कि दोनोंकी बुद्धियां वस्तुतः भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त यह बातभी सत्य नहीं, कि कार्य-अकार्यका अथवा धर्म-अधर्मका निर्णय सदैव एकाएक हो जाता है। यदि ऐसाही होता, तो यह प्रश्नभी कभी उपस्थित न होता कि "अमुक काम करना चाहिये अथवा नहीं करना चाहिये।" यह बात प्रकट है, कि इस प्रकारका प्रश्न प्रसंगानुसार अर्जुनकी तरह सभी लोगोंके सामने उपस्थित हुआ करता है; और कार्य-अकार्य-निर्णयके कुछ विषयोंमें, भिन्न भिन्न लोगोंके अभिप्रायभी भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। यदि सदसद्विवेचनरूप स्वयंभू देवता एकही है, तो फिर यह भिन्नता क्यों है? इससे यही कहना पड़ता है, कि मनुष्यकी बुद्धि जितनी सुशिक्षित अथवा सुसंस्कृत होगी, उतनीही योग्यतापूर्वक वह किसी बातका निर्णय करेगा। बहुतेरे जंगली लोग ऐसेभी हैं, कि जो मनुष्यका वध करना अपराध तो मानते नहीं; किंतु मारे हुए मनुष्यका मांसभी वे सहर्ष खा जाते हैं! जंगली लोगोंकी बात जाने दीजिये। सभ्य देशोंमेंभी यह देखा जाता है, कि देशके अनुसार किसी एक देशमें जो बात गर्ह्य समझी जाती है, वही किसी दूसरे देशाचरमें सर्वमान्य समझी जाती है। उदाहरणार्थ, एक स्त्रीके रहते हुए दूसरी स्त्रीके साथ विवाह करना इंग्लंडमें अपराध माना जाता है; परंतु हिंदुस्थानमें यह बात विशेष दूषणीय नहीं मानी जाती। भरी सभामें सिरकी पगड़ी उतारना हिंदु लोगोंके लिये लज्जा या अमर्यादाकी बात है; परंतु अंग्रेज लोग सिरकी टोपी उतारनाही सभ्यताका लक्षण मानते है। यदि - यह बात सच है, कि ईश्वरदत्त या स्वाभाविक सदसद्विवेचन-शक्तिके कारणही बुरे कर्म करनेमें लज्जा मालूम होती है तो क्या सब लोगोंको एक ही कृत्य करनेमें एकही समान लज्जा नहीं मालूम होनी चाहिये? बड़े बड़े लुटेरे और डाकू लोगभी एक बार जिसका नमक खा लेते हैं, उसपर हथियार उठाना निंद्य मानते हैं, किंतु बड़े बड़े सभ्य पश्चिमी राष्ट्र अपने पड़ोसी राष्ट्रके लोगोंका वध करना स्वदेश-

भक्तिका लक्षण समझते हैं। यदि सदसद्विवेचन-शक्तिरूप देवता एकही है तो यह भेद क्यों है? और यदि यह कहा जाय, कि शिक्षाके अनुसार अथवा देशके चलनके अनुसार सदसद्विवेचन-शक्तिमेंभी भेद हो जाया करते हैं, तो उसकी स्वयंभू नित्यतामें बाधा आती है। मनुष्य ज्यों ज्यों अपनी असभ्य दशाको छोड़कर सभ्य बनता जाता है, त्यों त्यों उसके मन और बुद्धिका विकास होता जाता है। और इस तरह बुद्धिका विकास होनेपर जिन बातोंका विचार वह अपनी पहली असभ्य अवस्थामें नहीं कर सकता था, उन्हीं बातोंका विचार अब वह अपनी सभ्य दशामें शीघ्रतासे करने लग जाता है। अथवा यह कहना चाहिये, कि इस तरह बुद्धिका विकसित होनाही सभ्यताका लक्षण है। यह सभ्य अथवा सुशिक्षित मनुष्यके इंद्रियनिग्रहका परिणाम है, कि वह औरोंकी वस्तुको ले लेने या माँगनेकी इच्छा नहीं करता। इसी प्रकार मनकी वह शक्तिभी – जिससे बुरे-भलेका निर्णय किया जाता है – धीरे धीरे बढ़ती जाती है। और अब तो कुछ बातोंमें वह इतनी परिपक्व हुईही है, कि किसी विषयमें कुछ विचार किये विनाही हम लोग अपना नैतिक निर्णय प्रकट कर दिया करते हैं। जब हमें आँखोंसे कोई दूर या पासकी वस्तु देखनी होती है, तब आँखोंकी नसोंको उचित परिमाणसे खींचना पड़ता है; और यह क्रिया इतनी शीघ्रतासे होती है, कि हमें उसका कुछ बोधभी नहीं होता। परंतु क्या इतनेहीसे किसीने इस बातकी उपपत्तिको निरुपयोगी मान रखा है? सारांश यह है, कि मनुष्यकी बुद्धि या मन सब समय और सब कामोंमें एकही है। यह बात यथार्थ नहीं, कि काले-गोरेका निर्णय एक प्रकारकी बुद्धि करती है और बुरे-भलेका निर्णय किसी अन्य प्रकारकी बुद्धिसे किया जाता है। अंतर केवल इतनाही है, कि किसीमें बुद्धि कम रहती है और किसीकी अशिक्षित अथवा अपरिपक्व रहती है। उक्त भेदकी ओर, तथा इस अनुभवकी ओर उचित ध्यान दे कर, कि किसी कामको शीघ्रतापूर्वक कर सकना केवल आदत या अभ्यासका फल है, पश्चिमी आधिभौतिकवादियोंने यह निश्चय किया है, कि मनकी स्वाभाविक शक्तियोंमे परे सदसद्विचार-शक्ति नामक कोई भिन्न, स्वतंत्र और विलक्षण शक्तिके माननेकी आवश्यकता नहीं है।

इस विषयमें हमारे प्राचीन शास्त्रकारोंका अंतिम निर्णयभी पश्चिमी आधिभौतिकवादियोंके सदृशही है। वे इस बातको मानते हैं, कि स्वस्थ और शांत अंतःकरणसे किसीभी बातका विचार करना चाहिये। परंतु उन्हें यह बात मान्य नहीं, कि धर्म-अधर्मका निर्णय करनेवाली बुद्धि अलग है और काला-गोरा पहचाननेकी बुद्धि अलग है। उन्होंने यहभी प्रतिपादन किया है, कि मन जितना सुशिक्षित होगा, उतनाही वह भला या बुरा निर्णय कर सकेगा। अतएव मनको सुशिक्षित करनेका प्रयत्न प्रत्येकको दृढतासे करना चाहिये। परंतु वे इस बातको नहीं मानते, कि सदसद्विवेचन-शक्ति सामान्य बुद्धिसे कोई भिन्न वस्तु या ईश्वरीय प्रसाद है। प्राचीन समयमें इस बातका परीक्षण सूक्ष्म रीतिसे किया गया है, कि मनुष्यको ज्ञान

किस प्रकार प्राप्त होता है; और उसके मनका और बुद्धिका व्यापार किस तरह हुआ करता है। इसी परीक्षणको 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विचार' कहते हैं। क्षेत्रका अर्थ 'शरीर' और क्षेत्रज्ञका अर्थ 'आत्मा' है। यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार अध्यात्मविद्याकी जड़ है। इस क्षेत्रज्ञ-विद्याका ठीक ठीक ज्ञान हो जानेपर, सदसद्विवेक-शक्तिहीका कौन कहे, किसीभी मनोदेवताका अस्तित्व आत्मासे श्रेष्ठ या स्वतंत्र नहीं माना जा सकता। ऐसी अवस्थामें आधिदैवत पक्ष आप-ही-आप कमजोर हो जाता है। अतएव, अब यहाँ इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विद्याहीका विचार संक्षेपमें किया जायगा। इस विवेचनसे भगवद्गीताके बहुतेरे सिद्धान्तोंका सत्यार्थभी पाठकोंके ध्यानमें अच्छी तरह आ जायगा।

यह कहा जा सकता है, कि मनुष्यका शरीर (पिंड, क्षेत्र या देह) एक बहुत बड़ा कारखानाही है। जैसे किसी कारखानेमें पहले बाहरका माल भीतर लिया जाता है; फिर उस मालका चुनाव या व्यवस्था करके इस बातका निश्चय किया जाता है, कि कारखानेके लिये उपयोगी और निरुपयोगी पदार्थ कौन-से हैं; और तब बाहरसे लाये गये कच्चे मालसे नई चीजें बनाते और उन्हें बाहर भेजते हैं। वैसेही मनुष्यकी देहमेंभी प्रतिक्षण अनेक व्यापार हुआ करते हैं। इस सृष्टिके पाँचभौतिक पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये मनुष्यकी इंद्रियाँही प्रथम साधन हैं। इन इंद्रियोंके द्वारा सृष्टिके पदार्थोंका यथार्थ अथवा मूल स्वरूप नहीं जाना जा सकता। आधिभौतिकवादियोंका यह मत है, कि पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप वैसाही है, जैसा कि वह हमारी इंद्रियोंको प्रतीत होता है। परंतु यदि कल किसीको कोई नूतन इंद्रिय प्राप्त हो जाय, तो उसकी दृष्टिसे सृष्टिके पदार्थोंके गुण-धर्म जैसे आज हैं, वैसेही नहीं रहेंगे। मनुष्यकी इंद्रियोंकेभी दो भेद हैं, -- एक कर्मेंद्रियाँ और दूसरी ज्ञानेंद्रियाँ। हाथ, पैर, वाणी, गुद और उपस्थ ये पाँच कर्मेंद्रियाँ हैं। हम जो कुछ व्यवहार अपने शरीरसे करते हैं, वह सब इन्हीं कर्मेंद्रियोंके द्वारा होता है। नाक, आँखें, कान, जीभ और त्वचा ये पाँच ज्ञानेंद्रियाँ हैं। आँखोंसे रूप, जिव्हासे रस, कानोंसे शब्द, नाकसे गंध, और त्वचासे स्पर्शका ज्ञान होता है। किसीभी बाह्य पदार्थका जो हमें ज्ञान होता है, वह उस पदार्थके रूप-रस-शब्द-गंध-स्पर्शके सिवा और कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ, एक सोनेका टुकड़ा लीजिये। वह पीला दीख पड़ता है, त्वचाको भारी मालूम होता है, पीटनेसे लंबा हो जाता है इत्यादि जो गुण हमारी इंद्रियोंको गोचर होते हैं, उन्हींको हम सोना कहते हैं; और जब ये गुण बार बार एकही पदार्थमें, एकहीसे दृग्गोचर होने लगते हैं, तब हमारी दृष्टिसे सोना एक स्वतंत्र पदार्थ बन जाता है। जिस प्रकार बाहरका माल भीतर लानेके लिये और भीतरका माल बाहर भेजनेके लिये किसी कारखानेमें दरवाज़े होते हैं, उसी प्रकार मनुष्यकी देहमें बाहरके मालको भीतर लेनेके लिये ज्ञानेंद्रियाँ-रूपी द्वार हैं, और भीतरका माल बाहर भेजनेके लिये कर्मेंद्रियाँ-रूपी द्वार हैं। सूर्यकी किरणें

किसी पदार्थपर गिर कर जब लौटती हैं, और हमारे नेत्रोंमें प्रवेश करती हैं तब हमारे आत्माको उस पदार्थके रूपका ज्ञान होता है। किसी पदार्थसे आनेवाली गंधके सूक्ष्म परमाणु जब हमारी नाकके मज्जातंतुओंसे टकराते हैं, तब हमें उस पदार्थकी बास आती है। अन्य ज्ञानेंद्रियोंके व्यापारभी इसी प्रकार हुआ करते हैं। जब ज्ञानेंद्रियाँ इस प्रकार अपना व्यापार करने लगते हैं, तब हमें उनके द्वारा बाह्य सृष्टिके पदार्थोंका ज्ञान होने लगता है। परंतु ज्ञानेंद्रियाँ जो कुछ व्यापार करती हैं, उसका ज्ञान स्वयं उनको नहीं होता; उसी लिये ज्ञानेंद्रियोंको 'ज्ञाता' नहीं कहते; किंतु उन्हें सिर्फ़ बाहरके मालको भीतर ले आनेवाले 'द्वार'ही कहते हैं। इन दरवाजोंसे माल भीतर आ जानेपर उसकी व्यवस्था करना मनका काम है। उदाहरणार्थ, बारह बजे जब घड़ीमें घंटे बजने लगते हैं, तब एकदम हमारे कानोंको यह नहीं समझ पड़ता, कि कितने बजे हैं; किंतु ज्यों ज्यों घड़ीमें 'टन् टन्' की एक एक आवाज़ होती जाती है, त्यों त्यों हवाकी लहरें हमारे कानोंपर आकर टक्कर मारती हैं; और मज्जातंतुओंके द्वारा प्रत्येक आवाजका हमारे मनपर पहले अलग अलग संस्कार होता है और अंतमें इन सबोंको जोड़ कर हम निश्चित किया करते हैं, कि इतने बजे हैं। पशुओंमेंभी ज्ञानेंद्रियाँ होती हैं। जब घड़ीकी 'टन् टन्' आवाज होती है, तब प्रत्येक ध्वनिका संस्कार उनके कानोंके द्वारा मनतक पहुँच जाता है। परंतु उनका मन इतना विकसित नहीं रहता, कि वे उन सब संस्कारोंको एकत्र करके यह निश्चित कर लें कि बारह बजे हैं। यही अर्थ शास्त्रीय परिभाषामें इस प्रकार कहा जाता है, कि यद्यपि अनेक संस्कारोंका पृथक् पृथक् ज्ञान पशुओंको हो जाता है, तथापि उस अनेकताकी एकताका बोध उन्हें नहीं होता। भगवद्गीता (गीता ३. ४२) में कहा है :– "इंद्रियाणि पराण्याहुः इंद्रियेभ्यः परं मनः" अर्थात् इंद्रियाँ (बाह्य) पदार्थोंसे श्रेष्ठ हैं; और मन इंद्रियोंसेभी श्रेष्ठ है। इसका भावार्थभी वही है, जो ऊपर लिखा गया है। पहले कह चुके हैं, कि यदि मन स्थिर न हो, तो आँखें खुली होनेपरभी कुछ दीख नहीं पड़ता; और कान खुले होनेपरभी कुछ सुन नहीं पड़ता। तात्पर्य यह है, कि इस देहरूपी कारखानेमें 'मन' एक मुंशी (क्लर्क) है; जिसके पास बाहरका सब माल ज्ञानेंद्रियोंके द्वारा भेजा जाता है। और तब यही मुंशी (मन) मालकी जाँच किया करता है। अब इन बातोंका विचार करना चाहिये कि यह जाँच किस प्रकारकी जाती है; और जिसे हम अबतक सामान्यतः 'मन' कहते आये हैं, उसकेभी और कौन-कौन-से भेद किये जा सकते हैं अथवा एकही मनको भिन्न भिन्न अधिकारोंके अनुसार कौन-कौनसे भिन्न भिन्न नाम प्राप्त हो जाते हैं।

ज्ञानेंद्रियोंके द्वारा मनपर जो संस्कार होते हैं, उन्हें प्रथम एकत्र करके और उनकी परस्पर तुलना करके इस बातका पहले निर्णय करना पड़ता है, कि उनमेंसे अच्छे कौन-से और बुरे कौन-से हैं, ग्राह्य और त्याज्य कौनसे और लाभदायक तथा

हानिकारक कौनसे हैं। यह निर्णय हो जानेपर उनमेंसे जो बात अच्छी, ग्राह्य, लाभदायक, उचित अथवा करनेयोग्य होती है, उसे करनेमें हम प्रवृत्त हुआ करते हैं। यही सामान्य मानसिक व्यवहार है। उदाहरणार्थ, जब हम किसी बगीचेमें जाते हैं, तब आँख और नाक-रूपी ज्ञानेंद्रियोंके द्वारा उस बगीचेके वृक्षों और फूलोंके संस्कार हमारे मनपर होते हैं। परंतु जब तक हमारे आत्माको यह ज्ञान नहीं होता, कि इन फूलोंमेंसे किसकी सुगंध अच्छी और किसकी बुरी है; तब तक किसी फूलको प्राप्त कर लेनेकी इच्छा मनमें उत्पन्न नहीं होती; और न हम उसे तोड़नेका प्रयत्नही करते हैं। अतएव सब मनोव्यापारोंके तीन स्थूल भाग हो सकते है :– (१) ज्ञानेंद्रियोंके द्वारा बाह्य पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करके उन संस्कारोंको तुलनाके लिये व्यवस्थापूर्वक रखना; (२) ऐसी व्यवस्था हो जानेपर उनके अच्छेपन या बुरेपनका सारअसार-विचार करके यह निश्चय करना, कि कौन-सी बात ग्राह्य है और कौन-सी त्याज्य; और (३) निश्चय हो चुकनेपर, ग्राह्य वस्तुको प्राप्त कर लेनेकी, और अग्राह्यको त्यागनेकी इच्छा उत्पन्न होकर फ़िर उसके अनुसार प्रवृत्तिका होना। परंतु यह आवश्यक नहीं, कि ये तीनों व्यापार बिना रुकावटके लगातर एकके बाद एक होतेही रहें। संभव है, कि पहले किसी समय देखी हुई वस्तुकी इच्छा आज़ हो जाय। किंतु इतनेहीसे यह नहीं कह सकते, कि उक्त तीनों क्रियाओंमेंसे किसीभी क्रियाकी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि न्याय करनेकी कचहरी एकही होती है, तथापि उसमें कामका विभाजन इस प्रकार किया जाता है :– पहले वादी और प्रतिवादी अथवा उनके वकील अपनी अपनी गवाहियाँ और सबूत न्यायाधीशके सामने पेश करते हैं। इसके बाद न्यायाधीश दोनों पक्षोंके सबूत देखकर निर्णय स्थिर करता है, और अंतमें न्यायाधीशके निर्णयके अनुसार नाज़िर कार्रवाई करता है। ठीक इसी प्रकार जिस मुंशीको अभीतक हम सामान्यतः 'मन' कहते आये हैं, उसके व्यापारोंकेभी विभाग हुआ करते हैं। इनमेंसे सामने उपस्थित बातोंका सार-असार विचार करके यह निश्चय करनेका काम – अर्थात् केवल न्यायाधीशका काम – 'बुद्धि' नामक इंद्रियका है, कि कोई एक बात अमुक प्रकारहीकी (एकमेव) है, दूसरे प्रकारकी नहीं (नाऽन्यथा)। ऊपर कहे गये सब मनो-व्यापारोंमेंसे इस सार-असार-विवेक-शक्तिको अलग कर देनेपर बचे हुए सभी व्यापार जिस इंद्रियके द्वारा हुआ करते हैं, उसीको सांख्य और वेदान्तशास्त्रमें 'मन' कहते हैं (सां. का. २३ और २७)। यही मन वकीलके सदृश्य, कोई बात ऐसी है (संकल्प), अथवा उसके विरुद्ध वैसी है (विकल्प); इत्यादि कल्पनाओंको बुद्धिके सामने निर्णय करनेके लिये पेश किया करता है। इसीलिये उसे 'संकल्प-विकल्पात्मक' अर्थात् बिना निश्चय किये केवल कल्पना करनेवाली इंद्रिय कहा गया है। कभी कभी 'संकल्प' शब्दमें 'निश्चय'काभी अर्थ शामिल कर दिया जाता है (छांदोग्य ७. ४. १)। परंतु

यहाँपर 'संकल्प' शब्दका उपयोग – निश्चयकी अपेक्षा न रखते हुए – बात अमुक प्रकारकी मालूम होना, मानना, कल्पना करना, समझना, अथवा कुछ योजना करना, इच्छा करना, चिंतन करना, मनमें लाना आदि व्यापारोंके लियेही किया गया है। परंतु, इस प्रकार वकीलके सदृश अपनी कल्पनाओंको बुद्धिके सामने निर्णयार्थ सिर्फ़ उपस्थित कर देनेहीसे मनका काम पूरा नहीं हो जाता। बुद्धिके द्वारा भले-बुरेका निर्णय हो जानेपर, जिस बातको बुद्धिने ग्राह्य माना है, उसका कर्मेंद्रियोंसे आचरण करना, अर्थात् बुद्धिकी आज्ञाको कार्यमें परिणत करना – यह नाज़िरका कामभी मनहीको करना पड़ता है। इसी कारण मनकी व्याख्या दूसरी तरहभी की जा सकती है। यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं, कि बुद्धिके निर्णयकी कार्रवाईपर जो विचार किया जाता है, वहभी एक प्रकारसे संकल्प-विकल्पात्मकही है। परंतु इसके लिये संस्कृतमें 'व्याकरणविस्तार करना' यह स्वतंत्र नाम दिया गया है। इसके अतिरिक्त शेष सब कार्य बुद्धिके हैं। यहाँ तक कि मन हमारी कल्पनाओंके सार-असारका विचार नहीं करता। सार-असार विचार करके किसीभी वस्तुका यथार्थ ज्ञान आत्माको करा देना, अथवा चुनाव करके यह निश्चय करना, कि अमुक वस्तु अमुक प्रकारकी है, या तर्कसे कार्य-कारण-संबंधको देख कर निश्चित अनुमान करना, अथवा कार्य-अकार्यका निर्णय करना, इत्यादि सब व्यापार बुद्धिके हैं। संस्कृतमें इन व्यापारोंको 'व्यवसाय' या 'अध्य-वसाय' कहते हैं। अतएव इन दो शब्दोंका उपयोग करके, 'बुद्धि' और 'मन' का भेद बतलानेके लिये, महाभारत (महा. शां. २५१. ११) में यह व्याख्या दी गई है :–

व्यवसायात्मिका बुद्धि मनो व्याकरणात्मकम्।

"बुद्धि (इंद्रिय) व्यवसाय करती है; अर्थात् सार-असार विचार करके कुछ निश्चय करती है; और मन व्याकरण अर्थात् विस्तार अथवा अगली अवस्था करनेवाली प्रवर्तक इंद्रिय है – अर्थात् बुद्धि व्यवसायात्मिका है और मन व्याकरणात्मक है।" भगवद्गीतामेंभी "व्यवसायात्मिका बुद्धिः" शब्द पाये जाते हैं (गीता २. ४४); और वहाँभी बुद्धिका अर्थ "सार-असार-विचार करके निश्चय करनेवाली इंद्रिय" ही है। यथार्थमें बुद्धि केवल एक तलवार है। जो कुछ उसके सामने आता है या लाया जाता है, उसकी काट-छाँट करनाही उसका काम है; उसमें दूसरा कोईभी गुण अथवा धर्म नहीं है (मभा. वन. १८१. ८६)। संकल्प, वासना, इच्छा, स्मृति, धृति, श्रद्धा, उत्साह, करुणा, अनुकंपा, प्रेम, दया, सहानुभूति, कृत-ज्ञता, काम, लज्जा, आनंद, भय, राग, संग, द्वेष, लोभ, मद, मत्सर, क्रोध, इत्यादि सब मनहीके गुण अथवा धर्म हैं (बृ. १. ५. ३; मैत्यु. ६. ३०)। जैसे जैसे ये मनोवृत्तियाँ जागृत होती जाती हैं, वैसेही कर्म करनेकी ओर मनुष्यकी प्रवृत्ति हुआ करती है। उदाहरणार्थ, मनुष्य चाहे जितना बुद्धिमान् हो और चाहे वह गरीब लोगोंकी दुर्दशाका हाल भली भाँति जानता हो; तथापि यदि उसके हृदयमें

करुणावृत्ति जागृत न हो, तो उसे गरिबोंकी सहायता करनेकी इच्छा कभी होगीही नहीं। अथवा, यदि धैर्यका अभाव हो, तो युद्ध करनेकी इच्छा होनेपरभी वह नहीं लड़ेगा। तात्पर्य यह है, कि बुद्धि सिर्फ़ यही बतलाया करती है, कि जिस बात-को करनेकी हम अच्छा करते हैं, उसका परिणाम क्या होगा। परंतु इच्छा अथवा धैर्य आदि गुण बुद्धिके धर्म नहीं है, इसलिये बुद्धि, स्वयं (अर्थात् बिना मनकी सहायता लियेही) कभी इंद्रियोंको प्रेरित नहीं कर सकती। इसके विरुद्ध क्रोध आदि वृत्तियोंके वशमें होकर स्वयं मन चाहे इंद्रियोंको प्रेरितभी कर सके; तोभी यह नहीं कहा जा सकता, कि बुद्धिके सार-असार-विचारके बिना केवल मनोवृत्तियोंकी प्रेरणासे किया गया काम नीतिकी दृष्टिसे शुद्धही होगा। उदाहरणार्थ, यदि बुद्धिका उपयोग न कर केवल करुणावृत्तिसे कुछ दान किया जाता है, तो संभव है, कि वह किसी अपात्रको दिया जावे; और उसका परिणामभी बुरा हो। सारांश यह है, कि बुद्धिकी सहायताके बिना केवल मनोवृत्तियाँ अंधी हैं, अतएव मनुष्यका कोई काम शुद्ध तभी हो सकता है, जब कि बुद्धि शुद्ध हो – अर्थात् वह भले-बुरेका अचूक निर्णय कर सके; मन बुद्धिके अनुरोधसे आचरण करें; और इंद्रियाँ मनके अधीन रहें। बुद्धि और मनके सिवा 'अंतःकरण' और 'चित्त' ये दोनों शब्दभी प्रचलित हैं। इनमेंसे 'अंतःकरण' शब्दका धात्वर्थ 'भीतरी करण अर्थात् इंद्रिय' है। इसलिये उसमें मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि सभीका सामान्यतः समावेश किया जाता है और जब 'मन' पहले पहल बाह्य-विषयोंका ग्रहण अर्थात् चिंतन करने लगता है, तब वही 'चित्त' हो जाता है (मभा. शां. २७४. १७)। परंतु सामान्य व्यवहारमें इन सब शब्दोंका अर्थ एकही-सा माना जाता है। इससे समझमें नहीं आता, कि किस स्थानपर कौन-सा अर्थ विवक्षित है। इस गड़बड़ीको दूर करनेके लिये ही, उक्त अनेक शब्दोंमेंसे मन और बुद्धि, इन्हीं दो शब्दोंका उपयोग शास्त्रीय परिभाषामें ऊपर कहे गये निश्चित अर्थ में किया जाता है। जब इस तरह मन और बुद्धिका भेद एक बार निश्चित कर दिया गया, तब न्यायाधीशके नाते बुद्धिको मनसे श्रेष्ठ मानना पड़ता है; और मन उस न्याया-धीश (बुद्धि) का मुंशी बन जाता है। "मनसस्तु परा बुद्धिः" – इस गीता-वाक्यका भावार्थभी यही है, कि मनकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ एवं उसके परे है (गीता ३. ४२)। तथापि, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, उस मुंशीकोभी दो प्रकारके काम करने पड़ते हैं :– (१) ज्ञानेद्रियों द्वारा अथवा बाहरसे आए हुये संस्कारोंकी व्यवस्था करने उनको बुद्धिके सामने निर्णयके लिये उपस्थित करना; और (२) बद्धिका निर्णय हो जानेपर उसकी आज्ञा अथवा डाक कर्मेद्रियोंके पास भेज कर बुद्धिका हेतु सफल करनेके लिये आवश्यक बाह्यक्रिया करवाना। जिस तरह दूकानके लिये माल खरीदनेका काम और दूकानमें बैठ कर बेचनेका कामभी कहीं कहीं उस दूकानके एकही नौकरको करना पड़ता है, उसी तरह मनकोभी दोनों

काम करने पड़ते हैं। मान लो, कि हमें एक मित्र दीख पडा; और उसे पुकारनेकी इच्छासे हमने उसे 'अरे' कहा। अब देखिये कि उतने समयमें अंतःकरणमें कितने व्यापार होते हैं। पहले आँखोंने अर्थात् ज्ञानेद्रियोंने यह संस्कार मनके द्वारा बुद्धिको भेजा, कि हमारा मित्र पासही है; और बुद्धिके द्वारा उस संस्कारका ज्ञान आत्माको हुआ। यह हुई ज्ञान होनेकी क्रिया। जब आत्मा बुद्धिके द्वारा यह निश्चय करता है, कि मित्रको पुकारना चाहिये; और बुद्धिके इस हेतुके अनुसार कार्रवाई करनेके लिये मनमें बोलनेकी इच्छा उत्पन्न होती है; तब मन हमारी जिव्हा (कर्मेंद्रिय) से 'अरे' शब्दका उच्चारण करवाता है। पाणिनीके शिक्षा-ग्रंथमें शब्दोच्चारण-क्रियाका वर्णन इसी बातको ध्यानमें रखकर किया गया है :-

आत्मा बुद्ध्या समेत्याऽर्थान् मनो युंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥

अर्थात् "पहले आत्मा बुद्धिके द्वारा सब बातोंका आकलन करके मनमें बोलनेकी इच्छा उत्पन्न करता है; और जब कायाग्निको उकसाता है, तब कायाग्नि वायुको प्रेरित करती है। तदनंतर यह वायु छातीमें प्रवेश करके मंद्र स्वर उत्पन्न करता है। यही स्वर आगे कंठ-तालू आदिके वर्ण-भेद-रूपसे मुखके बाहर आता है। उक्त श्लोकके अंतिम दो चरण मैत्र्युपनिषद्मेंभी मिलते हैं (मैत्र्यु. ७. ११); और इससे प्रतीत होता है, कि ये श्लोक पाणिनिसेभी प्राचीन हैं।* आधुनिक शारीरशास्त्रोंमें कायाग्निको मज्जातंतु कहते हैं। परंतु पश्चिमी शारीरशास्त्रज्ञोंके कथनानुसार मनभी दो हैं। क्योंकि बाहरके पदार्थोंका ज्ञान भीतर लानेवाले और मनके द्वारा बुद्धिकी आज्ञा कर्मेंद्रियोंको बतलानेवाले शरीरके मज्जातंतु भिन्न भिन्न हैं। हमारे शास्त्रकार दो मन नहीं मानते; उन्होंने मन और बुद्धिको भिन्न बतला कर सिर्फ़ यह कहा है, कि मन उभयात्मक है – अर्थात् वह कर्मेंद्रियोंके साथ कर्मेंद्रियोंके समान और ज्ञानेंद्रियोंके साथ ज्ञानेंद्रियोंके समान काम करता है। दोनोंका तात्पर्य एकही है। दोनोंकी दृष्टिसे यही प्रकट है, कि बुद्धि निश्चयकर्ता न्यायाधीश है; और मन पहले ज्ञानेंद्रियोंके साथ संकल्प-विकल्पात्मक हो जाया करता है; तथा फिर कर्मेंद्रियोंके साथ व्याकरणात्मक या कार्रवाई करनेवाला अर्थात् कर्मेंद्रियोंका साक्षात् प्रवर्तक हो जाता है। किसी बातका 'व्याकरण' करते समय कभी कभी मन यह संकल्प-विकल्पभी किया करता है, कि बुद्धिकी आज्ञाका पालन किस प्रकार किया जाय। इसीलिये मनकी व्याख्या करते समय

---

* मैक्समूलर साहबने लिखा है, कि मैत्र्युपनिषद् पाणिनिकी अपेक्षा प्राचीन होना चाहिये। Sacred Books of the East Series. Vol. XV. pp. xlvii-li. इसपर परिशिष्ट प्रकरणमें अधिक विचार किया गया है।

सामान्यतः सिर्फ़ यही कहा जाता है, कि "संकल्प-विकल्पात्मकं मनः"। परंतु, ध्यान रहे, कि उस समयभी इस व्याख्यामें मनके दोनों व्यापारोंका समावेश किया जाता है।

'बुद्धि'का जो अर्थ ऊपर किया गया है, कि यह निर्णय करनेवाली इंद्रिय है; वह अर्थ केवल शास्त्रीय और सूक्ष्म-विवेचनके लिये उपयोगी है। परंतु इन शास्त्रीय अर्थोंका निर्णय हमेशा पीछेसे किया जाता है। अतएव यहाँ 'बुद्धि' शब्दके उन व्यावहारिक अर्थोंकाभी विचार करना आवश्यक है, जो, इस शब्दका शास्त्रीय अर्थ निश्चित होनेके पहलेही, प्रचलित हो गये हैं। जबतक व्यवसायात्मिका बुद्धि किसी बातका पहले निर्णय नहीं करती, तबतक हमें उसका ज्ञान नहीं होता; और जबतक ज्ञान नहीं होता, तबतक उसके प्राप्त करनेकी इच्छा या वासनाभी नहीं हो सकती। अतएव, जिस प्रकार व्यवहारमें आमके पेड़ और फलके लिये 'आम' इस एकही शब्दका प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार व्यवसायात्मिका बुद्धिके लिये और उस बुद्धिकी वासना आदि फलोंके लियेभी 'बुद्धि' इस एकही शब्दका उपयोग व्यवहारमें कई बार किया जाता है। उदाहरणार्थ, जब हम कहते हैं, कि अमुक मनुष्यकी बुद्धि खोटी है; तब हमारे इस बोलनेका यह अर्थ होता है, कि उसकी 'वासना' खोटी है। शास्त्रके अनुसार इच्छा या वासना मनके धर्म होनेके कारण उन्हें 'बुद्धि' शब्दसे संबोधित करना युक्त नहीं है। परंतु बुद्धि शब्दकी शास्त्रीय जाँच होनेके पहलेहीसे सर्वसाधारण लोगोंके व्यवहारमें 'बुद्धि' इस एकही शब्दका उपयोग इन दोनों अर्थोंमें होता चला आया है :– (१) निर्णय करनेवाली इंद्रिय; और (२) उस इंद्रियके व्यापारसे मनुष्यके मनमें उत्पन्न होनेवाली वासना या इच्छा। अतएव, आमके दो अर्थोंका भेद बतलानेके समय जिस प्रकार 'पेड़' और 'फल' इन शब्दोंको जोड़ दिया जाता है, उसी प्रकार जब बुद्धिके उक्त दोनों अर्थोंकी भिन्नता व्यक्त करनी होती है, तब निर्णय करनेवाली अर्थात् शास्त्रीय बुद्धिको 'व्यवसायात्मिका' विशेषण जोड़ दिया जाता है; और वासनाको केवल 'बुद्धि' अथवा 'वासनात्मक' बुद्धि कहते हैं। गीता (गीता २. ४१, ४४, ४९; और ३. ३२) में 'बुद्धि' शब्दका उपयोग उपर्युक्त दोनों अर्थोंमें किया गया है। और कर्मयोगके विवेचनको ठीक ठीक समझ लेनेके लिये 'बुद्धि' शब्दके उपर्युक्त दोनों अर्थोंपर हमेशा ध्यान रखना चाहिये। जब मनुष्य कुछ काम करने लगता है, तब उसके मनोव्यापारका क्रम इस प्रकार होता है :– पहले वह 'व्यवसायात्मिका' बुद्धींद्रियसे विचार करता है, कि यह कार्य अच्छा है या बुरा, करनेके योग्य है या नहीं; और फिर उस कर्मके करनेकी इच्छा या वासना (अर्थात् वासनात्मक बुद्धि) उत्पन्न होती है; और तब वह उक्त काम करनेके लिये प्रवृत्त हो जाता है। कार्य-अकार्यका निर्णय करना जिस (व्यवसायात्मिका) बुद्धींद्रियका व्यापार है, वह यदि स्वस्थ और शांत हो, तो मनमें निरर्थक अन्य वासनाएँ

(बुद्धि) उत्पन्न नहीं होने पाती और मनभी बिगड़ने नहीं पाता। अतएव गीता (गीता २. ४१) में कर्मयोगशास्त्रका प्रथम सिद्धान्त यह है, कि पहले व्यवसायात्मिका बुद्धिको शुद्ध और स्थिर रखना चाहिये। केवल गीताहीमें नहीं, किंतु कांटने * भी बुद्धिके इसी प्रकार दो भेद किये हैं, और शुद्ध अर्थात् व्यवसायात्मिका बुद्धिके एवं व्यावहारिक अर्थात् वासनात्मक बुद्धिके व्यापारोंका विवेचन दो स्वतंत्र ग्रंथोंमें किया है। वस्तुतः देखनेसे तो यही प्रतीत होता है, कि व्यवसायात्मिका बुद्धिको स्थिर करना पातंजल योगशास्त्रहीका विषय है; कर्मयोगशास्त्रका नहीं। किंतु गीताका सिद्धान्त है, कि कर्मका विचार करते समय उसकी परिणामकी ओर ध्यान देनेके पहले सिर्फ़ यही देखना चाहिये, कि कर्म करनेवालेकी वासना अर्थात् वासनात्मक बुद्धि कैसी है (गीता २. ४९)। और इस प्रकार जब वासनाके विषयमें विचार किया जाता है, तब प्रतीत होता है, कि जिसकी व्यवसायात्मिका बुद्धि स्थिर और शुद्ध नहीं रहती, उसके मनमें वासनाओंकी भिन्न भिन्न तरंगें उत्पन्न हुआ करती हैं। और इसी कारण कहा नहीं जा सकता, कि वे वासनाएँ सदैव शुद्ध और पवित्रही होंगी (गीता २. ४१)। जब कि वासनाएँही शुद्ध नहीं हैं, तब आगे कर्मभी शुद्ध कैसे हो सकता है? इसीलिये कर्मयोग शास्त्रमेंभी व्यवसायात्मिका कौनसे बुद्धिको शुद्ध, रखनेके लिये साधन अथवा उपाय हैं, इस बातका विस्तारपूर्वक विचार करनेकी आवश्यकता है; और इसी कारण भगवद्गीताके छठे अध्यायमें बुद्धिको शुद्ध करनेके लिये एक साधनके तौरपर पातंजलयोगका विवेचन किया गया है। परंतु इस संबंधपर ध्यान न दे कर कुछ सांप्रदायिक टीकाकारोंने गीताका यह तात्पर्य निकाला है, कि गीतामें केवल पातंजलयोगकाही प्रतिपादन किया गया है। अब पाठकोंके ध्यानमें यह बात आ जायगी, कि गीताशास्त्रमें 'बुद्धि' शब्दके उपर्युक्त दोनों अर्थोंपर और उन अर्थोंके परस्परसंबंधपर ध्यान देना कितने महत्त्व का है।

इस बातका वर्णन हो चुका, कि मनुष्यके अंतःकरणके व्यापार किस प्रकार हुआ करते हैं तथा उन व्यापारोंको देखते हुए मन और बुद्धिके कार्य कौन कौनसे हैं, और बुद्धि शब्दके कितने अर्थ होते हैं। मन और व्यवसायात्मिका बुद्धिको इस प्रकार पृथक् कर देनेपर अब देखना चाहिये, कि सदसद्विवेक-देवताका यथार्थ रूप क्या है? इस देवताका काम सिर्फ़ भले-बुरेका चुनाव करना है, अतएव इसका समावेश 'मन'में नहीं किया जा सकता; और किसीभी बातका विचार करके निर्णय करनेवाली व्यवसायात्मिका बुद्धि केवल एकही है; इसलिये सदसद्विवेक-रूप 'देवता'के लिये कोई स्वतंत्र स्थान नहीं रह जाता। हाँ, इसमें

---

* कांटने व्यवसायात्मिका बुद्धिको Pure Reason और वासनात्मक बुद्धिको Practical Reason कहा है।

संदेह नहीं, कि जिन बातोंका या विषयोंका सार-असार विवेक करके निर्णय करना पड़ता है, वे अनेक हो सकते हैं। जैसे व्यापार, लड़ाई, फौजदारी या दीवानी मुक़दमे, साहुकारी, कृषि आदि अनेक व्यवसायोंमें हर अवसरपर सार-असार-विवेक करना पड़ता है। परंतु इतनेहीसे यह नहीं कहा जा सकता, कि इनमें व्यवसायात्मिका बुद्धियाँभी भिन्न भिन्न अथवा कई प्रकारकी होती हैं। सार-असार-विवेक नामकी क्रिया सर्वत्र एकही है; और इसी कारण विवेक अथवा निर्णय करनेवाली बुद्धिभी एकही होनी चाहिये। परंतु मनके सदृश बुद्धिभी शरीरका धर्म है। अतएव पूर्वकर्मके अनुसार – पूर्वपरंपरागत या आनुवंशिक संस्कारोंके कारण, अथवा शिक्षा आदि अन्य कारणोंसे – यह बुद्धि कम या अधिक सात्त्विकी, राजसी या तामसी हो सकती है। यही कारण है, कि जो बात किसी एककी बुद्धिमें ग्राह्य प्रतीत होती है वही दूसरेकी बुद्धिमें अग्राह्य जँचती है। इतनेहीसे यह नहीं समझ लेना चाहिये, कि बुद्धि नामकी इंद्रियही प्रत्येक समय भिन्न भिन्न रहती है। आँख ही का उदाहरण लीजिये। किसीकी आँखें तिरछी रहती हैं, तो किसीकी भद्दी और किसीकी कानी; किसीकी दृष्टि मंद और किसीकी साफ़ रहती है। इससे हम यह कभी नहीं कहते, कि नेत्रेंद्रिय एक नहीं, अनेक हैं। यही न्याय बुद्धिके विषयमेंभी उपयुक्त होना चाहिये। जिस बुद्धिसे चावल अथवा गेहूँ जाने जाते हैं; जिस बुद्धिसे पत्थर और हीरेका भेद जाना जाता है; जिस बुद्धिसे काले-गोरे वा मीठे-कड़वेका ज्ञान होता है; वही इन सब बातोंके तारतम्यका विचार करके अंतिम निर्णयभी किया करती है, कि भय किसमें है, और किसमें नहीं; लाभ या हानि, धर्म अथवा अधर्म और कार्य अथवा अकार्यमें क्या भेद है, इत्यादि। साधारण व्यवहारमें 'मनोदेवता' कह कर उसका चाहे जितना गौरव किया जाय, तथापि तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे वह एकही व्यवसायात्मिका बुद्धि है। इसी अभिप्रायकी ओर ध्यान दे कर गीताके अठारहवें अध्यायमें एकही बुद्धिके तीन भेद (सात्त्विक, राजस और तामस) करके भगवानने अर्जुनको पहले यह बतलाया है कि :–

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

अर्थात् "सात्त्विक बुद्धि वह है, कि जिसे इन बातोंका यथार्थ ज्ञान है :– कौन-सा काम करना चाहिये और कौन-सा नहीं, काम करने योग्य है और कौन-सा अयोग्य, किस बातसे ड़रना चाहिये और किस बातसे नहीं, किसमें बंधन है और किसमें मोक्ष" (गीता १८. ३०)। इसके बाद यह बतलाया है कि –

यया धर्ममधर्मं च कार्यं च अकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥

अर्थात् "धर्म और अधर्म, अथवा कार्य और अकार्यका यथार्थ निर्णय जो बुद्धि नहीं कर सकती, यानी जो बुद्धि हमेशा भूल किया करती है, वह राजसी है" (गीता १८. ३१)। और अंतमें कहा है कि :-

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धि : सा पार्थ तामसी ।।

अर्थात् "अधर्मकोही धर्म माननेवाली, अथवा सब बातोंका विपरीत या उलटा निर्णय करनेवाली बुद्धि तामसी कहलाती है" (गीता १८. ३२)। इस विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है, कि केवल भले-बुरेका निर्णय करनेवाली, अर्थात् सद-सद्विवेक-बुद्धिरूप स्वतंत्र और भिन्न देवता गीताको संमत नहीं है। उसका अर्थ यह नहीं है, कि सदैव ठीक निर्णय करनेवाली बुद्धि होही नहीं सकती। उपर्युक्त श्लोकोंका भावार्थ यही है, कि बुद्धि एकही है, और ठीक ठीक निर्णय करनेका सात्त्विक गुण इसी एक बुद्धिमें पूर्वसंस्कारोंके कारण, शिक्षासे तथा इंद्रियनिग्रह अथवा आहार आदिके कारण उत्पन्न हो जाता है; और इन पूर्वसंस्कार-प्रभृति कारणोंके अभावसेही – वही बुद्धि जैसे कार्य-अकार्य-निर्णयके विषयमें वैसेही अन्य दूसरी बातोंमेंभी – राजसी अथवा तामसी हो सकती है। इस सिद्धान्तकी सहा-यतासे यह भली भाँति मालूम हो जाता है, कि चोर और साहकी बुद्धिमें, तथा भिन्न भिन्न देशोंके मनुष्योंकी बुद्धिमें भिन्नता क्यों हुआ करती है। परंतु ज़ब हम सदसद्विवेचन-शक्तिको स्वतंत्र देवता मानते हैं, तब उस विषयकी उपपत्ति ठीक ठीक सिद्ध नहीं होती। प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है, कि वह अपनी बुद्धिको सात्त्विक बनावे और यह काम इंद्रियनिग्रहके बिना हो नहीं सकता। जबतक व्यवसाया-त्मिका बुद्धि यह जाननेमें समर्थ नहीं है, कि मनुष्यका हित किस बातमें है; और जबतक वह उस बातका निर्णय परीक्षा किये बिनाही इंद्रियोंकी इच्छानुसार आचरण करती रहती है, तबतक वह बुद्धि 'शुद्ध' नहीं कही जा सकती। अतएव बुद्धिको मन और इंद्रियोंके अधीन नहीं होने देना चाहिये। किंतु ऐसा उपाय करना चाहिये, कि जिससे मन और इंद्रियाँ बुद्धिके अधीन रहें। भगवद्गीता (गीता २. ६७, ६८; ३. ७, ४१; ६. २४–२६) में यही सिद्धान्त अनेक स्थानोंमें बत-लाया गया है; और यही कारण है, कि कठोपनिषद्में शरीरको रथकी उपमा दी गई है; तथा यह रूपक बाँधा गया है, कि उस शरीररूपी रथमें जुते हुए इंद्रियाँरूपी घोड़ोंको विषयोभोगके मार्गमें अच्छी तरह चलानेके लिये (व्यवसाया-त्मिका) बुद्धिरूपी सारथीको मनोमय लगाम धीरतासे खींचे रहना चाहिये – (कठ. ३. ३–९)। महाभारत (मभा. बन. २१०. २५; स्त्री. ७. १३; अश्व. ५१. ५) मेंभी वही रूपक दो-तीन स्थानोंमें कुछ हेरफेरके साथ लिया गया है। इंद्रियनिग्रहके इस कार्यका वर्णन करनेके लिये उक्त दृष्टान्त इतना अच्छा है, कि ग्रीसके प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटोनेभी इंद्रियनिग्रहका वर्णन करते समय इसी

रूपकका उपयोग अपने ग्रंथमें किया है (फीड्रस २४६)। भगवद्गीतामें, यह दृष्टान्त प्रत्यक्ष रूपसे नहीं पाया जाता। तथापि इस विषयके संदर्भकी ओर जो ध्यान देगा, उसे यह बात अवश्य मालूम हो जायगी, कि गीताके उपर्युक्त श्लोकोंमें इंद्रियनिग्रहका वर्णन इस दृष्टान्तको लक्ष्य करकेही किया गया है। सामान्यतः अर्थात् जब शास्त्रीय सूक्ष्म भेद करनेकी आवश्यकता होती है, तब उसीको मनोनिग्रह कहते हैं। परंतु जब 'मन' और 'बुद्धि'में – जैसा कि ऊपर कह आये हैं – भेद किया जाता है, तब निग्रह करनेका कार्य मनको नहीं, किंतु व्यवसायात्मिका बुद्धिकोही करना पड़ता है। इस व्यवसायात्मिका बुद्धिको शुद्ध करनेके लिये – पातंजल-योगकी समाधि से, भक्तिसे, ज्ञानसे अथवा ध्यानसे परमेश्वरके यथार्थ स्वरूपको पहचान कर – यह तत्त्व पूर्णतया बुद्धिमें जम जाना चाहिये, कि "सब प्राणियोंमें एकही आत्मा है।" इसीको आत्मनिष्ठ बुद्धि कहते हैं। इस प्रकार जब व्यवसायात्मिका बुद्धि आत्मनिष्ठ हो जाती है और मनोनिग्रहकी सहायतासे मन और इंद्रियाँ उसकी अधीनतामें रह कर आज्ञानुसार आचरण करना सीख जाती हैं, तब इच्छा, वासना आदि मनोधर्म (अर्थात् वासनात्मक बुद्धि) आप-ही-आप शुद्ध और पवित्र हो जाते हैं; और शुद्ध सात्त्विक कर्मोंकी ओर देहेंद्रियोंकी सहजही प्रवृत्ति होने लगती है। अध्यात्म दृष्टिसे यही सब सदाचरणोंकी जड़ अर्थात् कर्मयोगशास्त्रका रहस्य है।

ऊपर किये गये विवेचनसे पाठक समझ जावेंगें, कि हमारे शास्त्रकारोंने मन और बुद्धिकी स्वाभाविक वृत्तियोंके अतिरिक्त सदसद्विवेक-शक्तिरूप स्वतंत्र देवताका अस्तित्व क्यों नहीं माना है। उनके मतानुसारभी मन या बुद्धिका गौरव करनेके लिये उन्हें 'देवता' कहनेमें कोई हर्ज़ नहीं है; परंतु तात्त्विक दृष्टिसे विचार करके उन्होंने निश्चित सिद्धान्त किया है, कि जिसे हम मन या बुद्धि कहते हैं, उससे भिन्न और स्वयंभू 'सदसद्विवेक' नामक किसी तीसरे देवताका अस्तित्व होही नहीं सकता। "सतां हि सन्देहपदेषु०" वचनके 'सतां' पदकी उपयुक्तता और महत्ताभी अब भली भाँति प्रकट हो जाती है। जिनके मन शुद्ध और आत्मनिष्ठ हैं, वे यदि अपने अंतःकरणकी गवाही लें, तो कोई अनुचित बात न होगी; अथवा यहभी कहा जा सकता है, कि किसी कामको करनेके पहले उनके लिये यही उचित है, कि वे अपने मनको अच्छी तरह शुद्ध करके उसीकी गवाही लिया करें। परंतु यदि कोई धूर्त कहने लगे, कि "मैंभी इसी प्रकार आचरण करता हूँ" तो यह कदापि उचित न होगा। क्योंकि, दोनोंकी सदसद्विवेचन-शक्ति एकही-सी नहीं होती। सत्पुरुषोंकी बुद्धि सात्त्विक और चोरोंकी तामसी होती है। सारांश, आधिदैवत पक्षवालोंका 'सदसद्विवेक-देवता' तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे स्वतंत्र देवता सिद्ध नहीं होता; किंतु हमारे शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है, कि वह तो व्यवसायात्मिका बुद्धिके स्वरूपोंहीमेंसे एक आत्मनिष्ठ अर्थात् सात्त्विक स्वरूप है। और जब

यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है, तब आधिदैवत पक्ष अपने आपही कमज़ोर हो जाता है।

जब सिद्ध हो गया, कि आधिभौतिक-पक्ष एकदेशीय तथा अपूर्ण है; और आधिदैवत पक्षका सहल युक्तिवादभी किसी कामका नहीं, तब यह जानना आवश्यक है, कि कर्मयोगशास्त्रकी उपपत्ति ढूँढ़नेके लिये कोई अन्य मार्ग है या नहीं। और उत्तरभी यह मिलता है, कि हाँ, मार्ग है; और उसीको आध्यात्मिक मार्ग कहते हैं। इसका कारण यह है, कि यद्यपि बाह्य कर्मोंकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है, तथापि जब सदसद्विवेक-बुद्धि नामक स्वतंत्र और स्वयंभू देवताका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता, तब कर्मयोगशास्त्रमेंभी इन प्रश्नोंका विचार करना आवश्यक हो जाता है, कि शुद्ध कर्म करनेके लिये बुद्धिको किस प्रकार शुद्ध रखना चाहिये; शुद्ध बुद्धि किसे कहते हैं; अथवा बुद्धि किस प्रकार शुद्ध की जा सकती है। और यह विचार केवल बाह्य सृष्टिका विचार करनेवाले आधिभौतिकशास्त्रोंको छोड़े बिना तथा अध्यात्मज्ञानमें प्रवेश किये बिना पूर्ण नहीं हो सकता। इस विषयमें हमारे शास्त्रकारोंका अंतिम सिद्धान्त यही है, कि जिस बुद्धिको आत्माका अथवा परमेश्वरके सर्वव्यापी यथार्थ स्वरूपका पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है, वह बुद्धि शुद्ध नहीं है। गीतामें अध्यात्मशास्त्रका निरूपण यही बतलानेके लिये किया गया है, कि आत्मनिष्ठ बुद्धि किसे कहना चाहिये। परंतु इस पूर्वापर-संबंधकी ओर ध्यान न देकर, गीताके कुछ सांप्रदायिक टीकाकारोंने यह निश्चय किया है, कि गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय वेदान्तही है। आगे चल कर यह बात विस्तारपूर्वक बतलाई जायगी, कि गीताके प्रतिपाद्य विषयके संबंधमें उक्त टीकाकारोंका यह निर्णय ठीक नहीं है। यहाँपर सिर्फ़ यही बतलाया है, कि बुद्धिको शुद्ध रखनेके लिये आत्माकाभी अवश्य विचार करना पड़ता है। आत्माके विषयमें यह विचार दो प्रकारोंसे किया जाता है :– (१) स्वयं अपने पिंड, क्षेत्र अथवा शरीरके और मनके व्यापारोंका निरीक्षण करके यह विवेचन करना, कि उस निरीक्षणसे क्षेत्रज्ञरूपी आत्मा कैसे उत्पन्न होता है (गीता अ. १३)। इसीको शारीरिक अथवा क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार कहते हैं; और इसी कारण वेदान्तसूत्रोंको शारीरिक (शरीरका विचार करनेवाले) सूत्र कहते हैं। स्वयं अपने शरीर और मनका इस प्रकार विचार होनेपर, (२) यह जानना होगा कि उस विवेचनसे निष्पन्न होनेवाला तत्त्व – और हमारे चारों ओर की दृश्यसृष्टि अर्थात् ब्रह्मांडके निरीक्षणसे निष्पन्न होनेवाला तत्त्व – दोनों एकही हैं अथवा भिन्न भिन्न हैं। इस प्रकार किये गये सृष्टिके निरीक्षणको क्षर-अक्षर-विचार अथवा व्यक्त-अव्यक्त विचार कहते हैं। सृष्टिके सब नाशवान् पदार्थोंको 'क्षर' या 'व्यक्त' कहते हैं; और सृष्टिके उन नाशवान् पदार्थोंमें जो सारभूत नित्य तत्त्व है, उसे 'अक्षर' या 'अव्यक्त' कहते हैं (गीता ८. २१; १५. १६)। क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार और क्षर-अक्षर-विचारसे प्राप्त होनेवाले

इन दोनों तत्त्वोंका फिरसे विचार करने पर प्रकट होता है, कि ये दोनों तत्त्व जिससे निष्पन्न हुए हैं और इन दोनोंके परे जो सबका मूलभूत एकतत्त्व है, उसीको 'परमात्मा' अथवा 'पुरुषोत्तम' कहते हैं (गीता ८. २०)। इन बातोंका विचार भगवद्‌गीतामें किया गया है; और अंतमें कर्मयोगशास्त्रकी उपपत्ति बतलानेके लिये यह दिखलाया गया है, कि मूलभूत परमात्मरूपी तत्त्वके ज्ञानसे बुद्धि किस प्रकार शुद्ध हो जाती है। अतएव उस उपपत्तिको अच्छी तरह समझ लेनेके लिये हमेंभी उन्हीं मार्गोंका अनुकरण करना चाहिये। इन मार्गोंमेंसे ब्रह्मांड-ज्ञान अथवा क्षर-अक्षर-विचारका विवेचन अगले प्रकरणमें किया जायगा। इस प्रकरणमें, सदसद्विवेक-देवताके यथार्थ स्वरूपका निर्णय करनेके लिये, पिंड-ज्ञान अथवा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका जो विवेचन आरंभ किया गया था, वह अधूराही रह गया है। इसलिये अब उसे पूरा कर लेना चाहिये।

पाँचभौतिक स्थूल देह, पाँच कर्मेंद्रियाँ, पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, इन ज्ञानेंद्रियोंके शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधात्मक पाँच विषय, संकल्प-विकल्पात्मक मन और व्यवसायात्मिका बुद्धि – इन सब विषयोंका विवेचन हो चुका। परंतु, इतनेहीसे शरीर-संबंधी विचारकी पूर्णता हो नहीं जाती। मन और बुद्धि केवल विचारके साधन अथवा इंद्रियाँ हैं। यदि जड़ शरीरमें इनके अतिरिक्त प्राणरूपी चेतना अर्थात् हलचल न हो, तो मन और बुद्धिका होना न होना बराबरही – अर्थात् किसी कामका नहीं – समझा जायगा। अर्थात्, शरीरमें उपर्युक्त बातोंके अतिरिक्त चेतना नामक एक और तत्त्वका भी समावेश होना चाहिये। कई बार 'चेतना' शब्दका अर्थ 'चैतन्य' किया जाता है पर, यह ध्यान रखना चाहिये कि यहाँपर 'चेतना' शब्दका अर्थ 'चैतन्य' नहीं माना गया है; वरन् " जड़ देहमें दृग्गोचर होनेवाली प्राणोंकी हलचल, चेष्टा या जीवितावस्थाका व्यवहार " सिर्फ़ यही अर्थ विवक्षित है। जिस चिद्‌शक्तिके द्वारा जड़ पदार्थोंमेंभी हलचल अथवा व्यापार उत्पन्न हुआ करता है, उसको चैतन्य कहते हैं; और अब इसी शक्तिके विषयमें विचार करना है। शरीरमें दृग्गोचर होनेवाले सजीवताके व्यापार अथवा चेतनाके अतिरिक्त जिस कारण 'मेरा-तेरा' यह भेद उत्पन्न होता है, वहभी एक भिन्न गुण है। उसका कारण यह है, कि उपर्युक्त विवेचनके अनुसार बुद्धि सार-असारका विचार करके केवल निर्णय करनेवाली एक इंद्रिय है; अतएव 'मेरा-तेरा' इस भेद-भावके मूलको अर्थात् अहंकारको उस बुद्धिसे पथकही मानना पड़ता है। इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख आदि द्वंद्व मनही के गुण हैं; परंतु नैयायिक इन्हें आत्माके गुण समझते हैं। इसीलिये इस भ्रमको हटानेके लिये वेदान्तशास्त्रने इसका समावेश मनहीं में किया है। इसी प्रकार जिन मूल तत्त्वोंसे पंचमहाभूत उत्पन्न हुए हैं, उन प्रकृतिरूप तत्त्वोंकाभी समावेश शरीरहीमें किया जाता है (गीता १३. ५, ६)। जिस शक्तिके द्वारा ये तत्त्व स्थिर रहते है, वहभी

इन सबसे न्यारी है। उसे धृति कहते हैं (गीता १८. ३३)। इन सब बातोंको एकत्र करनेसे जो समुच्चय-रूपी पदार्थ बनता है, उसे शास्त्रोंमें सविकार शरीर अथवा क्षेत्र कहा है; और व्यवहारमें इसे चलता-फिरता (सविकार) मनुष्य शरीर अथवा पिंड कहते हैं। क्षेत्र शब्दकी यह व्याख्या गीताके आधारपर की गई है; परंतु इच्छा-द्वेष आदि गुणोंकी गणना करते समय कभी इस व्याख्यामें कुछ कुछ हेरफेरभी कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, शांति-पर्वके जनक-सुलभा-संवादमें (मभा. शां. ३२०) शरीरकी व्याख्या करते समय पंचकर्मेंद्रियोंके बदले काल, सदसद्भाव, विधि, शुक्र और बलका समावेश किया गया है। इस गणनाके अनुसार पंचकर्मेंद्रियोंको पंचमहाभूतोंहीमें शामिल करना पड़ता है; और यह मानना पड़ता है, कि गीताकी गणनाके अनुसार कालका अंतर्भाव आकाशमें और विधि-शुक्र-बल आदियोंका अंतर्भाव अन्य महाभूतोमें अथवा प्रकृतिमें किया गया है। कुछभी हो; इसमें संदेह नहीं, कि क्षेत्र शब्दसे सब लोगोंको एकही अर्थ अभिप्रेत है। अर्थात्, मानसिक और शारीरिक सब द्रव्यों और गुणोंका प्राणरूपी विशिष्ट चेतनायुक्त जो समुदाय है, उसीको क्षेत्र कहते हैं। शरीर शब्दका उपयोग मृत देहके लियेभी किया जाता है, अतएव उस विषयका विचार करते समय 'क्षेत्र' शब्दहीका अधिक उपयोग किया जाता है; क्योंकि वह शरीर शब्दसे भिन्न है। 'क्षेत्र'का मूल अर्थ खेत है; परंतु प्रस्तुत प्रकरणमें 'सविकार और सजीव मनुष्य-देह'के अर्थमें उसका लाक्षणिक उपयोग किया गया है। पहले जिसे हमने 'बड़ा कारखाना' कहा है, वह यही "सविकार और सजीव मनुष्य देह" हैं। बाहरका माल इस कारखानेके भीतर लेनेके लिये और कारखानेके भीतरका माल बाहर भेजनेके लिये, ज्ञानेंद्रियाँ उस कारखानेके यथाक्रम द्वार हैं; और मन, बुद्धि, अहंकार एवं चेतना उस कारखानेमें काम करनेवाले नौकर हैं। ये नौकर जो कुछ व्यवहार कराते हैं या करते हैं, उन्हें इस क्षेत्रके व्यापार, विकार अथवा धर्म कहते हैं।

इस प्रकार 'क्षेत्र' शब्दका अर्थ निश्चित हो जानेपर यह प्रश्न सहजही उठता है, कि यह क्षेत्र अथवा खेत है किसका? इस कारखानेका कोई स्वामीभी है या नहीं? आत्मा शब्दका उपयोग बहुधा मन, अंतःकरण तथा स्वयं अपने लियेभी किया जाता है। परंतु उसका प्रधान 'अर्थ' 'क्षेत्रज्ञ' अथवा "शरीरका स्वामी"ही है। मनुष्यके जितने व्यापार हूआ करते हैं – चाहे वे मानसिक हों या शारीरिक – वे सब उसकी बुद्धि आदि अंतरिंद्रियाँ, चक्षु आदि ज्ञानेंद्रियाँ तथा हस्त-पाद आदि कर्मेंद्रियाँही किया करती हैं। इंद्रियोंके इस समूहमें बुद्धि और मन सबसे श्रेष्ठ हैं। परंतु, यद्यपि वे श्रेष्ठ हैं, तथापि अन्य इंद्रियोंके समान वेभी मूलतः जड़ देह वा प्रकृतिकेही विकार हैं (अगला प्रकरण देखो)। अतएव, यद्यपि मन और बुद्धि सर्वश्रेष्ठ हैं, तथापि उन्हें अपने अपने विशिष्ट व्यापारोंके

अतिरिक्त और कुछ करते धरते नहीं बनता; और कर सकना संभव भी नहीं है। यह सच है, कि मन चिंतन करता है और बुद्धि निश्चय करती है। परंतु इससे यह निर्णय नहीं होता कि इन कामोंको बुद्धि और मन किनके लिये करते हैं; अथवा भिन्न भिन्न समयपर मन और बुद्धिके जो पृथक् पृथक् व्यापार हुआ करते हैं, उनका एकत्र ज्ञान होनेके लिये जो एकता करनी पड़ती है, वह एकता या एकीकरण कौन करता है; तथा उसीके अनुसार आगे सब इंद्रियोंको अपना अपना व्यापार तदनुकूल करनेकी दिशा कौन दिखाता है? यह नहीं कहा जा सकता, कि यह सब काम मनुष्यका जड शरीरही किया करता है। इसका कारण यह है, कि जब शरीरकी चेतना अथवा हलचल करनेके सब व्यापार नष्ट हो जाते हैं, तब जड़ शरीरके बने रहने परभी वह इन कामोंको नहीं कर सकता; और जड़ शरीरके घटकावयव जैसे मांस, स्नायु इत्यादि तो अन्नके परिणाम हमेशा घिस जीर्ण होकर नित्य नये हो जाया करते हैं। इसलिये, "कल मैंने जिस अमुक एक बात देखी थी, वही मैं आज दूसरी देख रहा हूँ" इस प्रकारकी एकत्व-बुद्धिके विषयमें यह नहीं कहा जा सकता, कि वह नित्य बदलने-वाले जड शरीरकाही धर्म है। अच्छा; अब जड़ देह छोड़कर चेतनाकोही स्वामी मानें, तो यह आपत्ति दीख पड़ती है, कि गाढ निद्रामें प्राणादि वायुके श्वासोच्छ्वास प्रभृति व्यापार अथवा रुधिराभिसरण आदि व्यापार – अर्थात् चेतना – के स्थिर रहते हुएभी, 'मैं'का ज्ञान नहीं रहता (बृ. २. १. १५–१८)। अतएव यह सिद्ध होता है, कि चेतना – अथवा प्राण प्रभृतिका व्यापार – भी जड़ पदार्थमें उत्पन्न एक प्रकारका विशिष्ट गुण है और वह इद्रियोंके सब व्यापारोंकी एकता करनेवाली मूल शक्ति या स्वामी नहीं है (कठ. ५. ५)। 'मेरा' और 'पराया' इन संबंधकारक शब्दोंसे केवल अहंकाररूपी गुणका बोध होता है; परंतु इस बातका निर्णय नहीं होता, कि 'अहं' अर्थात् 'मैं' कौन हूँ। यदि इस 'मैं' या 'अहं'को केवल भ्रम मान लें, तो प्रत्येककी प्रतीति अथवा अनुभव वैसा नहीं है; और इस अनुभवको छोड़ कर किसी अन्य बातकी कल्पना करना मानों श्रीसमर्थ रामदास स्वामीके निम्न वचनोंकी सार्थकताही कर दिखाना है – "प्रतीतिके बिना कोईभी कथन अच्छा नहीं लगता। वह कथन ऐसा होता है, जैसे कुत्ता मूँह फैला कर रो गया हो!" (दा. ९. ५. १५)। उक्त अनुभवके विपरीत किसी बातको मान लेनेपरभी इंद्रियोंके व्यापारोंकी एकताकी उपपत्तिका कुछभी पता नहीं लगता। कई लोंगोकी राय है, कि 'मैं' कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, 'क्षेत्र' शब्दमें जिन – मन, बुद्धि, चेतना, जड़ देह आदि – तत्त्वोंका समावेश किया जाता है, उन सबके संघात या समुच्चयकोही 'मैं' कहना चाहिये। पर यह बात हम प्रत्यक्ष देखा करते हैं, कि लकड़ीपर लकड़ी रख देनेसेही संदूक नहीं बन जाता; अथवा किसी घड़ीके सब कील-पुर्जोंको एक स्थानमें रख देनेसेही उनमें गति उत्पन्न

नहीं हो जाती। अतएव यह नहीं कहा जा सकता, कि केवल संघात या समुच्चयसेही कर्तृत्व उत्पन्न होता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि क्षेत्रके सब व्यापार योंही – सिड़ी सरीखे नहीं होते। किंतु उनमें कोई विशिष्ट दिशा, उद्देश्य या हेतु रहता है। तो फिर इस क्षेत्ररूपी कारखानेमें काम करनेवाले मन, बुद्धि आदि सब नौकरोंको इस विशिष्ट दिशा या उद्देश्यकी ओर कौन प्रवृत्त करता है? संघातका अर्थ केवल समूह है। सब पदार्थोंको एकत्र करके उनके जोड़नेके लिये उनमें धागा डालना पड़ता है, नहीं तो वे फिर कभी-न-कभी अलग हो जायेंगे। अब हमें सोचना चाहिये, कि यह धागा कौन-सा है? यह बात नहीं है, कि गीताको संघात मान्य न हो; परंतु उसकी गणना क्षेत्रहीमें की जाती है (गीता १३. ६)। संघातसे इस बातका निर्णय नहीं होता, कि क्षेत्रका स्वामी अर्थात् क्षेत्रज्ञ कौन है। कुछ लोग समझते हैं, कि समुच्चयमें कोई नया गुण उत्पन्न हो जाता है। परंतु पहले तो यह मतही सत्य नहीं; क्योंकि तत्त्वज्ञोंने पूर्ण विचार करके सिद्धान्त कर दिया है, कि जो पहले किसीभी रूपमें अस्तित्वमें नहीं था, वह इस जगतमें नया उत्पन्न नहीं होता (गीता २. १६)। यदि हम इस सिद्धान्तको क्षणभरके लिये एक ओर धर दें, तोभी यह प्रश्न सहजही उपस्थित हो जाता है, कि संघातमें उत्पन्न होने-वाला यह नया गुणही क्षेत्रका स्वामी क्यों न माना जाय। इसपर कई अर्वाचीन आधिभौतिक शास्त्रज्ञोंका कथन है, कि द्रव्य और उसके गुण भिन्न भिन्न नहीं रह सकते; गुणके लिये किसी-न-किसी अधिष्ठानकी आवश्यकता होती है। इसी कारण समुच्चयोत्पन्न गुणके बदले हम समुच्चयहीको उस क्षेत्रका स्वामी मानते हैं। ठीक है; परंतु व्यवहारमेंभी 'अग्नि' शब्दके बदले लकड़ी, 'विद्युत्'के बदले मेघ, अथवा पृथ्वीकी 'आकर्षण-शक्ति'के बदले पृथ्वीही क्यों नहीं कहा जाता? यदि यह बात निर्विवाद सिद्ध है, कि क्षेत्रके सब व्यापार व्यवस्थापूर्वक और उचित रीतिसे मिल-जुलकर चलते रहनेके लिये – मन और बुद्धिके सिवा – किसी भिन्न शक्तिका अस्तित्व अत्यंत आवश्यक है। और यदि यह बात सच हो, कि उस शक्तिका अधिष्ठान अबतक हमारे लिये अगम्य है; अथवा उस शक्ति या अधिष्ठानका पूर्ण-स्वरूप ठीक ठीक नहीं बतलाया जा सकता है; तो यह कहना न्यायोचित कैसे हो सकता है, कि वह शक्ति हैही नहीं? जैसे कोईभी मनुष्य अपनेही कंधेपर बैठ नहीं सकता, वैसेंही यहभीं नहीं कहा जा सकता, कि संघातसंबंधी ज्ञान स्वयं संघातही प्राप्त कर लेता है। अतएव तर्ककी दृष्टिसेभी यही दृढ अनुमान किया जाता है, कि देहेंद्रिय आदि संघातके व्यापार जिसके उपभोग लाभके लिये हुआ करते हैं, वह संघातसे भिन्नही है। यह तत्त्व – जो कि संघातसे भिन्न है – स्वयं सब बातोंको जानता है। इसलिये यह बात सच है, कि सृष्टिके अन्य पदार्थोंके सदृश्य यह स्वयं अपनेही लिये 'ज्ञेय' अर्थात् गोचर हो नहीं सकता। परंतु उससे इसके अस्तित्वमें कुछ बाधा नहीं पड़

सकती। क्योंकि यह नियम नहीं है, कि सब पदार्थोंको एकही श्रेणी या वर्ग – जैसे ज्ञेय – में शामिल कर देना चाहिये। सब पदार्थोंके दो वर्ग या विभाग होते हैं; जैसे ज्ञाता और ज्ञेय – अर्थात् जाननेवाला और जाननेकी वस्तु। और जब कोई वस्तु दूसरे वर्ग (ज्ञेय)में शामिल नहीं होती, तब उसका समावेश पहले वर्ग (ज्ञाता)में हो जाता है। एवं उसका अस्तित्वभी ज्ञेय वस्तुके समानही पूर्णतया सिद्ध होता है। इतनाही नहीं; किंतु यहभी कहा जा सकता है, कि संघातके परे जो आत्मतत्त्व है, वह स्वयं ज्ञाता है। इसलिये उसको होनेवाले ज्ञानका यदि वह स्वयं विषय न हो, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। इसी अभिप्रायसे बृहदारण्यकोपनिषदमें याज्ञवल्क्यने कहा है, "अरे! जो सब बातोंको जानता है, उसको जाननेवाला दूसरा कहाँसे आ सकता है?" – विज्ञातारमरे केन विजायानीयात् (बृ. २. ४. १४)। अतएव, अंतमें यही सिद्धान्त कहना पड़ता है, कि इस चेतना-विशिष्ट सजीव शरीर अर्थात् क्षेत्रमें एक ऐसी शक्ति रहती है, जो हाथ-पैर आदि इंद्रियोंसे लेकर प्राण, चेतना, मन और बुद्धि जैसे परतंत्र एवं एकदेशीय नौकरोंकेभी परे है, और जो उन सबके व्यापारोंकी एकता करती है, और उनके कार्योंकी दिशा बतलाती है; अथवा जो उनके कर्मोंकी नित्य साक्षी रहकर उनसे भिन्न अधिक व्यापक और समर्थ है। सांख्य और वेदान्तशास्त्रोंको यह सिद्धान्त मान्य है; और अर्वाचीन समयमें जर्मन तत्त्वज्ञ कांटनेभी कहा है, कि बुद्धिके व्यापारोंका सूक्ष्म परीक्षण करनेसे यही तत्त्व निष्पन्न होता है। मन, बुद्धि, अहंकार और चेतना, ये सब शरीरके अर्थात् क्षेत्रके गुण अथवा अवयव हैं। इनका प्रवर्तक उससे भिन्न, स्वतंत्र और उसके परे है – "यो बुद्धेः परतस्तु सः" (गीता ३. ४२)। सांख्यशास्त्रमें इसीका नाम पुरुष है। वेदान्ती इसीको क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्रको जाननेवाला आत्मा कहते हैं। "मैं हूँ" यह प्रत्येक मनुष्यको होनेवाली उसकी प्रतीतिही उस आत्माके अस्तित्वका सर्वोत्तम प्रमाण है (वे. सू. शां. भा. ३. ३. ५३, ५४)। किसीको यह नहीं मालूम होता, कि "मैं नहीं हूँ"! इतनाही नहीं; किंतु मुखसे "मैं नहीं हूँ" शब्दोंका उच्चारण करते समयभी "नहीं हूँ" इस क्रियापदके कर्ताका – अर्थात् 'मैं'का – अथवा आत्माका अस्तित्व वह प्रत्यक्ष रीतिसे मानाही करता है। इस प्रकार 'मैं' इस अहंकारयुक्त सगुण रूपसे शरीरमें, स्वयं अपनेहीको व्यक्त होनेवाले आत्मतत्त्वके अर्थात् क्षेत्रज्ञके असली, शुद्ध और गुणविरहित स्वरूपका यथाशक्ति निर्णय करनेके लियेही वेदान्तशास्त्रकी उत्पत्ति हुई है। (गीता १३. ४)। तथापि यह निर्णय केवल शरीर अर्थात् क्षेत्रकाही विचार करके नहीं किया जाता। पहले कहा जा चुका है, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विचारके अतिरिक्त यहभी सोचना पड़ता है, कि बाह्यसृष्टि अर्थात् ब्रह्मांडका विचार करनेसे कौन-सा तत्त्व निष्पन्न होता है। ब्रह्मांडके इस विचारकाही नाम 'क्षर-अक्षर-विचार' है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारसे इस बातका निर्णय होता है, कि क्षेत्रमें (अर्थात् शरीर

या पिंडमें) कौन-सा मूलतत्त्व (क्षेत्रज्ञ या आत्मा) है; और क्षर-अक्षर-विचारसे वाह्य सृष्टिके अर्थात् ब्रह्मांडके मूल तत्त्वका ज्ञान होता है। जब इस प्रकार पिंड और ब्रह्मांडके मूल तत्त्वोंका पहले पृथक् पृथक् निर्णय हो जाता है, (आगें अधिक विचार किया जाएगा), वेदान्तशास्त्रमें यह सिद्धान्त किया जाता है,* कि ये दोनों तत्त्व एकरूप अर्थात् एकही हैं – यानी "जो पिंडमें है, वही ब्रह्मांडमें है। यही चराचर सृष्टिका अंतिम सत्य है।" पश्चिमी देशोंमेंभी इन बातोंकी चर्चा की गई है; औट कांट जैसे कुछ पश्चिमी तत्त्वज्ञोंके सिद्धान्त हमारे वेदान्तशास्त्रके सिद्धान्तोंसे बहुत कुछ मिलते-जुलतेभी हैं – जब हम इस बातपर ध्यान देते हैं, और जब हम यहभी देखते हैं, कि वर्तमान समयकी नाई प्राचीन कालमें आधिभौतिक शास्त्रकी उन्नति नहीं हुई थी; तब ऐसी अवस्थामें जिन लोगोंने अपनी अंतर्दृष्टिसे वेदान्तके अपूर्व सिद्धान्तोंको ढूंढ़ निकाला, उनके अलौकिक बुद्धिवैभवके बारेमें आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। और केवल आश्चर्यही नहीं होना चाहिये, किंतु हमें उनपर उचित अभिमानभी होना चाहिये।

---

* हमारे शास्त्रोंके क्षर-अक्षर-विचार और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारके वर्गीकरणसे ग्रीनसाहब परिचित न थे। तथापि, उन्होंने अपने *Prolegomena to Ethics* ग्रंथके आरंभमें अध्यात्मका जो विवेचन किया है, उसमें पहले Spiritual Principle in Nature और Spiritual Principle in Man इन दोनों तत्त्वोंका विचार किया है और फिर उनकी एकता दिखाई है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारमें Psychology आदि मानस-शास्त्रोंका, और क्षर-अक्षर-विचारमें Physics, Metaphysics आदि शास्त्रोंका समावेश होता है। इस बातको पश्चिमी पंडितभी मानते हैं, कि उक्त सब शास्त्रोंका विचार कर लेनेपरही आत्मस्वरूपका निर्णय करना पडता है।

सातवाँ प्रकरण

कापिलसांख्यशास्त्र अथवा क्षराक्षरविचार

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। *

— गीता १३. १९

पिछले प्रकरणमें यह बात बतला दी गई है, कि शरीर और शरीरके स्वामी या अधिष्ठाता – क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ – के विचारके साथही साथ दृश्य सृष्टि और उसके मूलतत्त्व – क्षर और अक्षर – काभी विचार करनेके पश्चात् फिर आत्माके स्वरूपका निर्णय करना पड़ता है। इस क्षर-अक्षर सृष्टिका योग्य रीतिसे वर्णन करनेवाले तीन शास्त्र हैं। पहला न्यायशास्त्र और दूसरा कापिलसांख्य-शास्त्र। परंतु इन दोनों शास्त्रोंके सिद्धान्तोंको अपूर्ण ठहरा कर वेदान्तशास्त्रने ब्रह्म-स्वरूपका निर्णय एक तीसरीही रीतिसे किया है। इस कारण वेदान्तप्रतिपादित उपपत्तिका विचार करनेके पहले हमें न्याय और सांख्यशास्त्रोंके सिद्धान्तोंपर विचार करना चाहिये। बादरायणाचार्यके वेदान्तसूत्रोंमें इसी पद्धतिसे काम लिया गया है; और न्याय तथा सांख्यके मतोंका दूसरे अध्यायमें खंडन किया गया है। यद्यपि इस विषयका यहाँपर विस्तृत वर्णन नहीं कर सकते, तथापि हमने उन बातोंका उल्लेख इस प्रकरणमें और अगले प्रकरणमें स्पष्ट कर दिया है, जिनकी भगवद्गीताका रहस्य समझनेमें आवश्यकता है। नैयायिकोंके सिद्धान्तोंकी अपेक्षा सांख्यवादियोंके सिद्धान्त अधिक महत्त्वके हैं। इसका कारण यह है, कि कणादके न्यायमतोंको किसीभी प्रमुख वेदान्तीने स्वीकार नहीं किया है, परंतु कापिलसांख्यशास्त्रके बहुतसे सिद्धान्तोंका उल्लेख मनु आदिके स्मृति-ग्रंथोंमें तथा गीतामेंभी पाया जाता है। यही बात बादरायणाचार्यनेभी (वे. सू. २. १. १२ और २. २. १७) कही है। इस कारण पाठकोंको सांख्यके सिद्धान्तोंका परिचय प्रथमही होना चाहिये। इसमें संदेह नहीं, कि वेदान्तमें सांख्यशास्त्रके बहुतसे सिद्धान्त पाये जाते हैं; परंतु स्मरण रहे, कि सांख्य और वेदान्तके अंतिम सिद्धान्त एक दूसरेसे बहुत भिन्न हैं। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है, कि वेदान्त और सांख्यके जो सिद्धान्त आपसमें मिलते जुलते हैं, उन्हें पहले किसने निकाला था – वेदान्तियोंने या सांख्यवादियोंने? परंतु इस ग्रंथमें इतने गहन विचारमें प्रवेश करनेकी आवश्यकता नहीं। फिरभी इस प्रश्नका उत्तर तीन प्रकारसे दिया

* "प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि जानो।"

जा सकता है। पहला यह, कि शायद उपनिषद् (वेदान्त) और सांख्य दोनोंकी वृद्धि, दो सगे भाइयोंके समान, साथही साथ हुई हो; और उपनिषदोंमें जो सिद्धान्त सांख्योंके मतोंके समान दीख पड़ते हैं, उन्हें उपनिषत्कारोंने स्वतंत्र रीतिसे खोज निकाला हो। दूसरा यह, कि कदाचित् कुछ सिद्धान्त सांख्यशास्त्रसे लेकर वेदान्तियोंने उन्हें वेदान्तके अनुकूल स्वरूप दे दिया हो। तीसरा यह कि प्राचीन वेदान्तके सिद्धान्तोंमेंही कपिलाचार्यने अपने मतके अनुसार कुछ परिवर्तन और सुधार करके सांख्यशास्त्रकी उपपत्ति कर दी हो। इन तीनोंमेंसे तीसरी बातही अधिक विश्वसनीय ज्ञात होती है; क्योंकि, यद्यपि वेदान्त और सांख्य दोनों बहुत प्राचीन हैं, तथापि उनमें वेदान्त या उपनिषद् सांख्यसेभी अधिक प्राचीन (श्रौत) हैं। अस्तु; यदि पहले हम न्याय और सांख्यके सिद्धान्तोंको अच्छी तरह समझ लें तो फिर वेदान्तके – विशेषतः गीता-प्रतिपादित वेदान्तके – तत्त्व जल्दी समझमें आ जायेंगे। इसलिये पहले हमें इस बातका विचार करना चाहिये, कि इन दो स्मार्त शास्त्रोंका, क्षर-अक्षर-सृष्टिकी रचनाके विषयमें क्या मत है।

बहुतेरे लोक न्यायशास्त्रका यही उपयोग समझते हैं, कि किसी विवक्षित अथवा गृहीत बातसे तर्कके द्वारा कौन-कौन-से अनुमान निकाले जावें और कैसे? और यह निर्णय कैसे किया जावें, कि इन अनुमानोंमेंसे कौन-से सही हैं और कौन-से गलत हैं। परंतु यह भूल है। अनुमानादि प्रमाणखंड न्यायशास्त्रका एक भाग है सही; पर क्यों? परंतु यही उसका प्रधान विषय नहीं है, तो प्रमाणोंके अतिरिक्त, सृष्टिकी अनेक वस्तुओंका यानी प्रमेय पदार्थोंका वर्गीकरण करके नीचेके वर्गसे ऊपरके वर्गकी ओर चढ़ते जानेसे सृष्टिके सब पदार्थोंके मूल वर्ग कितने हैं, उनके गुण-धर्म क्या हैं, उनसे अन्य पदार्थोंकी उत्पत्ति कैसे हुई है, और ये बातें किस प्रकार सिद्ध हो सकती हैं, इत्यादि अनेक प्रश्नोंकाभी विचार न्यायशास्त्रमें किया गया है। अतः यही कहना उचित होगा, कि यह शास्त्र केवल अनुमानखंडका विचार करनेके लिये नहीं; वरन् उक्त प्रश्नोंका विचार करनेहीके लिये निर्माण किया गया है। कणादके न्यायसूत्रोंका आरंभ और आगेकी रचनाभी इसी प्रकारकी है। कणादके अनुयायियोंको कणाद कहते हैं। इन दोनोंका कहना है, कि जगतका मूल कारण परमाणुही है। परमाणुके विषयमें कणादकी और पश्चिमी भौतिक-शास्त्रज्ञोंकी व्याख्या एक-सी समानही है। किसीभी पदार्थका विभाग करते करते अंतमें जब विभाग नहीं हो सकता, तब उसे परमाणु (आधिपरम + अणु) कहना चाहिये। जैसे जैसे ये परमाणु एकत्र होते जाते हैं, वैसे वैसे संयोगके कारण उनमें नये नये गुण उत्पन्न होते हैं; और भिन्न भिन्न पदार्थ बनते जाते हैं। मन और शरीरकेभी परमाणु होते हैं; और जब वे एकत्र होते हैं तव चैतन्यकी उत्पत्ति होती है। पृथ्वी, जल, तेज और वायुके परमाणु स्वभावहीसे पृथक् पृथक् हैं। पृथ्वीके मूलपरमाणुमें चार गुण (रूप, रस, गंध, स्पर्श) हैं;

पानीके परमाणुमें तीन गुण हैं, तेजके परमाणुमें दो गुण हैं और वायुके परमाणुमें एकही गुण है। इस प्रकार सब जगत् पहलेसेही सूक्ष्म और नित्य परमाणुओंसे भरा हुआ है। परमाणुओंके सिवा संसारका मूल कारण और कुछभी नहीं है। जब सूक्ष्म और नित्य परमाणुओंके परस्पर संयोगका 'आरंभ' होता है, तब सृष्टिके व्यक्त पदार्थ बनने लगते हैं। नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित व्यक्त सृष्टिकी उत्पत्तिके संबंधकी इस कल्पनाको 'आरंभ-वाद' कहते हैं और कुछ नैयायिक इसके आगे कभी नहीं बढ़ते। एक नैयायिकके बारेमें कहा जाता है, कि मृत्युके समय जब उससे ईश्वरका नाम लेनेको कहा गया, तब वह "पीलवः! पीलवः! पीलवः!" – परमाणु! परमाणु! परमाणु! – चिल्ला उठा। तथापि, कुछ दूसरे नैयायिक यह मानते हैं, कि परमाणुओंके संयोगका निमित्तकारण ईश्वर है! इस प्रकार वे सृष्टिकी कारण-परंपराकी शृंखलाको पूर्ण कर लेते हैं। ऐसे नैयायिकोंको 'सेश्वर' कहते हैं। वेदान्तसूत्रके दूसरे अध्यायके दूसरे पादमें इस परमाणुवादका (२. २. ११–१७) और इसके साथही साथ "ईश्वर केवल निमित्तकारण है" इस मतकाभी (२. २. ३७–३९) खंडन किया गया है।

उल्लिखित परमाणुवादका वर्णन पढ़कर अंग्रेजी पढ़े-लिखे पाठकोंको अर्वाचीन रसायनशास्त्रज्ञ डाल्टनके परमाणुवादका अवश्यही स्मरण होगा। परंतु पश्चिमी देशोंमें प्रसिद्ध सृष्टिशास्त्रज्ञ डार्विनके उत्क्रान्तिवादने जिस प्रकार डाल्टनके परमाणुवादकी जड़ही उखाड़ दी है, उसी प्रकार हमारे देशमेंभी प्राचीन समयमें सांख्य-मतने कणादके मतकी बुनियाद हिला डाली थी। कणाद और उसके अनुयायी यह नहीं बतला सकते, कि मूल परमाणुको गति कैसे मिली। इसके अतिरिक्त वे लोग इस बातकाभी यथोचित निर्णय नहीं कर सकते, कि वृक्ष, पशु, मनुष्य इत्यादि सचेतन प्राणियोंकी क्रमशः बढ़ती हुई श्रेणियाँ कैसे बनी; और अचेतनको सचेतनता कैसे प्राप्त हुई। यह निर्णय पश्चिमी देशोंमें उन्नीसवी सदीमें लामार्क और डार्विनने, तथा हमारे यहाँ प्राचीन समयमें कपिलमुनिने किया है। दोनों मतोंका यही तात्पर्य है, कि एकही मूलपदार्थके गुणोंका विकास हुआ; और फिर धीरे धीरे सब सृष्टिकी रचना होती गई। इस कारण पहले हिंदुस्थानमें, और अब सब पश्चिमी देशोंमेंभी, परमाणुवादपर विश्वास नहीं रहा है। अब तो आधुनिक पदार्थशास्त्रज्ञोंने यहभी सिद्ध कर दिखाया है, कि परमाणु आविभाज्य नहीं हैं। आजकल जैसे सृष्टिके अनेक पदार्थोंका पृथक्करण और परीक्षण करके अनेक सृष्टिशास्त्रोंके आधारपर परमाणुवाद या उत्क्रांतिवादको सिद्ध कर दे सकते हैं, वैसे प्राचीन समयमें नहीं कर सकते थे। सृष्टिके पदार्थोंपर नये नये और भिन्न भिन्न प्रयोग करना, अथवा अनेक प्रकारसे उनका पृथक्करण करके गुण-धर्म निश्चित करना, या सजीव सृष्टिके नये पुराने अनेक प्राणियोंके शारीरिक अवयवोंकी एकत्र तुलना करना इत्यादि आधिभौतिक शास्त्रोंकी अर्वाचीन युक्तियाँ

कणाद या कपिलको मालूम नहीं थीं। उस समय उनकी दृष्टिके सामने जितनी सामग्री थी, इसीके आधारपर उन्होंने अपने अपने सिद्धान्त ढूँढ निकाले हैं। तथापि, यह आश्चर्यकी बात है, कि सृष्टिकी वृद्धि और उसकी घटनाके विषयमें सांख्य-शास्त्रकारोंके तात्त्विक सिद्धान्तमें और अर्वाचीन आधिभौतिक शास्त्रकारोंके तात्त्विक सिद्धान्तमें, बहुत-सा भेद नहीं है। इसमें संदेह नहीं, कि सृष्टिशास्त्रके ज्ञानकी वृद्धिके कारण वर्तमान समयमें इस मतकी आधिभौतिक उपपत्तिका वर्णन अधिक नियमबद्ध प्रणालीसे किया जा सकता है; और आधिभौतिक ज्ञानकी वृद्धिके कारण हमें व्यवहारकी दृष्टिसेभी बहुत लाभ हुआ है। परंतु आधि-भौतिक शास्त्रकारभी "एकही अव्यक्त प्रकृतिसे अनेक प्रकारकी व्यक्त सृष्टि कैसे हुई" इस विषयमें कपिलकी अपेक्षा कुछ अधिक नहीं बतला सकते। इस बातको भली भाँति समझा देनेके लियेही हमने आगे चल कर, बीचमें स्थान-स्थान-पर, कपिलके सिद्धान्तोंके साथ साथ, हेकेलके सिद्धान्तोंकाभी, तुलनाके लिये संक्षिप्त वर्णन किया है। हेकेलने अपने ग्रंथमें साफ साफ़ लिख दिया है, कि मैंने ये सिद्धान्त कुछ नये सिरेसे नहीं खोजे हैं; वरन्, डार्विन, स्पेन्सर इत्यादि पिछले आधिभौतिक पंडितोंके ग्रंथोंके आधारसेही मैं अपने सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करता हूँ। तथापि पहले पहल उसीने इन सब सिद्धान्तोंको ठीक ठीक नियमानुसार लिख कर सरलतापूर्वक इनका एकत्र वर्णन "विश्वकी पहेली"* नामक ग्रंथमें किया है। इस कारण, सुभीतेके लिये, हमने उसेही सब आधिभौतिक तत्त्वज्ञोंका मुखिया माना है; और उसीके मतोंका इस प्रकरणमें तथा अगले प्रकरणमें विशेष उल्लेख किया है। कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि यह उल्लेख बहुतही संक्षिप्त है; परंतु इससे अधिक इन सिद्धान्तोंका विवेचन इस ग्रंथमें नहीं किया जा सकता। जिन्हें इस विषयका विस्तृत वर्णन पढ़ना हो, उन्हें स्पेन्सर, डार्विन, हेकेल आदि पंडितोंके मूल ग्रंथोंका अवलोकन करना चाहिये।

कपिलके सांख्यशास्त्रका विचार करनेके पहले यह कह देना उचित होगा, कि 'सांख्य' शब्दके दो भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं। पहला अर्थ कपिलाचार्य द्वारा प्रतिपादित 'सांख्यशास्त्र' है। उसीका उल्लेख इस प्रकरणमें, तथा एक बार भगवद्-गीता (गीता १८. १३) मेंभी किया गया है। परंतु इस विशिष्ट अर्थके सिवा सब प्रकारके तत्त्वज्ञानकोभी सामान्यतः 'सांख्य'ही कहनेकी परिपाटी है; और इसी 'सांख्य' शब्दमें वेदान्तशास्त्रकाभी समावेश होता है। 'सांख्यनिष्ठा'। अथवा 'सांख्ययोग' शब्दोंमें 'सांख्य'का यही सामान्य अर्थ अभीष्ट है। इस निष्ठाके ज्ञानी पुरुषोंकोभी भगवद्गीतामें जहाँ (गीता २. ३९; ३. ३; ५. ४, ५; और १३. २४)

---

* *The Riddle of the Universe*, by Ernst Haeckel इस ग्रंथकी R. P. A. Cheap reprint आवृत्तिकाही हमने सर्वत्र उपयोग किया है।

'सांख्य' कहा है, वहाँ सांख्यका अर्थ केवल कापिल सांख्यमार्गीही नहीं है; वरन् उसमें, आत्म-अनात्म-विचारसे सब कर्मोंका संन्यास करके ब्रह्मज्ञानहीमें निमग्न रहनेवाले वेदान्तियोंकाभी समावेश किया जाता है। शब्दशास्त्रज्ञोंका कथन है, कि 'सांख्य' शब्द 'संख्या' धातुसे बना है। इसलिये इसका पहला अर्थ 'गिननेवाला' है, और कापिलशास्त्रके मूल तत्त्व इनेगिने 'पचीस'ही हैं। इसलिये उन्हें 'गिननेवालेके' अर्थमें यह विशिष्ट 'सांख्य' नाम पहले दिया गया। अनंतर 'सांख्य' शब्दका अर्थ बहुत व्यापक हो गया; और उसमें सब प्रकारके तत्त्वज्ञाका समावेश होने लगा। यही कारण है, कि जब पहले पहल कापिल – भिक्षुओंको 'सांख्य' कहनेकी परिपाठी प्रचलित हो गई, तब वेदान्ती संन्यासियोंकोभी यही नाम दिया जाने लगा होगा। कुछभी हो; इस प्रकरणका, हमने जानबूझकर, यह लंबा-चौड़ा 'कापिलसांख्यशास्त्र' नाम इसलिये रखा है, कि सांख्य शब्दके उक्त अर्थभेदके कारण कुछ गड़बड़ी न हो। कापिलसांख्यशास्त्रमेंभी कणादके न्यायशास्त्रके समान सूत्र हैं। परंतु गौडपादाचार्य या शारीर-भाष्यकार श्री शंकराचार्यने इन सूत्रोंका आधार अपने ग्रंथोंमें नहीं लिया है। इसलिये बहुतेरे विद्वान् समझते हैं, कि ये सूत्र कदाचित् प्राचीन न हों। ईश्वरकृष्णकी 'सांख्यकारिका' उक्त सूत्रोंसे प्राचीन मानी जाती है; और उसपर श्री शंकराचार्यके दादागुरु गौडपादने भाष्य लिखा है। शांकर-भाष्यमेंभी इसी कारिकाके कुछ अवतरण लिये हैं। सन ५७० ईसवीसे पहले इस ग्रंथका जो अनुवाद चीनी भाषामें हुआ था, वह इस समय उपलब्ध है।* ईश्वरकृष्णने अपनी 'कारिका'के अंतमें कहा है, कि 'षष्टितंत्र' नामक साठ प्रकरणोंके एक प्राचीन और विस्तृत ग्रंथका भावार्थ (कुछ प्रकरणोंको छोड़) सत्तर आर्या-पद्योंमें इस ग्रंथमें दिया गया है। यह षष्टितंत्र ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं है। इसीलिये उन कारिकाओंके आधारपरही कापिल-सांख्यशास्त्रके मूल सिद्धान्तोंका विवेचन हमने यहाँ किया है। महाभारतमें सांख्य-

---

* अब बौद्ध ग्रंथोंसे ईश्वरकृष्णका बहुत कुछ हाल जाना जा सकता है। बौद्ध पंडित वसुबंधुका गुरु ईश्वरकृष्णका समकालीन प्रतिपक्षी था। वसुबंधुका जो जीवन चरित, परमार्थने (सन ई. ४९९–५६९ में) चीनी भाषामें लिखा था, वह अव प्रकाशित हुआ है। इससे डॉक्टर टककसूने यह अनुमान किया है, कि ईश्वरकृष्णका समय सन ४५० ई. के लगभग है। *Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain & Ireland*, 1905, pp. 33-53. परंतु डॉक्टर विन्सेंट स्मिथकी राय है कि, स्वयं वसुबंधुका समयही चौथी सदीमें (लगभग २८०–३६०) होना चाहिये। क्योंकि उसके ग्रंथोंका अनुवाद सन ४०४ ईसवीमें चीनी भाषामें हुआ है। वसुबंधुका समय इस प्रकार जब पीछे हट जाता है, तब उसी प्रकार ईश्वरकृष्णका समयभी करीब २०० वर्ष पीछे हटाना पड़ता है; अर्थात् सन २४० ईसवीके लगभग ईश्वरकृष्णका समय आ पहुँचता है। Vincent Smith's *Early History of India*, 3rd. Ed., P. 328.

मतका निर्णय कई अध्यायोंमें किया गया है। परंतु उनमें वेदान्त-मतोंकाभी मिश्रण हो गया है; इसलिये कपिलके शुद्ध सांख्य-मतको जाननेके लिये दूसरे ग्रंथोंकोभी देखनेकी आवश्यकता होती है। इस कामके लिये उक्त सांख्यकारिकाकी अपेक्षा कोईभी अधिक प्राचीन ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं है। भगवानने भगवद्गीतामें कहा है, कि " सिद्धानां कपिलो मुनिः " (गीता १०. २६) – सिद्धोंमेंसे कपिलमुनि मैं हूँ; – इससे कपिलकी योग्यता भली भाँति सिद्ध होती है। तथापि यह बात मालूम नहीं, कि कपिल ऋषि कहाँ और कब हुए। शांतिपर्व (मभा. शां. ३४०. ६७) में एक जगह लिखा है, कि सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, सन, सनत्सुजात, सनातन और कपिल ये सातों ब्रह्मदेवके मानसपुत्र हैं और इन्हें जन्महीसे ज्ञान हो गया था। दूसरे स्थान (मभा. शां. २१८)में कपिलके शिष्य आसुरि और उसके चेले पंचशिखने जनकको सांख्यशास्त्रका जो उपदेश दिया था उसका उल्लेख है। इसी प्रकार शांतिपर्व (मभा. शां. ३०१. १०८, १०९)में भीष्मने कहा है, कि सांख्योंने सृष्टि-रचना इत्यादिके बारेमें एक बार जो ज्ञान प्रचलित कर दिया है, वही "पुराण, इतिहास, अर्थशास्त्र" आदि सबमें पाया जाता है। वही क्यों; यहाँतक कहा गया है, कि " ज्ञानं च लोके यदहास्ति किंचित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन् " – अर्थात् इस जगतका सब ज्ञान सांख्योंसेही प्राप्त हुआ है (मभा. शां. ३०१. १०९)। यदि इस बातपर ध्यान दिया जाय, कि वर्तमान समयमें पश्चिमी ग्रंथकार उत्क्रांतिवादका उपयोग सब जगह कैसे किया करते हैं; तो यह बात आश्चर्यजनक नहीं मालूम होती, कि इस देशके निवासियोंनेभी उत्क्रांतिवादकी बराबरीके संख्याशास्त्रका सर्वत्र कुछ अंशमें स्वीकार किया है। 'गुरुत्वाकर्षण' सृष्टिरचनाके 'उत्क्रांतितत्त्व'* या 'ब्रह्मात्मैक्य'के समान उदात्त विचार सैकडों बरसोंके बादही किसी महात्माके ध्यानमें आया करते हैं। इसलिये यह बात सामान्यतः सभी देशोंके ग्रंथोंमें पाई जाती है, कि जिस समय जो सामान्य सिद्धान्त या व्यापक तत्त्व समाजमें प्रचलित रहता है, उसके आधारपरही किसी ग्रंथके विषयका प्रतिपादन किया जाता है।

आजकल कापिलसांख्यशास्त्रका अभ्यास प्रायः लुप्त हो गया है, इसीलिये यह प्रस्तावना करनी पड़ी। अब हम यह देखेंगे, कि इस शास्त्रके मुख्य सिद्धान्त कौन-से हैं। सांख्यशास्त्रका पहला सिद्धान्त यह है, कि इस संसारमें कोईभी नई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि, शून्यसे – अर्थात् जो पहले थाही नहीं उससे –

---

* Evolution Theory के अर्थमें 'उत्क्रांति-तत्त्व' का उपयोग आजकल किया जाता है, इसलिये हमनेभी यहाँ उसी शब्दका प्रयोग किया है। परंतु संस्कृतमें 'उत्क्रांति' शब्द का अर्थ मृत्यु है। इस कारण 'उत्क्रांति'के बदले गुणविकास, गुणोत्कर्ष, या गुणपरिणाम आदि सांख्यवादियोंके शब्दोंका उपयोग करना हमारी समझमें अधिक योग्य होगा।

शून्यको छोड़ और कुछभी प्राप्त हो नहीं सकता। इसलिये यह बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये, कि उत्पन्न वस्तुमें – अर्थात् कार्यमें – जो गुण दीख पड़ते हैं, वे गुण जिससे यह वस्तु उत्पन्न हुई है, उसमें (अर्थात् कारणमें) सूक्ष्म रीतिसे तो अवश्य होनेही चाहिये (सां. का. ९)। बौद्ध और काणाद यह मानते हैं, कि पदार्थका नाश हो कर उससे दूसरा नया पदार्थ बनता है। उदाहरणार्थ, बीजका नाश होनेके बाद उससे अंकुर और अंकुरका नाश होनेके बाद उससे पेड़ होता है। परंतु सांख्य-शास्त्रियों और वेदान्तियोंको यह मत पसंद नहीं है। वे कहते हैं, कि वृक्षके बीजमें जो 'द्रव्य' हैं उनका नाश नहीं होता; किंतु वेही द्रव्य जमीनसे और वायुसे दूसरे द्रव्योंको खींच लिया करते हैं; और इसी कारणसे बीजको अंकुरका नया स्वरूप या अवस्था प्राप्त हो जाती है (वे. सू. शां. भा. २. १. १८)। इसी प्रकार जब लकड़ी जलती है, तब उसकेही राख या धुआँ आदि रूपांतर हो जाते हैं। लकड़ीके मूल 'द्रव्यों'का नाश हो कर धुआँ नामक कोई नया पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। छांदोग्योपनिषद् (छां. ६. २. १) में कहा है, "कथमसतः सज्जायेत" – जो है ही नही – उससे जो है – वह कैसे प्राप्त हो सकता है? जगतके मूल कारणके लिये 'असत्' शव्दका उपयोग कभी कभी उपनिषदोंमें किया गया है, (छां. ३. १९. १; तै. २. ७. १); परंतु यहाँ 'असत्'का अर्थ 'अभाव नहीं' नहीं है; किंतु वेदान्तसूत्रों (वे. सू. २. १. १६, १७) में यह निश्चय किया गया है, कि 'असत्' शब्दसे केवल नामरूपात्मक व्यक्त स्वरूप या अवस्थाका अभावही विवक्षित है। दूधसेही दही बनता है, पानीसे नहीं; तिलसेही तेल निकलता है, वालूसे नहीं; इत्यादि प्रत्यक्ष देखे हुए अनुभवोंसेभी यही सिद्धान्त प्रकट होता है। यदि हम यह मान लें, कि 'कारण' में जो गुण नहीं हैं, वे 'कार्य'में स्वतंत्र रीतिसे उत्पन्न होते हैं; तो फिर हम इसका कारण नहीं बतला सकते, कि पानीसे दही क्यों नहीं बनता? सारांश यह है, कि जो मूलमें हैही नहीं, उससे अभी जो अस्तित्वमें है, वह उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिये सांख्यवादियोंने यह सिद्धान्त निकाला है, कि किसी कार्यके वर्तमान द्रव्यांश और गुण मूल कारणमेंभी किसी न किसी रूपसे स्थिर रहते हैं। इसी सिद्धान्तको **'सत्कार्यवाद'** कहते हैं। अर्वाचीन पदार्थ-विज्ञानके ज्ञाताओंनेभी यही सिद्धान्त ढूँढ़ निकाला है, कि पदार्थोंके जड़ द्रव्य और कर्मशक्ति दोनों सर्वदा स्थिर रहते हैं। और किसी पदार्थके चाये जितने रूपांतर हो जायें; तोभी अन्तमें सृष्टिके कुल द्रव्यांशका और कर्मशक्तिका जोड़ हमेशा एकसा बना रहता है। उदाहरणार्थ, जब हम दीपकको जलता देखते है, तब तेलभी धीरे धीरे कम होता जाता है; और अंतमें वह नष्ट हुआसा दीख पड़ता है। यद्यपि यह सब तेल जल जाता है, तथापि उसके परमाणुओंका बिलकुलही नाश नहीं हो जाता। उन परमाणुओंका अस्तित्व धुएँ या काजल या अन्य सूक्ष्म द्रव्योंके रूपमें बना रहता है। यदि हम इन सूक्ष्म द्रव्योंको एकत्र करके तौलें तो मालम

होगा, कि उनका तौल या वज़न तेल और तेलके जलते समय उसमें मिले हुए वायुके पदार्थोंके तौलके बराबर होता है। अब तो यहभी सिद्ध हो चुका है, कि उक्त नियम कर्मशक्तिके विषयमेंभी लगाया जा सकता है। यह बात याद रखनी चाहिये, कि यद्यपि आधुनिक पदार्थविज्ञानशास्त्रका और सांख्यशास्त्रका सिद्धान्त दिखनेमें एक-सा है, फिरभी सांख्यशास्त्रका सिद्धान्त केवल एक पदार्थसे दूसरे पदार्थकी उत्पत्तिके विषयमें – अर्थात् सिर्फ़ कार्य-कारण-भावहीके संबंधमें उपयुक्त होता है। परंतु, अर्वाचीन पदार्थविज्ञानशास्त्रका सिद्धान्त इससे अधिक व्यापक है। 'कार्य'का कोईभी गुण 'कारण'के बाहरके गुणोंसे उत्पन्न नहीं हो सकता। इतनाही नहीं; किंतु जब कारणको कार्यका स्वरूप प्राप्त होता है, तब उस कार्यमें रहनेवाले द्रव्यांश और कर्म-शक्तिका कुछभी नाश नहीं होता और पदार्थकी भिन्न भिन्न अवस्थाओंके द्रव्यांश और कर्मशक्तिके जोड़का वज़नभी सदैव एकही-सा रहता है – न तो वह घटता है और न बढ़ता है। यह बात प्रत्यक्ष प्रयोगसे गणितके द्वारा सिद्ध कर दी गई है और यही उक्त दोनों सिद्धान्तोंकी महत्त्वकी विशेषता है। इस प्रकार जब हम विचार करते हैं, तो हमें जान पड़ता हैं, कि भगवद्गीताके "नासतो विद्यते भावः" – जो रही नहीं, उसका कभीभी अस्तित्व हो नहीं सकता – इत्यादि सिद्धान्त जो दूसरे अध्यायके आरंभमें दिये हैं (गीता २. १६), वे यद्यपि देखनेमें सत्कार्यवादके समान दीख पड़े, तोभी उनकी समता केवल कार्यकारणात्मक सत्कार्यवादकी अपेक्षा अर्वाचीन पदार्थ-विज्ञानशास्त्रके सिद्धान्तोके साथ अधिक है। छांदोग्योपनिषद्के उपर्युक्त वचनकाभी यही भावार्थ है। सारांश, सत्कार्यवादका सिद्धान्त वेदान्तियोंको मान्य है; परंतु अद्वैत वेदान्तशास्त्रका मत है, कि इस सिद्धान्तका उपयोग सगुण सृष्टिके परे नहीं किया जा सकता। और निर्गुणसे सगुणकी उत्पत्ति कैसे दीख पड़ती है इस बातकी उपपत्ति औरही प्रकारसे लगानी चाहिये। इस वेदान्त-मतका विचार आगे चलकर अध्यात्म-प्रकरणमें विस्तृत रीतिसे किया जायगा। इस समय तो हमें सिर्फ़ यही विचार करना है, कि सांख्यवादियोंकी पहुँच कहाँतक है। इसलिये अब हम इस वातका विचार करेंगे, कि सत्कार्यवादका सिद्धान्त मानकर सांख्योंने क्षर-अक्षर शास्त्रमें उसका उपयोग कैसे किया है।

सांख्यमतानुसार जब सत्कार्यवाद सिद्ध हो जाता है, तब यह मत आप-ही-आप गिर जाता है, कि दृश्यसृष्टिकी उत्पत्ति शून्यसे अर्थात् किसी पदार्थके पहले न रहते हुई है। क्योंकि, शून्यसे अर्थात् जो कुछभी नहीं है, उससे जो "अस्तित्वमें हैं" वह उत्पन्न नहीं हो सकता। इस बातसे यह साफ़ साफ़ सिद्ध होता है, कि सृष्टि किसी-न-किसी पदार्थसे उत्पन्न हुई है और इस समय सृष्टिमें जो गुण हमें दीख पड़ते हैं, वेही इसके मूलपदार्थमेंभी होने चाहिये। अब यदि हम सृष्टिकी ओर देखें, तो हमें वृक्ष, पशु, मनुष्य, पत्थर, सोना, चाँदी, हीरा, जल, वायु इत्यादि अनेक पदार्थ दीख पड़ते हैं, और इन सबके रूप तथा गुणभी भिन्न भिन्न हैं। सांख्यवादियोंका सिद्धान्त है, कि

यह भिन्नता या नानात्व मूलमें – अर्थात् मूल पदार्थमें – नहीं है; किंतु मूलमें सब वस्तुओंका द्रव्य एकही है। अर्वाचीन रसायनशास्त्रज्ञोंने भिन्न भिन्न द्रव्योंका पृथक्करण करके पहले ६२ मूलतत्त्व ढूंढ़ निकाले थे; परंतु अब पश्चिमी विज्ञानवेत्ताओंनेभी यह निश्चय कर लिया है, कि ये ६२ मूल तत्त्व स्वतंत्र या स्वयंसिद्ध नहीं हैं। किंतु इन सबकी जड़में कोई-न-कोई एकही पदार्थ है; और उस पदार्थहीसे सूर्य, चंद्र, तारागण, पृथ्वी इत्यादि सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। इसलिये अब उक्त सिद्धान्तका अधिक विवेचन आवश्यक नहीं है। जगतके सब पदार्थोंका जो यह मूलद्रव्य है, उसेही सांख्यशास्त्रमें 'प्रकृति' कहते हैं। प्रकृतिका अर्थ 'मूलधर्म, है। इस प्रकृतिसे आगे जो पदार्थ बनते हैं, उन्हें'विकृति' अर्थात् मूलद्रव्यके विकार कहते हैं।

परंतु यद्यपि सब पदार्थोंमें मूल द्रव्य एकही है, तथापि यदि इस मूल द्रव्यमें गुणभी एकही हो, तो सत्कार्यवादानुसार इस एकही गुणसे अनेक गुणोंका उत्पन्न होना संभव नहीं है। और इधर तो जब हम इस जगतके पत्थर, मिट्टी, पानी, सोना इत्यादि भिन्न भिन्न पदार्थोंकी ओर देखते हैं, तब उममें भिन्न भिन्न अनेक गुण पाये जाते हैं। इसलिये पहले सब पदार्थोंके गुणोंका निरीक्षण करके सांख्यवादियोंने इन गुणोंके सत्त्व, रज और तम ये तीन भेदया वर्ग कर दिये हैं। इसका कारण यही है, कि जब हम किसीभी पदार्थको देखते हैं, तब स्वभावतः उसकी दो भिन्न भिन्न अवस्थाएँ दीख पड़ती हैं; – पहली शुद्ध, निर्मल या पूर्णावस्था और दूसरी उसके विरुद्ध निकृष्टावस्था। परंतु साथही साथ निकृष्टावस्थासे पूर्णावस्थाकी ओर बढ़नेकी उस पदार्थकी प्रवृत्तिभी दृष्टिगोचर हुआ करती है; यही तीसरी अवस्था है। इन तीनों अवस्थाओंमेंसे शुद्धा-वस्था या पूर्णावस्थाको सात्त्विक, निकृष्टावस्थाको तामसिक और प्रवर्तकावस्थाको राजसिक कहते हैं। इस प्रकार सांख्यवादी कहते हैं, कि सत्त्व, रज और तम तीनों गुण सब पदार्थोंके मूलद्रव्यमें अर्थात् उनकी प्रकृतिमें आरंभसेही रहा करते हैं। इसलिये यदि यह कहा जाय, कि इन तीन गुणोंहीको प्रकृति कहते हैं, तो अनुचित नहीं होगा। इन तीनों गुणोंमेंसे प्रत्येक गुणका जोर आरंभमें समान या बराबर रहता है, इसीलिये पहले पहल यह प्रकृति साम्यावस्थामें रहती है। यह साम्यावस्था जगतके आरंभमें थी; और जगत्का लय हो जानेपर वैसीही फिर हो जायगी। साम्यावस्थामें कुछभी हल-चल नहीं होती, सब कुछ स्तब्ध रहता है। परंतु जब उक्त तीनों गुण न्यूनाधिक होने लगते हैं, तब प्रवृत्त्यात्मक रजोगुणके कारण मूल प्रकृतिसे भिन्न भिन्न पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं; और सृष्टिका आरंभ होने लगता है। अब यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है, कि यदि पहले सत्त्व, रज और तम ये दोनों गुण साम्यावस्थामें थे, तो इनमें न्यूनाधिकता कैसे उत्पन्न हुई है? इस प्रश्नका सांख्यवादी यही उत्तर देते हैं, कि यह प्रकृतिका मूलभूत धर्मही है (सां. का. ६१)। यद्यपि प्रकृति जड़ है, तथापि वह आप-ही-आप ये सब व्यवहार करती रहती है। इन तीनों गुणोंमेंसे सत्त्वगुणका लक्षण ज्ञान अर्थात् जानना और तमोगुणका लक्षण अज्ञान है। रजोगुण बुरे या भले

कार्यका प्रवर्तक है। ये तीनों गुण कभी अलग अलग नहीं रह सकते। सब पदार्थोंमें सत्त्व, रज और तम इन तीनोंका मिश्रण रहताही है; और यह मिश्रण हमेशा इन तीनोंका परस्पर न्यूनाधिकतासे हुआ करता है। इसलिये यद्यपि मूलद्रव्य एक ही है, तोभी गुणभेदके कारण एक मूलद्रव्यकेही सोना, लोहा, मिट्टी, जल, आकाश, मनुष्यका शरीर इत्यादि भिन्न भिन्न अनेक विकार हो जाते हैं। जिसे हम सात्त्विक गुणका पदार्थ कहते हैं, उसमें रज और तमकी अपेक्षा, सत्त्वगुणका जोर या परिमाण अधिक रहता है, इस कारण उस पदार्थमें हमेशा रहनेवाले रज औरतम – दोनों गुण दब जाते हैं और वे हमें दीख नहीं पड़ते। वस्तुतः, सत्त्व, रज और तम – तीनों गुण अन्य पदार्थोंके समान, सात्त्विक पदार्थमेंभी विद्यमान रहते हैं। केवल सत्त्वगुणका, केवल रजोगुणका, या केवल तमोगुणका कोई पदार्थही नहीं है। प्रत्येक पदार्थमें तीनोंका रगड़ा-झगड़ा चलाही करता है; और इस झगड़ेमें जो गुण प्रबल हो जाता है, उसीके अनुसार हम प्रत्येक पदार्थको सात्त्विक, राजस या तामस कहा करते हैं (सां. का. १२; मभा. अश्व – अनुगीता – ३६ और शां. ३०५)। उदाहरणार्थ, हमारे शरीरमें जब रज और तम गुणोंपर सत्त्वका प्रभाव जम जाता है, तब हमारे अंतःकरणमें ज्ञान उत्पन्न होता है, सत्यका परिचय होने लगता है, और चित्तवृत्ति शांत हो जाती है। यह नहीं समझना चाहिये, कि उस समय हमारे शरीरमें रजोगुण और तमोगुण बिलकुलही नहीं होते; बल्कि वे सत्त्वगुणके प्रभावसे दब जाते हैं, इसलिये उनका कुछ अधिकार चलने नहीं पाता (गीता १४. १०)। यदि सत्त्वके बदले रजोगुण प्रबल हो जाय, तो हमारे अंतःकरणमें लोभ जागृत हो जाता है, लालच बढ़ने लगता है, और वह हमें अनेक बुरे कामोंमें प्रवृत्त करता है। इसी प्रकार जब सत्त्व और रजकी अपेक्षा तमोगुण प्रबल हो जाता है, तब निद्रा, आलस्य, स्मृतिभ्रंश, इत्यादि दोष शरीरमें उत्पन्न हो जाते हैं। तात्पर्य यह है, कि इस जगत्के पदार्थोंमें सोना, लोहा, पारा इत्यादि जो अनेकता या भिन्नता दीख पड़ती है, वह प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंकीही परस्पर-न्यूनाधिकता या संघर्षका फल है। मूल प्रकृति यद्यपि एकही है, तोभी यह अनेकता या भिन्नता कैसे उत्पन्न हो जाती है – बस, इसीके विचारको 'विज्ञान' कहते हैं। इसीमें सब आधिभौतिक शास्त्रोंकाभी समावेश हो जाता है। उदाहरणार्थ, रसायनशास्त्र, विद्युच्छास्त्र, पदार्थ विज्ञानशास्त्र, ये सब विविध ज्ञान विज्ञानही हैं।

सामावस्थामें रहनेवाली प्रकृतिको सांख्यबलमें 'अव्यक्त' अर्थात् इंद्रियोंको गोचर न होनेवाली कहा है। इस प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंकी परस्पर-न्यूनाधिकतासे उत्पन्न जो अनेक पदार्थ हमारी इंद्रियोंको गोचर होते हैं, अर्थात् जिन्हें हम देखते हैं, चखते हैं, सूंघते हैं, या स्पर्श करते हैं, उन्हें सांख्यशास्त्रमें 'व्यक्त' कहा है। स्मरण रहे, कि जो पदार्थ हमारी इंद्रियोंको स्पष्ट रीतिसे गोचर हो सकते हैं, वे सब 'व्यक्त' कहलाते हैं। चाहे फिर वे पदार्थ अपनी आकृतिके कारण, रूपके

कारण, गंधके कारण, या किसी अन्य गुणके कारण व्यक्त होते हों। व्यक्त पदार्थ अनेक हैं और उनमेंसे कुछ, जैसे पत्थर, पेड़, पशु इत्यादि स्थूल कहलाते हैं; और कुछ, जैसे मन, बुद्धि, आकाश इत्यादि – यद्यपि ये इंद्रिय-गोचर अर्थात् व्यक्त हैं, तथापि – सूक्ष्म कहलाते हैं। यहाँ 'सूक्ष्म'से छोटेका मतलब नहीं है। क्योंकि आकाश यद्यपि सूक्ष्म है, तथापि वह सारे जगतमें सर्वत्र व्याप्त है। इसलिये, सूक्ष्म शब्दसे 'स्थूलके विरुद्ध' या वायुसेभी अधिक महीन, यही अर्थ लेना चाहिये। 'स्थूल' और 'सूक्ष्म' शब्दोंसे किसी वस्तुकी शरीररचनाका ज्ञान होता है; और 'व्यक्त' एवं 'अव्यक्त' शब्दोंसे हमें यह बोध होता है, कि उस वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान हमें हो सकता है या नहीं। अतएव भिन्न भिन्न पदार्थोंमेंसे (चाहे वे दोनों सूक्ष्म हों तोभी) एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त हो सकता है। उदाहरणार्थ, यद्यपि हवा सूक्ष्म है, तथापि हमारी स्पर्शेंद्रियको उसका ज्ञान होता है, इसलिये उसे व्यक्त कहते हैं। और सब पदार्थोंकी मूल प्रकृति (या मूल द्रव्य) वायुसेभी अत्यंत सूक्ष्म है और उसका ज्ञान हमारी किसी इंद्रियको नहीं होता; इसलिये अव्यक्त कहते हैं। अब यहाँ प्रश्न हो सकता है, कि यदि इस प्रकृतिका ज्ञान किसीभी इंद्रियको नहीं होता, तो उसका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिये प्रमाण है ? इस प्रश्नका उत्तर सांख्यवादी इस प्रकार देते हैं, कि अनेक व्यक्त पदार्थोंके क्या अवलोकनसे सत्कार्यवादके अनुसार यही अनुमान सिद्ध होता है, कि इन सब पदार्थोंका मूलरूप (प्रकृति) यद्यपि इंद्रियोंको प्रत्यक्ष गोचर न हो, तथापि उसका अस्तित्व सूक्ष्म रूपसे अवश्य होनाही चाहिये (सां. का. ८)। वेदान्तियोंनेभी ब्रह्मका अतित्व सिद्ध करनेके लिये इसी युक्तिवादका स्वीकार किया है (कठ. ६. १२, १३ पर शांकरभाष्य देखो)। यदि हम प्रकृतिको इस प्रकार अत्यंत सूक्ष्म और अव्यक्त मान लें, तो नैयायियोंके परमाणुकी जड़ही उखड़ जाती है। क्योंकि परमाणु यद्यपि अव्यक्त और असंख्य हो सकते हैं, तथापि प्रत्येक परमाणुके स्वतंत्र व्यक्ति या अवयव हो जानेके कारण यह प्रश्नभी शेष रह जाता है, कि दो परमाणुओंके बीचमें कौनसा पदार्थ है ? इसी कारण सांख्यशास्त्रका सिद्धान्त है, कि प्रकृतिमें परमाणुरूप अवयव-भेद नहीं है ?। किंतु वह सदैव एकसे एक लगीं हुई – बीचमें थोड़ाभी अंतर न छोड़ती हुई – एकही समान है; अथवा यों कहिये कि वह अव्यक्त (अर्थात् इंद्रियोंको गोचर न होनेवाले) और निरवयवरूपसे निरंतर और सर्वत्र है। परब्रह्मका वर्णन करते हुए दासबोध (दा. २०. २. ३) में श्रीसमर्थ रामदासस्वामी कहते हैं, "जिधर देखिये, उधरही वह अपार है, उसका किसी ओर पार नहीं है। वह एकही प्रकारका और स्वतंत्र है, उसमें द्वैत (या और कुछ) नहीं है।"* सांख्यवादियोंके 'प्रकृति' विषयमेंभी यही वर्णन उपयुक्त है। त्रिगुणात्मक प्रकृति अव्यक्त, स्वयंभू और एकही प्रकारकी है; और चारों ओर निरंतर व्याप्त है। आकाश, वायु, आदि भेद पीछेसे

---

* हिंदी दासबोध, पृष्ठ ४८१ (चित्रशाला, पूना).

हुए; और यद्यपि वे सूक्ष्म हैं, तथापि व्यक्त हैं, और इन सबकी मूल प्रकृति एकही-सी तथा सर्वव्यापी और अव्यक्त है। स्मरण रहे, कि वेदान्तियोंके 'परब्रह्म' में और सांख्य-वादियोंकी 'प्रकृति' में आकाश-पातालका अंतर है। उसका कारण यह है, कि परब्रह्म चैतन्यरूप और निर्गुण है; परंतु प्रकृति जड़रूप और सत्त्वरजतमोमयी अर्थात् सगुण है। इस विषयपर अधिक विचार आगे किया जायगा। यहाँ सिर्फ़ यही विचार करना है कि, सांख्यवादियोंका मत क्या है। जब हम इस प्रकार 'सूक्ष्म' और 'स्थूल', 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' शब्दोंका अर्थ समझने लगे, तब कहना पड़ेगा कि सृष्टिके आरंभमें प्रत्येक पदार्थ सूक्ष्म और अव्यक्त प्रकृतिके रूपमें रहता है। फिर वह (चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल हो) व्यक्त अर्थात् इंद्रियगोचर होता है, और जब प्रलय-कालमें इस व्यक्त स्वरूपका नाश होता है, तब फिर वह पदार्थ अव्यक्त प्रकृतिमें मिलकर अव्यक्त हो जाता है। गीतामेंभी यही मत दीख पड़ता है (गीता २. २८ और ८.१८)। सांख्यशास्त्रमें इस अव्यक्त प्रकृतिहीको 'अक्षर' भी कहते हैं; और प्रकृतिसे होनेवाले सब पदार्थोंको 'क्षर' कहते हैं। यहाँ 'क्षर' शब्दका अर्थ, संपूर्ण नाश नहीं है; किंतु सिर्फ़ व्यक्त स्वरूपका नाशही अपेक्षित है। प्रकृतिके औरभी अनेक नाम हैं – जैसे प्रधान, गुण-क्षोभिणी, बहुधानक, प्रसवधर्मिणी इत्यादि। सृष्टिके सब पदार्थोंका मुख्य मूल होनेके कारण उसे (प्रकृतिको) प्रधान कहते हैं। तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका भंग स्वयं आपही करती है, इसलिये उसे गुण-क्षोभिणी कहते हैं। गुणत्रयीरूपी पदार्थभेदके बीज प्रकृतिमें हैं; इसलिये उसे बहुधानक कहते हैं। और प्रकृतिसेही सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इसलिये उसे प्रसवधर्मिणीभी कहते हैं। इस प्रकृतिहीको वेदान्तशास्त्रमें 'माया' अर्थात् मायावी दिखावा कहते हैं।

सृष्टिके सब पदार्थोंको 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' या 'क्षर' और 'अक्षर' इन दो विभागोंमें बाँटनेके बाद अब यह सोचना चाहिये कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारमें बतलाये गये आत्मा, मन, बुद्धि, अहंकार और इंद्रियोंको सांख्यमतके अनुसार, किस विभाग या वर्गमें रखना चाहिये। क्षेत्र और इंद्रियाँ तो जड़ही हैं; इस कारण उनका समावेश व्यक्त पदार्थोंमें हो सकता है। परंतु मन, अहंकार, बुद्धि और विशेष करके आत्माके विषयमें क्या कहा जा सकता है? यूरोपके वर्तमान समयके प्रसिद्ध सृष्टि-शास्त्रज्ञ हेकेलने अपने ग्रंथमें लिखा है कि मन, बुद्धि, और आत्मा ये सब शरीरकेही धर्म हैं। उदाहरणार्थ, हम देखते हैं, कि जब मनुष्यका मस्तिष्क बिगड़ जाता है, तब उसकी स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है; और वह पागलभी हो जाता है। इसी प्रकार सिरमें चोट लगनेसे जब मस्तिष्कका कोई भाग संज्ञारहित हो जाता है, तबभी उस भागकी मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है। सारांश यह है कि मनोधर्मभी जड़ मस्तिष्ककेही गुण हैं; अतएव ये जड़ वस्तुसे कभी अलग नहीं किये जा सकते; और इसीलिये मस्तिष्कके साथ साथ मनोधर्म और आत्माको 'व्यक्त' पदार्थोंके वर्गमें शामिल करना चाहिये। यदि यह जड़वाद मान लिया जाय, तो

अंतमें केवल अव्यक्त और जड़ प्रकृतिही शेष रह जाती है। क्योंकि सब व्यक्त पदार्थ इस मूल अव्यक्त-प्रकृतिसेही बने हैं। ऐसी अवस्थामें प्रकृतिके सिवा जगतका कर्ता या उत्पादक दूसरा कोईभी नहीं हो सकता। तब तो यही कहना होगा, कि मूल प्रकृतिकी शक्ति धीरे धीरे बढ़ती गई और अंतमें उसीको चैतन्य या आत्माका स्वरूप प्राप्त हो गया। सत्कार्यवादके समान, इस मूलप्रकृतिके कुछ कायदे या नियम बने हुए हैं। और उन्हीं नियमोंके अनुसार सब जगत् और साथही साथ मनुष्यभी कैदीके समान बर्ताव किया करते है। जड़ प्रकृतिके सिवा आत्मा कोई भिन्न वस्तु हैही नहीं; तब कहना नहीं होगा, कि आत्मा न तो अविनाशी है; और न स्वतंत्र। तब मोक्ष या मुक्तिकी आवश्यकताही क्या है? प्रत्येक मनुष्य सोचता है, कि मैं अपनी इच्छाके अनुसार अमुक काम कर लूँगा; परंतु वह सब केवल भ्रम है। प्रकृति जिस ओर खींचेगी, उसी ओर मनुष्यको झुकना पड़ेगा। अथवा कै. शंकर मोरो रानडेके अनुसार कहना चाहिये, कि "यह सारा विश्व एक बहुत बड़ा कारागार है, प्राणिमात्र कैदी हैं; और पदार्थोंके गुण-धर्म बेड़ियाँ हैं! इन बेड़ियोंको कोई तोड़ नहीं सकता।" इस प्रकार सारी सजीव और निर्जीव सृष्टिका व्यवहार चल रहा है – बस यही हेकेलके मतका सारांश है। उसके मतानुसार सारी सृष्टिका मूलकारण एक जड़ और अव्यक्त प्रकृतिही है। इसलिये उसने अपने सिद्धान्तको सिर्फ़ * 'अद्वैत' कहा है। परंतु यह अद्वैत जड़मूलक है, अर्थात् अकेली जड़ प्रकृतिमेंही सब बातोंका समावेश करता है; इस कारण हम इसे जड़ाद्वैत या आधिभौतिक-शास्त्राद्वैत कहेंगे।

हमारे सांख्यशास्त्रकार इस जड़ाद्वैतको नहीं मानते। वे यह मानते हैं, कि मन, बुद्धि और अहंकार पंचमहाभूतात्मक जड़ प्रकृतिहीके धर्म हैं; और सांख्य-शास्त्रमेंभी यही लिखा है, कि अव्यक्त प्रकृतिसे ही बुद्धि, अहंकार इत्यादि गुण क्रमसे उत्पन्न होते जाते हैं। परंतु उनका कथन है, कि जड़ प्रकृतिसे चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इतनाही नहीं; वरन् जिस प्रकार कोई मनुष्य अपनेही कधोंपर बैठ नहीं सकता, उसी प्रकार प्रकृतिको जाननेवाला या देखनेवाला जब-तक प्रकृतिसे भिन्न न हो, तबतक वह "मैं यह जानता हूँ – वह जानता हूँ" इत्यादि व्यवहारका उपयोग करही नहीं सकता। और इस जगत्के व्यवहारोंकी ओर देखनेसे तो तब लोगोंका यही अनुभव जान पड़ता है, कि "मैं जो कुछ देखता हूँ, या जानता हूँ, वह मुझसे भिन्न है।" इसलिये सांख्यशास्त्रवालोंने कहा है, कि ज्ञाता और ज्ञेय, देखनेवाला और देखनेकी वस्तु या प्रकृतिको देखनेवाला और जड़ प्रकृति, इन दोनोंको मूलताही पृथक् पृथक् मानना चाहिये (सां. का. १७)।

---

* हेकेलका मूल शब्द monism है। और इस विषयपर उसने स्वतंत्र ग्रंथभी लिखा हैं।

पिछले प्रकरणमें जिसे क्षेत्रज्ञ या आत्मा कहा है, वही यह देखनेवाला, ज्ञाता या उपभोग करनेवाला है; और इसे ही सांख्यशास्त्रमें 'पुरुष' या 'ज्ञ' (ज्ञाता) कहा गया हैं। यह ज्ञाता प्रकृतिसे भिन्न है। इस कारण निसर्गसेही प्रकृतिके तीनों (सत्त्व, रज और तम) गुणोंके परे रहता है। अर्थात् यह निर्विकार और निर्गुण है; और जानने या देखनेके सिवा कुछभी नहीं करता। इससे यहभी मालूम हो जाता है, कि जगत्में जो घटनाएँ होती रहती हैं, वे सब प्रकृतिहीके खेल हैं। सारांश यह है, कि प्रकृति अचेतन या जड़ है; तो पुरुष सचेतन है। प्रकृति सब काम किया करती है; तो पुरुष उदासीन और अकर्ता है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है; तो पुरुष निर्गुण है। प्रकृति अंधी है; तो पुरुष साक्षी है। इस प्रकार इस सृष्टिमें ये दो भिन्न भिन्न तत्त्व अनादिसिद्ध, स्वतंत्र और स्वयंभू हैं – यही सांख्यशास्त्रका सिद्धान्त है। इस बातको ध्यानमें रखकेही भगवद्गीतामें पहले कहा गया है, कि " प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादि उभावपि " – प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं (गीता १३. १९)। इसके बाद उनका वर्णन इस प्रकार किया है। " कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते " अर्थात् देह और इंद्रियोंका व्यापार प्रकृति करती है; और " पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते " – अर्थात् पुरुष सुखदुःखोंका उपभोग करनेके लिये, कारण है। यद्यपि गीतामेंभी प्रकृति और पुरुष अनादि माने गये हैं, तथापि यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये, कि सांख्यवादियोंके समान, गीतामें ये दोनों तत्त्व स्वतंत्र या स्वयंभू नहीं माने गये हैं। कारण यह है, कि गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने प्रकृतिको अपनी 'माया' कहा है (गीता ७. १४; १४. ३), और पुरुषके विषयमेंभी यही कहा है, कि " ममैवांशो जीवलोके " (गीता १५. ७) अर्थात् वह मेराही अंश है। इससे मालूम हो जाता है, कि गीता सांख्यशास्त्रसेभी बढ़ गई है। परंतु अभी इस बातकी ओर ध्यान न दे कर हम देखेंगे कि सांख्यशास्त्र आगे क्या कहता है।

सांख्यशास्त्रके अनुसार सृष्टिके सब पदार्थोंके तीन वर्ग होते हैं। पहला अव्यक्त (मूल प्रकृति), दुसरा व्यक्त (प्रकृतिके विकार) और तीसरा पुरुष अर्थात् (ज्ञ)। परंतु इनमेंसे प्रलयकालके समय व्यक्त पदार्थोंका स्वरूप नष्ट हो जाता है, इसलिये अब मूलमें केवल प्रकृति और पुरुष ये दोही तत्त्व शेष रह जाते हैं। ये दोनों मूलतत्त्व, सांख्यवादियोंके मतानुसार अनादि और स्वयंभू हैं। वे लोग इसलिये सांख्योंको द्वैतवादी (दो मूल तत्त्व माननेवाले) कहते हैं। वे लोग प्रकृति और पुरुषके परे ईश्वर, काल, स्वभाव या अन्य किसीभी मूल तत्त्वको नहीं मानते।* इसका कारण यह है कि सगुण ईश्वर, काल या स्वभाव, ये सब व्यक्त होनेके कारण अव्यक्त प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले व्यक्त पदार्थोंमेंही शामिल हैं।

---

* ईश्वरकृष्ण कट्टर निरीश्वरवादी था। उसने अपनी सांख्यकारिका की अंतिम उपसंहारात्मक तीन आर्याओंमें कहा है, कि मूल विषयपर ७० आर्याएँ थीं।

और, यदि ईश्वरको निर्गुण मानें, तो सत्कार्यवादानुसार निर्गुण मूलतत्त्वसे त्रिगुणात्मक प्रकृति कभी उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिये, उन्होंने यह निश्चित सिद्धान्त किया है, कि प्रकृति और पुरुषको छोड़ कर इस सृष्टिका और कोई तीसरा मूल कारण नहीं है। इस प्रकार जब उन लोगोंने दोही मूल तत्त्व निश्चित कर लिये, तब उन्होंने अपने मतके अनुसार इस बातकोभी सिद्ध कर दिया है, कि इन दोनों मूलतत्त्वोंसे सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई है। वे कहते हैं, कि यद्यपि निर्गुण पुरुष स्वयं कुछभी कर नहीं सकता, तथापि जब प्रकृतिके साथ उसका संयोग होता है, तब जिस प्रकार गाय अपने बछड़ेके लिये दूध देती है, या लोहचुंबकके पास होनेसे लोहमें आकर्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार मूल अव्यक्त प्रकृति अपने गुणों (सूक्ष्म और स्थूल) का व्यक्त फैलाव पुरुषके सामने फैलाने लगती है (सां. का. ५७)। यद्यपि पुरुष सचेतन और ज्ञाता है, तथापि केवल अर्थात् निर्गुण होनेके कारण स्वयं कर्म करनेके कोई साधन उसके पास नहीं हैं; और प्रकृति यद्यपि काम करनेवाली है, तथापि जड़ या अचेतन होनेके कारण वह नहीं जानती, कि क्या करना

परंतु कोलब्रुक और विल्सनके अनुवादके साथ बंबईमें श्रीयुत तुकाराम तात्याने जो पुस्तक मुद्रित की है, उसमें मूल विषयपर केवल ६९ आर्याएँ हैं। इसलिये विल्सन साहबने अपने अनुवादमें यह संदेह प्रकट किया है, कि ७० वीं आर्या कौनसी है। परंतु वह आर्या उनको नहीं मिली; और उनकी शंकाका समाधान नहीं हुआ। हमारा मत है, कि वह वर्तमान ६१ वीं आर्याके आगे होगी। कारण यह है, कि ६१ वीं आर्यापर गौडपादाचार्यका जो भाष्य है, वह कुछ एकही आर्यापर नहीं है; किंतु दो आर्याओंपर है और यदि इस भाष्यके प्रतीक पदोंको लेकर आर्या बनाई जाय तो वह इस प्रकार होगी :–

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च॥

यह आर्या पिछले और अगले संदर्भ (अर्थ या भाव) के अनुसारभी है। इस आर्यामें निरीश्वरमतका प्रतिपादन है, इसलिये जान पड़ता है, कि किसीने इसे पीछेसे निकाल डाला होगा। परंतु इस आर्याका शोधन करनेवाला मनुष्य इसका भाष्यभी निकाल डालना भूल गया। इसलिये अब हम इस आर्याका ठीक ठीक पता लगा सकते हैं; और इसीसे उस मनुष्यको धन्यवादही देना चाहिये। श्वेताश्वेतरोपनिषद्के छठे अध्यायके पहले मंत्रसे प्रकट होता है, कि प्राचीन समयमें कुछ लोग स्वभाव और कालको – और वेदान्ती तो उसकेभी आगे बढ़कर ईश्वरको – जगत्का मूलकारण मानते थे। वह मंत्र यह है :–

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥

परंतु ईश्वरकृष्णने उपर्युक्त आर्याको वर्तमान ६१ वीं आर्याके बाद सिर्फ़ यह बतलानेके लिये रखा है, कि तीनों मूलकारण (अर्थात स्वभाव, काल और ईश्वर) सांख्यवादियोंको मान्य नहीं हैं!

चाहिये। इस प्रकार लँगड़े और अंधेकी वह जोड़ी है और जैसे अंधेके कंधेपर लँगड़ा बैठे; और वे दोनों एक दूसरेकी सहायतासे मार्ग चलने लगें; वैसेही अचेतन प्रकृति और सचेतन पुरुषका संयोग हो जानेपर सृष्टिके सब कार्य आरंभ हो जाते हैं (सां. का. २१)। और जिस प्रकार नाटककी रंगभूमिपर प्रेक्षकोंके मनोरंजनार्थ एकही नटी कभी एक तो कभी दूसराही स्वाँग बनाकर नाचती रहती है, उसी प्रकार पुरुषके लाभके लिये (पुरुषार्थके लिये), यद्यपि पुरुष कुछभी पारितोषिक नहीं देता; तोभी यह प्रकृति सत्त्व-रज-तम गुणोंकी न्यूनाधिकतासे अनेक रूप धारण करके उसके सामने लगातार नाचती रहती है (सां. का. ५९)। प्रकृतिके इस नाचको देखकर – मोहसे भूल जानेके कारण, या वृथाभिमानके कारण – जबतक पुरुष इस प्रकृतिके कर्तृत्वको स्वयं अपनाही कर्तृत्व मानता रहता है; और जबतक वह सुखदुःखके पाशमें स्वयं अपनेको फँसा रखता है, तबतक उसे मोक्ष या मुक्तिकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती (गीता ३. २७)। परंतु जिस समय पुरुषको यह ज्ञान हो जाय, कि त्रिगुणात्मक प्रकृति भिन्न है और मैं भिन्न हूँ; उस समय वह मुक्तही है (गीता १३. २९, ३०; १४. २०)। क्योंकि, यथार्थमें पुरुष न तो कर्ता है और न बँधाही है। वह स्वतंत्र है और निसर्गतः केवल अर्थात् अकर्ता है। जो कुछ होता है वह सब प्रकृतिहीका खेल है। यहाँतक कि मन और बुद्धिभी प्रकृतिकेही विकार हैं। इसलिये बुद्धिको जो ज्ञान होता है, वहभी प्रकृतिके कार्यकाही फल है। यह ज्ञान तीन प्रकारका होता है; जैसे : सात्त्विक, राजस और तामस (गीता १८. २०–२२)। जब बुद्धिको सात्त्विक ज्ञान प्राप्त होता है, तब पुरुषको यह मालूम होने लगता है, कि मैं प्रकृतिसे भिन्न हूँ। सत्त्व-रज-तमोगुण प्रकृतिकेही धर्म हैं; पुरुषके नहीं। पुरुष निर्गुण है; और त्रिगुणात्मक प्रकृति उसका दर्पण है (मभा. शां. २०४. ८) जब यह दर्पण स्वच्छ या निर्मल हो जाता है अर्थात् जब बुद्धि – जो प्रकृतिका विकार है – सात्त्विक हो जाती है, तब इस निर्मल दर्पणमें पुरुषको अपना सात्त्विक या सच्चा स्वरूप दीखने लगता है; और उसे यह बोध हो जाता है, कि मैं प्रकृतिसे भिन्न हूँ। उस समय यह प्रकृति लज्जित हो कर उस पुरुषके सामने नाचना, खेलना या जाल फैलाना बंद कर देती है। जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब पुरुष सब पाशों या जालोंसे मुक्त हो कर अपने स्वाभाविक कैवल्यपदको पहुँच जाता है। 'कैवल्य' शब्दका अर्थ है केवलता, अकेलापन, या प्रकृतिके साथ संयोग न होना। पुरुषकी इस नैसर्गिक या स्वाभाविक स्थितिकोही सांख्यशास्त्रमें मोक्ष (मुक्ति या छुटकारा) कहते है। इस अवस्थाके विषयमें सांख्यवादियोंने एक बहुतही नाजुक प्रश्नका विचार उपस्थित किया है। उनका प्रश्न है, कि पुरुष प्रकृतिको छोड़ देता है, या प्रकृति पुरुषको छोड़ देती है? कुछ लोगोंकी समझमें यह प्रश्न वैसेही निरर्थक प्रतीत होगा, जैसे यह प्रश्न कि दुलहेके लिये दुलहिन लंबी है या दुलहिनके लिये दुलहा ठिंगना है। क्योंकि जब दो वस्तु-

ओंका एक दूसरेसे वियोग होता है, तब हम देखते हैं कि दोनों एक दूसरेको छोड़ देती हैं। इसलिये ऐसे प्रश्नका विचार करनेसे कुछ लाभ नहीं है, कि किसने किसको छोड़ दिया। परंतु कुछ अधिक सोचनेपर मालूम हो जायगा, कि सांख्य-वादियोंका उक्त प्रश्न उनकी दृष्टिसे अयोग्य नहीं है। सांख्यशास्त्रके अनुसार 'पुरुष' निर्गुण, अकर्ता और उदासीन है। इसलिये तत्त्वदृष्टिसे 'छोड़ना' या 'पकड़ना' क्रियाओंका कर्ता पुरुष नहीं हो सकता (गीता १३. ३१, ३२)। इसलिये सांख्य-वादी कहते हैं, कि प्रकृतिही 'पुरुष'को छोड़ दिया करती है। अर्थात् वही 'पुरुष'से अपना छुटकारा या मुक्ति कर लेती है। क्योंकि कर्तृत्व 'प्रकृति'हीका धर्म है। (सां. का. ६२ और गीता १३. १४) सारांश यह है, कि मुक्ति नामकी ऐसी कोई निराली अवस्था नहीं है, जो 'पुरुष'को कहीं बाहरसे प्राप्त हो जाती हो। अथवा यह कहिये, कि वह 'पुरुष'की मूल और स्वाभाविक स्थितिसे कोई भिन्न स्थितिभी नहीं है। प्रकृति और पुरुषमें वैसाही संबंध है, जैसा कि घासके बाहरी छिलके और अंदरके गूदेमें रहता है; या जैसा पानी और उसमें रहनेवाली मछलीमें। सामान्य पुरुष प्रकृतिके गुणोंसे मोहित हो जाते हैं; और यह स्वाभाविक भिन्नता पहचान नहीं सकते। इसी कारण वे संसार-चक्रमें फँसे रहते हैं। परंतु जो इस भिन्नताको पहचान लेता है, वह मुक्तही है। महाभारत (मभा. शां. १९४. ५८; २४८. ११; और ३०६–३०८) में लिखा है, कि ऐसेही पुरुषको 'ज्ञाता' या 'बुद्ध' और 'कृतकृत्य' कहते हैं। गीताके वचन "एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्" (गीता १५. २०) में बुद्धिमान् शब्दकाभी यही अर्थ है। अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिसे मोक्षका सच्चा स्वरूपभी यही है (वे. सू. शां. भा. १. १. ४)। परंतु सांख्यवादियोंकी अपेक्षा अद्वैत वेदान्तियोंका विशेष कथन यह है, कि आत्माहीमें परब्रह्मस्वरूप है; और जब वह अपने मूलस्वरूपको अर्थात् परब्रह्मको पहचान लेता है, तब वही उसकी मुक्ति है। वे लोग यह कारण नहीं बतलाते, कि पुरुष निसर्गतः 'केवल' है। सांख्य और वेदान्तका यह भेद अगले प्रकरणमें स्पष्ट करके बतलाया जायगा।

यद्यपि अद्वैत वेदान्तियोंको सांख्यवादियोंका यह मत मान्य है, कि पुरुष (आत्मा) निर्गुण, उदासीन और अकर्ता है; तथापि वे लोग सांख्यशास्त्रकी 'पुरुष' संबंधी इस दूसरी कल्पनाको नहीं मानते, कि एकही प्रकृतिको देखनेवाले (साक्षी) स्वतंत्र पुरुष मूलमेंही असंख्य हैं (गीता ८. ४; १३. २०–२२; मभा. शां. ३५१; और वे. सू. शां. भा. २, १. १)। वेदान्तियोंका कहना है, कि उपाधिभेदके कारण सब जीव भिन्न भिन्न मालूम होते हैं, परंतु वस्तुतः सब ब्रह्महही है। सांख्यवादियों-का मत है, कि जब हम देखते हैं, कि प्रत्येक मनुष्यका जन्म, मृत्यु और जीवन अलग अलग हैं; और जब इस जगत्में हम यह भेद पाते हैं कि कोई सुखी है तो कोई दुःखी है; तब मानना पड़ता है, कि प्रत्येक आत्मा या पुरुष मूलसेही भिन्न है, और उनकी संख्याभी अनंत है। (सां. का. १८) केवल प्रकृति और पुरुषही

सब सृष्टिके मूलतत्त्व हैं सही; परंतु उनमेंसे पुरुष शब्दमें सांख्यवादियोंके मतानुसार "असंख्य पुरुषोंके समुदाय"का समावेश होता है। इन असंख्य पुरुषोंके और त्रिगुणात्मक प्रकृतिके संयोगसे सृष्टिका सब व्यवहार हो रहा है। प्रत्येक पुरुष और प्रकृतिका जब संयोग होता है, तब प्रकृति अपने गुणोंका जाला उस पुरुषके सामने फैलाती है; और पुरुष उसका उपभोग करता रहता है। ऐसा होते होते जिस पुरुषके चारों ओरकी प्रकृतिके खेल सात्त्विक हो जाते हैं, उस पुरुषकोही (सब पुरुषोंको नहीं) सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है; और उस पुरुषके लिये ही प्रकृतिके सब खेल बंद हो जाते हैं; एवं वह अपने मूल कैवल्यपदको पहुँच जाता है। परंतु यद्यपि उस पुरुषको मोक्ष मिल गया, तोभी शेष सब पुरुषोंको संसारमें फँसेही रहना पड़ता है। कदाचित् कोई यह समझे, कि ज्योंहि पुरुष इस प्रकार कैवल्यपदको पहुँच जाता है, त्योंही वह एकदम प्रकृतिके जालेसे छूट जाता होगा। परंतु सांख्यमतके अनुसार यह समझ गलत है। देह और इंद्रियरूपी प्रकृतिके विचार उस मनुष्यकी मृत्युतक उसे नहीं छोड़ते। सांख्यवादी इसका यह कारण बतलाते हैं, कि "जिस प्रकार कुम्हारका पहिया – ऊपरका घड़ा वन कर निकाल लिया जानेपरभी – पूर्वसंस्कारके कारण कुछ देर तक घूमताही रहता है, उसी प्रकार कैवल्यपदकी प्राप्ति हो जाने परभी इस मनुष्यका शरीर कुछ समयतक शेष रहता है" (सां. का. ६७)। तथापि उस शरीरसे, कैवल्यपदपर आरूढ होनेवाले पुरुषको कुछभी अडचन या सुखदुःखकी बाधा नहीं होती। क्योंकि, यह शरीर जड़ प्रकृतिका विकार होनेके कारण स्वयं जड़ही है। इसलिये इसे सुखदुःख दोनों समानही हैं; और यदि कहा जाय, कि पुरुषको सुखदुःखकी बाधा होती हो, तो यहभी ठीक नहीं। क्योंकि उसे मालूम है, कि मैं प्रकृतिके व्यवहारमें भिन्न हूँ, सब कर्तृत्व प्रकृतिका है, मेरा नहीं। ऐसी अवस्थामें प्रकृतिके मनमाने खेल हुआ करते हैं, परंतु उसे सुखदुःख नहीं होता; और वह सदा उदासीनही रहता है। जो पुरुष प्रकृतिके तीनों गुणोंसे छूट कर यह ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता, वह जन्म-मरणसे छुट्टी नहीं पा सकता। फिर चाहे वह सत्त्वगुणके उत्कर्षके कारण देवयोनिमें जन्म ले, या रजोगुणके कारण मानवयोनिमें जन्म ले, या तमोगुणकी प्रबलताके कारण पशु-कोटिमें जन्म ले। (सां. का. ४४. ५४) जन्ममरणरूपी चक्रके ये फल प्रत्येक मनुष्यको उसके चारों ओरकी प्रकृति अर्थात् उसकी बुद्धिके सत्त्व-रज-तम गुणोंके उत्कर्षापकर्षके कारण प्राप्त हुआ करते हैं। गीतामेंभी कहा है, कि "उर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः" – सात्त्विक वृत्तिके पुरुष स्वर्ग जाते हैं; और तामस पुरुषोंको अधोगति प्राप्त होती है (गीता १४. १८)। परंतु ये स्वर्गादि फल अनित्य हैं। जिसे जन्म-मरणसे छुट्टी पाना है, या सांख्योंकी परिभाषाके अनुसार जिसे प्रकृतिसे अपनी भिन्नता अर्थात् कैवल्य चिरस्थायी रखना है, उसे त्रिगुणातीत हो कर विरक्त (संन्यस्त) होनेके सिवा दूसरा मार्ग नहीं है। कपिलाचार्यको यह

वैराग्य और ज्ञान जन्मसेही प्राप्त हुआ था; परंतु यह स्थिति सब लोगोंको जन्महीसे प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये तत्त्व-विवेकरूप साधनसे प्रकृति और पुरुषकी भिन्नताको पहचान कर प्रत्येक पुरुषको अपनी बुद्धि शुद्ध कर लेनेका यत्न करना चाहिये। ऐसे प्रयत्नोंसे जब बुद्धि सात्त्विकही जाती है, तो फिर उसीमें ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि गुण उत्पन्न होते हैं; और मनुष्यको अंतमें कैवल्यपद प्राप्त हो जाता है। जिस वस्तुको पानेकी मनुष्य इच्छा करता है, उसे प्राप्त कर लेनेके योग्य सामर्थ्यकोही यहाँ ऐश्वर्य कहा है। सांख्यमतके अनुसार धर्मकी गणना सात्त्विक गुणमेंही की जाती है। परंतु कपिलाचार्यने अंतमें यह भेद किया है, कि केवल धर्मसे स्वर्गही प्राप्त होता है; और ज्ञान तथा वैराग्य (संन्यास)से मोक्ष या कैवल्यपद प्राप्त होता है; तथा पुरुषके दुःखोंकी आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है।

जब देहेंद्रियों और बुद्धिमें पहले सत्त्वगुणका उत्कर्ष होता है; और जब धीरे धीरे उन्नति होते होते अंतमें पुरुषको यह ज्ञान हो जाता है, कि मैं त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे भिन्न हूँ तब उसे सांख्यवादी 'त्रिगुणातीत' अर्थात् सत्त्व-रज-तम गुणोंके परे पहुँचा हुआ कहते हैं। इस त्रिगुणातीत अवस्थामें सत्त्व-रज-तममेंसे कोईभी गुण शेष नहीं रहता। इसलिये कुछ सूक्ष्म विचार करनेसे मानना पड़ता हैं, कि यह त्रिगुणातीत अवस्था सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों अवस्थाओंसे भिन्न है। इसी अभिप्रायसे भागवतमें भक्तिके तामस, राजस और सात्त्विक भेद करनेके पश्चात् एक और चौथा भेद किया गया है। इन तीनों गुणोंके पार हो जानेवाला पुरुष, निर्हेतुक और अभेदभावसे जो भक्ति करता है उसे 'निर्गुण भक्ति' कहते हैं' (भाग. ३. २९. ७–१४)। परंतु सात्त्विक, राजस और तामस इन तीन वर्गोंकी अपेक्षा वर्गीकरणके तत्त्वोंको व्यर्थ अधिक बढाना उचित नहीं है। इसलिये सांख्य वादी कहते हैं, कि सत्त्वगुणके अत्यंत उत्कर्षसेही अंतमें त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त हुआ करती है; और इसलिये वे इस अवस्थाकी गणना सात्त्विक वर्गमेंही करते हैं। गीतामेंभी यह मत स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ गीतामें कहा है, कि " जिस अभेदात्मक ज्ञानसे यह मालूम हो, कि सब कुछ एकही हैं उसीको सात्त्विक ज्ञान कहते हैं " (गीता १८. २०)। इसके सिवा सत्त्वगुणके वर्णनके बाद गीतामें १४ वें अध्यायके अंतमें, त्रिगुणातीत अवस्थाका वर्णन है। परंतु भगवद्-गीताको यह प्रकृति और पुरुषवाला द्वैत मान्य नहीं है। इसलिये ध्यान रखना चाहिये, कि गीतामें 'प्रकृति', 'पुरुष', 'त्रिगुणातीत' इत्यादि सांख्यवादियोंके पारि-भाषिक शब्दोंका उपयोग कुछ भिन्न अर्थमें किया गया है; अथवा यह कहिये, कि गीतामें सांख्यवादियोंके द्वैतपर अद्वैत परब्रह्मकी 'छाप' सर्वत्र लगी हुई है। उदा-हरणार्थ, सांख्यवादियोंके प्रकृति-पुरुष भेदकाही गीताके १३ वें अध्यायमें वर्णन है। (गीता १३. १९–३४) परंतु वहाँ 'प्रकृति' और 'पुरुष' शब्दोंका उपयोग क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अर्थमें हुआ है। इसी प्रकार १४ वें अध्यायमें त्रिगुणातीत अवस्थाका

वर्णन (गीता १४. २२–२७) भी उस सिद्ध पुरुषके विषयमें किया गया है; जो त्रिगुणात्मक मायाके फंदेसे छूटकर उस परमात्माको पहचानता है, जो कि प्रकृति और पुरुषकेभी परे है। यह वर्णन सांख्यवादियोंके उस सिद्धान्तके अनुसार नहीं है; जिसके द्वारा वे यह प्रतिपादन करते हैं, कि 'प्रकृति' और 'पुरुष', दोनों पृथक् पृथक् तत्त्व हैं; और पुरुषका 'कैवल्य' ही त्रिगुणातीत अवस्था है। यह भेद आगे अध्यात्म–प्रकरणमें अच्छी तरह समझा दिया गया है। परंतु गीतामें यद्यपि अध्यात्म पक्षही प्रतिपादित किया गया है, तथापि आध्यात्मिक तत्त्वोंका वर्णन करते समय भगवान् श्रीकृष्णने सांख्यपरिभाषाका और युक्तिवादका हर जगह उपयोग किया है। इसलिये संभव है, कि गीता पढ़ते समय कोई यह समझ बैठे, कि गीताको सांख्यवादियोंकेही सिद्धान्त ग्राह्य हैं। इस भ्रमको हटानेके लियेही सांख्यशास्त्र और गीताके तत्सदृश सिद्धान्तोंका भेद फिरसे यहाँ बतलाया गया है। वेदान्तसूत्रोंके भाष्यमें श्रीशंकराचार्यने कहा है, कि उपनिषदोंके इस अद्वैत सिद्धान्तको न छोड़-कर – कि "प्रकृति और पुरुषके परे इस जगत्का परब्रह्मरूपी एकही मूलभूत तत्त्व है; और उसीसे प्रकृति, पुरुष आदि सब सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है" – सांख्य-शास्त्रके शेष सिद्धान्त हमें अग्राह्य नहीं हैं। (वे. सू. शां. भा. २. १. ३) यही बात गीताके उपपादनके विषयमेंभी चरितार्थ होती है।

आठवाँ प्रकरण

विश्वकी रचना और संहार

गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव निविशन्ति च ।*

— महाभारत, शांति. ३०५.२३

इस बातका विवेचन हो चुका, कि कापिलसांख्यके अनुसार संसारमें जो दो स्वतंत्र मूलतत्त्व – प्रकृति और पुरुष – हैं, उनका स्वरूप क्या है, और जब इन दोनोंका संयोगही निमित्त कारण हो जाता है; तब पुरुषके सामने प्रकृति अपने गुणोंका जाला कैसे फैलाया करती है; और उस जालेसे हमको अपना छुटकारा किस प्रकार कर लेना चाहिये। परंतु अबतक इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया, कि प्रकृति अपने इस जालेको (अथवा खेल, संसार या ज्ञानेश्वर महाराजके शब्दोंमें 'प्रकृतिकी टकसाल'को) किस क्रमसे पुरुषके सामने फैलाया करती है; और उसका लय किस प्रकार हुआ करता है। प्रकृतिके इस व्यापारहीको "विश्वकी रचना और संहार" कहते हैं; और इसी विषयका विवेचन प्रस्तुत प्रकरणमें किया जायगा। सांख्यमतके अनुसार प्रकृतिने इस जगत् या सृष्टिको असंख्य पुरुषोंके लाभके लियेही निर्माण किया है। 'दासबोध'में श्रीसमर्थ रामदासस्वामीनेभी प्रकृतिसे सारे ब्रह्मांडके निर्माण होनेका बहुत अच्छा वर्णन किया है। उसी वर्णनसे "विश्वकी रचना और संहार" शब्द इस प्रकरणमें लिये गये हैं। इसी प्रकार, भगवद्गीताके सातवें और आठवें अध्यायोंमें मुख्यतः इसी विषयका प्रतिपादन किया गया है। और, ग्यारहवें अध्यायके आरंभमें अर्जुनने श्रीकृष्णसे यह जो प्रार्थना की है, कि "भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तारशो मया" (गीता ११.२) – भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय (जो आपने) विस्तारपूर्वक (बतलाया, उसको) मैंने सुना। अब मुझे अपना विश्वरूप प्रत्यक्ष दिखलाकर कृतार्थ कीजिये – उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि विश्वकी रचना और संहार, क्षर-अक्षर-विचारहीका एक मुख्य भाग है। 'ज्ञान' वह है, जिससे यह बात मालूम हो जाती है, कि सृष्टिके अनेक (नाना) व्यक्त पदार्थोंमें एकही अव्यक्त मूलद्रव्य है (गीता १८.२०); और 'विज्ञान' उसे कहते हैं, जिससे यह मालूम हो, कि एकही मूलभूत अव्यक्त द्रव्यसे अनेक भिन्न भिन्न पदार्थ किस प्रकार अलग अलग निर्मित हुए (गीता

---

* "गुणोंसेही गुणोंकी उत्पत्ति होती है और उन्हींमें उनका लय हो जाता है।"

१३.३०) हैं; और इसमें न केवल क्षर-अक्षर-विचारहीका समावेश होता है, किंतु क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान और अध्यात्म विषयोंकाभी समावेश हो जाता है।

भगवद्गीताके मतानुसार प्रकृति अपना संसारशकट चलाने या सृष्टिका कार्य चलानेके लिये स्वतंत्र नहीं है; किंतु उसे यह काम ईश्वरकी इच्छा के अनुसार करना पड़ता है (गीता ९.१०)। परंतु, पहले बतलाया जा चुका है, कि कपिलाचार्यने प्रकृतिको स्वतंत्र माना है। सांख्यशास्त्रके अनुसार, प्रकृतिके संसारका आरंभ होनेके लिये 'पुरुषका संयोग' इतनाही निमित्त कारण बस हो जाता है। इस विषयमें प्रकृति और किसीकी अपेक्षा नहीं करती। सांख्योंका यह कथन है, कि ज्योंही पुरुष और प्रकृतिका संयोग होता है, त्योंही उसकी टकसाल जारी हो जाती है और जिस प्रकार वसंत ऋतुमें वृक्षोंमें नये पत्ते दीख पड़ते है; और क्रमशः फूल और फल लगते हैं (मभा. शां. २३१.७३; मनु. १.३०), उसी प्रकार प्रकृतिकी मूल साम्यावस्था नष्ट हो जाती है; और उसके गुणोंका विस्तार होने लगता है। इसके विरुद्ध वेदसंहिता, उपनिषद् और स्मृतिग्रंथोंमें प्रकृतिको मूल न मान कर परब्रह्मको मूल माना है; और परब्रह्मसे सृष्टिकी उत्पत्ति होनेके विषयमें भिन्न भिन्न वर्णन किये गये हैं – "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" – पहले हिरण्यगर्भ (ऋ. १०.१२१.१) और इस हिरण्यगर्भसे अथवा सत्यसे सब सृष्टि उत्पन्न हुई (ऋ. १०.७२; १०.१९०); अथवा पहले पानी उत्पन्न हुआ (ऋ. १०.८२.६; तै. ब्रा. १.१.३.७; ऐ. उ. १.१.२) और फिर उससे सृष्टि उत्पन्न हुई। अथवा इस पानीमें एक अंड़ा उत्पन्न हुआ और उससे ब्रह्मा उत्पन्न हुआ; ब्रह्मासे अथवा उस मूल अंड़ेसेही सारा जगत् उत्पन्न हुआ; (मनु. १.८–१३; छां. ३.१९) अथवा वही ब्रह्मा (पुरुष) आधे हिस्सेसे स्त्री हो गया (बृ. १.४, ३; मनु १.३२); अथवा पानी उत्पन्न होनेके पहलेही पुरुष था (कठ. ४.६) अथवा परब्रह्मसे पहले तेज, पानी और पृथ्वी (अन्न) येही तीन तत्त्व उत्पन्न हुए और पश्चात् उनके मिश्रणसे सब पदार्थ बने (छां. ६.२–६)। यद्यपि उक्त वर्णनोंमें बहुत भिन्नता है; तथापि वेदान्तसूत्रोंमें (वे. सू. २.३.१–१५) अन्तिम निर्णय यह किया गया है, कि आत्मरूपी मूलब्रह्मसे ही आकाश आदि पंच-महाभूत क्रमशः उत्पन्न हुए हैं (तै. उ. २.१)। प्रकृति, महत् आदि तत्त्वोंकाभी उल्लेख (कठ. ३.११), मैत्रायणी (६.१०), श्वेताश्वतर (४.१०; ६.१६), आदि उपनिषदोंमें स्पष्ट रीतिसे किया गया है। इससे दीख पड़ेगा, कि यद्यपि वेदान्तमतवाले प्रकृतिको स्वतंत्र न मानते हों, तथापि जब एक बार शुद्ध ब्रह्महीमें मायात्मक प्रकृतिरूप विकार दृग्गोचर होने लगता है, तब आगे सृष्टिके उत्पत्तिक्रमके संबंधमें उनका और सांख्यमतवालोंका अंतमें मेल हो गया था; और इसी कारण महाभारतमें कहा है, कि "इतिहास, पुराण, अर्थशास्त्र आदिमें जो कुछ ज्ञान भरा है, वह सब सांख्योंसे प्राप्त हुआ है" (शां. ३०१.१०८, १०९)। उसका यह मतलब

नहीं है, कि वेदान्तियोंने अथवा पौराणिकोंने यह ज्ञान कपिलसे प्राप्त किया है; किंतु यहाँ पर केवल इतनाही अर्थ अभिप्रेत है, कि सृष्टिके उत्पत्तिक्रमका ज्ञान सर्वत्र एक-सा दीख पड़ता है। इतनाही नहीं; किंतु यहभी कहा जा सकता है, कि यहाँ पर 'सांख्य' शब्द प्रयोग 'ज्ञान'के व्यापक अर्थहीमें किया गया है। तथापि कपिलाचार्यने सृष्टिके उत्पत्तिक्रमका वर्णन शास्त्रीय दृष्टिसे विशेष पद्धतिपूर्वक किया है; और भगवद्गीतामेंभी विशेष करके इसी सांख्यक्रमका स्वीकार किया गया है, इस कारण उसीका विवेचन इस प्रकरणमें किया जायगा।

सांख्योंका सिद्धान्त है, कि इंद्रियोंको अगोचर अर्थात् अव्यक्त, सूक्ष्म और चारों ओर अखंडित भरे हुए एकही निरवयव मूलद्रव्यसे सारी व्यक्त सृष्टि उत्पन्न हुई है। यह सिद्धान्त पश्चिमी देशोंके अर्वाचीन आधिभौतिक शास्त्रज्ञोंको ग्राह्य है। ग्राह्यही क्यों, अब तो उन्होंने यहभी निश्चित किया है, कि इसी मूलद्रव्य की शक्तिका क्रमशः विकास होता आया है; और इस पूर्वापार क्रमको छोड़ बीचमें अचानक या निरर्थक कुछभी निर्माण नहीं हुआ है। इसी मतको उत्क्रांतिवाद या विकास सिद्धान्त कहते हैं। जब यह सिद्धान्त पश्चिमी राष्ट्रोंमें, गतशताब्दीमें, पहले पहल ढूँढ़ निकाला गया, तब वहाँ बड़ी खलबली मच गई थी। ईसाई धर्म-पुस्तकोंमें यह वर्णन है, कि ईश्वरने पंचमहाभूतोंको और जंगमवर्गके प्रत्येक प्राणीकी जातिको भिन्न भिन्न समयपर पृथक् पृथक् और स्वतंत्र निर्माण किया है; और उत्क्रांतिवादके पहले इसी मतको सब ईसाई लोक सत्य मानते थे। अतएव, जब ईसाई धर्मका उक्त सिद्धान्त उत्क्रांतिवादसे असत्य ठहराया जाने लगा, तब उत्क्रांति-वादियोंपर खूब जोरसे आक्रमण और कटाक्ष होने लगे। ये कटाक्ष आजकलभी न्यूनाधिक होतेही रहते हैं। तथापि, शास्त्रीय सत्यमें अधिक शक्ति होनेके कारण सृष्टयुत्पत्तिके संबंधमें सब विद्वानोंको उत्क्रांतिमतही आजकल अधिक ग्राह्य होने लगा है। इस मतका सारांश यह है – सूर्यमालामें पहले एक सूक्ष्म द्रव्यही भरा हुआ था। उसकी मूल गति अथवा उष्णताका परिमाण घटता गया। तब उस द्रव्यका अधिकाधिक संकोच होने लगा; और पृथ्वी समवेत सब ग्रह क्रमशः उत्पन्न हुए। अंतमें जो शेष अंश बचा, वही सूर्य है। पृथ्वीभी सूर्यके सदृश पहले एक उष्ण गोला थी। परंतु ज्यों ज्यों उसकी उष्णता कम होती गई, त्यों त्यों मूलद्रव्योंमेंसे कुछ द्रव्य पतले और कुछ घने हो गये। इस प्रकार पृथ्वीके ऊपरकी हवा और पानी तथा उसके नीचेका पृथ्वीका जड़ गोला, ये तीन पदार्थ बने; और इसके बाद, इन तीनोंके मिश्रण अथवा संयोगसे सब सजीव तथा निर्जीव सृष्टि उत्पन्न हुई है। डार्विन प्रभृति पंडितोंने तो यह प्रतिपादन किया है, कि इसी तरह मनुष्यभी छोटे कीड़ेसे बढते बढते अपनी वर्तमान अवस्थामें आ पहुँचा है। परंतु अबतक आधिभौतिकवादियोंमें और अध्यात्मवादियोंमें इस बातपर बहुत मतभेद है, कि सारी सृष्टिके मूलमें आत्मा जैसे किसी भिन्न और स्वतंत्र तत्त्वको मानना चाहिये

या नहीं। हेकेलके सदृश कुछ पंडित यह मानकर, कि जड़ पदार्थोंसेही बढ़ते बढ़ते आत्मा और चैतन्यकी उत्पत्ति हुई, जड़ाद्वैतका प्रतिपादन करते हैं, और इसके विरुद्ध कांटसरीखे अध्यात्मज्ञानियोंका यह कथन है, कि हमें सृष्टिका जो ज्ञान होता है, वह हमारे आत्माके एकीकरण – व्यापारका फल है, इसलिये आत्माको एक स्वतंत्र तत्त्व माननाही पड़ता है। क्योंकि यह कहना – कि जो आत्मा बाह्य-सृष्टिका ज्ञाता है, वह उसी गोचर सृष्टिका एक भाग है अथवा उस सृष्टिहीसे वह उत्पन्न हुआ है – तर्कदृष्टिसे ठीक वैसेही असमंजस या भ्रामक प्रतीत होगा, जैसे यह उक्ति कि हम स्वयं अपनेही कंधेपर बैठ सकते हैं। यही कारण है, कि सांख्यशास्त्रमें प्रकृति और पुरुष, ये दो स्वतंत्र तत्त्व माने गये हैं। सारांश यह है, कि आधिभौतिक सृष्टिज्ञान चाहे जितनी उन्नति करे; तथापि अबतक पश्चिमी देशोंमें बहुतेरे बड़े बड़े पंडित यही प्रतिपादन किया करते हैं, कि सृष्टिके मूल तत्त्वके स्वरूपका विवेचन हमेशा भिन्न पद्धतिसे किया जाना चाहिये। परंतु, यदि केवल इतनाही विचार किया जाय, कि एक जड़ प्रकृतिसे आगे सब व्यक्त पदार्थ किस क्रमसे बने हैं, तो पाठकोंको मालूम हो जायगा, कि पश्चिमी उत्क्रांतिमतमें और सांख्यशास्त्रमें वर्णित प्रकृतिके कार्यसंबंधी तत्त्वोंमें कोई विशेष अंतर नहीं है। क्योंकि इस मुख्य सिद्धान्तसे दोनों सहमत हैं, कि अव्यक्त, सूक्ष्म और एक मूल रूप प्रकृतिहीसे क्रमशः (सूक्ष्म और स्थूल) विविध रूप व्यक्त सृष्टि निर्मित हुई है। परंतु अब आधिभौतिक शास्त्रोंके ज्ञानकी खूब वृद्धि हो जानेके कारण, सांख्य-वादियोंके "सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंके बदले, आधुनिक सृष्टिशास्त्रज्ञोंने गति, उष्णता और आकर्षणशक्ति को प्रधानगुण मान रखा है। यह बात सच है, कि "सत्त्व, रज, तम " गुणोंकी न्यूनाधिकताके परिमाणोंकी अपेक्षा, उष्णता अथवा आकर्षणशक्तिकी न्यूनाधिकताकी बात आधिभौतिकशास्त्रकी दृष्टिसे सरलतापूर्वक समझमें आ जाती है। तथापि गुणोंके विकास अथवा गुणोत्कर्षका जो यह तत्त्व है, कि "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" (गीता ३. २८), वह दोनों ओर समानही है। सांख्यशास्त्रज्ञोंका कथन है, कि जिस तरह मोड़दार पंखेको धीरे धीरे खोलते हैं उसी तरह सत्त्व, रज, तमकी साम्यावस्थामें रहनेवाली प्रकृतिकी तह जब धीरे धीरे खुलने लगती है, तब सब व्यक्त सृष्टि निर्मित होती है – और इस कथनमें और उत्क्रांतिवादमें वस्तुतः कुछ भेद नहीं है। तथापि, यह भेद तात्त्विक धर्मदृष्टिसे ध्यानमें रखनेयोग्य है, कि ईसाई धर्मके समान गुणोत्कर्षतत्त्वका अनादर न करते हुए, गीतामें और अंशतः उपनिषद् आदि वैदिक ग्रंथोंमेंभी, अद्वैत वेदान्तके साथही साथ बिना किसी विरोधके गुणोत्कर्षवाद स्वीकार किया गया है।

अब देखना चाहिये कि प्रकृतिके विकासक्रमके विषयमें सांख्यशास्त्रकारोंका क्या कथन है। इस क्रमहीको गुणोत्कर्ष अथवा गुणपरिणामवाद कहते हैं। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं, कि कोई काम आरंभ करनेके पहले मनुष्य उसे अपनी

बुद्धिसे निश्चित कर लेता है, अथवा पहले वह काम करनेकी बुद्धि या इच्छा उसमें उत्पन्न हुआ करती है। उपनिषदोंमेंभी इस प्रकारका वर्णन है, कि आरंभमें मूल परमात्माको यह बुद्धि या इच्छा हुई, कि हमें अनेक होना चाहिये – " बहु स्यां प्रजायेय " – और इसके बाद सृष्टि उत्पन्न हुई (छां. ६. २. ३; तै. २. ६)। इसी न्यायके अनुसार अव्यक्त प्रकृतिभी अपनी साम्यावस्थाका भंग करके व्यक्त सृष्टिके निर्माण करनेका निश्चय पहले करलिया करती है। निश्चय – अर्थात् व्यवसाय – करना बुद्धिका लक्षण है। अतएव, सांख्योंने यह निश्चित किया है, प्रकृतिमें 'व्यवसायात्मिक बुद्धि'का गुण पहले उत्पन्न हुआ करता है। सारांश यह है, कि जिस प्रकार मनुष्यको पहले कुछ काम करनेकी इच्छा या बुद्धि हुआ करती है, उसी प्रकार प्रकृतिकोभी अपना विस्तार करने या पसारा पसारनेकी बुद्धि पहले हुआ करती है। परंतु इन दोनोंमें बड़ा भारी अंतर यह है, कि मनुष्यप्राणी सचेतन होनेके कारण – अर्थात् उसमें प्रकृतिकी बुद्धिके साथ सचेतन पुरुषका (आत्माका) संयोग होनेके कारण – वह स्वयं अपनी व्यवसायात्मिका बुद्धिको जान सकता है; और प्रकृति स्वयं अचेतन या जड़ है; इसलिये उसको अपनी बुद्धिका कुछ ज्ञान नहीं रहता। यह अंतर पुरुषके संयोगसे प्रकृतिमें उत्पन्न होनेवाले चैतन्यके कारण हुआ करता है; यह केवल जड़ या अचेतन प्रकृतिका गुण नहीं है। अर्वाचीन आधिभौतिक सृष्टिशास्त्रज्ञभी अब कहने लगे हैं, कि इस बातको विना माने कि मानवी इच्छाकी बराबरी करनेवाली किंतु अस्वयंवेद्य शक्ति जड़ पदार्थोंमेंभी रहती है, गुरुत्वाकर्षण अथवा रसायन-क्रियाका और लोहचुंबकका आकर्षण तथा अपसारण प्रभृति केवल जड़ सृष्टिमेंही दृग्गोचर होनेवाले गुणोंका मूल कारण ठीक ठीक बतलाया नहीं जा सकता।* आधुनिक सृष्टिशास्त्रज्ञोंके उक्त मतपर ध्यान देनेसे सांख्योंका यह सिद्धान्त आश्चर्यकारक नहीं प्रतीत होता, कि प्रकृतिमें पहले बुद्धि-गुणका प्रादुर्भाव होता है। प्रकृतिमें

---

* " Without the assumption of an atomic soul the commonest and the most general phenomena of Chemistry are inexplicable. Pleasure and pain, desire and aversion, attraction and repulsion must be common to all atoms of an aggregate; for the movements of atoms which must take place in the formation and dissolution of a chemical compound can be explained only by attributing to them *Sensation and Will.* " - Haeckel in the *Perigenesis of the Plastidule* - cited in Martineau's *Types of Ethical Theory*, Vol. II, p. 399, 3rd Ed. Haeckel himself explains this statement as follows :- " I explicitly stated that I conceived the elementary psychic qualities of *Sensation* and *will* which may be attributed to atoms, to be *unconscious* - just as unconscious as the elementary memory, which I, in common with the distinguished psychologist Ewald Hering, consider to be a common function of all organised matter, or more correctly the living substances. " - *The Riddle of the Universe*, Chap. IX, p. 63 (R. P. A. Cheap Ed.).

प्रथम उत्पन्न होनेवाले इन गुणोंको यदि आप चाहें, तो अचेतन अथवा अस्वयंवेद्य अर्थात् अपने आपको ज्ञात न होनेवाली बुद्धि कह सकते हैं। परंतु, उसे चाहे जो कहें; इसमें संदेह नहीं, कि मनुष्यको होनेवाली बुद्धि और प्रकृतिको होनेवाली बुद्धि दोनों मूलमें एकही श्रेणीकी हैं; और इसी कारण दोनों स्थानोंपर उनकी व्याख्याएँभी एकही-सी की गई हैं। उस बुद्धिकेही "महत्, ज्ञान, मति, आसुरी, प्रजा, ख्याति" आदि अन्य नाम हैं। मालूम होता है, कि इसमेंसे 'महत्' (पुल्लिग कर्ताका एकवचन महानबड़ा) नाम इस गुणकी श्रेष्ठताके कारण दिया गया होगा; अथवा इसलिये दिया गया होगा, कि अब प्रकृति बढ़ने लगती है। प्रकृतिमें पहले उत्पन्न होनेवाला महान् अथवा बुद्धि-गुण 'सत्त्व-रज-तम'के मिश्रणहीका परिणाम है। इसलिये प्रकृतिकी यह बुद्धि यद्यपि देखनेमें एकही प्रतीत होती हो, तथापि यह आगे कई प्रकारकी हो सकती है। क्योंकि ये गुण – सत्त्व, रज और तम – प्रथम दृष्टिसे यद्यपि तीन हैं, तथापि विचार-दृष्टिसे प्रकट हो जाता है, कि इनके मिश्रणमें प्रत्येक गुणका परिमाण अनंत रीतिसे भिन्न भिन्न हुआ करता है, और इसी लिये इन तीनोंमेंसे प्रत्येक गुणके अनंत भिन्न परिमाणसे उत्पन्न होनेवाली बुद्धिके प्रकारभी त्रिघात अनंत हो सकते हैं। अव्यक्त प्रकृतिसे निर्मित होनेवाली यह बुद्धिभी प्रकृतिकेही सदृश सूक्ष्म होती है। परंतु पिछले प्रकरणमें 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' तथा 'सूक्ष्म' और 'स्थूल'का जो अर्थ बतलाया गया है, उसके अनुसार यह बुद्धि प्रकृतिके समान सूक्ष्म होनेपरभी उसके समान अव्यक्त नहीं है – मनुष्यको इसका ज्ञान हो सकता है। अतएव, अब यह सिद्ध हो चुका, कि इस बुद्धिका समावेश व्यक्तमें (अर्थात् मनुष्यको गोचर होनेवाले पदर्थोंमें) होता है; और सांख्यशास्त्रमें न केवल बुद्धि किंतु बुद्धिके आगे प्रकृतिके बादके सब विकारभी व्यक्तही माने जाते हैं। एक मूल प्रकृतिके सिवा कोईभी अन्य तत्त्व अव्यक्त नहीं है।

इस प्रकार, यद्यपि अव्यक्त प्रकृतिमें व्यक्त व्यवसायात्मिका – बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, तथापि प्रकृति अबतक एकही बनी रहती है। इस एकरूपताका भंग होना और अनेकरूपता या विविधत्वका उत्पन्न होनाही पृथकत्व कहलाता है। उदाहरणार्थ, पारेका जमीनपर गिरना और उसकी अलग अलग छोटी छोटी गोलियाँ बन जाना। बुद्धिके बाद जब तक यह पृथकत्व या विविधरूपता उत्पन्न न हो, तब तक एकही प्रकृतिके अनेक पदार्थ हो जाना संभव नहीं। बुद्धिसे बादमें उत्पन्न होनेवाली पृथकताके गुणकोही 'अहंकार' कहते हैं। क्योंकि पृथकता, 'मैं-तू' शब्दोंसेही, प्रथम व्यक्त की जाती है; और 'मैं-तू'का अर्थही अहंकार, अथवा अहं-अहं (मैं-मैं) करना है। प्रकृतिमें उत्पन्न होनेवाले अहंकारके इस गुणको यदि आप चाहें, तो अस्वयंवेद्य अर्थात् अपने आपको ज्ञात न होनेवाला अहंकार कह सकते हैं। परंतु स्मरण रहे, कि मनुष्यमें प्रकट होनेवाला अहंकार, और वह अहंकार कि जिसके कारण पेड़, पत्थर, पानी अथवा भिन्न भिन्न मूल

परमाणु एकरूप प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं, ये दोनों एकही जातिके हैं। भेद केवल इतनाही है, कि पत्थरमें चैतन्य न होनेके कारण उसे 'अहं'का ज्ञान नहीं होता, और मुँह न होनेके कारण 'मैं-तू' कहकर स्वाभिमानपूर्वक अपनी किसीपर वह प्रकट नहीं कर सकता। सारांश यह है, कि दूसरोंसे पृथक् रहनेका – अर्थात् अभिमान या अहंकारका – तत्त्व सब जगह समानही है। इस अहंकारहीको तैजस, अभिमान, भूतादि और धातुभी कहते हैं। अहंकार बुद्धिहीका एक भाग है। इसलिये पहले जबतक बुद्धि न होगी, तबतक अहंकार उत्पन्न होही नहीं सकता। अतएव सांख्योंने यह निश्चित किया है, कि 'अहंकार' यह दूसरा – अर्थात् बुद्धिके बादका – गुण है। अब यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं, कि सात्त्विक, राजस और तामस भेदोंसे बुद्धिके समान अहंकारकेभी अनंत प्रकार हो जाते हैं। इसी तरह उनके बादके गुणोंकेभी प्रत्येकके त्रिघात अनंत भेद हैं। अथवा यह कहिये, कि व्यक्त सृष्टिमें प्रत्येक वस्तुके इसी प्रकार अनंत, सात्त्विक, राजस और तामस भेद हुआ करते हैं; और इसी सिद्धान्तको लक्ष्य करके गीतामें गुणत्रय-विभाग और श्रद्धात्रय-विभाग बतलाते गये हैं (गीता अ. १४ और १७)।

व्यवसायात्मिका बुद्धि और अहंकार, ये दोनों व्यक्त गुण जब मूल साम्यावस्थाकी प्रकृतिमें उत्पन्न हो जाते हैं, तब प्रकृतिकी एकरूपता भंग हो जाती है और उससे अनेक पदार्थ बनने लगते हैं। तथापि उसकी सूक्ष्मता अबतक कायम रहती है। अर्थात् यह कहना अयुक्त न होगा, कि अब नैयायिकोंके सूक्ष्म परमाणुओंका आरंभ होता है। क्योंकि अहंकार उत्पन्न होनेके पहले प्रकृति अखंडित और निरवयव थी। वस्तुतः देखनेसे तो प्रतीत होता है, कि निरी बुद्धि और निरा अहंकार केवल गुण हैं। अतएव, उपर्युक्त सिद्धान्तोंसे यह मतलब नहीं लेना चाहिये, कि वे (बुद्धि और अहंकार) प्रकृतिके द्रव्यसे पृथक् रहते हैं। वास्तवमें बात यह है, कि जब मूल एक और अवयवरहितही प्रकृतिमें इन गुणरूपोंका प्रादुर्भाव हो जाता है, तब उसीको विविधरूप और अवयवसहित द्रव्यात्मक व्यक्त रूप प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार जब अहंकारसे मूलप्रकृतिमें भिन्न भिन्न पदार्थ बननेकी शक्ति आ जाती है, तब आगे उसकी वृद्धिकी दो शाखाएँ हो जाती हैं। एक – पेड़, मनुष्य आदि सेंद्रिय प्राणियोंकी सृष्टि और दूसरी, निरिंद्रिय पदार्थोंकी सृष्टि। यहाँ इंद्रिय शब्दसे केवल "इंद्रियवान् प्राणियोंकी इंद्रियोंकी शक्ति" इतनाही अर्थ लेना चाहिये। इसका कारण यह है, कि सेंद्रिय प्राणियोंकी जड देहका समावेश जड़ यानी निरिंद्रिय सृष्टिमें होता है; और इन प्राणियोंकी आत्मा 'पुरुष' नामक अन्य वर्गमें शामिल किया जाता है। इसीलिये सांख्यशास्त्रमें सेंद्रिय सृष्टिका विचार करते समय, देह और आत्माको छोड़ केवल इंद्रियोंकाही विचार किया गया है। इस जगत्में सेंद्रिय अथवा निरिंद्रिय पदार्थोंके अतिरिक्त किसी तीसरे पदार्थका होना संभव नहीं। इसलिये कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि अहंकारसे दोसे अधिक शाखाएँ निकलही नहीं सकती। इनमें

निरिंद्रिय पदार्थोंकी अपेक्षा इंद्रियशक्ति श्रेष्ठ है। इसलिये इंद्रिय सृष्टिको सात्त्विक (अर्थात् सत्त्वगुणके उत्कर्षसे होनेवाली) कहते हैं; और निरिंद्रिय सृष्टिको तामस (अर्थात् तमोगुणके उत्कर्षसे होनेवाली) कहते हैं। सारांश यह है, कि जब अहंकार अपनी शक्तिसे भिन्न भिन्न पदार्थ उत्पन्न करने लगता है, तब उसीमें एक बार सत्त्वगुणका उत्कर्ष होकर एक ओर पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ और मन मिलकर इंद्रिय सृष्टिकी मूलभूत ग्यारह इंद्रियाँ उत्पन्न होती हैं; और दूसरी ओर, तमोगुणका उत्कर्ष होकर उससे निरिंद्रिय सृष्टिके मूलभूत पाँच तन्मात्रद्रव्य उत्पन्न होते हैं। परंतु प्रकृतिकी सूक्ष्मता अबतक कायम रही है; इसलिये अहंकारसे उत्पन्न होनेवाले ये सोलह तत्त्वभी सूक्ष्मही रहते हैं।*

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंधकी तन्मात्राएँ – अर्थात् बिना मिश्रण हुए प्रत्येक गुणके भिन्न भिन्न अति सूक्ष्म मूल स्वरूप – निरिंद्रिय – सृष्टिके मूलतत्त्व हैं; और मनसहित ग्यारह इंद्रियाँ-सृष्टिकी बीज हैं। इस विषयकी सांख्यशास्त्रकी उपपत्ति विचार करनेयोग्य है, कि निरिंद्रिय सृष्टिके मूल तत्त्व (तन्मात्र) पाँचही क्यों और सेंद्रिय सृष्टिके मूल तत्त्व ग्यारहही क्यों माने जाते हैं। अर्वाचीन सृष्टिशास्त्रज्ञोंने सृष्टिके पदार्थोंके तीन भेद – घन, द्रव और वायुरूपी – किये हैं; परंतु सांख्य-शास्त्रकारोंका पदार्थोंका वर्गीकरण इससे भिन्न है। उनका कथन है कि मनुष्यको सृष्टिके सब पदार्थोंका ज्ञान केवल पाँच ज्ञानेंद्रियोंसे हुआ करता है; और इन ज्ञानेंद्रियोंकी रचना कुछ ऐसी विलक्षण है, कि एक इंद्रियको सिर्फ़ एकही गुणका ज्ञान हुआ करता है। आँखोंसे सुगंध नहीं मालूम होती और न कानसे दीखता है; त्वचासे मीठा-कडुवा नहीं समझ पड़ता और न जिव्हासे शब्दज्ञान होता है; नाकसे सफ़ेद और काले रंगका भेदभी नहीं मालूम होता। जब इस प्रकार पाँच ज्ञानेंद्रियाँ और उनके पाँच विषय – शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध – निश्चित हैं; तब यह प्रकट है, कि सृष्टिके सब गुणभी पाँचसे अधिक नहीं माने जा सकते। क्योंकि यदि हम कल्पनासे यह मानभी लें कि गुण पाँचसे अधिक हैं; तो कहना नहीं होगा, कि उनको जाननेके लिये हमारे पास कोई साधन या उपाय नहीं है। इन पाँच गुणोंमेंसे प्रत्येकके अनेक भेद हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, यद्यपि 'शब्द' – एकही गुण है, तथापि

---

* संक्षेपमें यही अंग्रेजी भाषामें इस प्रकार कहा जा सकता है :–

The Primeval matter (*Prakriti*) was at first *homogeneous*. It *resolved* (*Buddhi*) to unfold itself, and by the *principle of differentation* (*Ahamkara*) became *hetrogeneous*. It then branched off into *Two* Sections - one *organic* (*Sendriya*) and the other *inorganic* (*Nirindriya*). There are *eleven* elements of the organic and *five* of the inorganic creation. *Purusha* or the observer is different from all these and falls under none of the above categories.

उसके छोटा, बड़ा, कर्कश, भद्दा, फटा हुआ, कोमल अथवा गायनशास्त्रके अनुसार निषाद, गांधार, षड्ज आदि; और व्याकरणशास्त्रके अनुसार कण्ठच, तालव्य, और औष्ठच आदि अनेक भेद हुआ करते हैं। इसी तरह यद्यपि 'रूप' एकही गुण है, तथापि उसकेभी अनेक भेद हुआ करते हैं; जैसे सफ़ेद, काला, नीला, पीला, हरा, लाल, आदि। इसी तरह यद्यपि 'रस' या 'रुचि' एकही गुण है, तथापि उसके खट्टा, मीठा, तीखा, कड़ुवा, खारा आदि अनेक भेद हो जाते हैं। और, 'मिठास' यद्यपि एक विशिष्ट रुचि है, तथापि हम देखते हैं, कि गन्नेकी मिठास, दूधकी मिठास, गुड़की मिठास और शक्करकी मिठास भिन्न भिन्न होती है; तथा इस प्रकार उस एकही 'मिठास'के अनेक भेद हो जाते हैं। यदि भिन्न भिन्न गुणोंके भिन्न भिन्न मिश्रणोंपर विचार किया जाय, तो यह गुणवैचिव्य अनंत प्रकारसे अनंत हो सकता है। परंतु चाहे जो हो; पदार्थोंके मूल गुण पाँचसे कभी अधिक हो नहीं सकते। क्योंकि इंद्रियाँ केवल पाँच हैं, और प्रत्येकको एकही एक गुणका बोध हुआ करता है। इसलिये सांख्योंने यह निश्चित किया है, कि यद्यपि केवल शब्दगुणके अथवा केवल स्पर्शगुणके पृथक् पृथक् यानी दूसरे गुणोंके मिश्रणरहित पदार्थ हमें दीख न पड़ते हों, तथापि इसमें संदेह नहीं, कि मूल प्रकृतिमें निरा शब्द, निरा स्पर्श, निरा रूप, निरा रस और निरा गंध है – उस प्रकार शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गंधतन्मात्रही हैं – अर्थात् मूल प्रकृतिके येही पाँच भिन्न भिन्न सूक्ष्म तन्मात्रविकार अथवा द्रव्य निःसंदेह हैं। आगे इस बातका विचार किया गया है, कि पंचतन्मात्राओं अथवा उनसे उत्पन्न होनेवाले पंचमहाभूतोंके संबंधमें उपनिषत्कारोंका कथन क्या है।

निरिंद्रिय सृष्टिका इस प्रकार विचार करके यह निश्चित किया गया है, कि उसमें पाँचही मूलतत्त्व हैं। और जब हम सेंद्रिय सृष्टिपर दृष्टि ड़ालते हैं, तबभी यही प्रतीत होता है, कि पाँच, ज्ञानेंद्रियाँ, पांच कर्मेंद्रियाँ और मन, इन ग्यारह इंद्रियोंकी अपेक्षा अधिक इंद्रियाँ किसीकेभी नहीं हैं। स्थूल देहमें हाथ और पैर आदि इंद्रियाँ यद्यपि स्थूल प्रतीत होती हैं, तथापि इनमेंसे प्रत्येककी जड़में किसी मूल सूक्ष्म तत्त्वका अस्तित्व माने बिना इंद्रियोंकी भिन्नताका यथोचित कारण मालूम नहीं होता। पाश्चिमात्य आधिभौतिक उत्क्रांतिवादियोंमें इसपर बहुत विवाद हुआ है। अर्वाचीन सृष्टि-शास्त्रज्ञ कहते हैं, कि मूलके अत्यंत छोटे और गोलाकार जंतुओंमें सिर्फ़ 'त्वचा'ही एक इंद्रिय होती है; और इस त्वचासे अन्य इंद्रियाँ क्रमशः उत्पन्न हुई है। उदाहरणार्थ, मूल जंतुकी त्वचासे प्रकाशका संयोग होनेपर आँख उत्पन्न हुई, इत्यादि। आधिभौतिक-वादियोंका यह तत्त्व – कि प्रकाश आदिके संयोगसे स्थूल-इंद्रियोंका प्रादुर्भाव होता है – सांख्योंकोभी ग्राह्य है। महाभारत (महा. शां. २१३. १६) में, सांख्यप्रक्रियाके अनुसार इंद्रियोंके प्रादुर्भावका वर्णन इस प्रकार पाया जाता है :–

शब्दरागात् श्रोत्रमस्य जायते भावितात्मनः।
रूपरागात् तथा चक्षुः घ्राणं गंधजिघृक्षया ॥

अर्थात् "प्राणियोंके आत्माको जब सुननेकी भावना हुई, तब कान उत्पन्न हुआ; रूप पहचाननेकी इच्छासे आँख; सूंघनेकी इच्छासे नाक उत्पन्न हुई।" परंतु सांख्योंका यह कथन है, कि यद्यपि त्वचाका प्रादुर्भाव पहले होता हो, तथापि मूल प्रकृतिमेंही यदि भिन्न भिन्न इंद्रियोंके उत्पन्न होनेकी शक्तिका न हो, तो सजीव सृष्टिके अत्यंत छोटे कीड़ोंकी त्वचापर सूर्यप्रकाशका चाहे जितना आघात या संयोग होता रहे, तोभी उन्हें आँखें – और वेभी शरीरके एक विशिष्ट भागहीमें – कैसे प्राप्त हो सकती है? ड़ार्विनका सिद्धान्त सिर्फ़ यह आशय प्रकट करता है, कि दो प्राणियों – एक चक्षुवाला और दूसरा चक्षुरहितके – निर्मित होनेपर, इस जड़ सृष्टिके कलहमें चक्षुवाला अधिक समयतक टिक सकता है; और दूसरा शीघ्रही नष्ट हो जाता है। परंतु पश्चिमी आधिभौतिक सृष्टिशास्त्रज्ञ इस बातका मूल कारण नहीं बतला सकते, कि नेत्र आदि भिन्न भिन्न इंद्रियोंकी उत्पत्ति पहले हुईही क्यों। सांख्योंका मत यह है, कि ये सब इंद्रियाँ किसी एकही मूल इंद्रियसे क्रमशः उत्पन्न नहीं हुईं, किंतु जब अहंकारके कारण प्रकृतिमें विविधरूपता उत्पन्न होने लगती है, तब पहले उस अहंकारसे पाँच सूक्ष्म कर्मेंद्रियाँ, पाँच सूक्ष्म ज्ञानेंद्रियाँ और मन, इन सबको मिलाकर ग्यारह भिन्न भिन्न गुण (शक्ति) सबके सब एकसाथ (युगपत्) स्वतंत्र होकर मूलप्रकृतिमेंही उत्पन्न होते हैं; और फ़िर इसके बाद स्थूल सेंद्रिय सृष्टि उत्पन्न हुआ करती है। इन ग्यारह इंद्रियोंमेंसे मनके बारेमें पहलेही छठे प्रकरणमें बतला दिया गया है, कि वह ज्ञानेंद्रियोंके साथ संकल्पविकल्पात्मक होता है; अर्थात् ज्ञानेंद्रियोंसे ग्रहण किये गये संस्कारोंकी व्यवस्था करके वह उन्हें बुद्धिके सामने निर्णयार्थ उपस्थित करता है; और कर्मेंद्रियोंके साथ वह व्याकरणात्मक होता है; अर्थात् उसे बुद्धिके निर्णयको कर्मेंद्रियोंके द्वारा अमलमें लाना पड़ता है। इस प्रकार वह उभयविध, अर्थात् इंद्रियभेदके अनुसार भिन्न भिन्न प्रकारके काम करनेवाला होता है। उपनिषदोंमें इंद्रियोंकोही 'प्राण' कहा है; और सांख्योंके मतानुसार उपनिषत्कारोंकाभी यही मत है, कि ये प्राण पंचमहाभूतात्मक नहीं हैं; किंतु परमात्मासे पृथक् उत्पन्न हुए हैं (मुंड. २. १. ३) इन प्राणोंकी – अर्थात् इंद्रियोंकी – संख्या उपनिषदोंमें कहीं दस, ग्यारह, बारह और कहीं तेरह बतलाई गई है। परंतु वेदान्तसूत्रोंके आधारसे श्रीशंकराचार्यने निश्चित किया है, कि उपनिषदोंके सब वाक्योंकी एकरूपता करनेपर इंद्रियोंकी संख्या ग्यारहही सिद्ध होती है (वे. सू. शां. २. ४. ५. ६)। और गीतामें तो इस बातका स्पष्ट उल्लेख किया गया है, कि "इंद्रियाणि दशैकं च' (गीता १३. ५) – अर्थात् इंद्रियाँ 'दस और एक' अर्थात् ग्यारह हैं। अब इस विषयपर सांख्य और वेदान्त दोनोंमें कोई मतभेद नहीं रहा।

सांख्योंके निश्चित किये हुए मतका सारांश यह है – सात्त्विक अहंकारसे सेंद्रिय सृष्टिकी मूलभूत ग्यारह इंद्रियशक्तियाँ (गुण) उत्पन्न होती हैं; और तामस अहंकारसे निरिंद्रिय सृष्टिके मूलभूत पाँच तन्मात्रद्रव्य निर्मित होते हैं। इसके बाद

पंचतन्मात्रद्रव्योंसे क्रमशः स्थूल पंचमहाभूत (जिन्हें 'विशेष' भी कहते हैं) और स्थूल निरिंद्रिय पदार्थ बनने लगते हैं; तथा, यथासंभव इन पदार्थोंका संयोग ग्यारह सूक्ष्म इंद्रियोंके साथ हो जानेपर सेंद्रिय सृष्टि बन जाती है।

सांख्यमतानुसार प्रकृतिसे प्रादुर्भूत होनेवाले तत्त्वोंका क्रम, जिसका वर्णन अबतक किया गया है, निम्न लिखित वंशवृक्षसे अधिक स्पष्ट हो जायगा :–

ब्रह्मांडका वंशवृक्ष

पुरुष ---→ (दोनों स्वयंभू और अनादि) ←--- **प्रकृति** (अव्यक्त और **सूक्ष्म**)
(निर्गुण; पर्यायशब्द :– ज्ञ द्रष्टा, इ.) । (सत्त्व-रज-तमोगुणी; पर्यायशब्द:–प्रधान, अव्यक्त, माया, प्रसव-धर्मिणी आदि)

|

महान् अथवा **बुद्धि** (व्यक्त और **सूक्ष्म**)
(पर्यायशब्द :– आसुरी, मति, ज्ञान ख्याति इ.)

|

अहंकार (व्यक्त और **सूक्ष्म**)
(पर्यायशब्द :– अभिमान, तैजस आदि)

(सात्त्विक सृष्टि अर्थात् व्यक्त और सूक्ष्म इंद्रियाँ) (तामस अर्थात् निरिंद्रिय सृष्टि

पाँच बुद्धिन्द्रियाँ, **पाँच कर्मेन्द्रियाँ,** **मन, पंचतन्मात्राएँ** (सूक्ष्म)

विशेष या पंचमहाभूत (स्थूल)

अठारह तत्त्वोंका लिंगशरीर (सूक्ष्म)

स्थूल पंचमहाभूत और पुरुषको मिलाकर कुल तत्त्वोंकी संख्या पचीस है। इनमेंसे महान् अथवा बुद्धिके बादके तेईस गुण मूलप्रकृतिके विकार हैं। किंतु उनमेंभी यह भेद है, कि सूक्ष्मतन्मात्राएँ और पाँच स्थूल महाभूत द्रव्यात्मक विकार हैं, और बुद्धि, अहंकार तथा इंद्रियाँ केवल शक्तियाँ या गुण हैं। ये तेईस तत्त्व व्यक्त हैं तो मूल प्रकृति अव्यक्त है। सांख्योंने इन तेईस तत्त्वोंमेंसे आकाशतत्त्वहीमें दिक् और कालकोभी संमिलित कर दिया है। वे 'प्राण'को भिन्न तत्त्व नहीं मानते; किंतु जब जब इंद्रियोंके व्यापार आरंभ होने लगते हैं, तब उसीको वे प्राण कहते हैं (सां. का. २९)। परंतु वेदांतियोंको यह मत मान्य नहीं है। उन्होंने प्राणको स्वतंत्र तत्त्व माना है (वे. सू. २. ४. ९)। यह पहलेही बतलाया जा चुका है, कि वेदान्ती लोग प्रकृति पुरुषको स्वयंभू और स्वतंत्र नहीं मानते, जैसे कि सांख्यमतानुयायी मानते हैं; किंतु और उनका कथन है, कि ये दोनों (प्रकृति और पुरुष) एकही परमेश्वरकी दो विभूतियाँ हैं। सांख्य और वेदान्तके उक्त भेदोंको छोड़कर शेष सृष्टयुत्पत्ति क्रम दोनों पक्षोंको ग्राह्य है। उदाहरणार्थ, महाभारतकी अनुगीतामें 'ब्रह्मवृक्ष' अथवा

'ब्रह्मवन'का जो दो बार वर्णन किया गया है (मभा. अश्व. ३५. २०–२३ और ४७ १२-१५) वह सांख्यतत्त्वोंके अनुसारही है :–

अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान् ।
महाहंकारविटपः इंद्रियान्तरकोटरः ।।
महाभूतविशाखश्च विशेषप्रतिशाखवान् ।
सदापर्णः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः ।
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः ।
एवं छित्त्वा च भित्त्वा च तत्त्वज्ञानासिना बुधः ।।
हित्वा संगमयान् पाशान् मृत्युजन्मजरोदयान् ।
निर्ममो निरहंकारो मुच्यते नात्र संशयः ।।

अर्थात् "अव्यक्त (प्रकृति) जिसका बीज है, बुद्धि (महान्) जिसका तना या पिंड़ है, अहंकार जिसका प्रधान पल्लव है, मन और दस इंद्रियाँ जिसकी अंतर्गत खोखलियाँ या खोड़दे हैं, (सूक्ष्म) महाभूत (पंचतन्मात्राएँ) जिसकी बड़ी बड़ी शाखाएँ हैं, और विशेष अर्थात् स्थूल महाभूत जिसकी छोटी छोटी टहनियाँ हैं, इसी प्रकार सदा पत्र, पुष्प और शुभाशुभ फल धारण करनेवाला, समस्त प्राणिमात्रके लिये आधारभूत, यह सनातन बृहद् ब्रह्मवृक्ष है। ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह इसे ज्ञानरूपी तलवारसे काट कर टूक टूक कर डाले; जन्म, जरा और मृत्यु उत्पन्न करनेवाले संगमय पाशोंको नष्ट करे और ममत्वबुद्धि तथा अहंकारका त्याग कर दे; तब वह निःसंशय मुक्त होता है।" संक्षेपमें, यही ब्रह्मवृक्ष प्रकृति अथवा मायाका 'खेल' 'जाला' या 'पसार' है। अत्यंत प्राचीन कालहीसे – ऋग्वेदकालहीसे – इसे 'वृक्ष' कहनेकी रीति पड़ गई है; और उपनिषदोंमेंभी इसको 'सनातन अश्वत्थ-वृक्ष' कहा है (कठ. ६. १)। परंतु वेदोंमें इसका सिर्फ़ यही वर्णन किया गया है, कि इस वृक्षका मूल (परब्रह्म) ऊपर है; और शाखाएँ (दृश्य-सृष्टिका फैलाव) नीचे हैं। इस वैदिक वर्णनको और सांख्योंके तत्त्वोंको मिलाकर गीतामें अश्वत्थ वृक्षका वर्णन किया गया है। इसका स्पष्टीकरण हमने गीताके (गीता १५. १–२) श्लोकोंकी अपनी टीकामें कर दिया है।

ऊपर (वृक्षरूपसे) बतलाये गये पचीस तत्त्वोंका वर्गीकरण सांख्य और वेदान्ती भिन्न भिन्न रीतिसे किया करते हैं। अतएव यहाँपर उस वर्गीकरणके विषयमें कुछ लिखना चाहिये। सांख्योंका यह कथन है, कि इन पचीस तत्त्वोंके चार वर्ग होते हैं –अर्थात् मूल प्रकृति प्रकृति-विकृति, विकृति और न-प्रकृति न-विकृति (१) प्रकृति-तत्त्व किसी दूसरेसे उत्पन्न नहीं हुआ है; अतएव उसे 'मूल प्रकृति' कहते हैं। मूल प्रकृतिसे आगे बढ़नेपर जब हम दूसरी सीढ़ीपर आते हैं, तब 'महान्' तत्त्वका पता लगता है। यह महान् तत्त्व प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ है; इसलिये वह "प्रकृतिकी विकृति

या विकार " है। और इसके बाद महान् तत्त्वसे अहंकार निकला है; अतएव 'महान्' अहंकारकी प्रकृति अथवा मूल है। इस प्रकार महान् अथवा बुद्धि एक ओरसे अहंकारकी प्रकृति या मूल है और दूसरी ओरसे वह मूलप्रकृतिकी विकृति अथवा विकार है। इसीलिये सांख्योंने उसे 'प्रकृति-विकृति' नामक वर्गमें रखा; और इसी न्यायके अनुसार अहंकार तथा पंचतन्मात्राओंका समावेशभी 'प्रकृति-विकृति' वर्गहीमें किया जाता है। जो तत्त्व अथवा गुण स्वयं दूसरेसे उत्पन्न (विकृति) हो, और आगे वही स्वयं अन्य तत्त्वोंका मूलभूत (प्रकृति) हो जावे, उसे 'प्रकृति-विकृति' कहते हैं। इस वर्गके ये सात तत्त्व हैं :– महान् अहंकार और पंचतन्मात्राएँ। (३) परंतु पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ, मन और स्थूल पंचमहाभूत, इन सोलह तत्त्वोंसे बादमें और अन्य तत्त्वोंकी उत्पत्ति नहीं हुई। किंतु ये स्वयं दूसरे तत्त्वोंसे प्रादुर्भूत हुए हैं। अतएव इन सोलह तत्त्वोंको 'प्रकृति-विकृति' न कह कर केवल 'विकृति' अथवा विकार कहते हैं। (४) 'पुरुष' न प्रकृति है; और न विकृति। वह स्वतंत्र और उदासीन द्रष्टा है। ईश्वरकृष्णने इस प्रकार वर्गीकरण करके फ़िर उसका स्पष्टीकरणयों किया है :–

मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

अर्थात् " यह मूलप्रकृति अविकृति है – अर्थात् किसीकाभी विकार नहीं है; महदादि सात (अर्थात् महत्, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ) तत्त्व प्रकृति-विकृति हैं; और मनसहित ग्यारह इंद्रियाँ तथा स्थूल पंचमहाभूत मिलकर सोलह तत्त्वोंको केवल विकृति अथवा विकार कहते हैं। पुरुष न प्रकृति है न विकृति " (सां. का. ३)। आगे इन्हीं पचीस तत्त्वोंके और तीन भेद किये गये हैं – अव्यक्त, व्यक्त और ज्ञ। इनमेंसे केवल एक मूलप्रकृतिही अव्यक्त है; प्रकृतिसे उत्पन्न हुए तेईस तत्त्व व्यक्त हैं, और पुरुष 'ज्ञ' है। ये हुए सांख्योंके वर्गीकरणके भेद। पुराण, स्मृति, महाभारत आदि वैदिकमार्गीय ग्रंथोंमें प्रायः इन्हीं पचीस तत्त्वोंका उल्लेख पाया जाता है (मैत्र्यु. ६. १०; मनु. १. १४. १५)। परंतु, उपनिषदोंमें वर्णन किया गया है, कि ये सब तत्त्व परब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं और वहाँ इनका विशेष विवेचन या वर्गीकरणभी नहीं किया गया है। उपनिषदोंके बाद जो ग्रंथ हुए हैं, उनमें इनका वर्गीकरण किया हुआ दीख पड़ता है; परंतु वह उपर्युक्त सांख्योंके वर्गीकरणसे भिन्न है। कुल तत्त्व पचीस हैं। इनमेंसे सोलह तत्त्व तो सांख्यमतके अनुसारभी विकार अर्थात् दूसरे तत्त्वोंसे उत्पन्न हुए हैं। इस कारण उन्हें प्रकृतिमें अथवा मूलभूत पदार्थोंके वर्गमें संमिलित नहीं कर सकते। अब ये नौ तत्त्व शेष रहे – १ पुरुष, २ प्रकृति, ३–९ महत्, अहंकार, और पाँच तन्मात्राएँ। इनमेंसे पुरुष और प्रकृतिको छोड़ शेष सात तत्त्वोंको सांख्योंने प्रकृति-विकृति कहा है। परंतु वेदान्तशास्त्रमें प्रकृतिको स्वतंत्र न मानकर यह सिद्धान्त निश्चित किया है, कि पुरुष और प्रकृति दोनों एकही परमेश्वरसे उत्पन्न होते हैं।

इस सिद्धान्तको मान लेनेसे, सांख्योंके 'मूल-प्रकृति' और 'प्रकृति-विकृति' भेदोंके लिये स्थानही नहीं रह जाता। क्योंकि प्रकृतिभी परमेश्वरसे उत्पन्न होनेके कारण मूल नहीं कही जा सकती; किंतु वह प्रकृति-विकृतिकेही वर्गमें शामिल हो जाती है। अत-एव सृष्टयुत्पत्तिका वर्णन करते समय वेदान्ती कहा करते हैं; कि एक परमेश्वरहीसे एक ओर जीव निर्माण हुआ; दूसरी ओर (महदादि सात प्रकृति-विकृतिसहित) अष्टधा अर्थात् आठ प्रकारकी प्रकृति निर्मित हुई (मभा. शां. ३०६.२९ और ३१०.१०)। अर्थात् , वेदान्तियोंके मतसे पचीस तत्त्वोंमेंसे सोलह तत्त्वोंको छोड़ शेष नौ तत्त्वोंके केवल दोही वर्ग किये जाते हैं – एक 'जीव' और 'दूसरा' 'अष्टधा प्रकृति'। भगवद्गीतामें वेदान्तियोंका यह वर्गीकरण स्वीकृत किया गया है। परंतु इसमेंभी अंतमें थोड़ासा फ़र्क हो गया है। सांख्यवादी जिसे पुरुष कहते हैं, उसेही गीतामें जीव कहा है; और यह बतलाया है, कि वह (जीव) ईश्वरकी 'परा प्रकृति' अर्थात् श्रेष्ठ स्वरूप है; और सांख्यवादी जिसे मूलप्रकृति कहते हैं, उसेही गीतामें परमेश्वरका 'अपर' अर्थात् कनिष्ठ स्वरूप कहा गया है (गीता ७.४–५) इस प्रकार पहले दो बड़े वर्ग कर लेनेपर उनमेंसे दूसरे वर्गके अर्थात् कनिष्ठ स्वरूपके जब औरभी भेद या प्रकार बतलाने पड़ते हैं, तब इस कनिष्ठ स्वरूपके अतिरिक्त उससे उपजे हुए शेष तत्त्वों कोभी बतलाना आवश्यक होता है। क्यों कि यह कनिष्ठ स्वरूप (अर्थात् सांख्योंकी मूलप्रकृति) स्वयं अपनाही एक प्रकार या भेद हो नहीं सकता। उदाहरणार्थ, जब यह बतलाना पड़ता है, कि बापके लड़के कितने हैं; तब उन लड़कोंमेंही बापकी गणना नहीं की जा सकती। अतएव परमेश्वरके कनिष्ठ स्वरूपके अन्य भेदोंको बतलाते समय कहना पड़ता है, कि वेदान्तियोंकी अष्टधा प्रकृतिमेंसे मूलप्रकृतिको छोड़ शेष सात तत्त्वही (अर्थात् महान्, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ) उस मूलप्रकृतिके भेद या प्रकार हैं। परंतु ऐसा करनेसे कहना पड़ेगा, कि परमेश्वरका कनिष्ठ स्वरूप (अर्थात् मूल प्रकृति) सात प्रकारका है; और ऊपर कह आये हैं, कि वेदान्ती तो प्रकृति अष्टधा अर्थात् आठ प्रकारकी मानते हैं। अब इस स्थानपर यह विरोध दीख पड़ता है, कि जिस प्रकृतिको वेदान्ती अष्टधा या आठ प्रकारकी कहें, उसीको गीता सप्तधा या सात प्रकारकी कहे। परंतु गीताकारको अभीष्ट था, कि उक्त विरोध तो दूर हो जावे; और 'अष्टधा प्रकृति'का वर्णन बना रहे। इसीलिये महान्, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ इन सातोंमेंही आठवें मनतत्त्वको संमिलित करके गीतामें वर्णन किया गया है, कि परमेश्वरका कनिष्ठ स्वरूप अर्थात् मूल प्रकृति अष्टधा है। (गीता ७.५) इनमेंसे केवल मनहीमें दस इंद्रियों और पंचतन्मात्राओंमें पंचमहाभूतोंका समावेश किया गया है। अब यह प्रतीत हो जायगा, कि गीतामें किया गया वर्गीकरण सांख्यों और वेदान्तियोंके वर्गीकरणसे यद्यपि कुछ भिन्न है, तथापि इससे कुल तत्त्वोंकी संख्यामें कुछ न्यूनाधिकता नहीं हो जाती। सब जगह तत्त्व पचीसही

माने गये हैं। परंतु वर्गीकरणकी उक्त भिन्नताके कारण किसीके मनमें कुछ भ्रम न हो जाय, इसलिये ये तीनों वर्गीकरण कोष्टकके रूपमें एकत्र करके आगे दिये गये हैं। गीताके तेरहवें अध्याय (गीता १३. ५) में वर्गीकरणके झगडेमें न पड़ कर, सांख्योंके पचीस तत्त्वोंका वर्णन ज्यों-का-त्यों पृथक् पृथक् किया गया है; और इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि चाहे वर्गीकरणमें कुछ भिन्नता हो; तथापि तत्त्वोंकी संख्या दोनों स्थानोंपर बराबरही है।

पचीस मूलतत्त्वोंका वर्गीकरण

सांख्योंका वर्गीकरण।	तत्त्व।	वेदान्तियोंका वर्गीकरण।	गीताका वर्गीकरण
न-प्रकृति न-विकृति	१ पुरुष	परब्रह्मका श्रेष्ठ स्वरूप	परा प्रकृति
मूल प्रकृति	१ प्रकृति	परब्रह्मका कनिष्ठ स्वरूप (आठ प्रकारका)	अपरा प्रकृति
७ प्रकृति-विकृति	१ महान् १ अहंकार ५ तन्मात्राएँ		अपरा प्रकृतिके आठ प्रकार
१६ विकार	१ मन ५ बुद्धींद्रियाँ ५ कर्मेंद्रियाँ ५ महाभूत	विकार होनेके कारण इन सोलह तत्त्वोंको वेदान्ती मूल तत्त्व नहीं मानते।	विकार होनेके कारण गीतामें इन पंद्रह तत्त्वोंकी गणना मूल तत्त्वोंमें नहीं की गई है।
	२५		

यहाँतक इस बातका विवेचन हो चुका, कि पहले मूलसाम्यावस्थामें रहनेवाली एकरूप अवयवरहित अव्यक्त जड़ प्रकृतिमें व्यक्तसृष्टि उत्पन्न करनेकी अस्वयंवेद्य 'बुद्धि' कैसे प्रकट हुई; फिर उसमें 'अहंकार'से अवयवसहित विविध समता कैसे उपजी; और इसके बाद 'गुणोंसे गुण' इस गुणपरिणामवादके अनुसार एक ओर सात्त्विक (अर्थात् सेंद्रिय) सृष्टिकी मूलभूत ग्यारह सूक्ष्म इंद्रियाँ तथा दूसरी ओर तामस (अर्थात् निरिंद्रिय) सृष्टिकी मूलभूत पाँच सूक्ष्मतन्मात्राएँ कैसे निर्मित हुई। अब इसके बादकी सृष्टि (अर्थात् स्थूल पंचमहाभूतों या उनसे उत्पन्न होनेवाले अन्य जड़ पदार्थोंकी) उत्पत्तिके क्रमका वर्णन किया जावेगा। सांख्यशास्त्रमें सिर्फ़ यही कहा है, कि सूक्ष्मतन्मात्राओंसे 'स्थूल पंचमहाभूत' अथवा 'विशेष', गुणपरिणामके कारण, उत्पन्न हुए हैं। परंतु वेदान्तशास्त्रके ग्रंथोंमें इस विषयका अधिक विवेचन किया गया है; इसलिये प्रसंगानुसार उसकाभी संक्षिप्त वर्णन – इस सूचनाके साथ, कि यह वेदान्तशास्त्रका मत है, सांख्योंका नहीं – यहाँ कह देना आवश्यक जान पड़ता है। "स्थूल पृथ्वी, पानी, तेज, वायु और आकाश"को पंचमहाभूत अथवा विशेष कहते हैं। इनका उत्पत्तिक्रम तैत्तिरीयोपनिषद्में इस प्रकार है :– "आत्मनः आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः।" इत्यादि (तै. उ. २. १)–

अर्थात् पहले परमात्मासे (मूलजड़ प्रकृतिसे नहीं; जैसा कि सांख्यवादियोंका कथन है) आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे पानी और फिर पानीसे पृथ्वी उत्पन्न हुई है। तैत्तिरीयोपनिषद्में यह नहीं बतलाया गया, कि इस क्रमका कारण क्या है। परंतु प्रतीत होता है, कि उत्तर-वेदान्तग्रंथोंमें पंचमहाभूतोंके उत्पत्तिक्रमके कारणोंका विचार सांख्यशास्त्रोक्त गुणपरिणामके तत्त्वपरही किया गया है। इन उत्तर-वेदान्तियोंका यह कथन है, कि "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" इस न्यायसे पहले एकही गुणका पदार्थ उत्पन्न हुआ। उससे दो गुणोंके और फिर तीन गुणोंके पदार्थ उत्पन्न हुए – इसी प्रकार वृद्धि होती गई। पंचमहाभूतोंमेंसे आकाशका केवल शब्दही एक गुण मुख्य है, इसलिये पहले आकाश उत्पन्न हुआ। इसके बाद वायुकी उत्पत्ति हुई, क्योंकि उसमें शब्द और स्पर्श दो गुण है। जब वायु जोरसे चलती है, तब उसकी आवाज़ सुन पड़ती है; और हमारी स्पर्शेंद्रियकोभी उसका ज्ञान होता हैं। वायुके बाद अग्निकी उत्पत्ति होती है। क्योंकि शब्द और स्पर्शके अतिरिक्त उसमें तीसरा गुण रूप है। इन तीनों गुणोंके साथही साथ पानीमें चौथा गुण रुचि या रस होता है। इसलिये उसका प्रादुर्भाव अग्निसेही होना चाहिये। और अंतमें, इन चारों गुणोंकी अपेक्षा पृथ्वीमें 'गंध' नामक विशेष गुण होनेसे यह सिद्धान्त किया गया है, कि पानीसे बादमें पृथ्वी उत्पन्न हुई है। यास्काचार्यका यही सिद्धान्त है (निरुक्त १४.४)। तैत्तिरीयोपनिषद्में आगे चल कर कहा गया है, कि उक्त क्रमसे स्थूल पंचमहाभूतोंकी उत्पत्ति हो चुकनेपर फिर – "पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।" पृथ्वीसे वनस्पति, वनस्पतिसे अन्न और अन्नसे पुरुष उत्पन्न हुआ (तै. २.१)। यह सृष्टि पंचमहाभूतोंके मिश्रणसे बनती है, इसलिये इस मिश्रणक्रियाको वेदान्तग्रंथोंमें 'पंचीकरण' कहते हैं। पंचीकरणका अर्थ "पंचमहाभूतोंमेंसे प्रत्येकका न्यूनाधिक भाग ले कर उन सबके मिश्रणसे किसी नये पदार्थका बनना" है। अतः यह पंचीकरण, स्वभावतः अनेक प्रकारका से सकता है। श्रीसमर्थ रामदासस्वामीने अपने 'दासबोध'के नौवें तथा ग्यारहवें दशकमें जो वर्णन किया है, वहभी इसी बातको सिद्ध करता है। देखिये : "काला और सफ़ेद मिलानेसे नीला बनता है, और काला और पीला मिलानेसे हरा बनता है" (दा. ९.६.४०)। पृथ्वीमें अनंत कोटि बीजोंकी जातियाँ होती हैं। पृथ्वी और पानीका मेल होनेपर उन बीजोंसे अंकुर निकलते हैं। अनेक प्रकारकी बेलें होती हैं, पत्र-पुष्प होते हैं, और अनेक प्रकारके स्वादिष्ट फल होते हैं। . . . अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज, सबका बीज पृथ्वी और पानी है। यही सृष्टिरचनाका अद्भुत चमत्कार है। इस प्रकार चार खानियाँ, चार वाणियाँ, चौरासी लाख* जीवयोनियाँ, तीन लोक, पिंड, ब्रह्मांड सब निर्मित

* यह बात स्पष्ट है, कि चौरासी लाख योनियोंकी कल्पना पौराणिक है, और वह अंदाज़से की गई है। तथापि, वह निरी निराधारभी नहीं है। उत्क्रांति-

हुए हैं। (दा. १३. ३. १०–१५) परंतु पंचीकरणसे केवल जड़ पदार्थ अथवा जड़ शरीरही उत्पन्न होते हैं। ध्यान रहे, कि जब इस जड़ देहका संयोग प्रथम सूक्ष्म इंद्रियोंसे और फिर आत्मासे अर्थात् पुरुषसे होता है, तभी इस जड़ देहसे सचतेन प्राणी हो सकता है।

यहाँ यहभी बतला देना चाहिये, कि उत्तर वेदान्त-ग्रंथोंमें वर्णित यह पंचीकरण प्राचीन उपनिषदोंमें नहीं है। छांदोग्योपनिषदमें पाँच तन्मात्राएँ या पाँच महाभूत नहीं माने गये हैं, किंतु कहा है, कि "तेज, आप (पानी) और अन्न (पृथ्वी)" इन्ही तीन सूक्ष्म मूलतत्त्वोंके मिश्रणसे अर्थात् 'त्रिवृत्करण'से सब विविध सृष्टि बनी है। और, श्वेताश्वेतरोपनिषद्में कहा है कि, "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बव्हीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः" (श्वेता. ४. ५) अर्थात् लाल (तेजोरूप), सफ़ेद (जलरूप) और काले (पृथ्वीरूप) रंगोंकी (अर्थात् तीन तत्त्वोंकी) एक अजा (बकरी)से नामरूपात्मक प्रजा (सृष्टि) उत्पन्न हुई। छांदोग्योपनिषद्के छठे अध्यायमें श्वेतकेतु और उसके पिताका संवाद है। संवादके आरंभ-

---

तत्त्वके अनुसार पश्चिमी आधिभौतिकशास्त्री यह मानते हैं, कि सृष्टिके आरंभमें उपस्थित एक छोटेसे सजीव सूक्ष्म गोल जंतुसे मनुष्यप्राणी उत्पन्न हुआ। इस कल्पनासे यह बात स्पष्ट है, कि सूक्ष्म गोल जंतुका स्थूल गोल जंतु बननेमें, स्थूल ज़ंतुका पुनश्च छोटा छोटा कीड़ा होनेमें, छोटे कीड़के बाद उसका अन्य प्राणी होनेमें, प्रत्येक योनि अर्थात् जातिकी अनेक पीढ़ियाँ बीत गई होंगी। इससे एक आंग्ल जीवशास्त्रज्ञने गणितके द्वारा सिद्ध किया है, कि पानीमें रहनेवाली छोटी छोटी मछलियोंके गुण-धर्मोंका विकास होते होते उन्हींको अंतमें मनुष्यस्वरूप प्राप्त होनेमें, भिन्न भिन्न जातियोंकी लगभग ५३ लाख ७५ हज़ार पीढ़ियाँ बीत चुकी हों; और संभव है, कि इन पीढ़ियोंकी संख्या कदाचित इससे दस गुणाभी हो। ये हुई पानीमें रहनेवाले ज़लचरोंसे लेकर मनुष्यतकको योनियाँ। अब यदि इनमेंही छोटे जलचरोंसे पहलेके सूक्ष्म जंतुओंका समावेश कर दिया जाय तो न मालूम और कितनी लाख पीढ़ियोंकी कल्पना करनी होगी। इससे मालूम हो जायगा, कि हमारे पुराणोंमें वर्णित चौरासी लाख योनियोंकी कल्पना की अपेक्षा आधिभौतिक शास्त्रज्ञोंके पुराणोंमें वर्णित पीढ़ियोंकी कल्पना कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है। कल्पनासंबंधी यह न्यायकाल (समय) कोभी उपयुक्त हो सकता है। भूगर्भगतजीव-शास्त्रज्ञोंका कथन है, कि इस बातका स्थूल दृष्टिसे निश्चय नहीं किया जा सकता कि, सजीवसृष्टिके सूक्ष्म जंतु इस पृथ्वीपर कब उत्पन्न हुए। और सूक्ष्म जलचरोंकी उत्पत्ति तो कई करोड़ वर्षोंके पहले हुई है। इस विषयका विवेचन The Last Link by Ernst Haeckel, with notes, etc. by Dr. H. Gadow (1898) नामक पुस्तकमें किया गया है। डॉक्टर गेडोने इस पुस्तकमें जो दो-तीन उपयोगी परिशिष्ट जोड़ें हैं, उनसेही उपर्युक्त बातें ली गई हैं। हमारे पुराणोंमें चौरासी योनियोंकी गिनती इस प्रकार की गई है – ९ लाख जलचर, १० लाख पक्षी, ११ लाख कृमि, २० लाख पशु, ३० लाख स्थावर और ४ लाख मनुष्य (दासबोध २०. ६)।

हीमें श्वेतकेतुके पिताने उससे स्पष्ट कह दिया है, कि "अरे, इस जगत्के आरंभमें 'एकमेवाद्वितीय सत्'के अतिरिक्त – अर्थात् जहाँ तहाँ रूप सब एक जगह और नित्य परब्रह्मके अतिरिक्त और कुछभी नहीं था। जो असत् (अर्थात् हैही नहीं) उससे सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? अतएव, आदिमें सर्वत्र सत्ही व्याप्त था। इसके बाद उसे अनेक अर्थात् विविध रूप होनेकी इच्छा हुई। और उससे क्रमशः सूक्ष्म तेज (अग्नि), आप (पानी) और अन्न (पृथ्वी) की उत्पत्ति हुई। पश्चात् इन तीन तत्त्वोंमेंही जीवरूपसे परब्रह्मका प्रवेश होनेपर उनके त्रिवृत्करणसे जगतकी अनेक नामरूपात्मक वस्तुएँ निर्मित हुईं। स्थूल अग्नि, सूर्य या विद्युल्लताकी ज्योतिमें, जो लाल (लोहित) रंग है, वह सूक्ष्म तेजोरूपी मूलतत्त्वका परिणाम है, जो सफ़ेद (शुक्ल) रंग है, वह सूक्ष्म आप-तत्त्वका परिणाम है; और जो काला (कृष्ण) रंग है, वह सूक्ष्म पृथ्वी-तत्त्वका परिणाम है। इसी प्रकार मनुष्य जिस अन्नका सेवन करता है, उसमेंभी सूक्ष्म तेज, सूक्ष्म आप और सूक्ष्म अन्न (पृथ्वी) येही तीन तत्त्व होते हैं। जैसे दहीको मथनेसे मक्खन ऊपर आ जाता है, वैसे ही उक्त तीन सूक्ष्म तत्त्वोंसे बना हुआ अन्न जब पेटमें जाता है, तब उसमेंसे तेज-तत्त्वके कारण मनुष्यके शरीरमें स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म परिणाम – जिन्हें क्रमशः अस्थि, मज्जा, और वाणी कहते हैं – उत्पन्न हुआ करते हैं। इसी प्रकार आप अर्थात् जलतत्त्वसे मूत्र, रक्त और प्राण; तथा अन्न अर्थात् पृथ्वी-तत्त्वसे पुरीष, माँस और मन ये तीन द्रव्य निर्मित होते हैं, (छां. ६. २–६। छांदोग्योपनिषदकी यही पद्धति वेदान्तसूत्रोंमें (वे. सू. २. ४. २०) भी कही गई है, कि मूल महाभूतोंकी संख्या पाँच नहीं, केवल तीनही है; और उनके त्रिवृत्करणसे सब दृश्य पदार्थोंकी उत्पत्तिभी मालूम की जा सकती है। परंतु बादरायणाचार्य तो पंचीकरणका नाम तक नहीं लेते। तथापि तैत्तिरीय (२. १), प्रश्न (४. ८), बृहदारण्यक (४. ४. ५) आदि अन्य उपनिषदोंमें, और विशेषतः श्वेताश्वतर (२. १२), वेदान्तसूत्र (२२. ३. १–१४) तथा गीता (७. ४; १३. ५) मेंभी तीनके बदले पाँच महाभूतोंका वर्णन है। गर्भोपनिषद्के आरंभहीमें कहा है, कि मनुष्य देह 'पंचात्मक' है; और महाभारत तथा पुराणोंमें तो पंचीकरणका वर्णन स्पष्ट तया किया गया है (मभा. शां. १८४– १८६)। इससे यही सिद्ध होता है, कि यद्यपि त्रिवृत्करण प्राचीन है, तथापि जड़ महाभूतोंकी संख्या तीनके बदले पाँच मानी जाने लगी, तब त्रिवृत्करणके उदाहरणहीसे पंचीकरणकी कल्पनाका प्रादुर्भाव हुआ; और त्रिवृत्करण पीछे रह गया। एवं अंतमें पंचीकरणकी कल्पना सब वेदान्तियोंको ग्राह्य हो गई। आगे चल कर इसी पंचीकरण शब्दके अर्थमें यह बातभी शामिल हो गई, कि मनुष्यका शरीर केवल पंचमहाभूतोंसे ही नहीं बना है; किंतु उन पंचमहाभूतोंमेंसे हर एक पाँच प्रकारसे शरीरमें विभाजितभी हो गया है। उदाहरणार्थ, त्वक्, माँस, अस्थि, मज्जा और स्नायु ये पाँच विभाग अन्नमय पृथ्वीतत्त्वके हैं, इत्यादि (मभा. शां. १८४.

२०-२५; और दासबोध १७. ८)। प्रतीत होता है, कि यह कल्पनाभी उपर्युक्त छांदोग्योपनिषदके त्रिवृत्करणके वर्णनसे सूझ पड़ी है। क्योंकि वहाँभी अंतिम वर्णन यही है, कि "तेज, आप और पृथ्वी" इन तीनोंमेंसे प्रत्येक, तीन-तीन प्रकारसे मनुष्यकी देहमें पाया जाता है।

इस बातका विवेचन हो चुका, कि मूल अव्यक्त प्रकृतिसे अथवा वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार परब्रह्मसे अनेक नाम और रूप धारण करनेवाले सृष्टिके अचेतन अर्थात् निर्जीव या जड़ पदार्थ कैसे बने हैं। अब इसका विचार करना चाहिये, कि सृष्टिके सचेतन अर्थात् सजीव प्राणियोंकी उत्पत्तिके संबंधमें सांख्यशास्त्रका विशेष कथन क्या है, और फिर यह देखना चाहिये, कि वेदान्तशास्त्रके सिद्धान्तोंसे उसका कहाँतक मेल है। जब मूलप्रकृतिसे प्रादुर्भूत पृथ्वी आदि स्थूल पंचमहाभूतोंका संयोग सूक्ष्म इंद्रियोंके साथ होता है, तब उससे सजीव प्राणियोंका शरीर बनता है। परंतु यद्यपि यह शरीर सेंद्रिय हो, तथापि वह जड़ही रहता है। इन इंद्रियोंको प्रेरित करनेवाला तत्त्व जड़ प्रकृतिसे भिन्न होता है, जिसे 'पुरुष' कहते हैं। सांख्योंके इन सिद्धान्तोंका वर्णन पिछले प्रकरणमें किया जा चुका है, कि यद्यपि मूलतः 'पुरुष' अकर्ता है, तथापि प्रकृतिके साथ उसका संयोग होनेपर सजीव सृष्टिका आरंभ होता है; और "मैं प्रकृतिसे भिन्न हूँ" यह ज्ञान हो जानेपर पुरुषका प्रकृतिसे संयोग छूट जाता है; तथा वह मुक्त हो जाता है। यदि ऐसा नहीं होता, तो जन्म-मरणके चक्करमें उसे घूमना पड़ता है। परंतु इस बातका विवेचन तब नहीं किया गया, कि जिस 'पुरुष'की 'प्रकृति' और 'पुरुष'की भिन्नताका ज्ञान हुए बिनाही मृत्यू हो जाती है, उसके आत्मा, अर्थात् सांख्य परिभाषाके अनुसार 'पुरुष'को ये नये जन्म कैसे प्राप्त होते हैं। अतएव यहाँ उस विषयका कुछ अधिक विवेचन करना आवश्यक जान पड़ता है। यह स्पष्ट है, कि जो मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त कियेही मर जाता है, उसकी आत्मा प्रकृतिके चक्रसे सदाके लिये छूट नहीं सकती। क्योंकि यदि ऐसा हो, तो ज्ञान अथवा पाप-पुण्यका कुछभी महत्त्व नहीं रह जायगा। और फिर चार्वाकके मतानुसार यह कहना पड़ेगा कि मृत्युके बाद हर एक मनुष्य प्रकृतिके फंदेसे छूट जाता है – अर्थात् वह मोक्ष पा जाता है। अच्छा; यदि यह कहें, कि मृत्युके बाद केवल आत्मा अर्थात् पुरुष बच जाता है; और वही स्वयं नये नये जन्म लिया करता है, तो यह मूलभूत सिद्धान्त – कि पुरुष अकर्ता और उदासीन है, और सब कर्तृत्व प्रकृतिहीका है – मिथ्या प्रतीत होने लगता है। इसके सिवा यदि हम यह मानते हैं, कि आत्मा स्वयंही नये नये जन्म लिया करती है, तो वह उसका गुण या धर्म हो जाता है; और तब तो ऐसी अनवस्था प्राप्त हो जाती है, कि वह जन्म-मरणके आवगमनसे कभी छूटही नहीं सकता। इसलिये यह सिद्ध होता है, कि यदि बिना ज्ञान प्राप्त किये कोई मनुष्य मर जाय तोभी उसकी आत्माको नया जन्म प्राप्त करा देनेके लिये उससे प्रकृतिका

संवंध अवश्य रहनाही चाहिये। तथापि मृत्युके बाद स्थूल देहका नाश हो जाया करता है। इसलिये यह प्रकट है, कि अब उक्त संबंध स्थूल महाभूतात्मक प्रकृतिके साथ नहीं रह सकता। परंतु यह नहीं कहा जा सकता, कि प्रकृति केवल स्थूल पंचमहाभूतोंहीसे बनी है। प्रकृतिसे कुल तेईस तत्त्व उत्पन्न होते हैं; और स्थूल पंचमहाभूत उन तेईसोंमेंसे अंतिम पाँच हैं। इन अंतिम पाँच तत्त्वों (स्थूल पंच-महाभूतों) को तेईस तत्त्वोंमेंसे अलग करनेपर अठराह तत्त्व शेष रहते हैं। अतएव अब यह कहना चाहिये, कि जो पुरुष बिना ज्ञान प्राप्त कियेही मर जाता है; वह यद्यपि पंचमहाभूतात्मक स्थूल-शरीरसे – अर्थात् अंतिम पाँच तत्त्वोंसे – छूट जाता है, तथापि इस प्रकारकी मृत्युसे प्रकृतिके अठराह अन्य तत्त्वोंके साथ उसका संबंध कभी छूट नहीं सकता। वे अठारह तत्त्व ये हैं :– महान्, (बुद्धि), अहंकार, मन, दस इंद्रियाँ और पाँच तन्मात्राएँ (इस प्रकरणमें दिया गया ब्रह्मांडका वृक्षवंश पृष्ठ १८०)। ये सब तत्त्व सूक्ष्म हैं। अतएव इन तत्त्वोंके साथ पुरुषका संयोग स्थिर होकर जो शरीर बनता है, उसे स्थूलशरीरके विरुद्ध सूक्ष्म अथवा लिंग-शरीर कहते हैं (सां. का. ४०)। जब कोई मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त कियेही मर जाता है, तब मृत्युके समय उसको आत्माके साथही प्रकृतिके उक्त अठारह तत्त्वोंसे बना हुआ यह लिंग-शरीरभी स्थूल देहसे बाहर हो जाता है। और जबतक उस पुरुषको ज्ञानकी प्राप्ति हो नहीं जाती, तबतक उस लिंगशरीरहीके कारण उसको नये नये जन्म लेने पड़ते हैं। इसपर कुछ लोगोंका यह प्रश्न है, कि मनुष्यकी मृत्युके बाद जीवके साथ साथ इस जड़ देहमें बुद्धि, अहंकार, मन और दस इंद्रियोंके व्यापारभी नष्ट होते हुए, हमें प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। इस कारण लिंगशरीरमें इन तेरह तत्त्वोंका समावेश किया जाना तो उचित है; परंतु इन तेरह तत्त्वोंके साथ पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओंकाभी समावेश लिंगशरीरमें क्यों किया जाना चाहिये ? इसपर सांख्योंका उत्तर यह है, कि ये तेरह तत्त्व-निरी बुद्धि, निरा अहंकार, मन और दस इंद्रियाँ – प्रकृतिके केवल गुण हैं। और, जिस तरह छायाको किसी-न-किसी पदार्थका – तथा चित्रको दीवार, काग़ज आदिका – आश्रय आवश्यक है; उसी तरह इन गुणात्मक तेरह तत्त्वोंकोभी एकत्र रहनेके लिये किसी द्रव्यके आश्रयकी आवश्यकता होती है। अब आत्मा (पुरुष) स्वयं निर्गुण और अकर्ता है; इसलिये वह स्वयं किसीभी गुणका आश्रय हो नहीं सकता। मनुष्यकी जीविता-वस्थामें उसके शरीरके स्थूल पंचमहाभूतही इन तेरह तत्त्वोंके आश्रयस्थान हुआ करते हैं – परंतु मृत्युकेबाद अर्थात् स्थूल शरीरके नष्ट हो जाने पर स्थूल पंच-महाभूतोंका यह आधार छूट जाता है। तब उस अवस्थामें इन तेरह गुणात्मक तत्त्वोंके लिये किसी अन्य द्रव्यात्मक आश्रयकी आवश्यकता होती है। यदि मूल प्रकृतिहीको आश्रय मान लें, तो वह अव्यक्त और अविकृत अवस्थामें – अर्थात् अनंत और सर्वव्यापी – होनेके कारण एक छोटेसे लिंगशरीरके अहंकार, बुद्धि आदि

गुणोंका आधार नहीं हो सकती। अतएव मूलप्रकृतिकेही द्रव्यात्मक विकारोंमेंसे, स्थूल पंचमहाभूतोंके बदले उनके मूलभूत पाँच सूक्ष्म तन्मात्र द्रव्योंका समावेश उपर्युक्त तेरह गुणोंके साथ-ही-साथ उनके आश्रयस्थानकी दृष्टिसे लिंगशरीरमें करना पड़ता है (सां. का. ४१) । बहुतेरे सांख्य ग्रंथकार, लिंगशरीर और स्थूल शरीरके बीच एक और तीसरे शरीर (पंचतन्मात्राओंसे बने हुए) की कल्पना करके प्रतिपादन करते हैं, कि यह तीसरा शरीर लिंगशरीरका आधार है। परंतु हमारा मत यह है, कि सांख्यकारिकाकी इकतालीसवीं आर्याका यथार्थ भाव वैसा नहीं है, पर टीकाकारोंने भ्रमसे तीसरे शरीरकी कल्पना की है। हमारे मतानुसार उस आर्याका उद्देश्य सिर्फ़ इस बातका कारण बतलानाही है, कि बुद्धि आदि तेरह तत्त्वोंके साथ पंचतन्मात्राओंकाभी समावेश लिंगशरीरमें क्यों किया गया। इसके अतिरिक्त अन्य कोई हेतु नहीं है।*

कुछ विचार करनेसे प्रतीत हो जायगा, कि सूक्ष्म अठारह तत्त्वोंके सांख्योक्त लिंगशरीरमें और उपनिषदोंमें वर्णित लिंगशरीरमें विशेष भेद नहीं है। बृहदारण्यकोपनिषद्में कहा है, कि –" जिस प्रकार जोंक (जलायुका) घासके तिनकेके छोरतक पहुँचनेपर दूसरे तिनकेपर (सामनेके पैरोंसे) अपने शरीरका अग्रभाग रखती है; और फिर पहले तिनकेपरसे अपने शरीरके अंतिम भागको खींच लेती है; उसी प्रकार आत्मा एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है" (बृ. ४. ४. ३) । परंतु केवल इस दृष्टांतसे ये दोनों अनुमान सिद्ध नहीं होते, कि निरा आत्माही दूसरे शरीरमें जाता है और वहभी एक शरीरसे छूटतेही चला जाता है। क्योंकि बृहदारण्यकोपनिषद् (बृ. ४. ४. ६) में आगे चलकर यह वर्णन किया गया है, कि आत्माके साथ साथ पाँच (सूक्ष्म) भूत, मन, इंद्रियाँ, प्राण और धर्माधर्मभी शरीरसे बाहर निकल जाते हैं। और यहभी कहा है, कि आत्माको अपने कर्मके अनुसार भिन्न भिन्न लोक प्राप्त होते हैं, एवं वहाँ उसे कुछ कालपर्यंत निवास करना पड़ता

---

* भट्ट कुमारिलकृत 'मीमांसाश्लोकवार्तिक' ग्रंथके एक श्लोकसे (आत्मवाद, श्लोक ६२) देखी पड़ेगा, कि उन्होंने इस आर्याका अर्थ हमारे अनुसारही किया है। वह श्लोक यह है :–

अंतराभवदेहो हि नेष्यते विंध्यवासिना।
तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किंचिदवगम्यते ।। ६२ ।।

" अंतराभव अर्थात् लिंगशरीर और स्थूलशरीरके बीचवाले शरीरसे विंध्यवासी सहमत नहीं है। यह माननेके लिये कोई प्रमाण नहीं है, कि उक्त प्रकारका कोई शरीर है। " ईश्वरकृष्ण विंध्याचलपर रहता था; इसलिये उसको, विंध्यवासी कहा है। अंतराभवशरीरको 'गंधर्व' भी कहते हैं (अमरकोश ३. ३. १३२.) और उसपर श्री. कृष्णाजी गोविंद ओक द्वारा प्रकाशित क्षीरस्वामीकी टीका तथा उस ग्रंथकी प्रस्तावना पृष्ठ ८ देखो।

है (बृ. ६. २. १४ और १५) । इसी प्रकार, छांदोग्योपनिषद्‌मेंभी आप (पानी) मूल तत्त्वके साथ जीवकी जिस गतिका वर्णन किया है (छांदो. ५. ३. ३; ५. ९. १), उससे और वेदान्तसूत्रोंमें उसके अर्थका जो निर्णय किया गया है (वे. सू. ३. १. १–७) उससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि लिंग-शरीरमें – पानी, तेज और अन्न – इन तीनों मूलतत्त्वोंका समावेश किया जाना छांदोग्योपनिषदकोभी अभिप्रेत है। सारांश, यही दीख पड़ता है, कि महदादि अठारह सूक्ष्म तत्त्वोंसे बने हुए सांख्योंके 'लिंग-शरीर'मेंही प्राण और धर्माधर्म अर्थात् कर्मकोभी शामिल कर देनेसे वेदान्तमतानुसार लिंग-शरीर हो जाता है। परंतु सांख्यशास्त्रके अनुसार प्राणका समावेश ग्यारह इंद्रियोंकी वृत्तियोंमेंही, और धर्म-अधर्मका समावेश बुद्धींद्रियोंके व्यापारमेंही हुआ करता है। अतएव उक्त भेदके विषयमें यह कहा जा सकता है, कि वह केवल शाब्दिक है – वस्तुतः लिंगशरीरके घटकावयवके संबंधमें वेदान्त और सांख्यमतोंमें कुछभी भेद नहीं है। इसीलिये मैत्र्युपनिषद्‌में (मै. ६. १०) " महदादि सूक्ष्मपर्यंतं " यह सांख्योक्त लिंगशरीरका लक्षण 'महदाद्यविशेषान्तं' इस पर्यायसे ज्यों-का-त्यों रख दिया है * भगवद्गीतामें (गीता १५. ७) पहले यह बतलाकर, कि 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' – मन और पाँच ज्ञानेंद्रियोंहीका सूक्ष्म शरीर होता है – आगे ऐसा वर्णन किया है, कि 'वायुर्गन्धानिवाशयात्' (गीता १५. ८) – जिस प्रकार हवा फूलोंकी सुगंध हर लेती है, उसी प्रकार जीव स्थूलशरीरका त्याग करते समय इस लिंग-शरीरको अपने साथ ले जाता है। तथापि, गीतामें जो अध्यात्मज्ञान है, वह उपनिषदोंहीमेंसे लिया गया है। इसलिये कहा जा सकता है, कि " मनसहित छः इंद्रियाँ " इन शब्दोंमेंही पांच कर्मेंद्रियाँ, पंचतन्मात्राएँ, प्राण और पाप-पुण्यका संग्रह भगवान्‌को अभिप्रेत है। मनुस्मृतिमेंभी (मनु. १२. १६, १७) यह वर्णन किया गया है, कि मरनेपर मनुष्यको, इस जन्ममें किये हुए पाप-पुण्यका फल भोगनेके लिये, पंचतन्मात्रात्मक सूक्ष्मशरीर प्राप्त होता है। गीताके 'वायुर्गन्धा-

---

* आनंदाश्रम, पूनाने प्रकाशित द्वात्रिंशदुपनिषदोंकी पोथी मैत्र्युपनिषद्‌में उपर्युक्त ग्रंथका " महदाद्यं विशेषान्तं " पाठ है; और उसीको टीकाकारनेभी माना है। यदि यह पाठ लिया जाय तो लिंग-शरीरमें आरंभके महत्तत्त्वका समावेश करके विशेषान्त पदसे सूचित विशेष अर्थात् पंचमहाभूतोंको ले लेना और विशेषान्तंमेंसे विशेषको छोड़ देना चाहिये। परंतु जहाँ आद्यंतका उपयोग किया जाता है, वहाँ उन दोनोंको छोड़ना युक्त होता है। अतएव प्रो. डॉयसेनका कथन है, कि महदाद्यं पदके अंतिम अक्षरका अनुस्वार निकालकर 'महदाद्यविशेषान्तम्' (महदादि+अविशेषान्तम्) पाठ कर देना चाहिये। ऐसा करनेपर अविशेष पद बन जानेसे अहत् और अविशेष अर्थात् आदि और अंत दोनोंकोभी एकही न्याय पर्याप्त होगा; और लिंगशरीरमें दोनोंका समावेश किया जा सकेगा। यही इस पाठका विशेष गुण है। परंतु स्मरण रहे, कि पाठ कोईभी लिया जाय, अर्थमें भेद नहीं पड़ता।

निवाशयात्' इस दृष्टान्तसे केवल इतनाही सिद्ध होता है, कि यह शरीर सूक्ष्म है। परंतु उससे यह नहीं मालूम होता, कि उसका आकार कितना बड़ा है। महाभारतके सावित्री – उपाख्यानमें यह वर्णन पाया जाता है, कि सत्यवान्‌के (स्थूल) शरीरमेंसे अँगूठेके बराबर एक पुरुषको यमराजने बाहर निकाला – "अंगुष्टमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्" (मभा. वन. २९७. १६)। इससे प्रतीत होता है, कि दृष्टान्तके लियेही क्यों न हो, लिंगशरीर अँगूठेके आकारका माना जाता था।

इस बातका विवेचन हो चुका, कि यद्यपि लिंगशरीर हमारे नेत्रोंको गोचर नहीं है, तथापि उसका अस्तित्व किन अनुमानोंसे सिद्ध हो सकता है, और उस शरीरके घटकावयव कौनसे हैं। परंतु केवल यह कह देनाही यथेष्ट प्रतीत नहीं होता, कि प्रकृति और पाँच स्थूल महाभूतोंके अतिरिक्त शेष अठारह तत्त्वोंके समुच्चयसे लिंगशरीर निर्माण होता है। इसमें कोई संदेह नहीं, कि जहाँ जहाँ लिंग-शरीर रहेगा, वहाँ वहाँ यह अठारह तत्त्वोंका समुच्चय अपने अपने गुणधर्मके अनुसार माता-पिताके स्थूलशरीरमेंसे तथा आगे स्थूलसृष्टिके अन्नसे, हस्तपाद आदि स्थूल अवयव या स्थूल इंद्रियाँ उत्पन्न करेगा; अथवा उनका पोषण करेगा। परंतु अबतक यह बतलाना है, कि अठारह तत्त्वोंके समुच्चयसे बना हुआ लिंगशरीर पशु, पक्षी, मनुष्य आदि भिन्न भिन्न देह क्यों उत्पन्न करता है। सजीव सृष्टिके सचेतन तत्त्वको सांख्यवादी 'पुरुष' कहते हैं; और सांख्यमतानुसार ये पुरुष चाहे असंख्यभी हों; तथापि प्रत्येक पुरुष स्वभावतः उदासीन तथा अकर्ता है। इसलिये पशु-पक्षी आदि प्राणियोंके भिन्नभिन्न शरीर उत्पन्न करनेका कर्तृत्व पुरुषके हिस्सेमें नहीं आ सकता। वेदान्तशास्त्रमें कहा है, कि पापपुण्य आदि कर्मोंके परिणामसे ये भेद उत्पन्न हुआ करते हैं। इस कर्म-विपाकका विवेचन आगे चलकर किया जायगा। सांख्यशास्त्रके अनुसार कर्मको – पुरुष और प्रकृतिसे भिन्न – तीसरा तत्त्व नहीं मान सकते; और जब कि पुरुष उदासीनही है, तब कहना पड़ता है, कि कर्म प्रकृतिके सत्त्व-रज-तमोगुणोंकाही विकार है। लिंगशरीरमें जिन अठारह तत्त्वोंका समुच्चय है, उनमेंसे बुद्धितत्त्व प्रधान है। इसका कारण यह है, कि बुद्धिहीसे आगे अहंकार आदि सत्रह तत्त्व उत्पन्न होते हैं। अर्थात् जिसे वेदान्तमें कर्म कहते हैं, उसीको सांख्यशास्त्रमें सत्त्व-रज-तम गुणोंके न्यूनाधिक परिमाणसे उत्पन्न होनेवाला बुद्धिका व्यापार, धर्म या विकार कहते हैं। बुद्धिके इस धर्मका नाम 'भाव' है और सत्त्व-रज-तम गुणोंके तारतम्यसे ये 'भाव' कई प्रकारके हो जाते हैं। जिस प्रकार फूलमें गंध या कपड़ेमें रंग लिपट रहता है, उसी प्रकार लिंगशरीरमें ये भावभी लिपटे रहते हैं। (सां. का. ४०)। इन भावोंके अनुसार, अथवा वेदान्त परिभाषामें कर्मके अनुसार, लिंगशरीर नये नये जन्म लिया करता है; और ये जन्म लेते समय, माता-पिताओंके शरीरोंमेंसे जिन द्रव्योंको वह आकर्षित किया करता है, उन द्रव्योंमेंभी दूसरे भाव आ जाया करते हैं। "देवयोनि, मनुष्ययोनि, पशुयोनि तथा वृक्षयोनि" ये सब

भेद इन भावोंकी समुच्चयताकेही परिणाम हैं (सां. का. ४३–५५)। इन सब भावोंमें सात्त्विक गुणका उत्कर्ष कारण होनेसे जब मनुष्यको ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्ति होती है, और उसके कारण प्रकृति और पुरुषकी भिन्नता समझमें आने लगती है, तब पुरुष अपने मूलस्वरूप अर्थात् कैवल्यपदको पहुँच जाता है; और तबतक लिंगशरीर छूट जाता है। एवं मनुष्यके दुःखोंका पूर्णतया निवारण हो जाता है। परंतु प्रकृति और पुरुषकी भिन्नताका ज्ञान न होते हुए, यदि केवल सात्त्विक गुणहीका उत्कर्ष हो, तो लिंगशरीर देवयोनिमें अर्थात् स्वर्गमें जन्म लेता है; रजोगुणकी प्रबलता हो, तो मनुष्ययोनिमें अर्थात् पृथ्वीपर पैदा होता है; और तमोगुणकी अधिकता हो जानेसे उसे तिर्यग्योनिमें प्रवेश करना पडता है (गीता १४. १८) "गुणा गुणेषु जायन्ते" इस तत्त्वकेही आधारपर सांख्यशास्त्रमें वर्णन किया गया है, कि मानवयोनिमें जन्म होनेके बाद रेत-बिंदुमें क्रमानुसार कलल, बुद्बुद, मांस, पेशी और भिन्न भिन्न स्थूल इंद्रियाँ कैसे बनती जाती हैं। (सां. का. ४३; मभा. शां. ३२०) गर्भोपनिषदका वर्णन प्रायः सांख्यशास्त्रके उक्त वर्णनके समानही है। उपर्युक्त विवेचनसे यह बात मालूम हो जायगी, कि सांख्यशास्त्रमें 'भाव' शब्दका जो पारिभाषिक अर्थ बतलाया गया है, वह यद्यपि वेदान्त-ग्रंथोंमें विवक्षित नहीं है, तथापि भगवद्गीतामें (गीता १०. ४, ५; ७. १२) "बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः" इत्यादि गुणोंको (इसके आगेके श्लोकमें) जो 'भाव' नाम दिया है, वह प्रायः सांख्यशास्त्रकी परिभाषाको सोचकरही दिया गया होगा।

इस प्रकार सांख्यशास्त्रके मूल अव्यक्त प्रकृतिसे अथवा वेदान्तके अनुसार मूल सद्रूपी परब्रह्मसे सृष्टिके सब सजीव और निर्जीव व्यक्त पदार्थ क्रमशः उत्पन्न हुए। और जब सृष्टिके संहारका समय आ पहुँचता है, तब सृष्टिरचनाका जो गुणपरिणामक्रम ऊपर बतलाया गया है, ठीक इसके विरुद्ध क्रमसे सब व्यक्त पदार्थ अव्यक्त प्रकृतिमें अथवा मूल ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। यह सिद्धान्त सांख्य और वेदान्त दोनों शास्त्रोंको मान्य है (वे. सू. २. ३. १४; मभा. शां. २३२)। उदाहरणार्थ, पंचमहाभूतोंमेंसे पृथ्वीका लय पानीमें, पानीका अग्निमें, अग्निका वायुमें, वायुका आकाशमें, आकाशका तन्मात्राओंमें, तन्मात्राओंका अहंकारमें, अहंकारका बुद्धिमें, और बुद्धि या महान् का लय प्रकृतिमें हो जाता है; तथा वेदान्तके अनुसार प्रकृतिका लय मूल ब्रह्ममें हो जाता है। सांख्यकारिकामें किसीभी स्थानपर यह नहीं बतलाया गया है, कि सृष्टिकी उत्पत्ति या रचना हो जानेपर उसका लय या संहार होनेतक बीचमें कितना समय बीत जाता है। तथापि, ऐसा प्रतीत होता है कि मनुसंहिता (१. ६६–७३), भगवद्गीता (८. १७) तथा महाभारत (शा. २३१) में [र्व]णित कालगणना सांख्योंकोभी मान्य है। हमारा उत्तरायण देवताओंका दिन है

और हमारा दक्षिणायन उनकी रात है। क्योंकि, स्मृतिग्रंथोंमें और ज्योतिषशास्त्रकी संहिता (सूर्यसिद्धान्त १. ३३; १२. ३५, ६७) मेंभी यही वर्णन है, कि देवता मेरुपर्वतपर अर्थात् उत्तरध्रुवमें रहते हैं। अर्थात् दो अयनोंका हमारा एक वर्ष देवताओंके एक दिन–रातके बराबर है; और हमारे ३६० वर्ष देवताओंके ३६० दिन-रातें अथवा एक वर्षके बराबर हैं। कृत, त्रेता, द्वापर कलि, हमारे चार युग हैं। युगोंकी कालगणना इस प्रकार है – कृतयुगमें चार हज़ार वर्ष, त्रेतायुगमें तीन हज़ार, द्वापरमें दोन हजार और कलिमें एक हज़ार वर्ष। परंतु एक युग समाप्त होतेही दुसरा युग एकदम आरंभ नहीं हो जाता। बीचमें, दो युगोंके संधिकालमें कुछ वर्ष बीत जाते हैं। इस प्रकार कृतयुगके आदि और अंतमें, प्रत्येक ओर चार सौ वर्षका, त्रेतायुगके आगे और पीछे प्रत्येक ओर तीन सौ वर्षका, द्वापरके पहले और बाद प्रत्येक ओर दो सौ वर्षका, और कलियुगके पूर्व तथा अनंतर प्रत्येक ओर सौ वर्षका संधिकाल होता है। सब मिलाकर चारों युगोंका आदि-अंत-सहित संधिकाल दो हज़ार वर्षका होता है। ये दो हज़ार वर्ष पहले बतलाये हुए सांख्यमतानुसार चारों युगोंके दस हज़ार वर्ष मिलाकर कुल बारह हज़ार वर्ष होते हैं। ये बारह हज़ार वर्ष मनुष्योंके हैं या देवताओंके? यदि मनुष्योंके माने जायँ, तो कलियुगका आरंभ हुए पाँच हज़ारसे अधिक वर्ष बीत चुकेनेके कारण यह कहना पड़ेगा, कि हज़ार मानवी वर्षोंका कलियुग पूरा हो चुका है। और उसके बाद फिरसे आनेवाला कृतयुगभी समाप्त हो गया; और हमने अब त्रेतायुगमें प्रवेश किया है! यह विरोध मिटानेके लिये पुरानोंमें निश्चित किया है, कि ये बारह हज़ार वर्ष देवताओंके हैं। देवताओंके बारह हजार वर्ष, मनुष्योंके ३६० × १२००० = ४३२०,००० (तैतालीस लाख वीस हजार) वर्ष होते हैं। वर्तमान पंचांगोंका युगपरिमाण इसी पद्धतिसे निश्चित किया जाता है। देवताओंके बारह हजार वर्ष मिलकर मनुष्योंका एक महायुग या देवताओंका युग होता है। देवताओंके इकहत्तर युगोंको मन्वंतर कहते हैं; और ऐसे मन्वंतर चौदह हैं। परंतु पहले मन्वंतरके आरंभ तथा अंतमें, और आगे चलकर प्रत्येक मन्वंतरके आखिरमें दोनों ओर कृतयुगकी बराबरीका एक एक ऐसे १५ संधिकाल जाते हैं। ये पंद्रह संधिकाल और चौदह मन्वन्तर मिलकर देवताओंके एक हज़ार युग अथवा ब्रह्मदेवका एक दिन होता है (सूर्यसिद्धान्त १. १५–२०); और मनुस्मृति तथा महाभारतमें लिखा है, कि ऐसेही हज़ार युग मिलकर ब्रह्मदेवकी रात होती है (मनु. १. ६९–७३ और ७९; मभा. शां. २३१. १८–३१ और यास्कका निरुक्त १४. ९)। इस गणनाके अनुसार ब्रह्मदेवका एक दिन मनुष्योंके चार अब्ज बत्तीस करोड़ वर्षके बराबर होता है; और इसीका नाम है कल्प। *

---

* ज्योतिःशास्त्रके आधारपर युगादि गणनाका विचार स्वर्गीय शंकर बाळकृष्ण दीक्षितने अपने 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र' नामक (मराठी) ग्रंथमें किया हैं, पृ. १०३–१०५; १९३ इत्यादि देखो।

भगवद्गीता (८. १८) और (९. ७)में कहा है, कि जब ब्रह्मदेवके इस दिन अर्थात् कल्पका आरंभ होता है तब :-

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।।

"अव्यक्तसे सृष्टिके सब व्यक्त पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं; और जब ब्रह्मदेवकी रात्रि आरंभ होती है, तब वे सब व्यक्त पदार्थ पुनश्च अव्यक्तमें लीन हो जाते हैं।" स्मृतिग्रंथ और महाभारतमेंभी यही बतलाया है। इसके अतिरिक्त पुराणादिकोंमें अन्य प्रलयोंकाभी वर्णन है; परंतु इन प्रलयोंमें सूर्य-चंद्र आदि सारी सृष्टिका नाश नहीं हो जाता; इसलिये ब्रह्मांडकी उत्पत्ति और संहारका विवेचन करते समय इनका विचार नहीं किया जाता। कल्प ब्रह्मदेवका एक दिन अथवा रात्रि है; और ऐसे ३६० दिन तथा ३६० रात्रियाँ मिलकर ब्रह्मदेवका एक वर्ष होता है। इसीसे पुराणादिकों (विष्णुपुराण १. ३) में यह वर्णन पाया जाता है, कि ब्रह्मदेवकी आयु उनके सौ वर्षकी है। उसमेंसे आधी बीत गई। शेष आयुके अर्थात् इक्यावनवें वर्षके पहले दिनका अथवा श्वेतवाराह नामक कल्पका अब आरंभ हुआ है; और इस कल्पके चौदह मन्वन्तरोंमेंसे छः मन्वन्तर बीत चुके हैं, तथा सातवें (अर्थात् वैवस्वत) मन्वन्तरके ७१ महायुगोंमेंसे २७ महायुग पूरे हो गये हैं। एवं अब २८वें महायुगके कलियुगका प्रथम चरण अर्थात् चतुर्थ भाग जारी है। संवत् १९५६ (शक १८२१)में इस कलियुगके ठीक ५००० वर्षबीत चुके थे। इस प्रकार गणित करनेसे मालूम होगा, कि इस कलियुगका प्रलय होनेके लिये संवत् १९५६में मनुष्यके ४ लाख २७ हजार वर्ष शेष थे; फिर वर्तमान मन्वन्तरके अंतमें अथवा वर्तमान कल्पके अंतमें होनेवाले महाप्रलयकी बातही क्या ! मानवी चार अब्ज बत्तीस करोड लर्षका जो ब्रह्मदेवका दिन इस समय जारी है, उसका पूरा मध्यान्हभी नहीं हुआ। अर्थात् सात मन्वंतरभी अबतक नहीं बीते हैं।

सृष्टिकी रचना और संहारका जो अबतक विवेचन किया गया, वह वेदान्तके और परब्रह्मको छोड़ देनेसे सांख्यशास्त्रके – तत्त्वज्ञानके आधारपर किया गया है। इसलिये सृष्टिके उत्पत्तिक्रमकी इसी परंपराको हमारे शास्त्रकार सदैव प्रमाण मानते हैं; और यही क्रम भगवद्गीतामेंभी दिया हुआ है। इस प्रकरणके आरंभहीमें बतला दिया गया है, कि सृष्ट्युत्पत्तिक्रमके बारेमें कुछ भिन्न भिन्न विचार पाये जाते हैं। जैसे श्रुतिस्मृतिपुराणोंमें कहीं कहीं कहा है, कि प्रथम ब्रह्मदेव या हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ; अथवा पहले पानी उत्पन्न हुआ और उसमें परमेश्वरके बीजसे एक सुवर्णमय अंडा निर्मित हुआ। परंतु इन सब विचारोंको गौण तथा उपलक्षणात्मक समझकर जब उनकी उपपत्ति बतलानेका समय आता है तब यही कहा जाता है, कि हिरण्यगर्भ अथवा ब्रह्मदेवही प्रकृति है। भगवद्गीता(गीता १४. ३) में त्रिगुणात्मक प्रकृतिहीको ब्रह्म कहा है – "मम योनिर्महत् ब्रह्म।" और भगवानने यहभी कहा है, कि हमारे

बीजसे इस प्रकृतिमें त्रिगुणोंके द्वारा अनेक मूर्तियाँ उत्पन्न होती है। अन्य स्थानोंमें ऐसा वर्णन है, कि ब्रह्मदेवसे आरंभमें दक्षप्रभृति सात मानसपुत्र अथवा सात मनु उत्पन्न हुए; और उन्होंने आगे सब चर-अचर सृष्टिका निर्माण किया। (मभा. आ. ६५–६७; मभा. शां. २०. ७; मनु. १. ३४–६३); और इसीका गीतामेंभी एक-बार उल्लेख किया गया है (गीता. १०. ६)। परंतु वेदान्तग्रंथ यह प्रतिपादन करते हैं, कि इन सब भिन्न भिन्न वर्णनोंका, ब्रह्मदेवकोही प्रकृति मान लेनेसे, उपर्युक्त तात्त्विक सृष्टयुत्पत्तिक्रमसे मेल हो जाता है; और यही न्याय अन्य स्थानोंमेंभी उपयोगी हो सकता है। उदाहरणार्थ, शैव अथवा पाशुपत दर्शनोंमें शिवको निमित्तकारण मानकर यह कहते हैं, कि उसीसे कार्यकारणादि पाँच पदार्थ उत्पन्न हुए। और नारायणीय या भागवतधर्ममें वासुदेवको प्रधान मानकर यह वर्णन किया है, कि पहले वासुदेवसे संकर्षण (जीव) उत्पन्न हुआ, संकर्षणसे प्रद्युम्न (मन), और प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध (अहंकार) उत्पन्न हुआ। परंतु वेदान्तशास्त्रके अनुसार जीव प्रत्येक समय नये सिरेसे उत्पन्न नहीं होता। वह नित्य और सनातन परमेश्वरका नित्य – अतएव अनादि – अंश है। इसलिये वेदान्तसूत्रके दूसरे अध्यायके दूसरे पाद (वे. सू. २. २. ४२–४५) में भागवतधर्ममें वर्णित जीवके उत्पत्तिविषयक उपर्युक्त मतका खंडन करके कहा है, कि वह वेदविरुद्ध अतएव त्याज्य है। गीता (गीता. १३. ४; १५. ७) में वेदान्तसूत्रोंके इसी सिद्धान्तका अनुवाद किया गया है। इसी प्रकार सांख्यवादी प्रकृति और पुरुष दोनोंको स्वतंत्र तत्त्व मानते हैं; परंतु इस द्वैतको स्वीकार न कर वेदान्तियोंने यह सिद्धान्त किया है, कि प्रकृति और पुरुष – दोनों तत्त्व एकही नित्य और निर्गुण परमात्माकी विभूतियाँ हैं। यही सिद्धान्त भगवद्गीताकोभी ग्राह्य है (गीता ९. १०)। परंतु इसका विस्तारपूर्वक विवेचन अगले प्रकरणमें किया जायगा। यहाँपर केवल इतनाही बतलाया है, कि भागवत या नारायणीय धर्ममें वर्णित वासुदेवभक्तिका और प्रवृत्तिप्रधान धर्मका तत्त्व यद्यपि भगवद्गीताको मान्य है, तथापि गीता भागवतधर्मकी इस कल्पनासे सहमत नहीं है, कि पहले वासुदेवसे संकर्षण या जीव उत्पन्न हुआ; और उससे आगे प्रद्युम्न (मन) तथा प्रद्युम्नसे अनिरुद्धका (अहंकार)का प्रादुर्भाव हुआ। संकर्षण, प्रद्युम्न या अनिरुद्धका नाम तक गीतामें नहीं पाया जाता। पाँचरात्रमें बतलाये हुए भागवतधर्ममें और गीता-प्रतिपादित भागवतधर्ममें यही महत्त्वका भेद है। इस बातका उल्लेख यहाँ जान-बूझकर किया गया है; क्योंकि केवल इतनेहीसे – कि "भगवद्गीतामें भागवतधर्म बतलाया गया है" –कोई यह न समझ लें, कि सृष्टयुत्पत्ति-क्रम-विषयक अथवा जीव-परमेश्वर-स्वरूप-विषयक भागवत आदि भक्तिसंप्रदायके मतभी गीताको मान्य हैं। अब इस बातका विचार किया जायगा, कि सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृति और पुरुषकेभी परे सब व्यक्ताव्यक्त तथा क्षराक्षर जगतके मूलमें कोई और तत्त्व है या नहीं। इसीको अध्यात्म या वेदान्त कहते हैं।

नौवाँ प्रकरण

अध्यात्म

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ *

– गीता ८.२०

पिछले दो प्रकरणोंका सारांश यही है, कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचारमें जिसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं, उसीको सांख्यशास्त्रमें पुरुष कहते हैं। सब क्षर-अक्षर या चर-अचर सृष्टिके संहार और उत्पत्तिका विचार करनेपर सांख्यशास्त्रके अनुसार अंतमें केवल प्रकृति और पुरुष येही दो स्वतंत्र तथा अनादि मूलतत्त्व रह जाते हैं; और पुरुषको अपने क्लेशोंकी निवृत्ति कर लेने तथा मोक्षानंद प्राप्त कर लेनेके लिये प्रकृतिसे अपना भिन्नत्व अर्थात् कैवल्य जानकर त्रिगुणातीत होना चाहिये। प्रकृति और पुरुषका संयोग होनेपर प्रकृति अपना बाजार पुरुषके सामने किस प्रकार लगाया करती है, इस विषयका क्रम अर्वाचीन सृष्टिशास्त्रवेत्ताओंने सांख्यशास्त्रसे कुछ निराला बतलाया है; और संभव है, कि आधिभौतिक शास्त्रोंकी ज्यों ज्यों उन्नति होगी, त्यों त्यों इस क्रममें औरभी सुधार होते जावेंगे।। जोभी हो; इस मूलसिद्धान्तमें कभी कोई फ़र्क नहीं पड़ सकता, कि केवल एक अव्यक्त प्रकृतिसेही सारे व्यक्त पदार्थ गुणोत्कर्षके अनुसार क्रमक्रमसे निर्मित होते गये हैं। परंतु वेदान्तकेसरी इस विषयको अपना नहीं समझता – यह अन्य शास्त्रोंका विषय है; इसलिये वह इस विषयपर वादविवादभी नहीं करता। वह इन सब शास्त्रोंसे आगे बढ़कर यह बतलानेके लिये प्रवृत्त हुआ है, कि पिंड-ब्रह्मांडकी जड़में कौनसा श्रेष्ठ तत्त्व है; और मनुष्य उस श्रेष्ठ तत्त्वमें कैसे मिला जा सकता है – अर्थात् तद्रूप कैसे हो सकता है। वेदान्तकेसरी अपने इस विषयप्रदेशमें किसी और शास्त्रकी गर्जना नहीं होने देता। सिंहके आगे गीदड़की भाँति वेदान्तके सामने सारे शास्त्र चुप हो जाते हैं। अतएव किसी पुराने सुभाषितकारने वेदान्तका यथार्थ वर्णन यों किया है :–

तावत् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिः यावद्वेदान्तकेसरी ।।

सांख्यशास्त्रका कथन है, कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विचार करनेपर निष्पन्न होनेवाला

---

* "जो दूसरा अव्यक्त पदार्थ उस (सांख्य) अव्यक्तसेभी श्रेष्ठ तथा सनातन है; और सब प्राणियोंका नाश हो जानेपरभी जिसका नाश नहीं होता, वही अंतिम गति है।"

'द्रष्टा' अर्थात् पुरुष या आत्मा, और क्षर-अक्षर-सृष्टिका विचार करनेपर निष्पन्न होनेवाली सत्त्व-रज-तम-गुणमयी अव्यक्त प्रकृति, ये दोनों स्वतंत्र हैं; और इस प्रकार जगत्के मूलतत्त्वको द्विधा मानना आवश्यक है। परंतु वेदान्त इसके आगे जा कर यों कहता है, कि सांख्योंके 'पुरुष' निर्गुण भलेही; तोभी वे असंख्य हैं। इसलिये यह मान लेना उचित नहीं, कि इन असंख्य पुरुषोंका लाभ जिस बातमें हो, उसे जानकर प्रत्येक पुरुषके साथ तदनुसार बर्ताव करनेकी सामर्थ्य प्रकृतिमें है। ऐसा माननेकी अपेक्षा सात्त्विक तर्कशास्त्रकी दृष्टिसे तो यही अधिक युक्तिसंगत होगा, कि जो एकीकरणकी ज्ञानक्रिया "अविभक्तं विभक्तेषु"के अनुसार नीचेसे ऊपर तककी श्रेणियोंमें दीख पड़ती है; और जिसकी सहायतासेही सृष्टिके अनेक व्यक्त पदार्थोंका एक अव्यक्त प्रकृतिमें समावेश किया जाता है उसी एकीकरणकी ज्ञान-क्रियाका अंत-तक निरपवाद उपयोग किया जावे; और प्रकृति तथा असंख्य पुरुषोंका एकही परमतत्त्वमें अविभक्तरूपसे समावेश किया जावे;। (गीता १८. २०–२२)। भिन्नता होना अहंकारका परिणाम है; और पुरुष यदि निर्गुण है, तो असंख्य पुरुषोंके अलग अलग रहनेका गुण उसमें रह नहीं सकता। अथवा यह कहना पड़ता है, कि वस्तुतः पुरुष असंख्य नहीं हैं और केवल प्रकृतिकी अहंकाररूपी उपाधिसे उनमें अनेकता दीख पड़ती है। दूसरा एक प्रश्न यह उठता है, कि स्वतंत्र पुरुषका स्वतंत्र पुरुषके साथ जो संयोग हुआ है, वह सत्य है या मिथ्या? यदि सत्य मानें, तो वह संयोग कभीभी छूट नहीं सकता। अतएव सांख्यमतानुसार आत्माको मुक्ति कभी प्राप्त नहीं हो सकती। और यदि मिथ्या माने, तो यह सिद्धान्तही निर्मूल या निराधार हो जाता है कि पुरुषके संयोगसे प्रकृति अपना बाजार उसके आगे लगाया करती है। और यह दृष्टान्तभी ठीक नहीं, कि जिस प्रकार गाय अपने बछड़ेके लिये दूध देती है, उसी प्रकार पुरुषके लाभके लिये प्रकृति सदा कार्यतत्पर रहती है। क्योंकि, बछड़ा गायके पेटसेही पैदा होता है, इसलिये उसपर पुत्रवात्सल्यके प्रेमका उदाहरण जैसे संगठित होता है, वैसे प्रकृति और पुरुषके विषयमें नहीं कहा जा सकता (वे. सू. शां. भा. २. २. ३)। सांख्यमतके अनुसार प्रकृति और पुरुष – दोनों तत्त्व मूलतः अत्यंत भिन्न हैं – एक जड़ है, दूसरा सचेतन। अच्छा; जब ये दोनों पदार्थ सृष्टिके उत्पत्तिकालसेही एक दूसरेसे अत्यंत भिन्न और स्वतंत्र हैं, तो फिर एककी प्रवृत्ति दूसरेके फायदेहीके लिये क्यों होनी चाहिये? यह तो कोई समाधानकारक उत्तर नहीं कि उनका स्वभावही वैसा है। स्वभावही मानना हो, तो फिर उनमेंसे हेकेलका जड़ाद्वैतवाद क्यों बुरा है? हेकेलकाभी सिद्धान्त यही है न, कि मूलप्रकृतिके गुणोंकी वृद्धि होते होते उसी प्रकृतिमें अपने आपको देखनेकी और अपने विषयमें विचार करनेकी चैतन्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है – अर्थात् यह प्रकृतिका स्वभावही है। परंतु इस मतका स्वीकार न कर सांख्यशास्त्रने यह भेद किया है, कि 'द्रष्टा' अलग है; और दृश्यसृष्टि अलग है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि सांख्यवादी जिस न्यायका अवलंबन कर

'द्रष्टा पुरुष' और 'दृश्य सृष्टि'में भेद बतलाते हैं, उसी न्यायका उपयोग करते हुए और आगे क्यों न चलें ? दृश्य सृष्टिकी कोई कितनीही सूक्ष्मतासे परीक्षा करें; और यह जान लें, कि जिन नेत्रोंसे हम पदार्थोंको देखते परखते हैं, उनके मज्जातंतुओंमें अमुक अमुक गुण-धर्म हैं। तथापि इन सब बातोंको जाननेवाला (या 'द्रष्टा') भिन्नही रह जाता है, क्या उस 'द्रष्टा'के विषयमें – जो 'दृश्य सृष्टि'से भिन्न है – विचार करनेके लिये कोई साधन या उपाय नहीं है ? और यह जाननेके लियेभी कोई मार्ग है या नहीं, कि इस सृष्टिका सच्चा स्वरूप जैसा हम अपनी इंद्रियोंसे देखते हैं वैसाही है; या उससे भिन्न है ? सांख्यवादी कहते हैं, कि इन प्रश्नोंका निर्णय होना असंभव है। अतएव यह मान लेना पडता है, कि प्रकृति और पुरुष, दोनों तत्त्व मूलहीमें स्वतंत्र और भिन्न हैं। और यदि केवल आधिभौतिक शास्त्रोंकी प्रणालीसे विचार कर देखें, तो सांख्यवादियोंका यह मत अनुचित नहीं कहा जा सकता। कारण यह है, कि सृष्टिके अन्य पदार्थोंको जैसे हम अपनी इंद्रियोंसे देखभाल करके उनके गुणधर्मोंका विचार करते हैं, वैसे यह 'द्रष्टा पुरुष' या देखनेवाला – अर्थात् जिसे वेदान्तमें 'आत्मा' कहा है, वह – द्रष्टाकी (अर्थात् अपनीही) इंद्रियोंको भिन्न रूपमें कभी गोचर हो नहीं सकता। और जिस पदार्थका इस प्रकार इंद्रियगोचर होना असंभव है, यानी जो वस्तु इंद्रियातीत है उसकी परीक्षा मानवी इंद्रियोंसे कैसे हो सकती है ? उस आत्माका वर्णन भगवान्ने गीतामें (गीता २. २३) इस प्रकार किया है :–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

अर्थात्, आत्मा ऐसा कोई पदार्थ नहीं कि यदि हम सृष्टिके अन्य पदार्थोंके समान उस-पर तेजाब आदि द्रव पदार्थ डालें तो वह द्रवरूप हो जाय, अथवा प्रयोगशालाके पैने शस्त्रोंसे काट-छाँटकर उसका आंतरिक स्वरूप देख लें, या आगपर धर देनेसे उसका धुआँ हो जाय, अथवा हवामें रखनेसे वह सूख जाय ! सारांश, सृष्टिके पदार्थोंकी परीक्षा करनेके आधिभौतिक शास्त्रवेत्ताओंने जितने कुछ उपाय ढूँढे हैं, वे सब यहाँ निष्फल हो जाते हैं तो फिर आत्माका परीक्षण होगाभी तो कैसे ? प्रश्न है तो बिकट, पर विचार करनेसे कुछ कठिनाई दीख नहीं पड़ती। भला, सांख्यवादियोंनेभी 'पुरुष'-को निर्गुण और स्वतंत्र कैसे जाना ? केवल अपने अंतःकरणके अनुभवसेही जाना है न ? फिर उसी रीतिका उपयोग प्रकृति और पुरुषके सच्चे स्वरूपका निर्णय करनेके लिये क्यों न किया जावें ? आधिभौतिकशास्त्र और अध्यात्मशास्त्रमें जो बड़ा भारी भेद है, वह यही है। आधिभौतिकशास्त्रोंके विषय इंद्रियगोचर होते हैं; और अध्यात्म-शास्त्रका विषय इंद्रीयातीत अर्थात् केवल स्वसंवेद्य है; यानी अपने आपही जानने योग्य है। कोई यह कहें, कि यदि 'आत्मा' स्वसंवेद्य है, तो प्रत्येक मनुष्यको उसके विषयमें जैसा ज्ञान होवे, वैसा होने दो; अध्यात्मशास्त्रकी आवश्यकताही क्या है ? हाँ; यदि प्रत्येक मनुष्यका मन या अंतःकरण समान रूपसे शुद्ध हो, तो फिर यह

प्रश्न ठीक होगा। परंतु जब कि हमारा यह प्रत्यक्ष अनुभव है, कि प्रत्येक पुरुषके मन या अंतःकरणकी शुद्धि अथवा शक्ति एक-सी नहीं होती, तब जिन लोगोंके मन अत्यंत शुद्ध, पवित्र और विशाल हो गये हैं; उन्हींकी प्रतीति इस विषयमें हमारे लिये प्रमाणभूत होनी चाहिये। योंही 'मुझे ऐसा मालूम होता है' 'तुझे ऐसा मालूम होता है' कह कर निरर्थक वाद करनेसे कोई लाभ न होगा। वेदान्तशास्त्र तुम्हें युक्तिवादका उपयोग करनेसे बिलकुल नहीं रोकता। वह सिर्फ़ यही कहता है, कि अध्यात्मशास्त्रके विषयमें निरी युक्तियाँ वहीं तक मानी जावेंगी जहाँतक कि इन युक्तियोंसे अत्यंत विशाल, पवित्र और निर्मल अंतःकरणवाले महात्माओंके इस विषयसंबंधी साक्षात् अनुभवका विरोध न होता हो। क्योंकि अध्यात्मशास्त्रका विषय स्वसंवेद्य है – अर्थात् केवल आधिभौतिक युक्तियोंसे उसका निर्णय नहीं हो सकता। जिस प्रकार आधिभौतिक शास्त्रोंमें वे अनुमान त्याज्य माने जाते हैं, कि जो प्रत्यक्षके विरुद्ध हों, उसी प्रकार वेदान्तशास्त्रमें युक्तियोंकी अपेक्षा उपर्युक्त स्वानुभवकी अर्थात् आत्मप्रतीतिकी योग्यताही अधिक मानी जाती है। जो युक्ति इस अनुभवके अनुकूल हो, उसे वेदान्ती अवश्य मानते हैं। श्रीमान् शंकराचार्यने अपने वेदान्त-सूत्रोंके भाष्यमें यही सिद्धान्त दिया है। अध्यात्मशास्त्रका अभ्यास करनेवालोंको इसपर हमेशा ध्यान रखना चाहिये :–

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

"जो पदार्थ इंद्रियातीत हैं और इसीलिये जिनका चिंतन नहीं किया जा सकता, उनका निर्णय केवल तर्क या अनुमानसे नहीं कर लेना चाहिये। सारी सृष्टिकी मूल प्रकृतिसेभी परे जो पदार्थ है, वह इस प्रकार अचिंत्य है" – यह एक पुराना श्लोक है, जो महाभारतमें (मभा. भीष्म. ५. १२) पाया जाता है; और जो शंकराचार्यके वेदान्तभाष्यमेंभी 'साधयेत्'के बदले 'योजयेत'के पाठभेदसे पाया जाता है (वे. सू. शां. भा. २. १. २७)। मुंडक और कठोपनिषद्मेंभी लिखा है, कि आत्मज्ञान केवल तर्कहीसे नहीं प्राप्त हो सकता (मुं. ३. २, ३; कठ. २. ८, ९ और २२)। अध्यात्मशास्त्रमें उपनिषद्-ग्रंथोंका विशेष महत्त्वभी इसीलिये है। मनको एकाग्र करनेके उपायोंके विषयमें प्राचीन कालमें हमारे हिंदुस्थानमें बहुत चर्चा हो चुकी है; और अंतमें इस विषयपर, (पातंजल) योगशास्त्र नामक एक स्वतंत्र शास्त्रही निर्मित हो गया है। जो बड़े बड़े ऋषि इस योगशास्त्रमें अत्यंत प्रवीण थे तथा जिनके मन स्वभावहीसे अत्यंत पवित्र और विशाल थे, उन महात्माओंने मनको अंतर्मुख करके आत्माके स्वरूपके विषयमें जो अनुभव प्राप्त किया – अथवा आत्माके विषयमें इनको शुद्ध और शांत बुद्धिमें जो स्फूर्ति हुई – उसका वर्णन उन्होंने उपनिषद्-ग्रंथोंमें किया है। इसलिये किसीभी अध्यात्म तत्त्वका निर्णय करनेमें इन श्रुतिग्रंथोंमें कहे गये अनुभविक ज्ञानका सहारा लेनेके अतिरिक्त कोई दूसरा

उपाय नहीं है (कठ. ४. १)। मनुष्य केवल अपनी बुद्धिकी तीव्रतासे उक्त आत्म प्रतीतिकी पोषक भिन्न भिन्न युक्तियाँ बतला सकेगा; परंतु इससे उस मूल प्रतीतिकी प्रामाणिकतामें रत्तीभरभी न्यूनाधिकता नहीं हो सकती। भगवद्गीताकी गणना स्मृतिग्रंथोंमें की जाती है सही; परंतु पहले प्रकरणके आरंभहीमें हम कह चुके हैं, कि इस विषयमें गीताकी योग्यता उपनिषदोंकी बराबरीकी मानी जाती है। अतएव इस प्रकरणमें अब आगे चल कर सिर्फ़ यह बतलाया जायगा, कि प्रकृतिके परे जो अचिंत्य पदार्थ है, उसके विषयमें गीता और उपनिषदोंमें कौन-कौनसे सिद्धान्त किये गये हैं; और उनके कारणोंका (अर्थात् शास्त्ररीतिसे उनकी उपपत्तिका) विचार पीछे किया जायगा।

सांख्यवादियोंका द्वैत – प्रकृति और पुरुष – भगवद्गीताको मान्य नहीं है। भगवद्गीताके अध्यात्मज्ञानका और वेदान्तशास्त्रकाभी पहला सिद्धान्त यह है, कि प्रकृति और पुरुषसेभी परे एक सर्वव्यापक, अव्यक्त और अमृत तत्त्व है, जो चर-अचर सृष्टिका मूल है। सांख्योंकी प्रकृति यद्यपि अव्यक्त है, तथापि वह त्रिगुणात्मक अर्थात् सगुण है। परंतु प्रकृति और पुरुषका विचार करते समय भगवद्गीताके आठवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें (इस प्रकरणके आरंभमेंभी यह श्लोक दिया गया है) कहा है, कि जो सगुण है वह नाशवान् है; इसलिये इस अव्यक्त और सगुण प्रकृति-काभी नाश हो जानेपर अंतमें जो कुछ अव्यक्त शेष रह जाता है, वही सारी सृष्टिका सच्चा और नित्य तत्त्व है। और आगे पन्द्रहवें अध्यायमें (गीता. १५. १७) क्षर और अक्षर – व्यक्त और अव्यक्त – इस भाँति सांख्यशास्त्रके अनुसार दो तत्त्व बतलाकर यह वर्णन किया है :–

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

अर्थात्, जो इन दोनोंसेभी भिन्न है, वही उत्तम पुरुष है; उसीको परमात्मा कहते हैं; वही अव्यय और सर्वशक्तिमान् है; और वही तीनों लोगोंमें व्याप्त हो कर उनकी रक्षा करता है। यह पुरुष क्षर और अक्षर (अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त) इन दोनोंसेभी परे है। इसलिये इसे 'पुरुषोत्तम' कहा है (गीता. १५. १८)। महाभारतमेंभी भृगु ऋषिने भरद्वाजसे 'परमात्मा' शब्दकी व्याख्या बतलाते हुए कहा है :–

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥

अर्थात् "जब आत्मा प्रकृतिमें या शरीरमें बद्ध रहता है, तब उसे क्षेत्रज्ञ या जीवात्मा कहते हैं; और वही प्राकृत गुणोंसे यानी प्रकृति या शरीरके गुणोंसे मुक्त होनेपर 'परमात्मा' कहलाता है" (मभा. शां. १८७. २४)। संभव है, कि 'परमात्मा'की उपर्युक्त दो व्याख्याएँ भिन्न भिन्न जान पड़ें; परंतु वे भिन्न भिन्न नहीं हैं। क्षर-अक्षर सृष्टि और जीव (अथवा सांख्यशास्त्रके अनुसार अव्यक्त प्रकृति और पुरुष) इन

दोनोंसेभी परे एकही परमात्मा है। इसलिये यह कहा जाता है, कि वह क्षर-अक्षरके परे है; और कभी कहा जाता है, कि वह जीवके या जीवात्माके (पुरुषके) परे है। एवं एकही परमात्माकी ऐसी द्विविध व्याख्याएँ कहनेमें वस्तुतः कोई भिन्नता नहीं हो जाती। इसी अभिप्रायको मनमें रखकर कालिदासनेभी कुमारसंभवमें परमेश्वरका वर्णन इस प्रकार किया है – "पुरुषके लाभके लिये उद्युक्त होनेवाली प्रकृतिभी तूही है; और स्वयं उदासीन रह कर उस प्रकृतिका द्रष्टाभी तूही है" (कुमा. २. १३) इसी भाँति गीतामें भगवान् कहते हैं, कि "मम योनिर्महद्ब्रह्म" यह प्रकृति मेरी योनि या मेरा एक स्वरूप है (१४. ३) और जीव या आत्माभी मेराही अंश है (१५. ७) सातवें अध्यायमेंभी कहा गया है :–

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

अर्थात् "पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार – इस तरह आठ प्रकारकी मेरी प्रकृति है; और इसके सिवा (अपरेयमितस्त्वन्यां) सारे संसारका धारण जिसने किया है, वह जीवभी मेरीही दूसरी प्रकृति है" (गीता ७. ४. ५)। महाभारतके शांतिपर्वमें सांख्योंके पचीस तत्त्वोंका कई स्थलोंपर विवेचन है; परंतु वहीं अंतमें यहभी कह दिया गया है, कि इन पचीस तत्त्वोंके परे एक छब्बीसवाँ (षड्विंश) परमतत्त्व है; दिसे पहचाने बिना मनुष्य 'बुद्ध' नहीं हो सकता (मभा. शां. ३०८)। सृष्टिके पदार्थोंका जो ज्ञान हमें अपनी ज्ञानेंद्रियोंसे होता है, वही हमारी सारी सृष्टि है। अतएव प्रकृति या सृष्टिहीको कई स्थानोंपर 'ज्ञात' कहा है और इसी दृष्टिसे पुरुष 'ज्ञाता' कहा जाता है (मभा. शां. ३०६. ३५–४१)। परंतु जो सच्चा ज्ञेय है (गीता १३. १२) वह प्रकृति और पुरुष – ज्ञान और ज्ञातासेभी – परे है। इसलिये भगवद्गीतामें उसे परमपुरुष कहा है। तीनों लोकोंको व्याप्त कर उन्हें सदैव धारण करनेवाला जो यह परमपुरुष या परपुरुष है, उसे पहचानो; वह एक है, अव्यक्त है, नित्य है, अक्षर है – यह बात केवल भगवद्-गीताही नहीं, किंतु वेदान्तशास्त्रके सारे ग्रंथ एक स्वरसे कह रहे हैं। सांख्यशास्त्रमें 'अक्षर' और 'अव्यक्त' शब्दों या विशेषणोंका प्रयोग प्रकृतिके लिये किया जाता है। क्योंकि सांख्योंका सिद्धान्त है, कि प्रकृतिकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और कोई भी मूलकारण इस जगत्का नहीं है (सां. का. ६१)। परंतु यदि वेदान्तकी दृष्टिसे देखें, तो परब्रह्मही एक अ-क्षर है, यानी उसका कभी नाश नहीं होता; और वही अव्यक्त है – अर्थात् इंद्रियगोचर नहीं है। अतएव इस भेदपर पाठक सदा ध्यान रखें, कि भगवद्गीतामें 'अक्षर' और 'अव्यक्त' शब्दोंका उपयोग प्रकृतिसे परेके परब्रह्मके स्वरूपको दिखलानेके लियेभी किया गया है (गीता ८. २०; ११. ३७; १५. १६, १७)। जब इस प्रकार वेदान्तकी दृष्टिका स्वीकार किया गया तब इसमें संदेह नहीं, कि प्रकृतिको 'अक्षर' कहना उचित नहीं है – चाहे

वह प्रकृति अव्यक्त भलेही हो। सृष्टिके उत्पत्तिक्रमके विषयमें सांख्योंके सिद्धान्त गीताकोभी मान्य हैं। इसलिये उनकी निश्चित परिभाषामें कुछ अदलाबदल न कर, उन्हींके शब्दोंमें क्षर-अक्षर या व्यक्त-अव्यक्त-सृष्टिका वर्णन गीतामें किया गया है। परंतु स्मरण रहे, कि इस वर्णनसे प्रकृति और पुरुषके परे जो तीसरा उत्तम पुरुष है, उसके सर्वशक्तित्वमें कुछभी बाधा नहीं होने पाती। इसका परिणाम यह हुआ है, कि जहाँ भगवद्गीतामें परब्रह्मके स्वरूपका वर्णन किया गया है, वहाँ सांख्य और वेदान्तके मतान्तरका संदेह मिटानेके लिये (सांख्य) अव्यक्तकेभी परेका अव्यक्त और (सांख्य) अक्षरसेभी परेका अक्षर, इस प्रकारके शब्दोंका उपयोग करना पड़ा है। उदाहरणार्थ, इस प्रकरणके आरंभमें जो श्लोक दिया गया है, उसे देखो। सारांश, गीता पढ़ते समय इस बातका सदा ध्यान रखना चाहिये, कि 'अव्यक्त' और 'अक्षर' ये दोनों शब्द कभी सांख्योंकी प्रकृतिके लिये और कभी वेदान्तियोंके परब्रह्मके लिये अर्थात् दो प्रकारसे – गीतामें प्रयुक्त हुए हैं। वेदान्तकी दृष्टिसे, सांख्योंकी अव्यक्त प्रकृतिकेभी परेका दूसरा अव्यक्त तत्त्व जगतका मूलही है। जगत्के आदितत्त्वके विषयमें सांख्य और वेदान्तमें उपर्युक्त भेद है। आगे इस विषयका विवरण किया जायगा, कि इसी भेदसे अध्यात्मशास्त्रप्रतिपादित मोक्ष-स्वरूपभी सांख्योंके मोक्षस्वरूपसे कैसे भिन्न हो गया है।

सांख्योंके द्वैत – प्रकृति और पुरुष – को न मानकर, जब यह मान लिया गया, कि इस जगतकी जड़में परमेश्वररूपी अथवा पुरुषोत्तमरूपी एक तीसराही नित्य तत्त्व है; और प्रकृति तथा पुरुष दोनों उसकी विभूतियाँ हैं; तब सहजही यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि उस तीसरे मूलभूत तत्त्वका स्वरूप क्या है; और प्रकृति तथा पुरुषसे उसका कौन-सा संबंध है? प्रकृति, पुरुष और परमेश्वर इसी त्रयीको अध्यात्मशास्त्रमें क्रमसे जगत्, जीव और परब्रह्म कहते हैं, और इन तीनों वस्तुओंके स्वरूप तथा इनके पारस्परिक संबंधका निर्णय करनाही वेदान्तशास्त्रका प्रधान कार्य है। एवं उपनिषदोंमेंभी सर्वत्र यही चर्चा की गई है। परंतु सब वेदान्तियोंका मत इस त्रयीके विषयमें एक नहीं है। कोई कहते हैं, कि ये तीनों पदार्थ मूलमें एकही हैं, और कोई यह मानते है, कि जीव और जगत् परमेश्वरसे मूलहीमें थोड़े या अत्यंत भिन्न हैं। इसीसे वेदान्तियोंमें अद्वैती, विशिष्टाद्वैती, और द्वैती इस प्रकार भेद उत्पन्न हो गये हैं। यह सिद्धान्त सब लोगोंको एक-सा ग्राह्य है, कि जीव और जगतके सारे व्यवहार परमेश्वरकी इच्छासे होते हैं। परंतु कुछ लोग तो मानते हैं, कि जीव, जगत् और परब्रह्म, इन तीनोंका मूलस्वरूप आकाशके समान एकरूप और अखंडित है, तथा दूसरे वेदान्ती कहते हैं, कि जड़ और चैतन्यका एक होना संभव नहीं। अतएव अनार या दाड़िमके फलमें यद्यपि अनेक दाने होते हैं, तोभी उससे जैसे फलकी एकता नष्ट नहीं होती, वैसेही जीव और जगत् यद्यपि परमेश्वरमें भरे हुए हैं, तथापि ये मूलमें उससे, भिन्न हैं; और उपनिषदोंमें जब ऐसा वर्णन आता है, कि तीनों 'एक' हैं; तब उसका

अर्थ 'दाड़िमके फलके समान एक' जानना चाहिये। जब जीवके स्वरूपके विषयमें यह मतांतर उपस्थित हो गया, तब भिन्न भिन्न सांप्रदायिक टीकाकार अपने अपने मतके अनुसार उपनिषदों और गीताके शब्दोंकीभी खींचातानी करने लगे जिससे गीताका यथार्थ स्वरूप – उसमें प्रतिपादित सच्चा कर्मयोग विषय – तो एक ओर रह गया, और अनेक सांप्रदायिक टीकाकारोंके मतसे गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही हो गया, कि गीताप्रतिपादित वेदान्त द्वैतमतका है या अद्वैतमतका! अस्तु, इसके बारेमें अधिक विचार करनेके पहले यह देखना चाहिये, कि जगत् (प्रकृति), जीव (आत्मा अथवा पुरुष), और परब्रह्मके (परमात्मा अथवा पुरुषोत्तम) परस्परसंबंधके विषयमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णही गीतामें क्या कहते हैं। आगेके विवेचनसे पाठकोंको विदित होगा कि इस विषयमें गीता और उपनिषदोंका एकही मत है, और गीतामें कहे गये सब विचार उपनिषदोंमें पहलेही आ चुके हैं।

प्रकृति और पुरुषकेभी परे जो पुरुषोत्तम, परपुरुष, परमात्मा या परब्रह्म है, उसका वर्णन करते समय भगवद्गीतामें पहले उसके दो स्वरूप बतलाये गये हैं, यथा, व्यक्त और अव्यक्त (आँखोंसे दिखनेवाला और आँखोंसे न दिखनेवाला)। अब इसमें संदेह नहीं, कि व्यक्त स्वरूप अर्थात् इंद्रियगोचर रूप सगुणही होना चाहिये। अब शेष रहा अव्यक्त रूप। यह सच है, कि यह अव्यक्त रूप इंद्रियोंको अगोचर है। और अव्यक्त रूप यद्यपि इंद्रयोंको अगोचर है, तोभी इतनेहीसे यह नहीं कहा जा सकता, कि वह निर्गुणही हो। क्योंकि, यद्यपि वह हमारी आँखोंसे न दीख पड़े, तोभी उसमें सब प्रकारके गुण सूक्ष्म रूपसे रह सकते हैं। इसलिये अव्यक्तकेभी तीन भेद किये हैं, जैसे सगुण, सगुणनिर्गुण और निर्गुण। यहाँ 'गुण' शब्दमें उन सब गुणोंका समावेश किया गया है, कि जिनका ज्ञान मनुष्यको केवल उसकी बाह्येंद्रियोंसे नहीं होता, किंतु मनसेभी होता है। परमेश्वरके मूर्तिमान् अवतार भगवान् श्रीकृष्ण स्वयंसाक्षात् अर्जुनके सामने खड़े होकर उपदेश कर रहे थे। इसलिये गीतामें जगह-जगहपर अपने व्यक्तिस्वरूपको लक्ष करके उन्होंने अपने विषयमें प्रथम पुरुषका निर्देश इस प्रकार किया है – जैसे, "प्रकृति मेरा स्वरूप है" (गीता ९. ८), "जीव मेरा अंश है" (गीता १७. ७), "सब भूतोंका अंतर्यामी. आत्मा मैं हूँ" (गीता १०. २०), "संसारमें जितनी श्रीमान् या विभूतिमान् मूर्तियाँ हैं, वे सब मेरे अंशसे उत्पन्न हुई है" (गीता १०. ४१), "मुझमें मन लगा कर मेरा भक्त हो" (गीता. ९. ३४), "तो तू मुझीमें मिल जायगा," ".तू मेरा प्रिय भक्त है, इसलिये मैं तुझे यह प्रतिज्ञापूर्वक बतलाता हूँ" (गीता १८. ६५)। और जब अपने विश्वरूपदर्शनसे अर्जुनको यह प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया, कि सारी चराचर सृष्टि मेरे व्यक्त रूपमेंही साक्षात् भरी हुई है, तब भगवानने उसको यही उपदेश किया है, कि अव्यक्त रूपसे व्यक्त रूपकी उपासना करना अधिक सहज है। "इसलिये तू मुझमेंही अपना भक्तिभाव रख" (गीता १२. ८), "मैंही ब्रह्मका, अव्यक्त मोक्षका,

शाश्वत धर्मका और अनंत सुखका मूल स्थान हूँ" (गीता १४. २७)। इससे विदित होगा, कि गीतामें आदिसे अंततक अधिकांशमें भगवानके व्यक्त स्वरूप-काही वर्णन किया गया है।

इतनेहीसे केवल भक्तिके अभिमानी बहुतेरे पंडितों और टीकाकारोंने यह मत प्रकट किया है, कि गीतामें परमात्माका व्यक्त रूपही अंतिम साध्य माना गया है। परंतु उनका यह मत सच नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उक्त वर्णनके साथही भगवानने स्पष्ट रूपसे कह दिया है, कि मेरा व्यक्त स्वरूप मायिक है, और उसके परेका जो अव्यक्त रूप – अर्थात् जो इंद्रियोंको अगोचर – है, वही मेरा सच्चा स्वरूप है। उदाहरणार्थ, भगवानने, सातवें अध्यायमें (गीता ७. २४) कहा है, कि :–

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

"यद्यपि मैं अव्यक्त अर्थात् इंद्रियोंको अगोचर हूँ, तोभी मूर्ख लोग मुझे व्यक्त समझते हैं, और व्यक्तसेभी परेके मेरे श्रेष्ठ तथा अव्यक्त रूपको नहीं पहचानते।" और इसके अगले श्लोकमें भगवान् कहते हैं, कि "मैं अपनी योगमायासे आच्छादित हूँ, इसलिये मूर्ख लोग मुझे नहीं पहचानते" (गीता ७. २५)। फिर चौथे अध्यायमें उन्होंने अपने व्यक्त रूपकी उपपत्ति इस प्रकार बतलाई है, "मैं यद्यपि जन्मरहित और अव्यय हूँ, तथापि अपनीही प्रकृतिमें अधिष्ठित होकर में अपनी मायासे (स्वात्ममाया से) जन्म लिया करता हूँ – अर्थात् व्यक्त होता रहता हूँ" (गीता ४. ६)। वे आगे सातवें अध्यायमें कहते हैं, "यह त्रिगुणात्मक प्रकृति मेरी दैवी माया है। इस मायाको जो पार कर जाते हैं, वे मुझमें समा जाते हैं, और इस मायासे जिनका ज्ञान नष्ट हो जाता है, वे मूढ नराधम मुझमें नहीं समा जा सकते।" (गीता ७. १४. १५)। अंतमें अठारहवें (गीता १८. ६१) अध्यायमें भगवानने उपदेश किया है, कि "हे अर्जुन ! सब प्राणियोंके हृदयमें जीवरूप परमात्माहीका निवास है; और वह अपनी मायासे यंत्रकी भांति सब प्राणियोंको घुमाता है।" भगवान्‌ने अर्जुनको जो विश्वरूप दिखाया है, वही नारदकोभी दिखलाया था। इसका वर्णन महाभारतके शांतिपर्वान्तर्गत नारायणीय प्रकरणमें (मभा. शां. ३३९) है; और हम पहलेही प्रकरणमें बतला चुके हैं, कि नारायणीय अर्थात् भागवतधर्मही गीतामें प्रतिपादित किया गया है। नारदको हजारों नेत्रों, रंगों, तथा अन्य गुणोंका विश्वरूप दिखलाकर भगवान्‌ने कहा :–

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि॥

"तुम मेरा जो रूप देख रहे हो, वह मेरी उत्पन्न की हुई माया है। इससे तुम यह न समझो, कि मैं, सर्वभूतोंके गुणोंसे युक्त हूँ।" और यह फिरभी कहा है, कि "मेरा

सच्चा स्वरूप सर्वव्यापी, अव्यक्त और नित्य है और उसे सिद्धपुरुषही पहचानते हैं " (मभा. शां. ३३९. ४४, ४८)। इससे कहना पड़ता है, कि गीतामें वर्णित भगवानका अर्जुनको दिखलाया हुआ विश्वरूपभी मायिक था ! सारांश, उपर्युक्त वचनोंसे इस विषयमें कुछभी संदेह नहीं रह जाता, कि गीताका यही सिद्धान्त होना चाहिये, कि यद्यपि केवल उपासनाके लिये व्यक्त स्वरूपकी प्रशंसा गीतामें भगवानने की है; तथापि परमेश्वरका श्रेष्ठ स्वरूप अव्यक्त अर्थात् इंद्रियोंको अगोचरही है; और अव्यक्तसे व्यक्त होनाही उसकी माया है। और इस मायासे पार होकर जब तक मनुष्यको मायाके परे परमात्माके, शुद्ध तथा अव्यक्त रूपका ज्ञान न हो, तबतक उसे मोक्ष नहीं मिल सकता। अब इसका अधिक विचार आगे करेंगे, कि माया क्या वस्तु है। ऊपर दिये गये वचनोंसे इतनी बात स्पष्ट है, कि यह मायावाद श्रीशंकराचार्यने नये सिरेसे नहीं उपस्थित किया है; किंतु उनके पहलेही भगवद्गीता, महाभारत और भागवतधर्ममेंभी वह ग्राह्य माना गया था। श्वेताश्वेतरोपनिषद्में‌भी सृष्टिकी उत्पत्ति इस प्रकार कही गई है – " मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् " (श्वेता. ४. १०) – अर्थात् मायाही (सांख्योंकी) प्रकृति है और परमेश्वर उस मायाका अधिपति है, और वही अपनी मायासे विश्व निर्माण करता है।

अब इतनी बात यद्यपि स्पष्ट हो चुकी, कि परमेश्वरका श्रेष्ठ स्वरूप व्यक्त नहीं, अव्यक्त है, तथापि यहाँ थोड़ा-सा विचार होनाभी आवश्यक है, कि परमात्माका यह श्रेष्ठ अव्यक्त स्वरूप सगुण है या निर्गुण। जब कि सगुण-अव्यक्तका हमारे सामने यह एक उदाहरण है, कि सांख्यशास्त्रकी प्रकृति अव्यक्त (अर्थात् इंद्रियोंको अगोचर) होनेपरभी सगुण अर्थात् सत्त्व-रज-तम-गुणमय है; तब कुछ लोग यह कहते हैं, कि परमेश्वरका अव्यक्त और श्रेष्ठ रूपभी उसी प्रकार सगुण माना जावे। अपनी मायाहीसे क्यों न हो; परंतु जब कि वही अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त सृष्टि निर्माण करता है (गीता ९. ८); और सब लोगोंके हृदयमें रहकर उनसे उनके सारे व्यापार करवाता है (गीता १८. ६१), जब की वह सब यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु है (गीता ९. २४); जब कि प्राणियोंके सुखदुःख आदि सब 'भाव' उसीसे उत्पन्न होते हैं, (गीता १०. ५) और जब कि प्राणियोंके हृदयमें श्रद्धा उत्पन्न करनेवालाभी वही है; एवं " लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् " (गीता ७. २२) – प्राणियोंकी वासनाका फल देनेवालाभी वही है; तब तो यही बात सिद्ध होती है, कि वह अव्यक्त अर्थात् इंद्रियोंको अगोचर भलेही हो; तथापि वह दया, कर्तृत्व आदि गुणोंसे युक्त अर्थात् 'सगुण' अवश्यही होना चाहिये। परंतु इसके विरुद्ध भगवान् ऐसाभी कहते हैं, कि " न मां कर्माणि लिम्पन्ति " – मुझे कर्मोंका अर्थात् गुणोंकाभी कभी स्पर्श नहीं होता (गीता ४. १४), प्रकृतिके गुणोंसे मोहित होकर मूर्ख लोग आत्माहीको कर्ता मानते हैं (गीता ३. २७, १४. १९) अथवा, यह अव्यक्त और अकर्ता परमेश्वरही प्राणियोंके हृदयमें जीवरूपसे निवास करता है (गीता १३. ३१),

और इसीलिये यद्यपि वह प्राणियोंके कर्तृत्व और कर्मसे वस्तुतः अलिप्त है, तथापि अज्ञानमें फँसे हुए लोग मोहित हो जाया करते हैं (गीता ५. १४, १५)। इस प्रकार अव्यक्त अर्थात् इंद्रियोंको अगोचर परमेश्वरके रूप – सगुण और निर्गुण – दोकेही तरह नहीं हैं किंतु इसके अतिरिक्त कहीं कहीं इन दोनोंको एकत्र मिलाकरभी अव्यक्त परमेश्वरका वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ, "भूतभृत् न च भूतस्थो" (गीता ९. ५) "मैं भूतोंका आधार होकरभी उनमें नहीं हूँ," इस तरह नौवें और तेहरहवें अध्यायमें "परब्रह्म न तो सत् है और न असत्" (गीता १३. १२), "सर्वेंद्रियवान् होनेका जिसमें भास हो परंतु जो सर्वेंद्रियरहित है, और निर्गुण हो कर गुणोंका उपभोग करनेवाला है" (गीता १३. १४), "दूर है और समीपभी है" (गीता १३. १५), "अविभक्त है और विभक्तभी दीख पड़ता है" (गीता १३. १६) – इस प्रकार परमेश्वरके स्वरूपका सगुण-निर्गुण-मिश्रित अर्थात् परस्पर-विरोधी वर्णनभी किया गया है। तथापि आरंभमें दूसरेही अध्यायमें कहा गया है, कि "यह आत्मा अव्यक्त, अचिंत्य और अविकार्य है" (गीता २. २५), और फिर तेरहवें अध्यायमें – "यह परमात्मा अनादि, निर्गुण और अव्यक्त है; इसलिये शरीरमें रहकरभी न तो यह कुछ करता है और न किसीमें लिप्त होता है" (गीता १३. ३१) – इस प्रकार परमात्माके शुद्ध, निर्गुण, निरवयव, निर्विकार, अचिंत्य अनादि और अव्यक्त रूपकी श्रेष्ठताका वर्णन गीतामें किया गया है।

भगवद्गीताकी भाँति उपनिषदोंमेंभी अव्यक्त परमात्माका स्वरूप तीन प्रकारका पाया जाता है – अर्थात् कभी कभी उभयविध यानी सगुण-निर्गुण-मिश्रित और कभी सगुण, निर्गुण। इस बातकी कोई आवश्यकता नहीं, कि उपासनाके लिये सदा प्रत्यक्ष मूर्तिही नेत्रोंके सामने रहे। ऐसे स्वरूपकीभी उपासना हो सकती है, कि जो निराकार अर्थात् चक्षु आदि ज्ञानेंद्रियोंको गोचर भलेही न हो; तोभी मनको गोचर हुए बिना उसकी उपासना होना संभव नहीं है। उपासना कहते हैं, चिंतन, मनन, या ध्यानको और यदि चिंतित वस्तुका कोई रूप न हो, तो न सही; परंतु जब तक उसका अन्य कोईभी गुण मनको मालूम न हो जाय, तब तक मन चिंतन करेगाही किसका? अतएव उपनिषदोंमें जहाँ जहाँ अव्यक्त अर्थात् नेत्रोंसे न दिखाई देनेवाले परमात्माकी उपासना (चिंतन, मनन, ध्यान) बतलाई गई हैं वहां वहाँ अव्यक्त परमेश्वर सगुणही कल्पित किया गया है। परमात्मामें कल्पित गुण उपासकके अधिकारानुसार न्यूनाधिक व्यापक या सात्त्विक होते हैं; और जिसकी जैसी निष्ठा हो, उसको वैसाही फलभी मिलता है। छांदोग्योपनिषद्में (छां. ३. १४. १) कहा है, कि "पुरुष ऋतुमय है। जिसका जैसा ऋतु (निश्चय) हो, उसे मृत्युके पश्चात् वैसाही फलभी मिलता है।" और भगवद्गीताभी कहती है, कि "देवताओंकी भक्ति करनेवाले देवताओंमें और पितरोंकी भक्ति करनेवाले पितरोंमें जा मिलते हैं" (गीता ९. २५), अथवा "यो यच्छ्रद्धः स एव सः" – जिसकी

जैसी श्रद्धा हो, उसे वैसी सिद्धि प्राप्त होती है (गीता १७. ३)। तात्पर्य यह है, कि उपासकके अधिकारभेदके अनुसार उपास्य अव्यक्त परमात्माके गुणभी उपनिषदोंमें भिन्न भिन्न कहे गये हैं। उपनिषदोंके इस प्रकरणको 'विद्या' कहते हैं। विद्या ईश्वरप्राप्तिका (उपासनारूप) मार्ग है; और यह मार्ग जिस प्रकरणमें बतलाया गया है, उसेभी विद्या'ही नाम अंतमें दिया जाता है। शांडिल्यविद्या (छां. ३. १४), पुरुषविद्या (छां. ३. १६, १७), पर्यंकविद्या (कौषी. १), प्राणोपासना (कौषी. २) इत्यादि अनेक प्रकारकी उपासनाओंका वर्णन उपनिषदोंमें किया गया है; और इस सबका विवेचन वेदान्तसूत्रोंके तृतीयाध्यायके तीसरे पादमें किया गया है। इस प्रकरणमें अव्यक्त परमात्माका सगुण वर्णन इस प्रकार है, कि वह मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगंध और सर्वरस है (छां. ३. १४. २)। तैत्तिरीय उपनिषद्में तो अन्न, प्राण, मन, विज्ञान या आनंद – इन रूपोंमेंभी परमात्माकी बढ़ती हुई उपासना बतलाई गई है (तै. २. १–५; ३. २–६)। वृहदारण्यकमें (बृ. २. १) गार्ग्य बालाकीने अजातशत्रुको पहले पहल आदित्य, चद्र, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, जल या दिशाओंमें रहनेवाले पुरुषोंकी ब्रह्मरूपसे उपासना बतलाई है; परंतु आगे अजातशत्रुने उससे यह कहा, कि सच्चा ब्रह्म इनकेभी परे है; और अंतमें प्राणोपासनाहीको मुख्य ठहराया है। इतनेहीसे यह परंपरा कुछ पूरी नहीं हो जाती। उपर्युक्त सब ब्रह्मरूपोंको प्रतीक, अर्थात् इन सबकी उपासनाके लिये कल्पित गौण ब्रह्मस्वरूप अथवा ब्रह्मनिदर्शक चिन्ह कहते हैं; और जब यही गौणरूप किसी मूर्तिके रूपमें नेत्रोंके सामने रखा जाता है, तब उसीको 'प्रतिमा' कहते हैं। परंतु स्मरण रहे, कि सब उपनिषदोंका सिद्धान्त यही है, कि सच्चा ब्रह्मरूप इससे भिन्न है (केन. १. २–८)। इस ब्रह्मके लक्षणका वर्णन करते समय कई स्थानोंमें तो "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति. २. १) या "विज्ञानमानदं ब्रह्म" (बृ. ३. ९. २८) कहा है। अर्थात् ब्रह्म सत्य (सत्), ज्ञान (चित्) और आनंदरूप है – अर्थात् सच्चिदानंदस्वरूप है – इस प्रकार सब गुणोंका तीनही गुणोंमें समावेश करके वर्णन किया गया है। और अन्य स्थानोंमें भगवद्गीताके समानही परस्परविरुद्ध गुणोंको एकत्र करके ब्रह्मका वर्णन इस प्रकार किया गया है, कि "ब्रह्म सत् भी नहीं और असत्भी नहीं" (ऋ. १०. १२९. १) अथवा "अणोरणीयान्-महतो महीयान्" अर्थात् अणुसेभी छोटा और बड़ेसेभी बड़ा है (कठ. २. २०) "तदेजति तन्नैजति तत् दूरे तद्वन्तिके" अर्थात् वह हिलता है और हिलताभी नहीं; वह दूर है और समीपभी है (ईश. ५; मुं. ३. १. ७); अथवा "सर्वेन्द्रियगुणाभास होकरभी 'सर्वेन्द्रियविवर्जित' है (श्वेता. ३. १७)। मृत्युने नचिकेताको यह उपदेश किया है, कि अंतमें उपर्युक्त सब लक्षणोंको छोड़ दो और जो धर्म और अधर्मके, कृत और अकृतके, अथवा भूत और भव्यकेभी परे है, उसेही ब्रह्म जानो (कठ. २.१४)। इसी प्रकार महाभारतके नारायणीय धर्ममें ब्रह्मा रुद्रसे (मभा. शां. ३५१. ११),

और मोक्षधर्ममें नारद शुकसे कहते हैं (मभा. ३३१. ४४)। बृहदारण्यकोपनिषद् (बृ. २. ३. २) मेंभी पहले पृथ्वी, जल और अग्नि – इन तीनोंको ब्रह्मका मूर्त रूप कहा है। फिर वायु तथा आकाशको अमूर्त रूप कह कर दिखाया है, कि इन अमूर्तोंके सारभूत पुरुषके रूप या रंग बदल जाते हैं; और अंतमें यह उपदेश किया है, कि 'नेति' 'नेति' अर्थात् अबतक जो कहा गया है, वह 'वह' नहीं है; वह ब्रह्म नहीं है – इन सब नामरूपात्मक मूर्त या अमूर्त पदार्थोंके परे जो 'अगृह्य' या 'अवर्णनीय' है, उसेही परब्रह्म समझो (बृह. २. ३. ६ और वे. सू. ३. २. २२)। अधिक क्या कहें; जिन जिन पदार्थोंको कुछ नाम दिया जा सकता है, उन सबसेभी परे जो है, वही ब्रह्म है; उस ब्रह्मका अव्यक्त तथा निर्गुण स्वरूप दिखलानेके लिये 'नेति' 'नेति' एक छोटा-सा निर्देश, आदेश या सूत्रही हो गया है; और बृहदारण्यक उपनिषद्‌मेंही पुनः उसका चार बार प्रयोग हुआ है (बृह. ४. ९. २६; ४. २. ४; ४. ४. २२; ४. ५. १५)। इसी प्रकार दूसरे उपनिषदोंमेंभी परब्रह्मके निर्गुण और अचिंत्य रूपके वर्णन पाये जाते हैं। जैसे "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति. २. ९); अद्रेश्यं. (अदृश्य), अग्राह्यं' (मुं. १. १. ६) "न चक्षुषा गृह्यते नाऽपि वाचा" (मुं. ३. १. ८); नेत्रोंसे न दिखनेवाला अथवा वाणीसे कहा न जानेवाला अथवा –

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।।

अर्थात् वह परब्रह्म पंचमहाभूतोंके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध – इन पाँच गुणोंसे रहित, अनादि, अनंत और अव्यय है (कठ. ३. १५; वे. सू. ३. २. २२–३०)। महाभारतांतर्गत शांतिपर्वमें नारायणीय या भागवतधर्मके वर्णनमेंभी भगवानने नारदको अपना सच्चा स्वरूप "अदृश्य, अध्रेय, अस्पृश्य, निर्गुण, निष्कल (निरवयव), अज, नित्य, शाश्वत और निष्क्रिय" बतला कर कहा है, कि "वही सृष्टिकी उत्पत्ति तथा लय करनेवाला त्रिगुणातीत परमेश्वर है;" और इसीको "वासुदेव-परमात्मा" कहते हैं (मभा. शां. ३३९. २१–२८)।

उपर्युक्त वचनोंसे यह प्रकट होगा, कि न केवल भगवद्गीतामेंही, वरन् महाभारतांतर्गत नारायणीय या भागवत धर्ममें और उपनिषदोंमेंभी परमात्माका अव्यक्त स्वरूपही व्यक्त स्वरूपसे श्रेष्ठ माना गया है; और यही अव्यक्त श्रेष्ठ स्वरूप वहाँ तीन प्रकारसे वर्णित है; अर्थात् सगुण, सगुण-निर्गुण और अंतमें केवल निर्गुण। प्रश्न यह है, कि अव्यक्त और श्रेष्ठ स्वरूपके उक्त तीन परस्परविरोधी रूपोंका मेल किस तरह किया जावे? यह कहा जा सकता है, कि इन तीनोंमेंसे जो सगुण-निर्गुण अर्थात् उभयात्मक रूप है, वह सगुणसे निर्गुणमें (अथवा अज्ञेयमें) जानेकी सीढ़ी या साधन है। क्योंकि, पहले सगुण रूपका ज्ञान होनेपरही, धीरे धीरे एक

एक गुणका त्याग करनेसे निर्गुण स्वरूपका अनुभव हो सकता है; और इसी रीतिसे ब्रह्मप्रतीककी बढ़ती हुई उपासना उपनिषदोंमें बतलाई गई है। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय उपनिषद्की भृगुवल्लीमें वरुणने भृगुको पहले यही उपदेश किया है, कि अन्नही ब्रह्म है; फिर क्रमक्रमसे प्राण, मन, विज्ञान और आनंद – इन ब्रह्मरूपोंका ज्ञान उसे करा दिया है। (तैत्ति. ३.२–६) अथवा ऐसाभी कहा जा सकता है, कि गुण-बोधक विशेषणोंसे निर्गुण रूपका वर्णन करना असंभव है। अतएव परस्परविरोधी विशेषणोंसेही उसका वर्णन करना पड़ता है। इसका कारण यह है, कि जब हम किसी वस्तुके संबंधमें 'दूर' या 'सत्' शब्दोंका उपयोग करते हैं, तब हमें किसी अन्य वस्तुके 'समीप' या 'असत्' होनेकाभी अप्रत्यक्ष रूपसे बोध हो जाया करता है। परंतु यदि एकही ब्रह्म सर्वव्यापी है, तो परमेश्वरको 'दूर' या 'सत्' कहकर 'समीप' या 'असत्' किसे कहें ? ऐसी अवस्थामें "दूर नहीं, समीप नहीं" "सत् नहीं असत् नहीं" – इस प्रकारकी भाषाका उपयोग करनेसे दूर और समीप, सत् और असत् इत्यादि परस्परसापेक्ष गुणोंकी जोड़ियाँभी लगा दी जाती हैं। और यह बोध होनेके लिये परस्परविरुद्ध विशेषणोंकी इस भाषाकाही व्यवहारमें उपयोग करना पड़ता है, कि जो कुछ शेष निर्गुण, सर्वव्यापी, सर्वदा निरपेक्ष और स्वतंत्र बचा है, वही सच्चा ब्रह्म है (गीता १३. १२)। जो कुछ है वह सब ब्रह्मही है। इसलिये दूर वही, समीपभी वही, सत्भी वही और असत्भी वही है। अतएव दूसरी दृष्टिसे उसी ब्रह्मका एकही समय परस्परविरोधी विशेषणोंके द्वारा वर्णन किया जा सकता है (गीता ११. ३७; १३. १५)। अब यद्यपि उभयविध सगुण-निर्गुण वर्णनकी उपपत्ति इस प्रकार बतला चुके; तथापि इस बातका स्पष्टीकरण रहही जाता है, कि एकही परमेश्वरके परस्पर-विरोधी दो स्वरूप – सगुण और निर्गुण – कैसे हो सकते हैं ? माना कि जब अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त रूप अर्थात् इंद्रियगोचर रूप धारण करता है, तब वह उसकी माया कहलाती है; परंतु जब वह व्यक्त – यानी इंद्रिय-गोचर – न होते हुए अव्यक्त रूपमेंही निर्गुणका सगुण हो जाता है, तब उसे क्या कहें ? उदाहरणार्थ, एकही निराकार परमेश्वरको कोई 'नेति नेति' कह कर निर्गुण मानते हैं; और कोई उसे सर्वगुणसंपन्न, सर्वकर्मा तथा दयालु कहकर सगुण मानते हैं। इसका रहस्य क्या है ? उक्त दोनोंमें श्रेष्ठ पक्ष कौन-सा है ? इस निर्गुण और अव्यक्त ब्रह्मसे सारी व्यक्त सृष्टि और जीवकी उत्पत्ति कैसे हुई ? – इत्यादि बातोंका स्पष्टीकरण हो जाना आवश्यक है। यह कहना मानों अध्यात्मशास्त्रहीको जड़से काटना है, कि सब संकल्पोंका दाता अव्यक्त परमेश्वर तो यथार्थमें सगुण है; और उपनिषदोंमें या गीतामें निर्गुण स्वरूपका जो वर्णन किया गया है, वह केवल अतिशयोक्ति या व्यर्थ प्रशंसा है। क्योंकि जिन बड़े बड़े महात्माओं और ऋषियोंने मन एकाग्र करके सूक्ष्म तथा शांत विचारोंसे यह सिद्धान्त ढूंढ़ निकाला, कि "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तै. २. ९) – मनकोभी जो दुर्गम है और

वाणीभी जिसका वर्णन कर नहीं सकती, वही अंतिम ब्रह्मस्वरूप है – उनके आत्मानुभवको अतिशयोक्ति कैसे कहें ? केवल एक साधारण मनुष्य अपने क्षुद्र मनमें यदि अनंत और निर्गुण ब्रह्मको ग्रहण नहीं कर सकता; इसलिये यह कहना, कि सच्चा ब्रह्म सगुणही होना चाहिये; मानों सूर्यकी अपेक्षा अपने छोटेसे दीपकको श्रेष्ठ बतलाना है। हाँ, यदि इस निर्गुण रूपकी उपपत्ति उपनिषदोंमें या गीतामें न दी गई होती तो वात दूसरी थी; परंतु यथार्थमें वैसा नहीं है। देखिये न ! भगवद्गीतामें तो स्पष्टही कहा है, कि परमेश्वरका सच्चा और श्रेष्ठ स्वरूप अव्यक्तही है; और व्यक्त सृष्टिका रूप धारण करना तो उसकी माया है (गीता ४. ६)। परंतु भगवानने यह भी कहा है, कि प्रकृतिके गुणोंसे "मोहमें फँसकर मूर्ख लोग (अव्यक्त और निर्गुण) आत्माकोही कर्ता मानते हैं" (गीता ३. २७–२९); किंतु ईश्वर तो कुछ नहीं करता। लोग केवल अज्ञानसे धोखा खाते हैं (गीता ५. १५)। अर्थात् भगवानने स्पष्ट शब्दोंमें यह उपदेश किया है, कि यद्यपि अव्यक्त आत्मा या परमेश्वर वस्तुतः निर्गुण है, (गीता १३. ३१) तोभी लोग उसपर 'मोह' या 'अज्ञान'से कर्तृत्व आदि गुणोंका अध्यारोप करते हैं; और उसे अव्यक्त सगुण बना देते हैं (गीता ७. २४)। उक्त विवेचनसे परमेश्वरके स्वरूपके 'विषय'में गीताके ये ही सच्चे सिद्धान्त मालूम होते हैं :– (१) गीतामें परमेश्वरके व्यक्त स्वरूपका यद्यपि वहुतसा वर्णन है, तथापि परमेश्वरका मूल और श्रेष्ठ स्वरूप निर्गुण तथा अव्यक्तही है : किंतु मनुष्य मोह या अज्ञानसे उसे सगुण मानते हैं; (२) सांख्योंकी प्रकृति या उसका व्यक्त पसारा – यानी अखिल संसार – उस परमेश्वरकी माया है; और (३) सांख्योंका पुरुष यानी जीवात्मा यथार्थमें परमेश्वररूपी और परमेश्वरके समान ही निर्गुण और अकर्ता है, परंतु अज्ञानके कारण लोग उसे कर्ता मानते हैं। वेदान्तशास्त्रके सिद्धान्तभी ऐसेही हैं; परंतु उत्तर-वेदान्त-ग्रंथोंमें इन सिद्धान्तोंको वतलाते समय माया और अविद्यामें कुछ भेद किया गया है। उदाहरणार्थ, पंचदशीमें पहले यह बतलाया गया है, कि आत्मा और परब्रह्म दोनों मूलमें एकही यानी ब्रह्मस्वरूप हैं। और यह चित्स्वरूपी ब्रह्म जब मायामें प्रतिबिंबित होता है, तब सत्त्वरजतमगुणमयी (सांख्योंकी मूल) प्रकृतिका निर्माण होता है। परंतु आगे चलकर इस मायाकेही दो भेद – 'माया' और 'अविद्या' – किये गये हैं। और यह बतलाया गया है, कि जब मायाके तीन गुणोंमेंसे 'शुद्ध' सत्त्वगुणका उत्कर्ष होता है, तब उसे केवल माया कहते हैं; और इस मायामें प्रतिबिंबित होनेवाले ब्रह्मको सगुण यानी व्यक्त ईश्वर (हिरण्यगर्भ) कहते हैं। और यदि यही सत्त्वगुण 'अशुद्ध' हो, तो उसे 'अविद्या' कहते हैं; तथा उस अविद्यामें प्रतिबिंबित ब्रह्मको 'जीव' कहते हैं। (पंच. १. १५–१७) इस दृष्टिसे, यानी उत्तरकालीन वेदान्तकी दृष्टिसे देखें, तो एकही मायाके स्वरूपतः दो भेद करने पड़ते हैं – अर्थात् परब्रह्मसे 'व्यक्त ईश्वर'के निर्माण होनेका कारण माया और 'जीव'के निर्माण होनेका कारण अविद्या मानना

पड़ता है। परंतु गीतामें इस प्रकार का भेद नहीं किया गया है। गीता कहती है, कि "जिस मायासे स्वयं भगवान् व्यक्त रूप यानी सगुण रूप धारण करते हैं (७. २५) अथवा जिस मायाके द्वारा अष्टधा प्रकृति अर्थात् सृष्टिकी सारी विभूतियां उनसे उत्पन्न होती हैं, (४. ६) उसी मायाके अज्ञानसे जीव मोहित होता है" (७. ४–१५)। 'अविद्या' शब्द गीतामें कहींभी नहीं आया है; और श्वेताश्वेतरोपनिषदमें जहाँ वह शब्द आया है, वहाँ उसका स्पष्टीकरणभी इस प्रकार किया है, कि मायाके प्रपंचकोही 'अविद्या' कहते हैं (श्वेता. ५. १)। अतएव उत्तरकालीन वेदान्त ग्रंथोंमें केवल निरूपणकी सरलताके लिये – जीव और ईश्वरकी दृष्टिसे – किये गये सूक्ष्म भेद – अर्थात् माया और अविद्याको स्वीकार न कर हम 'माया', 'अविद्या' और 'अज्ञान' शब्दोंको समानार्थकही मानते हैं। और अब शास्त्रीय रीतिसे संक्षेपमें इस विषयका विवेचन करते हैं, कि त्रिगुणात्मक माया, अविद्या या अज्ञान और मोहका सामान्यतः तात्त्विक स्वरूप क्या है, और उसकी सहायतासे गीता तथा उपनिषदोंके सिद्धान्तोंकी उपपत्ति कैसे लग सकती है।

निर्गुण और सगुण शब्द देखनेमें छोटे हैं; परंतु जब इसका विचार करने लगें, कि इन शब्दोंमें किन किन बातोंका समावेश होता है; तब सचमुच सारा ब्रह्मांड दृष्टिके सामने खड़ा हो जाता है। जैसे, इस संसारका मूल जो कि अनादि परब्रह्म है, जो एक निष्क्रिय और उदासीन है; तब उसीमें मनुष्यको इंद्रियोंको गोचर होनेवाले अनेक प्रकारके व्यापार या गुण कैसे उत्पन्न हुए ? तथा इस प्रकार उसकी अखंडता भंग कैसे हो गई ? अथवा जो मूलमें एकरूप है, उसीके बहुरूपी भिन्न भिन्न व्यक्त पदार्थ कैसे दिखाई देते हैं ? जो परब्रह्म निर्विकार है, और जिसमें खट्टा, मिठा, कड़ुवा या गाढ़ा-पतला अथवा शीत-उष्ण आदि भेद नहीं हैं, उसीमें नाना प्रकारकी रुचियाँ, न्यूनाधिक गाढ़ा-पतलापन या शीत और उष्ण, सुख और दुःख, प्रकाश और अँधेरा, मृत्यु और अमरता इत्यादि अनेक प्रकारके द्वंद्व कैसे उत्पन्न हुए ? जो परब्रह्म शांत और निर्वात है, उसीमें नाना प्रकारकी ध्वनियाँ और शब्द कैसे निर्माण होते हैं ? जिस परब्रह्ममें भीतर-बाहर या दूर-समीपका कोई भेद नहीं है, उसीमें आगे या पीछे, दूर या समीप, अथवा पूर्व-पश्चिम इत्यादि दिक्कृत या स्थलकृत भेद कैसे हो गये ? जो परब्रह्म अविकारी, त्रिकालाबाधित, नित्य और अमृत है, उसीसे न्यूनाधिक कालमानके नाशवान् पदार्थ कैसे बने ? अथवा जिसे कार्यकारणभावका स्पर्शभी नहीं होता, उसी परब्रह्मके कार्यकारणरूप – जैसे मिट्टी और घड़ा – क्यों दिखाई देते हैं ? ऐसेही औरभी अनेक विषयोंका उक्त छोटेसे दो शब्दोंमें समावेश हुआ है। अथवा संक्षेपमें कहा जाय, तो अब इस बातका विचार करना है, कि एकहीमें अनेकता, निर्द्वंद्वमें नाना प्रकारकी द्वंद्वता, अद्वैतमें द्वैत और निःसंगमें संग कैसे हो गया। सांख्योंने तो उस झगड़ेसे बचनेके लिये यह द्वैत कल्पित कर लिया है, कि निर्गुण और नित्यपुरुषके साथ साथ त्रिगुणात्मक यानी सगुण

प्रकृतिभी नित्य और स्वतंत्र है। परंतु जगतके मूलतत्त्वको ढूंढ़ निकालनेकी मनुष्यके मनकी जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसका समाधान इस द्वैतसे नहीं होता। इतनाही नहीं; किंतु यह द्वैत युक्तिवादकेभी सामने टिक नहीं पाता। इसलिये प्रकृति और पुरुषकेभी परे जाकर उपनिषद्कारोंने यह सिद्धान्त स्थापित किया, कि सच्चिदानंद ब्रह्मसेभी श्रेष्ठ श्रेणीका 'निर्गुण' ब्रह्मही जगतका मूल है। परंतु अब इसकी उपपत्ति देनी चाहिये, कि निर्गुणसे सगुण कैसे हुआ। क्योंकि सांख्यके समान वेदान्तकाभी यह सिद्धान्त है, कि जो वस्तु नहीं है, वह होही नहीं सकती; और उससे, 'जो वस्तु है' उसकी कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस सिद्धान्तके अनुसार निर्गुण (अर्थात् जिसमें गुण नहीं हैं उस) ब्रह्मसे सगुण सृष्टिके पदार्थ (कि जिनमें गुण हैं) उत्पन्न हो नहीं सकते। तो फिर सगुण आया कहाँसे ? यदि कहें कि सगुण कुछ नहीं है, तो वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है। और यदि निर्गुणके समान सगुणकोभी सत्य मानें; तो हम देखते हैं, कि इंद्रियगोचर होनेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि सब गुणोंके स्वरूप आज एक हैं, तो कल दूसरेही – अर्थात् वे नित्य परिवर्तनशील होनेके कारण नाशवान्, विकारी और अशाश्वत हैं। तब तो (ऐसी कल्पना करके कि परमेश्वर विभाज्य है) यही कहना होगा, कि सर्वव्यापी परमेश्वरभी सगुणोंके संबंधमें परिवर्तनशील एवं नाशवान् है। परंतु जो विभाज्य और नाशवान् होकर सृष्टिके नियमोंकी पकड़में नित्य परतंत्र रहता है, उसे परमेश्वरही कैसे कहें ? सारांश, चाहे यह मानो, कि इंद्रियगोचर सारे सगुण पदार्थ पंचमहाभूतोंसे निर्मित हुए हैं; अथवा सांख्यानुसार या आधिभौतिक दृष्टिसे यह अनुमान कर लो, कि इन सारे पदार्थोंका निर्माण एक ही अव्यक्त सगुण मूलप्रकृतिसे हुआ है। किसीभी पक्षका स्वीकार करो; यह बात निर्विवाद सिद्ध है, कि जब तक नाशवान् गुण इस मूल प्रकृतिसेभी छूट नहीं गये हैं, तबतक पंचमहाभूतोंको या प्रकृति रूप इस सगुण मूल पदार्थको जगतका अविनाशी, स्वतंत्र और अमृत तत्त्व नहीं कह सकते। अतएव जिसे प्रकृतिवादका स्वीकार करना है, उसे उचित है, कि वह या तो यह कहना छोड़ दे, कि परमेश्वर नित्य, स्वतंत्र और अमृतरूप है; या इस बातकी खोज करे, कि पंचमहाभूतोंके परे अथवा सगुण मूल प्रकृतिकेभी परे और कौनसा तत्त्व है। इसके सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है। जिस प्रकार मृगजलसे प्यास नहीं बुझती, या बालूसे तेल नहीं निकलता, उसी प्रकार प्रत्यक्ष नाशवान् वस्तुसे अमृतत्वकी प्राप्तिकी आशा करना भी व्यर्थ है। और इसीलिये याज्ञवल्क्यने अपनी स्त्री – मैत्रेयी – को स्पष्ट उपदेश किया है, कि चाहे जितनी संपत्ति क्यों न प्राप्त हो जावे; पर उससे अमृतत्वकी आशा करना व्यर्थ है – "अमृतत्वस्य तु नाशस्ति वित्तेन" (बृह. २.४.२) अच्छा; अब यदि अमृतत्वको मिथ्या कहें; तो मनुष्योंकी यह स्वाभाविक इच्छा दीख पड़ती है, कि वे किसी राजासे मिलनेवाले पुरस्कार या पारितोषिकका उपभोग न केवल अपने लिये वरन् पुत्रपौत्रादिके लियेभी आचन्द्रार्क – अर्थात्

चिरकालके लिये – करना चाहते हैं। अथवा यहभी देखा जाता है, कि चिरकाल रहनेवाली या शाश्वत कीर्ति पानेका जब अवसर आ जाता है, तब मनुष्य अपने जीवनकीभी परवाह नहीं करता। ऋग्वेदके समान अत्यंत प्राचीन ग्रंथोंमेंभी पूर्व-ऋषियोंकी प्रार्थना है, कि "हे इंद्र! तू हमें 'अक्षित श्रव' अर्थात् अक्षय कीर्ति या धन दे" (ऋ. १.९.७); अथवा "हे सोम! तू मुझे वैवस्वत (यम) लोकमें अमर कर दे" (ऋ. ९.११३.८)। और, अर्वाचीन समयमें इसी दृष्टीको स्वीकार करके स्पेन्सर, कांट प्रभृति केवल आधिभौतिक पंडितभी यही कहते हैं, कि "इस संसारमें मनुष्यमात्रका नैतिक परम कर्तव्य यही है, कि वह किसी प्रकारके क्षणिक सुखमें न फँसकर वर्तमान और भावी मनुष्यजातिके चिरकालिक सुखके लिये उद्योग करे।" हमारे जीवनके पश्चात्के चिरकालिक कल्याणकी अर्थात् अमृतत्वकी यह कल्पना आई कहाँसे? यदि कहें, कि यह स्वभावसिद्ध है; तो मानना पड़ेगा, कि इस नाशवान् देहके परे और कोई अमृत वस्तु अवश्य है। और यदि कहें, कि ऐसी कोई अमृत वस्तु नहीं है; तो हमें जिस मनोवृत्तिकी साक्षात् प्रतीति होती, उसका अन्य कोई कारणभी नहीं बतलाते बन पड़ता! ऐसी कठिनाई आ पड़नेपर बहुतेरे आधिभौतिक पंडित यह उपदेश करते हैं, कि इन प्रश्नोंका कभी समाधानकारक उत्तर नहीं मिल सकता। अतएव इनका विचार न करके दृश्य सृष्टिके पदार्थोंके गुण-धर्मोंके परे अपने मनकी दौड़ कभी न जाने दो। यह उपदेश है तो सरल; परंतु मनुष्यके मनमें तत्त्वज्ञानकी जो स्वाभाविक लालसा होती है; उसका प्रतिरोध कौन और किस प्रकारसे कर सकता है? और इस दुर्धर जिज्ञासाका यदि नाश कर डालें, तो फिर ज्ञानकी वृद्धि हो तो कैसे? जबसे मनुष्य इस पृथ्वीतलपर उत्पन्न हुआ है, तभीसे वह इस प्रश्नका विचार करता चला आया है, कि "सारी दृश्य और नाशवान् सृष्टिका मूलभूत अमृततत्त्व क्या है? और वह मुझे कैसे प्राप्त होगा?" आधिभौतिक शास्त्रोंकी जितनी चाहे उन्नति हो; तथापि मनुष्यकी अमृततत्त्वसंबंधी ज्ञानकी स्वाभाविक प्रवृत्ति कभी कम होनेकी नहीं। आधिभौतिक शास्त्रोंकी चाहे जैसी वृद्धि हो तोभी सारे आधिभौतिक सृष्टिविज्ञानको बगलमें दबाकर आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान सदा उसके आगेही दौड़ता रहेगा! दो-चार हजार वर्षके पहले यही दशा थी; और अब पश्चिमी देशोंमेंभी वही बात दीख पड़ती है। और तो क्या; मनुष्यकी बुद्धिका ज्ञानलालसा जिस दिन छूटेगी, उस दिन उसके विषयमें यही कहना होगा, कि "स वै मुक्तोऽथवा पशुः।"

दिक्कालसे अमर्यादित, अमृत, अनादि, स्वतंत्र, एकरूप, एक, निरंतर, सर्व-व्यापी और निर्गुण तत्त्वके अस्तित्वके विषयमें, अथवा उस निर्गुण तत्त्वसे सगुण सृष्टिकी उत्पत्तिके विषयमें जैसा व्याख्यान हमारे प्राचीन उपनिषदोंमें किया गया है, उससे अधिक सयुक्तिक व्याख्यान अन्य देशोंके तत्त्वज्ञोंने अबतक नहीं किया है। अर्वाचीन जर्मन तत्त्ववेत्ता कांटने इस बातका सूक्ष्म विचार किया है, कि मनुष्यको

बाह्य सृष्टिकी विविधता या भिन्नताका ज्ञान एकतासे क्यों और कैसे होता है? और फिर उक्त उपपत्तिकोही उसने अर्वाचीन शास्त्रकी रीतिसे अधिक स्पष्ट कर दिया है। और हेगेल यद्यपि अपने विचारमें कांटसे कुछ आगे बढ़ा है, तथापि उसके सिद्धान्तभी वेदान्तसे आगे नहीं बढ़े हैं। शोपेनहरकाभी यही हाल है। उपनिषदोंके लैटिन भाषाके अनुवादका अध्ययन उसने किया था – और उसने यह बातभी लिख रखी है, कि "संसारके साहित्यके इन अत्युत्तम" ग्रंथोंसे कुछ विचार मैंने अपने ग्रंथोंमें लिये हैं। इस छोटेसे ग्रंथमें इन सब बातोंका विस्तारपूर्वक निरूपण करना संभव नहीं, कि उक्त गंभीर विचारों और उनके साधक-बाधक प्रमाणोंमें, अथवा वेदान्तके सिद्धान्तों और कांट प्रभृति पश्चिमी तत्त्वज्ञोंके सिद्धान्तोंमें समानता कितनी है और अंतर कितना है। इसी प्रकार इस बातकीभी विस्तारसे चर्चा नहीं कर सकते, कि उपनिषद् और वेदान्तसूत्र जैसे प्राचीन ग्रंथोंके वेदान्तमें और तदुत्तर-कालीन ग्रंथोंके वेदान्तमें छोटे-मोटे भेद कौनकौनसे हैं। अतएव भगवद्गीताके अध्यात्म-सिद्धान्तोंकी सत्यता, महत्त्व और उपपत्ति समझा देनेके लिये जिन जिन बातोंकी आवश्यकता हैं, सिर्फ़ उन्हीं बातोंका यहाँ दिग्दर्शन किया गया है; और इस चर्चाके लिये उपनिषद्, वेदान्त-सूत्र और उसके शांकरभाष्यका आधार प्रधान रूपसे लिया गया है। प्रकृति-पुरुषरूपी सांख्योक्त द्वैतके परे क्या है – इसका निर्णय करनेके लिये केवल द्रष्टा और दृश्य सृष्टिके द्वैतभेदपरही ठहर जाना उचित नहीं। किंतु इस बातकाभी सूक्ष्म विचार करना चाहिये, कि द्रष्टा पुरुषको बाह्य सृष्टिका जो ज्ञान होता है, उसका स्वरूप क्या है? वह ज्ञान किससे और किसका होता है? बाह्य सृष्टिके पदार्थ मनुष्यको अपने नेत्रोंसे जैसे दिखाई देते हैं, वैसे तो वे गुण पशु-ओंकोभी दिखाई देते हैं। परंतु मनुष्यकी यह विशेषता है, कि आँख, कान इत्यादि ज्ञानेंद्रियोंसे उसके मनपर जो संस्कार हुआ करते हैं, उनका एकीकरण करनेकी विशेष शक्ति उसमें है, और इसीलिये बाह्य सृष्टिके पदार्थमात्रका ज्ञान उसको हुआ करता है। पहले क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारमें बतला चुके हैं, कि जिस एकीकरण-शक्तिका फल उपर्युक्त विशेषता है, वह शक्ति मन और बुद्धिकेभी परे है – अर्थात् वह आत्माकी शक्ति है। यह बात नहीं, कि किसी एकही पदार्थका ज्ञान उक्त रीतिसे होता हो; किंतु सृष्टिके भिन्न भिन्न पदार्थोंके कार्यकारणभाव आदि जो अनेक संबंध हैं – जिन्हें हम सृष्टिके नियम कहते हैं – उनका ज्ञानभी इसी प्रकार हुआ करता है। इसका कारण यह है, कि यद्यपि हम भिन्न भिन्न पदार्थोंको देखते हैं, तथापि उनका कार्यकारण-संबंध प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता; किंतु हम उसे अपने मानसिक व्यापारोंसे निश्चित किया करते हैं। उदाहरणार्थ, जब कोई पदार्थ हमारे नेत्रोंके सामनेसे जाता है, तब उसका रूप और उसकी गति देखकर हम निश्चय करते हैं, कि यह एक 'फौजी सिपाही' है; और यही संस्कार मनमें बना रहता है। इसके बाद जब कोई दूसरा पदार्थ उसी रूप और गतिमें दृष्टिके सामने आता है, तब वही

मानसिक क्रिया फिर शुरू हो जाती है; और हमारी बुद्धिका निश्चय हो जाता है कि वहभी एक फौजी सिपाही है। इस प्रकार भिन्न भिन्न समयमें (एके बाद दूसरा) जो अनेक संस्कार हमारे मनपर होते रहते हैं, उन्हें हम अपनी स्मरणशक्तिसे याद कर एकत्र रखते हैं; और जब वह पदार्थसमूह हमारी दृष्टिके सामने आ जाता है, तब उन सब भिन्न भिन्न संस्कारोंका ज्ञान एकताके रूपमें होकर हम कहने लगते हैं, कि हमारे सामनेसे 'फौज' जा रही है। इस सेनाके पीछेसे आनेवाले पदार्थका रूप देखकर हम निश्चय करते हैं, कि वह 'राजा' है। और 'फौज'-संबंधी पहले संस्कारको तथा 'राजा'संबंधी इस नूतन संस्कारको एकत्र कर हम कह सकते हैं, कि यह "राजाकी सवारी जा रही है।" इसलिये कहना पड़ता है, कि सृष्टिज्ञान केवल इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला जड़ पदार्थ नहीं है; किंतु इंद्रियोंके द्वारा मनपर होनेवाले अनेक संस्कारों या परिणामोंका जो 'एकीकरण' 'द्रष्टा आत्मा' किया करता है, उसी एकीकरणका फल ज्ञान है। इसीलिये भगवद्गीतामेंभी ज्ञानका लक्षण इस प्रकार दिया है – "अविभक्तं विभक्तेषु" अर्थात् सच्चा ज्ञान वही है, कि जिससे विभक्त या निरालेपनकी अविभक्तता या एकताका बोध हो * (गीता १८.२०)। परंतु इस विषयका यदि पुनः सूक्ष्म विचार किया जावे, कि इंद्रियोंके द्वारा मनपर जो संस्कार पहले होते हैं, वे किसके हैं, तो जान पड़ेगा कि यद्यपि आँख, कान, नाक इत्यादि इंद्रियोंसे पदार्थके रूप, शब्द, गंध आदि गुणोंका ज्ञान हमें होता है। तथापि जिस द्रव्यमें ये बाह्य गुण हैं, उसके आंतरिक स्वरूपके विषयमें हमारी इंद्रियाँ हमें कुछभी नहीं बतला सकतीं। हम यह देखते हैं सही, कि 'गीली मिट्टी'से घड़ा बनता है; परंतु यह नहीं जान सकते कि, जिसे हम 'गीली मिट्टी' कहते हैं; उस पदार्थका यथार्थ तात्त्विक स्वरूप क्या है। चिकनाई, गीलापन, मैला रंग या गोलाकार (रूप) इत्यादि गुण जब इंद्रियोंके द्वारा मनको पृथक् पृथक् मालूम हो जाते हैं, तब उन संस्कारोंका एकीकरण करके 'द्रष्टा' आत्मा कहता है, कि "यह गीली मिट्टी है"; और आगे इसी द्रव्यकी (क्योंकि यह माननेके लिये कोई कारण नहीं, कि द्रव्यका तात्त्विक रूप बदल गया) गोल तथा पोली आकृति या रूप, ठन ठन आवाज और सूखापन इत्यादि गुण जब इंद्रियोंके द्वारा मनको मालूम हो जाते हैं, तब उनका एकीकरण करके 'द्रष्टा' उसे 'घड़ा' कहता है। सारांश, सारा भेद, 'रूप या आकार' मेंही होता रहता है। और जब इन्हीं गुणोंके संस्कारोंको (जो मनपर हुआ करते हैं) 'द्रष्टा' आत्मा एकत्र कर लेता है, तब एकही तात्त्विक पदार्थको अनेक नाम प्राप्त हो जाते हैं। इसका सबसे सरल उदाहरण समुद्र और तरंगका या सोना और अलंकारका है। क्योंकि इन दोनों उदाहरणोंमें रंग, गाढ़ापन,

---

* Cf. " Knowledge is first produced by the synthesis of what is manifold. " Kant's Critique of Pure Reason, p. 64, Max-Muller's translation. 2nd Ed.

पतलापन, वजन आदि गुण एकहीसे रहते हैं; और केवल रूप (आकार) तथा नाम येही दो गुण बदलते रहते हैं। इसीलिये वेदान्तमें ये सरल दृष्टान्त हमेशा पाये जाते हैं। सोना तो एक पदार्थ है; परंतु भिन्न भिन्न समयपर बदलनेवाले उसके आकारोंके जो संस्कार इंद्रियोंके द्वारा मनपर होते हैं, उन्हें एकत्र करके 'द्रष्टा' उस सोनेकोही – कि जो तात्त्विक दृष्टिसे एकही मूल द्रव्य है – कभी 'कड़ा', कभी 'अँगूठी' या कभी 'पँचलड़ी', 'पहूँची और कंगन' इत्यादि भिन्न भिन्न नाम दिया करता है। भिन्न भिन्न समयपर पदार्थोंको जो इस प्रकार नाम दिये जाते हैं, उन नामोंको, तथा पदार्थोंको जिन भिन्न भिन्न आकृतियोंके कारण वे नाम बदलते रहते हैं, उन आकृतियोंको उपनिषदोंमें 'नामरूप' कहते हैं; और इन्हींमें अन्य सब गुणों-काभी समावेश कर दिया जाता है (छां. ६.३ और ४; बृ. १.४.७)। और इस प्रकार समावेश होना ठीकभी है। क्योंकि कोईभी गुण लीजिये; उसका कुछ-न-कुछ नाम और रूप अवश्यही होगा। यद्यपि इन नामरूपोंमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहे, तथापि कहना पड़ता है कि – इन नामरूपोंके मूलमें आधारभूत कोई तत्त्व या द्रव्य है, जो इन नामरूपोंसे भिन्न है; और कभी बदलताही नहीं। जिस प्रकार पानीपर तरंगें आ जाती हैं, उसी प्रकार ये सब नामरूप किसी एकही मूल द्रव्यपर तरंगोंके समान हैं। यह सच है, कि हमारी इंद्रियाँ नामरूपके अतिरिक्त और कुछभी पहचान नहीं सकती; अतएव इन इंद्रियोंको उस मूल द्रव्यका ज्ञान होना संभव नहीं, कि जो नामरूपसे भिन्न है, परंतु उसका आधारभूत है। परंतु सारे संसारका आधारभूत यह तत्त्व भलेही अव्यक्त हो; अर्थात् इंद्रियोंसे जाना न जा सकता हो; तथापि हमको अपनी बुद्धिसे यही निश्चित अनुमान करना पड़ता है, कि वह सत् है – अर्थात् वह सचमुच सर्वकाल सब नामरूपोंके मूलमें तथा नामरूपोंमेंभी निवास करता है; और उसका कभी नाश नहीं होता। क्योंकि यदि इंद्रियगोचर नामरूपोंके अतिरिक्त मूलतत्त्वको कुछ मानेही नहीं, तो फिर 'कडा' 'कंगन' आदि पदार्थ भिन्न भिन्न हो जावेंगे। एवं इस समय हमें यह ज्ञान हुआ करता है, कि "वे सब एकही धातुके (सोनेके) बने हैं", उस ज्ञानके लिये कुछभी आधार नहीं रह जावेगा। ऐसी अवस्थामें केवल इतनाही कहते बनेगा, कि यह 'कड़ा' है; यह 'कंगन' है। यह कदापि न कह सकेंगे, कि कड़ा सोनेका है; और कंगनभी सोनेका है। अतएव न्यायतः यह सिद्ध होता है, कि 'कड़ा सोनेका है', "कंगन सोनेका है', इत्यादि वाक्योंमें 'है' शब्दसे जिस सोनेके साथ नामरूपात्मक 'कड़े' 'कंगन'का संबंध जोड़ा गया है, वह सोना केवल शशशृंगवत अभावरूप नहीं है। किंतु वह उस द्रव्यांशकाही बोधक है, कि जो सारे आभूषणोंका आधार है। इसी न्यायका उपयोग सृष्टिके सारे पदार्थोंमें करें, तो यह सिद्धान्त निकलता है, कि पत्थर, मिट्टी, चाँदी, लोहा, लकड़ी, इत्यादि अनेक नामरूपात्मक पदार्थ, जो नज़र आते हैं, वे सब किसी एकही नित्य द्रव्यपर भिन्न भिन्न नामरूपोंका मुलम्मा या

गिलट बनकर उत्पन्न हुए हैं; अर्थात् सारा भेद केवल नामरूपोंका है, मूल द्रव्यका नहीं। भिन्न भिन्न नामरूपोंकी जड़में एकरूप एकही द्रव्य नित्य निवास करता है। "सब पदार्थोंमें इस प्रकारसे नित्यरूपसे सदैव रहना" – संस्कृतमें 'सत्तासामान्यत्व' कहलाता है।

वेदान्तशास्त्रके उक्त सिद्धान्तकाही कांट आदि अर्वाचीन पश्चिमी तत्त्वज्ञानियोंनेभी स्वीकार किया है। नामरूपात्मक जगत्की जड़में नामरूपोंसे भिन्न, जो कुछ अदृश्य नित्य द्रव्य है, उसे कांटने अपने ग्रंथमें 'वस्तुतत्त्व' कहा है; और नेत्र आदि इंद्रियोंको गोचर होनेवाले नामरूपको 'बाहरी दृश्य' कहा है।* परंतु वेदान्तशास्त्रमें नित्य बदलनेवाले नामरूपात्मक दृश्यको (जगत्) 'मिथ्या' या 'नाशवान्' और मूलद्रव्यको 'सत्य' या 'अमृत' कहते हैं। सामान्य लोग सत्यकी व्याख्या यों करते हैं, कि 'चक्षुर्वै सत्यं' अर्थात् जो आँखोंसे दीख पड़े वही सत्य है; और व्यवहारमेंभी देखते हैं, कि किसीने स्वप्नमें लाख रुपया पा लिया अथवा लाख रुपयेकी बात कानसे सुन ली, तो इस स्वप्नकी बातमें और सचमुच लाख रुपयेकी रकमके मिल पानेमें बड़ा भारी अंतर रहता है। इस कारण किसी दूसरेसे सुनी हुई और आँखोंसे प्रत्यक्ष देखी हुई – इन दोनों बातोंमें किसका अधिक विश्वास करे? आँखोका या कानों का? इसी दुविधाको मिटानेके लिये बृहदारण्यक उपनिषद् (बृ. ५. १४. ४) में यह 'चक्षुर्वै सत्यं' वाक्य आया है। किंतु जिस शास्त्रमें रुपयेके खरेखोटे होनेका निश्चय 'रुपये'के रुपया गोलमोल सूरत और उसके प्रचलित नामसे करना है, वहाँ सत्यकी इस साक्षेप व्याख्याका क्या उपयोग होगा? हम व्यवहारमें देखते हैं, कि यदि किसीकी बातचीतमें संगति नहीं है; और यदि घंटे-घंटेमें वह अपनी बात बदलने लगे, तो लोग उसे झूठा कहते हैं। फिर इसी न्यायसे 'रुपये'के नामरूपको (भीतरी द्रव्यको नहीं) खोटा अथवा झूठा कहनेमें क्या हानि है? क्योंकि रुपयेका जो नामरूप आज इस घड़ी है, उसे दूर करके, उसके बदले 'करधनी' 'कटोरे'का नामरूप उसे दूसरे दिनही दिया जा सकता है; अर्थात् हम अपनी आँखोंसे देखते हैं कि यह नामरूप हमेशा बदलता रहता है – या उसीमें संगति नहीं होती। अब यदि कहे कि जो अपनी आँखोंसे दीख पड़ता है, उसके सिवा अन्य कुछ सत्य नहीं है; तो एकीकरणकी जिस मानसिक क्रियामें सृष्टिज्ञान होता है, वहभी तो आँखोंसे नहीं दीख पड़ती। अतएव उसेभी झूठ कहना पड़ेगा। इस कारण हमें जो कुछ ज्ञान होता है, उसेभी असत्य, झूठ कहना पड़ेगा। इनपर (और ऐसीही दूसरी

---

* कांटने अपने Critique of Pure Reason नामक ग्रंथमें यह विचार किया है। नामरूपात्मक संसारकी जड़में जो द्रव्य है, उसे उसने 'डिंग आन झिश्' (Ding an sich—Thing in itself) कहा है, और हमने उसीका भाषांतर वस्तुतत्त्व किया है। नामरूपोंके बाहरी दृश्यको कांटने 'एरशायनुंग' (Erscheinung–appearance) कहा है। कांट कहता है कि वस्तुतत्त्व अज्ञेय है।

कठिनाइयोंपर) ध्यान देकर ' चक्षुर्वै सत्यं ' जैसे सत्यके लौकिक और साक्षेप लक्षणको ठीक नहीं माना है। किंतु सर्वोपनिषद्में सत्यकी यही व्याख्या की है, कि सत्य वही है, जो अविनाशी है अर्थात् जिसका अन्य बातोंके नाश हो जानेपरभी कभी नाश नहीं होता। और इसी प्रकार महाभारतमेंभी सत्यका यही लक्षण बतलाया गया है :-

सत्यं नामाऽव्ययं नित्यमविकारि तथैव च ।*

अर्थात् " सत्य वही है कि जो अव्यय है अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं होता; जो नित्य है अर्थात् सदासर्वदा बना रहता है; और अविकारी है अर्थात् जिसका स्वरूप कभी बदलता नहीं " (मभा. शां. १६२. १०)। अभी कुछ और थोड़ी देरमें कुछ कहनेवाले मनुष्यको झूठा कहनेका कारण यही है, कि वह अपनी बात-पर स्थिर नहीं रहता – इधर-उधर डगमगता रहता है। सत्यके इस निरपेक्ष लक्षणको स्वीकार कर लेनेपर कहना पड़ता है कि आँखोंसे दीख पड़नेवाला, पर हरघड़ीमें बदलनेवाला नामरूप मिथ्या है। और उस नामरूपसे ढँका हुआ और उसीके मूलमें सदैव एकही-सा स्थिर रहनेवाला अमृत वस्तुतत्त्वही – वह आँखोंसे भलेही न दीख पड़े – ठीक ठीक सत्य है। भगवद्गीतामें ब्रह्मका वर्णन इसी नीतीसे किया गया है – " यः सा सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति " (गीता ८. २०; १३. २७) – अक्षर ब्रह्म वही है, कि जो सब पदार्थ अर्थात् सभी पदार्थोंके नामरूपात्मक शरीर न रहनेपरभी नष्ट नहीं होता। महाभारतमें नाराणीय अथवा भागवत धर्मके निरूपणमें यही श्लोक पाठभेदसे फिर " यः स सर्वेषु भूतेषु "के स्थानमें 'भूतग्रामशरीरेषु' होकर आया है (मभा. शां. ३३९. २३)। ऐसेही गीताके दूसरे अध्यायके सोलहवें और सत्रहवें श्लोकोंका तात्पर्यभी वही है। वेदान्तमें जब आभूषणको 'मिथ्या' और सुवर्णको 'सत्य' कहते हैं, तब उसका यह मतलब नहीं है, कि वह जेवर निरुपयोगी या बिलकुल खोटा है – अर्थात् आँखोंसे दिखाई नहीं पड़ता, या मिट्टीपर पन्नी चिपका कर बनाया गया है – अथवा वह अस्तित्वमें हैही नहीं। यहाँ 'मिथ्या' शब्दका प्रयोग पदार्थके रंग, रूप आदि गुणोंके लिये और आकृतिके लिये अर्थात् ऊपरी दृश्यके लिये किया गया है। भीतरी द्रव्यसे उसका प्रयोजन नहीं है। स्मरण रहे, कि तात्त्विक द्रव्य तो सदैव 'सत्य' है। वेदान्ती यही देखता है, कि पदार्थमात्रके नामरूपात्मक आच्छादनके नीचे मूल कौनसा तत्त्व है; और तत्त्वज्ञानका सच्चा विषय हैभी यही। व्यवहारमें यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि गहना गढ़वानेमें चाहे जितना मेहनताना देना पड़ा हो; पर आपत्तिके समय जब उसे बेचनेके लिये सराफकी दूकानपर ले जाते हैं, तब वह साफ़ साफ़ कह देता है,

---

* ग्रीनने real (सत् या सत्य) की व्याख्या बतलाते समय " whatever anything is really, it is unalterably कहा है (Prolegomena to Ethics §25) ग्रीन की यह व्याख्या और महाभारतकी उक्त व्याख्या दोनों तत्त्वतः एकही है।

कि " मैं यह नहीं जानना चाहता, कि गहना गढ़वानेमें तोलेके पिछे क्या उजरत देनी पड़ी है, यदि सोनेके चलत् भावमें इसे बेचना चाहो, तो हम ले लेंगे ! " वेदान्तकी परिभाषामें इसी विचारको इस ढँगसे व्यक्त करेंगे :– सराफ़को गहना मिथ्या और उसका सोना भर सत्य दीख पड़ता है। इसी प्रकार यदि किसी नये मकानको बेचना हो, तो उसकी सुंदर बनावट (रूप) और सुविधाजनक रचना (आकृति) करनेमें जो खर्च लगा होगा, उसकी ओर खरीददार ज़राभी ध्यान नहीं देता। वह कहता है, कि ईट, चूना, लकड़ी, पत्थर और मजदूरीकी लागतमें यदि बेचना चाहो, तो बेच डालो। इन दृष्टान्तोंसे वेदान्तियोंके इस कथनको पाठक भली-भाँति समझ जावेंगे, कि नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है; और ब्रह्म सत्य है। " दृश्य जगत् मिथ्या है " इसका अर्थ यह नहीं, कि वह आँखोंसे तो दीखही पड़ता नहीं। किंतु इसका ठीक ठीक अर्थ यही है, कि (वह आँखोंसे तो दीख पडता है; पर) एकही द्रव्यके नामरूप-भेदके कारण जगत्के बहुतेरे जो स्थलकृत अथवा कालकृत दृश्य हैं, वे नाशवान् हैं; और इसीसे मिथ्या हैं। और इन सब नामरूपात्मक दृश्योंके आच्छादनमें छिपा हुआ सदैव वर्तमान, जो अविनाशी और अविकारी द्रव्य है, वही नित्य और सत्य है। सराफ़को कड़े, कंगन, गुंज और अँगूठियाँ खोटी जँचती हैं। उसे सिर्फ़ उनका सोना सच्चा जँचता है। परंतु सृष्टिके सुनारके कारखानेमें मूलमें ऐसा एक ही द्रव्य है, कि जिसको भिन्न भिन्न नामरूप दे कर उससे सोना, चाँदी, लोहा, पत्थर, लकड़ी, हवा-पानी आदि सारे गहने गढ़वाये जाते हैं। इसलिये सराफ़की अपेक्षा वेदान्ती कुछ और आगे बढ़कर सोना, चाँदी या पत्थर प्रभृति नामरूपोंको जेवरकेही समान मिथ्या समझकर सिद्धान्त करता है, कि इन सब पदार्थोंके मूलमें जो द्रव्य अर्थात् 'वस्तुतत्त्व' मौजूद है, वही सच्चा अर्थात् अविकारी सत्य है। इस वस्तुतत्त्वमें नामरूप आदि कोईभी गुण नहीं है। इस कारण इसे नेत्र आदि इंद्रियाँ कभी नहीं जान सकती। आँखोंसे न दीख पड़ने, नाकसे परंतु न सूंघे जाने अथवा हाथसे न टटोले जानेपरभी बुद्धिसे निश्चयपूर्वक यह अनुमान किया जाता है, कि अव्यक्त रूपसे वह होगा अवश्यही। न केवल इतनाही; बल्कि यहभी निश्चय करना पड़ता है, कि इस जगत्में कभीभी न बदलनेवाला 'जो कुछ' है, वह यही सत्य वस्तुतत्त्व है। जगत्का मूल सत्य इसीको कहते हैं। परंतु कुछ अनाड़ी विदेशी और स्वदेशी पंडितमन्यभी सत्य और मिथ्या शब्दोंके वेदान्तशास्त्रवाले पारिभाषिक अर्थपर ध्यान न देकर; और यह देखनेका कष्टभी न उठाते हुए, कि सत्य शब्दका जो अर्थ हमें सूझता है, उसकी अपेक्षा इसका कुछ और अर्थभी हो सकेगा या नहीं। यह कहकर अद्वैत वेदान्तका उपहास किया करते हैं, कि " हमें जो जगत् आँखोंसे प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, उसेभी वेदान्ती लोग मिथ्या कहते हैं। भला, यहभी कोई बात हुई ? " परंतु यास्कके शब्दोंमें कह सकते हैं, कि अंधेको यदि खंभा नहीं सूझता, तो इसका दोषी खंभा नहीं है ! छांदोग्य (छां. ६. १; और ७. १),

बृहदारण्यक (बृ. १. ६. ३), मुंडक (मुं. ३. २. ८), और प्रश्न (प्र. ६. ५), आदि उपनिषदोंमें बारबार बतलाया गया है, कि नित्य बदलते रहनेवाले अर्थात् नाशवान् नामरूप सत्य नहीं हैं। जिसे सत्य अर्थात् नित्य, स्थिर तत्त्व देखना हो, उसे अपनी दृष्टिको इस नामरूपोंके परे पहुँचाना चाहिये। इन्ही नामरूपोंको कठ (कठ. २. ५) और मुंडक (मुं. १. २. ९) आदि उपनिषदोंमें 'अविद्या' तथा अंतमें श्वेताश्वतर (श्वे. ४. १०) उपनिषद्‌में 'माया' कहा है। भगवद्‌गीतामें 'माया', 'मोह' और 'अज्ञान' शब्दोंसे वही अर्थ विवक्षित है। जगत्‌के आरंभमें जो कुछ था, वह बिना नामरूपका था – अर्थात् निर्गुण और अव्यक्त था। फिर आगे चलकर नामरूप मिल जानेसे वही व्यक्त और सगुण बन जाता है (बृ. १. ४. ७; छां. ६. १. २. ३)। अतएव विकारवान् अथवा नाशवान् नामरूपोंकोही 'माया' नाम देकर कहते हैं, कि यह सगुण अथवा दृश्य सृष्टि एक मूलद्रव्य अर्थात् ईश्वरकी मायाका खेल या लीला है। अब इस दृष्टिसे देखें, तो सांख्योंकी प्रकृति अव्यक्त भलेही बनी रहे; पर वह सत्त्वरजतम-गुणमयी है, अतः नामरूपोंसे युक्त मायाही है। इस प्रकृतिसे व्यक्त विश्वकी जो उत्पत्ति या पसारा होता है (जिसका वर्णन आठवें प्रकरणमें किया है), वहभी तो उस मायाका सगुण नामरूपात्मक विकार है। क्योंकि कोईभी गुण हो; वह इंद्रियोंको गोचर होनेवाला और इसीसे नामरूपात्मकही रहेगा। सारे आधिभौतिक शास्त्रभी इसी प्रकार मायाके वर्गमें आ जाते हैं। इतिहास, भूगर्भशास्त्र, विद्युच्छास्त्र, रसायनशास्त्र, पदार्थविज्ञान आदि कोईभी शास्त्र लीजिये; उसमें सब नामरूपात्मकाही तो विवेचन रहता है – अर्थात् यही वर्णन होता है, कि किसी पदार्थका एक नामरूप चला जाकर उसे दूसरा नामरूप कैसे मिलता है। उदाहरणार्थ, नामरूपके भेदकाही विचार इस शास्त्रमें इस प्रकार रहता है :– जैसे, पानी जिसका नाम है, उसको भाफ़ नाम कब और कैसे मिलता है, अथवा काले-कलूटे तारकोलसे लाल-हरे, नीले-पीले रँगनेके रंग (रूप) क्योंकर बनते हैं, इत्यादि। अतएव नामरूपोंमेंही उलझे हुए इन शास्त्रोंके अभ्याससे उस सत्य वस्तुका बोध नहीं हो सकता, कि जो नामरूपोंसे परे है। प्रकट है, कि जिसे सच्चे ब्रह्मस्वरूपका पता लगाना हो, उसको अपनी दृष्टि इन सब आधिभौतिक अर्थात् नामरूपात्मक शास्त्रोंसे परे पहुँचानी चाहिये। और यही अर्थ छांदोग्य उपनिषदमें सातवें अध्यायके आरंभकी कक्षामें व्यक्त किया गया है। कथाका आरंभ इस प्रकार है :– नारद ऋषि सनत्कुमार अर्थात् स्कंदके यहाँ जाकर कहने लगे, कि, "मुझे आत्मज्ञान बतलाओ" तब सनत्कुमार बोले, कि "पहले बतलाओ, तुमने क्या सीखा है, फिर उसके आगे मैं बतलाता हूँ।" इस पर नारदने कहा, कि "मैंने इतिहास-पुराणरूपी पाँचवें वेदसहित ऋग्वेद प्रभृति समग्र वेद, व्याकरण, गणित, तर्कशास्त्र, कालशास्त्र, नीतिशास्त्र, सभी वेदांग, धर्मशास्त्र, भूतविद्या, क्षेत्रविद्या, नक्षत्रविद्या और सर्पदेवजनविद्या-प्रभृति सब कुछ पढ़ा है। परंतु जब उससे आत्मज्ञान नहीं हुआ,

तब अब तुम्हारे यहाँ आया हूँ।" इसको सनत्कुमारने यह उत्तर दिया, "कि तूने जो कुछ सीखा है, वह तो सारा नामरूपात्मक है। सच्चा ब्रह्म इस नामब्रह्मसे बहुत परे है;" और फिर नारदको क्रमश. इस प्रकार पहचान करा दी, कि इन नामरूपोंके अर्थात् सांख्योंकी अव्यक्त प्रकृतिसे अथवा वाणी, आशा, संकल्प, मन, बुद्धि (ज्ञान) और प्राणसेभी परे एवं उनसे बढ़-चढ़कर जो है, वही परमात्मारूपी अमृततत्त्व है।

यहाँतक जो विवेचन किया गया, उसका तात्पर्य यह है, कि यद्यपि मनुष्यकी इंद्रियोंको नामरूपोंके अतिरिक्त और किसीकाभी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है, तोभी इन अनित्य नामरूपोंके आच्छादनसे ढँका हुआ लेकिन आँखोंसे न दीख पड़नेवाला अर्थात् कुछ-न-कुछ अव्यक्त नित्य द्रव्य रहनाही चाहिये; और इसी कारण सारी सृष्टिका ज्ञान हमें एकतासे होता रहता है। जो कुछ ज्ञान होता है, सो आत्माकोही होता है। इसलिये आत्माही ज्ञाता यानी जाननेवाला हुआ। और इस ज्ञाताको नामरूपात्मक सृष्टिकाही ज्ञान होता है। अतः नामरूपात्मक बाह्य सृष्टि ज्ञान हुई (मभा. शां. ३०६. ४०) और इस नामरूपात्मक सृष्टिके मूलमें जो कुछ वस्तुतत्त्व है, वही ज्ञेय है। इसी वर्गीकरणको मानकर भगवद्गीताने ज्ञाताको क्षेत्रज्ञ आत्मा और ज्ञेयको इंद्रियातीत नित्य परब्रह्म कहा है (गीता १३. १२–१७)। और फिर आगे ज्ञानके तीन भेद करके कहा है, कि भिन्नता या नानात्वसे जो सृष्टि-ज्ञान होता है, वह राजस है; तथा अंतमें इस नानात्वका जो ज्ञान एकत्वरूपसे होता है, वह सात्त्विक ज्ञान है (गीता १८. २०–२१)। इसपर कुछ लोग यह युक्तिवाद करते हैं, कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इस प्रकार त्रिविध भेद करना ठीक नहीं है। एवं यह माननेके लिये हमारे पास कुछभी प्रमाण नहीं है, कि हमें जो कुछ ज्ञान होता है, उसकी अपेक्षा इस जगत्में औरभी कुछ है। गाय, घोड़े, प्रभृति जो बाह्य वस्तुएं हमें दीख पड़ती हैं, वहभी तो ज्ञानही है; जो कि हमें होता है। और यद्यपि यह ज्ञान सत्य है, तोभी यह बतलानेके लिये – कि वह ज्ञान है काहे का – हमारे पास ज्ञानको छोड़ और कोई मार्गही नहीं रह जाता। अतएव यह नहीं कहा जा सकता, कि इस ज्ञानके अतिरिक्त बाह्य पदार्थके नाते कुछ स्वतंत्र वस्तुएँ हैं; अथवा इन बाह्य वस्तुओंके मूलमें और कोई स्वतंत्र तत्त्व है। क्योंकि जब ज्ञाताही न रहा, तब जगत् कहाँसे रहे? इस दृष्टिसे विचार करनेपर उक्त वर्गीकरणसे अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयमेंसे – ज्ञेय नहीं रह जाता। ज्ञाता और उसको होनेवाला ज्ञान, यही दो बच जाते हैं; और इसी युक्तिवादको और जरा-सा आगे ले चलें, तो 'ज्ञाता' या 'द्रष्टा' भी तो एक प्रकार का ज्ञानही है। इसलिये अंतमें ज्ञानके सिवा दूसरी वस्तुही शेष नहीं रहती। इसीको 'विज्ञानवाद' कहते हैं; और योगाचार पंथके बौद्धोंने इसेही प्रमाण माना है। इस पंथके विद्वानोंने प्रतिपादन किया है, कि ज्ञाताके ज्ञानके अतिरिक्त इस जगत्में और कुछभी स्वतंत्र नहीं है। और तो क्या? दुनियाही नहीं है। जो कुछ है, मनुष्यका ज्ञानही ज्ञान है। अंग्रेज ग्रंथकारोंमेंभी ह्यूम जैसे पंडित इस ढँगके मतके पुरस्कर्ता हैं।

परंतु वेदान्तियोंको यह मत मान्य नहीं है। वेदान्तसूत्रों (वे. सू. २. २. २८–३२)में आचार्य बादरायणने और इन्हीं सूत्रोंके भाष्यमें श्रीमच्छंकराचार्यने इस मतका खंडन किया है। यह तो झूट नहीं, कि मनुष्यके मनपर जो संस्कार होते हैं, अंतमें वेही उसे विदित रहते हैं; और इसीको हम ज्ञान कहते हैं। परंतु अब प्रश्न होता है, कि यदि इस ज्ञानके अतिरिक्त और कुछ हैही नहीं; तो 'गाय'संबंधी ज्ञान जुदा है, 'घोडा'-संबंधी ज्ञान जुदा है, और 'मैं'-विषयक ज्ञान जुदा है – इस प्रकार ज्ञान-ज्ञानकीही यह जो भिन्नता हमारी बुद्धिको ज्ञात होती है, उसका कारण क्या है? माना कि, ज्ञान होनेकी मानसिक क्रिया सर्वत्र एकही है। परंतु यदि कहा जाय, कि इसके सिवा और कुछ हैही नहीं; तो गाय, घोड़ा इत्यादि भिन्न भिन्न भेद आ गये कहाँसे? यदि कोई कहे, कि स्वप्नकी सृष्टिके समान मन अपने आप, अपनी मर्जीसे ज्ञानके ये भेद बनाया करता है; तो स्वप्नकी सृष्टिसे पृथक् जागृत अवस्थाके ज्ञानमें जो एक प्रकारकी सुसंगति मिलती है, उसका कारण बतलाते नहीं बनता (वे. सू. शां. भा. २. २. २९; ३. २. ४)। अच्छा; यदि कहें कि ज्ञानको छोड़ दूसरी कोईभी वस्तु नहीं है; और 'द्रष्टा'का मनही सारे भिन्न भिन्न पदार्थोंको निर्मित करता है; तो प्रत्येक द्रष्टाको 'अहंपूर्वक' यह सारा ज्ञान होना चाहिये, कि "मेरा मन यानी मैंही खंभा हूँ"; अथवा "मैंही गाय हूँ"। परंतु ऐसा होता कहाँ है? इसीसे शंकराचार्यने सिद्धान्त किया है, कि जब सभीको यह प्रतीति होती है, कि मैं अलग हूँ, और मुझसे खंभा और गाय प्रभृति पदार्थभी अलग हैं; तब द्रष्टाके मनमें समूचा ज्ञान होनेके लिये, इस आधारभूत बाह्य सृष्टिमें कुछ-न-कुछ स्वतंत्र वस्तुएँ अवश्य होनी चाहिये (वे. सू. शां.भा.२२.२८)। कांटका मतभी इसी प्रकारका है। उसने स्पष्ट कह दिया है, कि सृष्टिका ज्ञान होनेके लिये यद्यपि मनुष्यकी बुद्धिका एकीकरण आवश्यक है, तथापि बुद्धि इस ज्ञानको सर्वथा अपनीही गाँठसे – अर्थात् निराधार या नये सिरेसे नहीं उत्पन्न कर देती। उसे सृष्टिकी बाह्य वस्तुओंकी सदैव अपेक्षा रहती है। यहाँ कोई प्रश्न करे, कि "क्योंजी! शंकराचार्य एक बार बाह्य सृष्टिको मिथ्या कहते हैं; और दूसरी बार बौद्धोंका खंडन करने उसी बाह्यसृष्टिके अतित्वको, 'द्रष्टा'के अतित्वके समानही सत्य प्रतिपादन करते हैं। इन बेमेल बातोंका मिलान होगा कैसे?" पर इस प्रश्नका उत्तर पहलेही बतला चुके हैं। आचार्य जब बाह्यसृष्टिको मिथ्या या असत्य कहते हैं, तब उसका इतनाही अर्थ समझना चाहिये, कि बाह्य सृष्टिका दृश्य नामरूप असत्य अर्थात् विनाशवान् है। नामरूपात्मक बाह्य दृश्य मिथ्या बना रहे; पर उससे सिद्धान्तमें रत्तीभरभी आँच नहीं लगती, कि उस बाह्यसृष्टिके मूलमें कुछ-न-कुछ इंद्रियातीत सत्यवस्तु है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचारमें जिस प्रकार यह सिद्धान्त किया है; कि देहेंद्रिय आदि विनाशवान् नामरूपोंके मूलमें कोई नित्य आत्मतत्त्व है; उसी प्रकार कहना पड़ता है, कि नामस्वरूपात्मक बाह्य सृष्टिके मूलमेंभी कुछ-न-कुछ नित्य आत्मतत्त्व है। अतएव वेदान्तशास्त्रने निश्चित

किया है, कि देहेंद्रियों और बाह्य सृष्टिके निशिदिन बदलनेवाले अर्थात् मिथ्या दृश्योंके मूलमें दोनोंही ओर कोई नित्य अर्थात् सत्य द्रव्य छिपा हुआ है। इसके आगे अब प्रश्न होता है, कि दोनों ओर जो ये नित्य तत्त्व हैं, वे अलग अलग हैं या एकरूपी हैं ? परंतु इसका विचार फिर करेंगे। पहले इस मतकी अर्वाचीनताके संबंधमें मौके-बेमौके जो आक्षेप हुआ करता है, उसीका थोड़ा-सा विचार करते हैं।

कई लोग कहते हैं, कि बौद्धोंका विज्ञानवाद यदि वेदान्तशास्त्रको संमत नहीं है, तो श्रीशंकराचार्यके मायावादकाभी प्राचीन उपनिषदोंमें वर्णन नहीं है; इसलिये उसेभी वेदान्तशास्त्रका मूलभाग नहीं मान सकते। श्रीशंकराचार्यका मत – कि जिसे मायावाद कहते हैं – यह है, कि बाह्यसृष्टिका आँखोंसे दीख पड़नेवाला नामरूपात्मक स्वरूप मिथ्या है। उसके मूलमें जो अव्यय और नित्यद्रव्य है, वही सत्य है। परंतु उपनिषदोंका मन लगाकर अध्ययन करनेसे कोईभी सहजही जान जावेगा, कि यह आक्षेप निराधार है। यह पहलेही बतला चुके है, कि 'सत्य' शब्दका उपयोग साधारण व्यवहारमें आँखोंसे प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाली वस्तुके लिये किया जाता है। अतः 'सत्य' शब्दके इसी प्रचलित अर्थको लेकर उपनिषदोंमें कुछ स्थानोंपर आँखोंसे दीख पड़नेवाले नामरूपात्मक बाह्य पदार्थोंको 'सत्य' और उन नामरूपोंसे आच्छादित द्रव्यको 'अमृत' नाम दिया गया है। उदाहरण लीजिये। बृहदारण्यक उपनिषद्में (बृ. १. ६. ३) "तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नं" – वह अमृत सत्यसे आच्छादित है – कह कर तुरंत अमृत और सत्य शब्दोंकी यह व्याख्या की है, कि "प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणच्छन्नः" अर्थात् प्राण अमृत है; और नामरूप सत्य है। एवं इस नाम-रूप सत्यसे प्राण ढँका हुआ है। यहाँ प्राणका अर्थ प्राणस्वरूपी परब्रह्म है। इससे प्रकट है, कि आगेके उपनिषदोंमें जिन्हें 'मिथ्या' और 'सत्य' कहा है, पहले उन्हींके नाम क्रमसे 'सत्य' और 'अमृत' थे। अनेक स्थानोंपर इसी अमृतको 'सत्यस्य सत्यं' – आँखोंसे दीख पड़नेवाले सत्यके भीतरका अंतिम सत्य (बृ. २. ३. ६) – कहा है। किंतु उक्त आक्षेप इतनेहीसे सिद्ध नहीं हो जाता, कि उपनिषदोंमें कुछ स्थानोंपर आँखोंसे दीख पड़नेवाली सृष्टिकोही सत्य कहा है। क्योंकि बृहदारण्यकमेंही अंतमें यह सिद्धान्त किया हैं, कि आत्मरूप परब्रह्मको छोड़, और सब 'आर्तम्' अर्थात् विनाश-वान् है (बृ. ३. ७. २३)। जब पहले पहल जगत्के मूलतत्त्वकी खोज होने लगी, तब शोधक लोग आँखोंसे दीख पड़नेवाले जगत्को पहले सत्य मानकर ढूंढ़ने लगे, कि उसके पेटमें और कौन-सा सूक्ष्म सत्य छिपा हुआ है। किंतु फिर ज्ञात हुआ, कि जिस दृश्य सृष्टिके रूपको हम सत्य मानते हैं, वह तो असलमें विनाशवान् है; और उसके भीतर कोई अविनाशी या अमृत तत्त्व मौजूद है। दोनोंके बीचके इस भेदको जैसे जैसे अधिक व्यक्त करनेकी आवश्यकता होने लगी, वैसे वैसे 'सत्य' और 'अमृत' शब्दोंके स्थानमें 'अविद्या' और 'विद्या', एवं अंतमें 'माया और सत्य' अथवा 'मिथ्या और सत्य' इन पारिभाषिक शब्दोंका प्रचार होता गया। क्योंकि 'सत्य'का धात्वर्थ 'सदैव

रहनेवाला ' है। इस कारण नित्य बदलनेवाले और नाशवान् नामरूपको सत्य कहन उत्तरोत्तर औरभी अनुचित जँचने लगा। परंतु इस रीतिसे ' माया अथवा मिथ्या ' शब्दोंका प्रचार पीछे भलेही हुआ हो; तोभी ये विचार बहुत पुराने जमानेसे चले आ रहे हैं, कि जगत्की वस्तुओंका वह दृश्य, जो नज़रसे दीख पड़ता है, विनाशी और असत्य है। एवं उसका आधारभूत ' तात्त्विक द्रव्य 'ही सत् या सत्य है। प्रत्यक्ष ऋग्वेदमेंभी कहा है कि " एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति " (ऋ. १. १६४. ४६. और १०. ११४. ५) – मूलमें जो एक और नित्य (सत्)है, उसीको विप्र (ज्ञाता) भिन्न भिन्न नाम देते हैं – अर्थात् एकही सत्य वस्तु नामरूपसे भिन्न भिन्न दीख पड़ती है। ' एक रूपके अनेक रूप दिखलाने 'के अर्थमें, 'माया' शब्द ऋग्वेदमेंभी प्रयुक्त है; और वहाँ यह वर्णन है, कि " इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपः ईयते " – इंद्र अपनी मायासे अनेक रूप धारण करता है (ऋ. ६. ४७. १८)। तैत्तिरीय संहिता (तै. सं. ३. १. ११) में एक स्थानपर 'माया' शब्दका इसी अर्थमें प्रयोग किया गया है; और श्वेताश्वतर उपनिषद्में इस 'माया' शब्दका नामरूपके लिये उपयोग हुआ है; जो हो, नामरूपके लिये 'माया' शब्दका प्रयोग किये जानेकी रीति प्रथम श्वेताश्वतर उपनिषदके समयमें भलेही चल निकली हो; पर इतना तो निर्विवाद है, कि नामरूपोंके अनित्य अथवा असत्य होनेकी कल्पना इससे पहलेकी है। 'माया' शब्दका विपरीत अर्थ करके श्रीशंकराचार्यने यह कल्पना नये सिरेसे नहीं चला दी है। नामरूपात्मक सृष्टिके स्वरूपको श्रीशंकराचार्यके समान बेधड़क 'मिथ्या' कह देनेकी जो हिंमत न कर सकें; अथवा जैसे गीतामें भगवानने उसी अर्थमें 'माया' शब्दका उपयोग किया है; वैसा करनेसे जो हिचकते हों; वे चाहें तो खुशीसे बृहदारण्यक उपनिषद्के 'सत्य' और 'अमृत' शब्दोंका उपयोग करें। कुछभी क्यों न कहा जावे; पर इस सिद्धान्तमें जराभी चोट नहीं लगती, कि नामरूप 'विनाशवान्' हैं; और जो तत्त्व उनसे आच्छादित है, वह 'अमृत' या 'अविनाशी' है। एवं यह भेद प्राचीन वैदिक कालसे चला आ रहा है।

हमारे आत्माको नामरूपात्मक बाह्य सृष्टिके सारे पदार्थोंका ज्ञान होनेके लिये 'कुछ-न-कुछ' एक ऐसा नित्य मूल द्रव्य होना चाहिये, कि जो आत्माका आधारभूत हो; और उसीके मेलका हो। एवं बाह्य सृष्टिके नाना पदार्थोंकी जड़में वर्तमान रहता हो; नहीं तो यह ज्ञानही न होगा। किंतु इतना निश्चय कर देनेसे अध्यात्मशास्त्रका काम समाप्त नहीं हो जाता। बाह्य सृष्टिके मूलमें रहनेवाले इस नित्य द्रव्यको वेदान्ती लोक 'ब्रह्म' कहते हैं; और अब हो सके तो ब्रह्मके स्वरूपका निर्णय करनाभी आवश्यक है। सारे नामरूपात्मक पदार्थोंके मूलमें वर्तमान यह नित्य तत्त्व है अव्यक्त। इसलिये प्रकटही है, कि इसका स्वरूप नामरूपात्मक पदार्थोंके समान व्यक्त और स्थूल (जड़) नहीं रह सकता। परंतु यदि व्यक्त और स्थूल पदार्थोंको छोड़ दें, तो मन, स्मृति, वासना, प्राण और ज्ञान प्रभृति बहुतसे ऐसे अव्यक्त पदार्थ हैं; कि जो स्थूल नहीं हैं; । एवं यह असंभव नहीं, कि परब्रह्म इनमेंसे किसीभी एक

आधके स्वरूपका हो। कुछ लोग कहते हैं, कि प्राणका और परब्रह्मका स्वरूप एकही है। जर्मन पंडित शोपेनहरने परब्रह्मको वासनात्मक निश्चित किया है; और वासना मनका धर्म है, अतः इस मतके अनुसार ब्रह्म, मनोमयही कहा जावेगा (तै. ३. ४)। परंतु, अब तक जो विवेचन हुआ है उससे तो यही कहा जावेगा कि – "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ. ३. ३) अथवा "विज्ञानं ब्रह्म" (तै. ३. ५) – जड सृष्टिके नानात्वका जो ज्ञान एकस्वरूपसे हमें होता है, वही ब्रह्मका स्वरूप होगा। हेकेलका सिद्धान्त इसी ढंगका है। परंतु उपनिषदोंमें चिद्रूपी ज्ञानके साथ सत् (अर्थात् जगतकी सारी वस्तुओंके अतित्वके सामान्य धर्म या सत्तासमानताका) और आनंदकाभी ब्रह्म-स्वरूपमेंही अंतर्भाव करके ब्रह्मको सच्चिदानंदरूपी माना है। इसके अतिरिक्त दूसरा ब्रह्मस्वरूप कहना हो, तो वह ॐकार है। इसकी उपपत्ति इस प्रकार है :– पहले समस्त अनादि वेद ॐअकारसे उपजे हैं; और वेदोंके निकल चुकनेपर उनके नित्य शब्दोंसेही आगे चलकर ब्रह्माने जब सारी सृष्टिका निर्माण किया है (गीता १७. २३; मभा. शां. २३१. ५६–५८), तब मूल आरंभमें ॐकारको छोड़ और कुछ न था। इससे सिद्ध होता है, कि ॐकारही सच्चा ब्रह्मस्वरूप हैं (मांडूक्य. १; तै. १. ८)। परंतु केवल अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिसे विचार किया जाय, तो परब्रह्मके ये सभी स्वरूप थोड़ेबहुत नामरूपात्मकही हैं। क्योंकि इन सभी स्वरूपोंको मनुष्य अपनी इंद्रियोंसे जान सकता है; और मनुष्यको इस रीतिसे जो कुछ ज्ञात हुआ करता है, वह नामरूपोंकी श्रेणीमें आ जाता है। फिर इस नामरूपके मूलमें स्थित जो अनादि, भीतरबाहर सर्वत्र एक-सा भरा हुआ, एकरूप नित्य और अमृत तत्त्व है (गीता १३. १२–१७), उसके वास्तविक स्वरूपका निर्णयही तो क्योकर हो? कितनेही अध्यात्मशास्त्री पंडित कहते हैं, कि कुछभी हो; यह तत्त्व हमारी इंद्रियोंको अज्ञेयही रहेगा; और कांटने तो इस प्रश्नपर अधिक विचार करनाही छोड़ दिया है। इसी प्रकार उपनिषदोंमेंभी परब्रह्मके अज्ञेय स्वरूपके वर्णन इस प्रकार हैं : 'नेति नेति' अर्थात् वह नहीं है, कि जिसके विषयमें कुछ कहा जा सकता है; ब्रह्म इससे परे है; वह आँखोंसे दीख नहीं पड़ता; वह वाणीको और मनकोभी अगोचर है - "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" फिरभी अध्यात्मशास्त्रने निश्चय किया है, कि इस अगम्य स्थितिमेंभी मनुष्य अपनी बुद्धिसे ब्रह्मके स्वरूपका एक प्रकारसे निर्णय कर सकता है। ऊपर जो वासना, स्मृति, धृति, आशा, प्राण और ज्ञान प्रभृति अव्यक्त पदार्थ बतलाये गये हैं, उनमेंसे जो सबसे अतिशय व्यापक अथवा सबसे श्रेष्ठ निर्णित हो, उसी को परब्रह्मका स्वरूप मानना चाहिये। क्योंकि यह तो निर्विवादही है, कि सब अव्यक्त पदार्थोंमें परब्रह्म श्रेष्ठ है। अब इस दृष्टिसे आशा, स्मृति, वासना और धृति आदिका विचार करें, तो ये सब मनके धर्म हैं; अतएव इनकी अपेक्षा मन श्रेष्ठ हुआ। मनसे ज्ञान श्रेष्ठ है; और ज्ञान है बुद्धिका धर्म। अत, ज्ञानसे बुद्धि श्रेष्ठ हुई। और अंतमें यह बुद्धिभी जिसकी नौकर है, वह आत्माही सबसे श्रेष्ठ है (गीता ३. ४२)।

'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-प्रकरण' मे उक्त विचार किया गया है। अब वासना और मन आदि अव्यक्त पदार्थोंसे यदि आत्मा श्रेष्ट है, तो आपही सिद्ध हो गया, कि परब्रह्मका स्वरूपभी वही (आत्मा) हो। छांदोग्य उपनिषदके सातवें अध्यायमें इसी युक्तिवादसे काम लिया गया है। और सनत्कुमारने नारदसे कहा है, कि "वाणीकी अपेक्षा मन अधिक योग्यताका (भूयस्) है। मनसे ज्ञान, ज्ञानसे बल और इसी प्रकार चढ़ते चढ़ते जब कि आत्मा सबसे श्रेष्ठ (भूमन्) है, तब आत्माहीको परब्रह्मका सच्चा स्वरूप कहना चाहिये।" अंग्रेज ग्रंथकारोंमें ग्रीनने इसी सिद्धान्तको माना है; किंतु उसका युक्तिवाद कुछ भिन्न है। इसलिये यहाँ उसे संक्षेपसे वेदान्तकी परिभाषामें बतलाते हैं। ग्रीनका कथन है, कि हमारे मनपर इंद्रियोंके द्वारा बाह्य नामरूपोंके जो संस्कार हुआ करते हैं, उनके एकीकरणसे हमारा आत्मा जो ज्ञान उत्पन्न करता है उस ज्ञानके मेलके लिये बाह्यसृष्टिके भिन्न भिन्न नामरूपोंके मूलमेंभी एकतासे रहनेवाली कोई न कोई वस्तु होनी चाहिये। नहीं तो आत्माके एकीकरणसे, जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्वकपोलकल्पित और निराधार हो कर विज्ञानवादके समान असत्य प्रमाणित हो जायगा। इस 'कोई न कोई' वस्तुको हम ब्रह्म कहते हैं। भेद इतनाही है, कि कांटकी परिभाषाको मानकर ग्रीन उसको वस्तुतत्त्व कहता है। कुछभी कहो; अंतमें वस्तुतत्त्व (ब्रह्म) और आत्मा येही दो पदार्थ रह जाते हैं, कि जो परस्परके मेलके हैं। इनमेंसे 'आत्मा' मन और बुद्धिसे परे अर्थात् इंद्रियातीत है। तथापि अपने विश्वासके प्रमाणपर हम माना करते हैं, कि आत्मा जड़ नहीं है और निश्चय करते हैं कि वह या तो चिद्रूपी है या चैतन्यरूपी है। इस प्रकार आत्माके स्वरूपका निश्चय करके देखना है, कि बाह्य सृष्टिके ब्रह्मका स्वरूप क्या है। इस विषयमें यहाँ दोही पक्ष हो सकते हैं; यह ब्रह्म या वस्तुतत्त्व (१) आत्माके स्वरूपका होगा या (२) आत्मासे भिन्न स्वरूपका। क्योंकि, ब्रह्म, और आत्माके सिवा अब तीसरी वस्तुही नहीं रह जाती। परंतु सभीका अनुभव यह है, कि यदि कोईभी दो पदार्थ स्वरूपसे भिन्न हों; तो उनके परिणाम अथवा कार्यभी भिन्न भिन्न होने चाहिये। अतएव हम लोग पदार्थोंके भिन्न अथवा एकरूप होनेका निर्णय उन पदार्थोंके परिणामोंसेही किसीभी शास्त्रमें किया करते हैं। एक उदाहरण लीजिये; दो वृक्षोंके फल, फूल, पत्ते, छिलके और जड़को देखकर हम निश्चय करते हैं, कि वे दोनों अलग अलग हैं या एकही हैं। यदि इसी रीतिका अवलंबन करके यहाँ विचार करें, तो दीख पड़ता है, कि आत्मा और ब्रह्म एकही स्वरूपके होने चाहिये। क्योंकि ऊपर कहा जा चुका है, कि सृष्टिके भिन्न भिन्न पदार्थोंके जो संस्कार मनपर होते हैं, उनका आत्माकी क्रियासे एकीकरण होता है। इस एकीकरणके साथ उस एकीकरणका मेल होना चाहिये, कि जिसे भिन्न भिन्न बाह्य पदार्थोंके मूलमें रहनेवाला वस्तुतत्त्व अर्थात् ब्रह्म इन पदार्थोंकी अनेकताको मेट कर निष्पन्न करता है। यदि इस प्रकार दोनोंमें मेल न होगा, तो समूचा ज्ञान निराधार और असत्य हो जावेगा। एकही नमूनेके और बिलकुल एक

दूसरेके जोड़के एकीकरण करनेवाले ये तत्त्व दो स्थानोंपर भलेही हों; परंतु वे परस्पर भिन्न भिन्न नहीं रह सकते। अतएव यह आपही सिद्ध होता है, कि इनमेंसे आत्माका जो रूप होगा, वही रूप ब्रह्मकाभी होना चहिये।* सारांश, किसीभी रीतिसे विचार क्यों न किया जाय; सिद्ध यही होगा कि, बाह्य सृष्टिके नाम और रूपोंसे आच्छादित ब्रह्मतत्त्व, नामरूपात्मक प्रकृतिके समान जड़ तो हैही नहीं, किंतु वासनात्मक ब्रह्म, मनोमय ब्रह्म, ज्ञानमय ब्रह्म, प्राणब्रह्म अथवा ॐकाररूपी शब्दब्रह्म – ये ब्रह्मके रूपभी निम्न श्रेणीके हैं; और ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप इनसे परे है; एवं इनसे अधिक योग्यताका अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूपी है। और इस विषयके संबंधमें गीतामें अनेक स्थानोंपर जो उल्लेख हैं, उनसे स्पष्ट होता है, कि गीताका सिद्धान्तभी यही है (गीता २. २०; ७. ५; ८. ४; १३. ३१; १५. ७, ८)। फिरभी यह न समझ लेना चाहिये, कि ब्रह्म और आत्माके एकस्वरूप रहनेके सिद्धान्तको हमारे ऋषियोंने केवल ऐसी युक्ति-प्रयुक्तियोंसेही पहले खोज़ा था। इसका कारण इसी प्रकरणके आरंभमें बतला चुके हैं, कि अध्यात्मशास्त्रमें बुद्धिमात्रकी सहायतासे कोईभी एकही अनुमान निश्चित नहीं किया जाता है, उसे सदैव आत्मप्रतीतिका सहारा चाहिये। इसके अतिरिक्त सर्वदा देखा जाता है, कि आधिभौतिक शास्त्रोंमेंभी अनुभव पहले होता है; और उसकी उपपत्ति या तो पीछेसे मालूम हो जाती है, या ढूंढ ली जाती है। इसी न्यायसे उक्त ब्रह्मात्मैक्यकी बुद्धिगम्य उपपत्तिके निकलनेके सैकड़ों वर्ष पहले प्राचीन ऋषियोंने प्रथम यह निर्णय कर दिया था, कि "नेह नानाऽस्ति किंचन" (बृ. ४. ४. १९; कठ. ४. ११) – इस सृष्टिमें दीख पड़नेवाली अनेकता सच नहीं है। उसके मूलमें चारों ओर एकही अमृत, अव्यय और नित्य तत्त्व है (गीता १८. २०)। और फिर उन्होंने अपनी अंतर्दृष्टिसे यह सिद्धान्त ढूंढ निकाला, कि बाह्यसृष्टिके नामरूपसे आच्छादित अविनाशी तत्त्व और हमारे शरीरका वह आत्मतत्त्व – कि जो बुद्धिसे परे है – ये दोनों एकही अर्थात् अमर और अव्यय हैं; अथवा जो तत्त्व ब्रह्मांडमें है, वही पिंडमें यानी मनुष्यकी देहमें वास करता है। एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीको, गार्गी-वारुणि प्रभृतिको और जनकको (बृ. ३. ५–८; ४. २–४) बतलाया है कि पूरे वेदान्तका यही रहस्य है। इसी उपनिषद्में पहले कहा गया गया है, कि जिसने जान लिया, कि "अहं ब्रह्मास्मि" – मैंही परब्रह्म हूँ – उसने सब कुछ जान लिया (बृ. १. ४. १०); और छांदोग्य उपनिषदके छठे अध्यायमें श्वेतकेतुको उसके पिताने अद्वैत वेदान्तका यही तत्त्व अनेक रीतियोंसे समझा दिया है। जब अध्यायके आरंभमें श्वेत-केतुने अपने पितासे पूछा, कि "जिस प्रकार मिट्टीके एक लौंदेका भेद जान लेनेसे मिट्टीके नामरूपात्मक सभी विकार जाने जाते हैं, उसी प्रकार जिस एकही वस्तुका ज्ञान हो जानेसे सब कुछ समझमें आ जावें; वही एक वस्तु मुझे बतलाइये, मुझे उसका

* Green's *Prolegomena to Ethics*, § *PP*. 26-36.

ज्ञान नहीं है।" तब पिताने नदी, समुद्र, पानी और नमक प्रभृति अनेक दृष्टान्त देकर समझाया, कि वाह्यसृष्टिके मूलमें जो द्रव्य है, वह (तत्) और तू (त्वम्) अर्थात् तेरी देहका आत्मा दोनों एकही हैं – 'तत्त्वमसि'; एवं ज्योंही तूने अपने आत्माको पहचाना, त्योंही तुझे आपही मालूम हो जावेगा, कि समस्त जगत्के मूलमें क्या है। इस प्रकार पिताने श्वेतकेतुको भिन्न भिन्न नौ दृष्टान्तोंसे उपदेश किया है; और प्रतिबार 'तत्त्वमसि' – वही तू है – इस सूत्रकी पुनरावृत्ति की है (छां. ६. ८–१६)। यह 'तत्त्वमसि' अद्वैत वेदान्तके महावाक्योंमें मुख्य वाक्य हैं।

इस प्रकार निर्णय हो गया, कि ब्रह्म आत्मस्वरूपी है। परंतु आत्मा चिद्रूपी है, इसलिये संभव है, कि कुछ लोग ब्रह्मकोभी चिद्रूपी समझें। अतएव यहाँ ब्रह्मके और उसके साथही साथ आत्माके सच्चे स्वरूपका और थोड़ा-सा स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। आत्माके सान्निध्यसे जड़ात्मक बुद्धिमें उत्पन्न होनेवाले धर्मको चित् अर्थात् ज्ञान कहते हैं। परंतु जब कि बुद्धिके इस धर्मको आत्मापर लादना उचित नहीं है, तब तात्त्विक दृष्टिसे आत्माके मूलस्वरूपकोभी निर्गुण और अज्ञेयही मानना चाहिये। अतएव कई-एकोंका मत है, कि यदि ब्रह्म आत्मस्वरूपी है, तो इन दोनोंको या इनमेंसे किसीभी एकको चिद्रूपी कहना कुछ अंशोंमें गौणही है। यह आक्षेप अकेले चिद्रूपीपरही नहीं है। किंतु यह आप-ही-आप सिद्ध होता है, कि परब्रह्मके लिये 'सत्' विशेषणका प्रयोग करना उचित नहीं है। क्योंकि सत् और असत्, ये दोनों धर्म परस्पर-विरुद्ध और सदैव परस्पर-सापेक्ष हैं। अर्थात् भिन्न भिन्न दो वस्तुओंका निर्देश करनेके लिये कहे जाते हैं। जिसने कभी उजाला न देखा हो, वह अँधेरेकी कल्पना नहीं कर सकता। यही नहीं; किंतु 'उजाला' और 'अँधेरा' इन शब्दोंकी यह जोड़ीही उसको सूझ न पड़ेगी। सत् और असत् शब्दोंकी जोड़ी (द्वंद्व)के लिये यही न्याय उपयोगी है। जब हम देखते हैं, कि कुछ वस्तुओंका नाश होता है, तब सब वस्तुओंके असत् (नाश होनेवाली) और सत् (नाश न होनेवाली) ये दो भेद करने लगते हैं; अथवा सत् और असत् शब्द सूझ पड़नेके लिये मनुष्यकी दृष्टिके आगे दो प्रकारके विरुद्ध धर्मोंकी आवश्यकता होती है। अच्छा; यदि आरंभमें एकही वस्तु थी, तो द्वैतके उत्पन्न होने पर दो वस्तुओंके उद्देशसे जिन सापेक्ष सत् और असत् शब्दोंका प्रचार हुआ है, उनका प्रयोग इस मूल वस्तुके लिये कैसे किया जावेगा? क्योंकि, यदि इसे सत् कहते हैं, तो शंका होती है, कि क्या उस समय उसकी जोड़का कुछ असत्भी था? यही कारण है, जो ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमें (ऋ. १०. १२९) परब्रह्मको कोईभी विशेषण न दे कर सृष्टिके मूल तत्त्वका वर्णन उस प्रकार किया है, कि "जगतके आरंभमें न तो सत् था; और न असतभी था। जो कुछ था वह एकही था।" इन सत् और असत् शब्दोंकी जोडियाँ (अथवा द्वंद्व) तो पीछेसे निकली हैं; और गीतामें (गीता ७. २८; २. ४५) कहा है, कि सत् और असत्, शीत और उष्ण आदि द्वंद्वोंसे जिसकी बुद्धि मुक्त हो

जाय, वह इन सब द्वंद्वोंसे परे अर्थात् निर्द्वंद्व ब्रह्मपदको पहुँच जाता है। इससे दीख पड़ेगा, कि अध्यात्मशास्त्रके विचार कितने गहन और सूक्ष्म हैं। केवल तर्क-दृष्टिसे विचार करें, तो परब्रह्मका अथवा आत्माकाभी अज्ञेयत्व स्वीकार किये बिना गति नहीं रहती। परंतु ब्रह्म इस प्रकार अज्ञेय और निर्गुण अतएव इंद्रियातीत हो; तोभी यह प्रतीति हो सकती है, कि परब्रह्मकाभी वही स्वरूप है; जो कि हमारे निर्गुण तथा अनिर्वाच्य आत्माका है; और जिसे हम साक्षात्कारसे पहचानते हैं। इसका कारण यह है, कि प्रत्येक मनुश्यको अपने आत्माकी साक्षात् प्रतीति होती ही है। अतएव अब यह सिद्धान्त निरर्थक नहीं हो सकता, कि ब्रह्म और आत्मा एकस्वरूपी हैं। इस दृष्टिसे देखें, तो ब्रह्मस्वरूपके विषयमें इसकी अपेक्षा कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता, कि ब्रह्म आत्मस्वरूपी है। शेष बातोंके संबंधमें अपने अनुभवको ही पूरा प्रमाण मानना पड़ता है। किंतु बुद्धिगम्य शास्त्रीय प्रतिपादनमें शब्दोंसे जितना हो सकता है, उतना स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। इसलिये यद्यपि ब्रह्म सर्वत्र एक-सा व्याप्त, अज्ञेय और अनिर्वाच्य है, तोभी जडसृष्टिका और आत्मस्वरूपी ब्रह्मतत्त्वका भेद व्यक्त करनेके लिये, आत्माके सान्निध्यसे जड़ प्रकृतिमें चैतन्यरूपी जो गुण हमें दृग्गोचर होता है, उसीको आत्माका प्रधान लक्षण मानकर अध्यात्मशास्त्रमें आत्मा और ब्रह्म दोनोंको चिद्रूपी या चैतन्यरूपी कहते हैं। क्योंकि यदि ऐसा न करें, तो आत्मा और ब्रह्म दोनोंही निर्गुण, निरंजन एवं अनिर्वाच्य होनेके कारण उनके रूपका वर्णन करनेमें या तो चुप्पी साध जाना पड़ता है या शब्दोंमें किसीने कुछ वर्णन किया, तो 'नहीं नहीं' का यह मंत्र रटना पड़ता है, कि "नेति नेति एतस्मादन्यत्परमस्ति।" – यह नहीं है, यह (ब्रह्म) नहीं है (यह तो नामरूप हो गया)। सच्चा ब्रह्म इससे परे अन्यही है। इस नकारात्मक पाठका आवर्तन करनेके अतिरित और दूसरा मार्गही नहीं रह जाता (बृ. २. ३. ६)। यही कारण है, कि जो सामान्य रीतिसे ब्रह्मके स्वरूपके लक्षण चित् (ज्ञान), सत् (सत्तामात्रत्व अथवा अस्तित्व) और आनंद बतलाये जाते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं, कि ये लक्षण अन्य सभी लक्षणोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। फिरभी स्मरण रहे, कि शब्दोंसे ब्रह्मस्वरूपकी जितनी पहचान हो सकती है, उतनी करा देनेके लिये ये लक्षण कहे गये हैं। वास्तविक ब्रह्मस्वरूप निर्गुणही है और उसका ज्ञान होनेके लिये उसका अपरोक्षानुभवही होना चाहिये। यह अनुभव कैसे हो सकता है? – इंद्रियातीत होनेके कारण अनिर्वाच्य ब्रह्मके स्वरूपका अनुभव ब्रह्मनिष्ठ पुरुषको कब और कैसे होता है? – इस विषयमें हमारे शास्त्रकारोंने जो विवेचन किया है, उसे यहाँ संक्षेपमें बतलाते हैं।

ब्रह्म और आत्माकी एकताके उक्त समीकरणको सरल भाषामें इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं, कि "जो पिंडमें है, वही ब्रह्मांडमे है।" जब इस प्रकार ब्रह्मात्मैक्यका अनुभव हो जावे, तब यह भेदभाव नहीं रह सकता, कि ज्ञाता अर्थात्

द्रष्टा आत्मा भिन्न वस्तु है; और ज्ञेय अर्थात् देखनेकी वस्तु अलग है। किंतु इस विषयमें शंका हो सकती है, कि मनुष्य जबतक जीवित है, तबतक उसकी नेत्र आदि इंद्रियाँ यदि छूट नहीं जाती हैं; तो इंद्रियाँ पृथक् हुई और उनको गोचर होनेवाले विषय पृथक् हुए – तो यह भेद छूटेगा कैसे? और यदि यह भेद नहीं छूटेगा, तो ब्रह्मात्मैक्यका अनुभव कैसे होगा? तब यदि इंद्रिय-दृष्टिसेही विचार करें, तो यह शंका एका-एक अनुचितभी नहीं जान पड़ती। परंतु हाँ, गंभीर विचार करने लगे, तो जान पड़ेगा, कि इंद्रियाँ बाह्य विषयोंको देखनेका काम खुद मुख्तारीसे – अपनीही मर्जीसे नहीं किया करती हैं। पहले बतला दिया है, कि "चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा" (मभा. शां. ३११. १७) – कोईभी वस्तु देखनेके लिये (और सुनने आदिके लियेभी) नेत्रोंको (ऐसेही कान प्रभृतिकोभी) मनकी सहायता आवश्यक है। यदि मन शून्य हो, किसी और विचारमें डूबा हो, तो आँखोंके आगे धरी हुई वस्तुभी नहीं सूझती? व्यवहारमें होनेवाले इस अनुभवपर ध्यान देनेसे सहजही अनुमान होता है, कि नेत्र आदि इंद्रियोंके अक्षुण्ण रहते हुएभी मनको यदि उनमेंसे निकाल लें, तो इंद्रियोंके विषयोंके द्वंद्व बाह्य सृष्टिमें वर्तमान होनेपरभी हमारे लिये न होनेके समान रहेंगे। फिर परिणाम यह होगा, कि मन केवल आत्मामें अर्थात् आत्मस्वरूपी ब्रह्ममेंही रत रहेगा। इससे हमें ब्रह्मात्मैक्यका साक्षात्कार होने लगेगा। ध्यानसे, समाधिसे, एकान्त उपासनासे अथवा अत्यंत ब्रह्मविचार करनेसे, अंतमें यह मानसिक स्थिति जिसको प्राप्त हो जाती है, उसकी नजरके आगे दृश्य सृष्टिके द्वंद्व या भेद नाचते भले रहा करें; पर वह उनसे लापरवाह है – उसे वे दीखहीं नहीं पड़ते; और फ़िर उसको अद्वैत ब्रह्मस्वरूपकी आप-ही-आप पूर्ण साक्षात्कार होता जाता है। पूर्ण ब्रह्मज्ञानसे अंतमें परमावधिकी जो यह स्थिति प्राप्त होती है, उसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान, यह तीन प्रकारका भेद अर्थात् त्रिपुटी नहीं रहती; अथवा उपास्य और उपासकका द्वैतभावभी नहीं बचने पाता। अतएव यह अवस्था और किसी दूसरेको बतलाई नहीं जा सकती। क्योंकि ज्योंहि 'दूसरे' शब्दका उच्चारण किया, त्योंही यह अवस्था बिगड़ी; और फिर प्रकटही है, कि मनुष्य अद्वैतसे द्वैतमें आ जाता है। और तो क्या; यह कहनाभी मुश्किल है, कि मुझे इस अवस्थाका ज्ञान हो गया। क्योंकि 'मैं' कहतेही औरोंसे भिन्न होनेकी भावना मनमें आ जाती है; और ब्रह्मात्मैक्य होनेमें यह भावना पूरी बाधक है; इसी कारणसे याज्ञवल्क्यने बृहदारण्यकमें (बृ. ४. ५. १५. ४. ३. २७) इस परमावधिकी स्थितिका वर्णन यों किया है: "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितरं इतरं पश्यति...जिघ्रति...श्रृणौति...विजानाति।...यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत्केन कं पश्येत...जिघ्रेत्...शृणूयात्...विजानीयात्।...विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। एतावदरे खलु अमृतत्वमिति।" इसका भावार्थ यह है, कि "देखनेवाला (द्रष्टा) और देखनेका पदार्थ यह द्वैत जबतक बना हुआ था, तबतक

एक दूसरेको देखता था, सूंघता था, सूनता था और जानता था। परंतु जब सभी आत्ममय हो गया (अर्थात् आप-पर भेदही न रहा) तब कौन किसको देखेगा, सूंघेगा, सुनेगा और जानेगा ? अरे ! जो स्वयं ज्ञाता अर्थात् जाननेवाला है, उसीको जाननेवाला और दूसरा कहाँसे लाओगे ?" इस प्रकार सभी आत्मभूत या ब्रह्मभूत हो जानेपर वहाँ भीति, शोक अथवा सुखदुःख आदि द्वंद्वभी रह कहाँ सकते हैं ? (ईश. ७) क्योंकि, जिससे डरना है या जिसका शोक करना है, वह तो अपनेसे – हमसे – जुदा होना चाहिये; और ब्रह्मात्मैक्यका अनुभव हो जानेपर इस प्रकारकी किसीभी भिन्नताको अवकाशही नहीं मिलता। इसी दुःखशोक-विरहित अवस्थाको 'आनंदमय' नाम देकर तैत्तरीय उपनिषद् (तै. २. ८; ३. ६) में कहा है, कि यह आनंदही ब्रह्म है। किंतु यह वर्णनभी गौणही है। क्योंकि आनंदका अनुभव करनेवाला अब रहही कहाँ जाता है ? अतएव बृहदारण्यक उपनिषदमें (बृ. ४. ३. ३२) कहा है, कि लौकिक आनंदकी अपेक्षा आत्मानंद कुछ विलक्षणही होता है। ब्रह्मके वर्णनमें 'आनंद' शब्द आया करता है। उसकी गौणतापर ध्यान देकर अन्य स्थानोंमें ब्रह्मवेत्ता पुरुषका अंतिम वर्णन ('आनंद' शब्दको हटाकर) इतनाही किया जाता है, " ब्रह्म भवति य एव वेद " (बृ. ४. ४. २५)। अथवा " ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति " (मुं. ३. २. ९) – जिसने ब्रह्मको जान लिया, वह ब्रह्मही हो गया। उपनिषदोंमें (बृ. २. ४. १२; छां. ६. १३) इस स्थितिके लिये यह दृष्टान्त दिया गया है, कि नमककी डली जब पानीमें घुल जाती है, तब जिस प्रकार यह भेद नहीं रहता कि इतना भाग खारे पानीका है और इतना भाग मामूली पानीका है – उसी प्रकार ब्रह्मात्मैक्यका ज्ञान हो जानेपर सव ब्रह्ममय हो जाता है। किंतु श्री तुकाराम महाराजने (कि " जिनकी कहै नित्य वेदान्त वाणी ") इस खारे पानीके दृष्टान्तके वदले गुड़का यह मीठा दृष्टान्त देकर अपने अनुभवका वर्णन किया है :–

> **'गूंगे का गुड़' है भगवान्, बाहरभीतर एक समान।**
> **किसका ध्यान करूँ सविवेक ? जल-तरंगसे हैं हम एक ॥**
>
> – तु. गा. ३६२७

इसीलिये कहा जाता है, कि परब्रह्म इंद्रियोंको अगोचर और मनकोभी अगम्य होनेपरभी स्वानुभवगम्य है, अर्थात् अपने अपने अनुभवसे जाना जाता है। परब्रह्मकी जिस अज्ञेयताका वर्णन किया जाता है, वह 'ज्ञाता और ज्ञेय'वाली द्वैती स्थिति है; 'अद्वैत-साक्षात्कार'वाली स्थिति नहीं। जबतक यह बुद्धि बनी है, कि मैं अलग हूँ और दुनिया अलग है, तबतक कुछभी क्यों न किया जाय, ब्रह्मात्मैक्यका पूरा ज्ञान होना संभव नहीं। किंतु नदी यदि समुद्रको निगल नहीं सकती – उसको अपनेमें लीन नहीं कर सकती – तो जिस प्रकार समुद्रमें गिरकर नदी तद्रूप हो जाती है, उसी प्रकार

परब्रह्ममें निमग्न होनेसे मनुष्यको उसका अनुभव हो जाया करता है; और उसकी परब्रह्म-स्थिति हो जाती है, कि "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" (गीता ६. २९) – सब प्राणी मुझमें हैं; और मैं सबमें हूँ। केन उपनिषद्में बड़ी खूबीके साथ परब्रह्मके स्वरूपका विरोधाभासात्मक वर्णन इस अर्थको व्यक्त करनेके लिये किया गया है, कि पूर्ण परब्रह्मका ज्ञान केवल अपने अनुभवपरही निर्भर है। वह वर्णन इस प्रकार है : "अविज्ञातं विजानतां विज्ञानमविजानताम्" (केन. २. ३) – जो कहते हैं, कि हमें परब्रह्मका ज्ञान हो गया है, उन्हें उसका ज्ञान नहीं हुआ है; और जिन्हें जानही नहीं पड़ता कि हमने उसको जान लिया; उन्हेंही वह ज्ञान हुआ है। क्योंकि, जब कोई कहता है, कि मैंने परमेश्वरको जान लिया, तब उसके मनमें वह द्वैतबुद्धि उत्पन्न हो जाती है, कि मैं (ज्ञाता) जुदा हूँ; और मैंने जिसे जान लिया, वह (ज्ञेय) ब्रह्म अलग है। अतएव उसका ब्रह्मात्मैक्यरूपी अद्वैती अनुभव उस समय उतनाही कच्चा और अपूर्ण होता है। और यह उसके अपने मुखहीसे सिद्ध होता है कि उसने सच्चे ब्रह्मवेद जानाही नहीं है। इसके उलटे जब 'मैं' (ज्ञाता) और 'ब्रह्म' (ज्ञेय) यह द्वैती भेद नष्ट हो जाता है तब ब्रह्मात्मैक्यका पूर्ण अनुभव हो जाता है। फलतः उसके मुँहसे ऐसी भाषाका निकलनाही संभव नहीं रहता, कि "मैंने उसे (अर्थात् अपनेसे भिन्न और कुछ) जान लिया।" अतएव इस स्थितिमें, अर्थात् जब कोई ज्ञानी पुरुष यह बतलानेमें असमर्थ है, कि मैं ब्रह्मको जान गया; तब कहना पड़ता है, कि उसे ब्रह्मका ज्ञान हो गया है। इस प्रकार द्वैतका बिलकुल लोप होकर परब्रह्ममें ज्ञाताका सर्वथा रँग जाना, लयपा लेना, बिलकुल घुल जाना, अथवा एकजीव हो जाना सामान्य रूपतः तो दुष्कर दीख पड़ता है; परंतु हमारे शास्त्रकारोंने अनुभवसे निश्चय किया है, कि एका-एक दुर्घट प्रतीत होनेवाली 'निर्वाण' स्थिति, अभ्यास और वैराग्यसे अंतमें मनुष्यको साध्य हो सकती है। 'मैं'-पनरूपी द्वैतभाव उक्त स्थितिमें (अहं) नष्ट हो जाता है, मृत हो जाता है। अतएव कुछ लोग शंका किया करते हैं, कि यह तो आत्मनाशकाही एक तरीका है। किंतु ज्योंही यह समझमें आए कि यद्यपि इस स्थितिका अनुभव करते समय इसका वर्णन करते नहीं बनता है, परंतु पीछे उसका स्मरण हो सकता है, त्योंही उक्त शंका निर्मूल हो जाती है।* पर इसकी अपेक्षा औरभी

---

* ध्यानसे और समाधिसे प्राप्त होनेवाली अद्वैतकी अथवा अभेदभावकी यह अवस्था nitrous-oxide gas नामक एक प्रकारकी रासायनिक वायुको सूंधनेसे प्राप्त हो जाया करती है। इसी वायुको 'लाफिंग गैस'भी कहते हैं। *Will to Believe and Other Essays on Popular Philosophy*, by Willam James, *pp.* 294–298. परंतु यह नकली अवस्था है। समाधिसे जो अवस्था प्राप्त होती है, वह सच्ची और असली है। यही इन दोनोंमें महत्त्वका भेद है। फिरभी यहाँ उसका उल्लेख हमने इस लिये किया, कि इस कृत्रिम अवस्थाके प्रमाणसे अभेदावस्थाके अस्तित्वके विषयमें कुछभी वाद नहीं रह जाता।

अधिक प्रबल प्रमाण साधुसंतोंका अनुभव है। बहुत प्राचीन सिद्ध पुरुषोंके अनुभव तो प्रसिद्ध हैंही उनके, संबंधमें और क्या कहें ? किंतु बिलकुल अभीके प्रसिद्ध भगवद्भक्त तुकाराम महाराजनेभी इस परमावधिकी स्थितिका वर्णन आलंकारिक भाषामें बड़ी खूबीसे धन्यतापूर्वक इस प्रकार किया है, कि "मैं अपनी मृत्यु अपनी आँखोंसे देख ली; वहभी एक अनुपम उत्सवही था" (तु. गा. ३५७९)। व्यक्त अथवा सगुण ब्रह्मकी उपासनासे, ध्यानके द्वारा धीरे धीरे बढ़ता हुआ उपासक अंतमें "अहं ब्रह्मास्मि" (बृ. १. ४. १०) – मैंही ब्रह्म हूँ – की स्थितिमें जा पहुँचता हैं; और ब्रह्मात्मैक्यस्थितिका उसे साक्षात्कार होने लगता है। फिर उसमें वह इतना मग्न हो जाता है, कि इस बातकी ओर उसका ध्यानभी नहीं जाता, कि मैं किस स्थितिमें हूँ; अथवा किसका अनुभव कर रहा हूँ। इस स्थितिमें जागृति बनी रहती है, अतः इस अवस्थाको न तो स्वप्न कह सकते हैं; और न सुषुप्ति। यदि जागृति कहें तो इसमें जागृत द्वैतके अवस्थामें सामान्य रीतिसे होनेवाले सब व्यवहार रुक जाते हैं, इसलिये स्वप्न, सुषुप्ति (नींद) अथवा जागृति – इन तीनों व्यावहारिक अवस्थाओंसे बिलकुलही भिन्न यह चौथी अथवा तुरीय अवस्था है – इस प्रकार शास्त्रोंमें कहा गया है। इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये पातंजलयोगशास्त्रकी दृष्टिसे मुख्य साधन निर्विकल्प समाधियोग लगाना है, जिसमें द्वैतका जरासाभी लवलेश नहीं रहता ! और यही कारण है, कि जो गीतामें (गी. ६. २०–२३) कहा है कि इस निर्विकल्प समाधियोगको अभ्याससे प्राप्त कर लेनेमें मनुष्यको उकताना नहीं चाहिये। यही ब्रह्मात्मैक्य स्थिति ज्ञानकी पूर्णावस्था है। क्योंकि जब संपूर्ण जगत् ब्रह्मरूप अर्थात् एकही हो चुका, तब गीताके ज्ञानक्रियावाले इस लक्षणकी पूर्णता हो जाती है, कि "अविभक्तं विभक्तेषु" – अनेकत्वकी एकता करनी चाहिये – और फिर इसके आगे किसीकोभी अधिक ज्ञान हो नहीं सकता। इसी प्रकार नामरूपसे परे इस अमृतत्वका जहाँ मनुष्यको अनुभव हुआ, कि जन्म-मरणका चक्करभी आप-ही-से छूट जाता है। क्योंकि जन्म-मरण तो नामरूपोंमेंही है; और यह मनुष्य पहुँच जाता है उन नामरूपोंसे परे (गीता ८. २१)। इसीसे तुकाराम महाराजने इस स्थितिका नाम 'मरणका मरण' रख छोड़ा है। और इसी कारणसे याज्ञवल्क्य इस स्थितिको अमृतत्वकी सीमा या पराकाष्ठा कहते हैं। यही जीवन्मुक्तावस्था है। पातंजलयोगसूत्र और अन्य स्थानोंमेंभी वर्णन है, कि इस अवस्थामें आकाशगमन आदि कुछ अपूर्व अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं (पातंजलसूत्र ३. १६–१५); और इन्हींको पानेके लिये कितनेही मनुष्य योगाभ्यासकी धुनमें लग जाते हैं। परंतु योगवासिष्ठप्रणेता कहते हैं, कि आकाशगमन प्रभृति सिद्धियाँ न तो ब्रह्मनिष्ठ-स्थितिका साध्य है और न उसका कोई भागही। अतः जीवन्मुक्त पुरुष इन सिद्धियोंको पा लेनेका उद्योग नहीं करता; और बहुधा उसमें ये देखीभी नहीं जातीं (यो. ५. ८९)। इसी कारण इन सिद्धियोंका उल्लेख न तो योगवसिष्ठमेंही है और न गीतामेंभी किया है। वसिष्ठने रामसे स्पष्ट

कह दिया है, कि ये चमत्कार तो मायाके खेल हैं; यह ब्रह्मविद्या नहीं है। कदाचित् ये सच्चेभी हों। हम यह नहीं कहते, कि ये सच्चे होंगेही नहीं। जो हो; इतना तो निर्विवाद है, कि यह ब्रह्मविद्याका विषय नहीं है। अतएव, ये सिद्धियाँ मिलें तो, और न मिलें तोभी इनकी परवाह न करनी चाहिये। ब्रह्मविद्याशास्त्रका कथन है, कि इनकी इच्छा अथवा आशाभी न करके मनुष्यको वेही प्रयत्न करते रहना चाहिये, कि जिनसे प्राणिमात्रमें 'एक-आत्मा'वाली परमावधिकी ब्रह्मनिष्ठ स्थिति प्राप्त हो जावे। ब्रह्मज्ञान आत्माकी शुद्ध अवस्था है। वह कुछ जादू, करामात या चमत्कार नहीं है। इस कारण इन सिद्धियोंसे – इन चमत्कारोंसे – ब्रह्मज्ञानके गौरवका बढ़ना तो दूर, किंतु उसके गौरवके – उसकी महत्ताके – ये चमत्कार प्रमाणभी नहीं हो सकते। पक्षी तो पहलेभी आकाशमें उड़ते थे; पर अब विमानोंवाले लोगभी आकाशमें उड़ने लगे हैं, किंतु सिर्फ़ इसी गुणके होनेसे कोई इनकी गिनती ब्रह्मवेत्ताओंमें नहीं करता। और तो क्या; जिन पुरुषोंको ये आकाशगमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, उनमेंसे कुछ 'मालतीमाधव' नाटकवाले अघोरघंटके समान क्रूर और घातकीभी हो सकते हैं।

ब्रह्मात्मैक्यरूप आनंदमय स्थितिका अनिर्वाच्य अनुभव किसी दूसरेको पूर्णतया बतलाया नहीं जा सकता। क्योंकि जब उसके संबंधमें दूसरेको बतलाने लगेंगे, तब 'मैं-तू' वाली द्वैतकीही भाषासे काम लेना पडेगा; और इस द्वैती भाषामें अद्वैतका समस्त अनुभव व्यक्त करते नहीं बनता। अतएव उपनिषदोंमें इस परमावधिकी स्थितिके जो वर्णन हैं; उन्हेंभी अधूरे या गौण समझना चाहिये। और जब ये वर्णन गौण हैं, तब सृष्टिकी उत्पत्ति एवं रचना समझानेके लिये अनेक स्थानोंपर उपनिषदोंमें जो निरे द्वैती वर्णन पाये जाते हैं, उन्हेंभी गौणही मानना चाहिये। उदाहरण लीजिये; उपनिषदोंमें दृश्य सृष्टिकी उत्पत्तिके विषयमें ऐसे वर्णन हैं, कि आत्मस्वरूपी, शुद्ध, नित्य, सर्वव्यापी और अविकारी ब्रह्महीसे आगे चलकर हिरण्यगर्भ नामक सगुण पुरुष या आप (पानी) प्रभृति सृष्टिके व्यक्त पदार्थ क्रमशः निर्मित हुए; अथवा परमेश्वरने इन नामरूपोंकी रचना करके फिर जीवरूपसे उनमें प्रवेश किया (तै. २. ६; छां. ६. २, ३; बृ. १. ४. ७), ये सब द्वैतपूर्ण वर्णन अद्वैतदृष्टिसे यथार्थ नहीं हो सकते। क्योंकि ज्ञानगम्य, निर्गुण परमेश्वरही जब चारों ओर भरा हुआ है, तब तात्त्विक दृष्टिसे यह कहनाही निर्मूल हो जाता है, कि एकने दूसरेको पैदा किया। परंतु साधारण मनुष्योंको सृष्टिकी रचना समझा देनेके लिये व्यावहारिक अर्थात् द्वैतकी भाषाही तो एक साधन है। इस कारण व्यक्त सृष्टिकी अर्थात् नामरूपकी उत्पत्तिके वर्णन उपनिषदोंमें उसी ढँगके मिलते हैं, जैसा कि ऊपर एक उदाहरण दिया गया है। तोभी उसमें अद्वैतका तत्त्व बनाही रहता है; और अनेक स्थानोंमें यह कह दिया है, कि इस प्रकार द्वैती व्यावहारिक भाषा वर्तने परभी मूलमें अद्वैत सच्चाही है। देखिये, अब निश्चय हो चुका है, कि सूर्य घूमता नहीं है, स्थिर है,

फिरभी बोलचालमें जिस प्रकार यही कहा जाता है, कि सूर्य निकल आया अथवा डूब गया; उसी प्रकार यद्यपि निश्चित है कि एकही आत्मस्वरूपी परब्रह्म चारों ओर अखंड भरा हुआ है; और वह अविकार्य है; तथापि उपनिषदोंमें ऐसीही भाषाके प्रयोग मिलते हैं, कि "परब्रह्मसे व्यक्त जगत्की उत्पत्ति हुई है।" इसी प्रकार गीतामेंभी यद्यपि भगवानने यह कहा है, कि "मेरा सच्चा स्वरूप अव्यक्त और अज है" (गीता ७. २५); तथापि उन्होंने कहा है, कि "मैं सारे जगत्को उत्पन्न करता हूँ (गीता ४. ६)। परंतु इन वर्णनोंके मर्मको विना समझे-बूझे कुछ पंडित लोग इनको शब्दशः सच्चा मान लेते हैं; और फिर उन्हेंही मुख्य समझ कर यह सिद्धान्त किया करते हैं, कि द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत मतका उपनिषदोंमें प्रतिपादन है। वे कहते हैं; कि यदि यह मान लिया जाय, कि एकही निर्गुण ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हो रहा है; तो फिर इसकी उपपत्ति नहीं लगती, कि इस अविकारी ब्रह्मसे विकारसहित नाशवान् सगुण पदार्थ कैसे निर्मित हो गये। क्योंकि नामरूपात्मका सृष्टिको यदि 'माया' कहें, तो निर्गुण ब्रह्मसे सगुण मायाका उत्पन्न होनाही तर्ककी दृष्टिसे शक्य नहीं है। इससे अद्वैतवाद लँगड़ा हो जाता है। इससे तो कहीं अच्छा यह होगा, कि सांख्यशास्त्रके मतानुसार प्रकृतिके सदृश नामरूपात्मक व्यक्त सृष्टिके किसी सगुण परंतु व्यक्त रूपको नित्य मान लिया जावे; और उस व्यक्त रूपके अभ्यंतरमें कोई दूसरा परब्रह्म रूप नित्यतत्त्व ऐसे ओतप्रोत भरा हुआ रखा जावे, जैसा कि पेंचकी नलीमें भाफ रहती है (बृ. ३. ७)। एवं उन दोनोंमें वैसीही एकता मानी जावे, जैसी कि दाड़िम या अनारके फलकी भीतरी दानोंके साथ रहती है। परंतु हमारे मतमें उपनिषदोंके तात्पर्यका ऐसा विचार करना योग्य नहीं है। उपनिषदोंमें कहीं कहीं द्वैती और कहीं कहीं शुद्ध अद्वैती वर्णन पाये जाते हैं। सो यह सही है कि इन दोनोंकी कुछ-न-कुछ एकवाक्यता करनी चाहिये; परंतु अद्वैतवादको मुख्य समझने और जब निर्गुण ब्रह्म सगुण होने लगता है, तब उतनेही समयके लिये मायिक द्वैतकी स्थिति प्राप्त हुई जाती है इस प्रकार मान लेनेसे सब वचनोंकी जैसी व्यवस्था लगती है, वैसी व्यवस्था द्वैत पक्षको प्रधान माननेसे लगती नहीं है। उदाहरण लीजिये; 'तत् त्वमसि' इस वाक्यके पदोंका अन्वय द्वैती मतानुसार कभीभी ठीक नहीं लगता। तो क्या इस अड़चनको द्वैतमतवालोंने समझही नहीं पाया? नहीं, समझा ज़रूर है। तभी तो वे उक्त महावाक्यका जैसा-तैसा अर्थ लगा कर अपने मनको समझा लेते हैं। 'तत्त्वमसि' को द्वैतवाले इस प्रकार सुलझाते हैं – तत्त्वम् = तस्य त्वम् – अर्थात् उसका तू है, कि जो कोई तुझसे भिन्न है; तू वही नहीं है। परंतु जिसको संस्कृतका थोड़ा-साभी ज्ञान है; और जिसकी बुद्धि आग्रहमें बँध नहीं गई है वह तुरंत ताड़ लेगा, कि यह खींचातानीका अर्थ ठीक नहीं है। कैवल्य उपनिषद् (कै. १. १६)में, तो "स त्वमेव त्वमेव तत्" इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्'को उलट-पलट कर उक्त महावाक्यके अद्वैतप्रधान

होनेकाही सिद्धान्त दर्शाया है। अब और क्या बतलावे? समस्त उपनिषदोंका बहुतसा भाग निकाल डाले बिना अथवा जान-बूझकर उसपर दुर्लक्ष किये बिना, उपनिषच्छास्त्रमें अद्वैतको छोड़ और कोई दूसरा रहस्य बतला देना संभवही नहीं है। परंतु ये वाद तो ऐसे हैं, कि जिनका कोई ओर-छोरही नहीं; तो फिर यहाँ हम इनकी विशेष चर्चा क्यों करें? जिन्हें अद्वैतके अतिरिक्त अन्य मत रुचते हों, वे खुशीसे उन्हें स्वीकार कर लें। उन्हें रोकता कौन हैं। जिन उदार महात्माओंने उपनिषदोंमें अपना यह स्पष्ट विश्वास बतलाया है, कि "नेह नानास्ति किंचन" (बृ. ४. ४. १९; कठ. ४. ११) – इस सृष्टिमें किसीभी प्रकारकी अनेकता नहीं है, जो कुछ है, वह मूलमें सब 'एकमेवाद्वितीयम्' (छां. ६. २. २.) है; और जिन्होंने आगे यह वर्णन किया है, कि "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" – जिसे इस जगत्में नानात्व दीख पड़ता है, वह जन्ममरणके चक्करमें फँसता है – हम नहीं समझते, कि उन महात्माओंका आशय अद्वैतको छोड़ औरभी किसी अन्य प्रकारका हो सकेगा। परंतु अनेक वैदिक शाखाओंके अनेक उपनिषद् होनेके कारण जैसे इस शंकाको थोडीसी गुंजाइश मिल जाती है, कि कुल उपनिषदोंका तात्पर्य क्या एकही है? वैसा हाल गीताका नहीं है। जब गीता एकही ग्रंथ है, तब प्रकटही है, कि उसमें एकही प्रकारके वेदान्तका प्रतिपादन होना चाहिये। और जो विचारने लगें, कि वह कौन-सा वेदान्त है? तो यह अद्वैतप्रधान सिद्धान्त करना पड़ता है, कि "सब भूतोंका नाश हो जानेपरभी जो एकही स्थिर रहता है" (गीता ८. २०), वही यथार्थमें सत्य है। एवं देह और विश्वमें मिलकर सर्वत्र वही व्याप्त हो रहा है (गीता १३. ३१)। और तो क्या; आत्मौपम्यबुद्धिका जो नीतितत्त्व गीतामें बतलाया गया है, उसकी पूरी पूरी उपपत्तिभी अद्वैतको छोड़ दूसरे प्रकारकी वेदान्त दृष्टिसे नहीं लगती है। इससे कोई हमारा यह आशय न समझ लें, कि श्रीशंकराचार्यके समयमें अथवा उनके पश्चात् अद्वैतमतका पोषण करनेवाली जितनी युक्तियाँ निकली हैं; अथवा प्रमाण निकले हैं, वे सभी यच्चयावत् गीतामें प्रतिपादित हैं। यहतो हमभी मानते हैं, कि द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत प्रभृति संप्रदायोंकी उत्पत्ति होनेसे पहलेही गीता बन चुकी है; और इसी कारणसे गीतामें किसीभी विशेष संप्रदायके युक्तिवादोंका समावेश होना संभव नहीं है। किंतु इस संमतिसे यह कहनेमें कोईभी बाधा नहीं आती, कि गीताका वेदान्त मामूली तौरपर शांकर-संप्रदायके ज्ञानानुसार अद्वैती है – द्वैती नहीं। इस प्रकार गीता और शांकर-संप्रदायमें तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे सामान्य मेल है सही; पर हमारा मत है, कि आचारदृष्टिसे गीता कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगको अधिक महत्त्व देती है। इस कारण गीताधर्म शांकरसंप्रदायसे भिन्न हो गया है। इसका विचार आगे किया जावेगा। प्रस्तुत विषय तत्त्वज्ञानसंबंधी है। इसलिये यहाँ इतनाही कहना है, कि गीता और शांकरसंप्रदायमें – दोनोंमें – यह तत्त्वज्ञान एकही प्रकारका

है, अर्थात् अद्वैती है। अन्य सांप्रदायिक भाष्योंकी अपेक्षा गीताके शांकरभाष्यका जो अधिक महत्त्व हो गया है, उसका कारणभी यही है।

ज्ञानदृष्टिसे सारे नामरूपोंको एक ओर निकाल देने पर एकही अधिकारी और निर्गुण तत्त्व स्थिर रह जाता है। अतएव पूर्ण और सूक्ष्म विचार करनेपर अद्वैत सिद्धान्तकाही स्वीकार करना पड़ता है। जब इतना सिद्ध हो चुका तब अद्वैत वेदान्तकी दृष्टिसे यह विवेचन करना आवश्यक है, कि इस एक निर्गुण, अव्यक्त द्रव्यसे नाना प्रकारकी व्यक्त सगुण सृष्टि क्योंकर उपजी? पहले बतला आये हैं, कि सांख्योंने तो निर्गुण पुरुषके साथही त्रिगुणात्मक अर्थात् सगुण प्रकृतिको अनादि और स्वतंत्र मान कर, इस प्रश्नको हल कर लिया है। किंतु यदि इस प्रकार सगुण प्रकृतिको स्वतंत्र मान लें, तो जगत्के मूलतत्त्व दो हुए जाते हैं। और ऐसा करनेसे उस अद्वैत मतमें बाधा आती है, कि जिसका उक्त अनेक कारणोंके द्वारा पूर्णतया निश्चय कर लिया गया है। यदि सगुण प्रकृतिको स्वतंत्र नहीं मानते हैं, तो यह बतलाते नहीं बनता, कि एकही मूल निर्गुण द्रव्यसे नानाविध सगुण सृष्टि कैसे उत्पन्न हो गई। क्योंकि सत्कार्यवादका सिद्धान्त यह है, कि निर्गुणसे सगुण – अर्थात् जो कुछभी नहीं है, उससे और कुछ – का उपजना शक्य नहीं है; और यह सिद्धान्त अद्वैतवादियोंकोभी मान्य हो चुका है। इसलिये दोनोंही ओर अड़चन है। फिर यह उलझन सुलझे कैसे? बिना अद्वैतको छोड़ेही निर्गुणसे सगुणकी उत्पत्ति होनेका मार्ग बतलाना चाहिये; और सत्कार्यवादकी दृष्टिसे वह तो रुका हुआ-साही है। कठिन पेंच है – ऐसीवैसी उलझन नहीं है। और तो क्या? कुछ लोगोंकी समझमें अद्वैत सिद्धान्तके माननेमें यही ऐसी अड़चन है, जोकि सबसे बड़ी पेचीदा और कठिन है। इसी अड़चनसे छटककर वे द्वैतको अंगीकार करने लिया करते हैं। किंतु अद्वैती पंडितोंने अपनी बुद्धिके द्वारा इस विकट अड़चनके फंदेसे छूटनेके लियेभी एक युक्ति-संगत बेजोड़ मार्ग ढूंढ लिया है। वे कहते हैं, कि सत्कार्यवाद अथवा गुणपरिणाम-वादके सिद्धान्तका उपयोग तब होता है, जब कार्य और कारण, दोनों एकही श्रेणीके अथवा एकही वर्गके होते हैं; और इस कारण अद्वैती वेदान्तीभी इसे स्वीकार कर लेंगे, कि सत्य और निर्गुण ब्रह्मसे सत्य और सगुण मायाका उत्पन्न होना शक्य नहीं है। परंतु यह स्वीकृति उस समयकी है, जब कि दोनों पदार्थ सत्य हों; पर जहाँ एक पदार्थ सत्य है, और दूसरा उसका सिर्फ़ दृश्य है, वहाँ सत्कार्य-वादका उपयोग नहीं होता। सांख्यमतवाले 'पुरुषके समानही प्रकृति'को स्वतंत्र और सत्य पदार्थ मानते हैं। यही कारण है, जो वे निर्गुण पुरुषसे सगुण प्रकृतिकी उत्पत्तिका विवेचन सत्कार्यवादके अनुसार कर नहीं सकते। किंतु अद्वैत वेदान्तका सिद्धान्त यह है, कि माया अनादि बनी रहे; फिरभी वह सत्य और स्वतंत्र नहीं है। वह तो गीताके कथनानुसार 'मोह', 'अज्ञान', अथवा "इंद्रियोंको दिखाई देनेवाला दृश्य" है। इसलिये सत्कार्यवादसे जो आक्षेप निष्पन्न हुआ था, उसका

उपयोग अद्वैत सिद्धान्तके लिये कियाही नहीं जा सकता। बापसे लड़का पैदा हो, तो कहेंगे, कि वह बापके गुणपरिणामसे हुआ है। परंतु पिता एकही व्यक्ति है; और जब कभी वह बच्चेका, कभी जवानका और कभी बुड्ढेका स्वाँग बनाये हुए दीख पड़ता है, तब हम सदैव देखा करते हैं, कि इस व्यक्तिमें और इसके अनेक स्वाँगोंमें गुणपरिणामरूपी कार्यकारणभाव नहीं रहता। ऐसेही जब निश्चित हो जाता है, कि सूर्य एकही है; तब पानीमें आँखोंको दिखाई देनेवाले उसके प्रतिबिंबको हम भ्रम कह देते हैं, और उसे गुणपरिणामसे उपजा हुआ दूसरा सूर्य नहीं मानते। इसी प्रकार दूरबीनसे किसी ग्रहके यथार्थ स्वरूपका निश्चय हो जानेपर, ज्योतिःशास्त्र स्पष्ट कह देता है, कि उस ग्रहका जो स्वरूप निरी आँखोंसे दीख पड़ता है, वह दृष्टिकी कमजोरी है और उसके अत्यंत दूरीपर रहनेके कारण निरा दृश्य उत्पन्न हो गया है। इससे प्रकट हो गया, कि कोईभी बात नेत्र आदि इंद्रियोंको प्रत्यक्ष गोचर हो जानेसेही स्वतंत्र और सत्य वस्तु मानी नहीं जा सकती। फिर इसी न्यायका अध्यात्मशास्त्रमें उपयोग करके यदि यह कहें तो क्या हानि है, कि ज्ञानचक्षुरूप दूरबीनसे जिसका निश्चय कर लिया गया है, वह निर्गुण परब्रह्मही सत्य है। और ज्ञानहीन चर्मचक्षुओंको जो नामरूप गोचर होता है, वह इस परब्रह्मका कार्य नहीं है – वह तो इंद्रियोंकी दुर्बलतासे उपजा हुआ निरा भ्रम अर्थात् मोहात्मक दृश्य है। यहाँपर यह आक्षेपही नहीं फबता, कि निर्गुणसे सगुण उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि दोनों वस्तुएँ एकही श्रेणीकी नहीं हैं। इनमें एक तो सत्य है; और दूसरी है सिर्फ़ दृश्य। एवं अनुभव यह है, कि मूलमें एकही सत्य वस्तु रहने-परभी देखनेवाले पुरुषके दृष्टिभेदसे, अज्ञानसे अथवा नज़रबंदीसे उस एकही वस्तुके दृश्य बदलते रहते हैं। उदाहरणार्थ, कानोंको सुनाई देनेवाले शब्द और आँखोंसे दिखाई देनेवाले रंग – इन्हीं दो गुणोंको लीजिये। इनमेंसे कानोंको जो शब्द या आवाज़ सुनाई देती है, उसकी सूक्ष्मतासे जाँच करके आधिभौतिकशास्त्रियोंने पूर्णतया सिद्ध कर दिया है, कि 'शब्द' या तो वायुकी लहरें हैं या गति है। और अब सूक्ष्म शोध करनेसे निश्चय हो गया है, कि आँखोंसे दीख पड़नेवाले लाल, हरे, पीले, आदि रंगभी मूलमें एकही सूर्यप्रकाशके विकार हैं; और सूर्यप्रकाश स्वयं एक प्रकारकी गतिही है। जब कि 'गति' मूलमें एकही है, पर कान उसे शब्द और आँखें उसे रंग बतलाती हैं, तब यदि इसी न्यायका उपयोग कुछ अधिक व्यापक रीतिसे सारी इंद्रियोंके लिये किया जावे, तो सभी नामरूपोंकी उत्पत्तिके संबंधमें सत्कार्यवादकी सहायताके बिना ठीकही ठीक उपपत्ति इस प्रकार लगाई जा सकती है, कि किसीभी एक अविकार्य वस्तुपर मनुष्यकी भिन्न भिन्न इंद्रियाँ अपनी अपनी ओरसे शब्दरूप आदि अनेक नामरूपात्मक गुणोंका 'अध्यारोप' करके नाना प्रकारके दृश्य उपजाया करती हैं। परंतु यह आवश्यक नहीं है, कि मूलकी एकही वस्तुमें ये दृश्य, ये गुण अथवा ये नामरूप हों ही। और इसी अर्थको सिद्ध करनेके लिये

रस्सीमें सर्पका अथवा सीपमें चाँदीका भ्रम होना, या आँखमें उँगली डालनेसे एकके दो पदार्थ दीख पड़ना अथवा अनेक रंगोंके चष्मे लगानेपर एकही पदार्थका रंग-बिरंगा दीख पड़ना आदि अनेक दृष्टान्त वेदान्तशास्त्रमें दिये जाते हैं। मनुष्यकी इंद्रियाँ उससे कभी छूट नहीं जाती हैं। इस कारण जगत्के नामरूप अथवा गुण उसके नयनपथमें गोचर तो अवश्यही होंगे; परंतु यह नहीं कहा जा सकता, कि इंद्रियवान् मनुष्यकी दृष्टिसे जगत्का जो सापेक्ष स्वरूप दीख पड़ता है, वही इस जगत्के मूलका अर्थात् निरपेक्ष और नित्य स्वरूप है। मनुष्यकी वर्तमान इंद्रियोंकी अपेक्षा यदि उसे न्यूनाधिक इंद्रियाँ प्राप्त हो जावें, तो यह सृष्टि उसे जैसे आजकल दीख पड़ती है, वैसेही न दीखती रहेगी। और यदि यह ठीक है, तो जब कोई पूछे, कि द्रष्टाकी – देखनेवाले मनुष्यकी – इंद्रियोंकी अपेक्षा न करके यह बतलाओ, कि सृष्टिके मूलमें जो तत्त्व है, उसका नित्य और सत्य स्वरूप क्या है ? तब यही उत्तर देना पड़ता है, कि वह मूलतत्त्व है तो निर्गुण; परंतु मनुष्यको सगुण दिखलाई देता है – यह मनुष्यकी इंद्रियोंका धर्म है; न कि मूलवस्तुका गुण। आधिभौतिकशास्त्रमें उन्हीं बातोंकी जाँच होती है, कि जो इंद्रियोंको गोचर हुआ करती हैं। और यही कारण है, कि वहाँ इस ढंगके प्रश्न होतेही नहीं। परंतु मनुष्य और उसकी इंद्रियोंके नष्टप्राय हो जानेसे यह नहीं कह सकते, कि ईश्वरभी नष्ट हो जाता है; अथवा मनुष्यको वह अमुक प्रकारका दीख पड़ता है। इसलिये उसका त्रिकालाबाधित नित्य और निरपेक्ष स्वरूपभी वही होना चाहिये। अतएव जिस अध्यात्मशास्त्रमें यह विचार करना होता है, कि जगत्के मूलमें वर्तमान सत्यका मूलस्वरूप क्या है; उसमें मानवी इंद्रियोंकी सापेक्षदृष्टि छोड़ देनी पड़ती है; और केवल ज्ञानदृष्टिसे अर्थात् जितना हो सके उतना बुद्धिसेही अंतिम विचार करना पड़ता है। ऐसा करनेसे इंद्रियोंको गोचर होनेवाले सभी गुण आपही आप छूट जाते हैं। और यह सिद्ध हो जाता है, कि, ब्रह्मका नित्य स्वरूप इंद्रियातीत अर्थात् निर्गुण एवं सबसे श्रेष्ठ है। परंतु अब प्रश्न होता है, कि जो निर्गुण है, उसका वर्णन करेगाही कौन ? और किस प्रकार करेगा ? इसीलिये अद्वैत वेदान्तमें यह सिद्धान्त किया गया है, कि परब्रह्मका अंतिम अर्थात् निरपेक्ष और नित्य स्वरूप निर्गुण तो हैही, पर अनिर्वाच्यभी है; और इसी निर्गुण स्वरूपमें मनुष्यको अपनी इंद्रियोंके योगसे सगुण दृश्यकी झलक दीख पड़ती हैं। अब यहाँ प्रश्न होता है, कि निर्गुणको सगुण करनेकी यह शक्ति इंद्रियोंने पा कहाँसे ली ? इसपर अद्वैतवेदान्तशास्त्रका यह उत्तर है कि मानवी ज्ञानकी गति यहींतक है। इसके आगे उसकी गुजर नहीं। इसलिये यह इंद्रियोंका अज्ञान है; और निर्गुण परब्रह्ममें सगुण जगत्का दृश्य दीखना यह उसी अज्ञानका परिणाम है। अथवा यहाँ इतनाही निश्चित अनुमान करके निश्चिंत हो जाना पड़ता है, कि इंद्रियाँभी परमेश्वरकी सृष्टिकीही हैं। इस कारण यह सगुण सृष्टि (प्रकृति) निर्गुण परमेश्वरकीही एक 'दैवी माया' है (गीता ७. १४)। पाठकोंकी समझमें अब गीताके

इस वर्णनका तत्त्व आ जावेगा, कि केवल इंद्रियोंसे देखनेवाले अप्रबुद्ध लोगोंको परमेश्वर व्यक्त और सगुण दीख पड़े तोभी उसका सच्चा और श्रेष्ठ स्वरूप निर्गुण है और उसको ज्ञानदृष्टिसे जाननेमेंही ज्ञानकी परमावधि है (गीता ७. १४, २४, २५) । इस प्रकार निर्णय तो कर दिया, कि परमेश्वर मूलमें निर्गुण है, और मनुष्यकी इंद्रियोंको उसीमें सगुण सृष्टिका विविध दृश्य दीख पड़ता है; फिरभी इस बातका थोड़ा-सा स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है, कि उक्त सिद्धान्तमें निर्गुण शब्दका अर्थ क्या समझा जावे । यह सच है, कि हवाकी लहरोंपर शब्दरूप आदि गुणोंका अथवा सीपपर चाँदीका जब हमारी इंद्रियाँ अध्यारोप करती हैं, तब हवाकी लहरोंमें शब्द-रूप आदिके अथवा सीपमें चाँदीके गुण नहीं होते । परंतु यद्यपि उनमें अध्यारोपित गुण न हों; तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उनसे भिन्न गुण, मूल पदार्थोंमें होंगेही नहीं । क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि यद्यपि सीपमें चाँदीके गुण नहीं हैं, तोभी चाँदीके गुणोंके अतिरिक्त और दूसरे गुण उसमें रहते होंगेही । इसीसे अब यहाँ एक और शंका होती है – कि इंद्रियोंने अपने अज्ञानसे मूलब्रह्मपर जिन गुणोंका अध्यारोप किया था, वे गुण ब्रह्ममें नहीं हैं – इस प्रकार न होंगे तो क्या और दूसरे गुण परब्रह्ममें न होंगे ? यदि मान लो, कि यदि कहें; तो फिर वह निर्गुण कहाँ रहा ? किंतु कुछ और अधिक सूक्ष्म विचार करनेसे ज्ञात होगा, कि यदि मूल ब्रह्ममें इंद्रियोंके द्वारा अध्यारोपित गुणोंके अतिरिक्त और दूसरे गुण होंभी; तो हम उन्हें मालूम कैसे कर सकेंगे ? क्योंकि गुणोंको मनुष्य अपनी इंद्रियोंसेही तो जानता है; और जो गुण इंद्रियोंको अगोचर हैं, वे जानेही नहीं जाते । सारांश, इंद्रियोंके द्वारा अध्यारोपित गुणोंके अतिरिक्त परब्रह्ममें यदि और कुछ दूसरे गुण हों, तो उनको जान लेना हमारी सामर्थ्यके बाहर है; और जिन गुणोंको जान लेना हमारे काबूमें नहीं, उनको परब्रह्ममें माननाभी न्यायशास्त्रकी दृष्टिसे योग्य नहीं है । अतएव गुण शब्दका " मनुष्यको ज्ञात होनेवाले गुण " अर्थ करके वेदान्ती लोग सिद्धान्त किया करते हैं, कि ब्रह्म 'निर्गुण' है । न तो अद्वैत वेदान्तही यह कहता है; और न कोई दूसराभी कह सकेगा, कि मूल परब्रह्म-रूपमें ऐसा गुण या ऐसी शक्ति भरीही नहीं होगी, कि जो मनुष्यके लिये अतर्क्य है, बल्कि यह तो पहलेही बतला दिया है, कि वेदान्ती लोगभी इंद्रियोंके उक्त अज्ञान अथवा मायाको उसी मूल परब्रह्मकी एक अतर्क्य शक्ति कहा करते हैं ।

त्रिगुणात्मक माया अथवा प्रकृति कोई दूसरी स्वतंत्र वस्तु नहीं है, किंतु एकरूप निर्गुण ब्रह्मपरही मनुष्यकी इंद्रियाँ अज्ञानसे सगुण दृश्योंका अध्यारोप किया करती हैं । इसी मतको 'विवर्तवाद' कहते हैं । अद्वैत वेदान्तके अनुसार यह उपपत्ति इस बातकी हुई, कि जब निर्गुण ब्रह्म एकमात्रही मूलतत्त्व है, तब नाना प्रकारका सगुण जगत् पहले दिखाई कैसे देने लगा ? कणादप्रणीत न्यायशास्त्रमें असंख्य परमाणु जगतके मूलकारण माने गये हैं; और नैयायिक इन परमाणुओंको सत्य मानते हैं ।

इसलिये उन्होंने निश्चय किया है, कि जहाँ इन असंख्य परमाणुओंका संयोग होने लगा, वहाँ सृष्टिके अनेक पदार्थ बनने लगते हैं। परमाणुओंके संयोगका आरंभ होनेपर, इस मतसे सृष्टिका निर्माण होता है। इसलिये इसको 'आरंभवाद' कहते हैं। परंतु नैयायिकोंके असंख्य परमाणुओंके मतको सांख्यमार्गवाले नहीं मानते। वे कहते हैं, कि जड़ सृष्टिका मूल कारण "एकरूप, सत्य और त्रिगुणात्मक प्रकृतिही" है। एवं इस त्रिगुणात्मक प्रकृतिके गुणोंके विकाससे अथवा परिणामसे व्यक्त सृष्टि बनती है। इस मतको 'गुणपरिणामवाद' कहते हैं। क्योंकि इसमें यह प्रतिपादन किया जाता है, कि एक मूल सगुण प्रकृतिके गुणविकाससेही सारी व्यक्त सृष्टि पैदा हुई है। किंतु इन दोनों वादोंको अद्वैती वेदान्ती स्वीकार नहीं करते। परमाणु असंख्य हैं; इसलिये अद्वैत मतके अनुसार वे जगतका मूल हो नहीं सकते; और रह गई प्रकृति। सो यद्यपि वह एक हो, तोभी उसके पुरुषसे भिन्न और स्वतंत्र होनेके कारण अद्वैत सिद्धान्तके यह द्वैतभी विरुद्ध है। परंतु इस प्रकार इन दोनों वादोंको त्याग देनेसे इस बातकी कोई न कोई उपपत्ति देनी होगी, कि एक निर्गुण ब्रह्मसे सगुण सृष्टि कैसे उपजी है। क्योंकि, सत्कार्यवादके अनुसार निर्गुणसे सगुण उत्पन्न हो नहीं सकता। इसपर वेदान्ती कहते हैं, कि सत्कार्यवादके इस सिद्धान्तका उपयोग वहीं होता है, जहाँ कार्य और कारण दोनों वस्तुएँ सत्य हों, परंतु जहाँ मूल वस्तु एकही है, और जहाँ उसके भिन्न भिन्न दृश्यभी पलटते हैं, वहाँ इस न्यायका उपयोग नहीं होता। क्योंकि हम सदैव देखते हैं, कि एकही वस्तुके भिन्न भिन्न दृश्योंका दीख पड़ना उस वस्तुका धर्म नहीं है; किंतु द्रष्टा – देखनेवाले पुरुषके – दृष्टिभेदके कारण ये भिन्न भिन्न दृश्य उत्पन्न हो सकते हैं।* इसी न्यायका उपयोग निर्गुण ब्रह्म और सगुण जगतके लिये करनेपर कहेंगे, कि ब्रह्म तो निर्गुण है; पर मनुष्यके इंद्रियधर्मके कारण उसीमें सगुणत्वकी झलक उत्पन्न हो जाती है। यह विवर्तवाद है। विवर्तवादमें यह मानते हैं, कि एकही मूल सत्य द्रव्यपर अनेक असत्य अर्थात् सदा बदलते रहनेवाले दृश्योंका अध्यारोप होता है; और गुणपरिणामवादमें पहलेसेही दो सत्य द्रव्य मान लिये जाते हैं, जिनमेंसे एकके गुणोंका विकास होकर जगतकी नाना गुणयुक्त अन्यान्य वस्तुएँ उपजती रहती हैं। रस्सीमें सर्पका भास होना विवर्त है; और नारियलकी रेशोंसे रस्सी बन जाना अथवा दूधसे दही वन जाना गुणपरिणाम है। इसी कारण 'वेदान्त-सार' नामक ग्रंथकी एक आवृत्तिमें इन दोनों वादोंके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं :–

---

* अंग्रेजीमें इसी अर्थको व्यक्त करना हो, तो यों कहेंगे :– "appearances are the results of subjective conditions, *viz*. the senses of the observer and not of the thing itself."

यस्तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणाम उदीरितः ।
अतात्त्विकोऽन्यथभावो विवर्तःस उदोरितः ।।

" किसी मूल वस्तुसे जब तात्त्विक अर्थात् सचमुचही दूसरे प्रकारकी वस्तु बनती है, तब उसको (गुण) परिणाम कहते हैं। और जब ऐसा न होकर मूलवस्तुही कुछ-की-कुछ (अतात्त्विक) भासने लगती है, तब उसे विवर्त कहते हैं " (वे. सा. २१) । आरंभवाद नैयायिकोंका है, गुणपरिणामवाद सांख्योंका है और विवर्तवाद अद्वैती वेदान्तियोंका है। अद्वैती वेदान्ती परमाणु या प्रकृति इन दोनों सगुण वस्तुओंको निर्गुण ब्रह्मसे भिन्न और स्वतंत्र नहीं मानते, परंतु फिर यह आक्षेप होता है, कि सत्कार्य-वादके अनुसार निर्गुणसे सगुणकी उत्पत्ति होना असंभव है। इस आक्षेपको दूर करनेके लियेही ही विवर्तवाद निकला है। परंतु इसीसे कुछ लोग जो यह समझ बैठे हैं, कि वेदान्ती लोग गुणपरिणामवादका कभी स्वीकार नहीं करते हैं; अथवा आगे कभी न करेंगे, वह उनकी भूल है। अद्वैत मतपर सांख्यमतवालोंका अथवा अन्यान्य द्वैतमत-वालोंकाभी जो यह मुख्य आक्षेप रहता है, कि निर्गुण ब्रह्मसे सगुण प्रकृतिका अर्थात् मायाका उद्गम होही नहीं सकता; सो वह आक्षेप कुछ अपरिहार्य नहीं है। विवर्त-वादका मुख्य उद्देश्य इतनाही दिखला देना है, कि एकही निर्गुण ब्रह्ममें मायाके अनेक दृश्योंका हमारी इंद्रियोंको दीख पड़ना संभव है। वह उद्देश्य सफल हो जानेपर – अर्थात् जहाँ विवर्तवादसे यह सिद्ध हुआ, कि एक निर्गुण परब्रह्ममेंही त्रिगुणात्मक सगुण प्रकृतिके दृश्यका दीख पड़ना शक्य है; वहाँ – वेदान्तशास्त्रको यह स्वीकार करनेमें कोईभी हानि नहीं, कि इस प्रकृतिका अगला विस्तार गुणपरिणामसे हुआ है। अद्वैत वेदान्तका मुख्य कथन यही है, कि स्वयं मूल प्रकृति एक दृश्य है – सत्य नहीं है। जहाँ प्रकृतिका दृश्य एक बार दिखाई देने लगा, वहाँ फिर इन दृश्योंसे आगे चल-कर निकलनेवाले दूसरे दृश्योंको स्वतंत्र न मानकर, अद्वैत वेदान्तको यह मान लेनेमें कुछभी आपत्ति नहीं है कि एक दृश्यके गुणोंसे दूसरे दृश्यके गुण और दूसरेसे तीसरे आदिके इस प्रकार नानागुणात्मक दृश्य उत्पन्न होते हैं। अतएव यद्यपि गीतामें भगवाननें बतलाया है, कि " यह प्रकृति मेरीही माया है " (गीता ७. १४; ४. ६), फिरभी गीतामेंही यह कह दिया है, कि ईश्वरके द्वारा अधिष्ठित (गीता ९. १०) इस प्रकृतिका अगला विस्तार " गुणा गुणेषु वर्तन्ते " (गीता ३. २८; १४. २३) इस न्यायसेही होता रहता है। इससे ज्ञात होता है, कि विवर्तवादके अनुसार मूल निर्गुण परब्रह्ममें एक बार मायाका दृश्य उत्पन्न हो चुकनेपर इस मायिक दृश्यकी अर्थात् प्रकृतिके अगले विस्तारकी – उपपत्तिके लिये गुणोत्कर्षका तत्त्व गीताकोभी मान्य हो चुका है। जब समूचे दृश्य जगतकोही एक बार मायात्मक दृश्य कह दिया, तव यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, कि इन दृश्योंके अन्याय रूपोंके लिये गुणो-त्कर्षके जैसे कुछ नियम होनेही नहीं चाहिये। वेदान्तियोंको यह अस्वीकार नहीं है, कि मायात्मक दृश्यका विस्तारभी नियमबद्धही रहता है। उनका तो इतनाही कहना

है, कि मूल प्रकृतिके समान ये नियमभी मायिकही हैं; और परमेश्वर इन सब मायिक नियमोंका अधिपति है। वह इनसे परे है; और उसकी सत्तासेही इन नियमोंको नियमत्व अर्थात् नित्यता प्राप्त हो गई है। दृश्यरूपी सगुण अतएव विनाशी प्रकृतिमें ऐसे नियम बना देनेकी सामर्थ्य नहीं रह सकती, कि जो त्रिकालमेंभी अबाधित रहें।

यहाँतक जो विवेचन किया गया है, उससे ज्ञात होगा, कि जगत्, जीव और परमेश्वर – अथवा अध्यात्मशास्त्रकी परिभाषाके अनुसार माया (अर्थात् मायासे उत्पन्न किया हुआ जगत्), आत्मा और परब्रह्मका स्वरूप क्या है? एवं इनका परस्पर-संबंध क्या है? अध्यात्मदृष्टिसे जगत्की सभी वस्तुओंके दो वर्ग होते हैं, 'नामरूप' और नामरूपोंसे आच्छादित 'नित्य तत्त्व'। इनमेंसे नामरूपोंकोही सगुण माया अथवा प्रकृति कहते हैं। परंतु नामरूपोंको निकाल डालनेपर जो 'नित्य द्रव्य' बच रहता है, वह निर्गुणही रहना चाहिये। क्योंकि कोईभी गुण बिना नामरूपोंके रह नहीं सकता। यह नित्य और अव्यक्त तत्त्वही परब्रह्म है; और मनुष्यकी दुर्बल इंद्रियोंको इस निर्गुण परब्रह्ममेंही सगुण माया उपजी हुई दीख पड़ती है। यह माया सत्य पदार्थ नहीं है। परब्रह्मही सत्य अर्थात् त्रिकालमेंभी अबाधित और कभीभी न पलटनेवाली वस्तु है। दृश्य सृष्टिके नामरूप और उनसे आच्छादित परब्रह्मके स्वरूपसंबंधी ये सिद्धान्त हुए; अब इसी न्यायसे मनुष्यका विचार करें, तो सिद्ध होता है, कि मनुष्यकी देह और इंद्रियाँ दृश्य सृष्टिके अन्यान्य पदार्थोंके समान नामरूपात्मक अर्थात् अनित्य मायाके वर्गकी हैं; और इन देहेंद्रियोंसे ढँका हुआ आत्मा नित्यस्वरूपी परब्रह्मकी श्रेणीका है; अथवा ब्रह्म और आत्मा एकही हैं। इस अर्थसे बाह्य सृष्टिको स्वतंत्र, सत्य पदार्थ न माननेवाले अद्वैत-सिद्धान्तका और बौद्ध-सिद्धान्तका भेद अब पाठकोंके ध्यानमें आही गया होगा। विज्ञानवादी बौद्ध मानते हैं, कि बाह्यसृष्टिही नहीं है। वे ज्ञानमात्रकोही सत्य मानते हैं। और वेदान्तशास्त्री बाह्य सृष्टिके नित्य बदलते रहनेवाले नामरूपकोही असत्य मानकर यह सिद्धान्त करते हैं, कि इस नामरूपके मूलमें और मनुष्यकी देहमें – दोनोंमें – एकही आत्मरूपी, नित्य द्रव्य भरा हुआ है। एवं यह एकरूप आत्मतत्त्वही अंतिम सत्य है। सांख्यमतवालोंने 'अविभक्तं विभक्तेषु'के न्यायसे सृष्ट पदार्थोंकी अनेकताके एकीकरणको जड़ प्रकृति भरके लियेही स्वीकार कर लिया है। परंतु वेदान्तियोंने सत्कार्यवादकी बाधाको दूर करके निश्चय किया है, कि जो "पिंडमें है वही ब्रह्मांडमें है।" इस कारण अब सांख्योंके असंख्य पुरुषोंका और प्रकृतिका एकही परमात्मामें अद्वैतसे या अविभागसे समावेश हो गया है। शुद्ध आधिभौतिक पंडित हेकेल अद्वैती है सही; पर वह अकेली जड़ प्रकृतिमेंही चैतन्यकाभी संग्रह करता है। और वेदान्त, जड़को प्रधानता न देकर यह सिद्धान्त स्थिर करता है, कि दिक्कालोंसे अमर्यादित, अमृत, और स्वतंत्र चिद्रूपी परब्रह्मही सारी सृष्टिका मूल है। हेकेलके जड़ अद्वैतमें और अध्यात्मशास्त्रके अद्वैतमें यह अत्यंत

महत्त्वपूर्ण भेद है। अद्वैत वेदान्तके येही सिद्धान्त गीतामें है; और एक पुराने कविने समग्र अद्वैत वेदान्तके सारका वर्णन यों किया है :–

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभि : ।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।।

"करोड़ों ग्रंथोंका सार आधे श्लोकमें बतलाता हूँ :– (१) ब्रह्म सत्य है, (२) जगत् अर्थात् जगतके सभी नामरूप मिथ्या अथवा नाशवान् हैं; और (३) मनुष्यका आत्मा एवं ब्रह्म मूलमें एकही हैं – दो नहीं।" इस श्लोकका 'मिथ्या' शब्द यदि किसीके कानोमें चुभता हो, तो वह बृहदारण्यक उपनिषदके अनुसार इसके तीसरे चरण – "ब्रह्मामृतं जगत्सत्यं"का – पाठांतर खुशीसे करलें; परंतु पहलेही बतला चुके हैं, कि इससे भावार्थ नहीं बदलता है। फिरभी कुछ वेदान्ती इस बातको लेकर निरर्थक झगड़ते रहते हैं, कि समूचे दृश्य जगत्के अदृश्य किंतु नित्य परब्रह्मरूपी मूल तत्त्वको सत् (सत्य) कहें या असत् (असत्य-अनृत)। अतएव इसका यहाँ थोड़ा-सा स्पष्टीकरण किये देते हैं; कि इस विवादका सच्चा बीज (जड़) क्या है। सत् या सत्य इस एकही शब्दके दो भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं, इसी कारण यह झगड़ा मचा हुआ है। और यदि ध्यानसे देखा जावे, कि प्रत्येक पुरुष इस 'सत्' शब्दका किस अर्थमें उपयोग करता है, तो कुछभी गड़बड़ नहीं रह जाती। क्योंकि यह भेद तो सभीको एक-सा मंजूर है, कि ब्रह्म अदृश्य होने परभी नित्य है; और नामरूपात्मक जगत् दृश्य होनेपरभी पल-पलमें बदलनेवाला है। इस सत् या सत्य शब्दका व्यावहारिक अर्थ है :– (१) आँखोंके आगे अभी प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाला – अर्थात् व्यक्त (फिर कल उसका दृश्य स्वरूप चाहे बदले, चाहे न बदले); और दूसरा अर्थ है :– (२) वह अव्यक्त स्वरूप, जो आँखोंसे भलेही न दीख पड़े पर जो सदैव एक-सा रहता है। और जो कभी बदलता नहीं है। इनमेंसे पहला अर्थ जिनको संमत है, वे आँखोंसे दिखाई देनेवाले नामरूपात्मक जगतको सत्य कहते हैं; और परब्रह्मको इसके विरुद्ध अर्थमें अर्थात् आँखोंसे न दीख पड़नेवाला अतएव असत् अथवा असत्य कहते हैं। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय उपनिषदमें दृश्य सृष्टिके लिये 'सत्' और जो दृश्य सृष्टिसे परे है, उसके लिये 'त्यत्' (अर्थात् जो कि परे है) अथवा 'अनृत' (आँखोंको न दीख पड़नेवाला) शब्दोंका उपयोग करके ब्रह्मका वर्णन इस प्रकार किया है, कि जो कुछ मूलमें या आरंभमें था, वही द्रव्य "सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च।" (तै. २. ६) – सत् (आँखोंसे दीख पड़नेवाला) और त्यत् (जो परे है), वाच्य और अनिर्वाच्य साधार और निराधार; ज्ञात और अविज्ञात (अज्ञेय), सत्य और अनृत – इस प्रकार द्विधा बना हुआ है। परंतु इस प्रकार ब्रह्मको 'अनृत' कहनेसे अनृतका अर्थ झूठ या असत्य नहीं होता है, क्योंकि

आगे चलकर तैत्तिरीय उपनिषदमें ही कहा है, कि "यह अनृत, ब्रह्म जगतकी 'प्रतिष्ठा' अथवा आधार है। इसे और दूसरे आधारकी अपेक्षा नहीं है। एवं जिसने इसको जान लिया, वह अभय हो गया" इस वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है, कि शब्दभेदके कारण भावार्थमें कुछ अंतर नहीं होता है। ऐसेही अंतमें कहा है, कि "असद्वा इदमग्र आसीत्" – यह सारा जगत् पहले असत् (ब्रह्म) था; और ऋग्वेदके (१०. १२९. ४) वर्णनके अनुसार आगे चलकर उसीसे सत् यानी नामरूपात्मक व्यक्त जगत् निकला है (तै. २. ७)। इससेभी स्पष्ट हो जाता है, कि यहाँ पर 'असत्' शब्दका प्रयोग "अव्यक्त अर्थात् आँखोंसे न दीख पड़नेवाले"के अर्थमेंही हुआ है; और वेदान्तसूत्रोंमें (वे. सू. २. १. १७) में बादरायणाचार्यने उक्त वचनोंका ऐसाही अर्थ किया है। किंतु जिन लोगोंको 'सत्' अथवा 'सत्य' शब्दका यह अर्थ – आँखोंसे न दीख पड़नेपरभी सदैव स्थिर रहनेवाला अथवा टिकाऊ – (ऊपर बतलाये हुए अर्थोंमेंसे दूसरा अर्थ) संमत है, वे उस अदृश्य परब्रह्मकोही सत् या सत्य कहते हैं, कि जो कभी नहीं बदलता; और नामरूपात्मक मायाको असत् यानी असत्य अर्थात् विनाशी कहते हैं। उदाहरणार्थ, छांदोग्यमें वर्णन किया गया है, कि "सदेव सौम्येदमग्र आसीत् कथमसतः सज्जायेत" – पहले यह सारा जगत् सत् (ब्रह्म) था, जो असत् है यानी हैही नहीं, उससे सत् यानी जो विद्यमान् है – मौजूद है – कैसे उत्पन्न होगा (छां. ६. २. १, २)। फिरभी छांदोग्य उपनिषदमेंही इस परब्रह्मके लिये एक स्थानपर अव्यक्तके अर्थमें 'असत्' शब्द प्रयुक्त हुआ है (छां. ३. १९. १)।* एकही परब्रह्मको भिन्न भिन्न समयों और अर्थोंमें एक वार 'सत्', तो एक वार 'असत्'; यों परस्पर-विरुद्ध नाम देनेकी यह गड़बड़ – अर्थात् वाच्य अर्थके एकही होनेपरभी निरा शब्दवाद मचवानेमें सहायक – प्रणाली आगे चलकर रुक गई। और अंतमें इतनीही एक परिभाषा स्थिर हो गई है, कि ब्रह्म सत् या सत्य यानी सदैव स्थिर रहनेवाला है; और दृश्य सृष्टि असत् अर्थात् नाशवान् है। भगवद्गीतामें यही अंतिम परिभाषा मानी गई है; और इसीके अनुसार दूसरे अध्यायमें (गीता २. १६–१८) कह दिया है, कि परब्रह्म सत् और अविनाशी है। एवं नामरूप असत् अर्थात् नाशवान् हैं; और वेदान्तसूत्रोंकाभी ऐसाही मत है। फिरभी दृश्य सृष्टिको 'सत्' कहकर परब्रह्मको 'असत्' या 'त्यत्' (वह = परेका) कहनेकी तैत्तिरीयोपनिषदवाली उस पुरानी परिभाषाका नामोनिशाँ अबभी बिलकुल जाता नहीं रहा है। पुरानी परिभाषासे इतना भली भाँति

---

* अध्यात्मशास्त्रवाले अंग्रेज ग्रंथकारोंमेंभी इस विषयमें मतभेद है, कि (real) अर्थात् सत् शब्द जगत्के दृश्य (माया)के लिये उपयुक्त हो; अथवा वस्तुतत्त्व (ब्रह्म)के लिये। कांट दृश्यको सत् (real) समझकर वस्तुतत्त्वको अविनाशी मानता है; पर हेकेल और ग्रीनप्रभृति दृश्यको असत् (unreal) समझकर वस्तुतत्त्वको सत् (real) कहते हैं।

स्पष्टीकरण हो जाता है, कि गीताके "ॐ तत् सत्" ब्रह्मनिर्देशका (गीता १७. २३) मूल अर्थ क्या रहा होगा। यह 'ॐ' गुढाक्षररूपी वैदिक मंत्र है। उपनिषदोंमें इसका अनेक रीतियोंसे व्याख्यान किया गया है (प्र. ५; मां. ८–१२; छां. १. १)। 'तत्' यानी वह अथवा दृश्य सृष्टिसे परे, दूर स्थिर रहनेवाला, अनिर्वाच्य तत्त्व है; और 'सत्'का अर्थ है आँखोंके सामनेवाली दृश्य सृष्टि। इस संकल्पका अर्थ यह है कि ये तीनों मिलकर सब ब्रह्मही है। और इसी अर्थमें भगवानने गीतामें कहा है, कि 'सदसच्चाहमर्जुन' (गीता ९. १९) – सत् यानी परब्रह्म और असत् अर्थात् दृश्य सृष्टि, दोनों मैंही हूँ। तथापि जब कि गीतामें कर्मयोगही प्रतिपाद्य है, तब सत्रहवें अध्यायके अंतमें प्रतिपादन किया है, कि निम्न अर्थके इस ब्रह्मनिर्देशसेभी कर्मयोगका पूर्ण समर्थन होता है। 'ॐ तत्सत्'के 'सत्' शब्दका अर्थ लौकिक दृष्टिसे भला अर्थात् सद्बुद्धिसे किया हुआ अथवा वह कर्म है, कि जिसका अच्छा फल मिलता है; और तत्का अर्थ है इसके परेका या फलाशा छोड़कर किया हुआ कर्म है। संकल्पमें जिसे 'सत्' कहा है, वह दृश्य सृष्टि यानी कर्मही हैं (अगला प्रकरण देखो)। अतः इस ब्रह्मनिर्देशका यह कर्मप्रधान अर्थ मूल अर्थसे सहजही निष्पन्न होता है। ॐ तत्सत्, नेति नेति, सच्चिदानंद और 'सत्यस्य सत्यं'के अतिरिक्त औरभी कुछ ब्रह्मनिर्देश उपनिषदोंमें हैं; परंतु उनको यहाँ इसलिये नहीं बतलाया, क्योंकि गीताका अर्थ समझनेमें उनका उपयोग नहीं हैं।

जगत्, जीव और परमेश्वरके (परमात्मा) परस्पर संबंधका इस प्रकार निर्णय हो जानेपर गीतामें भगवान्‌ने जो कहा है, कि "जीव मेराही 'अंश' है" (गीता १५. ७) और "मैंही एक 'अंश'से सारे जगतमें व्याप्त हूँ" (गीता १०. ४२) – एवं बादरायणाचार्यनेभी वेदान्तसूत्रोंमें (वे. सू. २. ३. ४३; ४. ४. १९)में यही बात कही है – अथवा पुरुषसूक्तमें जो "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" यह वर्णन है, उसके 'पाद' या 'अंश' शब्दके अर्थका निर्णयभी सहजही हो जाता है। परमेश्वर या परमात्मा यद्यपि सर्वव्यापी है, तथापि वह निरवयव एकरूप और नामरूपरहित है। अतएव उसे काट नहीं सकते (अच्छेद्य); और उसमें विकारभी नहीं होता (अविकार्य); और इसलिये उसके अलग अलग विभाग या टुकड़े नहीं हो सकते (गीता २. २५)। अतएव चारों ओर ठसाठस भरे हुए इस एकरूप परब्रह्मका और मनुष्यके शरीरमें निवास करनेवाले आत्माका भेद बतलानेके लिये यद्यपि व्यवहारमें ऐसा कहना पड़ता है, कि "शारीर आत्मा" परब्रह्मका ही 'अंश' है; तथापि 'अंश' या 'भाग' शब्दका अर्थ "काटकर अलग किया हुआ टुकड़ा" या "अनारके अनेक दानोंमेंसे एक दाना" नहीं है; किंतु तात्त्विक दृष्टिसे उसका अर्थ यह समझना चाहिये, कि जैसे घरके भीतरका आकाश या घड़े का आकाश (मठाकाश या घटाकाश) एकही सर्वव्यापी आकाशका 'अंश'

या भाग है उसी प्रकार ' शारीर आत्मा 'भी परब्रह्मका अंश है (अमृतबिंदूपनिषद् १३)। सांख्यवादियोंकी प्रकृति और हेकेलके जड़ाद्वैतका जड़ाद्वैतमें माना गया एक-रूप वस्तुतत्त्व, येभी इसी प्रकार सत्य निर्गुण परमेश्वरकेही सगुण अर्थात् मर्यादित अंश हैं। अधिक क्या कहें ? आधिभौतिक शास्त्रकी प्रणालीसे तो यही मालूम होता है, कि जो जो व्यक्त या अव्यक्त मूल तत्त्व हो (फिर चाहे वह आकाशवत् कितनाभी व्यापक हो), वह सब स्थल और कालसे बद्ध, केवल नामरूप अतएव मर्यादित और नाशवान् है। यह बात सच है, कि उन तत्त्वोंकी व्यापकता भरके लिये उतनाही परब्रह्म उनसे आच्छादित है। परंतु परब्रह्म उन तत्त्वोंसे मर्यादित न होकर उन सबमें ओतप्रोत भरा हुआ है; और इसके अतिरिक्त न जाने वह और बाहर कितना बचा है, कि जिसका कुछ पता नहीं। परमेश्वरकी व्यापकता दृश्य सृष्टिके बाहर कितनी है, यह बतलानेके लिये यद्यपि 'त्रिपाद' शब्दका उपयोग पुरुषसूक्तमें किया गया है, तथापि उसका अर्थ 'अनंत'ही इष्ट है। वस्तुतः देखा जाय, तो देश और काल, माप और तोल या संख्या इत्यादि सब नामरूपकेही प्रकार हैं; और यह बतला चुके हैं, कि परब्रह्म इन सब नामरूपोंके परे है। इसीलिये उपनिषदोंमें ब्रह्मस्वरूपके ऐसे वर्णन पाये जाते हैं, कि जिस नामरूपात्मक 'काल'से सब कुछ ग्रसित है, उस 'काल'कोभी ग्रसनेवाला या पचा जानेवाला जो तत्त्व है वही परब्रह्म है (मै. ६१५)। और " न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः " – परमेश्वरको प्रकाशित करने सूर्य, चंद्र, अग्नि इत्यादिकोंके समान कोई प्रकाशक साधन नहीं है; किंतु वह स्वयं प्रकाशित है – इत्यादि जो वर्णन उपनिषदोंमें और गीतामें हैं, उनकाभी अर्थ यही है (गीता १५. ६; कठ. ५. १५; श्वे. ६. १४)। सूर्य-चंद्र-तारागण, सभी नामरूपात्मक विनाशी पदार्थ हैं। जिसे " ज्योतिषां ज्योतिः " (गीता १३. १७; बृह. ४. ४. १६) – तेजोंका तेज – कहते हैं, वह स्वयं-प्रकाश और ज्ञानमय ब्रह्म इन सबके परे अनंत भरा हुआ है। उसे दूसरे प्रकाशक पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं है; और उपनिषदोंमें तो स्पष्ट कहा है, कि सूर्य-चंद्र आदिको जो प्रकाश प्राप्त है, वहभी उसी स्वयंप्रकाश ब्रह्मसेही मिलता है (मुं. २. २. १०)। आधिभौतिक शास्त्रोंकी युक्तियोंसे इंद्रियगोचर होनेवाला अति सूक्ष्म या अत्यंत दूरका कोई पदार्थ लीजिये – ये सब पदार्थ दिक्काल आदि नियमोंकी क़ैदमें बँधे हैं। अतएव उनका समावेश नामरूपात्मक 'जगत'हीमें होता है। सच्चा परमेश्वर उन सब पदार्थोंमें रह करभी उनसे निराला और उनसे कहीं अधिक व्यापक, एकरूप तथा नामरूपोंके जालसे स्वतंत्र है। अतएव केवल नामरूपोंकाही विचार करनेवाले आधिभौतिक शास्त्रोंकी युक्तियाँ या साधन वर्तमान दशासे चाहे सौगुने अधिक सूक्ष्म अथवा प्रगल्भ हो जावें; तथापि सृष्टिके मूल ' अमृत तत्त्व '-का उनसे पता लगना संभव नहीं। उस अविनाशी, अविकार्य और अमृत तत्त्वको केवल अध्यात्मशास्त्रके ज्ञानमार्गसेही ढूँढ़ना चाहिये।

यहाँ तक अध्यात्मशास्त्रके जो मुख्य मुख्य सिद्धान्त बतलाये गये और शास्त्रीय रीतिसे उनकी जो संक्षिप्त उपपत्ति बतलाई गई, उनसे इन बातोंका स्पष्टीकरण हो जायगा, कि परमेश्वरके सारे नामरूपात्मक व्यक्त स्वरूप केवल मायिक और और अनित्य हैं; तथा उनकी अपेक्षा अव्यक्त स्वरूप श्रेष्ठ क्यों है। उसमेंभी जो निर्गुण अर्थात् नामरूपरहित है, वही सबसे श्रेष्ठ क्यों है। और गीतामें यह क्यों बतलाया गया है, कि अज्ञानसे निर्गुणही सगुण-सा मालूम होता है। परंतु इन सिद्धान्तोंको केवल शब्दोंमें ग्रथित करनेका कार्य कोईभी मनुष्य कर सकेगा, जिसे सुदैवसे हमारे समान चार अक्षरोंका कुछ ज्ञान हो गया है – इसमें कुछ विशेषता हीं है। विशेषता तो इस बातकी है, कि ये सारे सिद्धान्त बुद्धिमें आ जावें, मनमें प्रतिबिंबित हो जावें, हृदयमें जम जावें; और नस-नसमें समा जावें। इतना होनेपर परमेश्वरके स्वरूपकी इस प्रकार पूरी पहचान हो जावे कि एकही परब्रह्म सब प्राणियोंमें व्याप्त है; और उसी भावसे संकटके समयभी सबके साथ पूरी समतासे बर्ताव करनेका अचल स्वभाव हो जावे। परंतु इसके लिये अनेक पीढ़ियोंके संस्कारोंकी, इंद्रियनिग्रहकी, दीर्घोद्योगकी, तथा ध्यान और उपासनाकी सहायतासे 'सर्वत्र एकही आत्मा'का भाव जब किसी मनुष्यके संकट समयमेंभी उसके प्रत्येक कार्यमें स्वाभाविक रीतिसे स्पष्ट गोचर होने लगता है, तभी समझना चाहिये, कि उसका ब्रह्मज्ञान यथार्थमें परिपक्व हो गया है; और ऐसेही मनुष्यको मोक्ष प्राप्त होता है (गीता ५. १८–२०; ६. २१, २२) – यही अध्यात्मशास्त्रके उपर्युक्त सारे सिद्धान्तोंका सारभूत और शिरोमणिभूत अंतिम सिद्धान्त है। ऐसा आचरण जिस पुरुषमें दिखाई न दे, उसे कच्चा समझना चाहिये – अभी वह ब्रह्मज्ञानाग्निमें पूरा पक नहीं पाया है। सच्चे साधु और निरे वेदान्तशास्त्रियोंमें जो भेद है, वह यही है। और इसी अभिप्रायसे भगवद्गीतामें ज्ञानका लक्षण बतलाते समय यह नहीं कहा, कि "बाह्य सृष्टिके मूलतत्त्वको केवल बुद्धिसे जान लेना" ज्ञान है। किंतु यह कहा है, कि सच्चा ज्ञान वही है, जिससे "अमानित्व, शांति, आत्मनिग्रह, समबुद्धि" इत्यादि उदात्त मनोवृत्तियाँ जागृत हो जावें; और जिससे चित्तकी पूरी शुद्धता आचरणमें सदैव व्यक्त हो जावे (गीता १३. ७–११)। जिसकी व्यवसायात्मका बुद्धि ज्ञानसे आत्मनिष्ठ (अर्थात् आत्म-अनात्म विचारमें स्थिर) हो जाती है, और जिसके मनको सर्वभूतात्मैक्यका पूरा परिचय हो जाता है, उस पुरुषकी वासनात्मक बुद्धिभी निस्संदेह शुद्धही होती है। परंतु यह समझनेके लिये कि किसकी बुद्धि कैसी है, उसके आचरणके सिवा दूसरा बाहरी साधन नहीं है। अतएव केवल पुस्तकोंसे प्राप्त कोरे ज्ञानप्रसारके आधुनिक कालमें इस बातपर विशेष ध्यान रहे, कि 'ज्ञान' या 'समबुद्धि' शब्दमेंही शुद्ध (व्यवसायात्मका) बुद्धि, शुद्ध वासना (वासनात्मक बुद्धि) और शुद्ध आचरण, इन तीनों शुद्ध बातोंका समावेश किया जाता है। ब्रह्मके विषयमें कोरा वाक्पांड़ित्य दिखलानेवाले और

उसे सुन कर 'वाह!' 'वाह!' कहते हुए सिर हिलानेवाले या किसी नाटकके दर्शकोंके समान "एक बार फिरसे – वन्स मोर" कहनेवाले बहुतेरे होंगे (गीता २. २९; क. २. ७)। परंतु जैसा कि ऊपर कह आये हैं – जो मनुष्य अंतर्बाह्य शुद्ध अर्थात् साम्यशील हो गया हो – वही सच्चा आत्मनिष्ठ है; और उसीको मुक्ति मिलती है; न कि कोरे पंडितको – चाहे वह कितनाही बहुश्रुत और बुद्धिमान् क्यों न हो? उपनिषदोंमें स्पष्ट कहा है, कि "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" (क. २. २२; मुं. ३. २. ३)। और इसी प्रकार तुकाराम महाराजभी कहते हैं – "यदि तू पंडित होगा, तो तू पुराण-कथा कहेगा; परंतु तू यह नहीं जान सकता, कि, "मैं कौन हूँ" (तु. गा. २५९९)। देखिये हमारा ज्ञान कितना संकुचित है। "मुक्ति मिलती है" – ये शब्द सहजही हमारे मुखसे निकल पड़ते हैं। मानो यह मुक्ति आत्मासे कोई भिन्न वस्तु है! ब्रह्म और आत्मा एक है – यह ज्ञान होनेके पहले द्रष्टा और दृश्य जगत्‌में भेद था सही; परंतु हमारे अध्यात्मशास्त्रने निश्चित करके रखा है, कि जब ब्रह्मात्मैक्यका पूरा ज्ञान हो जाता है, तब आत्मा ब्रह्ममें मिल जाता है और ब्रह्मज्ञानी पुरुष आपही ब्रह्मरूप हो जाता है। इस आध्यात्मिक अवस्थाकोही 'ब्रह्मनिर्वाण' मोक्ष कहते हैं। यह ब्रह्मनिर्वाण किसीसे किसीको दिया नहीं जाता। यह किसी दूसरे स्थानसे आता नहीं या इसकी प्राप्तिके लिये किसी अन्य लोकमें जानेकीभी आवश्यकता नहीं। पूर्ण आत्मज्ञान जब और जहाँ होगा, उसी क्षण और उसी स्थानपर मोक्ष धरा हुआ है। क्योंकि मोक्ष तो आत्माहीकी मूल शुद्धावस्था है। वह कुछ निराली स्वतंत्र वस्तु या स्थल नहीं। शिवगीता (१३. ३२) में यह श्लोक है :–

> मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।
> अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ॥

अर्थात् "मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं, कि जो किसी एक स्थानमें रखी हो; अथवा यहभी नहीं, कि उसकी प्राप्तिके लिये किसी दूसरे गाँव या प्रदेशको जाना पड़े! वास्तवमें हृदयकी अज्ञानग्रंथिका नाश हो जानेकोही मोक्ष कहते हैं।" इसी प्रकार अध्यात्मशास्त्रसे निष्पन्न होनेवाला यही अर्थ भगवद्‌गीताके "अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्" (गीता ५. २६) – जिन्हें पूर्ण आत्मज्ञान हुआ है, उन्हें ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष आप-ही-आप प्राप्त हो जाता है; तथा "यः सदा मुक्त एव सः" (गीता ५. २८) इस श्लोकमें वर्णित है; और "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" – जिसने ब्रह्म जाना, वह ब्रह्मही हो जाता है (मुं. ३. २. ९) – इत्यादि उपनिषद्वाक्योंमेंभी वही अर्थ वर्णित है। मनुष्यके आत्माकी ज्ञानदृष्टिसे जो यह पूर्णावस्था होती है, उसीको 'ब्रह्मभूत' (गीता १८. ५४) या 'ब्राह्मी स्थिति' कहते हैं (गीता २. ७२) और स्थितप्रज्ञ (गीता २. ५५–७२),

भक्तिमान्, (गीता १२. १३–२०), या त्रिगुणातीत (गीता १४. २२–२७) पुरुषोंके विषयमें भगवद्गीतामें जो वर्णन हैं, वेभी इसी अवस्थाके हैं। यह नहीं समझना चाहिये, कि जैसे सांख्यवादी 'त्रिगुणातीत' पदसे प्रकृति और पुरुष दोनोंको स्वतंत्र मानकर पुरुषके केवलपन या 'कैवल्य'को मोक्ष मानते हैं, वैसाही मोक्ष गीताकोभी संमत है। किंतु गीताका अभिप्राय है, कि अध्यात्मशास्त्रमें कही गई ब्राह्मी अवस्था – "अहं ब्रह्मास्मि" – मैंही ब्रह्म हूँ (बृ. १. ४. १०) – कभी भक्तिमार्गसे, तो कभी चित्तनिरोधरूप पातंजलयोगमार्गसे और कभी गुणागुण-विवेचनरूप सांख्यमार्गसेभी प्राप्त होती है। इन मार्गोंमेंसे अध्यात्मविचार केवल बुद्धिगम्य मार्ग है। इसलिये गीतामें कहा है, कि सामान्य मनुष्योंको परमेश्वर स्वरूपका ज्ञान होनेके लिये भक्तिही सुगम साधन है। इस साधनका विस्तारपूर्वक विचार हमने आगे चलकर तेरहवें प्रकरणमें किया है। साधन कुछभी हो; इतनी बात निर्विवाद है, कि ब्रह्मात्मैक्यका अर्थात् सच्चे परमेश्वरस्वरूपका ज्ञान होना, संसार सब प्राणियोंमें एकही आत्मा पहचानना और उसी भावके अनुसार बर्ताव करनाही अध्यात्मज्ञानकी परमावधि है; तथा यह अवस्था जिसे प्राप्त हो जाय, वही पुरुष धन्य तथा कृतकृत्य होता है। यह पहलेही बतला चुके हैं, कि केवल इंद्रियसुख पशुओं और मनुष्योंमें एकही समान होता है। इसलिये मनुष्यजन्मकी सार्थकता अथवा मनुष्यकी मनुष्यता ज्ञानप्राप्तिहीमें होती है। सब प्राणियोंके विषयमें काया-वाचा-मनसे सदैव ऐसीही साम्यबुद्धि रखकर अपने सब कर्मोंको करते रहनाही नित्यमुक्तावस्था, पूर्णयोग या सिद्धावस्था है। इस अवस्थाके जो वर्णन गीतामें हैं, उनमेंसे बारहवें अध्यायवाले भक्तिमान् पुरुषके वर्णनपर टीका करते हुए ज्ञानेश्वर* महाराजने अनेक दृष्टान्त देकर ब्रह्मभूत पुरुषकी साम्यावस्थाका अत्यंत मनोहर और चटकीला निरूपण किया है। और यह कहनेमें कोई हर्ज नहीं कि इस निरूपणमें गीताके चारों स्थानोंमें वर्णित ब्राह्मी अवस्थाका सार आ गया है; यथा :– "हे पार्थ! जिसके हृदयमें विषमताका नामतक नहीं है, जो शत्रु और मित्र दोनोंको समानही मानता है; अथवा हे पांडव! दीपकके समान जो इस बातका भेदभाव नहीं जानता, कि यह मेरा घर है, इसलिये यहाँ प्रकाश करूँ; और वह पराया घर है, इसलिये वहाँ अंधेरा करूँ। बीज बोनेवाले पर और पेड़ काटनेवालेपरभी वृक्ष जैसे समभावसे छाया करता है"; इत्यादि (ज्ञा. १२. १८)। इसी प्रकार "पृथ्वीके समान वह इस बातका भेद बिलकुल नहीं जानता, कि उत्तमको ग्रहण करना चाहिये और अधमका त्याग करना चाहिये।

---

* ज्ञानेश्वर महाराजके 'ज्ञानेश्वरी' ग्रंथका हिंदी अनुवाद श्रीयुत रघुनाथ माधव भगाडे, बी. ए., सबजज्ज, नागपूरने किया है; और वह ग्रंथ उन्हींसे मिल सकता है।

जैसे कृपालु प्राण इस बातको नहीं सोचता, कि राजाके शरीरको चलाऊँ और रंकके शरीरको गिराऊँ; जैसे जल यह भेद नहीं करता, कि गोकी तृषा बुझाऊँ और व्याघ्रके लिये विष बनकर उसका नाश करूँ, वैसेही सब प्राणियोंके विषयमें जिसकी एकसी मित्रता है, जो स्वयं कृपाकी मूर्ति है, और जो 'मैं' और 'मेरा'का व्यवहार नहीं जानता और जिसे सुखदुःखका भानभी नहीं होता" इत्यादि (ज्ञा. १२ १३)। अध्यात्मविद्यासे जो कुछ अंतमें प्राप्त करना है, वह यही है।

उपर्युक्त विवेचनसे विदित होगा, कि सारे मोक्षधर्मके मूलभूत अध्यात्मज्ञानकी परंपरा हमारे यहाँ उपनिषदोंसे लगाकर ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास, कबीर-दास, सूरदास, तुलसीदास इत्यादि आधुनिक साधु-पुरुषोंतक किस प्रकार अव्याहत चली आ रही है। परंतु उपनिषदोंकेभी पहले यानी अत्यंत प्राचीन कालमेंभी हमारे देशमें इस ज्ञानका प्रादुर्भाव हुआ था; और तबसे क्रमक्रमसे आगे उपनिषदोंके विचारोंकी उन्नति होती चली गई है। यह बात पाठकोंको भलीभाँति समझा देनेके लिये ऋग्वेदका एक प्रसिद्ध सूक्त भाषांतरसहित यहाँ अंतमें दिया गया है, जो उपनिषदान्तर्गत ब्रह्मविद्याका आधारस्तंभ है। सृष्टिके अगम्य मूलतत्त्व और उससे विविध दृश्य सृष्टिकी उत्पत्तिके विषयमें जैसे विचार इस सूक्तमें प्रदर्शित किये गये हैं, वैसे प्रगल्भ, स्वतंत्र और मूल तककी खोज करनेवाले तत्त्वज्ञानके मार्मिक विचार अन्य किसीभी धर्मके मूल ग्रंथमें दिखाई नहीं देते। इतनाही नहीं, किंतु ऐसे अध्यात्मविचारोंसे परिपूर्ण और इतना प्राचीन लेखभी अबतक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिये अनेक पश्चिमी पंडितोंने धार्मिक इतिहासकी दृष्टिसेभी इस सूक्तको अत्यंत महत्त्वपूर्ण जान कर आश्चर्यचकित हो अपनी अपनी भाषाओंमें इसका अनुवाद यह दिखलानेके लिये किया है, कि मनुष्यके मनकी प्रवृत्ति इस नाशवान् और नामरूपात्मक सृष्टिके परे नित्य और अचिंत्य ब्रह्मशक्तिकी ओर सहजही कैसे झुक जाया करती है। यह ऋग्वेदके दसवें मंडलका १२९ वाँ सूक्त है; और इसके प्रारंभिक शब्दोंसे इसे 'नासदीय सूक्त' कहते हैं। यही सूक्त तैत्तिरीय ब्राह्मणमें (तै. ब्रा. २. ८. ९) लिया गया है; और महाभारतांतर्गत नारायणीय या भागवत धर्ममें इसी सूक्तके आधारपर यह बात बतलाई गई है, कि भगवानकी इच्छासे पहले पहल सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई (मभा. शां. ३४२. ८)। सर्वानुक्रमणिकाके अनुसार इस सूक्तका ऋषि परमेष्ठि प्रजापति है; और देवता परमात्मा है; तथा इसमें त्रिष्टुप् वृत्तके यानी ग्यारह अक्षरोंके चार चरणोंकी सात ऋचाएँ हैं। 'सत्' और 'असत्' शब्दोंके दो दो अर्थ होते हैं। अतएव सृष्टिके मूल द्रव्यको 'सत्' कहनेके विषयमें उपनिषत्कारोंके जिस मतभेदका उल्लेख पहले हम इस प्रकरणमें कर चुके हैं, वही मतभेद ऋग्वेदमेंभी पाया जाता है। उदाहरणार्थ, इस मूलकारणके विषयमें कहीं तो यह कहा है, कि "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋ. १. १६४. ४६) अथवा "एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति" (ऋ. १०. ११४. ५)–

वह एक और सत् यानी सदैव स्थिर रहनेवाला है; परंतु उसीको लोग अनेक नामोंसे पुकारते हैं। और कहीं कहीं इसके विरुद्ध यहभी कहा है, कि "देवानां पूर्व्यं युगेऽसतः सदजायत" (ऋ. १०. ७२. ७) – देवताओंकेभी पहले असतसे अर्थात् अव्यक्तसे 'सत्' अर्थात् व्यक्त सृष्टि उत्पन्न हुई। इसके अतिरिक्त, किसी-न-किसी एक दृश्य तत्त्वसे सृष्टिकी उत्पत्ति होनेके विषयमें ऋग्वेदहीमें भिन्न भिन्न अनेक वर्णन पाये जाते हैं। जैसे सृष्टिके आरंभमें मूल हिरण्यगर्भ था। अमृत और मृत्यु दोनों उसकीही छायाएँ हैं; और आगे उसीसे सारी सृष्टि निर्मित हुई है (ऋ. १०. १२१. १, २)। पहले विराट्रूपी पुरुष था; और उससे यज्ञके द्वारा सारी सृष्टि उत्पन्न हुई (ऋ. १०. ९०)। पहले पानी (आप) था। उसमें प्रजापति उत्पन्न हुआ (ऋ. १०. ७२. ६; १०. ८२. ६)। ऋत और सत्य पहले उत्पन्न हुए, फिर रात्रि (अंधकार) और उसके बाद समुद्र (पानी), संवत्सर इत्यादि उत्पन्न हुए (ऋ. १०. १९०. १)। ऋग्वेदमें वर्णित इन्हीं मूल द्रव्योंका आगे अन्यान्य स्थानोंमें इस प्रकार उल्लेख किया गया है। जैसे :- (१) जलका, तैत्तिरीय ब्राह्मणमें "आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्" – यह सब पहले पतला पानी था (तै. ब्रा. १. १. ३. ५)। (२) असतका, तैत्तिरीय उपनिषदमें "असद्वा इदमग्र आसीत्" – यह पहले असत् था (तै. २. ७)। (३) सतका, छांदोग्यमें "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" – यह सब पहले सतही था (छां. ६. २)। अथवा (४) आकाशका, "आकाशः परायणम्" – आकाशही सब बातोंका मूल है (छां. १. ९); (५) मृत्युका, बृहदारण्यकमें "नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्यु-नैवेदमावृतमासीत्" – पहले यह कुछभी न था, मृत्युसे सब आच्छादित था (बृह. १. २. १); और (६) तमका, मैत्र्युपनिषदमें "तमो वा इदमग्र आसीदेकम्" – पहले यह सब अकेला तम (तमोगुणी, अंधकार) था – आगे उससे रज और सत्त्व हुआ (मै. ५. २) – अंतमें इन्हीं वेदवचनोंका अनुकरण करके मनुस्मृतिमें सृष्टिके आरंभका वर्णन इस प्रकार किया गया है :–

> **आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।**
> **अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥**

अर्थात् "यह सब पहले तमसे यानी अंधकारसे व्याप्त था। भेदाभेद नहीं जाना जाता था इतना अगम्य और निद्रित था। फिर आगे इसमें अव्यक्त परमेश्वरने प्रवेश करके पहले पानी उत्पन्न किया" (मनु. १. ५–८)। सृष्टिके आरंभके मूल द्रव्यके संबंधमें उक्त वर्णन या ऐसेही भिन्न भिन्न वर्णन नासदीय सूक्तके समयभी अवश्य प्रचलित रहे होंगे; और उस समयभी यही प्रश्न उपस्थित हुआ होगा, कि इनमेंसे कौन-सा मूलद्रव्य सत्य माना जावे? अतएव उसके सत्यांशके विषयमें इस सूक्तके ऋषि यह कहते हैं, कि :–

सूक्त	अनुवाद
नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्म- न्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥	१. तब अर्थात् मूलारंभमें असत् नहीं था और सत्‌भी नहीं था! अंतरिक्ष नहीं था और उसके परेका आकाशभी न था। (ऐसी अवस्थामें) किसने (किसपर) आवरण डाला? कहाँ? किसके सुखके लिये? अगाध और गहन जल (भी) कहाँ था?*
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकम्। तस्माद्धान्यन्न परः किंचनाऽऽस ॥२॥	२. तब मृत्यु अर्थात् मृत्युग्रस्त नाशवान् दृश्य सृष्टि न थी, अतएव (दूसरा) अमृत अर्थात् अविनाशी नित्य पदार्थ (यह भेद) भी न था। (इसी प्रकार) रात्रि और दिनका भेद समझनेके लिये कोई साधन (=प्रकेत) न था। (जो कुछ था) वह अकेला एकही अपनी शक्ति (स्वधा) से वायुके बिना श्वोसोच्छ्‌वास लेता अर्थात् स्फूर्तिमान् होता रहा। इसके अतिरिक्त या इसके परे और कुछ भी न था।
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽ- प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥३॥	३. जो (यत्) ऐसा कहा जाता है, कि अंधकार था, आरंभमें यह सब अंधकारसे व्याप्त (और) भेदाभेदरहित जल था (या) आभु अर्थात् सर्वव्यापी ब्रह्म (पहलेही) तुच्छसे अर्थात् झूठी मायासे आच्छादित था, वह (तत्) मूलमें एक (ब्रह्मही) तपकी महिमासे (आगे रूपांतरसे) प्रकट हुआ था।†

---

* ऋचा पहली – चौथे चरणमें 'आसीत् किम्' यह अन्वय करके हमने उक्त अर्थ दिया है; और उसका भावार्थ है, 'पानी तब नहीं था' (तै. ब्रा. २. २. ९)।

† ऋचा तीसरी – कुछ लोग इसके प्रथम तीन चरणोंको स्वतंत्र मानकर उनका ऐसा विधानात्मक अर्थ करते हैं, कि सृष्टिके आरंभमें "अंधकार, अंधकारसे व्याप्त पानी, या तुच्छसे आच्छादित आभु (पोलापन) था।" परंतु हमारे मतसे यह भूल है। क्योंकि पहली दो ऋचाओंमें जब कि ऐसी स्पष्ट उक्ति है, कि मूलारंभमें

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।।४।।

४. इसके मनका जो रेत अर्थात् बीज प्रथमतः निकला, वही आरंभमें काम (अर्थात् सृष्टि निर्माण करनेकी प्रवृत्ति या शक्ति) हुआ । ज्ञाताओंने अंतःकरणमें विचार करके बुद्धिसे निश्चित किया, कि (यही) असत्में अर्थात् मूल परब्रह्ममें सत्का का यानी विनाशी दृश्यसृष्टिका (पहला) संबंध है ।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषां
अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्
स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ।।५।।

५. (यह) रश्मि या किरण या धागा इनमें आड़ा फैल गया; और यदि कहें, कि यह नीचे था, तो यह ऊपरभी था। (इनमेंसे कुछ) रेतोधा अर्थात् बीजप्रद हुए; और (बढ़कर) बड़ेभी हुए । उन्हींकी स्वशक्ति इस ओर रही; और प्रयति अर्थात् प्रभाव उस ओर (व्याप्त) रहा ।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेना-
थ को वेद यत आबभूव ।।६।।

६. (सत्का) यह विसर्ग यानी पसारा किससे या कहाँसे आया ? यह (इससे अधिक)प्र यानी विस्तारपूर्वक यहाँ कौन कहेगा ? इसे कौन निश्चयात्मक जानता है ? देवभी इस (सत् सृष्टिके) विसर्गके पश्चात् हुए हैं। फिर वह जहाँसे (उत्पन्न) हुई, उसे कौन जानेगा ?

कुछभी न था; तब उसके विपरीत इसी सूक्तमें यह कहा जाना संभव नहीं, कि मूलारंभमें अंधकार या पानी था । अच्छा; यदि वैसा अर्थ करेंभी; तो तीसरे चरणके यत् शब्दको निरर्थक मानना होगा । अतएव तीसरे चरणके 'यत्'का चौथे चरणके 'तत्'से संबंध लगाकर, (जैसा कि हमने ऊपर किया है) अर्थ करना आवश्यक है । "मूलारंभमें पानी वगैरह पदार्थ थे" ऐसा कहनेवालोंको उत्तर देनेके लिये इस सूक्तमें यह ऋचा आई है। और इसमें ऋषिका उद्देश्य यह बतलानेका है, कि तुम्हारे कथनानुसार मूलमें तम, पानी इत्यादि पदार्थ न थे; किंतु एक ब्रह्मकाही आगे यह सब विस्तार हुआ है। 'तुच्छ' और 'आभु' ये शब्द एक दूसरेके प्रतियोगी हैं । अतएव तुच्छ के विपरीत 'आभु' शब्दका अर्थ बड़ा या समर्थ होता है; और ऋग्वेदमें जहाँ अन्य दो स्थानोंमें इस शब्दका प्रयोग हुआ है, वहाँ सायणाचार्यनेभी

इदं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न दधे ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

७. (सत्‌का) यह विसर्ग अर्थात् फैलाव जहाँसे हुआ अथवा निर्मित किया गया या नहीं किया गया – उसे परम आकाशमें रहनेवाला इस सृष्टिका जो अध्यक्ष (हिरण्यगर्भ) है, वही जानता होगा; या न भी जानता हो ! (कौन कह सके ?)

सारे वेदान्तशास्त्रका रहस्य यही है, कि नेत्रोंको या सामान्यतः सब इंद्रियोंको गोचर होनेवाले विकारी और विनाशी नामरूपात्मक अनेक दृश्योंके फंदेमें फँसे न रह कर ज्ञानदृष्टिसे यह जानना चाहिये, कि इस दृश्यके परे कोई न कोई एक और अमृत तत्त्व है। इस मक्खनके गोलेकोही पानेके लिये उक्त सूक्तके ऋषिकी बुद्धि एकदम दौड़ पड़ी है, इससे यह स्पष्ट दीख पड़ता है, कि उसका अंतर्ज्ञान कितना तीव्र था। मूलारभमें अर्थात् सृष्टिके सारे पदार्थोंके उत्पन्न होनेके पहले जो कुछ था, वह सत् था या असत्; मृत्यु था या अमर; आकाश था या जल; प्रकाश था या अंधकार ? – ऐसे अनेक प्रश्न करनेवालोंके साथ वादविवाद न करते हुए, उक्त ऋषि सबके आगे दौड़ कर यह कहता है, कि सत् और असत्, मर्त्य और अमर, अंधकार और प्रकाश, आच्छादन करनेवाला और आच्छादित, सुख देनेवाला और उसका अनुभव करनेवाला. अद्वैतकी यह परस्परसापेक्ष भाषा दृश्य सृष्टिकी उत्पत्तिके अनंतरकी है; अतएव सृष्टिके इन द्वंद्वोंके उत्पन्न होनेके पूर्व अर्थात् जब "एक और दूसरा" यह भेदही न था, तब कौन किसे आच्छादित करता ? इसलिये आरंभहीमें इस सूक्तका ऋषि निर्भय होकर यह कहता है, कि मूलारंभके एकरूप द्रव्यको सत् या असत्, आकाश या जल, प्रकाश या अंधकार, अमृत या मृत्यु, इत्यादि कोईभी परस्पर-सापेक्ष नाम देना उचित नहीं। जो कुछ था, वह इन सब पदार्थोंसे विलक्षण था और वह अकेलाही चारों ओर अपनी अपरंपार शक्तिसे स्फूर्तिमान् था। उसके साथ या उसे आच्छादित करनेवाला अन्य कुछभी न था। दूसरी ऋचामें 'आनीत्' क्रियापदके 'अन्' धातुका अर्थ है श्वासोच्छ्‌वास लेना या स्फुरण होना; और 'प्राण' शब्दभी उसी धातुसे बना है। परंतु जो न सत् है और न असत्, उसके विषयमें कौन कह सकता है, कि वह सजीव प्राणियोंके समान श्वासोच्छ्‌वास लेता था ? और श्वासोच्छ्‌वासके लिये वहाँ वायुही कहाँ है ? अतएव

उसका यही अर्थ किया है (ऋ. १०. २७. १, ४)। पंचदशीमें (चित्र. १२९, १३०) तुच्छ शब्दका उपयोग मायाके लिये किया गया है (नृसिं. उत्त. ९)। अर्थात् 'आभु'का अर्थ पोलापन न होकर 'परब्रह्म' ही होता है। ("सर्व आः इदम्" – यहाँ आः (अ+अस्) अस् धातुका भूतकाल है; और इसका अर्थ 'आसीत्' होता है।

'आनीत्' पदके साथही – 'अवातं' = विना वायुके, और 'स्वधया' = स्वयं अपनीही, महिमासे – इन दोनों पदोंको जोड़कर "सृष्टिका मूल तत्त्व जड़ नहीं था" यह अद्वैतावस्थाका अर्थ द्वैतकी भाषामें बड़ी युक्तिसे इस प्रकार बतलाया है, कि "वह अकेला बिना वायुके केवल अपनी ही शक्तिसे श्वासोच्छ्वास लेता या स्फूर्तिमान् होता था !" इसमें बाह्य दृष्टिसे जो विरोध दिखाई देता है, वह द्वैती भाषाकी अपूर्णतासे उत्पन्न हुआ है। 'नेति नेति' 'एकमेवाद्वितीयम्' या "स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः" (छां. ७. २४. १)। – अपनीही महिमासे अर्थात् अन्य किसीकी अपेक्षा न रखते हुए अकेलाही रहनेवाला – इत्यादि परब्रह्मके जो वर्णन उपनिषदोंमें पाये जाते हैं, वेभी उपरोक्त अर्थकेही द्योतक हैं। सारी सृष्टिके मूलारंभमें चारों ओर जिस एक अनिर्वाच्य तत्त्वके स्फुरण होनेकी बात इस सूक्तमें कही गई है, वही तत्त्व सभी दृश्य सृष्टिका प्रलय होनेपरभी निःसंदेह शेष रहेगा। अतएव गीतामें इसी परब्रह्मका कुछ पर्यायसे इस प्रकार वर्णन किया है, कि "सब पदार्थोंका नाश होनेपरभी जिसका नाश नहीं होता" (गीता ८. २०) और आगे इसी सूक्तके अनुसार स्पष्ट कहा है, कि "वह सत्भी नहीं है; और असत्भी नहीं है" (गीता १३. १२)। परंतु प्रश्न यह है, कि जब सृष्टिके मूलारंभमें निर्गुण ब्रह्मके सिवा और कुछभी न था; तो फिर वेदोंमें जो ऐसे वर्णन पाये जाते हैं, कि "आरंभमें पानी, अंधकार, या आभु और तुच्छकी जोड़ी थी" उनकी क्या व्यवस्था होगी ? अतएव तीसरी ऋचामें कविने कहा है, कि – सृष्टिके आरंभमें अंधकार था या अंधकारसे आच्छादित पानी था, या आभु (ब्रह्म) और उसको आच्छादित करनेवाली माया (तुच्छ), ये दोनों पहलेसेही थे – इत्यादि) जितने वर्णन हैं वे सब उस समयके हैं, जब कि अकेले मूल परब्रह्मके तपमहात्म्यसे उसका विविध रूपोंसे फैलाव हो गया था। ये वर्णन मूलारंभकी स्थितिके नहीं हैं। इस ऋचाके शब्दसे तप मूल ब्रह्मकी ज्ञानमय विलक्षण शक्ति विवक्षित है; और उसीका वर्णन चौथी ऋचामें किया गया है (मुं. १. १. ९)। "एतावान् अस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः" (ऋ. १०. ९०. ३)। इस न्यायसे, सारी सृष्टिही जिसकी महिमा कहलाई, उस मूल द्रव्यके विषयमें यह कहना आवश्यक नहीं है, कि वह इन सबके परे, सबसे श्रेष्ठ और भिन्न है। परंतु दृश्य वस्तु और द्रष्टा, भोक्ता और भोग्य, आच्छादन करनेवाला और आच्छाद्य, अंधकार और प्रकाश, मर्त्य और अमर इत्यादि सारे द्वैतोंको इस प्रकार अलग कर यद्यपि यह निश्चय किया गया, कि केवल एक निर्मल चिद्रूपी विलक्षण परब्रह्मही मूलारंभमें था; तथापि जब यह बतलानेका समय आया, कि इस अनिर्वाच्य, निर्गुण, अकेले एक तत्त्वसे आकाश, जल इत्यादि द्वंद्वात्मक विनाशी सगुण नामरूपात्मक विविध सृष्टि या इस सृष्टिकी मूलभत त्रिगुणात्मक प्रकृति कैसे उत्पन्न हुई, तब तो प्रस्तुत ऋषिनेभी मन, काम, असत् और सत् जैसी द्वैती भाषाकाही उपयोग किया है और अंतमें

स्पष्ट कह दिया है, कि यह प्रश्न मानवी बुद्धिकी पहुँचसे बाहर है। चौथी ऋचामें मूल ब्रह्मकोही 'असत्' कहा है; परंतु उसका अर्थ 'कुछ नहीं' यह नहीं मान सकते। क्योंकि दूसरीही ऋचामें स्पष्ट कहा है, कि 'वह है'। न केवल इसी सूक्तमें, किंतु अन्यत्रभी व्यावहारिक भाषाको स्वीकार करकेही ऋग्वेद और वाजसनेयी संहितामें गहन विषयोंका विचार निम्न प्रश्नोंके द्वारा किया गया है। (ऋ. १०. ३१. ७; १०. ८१. ४; वाज. सं. १७. २०) – जैसे दृश्य सृष्टिको यज्ञकी उपमा देकर प्रश्न किया है, कि इस यज्ञके संपन्न करनेके लिये आवश्यक घृत, समिधा इत्यादि सामग्री प्रथम कहाँसे आई ? (ऋ. १०. १३०. ३) अथवा घरका दृष्टान्त लेकर प्रश्न किया है कि मूल एक निर्गुणसे, नेत्रोंको प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली आकाश-पृथ्वीकी इस भव्य इमारतको बनानेके लिये लकड़ी (मूल प्रकृति) कैसे मिली ? – "किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।" इन प्रश्नोंका उत्तर उपर्युक्त सूक्तकी चौथी और पाँचवीं ऋचामें जो कुछ कहा गया, है उससे अधिक दिया जाना संभव नहीं है (वाज. सं. ३३. ७४); और वह उत्तर यही है, कि उस अनिर्वाच्य अकेले ब्रह्महीके मनमें सृष्टि निर्माण करनेका 'काम'-रूपी तत्त्व किसी-न-किसी तरह उत्पन्न हुआ; और वस्त्रके धागोंके समान या सूर्य-प्रकाशके समान उसीकी शाखाएँ तुरंत नीचे, ऊपर और चहुँ ओर फैल गईं। तथा सत्का सारा फैलाव हो गया – अर्थात् आकाश-पृथ्वीकी यह भव्य इमारत बन गई। उपनिषदोंमें इस सूक्तके अर्थको इस प्रकारही प्रकट किया गया है, कि "सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेती।" (तै. २. ६; छां. ६. २. ३) – उस पर-ब्रह्मकोही अनेकरूप होनेकी इच्छा हुई (बृ. १. ४); और अथर्व वेदमेंभी ऐसा वर्णन है, कि इस सारी दृश्य सृष्टिके मूलभूत द्रव्यसेही पहले पहल 'काम' हुआ (अथर्व. ९. २. १९)। परंतु इस सूक्तकी विशेषता यह है, कि निर्गुणसे सगुणकी असत्से सत्की, निर्द्वंद्वसे द्वंद्वकी अथवा असंगसे संगकी उत्पत्तिका प्रश्न मानवी बुद्धिके लिये अगम्य समझकर सांख्योंके समान केवल तर्कवश हो मूल प्रकृतिहीको या उसके सदृश किसी दूसरे तत्त्वको स्वयंभू और स्वतंत्र नहीं माना है। किंतु इस सूक्तका ऋषि कहता है, कि जो बात समझमें नहीं आती, उसके लिये साफ़ साफ़ कह दो, कि यह समझमें नहीं आती। परंतु उसके लिये शुद्ध बुद्धिसे और आत्मप्रतीतिसे निश्चित किये गये अनिर्वाच्य ब्रह्मकी योग्यताको दृश्य सृष्टिरूप मायाकी योग्यताके बराबर मत समझो; और न परब्रह्मके विषयमें अपने अद्वैत-भावकोही छोड़ो। इसके सिवा यहभी सोचना चाहिये कि, यद्यपि प्रकृतिको एक भिन्न त्रिगुणात्मक स्वतंत्र पदार्थ मानभी लिया जावे; तथापि इस प्रश्नका उत्तर तो दिया नहीं जा सकता, कि उसमें सृष्टिको निर्माण करनेके लिये प्रथमतः बुद्धि (महान्) या अहंकार कैसे उत्पन्न हुआ ? और, जब कि यह दोष कभी टलही नहीं सकता है, तो फिर प्रकृतिको स्वतंत्र मान लेनेमें क्या लाभ है ?

सिर्फ़ इतना कहो, कि यह बात समझमें नहीं आती, कि मूल ब्रह्मसे प्रकृति अर्थात् सत् कैसे निर्मित हुआ। इसके लिये प्रकृतिको स्वतंत्र मान लेनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है। मनुष्यकी बुद्धिकी कौन कहे, परंतु देवताओंकी दिव्य बुद्धिसेभी सत्की उत्पत्तिका रहस्य समझमें आ जाना संभव नहीं। क्योंकि देवताभी दृश्य सृष्टिके आरंभ होनेपर उत्पन्न हुए हैं; उन्हें पिछला हाल क्या मालूम? (गीता १०. २.)। परंतु ऋग्वेदमेंही कहा है, कि हिरण्यगर्भ देवताओंसेभी बहुत प्राचीन और श्रेष्ठ है और आरंभमें वह अकेलाही " भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् " (ऋ. १०. १२१. १) – और सारी सृष्टिका 'पति' अर्थात् राजा या अध्यक्ष था। फिर उसे यह बात क्योंकर मालूम न होगी? और यदि उसे मालूम होगी; तो फिर कोई पूछ सकता है, कि इस बातको दुर्बोध या अगम्य क्यों कहते हो? अतएव उस सूक्तके ऋषिने पहले तो उक्त प्रश्नका यह औपचारिक उत्तर दिया है, कि " हाँ, वह इस बातको जानता होगा। " परंतु अपनी बुद्धिसे ब्रह्मदेवकेभी ज्ञान-सागरकी थाह लेनेवाले इस ऋषिने आश्चर्यसे साशंक हो अंतमें तुरंतही कह दिया है, कि " अथवा न भी जानता हो! कौन कह सकता है? क्योंकि वहभी सत्हीकी श्रेणोमें है। इसलिये 'परम' कहलानेपरभी 'आकाश'हीमें रहनेवाले जगतके इस अध्यक्षको सत्, असत्, आकाश और जलकेभी पूर्वकी बातोंका ज्ञान निश्चित रूपसे कैसे हो सकता है? " परंतु यद्यपि यह बात समझमें नहीं आती, कि एक 'असत्' अर्थात् अव्यक्त और निर्गुण द्रव्यहीके साथ विविध नामरूपात्मक सत्का अर्थात् मूल प्रकृतिका संबंध कैसे हो गया? तथापि मूल ब्रह्मके एकत्वके विषयमें ऋषिने अपने अद्वैत भावको डिगने नहीं दिया है। यह इस बातका एक उत्तम उदाहरण है, कि सात्त्विक श्रद्धा और निर्मल प्रतिभाके बलपर मनुष्यकी बुद्धि अचिंत्य वस्तुओंके सघन बनमें सिंहके समान निर्भय होकर कैसे संचार किया करती है और वहाँकी अतर्क्य बातोंका यथाशक्ति कैसे निश्चय किया करती है! यह सचमुचही आश्चर्य तथा गौरवकी बात है, कि ऐसा सूक्त ऋग्वेदमें पाया जाता है! हमारे देशमें इस सूक्तकेही विषयका आगे ब्राह्मणोंमें (तैत्ति. ब्रा. २. ८. ९), उपनिषदों और अनंतरके वेदान्तशास्त्रके ग्रंथोंमें सूक्ष्म रीतिसे विवेचन किया गया है; और पश्चिमी देशोंमेंभी अर्वाचीन कालके कांट इत्यादि तत्त्वज्ञानियोंनेभी उसीका अत्यंत सूक्ष्म परीक्षण किया है। परंतु स्मरण रहे, कि उक्त सूक्तमें इस ऋषिकी पवित्र बुद्धिमें जिन परम सिद्धान्तकी स्फूर्ति हुई है, वेही सिद्धान्त आगे प्रतिपक्षियोंको विवर्त-वादके समान उचित उत्तर देकर औरभी दृढ, स्पष्ट या तर्कदृष्टिने निःसंदेह किये गये हैं। इसके परे अभीतक न कोई बढ़ा है और न बढ़नेकी विशेष आशाही की जा सकती है।

अध्यात्म-प्रकरण समाप्त हुआ। अब आगे चलनेके पहले 'केसरी'की चालके अनुसार उस मार्गका कुछ निरीक्षण हो जाना चाहिये, कि जो यहाँतक चल

आये हैं। कारण यह है, कि यदि इस प्रकार सिंहावलोकन न किया जावे, तो विषयानुसंधानके चूक जानेसे संभव है, कि और किसी अन्य मार्गमें संचार होने लगे। ग्रंथारंभमें पाठकोंका विषयमें प्रवेश कराके कर्मजिज्ञासाका संक्षिप्त स्वरूप बतलाया है; और तीसरें प्रकरणमें यह दिखलाया है, कि **कर्मयोगशास्त्रही** गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है; अनंतर चौथें, पाँचवें और छठे प्रकरणमें सुखदुःख-विवेकपूर्वक यह बतलाया है, कि कर्मयोगशास्त्रकी आधिभौतिक उपपत्ति एकदेशीय तथा अपूर्ण है; और आधिदैविक उपपत्ति लँगड़ी है। फिर, कर्मयोगकी आध्यात्मिक उपपत्ति बतलानेके पहले – यह जाननेके लिये, कि आत्मा किसे कहते हैं – छठे प्रकरणमेंही पहले – क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार और आगे सातवें तथा आठवें प्रकरणमें सांख्यशास्त्रांतर्गत द्वैतके अनुसार क्षर-अक्षर विचार किया गया है। और फिर इस प्रकरणमें, इस विषयका निरूपण किया गया है, कि आत्माका स्वरूप क्या है? तथा पिंड और ब्रह्मांडमें दोनों ओर एकही अमृत और निर्गुण आत्मतत्त्व किस प्रकार ओत-प्रोत और निरंतर व्याप्त है। इसी प्रकार यहभी निश्चित किया गया है, कि ऐसा समबुद्धि-योग प्राप्त करके – कि सब प्राणियोंमें एकही आत्मा है – और उसे सदैव जागृत रखनाही आत्मज्ञानकी और आत्मसुखकी पराकाष्ठा है। और फिर यह बतलाया गया है, कि अपनी बुद्धिको इस प्रकार शुद्ध आत्मनिष्ठ अवस्थामें पहुँचा देनेमेंही मनुष्यका मनुष्यत्व अर्थात् नर-देहकी सार्थकता या मनुष्यका परम पुरुषार्थ है। इस प्रकार मनुष्यजातिके आध्यात्मिक परम साध्यका निर्णय हो जानेपर कर्मयोगशास्त्रके इस मुख्य प्रश्नकाभी निर्णय आप-ही-आप हो जाता है, कि संसारमें हमें प्रतिदिन जो व्यवहार करने पड़ते हैं, वे किस नीतिसे किये जावें? अथवा जिस शुद्ध बुद्धिसे उन सांसारिक व्यवहारोंको करना चाहिये, उसका यथार्थ स्वरूप क्या है? क्योंकि अब यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं, कि ये सारे व्यवहार उसीसे किये जाने चाहिये, जिससे कि वे परिणाममें ब्रह्मात्मैक्यरूप समबुद्धिके पोषक या अविरोधी हों। भगवद्गीतामें कर्मयोगके इसी आध्यात्मिक तत्त्वका उपदेश अर्जुनको किया गया है। परंतु कर्मयोगका प्रतिपादन केवल इतनेहीसे पूरा नहीं होता। क्योंकि कुछ लोगोंका कहना है, कि नामरूपात्मक सृष्टिके व्यवहार आत्मज्ञानके विरुद्ध हैं, अतएव ज्ञानी पुरुष उनको छोड़ दें। और यदि यही बात सत्य हो, तो संसारके सारे व्यवहार त्याज्य समझें जायेंगे; और फिर कर्म-अकर्मशास्त्रभी निरर्थक हो जावेगा! अतएव इस विषयका निर्णय करनेके लिये कर्मयोगशास्त्रमें ऐसे प्रश्नोंकाभी विचार अवश्य करना पड़ता है, कि कर्मके नियम कौनसे हैं? और उनका परिणाम क्या होता है? अथवा बुद्धिकी शुद्धता होनेपरभी व्यवहार अर्थात् कर्म क्यों करना चाहिये? भगवद्गीतामें ऐसा विचार कियाभी गया है। संन्यास-मार्गवाले लोगोंको इन प्रश्नोंका कुछभी महत्त्व नहीं जान पड़ता; अतएव ज्योंही भगवद्गीताका वेदान्त या भक्तिका निरूपण समाप्त हुआ, त्योंही प्रायः वे

लोग अपनी पोथी समेटने लग जाते हैं। परंतु ऐसा करना, हमारे मतसे, गीताके मुख्य उद्देश्यकी ओरही दुर्लक्ष करना है। अतएव अब आगे क्रमसे इस बातका विचार किया जायगा, कि भगवद्गीतामें उपर्युक्त प्रश्नोंके क्या उत्तर दिये गये हैं।



दसवाँ प्रकरण

कर्मविपाक और आत्मस्वातंत्र्य

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते । *

– महाभारत, शांति. २४०. ७

यद्यपि यह सिद्धान्त अंतमें सच है, कि इस संसारमें जो कुछ है, वह परब्रह्मही है; परब्रह्मको छोड़कर अन्य कुछ नहीं है; तथापि मनुष्यकी इंद्रियोंको गोचर होनेवाली दृश्य सृष्टिके पदार्थोंका अध्यात्मशास्त्रकी चलनीसे जब हम संशोधन करने लगते हैं, तब उनके नित्य-अनित्यरूपी दो विभाग या समूह हो जाते हैं। एक तो उन पदार्थोंका नामरूपात्मक दृश्य है, जो इंद्रियोंको प्रत्यक्ष दीख पड़ता है; परंतु हमेशा बदलनेवाला होनेके कारण अनित्य है। और दूसरा परमात्म-तत्त्व है, जो नाम रूपोंसे आच्छादित होनेके कारण अदृश्य, परंतु नित्य है। यह सच है, कि रसायन शास्त्रमें जिस प्रकार सब पदार्थोंका पृथक्करण करके उनके घटक-द्रव्य अलग अलग निकाल लिये जाते हैं, उसी प्रकार ये दो विभाग आँखोंके सामने पृथक् पृथक् नहीं रखे जा सकते; परंतु ज्ञानदृष्टिसे उन दोनोंको अलग करके शास्त्रीय उपपादनके सुभीतेके लिये उनको क्रमशः 'ब्रह्म' और 'माया' तथा कभी कभी 'ब्रह्मसृष्टि' और 'मायासृष्टि' इस प्रकार नाम दिये जाते हैं। तथापि स्मरण रहे, कि ब्रह्म मूलसेही नित्य और सत्य है। इस कारण उसके साथ सृष्टि शब्द एसे अवसरपर अनुप्रासार्थ लगा रहता है; और 'ब्रह्मसृष्टि' शब्दसे यह मतलब नहीं है, कि ब्रह्मको किसीने उत्पन्न किया है। इन दो सृष्टियोंमेंसे दिक्काल आदि नाम-रूपोंसे अमर्यादित, अनादि, नित्य, अविनाशी, अमृत, स्वतंत्र और सारी दृश्य सृष्टिके लिये आधारभूत होकर उसके भीतर रहनेवाली ब्रह्म-सृष्टिमें ज्ञानचक्षुसे संचार करके आत्माके शुद्ध स्वरूप अथवा अपने परम साध्यका विचार पिछले प्रकरणमें किया गया। और सच पूछिये तो शुद्ध अध्यात्मशास्त्र वहीं समाप्त हो गया। परंतु, मनुष्यका आतमा यद्यपि आदिमें ब्रह्म-सृष्टिका है, तथापि दृश्य सृष्टिकी अन्य वस्तुओंकी तरह वहभी नाम-रूपात्मक देहेंद्रियोंसे आच्छादित है; और ये देहेंद्रियाँ आदिक नाम-रूप विनाशी हैं। इसलिये प्रत्येक मनुष्यकी यह स्वाभाविक इच्छा होती है, कि इनसे मुक्त होकर अमृतत्व कैसे प्राप्त करूँ? और, इस इच्छाकी पूर्तिके लिये मनुष्यको व्यवहारमें कैसे चलना चाहिये? – कर्मयोग-शास्त्रके इस विषयका विचार करनेके लिये, कर्मके कायदोंसे बँधी हुई अनित्य

---

* "कर्मसे प्राणी बाँधा जाता है; और विद्यासे उसका छुटकारा हो जाता है।"

माया-सृष्टिके द्वैती क्षेत्रमेंही अब हमें उतरना चाहिये। पिंड और ब्रह्मांड, दोनोंके मूलमें यदि एकही नित्य और स्वतंत्र आत्मा है, तो अब सहजही प्रश्न उत्पन्न होता है, कि पिंडके आत्माको ब्रह्मांडके आत्माकी पहचान हो जानेमें कौन-सी अड़चन रहती है? और वह दूर कैसे हो? इन प्रश्नोंको हल करनेके लिये नामरूपोंका विवेचन करना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि वेदान्तकी दृष्टिसे सब पदार्थोंके दो वर्ग होते हैं: एक आत्मा अथवा परमात्मा; और दूसरा उसके ऊपरका नाम-रूपोंका आवरण। इसलिये नामरूपात्मक आवरणके सिवा अब अन्य कुछभी शेष नहीं रहता। वेदान्तशास्त्रका मत है, कि नामरूपोंका यह आवरण किसी जगह घना, तो किसी जगह विरल होनेके कारण दृश्य सृष्टिके पदार्थोंमें सचेतन और अचेतन; तथा सचेतनमेंभी पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, गंधर्व और राक्षस इत्यादि भेद हो जाते हैं। यह नहीं, कि आत्मरूपी ब्रह्म किसी स्थानमें न हो – वह सभी जगह है – वह पत्थरमें है और मनुष्यमेंभी है। परंतु दीपकके एक होनेपरभी किसी लोहेके वक्समें अथवा न्यूनाधिक स्वच्छ काँचकी लालटेनमें उसके रखनेसे जिस प्रकार उसके प्रकाशमें अंतर पड़ता है, उसी प्रकार आत्मतत्त्वके सर्वत्र एकही होनेपरभी उसके ऊपरके कोश – अर्थात् नामरूपात्मक आवरणके तारतम्य भेदसे – अचेतन और सचेतन जैसे भेद हो जाया करते हैं। और तो क्या? यही कारण है, कि सचेतनमें मनुष्यों और पशुओंमें ज्ञानसंपादन करनेकी एक समानही सामर्थ्य क्यों नहीं होती। आत्मा सर्वत्र एकही है सही; परंतु वह मूलमेंही निर्गुण और उदासीन होनेके कारण मन, बुद्धि इत्यादि नाम-रूपात्मक साधनोंके बिना स्वयं कुछभी नहीं कर सकता; और वे साधन मनुष्य-योनिको छोड़ अन्य किसीभी योनिमें उसे पूर्णतया प्राप्त नहीं होते। इसलिये मनुष्य-जन्म सबसे श्रेष्ठ कहा गया है। इस श्रेष्ठ जन्ममें आनेपर आत्माके नामरूपात्मक आवरणके स्थूल और सूक्ष्म, दो भेद होते हैं। इनमेंसे स्थूल आवरण मनुष्यकी स्थूल देहही है, कि जो शुक्र, शोणित आदिसे बनी है। इस शुक्रसे आगे चलकर स्नायु, अस्थि और मज्जा; तथा शोणित अर्थात् रक्तसे त्वचा, मांस और केश उत्पन्न होते हैं – ऐसा समझकर, इन सबको वेदान्ती 'अन्नमय कोश' कहते हैं। इस स्थूल कोशको छोड़कर जब हम यह देखने लगते हैं, कि इसके अंदर क्या है? तब क्रमशः वायुरूपी प्राण अर्थात् 'प्राणमय कोश', मन अर्थात् 'मनोमय कोश', बुद्धि अर्थात् 'ज्ञानमय कोश', और अंतमें 'आनंदमय कोश' मिलता है। आत्मा उससेभी परे है। इसलिये तैत्तिरीयोपनिषदमें अन्नमय कोशसे आगे बढ़ते बढ़ते अंतमें आनंदमय कोश बतला-कर वरुणने भृगुको आत्म-स्वरूपकी पहचान करा दी है (तै. २. १–५; ३. २–६)। इन सब कोशोंमेंसे स्थूलदेहका कोश छोड़ बाकी रहे हुए प्राणादि कोशों, सूक्ष्म इंद्रियों और पंचतन्मात्राओंको वेदान्ती 'लिंग' अथवा 'सूक्ष्म' शरीर कहते हैं। वे लोग, "एकही आत्माको भिन्न भिन्न योनियोंमें जन्म कैसे प्राप्त होता है?" –

इसकी उपपत्ति, सांख्यशास्त्रकी तरह बुद्धिके अनेक 'भाव' मानकर नहीं लगाते; किंतु इस विषयमें उनका यह सिद्धान्त है, कि यह सब कर्मविपाकका अथवा कर्मके फलोंका परिणाम है। गीतामें, वेदान्तसूत्रोंमें और उपनिषदोंमें स्पष्ट कहा है, कि यह कर्म लिंग-शरीरके आश्रयसे अर्थात् आधारसे रहा करता है; और जब आत्मा स्थूल देह छोड़कर जाने लगता है, तब यह कर्मभी लिंग-शरीरद्वारा उसके साथ जाकर उसको बार बार भिन्नं भिन्न जन्म लेनेके लिये बाध्य करता है। इसलिये नाम-रूपात्मक जन्ममरणके चक्करसे मुक्त होकर नित्य परब्रह्म-रूपी होनेमें अथवा मोक्षकी प्राप्तिमें पिंडके आत्माको जो अड़चन हुआ करती है, उसका विचार करते समय लिंग-शरीर और कर्म इन दोनोंकाभी विचार करना पड़ता है। इनमेंसे लिंग-शरीरका सांख्य और वेदान्त, दोनों दृष्टियोंसे पहलेही विचार किया जा चुका है। इसलिये यहाँ फिर उसकी चर्चा नहीं की जाती। इस प्रकरणमें सिर्फ़ इसी बातका विवेचन किया गया है, कि जिस कर्मके कारण आत्माको ब्रह्मज्ञान न होते हुए अनेक जन्मोंके चक्करमें पड़ना होता है, उस कर्मका स्वरूप क्या है? और उससे छूट कर आत्माको अमृतत्व प्राप्त होनेके लिये मनुष्यको इस संसारमें कैसे चलना चाहिये?

सृष्टिके आरंभकालमें मूल अव्यक्त और निर्गुण परब्रह्म जिस देशकाल आदि नाम-रूपात्मक सगुण शक्तिसे व्यक्त अर्थात् दृश्य सृष्टिरूप हुआ-सा दीख पड़ता है, उसीको वेदान्तशास्त्रमें 'माया' कहते हैं (गीता ७. २४, २५); और उसीमें कर्मकाभी समावेश होता है (बृ. १. ६. १)। इतनाही नहीं तो यहभी कहा जा सकता है, कि 'माया' और 'कर्म' दोनों समानार्थक हैं। क्योंकि पहले कुछ-न-कुछ कर्म अर्थात् व्यापार हुए बिना अव्यक्तका व्यक्त होना अथवा निर्गुणका सगुण होना संभव नहीं। इसीलिये पहले यह कह कर, कि मैं अपनी मायासे प्रकृतिमें उत्पन्न होता हूँ (गीता ४. ६); फिर आगे आठवें अध्यायमें गीतामेंही कर्मका यह लक्षण दिया है, कि "अक्षर परब्रह्मसे पंचमहाभूतादि विविध सृष्टि निर्माण होनेकी जो क्रिया है, वही कर्म है" (गीता ८. ३)। कर्म कहते हैं व्यापार अथवा क्रियाको – फिर वह मनुष्यकृत हो, सृष्टिके अन्य पदार्थोंकी क्रिया हो अथवा मूल सृष्टिके उत्पन्न होनेकीही हो – इतना व्यापक अर्थ इस जगह विवक्षित है। परंतु कर्म कोई हो; उसका परिणाम सदैव केवल इतनाही होता है, कि एक प्रकारका नामरूप बदल कर उसकी जगह दूसरा नामरूप उत्पन्न किया जाय। क्योंकि इन नामरूपोंसे आच्छादित मूल द्रव्य कभी नहीं बदलता – वह सदा एक-साही रहता है। उदाहरणार्थ, बुननेकी क्रियासे 'सूत' यह नाम बदलकर उसी द्रव्यको 'वस्त्र' नाम मिल जाता है; और कुम्हारके व्यापारसे 'मिट्टी' नामके स्थानमें 'घट' नाम प्राप्त हो जाता है। इसलिये मायाकी व्याख्या देते समय कर्मको न लेकर नाम और रूपकोही कई बार माया कहा है। तथापि कर्मका जब स्वतंत्र विचार करना पड़ता है, तब यह कहना पड़ता है, कि कर्मस्वरूप और मायास्वरूप एकही हैं। इसलिये आरंभहीमें

यह कह देना अधिक सुभीतेकी बात होगी, कि माया, नामरूप और कर्म, ये तीनों मूलमें एकस्वरूपही हैं। हाँ; उसमेंभी यह विशिष्टार्थक सूक्ष्म भेद किया जा सकता है, कि **माया** एक सामान्य शब्द है; और उसीके दिखावेको **नामरूप** तथा व्यापारको **कर्म** कहते हैं। पर साधारणतया यह भेद दिखलानेकी आवश्यकता नहीं होती। इसीलिये इन तीनों शब्दोंका बहुधा समान अर्थमेंही प्रयोग किया जाता है। परब्रह्मके एक भागपर विनाशी मायाका जो आच्छादन (अथवा उपाधि = ऊपरका उढ़ौना) हमारी आँखोंको दिखता है, उसीको सांख्यशास्त्रमें 'त्रिगुणात्मक प्रकृति' कहा गया है। सांख्यवादी पुरुष और प्रकृति, इन दोनों तत्त्वोंको स्वयंभू, स्वतंत्र और अनादि मानते हैं; परंतु माया, नामरूप अथवा कर्म, क्षण-क्षणमें बदलते रहते हैं। इसलिये उनको नित्य और अविकारी परब्रह्मकी योग्यताका – अर्थात् स्वयंभू और स्वतंत्र मानना न्याय-दृष्टिसे अनुचित है। क्योंकि नित्य और अनित्य, ये दोनों कल्पनाएँ परस्पर-विरुद्ध हैं; और इसलिये दोनोंका अस्तित्व एकही कालमें संभव नहीं माना जा सकता। इसलिये वेदान्तियोंने यह निश्चित किया है, कि विनाशी प्रकृति अथवा कर्मात्मक माया स्वतंत्र नहीं है; किंतु एक नित्य, सर्वव्यापी और निर्गुण परब्रह्ममेंही, मनुष्यकी दुर्बल इंद्रियोंको सगुण मायाका दिखावा दीख पड़ता है। परंतु केवल इतनाही कह देनेसे काम नहीं चल जाता, कि माया परतंत्र है; और निर्गुण परब्रह्ममेंही यह दृश्य दिखाई देता है। गुणपरिणामसे न सही; तोभी विवर्तवादसे निर्गुण और नित्य ब्रह्ममें विनाशी सगुण नामरूपोंका – अर्थात् मायाका दृश्य दिखना चाहे संभव हो; तथापि यहाँ एक और प्रश्न उपस्थित होता है, कि मनुष्यकी इंद्रियोंको दीखनेवाला यह सगुण दृश्य निर्गुण परब्रह्ममें पहलें पहल किस क्रमसे, कब और क्यों दीखने लगा? अथवा यही अर्थ व्यावहारिक भाषामें इस प्रकार कहा जा सकता है, कि नित्य और चिद्रूपी परमेश्वरने नामरूपात्मक, विनाशी और जड़ सृष्टि **कब** और **क्यों** उत्पन्न की? परंतु ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमें जैसा कि वर्णन किया गया है, यह विषय मनुष्यकेही लिये नहीं; किंतु देवताओंके लिये और वेदोंके लियेभी अगम्य है (ऋ. १०. १२९; तै. ब्रा. २. ८. ९)। इसलिये उक्त प्रश्नका इससे अधिक और कुछ उत्तर नहीं दिया जा सकता, कि "ज्ञानदृष्टिसे निश्चित किये हुए निर्गुण पर-ब्रह्मकीही यह एक अतर्क्य लीला है" (वे. सू. २. १. ३३)। अतएव इतना मान करही आगे चलना पड़ता है, कि जबसे हम देखते आये हैं, तबसे निर्गुण ब्रह्मके साथही नामरूपात्मक विनाशी कर्म अथवा सगुण माया हमें दृग्गोचर होती आई है। इसीलिये वेदान्तसूत्रमें कहा है, कि मायात्मक कर्म अनादि है (वे. सू. २. १. ३५–३७); और भगवद्गीतामेंभी भगवानने पहले यह वर्णन करके, कि प्रकृति स्वतंत्र नहीं है – "मेरीही माया है" (गीता ७. १४); – फिर आगे कहा है, कि प्रकृति अर्थात् माया, और पुरुष, दोनों 'अनादि' हैं (गीता १३. १९)। इसी

तरह श्रीशंकराचार्यने अपने भाष्यमें मायाका लक्षण देते हुए कहा है, कि "सर्वज्ञेश्वरस्याऽऽत्मभूते इवाऽविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसार-प्रपंचबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य 'माया' 'शक्तिः' 'प्रकृति' रिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते" (वे. सू. शां. भा. २. १. १४)। इसका भावार्थ यह है, कि – "(इंद्रियोंके) अज्ञानसे मूल ब्रह्ममें कल्पित नामरूपोंकोही श्रुति और स्मृति-ग्रंथोंमें सर्वज्ञ ईश्वरकी 'माया', 'शक्ति' अथवा 'प्रकृति' कहते हैं। ये नामरूप सर्वज्ञ परमेश्वरके आत्मभूत-से जान पड़ते हैं, परंतु इनके जड़ होनेके कारण यह नहीं कहा जा सकता, कि ये परब्रह्मसे भिन्न हैं या अभिन्न (तत्त्वान्यत्व)? और येही जड़ सृष्टि (दृश्य)के विस्तारके मूल है"; और "इस मायाके योगसेही यह सृष्टि परमेश्वर-निर्मित दीख पड़ती है; इस कारण यह माया चाहे विनाशी हो; तथापि दृश्य सृष्टिकी उत्पत्तिके लिये आवश्यक और अत्यंत उपयुक्त है; तथा इसीको उपनिषदोंमें अव्यक्त, आकाश, अक्षर इत्यादि नाम दिये गये हैं" (वे. सू. शां. भा. १. ४. ३)। इससे दीख पड़ेगा, कि चिन्मय (पुरुष) और अचेतन माया (प्रकृति) इन दोनों तत्त्वोंको सांख्यवादी स्वयंभू, स्वतंत्र और अनादि मानते हैं; पर मायाका अनादित्व यद्यपि वेदान्ती एक तरहसे स्वीकार करते हैं तथापि यह उन्हें मान्य नहीं, कि माया स्वयंभू और स्वतंत्र है। और इसी कारण संसारात्मक मायाका वृक्षरूपसे वर्णन करते समय गीतामें (गीता १५. ३) कहा गया है, कि "न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा" – इस संसारवृक्षका रूप, अंत, आदि मूल अथवा ठौर नहीं मिलता। इसी प्रकार तीसरे अध्यायमें ऐसे जो वर्णन हैं, कि "कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि" (गीता ३. १५) – ब्रह्मसे कर्म उत्पन्न हुआ; "यज्ञः कर्मसमुद्भवः" (गीता ३. १४) – यज्ञभी तो कर्मसेही उत्पन्न होता है। अथवा "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा" (गीता ३. १०) – ब्रह्मदेवने प्रजा (सृष्टि) और यज्ञ (कर्म), दोनोंको साथही निर्माण किया; इन सबका तात्पर्यभी यही है, कि "कर्म अथवा कर्मरूपी यज्ञ और सृष्टि अर्थात् प्रजा, ये सब साथही उत्पन्न हुए हैं।" फिर चाहे इस सृष्टिको प्रत्यक्ष ब्रह्मदेवसे निर्मित कहो अथवा मीमांसकोंकी नाईं यह कहो, कि उस ब्रह्मदेवने नित्य वेद-शब्दोंसे उसको बनाया – दोनोंका अर्थ एकही है (मभा. शां. २३१; मनु. १. २१)। सारांश, दृश्य सृष्टिका निर्माण होनेके समय मूल निर्गुण ब्रह्ममें जो व्यापार दीख पड़ता है; वही कर्म है। इस व्यापारकोही नाम-रूपात्मक माया कहा गया है; और इस मूल कर्मसेही सूर्य-चंद्र आदि सृष्टिके सब पदार्थोंके व्यापार आगे परंपरासे उत्पन्न हुए हैं (बृ. ३. ८. ९)। ज्ञानी पुरुषोंने अपनी बुद्धिसे निश्चित किया है, कि संसारके सारे व्यापारोंका मूलभूत जो यह सृष्ट्युत्पत्ति-कालका कर्म अथवा

माया है, सो ब्रह्मकीही कोई न कोई अतर्क्य लीला है, स्वतंत्र वस्तु नहीं है।* परंतु ज्ञानी पुरुषोंकी गति यहांपर कुंठित हो जाती है इसलिये इस बातका पता नहीं लगता, कि यह लीला, नामरूप अथवा मायात्मक कर्म 'कब' उत्पन्न हुआ? अतः केवल कर्म-सृष्टिकाही विचार जब करना होता है, तब इस परतंत्र और विनाशी मायाको तथा मायाके साथही तदंगभूत कर्मकोभी वेदान्तशास्त्रमें 'अनादि' कहा करते हैं (वे. सू. २. १. ३५)। स्मरण रहे, कि जैसा सांख्यवादी कहते हैं, उस प्रकार, अनादिका यह मतलब नहीं है, कि माया मूलमेंही परमेश्वरकी बराबरीकी, निरारंभ और स्वतंत्र है – परंतु यहाँ अनादि शब्दका यह अर्थ विवक्षित है कि वह दुर्ज्ञेयारंभ है – अर्थात् उसका आदि (आरंभ) मालूम नहीं होता।

परंतु यद्यपि हमें इस बातका पता नहीं लगता, कि चिद्रूप ब्रह्म कर्मात्मक अर्थात् दृश्य सृष्टि-रूप कब और क्यों होने लगा? तथापि इस मायात्मक कर्मके अगले सब व्यापारोंके नियम निश्चित हैं; और उनमेंसे बहुतेरे नियमोंको हम निश्चित रूपसे जानभी सकते हैं। आठवें प्रकरणमें सांख्यशास्त्रके अनुसार इस बातका विवेचन किया गया है, कि मूल प्रकृतिसे अर्थात् अनादि मायात्मक कर्मसेही आगे चलकर सृष्टिके नाम-रूपात्मक विविध पदार्थ किस क्रमसे निर्मित हुए; और वहीं आधुनिक आधिभौतिक शास्त्रके सिद्धान्तभी तुलनाके लिये बतलाये गये हैं। यह सच है, कि वेदान्तशास्त्र प्रकृतिको परब्रह्मकी तरह स्वयंभू नहीं मानता; परंतु प्रकृतिके अगले विस्तारका जो क्रम सांख्यशास्त्रमें कहा गया है, वही वेदान्तकोभी मान्य है; इसलिये यहाँ उसकी पुनरुक्ति नहीं की जाती। कर्मात्मक मूल प्रकृतिसे विश्वकी उत्पत्तिका जो क्रम पहले बतलाया गया है, उसमें, उन सामान्य नियमोंका कुछभी विचार नहीं हुआ, कि जिनके अनुसार मनुष्यको कर्म-फल भोगने पड़ते हैं। इसलिये अब उन नियमोंका विवेचन करना आवश्यक है। इसीको 'कर्मविपाक' कहते हैं। इस कर्मविपाकका पहला नियम यह है, कि जहाँ एक बार कर्मका आरंभ हुआ कि फिर उसका व्यापार आगे बराबर अखंड जारी रहता है; और जब ब्रह्म-हराका दिन समाप्त होनेपर सृष्टिका संहार होता है, तबभी यह कर्म बीजरूपसे बना रहता है, एवं फिर जब सृष्टिका आरंभ होने लगता है, तब उसी कर्मबीजसे फिर पूर्ववत् अंकुर फूटने लगते हैं। महाभारतका कथन है, कि :–

येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे ।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥

अर्थात् "पूर्वकी सृष्टिमें प्रत्येक प्राणीने जो जो कर्म किये होंगे, ठीक वेही कर्म उसे (चाहे उसकी इच्छा हो या न हो) फिर यथापूर्व प्राप्त होते रहते हैं" (मभा.

---

* "What belongs to mere appearance is necessarily subordinated by reason to the nature of the thing in itself." Kant's *Metaphysic of Morals* (Abbot's trans. in Kant's *Theory of Ethics*, p. 81).

शां. २३१. ४८, ४९ और गीता ८. १८ तथा १९)। गीतामें (गीता ४. १७) कहा है, कि "गहना कर्मणो गतिः" – कर्मकी गति कठिन है, इतनाही नहीं; किंतु कर्मका बंधनभी बड़ा कठिन है। कर्म किसीसेभी नहीं छूट सकता। वायु कर्मसेही चलती है; सूर्य-चंद्रादिक कर्मसेही घूमा करते हैं; और ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सगुण देवताभी कर्मोंमेंही बँधे हुए हैं। फिर इंद्र आदिकोंका क्या पूछना है? सगुणका अर्थ है नामरूपात्मक; और नामरूपात्मकका अर्थ है कर्म या कर्मका परिणाम। जब कि यही बतलाया नहीं जा सकता, कि मायात्मक कर्म आरंभमें कैसे उत्पन्न हुआ; तब यह कैसे बतलाया जावे, कि तदंगभूत मनुष्य इस कर्म-चक्रमें पहले पहल कैसे फँस गया? परंतु किसीभी रीतिसे क्यों न हो; जब वह एक बार कर्म-बंधनमें पड़ चुका, तब फिर आगे चलकर उसकी एक नामरूपात्मक देहका नाश होनेपर कर्मके परिणामके कारण उसे इस सृष्टिमें भिन्न भिन्न रूपोंका मिलना कभी नहीं छूटता। क्योंकि आधुनिक आधिभौतिक शास्त्रकारोंनेभी अब यह निश्चित किया है,* कि कर्मशक्तिका कभीभी नाश नहीं होता; किंतु जो शक्ति आज किसी एक नामरूपसे दीख पड़ती है, वही शक्ति उस नामरूपके नाश होनेपर दूसरे नाम-रूपसे प्रकट हो जाती है। और जब कि किसी एक नामरूपके नाश होनेपर उसको भिन्न भिन्न नामरूप प्राप्त हुआही करते हैं, तब यहभी नहीं माना जा सकता, कि ये भिन्न भिन्न नामरूप निर्जीवही होंगे; अथवा ये भिन्न प्रकारके होही नहीं सकते। अध्यात्मदृष्टिसे इस नामरूपात्मक परंपराकोही जन्म-मरणका चक्र या संसार कहते हैं। और इन नामरूपोंकी आधारभूत शक्तिको समष्टिरूपसे ब्रह्म, और व्यष्टि रूपसे जीवात्मा कहा करते हैं। वस्तुतः देखनेसे यह विदित होगा, कि यह आत्मा न तो जन्म धारण करता है; और न मरताही है। अर्थात् यह नित्य अथवा स्थायी है। परंतु कर्मबंधनमें पड़ जानेके कारण एक नामरूपके नाश हो जाने पर उसीको दूसरे नामरूपोंका प्राप्त होना टल नहीं सकता। आजका कर्म कल भोगना पड़ताहै, और कलका परसों। इतनाही नहीं; किंतु इस जन्ममें जो कुछ किया

---

* यह बात नहीं, कि पुनर्जन्मकी इस कल्पनाको केवल हिंदुधर्मने या केवल आस्तिकवादियोंनेही माना हो। यद्यपि बौद्ध लोग आत्माको नहीं मानते, तथापि वैदिक धर्ममें वर्णित पुनर्जन्मकी कल्पनाको उन्होंने अपने धर्ममें पूर्ण रीतिसे स्थान दिया है; और बीसवीं शताब्दीमें "परमेश्वर मर गया" कहनेवाले पक्के निरीश्वर-वादी जर्मन पंडित नित्शेनेभी पुनर्जन्मवादको स्वीकार किया है। उसने लिखा है, कि कर्म-शक्तिके जो हमेशा रूपांतर हुआ करते हैं, वे मर्यादित हैं; तथा काल अनंत है; इसलिये कहना पड़ता है, कि एक बार जो नामरूप हो चुके हैं, वेही फिर आगे यथापूर्व कभी न कभी अवश्य उत्पन्न होतेही हैं, और इसीसे कर्मका चक्र अर्थात् बंधन केवल आधिभौतिक दृष्टिसेही सिद्ध हो जाता है। उसने यहभी लिखा है, कि यह कल्पना और उपपत्ति मुझे अपनी स्फूर्तिसे मालूम हुई है! Nietzsche's *Eternal Recurrence* (Complete Works, Engl. Trans., Vol. XVI, pp. 235-256).

जाय, उसे अगले जन्ममें भोगना पड़ता है – इस तरह यह भवचक्र सदैव चलता रहता है। मनुस्मृति तथा महाभारतमें (मनु. ४. १७३; मभा. आ. ८०. ३) तो कहा गया है, कि इन कर्मफलोंको न केवल हमें, किंतु कभी कभी हमारी नामरूपात्मक देहसे उत्पन्न हमारे लड़कों और नातियोंतककोभी भोगना पड़ता है। शांतिपर्वमें भीष्म युधिष्ठिरसे कहते हैं :–

पापं कर्म कृतं किंचिद्यदि तस्मिन्न दृश्यते।
नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु ॥

अर्थात् " हे राजा ! यदि किसी आदमीको उसके पाप-कर्मोंका फल मिलते हुए न दीख पड़े; उसके पुत्रों, पौत्रों और प्रपौत्रोंतकको उसे भोगना पड़ता है " (मभा. शां. १२९. २१))। हम लोग प्रत्यक्ष देखा करते हैं, कि कोई कोई असाध्य रोग वंशपरंपरासे प्रचलित रहते हैं। इसी परह कोई जन्मसेही दरिद्री होता है; और कोई वैभवपूर्ण राजकुलमें उत्पन्न होता है। इन सब बातोंकी उपपत्ति केवल कर्मवादसेही लगाई जा सकती है; और बहुतोंका मत है, कि यही कर्मवादकी सच्चाईका प्रमाण है। कर्मका यह चक्र जब एक बार आरंभ हो जाता है, तब फिर उसे परमेश्वरभी नहीं रोक सकता। यदि इस दृष्टिसे देखें, कि सारी सृष्टि परमेश्वरकी इच्छासेही चल रही है; तो कहना न होगा कि, कर्म-फलका देनेवाला परमेश्वरसे भिन्न कोई दूसरा हो नहीं सकता (वे. सू. ३. २. ३८; कौ. ३. ८)। और इसीलिये भगवान्‌ने कहा है, कि " लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् " (गीता. ७. २२) – मैं जिस फलका निश्चय कर दिया करता हूँ, वही इच्छित फल मनुष्यको मिलता है। परंतु कर्म-फलको निश्चित कर देनेका काम यद्यपि ईश्वरका है, तथापि वेदान्तशास्त्रका यह सिद्धान्त है, कि ये फल हर एकके खरे-खोटे कर्मोंकी अर्थात् कर्म-अकर्मकी योग्यताके अनुरूपही निश्चित किये जाते हैं; इसीलिये परमेश्वर इस संबंधमें वस्तुतः उदासीनही है। अतः यदि मनुष्योंमें भले-बुरेका भेद हो जाता है, तो उसके लिये परमेश्वर वैषम्य (विषम बुद्धि) और नैर्घृण्य (निर्दयता) दोषोंको पात्र नहीं होता (वे. सू. २. १. ३४)। इसी आशयको लेकर गीतामेंभी कहा है, कि " समोऽहं सर्वभूतेषु " (गीता ९. २९) अर्थात् ईश्वर सबके लिये समान है; अथवा :–

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैवं सुकृतं विभुः ॥

" परमेश्वर न तो किसीके पापको लेता है, न पुण्यको; कर्म या मायाके स्वभावका चक्र चलता रहता है; जिससे प्राणिमात्रको अपने अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं, " (गीता ५. १४, १५)। सारांश, यद्यपि मानवी बुद्धिसे इस बातका पता नहीं लगता, कि परमेश्वरकी इच्छासे संसारके कर्मका आरंभ कब हुआ और तदंगभूत मनुष्य कर्मके बंधनमें पहले पहल कैसे फँस गया ? तथापि जब हम देखते हैं, कि कर्मके आगामी परिणाम या फल केवल कर्मके नियमोंसेही उत्पन्न हुआ करते

हैं; तब हम अपनी बुद्धिसे इतना तो अवश्य निश्चय कर सकते हैं, कि संसारके आरंभसे प्रत्येक प्राणी नामरूपात्मक अनादि कर्मकी कैदमें बँध-सा गया है। "कर्मणा बध्यते जन्तुः" – ऐसा जो इस प्रकरणके आरंभमेंही वचन दिया हुआ है, उसका अर्थभी यही है।

इस अनादि कर्मप्रवाहके औरभी दूसरे अनेक नाम हैं, जैसे संसार, प्रकृति, माया, दृश्य सृष्टि, सृष्टिके कायदे या नियम इत्यादि। क्योंकि सृष्टिशास्त्रके नियम नामरूपोंमें होनेवाले परिवर्तनोंकेही नियम हैं। और यदि इस सृष्टिसे देखें, तो सब आधिभौतिक शास्त्र नाम-रूपात्मक मायाके प्रपंचमेंही आ जाते हैं। इस मायाके नियम तथा बंधन सुदृढ एवं सर्वव्यापी हैं। इसीलिये हेकेल जैसे आधिभौतिक शास्त्रज्ञोंने – जो इस नामरूपात्मक माया अथवा दृश्य सृष्टिके मूलमें अथवा उससे परे किसी नित्य तत्त्वका अस्तित्व नहीं मानते; यह सिद्धान्त किया है, कि यह सृष्टि-चक्र मनुष्यको जिधर ढकेलता जायेगा, उधरही उसे जाना पड़ता है। इन पंडितोंका कथन है, कि प्रत्येक मनुष्यको जो ऐसा मालूम होता रहता है, कि नामरूपात्मक विनाशी स्वरूपसे मेरी मुक्ति होनी चाहिये; अथवा अमुक काम करनेसे मुझे अमृतत्व मिलेगा – यह सब केवल भ्रम है। आत्मा या परमात्मा कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है; और अमृतत्वभी झूठ है; इतनाही नहीं, किंतु इस संसारमें कोईभी मनुष्य अपनी इच्छासे कुछ काम करनेको स्वतंत्र नहीं है। मनुष्य आज जो कुछ कार्य करता है, वह पूर्वकालमें किये गये स्वयं उसके या उसके पूर्वजोंके कर्मोंका परिणाम है, इससे उक्त कार्यका करना या न करनाभी उसकी इच्छापर कभी अवलंबित नहीं हो सकाता। उदाहरणार्थ, किसीकी एक-आध उत्तम वस्तुको देखकर, पूर्वकर्मोंसे अथवा वंशपरंपरागत संस्कारोंसे, उसे चुरा लेनेकी बुद्धि, कई लोगोंके मनमें इच्छा न रहनेपरभी, उत्पन्न हो जाती है; और वे उस वस्तुको चुरा लेनेके लिये प्रवृत्त हो जाते हैं। अर्थात् इन आधिभौतिक पंडितोंके मतका सारांश यही है, कि गीतामें जो यह तत्त्व बतलाया गया है, कि "अनिच्छन् अपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः" (गीता ३. ३६) – इच्छाके न रहनेपरभी मनुष्य पाप करता है! वही तत्त्व सभी जगह एक समान उपयोगी है, उसके लिये एकभी अपवाद नहीं है; और उससे बचनेकाभी कोई उपाय नहीं है। इस मतके अनुसार यदि देखा जाय, तो मानना पड़ेगा कि मनुष्यकी जो बुद्धि या इच्छा आज उत्पन्न होती है, वह कलके कर्मोंका फल है; तथा कल जो बुद्धि उत्पन्न हुई थी, वह परसोंके कर्मोंका फल था; और ऐसा होते होते इस कारणपरंपराका कभी अंतही नहीं होगा; तथा यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य अपनी स्वतंत्र बुद्धिसे कभी कुछभी नहीं कर सकता – जो कुछ होता है वह सब पूर्व-कर्म अर्थात् दैवकाभी फल है। क्योंकि प्राक्तन-कर्मकोही लोग दैव कहा करते हैं। इस प्रकार यदि किसी कर्मको करने अथवा न करनेकी मुष्यको कोई स्वतंत्रताही नहीं है; तो फिर यह कहनाही व्यर्थ

है, कि मनुष्यको अपना आचरण अमुक रीतिसे सुधार लेना चाहिये; और अमुक रीतिसे ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान प्राप्त करके अपनी बुद्धिको शुद्ध करना चाहिये। तब तो मनुष्यकी वही दशा होती है, कि जो नदीके प्रवाहमें बहती हुई लकड़ीकी हो जाती है; अर्थात् जिस ओर माया, प्रकृति, सृष्टि-क्रम या कर्मका प्रवाह उसे खींचेगा, उसी ओर उसे चुपचाप चले जाना चाहिये। फिर चाहे उसमें अधोगति हो अथवा प्रगति! इसपर कुछ अन्य आधिभौतिक उत्क्रांतिवादियोंका कहना है, कि प्रकृतिका स्वरूप स्थिर नहीं है; और नामरूप क्षण-क्षणमें बदला करते हैं; इसलिये जिन सृष्टिनियमोंके अनुसार ये परिवर्तन होते हैं, उन्हें जानकर मनुष्यको बाह्य-सृष्टिमें ऐसा परिवर्तन कर लेना चाहिये, कि जो उसे हितकारक हो; और हम देखते हैं, कि मनुष्य इसी न्यायसे प्रत्यक्ष व्यवहारोंमें अग्नि या विद्युच्छक्तिका उपयोग अपने फायदेके लिये करता है। इसी तरह यहभी अनुभवकी बात है, कि प्रयत्नसे मनुष्यस्वभावमेंभी थोड़ा-बहुत परिवर्तन अवश्य हो जाता है। परंतु प्रस्तुत प्रश्न यह नहीं है, कि सृष्टि-रचनामें या मनुष्य-स्वभावमें परिवर्तन होता है या नहीं? और करना चाहिये या नहीं? हमें तो पहले यही निश्चय करना है, कि ऐसा परिवर्तन करनेकी जो बुद्धि या इच्छा मनुष्यमें उत्पन्न होती है, उसे रोकने या न रोकनेकी स्वाधीनता उसमें है या नहीं। और, आधिभौतिक शास्त्रकी दृष्टिसे इस बुद्धिका होना या न होनाही यदि "बुद्धिः कर्मानुसारिणी" के न्यायके अनुसार प्रकृति, कर्म या सृष्टिके नियमोंसे पहलेही निश्चित हुआ है, तो यही निष्पन्न होता है, कि इस आधिभौतिक शास्त्रके अनुसार किसीभी कर्मको करने या न करनेके लिये मनुष्य स्वतंत्र नहीं है। इस वादको 'वासना-स्वातंत्र्य', 'इच्छा-स्वातंत्र्य' या 'प्रवृत्ति-स्वातंत्र्य' कहते हैं। केवल कर्मविपाक अथवा केवल आधिभौतिक शास्त्रकी दृष्टिसे विचार किया जाय, तो अंतमें यही सिद्धान्त करना पड़ता है, कि मनुष्यको किसीभी प्रकारका प्रवृत्ति-स्वातंत्र्य या इच्छा-स्वातंत्र्य नहीं है और वह कर्मके अभेद्य बंधनोंसे वैसेही जकड़ा हुआ है, जैसे किसी गाड़ीका पहिया चारों तरफ़से लोहेकी पट्टीसे जकड़ दिया जाता है। परंतु इस सिद्धान्तकी सत्यताके लिये मनुष्योंके अंतःकरणका अनुभव गवाही देनेको तैयार नहीं है। प्रत्येक मनुष्य अपने अंतःकरणमें यहीं कहता है, कि यद्यपि मुझमें सूर्यका उदय पश्चिम दिशामें करा देनेकी शक्ति नहीं है, तोभी मुझमें इतनी शक्ति अवश्य है, कि मैं अपने हाथसे होनेवाले कार्योंकी भलाईबुराईका विचार करके उन्हें अपनी इच्छाके अनुसार करूँ या न करूँ; अथवा जब मेरे सामने पाप या पुण्य तथा धर्म या अधर्म दो मार्ग उपस्थित हों, तब उनमेंसे इस प्रकार किसी एकको स्वीकार कर लेनेके लिये मैं स्वतंत्र हूँ। अब यही देखना है, कि यह समझ सच है या झूठ? यदि इस समझको झूठ कहें, तो हम देखते हैं, कि इसीके आधारपर चोरी, हत्या आदि अपराध करनेवालोंको अपराधी ठहराकर सजा दी जाती है; और यदि सच मानें तो कर्मवाद, कर्मविपाक या दृश्य सृष्टिके नियम

मिथ्या प्रतीत होते हैं; आधिभौतिक शास्त्रोंमें केवल जड़ पदार्थोंकी क्रियाओंकाही विचार किया जाता है, इसलिये वहाँ यह प्रश्न उत्पन्न नहीं होता; परंतु जिस कर्म-योग-शास्त्रमें ज्ञानवान् मनुष्यके कर्तव्यका विवेचन करना होता है, उसमें यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है; और उसका उत्तर देनाभी आवश्यक है। क्योंकि एक बार यदि यही अंतिम निश्चय हो जाय, कि मनुष्यको कुछभी प्रवृत्ति-स्वातंत्र्य नहीं है; तो फिर अमुक प्रकारसे बुद्धिको शुद्ध करना चाहिये, अमुक कार्य करना चाहिये, अमुक नहीं करना चाहिये, अमुक धर्म्य है, अमुक अधर्म्य, इत्यादि विधिनिषेध-शास्त्रके सब झगड़ेभी आप-ही-आप मिट जायेंगे (वे. सू. २. ३. ३३); * और तब परंपरासे या प्रत्यक्ष रीतिसे महामाया प्रकृतिके दासत्वमें सदैव रहनाही मनुष्यका पुरुषार्थ हो जायगा। अथवा पुरुषार्थही काहेका? अपने बसकी बात हो, तो पुरुषार्थ ठीक है; परंतु जहाँ एक रत्तीभरभी अपनी सत्ता या इच्छा नहीं रह जाती, वहाँ दास्य और परतंत्रताके सिवा और होही क्या सकता है। हलमें जुते हुए बैलोंके समान सब लोगोंको प्रकृतिकी आज्ञामें रहकर, एक आधुनिक कविके कथनानुसार 'पदार्थ-धर्मोंकी शृंखलाओंसे' बँध जाना चाहिये। हमारे भारतवर्षमें कर्मवाद या दैववादसे और पश्चिमी देशोंमें पहले पहल ईसाई धर्मके भवितव्यवादसे तथा अर्वाचीन कालमें शुद्ध आधिभौतिक शास्त्रोंके सृष्टिक्रमवादसे इच्छा-स्वातंत्र्यके इस विषयकी ओर पंडितोंका ध्यान आकर्षित हो गया है; और इसकी बहुत-कुछ चर्चा हो चुकी है और आजभी हो रही है। परंतु यहाँ पर उसका वर्णन करना असंभव है, इसलिये इस प्रकरणमें यही बतलाया जायगा कि वेदान्तशास्त्र और भगवद्गीताने इस प्रश्नका क्या उत्तर दिया है।

यह सच है, कि कर्म-प्रवाह अनादि है; और और जब एक बार कर्मका चक्र शुरू हो जाता है, तब परमेश्वरभी उसमें हस्तक्षेप नहीं करता। तथापि अध्यात्म-शास्त्रका यह सिद्धान्त है, कि दृश्य सृष्टि केवल नामरूप या कर्मही नहीं है; किंतु इस नामरूपात्मक आवरणके लिये आधारभूत एक आत्मरूपी, स्वतंत्र और अविनाशी ब्रह्मसृष्टि है; तथा मनुष्यके शरीरका आत्मा उस नित्य एवं स्वतंत्र परब्रह्महीका अंश है। इस सिद्धान्तकी सहायतासे प्रत्यक्षमें अनिवार्य दीखनेवाली उक्त अड़चन-सेभी छुटकारा पानेके लिये हमारे शास्त्रकारोंका निश्चित किया हुआ एक मार्ग है। परंतु इसका विचार करनेके पहले कर्मविपाक-क्रियाके शेष अंशका वर्णन पूरा कर

---

* वेदान्तसूत्रके इस अधिकरणको 'जीवकर्तृत्वाधिकरण' कहते हैं। उसका पहलाही सूत्र है – "कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" अर्थात् विधिनिषेध शास्त्रमें अर्थ-तत्त्व होनेके लिये जीवको कर्ता मानना चाहिये। पाणिनीके 'स्वतंत्रः कर्ता' (पा. १. ४ ५४) सूत्रके 'कर्ता' शब्दसेही आत्मस्वातंत्र्यका बोध होता है; और इससे मालूम होता है, कि यह अधिकरण इसी विषयका है।

लेना चाहिये। "जो जस करै सो तस फल चाखा" यानी – "जैसी करनी वैसी भरनी" – यह नियम न केवल एकही व्यक्तिके लिये; किंतु कुटुंब, जाति, राष्ट्र और समस्त संसारके लियेभी उपयुक्त होता है। और चुंकि प्रत्येक मनुष्यका किसीन-किसी कुटुंब, जाति, अथवा देशमें समावेश हुआही करता है; इसलिये उसे स्वयं अपने कर्मोंके साथ-साथ कुटुंब आदिके सामाजिक कर्मोंके फलोंकोभी अंशतः भोगना पड़ता है। परंतु व्यवहारमें प्रायः एक मनुष्यके कर्मोंकाही विवेचन करनेका प्रसंग आया करता है – इसलिये कर्मविपाक-प्रक्रियामें कर्मके विभाग प्रायः एक मनुष्यकोही लक्ष्य करके किये जाते हैं। उदाहरणार्थ मनुष्यसे किये जानेवाले अशुभ कर्मोंके मनुजीने – कायिक, वाचिक और मानसिक इस प्रकार तीन भेद किये हैं। व्यभिचार, हिंसा और चोरी – इन तीनोंको कायिक; कटु, मिथ्या, ताना मारना और असंगत बोलना – इन चारोंको वाचिक; और पर-द्रव्याभिलाषा, दूसरोंका अहित-चिंतन और व्यर्थ आग्रह करना – इन तीनोंको मानसिक पाप कहते हैं। सब मिलाकर दस प्रकारके अशुभ या पापकर्म बतलाये गये हैं (मनु. १२. ५–७; मभा. अनु. १३) और आगे इनके फलभी कहे गये हैं। परंतु ये भेद कुछ स्थायी नहीं हैं। क्योंकि इसी अध्यायमें सब कर्मोंके फिरभी – सात्त्विक, राजस, और तामस – तीन भेद किये गये हैं; और प्रायः भगवद्गीतामें दिये गये वर्णनके अनुसार इन तीनों प्रकारके गुणों या कर्मोंके लक्षणभी बतलाये गये हैं (गीता १४. ११–१५; १८. २३–२५; मनु. १२. ३१–३४)। परंतु कर्मविपाक-प्रकरणमें कर्मका जो सामान्यतः विभाग पाया जाता है; वह इन दोनोंसेभी भिन्न है, उसमें कर्मके संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण – ये तीन भेद किये जाते हैं। किसी मनुष्यके द्वारा इस क्षणतक किया गया जो कर्म है – चाहे वह इस जन्ममें किया गया हो या पूर्वजन्ममें – वह उसका संचित अर्थात् 'एकत्रित' कर्म कहा जाता है। इसी 'संचित'का दूसरा नाम 'अदृष्ट' और मीमांसकोंकी परिभाषामें 'अपूर्व'भी है। इन नामोंके देनेका कारण यह है, कि जिस समय कर्म या क्रिया की जाती है, उसी समयके लिये वह दृश्य रहती है और उस समयके बीत जानेपर वह क्रिया स्वरूपतः शेष नहीं रहती किंतु उसके सूक्ष्म अतएव अदृश्य अर्थात् अपूर्व और विलक्षण परिणामही बाकी रह जाते हैं (वे. सू. शां. भा. ३. २. ३९, ४०)। कुछभी हो; परंतु इसमें संदेह नहीं, कि इस क्षणतक जो जो कर्म किये गये होंगे, इन सबके परिणामोंके संग्रहकोही 'संचित', 'अदृश्य' या 'अपूर्व' कहते हैं। उन सब संचित कर्मोंको एकदम भोगना असंभव है। क्योंकि इनके परिणामोंसे कुछ परस्पर-विरोधी अर्थात् भले और बुरे, दोनों प्रकारके फल देनेवाले हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, कोई 'संचित' कर्म स्वर्गप्रद और कोई नरकप्रदभी होते हैं इसलिये इन दोनोंके फलोंको एकही समय भोगना संभव नहीं है – इन्हें एकके बाद एक भोगना पड़ता है। अतएव 'संचित'मेंसे जितने कर्मोंके फलोंको भोगना पहले शुरू होता है, उतनेहीको 'प्रारब्ध' अर्थात् आरंभित 'संचित'

कहते हैं। व्यवहारमें संचितके अर्थमेंही 'प्रारब्ध' शब्दका उपयोग किया जाता है; परंतु यह भूल है। शास्त्रदृष्टिसे यही प्रकट होता है, कि 'संचितके अर्थात् भूतपूर्व कर्मोंके संग्रहके एक छोटेभेदकोही 'प्रारब्ध' कहते हैं। 'प्रारब्ध' कुछ समस्त संचित नहीं है। संचितके जितने भागके फलोंका (कार्योंका) भोगना आरंभ हो गया हो, उतनाही प्रारब्ध है, और इसी कारणसे प्रारब्धका दूसरा नाम आरब्ध-कर्म है। प्रारब्ध और संचितके अतिरिक्त कर्मका क्रियामाण नामक एक और तीसरा भेद है। 'क्रियामाण' वर्तमानकालवाचक धातुसाधित शब्द है, और उसका अर्थ है – "जो कर्म अभी हो रहा है, अथवा जो कर्म अभी किया जा रहा है।" परंतु वर्तमान समयमें हम जो कुछ करते हैं, वह प्रारब्ध कर्मकाही (अर्थात् संचित कर्मोंमेंसे जिन कर्मका भोगना शुरू हो गया है, उनकाही) परिणाम है; अतएव 'क्रियमाण'को कर्मका तीसरा भेद माननेके लिये हमें कोई कारण दीख नहीं पड़ता। हाँ, यह भेद दोनोंमें अवश्य किया जा सकता है, कि प्रारब्ध कारण है और क्रियमाण उसका फल अर्थात् कार्य है। परंतु कर्म-विपाक-प्रक्रियामें इस भेदका कुछ उपयोग नहीं हो सकता। संचितमेंसे जिन कर्मोंके फलोंका भोगना अभीतक आरंभ नहीं हुआ है, उनका – अर्थात् संचितमेंसे प्रारब्धको घटा देनेपर जो कर्म बाकी रह जायँ, उनका – बोध करानेके लिये किसी दूसरे शब्दकी आवश्यकता है। इसलिये वेदान्तसूत्र (वे. सू. ४. १. १५) में प्रारब्धही-को प्रारब्ध-कर्म और जो प्रारब्ध नहीं हैं, उन्हें अनारब्ध-कार्य कहा है। हमारे मतानुसार संचित कर्मोंके इस रीतिसे प्रारब्ध-कार्य और अनारब्ध-कार्य – दो भेद करनाही शास्त्रदृष्टिसे अधिक युक्तिपूर्ण मालूम होता है। इसलिय 'क्रियमाण'को धातुसाधित वर्तमानकालवाचक न समझकर "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार (पा. ३. ३. १३१) भविष्यकालवाचक समझें, तो उसका अर्थ "जो आगे शीघ्रही भोगनेका है" – किया जा सकेगा; और तब 'क्रियमाण'काही अर्थ अनारब्ध-कार्य हो जायगा; एवं 'प्रारब्ध' तथा 'क्रियमाण' ये दो शब्द क्रमसे वेदान्तसूत्रके 'आरब्ध-कार्य' और 'अनारब्ध-कार्य' शब्दोंसे समानार्थक हो जायँगे। परंतु क्रियमाणका ऐसा अर्थ आजकल कोई नहीं करता; उसका अर्थ प्रचलित कर्मही लिया जाता है। इसपर यह आक्षेप है, कि ऐसा अर्थ लेनेसे प्रारब्धके फलकोही क्रियमाण कहना पड़ता है; और जो कर्म अनारब्ध-कार्य हैं, उनका बोध करानेके लिये संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण, इन तीनों शब्दोंमें कोईभी शब्द पर्याप्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त क्रियमाण शब्दके रूढार्थको छोड़ देनाभी अच्छा नहीं है। इसलिये कर्म-विपाक-प्रक्रियामें संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मके इन लौकिक भेदोंको न मानकर हमने उसके अनारब्ध-कार्य और आरब्ध-कार्यसे ये दोही वर्ग किये हैं; और येही शास्त्रदृष्टिसेभी सुभीतेके हैं। 'भोगना' क्रियाके कालकृत तीन भेद होते हैं – जो भोगा जा चुका है (भूत), जो भोगा जा रहा है (वर्तमान) और जिसे आगे भोगना है (भविष्य)। परंतु

कर्म-विपाक-क्रियामें इस प्रकार कर्मके तीन भेद नहीं हो सकते, क्योंकि संचितमेंसे जो कर्म प्रारब्ध होकर भोगे जाते हैं, उनके फल फिरभी संचितहीमें जा मिलते हैं। इसलिये कर्म-भोगका विचार करते समय संचितके येही दो भेद हो सकते हैं – (१) वे कर्म, जिनका भोगना शुरू हो गया है अर्थात् प्रारब्ध; और (२) जिनका भोगना शुरू नहीं हुआ है अर्थात् अनारब्ध। इन दो भेदोंसे अधिक भेद करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार सब कर्मोंके फलोंका द्विविध वर्गीकरण करके उनके उपभोगके संबंधमें कर्म-विपाक-प्रक्रिया यह बतलाती है, कि संचितही कुल भोग्य है। इनमेंसे जिन कर्म-फलोंका उपभोग आरंभ होनेसे यह शरीर या जन्म मिला है, अर्थात् संचितमेंसे जो कर्म प्रारब्ध हो गये हैं; उन्हें भोगे बिना छुटकारा नहीं है – "प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।" जब एक बार हाथसे बाण छूट जाता है, तब वह लौटकर आ नहीं सकता; अंततक चलाही जाता है; अथवा जब एक बार कुम्हारका चक्र घुमा दिया जाता है तब उसकी गतिका अंत होनेतक वह घूमताही रहता है; ठीक इसी तरह 'प्रारब्ध'कर्मोंकी – अर्थात् जिनके फलका भोग होना शुरू हो गया है, उनकीभी – अवस्था होती है। जो शुरू हो गया है, उसका अंत होनाही चाहिये, इसके सिवा दूसरी गति नहीं है। परंतु अनारब्ध-कार्य-कर्मका ऐसा हाल नहीं है – इन सब कर्मोंका ज्ञानसे पूर्णतया नाश किया जा सकता है। प्रारब्ध-कार्य और अनारब्ध-कार्यमें जो यह महत्त्वपूर्ण भेद है, उसके कारण ज्ञानी पुरुषको ज्ञान होनेके बादभी नैसर्गिक रीतिसे मृत्यु होनेतक – अर्थात् जन्मके साथही प्रारब्ध हुए कर्मोंका अंत होनेतक – शांतिके साथ राह देखनी पड़ती है। ऐसा न करके यदि वह हठसे देहत्याग करे, तो ज्ञानसे उसके अनारब्ध-कर्मोंका क्षय हो जानेपरभी उसके हठसे देहारंभक प्रारब्ध-कर्मोंका भोग अपूर्ण रह जायगा, जिन्हें भोगनेके लिये उसे फिरभी जन्म लेना पड़ेगा; एवं उसके मोक्षमेंभी बाधा आ जायगी – यह वेदान्त और सांख्य, दोनों शास्त्रोंका निर्णय है (वे. सू. ४. १. १३–१५; तथा सां. का. ६७)। उक्त बाधाके सिवा हठसे आत्महत्या करना एक नया ही कर्म हो जायगा; और उसके फल भोगनेके लिये नया जन्म लेनेकी फिरभी आवश्यकता होगी। इससे साफ़ जाहिर होता है, कि कर्मशास्त्रकी दृष्टिसेभी आत्महत्या करना मूर्खताही है।

कर्मफल-भोगकी दृष्टिसे कर्मके भेदोंका वर्णन हो चुका। अब इसका विचार किया जायगा, कि कर्मबंधनसे छुटकारा कैसे अर्थात् किस युक्तिसे हो सकता है? पहली युक्ति कर्मवादियोंकी है। ऊपर बतलाया जा चुका है, कि अनारब्ध-कार्य भविष्यमें भुगते जानेवाले संचित कर्मोंको कहते हैं – फिर इन कर्मोंको चाहे इसी जन्ममें भोगना पडे या उसके लिये औरभी दूसरे जन्म लेने पड़े। परंतु इस अर्थकी ओर ध्यान न देकर कुछ मीमांसकोंने कर्मबंधनसे मुक्त होकर मोक्ष पानेका अपने मतानुसार सहज मार्ग ढूंढ निकाला है। तीसरे प्रकरणमें कहे अनुसार, मीमांसकोंकी दृष्टिसे समस्त कर्मोंके नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध ऐसे चार भेद होते हैं। इनमेंसे संध्या

आदि नित्यकर्मोंको न करनेसे पाप लगता है; और नैमित्तिक कर्म तभी करने पड़ते है, कि जब उनके लिये कोई निमित्त उपस्थित हो। इसलिये मीमांसकोंका कहना है, कि इन दोनों कर्मोंको करनाही चाहिये। बाकी रहे काम्य और निषिद्ध कर्म। इनमेंसे निषिद्ध कर्म करनेसे पाप लगता है, इसलिये नहीं करने चाहिये; और काम्य कर्मोंको करनेसे उसके फलोंको भोगनेके लिये फिरभी जन्म लेना पड़ता है, इसलिये उन्हेंभी नहीं करना चाहिये। इस प्रकार भिन्न भिन्न कर्मोंके परिणामोंके तारतम्यका विचार करके यदि मनुष्य कुछ कर्मोंको छोड़ दे और कुछ कर्मोंको शास्त्रोक्त रीतिसे करता रहे, तो वह आप-ही-आप मुक्त हो जायगा। क्योंकि इस जन्ममें प्रारब्ध कर्मोंका उपभोग कर लेने-से, उनका अंत हो जाता है – और इस जन्ममें सब नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको करते रहनेसे तथा निषिद्ध कर्मोंसे बचते रहनेसे नरकमें नहीं जाना पड़ता; एवं काम्य कर्मोंको छोड़ देनेसे स्वर्ग आदि सुखोंके भोगनेकीभी आवश्यकता नहीं रहती। और जब इहलोक, नरक और स्वर्ग, ये तीनों गतियाँ इस प्रकार छूट जाती हैं, तब आत्माके लिये मोक्षके सिवा कोई दूसरी गतिही नहीं रह जाती। इस वादको 'कर्ममुक्ति' या 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' कहते हैं। कर्म करनेपरभी जो न करनेके समान हो अर्थात् जब किसी कर्मके पाप-पुण्यका बंधन कर्ताको नहीं हो सकता, तब उस स्थितिको 'नैष्कर्म्य' कहते हैं। परंतु वेदांतशास्त्रमें निश्चय किया गया है, कि मीमांसकोंकी उक्त युक्तिसे यह 'नैष्कर्म्य' पूर्ण रीतिसे नहीं सध सकता (वे. सू. शां. भा. ४. ३. १४); और इसी अभिप्रायसे गीताभी कहती है, कि "कर्म न करनेसे नैष्कर्म्य नहीं होता; और छोड़ देनेसे सिद्धिभी नहीं मिलती" (गीता. ३. ४)। धर्मशास्त्रोंमें कहा गया है, कि पहले तो सब निषिद्ध कर्मोंका त्याग करनाही असंभव है और यदि कोई निषिद्ध कर्म हो जाता है, तो केवल नैमित्तिक प्रायश्चित्तसे उसके सब दोषोंका नाशभी नहीं होता। अच्छा; यदि मान लें, कि उक्त बात संभव है, तोभी मीमांसकोंके इस कथनमेंही सत्यांश नहीं दीख पड़ता, कि "प्रारब्ध कर्मोंको भोगनेसे तथा इस जन्ममें किये जानेवाले कर्मोंको उक्त युक्तिके अनुसार करने या न करने सब 'संचित' कर्मोंका सग्रह समाप्त हो जाता है" क्योंकि दो 'संचित' कर्मोंके फल परस्पर-विरोधी – उदाहरणार्थ, एकका फल स्वर्ग-सुख तथा दूसरेका फल नरक-यातना – हों, तो उन्हें एकही समयमें और एकही स्थलमें भोगना असंभव है। इस-लिये इसी जन्ममें 'प्रारब्ध' हुए कर्मोंसे तथा इसी जन्ममें किये जानेवाले कर्मोंसे सब संचित' कर्मोंके फलोंका भोगना पूरा नहीं हो सकता। महाभारतमें पराशरगीतामें कहा है :–

कदाचित्सुकृतं तात कूटस्थमिव तिष्ठति।
मज्जमानस्य संसारे यावद्दुःखाद्विमुच्यते ।।

"कभी कभी मनुष्यके सांसरिक दुःखोंसे छूटनेतक उसका पूर्वकालमें किया गया पुण्य (उसे अपना फल देनेकी राह देखता हुआ) चुपचाप बैठा रहता है"

(मभा. शां. २९०. १७); और यही संचित पाप-कर्मोंकोभी लागू है। इस प्रकार संचित कर्मोपभोग एकही जन्ममें चुक जाता; किंतु संचित कर्मोंका एक भाग अर्थात् अनारब्ध-कार्य हमेशा बचाही रहता है, और इस जन्मके सब कर्मोंको यदि उपर्युक्त युक्तिसे करते रहें, तोभी बचे हुये अनारब्ध-कार्य संचितोंको भोगनेके लिये पुनः जन्म लेनाही पड़ता है। इसीलिये वेदान्तका सिद्धान्त है, कि मीमांसकोंकी उपर्युक्त सरल मोक्ष-युक्ति खोटी तथा भ्रांतिमूलक है। कर्मबंधनसे छूटनेका यह मार्ग किसीभी उपनिषदमें नहीं बतलाया गया है। यह केवल तर्कके आधारसे स्थापित किया गया है; परंतु यह तर्कभी अंततक नहीं टिकता। सारांश, कर्मके द्वारा कर्मसे छुटकारा पानेकी आशा रखना वैसेही व्यर्थ है जैसे एक अंधा दूसरे अंधेको रास्ता दिखलाकर पारकर दे! अच्छा; अब यदि मीमांसकोंकी इस युक्तिको मंजूर न करें; और कर्मके बंधनोंसे छुटकारा पानेके लिये सब कर्मोंको आग्रहपूर्वक छोड़कर निरुद्योगी बन बैठें, तोभी काम नहीं चल सकता; क्योंकि अनारब्ध-कर्मोंके फलोंका भोगना तो बाकीही रहता है; और इसके साथ कर्म छोड़नेका आग्रह तथा चुपचाप बैठे रहना दोनों तामस कर्म हो जाते हैं; एवं इन तामस कर्मोंके फलोंको भोगनेके लिये फिरभी जन्म लेनाही पड़ता है (गीता १८. ७, ८)। इसके सिवा गीतामें अनेक स्थलोंपर यहभी बतलाया गया है, कि जबतक शरीर है, तबतक श्वासोच्छ्वास, सोना, बैठना इत्यादि कर्म होतेही रहते हैं। इस लिये सब कर्मोंको छोड़ देनेका आग्रहभी व्यर्थही है – यथार्थमें इस संसारमें कोई क्षणभरके लियेभी कर्म करना छोड़ नहीं सकता (गीता ३. ५; १८. ११)।

कर्म चाहे भला हो या बुरा, परंतु उसका फल भोगनेके लिये मनुष्यको एक न एक जन्म लेकर हमेशा तैयार रहना चाहिये। कर्म अनादि है, और उसके अखंड व्यापारमें परमेश्वरभी हस्तक्षेप नहीं करता। सब कर्मोंको छोड़ देना संभव नहीं है, और मीमांसकोंके कथनानुसार कुछ कर्मोंको करनेसे और कुछ कर्मोंको छोड़ देनेसेभी कर्मबंधनसे छुटकारा नहीं मिल सकता – इत्यादि बातोंके सिद्ध हो जानेपर यह पहला प्रश्न फिरभी उत्पन्न होता है, कि कर्मात्मक नामरूपके विनाशी चक्रसे छूट जाने एवं उसके मूलमें रहनेवाले अमृत तथा अविनाशी तत्त्वमें मिल जानेकी मनुष्यको जो स्वाभाविक इच्छा होती है, उसकी तृप्ति करनेका कौनसा मार्ग है? वेद और स्मृतिग्रंथोंमें यज्ञयाग आदि पारलौकिक कल्याणके अनेक साधनोंका वर्णन है, परंतु मोक्षशास्त्रकी दृष्टिसे ये सब कनिष्ठ श्रेणीके हैं। क्योंकि यज्ञयाग आदि पुण्यकर्मोंके द्वारा स्वर्गप्राप्ति हो जाती है, परंतु जब उन पुण्य-कर्मोंके फलोंका अंतहो जाता है तब – चाहे दीर्घकालमेंही क्यों न हो – कभी न कभी इस कर्मभूमिमें फिर लौट कर आनाही पड़ता है (मभा. वन. २५९, २६०; गीता ८. २५, ९. २०)। इससे स्पष्ट हो जाता है, कि कर्मके पंजेसे बिलकुल छूटकर अमृतत्वमें मिल जानेका और जन्म-मरणकी झंझटको सदाके लिये दूर कर देनेका यह सच्चा मार्ग नहीं है। इस

झंझटको सदाके लिये दूर करनेका अर्थात् मोक्षप्राप्तिका अध्यात्मशास्त्र कथनानुसार 'ज्ञान'ही एक सच्चा मार्ग है। 'ज्ञान' शब्दका अर्थ व्यवहार-ज्ञान या नाम-रूपात्मक सृष्टिशास्त्रका ज्ञान नहीं है, किंतु यहाँ उसका अर्थ ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान है। इसीको 'विद्या'भी कहते हैं, और इस प्रकरणके आरंभमें "कर्मणा बध्यते जंतुः विद्यया तु प्रमुच्यते" – कर्मसेही प्राणी बाँधा जाता है, और विद्यासे उसका छुटकारा होता है – यह जो वचन दिया गया है, उसमें 'विद्या'का अर्थ 'ज्ञान'ही विवक्षित है, गीतामें भगवानने अर्जुनसे कहा है, कि :–

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन

"ज्ञानरूप अग्निसे सब कर्म भस्म हो जाते हैं" (गीता ४. ३७)। और दोन स्थलोंपर महाभारतमेंभी कहा गया है, कि :–

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः॥

"भूना हुआ बीज जैसे उग नहीं सकता, वैसेही जब ज्ञानसे (कर्मोंके) क्लेश दग्ध हो जाते हैं, तब वे आत्माको पुनः प्राप्त नहीं होते" (मभा. वन. १९९. १०६, १०७; शां. २११. १७)। उपनिषदोंमेंभी इसी प्रकार ज्ञानकी महत्ता बतलानेवाले अनेक वचन हैं। जैसे – "य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति।" (बृ. १. ४. १०) – जो यह जानता है, कि मैंही ब्रह्म हूँ, वही अमृत ब्रह्म होता है। जिस प्रकार कमलपत्रमें पानी चिपक नही सकता, उसी प्रकार जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया है, उसे कम दूषित नहीं कर सकते (छां. ४. १४. ३)। ब्रह्म जाननेवालेको मोक्ष मिलता है (तै. २. १)। जिसे यह मालूम हो चुका है, कि सब कुछ आतममय है, उसे पाप नहीं लग सकता (बृ. ४. ४. २३)। "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" (श्वे. ५. १३; ६. १३) – परमेश्वरका ज्ञान होनेपर सब पाशोंसे मुक्त हो जाता है। "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु. २. २. ८) परब्रह्मका ज्ञान होनेपर सब कर्मोंका क्षय हो जाता है। "विद्ययामृतमश्नुते" (ईशा. ११. मैत्र्यु. ७. ९) – विद्यासे अमृतत्व मिलता है। "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे. ३. ८) – परमेश्वरको जान लेनेसे अमरत्व मिलता है; इसको छोड़ मोक्षप्राप्तिका दूसरा मार्ग नहीं है। और शास्त्रदृष्टिसे विचार करने-परभी यही सिद्धान्त दृढ होता है। क्योंकि दृश्य सृष्टिमें जो कुछ है, वह सब यद्यपि कर्ममय है, तथापि इस सृष्टिके आधारभूत परब्रह्मकीही वह सब लीला है; इसलिये यह स्पष्ट है, कि कोईभी कर्म परब्रह्मको बाधा नहीं दे सकते – अर्थात् सब कर्मोंको करकेभी परब्रह्म अलिप्तही रहता है। इस प्रकरणके आरंभमें बतलाया जा चुका है, कि अध्यात्मशास्त्रके अनुसार इस संसारके सब पदार्थोंके कर्म (माया) और ब्रह्म, ये दोही वर्ग होते हैं। इससे यही प्रकट होता है, कि इनमेंसे किसी एकवर्गसे अर्थात् कर्मसे छुटकारा पानेकी इच्छा हो, तो मनुष्यको दूसरे वर्गमें अर्थात् ब्रह्मस्वरूपमें

प्रवेश करना चाहिये, इसके सिवा और दूसरा मार्ग नहीं है। क्योंकि जब सब पदार्थोंके केवल दोही वर्ग होते हैं, तब कर्मसे मुक्त अवस्था सिवा ब्रह्मस्वरूपके और कोई शेष नहीं रह जाती। परंतु ब्रह्मस्वरूपकी इस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये स्पष्ट रूपसे यह जान लेना चाहिये, कि ब्रह्मका स्वरूप क्या है ? नहीं तो करने चलेंगे एक और होगा कुछ दूसराही। "विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्" – मूर्ति तो गणेशकी बनानी थी; परंतु (वह न बन कर) बन गई बंदरकी ! ठीक यही दशा होगी। इसलिये अध्यात्मशास्त्रके युक्तिवादसेभी यही सिद्ध होता है, कि ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान (अर्थात् ब्रह्मात्मैक्यका तथा ब्रह्मकी अलिप्तताका ज्ञान) प्राप्त करके उसे मृत्युपर्यंत स्थिर रखनाही कर्मपाशसे मुक्त होनेका सच्चा मार्ग है। गीतामें भगवाननेभी यही कहा है, कि "कर्मोंमें मेरी कुछभी आसक्ति नहीं है; इसलिये मुझे कर्मकी बाधा नहीं होती; और जो इस तत्त्वको समझ जाता है, वह कर्मपाशसे मुक्त हो जाता है।" (गीता ४. १४ तथा १३. २३)। स्मरण रहे, कि यहाँ 'ज्ञान'का अर्थ केवल शाब्दिक ज्ञान या केवल मानसिक क्रिया नहीं है; किंतु वेदान्तसूत्रके शांकरभाष्यके आरंभहीमें कहे अनुसार हर समय और प्रत्येक स्थानमें उसका अर्थ "पहले मानसिक ज्ञान होनेपर और फिर इंद्रियोंपर जय प्राप्तकर लेनेपर ब्रह्मीभूत होनेकी अवस्था या ब्राह्मी स्थितिही है।" पिछले प्रकरणके अंतमें ज्ञानके संबंधमें अध्यात्मशास्त्रका यही सिद्धान्त बतलाया गया है और महाभारतमेंभी जनकने सुलभासे कहा है, कि "ज्ञानेन कुरुते यत्नं यत्नेन प्राप्यते महत्" – ज्ञान अर्थात् मानसिक क्रियारूपी ज्ञान हो जानेपर मनुष्य यत्न करता है; और यत्नके इस मार्गसेही अंतमें उसे महत्त्व (परमेश्वर) प्राप्त हो जाता है (शां. ३२०. ३०)। अध्यात्मशास्त्र इतनाही बतला सकता है, कि मोक्षप्राप्तिके लिये किस मार्गसे और कहाँ जाना चाहिये – इससे अधिक वह और कुछ नहीं बतला सकता। शास्त्रसे ये बातें जानकर प्रत्येक मनुष्यको शास्त्रोक्त मार्गपर स्वयंही चलना चाहिये। और उस मार्गमें जो काँटे या बाधाएँ हों, उन्हें निकालकर अपना रास्ता खुद साफ़कर लेना चाहिये; एवं उसी मार्गपर चलते हुए स्वयं; अपने प्रयत्नसेही अंतमें ध्येयवस्तुकी प्राप्ति कर लेनी चाहिये। परंतु यह प्रयत्नभी पातंजलयोग, अध्यात्मविचार, भक्ति, कर्मफलत्याग इत्यादि अनेक प्रकारसे किया जा सकता है (गीता १२. ८–१२), और इस कारण मनुष्य बहुधा उलझनमें फँस जाता है। इसीलिये गीतामें पहले निष्काम कर्मयोगका मुख्य मार्ग बतलाया गया है, और उसकी सिद्धिके लिये छठें अध्यायमें यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिरूप अंगभूत साधनोंकाभी वर्णन किया गया है, तथा सातवें अध्यायसे आगे यह बतलाया है, कि कर्मयोगका आचरण करते रहनेसेही परमेश्वरका ज्ञान अध्यात्मविचार-द्वारा अथवा (इससेभी सुलभ रीतिसे) भक्तिमार्ग-द्वारा हो जाता है (गीता १८. ५६)।

कर्मबंधनसे छुटकारा पानेके लिये कर्म छोड़ देना कोई उचित मार्ग नहीं है; किंतु ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे बुद्धिको शुद्ध रखके परमेश्वरके समान आचरण करते रहनेसेही अंतमें मोक्ष मिलता है। कर्मको छोड़ देना भ्रम है, क्योंकि कर्म किसीसे छूट नहीं सकता – इत्यादि बातें यद्यपि अब निर्विवाद सिद्ध हो गई हैं, तथापि यह पहला प्रश्न फिरभी उठता है, कि इस मार्गमें सफलता पानेके लिये आवश्यक ज्ञानप्राप्तिका जो प्रयत्न करना पड़ता है, वह मनुष्यके वसकी बात है ? अथवा नामरूप कर्मात्मक प्रकृति जिधर खींचे, उधरही उसे चले जाना चाहिये ? गीतामें भगवान् कहते हैं, कि "प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।" (गीता ३. ३३) – निग्रहसे क्या होगा; प्राणिमात्र अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसारही चलते हैं। "मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति" – तेरा निश्चय व्यर्थ है; जिधर तू न चाहेगा, उधर तेरी प्रकृति तुझे खींच लेगी (गीता १८. ५९; २. ६०); और मनुजी कहते हैं, कि "बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति" (मनु. २. २१५) – विद्वानोंकोभी इंद्रियाँ अपने वशमें कर लेती हैं। कर्म-विपाक-प्रक्रियाकाभी निष्कर्ष यही है। क्योंकि जब ऐसा मान लिया जाय, कि मनुष्यके मनकी सब प्रेरणाएँ पूर्वकर्मोंसेही उत्पन्न होती हैं, तब तो यही अनुमान करना पड़ता है, कि उसे एक कर्मसे दूसरे कर्ममें अर्थात् सदैव भवचक्रमेंही रहना चाहिये। अधिक क्या कहें ? कर्मसे छुटकारा पानेकी प्रेरणा और कर्म, दोनों बातें परस्पर-विरुद्ध हैं। और यदि यह सत्य है तो यह आपत्ति आ पड़ती है, कि ज्ञान प्राप्त करनेके लिये कोईभी मनुष्य स्वतंत्र नहीं है। इस विषयका विचार अध्यात्मशास्त्रमें इस प्रकार किया गया है, कि नामरूपात्मक सारी दृश्य सृष्टिका आधारभूत जो तत्त्व है, वही मनुष्यकी जड़ देहमेंभी आत्मरूपसे निवास करता है; इससे मनुष्यके कृत्योंका विचार देह और आत्मा, दोनोंकी दृष्टिसे करना चाहिये। इनमेंसे आत्मस्वरूपी ब्रह्म मूलमें केवल एकही होनेके कारण कभीभी परतंत्र नहीं हो सकता। क्योंकि किसी एक वस्तुको दूसरेकी अधीनतामें होनेके लिये एकसे अधिक – कम-से-कम दो – वस्तुओंका होना नितान्त आवश्यक है। यहाँ नाम-रूपात्मक कर्मही वह दूसरी वस्तु है। परंतु यह कर्म अनित्य है; और मूलमें वह परब्रह्मकीही लीला है, जिससे निर्विवाद सिद्ध होता है, कि यद्यपि उसने परब्रह्मके एक अंशको आच्छादित कर लिया है, तथापि वह परब्रह्मको अपना दास कभीभी बना नहीं सकता। इसके अतिरिक्त यह पहलेही बतलाया जा चुका है, जो आत्मा कर्मसृष्टिके व्यापारोंका एकीकरण करके सृष्टिज्ञान उत्पन्न करता है, उसे कर्म-सृष्टिसे भिन्न अर्थात् ब्रह्मसृष्टिकाही होना चाहिये। इससे सिद्ध होता है, कि परब्रह्म और वस्तुतः उसीका अंश जो शारीर आत्मा, दोनों मूलतः स्वतंत्र अर्थात् कर्मात्मक प्रकृतिकी सत्तासे मुक्त हैं। इनमेंसे परमात्माके विषयमें मनुष्यको इससे अधिक ज्ञान नहीं हो सकता, कि वह अनंत, सर्वव्यापी, नित्य शुद्ध और मुक्त है। परंतु इस परमात्माहीके अंशरूप जीवात्माकी बात भिन्न है। यद्यपि वह मूलमें शुद्ध, मुक्त-

स्वभाव, निर्गुण तथा अकर्ता है, तथापि शरीर और बुद्धि आदि इंद्रियोंके बंधनमें फँसा होनेके कारण वह मनुष्यके मनमें जो स्फूर्ति उत्पन्न करता है, उसका प्रत्यक्षानुभवरूपी ज्ञान हमें हो सकता है। भाफ़का उदाहरण लीजिये। जब वह खुली जगहमें रहती है तब उसका कुछ बल नहीं होता; परंतु वह जब किसी बर्तनमें बंद कर दी जाती है, तब उसका दबाव उसी बर्तनपर जोरसे होता हुआ दीख पड़ने लगता है; ठीक इसी तरह जब परमात्माकाही अंशभूत जीव (गीता १५.७) अनादि पूर्वकर्मार्जित जड़ देह तथा इंद्रियोंके बंधनोंसे बद्ध हो जाता है, तब इस बद्धावस्थासे उसको मुक्त करनेके लिये (अर्थात् मोक्षानुकूल) कर्म करनेकी प्रवृत्ति देहेंद्रियोंमें होने लगती है; और इसीको व्यावहारिक दृष्टिसे 'आत्माकी स्वतंत्र प्रवृत्ति' कहते हैं। 'व्यावहारिक दृष्टिसे' कहनेका कारण यह है, कि शुद्ध मुक्तावस्थामें या 'तात्त्विक दृष्टिसे' आत्मा इच्छारहित तथा अकर्ता है और सब कर्तृत्व केवल प्रकृतिका है (गीता १३. २९; वे. सू. शां. भा. २. ३. ४०)। परंतु वेदान्ती लोग सांख्यमतकी भाँति यह नहीं मानते, कि प्रकृतिही स्वयं मोक्षानुकूल कर्म किया करती है; क्योंकि ऐसा मान लेनेसे यह कहना पड़ेगा, कि जड़ प्रकृति अपने अंधेपनसे अज्ञानियोंकोभी मुक्त कर सकती है। और यहभी नहीं कहा जा सकता, कि जो आत्मा मूलहीमें अकर्ता है, वह स्वतंत्र रीतिसे – अर्थात् बिना किसी निमित्तके – अपने नैसर्गिक गुणोंसेही प्रवर्तक हो जाता है। इसलिये आत्म-स्वातंत्र्यके उक्त सिद्धान्तको वेदान्तशास्त्रमें इस प्रकार बतलाना पड़ता है, कि आत्मा यद्यपि मूलमें अकर्ता है, तथापि बंधनोंके निमित्तसे वह उतनेहीके लिये दिखाऊ प्रेरक बन जाता है; और जब यह आगंतुक प्रेरकता उसमें एक बार किसीभी निमित्तसे आ जाती है, तब वह कर्मके नियमोंसे भिन्न अर्थात् स्वतंत्रही रहती है। 'स्वतंत्र'का अर्थ निर्निमित्तक नहीं है; और आत्मा अपनी मूल शुद्धावस्थामें कर्ताभी नहीं रहता। परंतु बार बार इस लंबीचौड़ी कर्मकथाको बतलाते न रहकर इसीको संक्षेपमें आत्माकी स्वतंत्र प्रवृत्ति या प्रेरणा कहनेकी परिपाठी हो गई है। बंधनमें पड़नेके कारण आत्माके द्वारा इंद्रियोंको मिलनेवाली इस स्वतंत्र प्रेरणामें और बाह्यसृष्टिके पदार्थोंके संयोगसे इंद्रियोंमें उत्पन्न होनेवाली प्रेरणामें बहुत भिन्नता है। खाना, पीना, चैन करना – ये सब इंद्रियोंकी प्रेरणाएँ हैं; और आत्माकी प्रेरणा मोक्षानुकूल कर्म करनेके लिये हुआ करती है। पहली प्रेरणा केवल बाह्य अर्थात् कर्मसृष्टिकी हैं। परंतु दूसरी प्रेरणा आत्माकी अर्थात् ब्रह्मसृष्टिकी है। और ये दोनों प्रेरणाएँ प्रायः परस्पर-विरोधी हैं, जिससे इनके झगड़ेमेंही मनुष्यकी सब आयु बीत जाती है। इनके झगड़ेके समय जब मनमें संदेह उत्पन्न होता है, तब कर्मसृष्टिकी प्रेरणाको न मानकर (भाग. ११. १०. ४) यदि मनुष्य शुद्धात्माकी स्वतंत्र प्रेरणाके अनुसार चलने लगे – और इसीको सच्चा आत्मज्ञान या आत्मनिष्ठा कहते हैं – तो इसके सब व्यवहार स्वभावतः मोक्षानुकूलही होंगे। और अंतमें :–

विशुद्धधर्मा शुद्धेन बुद्धेन च स बुद्धिमान् ॥
विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना ॥
स्वतंत्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतंत्रत्वमवाप्नुते ।

"वह जीवात्मा या शारीर आत्मा – जो मूलमें स्वतंत्र है – ऐसे परमात्मामें मिल जाता है, जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निर्मल और स्वतंत्र है" (मभा. शां. ३०८. २७ --३०) । ऊपर जो कहा गया है, कि ज्ञानसे मोक्ष मिलता है. उसका यही अर्थ है। इसके विपरीत जब जड़ देहेंद्रियोंके प्राकृत धर्मकी – अर्थात् कर्मसृष्टिकी प्रेरणाकी – प्रबलता हो जाती है, तब मनुष्यकी अधोगति होती है। शरीरमें बँधे हुए जीवात्मामें, देहेंद्रियोंमें मोक्षानुकूल कर्म करनेकी तथा ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसे मोक्ष प्राप्तकर लेनेकी, जो यह स्वतंत्र शक्ति है, उसकी ओर ध्यान देकरही भगवानने अर्जुनको आत्म-स्वातंत्र्य अर्थात् स्वावलंबनके तत्त्वका उपदेश किया है, कि :–

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

"मनुष्यको चाहिये, कि वह अपना उद्धार आपही करे। निराशासे वह अपनी अवनति आपही न करे। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना बंधु (हितकारी) है; और स्वयं अपना शत्रु (नाशकर्ता) है" (गीता ६. ५); और इसी हेतुसे योगवासिष्ठमें (यो. २. सर्ग ४–८) दैवका निराकरण करके पौरुषके महत्त्वका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। जो मनुष्य इस तत्त्वको पहचान कर आचरण किया करता है, कि सब प्राणियोंमें एकही आत्मा है, उसके इसी आचरणको सदाचरण या मोक्षानुकूल आचरण कहते हैं। और बद्ध जीवात्माकाभी यही स्वतंत्र धर्म है, कि ऐसे आचरणकी ओर देहेंद्रियोंको प्रवृत्त किया करे। इसी धर्मके कारण दुराचारी मनुष्यका अंतःकरणभी सदाचरणहीका पक्ष लिया करता है, जिससे उसे अपने किये हुए दुष्कर्मोंका पश्चात्ताप होता है। आधिदैवत पक्षके पंडित इसे सदसद्विवेक-बुद्धिरूपी देवताकी स्वतंत्र स्फूर्ति कहते हैं। परंतु तात्त्विक दृष्टिसे विचार करने पर विदित होता है, कि बुद्धींद्रिय जड़ प्रकृतिहीका विकार होनेके कारण स्वयं अपनीही प्रेरणासे कर्मके नियम-बंधनोंसे मुक्त नहीं हो सकती, यह प्रेरणा उसे कर्मसृष्टिके बाहरके आत्मासे प्राप्त होती है। इसी प्रकार पश्चिमी पंडितोंका 'इच्छा-स्वातंत्र्य' शब्दभी वेदान्तकी दृष्टिसे ठीक नहीं है! क्योंकि इच्छा मनका धर्म है और आठवें प्रकरणमें कहा जा चुका है, कि बुद्धि तथा उसके साथ साथ मनभी कर्मात्मक जड़ प्रकृतिके अस्वयंवेद्य विकार हैं। इसलिये ये दोनों स्वयंही कर्मके बंधनसे छूट नहीं सकते। अतएव वेदान्तशास्त्रका निश्चय है, कि सच्चा स्वातंत्र्य न तो बुद्धिका है और न मनका – वह केवल आत्माका है। यह स्वातंत्र्य न तो कोई आत्माको देता है और न कोई उससे इसे छीनभी सकता है – स्वतंत्र परमात्माका अंशरूप जीवात्मा जब उपाधिके बंधनमें पड़ जाता है, तब

वह स्वयं स्वतंत्र रीतिसे, ऊपर कहे अनुसार, बुद्धि तथा मनमें प्रेरणा किया करता है। अंतःकरणकी इस प्रेरणाका अनादर करके यदि कोई बर्ताव करेगा, तो तुकाराम महाराजके शब्दोंमें यही कहा जा सकता है, कि वह "स्वयं अपनेही पैरोंमें आप कुल्हाड़ी मारनेको तैयार हुआ है" (तु. गा. ४४४८)। भगवद्गीतामें इसी तत्त्वका उल्लेख यों किया गया है : "न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानाम्" – जो स्वयं अपना घात आपही नहीं करता, उसे उत्तम गति मिलती है (गीता १३. २८); और दासबोधमेंभी इसीका स्पष्ट अनुवाद किया गया है (दा. बो. १७. ७. ७–१०)। यद्यपि मनुष्य कर्मसृष्टिके अभेद्य दिखाई देनेवाले नियमोंसे जकड़कर बँधा हुआ है तथापि स्वभावतः उसे ऐसा मालूम होता है, कि मैं इस परिस्थितिमेंभी अमुक कामको स्वतंत्र रीतिसे कर सकूँगा। अनुभवके इस तत्त्वकी उपपत्ति ऊपर कहे अनुसार ब्रह्मसृष्टिको जड़ सृष्टिसे भिन्न माने बिना किसीभी अन्य रीतिसे नहीं बतलाई जा सकती। इसलिये जो अध्यात्मशास्त्रको नहीं मानते, उन्हें इस विषयमें या तो मनुष्यके नित्य दासत्वको मानना चाहिये, या प्रवृत्ति-स्वातंत्र्यके प्रश्नको अगम्य समझकर योंही छोड देना चाहिये; उनके लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है। अद्वैत वेदान्तका यह सिद्धान्त है, कि जीवात्मा और परमात्मा मूलमें एकरूप हैं (वे. सू. शां. भा. २. ३. ४०), और इसी सिद्धान्तके अनुसार प्रवृत्ति-स्वातंत्र्य या इच्छा-स्वातंत्र्यकी उक्त उपपत्ति बतलाई गई है। परंतु जिन्हें यह अद्वैत मत मान्य नहीं है अथवा जो भक्तिके लिये द्वैतका स्वीकार किया करते हैं, उनका कथन है, कि जीवात्माकी यह सामर्थ्य स्वयं उसकी नहीं है; बल्कि यह उसे परमेश्वरसे प्राप्त होती है। तथापि "न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।" (ऋ. ४. ३३. ११) – थकने तक प्रयत्न करनेवाले मनुष्यके अतिरिक्त अन्योंकी देवता मदद नहीं करते – – ऋग्वेदके इस तत्त्वानुसार यह कहा गया है, कि जीवात्माको यह सामर्थ्य प्राप्त करा देनेके लिये पहले स्वयंही प्रयत्न करना चाहिये – अर्थात् आत्मप्रयत्नका या पर्यायसे आत्म-स्वातंत्र्यका तत्त्व फिरभी स्थिर बनाही रहता है (वे. सू. २. ३. ४१, ४२; गीता १०. ५, १०)। अधिक क्या कहें? बौद्धधर्मी लोग आत्माका या परब्रह्मका अस्तित्व नहीं मानते और यद्यपि उनको ब्रह्मज्ञान तथा आत्मज्ञान मान्य नहीं है, तथापि उनके धर्मग्रंथोंमेंभी यही उपदेश किया गया है, कि "अत्तना (आत्मना) चोदयऽत्तानं" – अपने आपको स्वयं अपनेही प्रयत्नसे राहपर लगाना चाहिये। इस उपदेशका समर्थन करकेने लिये कहा गया है, कि :–

अत्ता (आत्मा) हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति।
तस्मा सञ्जमयऽत्ताणं अस्सं (अश्वं) भद्दं व वाणिजो॥

"हमही खुद अपने स्वामी या मालिक हैं, और अपने आत्माके सिवा हमें तारनेवाला दूसरा कोई नहीं है; इसलिये जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने उत्तम घोड़ेका संयमन करता है, उसी प्रकार हमें अपना संयमन आपही भली भाँति करना चाहिये"

(धम्मपद. ३८०); और गीताकी भाँति आत्म-स्वातंत्र्यके अस्तित्व तथा उसकी आवश्यकताकाभी वर्णन किया गया है (महापरिनिब्बाण-सुत्त २. ३३–३५)। आधिभौतिक फ्रेंच पंडित कांटकीभी गणना इसी वर्गमें करनी चाहिये, क्योंकि यद्यपि वह किसी भी अध्यात्मवादको नहीं मानता, तथापि वह बिना किसी उपपत्तिके केवल प्रत्यक्षसिद्ध कह कर इस बातको अवश्य मानता है, कि प्रयत्नसे मनुष्य अपने आचरण और परिस्थितिको सुधार सकता है।

यद्यपि यह सिद्ध हो चुका, कि कर्मपाशसे मुक्त होकर सर्वभूततार्न्गत एक आत्माको पहचान लेनेकी जो आध्यात्मिक पूर्णावस्था है, उसे प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानही एकमात्र उपाय है, और इस ज्ञानको प्राप्त करलेना हमारे बसकी बात है; तथापि स्मरण रहे, कि यह स्वतंत्र आत्माभी अपनी छातीपर लदे हुए प्रकृतिके बोझको एकदम अर्थात् एकही क्षणमें अलग नहीं कर सकता। जैसे कोई कारीगर कितनाही कुशल क्यों न हो, परंतु वह हथियारोंके बिना कुछभी काम नहीं कर सकता और यदि हथियार खराब हों, तो उन्हें ठीक करनेमें उसका बहुत-सा समय नष्ट हो जाता है, वैसेही जीवात्माकाभी हाल है। ज्ञानप्राप्तिकी प्रेरणा करनेके लिये जीवात्मा स्वतंत्र तो अवश्य है, परंतु वह तात्त्विक दृष्टिसे मूलमें निर्गुण और केवल है, अथवा सातवें प्रकरणमें बतलाये अनुसार नेत्रयुक्त परंतु लँगड़ा है। (मैत्र्यु. ३. २, ३; गीता १३. २०); इसलिये उक्त प्रेरणाके अनुसार आगे कर्म करनेके लिये जिन साधनोंकी आवश्यकता होती है (जैसे कुम्हाराको चाककी आवश्यकता होती है); वे इस आत्माके पास स्वयं अपने नहीं होते – जो साधन उपलब्ध हैं – जैसे देह और बुद्धि आदि इंद्रियाँ – वे सब मायात्मक प्रकृतिके विकार हैं। अतएव जीवात्माको अपनी मुक्ति लियेभी प्रारब्धकर्मानुसार प्राप्त देहेंद्रिय आदि सामग्रीके (साधन या उपाधि) द्वाराही सब काम करना पड़ता है। इन साधनोंमें बुद्धि मुख्य है, इसलिये कोई काम करनेके लिये जीवात्मा पहले बुद्धिकोही प्रेरणा करता है। परंतु पूर्वकर्मानुसार और प्रकृतिके स्वाभावानुसार यह कोई नियम नहीं, कि यह बुद्धि हमेशा शुद्ध तथा सात्त्विकही हो। इसलिये पहले त्रिगुणात्मक प्रकृतिके प्रपञ्चसे मुक्त हो कर यह बुद्धि अंतर्मुख, शुद्ध, सात्त्विक या आत्मनिष्ठ होनी चाहिये; अर्थात् यह बुद्धि ऐसी होनी चाहिये, कि जीवात्माकी प्रेरणाको माने, उसकी आज्ञाका पालन करे, और उन्हीं कर्मोंको करनेका निश्चय करे, जिनसे आत्माका कल्याण हो और ऐसा होनेके लिये दीर्घकाल तक वैराग्यका अभ्यास करना पड़ता है। इतना होनेपरभी भूख-प्यास आदि देह-धर्म और संचित कर्मोंके वे फल – जिनका भोगना आरंभ हो गया है – मृत्यु-समयतक छूटतेही नहीं हैं। तात्पर्य यह है, कि यद्यपि उपाधिबद्ध जीवात्मा देहेंद्रियोंको मोक्षानुकूल कर्म करनेकी मूल प्रेरणा करनेके लिये स्वतंत्र है, तथापि प्रकृतिहीके द्वारा चूंकि उसे सब काम कराने पड़ते हैं, इसलिये उतने भरके लिये (बढ़ई, कुम्हार आदि कारी-

गरोंके समान) वह परावलंबी हो जाता है, और उसे देहेंद्रिय आदि हथियारोंको पहले शुद्ध करके अपने अधिकारमें कर लेना पड़ता है (वे. स. २. ३. ४०)। यह काम एकदम नहीं हो सकता, इसे धीरे धीरे धैर्यसे करना करना चाहिये। नहीं तो चमकने और भड़कनेवाले घोड़ेके समान इंद्रियाँ बलवा करने लगेंगी और मनुष्यको धर दबावेंगी। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है, कि इंद्रियनिग्रह करनेके लिये बुद्धिको धृति या धैर्यकी सहायता मिलनी चाहिये (गीता ६. २५) और आगे अठारहवें अध्याय (गीता १८. ३३–३५) में बुद्धिकी भाँति धृतिकेभी – सात्त्विक, राजस और तामस – तीन नैसर्गिक भेद बतलाये गये हैं। इनमेंसे तामस और राजसको छोड़कर बुद्धिको सात्त्विक बनानेके लिये इंद्रियनिग्रह करना पड़ता है। और इसीसे छठवें अध्यायमें इसका संक्षिप्त वर्णन किया है, कि ऐसे इंद्रियनिग्रहा-भ्यासरूप योगके लिये उचित स्थल, आसन और आहार कौन कौनसे हैं? इस प्रकार गीतामें (गीता ६. २५) बतलाया गया है, कि 'शनैः शनैः' अभ्यास करनेपर चित्त स्थिर हो जाता है, इंद्रियाँ वशमें हो जाती हैं और आगे कुछ समयके बाद (एकदम नहीं) ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होता है; एवं फिर "आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय" – उस ज्ञानसे कर्मबंधन छूट जाता है (गीता ४. ३८–४१)। परंतु भगवान् एकांतमें योगाभ्यास करनेका उपदेश देते हैं (गीता ६. १०), इससे गीताका तात्पर्य यह नहीं समझ लेना चाहिये, कि संसारके सब व्यवहारोंको छोड़ कर योगाभ्यासमेंही सारी आयु बिता दी जावे। जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने पासकी पूँजीसेही – चाहे वह बहुत थोड़ीही क्यों न हो – पहले धीरे धीरे व्यापार करने लगता है; और धीरे धीरे उसीके द्वारा अंतमें अपार संपत्ति कमा लेता है, उसी प्रकार गीताके कर्मयोगकाभी हाल है। अपनेसे जितना हो सकता है, उतनाही इंद्रिय-निग्रह करके पहले कर्मयोगका आरंभ करना चाहिये और उसीसे अंतमें अधिकाधिक इंद्रिय-निग्रह-सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है। तथापि चौराहेमें बैठ करभी योगाभ्यास करनेसे काम नहीं चल सकता, क्योंकि इससे बुद्धिको एकाग्रताकी जो आदत हुई होगी, उसके घट जानेका भय होता है। इसलिये कर्म-योगका आचरण करते हुए, कुछ समयतक नित्य या कभी कभी एकान्तका सेवन करनाभी आवश्यक है (गीता १३. १०)। इसके लिये संसारके समस्त व्यवहारोंको छोड़ देनेका उपदेश भगवान्‌ने कहींभी नहीं दिया है; प्रत्युत सांसारिक व्यवहारोंको निष्काम बुद्धिसे करनेके लियेही इंद्रिय-निग्रहका यही अभ्यास बतलाया गया है; और गीताका यही कथन है, कि इस इंद्रिय-निग्रहके साथ साथ यथाशक्ति निष्काम-कर्मयोगकाभी आचरण प्रत्येक मनुष्यको हमेशा करते रहना चाहिये, पूर्ण इंद्रिय-निग्रहके सिद्ध होनेतक राह देखते बैठे नहीं रहना चाहिये। मैत्र्युपनिषद्‌में और महाभारतमें कहा गया है, कि यदि कोई मनुष्य बुद्धिमान् और निग्रही हो, तो वह इस प्रकारके योगाभ्याससे छः महीनोंमें साम्यबुद्धि प्राप्त कर सकता है (मै. ६.

२८; मभा. शां. २३९. ३२; अश्व. अनुगीता १९. ६६)। परंतु भगवानने जिस सात्त्विक, सम या आत्मनिष्ठ बुद्धिका वर्णन किया है, वह वहुतेरे लोगोंको छः महिनोंमें क्या, पर-प्रकृति-स्वभावके अनुसार छः वर्षोंमेंभी प्राप्त नहीं हो सकती, और इस अभ्यासके अपूर्ण रह जानेके कारण इस जन्ममेंभी पूरी सिद्धि होगीही नहीं; इतनाही नहीं तो दूसरा जन्म लेकर फिर आरंभसे वही अभ्यास करना पड़ेगा; और उस जन्मका अभ्यासभी पूर्व-जन्मके अभ्यासकी भाँतिही अधूरा रह जायगा, इसलिये यह शंका उत्पन्न होती है, कि क्या ऐसे मनुष्यको पूर्ण सिद्धि कभी मिलही नहीं सकती ? फलतः ऐसा मालूम होने लगता है, कि कर्मयोगका आचरण करनेके पूर्व पातंजलयोगकी सहायतासे पूर्ण निर्विकल्प समाधि लगाना पहले सीख लेना चाहिये। अर्जुनके मनमें यही शंका उत्पन्न हुई थी; और उसने गीताके छठें अध्याय-में (गीता ६. ३७–३९) श्रीकृष्णसे पूछा है, कि ऐसी दशामें मनुष्यको क्या करना चाहिये ? उत्तरमें भगवान्ने कहा है, कि आत्मा अमर होनेके कारण उसपर लिंग-शरीर द्वारा इस जन्ममें जो थोड़े-बहुत संस्कार होते हैं, वेही आगेभी ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं; तथा यह 'योगभ्रष्ट' पुरुष – अर्थात् कर्मयोगको पूरा साध न सकनेके कारण उससे भ्रष्ट होनेवाला पुरुष – अगले जन्ममें अपना प्रयत्न वहींसे शुरू करता है, कि जहाँसे उसका अभ्यास छूट गया था; और ऐसा होते होते क्रमसे "अनेक-जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" (गीता ६. ४५) – अनेक जन्मोंके वाद पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो जाती है; एवं अंतमें उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसी सिद्धान्तको लक्ष्य करके दूसरे अध्यामें कहा गया है, कि "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" (गीता २. २०) – इस धर्मका अर्थात् कर्मयोग मार्गका स्वल्प आचरणभी बड़े बड़े संकटोंसे बचा देता है। सारांश, मनुष्यका आत्मा मूलमें यद्यपि स्वतंत्र है, तथापि मनुष्य एकही जन्ममें पूर्ण सिद्धि नहीं पा सकता। क्योंकि पूर्वकर्मोंके अनुसार उसे मिली हुई देहका प्राकृतिक स्वभाव अशुद्ध होता है। परंतु इससे "नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः" (मनु. ४. १३७) – किसीको निराश नहीं होना चाहिये; अथवा एकही जन्ममें परमसिद्धि पा जानेके दुराग्रहमें पड़ कर पातंजल योगाभ्यासमें अर्थात् इंद्रियोंका जबर्दस्ती दमन करनेमेंही सब आयु वृथा खो नहीं देनी चाहिये। आत्माको कोई जल्दी नहीं पड़ी है, जितना आज साध्य हो सके, उतनेही योगबलको प्राप्त करके कर्मयोगका आचरण शुरू कर देना चाहिये। इससे धीरे धीरे बुद्धि अधिकाधिक सात्त्विक तथा शुद्ध होती जायगी; और कर्म-योगका यह स्वल्पाचरणही – तो क्या, जिज्ञासापर मनुष्यभी आगे ढकेलते ढकेलते अंतमें आज नहीं तो कल – इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें – उसके आत्माको पूर्ण ब्रह्मप्राप्ति करा देगी। इसीलिये भगवान्ने गीतामें स्पष्ट कहा है, कि कर्मयोगमें एक विशेष गुण यह है, कि उसका स्वल्पसेभी स्वल्प आचरण या जिज्ञासाभी कभी व्यर्थ नहीं जाने पाती (गीता ५. १६ पर हमारी टीका देखो)। अतः मनुष्यको उचित

है, कि वह केवल इसी जन्मपर ध्यान न दे, और धीरजको न छोड़े किंतु निष्काम कर्म करनेके अपने उद्योगको स्वतंत्रतासे और धीरे धीरे यथाशक्ति जारी रखे! प्राक्तन-संस्कारके कारण ऐसा मालूम होता है, कि प्रकृतिकी गाँठ हमसे इस जन्ममें या आज नहीं छूट सकती, परंतु वही बंधन क्रम-क्रमसे बढ़नेवाले कर्मयोगके अभ्याससे कल या दूसरे जन्मोंमें आप-ही-आप ढीला हो जाता है; और ऐसा होते होते "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते" (गीता ७.१९) – कभी-न-कभी पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे प्रकृतिका बंधन या पराधीनता छूट जाती है; एवं अंतमें आत्मा अपने मूलकी पूर्ण निर्गुण मुक्तावस्थाको अर्थात् मोक्षदशाको पहुँच जाता है। मनुष्य क्या नहीं कर सकता है?" नर करनी करे, तो नरका नारायण होय" यह जो कहावत प्रचलित है, वह वेदान्तके उक्त सिद्धान्तकाही अनुवाद है, और इसीलिये योगवासिष्ठकारने मुमुक्षु-प्रकरणमें उद्योगकी खूब प्रशंसा की है; तथा असंदिग्ध रीतिसे कहा है, कि अंतमें सब कुछ उद्योगसेही मिलता है (यो. २.४. १०–१८)।

यह सिद्धहो चुका, कि ज्ञान-प्राप्तिका प्रयत्न करनेके लिये जीवात्मा मूलमें स्वतंत्र है; और स्वावलंबनपूर्वक दीर्घोद्योगसे उसे कभी-न-कभी प्राक्तन-कर्मके पंजेसे छुटकारा मिल जाता है। अब इस बातका थोड़ा-सा स्पष्टीकरण और हो जाना चाहिये, कि कर्मक्षय किसे कहते हैं? और वह कब होता है? कर्मक्षयका अर्थ है – सभी कर्मोंके बंधनोंसे पूर्ण अर्थात् निःशेष मुक्ति पाना। परंतु पहले कह चुके हैं, कि कोई पुरुष ज्ञानीभी हो जाय; तथापि जबतक उसका शरीर है, तबतक सोना, बैठना, भूख, प्यास इत्यादि कर्म छूट नहीं सकते; और प्रारब्धकर्मका बिना भोगे क्षयभी नहीं होता, इसलिये वह आग्रहसे देहका त्यागभी नहीं कर सकता। इसमें संदेह नहीं, कि ज्ञान होनेके पूर्व किये गये सब कर्मोंका नाश, ज्ञान होने पर हो जाता है; परंतु जब कि ज्ञानी पुरुषको ज्ञानोत्तरकालमेंभी यावज्जीवन कुछ-न-कुछ कर्म करना ही पड़ता है, तब ऐसे कर्मोंसे उसका छुटकारा कैसे होगा? और, यदि छुटकारा न हो, तो यह शंका उत्पन्न होती है, कि फिर पूर्वकर्म-क्षय या आगे मोक्षभी न होगा। इसपर वेदान्तशास्त्रका उत्तर यह है, कि ज्ञानी मनुष्यकी नाम-रूपात्मक देहको नामरूपात्मक कर्मोंसे यद्यपि कभी छुटकारा नहीं मिल सकता, तथापि इन कर्मोंको अपने ऊपर लाद लेने या न लेनेमें आत्मा पूर्ण रीतिसे स्वतंत्र है; इसलिये यदि इंद्रियों पर विजय प्राप्त करके – कर्मके विषयमें प्राणिमात्रको जो, आसक्ति होती है – केवल उसकाही क्षय किया जाय, तो ज्ञानी मनुष्य कर्म करकेभी उसके फलका भागी नहीं होता। कर्म स्वभावतः अंधा, अचेतन या मृत होता है। वह स्वयं न तो किसीको पकड़ता है, और न किसीको छोड़ताभी है। वह स्वयं न अच्छा है, न बुरा। मनुष्य अपने जीवको इन कर्मोंमें फसा कर इन्हें अपनी आसक्तिसे अच्छा या बुरा और शुभ या अशुभ बना लेता है। इसलिये कहा जा सकता है, कि इस

ममत्वयुक्त आसक्तिके छूटनेपर कर्मके बंधन आपही टूट जाने हैं, फिर चाहे वे कर्म बने रहें या न रहें। गीतामेंभी स्थान स्थान पर यही उपदेश दिया गया है, कि सच्चा नैष्कर्म्य इसीमें है; कर्मका त्याग करनेमें नहीं (गीता ३. ४)। तेरा अधिकार केवल कर्म करनेका है, फलका मिलना न मिलना तेरे अधिकारकी बात नहीं है (गीता २. ४७)। "कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः" (गीता ३. ७) – फलकी आशा न रख कर्मेंद्रियोंको कर्म करने दे। "त्यक्त्वा कर्मफलासंगम्" (गीता ४. २०) कर्मफलका त्याग करके, "सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते" (गीता ५. ७)– जिन पुरुषोंकी समस्त प्राणियोंमें समबुद्धि हो जाती है, उनके किये हुए कर्म उनके बंधनका कारण नहीं हो सकते। "सर्वकर्मफलत्यागं कुरु" (गीता १२. ११) – सब कर्मफलोंका त्याग कर। "कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियते" (गीता १८. ९) – केवल कर्तव्य समझकर जो प्राप्त कर्म किया जाता है, वही सात्त्विक है। "चेतसा सर्व कर्माणि मयि संन्यस्य" (गीता १८. ५७) सब कर्मोंको मुझे अर्पण करके बर्ताव कर। इन सब उपदेशोंका रहस्य वही है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। अब यह एक स्वतंत्र प्रश्न है, कि ज्ञानी मनुष्योंको सब व्यावहारिक कर्म करने चाहिये या नहीं। इसके संबंधमें गीताशास्त्रका जो सिद्धान्त है, उसका विचार अगले प्रकरणमें किया जायगा। अभी तो केवल यही देखना है, कि ज्ञानसे सब कर्मोंके भस्म हो जानेका अर्थ क्या है? और ऊपर दिये गये वचनोंसे इस विषयमें गीताका जो अभिप्राय है, वह भली भाँति प्रकट हो जाता है। व्यवहार-मेंभी इसी न्यायका उपयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्यको अनजाने धक्का दे दे, तो हम उसे उद्दंड़ नहीं कहते और इसी तरह यदि केवल दुर्घटनासे किसीकी हत्या हो जाती है, तो उसे फ़ौजदारी कानूनके अनुसारभी खून नहीं समझते। अग्निसे जब घर जल जाता है, अथवा वर्षासे सैंकड़ों खेत बह जाते हैं; तो क्या अग्नि या वर्षाको कोई दोषी समझता है? केवल कर्मोंकीही ओर देखें, तो मनुष्यकी दृष्टिसे प्रत्येक कर्ममें कुछ-न-कुछ कमी, दोष या अवगुण अवश्यही मिलेगा – "सर्वारंभाहि दोषेण धुमेनाग्निरिवावृत्तः" (गीता १८. ४८)। परंतु यह वह दोष नहीं है, कि जिसे छोड़नेके लिये गीता कहती है। मनुष्यके किसी कर्मको जिस अर्थमें हम अच्छा या बुरा कहते हैं, वह अच्छापन या बुरापन यथार्थमें उस कर्ममें नहीं रहता किंतु कर्म करनेवाले मनुष्यकी बुद्धिपर निर्भर रहता है; इसी बातपर ध्यान देकर गीतामें (गीता २. ४९–५१) कहा है, कि इन कर्मोंके बुरेपनको दूर करनेके लिये कर्ताको चाहिये, कि वह अपने मन और बुद्धिको शुद्ध रखे; और उपनिषदोंमेंभी कर्ताकी इसी बुद्धिको प्रधानता दी गई है। जैसे :–

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।
बंधाय विषयासंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्॥

"मनुष्यके (कर्मोंका) बंधन या मोक्ष पानेका मनही (एव) कारण है। मनके

विषयासक्त होनेसे बंधन और निष्काम या निर्विषय अर्थात् निःसंग होनेसे मोक्ष प्राप्त होता है" (मैत्र्यु. ६. ३४; अमृतबिंदु. २)। गीतामें यही बात प्रधानतासे बतलाई गई है, कि ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे बुद्धिकी उक्त साम्यावस्था कैसे प्राप्त-कर लेनी चाहिये। इस अवस्थाके प्राप्त हो जानेपर कर्म करने परभी पूरा कर्म-क्षय हो जाया करता है। निरग्नि होकर – अर्थात् संन्यास लेकर अग्निहोत्र आदि कर्मोंको छोड़ देनेसे – अथवा अक्रिय रहनेसे – अर्थात् किसीभी कर्मको न कर चुपचाप बैठे रहनेसे – कर्मका क्षय नहीं होता (गीता ६. १)। चाहे मनुष्यकी इच्छा रहे या न रहे; परंतु प्रकृतिका चक्र हमेशा घूमताही रहता है; जिसके कारण मनुष्यकोभी उसके साथ अवश्यही चलना पड़ेगा (गीता ३. ३३; १८. ६०)। परंतु अज्ञानी जन ऐसी स्थितिमें प्रकृतिकी पराधीनतामें रहकर जैसे नाचा करते हैं, वैसे न करके जो मनुष्य अपनी बुद्धिको इंद्रियनिग्रहके द्वारा स्थिर एवं शुद्ध रखता है और सृष्टिक्रमके अनुसार अपने हिस्सेके (प्राप्त) कर्मोंको केवल कर्तव्य समझकर अनासक्त बुद्धिसे एवं शांतिपूर्वक किया करता है; वही सच्चा विरक्त है, वही सच्चा स्थितप्रज्ञ है; और उसीको ब्रह्मपदपर पहुँचा हुआ कहना चाहिये (गीता ३. ७; ४. २१; ५. ७–९; १८. ११)। यदि कोई ज्ञानी पुरुष किसीभी व्यावहारिक कर्मको न करके संन्यास लेकर जंगलमें जा बैठे; तो उस प्रकार व्यावहारिक कर्मोंको छोड़े देनेसे यह समझना बड़ी भारी भूल है, कि उसके कर्मोंका क्षय हो गया (गीता ३. ४)। इस तत्त्वपर हमेशा ध्यान देना चाहिये, कि कोई कर्म करे या न करे; परंतु उसके कर्मोंका क्षय उसकी बुद्धिकी साम्यावस्थाके कारण होता है; न कि कर्मोंको छोड़नेसे या न करनेसे। कर्मक्षयका सच्चा स्वरूप दिख-लानेके लिये यह उदाहरण दिया जाता है, कि जिस तरह अग्निसे लकड़ी जल जाती है, उसी तरह ज्ञानसे सब कर्म भस्म हो जाते हैं। परंतु इससे उपनिषद्में और गीतामें दिया गया यह दृष्टान्त अधिक समर्पक है, कि जिस तरह कमलपत्र पानीमें रह करभी पानीसे अलिप्त रहता है, उसी तरह ज्ञानी पुरुषको – अर्थात् ब्रह्मार्पण करके अथवा आसक्ति छोड़कर कर्म करनेवालेको – कर्मोंका लेप नहीं होता (छां. ४. १४. ३; गीता ५. १०)। कर्म स्वरूपतः कभी जलतेही नहीं और उन्हें जलानेकी कोई आवश्यकताभी नहीं है। जब यह बात सिद्ध है, कि कर्म नामरूप है और नामरूप दृश्य सृष्टि है; तब यह समस्त दृश्य सृष्टि जलेगी कैसे ? और कदाचित् जलभी जाय, तो सत्कार्यवादके अनुसार सिर्फ यही होगा, कि उसका नामरूप बदल जायगा। नामरूपात्मक कर्म या माया हमेशा बदलती रहती है; इस-लिये मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार इस नामरूपमें भलेही परिवर्तन करलें परंतु इस बातको नहीं भूलना चाहिये, कि वह चाहे कितनाही आत्म-ज्ञानी हो; परंतु इस नामरूपात्मक कर्म या मायाका समूल नाश कदापि नहीं कर सकता, – यह काम केवल परमेश्वरसेही हो सकता है (वे. सू. ४. ४. १७)। हाँ; मूलमें इन जड़

कर्मोंमें भलाई-बुराईका जो बीज है ही नहीं; और जिसे मनुष्य उनमें अपनी ममत्व बुद्धिसे उत्पन्न किया करता है, उसका नाश करना मनुष्यके हाथमें है; और उसे जो कुछ जलाना है, वह यही वस्तु है। सब प्राणियोंके विषयमें समत्वबुद्धि रखकर अपने सब व्यापारोंके इस ममत्वबीजको जिसने जला (नष्ट कर) दिया है, वही धन्य है; वही कृतकृत्य और मुक्त है; सब कुछ करते रहने परभी उसके सब कर्म ज्ञानाग्निसे दग्ध समझे जाते हैं। (गीता ४. १९; १८. ५६)। इस प्रकार कर्मोंका दग्ध होना मनकी निर्विषयतापर और ब्रह्मात्मैक्यके अनुभवपरही सर्वथा अवलंबित है। अतएव प्रकट है, कि जिस तरह आग कभीभी उत्पन्न करें; परंतु वह दहन करनेका अपना धर्म नहीं छोड़ती; उसी तरह ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानके होतेही उसके कर्मक्षय-रूप परिणामके होनेमें कालावधिकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। ज्योंही ज्ञान हुआ, कि उसी क्षण कर्म-क्षय हो जाता है। परंतु अन्य सब कालोंसे मरण-काल इस संबंधमें अधिक महत्त्व का माना जाता है। क्योंकि यह मरण-काल आयुके बिलकुल अंतका काल है और इसके पूर्व किसी कालमें ब्रह्मज्ञान होनेसे अनारब्ध-संचितका यदि क्षय हो गया हो, तोभी प्रारब्ध नष्ट नहीं होता। इसलिये यदि यह ब्रह्मज्ञान अंततक एक समान स्थिर न रहे, तो प्रारब्ध-कर्मानुसार मृत्यु-काल-पर्यंत जो जो अच्छे या बुरे कर्म होंगे, वे सब सकाम हो जावेंगे; और उनका फल भोगनेके लिये फिरभी जन्म लेनाही पड़ेगा। इसमें संदेह नहीं, कि जो पूरा जीवन्मुक्त हो जाता है, उसे यह भय कदापि नहीं रहता, परंतु जब इस विषयका शास्त्र-दृष्टिसे विचार करना हो, तब इस बातकाभी विचार अवश्य कर लेना पड़ता है, कि मृत्युके पहले जो ब्रह्म-ज्ञान हो गया था, वह कदाचित् मरण-कालतक स्थिर न रह सके। इसीलिये शास्त्रकार मृत्युसे पहलेके कालकी अपेक्षा मरण-कालहीको विशेष महत्त्वपूर्ण मानते हैं, और यह कहते हैं, कि उस समय यानी मृत्युके समय पूर्ण ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानका अनुभव अवश्य होना चाहिये; नहीं तो मोक्ष नहीं होगा। इसी अभिप्रायसे उपनिषदोंके आधारपर गीतामें कहा गया है, कि "अंतकालमें अनन्यभावसे मेरा स्मरण करनेपर मनुष्य मुक्त होता है" (गीता ८. ५)। इस सिद्धान्तके अनुसार कहना पड़ता है कि, यदि कोई दुराचारी मनुष्य अपनी सारी आयु दुराचरणमें व्यतीत करे और केवल अंत समयमें उसे ब्रह्मज्ञान हो जावे, तो वहभी मुक्त हो जाता है। इसपर कितनेही लोगोंका कहना है, कि यह बात युक्तिसंगत नहीं है। परंतु थोड़ा-सा विचार करनेपर मालूम होगा, कि यह बात अनुचित नहीं कही जा सकती – यह बिलकुल सत्य और सयुक्तिक है। वस्तुतः यह संभव नहीं, कि जिसका सारा जन्म दुराचारमें बीता हो, उसे केवल मृत्युसमयमेंही सुबुद्धि और ब्रह्म-ज्ञान हो जावे। अन्य सब बातोंके समानही ब्रह्म-निष्ठ होनेके लिये मनको आदत डालनी पड़ती है, और जिसे इस जन्ममें एक बारभी ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानका अनुभव नहीं हुआ है, उसे केवल मरण-कालमेंही उसका एकदम ज्ञान हो जाना परम दुर्घट या

असंभवही है। इसीलिये गीताका दूसरा महत्त्वपूर्ण कथन यह है कि मनको विषय-वासनारहित बनानेके लिये प्रत्येक मनुष्यको सदैव अभ्यास करते रहना चाहिये, जिसका फल यह होगा कि अंतकालमेंभी यही स्थिति बनी रहेगी; और मुक्तिभी अवश्य हो जायगी (गीता ८. ६, ७. तथा २. ७२)। परंतु शास्त्रकी छानबीन करनेके लिये मान लीजिये, कि पूर्व संस्कार आदि कारणोंसे किसी मनुष्यको केवल मृत्यु-समयमेंही एकाएक ब्रह्म-ज्ञान हो गया। निस्संदेह ऐसा उदाहरण लाखों या करोड़ों मनुष्योंमें एक-आधही मिल सकेगा। परंतु, चाहे ऐसा उदाहरण मिले या न मिले – इस विचारको एक ओर रखकर अब हमें यही देखना है, कि यदि ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाय, तो आगे क्या होगा? ज्ञान चाहे मरण-कालमेंही क्यों न हो; परंतु उससे मनुष्यके अनारब्ध-कार्य-संचितका क्षय होताही है; और इस जन्मके भोगसे आरब्ध-संचितका क्षय मृत्युके समय हो जाता है। इसलिये उसे कुछभी कर्म भोगना बाकी नहीं रह जाता है; और यही सिद्ध होता है, कि वह सब कर्मोंसे अर्थात् संचारचक्रसे मुक्त हो जाता है। यही सिद्धान्त गीताके इस वाक्यमें कहा गया है, "अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्" (गीता ९. ३०) – यदि कोई बड़ा दुराचारी मनुष्यभी परमेश्वरका अनन्य भावसे स्मरण करेगा, तो वहभी मुक्त हो जायगा। और यह सिद्धान्त संसारके अन्य सब धर्मोंमेंभी ग्राह्य माना गया है। 'अनन्य भाव'का यही अर्थ है, कि परमेश्वरमे मनुष्यकी चित्तवृत्ति पूर्ण रीतिसे लीन हो जावे। स्मरण रहे, कि मुंहसे तो 'राम राम' बड़बड़ाते रहें; और चित्त-वृत्ति दूसरीही ओर रहे; तो इसे अनन्य भाव नहीं कहेगा। सारांश, परमेश्वर-ज्ञानकी महिमाही ऐसा है, कि ज्योंही ज्ञानकी प्राप्ति हुई, त्योंही सब अनारब्ध-संचितका एकदम क्षय हो जाता है – यह अवस्था कभीभी प्राप्त हो, सदैव इष्टही है। परंतु यह अति आवश्यक बात है, कि कमसे कम मृत्युके समय यह स्थिर बनी रहें; या यदि पहले प्राप्त न हुई हो, तो कम-से-कम मृत्युके समय वह प्राप्त होवे। नहीं तो हमारे शास्त्रकारोंके कथनानुसार मृत्युके समय कुछ-न-कुछ वासना अवश्यही बाक़ी रह जायगी, जिससे पुनः जन्म लेना पड़ेगा और उससे मोक्षभी नहीं मिलेगा।

इसका विचार हो चुका, कि कर्मबंधन क्या है? कर्मक्षय किसे कहते हैं? वह कैसे और कब होता है? अब प्रसंगानुसार इस बातकाभी कुछ विचार किया जायगा, कि जिनके कर्मफल नष्ट हो गये हैं, उनको और जिनके कर्मबंधन नहीं छूटे हैं, उनको मृत्युके अनंतर वैदिक धर्मके अनुसार कौन-सी गति मिलती है? इसके संबंधमें उपनिषदोंमें बहुत चर्चा की गई है (छां. ४. १५; ५. १०; बृ. ६. २. २–१६; कौषी. १. २–३), और उसकी एकवाक्यता वेदान्तसूत्रके चौथे अध्यायके तीसरे पादमें की गई है। परंतु उस सब चर्चाको यहाँ बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हमें केवल उन्हीं दो मार्गोंका विचार करना है, जो भगवद्गीतामें (गीता ८. २३–२७) दिये गये हैं। वैदिक धर्मके ज्ञानकांड और कर्मकांड, ये दो प्रसिद्ध

भेद हैं। कर्मकांडका मूल उद्देश्य यह है, कि सूर्य, अग्नि, इंद्र, वरुण, रुद्र, इत्यादि वैदिक देवताओंका ज्ञय-द्वारा पूजन किया जावे और उनके प्रसादसे इस लोकमें पुत्र-पौत्र आदि संतति तथा गौ, अश्व, धन, धान्य आदि संपत्ति प्राप्त कर ली जावे; और अंतमें मरनेपर सद्‌गति प्राप्त होवे। वर्तमान कालमें यह यज्ञ-याग आदि श्रौत धर्म प्रायः लुप्त हो गया है। इससे उक्त उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये लोग देवभक्ति तथा दानधर्म आदि शास्त्रोक्त पुण्यकर्म किया करते हैं। परंतु ऋग्वेदसे स्पष्टतया मालूम होता है, कि प्राचीन कालमें लोग – न केवल स्वार्थके लिये; बल्कि सब समाजके कल्याणके लियेभी – यज्ञ द्वाराही देवताओंकी आराधना किया करते थे। इस कामके लिये जिन इंद्र आदि देवताओंको अनुकूलताका संपादन करना आवश्यक है, उनकी स्तुतिसेही ऋग्वेदके सूक्त भरे पड़े हैं, और उनमें स्थल-स्थलपर ऐसी प्रार्थना की गई है, कि "हे देव हमें संतति और समृद्धि दो।" "हमें शतायु करो।" हमें, हमारे लड़कों-बच्चोंको और हमारे वीर-पुरुषोंको तथा हमारे जानवरोंको न मारो।* ये 'यज्ञ-याग तीनों वेदोंमें विहित हैं, इसलिये इस मार्गका पुराना नाम 'त्रयी धर्म' है; और ब्राह्मणग्रंथोंमें इन यज्ञोंकी विधियोंका विस्तृत वर्णन किया गया है, परंतु भिन्न भिन्न ब्राह्मणग्रंथोंमें यज्ञ करनेकी भिन्न भिन्न विधियाँ हैं। इससे आगे शंका होने लगी, कि कौन-सी विधि ग्राह्य है; तब इन परस्पर-विरुद्ध वाक्योंकी एकवाक्यता करनेके लिये जैमिनीने अर्थनिर्णायक नियमोंका संग्रह किया। जैमिनीके इन नियमोंकोही मीमांसासूत्र या पूर्वमीमांसा कहते हैं, और इसी कारणसे इस प्राचीन कर्मकांडको मीमांसामार्ग नाम मिला तथा हमनेभी इसी नामका इस ग्रंथमें कई बार उपयोग किया है, क्योंकि आजकल यही प्रचलित हो गया है। परंतु स्मरण रहे, कि यद्यपि 'मीमांसा' शब्दही आगे चलकर प्रचलित हो गया है, तथापि यज्ञ-यागादिका यह कर्म-मार्ग बहुत प्राचीन कालसे चलता आया है। यही कारण है, कि गीतामें 'मीमांसा' शब्द कहींभी नहीं आया है; किंतु उसके बदले 'त्रयी धर्म' (गीता ९. २०, २१) या 'त्रयी विद्या' ये नाम आये हैं। यज्ञयाग आदि श्रौतकर्म-प्रतिपादक ब्राह्मणग्रंथोंके बाद आरण्यक और उपनिषद्, ये वैदिक ग्रंथ बने। इनमें यह प्रतिपादन किया गया है, कि यज्ञ-याग आदि कर्म गौण हैं और ब्रह्मज्ञानही श्रेष्ठ है, इसलिये इनके धर्मको 'ज्ञानकांड' कहते हैं। परंतु भिन्न भिन्न उपनिषदोंमें भिन्न भिन्न विचार हैं। इसलिये उनकीभी एकवाक्यता करनेकी आवश्कता हुई; और इस कार्यको बादरायणाचार्यने अपने वेदान्तसूत्रोंमें किया। इस ग्रंथको ब्रह्मसूत्र अथवा शारीरसूत्र या उत्तर-मीमांसा कहते हैं। इस प्रकार पूर्व-मीमांसा तथा उत्तर-मीमांसा, क्रमसे

*ये मंत्र अनेक स्थलोंपर पाये जाते हैं; परंतु उन सबको न दे कर यहाँ केवल एकही मंत्र बतलाना बस होगा, कि जो बहुत प्रचलित है। वह यह है – "मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे" (ऋ. १. ११४. ८)।

– कर्मकांड तथा ज्ञानकांड – संबंधी आजके प्रधान ग्रंथ हैं। वस्तुतः ये दोनों ग्रंथ मूलमें मीमांसाहीके हैं – अर्थात् वैदिक वचनोंके अर्थकी चर्चा करनेके लियेही बनाये गये हैं। तथापि आजकल कर्मकांड-प्रतिपादकोंको केवल 'मीमांसक' और ज्ञानकांड प्रतिपादकोंको 'वेदान्ती' कहते हैं। कर्मकांडवालोंका अर्थात् मीमांसकोंका कहना है, कि श्रौतधर्ममें चातुर्मास्य, ज्योतिष्टोम प्रभृति यज्ञ-याग आदि कर्मही प्रधान हैं; और जो इन्हें करेगा, उसेही वेदोंकी आज्ञानुसार मोक्ष प्राप्त होगा। इन यज्ञ-याग आदि कर्मोंको कोईभी छोड़ नहीं सकता। यदि छोड़ देगा, तो समझना चाहिये, कि वह श्रौतधर्मसे वंचित हो गया। क्योंकि वैदिक यज्ञकी उत्पत्ति सृष्टिकी उत्पत्तिके साथही हुई है, और यह चक्र अनादि कालसे चलता आया है, कि मनुष्य यज्ञ करके देवताओंको तृप्त करे, तथा मनुष्यकी पर्जन्य आदि सब आवश्यकताओंको देवगण पूरा करें! आजकल हमें इन विचारोंका कुछ महत्त्व मालूम नहीं होता, क्योंकि यज्ञ-यागरूपी श्रौतधर्म अब प्रचलित नहीं है। परंतु गीता-कालकी स्थिति भिन्न थी, इस-लिये भगवद्गीतामें (गीता ३. १६–२५) इस यज्ञचक्रका महत्त्व ऊपर कहे अनुसार बतलाया गया है। तथापि गीतासे यह स्पष्ट मालूम होता है, कि उस समयभी उप-निषदोंमें प्रतिपादित ज्ञानके कारण मोक्षदृष्टिसे इन कर्मोंको गौणता आ चुकी थी (गीता. २. ४१–४६)। यही गौणता अहिंसाधर्मका प्रचार होनेपर आगे अधिका-धिक बढ़ती गई। भागवत धर्ममें स्पष्टतया प्रतिपादन किया गया है, कि यज्ञ-याग वेदविहित हैं; तोभी उनके लिये पशु-वध नहीं करना चाहिये, धान्यसेही यज्ञ करना चाहिये (मभा. शां. ३३६. १० और ३३७)। इस कारण (तथा कुछ अंशोमें आगे जैनियोंकेभी ऐसेही प्रयत्न करनेके कारण), श्रौतयज्ञ-मार्गकी आजकल वह दशा हो गई है, कि काशीसरीखे बड़ेबड़े धर्मक्षेत्रोंमेंभी नित्य श्रौताग्निहोत्र पालन करनेवाले अग्निहोत्री बहुतही थोड़े दीख पड़ते हैं; और ज्योतिष्टोम आदि पशुयज्ञोंका होना तो दस-बीस वर्षोंमें कभी कभी सुन पड़ता है। तथापि श्रौतधर्मही सब वैदिक धर्मोंका मूल है; और इसीलिये उसके विषयमें इस समयभी आदरबुद्धि पाई जाती है, और जैमिनीके सूत्र अर्थनिर्णायक शास्त्रके तौरपर प्रमाण माने जाते हैं। यद्यपि श्रौत-यज्ञयाग आदि धर्म इस प्रकार शिथिल हो गया है, तोभी मन्वादि स्मृतियोंमें वर्णित दूसरे यज्ञ – जिन्हें पंचमहायज्ञ कहते हैं – अबतक प्रचलित हैं; और उनके संबंधमेंभी श्रौतयज्ञ-यागचक्र आदिकेही उक्त न्यायका उपयोग होता है। उदाहरणार्थ, मनु आदि स्मृतिकारोंने पाँच अहिंसात्मक तथा नित्य गृहयज्ञ बतलाये हैं – जैसे वेदाध्ययन ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ है, होम देवयज्ञ है, बलि भूतयज्ञ है और अतिथि-संतर्पण मनुष्ययज्ञ है; तथा गार्हस्थ्य धर्ममें यह कहा है, कि इन पाँच यज्ञोंके द्वारा क्रमानुसार ऋषियों, पितरों, देवताओं, प्राणियों तथा मनुष्योंको पहले तृप्त करके फिर किसी गृहस्थको स्वयं भोजन करना चाहिये (मनु. ३. ६८–१२३)। इन यज्ञोंके कर लेनेपर जो अन्न बच जाता है, उसको 'अमृत' कहते हैं, और पहले इन सब मनुष्योंके

भोजन कर लेनेपर जो अन्न बचे उसे 'विघस' कहते हैं (मनु. ३. २८५)। यह 'अमृत' और 'विघस' अन्नही गृहस्थके लिये विहित एवं श्रेयस्कर है और ऐसा न करके जो कोई सिर्फ़ अपने पेटके लियेही भोजन पका खावे, तो वह अघ अर्थात् पापका भक्षण करता है; और उसे 'अघाशी' कहना चाहिये – इस प्रकार केवल मनुस्मृतिमेंही नहीं तो ऋग्वेद और गीतामेंभी कहा गया है, (ऋ. १०. ११७. ६; मनु. ३. ११८; गीता ३. १३)। इन स्मार्त पंचमहायज्ञोंके सिवा दान, सत्य, दया, अहिंसा आदि सर्वभूतहितप्रद अन्य धर्मभी उपनिषदों तथा स्मृतिग्रंथोंमें गृहस्थके लिये विहित माने गये हैं (तै. १. ११)। और उन्हींमें स्पष्ट उल्लेख किया गया है, कि कुटुंबकी वृद्धि करके वंशको स्थिर रखो – " प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। " ये सब कर्म एक प्रकारके यज्ञही माने जाते हैं; और ये कर्म करनेका कारण, तैत्तिरीय संहितामें यह बतलाया गया है, कि जन्मसेही ब्राह्मण अपनी पीठपर तीन प्रकारके ऋण ले आता है – पहला ऋषियोंका, दूसरा देवताओंका और तीसरा पितरोंका। इनमें ऋषियोंका ऋण वेदाभ्याससे, देवताओंका यज्ञसे और पितरोंका पुत्रोत्पत्तिसे चुकाना चाहिये अन्यथा उसे सद्गति प्राप्त नहीं होगी, (तै. सं. ६. ३. १०. ५)।* महाभारतके (मभा. आ. १३) आदिपर्वमें एक कथा है, कि जरत्कारू ऐसा आचरण न करके, विवाह करनेके पहलेही उग्र तपश्चर्या करने लगा; तब संतानक्षयके कारण उसके यायावर नामक पितर आकाशमें लटकते हुए उसे दीख पड़े; और फिर उनकी आज्ञासे उसने अपना विवाह किया। यह कोई नियम नहीं है, कि इन सब कर्मों या यज्ञोंको केवल ब्राह्मणही करें; वैदिक यज्ञ-यागोंको छोड़ अन्य सब कर्म यथाधिकार स्त्रियों और शूद्रोंके लियेभी विहित हैं, इसलिये स्मृतिकारोंकी कही गई चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके अनुसार किये गये सब कर्म यज्ञही हैं – उदाहरणार्थ, क्षत्रियोंका युद्ध करनाभी एक यज्ञ है और यज्ञका यही व्यापक अर्थ इस प्रकरणमें विवक्षित है। मनुने कहा है, कि जो जिसके लिये विहित है, वही उसके लिये तप है (म. ११. २३६); और महाभारतमेंभी कहा है, कि :–

आरंभयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।
परिचारयज्ञाः शूद्राश्च जपयज्ञा द्विजातयः॥

" आरंभ (उद्योग), हवि, सेवा और जप ये चार यज्ञ क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और ब्राह्मण, इन चार वर्णोंके लिये यथानुक्रम विहित हैं, (मभा. शां. २३७. १२)। सारांश, इस सृष्टिके सब मनुष्यों और उनके कर्मोंको यज्ञहीके लिये ब्रह्मदेवने उत्पन्न किया है (मभा. अनु. ४८. ३; ; और गीता ३. १०; ४. ३२)। फलतः चातुर्वर्ण्य आदि सब शास्त्रोक्त कर्म एक प्रकारके यज्ञही हैं, यज्ञकों या और प्रत्येक मनुष्य अपने

---

* तैत्तिरीय संहिताका वचन है : " जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासीति। "

अपने अधिकारके अनुसार इन यज्ञकों या शास्त्रोक्त कर्मो – धंधे, व्यवसाय या कर्तव्य व्यवहारको – न करे, तो सारे समाजकी हानि होगी और संभव है, कि अंतमें उसका नाशभी हो जावे। इसलिये ऐसे व्यापक अर्थसे सिद्ध होता है, कि लोकसंग्रहके लिये यज्ञकी सदैव आवश्यकता होती है।

अव यह प्रश्न उटता है, कि यदि वेद और चातुर्वर्ण्य आदि स्मार्त-व्यवस्थाके अनुसार गृहस्थोंके लिये वही कर्मप्रधान वृत्ति विहित मानी गई है, कि जो केवल कर्ममय है, तो क्या इन सांसारिक कर्मोंको धर्मशास्त्रके अनुसार यथाविधि – अर्थात् नीतिसे और धर्मकी आज्ञानुसार करते रहनेसेही कोई मनुष्य जन्म-मरणके चक्करसे मुक्त हो जायगा ? और यदि कहा जाय कि वह मुक्त हो जाता है, तो फिर ज्ञानकी वड़ाई और योग्यताही क्या रही ? ज्ञानकांड अर्थात् उपनिषदोंका साफ़ यही कहना है, कि जब तक ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान होकर कर्मके विषयमें विरक्ति न हो जाय, तव तक नामरूपात्मक मायासे या जन्म-मरणके चक्करसे छुटकारा नहीं मिल सकता। और श्रौतस्मार्त-धर्मको देखो तो यही मालूम पड़ता है, कि प्रत्येक मनुष्यका गार्हस्थ्य-धर्म कर्मप्रधान या व्यापक अर्थमें यज्ञमय है। इसके अतिरिक्त वेदोंकाभी स्पष्ट कथन है, कि यज्ञार्थ किये गये कर्म वंधक नहीं होते; और यज्ञसेही स्वर्गप्राप्ति होती है। स्वर्गकी चर्चा छोड़ जाय; तोभी हम देखते हैं, कि ब्रह्मदेवहीने यह नियम बना दिया है, कि इंद्र आदि देवताओंके संतुष्ट हुए विना वर्षा नहीं होती; और यज्ञके विना देवतागणभी संतुष्ट नहीं होते। ऐसी अवस्थामें यज्ञ अर्थात् कर्म किये बिना मनुष्यकी भलाईभी कैसे होगी ? इस लोकके क्रमके विषयमें मनुस्मृति, महाभारत, उपनिषद् तथा गीतामेंभी कहा है, कि :–

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

“यज्ञमें हवन किये गये सव द्रव्य अग्निद्वारा सूर्यको पहुँचते हैं, और सूर्यसे पर्जन्य और पर्जन्यसे अन्न तथा अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है” (मनु. ३. ७६; मभा. शां. २६२. ११; मैत्र्यु. ६. ३७; गी. ३. १४)। और जब कि ये यज्ञ कर्मके द्वाराही होते हैं, तव कर्मको छोड़ देनेसे काम कैसे चलेगा ? यज्ञमय कर्मोंको छोड़ देनेसे संसारका चक्र बंद हो जायगा; और किसीको खानेकोभी नहीं मिलेगा। इसपर भागवतधर्म तथा गीताशास्त्रका उत्तर यह है, कि यज्ञ-याग आदि वैदिक कर्मोंको या अन्य किसीभी स्मार्त तथा व्यावहारिक यज्ञमय कर्मोंको छोड़ देनेका उपदेश हम नहीं करते। हम तो तुम्हारेही समान यहभी कहनेको तैयार हैं, कि जो यज्ञ-चक्र पूर्व-कालसे बरावर चलता आया है, उसके वंद हो जानेसे संसारका नाश हो जायगा। इसलिये हमारा यही सिद्धान्त है, कि इस कर्ममय यज्ञको कभी नहीं छोड़ना चाहिये (मभा. शां. ३४०; गीता ३. १६)। परंतु ज्ञानकांडमें अर्थात् उपनिषदोंमेंही स्पष्टरूपसे कहा

गया है, कि ज्ञान और वैराग्यसे कर्मक्षय हुए बिना मोक्ष नहीं मिल सकता, इसलिये इन दोनों सिद्धान्तोंका मेल करके हमारा अंतिम कथन यह है, कि सब कर्मोंको ज्ञानसे अर्थात् फलाशा छोड़कर निष्काम या विरक्त-बुद्धिसे करते रहना चाहिये। (गीता ३. १७, १९)। यदि तुम स्वर्गफलकी काम्य-बुद्धि मनमें रखकर ज्योतिष्टोम आदि यज्ञयाग करोगे, तो वेदोंमें कहे अनुसार स्वर्ग-फल तुम्हें निस्संदेह मिलेगा; क्योंकि वेदाज्ञा कभीभी झूठ नहीं हो सकती। परंतु स्वर्ग-फल नित्य अर्थात् हमेशा टिकनेवाला नहीं है। इसलिये उपनिषदोंमें कहा गया है (बृ. ४. ४. ६; वे. सू. ३. १. ८; मभा. वन. २६०. ३९) :-

प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किन्चेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे ॥ *

" इस लोकमें यज्ञ-याग आदि जो पुण्य-कर्म किये जाते हैं, उनका फल स्वर्गीय उपभोगसे समाप्त हो जाता है; और तब यज्ञ करनेवाले कर्मकांडी मनुष्यको स्वर्गलोकसे इस कर्मलोक अर्थात् भूलोकमें फिरभी आना पड़ता है।" छांदोग्योपनिषद्में (छां. ५. १०. ३–९) तो स्वर्गसे नीचे आनेका मार्गभी बतलाया गया है। भगवद्गीतामें " कामात्मानः स्वर्गपराः " या " त्रैगुण्यविषया वेदाः " (गीता २. ४३. ४५) इस प्रकार जो कुछ गौणत्वसूचक वर्णन किया गया है, वह इन्हीं कर्मकांडी लोगोंको लक्ष्य करके कहा गया है और नौवें अध्यायमें फिरसे स्पष्टतया कहा गया है, कि " गतागतं कामकामा लभन्ते। " (गीता ९. २१) – उन्हें स्वर्गलोक और इस लोकमें बार बार आना-जाना पड़ता है। यह आवागमन ज्ञानप्राप्तिके बिना रुक नहीं सकता और जब तक यह रुक नहीं सकता, तब तक आत्माको सच्चा समाधान, पूर्णावस्था या मोक्षभी नहीं मिल सकता। इसलिये गीताके समस्त उपदेशका सार यही है, कि यज्ञ-याग आदिकी कौन कहे? – चातुर्वर्ण्यके सब कर्मोंकोभी तुम ब्रह्मात्मैक्यपर – ज्ञानसे तथा साम्यबुद्धिसे आसक्ति छोड़कर करते रहो, तो बस इस प्रकार कर्मचक्रको जारी रखकरभी तुम मुक्तही बने रहोगे (गीता १८. ५, ६)। किसी देवताके नामसे तिल, चावल या किसी पशुको ' इदं अमुकदेवतायै न मम ' कहकर अग्निमें हवन कर देनेसेही कुछ यज्ञ नहीं हो जाता। प्रत्यक्ष पशुको मारनेकी अपेक्षा प्रत्येक मनुष्यके शरीरमें काम-क्रोध आदि जो अनेक पशुवृत्तियाँ हैं, उनका साम्यबुद्धिरूप संयमाग्निमें होम करनाही अधिक श्रेयस्कर यज्ञ है (गीता ४. ३३)। इसी अभिप्रायसे गीतामें तथा नारायणीय धर्ममें भगवान्ने कहा है, कि " मैं यज्ञोंमें जपयज्ञ " अर्थात् श्रेष्ठ हूँ (गीता १०. २५, मभा. शां. ३. ३७)।

---

* इस मंत्रके दूसरे चरणको पढ़ते समय 'पुनरेति' और 'अस्मै' ऐसा पदच्छेद करके पढ़ना चाहिये। तब इस चरणमें अक्षरोंकी कमी नहीं मालूम होगी। वैदिक ग्रंथोंको पढ़ते समय ऐसा बहुधा करना पड़ता है।

मनुस्मृति (मनु. २. ८७) मेंभी कहा गया है, कि ब्राह्मण और कुछ करे, या न करे, परंतु वह केवल जपसेही सिद्धि पा सकता है। अग्निमें आहुति डालते समय 'न मम' – यह वस्तु मेरी नहीं है – कहकर उस वस्तुसे अपनी ममत्व-बुद्धिका त्याग दिखलाया जाता है – यही यज्ञका मुख्य तत्त्व है ; और दान आदिक कर्मोंकाभी यही बीज है। इसलिये यज्ञ-याग या दानादि कर्मोंकी योग्यताभी यज्ञके बराबर है। अधिक क्या कहा जाय, जिनमें अपना तनिकभी स्वार्थ नहीं है, ऐसे कर्मोंको शुद्ध बुद्धिसे करनेपर वे यज्ञही कहे जा सकते हैं। यज्ञकी इस व्याख्याका स्वीकार करनेपर निर्मम या निष्काम बुद्धिसे किये गये सब कर्म, व्यापक अर्थमें, एक महायज्ञही होंगे। और द्रव्यमय यज्ञको लागू होनेवाला मीमांसकोंका यह न्याय, कि 'यथार्थ किये गये कोईभी कर्म बंधक नहीं होते,' उन सब निष्काम कर्मोंके लियेभी उपयोगी हो जाता है। इन कर्मोंकी करते समय फलाशाभी छोड़ दी जाती है, जिसके कारण स्वर्गका आना-जानाभी छूट जाता है; और इन कर्मोंको करने परभी अंतमें मोक्ष-स्वरूपी सद्गति मिल जाती है (गीता ३. ९)। सारांश यह है, कि संसार यज्ञमय या कर्ममय है सही; परंतु कर्म करनेवालोंके दो वर्ग होते हैं। पहले वे जो शास्त्रोक्त रीतिसे, पर फलाशा रखकर कर्म किया करते हैं (कर्मकांडी लोग); और दूसरे वे जो ज्ञानसे या निष्काम बुद्धिसे केवल कर्तव्य समझकर कर्म किया करते हैं (ज्ञानी लोग)। इस संबंधमें गीताका यह सिद्धान्त है, कि कर्मकांडियोंको स्वर्गप्राप्तिरूप अनित्य फल मिलता है; और ज्ञानसे अर्थात् निष्काम बुद्धिसे कर्म करनेवाले ज्ञानी पुरुषोंको मोक्षरूपी नित्य फल मिलता है। मोक्षके लिये कर्मोंके छोड़ने गीतामें कहींभी नहीं बतलाया गया है। इसके विपरीत अठारहवें अध्यायके आरंभमें स्पष्टतया बतला पुरुषोंको मोक्षरूपि नित्य फल मिलता है। मोक्षके लिये कर्मोंके छोड़ने गीतामें कहींभी नहीं बतलाया गया है। इसके विपरीत अठरावें अध्यायके आरंभमें स्पष्टतया बतला दिया है, कि 'त्याग = छोड़ना' शब्दसे गीतामें कर्मत्याग कभीभी नहीं समझना चाहिये; किंतु उसका अर्थ 'फलत्याग' ही सर्वत्र विवक्षित है।

इस प्रकार कर्मकांडियों और कर्मज्ञानियोंको भिन्न भिन्न फल मिलते हैं और उन्हें पाके, प्रत्येकको मृत्युके बाद भिन्न भिन्न लोकोंमें भिन्न भिन्न मार्गोंसे जाना पड़ता है। इन्हीं मार्गोंको क्रमसे 'पितृयान' और 'देवयान' कहते हैं। (शां. १७. १५. १६); और उपनिषदोंके आधारसे गीताके आठवें अध्यायमें इन्हीं दोनों मार्गोंका वर्णन किया गया है। वह मनुष्य, जिसको ज्ञान हो गया है – और यह ज्ञान कम-से-कम अंतकालमें तो अवश्यही हो गया हो (गीता २. ७२) – देहपात होनेके अनंतर और चितामें उसके शरीरके जल जानेपर, उस अग्निसे ज्योति (ज्वाला), दिवस, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छः महीने, इनमेंसे प्रयाण करता हुआ ब्रह्मपदको जा पहुँचता है; और वहाँ उसे मोक्ष प्राप्त होता है; जिसके कारण वह पुनः जन्म ले कर मृत्युलोकमें फिर नहीं लौटता। परंतु जो केवल कर्मकांडी है, अर्थात् जिसे ज्ञान

नहीं है, वह उसी अग्निसे धुआँ, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायनके छः महीने इस क्रमसे प्रयाण करता हुआ चंद्रलोकको पहुँचता है; और अपने किये हुए सब पुण्यकर्मोंको भोग करके फिर इस लोकमें जन्म लेता है – इन दोनों मार्गोंमें यही भेद है (गीता ८. २३–२७)। 'ज्योति' (ज्वाला) शब्दके बदले उपनिषदोंमें 'अर्चिः' (ज्वाला) शब्दका प्रयोग किया गया है, जिससे पहले मार्गको 'अर्चिरादि' और दूसरेको, 'धूम्रादि' मार्गभी कहते हैं। हमारा उत्तरायण उत्तर ध्रुवस्थलमें रहनेवाले देवताओंका दिन है, और हमारा दक्षिणायन उनकी रात्रि है। इस परिभाषापर ध्यान देनेसे मालूम हो जाता है, कि इन दो मार्गोंमेंसे पहला – अर्चिरादि (ज्योतिरादि) – मार्ग आरंभसे अंततक प्रकाशमय है; और दूसरा – धूम्रादि – मार्ग अंधकारमय है। ज्ञान प्रकाशमय है; और परब्रह्म " ज्योतिषां ज्योतिः " (गीता १३. १७) – तेजोंका तेज है, इसलिये देहपात होनेके अनंतर, ज्ञानी पुरुषोंके मार्गका प्रकाशमय होना उचितही है, और गीतामें इन दो मार्गोंको 'शुक्ल' और 'कृष्ण' इसीलिये कहा है, कि उनकाभी अर्थ प्रकाशमय और अंधकारमय है। गीतामें उत्तरायणके बादके सोपानोंका वर्णन नहीं है। परंतु यास्कके निरुक्तमें उदगयनके बाद देवलोक, सूर्य, वैद्युत और मानस पुरुषका वर्णन है (निरुक्त. १४. ९)। और उपनिषदोंमें देवयानके विषयमें जो वर्णन हैं, उनकी एकवाक्यता करके वेदान्तसूत्रमें यह क्रम दिया है, कि उत्तरायणके बाद संवत्सर, वायुलोक, सूर्य, चंद्र, विद्युत्, वरुणलोक, इंद्रलोक, प्रजापतिलोक और अंतमें ब्रह्मलोक है (बृ. ५. १०; ६. २. १५; छां. ५. १०; कौषी. १. ३; वे. सू. ४. ३. १–६)।

देवयान और पितृयाण मार्गोंके सोपानों या मुकामोंका वर्णन हो चुका। परंतु इनमें जो दिवस, शुक्लपक्ष, उत्तरायण इत्यादिके वर्णन हैं, उनका सामान्य अर्थ कालवाचक होता है। इसलिये सहजही यह प्रश्न उपस्थित होता है; कि क्या देवयान और पितृयाण मार्गोंका कालसे कुछ सबंध है? अथवा पहले कभी था, या नहीं ? यद्यपि दिवस, रात्रि, शुक्लपक्ष इत्यादि शब्दोंका अर्थ कालवाचक है; तथापि अग्नि, ज्वाला, वायुलोक, विद्युत् आदि जो अन्य सोपान हैं, उनका अर्थ कालवाचक नहीं हो सकता। और यदि माना जाय, कि ज्ञानी पुरुषको, दिन अथवा रातके समय मरनेपर, भिन्न भिन्न गति मिलती है, तब तो ज्ञानका कुछ महत्त्वही नहीं रह जाता। इसलिये अग्नि, दिवस, उत्तरायण इत्यादि सभी शब्दोंको कालवाचक न मानकर वेदान्तसूत्रमें यह सिद्धान्त किया गया है, कि ये शब्द इनके अभिमानी देवताओंके लिये कल्पित किये गये हैं, जो ज्ञानी और कर्मकांडी पुरुषोंके आत्माको भिन्न भिन्न मार्गोंसे ब्रह्मलोक और चंद्रलोकमें ले जाते हैं (वे. सू. ४. २. १९–२१; ४. ३. ४)। परंतु इसमें संदेह है, कि भगवद्गीताको यह मत मान्य है या नहीं। क्योंकि उत्तरायणके बादके उन सोपानोंका – कि जो कालवाचक नहीं हैं – गीतामें वर्णन नहीं है। इतनाही नहीं; बल्कि इन मार्गोंको बतलानेके पहले भगवान्‌ने कालका

स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया है, कि "मैं तुझे वह काल बतलाता हूं कि जिस कालमें मरनेपर कर्मयोगी लौटकर आता है, या नहीं आता है" (गीता ८, ३३)। और महाभारतमेंभी यह वर्णन पाया जाता है, कि जब भीष्म पितामह शरशय्यामें पड़े थे, तब वे शरीरत्याग करनेके लिये उत्तरायणकी – अर्थात् सूर्यके उत्तरकी ओर मुड़नेकी – प्रतीक्षा कर रहे थे (मभा. भी. १२०; अनु. १६७)। इससे विदित होता है, कि दिवस, शुक्लपक्ष और उत्तरायण, ये कालही मृत्यु होनेके लिये कभी-न-कभी प्रशस्त माने जाते थे। ऋग्वेद (ऋ. १०. ८८. १५ और बृ. ६. २. १५)मेंभी देवयान और पितृयाण मार्गोंका जहाँपर वर्णन है, वहाँ कालवाचक अर्थही विवक्षित है। इससे तथा अन्य अनेक प्रमाणोंसे हमने यह निश्चय किया कि है, उत्तर गोलार्धके जिस स्थानमें सूर्य क्षितिजपर छः महीनेतक हमेशा दीख पड़ता है, उस स्थानमें अर्थात् उत्तर ध्रुवके पास या मेरुस्थानमें जब पहले वैदिक ऋषियोंकी बस्तीथी तभीसे छः महीनेका उत्तरायणरूपी प्रकाशकाल मृत्यु होनेके लिये प्रशस्त माना गया होगा। इस विषयका विस्तृत विवेचन हमने अपने दूसरे ग्रंथमें किया है। कारण चाहे कुछभी हो, इसमें संदेह नहीं कि यह समझ बहुत प्राचीन कालसे चली आयी है; और यही समझ देवयान तथा पितृयाण मार्गोंमें प्रकटरूप, न हो, तोभी पर्यायसे – अंतर्भूत हो गई है। अधिक क्या कहें, हमें तो ऐसा मालूम होता है. कि इन दोनों मार्गोंका मूल इस प्राचीन समझमेंही है। यदि ऐसा न माने, तो गीतामें देवयान और पितृयाणको लक्ष्य करके जो एक बार 'काल' (गीता ८. २३) और दूसरी बार 'गति' या 'सृति' अर्थात् मार्ग (गीता ८. २६, २७) कहा है, यानी इन दो भिन्न भिन्न अर्थोंके शब्दोंका जो प्रयोग किया गया है, उसकी कुछ उपपत्ति नहीं लगाई जा सकती। वेदान्तसूत्रके शांकरभाष्यमें देवयान और पितृयाणका कालवाचक अर्थ स्मार्त है, जो कर्मयोगके लियेही उपयुक्त होता है, और यह भेद करके, कि सच्चा ब्रह्मज्ञानी उपनिषदोंमें वर्णित श्रौत मार्गसे, अर्थात् देवताप्रयुक्त प्रकाशमय मार्गसेही, ब्रह्मलोकको जाता है; 'कालवाचक' तथा 'देवतावाचक' अर्थोंकी व्यवस्था की गई है (वे. सू. शां. भा. ४. २. १८–२१)। परंतु मूल सूत्रोंको देखनेसे ज्ञात होता है, कि कालकी अपेक्षा न रख उत्तरायणादि शब्दोंसे देवताओंको कल्पितकर देवयानका जो देवतावाचक अर्थ बादरायणाचार्यने निश्चित किया है, वही उनके मतानुसार सर्वत्र अभिप्रेत होगा; और यह माननाभी उचित नहीं है, कि गीतामें वर्णित मार्ग उपनिषदोंकी इस देवयान गतिको छोड़कर स्वतंत्र हो सकता है। परंतु यहाँ इतने गहरे पानीमें पैठनेकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि यद्यपि इस विषयमें मतभेद हो, कि देवयान और पितृयाणके दिवस, रात्रि, उत्तरायण आदि शब्द ऐतिहासिक दृष्टिसे मूलारंभमें कालवाचकही थे या नहीं; तथापि यह बात निर्विवाद है, कि आगे यह कालवाचक अर्थ छोड़ दिया गया और अंतमें देवयान और पितृयाण, इन दोनों पदोंका यही अर्थ निश्चित तथा रूढ हो गया है, कि – कालकी अपेक्षा न रख चाहे कोई किसी

समय मरे – यदि वह ज्ञानी हो तो अपने कर्मानुसार प्रकाशमय मार्गसे, और केवल कर्मकांडी हो तो अंधकारमय मार्गसे, परलोकको जाता है। चाहे फिर दिवस और उत्तरायण आदि शब्दोंसे बादरायणाचार्यके कथनानुसार देवता समझिये; या लक्षणासे प्रकाशमय मार्गके क्रमशः बढ़ते हुए सोपान समझिये; परंतु इससे इस सिद्धान्त में कुछ भेद नहीं होता, कि यहाँ देवयान और पितृयाण शब्दोंका रूढार्थ मार्गवाचक है।

परंतु क्या देवयान और क्या पितृयाण, दोनों मार्ग शास्त्रोक्त अर्थात् पुण्यकर्म करनेवालेकोही प्राप्त हुआ करते हैं; क्योंकि पितृयाण यद्यपि देवयानसे नीचेकी श्रेणीका मार्ग है, तथापि वहभी चंद्रलोकको अर्थात् एक प्रकारके स्वर्गलोकहीको पहुँचानेवाला मार्ग है। इसलिये प्रकट है, कि वहाँ सुख भोगनेकी पात्रता होनेके लिये इस लोकमें कुछ न कुछ शास्त्रोक्त पुण्यकर्म अवश्यही करना पड़ता है (गीता ९. २०, २१)। अतः जो लोग थोड़ाभी शास्त्रोक्त पुण्यकर्म न करके संसारमें अपना समस्त जीवन पापाचरणमें बिता देते हैं, वे इन दोनोंमेंसे किसीभी मार्गसे नहीं जा सकते। इनके विषयमें उपनिषदोंमें स्पष्ट कहा गया है, कि ये लोग मरनेपर एकदम पशु-पक्षी आदि तिर्यक्-योनिमें जन्म लेते हैं और बारबार यमलोक अर्थात् नरकमें जाते हैं। इसीको 'तीसरा' मार्ग कहते हैं. (छा. ५. १०. ८; कठ. २. ६. ७); और भगवद्गीतामेंभी कहा गया है, कि निपट पापी अर्थात् आसुरी पुरुषोंको यही-निरय-गति प्राप्त होती है (गीता १६. १९–२१; ९. १२.; वे. सू. ३. १. १२, १३; निरुक्त १४. ९)।

ऊपर इस बातका विवेचन किया गया है, कि मरनेपर मनुष्यको उसके कर्मानुरूप वैदिक धर्मके प्राचीन परंपरानुसार तीन प्रकारकी गति किस क्रमसे प्राप्त होती है। इनमेंसे केवल देवयान मार्गही मोक्षदायक है; परंतु यह मोक्ष क्रम-क्रमसे अर्थात् एकके बाद एक, अर्चिरादि कई सोपान चढ़नेपर अंतमें मिलता है। इसलिये इस मार्गको 'क्रममुक्ति' कहते हैं। और देहपात होनेके अनंतर अर्थात् मृत्युके अनंतर ब्रह्मलोकमें जानेसे वहाँ अंतमें मुक्ति मिलती है; इसीलिये इसे 'विदेह-मुक्ति'भी कहते हैं। परंतु इन सब बातोंके अतिरिक्त शुद्ध अध्यात्मशास्त्रका यहभी कथन है, कि जिसके मनमें ब्रह्म और आत्माके एकत्वका पूर्ण साक्षात्कार नित्य जागृत है, उसे ब्रह्मप्राप्तिके लिये कहीं दूसरी जगह क्यों जाना पड़ेगा ? अथवा उसे मृत्यु-कालकीभी बाँट क्यों जोहनी पड़ेगी ? यह बात सच है, कि उपासनाके लिये स्वीकृत किये गये सूर्यादि प्रतीकोंको अर्थात् सगुण ब्रह्मकी उपासनासे जो ब्रह्मज्ञान होता है, वह पहले पहल कुछ अपूर्ण रहता हैं; क्योंकि उससे मनमें सूर्यलोक या ब्रह्मलोक इत्यादिकी कल्पनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और इनके मरण-समयमेंभी मनमें न्यूनाधिक परिमाणके बने रहनेकी संभावना होती हैं। अतएव यह कहना उचित है कि इस अपूर्णताको दूर करके मोक्षकी प्राप्तिके लिये ऐसे लोगोंको देवयान मार्गसेही जाना पड़ता है (वे. सू. ४. ३१५)। क्योंकि अध्यात्मशास्त्रका यह अटल सिद्धान्त है,

कि मरण-समयमें जिसकी जैसी भावना या ऋतु हो, उसे वैसीही 'गति' मिलती है (छां. ३. १४. १); परंतु सगुण उपासना या अन्य किसी कारणसे जिसके मनमें अपने आत्मा और ब्रह्मके बीच कुछभी परदा या द्वैतभाव (तै. २. ७) शेष नहीं रह जाता, वह सदैव ब्रह्म-रूपही है। अतएव प्रकट है, कि, ऐसे पुरुषको ब्रह्म-प्राप्तिके लिये किसी दूसरे स्थानमें जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसीलिये बृहदारण्यकमें याज्ञवल्क्यने जनकसे कहा है, कि जो पुरुष शुद्ध ब्रह्मज्ञानसे पूर्ण निष्काम हो गया हो – "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सत् ब्रह्माप्येति" – उसके प्राण दूसरे किसीभी स्थानमें नहीं जाते; किंतु वह नित्य ब्रह्मभूत है और ब्रह्ममेंही लय पाता है (बृ. ४. ४. ६); और बृहदारण्यक तथा कठ, इन दोनों उपनिषदोंमें कहा गया है, कि ऐसा पुरुष "अत्र ब्रह्म समश्नुते" (कठ. ६. १४) – यहीका यहीं ब्रह्मका अनुभव करता है। इन्हीं श्रुतियोंके आधारपर शिवगीतामेंभी कहा गया है, कि मोक्षके लिये स्थानांतर करनेकी आवश्यकता नहीं होती। ब्रह्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है, कि जो अमुक स्थानमें हो और अमुक स्थानमें न हो (छां. ७. २५; मुं. २. २. ११)। तो फिर पूर्ण ज्ञानी पुरुषको कभीभी पूर्ण ब्रह्म-प्राप्तिके लिये उत्तरायणसे सूर्यलोक आदि मार्गसे जानेकी आवश्यकता क्यों होनी चाहिये? "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुं. ३. २. ९) – जिसने ब्रह्मस्वरूपको पहचान लिया; वह तो स्वयं इस लोकमें था – यहींका यहीं, ब्रह्म – हो गया। क्योंकि किसी एकका दूसरेके पास जाना तभी हो सकता है, जब 'एक' और 'दूसरा' ऐसा स्थलकृत या कालकृत भेद शेष हो; और यह भेद तो अंतिम स्थितिमें अर्थात् अद्वैत तथा श्रेष्ठ ब्रह्मानुभवमें रहही नहीं सकता। इसलिये जिसके मनकी ऐसी नित्य स्थिति हो चुकी है, कि "यस्य सर्वमात्मैवाऽभूत्" बृ. २. ४. १४), या "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छां. ३. १४. १), अथवा मैंही ब्रह्म हूँ – "अहं ब्रह्माऽस्मि" (बृ. १. ४. १०), वह ब्रह्म-प्राप्तिके लिये और किस जगह जायेगा? वह तो नित्य ब्रह्मभूतही रहता है। पिछले प्रकरणके अंतमें जैसे हमने कहा है, वैसेही गीतामें परम ज्ञानी पुरुषोंका वर्णन इस प्रकार किया गया है, कि "अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्" (गीता ५. २६) – जिन्होंने द्वैतभावको छोड़कर आत्मस्वरूपको जान लिया है, उन्हें चाहे प्रारब्ध-कर्म-क्षयके लिये देहपात होनेकी राह देखनी पड़े, तोभी उन्हें मोक्ष-प्राप्तिके लिये कहींभी नहीं जाना पड़ता; क्योंकि ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष तो उनके सामने हाथ जोड़े खड़ा रहता है। अथवा "इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः" (गीता ५. १९)। – जिनके मनमें सर्वभूतांतर्गत ब्रह्मात्म्यैक्यरूपी साम्य प्रति-बिंबित हो गया है वे (देवयान मार्गकी अपेक्षा न रख) यहींके यहीं जन्म-मरणको जीत लेते हैं। अथवा "भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति" – जिसकी ज्ञानदृष्टिमें समस्त प्राणियोंकी भिन्नताका नाश हो चुका है और जिसे वे सब एकस्थ अर्थात् परमेश्वर-स्वरूप दीखने लगते हैं, वह 'ब्रह्म संपद्यते' – ब्रह्ममेंही मिल जाता है (गीता १३.

३०)। गीताका जो वचन ऊपर दिया गया है, कि "देवयान और पितृयाण मार्गोंको तत्त्वतः जाननेवाला कर्मयोगी मोहको प्राप्त नहीं होता" (गीता ८. २१); उसमेंभी "तत्त्वतः जाननेवाला" पदका अर्थ "परमावधिके ब्रह्मस्वरूपको पहचाननेवाला" ही विवक्षित है (भागवत ७. १५. ५६)। यही पूर्ण ब्रह्मभूत या परमावधिकी ब्राह्मी स्थिति है; और श्रीमच्छंकराचार्यने अपने शारीरक भाष्यमें (वे. सू. ३. ४. १४) प्रतिपादन किया है, कि यही अध्यात्मज्ञानकी अत्यंत पराकाष्ठा या पूर्णावस्था है। यदि कहा जाय, कि ऐसी स्थिति प्राप्त होनेके लिये मनुष्यको एक प्रकारसे परमेश्वरही हो जाना पड़ता है, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। और फिर यह कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि इस रीतिसे जो पुरुष ब्रह्मभूत हो जाते हैं, कर्मसृष्टिके सब विधि-निषेधोंकी अवस्थासेभी परे रहते हैं; क्योंकि उनका ब्रह्मज्ञान सदैव जागृत रहता है और इसलिये जो कुछ वे किया करते हैं, वह हमेशाही शुद्ध और निष्काम बुद्धिसेही प्रेरित अतएव पाप-पुण्यसे अलिप्त रहता है। इस स्थितिकी प्राप्ति हो जानेपर ब्रह्मप्राप्तिके लिये किसी अन्य स्थानमें जानेकी, अथवा देहपात होनेकी, अर्थात् मरनेकीभी कोई आवश्यकता नहीं रहती, इसलिये ऐसे स्थितप्रज्ञ ब्रह्मनिष्ठ पुरुषको 'जीवन्मुक्त' कहते हैं (यो. ३. ९)। यद्यपि बौद्ध धर्मके लोग ब्रह्म या आत्माको नहीं मानते, तथापि उन्हें यह बात पूर्णतया मान्य है, कि मनुष्यका परम साध्य जीवन्मुक्तकी यह निष्काम अवस्थाही है; और इसी तत्त्वका संग्रह उन्होंने, कुछ शब्दभेदसे, अपने धर्ममें किया है (परिशिष्ट प्रकरण देखो) बहुतेरे लोगोंका कथन है, कि पराकाष्ठाके निष्कामत्वकी इस अवस्थामें और सांसारिक कर्मोंमें निसर्गकेही परस्पर-विरोध है; इसलिये जिसे यह अवस्था प्राप्त होती है, उसके सब कर्म आपही आप छूट जाते हैं और वह संन्यासी हो जाता है। परंतु गीताको यह मत मान्य नहीं है; और उसका यही सिद्धान्त है, कि स्वयं परमेश्वर जिस प्रकार कर्म करता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्तके लियेभी – निष्काम बुद्धिसे लोकसंग्रहके निमित्त – मृत्युपर्यंत सब व्यवहारोंको करते रहनाही अधिक श्रेयस्कर है; क्योंकि निष्कामत्व और कर्ममें कोई विरोध नहीं है। यह बात अगले प्रकरणके निरूपणसे स्पष्ट हो जायगी। गीताका यह तत्त्व योगवासिष्ठ (यो. ६. उ. १९९) मेंभी स्वीकृत किया गया है।

ग्यारहवाँ प्रकरण

संन्यास और कर्मयोग

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ *

– गीता ५. २

पिछले प्रकरणमें इस बातका विस्तृत विचार किया गया है, कि अनादि कर्मके चक्करोंसे छूटनेके लिये प्राणिमात्रमें एकत्वसे रहनेवाले परब्रह्मका अनुभवात्मक ज्ञान होनाही एकमात्र उपाय है; और यह विचारभी किया गया है, कि इस अमृत ब्रह्मका ज्ञान संपादन करनेके लिये मनुष्य स्वतंत्र है या नहीं, एवं इस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये मायासृष्टिके अनित्य व्यवहार अथवा कर्म वह किस प्रकार करे। अंतमें यह सिद्ध किया है, कि बंधन कुछ कर्मका धर्म या गुण नहीं है; किंतु मनका है। इसलिये व्यावहारिक कर्मोंके फलके बारेमें जो अपनी आसक्ति होती है, उसे इंद्रिय-निग्रहसे धीरे धीरे घटा कर, शुद्ध अर्थात् निष्काम बुद्धिसे कर्म करते रहनेपर, कुछ समयके बाद साम्यबुद्धिरूप आत्मज्ञान देहेंद्रियोंमें समा जाता है; और अंतमें पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार इस बातका निर्णय हो गया, कि मोक्षरूपी परम साध्य अथवा आध्यात्मिक पूर्णावस्थाकी प्राप्तिके लिये किस साधन या उपायका अवलंबन करना चाहिये। इस प्रकारके बर्तावसे, अर्थात् यथाशक्ति और यथाधिकार निष्काम कर्म करनेसे, जब कर्मका बंधन छूट जाय तथा चित्तशुद्धि द्वारा अंतमें पूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाय; तब यह महत्त्वका प्रश्न उपस्थित होता है, कि अब आगे अर्थात् सिद्धावस्थामें ज्ञानी और स्थितप्रज्ञ पुरुष कर्मही करता रहे, अथवा प्राप्य वस्तुको पा कर कृतकृत्य हो, माया-सृष्टिके सब व्यवहारोंको निरर्थक और ज्ञानविरुद्ध समझ कर, एकदम उनका त्याग कर दे? क्योंकि सब कर्मोंको बिलकुल छोड़ देना (कर्म-संन्यास), या उन्हें निष्काम बुद्धिसे मृत्युपर्यंत करते जाना (कर्मयोग), ये दोनों

---

* "संन्यास और कर्मयोग, दोनों निःश्रेयस्कर अर्थात् मोक्षदायक हैं; परंतु इन दोनोंमें कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगही अधिक श्रेष्ठ है।" दूसरे चरणके 'कर्म-संन्यास' पदसे प्रकट होता है, कि पहले चरणके, संन्यास शब्दका क्या अर्थ करना चाहिये। गणेश-गीताके चौथे अध्यायके आरंभमें गीताके ये प्रश्नोत्तर लिये गये हैं। वहाँ यह श्लोक थोड़े शब्दभेदसे इस प्रकार आया है– "क्रियायोगो वियोगश्चाप्युभौ मोक्षस्य साधने। तयोर्मध्ये क्रियायोगस्त्यागात्तस्य विशिष्यते॥"

पक्ष तर्कदृष्टिसे इस स्थानपर संभव होते हैं। और इनमेंसे जो पक्ष श्रेष्ठ सिद्ध होगा, उसीकी ओर ध्यान दे कर पहलेसे (अर्थात् साधनावस्थासेही) बर्ताव करना सुविधाजनक होगा, इसलिये उक्त दोनों पक्षोंके तारतम्यका विचार किये बिना कर्म और अकर्मका कोईभी आध्यात्मिक विवेचन पूरा नहीं हो सकता। अर्जुनसे सिर्फ़ यह कह देनेसे काम नहीं चल सकता था, कि पूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जानेपर कर्मोंका करना और न करना एक-सा है (गीता ३. १८); क्योंकि समस्त व्यवहारोंमें कर्मकी अपेक्षा बुद्धिहीकी श्रेष्ठता होनेके कारण, ज्ञानसे जिसकी बुद्धि समस्त भूतोंमें सम हो गई है, उसे आगे किसीभी कर्मके शुभाशुभत्वका लेप नहीं लगता (गीता ४. २०, २१)। भगवानका तो उसे यही निश्चित उपदेश था कि – युद्धही कर – युध्यस्व ! (गीता २. १८) ; और इस खरे तथा स्पष्ट उपदेशके समर्थनमें ज्ञान हो जानेपर "लड़ाई करे तो अच्छा, न करे तोभी अच्छा;" ऐसी संदिग्ध उपपत्तिकी अपेक्षा और दूसरे कुछ सबल कारणोंका बतलाना आवश्यक था। और तो क्या, गीताशास्त्रकी प्रवृत्ति यह बतलानेके लियेही हुई है, कि किसी कर्मका भयंकर परिणाम दृष्टिके सामने देखते रहनेपरभी बुद्धिमान् पुरुष उसेही क्यों करे। गीताकी यही तो विशेषता है। यदि यह सत्य है, कि कर्मसे जंतु बँधता है और ज्ञानसे मुक्त होता है, तो ज्ञानी पुरुषको कर्म करनाही क्यों चाहिये ? कर्म-क्षयका अर्थ कर्मोंका छोड़ना नहीं है; केवल फलाशा छोड़ देनेसेही कर्मका क्षय हो जाता है, सब कर्मोंको छोड़ देना शक्य नहीं है; इत्यादि सिद्धान्त यद्यपि सत्य हों, तथापि इससे भली भाँति यह सिद्ध नहीं होता, कि जितने कर्म छूट सकें, उतनेभी क्यों न छोड़े जायें। और न्यायसे देखने परभी, यही अर्थ निष्पन्न होता है; क्योंकि गीतामेंही कहा, है, कि चारों ओर पानीही पानी हो जाने पर जिस प्रकार फिर कोई उसके लिये कुएँकी खोज नहीं करता, उसी प्रकार कर्मोंसे सिद्ध होनेवाली ज्ञानप्राप्ति हो चुकनेपर ज्ञानी पुरुषको कर्मकी कुछभी अपेक्षा नहीं रहती (गीता २. ४६)। इसीलिये तीसरे अध्यायके आरंभमें अर्जुनने श्रीकृष्णसे प्रथम यही पूछा है, कि आपके मतसे यदि कर्मकी अपेक्षा निष्काम अथवा साम्यबुद्धि श्रेष्ठ है, तो स्थितप्रज्ञके समान मैंभी अपनी बुद्धिको शुद्ध किये लेता हूँ – बस, तब फिरभी लड़ाईके इस घोर कर्ममें मुझे क्यों फँसाते हो ? (गीता ३. १) इस प्रश्नकाभी उत्तर देते हुए भगवानने "कर्म किसीकेभी छूट नहीं सकते" इत्यादि कारण बतला कर, चौथे अध्यायमें कर्मका समर्थन किया है। परंतु सांख्य (संन्यास) और कर्मयोग, दोनोंही मार्ग यदि शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं, तो यही कहना पड़ेगा, कि ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर, इनमेंसे जिसे जो मार्ग अच्छा लगे, उसे वह स्वीकार कर ले। ऐसी दशामें, पाँचवें अध्यायके आरंभमें अर्जुनने फिर प्रार्थना की, कि गोलमाल करके दोनों मार्ग मुझे न बतलाइये; निश्चयपूर्वक मुझे एकही बात बतलाइये, कि इन दोनोंमेंसे अधिक श्रेष्ठ कौन है (गीता ५. १)। यदि ज्ञानोत्तर कर्म करना या न करना एकही सा है, तो फिर मैं अपनी इच्छासे जी

चाहे तो कर्म करूँगा, नहीं तो न करूँगा। यदि कर्म करनाही उत्तम पक्ष हो, तो मुझे उसका कारण समझाइये; तभी मैं आपके कथनानुसार आचरण करूँगा। अर्जुनका यह प्रश्न कुछ अपूर्व नहीं है। योगवासिष्ठमें (यो. वा. ५. ५६. ६) श्रीरामचंद्रने वसिष्ठसे और गणेशगीता (ग. गी. ४. १)में वरेण्य राजाने गणेशजीसे यही प्रश्न किया है। केवल हमारेही यहाँ नहीं, वरन् यूरोपमें–जहाँ तत्त्वज्ञानके विचार पहले पहल शुरू हुए थे, उस ग्रीस देशमेंभी – प्राचीन कालमे यह प्रश्न उपस्थित हुआ था – यह बात अरिस्टाटलके ग्रंथसे प्रकट होती है। इस प्रसिद्ध यूनानी ज्ञानी पुरुषने अपने नीतिशास्त्रसंबंधी ग्रंथके अंत (१०. ७, ८)में यही प्रश्न उपस्थित किया है और प्रथम अपना यह मत प्रकट किया है, कि संसारके या राजनैतिक मामलोंमें जीवन बितानेकी अपेक्षा ज्ञानी पुरुषको शांतिसे तत्त्वके विचारमें जीवन बितानाही सच्चा और पूर्ण आनंददायक है। तोभी उसके अनंतर लिखे, अपने राजधर्मसंबंधी ग्रंथ (७. २, ३) में अरिस्टाटलही लिखता है, कि "कुछ ज्ञानी पुरुष तत्त्व-विचारमें, तो कुछ राजनैतिक कार्योंमें निमग्न दीख पड़ते हैं; और यदि पूछा जाय कि इन दोनों मार्गोंमेंसे कौन-सा बहुत अच्छा है, तो यही कहना पड़ेगा, कि प्रत्येक मार्ग अंशतः सच्चा है। तथापि, कर्मकी अपेक्षा अकर्मको अच्छा कहना भूल है।* क्योंकि, यह कहनेमें कोई हानि नहीं, कि आनंदभी तो एक कर्मही है; और सच्ची श्रेयःप्राप्तिभी अनेक अंशोंमें ज्ञानयुक्त तथा नीतियुक्त कर्मोंमेंही है – दो स्थानोंपर अरिस्टाटलके भिन्न भिन्न मतोंको देखकर, गीताके इस स्पष्ट कथनका महत्त्व पाठकोंके ध्यानमें आ जावेगा, कि "कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः" (गीता ३. ८) – अकर्मकी अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है। गत शताब्दीका प्रसिद्ध फ्रेंच पंडित आगस्टस् कोंट अपने आधिभौतिक तत्त्वज्ञानमें कहता है – "यह कहना भ्रांतिमूलक है, कि तत्त्वविचारहीमें निमग्न रह कर जीवन बिताना श्रेयस्कर है। और जो तत्त्वज्ञ पुरुष इस ढंगके आयुष्य क्रमको अंगीकार करता है और अपने हाथसे होने योग्य लोगोंका कल्याण करना छोड़ देता है, उसके विषयमें यही कहना चाहिये, कि वह अपने प्राप्त साधनोंका दुरुपयोग करता है।" इसके विपरीत जर्मन तत्त्ववेत्ता शोपेनहरने कहा है, कि संसारके समस्त व्यवहार – यहाँतक कि जीवित रहनाभी – दुःखमय हैं; इसलिये तत्त्वज्ञान प्राप्तकर इन सब कर्मोंका, जितनी जल्दी हो सके, नाश करनाही इस संसारमें मनुष्यका सच्चा कर्तव्य है। कोंट सन १८५७ में और शोपेनहर सन १८६० में संसारसे बिदा हुए। शोपेनहरका पंथ जर्मनीमें हार्टमेनने जारी रखा है। कहना नहीं होगा, कि स्पेन्सर और मिल प्रभृति अंग्रेज तत्त्वशास्त्रज्ञोंके मत कोंटके जैसे हैं।

---

* "And it is equally a *mistake to place inactivity above action*, for happiness is activity, and the actions of the just and wise are the realization of much that is noble." (Aristotle's *politics*, trans. by Jowett, Vol. I, p. 212. The Italics are ours.)

परंतु इन सबके आगे बढ़कर, हालहीके जमानेके आधिभौतिक जर्मन पंडित नित्शेने, अपने ग्रंथोंमें, कर्म छोड़नेवालोंपर ऐसे तीव्र कटाक्ष किये हैं, कि वह कर्मसंन्यास-पक्षवालोंके लिये 'मूर्ख-शिरोमणि' शब्दसे अधिक सौम्य शब्दका उपयोग करही नहीं सका है।*

यूरोपमें अरिस्टाटलसे लेकर अबतक जिस प्रकार इस संबंधमें दो पक्ष हैं, उसी प्रकार भारतीय वैदिक धर्ममेंभी प्राचीन कालसे लेकर अबतक इस संबंधके दो संप्रदाय एकसे चले आ रहे हैं (मभा. शां. ३४९. ७)। इनमेंसे एकको संन्यास-मार्ग, सांख्य-निष्ठा या केवल सांख्य अथवा – ज्ञानमेंही नित्य निमग्न रहनेके कारण – ज्ञान-निष्ठाभी कहते हैं; और दूसरेको कर्मयोग, अथवा संक्षेपमें केवल योग या कर्म-निष्ठा कहते हैं। हम तीसरे प्रकरणमेंही कह चुके हैं, कि यहाँ 'सांख्य' और 'योग' शब्दोंसे तात्पर्य क्रमशः कापिल-सांख्य और पातंजल योगसे नहीं है; परंतु 'संन्यास' शब्दभी कुछ संदिग्ध है, इसलिये उसके अर्थका कुछ अधिक विवरण करना यहाँ आवश्यक है। 'संन्यास' शब्दका सिर्फ़ ' विवाह न करना ' और यदि किया हो, तो " बाल-बच्चोंको छोड़ भगवे कपडे रँग लेना ' अथवा ' केवल चौथे आश्रमका ग्रहण करना " इतनाही अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है। क्योंकि विवाह न करने परभी भीष्मपितामह मरते दमतक राज्यकार्योंके उद्योगमें लगे रहे; और श्रीमत् शंकराचार्यने ब्रह्मचर्यसे एकदम चौथा आश्रम ग्रहण कर, या महाराष्ट्र देशमें श्रीसमर्थ रामदासने मृत्युपर्यंत ब्रह्मचारी – गोस्वामी – रहकर, ज्ञानप्रचार करके संसारके उद्धारार्थ कर्म किये हैं। यहाँ पर मुख्य प्रश्न यही है, कि ज्ञानोत्तर संसारके व्यवहार केवल कर्तव्य समझकर लोक-कल्याणके लिये किये जावें अथवा मिथ्या समझ कर एकदम छोड़ दिये जावें ? इन व्यवहारों या कर्मोंको करनेवाला कर्मयोगी कहलाता है, फिर चाहे वह ब्याहा हो या क्वाँरा, भगवे कपड़े पहने या सफ़ेद। हाँ, यहभी कहा जा सकता है, कि ऐसे काम करनेके लिये विवाह न करना, भगवे कपड़े

---

* कर्मयोग और कर्मत्याग (सांख्य या संन्यास), इन्हीं दो मार्गोंको सलीने अपने *Pessimism* नामक ग्रंथमें क्रमसे *Optimism* और *Pessimism* नाम दिये हैं; पर हमारी रायमें ये नाम ठीक नहीं हैं। *Pessimism* शब्दका अर्थ " उदास, निराशावादी या रोती सूरत " होता है। परंतु संसारको अनित्य समझ कर उसे छोड़ देनेवाले (संन्यासी) आनंदी रहते हैं और वे लोग संसारको आनंदसेही छोड़ते हैं; इसलिये हमारी रायमें, उनको *Pessimist* कहना ठीक नहीं हैं। इसके बदले कर्मयोगको *Energism* और सांख्य या संन्यास मार्गको Quietism कहना अधिक प्रशस्त होगा। वैदिक धर्मके अनुसार दोनों मार्गोंमें ब्रह्मज्ञान एकही-सा है, इसलिये दोनोंका आनंद और शांतिभी एकही-सी है। हम ऐसा भेद नहीं करते, कि एक मार्ग आनंदमय है और दूसरा दुःखमय है, अथवा एक आशावादी है, और दूसरा निराशावादी।

पहनना अथवा वस्तीसे बाहर विरक्त हो कर रहनाही कभी कभी विशेष सुभीतेका होता है। क्योंकि फिर कुटुंबके भरण-पोषणकी झंझट अपने पीछे न रहनेके कारण, अपना सारा समय और परिश्रम लोक-कार्योंमें लगा देनेके लिये कुछभी अड़चन नहीं रहती। ऐसे पुरुष भेषसे संन्यासी हों, तो भी वे तत्त्वदृष्टिसे कर्मयोगीही हैं। परंतु विपरीत पक्षमें – अर्थात् जो लोग इस संसारके समस्त व्यवहारोंको निस्सार समझ उनका त्याग करके चुपचाप बैठे रहते हैं – उन्हींको संन्यासी कहना चाहिये, फिर चाहे उन्होंने प्रत्यक्ष चौथा आश्रम ग्रहण किया हो या न किया हो। सारांश, गीताका कटाक्ष भगवे अथवा सफ़ेद कपड़ोंपर अथवा विवाह या ब्रह्मचर्यपर नहीं है; प्रत्युत इसी एक वातपर नज़र रखकर गीतामें संन्यास और कर्मयोग, इन दोनों मार्गोंका विभेद किया गया है, कि ज्ञानी पुरुष जगत्के व्यवहार करता है या नहीं? शेष बातें गीताधर्ममें तो महत्त्वकी नहीं हैं। संन्यास या चतुर्थाश्रम शब्दोंकी अपेक्षा कर्मसंन्यास अथवा कर्मत्याग, ये शब्द यहाँ अधिक अन्वर्थक और निःसंदिग्ध हैं। परंतु इन दोनोंकी अपेक्षा केवल संन्यास शब्दके व्यवहारकीही अधिक रीतिके कारण उसके पारिभाषिक अर्थका यहाँ विवरण किया गया है। जिन्हें इस संसारके व्यवहार निःसार प्रतीत होते हैं, वे उससे निवृत्त हो अरण्यमें जाकर स्मृतिधर्मानुसार चतुर्थाश्रममें प्रवेश करते हैं, इससे कर्मत्यागके इस मार्गको संन्यास कहते हैं। परंतु इसमें प्रधान भाग कर्मत्यागही है, गेरुए कपड़े नहीं।

यद्यपि इस प्रकार इन दोनों पक्षोंका प्रचार है, कि पूर्ण ज्ञान होनेपर आगे कर्म करें (कर्मयोग) या कर्म छोड़ दें, (कर्मसंन्यास), तथापि गीताके सांप्रदायिक टीकाकारोंने अब यहाँ यह प्रश्न छेड़ा है, कि क्या अंतमें मोक्षप्राप्ति करा देनेके लिये दोनों मार्ग स्वतंत्र अर्थात् एक-से समर्थ हैं? अथवा कर्मयोग केवल पूर्वांग यानी पहली सीढ़ी है; और अंतमें मोक्षकी प्राप्तिके लिये कर्म छोड़ कर संन्यासही लेना चाहिये? गीताके दूसरे और तीसरे अध्यायोंमें जो वर्णन है, उससे जान पड़ता है, कि ये दोनों मार्ग स्वतंत्र हैं। परंतु जिन टीकाकारोंका यह मत है, कि संन्यास आश्रमको अंगीकार कर समस्त सांसारिक कर्मोंको छोड़े बिना कभीभी मोक्ष नहीं मिल कि सकता – और जो लोग इसी बुद्धिसे गीताकी टीका करनेमें प्रवृत्त हुए हैं, यही मत गीतामें प्रतिपादित किया गया है – वे गीताका यह तात्पर्य निकालते हैं, कि "कर्मयोग स्वतंत्र रीतिसे मोक्षप्राप्तिका मार्ग नहीं है, पहले चित्तकी शुद्धिके लिये कर्मकर अंतमें संन्यासही लेना चाहिये; संन्यासही अंतिम अर्थात् मुख्य निष्ठा है।" परंतु इस अर्थको स्वीकारकर लेनेसे भगवानने जो यह कहा है, कि "सांख्य (संन्यास) और योग (कर्मयोग) ये द्विविध अर्थात् दो प्रकार की निष्ठाएँ इस संसारमें हैं" (गीता ३. ३.), उस द्विविध पदका स्वारस्य सर्वथा नष्ट हो जाता है। 'कर्मयोग' शब्दके तीन अर्थ हो सकते हैं – (१) पहला अर्थ यह है, कि ज्ञान हो या न हो; चातुर्वर्ण्यके यज्ञयाग आदि कर्म अथवा श्रुति-स्मृति-वर्णित

कर्म करनेसेही मोक्ष मिलता है। परंतु मीमांसकोंका यह पक्ष गीताको मान्य नहीं है (गीता २. ४५)। (२) दूसरा अर्थ यह है, कि चित्तशुद्धिके लिये कर्म करनेकी (कर्मयोग) आवश्यकता है, इसलिये केवल चित्तशुद्धिके निमित्तही कर्म करना। इस अर्थके अनुसार कर्मयोग संन्यासमार्गका पूर्वांग हो जाता है; परंतु यह गीतामें वर्णित कर्मयोग नहीं है। (३) जो जानता है, कि अपने आतमाका कल्याण किसमें है, वह ज्ञानी पुरुष स्वधर्मोक्त युद्धादि सांसारिक कर्म मृत्युपर्यंत करे या न करे? यही गीताका मुख्य प्रश्न है और उसका उत्तर यही है, कि ज्ञानी पुरुषकोभी चातुर्वर्ण्यमें सब कर्म निष्काम बुद्धिसे करनेही चाहिये (गीता ३. २५)। यही 'कर्मयोग' शब्दका तीसरा अर्थ है; और गीतामें यही कर्मयोग प्रतिपादित किया गया है। यह कर्मयोग संन्यासमार्गका पूर्वांग कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि इस मार्गमें कर्म कभी छूटते ही नहीं। अब प्रश्न है केवल मोक्ष-प्राप्तिके विषयका। इसपर गीतामें स्पष्ट कहा है, कि ज्ञानप्राप्तिके हो जानेसे निष्काम कर्म बंधक नहीं हो सकते; प्रत्युत संन्याससे जो मोक्ष प्राप्त करना है, वही इस कर्मयोगसेभी प्राप्त होता है (गीता ५. ५)। इसलिये गीताका कर्मयोग संन्यासमार्गका पूर्वांग नहीं है, किंतु ज्ञानोत्तर ये दोनों मार्ग मोक्षदृष्टिसे स्वतंत्र अर्थात् तुल्यबल हैं (गीता ५. २) – गीताके "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा" (गीता ३. ३) वाक्यका यही अर्थ करना चाहिये और इसी हेतु भगवानने अगले चरणमें – "ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेण योगिनाम्" – इस प्रकार, इन दोनों मार्गोंका पृथक् पृथक् स्पष्टीकरण किया है और आगे चलकर तेरहवें अध्यायके : "अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेण चापरे" (गीता १३. २४) इस श्लोकके – 'अन्ये' (एक) और 'अपरे' (दूसरे) – ये पद उक्त दोनों मार्गोंको स्वतंत्र माने बिना अन्वर्थक नहीं हो सकते। इसके सिवा जिस नारायणीय धर्मका प्रवृत्तिमार्ग (योग) गीतामें प्रतिपादित है, महाभारतमें उसका इतिहास देखनेसे यही सिद्धान्त दृढ होता है। सृष्टीके आरंभमें भगवानने हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्माको सृष्टि-रचनेकी आज्ञा दी, तब उनसे मरीचि आदि सात मानसपुत्र हुए। सृष्टिक्रमका अच्छे प्रकार, आरंभकर लिये उन्होंने योग अर्थात् कर्ममय प्रवृत्तिमार्गका अवलंबन किया। ब्रह्माके सनत्कुमार और कपिल प्रभृति दूसरे सात मानसपुत्रोंने उत्पन्न होतेही निवृत्तिमार्ग अर्थात् सांख्यका अवलंबन किया – इस प्रकार इन दोनों मार्गोंकी उत्पत्ति बतलाकर आगे स्पष्ट कहा है, कि ये दोनों मार्ग मोक्षदृष्टिसे तुल्यबल अर्थात् वासुदेवस्वरूपी एकही परमेश्वरकी प्राप्ति करा देनेवाले, भिन्न भिन्न और स्वतंत्र हैं (मभा. शां. ३४८. ७४; ३४९. ६३–७३)। इसी प्रकार यहभी भेद किया गया है, कि योग अर्थात् प्रवृत्तिमार्गके प्रवर्तक हिरण्यगर्भ हैं, और सांख्यमार्गके मूल प्रवर्तक कपिल हैं, परंतु यह कहीं नहीं कहा है, कि आगे हिरण्यगर्भने कर्मोंका त्यागकर दिया। इसके विपरीत ऐसा वर्णन है, कि भगवानने सृष्टिके व्यवहार अच्छी तरहसे चलते रखनेके लिये कर्मरूपी यज्ञचक्रको उत्पन्न

किया; और हिरण्यगर्भसे तथा अन्य देवताओंसे कहा, कि इसे निरंतर जारी रखो (मभा. शां. ३४०. ४४–७५; ३३९. ६६, ६७ देखो); इससे निर्विवाद सिद्ध होता है, कि सांख्य और योग ये दोनों मार्ग आरंभसेही स्वतंत्र हैं। इससे यहभी दीख पड़ता है कि गीताके सांप्रदायिक टीकाकारोंने कर्मयोग-मार्गको गौणत्व देनेका जो प्रयत्न किया है, वह केवल सांप्रदायिक आग्रहका परिणाम है। और इन टीकाओंमें स्थान स्थान पर यह जो तुर्रा लगा रहता है, कि कर्मयोग, ज्ञानप्राप्ति अथवा संन्यासका केवल साधनमात्र है, वह इनकी मनगढ़ंत है। वास्तवमें गीताका सच्चा भावार्थ वैसा नहीं है। गीतापर जो संन्यासमार्गीय टीकाएँ हैं, उनमें हमारे मतसे यही मुख्य दोष है। और टीकाकारोंके इस सांप्रदायिक आग्रहसे छूटे बिना गीताके वास्तविक रहस्यका बोध हो जाना कभी संभव नहीं है।

यदि यह निश्चय करें, कि कर्मसंन्यास और कर्मयोग, दोनों स्वतंत्र रीतिसे मोक्षदायक हैं – एक दूसरेका पूर्वांग नहीं – तोभी पूरा निर्वाह नहीं होता। क्योंकि, यदि दोनों मार्ग एकहीसे मोक्षदायक हैं, तो कहना पड़ेगा, कि इनमेंसे जो मार्ग हमें पसंद होगा, उसे हम स्वीकार करें। और फिर यह सिद्ध न हो कर – कि अर्जुनको युद्धही करना चाहिये, – ये दोनों पक्ष संभव होते हैं, कि भगवानके उपदेशसे परमेश्वरका ज्ञान होनेपरभी, चाहे वह अपनी रुचिके अनुसार युद्ध करे अथवा लड़ना-मरना छोड़कर संन्यास ग्रहणकर ले। इसीलिये अर्जुनने स्वाभाविक रीतिसे यह सरल प्रश्न किया है, कि "इन दोनों मार्गोंमेसे जो अधिक प्रशस्त हो, वह एकही मार्ग निश्चय करके मुझे बतलाओ", (गीता ५. १) जिससे उसके अनुसार आचरण करनेमें कोई गड़बड़ न हो। गीताके पाँचवें अध्यायके आरंभमें अर्जुनके इस प्रकार प्रश्नकर चुकनेपर अगले श्लोकमेंही भगवानने उसका स्पष्ट उत्तर दिया है, कि "संन्यास और कर्मयोग ये दोनों मार्ग निःश्रेयस्कर अर्थात् मोक्षदायक हैं; अथवा मोक्षदृष्टिसे एकसी योग्यताके हैं; तोभी इन दोनोंमें **कर्मयोगकी श्रेष्ठता या योग्यता विशेष है** (विशिष्यते)" (गीता. ५. २); और यही श्लोक हमने इस प्रकरणके आरंभमें लिखा है। कर्मयोगकी श्रेष्ठताके संबंधमें गीतामें यह एकही वचन नहीं है; किंतु ऐसे अनेक वचन हैं, जैसे – "तस्माद्योगाय युज्यस्व" (गीता. २. ५०) – इसलिये तू कर्मयोगकाही स्वीकार कर। "मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि" (गीता २.४७) कर्म न करनेका आग्रह मत कर।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

कर्मोंको छोड़नेके झगड़ेमें न पड़कर "इंद्रियोंको मनसे रोकर अनासक्त बुद्धिके द्वारा कर्मेंद्रियोंसे कर्म करनेवालेकी योग्यता 'विशिष्यते' अर्थात् विशेष है" (गीता ३. ७)। क्योंकि, कभी क्यों न हो, "कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः" अकर्मकी – अपेक्षा

कर्म श्रेष्ठ है (गीता ३.८)। "इसलिये तू कर्मही कर" (गीता ४.१५) अथवा "योगमातिष्ठोत्तिष्ठ" (गीता ४.४२) – कर्मयोगका अंगीकार कर युद्धके लिये खड़ा हो। (योगी) "ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः" – ज्ञानमार्गवाले (संन्यासी) की अपेक्षा कर्मयोगीकी योग्यता अधिक है। "तस्माद्योगी भवार्जुन" (गीता ६.४६)। – इसलिये, हे अर्जुन ! तू (कर्म-)योगी हो। अथवा "मामनुस्मर युध्य च" (गीता ८.७) – मनमें मेरा स्मरण रखकर युद्ध कर; इत्यादि अनेक वचनोंसे गीतामें अर्जुनको स्थान स्थानपर जो उपदेश दिया गया है, उसमेंभी संन्यास या अकर्मकी अपेक्षा कर्मयोगकी अधिक योग्यता दिखलानेके लिये '**ज्यायः**', '**अधिकः**' और '**विशिष्यते**' इत्यादि पद स्पष्ट हैं। अठारहवें अध्यायके उपसंहारमेंभी भगवानने फिर कहा है, कि "नियत कर्मोंका संन्यास करना उचित नहीं है। आसक्ति-विरहित सब काम सदा करने चाहिये – यही मेरा निश्चित और उत्तम मत है" (गीता १८.६, ७)। इससे निर्विवाद सिद्ध होता है, कि गीतामें संन्यासमार्गकी अपेक्षा कर्मयोगकोही श्रेष्ठता दी गई है।

परंतु, जिनका सांप्रदायिक मत है, कि संन्यास या भक्तिही अंतिम और श्रेष्ठ कर्तव्य है; कर्म तो केवल चित्तशुद्धिका साधन है; वह मुख्य साध्य या कर्तव्य नहीं हो सकता, उन्हें गीताका यह सिद्धान्त कैसे पसंद होगा ? यह नहीं कहा जा सकता, कि उनके ध्यानमें यह बात आईही न होगी, कि गीतामें संन्यासमार्गकी अपेक्षा कर्मयोगको स्पष्ट रीतिसे अधिक महत्त्व दिया गया है; परंतु यदि यह बात मान ली जाती, तो यह प्रकटही है, कि उनके संप्रदायकी योग्यता कम हो जाती। इसीसे पाँचवे अध्यायके आरंभमें अर्जुनके प्रश्न और भगवानके उत्तर दोनों सरल, सयुक्तिक और स्पष्टार्थक रहनेपरभी, सांप्रदायिक टीकाकार इस चक्करमें पड़ गये हैं, कि उनका अर्थ कैसे और क्या किया जाय ? पहली अडचन यह थी, कि 'संन्यास और कर्मयोग इन दोनों मार्गोंमें श्रेष्ठ कौन है ?" यह प्रश्नही दोनों मार्गोंको स्वतंत्र माने बिना उपस्थित हो नहीं सकता। क्योंकि इन टीकाकारोंके कथनानुसार कर्मयोग यदि ज्ञानका सिर्फ़ पूर्वांग हो, तो यह बात स्वयंसिद्ध है, कि पूर्वांग गौण है; और ज्ञान अथवा संन्यासही श्रेष्ठ है और फिर प्रश्न करनेके लिये गुंजाइशही कहाँ रही ? अच्छा; यदि प्रश्नको उचित मान लें, तो यह स्वीकार करना पड़ता है, कि ये दोनों मार्ग स्वतंत्र हैं। और तब तो यह स्वीकृति इस कथनका विरोध करेगी, कि केवल हमारा संप्रदायही मोक्षका मार्ग है। इस अडचनको दूर करनेके लिये इन टीकाकारोंने पहले तो यह तुर्रा दिया है, कि अर्जुनका प्रश्नही ठीक नहीं है; और फिर यह दिखलानेका प्रयत्न किया है, कि भगवानके उत्तरका तात्पर्यभी वैसाही है। परंतु इतना गोलमाल करनेपरभी भगवानके इस स्पष्ट उत्तर – "कर्मयोगकी योग्यता अथवा श्रेष्ठता विशेष है" (गीता ५.२) का अर्थ ठीक ठीक फिरभी लगाही नहीं ! तब अंतमें पूर्वापार-संदर्भके विरुद्ध, अपने मनका दूसरा यह तुर्रा लगा कर इन टीकाकारोंको ज्यों त्यों कर

अपना समाधान कर लेना पड़ा है, कि 'कर्मयोगो विशिष्यते' – कर्मयोगकी योग्यता विशेष है – यह वचन कर्मयोगकी पोची प्रशंसा करनेके लिये यानी अर्थवादात्मक है और वास्तवमें भगवानके मतसेभी संन्यासमार्गही श्रेष्ठ है (गी. शां. भा. ५. २; ६. १, २; १८. ११) शांकरभाष्यमेंही क्यों, रामानुजभाष्यमेंभी यह श्लोक कर्मयोगकी केवल प्रशंसा करनेवाला – अर्थवादात्मकही – माना गया है (गी. रा. भा. ५. १)। रामानुजाचार्य यद्यपि अद्वैती न थे, तोभी उनके मतमें भक्तिही मुख्य साध्यवस्तु है, इसलिये कर्मयोग ज्ञानयुक्त भक्तिका साधनही हो जाता है (गीता रा. भा. ३. १)। मूल ग्रंथसे टीकाकारोंका संप्रदाय भिन्न है, परंतु टीकाकार यदि इस दृढ समझसे उस ग्रंथकी टीका करने लगे, कि हमारा मार्ग या संप्रदायही मूल ग्रंथमें वर्णित है, तो पाठकही देखें, कि उससे मूलग्रंथकी कैसी खींचातानी होती है। भगवान् श्रीकृष्ण या व्यास संस्कृत भाषामें स्पष्ट शब्दोंके द्वारा क्या यह कह नहीं सकते थे, कि "अर्जुन ! तेरा प्रश्न ठीक नहीं है ?" परंतु ऐसा न करके जब कि अनेक स्थलोंपर स्पष्ट रीतिसे यही कहा है, कि "कर्मयोगही विशेष योग्यताका है"; तब कहना पड़ता है, कि सांप्रदायिक टीकाकारोंका उल्लेखित अर्थ सरल नहीं है; और पूर्वापर संदर्भ देखनेसेभी यही अनुमान दृढ़ होता है। क्योंकि गीतामेंही अनेक स्थानोंमें ऐसा वर्णन है, कि ज्ञानी पुरुष कर्मका संन्यास न कर ज्ञानप्राप्तिके अनंतरभी अनासक्त बुद्धिसे अपने सब व्यवहार किया करता है (गीता २. ६४; ३. १९; ३. २५; १८. ९) इन स्थानों-पर श्रीशंकराचार्यने अपने भाष्यमें पहले यह प्रश्न किया है, कि ज्ञानसे मोक्ष मिलता है, या ज्ञान और कर्मके समुच्चयसे ? और फिर यह गीतार्थ किया है, कि केवल ज्ञानसेही सब कर्म दग्ध होकर मोक्षप्राप्ति होती है; मोक्षप्राप्तिके लिये कर्मकी आवश्यकता नहीं है। इससे आगे यह अनुमान निकाला है, कि "जब गीताकी दृष्टिसेभी मोक्षके लिये कर्मकी आवश्यकता नहीं है, तब चित्तशुद्धि हो जानेपर सब कर्म निरर्थक हैंही; और वे स्वभावसेही बंधक अर्थात् ज्ञानविरुद्ध हैं। इसलिये ज्ञानप्राप्तिके अनंतर ज्ञानी पुरुषको कर्म छोड़ देना चाहिये" – और कहना पड़ता है कि यही मत भगवानकोभी गीतामें ग्राह्य है। "ज्ञानके अनंतर ज्ञानी पुरुषकोभी कर्म करने चाहिये।" इस मतको 'ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्ष' कहते हैं; और श्रीशंकराचार्यका उपर्युक्त युक्तिवादही उस पक्षके विरुद्ध मुख्य आक्षेप है। ऐसाही युक्तिवाद मध्वा-चार्यनेभी स्वीकृत किया है (गी. मभा. ३. ३१)। हमारी रायमें यह युक्तिवाद समाधानकारक अथवा निरुत्तरभी नहीं है। क्योंकि, (१) यद्यपि काम्य कर्म बंधक होकर ज्ञानके विरुद्ध हैं, तथापि यह न्याय निष्काम कर्मको लागू नहीं है। और (२) ज्ञानप्राप्तिके अनंतर मोक्षके लिये कर्म अनावश्यक भलेही हुआ करें; परंतु उससे यह सिद्ध करनेमें कोई बाधा नहीं पहुँचती, कि "अन्य सबल कारणोंसे ज्ञानी पुरुषको ज्ञानके साथही कर्म करना आवश्यक है।" मुमुक्षुका सिर्फ़ चित्त शुद्ध करनेके लियेही संसारमें कर्मका उपयोग नहीं है; और न इसीलिये कर्म उत्पन्नही हुए हैं। इसलिये

कहा जा सकता है, कि मोक्षके अतिरिक्त अन्य कारणोंके लिये स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले कर्मसृष्टिके समस्त व्यवहार निष्कामबुद्धिसे करतेही रहनेकी ज्ञानी पुरुषकोभी जरूरत है। इस प्रकरणमें आगे विस्तारसहित विचार किया गया है, कि ये अन्य कारण कौन-से हैं। यहाँ इतनाही कह देते हैं, कि संन्यास लेनेके लिये प्रवृत्त अर्जुनको ये कारण बतलानेके निमित्तही गीताशास्त्रकी प्रवृत्ति हुई है; और ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता, कि चित्तकी शुद्धिके पश्चात् मोक्षके लिये कर्मोंकी अनावश्यकता बतलाकर गीतामें संन्यासमार्गहीका प्रतिपादन किया गया है। शांकरसंप्रदायका यह मत है सही, कि ज्ञानप्राप्तिके अनंतर संन्यासाश्रम लेकर कर्मोंको छोड़ही देना चाहिये। परंतु उससे यह सिद्ध नहीं होता, कि गीताका तात्पर्यभी वही होना चाहिये, और न यही बात सिद्ध होती है, कि अकेले शांकरसंप्रदायको या अन्य किसी संप्रदायको 'धर्म' मानकर उसीके अनुकूल गीताका किसी प्रकार अर्थ लगा लेना चाहिये। गीताका तो यही स्थिर सिद्धान्त है, कि ज्ञानके पश्चात्भी संन्यासमार्ग ग्रहण करनेकी अपेक्षा कर्मयोगको स्वीकार करनाही उत्तम पक्ष है। फिर उसे चाहे निराला संप्रदाय कहो या और कुछ उसका नाम रखो। परंतु इस बातपरभी ध्यान देना चाहिये, कि यद्यपि गीताको कर्मयोगही श्रेष्ठ जान पड़ता है, तथापि अन्य परमत-असहिष्णु संप्रदायोंकी भाँति उसका यह आग्रह नहीं, कि संन्यासमार्गको सर्वथा त्याज्य मानना चाहिये। गीतामें संन्यासमार्गके संबंधमें कहींभी अनादरभाव नहीं दिखलाया गया है। इसके विरुद्ध भगवानने स्पष्ट कहा है, कि संन्यास और कर्मयोग दोनों मार्ग एकसेही निःश्रेयस्कर- मोक्षदायक – अथवा मोक्षदृष्टिसे समान मूल्यवान् हैं। और आगे इस प्रकारकी युक्तियोंसे इन दो भिन्न भिन्न मार्गोंकी एकरूपताभी कर दिखलाई है, कि "एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति" (गीता ५. ५) – जिसे यह मालूम हो गया, कि ये दोनों मार्ग एकही हैं – अर्थात् समान-बलवाले हैं – उसेही सच्चा तत्वज्ञान हुआ; या 'कर्मयोग'मेंभी तो फलाशाका संन्यास करनाही पड़ता है – "न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन" (गीता ६. २)। यद्यपि ज्ञानप्राप्तिके अनंतर (पहलेही नहीं) कर्मका संन्यास करना या कर्मयोग स्वीकार करना दोनों मार्ग मोक्षदृष्टिसे एक-सीही योग्यताके हैं, तथापि लोकव्यवहारकी दृष्टिसे विचारनेपर यही मार्ग सर्वश्रेष्ठ है, कि बुद्धिमें संन्यास रख कर – अर्थात् निष्काम बुद्धिसे देहेंद्रियोंकेद्वारा जीवनपर्यंत लोकसंग्रहकारक सब कार्य किये जायँ। क्योंकि भगवान्का निश्चित उपदेश है, कि इस उपायसे संन्यास और कर्म, दोनों स्थिर रहते हैं। एवं तदनुसारही फिर अर्जुन युद्धके लिये प्रवृत्त हुआ है। ज्ञानी और अज्ञानीमें यही तो भेद है। केवल शारीर अर्थात् देहेंद्रियोंके कर्म देखें, तो दोनोंके एक-से होंगेही; परंतु अज्ञानी मनुष्य उन्हें आसक्त बुद्धिसे और ज्ञानी मनुष्य अनासक्त बुद्धिसे किया करता है (गीता ३. २५)। भास कविने गीताके इसी सिद्धान्तका वर्णन अपने नाटकमें इस प्रकार किया है :–

प्राज्ञस्य मूर्खस्य च कार्ययोगे।
समत्वमभ्येति तनुर्न बुद्धिः॥

"ज्ञानी और मूर्ख मनुष्योंके कर्म करनेमें शरीर तो एक-साही रहता है, परंतु बुद्धिमें भिन्नता रहती है" (अविमार. ५. ५)।

कुछ फुटकल संन्यासमार्गवालोंका इसपर यह और कथन है, कि "गीतामें अर्जुनको कर्म करनेका उपदेश तो दिया गया है; परंतु भगवानने यह उपदेश इस बातपर ध्यान दे कर किया है कि अज्ञानी अर्जुनको चित्तशुद्धिके लिये कर्म करनेकाही अधिकार था। सिद्धावस्थामें भगवानके मतसेभी कर्मयोगही श्रेष्ठ है।" इस युक्तिवादका सरल भावार्थ यही दीख पड़ता है, कि यदि भगवान् यह कह देते, कि "अर्जुन! तू अज्ञानी है," तो वह उसी प्रकार पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके लिये आग्रह करता, जिस प्रकार कि कठोपनिषदमें नचिकेताने किया था; और फिर तो उसे पूर्ण ज्ञान बतलानाही पड़ता; एवं यदि वैसा पूर्ण ज्ञान उसे बतलाया जाता, तो वह युद्ध छोड़कर संन्यास ले लेता और और तब तो भगवानका भारतीय युद्धसंबंधी सारा उद्देश्यही विफल हो जाता – इसी भयसे अपने अत्यंत प्रिय भक्तको धोखा देनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने गीताका उपदेश किया है! इस प्रकार जो लोग सिर्फ़ अपने संप्रदायका समर्थन करनेके लिये, भगवानके मत्थेभी अत्यंत प्रिय भक्तको धोखा देनेका निंद्यकर्म मढ़नेके लिये प्रवृत्त हो गये, उनके साथ किसीभी प्रकारका वाद न करनाही अच्छा है। परंतु सामान्य लोग इन भ्रामक युक्तियोंमें कहीं फँस न जावें; इसलिये इतनाही कह देते हैं, कि श्रीकृष्णको अर्जुनसे स्पष्ट शब्दोंमें यह कह देनेके लिये डरनेका कोई कारण न था, "कि तू अज्ञानी है, इसलिये कर्म कर।" और इतनेपरभी यदि अर्जुन कुछ गड़बड़ करता, तो उसे, अज्ञानी रखकरही उससे प्रकृतिधर्मके अनुसार युद्ध करानेकी सामर्थ्य श्रीकृष्णमें थी ही (गीता १८. ५९, ६१)। परंतु ऐसा न कर, बार बार 'ज्ञान' और 'विज्ञान' बतलाकरही (गीता ७. २; ९. १; १०. १; १३. २; १४. १) पंद्रहवें अध्यायके अंतमें भगवानने अर्जुनसे कहा है, कि "इस शास्त्रको समझ लेनेसे मनुष्य ज्ञाता और कृतार्थ हो जाता है" (गीता १५. २०)। इस प्रकार भगवानने उसे पूर्ण ज्ञानी बना कर, उसकी इच्छासेही उससे युद्ध करवाया है (गीता १८. ६३)। इससे भगवानका यह अभिप्राय स्पष्ट रीतिसे सिद्ध होता है, कि ज्ञाता पुरुषको, ज्ञानप्राप्तिके पश्चात्भी, निष्काम कर्म करनेही रहना चाहिये, और यही सर्वोत्तम पक्ष है। इसके अतिरिक्त, यदि एक बार मानभी लिया जाय, कि अर्जुन अज्ञानी था; तथापि उसको किये हुए उपदेशके समर्थनमें जिन जनक प्रभृति प्राचीन कर्मयोगियोंका और आगे भगवानने स्वयं अपनाभी उदाहरण दिया है, उन सभीको कदापि अज्ञानी नहीं कह सकते। इसीसे कहना पड़ता है, कि सांप्रदायिक आग्रहका यह कोरा युक्तिवाद सर्वथा त्याज्य और अनुचित है; तथा गीतामें ज्ञानयुक्त कर्मयोगकाही उपदेश किया गया है।

अबतक यह बतलाया गया, कि ज्ञानोत्तर सिद्धावस्थाके व्यवहारके विषयमेंभी कर्मत्याग (सांख्य) और कर्मयोग (योग), ये दोनों मार्ग न केवल हमारेही देशमें, वरन् अन्य देशोंमेंभी प्राचीन समयसे प्रचलित पाये जाते हैं। अनंतर, इस विषयमें गीताशास्त्रके दो मुख्य सिद्धान्त बतलाये गये :– (१) ये दोनों मार्ग स्वतंत्र अर्थात् मोक्षकी दृष्टिसे परस्पर-निरपेक्ष और तुल्यबल हैं, एक दूसरेका अंग नहीं और (२) उनमें कर्मयोगही अधिक प्रशस्त है। और इन दोनों सिद्धान्तोंके अत्यंत स्पष्ट होते हुएभी सांप्रदायिक टीकाकारोंने इनका विपर्यास किस प्रकार और क्यों किया ? इसी बातको दिखलानेके लिये यह सारी प्रस्तावना लिखनी पड़ी। अब गीतामें दिये हुए उन कारणोंका निरूपण किया जायगा, जो प्रस्तुत प्रकरणकी इस मुख्य बातको सिद्ध करते हैं, कि सिद्धावस्थामेंभी कर्मत्यागकी अपेक्षा निष्काम बुद्धिसे आमरण कर्म करते रहनेका मार्ग अर्थात् कर्मयोगही अधिक श्रेयस्कर है। इनमेंसे कुछ बातोंका स्पष्टीकरण तो 'सुख-दुःख-विवेक' नामक प्रकरणमें पहलेही हो चुका है। परंतु वह विवेचन था सिर्फ़ सुख-दुःखका, इसलिये वहाँ इस विषयकी पूरी चर्चा नहीं की जा सकी। अतएब इस विषयकी चर्चाके लियेही यह स्वतंत्र प्रकरण लिखा गया है। वैदिक धर्मके दो भाग हैं : कर्मकांड और ज्ञानकांड। पिछले प्रकरणमें उनके भेद बतला दिये गये हैं। कर्मकांडमें अर्थात् ब्राह्मण आदि श्रौत ग्रंथोंमें और अंशतः उपनिषदोंमेंभी ऐसे स्पष्ट वचन हैं, कि प्रत्येक गृहस्थको फिर चाहे वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय – अग्निहोत्र करके यथाधिकार ज्योतिष्टोम आदिक यज्ञयाग करने चाहिये और विवाह करके वंश बढ़ानाभी हरएकका कर्तव्य है। उदाहरणार्थ, " एतद्वै जरामयं सत्रं यदग्निहोत्रम् " इस अग्निहोत्ररूपको मरणपर्यंत जारी रखना चाहिये (श. ब्रा. १२. ४. १. १); प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी। " वंशके धागेको टूटने न दो (तै. उ. १. ११. १) अथवा " ईशावास्यमिदं सर्वम् " – संसारमें जो कुछ है, उसे परमेश्वरमें अधिष्ठित करे – अर्थात् ऐसा समझे, कि मेरा कुछ नहीं, उसीका है। और इस निष्काम बुद्धिसे –

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

" कर्म करते रहकरही सौ वर्ष अर्थात् आयुष्यकी मर्यादाके अंततक जीनेकी इच्छा रखे, एवं ऐसी ईशावास्य बुद्धिसे कर्म करेगा, तो उन कर्मोंका तुझे (पुरुषको) लेप (बंधन) नहीं लगेगा, इसके अतिरिक्त (लेप अथवा बंधनसे बचनेके लिये) दूसरा मार्ग नहीं है " (ईश. १. २) परंतु जब हम, कर्मकांडसे ज्ञानकांडमें जाते हैं, तब वैदिक ग्रंथोंमेंही अनेक विरुद्धपक्षीय वचनभी मिलते हैं। जैसे " ब्रह्मविदाप्नोति परम् " (तै. २. १. १) – ब्रह्मज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होता है। " नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय " (श्वे. ३. ८) –(बिना ज्ञानके) मोक्षप्राप्तिका दूसरा मार्ग नहीं है। " पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते। किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षा-

चर्यं चरन्ति " (बृ. ४. ४. २२; ३. ५. १) – प्राचीन ज्ञानी पुरुषोंको पुत्र आदिकी इच्छा न थी; और यह समझकर, कि जब समस्त लोकही हमारा आत्मा हो गया है, तब हमें (दूसरी) संतान किस लिये चाहिये ? – वे लोग संतति, संपत्ति और स्वर्ग आदिमेंसे किसीकीभी 'एषणा' अर्थात् चाह नहीं करते थे; किंतु उससे निवृत्त होकर वे ज्ञानी पुरुष स्वेच्छासे भिक्षाटन करते हुए घूमा करते थे; अथवा " इस रीतिसे जो लोग विरक्त हो जाते हैं, उन्हींको मोक्ष मिलता है " (मुं. १. २. ११)। या अंतमें " यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् " (जाबा. ४) – जिस दिन बुद्धि विरक्त हो, उसी दिन संन्यास लेलें। इस प्रकार वेदकी आज्ञा द्विविध अर्थात् दो प्रकारकी होनेसे (मभा. शां. २४०. ६) प्रवृत्ति और निवृत्ति या कर्मयोग और सांख्य, इसमेंसे जो श्रेष्ठ मार्ग हो, उसका निर्णय करनेके लिये, यह देखना आवश्यक है, कि कोई दूसरा उपाय है या नहीं ? आचार अर्थात् शिष्ट लोगोंके व्यवहार या रीति-भाँतिको देखकर इस प्रश्नका निर्णय हो सकता था, परंतु इस संबंधमें शिष्टाचारभी उभयविध अर्थात् दो प्रकारका है। इतिहाससे प्रकट होता है, कि शुक और याज्ञवल्क्य प्रभृतिने संन्यासमार्गका तो जनक, श्रीकृष्ण और जैगीषव्य् आदि प्रमुख ज्ञानी पुरुषोंने कर्मयोगकाही अवलंबन किया था। इसी अभिप्रायसे सिद्धान्त पक्षके युक्तिवादमें बादरायणाचार्यने कहा है, कि " तुल्यं तु दर्शनम् " (वे. सू. ३. ४. ९) – अर्थात् आचारकी दृष्टिसे ये दोनों पंथ समान बलवान् हैं। स्मृतिवचनभी* ऐसाही है :–

विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वता नास्ति कर्तृता।
अलेपवादमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा॥

" पूर्ण ब्रह्मज्ञानी पुरुष सब कर्म करकेभी श्रीकृष्ण और जनकके समान अकर्ता, अलिप्त एवं सर्वदा मुक्तही रहता है। " ऐसेही भगवद्गीतामेंभी मनु, इक्ष्वाकु आदिके नाम कर्मयोगकी परंपरा बतलाते हुए कहा है, कि " एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः। " (गीता ५. १५) – ऐसा जानकर प्राचीन कालमें जनक आदि ज्ञानी पुरुषोंने कर्म किया। योगवासिष्ठ और भागवतमें जनकके सिवा इसी प्रकारके दूसरे बहुत-से उदाहरण दिये गये हैं (यो. ५. ७५; भाग. २. ८. ४३ – ४५)। यदि किसीको शंका हो, कि जनकआदि पूर्ण ब्रह्मज्ञानी न थे; तो योगवासिष्ठमें स्पष्ट लिखा है, कि ये सब 'जीवन्मुक्त' थे। योगवासिष्ठमेंही क्यों, महाभारतमेंभी कथा है, कि व्यासजीने अपने पुत्र शुकको मोक्षधर्मका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेनेके लिये अंतमें जनकके यहाँ भेजा था (मभा. शां. ३२५, यो. २. १)। इसी प्रकार उपनिषदोंमेंभी जान-बूझकर ये कथाएँ हैं, कि अश्वपति कैकेय राजाने

* इसे स्मृतिवचन मानकर आनंदगिरीने कठोपनिषदके (कठ. २. १९) शांकरभाष्यकी टीकामें उद्धृत किया है। नहीं मालूम, यह कहाँका वचन है।

उद्दालक ऋषिको (छां. ५.११–२४) और काशिराज अजातशत्रुने गार्ग्य बालाकीको (बृ. २.१) ब्रह्मज्ञान सिखाया था। परंतु यह वर्णन कहीं नहीं मिलता, कि अश्वपति या जनकने राजपाट छोड़कर कर्मत्यागरूप संन्यास ले लिया। इसके विपरीत, जनक-सुलभा-संवादमें जनकने स्वयं अपने विषयमें कहा है, कि " हम मुक्तसंग होकर – आसक्ति छोड़कर – राज्य करते हैं और यदि हमारे एक हाथमें चंदन लगाया और दूसरेको छील डाला; तोभी उसका सुख और दुःख हमें एकसाही है।" अपनी स्थितिका इस प्रकार वर्णनकर (मभा. शां. ३२०. ३६) जनकने आगे सुलभासे कहा है :–

मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टाऽन्यैर्मोक्षवित्तमैः।
ज्ञानं लोकोत्तरं यच्च सर्वत्यागश्च कर्मणाम्॥
ज्ञाननिष्ठां वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जनाः।
कर्मनिष्ठां तथैवान्ये यतयः सूक्ष्मदर्शिनः॥
प्रहायोभयमप्येवं ज्ञानं कर्म च केवलम्।
तृतीयेयं समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना॥

" मोक्षशास्त्रके ज्ञाता मोक्षप्राप्तिके लिये तीन प्रकारकी निष्ठाएँ बतलाते हैं:– (१) ज्ञान प्राप्तकर सब कर्मोंका त्याग कर देना – इसीको कुछ मोक्षशास्त्रज्ञ ज्ञाननिष्ठा कहते हैं; (२) इसी प्रकार दूसरे सूक्ष्मदर्शी लोग कर्मनिष्ठा बतलाते हैं, परंतु केवल ज्ञान और केवल कर्म – इन दोनों निष्ठाओंको छोड़कर (३) यह तीसरीही (अर्थात् ज्ञानसे आसक्तिका क्षय कर कर्म करनेकी) निष्ठा (मुझे) उस महात्माने (पंचशिख) बतलाई है" (मभा. शां. ३२०. ३८–४०)। निष्ठा शब्दका सामान्य अर्थ अंतिम स्थिति, आधार या अवस्था है। परंतु इस स्थानपर और गीतामेंभी निष्ठा शब्दका अर्थ है – " मनुष्यके जीवनका वह मार्ग, ढँग, रीति या उपाय है, जिससे आयु बितानेपर अंतमें मोक्षकी प्राप्ति होती है।" गीतापर जो शांकरभाष्य है, उसमेंभी निष्ठा = **अनुष्ठेयतात्पर्यम्** – अर्थात् आयुष्य या जीवनमें जो कुछ अनुष्ठेय (आचरण करने योग्य) हो, उसमें तत्परता (निमग्न रहना) – यही अर्थ किया है। आयुष्यक्रम या जीवनक्रमके इन मार्गोंमेंसे जैमिनि जैसे प्रमुख मीमांसकोंने ज्ञानको महत्त्व नहीं दिया है; किंतु यह कहा है, कि यज्ञयाग आदि कर्म करनेसेही मोक्षकी प्राप्ति होती है :–

ईजाना बहुभिः यज्ञैः ब्राह्मणा वेदपारगाः।
शास्त्राणि चेत्प्रमाणं स्युः प्राप्तास्ते परमां गतिम्॥

क्योंकि, ऐसा न माननेसे शास्त्रकी अर्थात् वेदकी आज्ञा व्यर्थ हो जावेगी (जै. सू. ५. २. २९ पर शांकरभाष्य देखो) और उपनिषत्कार तथा बादरायणाचार्यने, यह निश्चय कर कि यज्ञ-याग आदि सभी कर्म गौण हैं, सिद्धान्त किया है, कि मोक्षकी

प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है, ज्ञानके सिवा और किसीसेभी मोक्षका मिलना शक्य नहीं है (वे. सू. ३. ४. १, २)। परंतु जनक कहते हैं, कि इन दोनों निष्ठाओंको छोड़-कर आसक्ति-विरहित कर्म करनेकी एक तीसरीही निष्ठा पंचशिखने (स्वयं सांख्य-मार्गी हो करभी) हमें बतलाई है। "दोनों निष्ठाओंको छोड़ कर" इन शब्दोंसे प्रकट होता है, कि यह तीसरी निष्ठा, पहली दो निष्ठाओंमेंसे किसीभी निष्ठाका अंग नहीं है – प्रत्युत स्वतंत्र रीतिसे वर्णित है। वेदान्तसूत्रमेंभी (वे. सू. ३. ४. ३२–३५) जनककी इस तीसरी निष्ठाका अंतमें उल्लेख किया गया है; और भगवद्-गीतामें जनककी उसी तिसरी निष्ठाका – इसीमें भक्तिका नया योग करके – वर्णन किया गया है। परंतु गीताका तो यह सिद्धान्त है, कि मीमांसकोंका केवल कर्मयोग अर्थात् ज्ञानविरहित कर्मयोग मोक्षदायक नहीं है, वह केवल स्वर्गप्रदही है (गीता २. ४२–४४; ९. २१); इसलिये जो मार्ग मोक्षप्रद नहीं है, उसे 'निष्ठा' नामही नहीं दिया जा सकता। क्योंकि, यह व्याख्या सभीको स्वीकृत है, कि जिससे अंतमें मोक्ष मिले, उसी मार्गको 'निष्ठा' कहना चाहिये। अतएव, सब मतोंका सामान्य विवेचन करते समय, यद्यपि जनकने तीन निष्ठाएँ बतलाई हैं, तथापि मीमांसकोंका केवल (अर्थात् ज्ञानविरहित) कर्ममार्ग 'निष्ठा'मेंसे पृथक् कर सिद्धान्तपक्षमें स्थिर होनेवाली दो निष्ठाएँही गीताके तीसरे अध्यायके आरंभमें कही गई हैं (गीता ३. ३)। केवल ज्ञान (सांख्य) और ज्ञानयुक्त निष्काम कर्म (योग), येही वे दो निष्ठाएँ हैं। और सिद्धान्तपक्षीय इन दोनों निष्ठाओंमेंसे दूसरी (अर्थात् जनकके कथनानुसार तीसरी) निष्ठाके समर्थनार्थ यह प्राचीन उदाहरण दिया गया है, कि "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" (गीता ३. २०)– जनक प्रभृतिने इस प्रकार "कर्म करकेही सिद्धि पाई है।" जनक आदिक क्षत्रिय राजाओंकी बात छोड़ दे; तोभी यह सर्वश्रुत हैही, कि व्यासने विचित्रवीर्यके वंशकी रक्षाके लिये धृतराष्ट्र और पंडु, ये दो क्षेत्रज पुत्र निर्माण किये थे और तीन वर्ष तक निरंतर परि-श्रम करके संसारके उद्धारके निमित्त उन्होंने महाभारतभी लिखा है। एवं कलियुगमें स्मार्त अर्थात् संन्यासमार्गके प्रवर्तक श्रीशंकराचार्यनेभी अपने अलौकिक ज्ञान तथा उद्योगसे धर्म-संस्थापना का कार्य किया था। कहाँ तक कहें? जबसे स्वयं ब्रह्मदेव कर्म करनेके लिये प्रवृत्त हुए, तभीसे सृष्टिका आरंभ हुआ है। मूलतः ब्रह्मदेवसेही मरीचि प्रभृति सात मानसपुत्रोंने उत्पन्न होकर, संन्यास न ले, सृष्टिक्रमको जारी रखनेके लिये मरणपर्यंत प्रवृत्तिमार्गकाही अंगीकार किया; और सनत्कुमार प्रभृति दूसरे सात मानसपुत्र जन्मसेही विरक्त अर्थात् निवृत्ति-पंथी हुए – पहले कह चुके हैं कि, इस कथाका उल्लेख महाभारतमें वर्णित नारायणीय. धर्मनिरूपणमें है (मभा. शां. ३३९, ३४०)। ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंने या ब्रह्मदेवनेभी, कर्म करते रहनेके इस प्रवृत्तिमार्गका क्यों अंगीकार किया? – इसकी उपपत्ति वेदान्तसूत्रमें इस प्रकार दी है: "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिणाम्" (वे. सू. ३. ३. ३२) –

जिसका जो ईश्वरनिर्मित अधिकार है, उसके पूरे होनेतक कार्योंसे छुट्टी नहीं मिलती। इस उपपत्तिकी जाँच आगे की जावेगी। उपपत्ति कुछभी क्यों न हो, पर यह बात निर्विवाद है, कि प्रवृत्ति और निवृत्ति, ये दोनों पंथ ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंम संसारके आरंभसे प्रचलित हैं। इससे यहभी प्रकट है, कि उनमेंसे किसीकी श्रेष्ठताका निर्माण सिर्फ़ आचारकीही ओर ध्यान देकर नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार, पूर्वाचार द्विविध होनेके कारण, केवल आचारसेही यद्यपि यह निर्णय नहीं हो सकता, कि निवृत्ति श्रेष्ठ है या प्रवृत्ति, तथापि संन्यासमार्गके लोगोंका यह दूसरा युक्तिवाद है, कि यदि यह निर्विवाद है, कि विना कर्मबंधसे छूटे मोक्ष नहीं होता, तो ज्ञानप्राप्ति हो जानेपर तृष्णामूलक कर्मोंका झगड़ा, जितनी जल्दी हो सके, तोडनेमेंही श्रेय है। महाभारतके शुकानुशासनमें – इसीको 'शुकानुप्रश्न'भी कहते हैं, – संन्यासमार्गकाही प्रतिपादन है। वहाँ शुकने व्यासजीसे पूछा है :–

यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च।
कां दिशं विद्यया यान्ति कां च गच्छन्ति कर्मणा ॥

"वेद, कर्म करनेके लियेभी कहता है और छोडनेके लियेभी; तो अब मुझे बतलाइये, कि विद्यासे अर्थात् कर्मरहित ज्ञानसे और केवल कर्मसे कौन-सी गति मिलती है?" (मभा. शां. २४०. १) इसके उत्तरमें व्यासजीने कहा है :–

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥

"कर्मसे प्राणी बंधा जाता है; और विद्यासे मुक्त हो जाता है। इसीसे पारदर्शी यति अथवा संन्यासी कर्म नहीं करते" (मभा. शां. २४०. ७)। इस श्लोकके पहले चरणका विवेचन हम पिछले प्रकरणमें कर चुके हैं। "कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते" इस सिद्धान्तपर कुछ वाद नहीं है। परंतु स्मरण रहे, कि वहाँ यह दिखलाया है, कि 'कर्मणा बध्यते'का विचार करनेसे सिद्ध होता है, कि जड़ अथवा अचेतन कर्म किसीको न तो वाँध सकता है और न छोड़ सकता है; मनुष्य फलाशासे अथवा अपनी आसक्तिसे कर्मोंमें बँध जाता है। **इस आसक्तिसे** अलग होकर वह यदि केवल बाह्य इंद्रियोंसे कर्म करे, तबभी वह **मुक्तही है**। रामचंद्रजी, इसी अर्थको मनमें लाकर, अध्यात्म रामायणमें (अ. रा. २. ४. ४२) में लक्ष्मणसे कहते हैं, कि :–

प्रवाहपतितः कार्यं कुर्वन्नपि न लिप्यते।
बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वमावहन्नपि राघव ॥

"कर्ममय संसारके प्रवाहमें पड़ा हुआ मनुष्य बाहरी सब प्रकारके कर्तव्य-कर्म करकेभी अलिप्त रहता है।" अध्यात्मशास्त्रके इस सिद्धान्तपर ध्यान देनेसे दीख पड़ता है, कि कर्मोंको दुःखमय मानकर उनके त्यागनेकी आवश्यकताही नहीं

रहती; केवल मनको शुद्ध और सम करके फलाशा छोड़ देनेसेही सब काम हो जाते हैं। तात्पर्य यह, कि यद्यपि ज्ञान और काम्यकर्मका विरोध हो, तथापि **निष्काम** कर्म और ज्ञानके बीच कोईभी विरोध हो नहीं सकता। इसीसे अनुगीतामें 'तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति' – अतएव कर्म नहीं करते – इस वाक्यके बदले –

तस्मात्कर्मसु निःस्नेहा ये केचित्पारदर्शिनः।

"इससे पारदर्शी कर्ममें आसक्ति नहीं रखते" (अश्व. ५१. ३३), यह वाक्य आया है। इससे पहले, कर्मयोगका स्पष्ट प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है, कि :–

कुर्वते ये तु कर्माणि श्रद्दधाना विपश्चितः।
अनाशीर्योगसंयुक्तास्ते धीराः साधुदर्शिनः॥

"जो ज्ञानी पुरुष श्रद्धासे फलाशा न रखकर (कर्म-)योग-मार्गका अवलंब करके कर्म करते हैं, वेही साधुदर्शी हैं" (अश्व. ५०. ६, ७)। इसी प्रकार :–

यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च।

इस पूर्वार्धमें जुडा हुआही, वनपर्वमें, युधिष्ठिरको शौनकका, यह उपदेश है, कि :–

तस्माद्धर्मानिमान् सर्वान्नाभिमानात् समाचरेत्।

"वेदमें कर्म करने और छोडनेकीभी आज्ञा है; इसलिये (कर्तृत्वका) अभिमान छोड़कर हमें अपने सब कर्म करने चाहिये" (वन. २. ७३)। शुकानुप्रश्नमेंभी व्यासजीने शुकसे दो बार स्पष्ट कहा है कि :–

एषा पूर्वतरा वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते।
ज्ञानवानेव कर्माणि कुर्वन् सर्वत्र सिध्यति॥

"ब्राह्मणकी पूर्वकी, पुरानी (पूर्वतर) वृत्ति यही है, कि ज्ञानवान होकर, सब काम करकेही सिद्धि प्राप्त करे" (मभा. शां. २३७. १; २३४. २९)। यहीभी प्रकट है, कि यहाँ 'ज्ञानवानेव' पदसे ज्ञानोत्तर और ज्ञानयुक्त कर्मही विवक्षित है। अब यदि दोनों पक्षोंके उक्त सब वचनोंका निराग्रह बुद्धिसे विचार किया जाय, तो मालूम होगा, कि "कर्मणा बध्यते जन्तुः" इस युक्तिवादसे कर्मत्यागविषयक यह सिर्फ़ एकही अनुमान निष्पन्न नहीं होता, कि 'तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति' – इससे काम नहीं करते – किंतु उसी युक्तिवादसे यह निष्काम कर्मयोगविषयक दूसरा अनुमानभी उतनीही योग्यताका सिद्ध होता है, कि "तस्मात्कर्मसु निःस्नेहाः" – इससे कर्ममें आसक्ति नहीं रखते। सिर्फ़ हमही इस प्रकारके दो अनुमान नहीं करते; बल्कि व्यासजीनेभी यही अर्थ शुकानुप्रश्नके निम्न श्लोकमें स्पष्टतया बतलाया है :–

द्वाविमावथ पंथानौ यस्मिन् वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः निवृत्तिश्च विभाषितः॥*

---

* इस अंतिम चरणके "निवृत्तिश्च सुभाषितः" और "निवृत्तिश्च विभावितः" ऐसे पाठभेदभी हैं। पाठभेद कुछभी हों; पर प्रथम 'द्वाविमौ' यह अवश्य है; जिससे इतना तो निर्विवाद सिद्ध होता है, कि दोनो पंथ स्वतंत्र हैं!

"इन दोनों मार्गोंको वेदोंका (एक-सा) आधार है – एक मार्ग प्रवृत्तिविषयक धर्मका और दूसरा निवृत्ति अर्थात् संन्यास लेनेका है" (मभा. शां. २४०. ६)। यह पहलेही लिख चुके हैं, कि इसी प्रकार नारायणीय धर्ममेंभी इन दोनों पंथोंका पृथक् पृथक् स्वतंत्र रीतिसे, एवं सृष्टिके आरंभसे प्रचलित होनेका वर्णन किया गया है। परंतु स्मरण रहे, कि महाभारतमें प्रसंगानुसार इन दोनों पंथोंका वर्णन पाया जाता है, इसलिये प्रवृत्तिमार्गके साथही निवृत्तिमार्गके समर्थक वचनभी उसी महाभारतमें पाये जाते हैं। गीताकी संन्यासमार्गीय टीकाओंमें निवृत्तिमार्गके इन वचनोंकोही मुख्य समझ कर, ऐसा प्रतिपादन करनेका प्रयत्न किया गया है, मानों इसके सिवा और दूसरा पंथही नहीं है; और यदि होभी, तो वह गौण है अर्थात् संन्यास मार्गका केवल अंग है। परंतु यह प्रतिपादन सांप्रदायिक आग्रहका है; और इसीसे गीताका अर्थ सरल एवं स्पष्ट रहनेपरभी, आजकल बहुतोंको दुर्बोध हो गया है। वह गीताके "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा" (गीता ३. ३) इस श्लोककी बराबरी-काही "द्वाविमावथ पंथानौ" यह श्लोक है; इससे प्रकट होता है, कि इस स्थानपर दो समान-बलवाले मार्ग बतलानेका हेतु है। परंतु इस स्पष्ट अर्थकी ओर अथवा पूर्वापर संदर्भकी ओर ध्यान न देकर, कुछ लोग इसी श्लोकमें, यह दिखलानेका यत्न किया करते हैं, कि दोनों मार्गोंके बदले एकही मार्ग प्रतिपाद्य है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया, कि कर्मसंन्यास (सांख्य) और निष्काम कर्म (योग), दोनों वैदिक धर्मके स्वतंत्र मार्ग हैं और उनके विषयमें गीताका यह निश्चित सिद्धान्त है, कि वे वैकल्पिक नहीं हैं, किंतु "संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगकी योग्यता विशेष है।" अब कर्मयोगकी श्रेष्ठताके संबंधमें गीतामें आगे कहा है, कि जिस संसारमें हम रहते हैं, वह संसार और उसमें हमारा क्षणभर जीवित रहनाभी जब कर्म ही है; तब कर्म छोड़कर जावें कहाँ ? और यदि इस संसारमें अर्थात् कर्मभूमिमेंही रहना हो, तो कर्म छूटेंगेही कैसे ? हम यह प्रत्यक्ष देखते हैं, कि जब-तक देह है, तबतक भूख और प्यास जैसे विकार नहीं छूटते हैं (गीता ५. ८, ९) और उनके निवारणार्थ भिक्षा माँगने जैसा लज्जित कर्म करनेके लियेभी संन्यासमार्गके अनुसार यदि स्वतंत्रता है, तो अनासक्तबुद्धि से अन्य व्यावहारिक शास्त्रोक्त कर्म करनेके लिये ही प्रत्यवाय कौन-सा है ? यदि कोई इस डरसे अन्य कर्मोंका त्याग करता हो, कि कर्म करनेसे कर्मपाशमें फँसकर ब्रह्मानंदसे वंचित रहूँगा; अथवा ब्रह्मात्मैक्य रूप अद्वैतबुद्धि विचलित हो जायगी; तो कहना चाहिये, कि अबतक उसका मनोनिग्रह कच्चा है और मनोनिग्रहके कच्चे रहते हुए किया हुआ कर्मत्याग, गीताके अनुसार, मोहका अर्थात् तामस् अथवा मिथ्याचरण है (गीता १८. ७; ३. ६)। ऐसी अवस्थामें यह अर्थ आप-ही-आप प्रकट होता है, कि ऐसे कच्चे मनोनिग्रहको चित्तशुद्धिके द्वारा पूर्ण करनेके लिये निष्कामबुद्धि बढ़ानेवाले यज्ञ, दान प्रभृति गृहस्थाश्रमके श्रौत या स्मार्त कर्मही इस मनुष्यको करने चाहिये। सारांश, ऐसा कर्मत्याग

कभी श्रेयस्कर नहीं होता। यदि कहें, कि मन निर्विषय है और मनुष्यके अधीन है; तो फिर उसे कर्मका डरही किसलिये है? अथवा कर्मोंके न करनेका व्यर्थ आग्रहही वह क्यों करे? बरसाती छत्तेकी परीक्षा जिस प्रकार वर्षामेंही होती है, उसी प्रकार या –

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः।

"जिन कारणोंसे विकार उत्पन्न होता है, वे कारण अथवा विषय दृष्टिके आगे रहनेपरभी जिनका अंतःकरण मोहके पंजेमें नहीं फँसता, वेही पुरुष धैर्यशाली कहे जाते हैं" (कुमार १.५९) – कालिदासके इस व्यापक न्यायसे कर्मोंके द्वाराही मनोनिग्रहकी जाँच हुआ करती है; और स्वयं कर्ताको तथा और लोगोंकोभी ज्ञात हो जाता है, कि मनोनिग्रह पूर्ण हुआ या नहीं। इस दृष्टिसेभी यही सिद्ध होता है, कि शास्त्रसे प्राप्त (अर्थात् प्रवाहपतित) कर्म करनेही चाहिये (गीता १८.६)। अच्छा; यदि कहें कि "मन वशमें है; और यह डरभी नहीं, कि जो चित्तशुद्धि प्राप्त हो चुकी है, वह कर्म करनेसे बिगड़ जावेगी; परंतु ऐसे व्यर्थ कर्म करके शरीरको कष्ट देना नहीं चाहते, कि जो मोक्षप्राप्तिके लिये अनावश्यक है" तो यह कर्मत्याग 'राजस' कहलावेगा, क्योंकि यह काय-क्लेशका भय करके केवल इस क्षुद्र बुद्धिसे किया गया है, कि देहको कष्ट होगा और इसलिये त्यागसे जो फल मिलना चाहिये, वह ऐसे 'राजस' कर्मत्यागीको नहीं मिलता (गीता १८.८)। फिर यही प्रश्न है, कि कर्म छोड़ेंही क्यों? यदि कोई कहे, कि "सब कर्म मायासृष्टिके हैं; अतएव अनित्य हैं, इससे ब्रह्मसृष्टिके नित्य आत्माको इन कर्मोंकी झंझटमें पड़ जाना उचित नहीं;" तो यहभी ठीक नहीं है। क्योंकि जब स्वयं परब्रह्मही मायासे आच्छादित है, तब यदि मनुष्यभी उसीके अनुसार मायामें व्यवहार करे, तो क्या हानि है? मायासृष्टि और ब्रह्मसृष्टिके भेदसे जिस प्रकार इस जगकेभी दोन भाग किये गये हैं, उसी प्रकार आत्मा और देहेंद्रियोंके भेदसे मनुष्यकेभी दो भाग होते हैं। इनमेंसे आत्मा और ब्रह्मका संयोग करके ब्रह्ममें आत्माका लयकर दो और इस ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे बुद्धिको निःसंग रखकर केवल मायिक देहेंद्रियोंद्वारा मायासृष्टिके व्यवहार किया करो। बस; इस प्रकार बर्ताव करनेसे मोक्षमें कोई प्रतिबंध न आवेगा। और उक्त दोनों भागोंका जोड़ा आपसमें मिल जानेसे सृष्टिके किसीभी भागकी उपेक्षा या विच्छेद करनेका दोषभी न लगेगा; तथा ब्रह्मसृष्टि एवं मायासृष्टि – परलोक और इहलोक – दोनोंके कर्तव्यपालनका श्रेयभी मिल जायगा। ईशोपनिषद्में इसी तत्त्वका प्रतिपादन है (ईश. ११) इन श्रुतिवचनोंका आगे विस्तारसहित विचार किया जावेगा। यहाँ इतनाही कह देते हैं, कि गीतामें जो कहा है, कि "ब्रह्मात्मैक्यके अनुभवी ज्ञानी पुरुष मायासृष्टिके व्यवहार केवल शरीर अथवा केवल इंद्रियोंसेही करते हैं" (गीता ४ २१; ५.१२), उसका तात्पर्यभी यही है; और इसी उद्देश्यसे

अठारहवें अध्यायमें यह सिद्धान्त किया है, कि " निस्संग-बुद्धिसे, फलाशा छोड़कर, केवल कर्तव्य समझकर, कर्म करनाही सच्चा 'सात्त्विक' कर्मत्याग है " – कर्म छोड़ना सच्चा कर्मत्याग नहीं है (गीता १८. ९)। कर्म मायासृष्टिकेही क्यों न हों, परंतु किसी अगम्य उद्देश्यसे परमेश्वरनेही तो उन्हें बनाया है और उनको बंद करना मनुष्यके अधिकारकी बात नहीं, वह परमेश्वरके अधीन है। अतएव यह बात निर्विवाद है, कि बुद्धिको निःसंग रखकर केवल शारीर-कर्म करनेसे, वे मोक्षके बाधक नहीं होते। तब चित्तको विरक्त कर केवल इंद्रियोंसे शास्त्रसिद्ध कर्म करनेमें हानिही क्या है? गीतामें कहाही है, कि – " नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् " (गीता ३. ५; १८. ११)। – इस जगत्में कोई एक क्षणभरभी बिना कर्मके रह नहीं सकता। और अनुगीतामें कहा है कि, " नैष्कर्म्यं नच लोकेऽस्मिन् मुहूर्तमपि लभ्यते " (अश्व. २०. ७) – इस लोकमें (किसीसेभी) घड़ीभरके लियेभी कर्म नहीं छूटते। मनुष्योंकी तो बिसातही क्या ! सूर्य-चंद्र प्रभृतिभी निरंतर कर्मही करते रहते हैं ! अधिक क्या कहें ? यह निश्चित सिद्धान्त है, कि कर्मही सृष्टि और सृष्टिही कर्म है। इसीलिये हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि सृष्टिकी घटनाओंको (अथवा कर्मको) क्षणभरके लियेभी विश्राम नहीं मिलता। देखिये; एक ओर भगवान् गीतामें कहते हैं – " कर्म छोड़नेसे खानेकोभी न मिलेगा " (गीता. ३. ८); तो दूसरी ओर वनपर्वमें द्रौपदी युधिष्ठिरसे कहती है, कि " अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्नहि काचन " (वन. ३२. ८) अर्थात् कर्मके बिना प्राणिमात्रका निर्वाह नहीं; ओर इसी प्रकार दासबोधमेंभी पहले ब्रह्मज्ञान बतलाकर श्रीसमर्थ रामदास-स्वामीभी कहते हैं, " यदि प्रपंच छोड़कर परमार्थ करोगे, तो खानेके लिये अन्नभी न मिलेगा "(दास. १२. १. ३)। अच्छा; भगवानकाही चरित्र देखो तो मालूम होगा, कि आप प्रत्येक युगमें भिन्न भिन्न अवतार लेकर इस मायिक जगतमें साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंका विनाशरूप कर्म करते आ रहे हैं (गीता ४. ८ मभा. शां. ३३९. १०३)। और उन्होंनेही गीतामें कहा है, कि यदि मैं येही कर्म न करूँ, तो संसार उजड़कर नष्ट हो जावेगा (गीता. ३. २४)। इससे सिद्ध होता है, कि जब स्वयं भगवान् जगतके धारणार्थ कर्म करते हैं, तब इस कथनसे क्या प्रयोजन है, कि ज्ञानोत्तर कर्म निरर्थक हैं ? अतएव यः क्रियावान् स पंडितः " (मभा. वन. ३१२. १०८) – जो क्रियावान् है, वही पंडित है – इस न्यायके अनुसार अर्जुनको निमित्त कर भगवान् सबको उपदेश करते हैं, कि इस जगतमें कर्म किसीसे छूट नहीं सकते, अतः कर्मोंकी बाधासे बचनेके लिये मनुष्य अपने धर्मानुसार प्राप्त कर्तव्यको फलाशा त्यागकर अर्थात् निष्काम बुद्धिसे सदा करता रहे – यही एक मार्ग (योग) मनुष्यके अधिकारमें है; और यही उत्तमभी है। प्रकृति तो अपने व्यवहार सदैवही करती रहेगी; परंतु उसमेंसे कर्तृत्वके अभिमानकी बुद्धि छोड़ देनेसे मनुष्य मुक्तही है (गीता. ३. २७; १३. २९; १४. १९; १८. १६)। मुक्तिके लिये कर्म छोडनेकी

या सांख्योंके कथनानुसार कर्मसंन्यासरूप वैराग्यकी जरूरत नहीं, इतनाही नहीं तो क्योंकि इस कर्मभूमिमें कर्मका पूर्णतया त्याग कर डालना शक्यही नहीं है।

इसपरभी कुछ लोग कहते हैं – हाँ; माना कि कर्मबंध तोडनेके लिये कर्म छोड़नेकी जरूरत नहीं हैं, सिर्फ कर्म-फलाशा छोड़नेसेही सब निर्वाह हो जाता है; परंतु जब ज्ञानप्राप्तिसे हमारी बुद्धि निष्काम हो जाती है, तब सब वासनाओंका क्षय हो जाता है: और कर्म करनेकी प्रवृत्ति होनेके लिये कोईभी कारण शेष नही रह जाता। तब ऐसी अवस्थामें अर्थात् वासनाके क्षयसे – कायाक्लेशभयसे नहीं – सब कर्म आप-ही आप छूट जाते हैं। इस संसारमें मनुष्यका परम पुरुषार्थ मोक्षही तो है और जिसे ज्ञानसे वह मोक्ष प्राप्त हो जाता है, उसे प्रजा, संपत्ति अथवा स्वर्गादि लोकोंके सुखोंमेंसे किसीकीभी 'एषणा' (इच्छा) नहीं रहती (बृ. ३. ५. १: ४. ४. २२)। इसलिये कर्मोंको न छोड़नेपरभी अंतमें उस ज्ञानका स्वाभाविक परिणाम यही हुआ करता है, कि कर्म आप-ही-आप, छूट जाते हैं। इसी अभिप्रायसे उत्तरगीतामें कहा है –

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
न चास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

"ज्ञानामृत पी कर कृतकृत्य हो जानेवाले पुरुषका फिर आगे कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता; और यदि रह जाय, तो वह तत्त्ववित् अर्थात् ज्ञानी नहीं है"* (१. २३)। यदि किसीको शंका हो, कि यह ज्ञानी पुरुषका दोष है; तो वह ठीक नहीं; क्योंकि श्रीशंकराचार्यने कहा है कि, "अलंकारो ह्ययमस्माकं यद्ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः" (वे. सू. शां. भा. १. १. ४) – अर्थात् यह तो ब्रह्मज्ञानी पुरुषका एक अलंकारही है। इसी प्रकार गीतामें भी ऐसे वचन हैं जैसे – "तस्य कार्यं न विद्यते" (गीता ३. १७) – ज्ञानीको आगे करनेके लिये कुछ नहीं रहता; अथवा उसे समस्त वैदिक कर्मोंका कोई प्रयोजन नहीं रहता (गीता २. ४६)। अथवा "योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते" (गीता ६. ३) – जो योगारूढ हो गया, उसे शमही कारण है। इन वचनोंके अतिरिक्त 'सर्वारंभपरित्यागी' (गीता १२. १६)। अर्थात् समस्त उद्योग छोड़नेवाला, और 'अनिकेतः' (गीता १२. १९) – अर्थात् बिना घरद्वारका, इत्यादि विशेषणभी ज्ञानी पुरुषके लिये गीतामें प्रयुक्त हुए हैं। इन सब बातोंसे कुछ लोगोंकी यह राय है, कि भगवद्गीताको यह

---

* यह समझ वास्तवमें ठीक नहीं, कि यह श्लोक श्रुतिका है। वेदान्तसूत्रके शांकरभाष्यमें यह श्लोक नहीं है। परंतु सनत्सुजातीयके भाष्यमें आचार्यने इसे लिया है; और वहाँ कहा है कि यह लिंगपुराणका श्लोक है। इसमें संदेह नहीं, कि यह श्लोक संन्यासमार्गवालोंका है; कर्मयोगियोंका नहीं। बौद्ध धर्मग्रंथोंमेंभी ऐसेही वचन हैं। (देखो परिशिष्ट प्रकरण)।

मान्य है, कि ज्ञानके पश्चात् कर्म तो आप-ही-आप छूट जाते हैं। परंतु हमारी समझमें गीताके वाक्योंके ये अर्थ और उपर्युक्त युक्तिवादभी ठीक नहीं हैं। इसीसे इसके विरुद्ध हमें जो कुछ कहना है, उसे अब संक्षेपमें कहते हैं।

'सुखदु:ख-विवेक' प्रकरणमें हमने दिखलाया है, कि गीता इस बातको नहीं मानती, कि "ज्ञानी हो जानेसे मनुष्यकी सब प्रकारकी इच्छाएँ या वासनाएँ छूटही जानी चाहिये।" सिर्फ़ इच्छा या वासनाके रहनेमें कोई दु:ख नहीं, दु:खकी सच्ची जड़ है उसकी आसक्ति। इससे गीताका सिद्धान्त है, कि सब प्रकारकी वासनाओंको नष्ट करनेके बदले ज्ञाताको उचित है, कि वह केवल आसक्तिको छोड़कर कर्म करे। यह आवश्यक नहीं, कि इस आसक्तिके छूटनेसे उसके साथ कर्मभी छूटही जावें। और तो क्या? वासनाके छूट जानेपरभी सब कर्मोंका छूटना शक्य नहीं। वासना हो या न हो, हम देखते हैं, कि श्वासोच्छ्वास प्रभृति कर्म नित्य लगातर हुआ करते हैं। और आखिर क्षणभर जीवित रहनाभी तो कर्मही है, एवं पूर्ण ज्ञान होनेपरभी, अपनी वासनासे अथवा वासनाके क्षयसे वह छूट नहीं सकता। यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है, कि वासनाके छूट जानेसे कोई ज्ञानी पुरुष अपने प्राण नहीं खो बैठता, और इसीसे गीतामें यह वचन आया है, कि "न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" (गीता ३. ५) – कोई क्यों न हो, बिना कर्म किये, रह नहीं सकता। गीताशास्त्रके कर्मयोगका पहला सिद्धान्त यह है, कि इस कर्मभूमिमें कर्म तो निसर्गसेही प्राप्त, प्रवाह-प्रतित और अपरिहार्य हैं, वे मनुष्यकी वासनापर अवलंबित नहीं हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जानेपर, कि कर्म और वासनाका परस्पर नित्य संबंध नहीं है, वासनाके क्षयके साथही कर्मकाभी क्षय मानना निराधार हो जाता है। फिर यह प्रश्न सहजही उत्पन्न होता है, कि वासनाका क्षय हो जानेपरभी ज्ञानी पुरुषको प्राप्त कर्म किस रीतिसे करने चाहिये? इस प्रश्नका उत्तर गीताके तीसरे अध्यायमें दिया गया है (गीता ३. १७–१९ और उसपर हमारी टीका देखो)। गीताको यह मत मान्य है, कि ज्ञानी पुरुषको ज्ञानके पश्चात् उसका अपना कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। परंतु इसके आगे बढ़कर गीताका यहभी कथन है; कि कोईभी क्यों न हो, वह कर्मसे छुट्टी नहीं पा सकता। कई लोगोंको ये दोनों सिद्धान्त परस्परविरोधी जान पड़ते हैं, कि ज्ञानी पुरुषको कर्तव्य नहीं रहता और कर्म नहीं छूट सकते। परंतु गीताकी बात ऐसी नहीं है। गीताने उनका यों मेल मिलाया है :– जब कि कर्म अपरिहार्य है, तब ज्ञान-प्राप्तिके बादभी ज्ञानी पुरुषको कर्म करनाही चाहिये, पर चूँकि उसको स्वयं अपने लिये कोई कर्तव्य नहीं रह जाता, इसलिये अब उसे अपने सब कर्म निष्काम बुद्धिसे करनाही उचित है। सारांश, तीसरे अध्यायके १७ वें श्लोकके "तस्य कार्यं न विद्यते" वाक्यमें, "कार्यं न विद्यते" इन शब्दोंकी अपेक्षा, 'तस्य' (अर्थात् उस ज्ञानी पुरुषके लिये) शब्द अधिक महत्त्वका है और उसका भावार्थ यह है, कि "स्वयं उसको" अपने लिये कुछ प्राप्त नहीं करना होता। इसीलिये अब (ज्ञान हो

जानेपर) उसको अपना कर्तव्यनिरपेक्ष बुद्धिसे करना चाहिये। आगे १९ वें श्लोकके आरंभमें कारणबोधक 'तस्मात्' पदका प्रयोगकर, अर्जुनको इसी अर्थका उपदेश यों दिया है : "तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।" (गीता ३ १९)– इसीसे तू शास्त्रसे प्राप्त अपने कर्तव्यको आसक्ति न रखकर करता जा; कर्मका त्याग मत कर। तीसरे अध्यायके १७ से १९ तकके तीन श्लोकोंमें जो कार्यकारणभाव व्यक्त होता है, उसपर और अध्यायके समूचे प्रकरणके संदर्भपर ठीक ठीक ध्यान देनेसे दीख पड़ेगा कि संन्यासमार्गियोंके कथनानुसार "तस्य कार्यं न विद्यते" इसे स्वतंत्र सिद्धान्त मान लेना उचित नहीं। आगे दिये हुए उदाहरण इसके लिये उत्तम प्रमाण हैं। "ज्ञानप्राप्तिके पश्चात् कोई कर्तव्य न रहनेपरभी शास्त्रसे प्राप्त समस्त व्यवहार करने पड़ते हैं" – इस सिद्धान्तकी पुष्टिमें भगवान् कहते हैं :–

न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।

"हे पार्थ ! 'मेरा' इस त्रिभुवनमें कुछभी कर्तव्य (बाकी) नहीं है, अथवा कोई अप्राप्त वस्तु पानेकी (वासना) नहीं रही है। तथापि मैं कर्मही करता हूँ" (गीता ३. २२)। "न मे कर्तव्यमस्ति" – मुझे कर्तव्य नहीं रहा है – ये शब्द पूर्वोक्त श्लोकके "तस्य कार्यं न विद्यते" – उसको कुछ कर्तव्य नहीं रहता (गीता ३. १७) – इन्हीं शब्दोंको लक्ष्य करके कहे गये हैं। इससे सिद्ध होता है, कि इन चारपांच श्लोकोंमें प्रतिपाद्य अर्थ यही है "ज्ञानसे कर्तव्यके शेष न रहनेपरभी (बल्कि इसी कारणसे) शास्त्रतः प्राप्त समस्त व्यवहार अनासक्त बुद्धिसे करनेही चाहिये।" यदि ऐसा न हो, तो "तस्य कार्यं न विद्यते" इत्यादि श्लोकोंमें बतलाये हुए सिद्धान्तको दृढ करनेके लिये भगवान्ने जो अपना उदाहरण दिया है, वह (अलग) असंबद्धसा हो जायगा; और यह अनवस्था प्राप्त हो जायगी, कि सिद्धान्त तो कुछ और है, और उदाहरण ठीक उसके विरुद्ध, कुछ औरही है। उस अनवस्थाको टालनेके लिये संन्यासमार्गीय टीकाकार "तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर" के 'तस्मात्' शब्दका अर्थभी निराली रीतिसे किया करते हैं। उनका कथन है, कि गीताका मुख्य सिद्धान्त तो यही है, कि "ज्ञानी पुरुष कर्म छोड़ दे।" परंतु अर्जुन ऐसा ज्ञानी था नहीं; इसलिये – "तस्मात् – भगवानने उसे कर्म करनेके लिये कहा है। हम ऊपर कह चुके हैं, कि "गीताके उपदेशके पश्चात्भी अर्जुन अज्ञानीही था" यह युक्ति ठीक नहीं है। इसके अतिरिक्त, यदि 'तस्मात्' शब्दका, अर्थ इस प्रकार खींचातानी कर लगाभी लिया, तो "न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यम्" प्रभृति श्लोकोंमें भगवानने – "अपने किसी कर्तव्यके न रहनेपरभी मैं कर्म करता हूँ" – यह जो अपना उदाहरण मुख्य सिद्धान्तके समर्थनमें दिया है, उसका मेलभी इस पक्षमें अच्छा नहीं जमता। इसलिये "तस्य कार्यं न विद्यते" वाक्यमें, "कार्यं न विद्यते" शब्दोंको मुख्य न मानकर 'तस्य' शब्द-

कोही प्रधान मानना चाहिये, और ऐसा करनेसे "तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर"का अर्थ यही करना पड़ता है, कि "तू ज्ञानी है; इसलिये यह सच है, कि तुझे अपने स्वार्थके लिये कर्म अनावश्यक हैं; परंतु स्वयं तेरे लिये कर्म अनावश्यक हैं, इसीलिये अब तू उन कर्मोंको (जो शास्त्रसे प्राप्त हुए हैं) मुझे आवश्यक नहीं इस बुद्धिसे "अर्थात् निष्काम बुद्धिसे कर!" थोड़ेमें यही अनुमान निकलता है, कि कर्म छोड़नेका यह कारण नहीं हो सकता, कि "वह हमें अनावश्यक है।" किंतु जब कर्म अपरिहार्य है तब शास्त्रसे प्राप्त अपरिहार्य कर्मोंको स्वार्थत्यागबुद्धिसे करतेही रहना चाहिये – यही गीताका कथन है और यदि प्रकरणकी समताकी दृष्टिसे देखें, तोभी यही अर्थ लेना पड़ता है। कर्मसंन्यास और कर्मयोग, इन दोनोंमें जो बड़ा अंतर है, वह यही है। संन्यासपक्षवाले कहते हैं, कि "तुझे कुछ कर्तव्य शेष नहीं बचा है, इससे तू कुछभी न कर।" और गीताका (अर्थात् कर्मयोग) कथन है, कि "तुझे कुछ कर्तव्य शेष नहीं बचा है इसीलिये तुझे जो कुछ करना है, वह अब स्वार्थसंबंधी वासना छोड़कर अनासक्त बुद्धिसे कर।" अब प्रश्न यह है, कि एकही हेतु वाक्यसे इस प्रकार भिन्न भिन्न दो अनुमान क्यों निकले? इसका उत्तर इतनाही है, कि गीता कर्मोंको अपरिहार्य मानती है, इसलिये गीताके तत्त्वविचारके अनुसार यह अनुमान निकलही नहीं सकता, कि "कर्म छोड़ दे।" अतएव "तुझे अनावश्यक है" इस हेतु-वाक्यसेही गीतामें यह अनुमान किया गया है, कि स्वार्थबुद्धि छोड़कर कर्म कर। वसिष्ठजीने योगवासिष्ठमें श्रीरामचंद्रको सब ब्रह्मज्ञान बतलाकर निष्कामकर्मकी ओर प्रवृत्त करनेके लिये जो युक्तियाँ बतलाई हैं, वेभी इसी प्रकारकी हैं। योग-वासिष्ठके अंतमें भगवद्गीताका उपर्युक्त सिद्धान्तही अक्षरशः आ गया है (यो. ६ उ. १९९; २१६. १४; गीता ३. १९ के अनुवादपर हमारी टिप्पणी देखो)। योगवासिष्ठके समानही बौद्धधर्मके महायान पंथके ग्रंथोंमेंभी इस संबंधमें गीताका अनुवाद किया गया है। परंतु विषयांतर होनेके कारण उसकी चर्चा यहाँ नहीं हो जा सकती; हमने इसका विचार आगे परिशिष्ट प्रकरणमें कर दिया है।

आत्मज्ञान होनेसे 'मैं' और 'मेरा' यह अहंकारकी भाषाही शेष नहीं रहती (गीता १८. १६, २६) एवं इसीसे ज्ञानी पुरुषको 'निर-मम' कहते हैं। निर्ममका अर्थ "मेरा मेरा (मम) न कहनेवाला" है। ज्ञानी पुरुषका वर्णन करते हुए श्रीज्ञानेश्वर महाराजने इसी अर्थको अपने काव्यमें व्यक्त किया है। परंतु भूल न जाना चाहिये, कि यद्यपि ब्रह्मज्ञानसे 'मैं' और 'मेरा' यह अहंकारदर्शक भाव छूट जाता है, तथापि उन दो शब्दोंके बदले 'जगत्' और 'जगत्का' – अथवा भक्तिपक्षमें 'परमेश्वर' और 'परमेश्वरका' – ये शब्द आ जाते हैं। संसारका प्रत्येक सामान्य मनुष्य अपने समस्त व्यवहार 'मेरा' या मेरे लिये'ही समझकर किया करता है। परंतु ज्ञानी होनेपर, ममत्वकी वासना छूट जानेके कारण अब वह इस बुद्धिसे (निर्मम बुद्धिसे) उन व्यवहारोंको करने लगता है, कि ईश्वरनिर्मित संसारके समस्त व्यवहार परमेश्वरके

हैं; और उनको करनेके लियेही ईश्वरने हमें उत्पन्न किया है। अज्ञानी और ज्ञानीमें यही तो भेद है (गीता ३. २७, २८)। गीताके इस सिद्धान्तपर ध्यान देनेसे ज्ञात हो जाता है, कि "योगारूढ पुरुषके लिये आगे शमही कारण होता है" (गीता ६. ३ और उसपर हमारी टिप्पणी देखो)। इस श्लोकका सरल अर्थ क्या होगा। गीताके टीकाकार कहते हैं, कि इस श्लोकमें कहा गया है, कि योगारूढ पुरुष आगे (ज्ञान हो जानेपर) शम अर्थात् शांतिको स्वीकार करे; और कुछ न करे। परंतु यह अर्थ ठीक नहीं है। शम मनकी शांति है और उसे अंतिम 'कार्य' न कहकर इस श्लोकमें यह कहा है, कि शम अथवा शांति दूसरे किसीका कारण है – शमः कारणमुच्यते। अब शमको 'कारण' मानकर देखना चाहिये, कि आगे उसका 'कार्य' क्या है? पूर्वापर संदर्भपर विचार करनेसे यही निष्पन्न होता है, कि वह कार्य 'कर्म'ही है। और तब इस श्लोकका अर्थ ऐसे होता है, कि योगारूढ पुरुष अपने चित्तको शांत करें, तथा उस शांति या शमसेही अपने सब अगले व्यवहार करे, टीकाकारोंके कथनानुसार यह अर्थ नहीं किया जा सकता, कि "योगारूढ पुरुष कर्म छोड़ दे।" इसी प्रकार 'सर्वारंभ परित्यागी' और 'अनिकेतः' प्रभृति पदोंका अर्थभी कर्मत्याग-विषयक न करके, फलाशात्याग-विषयकही करना चाहिये। गीताके अनुवादमें (उन स्थलोंपर जहाँ ये पद आये हैं) हमने टिप्पणीमें यह बात खोल दी है। भगवानने यह सिद्ध करनेके लिये – कि ज्ञानी पुरुषकोभी फलाशा त्याग कर चातुर्वर्ण्य आदि सब कर्म यथाशास्त्र करते रहना चाहिये – अपने अतिरिक्त दूसरा उदाहरण जनकका दिया है। जनक एक बड़ेही कर्मयोगी थे। उनकी स्वार्थबुद्धिके छूटनेका परिचय उन्हींके मुखसे यों है – "मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन" (मभा. शां. २७५. ४; २१९. ५०) – मेरी राजधानी मिथिलाके जल जाने परभी मेरी कुछ हानि नहीं! इस प्रकार अपना स्वार्थ अथवा लाभालाभ किसी प्रकार न रहनेपरभी राज्यके समस्त व्यवहार करनेका कारण बतलाये हुए, जनक स्वयं कहते हैं :–

देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च भूतेभ्योऽतिथिभिः सह।
इत्यर्थं सर्व एवैते समारम्भा भवन्ति वै॥

"देव, पितर, सर्वभूत (प्राणी) और अतिथियोंके लिये ये समस्त व्यवहार जारी हैं, मेरे लिये नहीं" (मभा. अश्व. ३२. २४)। अपना कोई कर्तव्य शेष न रहनेपर, अथवा अपने लिये किसी वस्तुके पानेकी वासना न रहने परभी यदि जनक-श्रीकृष्ण जैसे महात्मा इस जगतका कल्याण करनेके लिये प्रवृत्त न होंगे, तो कहना न होगा कि यह संसार उत्सन्न (ऊजड़) हो जायगा – "उत्सीदेयुरिमे लोकाः" (गीता ३. २४)।

कुछ लोगोंका कहना है, कि गीताके इस सिद्धान्तमें – कि "फलाशा छोड़नी चाहिये; सब प्रकारकी इच्छाओंको छोड़नेकी आवश्यकता नहीं" – और वासना-क्षयके सिद्धान्तमें, बहुत भेद नहीं कर सकते। क्योंकि चाहे वासना छूटे, चाहे फलाशा

छूटे; दोनों ओर कर्म करनेकी प्रवृत्ति होनेके लिये कुछभी कारण नहीं दीख पड़ता; इससे चाहे जिस पक्षको स्वीकार करें, अंतिम परिणाम – कर्मका छूटना – ही है। परंतु यह आक्षेप अज्ञानमूलक है, क्योंकि 'फलाशा' शब्दका ठीक ठीक अर्थ न जाननेके कारणही यह उत्पन्न हुआ है। फलाशा छोड़नेका अर्थ यह नहीं, कि सब प्रकारकी इच्छाओंको छोड़ देना चाहिये अथवा यह बुद्धि या भाव होना चाहिये, कि मेरे कर्मोंका फल किसीको कभी न मिले, और यदि मिले तो उसे कोईभी न ले; प्रत्युत पाँचवें प्रकरणमें पहलेही हम कह चुके हैं, कि "अमुक फल पानेके लियेही मैं यह कर्म करता हूँ" – इस प्रकारकी फलविषयक ममतायुक्त आसक्तिको या बुद्धिके आग्रहको 'फलाशा', 'संग' या 'काम' ये नाम गीतामें दिये गये हैं। यदि कोई मनुष्य फल पानेकी **इच्छा, आग्रह या वृथा आसक्ति** न रखे; तो उससे यह मतलब नहीं पाया जाता, कि वह अपने प्राप्त कर्मको, केवल कर्तव्य समझकर, करनेकी बुद्धि और उत्साहकोभी इस आग्रहके साथ-ही-साथ नष्ट कर डाले। अपने फायदेके सिवा इस संसारमें जिन्हें दूसरा कुछ नहीं दीख पड़ता और जो पुरुष केवल फलकी इच्छासेही कर्म करनेमें निमग्न रहते हैं, उन्हें सचमुच फलाशा छोड़कर कर्म करना शक्य न जँचेगा, परंतु जिनकी बुद्धि ज्ञानसे सम और विरक्त हो गई है, उनके लिये कुछ कठिन नहीं है। पहले तो यह समझही गलत है, कि हमें किसी कामका जो फल मिलता है, वह केवल हमारेही कर्मका फल होता है। यदि पानीकी द्रव्यता या अग्निकी उष्णताकी सहायता न मिले तो मनुष्य कितनाही सिर क्यों न खपावे, उसके प्रयत्नसे पाक-सिद्धि कभी हो नहीं सकेगी – भोजन पकेगाही नहीं; और अग्नि आदिमें इन गुणधर्मोंका होना या न होना मनुष्यके वस या उपायकी बात नहीं है। इसीसे कर्मसृष्टिके इन स्वयंसिद्ध विविध व्यापारों अथवा धर्मोंका पहले यथाशक्ति ज्ञान प्राप्त कर, मनुष्यको उसी ढँगसे अपने व्यवहार करने पड़ते हैं, जिससे कि वे व्यापार अपने प्रयत्नके अनुकूल हों। इससे कहना चाहिये, कि मनुष्यको प्रयत्नोंके जो फल मिलता है, वह केवल उसकेही प्रयत्नोंका फल नहीं है; वरन् उसका कर्म और कर्म-सृष्टिके तदनुकूल अनेक स्वयंसिद्ध धर्म – इन दोनोंके संयोगका मात्र वह फल है। परंतु मनुष्यके प्रयत्नोंकी सफलताके लिये इस प्रकार जिन नानाविध सृष्टि-व्यापारोंकी अनुकूलता आवश्यक है, उन सबका कई बार मनुष्यको यथार्थ ज्ञान नहीं रहता; और कुछ स्थानोंपर तो वह होनाभी शक्य नहीं है – इसेही 'दैव' कहते हैं। यदि फल-सिद्धिके लिये ऐसे सृष्टि-व्यापारोंकी सहायता अत्यंत आवश्यक है, जो हमारे अधिकारमें नहीं और जिन्हें हम जानतेभी नहीं हैं; तो आगे कहना नहीं होगा, कि ऐसा अभिमान करना मूर्खता है, कि "केवल अपने प्रयत्नसेही मैं अमुक बात कर लूँगा" (गीता १८. १४–१६)। क्योंकि कर्मसृष्टिके ज्ञात और अज्ञात व्यापारोंका मानवी प्रयत्नोंसे संयोग होनेपर जो फल प्राप्त होता हो, वह केवल कर्मके नियमोंसेही हुआ करता है, इसलिये हम फलकी अभिलाषा करें या न करें – फलसिद्धिमें उससे कोई फ़र्क

नहीं पड़ता; हमारी फलाशा निःसंदेह हमें दुःखकारक हो जाती है। परंतु स्मरण रहे, कि मनुष्यके लिये आवश्यक बात अकेले सृष्टिव्यापार स्वयं अपनी ओरसे संघटित होकर नहीं कर देते। चनेकी रोटीको स्वादिष्ट बनानेके लिये जिस प्रकार आटेमें थोड़ासा नमकभी मिलाना पड़ता है, उसी प्रकार कर्मसृष्टिके इन स्वयंसिद्ध व्यापारोंको मनुष्योंके लाभकारी होनेके लिये उनमें मानवी प्रयत्नकी थोड़ीसी मात्रा मिलानी पड़ती है। इसीसे ज्ञानी और विवेकी पुरुष सामान्य लोगोंके समान फलकी आसक्ति अथवा अभिलाषा तो नहीं रखते; किंतु वे लोग जगत्के व्यवहारकी सिद्धिके लिये प्रवाहपतित कर्मका (अर्थात् कर्मके अनादि प्रवाहमें शास्त्रसे प्राप्त यथाधिकार कर्मका) जो छोटा-बड़ा भाग मिले, उसेही शांतिपूर्वक, कर्तव्य समझकर किया करते हैं और फल पानेके लिये कर्मसंयोगपर अथवा भक्तिदृष्टिसे परमेश्वरकी इच्छापर निर्भर होकर निश्चित रहते हैं। "तेरा अधिकार केवल कर्म करनेका है, फल होना तेरे अधिकारकी बात नहीं" (गीता २. ४७) इत्यादि उपदेश जो अर्जुनको किया गया है, उसका रहस्यभी यही है। इस प्रकार फलाशाको त्यागकर कर्म करते रहनेपर आगे कुछ कारणोंसे कदाचित् वह कर्म निष्फल हो जाय तोभी निष्फलताका दुःख माननेके लिये हमें कोई कारणही नहीं रहता, क्योंकि हम तो अपने अधिकारका काम कर चुके हैं। उदाहरण लीजिये; वैद्यकशास्त्रका स्पष्ट मत है, कि आयुकी डोर (अर्थात् शरीरका पोषण करनेवाली नैसर्गिक धातुओंकी शक्ति) सबल रहे बिना निरी औषधियोंसे रोगीको कभी फायदा नहीं होता; और इस डोरकी सबलता अनेक प्राक्तन अथवा पुश्तैनी संस्कारोंका फल है, अतः यह बात वैद्यके हाथों होने योग्य नहीं; और उसे इसका निश्चयात्मक ज्ञान होभी नहीं सकता कि वह कितनी सबल है। ऐसा होते हुएभी हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि रोगी लोगोंको औषधि देना अपना कर्तव्य समझ कर केवल परोपकारकी बुद्धिसे वैद्य अपनी बुद्धिके अनुसार हजारों रोगियोंको दवाई दिया करता है। इस प्रकार निष्काम बुद्धिसे अपना काम करनेपर यदि कोई रोगी चंगा न हो, तो उससे वह वैद्य उद्विग्न नहीं होता, बल्कि बडे शांत चित्तसे यह शास्त्रीय नियम ढूंढ निकालता है, कि अमुक रोगमें अमुक औषधिसे सैंकडों इतने रोगियोंको आराम होता है। परंतु इसी वैद्यका लड़का जब बीमार पड़ता है, तब उसे औषधि देते समय वह आयुष्यकी डोरवाली बात भूल जाता है और इस ममतायुक्त फलाशासे उसका चित्त घबड़ा जाता है कि "मेरा लड़का अच्छा हो जाय।" इसीसे उसे या तो दूसरा वैद्य बुलाना पड़ता है, या कमसे कम दूसरे वैद्यकी सलाहकी आवश्यकता होती है। इस छोटे-से उदाहरणसे ज्ञात होगा, कि कर्मफलमें ममतारूप आसक्ति किसे कहना चाहिये, और फलाशा न रहनेपरभी निरी कर्तव्यबुद्धिसे कोईभी काम किस प्रकार किया जा सकता है। इस प्रकार यह सच है कि फलाशाको नष्ट करनेके लिये ज्ञानकी सहायतासे मनमें वैराग्यका भाव अटल होना चाहिये, परंतु किसी कपड़ेका रंग (राग) दूर करनेके लिये जिस

प्रकार कोई कपड़ेको फाडना उचित नहीं समझता, उसी प्रकार यह कहनेसे, कि "किसी कर्ममें आसक्ति, काम, संग या राग अथवा प्रीति न रखो" उस कर्मकोही छोड़ देना ठीक नहीं। वैराग्यसे कर्म करनाही यदि अशक्य हो, तो बात निराली है। परंतु हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि वैराग्यसे भली भाँति कर्म किये जा सकते हैं; इतनाही क्यों? यहभी प्रकट है, कि कर्म किसीसे छूटतेही नहीं। इसीलिये अज्ञानी लोग जिन कर्मोंको फलाशासे किया करते हैं, उन्हेंही ज्ञानी पुरुष ज्ञानप्राप्तिके बादभी लाभ-अलाभ तथा सुखदुःखको एकसा मान कर (गीता २. ३८) धैर्य एवं उत्साहसे, किंतु शुद्ध बुद्धिसे अर्थात् फलके विषयमें विरक्त या उदासीन रहकर (गीता १८. २६), केवल कर्तव्य मान कर, अपने अपने अधिकारानुसार शांत चित्तसे करते रहें (गीता ६. ३) – यही नीति और मोक्षकी दृष्टिसे उत्तम जीवनक्रमका सच्चा तत्त्व है। अनेक स्थितप्रज्ञ, महाभगवद्भक्त और परम ज्ञानी पुरुषोंने – एवं स्वयं भगवान्नेभी इसी मार्गका स्वीकार किया है और भगवद्गीता पुकारकर कहती है, कि इस कर्मयोग-मार्गमेंही पराकाष्ठाका पुरुषार्थ है, इसी 'योग'से परमेश्वरका भजनपूजन होता है; और अंतमें सिद्धिभी मिलती है (गीता १८. ४६)। इतने परभी यदि कोई स्वयं जानबूझ कर गैरसमझ कर ले, तो उसे दुर्दैवी कहना चाहिये। स्पेन्सरसाहबको यद्यपि अध्यात्म दृष्टि संमत न थी, तथापि उन्होंनेभी अपने "समाज-शास्त्रका अभ्यास" नामक ग्रंथके अंतमें गीताके समानही यह सिद्धान्त किया है:– यह बात आधिभौतिक रीतिसेभी सिद्ध है, कि इस जगतमें किसीभी कामको एकदम कर गुजरना शक्य नहीं, उसके लिये कारणभूत और आवश्यक दूसरी हजारों बातें पहले जिस प्रकार हुई होंगी, उसी प्रकार मनुष्यके प्रयत्न सफल, निष्फल या न्यूनाधिक सफल हुआ करते हैं। इस कारण यद्यपि साधारण मनुष्य किसीभी कामके करनेमें फलाशासेही प्रवृत्त होते हैं, तथापि बुद्धिमान् पुरुषको शांति और उत्साहसे फलसंबंधी आग्रह छोड़कर अपना कर्तव्य करते रहना चाहिये।*

यद्यपि यह सिद्ध हो गया, कि ज्ञानी पुरुष इस संसारमें अपने प्राप्त कर्मोंको, फलाशा छोड़कर निष्काम बुद्धिसे आमरण अवश्य करता रहे; तथापि यह बतलाये बिना कर्मयोगका विवेचन पूरा नहीं होता, कि ये कर्म किससे और किस लिये प्राप्त होते हैं? अतएव भगवानने कर्मयोगके समर्थनार्थ अर्जुनको अंतिम और महत्त्वका उपदेश दिया है, कि "लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि" (गीता ३. २०) – लोकसंग्रहकी ओर दृष्टि दे करभी तुझे कर्म करनाही उचित है। लोकसंग्रहका यह अर्थ नहीं, कि कोई ज्ञानी पुरुष "मनुष्योंका केवल जमघट इकट्ठा करे" अथवा

---

* "Thus admitting that for the *fanatic*, some *wild anticipation* is needful as a stimulus, and recognizing the usefulness of his delusion as adapted to his particular nature and his particular function, the *man of higher type* must be content with greatly

यहभी अर्थ नहीं, कि " स्वयं कर्मत्यागका अधिकारी होनेपरभी इसलिये कर्म करनेका ढोंग करे, कि अज्ञानी मनुष्य कहीं कर्म न छोड़ बैठें; और उन्हें अपनी (ज्ञानी पुरुष-की) कर्मतत्परता अच्छी लगे।" क्योंकि, गीताका यह सिखलानेका हेतु नहीं, कि लोग अज्ञानी या मूर्ख बने रहें; अथवा उन्हें अज्ञानी बनाये रखनेके लिये ज्ञानी पुरुष कर्म करनेका ढोंग किया करे। ढोंग तो दूरही रहा; परंतु " लोग तेरी अपकीर्ति गावेंगे " (गीता २. ३४) इत्यादि सामान्य लोगोंको जँचनेवाली युक्तियोंसे जब अर्जुनका समाधान न हुआ, तब भगवान्, उन युक्तियोंसेभी अधिक जोरदार और तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे अधिक बलवान् कारण, अब कह रहे हैं। इसलिये कोशमें 'संग्रह' शब्दके जमा करना, इकट्ठा करना, रखना, पालना, नियमन करना प्रभृति जो अर्थ दिये हैं, उन सबको यथासंभव ग्रहण करना पड़ता है। और ऐसा करनेसे "लोगोंका संग्रह करना" या यह अर्थ होता है, कि "उन्हें एकत्र संबद्ध कर, इस रीतिसे उनका पालनपोषण और नियमन करे, कि उनकी परस्पर अनुकूलतासे उत्पन्न होनेवाली सामर्थ्य उनमें आ जावे; एवं उसके द्वारा उनकी सुस्थितिको स्थिर रखकर आगे उन्हें श्रेयःप्राप्तिके मार्गमें लगा दे।" " राष्ट्रका संग्रह " ये शब्द इसी अर्थमें मनुस्मृतिमें (मनु. ७. ११४) आये हैं; शांकरभाष्यमें उपरोक्त शब्दकी व्याख्या यों है – "लोकसंग्रह = लोकस्योन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणम्।" इससे दीख पड़ेगा, कि संग्रह शब्दका जो हम ऐसा अर्थ करते हैं कि अज्ञानसे मनमाना बर्ताव करनेवाले लोगोंको ज्ञानवान् बनाकर सुस्थितिमें एकत्र रखना और आत्मोन्नतिके मार्गमें लगाना; वह अपूर्व या निराधार नहीं है। यह संग्रह शब्दका अर्थ हुआ; परंतु यहाँ यहभी बतलाना चाहिये कि 'लोकसंग्रह'में 'लोक' शब्द केवल मनुष्यवाची नहीं है। यद्यपि यह सच है, कि जगत्के अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा मनुष्य श्रेष्ठ है; और इसीसे मानवजातिके कल्याणकाही प्रधानतासे 'लोकसंग्रह' शब्दमें समावेश होता है, तथापि भगवान्कीही ऐसी इच्छा है, कि भूलोक, सत्यलोक, पितृलोक और देवलोक प्रभृति जो अनेक लोक अर्थात् जगत् भगवान्ने बनाये हैं, उनकाभी भली भाँति धारण-पोषण हो; और वे सभी अच्छी रीतिसे चलते रहें; इसलिये कहना पड़ता है, कि

---

moderated expectations, while he perseveres with undiminished efforts. He has to see how comparatively little can be done, and yet to find it worthwhile to do that little; so uniting philanthropic enegry with philosophic calm."- Spencer's *Study of Sociology*,- 8th Ed., p. 403. (The italics are ours.) इस वाक्यमें fanatics के स्थान में " प्रकृतिके गुणोंसे विमूढ " (गीता ३. २९) या 'अहंकारविमूढ' (गीता ३. २७) अथवा भास कविका 'मूर्ख' शब्द और man of higher type के स्थानमें 'विद्वान्' (गीता ३. २५) एवं greatly moderated expectations के स्थानमें 'फलौ-दासीन्य' अथवा 'फलाशात्याग' इन समानार्थी शब्दोंकी योजना करनेसे ऐसा दीख पड़ेगा कि स्पेन्सरसाहेबने मानो गीताकेही सिद्धान्तका अनुवाद कर दिया है।

इतना सब व्यापक अर्थ 'लोकसंग्रह' पदसे यहाँ विवक्षित है, कि मनुष्यलोकके साथही इन सब लोकोंके व्यवहारभी सुस्थितिसे चलें (लोकानां संग्रहः)। जनकके किये अपने कर्तव्यके वर्णनमें – जो पहले लिखा जा चुका है – देव और पितरोंका उल्लेख है, एवं भगवद्गीताके तीसरे अध्यायमें तथा महाभारतके नारायणीयोपाख्यानमें जिस यज्ञचक्रका वर्णन है, उसमेंभी कहा है, कि देवलोक और मनुष्यलोक, दोनों-हीके धारणा-पोषणके लिये ब्रह्मदेवने यज्ञ उत्पन्न किया (गीता ३. १०–१२)। इससे स्पष्ट होता है, कि भगवद्गीतामें 'लोकसंग्रह' पदसे इतना अर्थ विवक्षित है, कि अकेले मनुष्य-लोगकाही नहीं; किंतु देवलोक आदि सब लोकोंकाभी उचित धारण-पोषण होवें और वे परस्पर एक दूसरेका श्रेय संपादन करें। सारी सृष्टिका पालन-पोषण करके लोकसंग्रह करनेका यह जो भगवानका अधिकार है, वही पुरुषके ज्ञानी हो जानेपर उसे अपने ज्ञानके कारण प्राप्त हुआ करता है। ज्ञानी पुरुषको जो बात प्रामाणिक जँचती है, अन्य लोगभी उसेही प्रमाण मान कर तदनुकूल व्यवहार किया करते हैं (गीता ३. २१)। क्योंकि साधारण लोगोंकी समझ है, कि शांत चित्त और समबुद्धिसे यह विचारनेका काम ज्ञानीहीका है, कि संसारका धारण और पोषण कैसे होगा ? एवं तदनुसार धर्म-प्रबंधकी मर्यादा बना देनाभी उसीका काम है। इस समझमें कुछ भूलभी नहीं है। और यहभी कह सकते हैं, कि सामान्य लोगोंकी समझमें ये बातें भली भाँति नहीं आ सकतीं, तो इसीलिये वे ज्ञानी पुरुषोंके भरोसे रहते हैं। इसी अभिप्रायको मनमें लाकर शांतिपर्वमें युधिष्ठिरसे भीष्मने कहा है :–

लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम् ॥

"लोकसंग्रहकारक और सूक्ष्म प्रसंगोंपर धर्मार्थका निर्णय कर देनेवाला साधु पुरुषोंका उत्तम चरित्र स्वयं ब्रह्मदेवनेही बनाया है" (मभा. शां. २५८. २५)। 'लोकसंग्रह' कुछ ठाले बैठेकी बेगार, ढकोसला या लोगोंको अज्ञानमें डाले रखनेकी तरकीब नहीं है; ज्ञानयुक्त कर्मके संसारसे नष्ट हो जानेसे जगत्के नष्ट हो जानेकी संभावना है, इसलिये यही सिद्ध होता है, कि ब्रह्मदेवनिर्मित साधुपुरुषोंके कर्तव्योंमेंसे 'लोक-संग्रह' एक प्रधान कर्तव्य है। और इस भगवद्वचनका भावार्थभी यही है, कि "मैं यह काम न करूँ, तो ये समस्त लोक अर्थात् जगत् नष्ट हो जावेंगे" (गी. ३. २४)। ज्ञानी पुरुष सब लोगोंके नेत्र हैं और यदि वे अपना काम छोड़ देंगे, तो सारी दुनिया अंधी हो जायगी; और इस संसारका सर्वतः नाश हुए बिना न रहेगा। ज्ञानी पुरुषों-कोही उचित है, कि लोगोंको ज्ञानवान् कर उन्नत बनावें। परंतु यह काम सिर्फ़ जीभ हिला देनेसे अर्थात् कोरे उपदेशसे कभी नहीं होता। क्योंकि, जिन्हें सदाचरणकी आदत नहीं और जिनकी बुद्धिभी पूर्ण शुद्ध नहीं रहती, उन्हें यदि कोरा ब्रह्मज्ञान सुनाया जाय, तो वे लोग उस ज्ञानका दुरुपयोग इस प्रकार करते देखे गये हैं, कि

तेरासो मेरा, और मेरा तो मेरा हैही। " इसके सिवा, किसीके उपदेशकी सत्यताकी जाँचभी तो लोग उसके आचरणसेही किया करते हैं। इसलिये यदि ज्ञानी पुरुष स्वयं कर्म न करेगा, तो वह सामान्य लोगोंको आलसी बनानेका एक वहुत बड़ा कारण हो जायगा। इसेही 'बुद्धिभेद' कहते हैं; और यह बुद्धिभेद न होने पावे, तथा सब लोग सचमुच निष्काम होकर अपना कर्तव्य करनेके लिये जागृत हो जावें, इसी हेतु संसारमेंही रहकर अपने कर्मोंसे सब लोगोंको सदाचरणकी – निष्काम बुद्धिसे कर्म करनेकी – प्रत्यक्ष शिक्षा देनाही ज्ञानी पुरुषका कर्तव्य (ढोंग नहीं) हो जाता है। अतएव गीताका कथन है, कि उसे (ज्ञानी पुरुषको) कर्म छोड़नेका अधिकार कभी प्राप्त नहीं होता और अपने लिये न सही, परंतु लोकसंग्रहार्थ चातुर्वर्ण्यके सब कर्म अधिकारानुसार उसे करनेही चाहिये। किंतु संन्यासमार्गवालोंका मत है, कि ज्ञानी पुरुषको चातुर्वर्ण्यके कर्म निष्काम बुद्धिसेभी करनेकी कुछ जरूरत नहीं – यही क्यों ? करनेभी नहीं चाहिये; इसलिये इस संप्रदायके टीकाकार गीताके –" ज्ञानी पुरुषको लोकसंग्रहार्थ कर्म करने चाहिये "– इस सिद्धान्तका कुछ गड़बड़ अर्थ लगाकर – यहाँतक कहनेके लिये तैयारसे हो गये हैं, कि स्वयं भगवानभी प्रत्यक्ष नहीं, तो पर्यायसे ढोंगका, उपदेश करते हैं। परंतु पूर्वापर संदर्भसे प्रकट है, कि गीताके लोकसंग्रह शब्दका यह ढुलमुल या पोचा अर्थ सच्चा नहीं। गीताको तो यह मतही मंजूर नहीं, कि ज्ञानी पुरुषको कर्म छोड़नेका अधिकार प्राप्त होता है; और इसके प्रमाणमें गीतामें जो कारण दिये गये हैं, उनमें लोकसंग्रह एक मुख्य कारण है। इसलिये पहले यह मान कर, कि ज्ञानी पुरुषके कर्म छूट जाते हैं, लोकसंग्रह पदका ढोंगी अर्थ करना सर्वथा अन्याय्य है। इस जगत्में मनुष्य केवल अपनेही लिये उत्पन्न नहीं हुआ है। यह सच है, कि सामान्य लोग अज्ञानतः स्वार्थमेंही फँसे रहते हैं। परंतु " सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि " (गीता ६. २९) – मैं सब भूतोंमें हूँ; और सब भूत मुझमें हैं – इस रीतिसे जिसको समस्त संसारही आत्मभूत हो गया है, उसका यह कहना अपने मुखसे अपने ज्ञानमें बट्टा लगाना है, कि " मुझे तो मोक्ष मिल गया, अब यदि लोग दुःखी हों, तो मुझे इसकी क्या परवाह ? " ज्ञानी पुरुषका आत्मा क्या कोई स्वतंत्र व्यक्ति है ? उसके आत्मापर जबतक अज्ञानका पर्दा पड़ा था, तबतक 'मैं' और 'लोग' यह भेद कायम था। परंतु ज्ञानप्राप्तिके बाद सब लोगोंका आत्माही उसका आत्मा है। इसीसे योगवासिष्ठमें रामसे वसिष्ठने कहा है :–

यावल्लोकपरामर्शो निरूढो नास्ति योगिनः।
तावद्रूढसमाधित्वं न भवत्येव निर्मलम् ॥

" जबतक लोगोंके परामर्श लेनेका (अर्थात् लोकसंग्रहका) काम थोड़ाभी बाकी है – समाप्त नहीं हुआ है – तबतक यह कभी नहीं कह सकते, कि योगारूढ पुरुषकी स्थिति निर्दोष है " (यो. ६; पू. १२८. ९७)। उसका केवल अपनेही समाधि-

सुखमें डूब जाना मानो एक प्रकारसे अपनाही स्वार्थ साधना है। संन्यासमार्गवाले इस बातकी ओर दुर्लक्ष करते हैं यही उनकी युक्ति-प्रयुक्तियोंका मुख्य दोष है। भगवान्‌की अपेक्षा किसीकाभी अधिक ज्ञानी, अधिक निष्काम या अधिक योगारूढ होना शक्य नहीं। परंतु जब स्वयं भगवान्‌भी "साधुओंका संरक्षण, दुष्टोंका नाश और धर्म-संस्थापना" ऐसे लोकसंग्रहके काम करनेके लियेही समय-समयपर अवतार लेते हैं (गीता ४. ८), तब लोकसंग्रहके कर्तव्यको छोड़ देनेवाले ज्ञानी पुरुषका यह कहना सर्वथा अनुचित है, कि "जिस परमेश्वरने इन सब लोगोंको उत्पन्न किया है, वह उनका जैसे चाहेगा वैसे धारण-पोषण करेगा, उधर देखना मेरा काम नहीं है।" क्योंकि ज्ञानप्राप्तिके बाद 'परमेश्वर', 'मैं' और 'लोग' – यह भेदही नहीं रहता; और यदि रहे, तो उसे ढोंगी कहना चाहिये; ज्ञानी नहीं। यदि ज्ञानसे ज्ञानी पुरुष परमेश्वररूपी हो जाता है, तो परमेश्वर जो काम करता है, उसे परमेश्वरके समान अर्थात् निस्संगबुद्धिसे करनेकी आवश्यकतासे ज्ञानी पुरुष कैसे छूटेगा (गीता ३. २२; ४. १४, १५); इसके अतिरिक्त, परमेश्वरको जो कुछ करना है, वहभी ज्ञानी पुरुषके रूपसे या उसके द्वाराही करेगा। अतएव जिसे परमेश्वरके स्वरूपका ऐसा अपरोक्ष ज्ञान हो गया है, कि "सब प्राणियोंमें एक आत्मा है" उसके मनमें सर्वभूतानुकंपा आदि उदात्त वृत्तियाँ पूर्णतासे जागृत रह कर स्वभावसेही उसके मनकी प्रवृत्ति लोककल्याणकी ओर हो जानी चाहिये। इसी अभिप्रायसे तुकाराममहाराज साधुपुरुषके लक्षण इस प्रकार बतलाते हैं – "जो दीनदुखियोंको अपनाता है, वही साधु है – ईश्वरभी वहीं (उसीके पास) है" (तु. गा. ९६०. १, २)। अथवा "जिसने परोपकारमें अपनी शक्तिओंका व्यय किया है, उसीने आत्मस्थितिको जाना है" (तु. गा. ४५६२)।* और अंतमें, संतजनोंका (अर्थात् भक्तिसे परमेश्वरका पूर्ण ज्ञान पानेवाले महात्माओंका) वर्णन इस प्रकार किया है – "संतोंकी विभूतियाँ जगत्‌के कल्याणहीके लिये हुआ करती हैं। वे लोग परोपकारके लिये अपने शरीरको कष्ट दिया करते हैं।" भर्तृहरिनेभी इस प्रकार वर्णन किया है, कि परार्थही जिसका स्वार्थ हो गया है, वही पुरुष साधुओंमें श्रेष्ठ है – "स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः।" क्या मनु आदि शास्त्रप्रणेता ज्ञानी न थे? परंतु उन्होंने तृष्णादुःखको **बड़ा भारी** हौवा मानकर तृष्णाके साथ-ही-साथ परोपकार-बुद्धि आदि सभी उदात्त **वृत्तियोंको** नष्ट नहीं कर दिया – उन्होंने तो लोकसंहकारक चातुर्वर्ण्य प्रभृति शास्त्रीय मर्यादा बना देनेका

---

* इसी भावको कविवर बाबू मैथिलीशरण गुप्तने यों व्यक्त किया है :–

वास उसीमें है विभुवरका है बस सच्चा साधु वही –
जिसने दुखियोंको अपनाया, बढ़ कर उनकी बाह गही।
आत्मस्थिति जानी उसनेही परहित जिसने व्यथा सही,
परहितार्थ जिनका वैभव है, है, उनसेही धन्य मही॥

उपयोगी काम किया है, ब्राह्मणको ज्ञान, क्षत्रियको युद्ध, वैश्यको खेती, गोरक्षा और व्यापार अथवा शूद्रको सेवा – ये जो गुण-कर्म और स्वभावके अनुरूप भिन्न भिन्न धर्म शास्त्रोंमें वर्णित हैं, वे केवल किसी व्यक्तिकेही हितके लिये नहीं हैं; प्रत्युत मनुस्मृति (मनु. १. ८७)में कहा गया है, कि चातुर्वर्ण्यके व्यापारोंका विभाग लोकसंग्रहके लियेही इस प्रकार प्रवृत्त हुआ है कि सारे समाजके बचावके लिये कुछ पुरुषोंको प्रतिदिन युद्धकलाका अभ्यास करके सदा तैयार रहना चाहिये; और कुछ लोगोंको खेती, व्यापार एवं ज्ञानार्जन प्रभृति उद्योगोंसे समाजकी अन्यान्य आवश्यकताएँ पूर्ण करनी चाहिये। गीताका (गीता ४. १३; १८. ४१) अभिप्रायभी ऐसाही है। यह पहले कहाही जा चुका है, कि इस चातुर्वर्ण्य धर्ममेंसे यदि कोई एकभी धर्म डूब जाय, तो समाज उतनाही पंगु हो जायगा; और अंतमें उसका नाश हो जानेकीभी संभावना रहती है। तथापि स्मरण रहे, कि उद्योगोंके विभागकी यह व्यवस्था एकही प्रकारकी नहीं रहती है। प्राचीन यूनानी तत्त्वज्ञ प्लेटोने एतद्विषयक अपने ग्रंथमें और अर्वाचीन फ्रेंच शास्त्रज्ञ कोंटने अपने ‘आधिभौतिक तत्त्वज्ञान’में, समाज-धारणके लिये जो व्यवस्था सूचित की है, वह यद्यपि चातुर्वर्ण्यके सदृश्य है; तथापि इन ग्रंथोंको पढ़नेसे कोईभी जान सकेगा, कि उस व्यवस्थामें धर्मकी चातुर्वर्ण्य व्यवस्थासे कुछ-न-कुछ भिन्नता है। इनमेंसे कौन-सी समाज-व्यवस्था अच्छी है? अथवा यह अच्छापन सापेक्ष है, और युगमानसे उसमें कुछ फेरफार हो सकता है या नहीं? – इत्यादि अनेक प्रश्न यहाँ उठते हैं; और आजकल तो पश्चिमी देशोंमें ‘लोकसंग्रह’ एक महत्त्वका शास्त्र बन गया है। परंतु गीताका तात्पर्य-निर्णयही हमारा प्रस्तुत विषय है, इसलिये यहाँ उन प्रश्नोंपर विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह बात निर्विवाद है, कि गीताके समयमें चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्था अनिवार्य रूपसे प्रचलित थी; और मूलतः ‘लोकसंग्रह’ करनेके हेतुसेही वह प्रवृत्ति की गई थी। इसलिये यही बात मुख्यतः यहाँ बतलानी है। गीताके ‘लोकसंग्रह’ पदका अर्थ यही होता है, कि लोगोंको प्रत्यक्ष दिखला दिया जावे, कि चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्थाके अनुसार प्राप्त अपने कर्म निष्काम बुद्धिसे किस प्रकार करने चाहिये? ज्ञानी पुरुष समाजके न केवल नेत्रही हैं; वरन् गुरुभी हैं। इससे आप-ही-आप सिद्ध हो जाता है, कि उपर्युक्त प्रकारका लोकसंग्रह करनेके लिये, उन्हें अपने समयकी समाज-व्यवस्थामें यदि कोई न्यूनता जँचे, तो वे उसे श्वेतकेतुके समान देशकालानुरूप परिमार्जित करें; और सनमाजके धारण तथा पोषण शक्तिकी रक्षा करते हुए उसको उन्नतावस्थामें ले जानेका प्रयत्न करते रहें। इसी प्रकारका लोकसंग्रह करनेके लिये राजा जनक संन्यास न लेकर जीवनपर्यंत राज्य करते रहे; और मनुने पहला राजा बनना स्वीकार किया। एवं इसी कारणसे “स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि” (गीता २. ३१) – स्वधर्मके अनुसार जो कर्म प्राप्त हं, उनके लिये रोना तुझे उचित नहीं – अथवा “स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति

किल्बिषम् " (गीता १८. ४७) – स्वभाव और गुणोंके अनुरूप निश्चित चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके अनुसार नियमित कर्म करनेसे तुझे कोई पाप नहीं लगेगा – इत्यादि प्रकारसे चातुर्वर्ण्य कर्मके अनुसार प्राप्त युद्धको करनेके लिये गीतामें अर्जुनको बार-बार उपदेश किया गया है। यह कोईभी नहीं कहता, कि परमेश्वरका यथाशक्ति ज्ञान प्राप्त न करो। गीताकाभी सिद्धान्त है, कि इस ज्ञानको संपादन करनाही मनुष्यका इस जगद्में इतिकर्तव्य है। परंतु इससे आगे बढ़कर गीताका विशेष कथन यह है, कि अपने आत्माके कल्याणमेंही समाष्टिरूप आत्माके कल्याणार्थ यथाशक्ति प्रयत्न करनेकाभी समावेश होता है, इसलिये लोकसंग्रह करनाही ब्रह्मात्मैक्यज्ञानका सच्चा पर्यवसान है। तथापि यह बात नहीं, कि किसी पुरुष केवल ब्रह्मज्ञानी होनेसेही सब प्रकारके व्यावहारिक व्यापार अपनेही हाथसे कर डालने योग्य हो जाता हो। भीष्म और व्यास, दोनों महाज्ञानी और परम भगवद्भक्त थे। परंतु यह कोई नहीं कहता, कि भीष्मके समान व्यासनेभी लड़ाईका काम किया होता। अथवा देवताओंकी ओर देखें, तो वहाँभी संसारके संहार करनेका काम शंकरके बदले विष्णुको सौंपा हुआ नहीं दीख पड़ता। मनकी निर्विषयताकी, सम और शुद्ध बुद्धिकी तथा आध्यात्मिक उन्नतिकी अंतिम सीढ़ी जीवन्मुक्तावस्था है, वह आधिभौतिक उद्योगोंकी दक्षताकी परीक्षा नहीं है। गीताके इसी प्रकरणमें यह विशेष उपदेश दुबारा किया गया है, कि स्वभाव और गुणोंके अनुरूप प्रचलित चातुर्वर्ण्य आदि व्यवस्थाओंके अनुसार जिस कर्मको हम जीवनभर करते चले आ रहे हैं, स्वभावके अनुसार उसी कर्म अथवा व्यवसायको ज्ञानोत्तरभी ज्ञानी पुरुष लोकसंग्रहके निमित्त करता रहे; क्योंकि उसीमें उसके निपुण होनेकी संभावना है। यदि वह कोई औरही व्यापार करने लगेगा, तो उससे समाजकी हानि होगी (गीता ३. ३५; १८. ४७)। प्रत्येक मनुष्यमें ईश्वरनिर्मित प्रकृति, स्वभाव और गुणोंके अनुरूप जो भिन्न भिन्न प्रकारकी योग्यता होती है, उसेही अधिकार कहते हैं। और वेदान्तसूत्रमें कहा है, कि " इस अधिकारके अनुसार प्राप्त कर्मोंको, पुरुष ब्रह्मज्ञानी हो जानेपर भी, लोकसंग्रहार्थ मरणपर्यंत करता जावे, छोड़ न दे – यावदधिकारमवस्थितिरधिकारिणाम् " (वे. सू. ३. ३. ३२)। कुछ लोगोंका कथन है, कि वेदान्तसूत्रकर्ताकी यह उपपत्ति केवल बड़े अधिकारी पुरुषोंकोही उपयोगी है; और इस सूत्रके भाष्यमें उसके समर्थनार्थ जो उदाहरण दिये गये हैं, उनसे जान पड़ेगा, कि वे सभी उदाहरण व्यास प्रभृति बड़े बड़े अधिकारी पुरुषोंकेही हैं। परंतु मूल-सूत्रमें अधिकारकी छुटाई-बड़ाईके संबंधमें कुछभी उल्लेख नहीं है, इससे 'अधिकार' शब्दका मतलब छोटे-बड़े सभी अधिकारोंसे है। और यदि इस बातका सूक्ष्म तथा स्वतंत्र विचार करें, कि ये अधिकार किसको और किस प्रकार प्राप्त होते हैं, तो ज्ञात होगा, कि मनुष्यके साथही समाज और समाजके साथही मनुष्यको परमेश्वरने उत्पन्न किया है, इसलिये जिसे जितना बुद्धिबल, सत्ताबल, द्रव्यबल या शरीरबल स्वभावसेही हो अथवा स्वधर्मसे प्राप्त कर लिया जा सके,

उसी हिसावसे यथाशक्ति संसारके धारण और पोषण करनेका थोड़ा-बहुत अधिकार – चातुर्वर्ण्य आदि अथवा अन्य गुण और कर्मविभागरूप सामाजिक व्यवस्थासे – प्रत्येकको जन्मसेही प्राप्त रहता है। किसी कलको, अच्छी रीतिसे चलानेके लिये बड़े चक्केके समानही, जिस प्रकार छोटे-से पहियेकीभी आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार समस्त संसारकी अपार घटनाओं अथवा कार्योंके सिलसिलेको व्यवस्थित चलाते रखनेके लिये व्यास आदिकोंके बड़े अधिकारके समानही इस बातकीभी आवश्यकता है, कि अन्य मनुष्योंके छोटे अधिकारभी पूर्ण और योग्य रीतिसे अमलमें लाये जावें। क्योंकि, यदि कुम्हार घड़े और जुलाहा कपडे तैयार न करेगा, तो राजाके द्वारा योग्य रक्षण होनेपरभी लोकसंग्रहका काम पूरा न हो सकेगा; अथवा यदि रेलका कोई सामान्य झंडीवाला या पाइंट्समन अपना कर्तव्य न करे, तो जो रेल-गाडी आजकल वायुकी चालसे रात-दिन बेखटके दौड़ा करती है, वह फिर ऐसा न कर सकेगी। अतः वेदान्तसूत्रकर्ताकी उल्लिखित युक्ति-प्रयुक्तियोंसेही अब यह निष्पन्न हुआ, कि व्यास प्रभृति बड़े बड़े अधिकारियोंकोही नहीं; प्रत्युत अन्य पुरुषों-कोभी – फिर चाहे वह राजा हो या रंक – लोकसंग्रह करनेके लिये जो छोटेबड़े अधिकार यथान्याय प्राप्त हुए हैं, उनको ज्ञानके पश्चात्‌भी छोड़ नहीं देना चाहिये; किंतु उन्हीं अधिकारोंको निष्काम बुद्धिसे अपना कर्तव्य समझ यथाशक्ति, यथामति और यथासंभव जीवनपर्यंत करते जाना चाहिये। यह कहना ठीक नहीं, कि मैं न सही, तो कोई दूसरा उस कामको करेगा। क्योंकि ऐसा करनेसे संपूर्ण कामके लिये जितने पुरुषोंकी आवश्यकता है, उनमेंसे एक घट जाता है और संघशक्ति कमही नहीं हो जाती; बल्कि ज्ञानी पुरुष उसे जितनी अच्छी रीति करेगा, उतनी अच्छी रीतिसे औरोंके द्वारा उसका होना शक्य नहीं; फलतः इस हिसाबसे लोकसंग्रहभी अधूरा रह जाता है। इसके अतिरिक्त यह कह चुके आये हैं, कि ज्ञानी पुरुषके कर्म-त्यागरूपी उदाहरणसे लोगोंकी बुद्धिभी बिगड़ती है। कभी कभी संन्यास-मार्गवाले कहा करते हैं, कि कर्मसे चित्तकी शुद्धि जानेके पश्चात् केवल अपने आत्माकी मोक्षप्राप्तिसेही संतुष्ट रहना चाहिये, संसारका नाश भलेही हो जावे; पर उसकी कुछ परवाह नहीं करनी चाहिये – "लोकसंग्रहधर्मं च नैव कुर्यान्न कारयेत्" न तो लोकसंग्रह करे और न करावे (मभा. अश्व. अनुगीता ४६. ३९) परंतु ये लोक व्यासप्रमुख महात्माओंके व्यवहारकी जो उपपत्ति बतलाते हैं, उससे – और वसिष्ठ एवं पंचशिख प्रभृतिने राम तथा जनक आदिको अपने अपने अधिकारके अनुसार समाजके धारण-पोषण इत्यादिके कामही मरणपर्यंत करनेके लिये जो कहा है, उससे – यही प्रकट होता है, कि कर्म छोड़ देनेका संन्यास-मार्गवालोंका उपदेश एकदेशीय है – सर्वथा सिद्ध होनेवाला शास्त्रीय सत्य नहीं। अतएव कहना चाहिये, कि ऐसे एकपक्षीय उपदेशकी ओर ध्यान देकर, स्वयं भगवानकेही उदाहरणके अनुसार ज्ञानप्राप्तिके पश्चात्‌भी अपने अधि-कारको परखकर, तदनुसार लोकसंग्रहकारक कर्म जीवनभर करते जानाही शास्त्रोक्त

और उत्तम मार्ग है। तथापि यह लोकसंग्रहभी फलाशा रखकर न करें। क्योंकि, लोकसंग्रहकीही क्यों न हो, पर फलाशा रखनेसे कर्म यदि निष्फल हो जाय, तो दुःख हुए बिना न रहेगा। इसीसे मैं लोकसंग्रह करूँगा इस अभिमान या फलाशाकी बुद्धिको मनमें न रखकर लोकसंग्रहभी केवल कर्तव्य बुद्धिसेही करना पड़ता है। इसलिये गीतामें यह नहीं कहा, कि 'लोकसंग्रहार्थ' अर्थात् लोकसंग्रहस्वरूप फल पानेके लिये तुझे कर्म करने चाहिये। किंतु यह कहा है, कि लोकसंग्रहकी ओर दृष्टि देकर (संपश्यन्) तुझे कर्म करने चाहिये – "लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्" (गीता ३. २०)। इस प्रकार गीतामें जो जरा लंबी-चौड़ी शब्दयोजना की गई है, उसका रहस्यभी वही है; जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। लोकसंग्रह सचमुच महत्त्वपूर्ण कर्तव्य हैही; पर यह न भूलना चाहिये, कि इसके पहले श्लोकमें (गीता ३. १९) अनासक्त बुद्धिसे कर्म करनेका भगवानने अर्जनको जो उपदेश दिया है, वह लोकसंग्रहके लियेभी उपयुक्त है।

ज्ञान और कर्मका जो विरोध है, वह ज्ञान और काम्य-कर्मोंका है। ज्ञान और निष्काम कर्मोंमें आध्यात्मिक दृष्टिसेभी कुछ विरोध नहीं है। कर्म अपरिहार्य हैं; और लोकसंग्रहकी दृष्टिसे उनकी आवश्यकताभी बहुत है, इसलिये ज्ञानी पुरुषको, जीवनपर्यंत निस्संग बुद्धिसे यथाधिकार चातुर्वर्ण्यके कर्मही करते रहना चाहिये – यही बात शास्त्रीय युक्ति-प्रयुक्तियोंसे सिद्ध है और यदि गीताकाभी यही इत्यर्थ है, तो मनमें यह शंका सहजही होती है, कि वैदिक धर्मके स्मृति-ग्रंथोंमें वर्णित चार आश्रमोंमेंसे संन्यास आश्रमकी क्या दशा होगी ? मनु आदि सब स्मृतियोंमें ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी – ये चार आश्रम बतलाकर कहा है, कि अध्ययन, यज्ञयाग, दान या चातुर्वर्ण्य-धर्मके अनुसार प्राप्त अन्य कर्मोंके शास्त्रोक्त आचरण द्वारा पहले तीन आश्रमोंमें धीरे धीरे चित्तकी शुद्धि हो जानेपर अंतमें समस्त कर्मोंको स्वरूपतः छोड़ देना चाहिये, तथा संन्यास लेकर मोक्ष प्राप्त करना चाहिये (मनु. ६. १, ३३–३७)। इससे सब स्मृतिकारोंका यह अभिप्राय प्रकट होता है, कि यज्ञयाग और दान प्रभृति कर्म गृहस्थाश्रममें यद्यपि विहित हैं, तथापि वे सर्व चित्तकी शुद्धिके लिये हैं – अर्थात् उनका यही उद्देश्य है, कि विषयासक्ति या स्वार्थपरायण बुद्धि छूटकर परोपकार-बुद्धि इतनी बढ़ जावे, कि सब प्राणियोंमें एकही आत्माको पहचाननेकी शक्ति प्राप्त हो जाय; और यह स्थिति प्राप्त होनेपर, मोक्षकी प्राप्तिके लिये अंतमें सब कर्मोंका स्वरूपतः त्यागकर संन्यासाश्रमही लेना चाहिये। श्रीशंकराचार्यने कलियुगमें जिस संन्यास-धर्मकी स्थापना की, वह मार्ग यही है; और स्मार्त-मार्गवाले कालिदासनेभी रघुवंशके आरंभमें –

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

"बालपनमें अभ्यास (ब्रह्मचर्य) करनेवाले, तरुणावस्थामें विषयोपभोगरूपी संसार

(गृहस्थाश्रम) करनेवाले, उतरती अवस्थामें मुनिवृत्तिसे या वानप्रस्थ धर्मसे रहनेवाले और अंतमें (पातंजल) योगसे संन्यास-धर्मके अनुसार ब्रह्मांडमें आत्माको ले जाकर प्राण छोड़नेवाले " – ऐसा सूर्यवंशके पराक्रमी राजाओंका वर्णन किया है (रघु. १. ८) । ऐसेही महाभारतके शुकानुप्रश्नमें यह कहकर कि –

चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता ।
एतामारुह्य निःश्रेणीं ब्रह्मलोके महीयते ।।

" (चार आश्रमरूपी) चार सीढ़ियोंका यह जीना अंतमें ब्रह्मपदको जा पहुँचा है । इस जीनेसे ऊपर – अर्थात् एक आश्रमसे ऊपरके दूसरे आश्रममें – इस प्रकार चढ़ते जानेपर, अंतमें मनुष्य ब्रह्मलोकमें बड़प्पन पाता है " (शां. २४१. १५); आगे इस क्रमका वर्णन किया है :–

कषायं पाचयित्वाशु श्रेणिस्थानेषु च त्रिषु ।
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम् ।।

" इस जीनेकी तीन सीढ़ियोंमें मनुष्यको अपने किल्मिष (पाप) का अर्थात् स्वार्थ-परायण आत्मबुद्धिका अथवा विषयासक्तिरूप दोषका शीघ्रही क्षय करके फिर संन्यास लेना चाहिये । पारिव्राज्य अर्थात् संन्यासही सबसे श्रेष्ठ स्थान है " (मभा. शां. २४४. ३) । एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें जानेका यही सिलसिला मनुस्मृतिमेंभी दिया है (मनु. ६. ३४)। परंतु यह बात मनुके ध्यानमें अच्छी तरह आ गई थी, कि इनमेंसे अंतिम अर्थात् संन्यास आश्रमकी ओर लोगोंकी आवश्यकतासे अधिक प्रवृत्ति होनेसे संसारका कर्तृत्व नष्ट हो जायगा; और समाजभी पंगु हो जायगा । इसीसे मनुने स्पष्ट मर्यादा बना दी है, कि पूर्वाश्रममें गृह-धर्मके अनुसार पराक्रम और लोकसंग्रहके सब कर्म अवश्य करने चाहिये; उसके पश्चात् –

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ।।

" जब शरीरमें झुर्रियाँ पड़ने लगें; और नाती-पोतोंका मुँह दीख पड़े; तब गृहस्थ वानप्रस्थ होकर संन्यास ले लें " (मनु. ६. २) । इस मर्यादाका पालन इसलिये करना चाहिये, क्योंकि मनुस्मृतिमेंही लिखा है, कि प्रत्येक मनुष्य जन्मके साथही अपनी पीठपर ऋषियों, पितरों और देवताओंके (तीन) ऋण (कर्तव्य) लेकर उत्पन्न हुआ है । इसलिये वेदाध्ययनसे ऋषियोंका, पुत्रोत्पादनसे पितरोंका और यज्ञकर्मोंसे देवताओंका – इस प्रकार, पहले इन तीनों ऋणोंको चुकाये बिना मनुष्य संसार छोड़कर संन्यास नहीं ले सकता । यदि वह ऐसा न करेगा, तो जन्मसेही पाये हुए उपर्युक्त ऋणोंको चुकता न करनेके कारण वह अधोगतिको पहुँचेगा (मनु. ६. ३५–३७ और पिछले प्रकरणका तै. सं. मंत्र देखो) । प्राचीन हिंदु-धर्मशास्त्रके अनुसार बापका कर्ज नियत समयके गुजर जानेका कारण न बतलाकर बेटे या

नातीकोभी चुकाना पड़ता था और किसीका कर्ज चुकानेसे पहलेही मर जानेमें बड़ी दुर्गति मानी जाती थी; इस बातपर ध्यान देनेसे पाठक सहजही जान जायँगे, कि जन्मसेही प्राप्त और उल्लिखित महत्त्वके सामाजिक कर्तव्योंको 'ऋण' कहनेमें हमारे शास्त्रकारोंका क्या हेतु था। कालिदासने रघुवंशमें कहा है, कि स्मृति-कारोंकी बतलाई हुई इस मर्यादाके अनुसार सूर्यवंशी राजा लोग चलते थे, और जब बेटा राज करने समर्थ हो जाता, तब उसे गद्दीपर बिठला कर, फिर (पहलेसेही नहीं) स्वयं गृहस्थाश्रमसे निवृत्त होते थे (रघु. ७. ६८)। भागवतमें लिखा है, कि उक्त नियमका पालन न करके, पहले दक्ष प्रजापतिके हर्यश्वसंज्ञक पुत्रोंको और फिर शबलाश्वसंज्ञक दूसरे, अनेक पुत्रोंकोभी, उनके विवाहसे पहलेही, नारदने निवृत्तिमार्गका उपदेश देकर भिक्षु बना डाला; इससे इस अशास्त्र और गर्ह्य व्यवहारके कारण नारदकी निर्भर्त्सना करके दक्ष प्रजा-पतिने उन्हें शाप दिया (भा ६. ५. ३५–४२)। इससे ज्ञात होता है, कि इस आश्रम-व्यवस्थाका मूल हेतु यह था, कि अपना गार्हस्थ्यजीवन यथाशास्त्र पूरा कर लड़कोंके गृहस्थी चलानेयोग्य सयाने हो जानेपर या, बुढ़ापेके निरर्थक हस्त-क्षेपसे उनकी उमंगके आड़े न आ, निरे मोक्षपरायण हो मनुष्य स्वयं आनंदपूर्वक संसारसे निवृत्त हो जावे। इसी हेतुसे विदुरनीतिमें धृतराष्ट्रसे विदुरने कहा है :–

उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय कांचित्।
स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा अरण्यसंस्थोऽथ मुनिर्बुभूषेत्॥

"गृहस्थाश्रममें पुत्र उत्पन्न कर, उनके लिये कोई ऋण न रख छोड़े और उनकी जीविकाके लिये कुछ थोड़ा-सा प्रबंध कर तथा सब लड़कियोंके योग्य रीतेसे विवाह करा देनेपर, वानप्रस्थ हो संन्यास लेनेकी इच्छा करे" (मभा. उ. ३६. ३९)। आजकल हमारे यहाँ साधारण लोगोंकी संसार-संबंधी समझभी प्रायः विदुरके कथना-नुसारही है। तोभी, कभी-न-कभी तो संसारको छोड़ संन्यास लेनाही मनुष्यमात्रका परम साध्य माननेके कारण, संसारके व्यवहारोंकी सिद्धिके लिये स्मृतिप्रणेताओंने जान-बुझकर जो पहले तीन आश्रमोंकी श्रेयस्कर मर्यादा कर दी थी, वह धीरे धीरे छूटने लगी; और यहाँतक स्थिति आ पहुँची, कि यदि किसीको पैदा होतेही अथवा अल्प अवस्था मेंही ज्ञानकी प्राप्ति हो जावे, तो उसे इन तीन सीढ़ियोंपर चढ़नेकी कोई आवश्यकता नहीं रही, वह एकदम संन्यास ले ले, तो कोई हानि नहीं – "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा" (जाबा. ४)! इसी अभिप्रायसे महाभारतके गोकापिलीय संवादमें कपिलने स्यूमरश्मिसे कहा है :–

शरीरपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः।
कषाये कर्मभिः पक्वे रसज्ञाने च तिष्ठति॥ *

---

* वेदान्तसूत्रोंपर जो शांकरभाष्य है (शां. भा. ३. ४. २६), उससे यह श्लोक

"सारे कर्म शरीरके (विषयासक्तिरूप) रोग निकाल फेकनेके लिये हैं और ज्ञानही सबसे उत्तम और अंतिम गति है। जब कर्मोंसे शरीरका कषाय अथवा अज्ञानरूपी रोग नष्ट हो जाते हैं, तब रसज्ञानकी चाह उपजती है" (शां. २६९. ३८)। इसी प्रकार मोक्ष-धर्ममें पिंगला गीतामेंभी कहा है, कि "नैराश्यं परमं सुखम्" अथवा "योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्" – तृष्णारूप प्राणांतक रोग छूटे बिना सुख नहीं है (शां. १७४. ६५, ५८)। जाबाल और बृहदारण्यक उपनिषदोंके वचनोंके अतिरिक्त कैवल्य और नारायणोपनिषदमें वर्णन है, कि "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।" – कर्मसे, प्रजासे अथवा धनसे नहीं, किंतु त्यागसे (या न्यायसे) कुछ पुरुष मोक्ष प्राप्त करते हैं (कै. १. २; नारा. उ. १२. ३, ७८)। यदि गीताका यह सिद्धान्त है, कि ज्ञानी पुरुषकोभी अंततक कर्मही करते रहना चाहिये, तो अब बतलाना चाहिये, कि इन वचनोंकी व्यवस्था कैसे लगाई जावे? इस शंकाके होनेसेही अर्जुनने अठारहवें अध्यायके आरंभमें भगवानसे पूछा है, कि "तो अब मुझे अलग अलग बतलाइये, कि संन्यासके माने क्या हैं? और त्यागसे क्या समझूँ?" (गीता १८. १)। यह देखनेके पहले, कि भगवानने इस प्रश्नका क्या उत्तर दिया, स्मृति-ग्रंथोंमें प्रतिपादित इस आश्रम-मार्गके अतिरिक्त एक दूसरे तुल्यबल वैदिक मार्गकाभी यहाँपर थोड़ा-सा विचार करना आवश्यक है।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और अंतमें संन्यासी, इस प्रकार आश्रमोंकी इन चार चढ़ती हुई सीढ़ियोंके जीनेकोही 'स्मार्त' अर्थात् "स्मृतिकारोंका प्रतिपादन किया हुआ मार्ग" कहते हैं। 'कर्म कर' और 'कर्म छोड़' – वेदकी ऐसी जो दो प्रकारकी परस्पर-विरुद्ध आज्ञाएँ हैं, उनकी एकवाक्यता दिखलानेके लिये आयुके भेदके अनुसार आश्रमोंकी यह व्यवस्था स्मृतिकर्ताओंने की है, और कर्मोंके स्वरूपतः संन्यासहीको यदि अंतिम ध्येय मान लें, तो उस ध्येयकी सिद्धिके लिये, स्मृतिकारोंके निर्दिष्ट किये हुए आयु बितानेके चार सीढ़ियोंवाले इस आश्रम-मार्गको साधनरूप समझकर अनुचित नहीं कह सकते। आयुष्य बितानेके लिये इस प्रकारकी चढ़ती हुई सीढ़ियोंकी व्यवस्थासे संसारके व्यवहारका लोप न होकर, यद्यपि वैदिक कर्म और औपनिषदिक ज्ञानका मेल हो जाता है, तथापि अन्य तीनों आश्रमोंका अन्नदाता गृहस्थाश्रमही होनेके कारण मनुस्मृति और महाभारतमेंभी अंतमें उसकाही महत्त्व स्पष्टतया स्वीकृत हुआ है :–

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जंतवः।
एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमाः॥

लिया गया है। वहाँ इसका पाठ इस प्रकार है :– "कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः। कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते॥" महाभारतमें हमें यह श्लोक जैसे मिला है. हमने यहाँ वैसेही लिया है।

"माताके (पृथ्वीके) आश्रयसे जिस प्रकार सब जंतु जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थाश्रमके आसरे अन्य आश्रम हैं" (मभा. शां. २६८. ६; मनु. ३. ७७)। मनुने तो अन्यान्य आश्रमोंको नदियों और गृहस्थाश्रमको सागर कहा है (मनु. ६. ९०; मभा. शां. २९५. ३९)। जब गृहस्थाश्रमकी श्रेष्ठता इस प्रकार निर्विवाद है, तब कभी-न-कभी उसे छोड़कर 'कर्मसंन्यास' करनेका उपदेश देनेसे लाभही क्या है? क्या ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपरभी गृहस्थाश्रमके कर्म करना अशक्य है? नहीं। तो फिर इसका क्या अर्थ है, कि ज्ञानी पुरुष संसारसे निवृत्त हों? थोड़ी-बहुत स्वार्थ-बुद्धिसे बर्ताव करनेवाले साधारण लोगोंकी अपेक्षा निष्काम बुद्धिसे व्यवहार करनेवाले पूर्ण ज्ञानी पुरुष लोकसंग्रह करनेमें अधिक समर्थ और पात्र रहते हैं। अतः ज्ञानसे जब उनकी यह सामर्थ्य पूर्णावस्थाको पहुँचती है, तभी समाजको छोड़ जानेकी स्वतंत्रता ज्ञानी पुरुषोंको देनेसे, उस समाजकीही अत्यंत हानि हुआ करती है; जिसकी भलाईके लिये चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की गई है। शरीरसामर्थ्य न रहनेपरभी यदि कोई मनुष्य समाजको छोड़कर बनमें चला जावे, तो बात निराली है; अतः जान पड़ता है, कि संन्यास-आश्रमको बुढ़ापेकी मर्यादासे लपेटनेमें मनुका हेतुभी यही रहा होगा। परंतु, ऊपर कह चुके हैं, कि यह श्रेयस्कर मर्यादा आगे व्यवहारसे जाती रही। इसलिये 'कर्म कर' और 'कर्म छोड़' ऐसे द्विविध वेदवचनोंका मेल करनेके लियेही यदि स्मृतिकर्ताओंने आश्रमोंकी चढ़ती हुई श्रेणी बाँधी हो, तोभी इन भिन्न भिन्न वेदवाक्योंकी एकवाक्यता करनेका, स्मृतिकारोंकी बराबरीकाही – कदाचित् उनसेभी अधिक – निर्विवाद अधिकार जिन भगवान् श्रीकृष्णको है, उन्हींने जनक प्रभृतिके प्राचीन ज्ञानकर्म-समुच्चयात्मक मार्गका भागवत-धर्मके नामसे पुनरुज्जीवन और पूर्ण समर्थन किया है। दोनोंमें भेद यही है, कि भागवत-धर्ममें केवल अध्यात्म-विचारोंपरही निर्भर न रहकर वासुदेव-भक्तिरूपी सुलभ साधनोंकोभी उसमें मिला दिया है। इस विषयपर आगे तेरहवें प्रकरणमें विस्तारपूर्वक विवेचन किया जावेगा। भागवत धर्म भक्तिप्रधान भलेही हो; पर उसमेंभी जनकके मार्गका यह महत्त्वपूर्ण तत्त्व विद्यमान है, कि परमेश्वरका ज्ञान पा चुकनेपर कर्मत्यागरूप संन्यास न लेकर केवल फलाशा छोड़कर ज्ञानी पुरुषकोभी लोकसंग्रहके निमित्त समस्त व्यवहार यावज्जीवन निष्काम बुद्धिसे करते रहना चाहिये; अतः कर्मदृष्टिसे ये दोनों मार्ग एक-से अर्थात् ज्ञानकर्म-समुच्चयात्मक या प्रवृत्ति-प्रधान होते हैं। साक्षात् परब्रह्मकेही अवतार – नर और नारायण ऋषि – इस प्रवृत्ति-प्रधान धर्मके प्रथम प्रवर्तक हैं; और इसीसे इस धर्मका प्राचीन नाम 'नारायणीय धर्म' है। ये दोनों ऋषि परम ज्ञानी थे; और लोगोंको निष्काम कर्म करनेका उपदेश देनेवाले तथा स्वयं निष्काम कर्म करनेवाले थे (मभा. उ. ४८. २१); और इसीसे महाभारतमें इस धर्मका वर्णन इस प्रकार किया गया है – "प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः" (मभा. शां. ३४७. ८१); अथवा "प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं

ऋषिर्नारायणोऽब्रवीत् " – नारायण ऋषिका आरंभ किया हुआ धर्म आमरणांत प्रवृत्ति-प्रधान है (मभा. शां. २१७. २)। भागवतमें स्पष्ट कहा है, कि यही सात्वत या भागवत धर्म है; और इस सात्वत या मूल भागवतधर्मका स्वरूप 'नैष्कर्म्यलक्षण' अर्थात् निष्काम प्रवृत्तिप्रधान था (भाग. १. ३. ८; ११. ४. ६)। अनुगीताके इस श्लोकसे – " प्रवृत्तिलक्षणो योगः ज्ञानं संन्यासलक्षणम् " – प्रकट होता है, कि इस प्रवृत्ति-मार्गकाही एक और नाम 'योग' था (मभा. अश्व. ४३. २५); और इसीसे नारायणके अवतार श्रीकृष्णने, नरके अवतार अर्जुनको गीतामें जिस धर्मका उपदेश दिया है, उसको गीतामेंही 'योग' कहा है। आजकल कुछ लोगोंकी समझ है, कि भागवत और स्मार्त, दोनों पंथ उपास्यभेदके कारण पहले उत्पन्न हुए थे; पर हमारे मतमें यह समझ ठीक नहीं है। क्योंकि इन दोनों मार्गोंके उपास्य भिन्न भलेही हों; किंतु उनका अध्यात्मज्ञान एकही है। और अध्यात्मज्ञानकी नींव एकही होनेसे, यह संभव नहीं, कि इस उदात्त ज्ञानमें पारंगत प्राचीन ज्ञानी पुरुष केवल उपास्यके भेदको लेकर झगड़ते रहे हों। इसी कारणसे भगवद्गीता (९. १४) एवं शिवगीता (१२. ४), दोनों ग्रंथोंमें कहा है, कि भक्ति किसीकीभी करो; पहुँचेगी वह एकही परमेश्वरको। और महाभारतके नारायणीय धर्ममें तो इन दोनों देवताओंका अभेद यों बतलाया गया है, कि नारायण और रुद्र एकही है और जो रुद्रके भक्त हैं, वेही नारायणके भक्त हैं; और जो रुद्रके द्वेषी हैं, वे नारायणकेभी द्वेषी हैं (मभा. शां. ३४१. २०–२६; ३४२. १२९)। हमारा यह कहना नहीं है, कि प्राचीन कालमें शैव और वैष्णवोंका भेदही न था। पर हमारे कथनका तात्पर्य यह है, कि स्मार्त और भागवत ये दोनों पंथ, शिव या विष्णुके उपास्य भेदभावके कारण भिन्न भिन्न नहीं हुए हैं; ज्ञानोत्तर निवृत्ति या प्रवृत्ति कर्म छोड़े या नहीं – केवल इसी महत्त्वके विषयमें मतभेद होनेसे ये दोनों पंथ प्रथम उत्पन्न हुए हैं। आगे कुछ समयके बाद जब मूल भागवत धर्मका यह प्रवृत्ति-मार्ग या कर्मयोग लुप्त हो गया; और उसेभी केवल विष्णु-भक्तिप्रधान अर्थात् अनेक अंशोंमें निवृत्ति-प्रधान आधुनिक स्वरूप प्राप्त हो गया, एवं इसीके कारण जब वृथाभिमानसे ऐसे झगड़े होने लगे, कि तेरा देवता 'शिव' है तो मेरा देवता 'विष्णु'; तब 'स्मार्त' और 'भागवत' शब्द क्रमशः 'शैव' और 'वैष्णव' शब्दोंके समानार्थक हो गये और अंतमे इन आधुनिक भागवत धर्मियोंका वेदान्त (द्वैत या विशिष्टाद्वैत) भिन्न हो गया; तथा वेदान्तके समानही ज्योतिष अर्थात् एकादशी और चंदन लगानेकी रीतितक स्मार्तमार्गसे निराली हो गई है। किंतु 'स्मार्त' शब्दसेही व्यक्त होता है, कि यह भेद सच्चा अर्थात् मूलका (पुराना) नहीं है। भागवत धर्म भगवानकाही प्रवृत्त किया हुआ है, इसलिये इसमें कोई आश्चर्य नहीं, कि इसका उपास्य देवभी श्रीकृष्ण या विष्णु है। परंतु 'स्मार्त' शब्दका धात्वर्थ 'स्मृत्युक्त' – केवल इतनाही – होनेके कारण यह नहीं कहा जा सकता, कि स्मार्त धर्मका उपास्यदेव शिवही होना चाहिये। क्योंकि मनु आदि प्राचीन

स्मृति-ग्रंथोंमें यह नियम कहींभी नहीं है, कि एक शिवकीही उपासना करनी चाहिये। इसके विपरीत, विष्णुकाही वर्णन अधिक पाया जाता है और कुछ स्थलोंपर तो गणपति प्रभृतिकोभी उपास्य बतलाया है। इसके सिवा शिव और विष्णु, दोनों देवता वैदिक हैं अर्थात् वेदमेंही इनका वर्णन किया गया है, इसलिये इनमेंसे एककोही स्मार्त कहना ठीक नहीं है। श्रीशंकराचार्य स्मार्त मतके पुरस्कर्ता कहे जाते हैं। पर शांकर मठमें उपास्य-देवता शारदा है और शांकरभाष्यमें जहाँ जहाँ प्रतिमा-पूजनका प्रसंग छिड़ा है, वहाँ वहाँ आचार्यने शिवलिंगका निर्देश न कर शालग्राम अर्थात् विष्णु-प्रतिमाकाही उल्लेख किया है (वे. सू. शां. भा. १. २. ७; १. ३. १४; ४. १. ३; छां. शां. भा. ८. १. १)। इसी प्रकार कहा जाता है, कि पंचदेवपूजाका प्रारंभभी पहले पहल शंकराचार्यनेही किया था। इन सब बातोंका विचार करनेसे यही सिद्ध होता है, कि केवल 'शिवभक्त' या 'विष्णुभक्त' इनपर ध्यान नहीं देना चाहिये। किंतु जिनकी दृष्टिसे स्मृति-ग्रंथोंमेंही पहले स्पष्ट रीतिसे वर्णित आश्रम-व्यवस्थाके अनुसार तरुण अवस्थामें यथाशास्त्र संसारके सब कार्य करनेपर बुढ़ापेमें समस्त कर्म छोड़ चतुर्थाश्रम या संन्यास लेनाही अंतिम साध्य था, वेही स्मार्त कहलाते थे और जो लोग भगवानके उपदेशानुसार यह समझते थे, कि ज्ञान एवं उज्ज्वल भगवद्भक्तिके साथ-ही-साथ मरणपर्यंत गृहस्थाश्रमकेही कार्य निष्काम बुद्धिसे करते रहना चाहिये, उन्हें **भागवत** कहते थे। इन दोनों शब्दोंके मूल अर्थ येही हैं; और इसीसे ये दोनों शब्द, सांख्य और योग अथवा संन्यास और कर्मयोगके क्रमशः समानार्थक होते हैं। भगवानके अवतारकृत्यसे कहो या ज्ञानयुक्त गार्हस्थ्य-धर्मके महत्त्वपर ध्यान देनेसे कहो; संन्यास-आश्रम लुप्त-सा हो गया था; और कलि-वर्ज्योंमें अर्थात् कलियुगमें जिन बातोंको शास्त्रने निषिद्ध माना है, उनमें संन्यासकी गिनती की गई थी।* फिर जैन और बौद्ध धर्मके प्रवर्तकोंने कापिलसांख्यके मतको स्वीकारकर, इस मतका विशेष प्रचार किया, कि संसारका त्यागकर संन्यास लिये-बिना मोक्ष नहीं मिलता। इतिहासमें प्रसिद्ध है, कि बुद्धने स्वयं तरुण अवस्थामेंही राजपाट, स्त्री और बाल-बच्चोंको छोड़कर संन्यास-दीक्षा ले ली थी। यद्यपि श्री-शंकराचार्यने जैन और बौद्ध मतोंका खंडन किया है, तथापि जैन और बौद्धोंने जिस संन्यास-धर्मका विशेष प्रचार किया था, उसेही श्रौत-स्मार्त संन्यास कहकर आचार्यने कायम रखा। और उससे उन्होंने गीताका इत्यर्थभी ऐसा निकाला, कि वही संन्यास-धर्म गीताका प्रतिपाद्य विषय है। परंतु वास्तवमें गीता स्मार्त-मार्गका ग्रंथ नहीं है

---

* निर्णयसिंधुके तृतीय परिच्छेदका कलिवर्ज्य प्रकरण देखो। इसमें "अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्। देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पंच विवर्जयेत्" और "संन्यासश्च न कर्तव्यो ब्राह्मणेन विजानता" इत्यादि स्मृतिवचन हैं। अर्थः अग्निहोत्र, गोवध, संन्यास, श्राद्धमें मांस-भक्षण और नियोग, कलियुगमें ये पांचों निषिद्ध हैं। इनमेंसे संन्यासका निषिद्धत्व श्रीशंकराचार्यने पीछसे निकाल डाला।

और यद्यपि सांख्य या संन्यास-मार्गसेही गीताका आरंभ हुआ है, तोभी आगे सिद्धान्त-पक्षमें प्रवृत्ति-प्रधान भागवत-धर्मही उसमें प्रतिपादित है, इस प्रकार यह स्वयं महा-भारतकारका वचन है, जो हम पहलेही प्रकरणमें दे चुके हैं। इन दोनों पंथोंके वैदिकही होनेके कारण सब अंशोंमें न सही; तो अनेक अंशोंमें दोनोंकी एकवाक्यता करना शक्य है। परंतु ऐसी एकवाक्यता करना एक बात है; और यह कहना दूसरी बात है, कि गीतामें संन्यास-मार्गही प्रतिपाद्य है और यदि कहीं कर्म-मार्गको मोक्षप्रद कहा हो, तो वह सिर्फ़ अर्थवाद या पोची स्तुति है। रुचिवैचित्र्यके कारण किसीको भागवत धर्मकी अपेक्षा स्मार्त-धर्मही बहुत प्यारा जँचेगा, अथवा कर्मसंन्यासके लिये जो कारण सामान्यतः बतलाये जाते हैं, वेही उसे अधिक बलवान् प्रतीत होंगे, नहीं कौन कहे ? उदाहरणार्थ, इसमें किसीको शंका नहीं, कि श्रीशंकराचार्यको स्मार्त या संन्यास-धर्मही मान्य था; अन्य सब मार्गोंको वे अज्ञानमूलक मानते थे। परंतु सिर्फ़ उसी कारणसे यह नहीं कहा जा सकता, कि गीताका भावार्थभी वही होना चाहिये। यदि तुम्हें गीताका सिद्धान्त मान्य नहीं है, तो कोई चिंता नहीं, उसे न मानो। परंतु उससे गीताके आरंभमें जो कहा है, कि "इस संसारमें आयु बितानेके दो प्रकारके स्वतंत्र मोक्षप्रद मार्ग अथवा निष्ठाएँ हैं" उसका ऐसा अर्थ करना उचित नहीं है कि "संन्यास-निष्ठाही एकमात्र सच्चा और श्रेष्ठ मार्ग है।" गीतामें वर्णित ये दोनों मार्ग, वैदिक धर्ममें, जनक और याज्ञवल्क्यके पहलेसेही स्वतंत्र रीतिसे चले आ रहे हैं। पता लगता है, कि जनकके समान समाजके धारण और पोषण करनेके अधिकार क्षात्र-धर्मके अनुसार, वंशपरंपरासे या अपनी सामर्थ्यसे जिनको प्राप्त हो जाते थे, वे ज्ञानप्राप्तिके पश्चातभी निष्काम बुद्धिसे अपने काम जारी रखकर जगत्का कल्याण करनेमेंही अपनी सारी आयु लगा देते थे। समाजके इस अधिकारपर ध्यान देकरही महाभारतमें अधिकार-भेदसे दुहरा वर्णन आया है, कि "सुखं जीवन्ति मुनयो भैक्ष्यवृत्तिं समाश्रिताः" (शां. १७८. ११) – जंगलोंमें रहनेवाले मुनि आनंदसे भिक्षावृत्तिको स्वीकार करते हैं – और "दंड एव हि राजेंद्र क्षात्रधर्मो न मुण्डनम्" (मभा. शां. २३. ४६) – दंडसे लोगोंका धारण-पोषण करनाही क्षत्रियका धर्म है; मुंडन करा लेना नहीं। परंतु इससे यहभी न समझ लेना चाहिये, कि सिर्फ़ प्रजापालनके अधिकारी क्षत्रियोंकोही, उनके अधिकारके कारण, कर्मयोग विहित था। कर्मयोगके उल्लिखित वचनका ठीक भावार्थ यह है, कि जो जिस कर्मके करनेका अधिकारी हो, वह ज्ञानके पश्चातभी उस कर्मको करता रहे; और इसी कारणसे महाभारतमें कहा है, कि "एषा पूर्वतरा वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते" (शां. २३७) – ज्ञानके पश्चात् ब्राह्मणभी अपने अधिकारानुसार यज्ञ-याग आदि कर्म प्राचीन कालमें जारी रखते थे। मनुस्मृतिमेंभी संन्यास आश्रमके बदले सब वर्णोंके लिये वैदिक कर्मयोगही विकल्पसे विहित माना गया है (मनु. ६. ८६–९६)। इसी तरह यह कहीं नहीं लिखा है, कि भागवतधर्म केवल क्षत्रियों-

केही लिये है; प्रत्युत उसकी महत्ता यह कहकर गाई है, कि स्त्री और शूद्र आदि सब लोगोंको वह सुलभ है (गीता ९. ३२)। महाभारतमेंभी ऐसी कथाएँ हैं, कि तुलाधार (वैश्य) और व्याध (बहेलिया) इसी धर्मका आचरण करते थे; और उन्होंने ब्राह्मणोंकोभी उसका उपदेश किया था (मभा. शां. २६१; वन. २१५)। निष्काम कर्मयोगका आचरण करनेवाले प्रमुख पुरुषोंके जो उदाहरण भागवत धर्म-ग्रंथोंमें दिये जाते हैं, वे केवल जनक-श्रीकृष्ण आदि क्षत्रियोंकेही नहीं हैं; प्रत्युत उनमें वसिष्ठ, जैगीषव्य और व्यास प्रभृति ज्ञानी ब्राह्मणोंकाभी समावेश रहता है।

यह न भूलना चाहिये, कि यद्यपि गीतामें कर्ममार्गही प्रतिपाद्य है, तोभी निरे कर्म अर्थात् ज्ञानरहित कर्म करनेके मार्गको गीता मोक्षप्रद नहीं मानती। ज्ञानरहित कर्म करनेकेभी दो भेद हैं। एक तो दंभसे या आसुरी बुद्धिसे कर्म करना और दूसरा श्रद्धासे। इनमेंसे दंभके मार्ग या आसुरी मार्गको केवल गीतानेही नहीं (गीता १६. १६; १७. २८) तो मीमांसकोंनेभी गर्ह्य तथा नरकप्रद माना है; एवं ऋग्वेदमेंभी अनेक स्थलोंपर श्रद्धाकी महत्ता वर्णित है (ऋ. १०. १५१; ९. ११३. २; २. १२. ५)। परंतु दूसरे मार्गके विषयमें – अर्थात् ज्ञान-व्यतिरिक्त किंतु शास्त्रोंपर श्रद्धा रखकर कर्म करनेके मार्गके विषयमें – मीमांसकोंका कहना है, कि परमेश्वरके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान न हो; तोभी शास्त्रोंपर विश्वास रखकर केवल श्रद्धापूर्वक यज्ञयाग आदि कर्म मरणपर्यंत करते जानेसे अंतमें मोक्षही मिलता है। पिछले प्रकरण-में कह चुके हैं, कि कर्मकांडरूपसे मीमांसकोंका यह मार्ग बहुत प्राचीन कालसे चला आ रहा है। वेदसंहिता और ब्राह्मणोंमें यह कहींभी नहीं कहा गया है, कि संन्यास आश्रम आवश्यक है; उलटे जैमिनीने वेदोंका यही स्पष्ट मत बतलाया है, कि गृहस्थाश्रममें रहनेसेही मोक्ष मिलता है (वे. सू. ३. ४. १७–२०) और उसका यह कथन निराधारभी नहीं है। क्योंकि कर्मकांडके इस प्राचीन मार्गको गौण माननेका आरंभ उपनिषदोंमेंही पहले पहल देखा जाता है। यद्यपि उपनिषद् वैदिक हैं, तथापि उनके विषय-प्रतिपादनसे प्रकट होता है, कि वे संहिता और ब्राह्मणोंके पीछेके हैं, इसके माने यह नहीं, कि उसके पहले परमेश्वरका ज्ञान हुआही न था। हाँ, उप-निषत्कालमेंही यह मत पहले पहल अमलमें अवश्य आने लगा, कि मोक्ष पानेके लिये ज्ञानके पश्चात् वैराग्यसे कर्मसंन्यास करना चाहिये और उसके पश्चात् संहिता एवं ब्राह्मणोंमें वर्णित कर्मकांडको गौणत्व आ गया। उसके पहले कर्मही प्रधान माना जाता था। उपनिषत्कालमें वैराग्ययुक्त ज्ञान अर्थात् संन्यासकी इस प्रकार जीत होने लगनेपर यज्ञयाग प्रभृति कर्मोंकी ओर या चातुर्वर्ण्य धर्मकी ओरभी ज्ञानी पुरुष योंही दुर्लक्ष करने लगे; और तभीसे यह समझ मंद होने लगी, कि लोकसंग्रह करना हमारा कर्तव्य है। स्मृति-प्रणेताओंने अपने अपने ग्रंथोंमें यह कहकर, कि गृहस्थाश्रममें यज्ञयाग आदि श्रौत या चातुर्वर्ण्यके स्मार्त कर्म करनेही चाहिये, गृहस्था-श्रमकी बड़ाई गाई है सही; परंतु स्मृतिकारोंके मतमें और अंतमेंभी वैराग्य, संन्यास

आश्रमही श्रेष्ठ माना गया है, इसलिये उपनिषदोंके ज्ञानप्रवाहसे कर्मकांडको जो गौणता प्राप्त हो गई थी, उसको हटानेकी सामर्थ्य स्मृतिकारोंकी आश्रम-व्यवस्थामें नहीं रह सकती थी। ऐसी अवस्थामें ज्ञानकांड और कर्मकांडमेंसे किसीकोभी गौण न कहकर भक्तिके साथ इन दोनोंका मेलकर देनेके लिये गीताकी प्रवृत्ति हुई है। उपनिषत्-प्रणेताओंके ये सिद्धान्त गीताको मान्य हैं, कि ज्ञानके बिना मोक्षप्राप्ति नहीं होती; और यज्ञ-याग आदि कर्मोंसे, यदि बहुत हुआ तो, स्वर्गप्राप्ति हो जाती है (मुंड. १. २. १०; गीता २. ४१–४५)। परंतु गीताका यहभी सिद्धान्त है, कि सृष्टिक्रमको जारी रखनेके लिये यज्ञ अथवा कर्मके चक्रकोभी कायम रखना चाहिये – कर्मोंको कभीभी छोड़ देना निरा पागलपन या मूर्खता है। इसलिये गीताका उपदेश है, कि यज्ञयाग आदि श्रौत कर्म अथवा चातुर्वर्ण्य आदि व्यावहारिक कर्म अज्ञानपूर्वक श्रद्धासे न करके ज्ञान-वैराग्ययुक्त बुद्धिसे केवल कर्तव्य समझकर करो। इससे यज्ञचक्रभी नहीं बिगड़ने पायेगा; और तुम्हारे किये हुए कर्म मोक्षके आड़ेभी नहीं आवेंगे। कहना नहीं होगा, कि ज्ञानकांड और कर्मकांडका (संन्यास और कर्म) मेल मिलानेकी गीताकी यह शैली स्मृति-कर्ताओंकी अपेक्षा अधिक सरस है। क्योंकि व्यष्टिरूप आत्माका कल्याण यत्किंचितभी न घटाकर उसके साथ सृष्टिके समष्टिरूप आत्माका कल्याणभी गीता-मार्गसे साधा जाता है। मीमांसक कहते हैं, कि कर्म अनादि और वेदप्रतिपादित हैं, इसलिये ज्ञान न हो, तोभी कर्म श्रद्धासे करनेही चाहिये। कितनेही (सब नहीं) उपनिषत्प्रणेता कर्मोंको गौण मानते हैं और यह कहते हैं – या यह माननेमें कोई क्षति नहीं, कि निदान उनका झुकाव ऐसाही है – कि कर्मोंको वैराग्यसे छोड़ देना चाहिये; और स्मृतिकार आयुके भेदसे – अर्थात् आश्रम-व्यवस्थासे उक्त दोनों मतोंकी इस प्रकार एकवाक्यता करते हैं, कि पूर्व आश्रमोंमें इन कर्मोंको करते रहना चाहिये और फिर चित्तशुद्धि हो जानेपर बुढ़ापेमें वैराग्यसे उन सब कर्मोंको छोड़कर संन्यास ले लेना चाहिये। परंतु गीताका मार्ग इन तीनों पंथोंसे भिन्न है। ज्ञान और काम्य कर्मोंके बीच, यदि विरोध हो, तोभी ज्ञान और निष्काम कर्मोंमें कोई विरोध नहीं; इसीलिये गीताका कथन है, कि निष्काम बुद्धिसे सब कर्म सर्वदा करते रहो, उन्हें कभी मत छोड़ो। अब इन चारों मतोंकी तुलना करनेसे दीख पड़ेगा, कि यह मत सभीको मान्य है, कि ज्ञान होनेके पहले कर्मकी आवश्यकता है; परंतु उपनिषदों और गीताका कथन है; कि ऐसी स्थितिमें श्रद्धासे किये हुए कर्मका फल, केवल स्वर्गके सिवा दूसरा कुछ नहीं होता। इसके आगे, अर्थात् ज्ञानप्राप्ति हो चुकनेपर, कर्म किये जावें या नहीं – इस विषयमें उपनिषत्-कर्ताओंमेंभी मतभेद है। कई उपनिषत्कर्ताओंका मत है, कि ज्ञानसे समस्त काम्य बुद्धिका ऱ्हास हो चुकनेपर जो पुरुष मोक्षका अधिकारी हो गया है, उसे केवल स्वर्गकी प्राप्ति करा देनेवाले काम्य कर्म करनेका कुछभी प्रयोजन नहीं रहता; परंतु ईशावास्य आदि दूसरे कई उपनिषदोंमें प्रतिपादन किया गया है, कि मृत्यु-

लोकके व्यवहारोंको जारी रखनेके लिये उपरोक्त कर्म करनेही चाहिये। यह प्रकट है, कि उपनिषदोंमें वर्णित इन दो मार्गोंमेंसे दूसरा मार्गही गीतामें प्रतिपादित है (गीता ५. २)। परंतु यद्यपि यह कहें, कि मोक्षके अधिकारी ज्ञानी पुरुषको निष्काम बुद्धिसे लोकसंग्रहार्थ सब व्यवहार करने चाहिये; तथापि इस स्थानपर यह शंका आपही उत्पन्न होती है, कि जिन यज्ञयाग आदि कर्मोंका फल स्वर्गप्राप्तिके सिवा दूसरा कुछ नहीं, उन्हें वह करेही क्यों? इसीसे अठारहवें अध्यायके आरंभमें इसी शंकाको उपस्थित कर भगवानने स्पष्ट निर्णयकर दिया है, कि 'यज्ञ, दान, तप' आदि कर्म सदैव चित्तशुद्धिकारक अर्थात् निष्काम बुद्धि उपजाने और बढ़ानेवाले हैं, इसलिये 'इन्हेंभी' (एतान्यपि) अन्य निष्काम कर्मोंके समानही लोकसंग्रहार्थ ज्ञानी पुरुषको फलाशा और संग छोड़कर सदा करते रहना चाहिये (गीता १८. ६)। परमेश्वरको अर्पणकर इस प्रकार सब कर्म निष्काम बुद्धिसे करते रहनेसे, व्यापक अर्थमें, यह एक बड़ा भारी यज्ञही हो जाता है और फिर इस यज्ञके लिये जो कर्म किया जाता है, वह बंधन नहीं होता (गीता ४. २३)। किंतु सभी काम निष्काम बुद्धिसे करनेके कारण यज्ञसे जो स्वर्गप्राप्तिरूप बंधक फल मिलनेवाला था, वहभी नहीं मिलता; और ये सब कर्म मोक्षके आड़े आ नहीं सकते। सारांश, मीमांसकोंका कर्मकांड यदि गीतामें कायम रखा गया हो, तोभी वह इसी रीतिसे कायम रखा गया है, कि उससे स्वर्गका आना-जाना छूट जाता है और सभी कर्म निष्काम बुद्धिसे करनेके कारण अंतमें मोक्षप्राप्ति हुए विना नहीं रहती। ध्यान रखना चाहिये, कि मीमांसकोंके कर्ममार्ग और गीताके कर्मयोगमें यही महत्त्वका भेद है – दोनों एक नहीं हैं।

यहाँ बतला दिया, कि भगवद्‌गीतामें प्रवृत्ति-प्रधान भागवत-धर्म या कर्मयोगही प्रतिपाद्य है, और इस कर्मयोगमें तथा मीमांसकोंके कर्मकांडमें कौनसा भेद है। अब तात्त्विक दृष्टिसे इस बातका थोड़ा-सा विचार करते हैं, कि गीताके कर्मयोगमें और ज्ञानकांडको लेकर स्मृतिकारोंकी वर्णन की हुई आश्रम-व्यवस्थामें क्या भेद है। यह भेद बहुतही सूक्ष्म है, और सच पूछो तो इसके विषयमें वाद करनेका कारणभी नहीं है। दोनों पक्ष मानते हैं, कि ज्ञानप्राप्ति होनेतक चित्तकी शुद्धिके लिये प्रथम दो आश्रमोंके (ब्रह्मचारी और गृहस्थ) कृत्य सभीको करने चाहिये। मतभेद सिर्फ़ इतनाही है, कि पूर्ण ज्ञान हो चुकनेपर कर्म करें या संन्यास ले लें? संभव है, कई लोग यह समझें, कि सदा ऐसे ज्ञानी पुरुष किसी समाजमें थोड़ेही रहेंगे? इसलिये इन थोड़े-से ज्ञानी पुरुषोंका कर्म करना या न करना एकही-सा है। इस विषयमें विशेष चर्चा करनेकी आवश्यकता नहीं। परंतु यह समझ ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञानी पुरुषके बर्तावको और लोग प्रमाण मानते हैं। और अपने अंतिम साध्यके अनुसारही बर्ताव करनेकी मनुष्य पहलेसे आदत डालता है, इसलिये लौकिक दृष्टिसे यह प्रश्न अत्यंत महत्त्वका हो जाता है, कि "ज्ञानी पुरुषको क्या करना चाहिये?" स्मृति-ग्रंथोंमें तो

कहा है, कि ज्ञानी पुरुष अंतमें संन्यास ले लें; परंतु ऊपर कह चुके हैं, कि स्मार्त-मार्गके अनुसारही इस नियमके कुछ अपवादभी हैं। उदाहरण लीजिये; बृहदारण्यकोपनिषदमें याज्ञवल्क्यने जनकको ब्रह्मज्ञानका बहुत उपदेश किया है, पर उन्होंने जनकसे यह कहींभी नहीं कहा, कि "अब तुम राजपाट छोड़कर संन्यास ले लो।" उलटे यह कहा है, कि जो ज्ञानी पुरुष ज्ञानके पश्चात् संसारको छोड़ देते हैं, वे इसलिये उसे छोड़ देते हैं, कि संसार उन्हें रुचता नहीं है "न कामयन्ते" (बृ. ४. ४. २२)। इससे बृहदारण्यकोपनिषदका यह अभिप्राय व्यक्त होता है, कि ज्ञानके पश्चात् संन्यास लेना या न लेना अपनी अपनी खुशीकी अर्थात् वैकल्पित वात है। ब्रह्मज्ञान और संन्यासका संबंध नित्य नहीं, और वेदान्तसूत्रमें बृहदारण्यकोपनिषदके इस वचनका अर्थ वैसेही लगाया गया है (वे. सू. ३. ४. १५)। शंकराचार्यका निश्चित सिद्धान्त है, कि ज्ञानोत्तर कर्मसंन्यास किये विना मोक्ष मिल नहीं सकता, इसलिये अपने भाष्यमें उन्होंने इस मतकी पुष्टिमें सब उपनिषदोंकी अनुकूलता दिखलानेका प्रयत्न किया है तथापि शंकराचार्यनेंभी स्वीकार किया है, कि जनक आदिके समान ज्ञानोत्तरभी अधिकारानुसार जीवनभर कर्म करते रहनेमें कोई क्षति नहीं है (वे. सू. शां. भा. ३. ३.३२; गीता शां. भा. २. ११; ३. २०)। इससे स्पष्ट विदित होता है, कि संन्यास या स्मार्त-मार्गकोभी ज्ञानके पश्चात् कर्म बिलकुलही त्याज्य नहीं जँचते, कुछ ज्ञानी पुरुषोंको अपवाद मान, अधिकारके अनुसार कर्म करनेकी स्वतंत्रता इस मार्गमेंभी दी गई है। इसी अपवादको और व्यापक बना कर गीता कहती है, कि चातुर्वर्ण्यके लिये विहित कर्म ज्ञानप्राप्ति हो चुकनेपरभी, लोकसंग्रहके निमित्त केवल कर्तव्य समझकर प्रत्येक ज्ञानी पुरुषको निष्काम बुद्धिसे करना चाहिये। इससे सिद्ध होता है, कि गीता-धर्म व्यापक हो, तोभी उसका तत्त्व संन्यास-मार्गवालोंकी दृष्टिसेभी निर्दोष है, और वेदान्तसूत्रोंको स्वतंत्र रीतिसे पढ़नेपर जान पड़ेगा, कि उनमेंभी ज्ञानयुक्त कर्मयोग संन्यासका विकल्प समझकर ग्राह्य माना गया है। (वे. सू. ३. ४. २६; ३. ४. ३२–३५)।* अब यह बतलाना आवश्यक है, कि निष्काम बुद्धिसेही क्यों न हो, पर जब मरणपर्यंत कर्मही करने हैं, तब स्मृति-ग्रंथोंमें वर्णित कर्मत्यागरूपी चतुर्थ आश्रम या संन्यास आश्रमकी क्या दशा होगी? अर्जुन अपने मनमें यही सोच रहा था, कि भगवान् कभी-न-कभी कहेंगेही, कि कर्मत्यागरूपी संन्यास लियेबिना मोक्ष नहीं मिलता; और तब भगवान्के मुखसेही युद्ध छोड़नेके लिये मुझे स्वतंत्रता मिल जावेगी। परंतु अब अर्जुनने देखा, कि सत्रहवें अध्यायके अंततक भगवानके कर्मत्यागरूप संन्यास आश्रमकी बात नहीं की; बार-बार केवल यही उपदेश किया, कि फलाशाको

* वेदांतसूत्रके इस अधिकरणका अर्थ शांकरभाष्यमें कुछ निराला है। परंतु 'विहितत्वच्चाश्रमकर्माणि' का (३. ४. ३२) अर्थ हमारे मतमें ऐसा है, कि "ज्ञानी पुरुष आश्रम-कर्मभी करें, तो अच्छा है। क्योंकि वह विहित है।" सारांश, हमारी समझसे वेदान्तसूत्रमें ये दोनों पक्ष स्वीकृत हैं, कि "ज्ञानी पुरुष कर्म करे चाहे न करे।"

छोड़ दे; तब अठारहवें अध्यायके आरंभमें अर्जुनने भगवान्‌से अंतमें प्रश्न किया है, कि "तो फिर मुझे बतलाइये कि, संन्यास और त्यागमें क्या तत्त्व है ?" अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं, "अर्जुन ! यदि तुमने समझा हो, कि मैंने इतने समयतक जो कर्मयोग-मार्ग बतलाया है, उसमें संन्यास नहीं है, तो वह समझ गलत है। कर्मयोगी पुरुष सब कर्मोंके दो भेद करते हैं – एकको कहते हैं 'काम्य' अर्थात् आसक्त बुद्धिसे किये कर्म; और दूसरेको कहते हैं 'निष्काम' अर्थात् आसक्ति-को छोड़कर किये गये कर्म। (मनु. २३. ८९ में इन्हीं कर्मोंको क्रमसे 'प्रवृत्त' और 'निवृत्त' नाम दिये हैं।) इनमेंसे 'काम्य' वर्गके जितने कर्म हैं, उन सबको कर्म-योगी बिलकुल छोड़ देता है – अर्थात् वह उनका 'संन्यास' करता है। बाकी रह गये 'निष्काम' या निवृत्त कर्म। सो कर्मयोगी ये निष्काम कर्म करता तो है, पर उन सबमें फलाशाका 'त्याग' सर्वथैव रहता है। सारांश, कर्मयोग-मार्गमेंभी 'संन्यास' और 'त्याग' छूटा कहाँ है ? स्मार्त मार्गवाले कर्मका स्वरूपतः संन्यास करते हैं, तो उसके स्थानमें कर्म-मार्गके योगी कर्मफलाशाका संन्यास करते हैं – इस तरह संन्यास दोनों ओर कायमही है" (गीता १८. १–६ पर हमारी टीका देखो)। भागवत धर्मका यह मुख्य तत्त्व है, कि जो पुरुष अपने सभी कर्म परमेश्वरको अर्पणकर निष्काम बुद्धिसे करने लगे, वह गृहस्थाश्रमी हो तोभी उसे 'नित्य-संन्यासीही' कहना चाहिये (गीता ५. ३)। और भागवत-पुराणमें पहले सब आश्रम-धर्म बतला कर अंतमें नारदने युधिष्ठिरको इसी तत्त्वका उपदेश किया है। वामन पंडितने गीतापर जो यथार्थदीपिका नामक टीका लिखी है, उसके (य. दी. १८. २) कथनानुसार "शिखा बोडुनि तोडिला दोरा" – मुँड मुँड़ानेपर और जनेऊ तोड़कर या हाथमें दंड लेकर भिक्षा माँगकर, अथवा सब कर्म छोड़कर जंगलमें जा रहनेपरभी संन्यास नहीं हो जाता। संन्यास और वैराग्य बुद्धिके धर्म हैं; दंड, चोटी या जनेऊके नहीं। यदि कहो, कि ये दंड आदिकेही धर्म हैं; बुद्धिके अर्थात् ज्ञानके नहीं; तो राजछत्र अथवा छतरीकी डाँड़ी पकड़नेवालेकोभी संन्यासीको प्राप्त होनेवाला मोक्ष मिलना चाहिये। जनकसुलभा-संवादमें ऐसेही कहा है (शां. ३२०–४२) :–

त्रिदण्डादिषु यद्यस्ति मोक्षो ज्ञाने न कस्यचित्।
छत्रादिषु कथं न स्यात्तुल्यहेतौ परिग्रहे ॥

क्योंकि दंडपरिग्रह अर्थात् हाथमें दंड धारण करनेमें, यह मोक्षका हेतु दोनों स्थानोंमें एकही है। तात्पर्य यही, कि कायिक, वाचिक और मानसिक संयमही सच्चा त्रिदंड है (मनु. १२. १०); और सच्चा संन्यास काम्यबुद्धिका संन्यास है (गीता १८. २)। एवं वह जिस प्रकार भागवत धर्ममें नहीं छूटता (गीता ६. २) उसी प्रकार बुद्धिको स्थिर रखनेका कर्म या भोजन आदि कर्मभी सांख्य-मार्गमें अंततक छूटताही नहीं है। फिर ऐसी क्षुद्र शंकाएँ करके भगवे या सफ़ेद कपड़ोंके लिये झगड़नेसे क्या लाभ होगा, कि त्रिदंडी या कर्मत्यागरूप संन्यास कर्मयोग-मार्गमें नहीं है, इसलिये

वह मार्ग स्मृतिविरुद्ध या त्याज्य है। भगवानने तो निरभिमानपूर्वक बुद्धिसे यही कहा है :–

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।

"जिसने यह जान लिया, कि सांख्य और – कर्मयोग मोक्ष-दृष्टिसे दो नहीं – एकही हैं – वही पंडित है" (गीता ५. ५)। और महाभारतमेंभी कहा है, कि एकांतिक अर्थात् भागवत धर्म सांख्य-धर्मकी बराबरीका है – "सांख्ययोगेन तुल्यो हि धर्म एकान्तसेवितः" (शां. ३४८. ७५)। सारांश, सारे स्वार्थको परार्थमें लयकर अपनी अपनी योग्यताके अनुसार व्यवहारमें प्राप्त सभी कर्म सब प्राणियोंके हितार्थ मरणपर्यंत निष्काम बुद्धिसे केवल कर्तव्य समझकर करते जानाही सच्चा वैराग्य या 'नित्य-संन्यास' है (गीता ५. ३); इसी कारण कर्मयोग-मार्गमें स्वरूपसे कर्मका संन्यासकर भिक्षा कभीभी नहीं मांगते। परंतु बाहरी आचरणसे देखनेमें यदि इस प्रकार भेद दिखे, तोभी संन्यास और त्यागके सच्चे तत्त्व कर्मयोग-मार्गमेंभी कायमही रहते हैं; इसलिये गीताका अंतिम सिद्धान्त है, कि स्मृति-ग्रंथोंकी आश्रम-व्यवस्थाका और निष्काम कर्मयोगका विरोध नहीं है।

संभव है, कि उपरोक्त इस विवेचनसे कुछ लोगोंकी कदाचित् ऐसी समझ हो जाय, कि संन्यास धर्मके साथ कर्मयोगका मेल करनेका जो इतना बड़ा उद्योग गीतामें किया गया है, उसका कारण यह है, कि स्मार्त या संन्यास धर्म प्राचीन होगा; और कर्मयोग-मार्ग उसके बादका होगा। परंतु इतिहासकी दृष्टिसे विचार करनेपर कोईभी जान सकेगा, कि सच्ची स्थिति ऐसी नहीं है। यह पहलेही कह चुके हैं, कि वैदिक धर्मका अत्यंत प्राचीन स्वरूप कर्मकांडात्मकही था। आगे चलकर उपनिषदोंके ज्ञानसे कर्मकांडको गौणता प्राप्त होने लगी; और कर्मत्यागरूपी संन्यास धीरे धीरे प्रचारमें आने लगा। वैदिक धर्म-वृक्षकी वृद्धिकी यह दूसरी सीढ़ी है। परंतु ऐसे समयमेंभी, उपनिषदोंके ज्ञानका कर्मकांडसे मेल मिलाकर जनक प्रभृति ज्ञाता पुरुष अपने कर्म निष्काम बुद्धिसे जीवनभर किया करते थे – अर्थात् कहना चाहिये, कि वैदिक धर्म वृक्षकी यह दूसरी सीढ़ी दो प्रकारकी थी; एक जनक आदिकी और दूसरी याज्ञवल्क्य प्रभृतिकी। स्मार्त आश्रम-व्यवस्था इसके बादकी अर्थात् तीसरी सीढ़ी है। दूसरी सीढ़ीके समान तीसरीकेंभी दो भेद हैं। स्मृति-ग्रंथोंमें कर्मत्यागरूप चौथे आश्रमकी महत्ता गाई तो अवश्य गई है: पर उसके साथही जनक आदिके ज्ञानयुक्त कर्मयोगकाभी – उसको संन्यास आश्रमका विकल्प समझकर – स्मृति-प्रणेताओंने वर्णन किया है। उदाहरणार्थ, सब स्मृति-ग्रंथोंमे मूलभूत मनुस्मृति-कोही लीजिये। इस स्मृतिके छठे अध्यायमें कहा है, कि मनुष्यको ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ आश्रमोंसे चढ़ते चढ़ते कर्मत्यागरूप चौथा आश्रम लेना चाहिये, परंतु संन्यास आश्रम अर्थात् यतिधर्मका यह निरूपण समाप्त होनेपर मनुने पहले यह प्रस्तावना की है, कि "यह यतियोंका अर्थात् संन्यासियोंका धर्म बतलाया; अब

वेद-संन्यासियोंका कर्मयोग कहते हैं "; और फिर यह बतलाकर – कि अन्य आश्रमोंकी अपेक्षा गृहस्थाश्रमही श्रेष्ठ कैसे है – उन्होंने संन्यास आश्रम यतिधर्मको वैकल्पिक मान निष्काम गार्हस्थ्य-वृत्तिके कर्मयोगका वर्णन किया है (मनु. ६. ८६–९६)। और आगे बारहवें अध्यायमें उसेही 'वैदिक कर्मयोग' नाम देकर कहा है, कि यह मार्गभी चतुर्थ आश्रमके समानही निःश्रेयस्कर अर्थात् मोक्षप्रद है (मनु. १२. ८६–९०)। मनुका यह सिद्धान्त याज्ञवल्क्य-स्मृतिमेंभी आया है। इस स्मृतिके तीसरे अध्यायमें, यतिधर्मका निरूपण हो चुकनेपर 'अथवा' पदका प्रयोग करके लिखा है, कि आगे ज्ञाननिष्ठ और सत्यवादी गृहस्थभी (संन्यास न लेकर) मुक्ति पाता है (याज्ञ. ३. २०४, २०५)। इसी प्रकार यास्कनेभी अपने निरुक्तमें लिखा है, कि कर्म छोड़नेवाले तपस्वियों और ज्ञानयुक्त कर्म करनेवाले कर्मयोगियोंको एकही देवयान गति प्राप्त होती है (नि. १४. ९)। इसके अतिरिक्त, इस विषयमें दूसरा प्रमाण धर्मसूत्रकारोंका है। ये धर्मसूत्र गद्यमें हैं और विद्वानोंका मत है, कि श्लोकोंमें रची गई स्मृतियोंसे ये पुराने होंगे। इस समय हमें यह नहीं देखना है, कि यह मत सही है या गलत। चाहे वह सही हो या गलत, इस प्रसंगपर मुख्य बात यह है, कि ऊपर मनु और याज्ञवल्क्य-स्मृतियोंके वचनोंमें गृहस्थाश्रम या कर्मयोगका जो महत्त्व दिखाया गया है, उससेभी अधिक महत्त्व धर्मसूत्रोंमें वर्णित है। मनु और याज्ञवल्क्यने कर्मयोगको चतुर्थ आश्रमका विकल्प कहा है। पर बौधायन और आपस्तंबने ऐसा न कर, स्पष्ट कह दिया है, कि गृहस्थाश्रमही मुख्य है; और उसीसे आगे अमृतत्व मिलता है। बौधायन धर्मसूत्रमें " जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते " – जन्मसेही प्रत्येक ब्राह्मण अपनी पीठपर तीन ऋण ले आता है – इत्यादि तैत्तिरीय संहिताके वचन पहले देकर कहा है, कि इन ऋणोंको चुकानेके लिये यज्ञयाग आदिपूर्वक गृहस्थाश्रमका आश्रय करनेवाला मनुष्य ब्रह्मलोकको पहुँचता है, और ब्रह्मचर्य या संन्यासकी प्रशंसा करनेवाले अन्य लोग धूलमें मिल जाते हैं (बौ. २. ६. ११. ३३, ३४)। एवं आपस्तंब-सूत्रमें ऐसेही कहा है (आप. २. ९. २४. ८)। यह नहीं, कि इन दोनों धर्मसूत्रोंमें संन्यास आश्रमका वर्णनही नहीं है; किंतु उसका वर्णन करनेपरभी गृहस्थाश्रमकाही महत्त्व अधिक माना है। इससे और विशेषतः मनुस्मृतिमें कर्मयोगको 'वैदिक' विशेषण देनेसे स्पष्ट होता है, कि मनु-स्मृतिके समयमेंभी कर्मत्यागरूप संन्यास आश्रमकी अपेक्षा निष्काम कर्मयोगरूपी गृहस्थाश्रम प्राचीन समझा जाता था; और मोक्षकी दृष्टिसे उसकी योग्यता चतुर्थ आश्रमके बराबरही गिनी जाती थी। गीताके टीकाकारोंका जोर संन्यास या कर्म-त्यागयुक्त भक्तिपरही होनेके कारण उपर्युक्त स्मृति-वचनोंका उल्लेख उनकी टीका-ओंमें नहीं पाया जाता। परंतु उन्होंने इस ओर दुर्लक्ष भलेही किया हो; किंतु इससे कर्मयोगकी प्राचीनता घटती नहीं है। सारांश, यह कहनेमें कोई हानि नहीं, कि इस प्रकार कर्मयोग-मार्गके प्राचीन होनेके कारण, स्मृतिकारोंको उसे यति-धर्मके विकल्पके

रूपमें ग्राह्य कर्मयोग मानना पड़ा। यह हुई वैदिक कर्मयोगकी बात। श्रीकृष्णके पहले जनक आदि इसीका आचरण करते थे। परंतु आगे भगवानने उसमें भक्तिकोभी मिला दिया; और उसका बहुत प्रसार किया, इस कारण उसेही 'भागवत-धर्म' नाम प्राप्त हो गया है। यद्यपि भगवद्गीताने इस प्रकार संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगकोही अधिक श्रेष्ठता दी है, तथापि कर्मयोग-मार्गको आगे गौणता क्यों प्राप्त हुई – और संन्यास-मार्गकाही बोलबाला क्यों हो गया? – इसका विचार ऐतिहासिक दृष्टिसे आगे किया जावेगा। यहाँ इतनाही कहना है कि, कर्मयोग स्मार्त-मार्गके पश्चातका नहीं है, वह प्राचीन वैदिक कालसे चला आ रहा है।

भगवद्गीताके प्रत्येक अध्यायके अंतमें "इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" इस प्रकार जो संकल्प है, उसका मर्म अब पाठकोंके ध्यानमें पूर्णतया आ जावेगा। यह संकल्प बतलाता है, कि भगवानके गाये हुए उपनिषदमें, अन्य उपनिषदोंके समान ब्रह्मविद्या तो है; पर अकेली ब्रह्मविद्याही नहीं है। प्रत्युत ब्रह्मविद्यामें 'सांख्य' और 'योग' (वेदान्ती संन्यासी और वेदान्ती कर्मयोगी), ये जो दो पंथ उपजते हैं, उनमेंसे योगका अर्थात् कर्मयोगका प्रतिपादनही भगवद्गीताका मुख्य विषय है। यह कहनेमेंभी कोई हानि नहीं, कि भगवद्गीतोपनिषत् कर्मयोगका प्रधान ग्रंथ है; क्योंकि यद्यपि कर्मयोग वैदिक कालसे चला आ रहा है, तथापि "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" (ईश. २) या "आरंभ कर्माणि गुणान्वितानि" (श्वे. ६. ४), अथवा "विद्याके साथ-ही-साथ स्वाध्याय आदि कर्म करने चाहिये" (तै. १. ९), इस प्रकारके कुछ थोड़े-से उल्लेखोंके अतिरिक्त उपनिषदोंमें इस कर्मयोगका विस्तृत विवेचन कहींभी नहीं किया गया है: कर्मयोगपर भगवद्गीताही मुख्य और प्रमाणभूत ग्रंथ है; और काव्यकी दृष्टिसेभी यह ठीकही जँचता है, कि भारत-भूमिके कर्ता पुरुषोंके चरित्र जिस महाभारतमें वर्णित हैं, उसीमें अध्यात्मशास्त्रको लेकर कर्मयोगकीभी उपपत्ति बतलाई जावे। इस बातकाभी अब अच्छी तरह पता लग जाता है, कि प्रस्थानत्रयीमें भगवद्गीताका समावेश क्यों किया गया है। यद्यपि उपनिषद् मूलभूत हैं, तोभी उनके कहनेवाले ऋषि अनेक हैं; इस कारण उन उपनिषदोंके विचार संकीर्ण और कुछ स्थानोंमें परस्पर-विरोधीभी दीख पड़ते हैं। इसलिये उपनिषदोंके साथ-ही-साथ उनकी एकवाक्यता करनेवाले वेदान्तसूत्रोंकीभी प्रस्थानत्रयीमें गणना करना आवश्यक था। परंतु उपनिषद् और वेदान्तसूत्र, इन दोनोंकी अपेक्षा यदि गीतामें कुछ अधिकता न होती, तो प्रस्थानत्रयीमें गीताके संग्रह करनेका कोईभी कारण न था। किंतु उपनिषदोंका झुकाव प्रायः संन्यास-मार्गकी ओर है, एवं उनमें ज्ञानमार्गकाही विशेषतः प्रतिपादन है; और भगवद्-गीतामें इस ज्ञानको लेकर भक्तियुक्त कर्मयोगका समर्थन है, बस – इतना कह देनेमें गीताकी अपूर्वता सिद्ध हो जाती है, और साथ-ही-साथ प्रस्थान-त्रयीके तीनों भागोंकी सार्थकताभी व्यक्त हो जाती है। क्योंकि वैदिक धर्मके प्रमाणभूत ग्रंथमें यदि ज्ञान

और कर्म (सांख्य और योग), इन दोनों वैदिक मार्गोंका विचार न हुआ होता, तो प्रस्थान-त्रयी उतनी अपूर्णही रह जाती। कुछ लोगोंकी समझ है, कि जब उपनिषद् सामान्यतः निवृत्तिविषयक हैं, तब गीताका प्रवृत्तिविषयक अर्थ लगानेसे प्रस्थान-त्रयीके तीनों भागोंमें विरोध हो जायगा और उनकी प्रामाणिकतामेंभी न्यूनता आ जावेगी। यदि सांख्य अर्थात् संन्यासही एकमात्र सच्चा वैदिक मोक्षमार्ग हो, तो यह शंका ठीक होगी, परंतु ऊपर दिखाया जा चुका है, कि कम-से-कम ईशावास्य आदि कुछ उपनिषदोंमें कर्मयोगका स्पष्ट उल्लेख है। इसलिये वैदिक धर्मपुरुषको केवल एकहत्थी अर्थात् संन्यासप्रधान न समझकर, यदि गीताके अनुसार ऐसा सिद्धान्त करें, कि उस वैदिक धर्मपुरुषके ब्रह्मविद्यारूप एकही मस्तक है; और मोक्षदृष्टिसे तुल्यबल सांख्य और कर्मयोग उसके दाहिने-बाएँ दो हाथ हैं; तो गीता और उपनिषदोंमें कोई विरोध नहीं रह जाता। उपनिषदोंमें एक मार्गका समर्थन है और गीतामें दूसरे मार्गका, इस लिये प्रस्थान-त्रयीके ये दोनों भागभी दो हाथोंके समान परस्परविरुद्ध न हो, सहाय्यकारीही दीख पड़ेंगे। ऐसेही, गीतामें केवल उपनिषदोंकाही प्रतिपादन माननेसे, पिष्टपेषणका जो वैयर्थ्य गीताको प्राप्त हो जाता, वहभी नहीं होता। गीताके सांप्रदायिक टीकाकारोंने इस विषयकी उपेक्षा की है, इस कारण सांख्य और योग, इन दोनों स्वतंत्र मार्गोंके पुरस्कर्ता अपने अपने पंथके समर्थनमें जिन मुख्य कारणोंको बतलाया करते हैं, उनकी समता और विषमता चटपट ध्यानमें आ जानेके लिये, नीचे दिये गये नक्शेके दो खानोंमें वेही कारण परस्पर एक दूसरेके सामने संक्षेपसे दिये गये हैं। स्मृति-ग्रंथोंमें प्रतिपादित अर्थात् स्मार्त आश्रम-व्यवस्था और मूल भागवत धर्मके मुख्य भेद इससे ज्ञात हो जावेंगे।

ब्रह्मविद्या या आत्मज्ञान प्राप्त होनेपर

कर्मसंन्यास (सांख्य)	**कर्मयोग (योग)**
(१) मोक्ष आत्मज्ञानसेही मिलता है, कर्मसे नहीं। ज्ञानविरहित, किंतु श्रद्धापूर्वक किये गये यज्ञ-याग आदि कर्मोंसे मिलनेवाला स्वर्गसुख अनित्य है।	(१) मोक्ष आत्मज्ञानसेही मिलता है, कर्मसे नहीं। ज्ञानविरहित, किंतु श्रद्धापूर्वक किये गये यज्ञ-याग आदि कर्मोंसे मिलनेवाला स्वर्गसुख अनित्य है।
(२) आत्मज्ञान होनेके लिये इंद्रिय-निग्रहसे बुद्धिको स्थिर, निष्काम, विरक्त और सम करना पड़ता है।	(२) आत्मज्ञान होनेके लिये इंद्रिय-निग्रहसे बुद्धिको स्थिर, निष्काम, विरक्त और सम करना पड़ता है।

(३) इसलिये इंद्रियोंके विषयोंका पाश तोड़ मुक्त (स्वतंत्र) हो जाओ।	(३) इसलिये इंद्रियोंके विषयोंको न छोड़ कर उन्हींमें वैराग्यसे अर्थात् निष्काम बुद्धिसे व्यवहार कर इंद्रिय-निग्रह की जाँच करो। निष्कामके माने निष्क्रिय नहीं।
(४) तृष्णामूलक कर्म दुःखमय और बंधक हैं।	(४) यदि इसका भली भाँति विचार करें, कि दुःख और बंधन किसमें हैं, तो दीख पड़ेगा, कि अचेतन-कर्म किसीकोभी बाँधते या छोड़ते नहीं हैं। उनके संबंधमें कर्ताके मनमें जो काम या फलाशा होती है, वही बंधन और दुःखकी जड़ है।
(५) इसलिये चित्तशुद्धि होनेतक यदि कोई कर्म करे, तोभी अंतमें छोड़ देने चाहिये।	(५) इसलिये चित्तशुद्धि हो चुकने परभी फलाशा छोड़ कर धैर्य और उत्साहके साथ सब कर्म करते रहो। यदि कहो, कि कर्मोंको छोड़ दें; तो वे छूट नहीं सकते। सृष्टिही तो एक कर्म है; उसे विश्राम हैही नहीं।
(६) यज्ञके अर्थ किये गये कर्म बंधक न होनेके कारण गृहस्थाश्रममें उनके करनेसे हानि नहीं है।	(६) निष्कामबुद्धिसे या ब्रह्मार्पण-विधिसे किये गये समस्त कर्म एक बड़ा भारी 'यज्ञ' ही है। इसलिये स्वधर्मविहित समस्त कर्मोंको निष्काम बुद्धिसे केवल कर्तव्य समझ कर सदैव करते रहना चाहिये।
(७) देहके धर्म कभी छूटते नहीं, इस कारण संन्यास लेनेपर पेटके लिये भिक्षा माँगना बुरा नहीं।	(७) पेटके लिये भीख माँगनाभी तो कर्मही है; और सोभी लज्जाप्रद यदि ऐसा कर्म करनाही है, तब अन्यान्य कर्मभी निष्काम बुद्धिसे क्यों न किये जावें? गृहस्थाश्रमीके अतिरिक्त भिक्षा देगाही कौन?

(८) ज्ञानप्राप्तिके अनंतर अपना निजी कर्तव्य कुछ शेष नहीं रहता; और लोकसंग्रह करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं।

(८) ज्ञानप्राप्ति करनेके अनंतर अपने लिये भलेही कुछ प्राप्त करनेको न रहे; परंतु कर्म नहीं छूटते। इसलिये जो कुछ शास्त्रसे प्राप्त हो, उसे 'मुझे नहीं चाहिये' ऐसी निर्मम बुद्धिसे लोकसंग्रहकी ओर दृष्टि रखकर करते जाओ। लोकसंग्रह किसीसेभी नहीं छूटता। उदाहरणार्थ, भगवान्‌का चरित्र देखो।

(९) परंतु यदि अपवादस्वरूप कोई अधिकारी पुरुष ज्ञानके पश्चातभी अपने व्यावहारिक अधिकार जनक आदिके समान जीवनपर्यंत जारी रखे, तो कोई हानि नहीं।

(९) गुणविभागरूप चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके अनुसार छोटे-बड़े अधिकार सभीको जन्मसेही प्राप्त होते हैं; और स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले इन अधिकारोंको लोकसंग्रहार्थ निःस्वार्थ-बुद्धिसे सभीको निरपवादरूपसे जीवनपर्यंत जारी रखना चाहिये। क्योंकि यह चक्र जगतको धारण करनेके लिये परमेश्वरनेही बनाया है।

(१०) इतना होने परभी कर्मत्यागरूपी संन्यासही श्रेष्ठ है। अन्य आश्रमोंके कर्म चित्तशुद्धिके साधनमात्र हैं और ज्ञान और कर्मका तो स्वभावसेही विरोध है। इसलिये पूर्व आश्रममें, जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी चित्तशुद्धि करके ज्ञानप्राप्तिके पश्चात् अंतमें कर्मत्यागरूपी संन्यास लेना चाहिये। चित्तशुद्धि जन्मतेही या पूर्व आयुमें हो जावे, तो गृहस्थाश्रमके कर्म करते रहनेकीभी आवश्यकता नहीं है। कर्मका स्वरूपतः त्याग करनाही सच्चा संन्यास-आश्रम है।

(१०) यह सच है, कि शास्त्रोक्त रीतिसे सांसारिक कर्म करनेपर चित्तशुद्धि होती है, परंतु केवल चित्तकी शुद्धिही कर्मका उपयोग नहीं है। जगत्‌का व्यवहार चलता रखनेके लियेभी कर्मकी आवश्यकता है। इसी प्रकार काम्यकर्म और ज्ञानका विरोध भलेही हो; पर निष्काम कर्म और ज्ञानके बीच बिलकुल विरोध नहीं है। इसलिये चित्तकी शुद्धिके पश्चात्‌भी फलाशाका त्याग कर निष्काम बुद्धिसे जगतके संग्रहार्थ चातुर्वर्ण्यके सब कर्म आमरण जारी रखनाही सच्चा संन्यास है। कर्मका स्वरूपतः त्याग करना कभीभी उचित नहीं; और शक्यभी नहीं है।

(११) कर्म-संन्यास ले चुकने परभी शम-दम आदिक धर्म पालते जाना चाहिये।

(११) ज्ञानप्राप्तिके पश्चात् फलाशा-त्यागरूप संन्यास ले कर शम-दम आदिक धर्मोंके सिवा आत्मौपम्यदृष्टिसे प्राप्त होनेवाले सभी धर्मोंका पालन किया करो; और इस शम अर्थात शांतवृत्ति-सेही शास्त्रसे प्राप्त समस्त कर्म लोकसंग्रहके निमित्त मरणपर्यंत करते जाओ। निष्काम कर्म न छोड़ो।

(१२) यह मार्ग अनादि और श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित है।

(१२) यह मार्ग अनादि और श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित है।

(१३) शुक-याज्ञवल्क्य आदि इस मार्गसे गये हैं।

(१३) व्यास-वसिष्ठ-जैगीषव्य इ. और जनक-श्रीकृष्ण प्रभृति इस मार्गसे गये हैं।

अंतमें मोक्ष

ये दोनों मार्ग अथवा निष्ठाएँ ब्रह्मविद्यामूलक हैं और दोनों ओर मनकी निष्काम अवस्था और शांति एकही प्रकारकी है। इस कारण दोनों मार्गोंसे अंतमें एकही मोक्ष प्राप्त हुआ करता है (गीता ५. ५)। ज्ञानके पश्चात् कर्मको छोड़ बैठना और काम्य कर्म छोड़कर नित्य निष्काम कर्म करते रहना, यही इन दोनोंमें मुख्य भेद है।

ऊपर बतलाये हुए कर्म छोड़ने और कर्म करनेके दोनों मार्ग ज्ञानमूलक हैं अर्थात् ज्ञानके पश्चात् ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा स्वीकृत और आचरित हैं। परंतु कर्म छोड़ना और कर्म करना, दोनों बातें ज्ञान न होने परभी हो सकती हैं। इसलिये इस अज्ञानमूलक कर्मका और कर्मके त्यागकाभी यहाँ थोड़ासा विचवेचन करना आवश्यक है। गीताके अठारहवें अध्यायमें त्यागके जो तीन भेद बतलाये गये हैं, उनका रहस्य यही है। ज्ञान न रहने परभी कुछ लोग निरे काय-क्लेश-भयसे कर्म छोड़ दिया करते हैं – इसे गीतामें 'राजस त्याग' कहा है (गीता १८. ८)। इसी प्रकार ज्ञान न रहनेपरभी कुछ लोग कोरी श्रद्धासेही यज्ञ-याग प्रभृति कर्म किया करते हैं। परंतु गीताका कथन है, कि कर्म करनेका यह मार्ग मोक्षप्रद नही है – केवल स्वर्गप्रद है (गीता ९. २०)। कई लोगोंकी समझ है, कि आजकल यज्ञ-याग प्रभृति श्रौत धर्मका प्रचार न रहनेके कारण, मीमांसकोंके इस निरे कर्म-मार्गके संबंधमें गीताका सिद्धान्त इन दिनों विशेष उपयोगी नहीं; परंतु वह ठीक नहीं है। क्योंकि श्रौत यज्ञ-

याग भलेही डूब गये हों; पर स्मार्त-यज्ञ अर्थात् चातुर्वर्ण्यके कर्म अबभी जारीही हैं। इसलिये अज्ञान से, परंतु श्रद्धापूर्वक, यज्ञ-याग आदि काम्य कर्म करनेवाले लोगोंके विषयमें गीताका जो सिद्धान्त है, वह ज्ञानविरहित किंतु श्रद्धासहित चातुर्वर्ण्य आदि कर्म करनेवालोंकोभी वर्तमान स्थितिमें पूर्णतया उपयुक्त है। जगतके व्यवहारकी ओर दृष्टि देनेपर ज्ञात होगा, कि समाजमें इसी प्रकारके लोगोंकी अर्थात् शास्त्रोंपर श्रद्धा रखकर नीतिसे अपने कर्म करनेवालोंकीही विशेष अधिकता रहती है। परंतु उन्हें परमेश्वरका स्वरूप पूर्णतया ज्ञात नहीं रहता, इसलिये गणितशास्त्रकी पूरी उपपत्ति समझे बिनाही केवल मौलिक हिसाब करनेकी रीतिसे गणित करनेवाले लोगोंके समान इन श्रद्धालु और कर्मठ मनुष्योंकी अवस्था हुआ करती है। इसमें कोई संदेह नहीं, कि सभी कर्म शास्त्रोक्त विधिसे और श्रद्धापूर्वक करनेके कारण वे निर्दोष (शुद्ध) हो जाते हैं, एवं इसीसे पुण्यप्रद अर्थात् स्वर्गप्रद हो जाते हैं। परंतु शास्त्रकाही सिद्धान्त है, कि बिना ज्ञानके मोक्ष नहीं मिलता, इसलिये स्वर्गप्राप्तिकी अपेक्षा अधिक महत्त्वका कोईभी फल इन कर्मठ लोगोंको मिल नहीं सकता। अतएव स्वर्गसुखसेभी जो परे है, उस अमृतत्व प्राप्ति जिसे कर लेनी हो – और यही तो एक परम पुरुषार्थ है – उसे उचित है, कि वह पहले साधन समझकर और आगे सिद्धावस्थामें लोकसंग्रहके लिये, अर्थात् जीवनपर्यंत "समस्त प्राणिमात्रमें एकही आत्मा है" इस ज्ञानयुक्त बुद्धिसे, निष्काम कर्म करनेके मार्गकाही स्वीकार करे। आयु बितानेके सब मार्गोंमेंसे यही मार्ग उत्तम है। गीताका अनुकरण कर ऊपर दिये गये नक्शेमें इस मार्गको कर्मयोग कहा है और इसेही कुछ लोग कर्म-मार्ग या प्रवृत्तिमार्गभी कहते हैं। परंतु कर्म-मार्ग या प्रवृत्ति-मार्ग, इन दोनों शब्दोंसे ज्ञानविरहित, किंतु श्रद्धासहित कर्म करनेके स्वर्गप्रद मार्गकाभी सामान्यतः बोध हुआ करता है। इसलिये ज्ञानविरहित, किंतु श्रद्धायुक्त कर्म और ज्ञानयुक्त निष्काम कर्म, इन दोनोंका भेद दिखलानेके लिये दो भिन्न भिन्न शब्दोंकी योजना करनेकी आवश्यकता होती है; और इसी कारणसे मनुस्मृति तथा भागवतमेंभी पहले प्रकारके कर्म अर्थात् ज्ञानविरहित कर्मको 'प्रवृत्त कर्म', और दूसरे प्रकारके अर्थात् ज्ञानयुक्त निष्काम कर्मको 'निवृत्त कर्म' कहा है (मनु. १२. ८९.; भाग. ७. १५. ४७)। परंतु हमारी रायमें ये शब्दभी जितने होने चाहिये, उतने निस्संदिग्ध नहीं हैं। क्योंकि 'निवृत्ति' शब्दका सामान्य अर्थ 'कर्म से परावृत्त होना' है। अतः इस शंकाको दूर करनेके लिये 'निवृत्त' शब्दके आगे 'कर्म' विशेषण जोड़ते हैं, और ऐसा करनेसे 'निवृत्त' विशेषणका अर्थ 'कर्मसे परावृत्त' नहीं होता; और निवृत्त कर्म = निष्काम कर्म, यह अर्थ निष्पन्न हो जाता है। कुछभी हो; जब तक 'निवृत्त' शब्द उसमें है, तब तक कर्मत्यागकी कल्पना मनमें आये बिना नहीं रहती। इसीलिये ज्ञानयुक्त निष्काम कर्म करनेके मार्गको "निवृत्ति या निवृत्त कर्म" न कहकर 'कर्मयोग' नाम देना हमारे मतमें उत्तम है। क्योंकि कर्मके आगे योग शब्द जुड़ा रहनेसे स्वभावतः उसका अर्थ "मोक्षमें

बाधा न देकर कर्म करनेकी युक्ति " होता है; और अज्ञानयुक्त कर्मका तो आपही-से निरसन हो जाता है। फिरभी यह न भूल जाना चाहिये, कि गीताका कर्मयोग ज्ञानमूलक है। और यदि इसेही कर्म-मार्ग या प्रवृत्ति-मार्ग कहना किसीको अभीष्ट जँचता हो, तो ऐसा करनेमें कोई हानि नहीं। स्थल-विशेषमें भाषावैचित्र्यके लिये गीताके कर्मयोगको लक्ष्यकर हमनेभी इन शब्दोंकी योजना की है। अस्तु, इस प्रकार कर्म करने या कर्म छोड़नेके ज्ञानमूलक और अज्ञानमूलक जो भेद हैं, उनमेंसे प्रत्येकके संबंधमें गीताशास्त्रका अभिप्राय इस प्रकार है :–

आयु बितानेका मार्ग	श्रेणी		गति	
१. कामोपभोगकोही पुरुषार्थ मानकर अहंकारसे, आसुरी बुद्धिसे, दंभसे या लोभसे केवल आत्मसुखके लिये कर्म करना (गीता १६. १६) – **आसुर** अथवा **राक्षसी मार्ग** है।	अधम		नरक	
१. प्राणिमात्रमें एकही आत्मा है – इस प्रकार परमेश्वरके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान न होनेपरभी वेदोंकी आज्ञा या शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार श्रद्धा और नीतिसे अपने अपने काम्य कर्म करना (गीता २. ४१–४४; ९–२०)– **केवल कर्म, त्रयी धर्म** अथवा **मीमांसक मार्ग** है।	मध्यम (मीमांसकोंके मतमें उत्तम)	जनक-वर्णित तीन निष्ठाएँ	स्वर्ग (मीमांसकोंके मतमें मोक्ष)	
१. शास्त्रोक्त निष्काम कर्मोंसे परमेश्वरका ज्ञान हो जानेपर अंतमें वैराग्यसे समस्त कर्म छोड़ केवल ज्ञानमेंही तृप्त हो रहना (गीता ५. २)– केवल **ज्ञान, सांख्य** अथवा **स्मार्त मार्ग** है।	उत्तम	जनक-वर्णित तीन निष्ठाएँ	मोक्ष	गीताकी दो निष्ठाएँ
१. पहले चित्तकी शुद्धिके निमित्त, और उससे परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर; फिर केवल लोकसंग्रहार्थ, मरणपर्यंत भगवानके समान निष्काम कर्म करते रहना (गीता ५. २) – **ज्ञानकर्मसमुच्चय, कर्मयोग** या **भागवत मार्ग** है।	सर्वोत्तम		मोक्ष	गीताकी दो निष्ठाएँ

सारांश, यही पक्ष गीतामें सर्वोत्तम ठहराया गया है, कि मोक्ष-प्राप्तिके लिये यद्यपि कर्मकी आवश्यकता नहीं है, तथापि उसके साथही साथ दूसरे कारणोंके लिये – अर्थात् एक तो अपरिहार्य समझकर और इसके सिवा जगत्के धारणपोषणके लिये आवश्यक मानकर – निष्काम बुद्धिसे सदैव समस्त कर्मोंको करते रहना चाहिये। अथवा गीताका अंतिम सिद्धान्त है, कि " कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिन :।" (मनु. १. ९७), मनुके इस वचनके अनुसार कर्तृत्व और ब्रह्मज्ञानका योग या मेलही सबसे उत्तम है; और निरा कर्तृत्व या कोरा ब्रह्मज्ञान, प्रत्येक एकदेशीय है।

वास्तवमें यह प्रकरण यहीं समाप्त हो गया। परंतु यह दिखलानेके लिये – कि गीताका सिद्धान्त श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित है – ऊपर भिन्न भिन्न स्थानोंपर जो वचन उद्धृत किये हैं, उनके संबंधमें कुछ कहना आवश्यक है। क्योंकि उपनिषदोंके सांप्रदायिक भाष्योंसे बहुतेरोंकी यह समझ हो गई है, कि समस्त उपनिषद संन्यास-प्रधान या निवृत्ति-प्रधान हैं। हमारा यह कथन नहीं, कि उपनिषदोंमें संन्यास-मार्ग प्रतिपादित हैही नहीं। बृहदारण्यकोपनिषदमें कहा है – यह अनुभव हो जानेपर, कि परब्रह्मके सिवा और कोई वस्तु सत्य नहीं है, " कुछ ज्ञानी पुरुष पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की " – चिंता न कर, " हमें संततिसे क्या काम ? संसारही हमारा आत्मा है ", यह कहकर आनंदसे भिक्षा माँगते हुए घूमते हैं। (४. ४. २२)। परंतु बृहदारण्यकमें यह नियम कहीं नहीं मिलता, कि समस्त ब्रह्मज्ञानियोंको यही पक्ष स्वीकार करना चाहिये। और क्या कहें ? जिसे यह उपदेश किया गया, उसका इसी उपनिषदमें वर्णन है, कि वह जनक राजा ब्रह्मज्ञानके शिखरपर पहुँचकर अमृत हो गया था। परंतु यह कहीं नहीं बतलाया है, कि उसने याज्ञवल्क्यके समान जगत्को छोड़ कर संन्यास ले लिया। इससे स्पष्ट होता है, कि जनकका निष्काम कर्मयोग और याज्ञवल्क्यका कर्मसंन्यास मार्ग – दोनों – बृहदारण्यकोपनिषदको विकल्प-रूपसे संमत हैं; और वेदान्तसूत्र-कर्तानेभी यही अनुमान किया है (वे. सू. ३. ४. १५)। कठोपनिषद् इससेभी आगे बढ़ गया है। पाँचवें प्रकरणमें हम यह दिखला चुके हैं, कि हमारे मतमें कठोपनिषदमें निष्काम कर्मयोगही प्रतिपाद्य है। छान्दोग्योपनिषदमें (छां. ८. १५. १) यही अर्थ प्रतिपाद्य है और यह स्पष्ट कह दिया है, कि " गुरुसे अध्ययन कर, फिर कुटुंबमें रहकर धर्मसे वर्तनेवाला ज्ञानी पुरुष ब्रह्मलोकको जाता है, वहाँसे फिर नहीं लौटता।" तैत्तिरीय तथा श्वेताश्वतर उपनिषदोंके इसी अर्थके वाक्य ऊपर दिये गये हैं; (तै. १. ९; श्वे. ६. ४)। इसके सिवा यहभी ध्यान देनेयोग्य बात है, कि उपनिषदोंमें जिन्होंने दूसरोंको ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया है, उनमें या उनके ब्रह्मज्ञानी शिष्योंमें, याज्ञवल्क्यके समान एक-आध पुरुषके अतिरिक्त, कोई ऐसा नहीं मिलता, जिसने कर्मत्यागरूप संन्यास लिया हो। इसके विपरीत, उनके वर्णनोंसे दीख पड़ता है, कि वे गृहस्थाश्रमीही थे। अतएव कहना पड़ता है, कि समस्त उपनिषद् संन्यास-प्रधान

नहीं हैं; इनमेंसे कुछमें तो संन्यास और कर्मयोगका विकल्प है और कुछमें सिर्फ़ ज्ञानकर्म-समुच्चयकाही प्रतिपादन है। परंतु उपनिषदोंके सांप्रदायिक भाष्योंमें ये भेद नहीं दिखलाये गये हैं; किंतु यही कहा गया है, कि समस्त उपनिषद् केवल एकही अर्थ – विशेषतः संन्यास – प्रतिपादन करते हैं। सारांश, सांप्रदायिक टीकाकारोंके हाथों गीताकी और उपनिषदोंकीभी एकही दशा हो गई है, अर्थात् गीताके कुछ श्लोकोंके समान उपनिषदोंके कुछ मंत्रोंकीभी इन भाष्यकारोंको खींचातानी करनी पड़ी है। उदाहरणार्थ, ईशावास्य उपनिषदको लीजिये। यद्यपि उपनिषद् छोटा अर्थात् सिर्फ़ अठारह श्लोकोंका है, तथापि इसकी योग्यता अन्य उपनिषदोंकी अपेक्षा अधिक समझी जाती है। क्योंकि यह उपनिषद् स्वयं वाजसनेयी संहितामेंही कहा गया है; और अन्यान्य उपनिषद् आरण्यक ग्रंथमें कहे गये हैं। यह बात सर्वमान्य है, कि संहिताकी अपेक्षा ब्राह्मण और ब्राह्मणोंकी अपेक्षा आरण्यक ग्रंथ उत्तरोत्तर कम प्रमाणके हैं। यह संपूर्ण ईशावास्योपनिषद् – अथसे इतिपर्यंत – ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक है। उसके पहले मंत्रमें (श्लोक) यह कहकर, कि " जगतमें जो कुछ है, उसे ईशावास्य अर्थात् परमेश्वराधिष्ठित समझना चाहिये; " दूसरेही मंत्रमें स्पष्ट कह दिया है, कि " जीवनभर सौ वर्ष निष्काम कर्म करते रहकरही जीते रहनेकी इच्छा रखो। ". वेदान्तसूत्रमें कर्मयोगका विवेचन करनेका जब समय आया, तब और अन्यान्य ग्रंथोंमेंभी ईशावास्यका यही वचन ज्ञान-कर्म-समुच्चयपक्षका समर्थकके नाते दिया हुआ मिलता है। परंतु ईशावास्योपनिषद् इतनेसेही पूरा नहीं हो जाता। दूसरे मंत्रमें कही गई बातका समर्थन करनेके लिये आगे 'अविद्या' (कर्म) और 'विद्या'के (ज्ञान) विवेचनका आरंभकर नवें मंत्रमें कहा है, कि " निरी अविद्याका (कर्म) करनेवाले पुरुष अंधकारमें घुसते हैं; और कोरी विद्यामें (ब्रह्मज्ञान) मग्न रहनेवाले पुरुष गहरे अँधेरेमें जा पड़ते हैं। " केवल अविद्या (कर्म) और केवल विद्याकी (ज्ञान) प्रत्येककी इस प्रकार अलग अलग लघुता दिखलाकर ग्यारहवें मंत्रमें नीचे लिखे अनुसार 'विद्या' और 'अविद्या', दोनों समुच्चयकी आवश्यकता इस उपनिषद्में वर्णनकी गई है :–

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

" जिसने विद्या (ज्ञान) और अविद्या (कर्म) इन दोनोंको एक दूसरीके साथ जान लिया, वह अविद्यासे (कर्मों) मृत्युको अर्थात् नाशवंत मायासृष्टिके प्रपंचको (भली भाँति) पार कर, विद्यासे (ब्रह्मज्ञानसे) अमृतत्वको प्राप्तकर लेता है। " – यही इस मंत्रका स्पष्ट और सरल अर्थ है। और यही अर्थ, विद्याको 'संभूति' अर्थात् जगत्का आदि कारण, एवं उससे भिन्न अविद्याको 'असंभूति' या 'विनाश' अर्थात् ये दूसरे नाम देकर इसके आगेके तीन मंत्रोंमें फिरसे दुहराया गया है (ईश. १२–१४)। इससे व्यक्त होता है, कि संपूर्ण ईशावास्योपनिषद् विद्या

और अविद्याका एककालीन (उभयं सह) समुच्चय प्रतिपादन करता है। उल्लिखित मंत्रमें 'विद्या' और 'अविद्या' शब्दोंके समानही मृत्यु और अमृत शब्द परस्पर-प्रतियोगी हैं। इनमेंसे अमृत शब्दसे 'अविनाशी ब्रह्म' अर्थ प्रकट है; और इसके विपरीत मृत्यु शब्दसे "नाशवंत मृत्युलोक या ऐहिक संसार" यह अर्थ निष्पन्न होता है; और ये दोनों शब्द इसी अर्थमें ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमेंभी आये हैं (ऋ. १०.१२९.२)। विद्या आदि शब्दोंके ये सरल अर्थ लेकर – अर्थात् विद्या = ज्ञान, अविद्या = कर्म, अमृत = ब्रह्म और मृत्यु = मृत्युलोक, ऐसा समझकर – यदि ईशावास्यके उल्लिखित ग्यारहवें मंत्रका अर्थ करें, तो प्रथम दीख पड़ेगा, कि इस मंत्रके पहले चरणमें विद्या और अविद्याका एककालीन समुच्चय वर्णित है; और उसी बातको दृढ करनेके लिये दूसरे चरणमें इन दोनोंमेंसे प्रत्येकका भिन्न भिन्न फल बतलाया है। ईशावास्योपनिषदको ये दोनों फल इष्ट हैं; और इसीलिये इस उपनिषदमें ज्ञान और कर्म, दोनोंका एककालीन समुच्चय प्रतिपादित हुआ है। मृत्युलोकके प्रपंचको अच्छी रीतिसे चलाने या उससे भली भाँति पार पड़नेकोही गीतामें 'लोकसंग्रह' नाम दिया गया है। यह सच है, कि मोक्ष प्राप्त करना मनुष्यका कर्तव्य है; परंतु उसके साथही उसे लोकसंग्रह करनाभी आवश्यक है; इसीसे गीताका सिद्धान्त है, कि ज्ञानी पुरुष यह लोकसंग्रहकारक कर्म न छोड़े; और यही सिद्धान्त शब्दभेदसे "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इस उल्लिखित मंत्रमें आ गया है। इससे प्रकट होगा, कि गीता उपनिषदोंको केवल पकड़ेही नहीं है; प्रत्युत ईशावास्योपनिषदमें स्पष्टतया वर्णित अर्थही गीतामें विस्तारसहित प्रतिपादित हुआ है। ईशावास्योपनिषद् जिस वाजसनेयी संहितामें है, उसी वाजसनेयी संहिताका भाग शतपथ ब्राह्मण है। इस शतपथ ब्राह्मणके आरण्यकमें बृहदारण्यकोपनिषद् आया है, जिसमें ईशावास्यका यह नवाँ मंत्र अक्षरशः ले लिया है, कि "कोरी विद्यामें (ब्रह्मज्ञान) मग्न रहनेवाले पुरुष गहरे अँधेरेमें जा पड़ते हैं" (बृ. ४.४.१०)। इस बृहदारण्यकोपनिषद्मेंही जनक राजाकी कथा है; और उसी जनकका दृष्टान्त कर्मयोगके समर्थनके लिये भगवान्‌ने गीतामें लिया है (गीता ३.२०)। इससे ईशावास्यका और भगवद्गीताके कर्मयोगका जो संबंध हमने ऊपर दिखलाया है, वही अधिक दृढ और निःसंशय सिद्ध होता है।

परंतु जिनका सांप्रदायिक सिद्धान्त ऐसा है, कि सभी उपनिषदोंमें मोक्षप्राप्तिका एकही मार्ग प्रतिपाद्य है और वहभी वैराग्यका या संन्यासकाही है; उपनिषदोंमें दो-दो मार्गोंका प्रतिपादन होना शक्य नहीं; उन्हें ईशावास्योपनिषदके स्पष्टार्थक मंत्रोंकाभी, खींचातानी कर, किसी प्रकार निराला अर्थ लगाना पड़ता है। ऐसा न करें, तो ये मंत्र उनके संप्रदायके प्रतिकूल हो जाते हैं; और ऐसा होने देना उन्हें इष्ट नहीं; इसीलिये ग्यारहवें मंत्रपर व्याख्यान करते समय शांकरभाष्यमें 'विद्या' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' न कर 'उपासना' किया गया है। यह नहीं, कि विद्या शब्दका

अर्थ उपासना न होता हो। शांडिल्यविद्या प्रभृति स्थानोंमें उसका अर्थ उपासनाही होता है; पर वह मुख्य अर्थ नहीं है। यहभी नहीं, कि श्रीशंकराचार्यके ध्यानमें यह बात आई न होगी या आई न थी। और तो क्या, उसका ध्यानमें न आना शक्यही न था। दूसरे उपनिषदोंमेंभी ऐसे वचन हैं – "विद्यया विन्दतेऽमृतम्" (केन. २. १२), अथवा "प्राणस्याध्यात्मं विज्ञायामृतमश्नुते" (प्रश्न. ३. १२)। मैत्र्युपनिषदके सातवें प्रपाठकमें "विद्यां चाविद्यां च" इत्यादि ईशावास्यका उल्लिखित ग्यारहवाँ मंत्रही अक्षरशः ले लिया है; और उससे सट करही, उसके पूर्व कठ. २. ४ और आगे कठ. २. ५ ये मंत्र दिये हैं। अर्थात् ये तीनों मंत्र एकही स्थानपर एकके पश्चात् एक दिये गये हैं; और बिचला मंत्र ईशावास्यका है; और तीनोंमेंभी 'विद्या' शब्द वर्तमान है। इसलिये कठोपनिषदमें विद्या शब्दका जो अर्थ है, वही (ज्ञान) अर्थ ईशावास्यमेंभी लेना चाहिये – मैत्र्युपनिषदका ऐसाही अभिप्राय प्रकट होता है। परंतु ईशावास्यके शांकरभाष्यमें कहा है, कि "यदि विद्या = आत्मज्ञान और अमृत = मोक्ष, ऐसे अर्थही ईशावास्यके ग्यारहवें मंत्रमें लें, तो कहना होगा, कि ज्ञान (विद्या) और कर्म (अविद्या)का समुच्चय इस उपनिषदमें वर्णित है; परंतु जब कि यह समुच्चय न्यायसे युक्त नहीं है, तब विद्या – देवतोपासना और अमृत = देवलोक, ये गौण अर्थही इस स्थान पर लेने चाहिये।" सारांश, प्रकट है, कि "ज्ञान होने पर संन्यास ले लेना चाहिये, कर्म नहीं करने चाहिये; क्योंकि ज्ञान और कर्मका समुच्चय कभीभी न्याय्य नहीं।" – शांकर-संप्रदायके इस मुख्य सिद्धान्तके विरुद्ध ईशावास्यका मंत्र न होने पावे; इसलिये विद्या शब्दका गौण अर्थ स्वीकारकर, समस्त श्रुति-वचनोंकी अपने संप्रदायके अनुरुप एकवाक्यता करनेके लिये, शांकरभाष्यमें ईशावास्यके ग्यारहवें मंत्रका ऊपर लिखे अनुसार अर्थ किया गया है। सांप्रदायिक दृष्टिसे देखें तो ये अर्थ महत्त्वकेही नहीं; प्रत्युत आवश्यकभी हैं। परंतु जिन्हें यह मूल सिद्धान्तही मान्य नहीं, कि समस्त उपनिषदोंमें एकही अर्थ प्रतिपादित रहना चाहिये, – दो मार्गोंका श्रुतिप्रतिपादित होना शक्य नहीं, – उन्हें उल्लिखित मंत्रमें विद्या और अमृत शब्दके अर्थ बदलनेके लिये कोईभी आवश्यकता नहीं रहती। यह तत्त्व मान लेनेसेभी, कि परब्रह्म 'एकमेवाद्वितीय' है, यह सिद्ध नहीं होता, कि उसके ज्ञानका उपाय एकसे अधिक न रहें। एकही अटारीपर चढ़नेके लिये दो जीने, वा एकही गाँव जानेके लिये जिस प्रकार दो मार्ग हो सकते हैं, उसी प्रकार मोक्षप्राप्तिके उपायोंकी या निष्ठाओंकी बात है; और इसी अभिप्रायसे भगवद्गीतामें स्पष्ट कह दिया है – "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा।" दो निष्ठाओंका होना संभवनीय कहने पर, कुछ उपनिषदोंमें केवल ज्ञाननिष्ठाका, तो कुछमें ज्ञान-कर्म-समुच्चय-निष्ठाका वर्णन आना कुछ अशक्य नहीं है। अर्थात् ज्ञाननिष्ठाका विरोध होता है, इसीसे ईशावास्योपनिषदके शब्दका सरल, स्वाभाविक और स्पष्ट अर्थ छोड़नेके लियेभी कोई कारण नहीं रह जाता। यह कहनेके लिये, कि श्रीमत्-

शंकराचार्यका आक्षेप सरल अर्थकी अपेक्षा संन्यासनिष्ठा-प्रधान एकवाक्यताकी ओर विशेष था, एक और दूसरा कारणभी है। तैत्तिरीय उपनिषदके शांकरभाष्यमें (तै. २. ११) ईशावास्य. मंत्रका इतनाही भाग दिया है कि "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते"; और उसके साथही यह मनुवचन भी दे दिया है, कि "तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते" (मनु. १२. १०४); और इन दोनोंही वचनोंमें 'विद्या' शब्दका एकही मुख्यार्थ अर्थात् ब्रह्मज्ञान आचार्यने स्वीकार किया है। परंतु यहाँ आचार्यका कथन है, कि "तीर्त्वा = तैरकर या पारकर", इस पदसे मृत्युलोकको तैर जानेकी क्रिया पहले पूरी हो जानेपर फिर (एक-साथही नहीं) विद्यासे अमृतत्व प्राप्त होनेकी क्रिया संघटित होती है। किंतु कहना नहीं होगा, कि यह अर्थ पूर्वार्धके 'उभयं सह' शब्दोंके विरुद्ध हो जाता है और प्रायः इसी कारणसे ईशावास्यके शांकरभाष्यमें यह अर्थ छोड़ दिया गया हो। कुछभी हो; ईशावास्यके ग्यारहवें मंत्रका शांकरभाष्यमें निराला व्याख्यान करनेका जो कारण है, वह इससे व्यक्त हो जाता है। यह कारण सांप्रदायिक है; और भाष्य-कर्ताकी सांप्रदायिक दृष्टि स्वीकार न करनेवालोंको प्रस्तुत भाष्यका यह व्याख्यान मान्य न होगा। यह बात हमेंभी मंजूर है, कि श्रीमच्छंकराचार्य जैसे अलौकिक ज्ञानी पुरुषके प्रतिपादन किये हुए अर्थको छोड़ देनेका प्रसंग यदि टले, तो अच्छा है! परंतु सांप्रदायिक दृष्टि त्यागनेसे ये प्रसंग तो आयेंगेही; और इसी कारण हमसे पहलेभी ईशावास्यके मंत्र – अर्थ शांकर-भाष्यसे विभिन्न प्रकारसे अर्थात् जैसे हम कहते हैं, वैसेही अन्य भाष्यकारोंने लगाये हैं। उदाहरणार्थ, वाजसनेयी संहितापर अर्थात् ईशावास्योपनिषदपरभी उवटाचार्यका जो भाष्य है, उसमें "विद्यां चाविद्यां च" इस मंत्रका व्याख्यान करते हुए ऐसा अर्थ दिया है, कि "विद्या = आत्मज्ञान और अविद्या = कर्म; इन दोनोंके एकीकरणसेही अमृत अर्थात् मोक्ष मिलता है।" अनंताचार्यने इस उपनिषदके अपने भाष्यमें इसी ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक अर्थको स्वीकार कर अंतमें साफ लिख दिया है, कि "इस मंत्रका सिद्धान्त और "यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते" (गीता ५. ५), गीताके इस वचनका अर्थ एकही है, एवं गीताके इस श्लोकमें जो 'सांख्य' और 'योग' शब्द हैं, वे क्रमसे 'ज्ञान' और 'कर्म'के द्योतक हैं।"* इसी प्रकार अपरार्कदेवनेभी

---

* पुणेंके आनंदाश्रममें ईशावास्योपनिषदकी जो पुस्तक छपी है, उसमें ये सभी भाष्य हैं; और याज्ञवल्क्य-स्मृतिकी अपरार्ककी टीकाभी आनंदाश्रममेंही पृथक् छपी है। प्रो. मेक्समुलरने उपनिषदोंका जो अनुवाद किये हैं, उनमें ईशावास्यका भाषांतर शांकरभाष्यके अनुसार नहीं है। उन्होंने भाषांतरके अंतमें इसके कारण बतलाये हैं (Sacred Books of the East Series, Vol. I. pp. 314–320)। अनंताचार्यका भाष्य मेक्समुलर साहबको उपलब्ध नहीं हुआ था; और उनके ध्यानमें यह बातभी आई हुई दीख नहीं पड़ती, कि शांकरभाष्यमें निराले अर्थ क्यों किये गये हैं?

याज्ञवल्क्य-स्मृतिकी (याज्ञ. ३. ५७; २०५) अपनी टीकामें ईशावास्यका ग्यारहवाँ मंत्र देकर, अनंताचार्यके समानही, उसका ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक अर्थ किया है। इससे पाठकोंके ध्यानमें आ जायेगा, कि आज हम नये सिरेसेही ईशावास्योपनिषदके मंत्रका शांकरभाष्यसे भिन्न अर्थ नहीं करते हैं।

यह तो हुआ स्वयं ईशावास्योपनिषदके मंत्रके संबंधका विचार। अब शांकर-भाष्यमें "तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते" यह जो मनुका वचन दिया है, उसकाभी थोड़ा-सा विचार करते हैं। मनुस्मृतिके बारहवें अध्यायमें यह १०४ क्रमांकका श्लोक है; और मनु. १२. ८६ से विदित होगा, कि वह प्रकरण वैदिक कर्मयोगका है। कर्मयोगके इस विवेचनमें :–

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।

पहले चरणमें यह बतलाकर, कि "तप और (च) विद्या, ये (अर्थात् दोनों) ब्राह्मणको उत्तम मोक्षदायक हैं," फिर उनमेंसे प्रत्येकका उपयोग दिखलानेके लिये दूसरे चरणमें कहा है, कि "तपसे दोष नष्ट हो जाते हैं और विद्यासे अमृत अर्थात् मोक्ष मिलता है।" इससे प्रकट होता है, कि इस स्थानपर ज्ञान-कर्म-समुच्चयही मनुको अभिप्रेत है; और ईशावास्यके ग्यारहवें मंत्रकाही अर्थ मनुने इस श्लोकमें वर्णन कर दिया है। हारीत-स्मृतिके वचनसेभी यही अर्थ अधिक दृढ होता है। यह हारीत-स्मृति स्वतंत्र तो उपलब्ध हैही; इसके सिवा नृसिंहपुराणमेंभी (नृ. पु. ५७–६१) आई है। इस नृसिंहपुराणमें (६१. ९–११) और हारीत-स्मृतिमें (हा. स्मृ. ७. ९–११) ज्ञान-कर्म-समुच्चयके संबंधमें ये श्लोक हैं :–

यथाश्वा रथहीनाश्च रथाश्चाश्वैर्विना यथा।
एवं तपश्च विद्या च उभावपि तपस्विनः ।।
यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम्।
एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत् ।।
द्वाभ्यामेव हि पक्षाभ्यां यथा वै पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्माभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम् ।।

"जिस प्रकार रथके बिना घोड़े और घोड़ोंके बिना रथ (नहीं चलते), उसी प्रकार तपस्वीके तप और विद्याकीभी स्थिति है। जिस प्रकार अन्न शहदसे संयुक्त हो; और शहद अन्नसे संयुक्त हो, उसी प्रकार तप और विद्याके (दोनोंके) संयुक्त होनेसे एक महौषधि बनती है। जैसे पक्षियोंकी गति दोनों पंखोंके योगसेही होती है, वैसेही ज्ञान और कर्मसे (दोनों) शाश्वत ब्रह्म प्राप्त होता है।" हारीत-स्मृतिके उपरोक्त वचन वृद्धात्रेय-स्मृतिके दूसरे अध्यायमेंभी पाये जाते हैं। इन वचनोंसे, और विशेषकर उनमें दिये गये दृष्टान्तोंसे, प्रकट हो जाता है, कि मनुस्मृतिके

वचनोंका क्या अर्थ लगाना चाहिये ? यह तो पहलेही कह चुके हैं, कि मनु तप शब्दमेंही चातुर्वर्ण्यके कर्मोंका समावेश करते हैं (मनु. ११. २३६); और अब दीख पड़ेगा, कि तैत्तिरीयोपनिषदमें ' तप और स्वाध्याय-प्रवचन ' इत्यदिका जो आचरण करनेके लिये कहा गया है (तै. १. ९), वहभी ज्ञान-कर्म-समुच्चय-पक्षको स्वीकार करही कहा गया है। संपूर्ण योगवासिष्ठ ग्रंथका तात्पर्यभी यही है। क्योंकि इस ग्रंथके आरंभमें सुतीक्ष्णने प्रश्न किया है, कि मुझे बतलाइये, कि मोक्ष कैसे मिलता है ? केवल ज्ञानसे, केवल कर्मसे, या दोनोंके समुच्चयसे ? और उसे उत्तर देते हुए हारीत-स्मृतिके पक्षीके पंखोंवाला, दृष्टान्त लेकर, पहले यह बतलाया है, कि " जिस प्रकार आकाशमें पक्षीकी गति दोनों पंखोंसेही होती है, उसी प्रकार ज्ञान और कर्म, इन्हीं दोनोंसे मोक्ष मिलता है। केवल एकसेही यह सिद्धि मिल नहीं जाती।" और आगे इसी अर्थको विस्तारसहित सिद्धकर दिखलानेके लिये संपूर्ण योगवासिष्ठ ग्रंथ कहा गया है (यो. १. १. ६–९)। इसी प्रकार वसिष्ठने रामको मुख्य कथामें स्थान-स्थानपर बार-बार यही उपदेश किया है, कि " जीवन्मुक्तके समान बुद्धिको शुद्ध रखकर तुम समस्त व्यवहार करो " (यो. ५. १८. १७–२६); या मरण-पर्यंत कर्मोंका छोड़ना उचित न होनेके कारण (यो. ६. उ. २. ४२), स्वधर्मके अनुसार प्राप्त राज्यको पालनेका काम करते रहो " (यो. ५. ५. ५४; ६. उ. २१३. ५०)। इस ग्रंथका उपसंहार और आगे श्रीरामचंद्रके किये हुए कामभी इसी उपदेशके अनुसार हैं। परंतु योगवासिष्ठके टीकाकार थे संन्यास-मार्गीय, इसलिये पक्षीके दो पंखोंवाली उपमाके स्पष्ट होने परभी, उन्होंने अंतमें अपनी ओर-से यह तुर्रा लगाही दिया, कि ज्ञान और कर्म, दोनों युगपत् अर्थात् एकही समयमें विहित नहीं हैं। परंतु बिना टीकाके मूल ग्रंथ पढ़नेसे किसीकेभी ध्यानमें सहजही आ जावेगा, कि टीकाकारोंका यह अर्थ खींचातानीका है; एवं क्लिष्ट और सांप्रदायिक है। मद्रास प्रांतमें योगवासिष्ठ-सरीखाही 'गुरुज्ञान-वासिष्ठ-तत्त्वसारायण' नामक एक ग्रंथ प्रसिद्ध है और उसके ज्ञानकांड, उपासनाकांड और कर्मकांड – ये तीन भाग हैं। हम पहले कह चुके हैं, कि यह ग्रंथ जितना पुराना बतलाया जाता है, उतना पुराना नहीं दिखता है। वह प्राचीन भलेही न हो; पर जब कि ज्ञान-कर्म-समुच्चय-पक्षही उसमें प्रतिपाद्य है, तब इस स्थानपर उसका उल्लेख करना आवश्यक है। इसमें अद्वैत वेदान्त है और निष्काम कर्मपरही बहुत जोर दिया गया है, इसलिये यह कहनेमें कोई हानि नहीं, कि उसका संप्रदायभी शंकराचार्यके संप्रदायसे भिन्न और स्वतंत्र है। मद्रासकी ओर इस संप्रदायका नाम 'अनुभवाद्वैत' है और वास्तविक देखनेसे ज्ञात होगा, कि गीताके कर्मयोगकी यह एक नकलही है। परंतु केवल भगवद्गीताकेही आधारसे इस संप्रदायको सिद्ध न कर, इस ग्रंथमें कहा है, कि कुल १०८ उपनिषदोंसेभी वही अर्थ सिद्ध होता है। इसमें रामगीता और सूर्यगीता, ये दो नई गीताएँभी दी हैं। कुछ लोगोंकी जो यह समझ है, कि अद्वैत मतको अंगीकार करना मानो

कर्म-संन्यास-पक्षको स्वीकार करनाही है, वह इस ग्रंथसे दूर हो जायगी। ऊपर दिये गये प्रमाणोंसे अब स्पष्ट हो जायगा, कि संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, धर्मसूत्र, मनु-याज्ञवल्क्य-स्मृति, महाभारत, भगवद्गीता, योगवासिष्ठ और अंतमें तत्त्वसारायण प्रभृति ग्रंथोंमें जो निष्काम कर्मयोग प्रतिपादित है, उसको श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित न मान केवल संन्यास-मार्गकोही श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कहना सर्वथा निर्मूल है।

इस मृत्युलोकके व्यवहार चलनेके लिये या लोकसंग्रहार्थ यथाधिकार निष्काम कर्म और मोक्षकी प्राप्तिके लिये ज्ञान, इन दोनोंका एककालीन समुच्चयही, अथवा महाराष्ट्र कवि शिवदिन-केसरीके वर्णनानुसार –

प्रपंच साधुनि परमार्थाचा लाहो ज्याने केला।
तो नर भला भला रे भला भला ॥ *

यही अर्थ गीतामें प्रतिपाद्य है। कर्मयोगका यह मार्ग प्राचीन कालसे चला आ रहा है; जनक प्रभृतिने इसी का आचरण किया है; और स्वयं भगवानके द्वारा इसका प्रसार और पुनरुज्जीवन होनेके कारण इसेही भागवत-धर्म कहते हैं। ये सब बातें अच्छी तरह सिद्ध हो चुकीं। अब लोकसंग्रहकी दृष्टिसे यह देखनाभी आवश्यक है, कि इस मार्गके ज्ञानी पुरुष परमार्थयुक्त अपना प्रपंच – जगतके व्यवहार – किस रीतिसे चलाते हैं? परंतु यह प्रकरण बहुत बढ़ गया है, इसलिये इस विषयका स्पष्टीकरण अगले प्रकरणमें करेंगे।

---

* "वही नर भला है, जिसने प्रपंच साध कर (संसारके सब कर्तव्योंका यथोचित पालन कर) परमार्थ याने मोक्षकी प्राप्तिभी कर ली हो।"

बारहवाँ प्रकरण

सिद्धावस्था और व्यवहार

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ॥ *

— महाभारत, शांति. २६१. ९

जिस मार्गका यह मत है, कि ब्रह्मज्ञान हो जानेसे जब बुद्धि अत्यंत सम और निष्काम हो जावे, तब शेष मनुष्यको आगे कुछभी कर्तव्य नहीं रह जाता; और इसीलिये ज्ञानी पुरुषको क्षणभंगुर संसारके दुःखमय और शुष्क व्यवहार विरक्त-बुद्धिसे सर्वथा छोड़ देने चाहिये, उस मार्कके पंडित इस बातको कदापि नहीं जान सकते, कि कर्मयोग अथवा गृहस्थाश्रमके बर्तावकाभी कोई विचार करने योग्य शास्त्र है। संन्यास लेनेभी पहले चित्तकी शुद्धि होकर ज्ञानप्राप्ति हो जानी चाहिये, इसीलिये उन्हें मंजूर है, कि संसार गृहस्थीके काम उस धर्मसेही करने चाहिये, कि जिससे चित्तवृत्ति शुद्ध होवे; अर्थात् वह सात्त्विक बने। इसीलिये वे समझते हैं, कि संसारमेंही सदैव बने रहना पागलपन है और जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी प्रत्येक मनुष्य संन्यास ले ले — यही इस जगतमें उसका परम कर्तव्य है। ऐसा मान लेनेसे कर्मयोगका स्वतंत्र महत्त्व कुछभी नहीं रह जाता; और इसीलिये संन्यासमार्गके पंडित गृहस्थीके कर्तव्योंके विषयमें कुछ थोड़ा-सा प्रासंगिक विचार करके, गार्हस्थ्य-धर्मके, कर्म-अकर्मके विवेचनका इससे अधिक विचार कभी नहीं करते, कि मनु आदि शास्त्रकारोंके बतलाये हुए चार आश्रमरूपी जीनेसे चढ़कर संन्यास आश्रमकी अंतिम सीढ़ी पर जल्दी पहुँच जाओ। इसीलिये कलियुगके संन्यासमार्गके पुरस्कर्ता श्रीशंकराचार्यने अपने गीता-भाष्यमें गीताके कर्मप्रधान वचनोंकी उपेक्षा की है, अथवा उन्हें केवल प्रशंसात्मक (अर्थवाद-प्रधान) कल्पित किया है; और अंतमें गीताका यह फलितार्थ निकाला है, कि कर्म-संन्यास-धर्म ही गीताभरमें प्रतिपाद्य है। और यही कारण है, कि दूसरे कितनेही टीकाकारोंने अपने अपने संप्रदायके अनुसार गीताके इस रहस्यका वर्णन किया है, कि भगवानने रणभूमिपर अर्जुनको निवृत्ति-प्रधान अर्थात् निरी भक्ति, या पातंजलयोग अथवा मोक्ष-मार्गकाही उपदेश किया है। इसमें कोई संदेह नहीं, कि संन्यास-मार्गका अध्यात्मज्ञान निर्दोष है। और इसके द्वारा प्राप्त होनेवाली साम्य-बुद्धि अथवा निष्काम अवस्थाभी गीताको

---

* " हे जाजले ! (कहना चाहियेकी) उसीने धर्मको जाना, कि जो कर्मसे, मनसे और वाणीसे सबका हित करनेमें लगा हुआ है; और जो सभीका नित्य स्नेही है। "

मान्य है। तथापि गीताको संन्यासमार्गका यह कर्मसंबंधी मत ग्राह्य नहीं है, कि मोक्ष-प्राप्तिके लिये अंतमें कर्मोंका सर्वथा छोड़ही बैठना चाहिये। पिछले प्रकरणमें हमने विस्तारसहित गीताका यह विशेष सिद्धान्त दिखलाया है, कि ब्रह्मज्ञानसे प्राप्त होनेवाले वैराग्य अथवा समतासेही ज्ञानी पुरुषको ज्ञान-प्राप्ति हो चुकने परभी सारे व्यवहार करते रहना चाहिये। जगतसे ज्ञानयुक्त कर्मको निकाल डालनेसे तो दुनिया अंधी हुई जाती है; और इससे उसका नाश हो जाता है; जब कि भगवानकीही इच्छा है, कि इस रीतिसे उसका नाश न हो, वह भली भाँति चलती रहे; तब ज्ञानी पुरुष-कोभी जगतके सभी कर्म निष्काम बुद्धिसे करते हुए सामान्य लोगोंको अच्छे वर्तावका प्रत्यक्ष नमूना दिखला देना चाहिये। इसी मार्गको अधिक श्रेयस्कर और ग्राह्य कहें, तो यह देखनेकी जरूरत पड़ती है, कि इस प्रकारका ज्ञानी पुरुष जगतके व्यवहार किस प्रकार करता है ? क्योंकि ऐसे ज्ञानी पुरुषका बर्तावही लोगोंके लिये आदर्श है। उसके कर्म करनेकी रीतिको परख लेनेसे धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य अथवा कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय कर देनेवाला साधन या युक्ति – जिसे हम खोज़ रहे थे – आप-ही-आप हमारे हाथ लग जाती है। संन्यास-मार्गकी अपेक्षा कर्म-योगमार्गकी यही तो विशेषता है। इंद्रियोंका निग्रह करनेसे जिस पुरुषकी व्यवसायात्मक बुद्धि स्थिर हो कर "सब भूतोंमें एक आत्मा" इस साम्यको परख लेनेमें समर्थ हो जाय, उसकी वासनाभी शुद्धही होनी चाहिये। इस प्रकार वासनात्मक बुद्धिके शुद्ध, सम, निर्मम और पवित्र हो जानेसे फिर वह कोईभी पाप या मोक्षके लिये प्रतिबंधक कर्म करही नहीं सकता, क्योंकि पहले वासना है; फिर तदनुकूल कर्म, जब कि क्रम ऐसा है, तब शुद्ध वासनासे होनेवाला कर्म शुद्धही होना चाहिये; और जो शुद्ध है, वही मोक्षके लिये अनुकूल है। अर्थात् हमारे आगे जो 'कर्म-अकर्म-विचिकित्सा' या 'कार्य-अकार्य-व्यवस्थिति'का बिकट प्रश्न था, कि पारलौकिक कल्याणके मार्गमें आड़े न आकर इस संसारमें मनुष्यमात्रको कैसा बर्ताव करना चाहिये, उसका अपनी करनीसे प्रत्यक्ष उत्तर देनेवाला गुरु अब हमें मिल गया (तै. १. ११. ४; गीता ३. २१)। अर्जुनके आगे ऐसा गुरु श्रीकृष्णके रूपमें प्रत्यक्ष खड़ा था और जब अर्जुनको यह शंका हुई कि "क्या, ज्ञानी पुरुष युद्ध आदि कर्मोंको बंधनकारक समझकर छोड़ दे ?" तब उसको इस गुरुने दूर बहा दिया और अध्यात्मशास्त्रके सहारे अर्जुनको भली भाँति समझा दिया, कि किस युक्तिसे जगतके व्यवहार करते रहनेपर पाप नहीं लगता; और उसे युद्धके लिये प्रवृत्त किया। किंतु ऐसा चोखा ज्ञान देनेवाले गुरु प्रत्येक मनुष्यको जब चाहे तब नहीं मिल सकते और तीसरे प्रकरणके अंतमें, "महाजनो येन गतः स पन्थाः" इस वचनका विचार करते हुए हम बतला चुके हैं, कि ऐसे महापुरुषोंके निरे ऊपरी बर्तावपर सर्वथा अवलंबित रहभी नहीं सकते। अतएव जगतको अपने आचरणसे शिक्षा देनेवाले इन ज्ञानी पुरुषोंके बर्तावकी बड़ी बारीकीसे जाँचकर विचार करना चाहिये, कि इनके बर्तावका यथार्थ रहस्य या

मूल तत्त्व क्या है ? इसेही कर्मयोगशास्त्र कहते हैं; और ऊपर जो ज्ञानी पुरुष बतलाये गये हैं, उनकी स्थिति और कृतिही इस शास्त्रका आधार है। इस जगतके सभी पुरुष यदि इस प्रकारके आत्मज्ञानी और कर्मयोगी हों, तो कर्मयोगशास्त्रकी जरूरतही न पड़ेगी। नारायणीय धर्ममें एक स्थानपर कहा है :–

> **एकान्तिनो हि पुरुषा दुर्लभा बहवो नृप।**
> **यद्येकान्तिभिराकीर्णं जगत् स्यात्कुरुनन्दन॥**
> **अहिंसकैरात्मविद्भिः सर्वभूतहिते रतैः।**
> **भवेन कृतयुगप्राप्तिः आशीः कर्मविवर्जिता॥**

"एकांतिक अर्थात् प्रवृत्ति-प्रधान भागवत धर्मका पूर्णतया आचरण करनेवाले अनेक पुरुषोंका मिलना कठिन है। आत्मज्ञानी, अहिंसक और प्राणिमात्रकी भलाईके लिये कर्म करनेवाले एकान्तधर्मके ज्ञानी पुरुषोंसे यदि यह जगतभर जावे, तो आशी : कर्म – अर्थात् काम्य अथवा स्वार्थ-बुद्धिसे किये हुए सारे कर्म – इस जगतसे दूर होकर फिर कृतयुग प्राप्त हो जावेगा" (शां. ३४८. ६२, ६३) ! क्योंकि ऐसी स्थितिमें सभी पुरुषोंके ज्ञानवान् रहनेसे कोई किसीका नुकसान तो करेगाही नहीं; प्रत्युत प्रत्येक मनुष्य सबके कल्याणपर ध्यान देकर तदनुसारही शुद्ध अंतःकरण और निष्काम बुद्धिसे अपना बर्ताव करेगा। हमारे शास्त्रकारोंका मत है, कि बहुत पुराने समयमें एक बार समाजकी ऐसीही स्थिति थी; और वह फिर कभी-न-कभी प्राप्त होगीही (मभा. शां. ५९. १४)। परंतु पश्चिमी पंडित अर्वाचीन इतिहासके आधारसे कहते हैं, कि पहले कभी ऐसी स्थिति नहीं थी, किंतु भविष्यमें मानव जातिके सुधारोंके सहारे कभी-न-कभी ऐसी स्थिति प्राप्त होनेकी संभावना है। जो हो; यहाँ इतिहासका विचार इस समय कर्तव्य नहीं है। हाँ, यह कहनेमें कोई हानि नहीं, कि समाजकी इस अत्युत्कृष्ट स्थिति अथवा पूर्णावस्थामें प्रत्येक मनुष्य परम ज्ञानी होगा; और वह जो व्यवहार करेगा, उसीको शुद्ध, पुण्यकारक, धर्म्य अथवा कर्तव्यकी पराकाष्ठा मानना चाहिये, इस मतको दोनोंही मानते हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज सृष्टिशास्त्र-ज्ञाता स्पेन्सरने इसी मतका अपने नीतिशास्त्रविषयक ग्रंथके अंतमें प्रतिपादन किया है, और कहा है, कि प्राचीन कालमें ग्रीस देशके तत्त्वज्ञानी पुरुषोंने यही सिद्धान्त किया था ! * उदाहरणार्थ, यूनानी तत्त्ववेत्ता प्लेटो अपने ग्रंथमें लिखता है, कि तत्त्वज्ञानी पुरुषको जो कर्म प्रशस्त जँचे, वही शुभकारक और न्याय्य है; साधारण मनुष्योंको ये धर्म विदित नहीं होते, इसलिये उन्हें तत्त्वज्ञ पुरुषकेही निर्णयको प्रमाण मान लेना चाहिये। आरिस्टॉटल नामक दूसरा ग्रीक तत्त्वज्ञ अपने नीतिशास्त्रविषयक ग्रंथमें (३. ४) कहता है, कि ज्ञानी पुरुषका निर्णय सदैव अचूक रहता है, कि वह सच्चे तत्त्वको जाने रहता है; और ज्ञानी

---

* Spencer's *Data of Ethics*, Chap. XV, pp. 275-278. स्पेन्सरने इसको Absolute Ethics नाम दिया है।

पुरुषका यह निर्णय या व्यवहारही औरोंको प्रमाणभूत है। एपिक्यूरस नामके एक और ग्रीक तत्त्वशास्त्रवेत्ताने इस प्रकारके प्रामाणिक परम ज्ञानी पुरुषके वर्णनमें कहा है, कि वह "शांत, सम-बुद्धिवाला और परमेश्वरके समान सदा आनंदमय रहता है; तथा उसको लोगोंसे अथवा उससे लोगोंको जरासाभी कष्ट नहीं होता"।* पाठकोंके ध्यानमें आही जावेगा, कि भगवद्गीतामें वर्णित स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत अथवा परम भक्त या ब्रह्मभूत पुरुषके वर्णनमें इस वर्णनकी कितनी समता है। "यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः" (गीता १२. १५) – जिससे लोक उद्विग्न नहीं होते अथवा जो लोगोंसे उद्विग्न नहीं होता, ऐसेही जो नित्य संतुष्ट है, जो हर्ष-खेद, भय-विषाद, सुख-दुःख आदि द्वंद्वोंसे मुक्त है, सदा अपने आपमेंही संतुष्ट है ("आत्मन्येवात्मना तुष्टः" गीता २. ५५) त्रिगुणोंसे जिसका अंतःकरण चंचल नहीं होता ("गुणैर्यो न विचाल्यते" गीता १४. २३), स्तुति या निंदा और मान या अपमान जिसे एक-से हैं; तथा प्राणिमात्रके अंतर्गत आत्माकी एकताको परखकर (गीता १८. ५४), साम्य-बुद्धिसे आसक्ति छोड़कर, धैर्य और उत्साहसे अपना कर्तव्य-कर्म करनेवाला अथवा सम-लोष्ट-अश्म-कांचन (गीता १४. २४) – इत्यादि प्रकारसे भगवद्गीतामेंभी स्थितप्रज्ञके लक्षण तीन-चार बार विस्तारपूर्वक बतलाये गये हैं और इसी अवस्थाको सिद्धावस्था या ब्राह्मी स्थिति कहा गया है। योगवासिष्ठ आदिके प्रणेता इसी स्थितिको जीवनमुक्तावस्था कहते हैं। इस स्थितिका प्राप्त हो जाना अत्यत दुर्घट है, अतएव जर्मन तत्त्ववेत्ता कांटका कथन है, कि ग्रीक पंडितोंने इस स्थितिका जो वर्णन किया है, वह किसीएक वास्तविक पुरुषका वर्णन नहीं है; बल्कि शुद्ध नीतिके तत्त्वोंको लोगोंके मनमें भर देनेके लिये समस्त नीतिको मूलभूत शुद्ध वासनाकोही मनुष्य-देह देकर उन्होंने परले सिरेके ज्ञानी और नीतिमान् पुरुषका चित्र अपनी कल्पनासे तैयार किया है। लेकिन हमारे शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है, कि यह स्थिति काल्पनिक नहीं, बिलकुल सच्ची है, और मनका निग्रह तथा प्रयत्न करनेसे इसी लोकमें प्राप्त हो जाती है और इस बातका प्रत्यक्ष अनुभवभी हमारे देशवालोंको प्राप्त है। तथापि यह बात साधारण नहीं है। गीतामें (गीता ७. ३) स्पष्टही कहा है, कि हजारों मनुष्योंमें कोई एक-आध मनुष्य इसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है; और प्रयत्न करनेवालों इन हजारोंमेंसे किसी विरलेकोही अनेक जन्मोंके अनंतर यह परमावधिकी स्थिति अंतमें प्राप्त होती है।

---

* Epicurus held the virtuous state to be "a tranquil, undisturbed, innocuous, non-competitive fruition, which approached most nearly to the perfect happiness of the Gods, who "neither suffered vexation in themselves, nor caused vaxation to others." Spencer's *Data of Ethics*, p. 278, Bain's *Mental and Moral Science*, Ed. 1875, p. 530 इसीको Ideal Wise Man कहा है।

स्थितप्रज्ञ अवस्था या जीवनमुक्त अवस्था कितनीही दुष्प्राप्य क्यों न हो, पर जिस पुरुषको यह परमावधिकी सिद्धि एक बार प्राप्त हो गयी, उसे कार्य-अकार्यके अथवा नीतिशास्त्रके नियम बतलानेकी कभी आवश्यकता नहीं रहती – ऊपर इसके जो लक्षण बतला दिये हैं, उन्हींसे आगे यह बात वस्तुतः निष्पन्न हो जाती है। क्योंकि परमावधिकी शुद्ध, सम और पवित्र बुद्धिही नीतिका सर्वस्व है, इस कारण ऐसे स्थितप्रज्ञ पुरुषके लिये नीति-नियमोंका उपयोग करना मानो स्वयंप्रकाश सूर्यके समीप अंधकार होनेकी कल्पना करके उसे मशाल दिखलानेके समान असमंजसमें पड़ना है। किसी एक-आध पुरुषके इस पूर्णावस्थामें पहुँचने या न पहुँचनेके संबंधमें शंका हो सकेगी। परंतु जब एकबार निश्चय हो जाय, कि किसीभी रीतिसे क्यों न हो, कोई पुरुष इस पूर्णावस्थामें पहुँच गया है, तब उसके पापपुण्यके संबंधमें, अध्यात्म-शास्त्रके उल्लिखित सिद्धान्तको छोड़ और कोई कल्पनाही नहीं की जा सकती। कितनेक पश्चिमी राजधर्म-शास्त्रियोंके मतानुसार, जिस प्रकार एक स्वतंत्र पुरुषमें या पुरुषसमूहमें राजसत्ता अधिष्ठित रहती है और राजनियमोंसे प्रजाके बँधे रहनेपरभी, राजा उन नियमोंसे मुक्त रहता है, ठीक उसी प्रकार नीतिके राज्यमें स्थितप्रज्ञ पुरुषोंका अधिकार रहता है। उनके मनमें कोईभी काम्य बुद्धि नहीं रहती, अतः केवल शास्त्रसे प्राप्त कर्तव्योंको छोड़ और किसीभी हेतुसे कर्म करनेके लिये वे प्रवृत्त नहीं हुआ करते; अतएव अत्यंत निर्मल और शुद्ध वासनावाले इन पुरुषोंके व्यवहारको पाप या पुण्य, नीति या अनीति शब्द कदापि लागू नहीं होते। वे तो पाप और पुण्यसे परे, बहुत दूर, पहुँच जाते हैं। श्रीशंकराचार्यने कहा है :–

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।

"जो पुरुष त्रिगुणातीत हो गये, उनको विधिनिषेधरूपी नियम बाँध नहीं सकते।" और बौद्ध ग्रंथकारोंनेभी लिखा है, कि "जिस प्रकार उत्तम हीरेको घिसना नहीं पड़ता, उसी प्रकार जो निर्वाणपदका अधिकारी हो गया, उसके कर्मको विधिनियमोंका अडंगा लगाना नहीं पड़ता" (मिलिंदप्रश्न ४.५.७)। कौषीतकी उपनिषद (कौषी. ३.१)में इंद्रने प्रतर्दनसे जो यह कहा है कि आत्मज्ञानी पुरुषोंको "मातृहत्या, पितृहत्या अथवा भ्रूणहत्या आदि पापभी नहीं लगते।" अथवा गीता (गी. १८.१७)में जो यह वर्णन है, कि अहंकार-बुद्धिसे सर्वथा विमुक्त पुरुष यदि लोगोंको मारभी डाले, तोभी वह पाप-पुण्यसे सर्वदा अलिप्तही रहता है, उसका तात्पर्यभी यही है (पंचदशी १४.१६, १७)। 'धम्मपद' नामक बौद्ध ग्रंथमें इसी तत्त्वका अनुवाद किया गया है (धम्मपद, श्लोक २९४, २९५)।* नई बाइबलमें ईसाके शिष्य

---

* कौषीतकी उपनिषद्का वाक्य यह है–"यो मां विजानीयान्नास्य केनचित् कर्मणा लोको मीयते न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया।" और धम्मपदका श्लोक इस प्रकार है :–

पौलने जो यह कहा है, कि " मुझे सभी बातें (एकही-सी) धर्म्य हैं (१ कारिं. ६. १२; रोम. ८. २), उसका आशय जानके या इस वाक्यका – कि " जो भगवानके पुत्र (पूर्ण भक्त) हो गये, उनके हाथसे कभी पाप हो नहीं सकता " (जा. १. ३. ९)– आशयभी हमारे मतमें ऐसाही है। जो शुद्ध बुद्धिको प्रधानता न देकर केवल ऊपरी कर्मोंसेही नीतिका निर्णय करना सीखे हुए हैं, उन्हें यह सिद्धान्त अद्भुत-सा मालूम होता है; और " विधिनियमोंसे परेका ", " मनमाना भलाबुरा करनेवाला ", ऐसा अपनेही मनका कुतर्कपूर्ण अर्थ करके कुछ लोग उल्लिखित सिद्धान्तका इस प्रकार विपर्यास करते हैं, कि " स्थितप्रज्ञको सभी बुरे कर्म करनेकी स्वतंत्रता है।" पर अंधेको खंभा न दीख पड़े, तो जिस प्रकार खंभा दोषी नहीं है, उसी प्रकार पक्षाभिमानके अंधे इन आक्षेप-कर्ताओंको उल्लिखित सिद्धान्तका ठीक ठीक अर्थ अवगत न हो, तो उसका दोषभी इस सिद्धान्तके मत्थे नहीं थोपा जा सकता। इसे गीताभी मानती है, कि किसीकी शुद्ध बुद्धिकी परीक्षा पहले पहल उसके बाहरी आचरणसेही करनी पड़ती है और जो इस कसौटीपर चौकस सिद्ध होनेमें अभी कुछ कम हैं, उन अपूर्णावस्थाके लोगोंको उक्त सिद्धान्त लागू करनेकी इच्छा अध्यात्मवादीभी नहीं करते। पर जब किसीकी बुद्धिके पूर्ण ब्रह्मनिष्ठ और निःसीम निष्काम होनेमें तिलभरभी संदेह न रहे, तब उस पूर्णावस्थामें पहुँचे हुए सत्पुरुषकी बात निराली हो जाती है। उसका एक-आध काम यदि लौकिक दृष्टिसे विपरीत दीख पड़े तोभी तत्त्वतः यही कहना पड़ता है, कि वह काम दीखनेमें कैसाभी क्यों न हो, उसका बीज निर्दोषही होना चाहिये। अथवा वह शास्त्रकी दृष्टिसे किसी योग्य कारणसे ही हुआ होगा, साधारण मनुष्योंके कामोंके समान उसका लोभमूलक या अनीतिका होना संभव नहीं है; क्योंकि उस सत्पुरुषकी बुद्धिकी पूरी शुद्धता और समता पहलेसेही निश्चित रहती है। बाइबलमें लिखा है, कि

मातरं पितरं हंत्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रठ्ठं सानुचरं हंत्वा अनीघो याति ब्राह्मणो॥
मातरं पितरं हंत्वा राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घपंचमं हंत्वा अनीघो याति ब्राह्मणो॥

प्रकट है, कि धम्मपदमें यह कल्पना कौषीतकी उपनिषदसे ली गई है। किंतु बौद्ध ग्रंथकार प्रत्यक्ष मातृवध या पितृवध अर्थ न करके 'माता'का तृष्णा और 'पिता'का अभिमान अर्थ करते हैं। लेकिन हमारे मतमें इस श्लोकका नीतितत्त्व बौद्ध ग्रंथकारोंको भली भाँति ज्ञात नहीं हो पाया, इसीसे उन्होंने यह औपचारिक अर्थ लगाया है। कौषीतकी उपनिषदमें 'मातृवधेन पितृवधेन' इत्यादि मंत्रके पहले इंद्रने कहा है, कि "यद्यपि मैंने वृत्त अर्थात् ब्राह्मणका वध किया है, तोभी मुझे उससे पाप नहीं लगता।" इससे स्पष्ट होता है, कि यहाँपर प्रत्यक्ष वधही विवक्षित है। धम्मपदके अंग्रेजी अनुवादमें (S. B. E. Vol. X. pp. 70, 71) मेक्समूलर साहबने श्लोकोंकी जो टीका की है, हमारे मतमें वहभी ठीक नहीं है।

अब्राहम अपने पुत्रका बलिदान देना चाहता था; तोभी उसे पुत्रहत्या कर डालनेके प्रयत्नका पाप नहीं लगा; या बुद्धके शापसे उसका ससुर मर गया, तोभी उसे मनुष्य-हत्याका पातक छूतक नहीं गया; अथवा माताको मार डालनेपरभी परशुरामके हाथसे मातृहत्या नहीं हुई; उसका कारणभी यही (तत्त्व) है (जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है)। गीतामें अर्जुनको जो यह उपदेश किया है, कि "तेरी बुद्धि यदि पवित्र और निर्मल हो, तो फलाशा छोड़कर केवल क्षात्रधर्मके अनुसार युद्धमें भीष्म और द्रोणको मार डालनेसेभी न तो तुझे पितामहके वधका पातक लगेगा और न गुरुहत्याका दोषभी। क्योंकि ऐसे समय ईश्वरी संकेतकी सिद्धिके लिये तू तो केवल निमित्त हो गया है" (गीता ११. ३३) उसमेंभी यही तत्त्व भरा है। व्यवहारमेंभी हम यही देखते हैं, कि यदि किसी लखपतिने किसी भीखमंगेसे दो पैसे छीन लिये हो, तो उस लखपतिको तो कोई चोर कहता नहीं, उलटे यही समझ लिया जाता है, कि भिखारीनेही कुछ अपराध किया होगा, कि जिसका लखपतिने उसको दंड दिया हो। यही न्याय इससेभी अधिक समर्पक रीतिसे या पूर्णतासे स्थितप्रज्ञ, अर्हत और भगवद्भक्तके बर्तावको उपयोगी होता है। क्योंकि लखपतिकी बुद्धि एक बार भलेही डिग जाय; परंतु यह जानीबूझी बात है, कि स्थितप्रज्ञकी बुद्धिको ये विकार कभी स्पर्श तक नहीं कर सकते। सृष्टिकर्ता परमेश्वर सब कर्म करनेपरभी जिस प्रकार पापपुण्यसे अलिप्त रहता है, उसी प्रकार इन ब्रह्मभूत साधु-पुरुषोंकी स्थिति सदैव पवित्र और निष्पाप रहती है। और तो क्या, समय समय पर ऐसे पुरुष स्वेच्छा अर्थात् अपनी मर्जीसे जो व्यवहार करते हैं, उन्हींसे आगे चलकर विधि-नियमोंके निर्बंध बन जाते हैं, और इसीसे कहते हैं, कि ये सत्पुरुष इन विधि नियमोंके जनक (उपजानेवाले) हैं – वे इनके दास कभी नहीं हो सकते। न केवल वैदिक धर्ममें, प्रत्युत बौद्ध और इसाई धर्ममेंभी यही सिद्धान्त पाया जाता है; तथा प्राचीन ग्रीक तत्त्वज्ञानियोंकोभी यह तत्त्व मान्य हो गया था; और अर्वाचीन कालमें कांटने* अपने नीतिशास्त्रके ग्रंथमें उपपत्तिसहित यही सिद्ध कर दिखलाया है। इस प्रकार नितिनियमोंके कभीभी गँदले न होनेवाले मूल झरने या निर्दोष पाठका (आदर्श) निश्चय हो चुकनेपर आपही सिद्ध हो जाता है, कि नीतिशास्त्र या कर्मयोगशास्त्रके मूल तत्त्व देखनेकी जिसे अभिलाषा

---

* "A perfectly good will would therefore be equally subject to objective laws (viz. laws of good), but could not be conceived as *obliged* thereby to act lawfully, because of itself from its subjective constitution it can only be determined by the conception of good. Therefore *no imperatives* hold for the Divine will, or in general for *a holy* will; *ought* is here out of place, because the volition is already of itself necessarily in unison with the law. *Kant's Metaphysic of Morals* p. 31. (Abbott's trans. in Kant's *Theory of Ethics*, 6th Ed.) नित्शे किसीभी आध्यात्मिक उपपत्तिको स्वीकार नहीं करता,

हो, उसे इन उदार और निष्कलंक सिद्ध पुरुषोंके चरित्रोंकाही सूक्ष्म अवलोकन करना चाहिये। इसी अभिप्रायसे भगवद्गीतामें अर्जुनने श्रीकृष्णसे ये प्रश्न पूछे हैं, कि "स्थितधि: किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्" (गीता २.५४) – स्थितप्रज्ञ पुरुषका बोलना, बैठना और चलना कैसे होता है? अथवा चौदहवें अध्यायमें, "कैर्लिंगैस्त्रीन् गुणान् एतान् अतीतो भवति प्रभो, किमाचार:" (गीता १४.२१) – पुरुष त्रिगुणातीत कैसे होता है? उसका आचार क्या है? और उसको किस प्रकार पहचानना चाहिये? किसी सराफ़के पास सोनेका जेवर जँचवानेके लिये ले जानेपर अपनी दूकानमें रखी कसौटीपर उसको परख कर, फिर वह जिस प्रकार उसका खरा-खोटापन बतलाता है, उसी प्रकार कार्य-अकार्य या धर्म-अधर्मका निर्णय करनेके लिये स्थितप्रज्ञका बर्ताव एक कसौटी है। अत: गीताके उक्त प्रश्नोंमें यही अर्थ गर्भित है, कि मुझे उस कसौटीका ज्ञान करा दीजिये। अर्जुनके उपरोक्त प्रश्नोंका उत्तर देते हुए भगवानने स्थितप्रज्ञ अथवा त्रिगुणातीतकी स्थितिके जो वर्णन किये हैं, उन्हें कुछ लोग संन्यास-मार्गवाले ज्ञानी पुरुषोंके बतलाते हैं, उन्हें वे कर्मयोगियोंके नहीं मानते। क्योंकि संन्यासियोंको उद्देश्यकरही 'निराश्रय:' (गीता ४.२०) विशेषणका गीतामें प्रयोग हुआ है, और बारहवें अध्यायमें स्थितप्रज्ञ भगवद्भक्तोंका वर्णन करते समय 'सर्वारंभपरित्यागी' (गीता १२.१६) एवं 'अनिकेत:' (गीता १२.१९), इन स्पष्ट पदोंका प्रयोग किया गया है। परंतु निराश्रय अथवा अनिकेत पदोंका अर्थ "घरबार छोड़कर जंगलोंमें भटकनेवाला" विवक्षित नहीं है, किंतु इसका अर्थ "अनाश्रित: कर्मफलं"के (गीता ६.१) समानार्थकही करना चाहिये – अर्थात् "कर्मफलका आश्रय न करनेवाला" अथवा "जिसके मनमें फलके लिये ठौर नहीं" इस ढंगका हो जायगा। गीताके अनुवादमें इन श्लोकोंके नीचे जो टिप्पणियाँ दी हैं, उनसे यह बात स्पष्ट दीख पड़ेगी। इसके अतिरिक्त स्थितप्रज्ञके वर्णनमेंही कहा है, कि "इंद्रियोंको अपने वशमें रख कर व्यवहार करनेवाला" अर्थात् वह निष्काम कर्म करनेवाला होता है (गीता २.६४)। और जिस श्लोकमें उक्त 'निराश्रय' पद आया है, वहाँ यह वर्णन है, कि "कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति स:" अर्थात् समस्त कर्म करकेभी वह अलिप्त रहता है। बारहवें अध्यायके अनिकेत आदि पदोंके लिये इसी न्यायका उपयोग करना चाहिये। क्योंकि इस अध्यायमें पहले कर्मफलके त्यागकी (कर्मत्यागकी नहीं) प्रशंसा कर चुकनेपर (गीता १२.१२) फलाशा त्यागकर कर्म करनेसे मिलनेवाली शांतिका दिग्दर्शन करनेके लिये आगे भगवद्भक्तके लक्षण बतलाये ह; और ऐसेही अठारहवें अध्यायमेंभी यह दिखलानेके

तथापि उसने अपने ग्रंथमें उत्तम पुरुषका (Superman) जो वर्णन किया है, उसमें कहा है, कि उल्लिखित पुरुष भले और बुरेसे परे रहता है। उसके एक ग्रंथका नामभी *Beyond Good and Evil* है।

लिये – कि आसक्तिविरहित कर्म करनेसे शांति कैसे मिलती है – ब्रह्मभूत पुरुषका पुन: वर्णन आया है (गीता १८.५०)। अतएव यह मानना पड़ता है, कि ये सब वर्णन संन्यासमार्गवालोंके नहीं हैं; किंतु कर्मयोगी पुरुषोंकेही हैं। कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ और संन्यासी स्थितप्रज्ञ, दोनोंका ब्रह्मज्ञान, शांति, आत्मौपम्य और निष्काम बुद्धि अथवा नीतितत्त्व पृथक् पृथक् नहीं हैं। दोनों, पूर्ण ब्रह्मज्ञानी हैं, इस कारण दोनोंकी मानसिक स्थिति और शांति एक-सी होती हैं। परंतु इन दोनोंमें कर्म-दृष्टिसे महत्त्वका भेद यह है, कि पहला निरी शांतिमें डूबा रहता है; और किसीकीभी चिंता नहीं करता; तथा दूसरा अपनी शांति एवं आत्मौपम्य बुद्धिका व्यवहारमें यथासंभव नित्य उपयोग किया करता है। अत: यह न्यायसे सिद्ध है, कि व्यावहारिक धर्म-अधर्म-विवेचनके काममें, जिसके प्रत्यक्ष व्यवहारको प्रमाण मानना है, वह स्थितप्रज्ञ कर्म करनेवालाही होना चाहिये; यहाँ कर्मत्यागी साधु अथवा भिक्षुका विवक्षित होना संभव नहीं है। गीतामें अर्जुनको किये गये समग्र उपदेशका सार यह है, कि कर्मोंके छोड़ देनेकी न तो जरूरत है और न वे छूटभी सकते हैं ब्रह्मात्मैक्यका ज्ञान प्राप्त कर कर्मयोगीके समान व्यवसायात्मक बुद्धिको साम्यावस्थामें रखना चाहिये, जिससे उसके साथ-ही-साथ वासनात्मक बुद्धिभी सर्वदा शुद्ध, निर्मम और पवित्र रहेगी, एवं कर्मका बंधन न होगा। यही कारण, है, कि इस प्रकरणके आरंभके श्लोकमें यह धर्मतत्त्व बतलाया गया है, कि "केवल वाणी और मनसेही नहीं; किंतु प्रत्यक्ष कर्मसे जो सबका स्नेही और हितकर्ता हो गया, उसेही धर्मज्ञ कहना चाहिये।" जाजलिको यह धर्मतत्त्व बतलाते समय तुलाधारने वाणी और मनके साथही – बल्कि उससेभी पहले – उसमें कर्मकाभी प्रधानतासे निर्देश किया है।

कर्मयोगी स्थितप्रज्ञकी अथवा जीवन्मुक्तकी बुद्धिके अनुसार सब प्राणियोंमें जिसकी साम्यबुद्धि हो गई; और जिसके स्वार्थका परार्थमें सर्वथा लय हो गया, उसको आगे विस्तृत नीतिशास्त्र सुनानेकी जरूरत नहीं। वह तो आप ही स्वयंप्रकाश अथवा 'बुद्ध' हो गया। अर्जुनका अधिकार इसी प्रकारका था। अत: उसे इससे अधिक उपदेश करनेकी जरूरतही न थी, कि "तू अपनी बुद्धिको सम और स्थिर कर;" तथा "कर्मको त्याग देनेके व्यर्थ भ्रममें न पड़कर स्थितप्रज्ञकी-सी बुद्धि रख और स्वधर्मके अनुसार प्राप्त सभी सांसरिक कर्म किया कर।" तथापि यह साम्य बुद्धिरूप योग सभीको एकही जन्ममें प्राप्त नहीं हो सकता, इसीसे साधारण लोगोंके लिये स्थितप्रज्ञके बर्तावका और थोड़ा-सा विवेचन करना चाहिये। परंतु यह विवेचन करते समय भली भाँति स्मरण रहे, कि हम जिस स्थितप्रज्ञका विचार करेंगे, वह कृतयुगके पूर्णावस्थामें पहुँचे हुए समाजमें रहनेवाला नहीं है; बल्कि जिस समाजके बहुतेरे लोग स्वार्थमेंही डूबे रहते हैं, उसी कलियुगी समाजमें उसे बर्ताव करना है। क्योंकि मनुष्यका ज्ञान कितनाही पूर्ण क्यों न हो गया हो और उसकी बुद्धि साम्या-

वस्थामें कितनीही क्यों न पहुँच गई हो, तोभी उसे ऐसे लोगोंके साथ बर्ताव करना है, जो काम-क्रोध आदिके चक्करमें पड़े हुए हैं; और जिनकी बुद्धि अशुद्ध है। अतएव इन लोगोंके साथ व्यवहार करते समय यदि वह अहिंसा, दया, शांति और क्षमा आदि नित्य एवं परमावधिके सद्‌गुणोंकोही सब प्रकारसे सर्वदा स्वीकार करें, तो उसका निर्वाह न होगा।* अर्थात् जहाँ सभी स्थितप्रज्ञ हैं, उस समाजकी उन्नत नीति या धर्म-अधर्मसे, उस समाजके धर्म-अधर्म कुछ कुछ भिन्न तो रहेंगेही – कि जिसमें लोभी पुरुषोंकीही भरमार अधिक होगी – वरना साधु पुरुषोंको यह जगत् छोड़ देना पड़ेगा; और सर्वत्र दुष्टोंकाही बोलबाला हो जावेगा। इसका अर्थ यह नहीं है, कि साधु पुरुषको अपनी समता-बुद्धि छोड़ देनी चाहिये। फिरभी समता-समतामेंभी भेद है। गीतामें कहा है, कि "ब्राह्मणे गवि हस्तिनि" (गीता ५. १८) – ब्राह्मण, गाय और हाथीमें पंडितोंकी सम-बुद्धि होती है, इसलिये यदि कोई गायके लिये लाया हुआ चारा ब्राह्मणको और ब्राह्मणके लिये बनाई गई रसोई गायको खिलाने लगे, तो क्या उसे पंडित कहेंगे? संन्यास-मार्गवाले इस प्रश्नका महत्त्व भले न मानें; पर कर्मयोगशास्त्रकी बात ऐसी नहीं है। दूसरे प्रकरणके विवेचनसे पाठक यह जान गयेही होंगें, कि कृतयुगी समाजके पूर्णावस्थावाले धर्म-अधर्मके स्वरूपपर ध्यान रखकर स्वार्थपरायण लोगोंके समाजमें स्थितप्रज्ञ यह निश्चय करके बर्ताव है, कि देशकालके अनुसार उसमें कौन कौन फ़र्क कर देने चाहिये। और कर्मयोगशास्त्रका यही तो बिकट प्रश्न है। साधु पुरुष स्वार्थपरायण लोगोंपर नाराज नहीं होते अथवा उनकी लोभ-बुद्धि देखकर वे अपने मनकी समता डिगने नहीं देते; उलटे इन्हीं लोगोंके कल्याणके लियेही अपने उद्योग केवल कर्तव्य समझ कर वैराग्यसे जारी रखते हैं। इसी तत्त्वको मनमें रखकर श्रीसमर्थ रामदासस्वामीने दासबोधके पूर्वार्धमें पहले ब्रह्मज्ञान बतलाया है; और फिर ग्यारहमें दशकमें (दास. ११. १०; १२. ८–१०; १५. २) इसका वर्णन आरंभ किया है, कि स्थितप्रज्ञ या उत्तम

---

* "In the second place, ideal conduct such as ethical theory is concerned with, is not possible for the ideal man in the midst of men otherwise constituted. An absolutely just or perfectly sympathetic person, could not live and act according to his nature in a tribe of cannibals. Among people who are treacherous and utterly without scruple, entire truthfulness and openness must bring ruin." 'Spencer's *Data of Ethics*, Chap XV, p. 280 स्पेन्सरने इसे Relative Ethics कहा है; और वह कहता है, कि On the evolution-hypothesis, the two (Abosolute and Relative Ethics) presuppose one another and only when they co-exist, can there exist that ideal conduct which Absolute Ethics has to formulate, and which Relative Ethics has to take as the standard by which to estimate divergencies from right, or degrees of wrong."

पुरुष साधारण लोगोंको चतुर बनानेके लिये वैराग्यसे अर्थात् निःस्पृहतासे लोक-संग्रहके निमित्त उद्योग किस प्रकार किया करते हैं; और आगे अठारहवें दशकमें (दास. १८. २) कहा है, कि सभीको ज्ञानी पुरुष अर्थात् जानकारके ये गुण – कथा, बातचीत, युक्ति, दाव-पेंच, प्रसंग, साक्षेप, तर्क, चतुराई, राजनीति, सहन-शीलता, तीक्ष्णता, उदारता, अध्यात्मज्ञान, भक्ति, अलिप्तता, वैराग्य, धैर्य, उत्साह, कठोरता, निग्रह, समता और विवेक आदि – सिखने चाहिये। परंतु इस निःस्पृह साधुको लोभी मनुष्योंमेंही बर्तना है, इसलिये अंतमें (दास. १९. ९. ३०) श्रीसमर्थका यह उपदेश है, कि " लठ्ठका सामना लठ्ठहीसे करा देना चाहिये। उजड्डके लिये उजड्डही चाहिये; और नटखटके सामने नटखटकीही आवश्यकता है।" तात्पर्य, यह निर्विवाद है, कि पूर्णावस्थासे व्यवहारमें उतरनेपर अत्युच्च श्रेणीके धर्म-अधर्ममें थोड़ा-बहुत अंतर कर देना पड़ता है।

इसपर आधिभौतिकवादियोंकी शंका है, कि पूर्णावस्थाके समाजसे नीचे उतरनेपर अनेक बातोंके सार-असारका विचार करके परमावधिके नीति-धर्ममें यदि थोड़ा-बहुत फ़र्क़ करनाही पड़ता है, तो नीति-धर्मकी नित्यता कहाँ रह गई ? और भारतसावित्रीमें व्यासने जो यह ' धर्मो नित्यः ' तत्त्व बतलाया है, उसकी क्या दशा होगी ? वे कहते हैं, कि अध्यात्म-दृष्टिसे सिद्ध होनेवाला धर्मका नित्यत्व केवल कल्पनाप्रसूत है और प्रत्येक समाजकी स्थितिके अनुसार उस समयमे " अधिकांश लोगोंके अधिक सुख "-वाले तत्त्वसे जो नीतिधर्म प्राप्त होंगे, वेही चोखे नीति-नियम हैं। परंतु यह युक्तिवाद ठीक नहीं है। भूमितिशास्त्रके नियमानुसार यदि कोई बिना चौड़ाईके सरल रेखा अथवा सर्वांशमें निर्दोष गोलाकार न खींच सके, तो जिस प्रकार इतनेहीसे सरल रेखाकी अथवा शुद्ध गोलाकारकी शास्त्रीय व्याख्या गलत या निरर्थक नहीं हो जाती, उसी प्रकार सरल और शुद्ध नियमोंकी बात है। जबतक किसी बातके परमावधिके शुद्ध स्वरूपका निश्चय पहले न कर लिया जावे, तबतक व्यवहारमें दीख पड़नेवाली उस बातकी अनेक सूरतोंमें सुधार करना अथवा सार-असारका विचार करके अंतमें उसके तारतम्यको पहचान लेनाभी संभव नहीं है। और यही कारण है, कि जो सराफ़ पहलेही निर्णय करता है, कि पूर्ण शुद्ध सोना कौन-सा है ? दिशाप्रदर्शक ध्रुवमत्स्य यंत्र अथवा ध्रुव नक्षत्रकी ओर दुर्लक्षकर अपार महोदधिकी लहरों और वायुकेही तारतम्यको देखकर यदि जहाजके खलासी बराबर अपने जहाजकी पतवार घुमाने लगें, तो उनकी जो स्थिति होगी, वही स्थिति नीति-नियमोंके परमावधिके स्वरूपपर ध्यान न देकर केवल देशकालके अनुसार बर्तनेवाले मनुष्योंकी होनी चाहिये। अतएव यदि निरी आधिभौतिक-दृष्टिसेही विचार करें, तोभी यह पहले अवश्य निश्चित कर लेना पड़ता है, कि ध्रुव जैसा अटल और नित्य नीति-तत्त्व कौन-सा है ? और इस आवश्यकताको एक बार मान लेनेसेही सारा आधिभौतिक पक्ष लँगड़ा हो जाता है। क्योंकि सुखदुःख

आदि सभी विषयोपभोग नामरूपात्मक हैं। अतएव ये अनित्य और विनाशवान् मायाकीही सीमामें रह जाते हैं। इसलिये केवल इन्हीं बाह्य प्रमाणोंके आधारसे सिद्ध होनेवाला कोईभी नीति-नियम नित्य नहीं हो सकता। आधिभौतिक बाह्य सुखदुःखकी कल्पना जैसे जैसे बदलती जावेगी, वैसेही वैसे उसकी बुनियादपर रचे हुए नीतिधर्मोंकोभी बदलते रहना चाहिये। अतः नित्य बदलती रहनेवाली नीति-धर्मकी इस स्थितिको टालनेके लिये माया-सृष्टिके विषयोपभोग छोड़कर नीति-धर्मकी इमारत इस "सब भूतोंमें एक आत्मा"-वाले अध्यात्मज्ञानके मजबूत आधार-परही खडी करनी पड़ती है। क्योंकि पीछे नवें प्रकरणमें कह चुके हैं, कि आत्माको छोड़ जगतमें दूसरी कोईभी वस्तु नित्य नहीं है। यही तात्पर्य व्यासजीके इस वचनका है, कि "धर्मो नित्यः सुखदुःख त्वनित्ये" – नीति अथवा सदाचरणके धर्म नित्य हैं; और सुखदुःख अनित्य हैं। यह सच है, कि दुष्ट और लोभियोंके समाजमें अहिंसा एवं सत्य प्रभृति नित्य नीति-धर्म पूर्णतासे पाले नहीं जा सकते; पर उसका दोष इन नित्य नीति-धर्मोंको देना उचित नहीं है। सूर्यकी किरणोंसे किसी पदार्थकी परछाई चौरस मैदानपर सपाट और ऊँचे-नीच स्थानपर ऊँची-नीची पडती देख जैसे यह अनुमान नहीं किया जा सकता, कि वह परछाई मूलमेंही ऊँची-नीची होगी; उसी प्रकार जब कि दुष्टोंके समाजमें नीति-धर्मका पराकाष्ठाका शुद्ध स्वरूप नहीं पाया जाता, तब यह नहीं कह सकते, कि अपूर्णावस्थाके समाजमें पाया जानेवाला नीति-धर्मका अपूर्ण स्वरूपही मुख्य अथवा मूलका है। यह दोष समाजका है, नीतिका नहीं। इसीसे चतुर पुरुष शुद्ध और नित्य नीति-धर्मोंसे झगड़ा न मचा कर ऐसे प्रयत्न किया करते हैं, कि जिनसे समाज ऊँचा उठता हुआ पूर्णावस्थामें जा पहुँचे। लोभी मनुष्योंके समाजमें इस प्रकार बर्तते समय नित्य नीति-धर्मोंके कुछ अपवाद यद्यपि अपरिहार्य मानकर हमारे शास्त्रकारोंने बतलाये हैं, तथापि उसके लिये वे प्राय-श्चित्तभी बतलाते हैं। परंतु पश्चिमी आधिभौतिक नीतिशास्त्र इन्हीं अपवादोंको मूछोंपर ताव देकर प्रतिपादन करते हैं, एवं इन प्रतिवादोंका निश्चय करते समय, वे उपयोगमें आनेवाले बाह्य फलोंके तारतम्यके तत्त्वकोही भ्रमसे नीतिका मूल तत्त्व मानते हैं। अब पाठक समझ जायेंगे, कि पिछले प्रकरणोंमें हमने ऐसा भेद क्यों दिखलाया है?

यह बतला दिया, कि स्थितप्रज्ञ ज्ञानी पुरुषकी बुद्धि और उसका बर्तावही नीतिशास्त्रका आधार है। एवं यहभी बतला दिया, कि उससे निकलनेवाले नीति-नियमोंको – उनके नित्य होनेपरभी – समाजकी अपूर्णावस्थामें थोड़ा-बहुत बदलना पड़ता है; तथा इस रीतिसे बदले जाने परभी नीतिनियमोंकी नित्यतामें उस परि-वर्तनसे कोई बाधा क्यों और कैसे नहीं आती। अब उस पहले प्रश्नका विचार करते हैं, कि स्थितप्रज्ञ ज्ञानी पुरुष अपूर्णावस्थाके समाजमें जो बर्ताव करता है, उसका मूल अथवा बीज-तत्त्व क्या है? चौथे प्रकरणमें कह चुके हैं, कि यह विचार दो प्रकारसे

किया जा सकता है। एक तो कर्ताकी बुद्धिको प्रधान मानकर और दूसरा उसके बाहरी बर्तावसे। इनमेंसे यदि केवल दूसरीही दृष्टिसे विचार करें, तो विदित होगा कि, स्थितप्रज्ञ जो जो व्यवहार करते हैं, वे प्रायः सब लोगोंके हितकेही होते हैं। गीतामें दो बार कहा गया है, कि परम ज्ञानी सत्पुरुष " सर्वभूतहिते रताः " – प्राणिमात्रके कल्याणमें निमग्न रहते हैं (गीता ५. २५; १२.४); और महाभारतमेंभी यही अर्थ अन्य कई स्थानोंमें आया है। हम ऊपर कह चुके हैं, कि स्थितप्रज्ञ सिद्ध पुरुष अहिंसा आदि जिन नियमोंका पालन करते हैं, वही धर्म अथवा सदाचारका नमुना है। इन अहिंसा आदि नियमोंका प्रयोजन अथवा इस धर्मका लक्षण बतलाते हुए महाभारतमें धर्मका बाहरी उपयोग दिखलानेवाले ऐसे अनेक वचन हैं – " अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतहितं परम् " (वन. २०६. ७३) – अहिंसा और सत्य भाषण, ये नीति-धर्म प्राणिमात्रके हितके लिये हैं। " धारणाद्धर्ममित्याहुः " (शां. १०९. १२) – जगतका धारण करनेसे धर्म है। " धर्मं हि श्रेय इत्याहुः " (अनु. १०५. १४) – कल्याणही धर्म है। " प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् " (शां. १०९. १०) – लोगोंके अभ्युदयके लियेही धर्म-अधर्मशास्त्र बना है; अथवा " लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः। उभयत्र सुखोदर्कः " (शां. २५८. ४) – धर्म-अधर्मके नियम इसलिये रचे गये हैं, कि उनसे लोकव्यवहार चले; और दोनों लोकोंमें कल्याण हो। इसी प्रकार कहा है, कि धर्म-अधर्म-संशयके समय ज्ञानी पुरुषकोभी

लोकयात्रा च द्रष्टव्या धर्मश्चात्महितानि च।

" लोकव्यवहार, नीतिधर्म और अपना कल्याण – इन बाहरी बातोंका तारतम्यसे विचार करके " (अनु. ३७. १६; वन २०६. ९०) फिर जो कुछ करना हो, उसका निश्चय करना चाहिये; और वनपर्वमें राजा शिबीने धर्म-अधर्मके निर्णयार्थ इसी युक्तिका उपयोग किया है (वन. १३१. ११, १२)। इन वचनोंसे प्रकट होता है, कि समाजका उत्कर्षही स्थितप्रज्ञके व्यवहारकी ' बाह्य नीति ' होती है। और यदि यह ठीक है, तो आगे सहजही यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि आधिभौतिकवादियोंके इस " अधिकांश लोगोंके अधिक सुख अथवा (सुख शब्दको व्यापक करके) हित या कल्याण "वाले नीति-तत्त्वको अध्यात्मवादीभी क्यों नहीं स्वीकार कर लेते ? चौथे प्रकरणमें हमने दिखला दिया हैं, कि इस " अधिकांश लोगोंके अधिक सुख " सूत्रमें बुद्धिके आत्मप्रसादसे होनेवाले सुखका अथवा उन्नतिका और पारलौकिक कल्याणका अंतर्भाव नहीं होता, – इसमें यह बड़ा भारी दोष है। किंतु 'सुख' शब्दका अर्थ अधिक व्यापक करके यह दोष अनेक अंशोंमें निकाल डाला जा सकेगा; और नीति-धर्मकी नित्यताके संबंधमें ऊपरही दी हुई आध्यात्मिक उपपत्तिभी कई लोगोंको विशेष महत्त्वकी जँचेगी। इसलिये नीतिशास्त्रके आध्यात्मिक और आधिभौतिक मार्गोंमें जो महत्त्वका भेद है, उसका यहाँ और थोड़ासा स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है।

नीतिकी दृष्टिसे किसी कर्मकी योग्यता अथवा अयोग्यताका विचार दो प्रकारोंसे किया जाता है :– (१) उस कर्मका केवल बाह्य फल देख कर अर्थात् यह देख कर कि उसका दृश्य परिणाम जगत्पर क्या हुआ है या होगा ? (२) यह देख कर, कि उस कर्मको करनेवालेकी बुद्धि अर्थात् वासना कैसी है ? पहलेको आधिभौतिक मार्ग कहते हैं। दूसरेके फिर दो पक्ष होते हैं; और इन दोनोंके पृथक् पृथक् नाम हैं। ये सिद्धान्त पिछले प्रकरणोंमें बतलाये जा चुके हैं, कि शुद्ध कर्म होनेके लिये वासनात्मक बुद्धि शुद्ध रखनी पड़ती है और वासनात्मक बुद्धि शुद्ध रखनेके लिये व्यवसायात्मका अर्थात् कार्य-अकार्यका निर्णय करनेवाली बुद्धिभी स्थिर, सम और शुद्ध रहनी चाहिये। इन सिद्धान्तोंके अनुसार किसीकेभी कर्मोंकी शुद्धता जाँचनेके लिये देखना पड़ता है, कि उसकी वासनात्मक बुद्धि शुद्ध है या नहीं ? और वासनात्मक बुद्धिकी शुद्धता जाँचने लगे, तो अंतमें देखनाही पड़ता है, कि व्यवसायात्मका बुद्धि शुद्ध है या अशुद्ध ? सारांश, कर्ताकी बुद्धि अर्थात् वासनाकी शुद्धताका निर्णय अंतमें व्यवसायात्मका बुद्धिकी शुद्धतासे करना पड़ता है (गीता २. ४१)। इसी व्यवसायात्मक बुद्धिको सदसद्विवेचन-शक्तिके रूपमें स्वतंत्र देवता मान लेनेसे वह **आधिदैविक** मार्ग हो जाता है। परंतु यह बुद्धि स्वतंत्र दैवत नहीं है; किंतु आत्माका एक अंतरिंद्रिय है, अतः बुद्धिको प्रधानता न देकर, आत्माको प्रधान मान करके वासनाकी शुद्धताका विचार करनेसे यह नीतिके निर्णयका आध्यात्मिक मार्ग हो जाता है। हमारे शास्त्रकारोंका मत है, कि इन सब मार्गोंमें **आध्यात्मिक** मार्ग श्रेष्ठ है; और प्रसिद्ध जर्मन तत्त्ववेत्ता कांटने यद्यपि ब्रह्मात्मैक्यका सिद्धान्त स्पष्ट रूपसे नहीं दिया है, तथापि उसने अपने नीतिशास्त्रके विवेचनका आरंभ शुद्ध-बुद्धिसे अर्थात् एक प्रकारसे अध्यात्म-दृष्टिसेही किया है, एवं उसने इसकी पूर्ण उपपत्तिभी दी है, कि ऐसा क्यों करना चाहिये।* ग्रीनका अभिप्रायभी ऐसाही है; परंतु इस विषयका पूरा विवेचन इस छोटे-से ग्रंथमें नहीं किया जा सकता। हम चौथे प्रकरणमें दो-एक उदाहरण देकर स्पष्ट दिखला चुके हैं, कि नीति-तत्त्वोंका पूरा निर्णय करनेके लिये कर्मके बाहरी फलकी अपेक्षा कर्ताकी शुद्ध-बुद्धिपर विशेष ध्यान क्यों देना पड़ता है, और इस संबंधमें अधिक विचार आगे – पंद्रहवें प्रकरणमें पाश्चात्य और पौरस्त्य नीति-मार्गोंकी तुलना करते समय – किया जावेगा। अभी इतनाही कहते हैं, कि कोईभी कर्म तभी होता है, जब कि पहले उस कर्मको करनेकी बुद्धि उत्पन्न हो, इसलिये कर्मकी योग्यता-अयोग्यताका विचारभी सभी अंशोंमें बुद्धिकी शुद्धता-अशुद्धताके विचारपरही अवलंबित रहता है। बुद्धि बुरी होगी; तो कर्मभी बुरा होगा, परंतु केवल बाह्य कर्मके बुरे होनेसेही यह अनुमान नहीं किया जा सकता,

---

* Kant's *Theory of Ethics*, trans. by Abbott. 6th Ed. especially *Metaphysics of Morals* therein.

कि बुद्धिभी बुरी होनीही चाहिये। क्योंकि मूलसे, कुछ-का-कुछ समझ लेनेसे अथवा अज्ञानसेभी वैसा कर्म हो सकता है; और फिर उसे नीतिशास्त्रकी दृष्टिसे बुरा नहीं कह सकते। "अधिकांश लोगोंके अधिक सुख"-वाला नीतिशास्त्र-तत्त्व केवल बाहरी परिणामोंके लियेही उपयोगी होता है; और जब कि इन सुखदुःखात्मक बाहरी परिणामोंको निश्चित रीतिसे मापनेका बाहरी साधन अब तक नहीं मिला है, तब नीति-तत्त्वोंकी इस कसौटीसे सदैव यथार्थ निर्णय होनेका भरोसाभी नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार मनुष्य कितनाही सयाना क्यों न हो जाय, यदि उसकी बुद्धि पूर्ण शुद्ध न हो गई हो, तो यह नहीं कह सकते, कि वह प्रत्येक अवसरपर धर्मसेही वर्तेगा। विशेषतः जहाँ उसका स्वार्थ आ डटा, वहाँ तो फिर कहनाही क्या है? – "स्वार्थे सर्वे विमुह्यन्ति येऽपि धर्मविदो जनाः" (मभा. वि. ५१.४)। सारांश, मनुष्य कितनाही बड़ा ज्ञानी, धर्मवेत्ता और सयाना क्यों न हो, किन्तु यदि उसकी बुद्धि प्राणिमात्रमें सम न हो गई हो, तो यह नहीं कह सकते; कि उसका कर्म सदैव शुद्ध अथवा नीतिकी दृष्टिसे निर्दोषही रहेगा। अतएव हमारे शास्त्रकारोंने निश्चित कर दिया है, कि नीतिका विचार करते समय कर्मके बाह्य फलकी अपेक्षा कर्ताकी बुद्धिकाही प्रधानतासे विचार करना चाहिये। साम्य-बुद्धिही अच्छे बर्तावका चोखा बीज है। यही भावार्थ भगवद्गीताके इस उपदेशमेंभी है (गीता २.४९) :–

दूरेन ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥

कुछ लोग, इस श्लोकमें, बुद्धिका अर्थ ज्ञान समझकर कहते हैं, कि इसमें कर्म और ज्ञान, इन दोनोंमेंसे ज्ञानकोही श्रेष्ठता दी है। पर हमारे मतमें यह अर्थ ठीक नहीं है। इस स्थलपर शांकरभाष्यमेंभी 'बुद्धियोग'का अर्थ 'समत्व बुद्धियोग' दिया हुआ है; और यह श्लोक कर्मयोगके प्रकरणमें आया है। अतएव वास्तवमें इसका अर्थ कर्मप्रधानही करना चाहिये; और वही सरल रीतिसेही है। कर्म करनेवाले लोग दो प्रकारके होते हैं। पहले प्रकारके फलपर – उदाहरणार्थ, उससे कितने लोगोंको कितना सुख होगा, इसपर – दृष्टि जमा कर कर्म करते हैं; और दूसरे बुद्धिको सम और निष्काम रखकर कर्म करते हैं – फिर कर्मधर्म-संयोगसे उससे जो परिणाम होना हो, सो हुआ करे। इनमेंसे 'फलहेतव.' अर्थात् "**फलपर दृष्टि** रखकर कर्म करनेवाले" लोगोंको नैतिक दृष्टिसे कृपण अर्थात् कनिष्ठ **श्रेणीके** बतलाकर, समत्व-बुद्धिसे कर्म करनेवालोंको इस श्लोकमें श्रेष्ठता दी है। इस श्लोकके पहले दो चरणोंमें जो यह कहा है, कि "दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय" – हे धनंजय!

---

* इस श्लोकका सरल अर्थ यह है – "हे धनंजय! (सम-) बुद्धिके योगकी अपेक्षा (कोरा) कर्म बिलकुलही निकृष्ट है। अतएव (सम-) बुद्धिकाही आश्रय कर। फलपर दृष्टि रखकर कर्म करनेवाले (पुरुष) कृपण अर्थात् ओछे दर्जेके हैं।"

समत्व बुद्धियोगकी अपेक्षा (कोरा) कर्म अत्यंत निकृष्ट है – उसका तात्पर्य यही है; और जब अर्जुनने यह प्रश्न किया, कि "भीष्म-द्रोणको कैसे मारूं ?", तब उसको यही उत्तर दिया गया। इसका भावार्थ यह है, कि मरने या मारनेकी निरी क्रियाकी ओर ध्यान न देकर, देखना चाहिये, कि "मनुष्य किस बुद्धिसे उस कर्मको करता है ?" अतएव इस श्लोकके तीसरे चरणमें उपदेश है,कि "तू बुद्धि अर्थात् सम-बुद्धिकी शरण जा;" और आगे उपसंहारात्मक अठारहवें अध्यायमेंभी भगवानने फिर कहा है, कि "बुद्धियोगका आश्रय करके तू अपने कर्म कर।" गीताके दूसरे एक श्लोकसेभी व्यक्त होता है, कि गीता निरे कर्मके विचारको कनिष्ठ समझकर, उस कर्मकी प्रेरक बुद्धिकेही विचारको श्रेष्ठ मानती है। अठारहवें अध्यायमें कर्मके भले बुरे – अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस – भेद बतलाये गये हैं। यदि केवल कर्मफलकी ओरही गीताकी दृष्टि होती, तो भगवानने यह कहा होता, कि जो कर्म बहुतेरोंको सुखदायक हो, वही सात्त्विक है। परंतु ऐसा न बतलाकर, अठारहवें अध्यायमें कहा है, कि "फलाशा छोड़कर निस्संग-बुद्धिसे किया हुआ कर्म सात्त्विक अथवा उत्तम है" (गीता १८. २३)। अर्थात् इससे प्रकट होता है, कि कर्मके बाह्य फलकी अपेक्षा कर्ताकी निष्काम, सम और निस्संग-बुद्धिकोही कर्म-अकर्मका विवेचन करनेमें गीता अधिक महत्त्व देती है। यही न्याय स्थितप्रज्ञके व्यवहारके लिये उपयुक्त करनेसे होता है, कि स्थितप्रज्ञ जिस साम्य-बुद्धिसे अपनी बराबरीवाले, छोटे और साधारण लोगोंके साथ बर्तता है, वह साम्य-बुद्धिही उसके आचरणका मुख्य तत्त्व है; और इस आचरणसे जो प्राणिमात्रका मंगल होता है, वह इस साम्य-बुद्धिका निरा बाहरी और आनुषंगिक परिणाम है। ऐसेही जिसकी बुद्धि पूर्णावस्थामें पहुँच गई हो, वह लोगोंको केवल आधिभौतिक सुख प्राप्त करा देनेके लियेही अपने सब व्यवहार न करेगा। यह ठीक है, कि वह दूसरोंका नुकसान न करेगा, पर यह उसका मुख्य ध्येय नहीं है। स्थितप्रज्ञ ऐसे प्रयत्न किया करता है, जिनसे समाजके लोगोंकी बुद्धि अधिकाधिक शुद्ध होती जावें; और अंतमें वे लोग अपने समानही आध्यात्मिक पूर्णावस्थामें जा पहुँचे। मनुष्यके कर्तव्योंमेंसे यही श्रेष्ठ और सात्त्विक कर्तव्य है। केवल आधिभौतिक सुख-वृद्धिके प्रयत्नोंको हम गौण अथवा राजस समझते हैं।

गीताका सिद्धान्त है, कि कर्म-अकर्मके निर्णयार्थ कर्मके बाह्य फलपर ध्यान न देकर, कर्ताकी शुद्ध-बुद्धिकोही प्रधानता देनी चाहिये। इसपर कुछ लोगोंका यह तर्कपूर्ण मिथ्या आक्षेप है, कि यदि कर्मफलको न देखकर केवल शुद्ध-बुद्धिकाही इस प्रकार विचार करें, तो मानना होगा, कि शुद्ध-बुद्धिवाला मनुष्य कोईभी बुरा काम कर सकता है ! और तब तो वह सभी बुरे कर्म करनेके लिये स्वतंत्र हो जायेगा। इस आक्षेपको हमने केवल अपनीही कल्पनाके बलसे नहीं धर घसीटा है; किंतु गीता-धर्मपर कुछ पादड़ी बहादुरोंके किये हुए इस ढंगके आक्षेप हमारे देखनेमेंभी

आये हैं।* किंतु हमें यह कहनेमें कोईभी दिक्कत नहीं जान पड़ती, कि ये आरोप या आक्षेप बिलकुल मूर्खताके अथवा दुराग्रहके हैं। और यह कहनेमेंभी कोई हानि नहीं है, कि आफ्रीकाका कोई काला-कलूटा जंगली मनुष्य सुधरे हुए राष्ट्रके नीति-तत्त्वोंका आकलन करनेमें जिस प्रकार अपात्र और असमर्थ होता है, उसी प्रकार इन भले पादड़ी मानवोंकी बुद्धि वैदिक धर्मके स्थितप्रज्ञकी आध्यात्मिक पूर्णावस्थाका निरा आकलन करनेमेंभी, स्वधर्मके व्यर्थ दुराग्रह अथवा और कुछ ओछे एवं दुष्ट मनोविकारोंसे, असमर्थ हो गई है। उन्नीसवीं सदीके प्रसिद्ध जर्मन तत्त्वज्ञानी कांटने अपने नीतिशास्त्रविषयक ग्रंथमें अनेक स्थलोंपर लिखा है, कि कर्मके बाहरी फलको न देखकर नीतिके निर्णयार्थ कर्ताकी बुद्धिकाही विचार करना उचित है।§ किंतु हमने नहीं देखा, कि कांटपर किसीने ऐसा आक्षेप किया हो। फिर वह गीताके नीति-तत्त्वकोही उपयुक्त कैसे होगा? प्राणिमात्रमें समबुद्धि होतेही परोपकार करना तो देहका स्वभावही बन जाता है; और ऐसा हो जानेपर परम ज्ञानी एवं परम शुद्ध-बुद्धि-वाले मनुष्यके हाथसे कुकर्म होना उतनाही असंभव है, जितना कि अमृतसे मृत्यु हो जाना। कर्मके बाह्य फलका विचार न करनेके लिये जब गीता कहती है, तब उसका यह अर्थ नहीं है, कि जो दिलमें आ जाय, सो किया करो। प्रत्युत गीता कहती है, कि बाहरी परोपकार करनेका स्वाँग पाखंडसे या लोभसे बना सकता है किंतु प्राणिमात्रमें एक आत्माको पहचाननेसे बुद्धिमें जो स्थिरता और समता आ जाती है, उसका स्वाँग कोई नहीं बना सकता; तब किसीभी कामकी योग्यता-अयोग्यताका विचार करते समय कर्मके बाह्य परिणामकी अपेक्षा कर्ताकी बुद्धिपर योग्य दृष्टि रखनी चाहिये। गीताका संक्षेपमें यह सिद्धान्त कहा जा सकता है, कि कोरे जड़ कर्मोंमेंही नीति-तत्त्व नहीं; किंतु कर्ताकी बुद्धिपर वह सर्वथा अवलंबित रहता है। आगे गीतामेंही (गीता १८. २५) कहा है, कि इस आध्यात्मिक सिद्धान्तके ठीक तत्त्वको न समझकर यदि

---

* कलकत्तेके एक पादड़ीकी ऐसी करतूतका उत्तर मिस्टर ब्रुक्सने दिया है, जो कि उनके *Kurukshetra* (कुरुक्षेत्र) नामक छपे हुए निबंधके अंतमें है; उसे देखिये (*Kurukshetra* – Vyasasharma, Adyar, Madras, pp. 48--52).

§ " The second proposition is : That an action done from duty derives its moral worth *not from the purpose* which is to be attained by it, but from the maxim by which it is determined." . . The moral worth of an action " cannot lie anywhere but in the *principle of the will*, without regard to the ends which can be attained by action. " Kant's *Metaphysics of Morals* (trans. by Abbott in Kant's *Theory of Ethics*, p. 16. (The italics are author's and not our own) And again " When the question is of moral worth, it is not with the action; which we see that we are concerned; but with those inward principles of them which we do not see. " p. 24 – *Ibid*.

कोई मनमानी करने लगे, तो उस पुरुषको राक्षस या तामसी बुद्धिवाला कहना चाहिये। एक बार सम-बुद्धि हो जानेसे, फिर उस पुरुषको कर्तव्य-अकर्तव्यका और अधिक उपदेश नहीं करना पड़ता – इसी तत्त्वपर ध्यान देकर साधु तुकारामने शिवाजी महाराजको जो यह उपदेश किया, कि "इसका एकही कल्याणकारक अर्थ है, कि प्राणिमात्रमें एक आत्माको देखो", उसमेंभी भगवद्गीताके अनुसार कर्मयोगका एकही तत्त्व बतलाया गया है (तु. गा. ४४२८. ९१)। यहाँ फिरभी कह देना उचित है, कि यद्यपि पूर्ण साम्य-बुद्धिही सदाचारका बीज हो, तथापि इससे यहभी अनुमान न करना चाहिये, कि जबतक इस प्रकारकी पूर्ण शुद्ध-बुद्धि न हो जावे, तबतक कर्म करनेवाला चुपचाप हाथपर हाथ धरे बैठा रहे। स्थितप्रज्ञके समान बुद्धि करलेना तो परम ध्येय है। परंतु गीताके आरंभमेंही (गीता २. ४०) यह उपदेश किया है, कि इस परम ध्येयके पूर्णतया सिद्ध होनेतक प्रतीक्षा न करके जितना हो सके उतनाही, निष्काम बुद्धिसे प्रत्येक मनुष्य अपने कर्म करता रहे, इसीसे बुद्धि अधिक शुद्ध होती चली जायगी; और अंतमें पूर्ण सिद्धि हो जायगी। ऐसा आग्रह करके समयको मुक्त न गँवा दे, कि जबतक पूर्ण सिद्धि पा न जाऊँगा, तबतक कर्म करूँगाही नहीं।

'सर्वभूतहित' अथवा "अधिकांश लोगोंके अधिक कल्याण"वाला नीति-तत्त्व केवल बाह्य कर्म उपयुक्त होनेके कारण शाखाग्राही और कृपण है, परंतु "प्राणिमात्रमें एक आत्मा"वाली – स्थितप्रज्ञकी 'साम्यबुद्धि' मूलग्राही है; और उसीको नीति-निर्णयके काममें श्रेष्ठ मानना चाहिये – इस प्रकार यद्यपि यह बात सिद्ध हो चुकी; तथापि इसपर अनेकोंके आक्षेप हैं, कि इस सिद्धान्तसे व्यावहारिक बर्तावकी उपपत्ति ठीक ठीक नहीं लगती। ये आक्षेप प्रायः संन्यास-मार्गी स्थितप्रज्ञके संसारी व्यवहारको देखकरही इन लोगोंको सूझे हैं। किंतु थोडासा विचार करनेसे किसीकोभी सहजही दीख पड़ेगा, कि ये आक्षेप स्थितप्रज्ञ कर्मयोगीके बर्तावको उपयुक्त नहीं होते। और तो क्या ? यहभी कह सकते हैं, कि प्राणिमात्रमें एक आत्मा अथवा आत्मौपम्य बुद्धिके तत्त्वसे व्यावहारिक नीति-धर्मकी जैसी अच्छी उपपत्ति लगती है, वैसी और किसीभी तत्त्वसे नहीं लगती। उदाहरणके लिये सब देशोंमें और सब नीतिशास्त्रोंमें प्रधान माने गये परोपकार धर्मकोही लीजिये। "दूसरेका आत्माही मेरा आत्मा है" इस अध्यात्म-तत्त्वसे परोपकार-धर्मकी जैसी उपपत्ति लगती है, वैसी किसीभी आधिभौतिक वादसे नहीं लगती। बहुत हुआ तो, आधिभौतिकशास्त्र इतनाही कह सकते हैं, कि परोपकार-बुद्धि एक नैसर्गिक गुण है; और वह उत्क्रांतिवादके अनुसार बढ़ रहा है। किंतु इतनेसेही परोपकारकी नित्यता सिद्ध नहीं हो जाती। यही नहीं; बल्कि स्वार्थ और परार्थके झगड़ेमें, इन दोनों घोडोंपर सवार होनेके लालची चतुर स्वार्थियों-कोभी अपना मतलब गाँठनेमें इसके कारण अवसर मिल जाता है, यह बात हम चौथे प्रकरणमें बतला चुके हैं। इसपरभी कुछ लोग कहते हैं, कि परोपकार-बुद्धिकी नित्यता

सिद्ध करनेसे लाभही क्या है ? प्राणिमात्रमें एकही आत्मा मानकर यदि प्रत्येक पुरुष सदैव प्राणिमात्रकाही हित करने लग जाय, तो उसका जीवन-निर्वाह कैसे होगा ? और जब वह इस प्रकार अपनाही योगक्षेम नहीं चला सकेगा तब वह और लोगोंका कल्याण करही कैसे सकेगा ? लेकिन ये शंकाएँ न तो नईही हैं; और न ऐसी हैं, कि जो टाली न जा सकें। भगवानने गीतामेंही इस प्रश्नका यों उत्तर दिया है – " तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् " (गीता. ९. २२); और अध्यात्मशास्त्रकी युक्तियोंसेभी यही अर्थ निष्पन्न होता है। जिसे लोककल्याण करनेकी बुद्धि हो गई उसे खाना-पीना नहीं छोड़ना पडता, परंतु उसकी बुद्धि ऐसी होनी चाहिये, कि मैं लोकोपकारके लियेही देह धारण करता हूँ। जनकने कहा है (मभा. अश्व. ३२), कि जब ऐसी बुद्धि रहेगी, तभी इंद्रियाँ वशमें रहेंगी; और लोककल्याण होगा। और मीमांसकोंके इस सिद्धान्तका तत्त्वभी यही है, कि यज्ञ करके शेष बचा हुआ अन्न ग्रहण करनेवालेको 'अमृताशी' कहना चाहिये (गीता ४. ३१)। क्योंकि उनकी दृष्टिसे जगतका धारण-पोषण करनेवाला कर्मही यज्ञ है। अतएव यह लोककल्याण-कारक कर्म करते समय उसीसे अपना निर्वाह होता है; और करनाभी चाहिये। उनका निश्चय है, कि अपने स्वार्थके लिये यज्ञचक्रको डुबा देना अच्छा नहीं है। दासबोधमें (१९. ४. १०) श्रीसमर्थ रामदास स्वामीनेभी वर्णन किया है, कि " वह परोपकार करताही रहता है, जिसकी सबको जरूरत बनी रहती है। ऐसी दशामें उसे भूमंडलमें किस बातकी कम रह सकती है ? " व्यवहारकी दृष्टिसे देखे, तोभी यही ज्ञात होता है, कि यह उपदेश बिलकुल यथार्थ है। सारांश, जगतमें देखा जाता है, कि लोककल्याणमें जुटे रहनेवाले पुरुषका योगक्षेम कभी अटकता नहीं है। केवल परोपकार करनेके लिये उसे निष्काम बुद्धिसे तैयार रहना चाहिये। एक बार इस भावनाके दृढ हो जानेपर, कि " सभी लोग मुझमें हैं और मैं सब लोगोंमें हूँ ", फिर यह प्रश्नही नहीं हो सकता, कि परार्थ स्वार्थ भिन्न है या नहीं। 'मैं' पृथक् और 'लोग' पृथक् इस आधिभौतिक द्वैत-बुद्धिसे " अधिकांश लोगोंके अधिक सुख " करनेके लिये जो प्रवृत्त होता है, उसके मनमें ऊपर लिखी हुई भ्रामक शंकाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं। परंतु जो " सर्वं खल्विदं ब्रह्म " इस अद्वैत-बुद्धिसे परोपकार करनेके लिये प्रवृत्त हो जाय, उसे यह शंकाही नहीं रहती। सर्वभूतात्मैक्य-बुद्धिसे निष्पन्न होनेवाले सर्वभूतहितके इस आध्यात्मिक तत्त्वमें, और स्वार्थ एवं परार्थरूपी द्वैतके अर्थात् अधिकांश लोगोंके सुखके तारतम्यसे निकलनेवाले लोककल्याणके आधिभौतिक तत्त्वमें इतनाही भेद है, जो ध्यान देने योग्य है। साधु पुरुष मनमें लोककल्याण करनेका हेतु रखकर, लोककल्याण नहीं किया करते। जिस प्रकार प्रकाश फैलाना सूर्यका स्वभाव है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानसे मनमें सर्वभूतात्मैक्यका पूर्ण परिचय हो जानेपर लोककल्याण करना तो इन साधु-पुरुषोंका सहज स्वभाव हो जाता है। और ऐसा स्वभाव बन जानेपर सूर्य जैसे दूसरोंको प्रकाश देता हुआ अपने आपको प्रकाशित

कर लेता है, वैसेही साधुपुरुषोंके परार्थ उद्योगसेही उनका योगक्षेमभी आपही-आप सिद्ध होता है। परोपकार करनेके इस देह-स्वभाव और अनासक्त बुद्धिके एकत्र हो जानेपर कितनेही संकट क्यों न चले आवें, तोभी उनकी बिलकुल परवाह न कर और यह न सोच कर, कि संकटोंको सहना भला है, या लोककल्याणको छोड़ देना भला है, ब्रह्मात्मैक्य बुद्धिवाले साधुपुरुष, अपना कार्य सदा जारी रखते है। तथा यदि प्रसंग आ जाय तो आत्मबलिभी दे देनेके लिये तैयार रहते हैं, उन्हें उसकी कुछभी चिंता नहीं होती। किंतु जो लोग स्वार्थ और परार्थको दो भिन्न वस्तुएँ समझ, उन्हें तराजूके दो पलड़ोंमें डाल काँटेका झुकाव देखकर धर्म-अधर्मका निर्णय करना सीखे हुए हैं, उनकी लोककल्याण करनेकी इच्छाका इतना तीव्र हो जाना कदापि संभव नहीं है। अतएव प्राणिमात्रके हितका तत्त्व यद्यपि भगवद्गीताको संमत है, तथापि उसकी उपपत्ति अधिकांश लोगोंके अधिक बाहरी सुखोंके तारतम्यसे नहीं लगाई है; किंतु लोगोंकी संख्या अथवा उनके सुखोंकी न्यूनाधिकताके विचारोंको आगंतुक अतएव कृपण कहा है; तथा शुद्ध व्यवहारकी मूलभूत साम्य-बुद्धिकी उपपत्ति गीतामें अध्यात्मशास्त्रके नित्य ब्रह्मज्ञानके आधारपर बतलाई है।

इससे दीख पड़ेगा, कि प्राणिमात्रके हितार्थ उद्योग करने या लोककल्याण अथवा परोपकार करनेकी युक्तिसंगत उपपत्ति अध्यात्म-दृष्टिसे क्योंकर लगती है? अब समाजमें एक दूसरेके साथ बर्तनके संवंधमें साम्य-बुद्धिकी दृष्टिसे हमारे शास्त्रोंमें जो मूल नियम बतलाये गये, हैं, उनका विचार करते हैं। "यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्" (बृह. २. ४. १४) – जिसे सर्व आत्ममय हो गया, वह साम्य-बुद्धिसेही सबके साथ बर्तता है, यह तत्त्व बृहदारण्यकके सिवा ईशावास्य (ईश. ६) और कैवल्य (कै. १. १०) उपनिषदोंमें तथा मनुस्मृतिमेंभी (मनु. १२. ९१, १२५) है। एवं इसी तत्त्वका गीताके छठे अध्यायमें (गीता ६. २९) "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि"के रूपमें अक्षरशः उल्लेख है। सर्वभूतात्मैक्य अथव-साम्य-बुद्धिके इसी तत्त्वका रूपांतर आत्मौपम्य-दृष्टि है। क्योंकि इससे सहजही यह अनुमान निकलता है, कि जब मैं प्राणिमात्रमें हूँ और मुझमें सभी प्राणि हैं, तब मैं अपने साथ जैसे बर्तता हूँ वैसेही अन्य प्राणियोंके साथभी मुझे बर्ताव करना चाहिये। अतएव भगवानने कहा है, कि इस "आत्मौपम्य-दृष्टि अर्थात् समतासे जो सबके साथ बर्तता है, वही उत्तम कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ है" और फिर अर्जुनको इसी प्रकार बर्ताव करनेका उपदेश दिया है (गीता. ६. ३०–३२)। अर्जुन अधिकारी था, इस कारण गीतामें इस तत्त्वको खोलकर समझानेकी कोई जरूरत न थी। किंतु साधारण लोगोंको नीतिका और धर्मका बोध करानेके लिये रचे हुए महाभारतमें अनेक स्थानोंपर यह बतलाकर (मभा. शां. २३८. २१; २६१. ३३) व्यासदेवने इसका गंभीर और व्यापक अर्थ स्पष्ट कर दिखलाया है। उदाहरण लीजिये; गीता

और उपनिषदोंमें संक्षेपसे बतलाये हुए आत्मौपम्यके इसी तत्त्वको पहले इस प्रकार समझाया है :–

आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति पूरुषः ।
न्यस्तदण्डो जितक्रोधः स प्रेत्य सुखमेधते ।।

" जो पुरुष अपनेही समान दूसरेको मानता है, और जिसने क्रोधको जीत लिया है, वह परलोकमें सुख पाता है " (मभा. अनु. ११३. ६)। परस्पर एक दूसरेके साथ बर्ताव करनेके वर्णनको यहीं समाप्त न करके आगे कहा है :–

न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ।।

" ऐसा बर्ताव औरोंके साथ न करे, कि जो स्वयं अपनेको प्रतिकूल अर्थात् दुःख-कारक जँचे । यही सब धर्मों और नीतियोंका सार है; और बाकी सभी व्यवहार लोभमूलक हैं " (मभा. अनु. ११३. ८) और अंतमें बृहस्पतिने युधिष्ठिरसे कहा है :–

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ।।
यथापरः प्रक्रमते परेषु तथा परे प्रक्रमन्तेऽपरस्मिन् ।
तथैव तेषूपमा जीवलोके यथा धर्मो निपुणेनोपदिष्टः ।।

" सुख या दुःख, प्रिय या अप्रिय, दान अथवा निषेध – इन सब बातोंका दूसरोंके विषयमें वैसाही अनुमान करे, जैसा कि अपने विषयमें जान पड़े । दूसरोंके साथ मनुष्य जैसा बर्ताव करता है, दूसरेभी उसके साथ वैसाही व्यवहार करते हैं । अतएव यही उपमा लेकर इस जगतमें आत्मौपम्यकी दृष्टिसे बर्ताव करनेको सयाने लोगोंने धर्म कहा है (मभा. अनु. ११३. ९, १०)" न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः " यह श्लोक बिदुरनीतिमेंभी (मभा. उद्यो. ३८. ७२) है; और आगे शांतिपर्वमें (मभा. शां. १६७. ९) विदुरने फिर यही तत्त्व युधिष्ठिरको बतलाया है। परंतु आत्मौपम्यनियमका यह एक भाग हुआ, कि दूसरोंको दुःख न दो, क्योंकि जो तुम्हें दुःखदायी है, वही और लोगोंकोभी दुःखदायी होता है। अब इसपर कदाचित् किसीको यह दीर्घशंका हो, कि इससे यह निश्चयात्मक अनुमान कहाँ निकलता है, कि तुम्हें जो सुखदायक जँचे, वही औरोंकोभी सुखदायक है, और इसलिये ऐसे ढंगका बर्ताव करो, जो औरोंकोभी सुखदायक हो ? इस शंकाके निरसनार्थ भीष्मने युधिष्ठिरको धर्मके लक्षण बतलाते समय इससेभी अधिक स्पष्टीकरण करके इस नियमके दोनों भागोंका स्पष्ट उल्लेख कर दिया है :–

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ।।
जीवितं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् ।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ।।

" हम दूसरोंसे अपने साथ जैसे बर्तावका किया जाना पसंद नहीं करते वैसा अर्थात् अपनी रुचिके अनुकूल बर्ताव हमेंभी दूसरोंके साथ न करना चाहिये। जो स्वयं जीवित रहनेकी इच्छा करता है, वह दूसरोंको कैसे मारेगा ? ऐसी इच्छा रखें, कि जो हम चाहते हैं, वही और लोगभी चाहते हैं। "(ममा. शां. २५८.१९,२१)। और दूसरे स्थानपर इसी नियमको बतलाते हुए इन 'अनुकूल' अथवा 'प्रतिकूल' विशेषणोंका प्रयोग न करके किसीभी प्रकारके आचरणके विषयमें विदुरने कहा है, कि सामान्यतः–

तस्माद्धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि ।।

" इंद्रियनिग्रह करके धर्मसे बर्तना चाहिये; और अपने समानही सब प्राणियोंसे बर्ताव करे " (मभा. शां. १६७. ९)। क्योंकि शुकानुप्रश्नमें व्यास कहते हैं :–

यावानात्मनि वेदात्मा तावानात्मा परात्मनि।
य एवं सततं वेद सोऽमृतत्त्वाय कल्पते ।।

" जो सदैव यह जानता है, कि अपने शरीरमें जितना आत्मा है, उतनाही दूसरेके शरीरमेंभी है, वही अमृतत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेनेमें समर्थ होता है " (मभा. शां. २३८. २२)। बुद्धको आत्माका अस्तित्व मान्य न था। कमसे-कम उसने यह तो स्पष्टही कह दिया है, कि आत्मविचारकी व्यर्थ उलझनमें न पड़ना चाहिये। तथापि उसनेभी यह बतलाते हुए, कि बौद्ध भिक्षु लोग औरोंके साथ कैसा बर्ताव करें ? – आत्मौपम्यदृष्टिका यह उपदेश किया है :–

यथा अहं तथा एते यथा एते तथा अहम्।
अत्तानं (आत्मानं) उपमं कत्वा (कृत्वा) न हनेय्यं न घातये ।।

" जैसे मैं, वैसे ये; जैसे ये, वैसे मैं, (इस प्रकार) अपनी उपमा समझकर न तो (किसीकोभी) मारे; और न मरवावे " (सुत्तनिपात, नालकसुत्त २७)। धम्मपद नामके दूसरे पाली बौद्ध ग्रंथमेंभी (धम्मपद १२९. १३०)मेंभी इसी श्लोकका दूसरा चरण दो बार ज्यों-का-त्यों आया है; और आगे तुरंतही मनुस्मृति (५. ४५)। एवं महाभारत (अनु. ११३. ५) इन दोनों ग्रंथोंमें पाये जानेवाले श्लोकोंका पाली भाषामें इस प्रकार अनुवाद किया गया है –

सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो (इच्छन्) पेच्च सो न लभते सुखम् ।।

"(अपने समानही) सुखकी इच्छा करनेवाले दूसरे प्राणियोंकी जो अपने (अत्तनो) सुखके लिये दंडसे हिंसा करता है, उसे मरनेपर (पेच्च = प्रेत्य) सुख नहीं मिलता " (धम्मपद १३१)। आत्माके अस्तित्वको न माननेपरभी आत्मौपम्यकी यह भाषा जब कि बौद्ध ग्रंथोंमें पाई जाती है, तब यह प्रकटही है, कि बौद्ध ग्रंथकारोंने ये विचार वैदिक धर्म-ग्रंथोंसेही लिये हैं। अस्तु, इसका अधिक विचार

आगे चलकर करेंगे। ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट दीख पड़ेगा, कि जिसकी "सर्व-भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" ऐसी स्थिति हो गई, वह औरोंसे वर्तते समय आत्मौपम्य-बुद्धिसेही सदैव काम लिया करता है; और हम प्राचीन कालसे समझते चले आ रहे हैं, कि ऐसे बर्तावका यही एक मुख्य नीति-तत्त्व है। इसे कोईभी स्वीकार कर लेगा, कि समाजमें मनुष्योंके पारंपरिक व्यव-हारका निर्णय करनेके लिये आत्मौपम्य-बुद्धिका यह सूत्र "अधिकांश लोगोंके अधिक हित" वाले आधिभौतिक तत्त्वकी अपेक्षा अधिक अर्थपूर्ण, निर्दोष, निस्संदिग्ध, व्यापक, स्वल्प और बिलकुल अन-पढोंकीभी समझमें जल्दी आ जानेयोग्य है।* धर्म-अधर्मशास्त्रके इस रहस्य ("एष संक्षेपतो धर्मः") अथवा मूल तत्त्वकी अध्यात्म-दृष्टिसे जैसी उपपत्ति लगती है, वैसी कर्मके बाहरी परिणामपरही नज़र देनेवाले आधिभौतिकवादसे नहीं लगती; और इसीसे धर्म-अधर्मशास्त्रके इस प्रधान नियमको उन पश्चिमी पंडितोंके ग्रंथोंमें प्रायः प्रमुख स्थान नहीं दिया जाता, कि जो आधिभौतिक-दृष्टिसे कर्मयोगका विचार करते हैं। और तो क्या, आत्मौ-पम्य दृष्टिके सूत्रको ताकमें रखकर, वे समाजबंधनकी उपपत्ति "अधिकांश लोगोंके अधिक सुख" प्रभृति केवल दृश्य तत्त्वसेही लगानेका प्रयत्न किया करते हैं। परंतु उपनिषदोंमें, मनुस्मृतिमें, गीतामें महाभारतके अन्यान्य प्रकरणोंमें और केवल बौद्ध धर्ममेंही नहीं; प्रत्युत अन्यान्य देशों एवं धर्मोमेंभी आत्मौपम्यके इस सरल नीति-तत्त्व-कोही सर्वत्र अग्रस्थान दिया हुआ पाया जाता है। यहुदी और ईसाई धर्म-पुस्तकोंमें जो यह आज्ञा है, कि "तू अपने पड़ोसियोंसे अपनेही समान प्रीति कर" (लेव्हि. १९. १५; मेथ्यू. २२. ३९), वह इसी नियमका रूपांतर है। ईसाई लोग इसे सोनेका अर्थात् सोनेसरीखा मूल्यवान् नियम कहते हैं; परंतु आत्मैक्यकी उपपत्ति उनके धर्ममें नहीं है। ईसाका यह उपदेशभी आत्मौपम्य-सूत्रका एक भाग है, कि "लोगोंसे तुम अपने साथ जैसा वर्ताव कराना पसंद करते हो, उनके साथ तुम्हें स्वयंभी वैसाही वर्ताव करना चाहिये" (मा. ७. १२; ल्यू. ६. ३१); और यूनानी तत्त्व-वेत्ता आरिस्टॉटलके ग्रंथमें मनुष्योंके परस्पर वर्ताव करनेका यही तत्त्व अक्षरशः बतलाया गया है। आरिस्टॉटल ईसासे कोई तीन सौ वर्ष पहले हो गया; परंतु उससेभी लगभग दो सौ वर्ष पहले चीनी तत्त्ववेत्ता खुँ-फू-त्से (अंग्रेजी अपभ्रंश कानफ्यूशियस) उत्पन्न हुआ था। उसने आत्मौपम्य दृष्टिका उल्लिखित नियम चीनी भाषाकी प्रणालीके अनुसार एकही शब्दमें बतला दिया है! परंतु यह तत्त्व हमारे यहाँ कानफ्यू-शियससेभी बहुत पहलेसे उपनिषदोंमें (ईश. ६. केन. १३) और फिर महाभारतमें,

---

* **सूत्र** शब्दकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है :– "अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सार-**वद्विश्वतोमुखम्**। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥" गानेके सुभीतेके लिये किसीभी मंत्रमें जिन अनर्थक अक्षरोंका प्रयोग दिया जाता है, उन्हें स्तोभाक्षर कहते हैं। सूत्रमें ऐसे अनर्थक अक्षर नहीं होते। इसीसे इस लक्षणमें यह 'अस्तोभ' पद आया है।

गीतामें, एवं परायेकोभी आत्मवत् मानना चाहिये " (दास. १२. १०. २२) इस रीतिसे मराठा साधु-संतोंके ग्रंथोंमें विद्यमान् है; तथा इस लोकोक्तिकाभी प्रचार है कि " आप बीती सो जग बीती । " यही नहीं; बल्कि इसकी आध्यात्मिक उपपत्तिभी हमारे प्राचीन शास्त्रकारोंने दे दी है। जब हम इस बातपर ध्यान देते हैं, कि यद्यपि नीति-धर्मका यह सर्वमान्य सूत्र वैदिक धर्मसे भिन्न अन्य धर्मोंमें दिया गया हो, तो भी इसकी उपपत्ति नहीं बतलाई गई है। और जब हम इस बातपरभी ध्यान देते हैं, कि इस सूत्रकी उपपत्ति ब्रह्मात्मैक्यरूप अध्यात्मज्ञानको छोड़ और दूसरे किसीसेभी ठीक ठीक नहीं लगती, तब गीताके आध्यात्मिक नीतिशास्त्रका अथवा कर्मयोगका महत्त्व पूरा पूरा व्यक्त हो जाता है।

समाजमें मनुष्योंके पारस्परिक व्यवहारके विषयमें 'आत्मौपम्य'-बुद्धिका नियम इतना सुलभ, व्यापक, सुबोध और विश्वतोमुख है, कि जब एक बार यह बतला दिया, कि प्राणिमात्रमें रहनेवाले आत्माकी एकताको पहचान कर, " आत्मवत् सम-बुद्धिसे दूसरोंके साथ वर्तते जाओ "; तब फिर ऐसे पृथक् पृथक् उपदेश करनेकी जरूरतही नहीं रह जाती, कि लोगोंपर दया करो; उनकी यथाशक्ति मदद करो; उनका कल्याण करो; उन्हें अभ्युदयके मार्गमें लगाओ; उनसे प्रीति करो; उनसे ममता न छोड़ो; उनके साथ न्याय और समताका बर्ताव करो; किसीको धोखा मत दो; किसीका द्रव्यहरण अथवा हिंसा न करो; किसीसे झूठ न बोलो; अधिकांश लोगोंके अधिक कल्याण करनेकी बुद्धिको मनमें रखो; सदैव यह समझकर भाईचारेसे बर्ताव करो, कि हम सब एकही पिताकी संतान हैं। प्रत्येक मनुष्यको स्वभावसे यह सहजही मालूम रहता है, कि उसका अपना सुखदुःख और कल्याण किसमें है ? और सांसारिक व्यवहार करते समय गृहस्थीकी व्यवस्थासे इस बातका अनुभवभी उसको होता रहता है, कि " आत्मा वै पुत्रनामासि । " अथवा " अर्धं भार्या शरीरस्य "का भाव समझकर अपनेही समान अपने स्त्री-पुत्रोंसेभी हमें प्रेम करना चाहिये। किंतु घरवालोंसे प्रेम करना आत्मौपम्य-बुद्धि सीखनेका पहलाही पाठ है। सदैव इसीमें न लिपटे रहकर घरवालोंके बाद इष्टमित्रों, आप्तों, गोत्रजों, ग्रामवासियों, जातिभाइयों, धर्मबंधुओं और अंतमें सब मनुष्यों अथवा प्राणिमात्रके विषयमें आत्मौपम्य-बुद्धिका उपयोग करना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्यको अपनी आत्मौपम्य-बुद्धि अधिकाधिक व्यापक बनाकर पहचानना चाहिये, कि जो आत्मा अपनेमें है, वही सब प्राणियोंमें है; और अंतमें इसीके अनुसार बर्तावभी करना चाहिये – यही ज्ञानकी तथा आश्रम-व्यवस्थाकी परमावधि अथवा मनुष्यमात्रके साध्यकी सीमा है। आत्मौपम्य-बुद्धिरूप सूत्रका अंतिम और व्यापक अर्थ यही है। फिर आपही आप सिद्ध हो जाता है, कि इस परमावधिकी स्थितिको प्राप्तकर लेनेकी योग्यता जिन जिन यज्ञदान आदि कर्मोंसे बढ़ती जाती है, वे सभी कर्म चित्तशुद्धिकारक, धर्म्य, अतएव गृहस्थाश्रमके कर्तव्य हैं। यह पहलेही कह चुके हैं, कि चित्तशुद्धिका ठीक ठीक अर्थ स्वार्थ-बुद्धिका

छूट जाना और ब्रह्मात्मैक्यको पहचानना है, एवं इसीलिये स्मृतिकारोंने गृहस्थाश्रमके कर्म विहित माने हैं। याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीको जो "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" आदि उपदेश किया है, उसका मर्मभी यही है। अध्यात्मज्ञानकी नींवपर रचा हुआ कर्मयोगशास्त्र सबसे कहता है, कि "आत्मा वै पुत्रनामासि" मेंही आत्माकी व्यापकताको संकुचित न करके उसकी इस स्वाभाविक व्याप्तिको पहचानो, कि "लोको वै अयमात्मा", और इस समझसे वर्ताव किया करो, कि "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुंबकम्" – यह सारी पृथ्वीही बड़े लोगोंकी घरगृहस्थी है; प्राणिमात्रही उनका परिवार है। हमें विश्वास है, कि इस विषयमें हमारा कर्मयोगशास्त्र अन्यान्य देशोंके पुराने अथवा नये, किसीभी कर्मयोगशास्त्रसे हारनेवाला नहीं है; यही नहीं, तो उन सबको अपने पेटमें रखकर परमेश्वरके समान 'दश अंगुल' बचा रहेगा।

इसपरभी कुछ लोग कहते हैं, कि आत्मौपम्य-भावसे 'वसुधैव कुटुंबकम्' रूपी वेदान्ती और व्यापक दृष्टि हो जानेपर हम सिर्फ़ उन सद्‌गुणोंकोही न खो बैठेंगे, कि जिन देशाभिमान, कुलाभिमान और धर्माभिमान आदि सद्‌गुणोंसे कुछ वंश अथवा राष्ट्र आजकल उन्नत अवस्थामें हैं, प्रत्युत यदि कोई हमें मारने या कष्ट देने आवेगा, तो "निर्वैर, सर्वभूतेषु" (गीता ११.५५), गीताके इस वाक्यानुसार उसको दुष्ट-बुद्धिसे उलटकर न मारना हमारा धर्म हो जायगा (धम्मपद ३३८)। अतः दुष्टोंका प्रतिकार न होगा; और इस कारण उनके बुरे कर्मोंसे साधु-पुरुषोंकी जान जोखिममें पड़ जायेगी और दुष्टोंका दबदबा हो जानेसे पूरे समाज अथवा सारे राष्ट्रका उससे नाशभी हो जावेगा। महाभारतमें स्पष्टही कहा है, कि "न पापे प्रतिपापः स्यात्साधुरेव सदा भवेत्" (मभा. वन. २०६. ४८) दुष्टोंके साथ दुष्ट न हो जावे; साधुतासे वर्ते, क्योंकि दुष्टतासे अथवा वैर निकालनेसे वैर कभी नष्ट नहीं होता – "न चापि वैरं वैरेण केशव व्युपशाम्यति।" इसके विपरीत जिसको हम पराजय करते हैं, वह स्वभावसेही दुष्ट होनेके कारण पराजित होनेपर औरभी अधिक उपद्रव मचाता रहता है, तथा वह फिर बदला लेनेका मौका खोजता रहता है – "जयो वैरं प्रसृजति।" अतएव महाभारतमें स्पष्ट कहा है कि, शांतिसेही दुष्टोंका निवारण कर देना चाहिये (मभा. उद्यो. ७१. ५९, ६३)। महाभारतके येही श्लोक बौद्ध ग्रंथोंमें हैं (धम्मपद ५, २०१; महावग्ग १०. २, ३); और ऐसेही ईसानेभी इसी तत्त्वका अनुवाद इस प्रकार किया है, कि "तू अपने शत्रुओंसे प्रीति कर।" (मेथ्यु. ५. ४४); और "कोई एक कनपटीमें मारे, तो तू दूसरीभी आगे कर दे" (मेथ्यू. ५. ३९; ल्यू. ६. २९)। ईसामसीहसे पहलेके चीनी तत्त्वज्ञ ला-ओ-त्सेकाभी ऐसाही कथन है; और महाराष्ट्रकी संत-मंडलीमें तो एकनाथ महाराज जैसे साधुओंके इस प्रकार आचरण करनेकी बहुतेरी कथाएँभी हैं। क्षमा अथवा शांतिकी पराकाष्ठाका उत्कर्ष दिखलानेवाले इन उदाहरणोंकी पुनीत योग्यताको घटानेका हमारा कदापि हेतु नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं, कि सत्यसमानही यह क्षमा-धर्मभी अंतमें –

अर्थात् समाजकी पूर्णावस्थामें – अपवादरहित और नित्यरूपसे बना रहेगा। और बहुत क्या कहें, समाजकी वर्तमान अपूर्णावस्थामेंभी अनेक अवसरोंपर देखा जाता है, कि जो काम शांतिसे हो जाता है, वह क्रोधसे नहीं होता। जब अर्जुन देखने लगा, कि दुष्ट दुर्योधनकी सहायता करनेके लिये कौन कौन योद्धा आये हैं, तब उनमें पितामह और गुरु जैसे पूज्य मनुष्योंपर दृष्टि पड़तेही उसके ध्यानमें यह बात आ गई, कि दुर्योधनकी दुष्टताका प्रतिकार करनेके लिये मुझे केवल कर्मही नहीं करना पड़ेगा, तो अर्थासक्त गुरुजनोंको शस्त्रोंसे मारनेका दुष्कर कामभी करना पड़ेगा, (गीता २. ५)। और इसीसे वह कहने लगा, कि यद्यपि दुर्योधन दुष्ट हो गया है, तथापि "न पापे प्रतिपापः स्यात्"वाले न्यायसे मुझेभी उसके साथ दुष्ट न हों जाना चाहिये। "यदि वे मेरी जानभी ले लें, तोभी (गीता १. ४६) मेरा 'निर्वैर' अंतःकरणसे चुपचाप बैठ रहनाही उचित है।" अर्जुनकी इस शंकाको दूर भगा देनेके लियेही गीताशास्त्रकी प्रवृत्ति हुई है; और यही कारण है, कि गीतामें इस विषयका जैसा स्पष्टीकरण किया गया है, वैसा और किसीभी धर्मग्रंथमें नहीं पाया जाता। उदाहरणार्थ, बौद्ध और ईसाई धर्म निर्वैरत्वके तत्त्वको वैदिक धर्मके समानही स्वीकार तो करते हैं; परंतु उनके धर्म-ग्रंथोंमें यह बात स्पष्टतया कहींभी नहीं बतलाई है, कि लोकसंग्रहकी अथवा आत्मसंरक्षणकीभी चिंता न करनेवाले सर्व कर्मत्यागी संन्यासी पुरुषका व्यवहार और बुद्धिके अनासक्त एवं निर्वैर हो जानेपरभी उसी अनासक्त और निर्वैरबुद्धिसे सारे बर्ताव करनेवाले कर्मयोगीका व्यवहार, ये दोनों सर्वांशमें एक नहीं हो सकते। इसके विपरीत पश्चिमी नीतिशास्त्रवेत्ताओंके आगे यह समस्या है, कि ईसाने जो उपरोक्त निर्वैरत्वका उपदेश किया है, उसका जगतकी नीतिसे समुचित मेल कैसे मिलावें ?* और नित्शे नामक आधुनिक जर्मन पंडितने जो अपने ग्रंथोंमें यह मत लिखा है, कि निर्वैरत्वका यह धर्म-तत्त्व गुलामीका और घातक है; एवं इसीको श्रेष्ठ माननेवाले ईसाई धर्मने यूरोप खंडको नामर्द कर डाला है। परंतु हमारे धर्मग्रंथोंको देखनेसे ज्ञात होगा, कि न केवल गीताको, प्रत्युत मनुकोभी यह बात पूर्णतया अवगत और संमत थी, कि संन्यास और कर्मयोग इन दोनों धर्म-मार्गोंसे इस विषयमें भेद करना चाहिये। क्योंकि मनुने यह नियम, "क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येत्" – क्रोधित होनेवालेपर फिर क्रोध न करो (मनु. ६. ४८); न गृहस्थ-धर्ममें बतलाया है; और न राज-धर्ममें; बतलाया है केवल यति-धर्ममेंही। परंतु आजकलके टीकाकार इस बातपर ध्यान नहीं देते, कि इन वचनोंमेंसे कौन वचन किस मार्गका है अथवा उसका कहाँ उपयोग करना चाहिये ? उन लोगोंने संन्यास और कर्ममार्ग इन दोनों मार्गोंके परस्पर-विरोधी सिद्धान्तोंको गड्डमड्डकर एकत्र कह डालनेकी जो प्रणाली अपनायी है, उस प्रणालीसे प्रायः कर्मयोगके सच्चे सिद्धान्तोंके संबंधमें कैसे भ्रम

---

* See Paulsen's *System of Ethics*, Book III, chap. X (Eng. Trans). and Nietzsche's *Anti-Christ*.

उत्पन्न हो जाता है, उसका वर्णन हम पाँचवें प्रकरणमें कर चुके हैं। गीताके टीका-कारोंकी इस भ्रामक पद्धतिको छोड़ देनेसे सहजही ज्ञात हो जाता है, कि भागवत-धर्मी कर्मयोगी 'निर्वैर' शब्दका क्या अर्थ करते हैं, क्योंकि ऐसे अवसरपर दुष्टोंके साथ कर्मयोगी गृहस्थको कैसे बर्ताव करना चाहिये, उसके विषयमें परम भगवद्-भक्त प्रल्हादनेही कहा है, कि "तस्मान्नित्यं क्षमा तात पंडितैरपवादिता" (मभा. वन. २८. ८) – हे तात! इसी हेतु चतुर पुरुषोंने क्षमाके लिये सदा अपवाद बत-लाये हैं। जो कर्म हमें दुःखदायी हो, वही कर्म करके दूसरोंको दुःख न देनेका, आत्मौ-पम्य-दृष्टिका सामान्य धर्म है तो ठीक; परंतु महाभारतमें निर्णय किया गया है, कि जिस समाजमें इसी आत्मौपम्य-दृष्टिवाले सामान्य धर्मकी पड़तालके इस दूसरे धर्मके, कि हमेंभी दूसरे लोग दुःख न दें, पालनेवाले न हों, उस समाजमें किसी एकके इस धर्मको पालनेसे कोई लाभ न होगा। यह समता शब्दही दो व्यक्तियोंसे संबद्ध अर्थात् सापेक्ष है। अतएव आततायी पुरुषको मार डालनेसे जैसे अहिंसा धर्ममें बट्टा नहीं लगता, वैसेही दुष्टोंको उचित शासन कर देनेसे साधुओंकी आत्मौपम्य-बुद्धि या निर्वैरतामेंभी कुछ न्यूनता नहीं आती; बल्कि दुष्टोंके अन्यायका प्रतिकारकर दूसरोंको बचा लेनेका श्रेय अवश्य मिल जाता है। जिस परमेश्वरकी अपेक्षा किसीकीभी बुद्धि अधिक सम नहीं है; वह परमेश्वरभी जब साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंका विनाश करनेके लिये समय समयपर-अवतार लेकर लोकसंग्रह किया करता है (गीता ४. ७, ८), तब और पुरुषोंकी तो बातही क्या है! यह कहना भ्रममूलक है, कि 'वसुधैव कुटुंबकम्' रूपी दृष्टि हो जानेसे अथवा फलाशा छोड़ देनेसे पात्रता-अपात्रताका अथवा योग्यता-अयोग्यताका भेदभी मिट जाना चाहिये। गीताका सिद्धान्त यह है, कि फलकी आशामें ममत्व-बुद्धि प्रधान होती है; और उसे छोड़ेबिना पाप-पुण्यसे छुटकारा नहीं मिलता। किंतु यदि किसी सिद्ध पुरुषको अपना स्वार्थ साधनेकी आवश्यकता न हो, तथापि यदि वह किसी अयोग्य आदमीको कोई ऐसी वस्तु ले लेने दे, कि जो उसके योग्य नहीं; तो उस सिद्ध पुरुषको अयोग्य आद-मियोंकी सहायता करनेका तथा योग्य साधुओं एवं समाजकीभी हानि करनेका पाप लगे बिना न रहेगा। कुबेरसे टक्कर लेनेवाला करोड़पति साहूकार यदि बाजारमें तरकारी लेने जावे, तो जिस प्रकार वह हरी धनियाँकी गड्डी की कीमत लाख रुपये नहीं दे देता, उसी प्रकार पूर्ण साम्यावस्थामें पहुँचा हुआ पुरुष किसीकी पात्रता-अपात्रताका तारतम्य भूल नहीं जाता। उसकी बुद्धि सम तो रहती है; पर समताका यह अर्थ नहीं है, कि गायका चारा मनुष्यको और मनुष्यका भोजन गायको खिला दे। तथा भगवानने गीता (गीता १७. २०)मेंभी कहा है, कि 'दातव्य' समझकर जो सात्त्विक दान करना है, वहभी इसी "देशे काले च पात्रे च" अर्थात् देश, काल और पात्रताका विचारकर देना चाहिये। साधु-पुरुषोंकी साम्य-बुद्धिके वर्णनमें ज्ञानेश्वर महाराजने उन्हें पृथ्वीकी उपमा दी है। इसी पृथ्वीका दूसरा नाम 'सर्वंसहा' है; किंतु

यह 'सर्वंसहा' भी, यदि इसे कोई लात मारे, तो मारनेवालेके तलवेमें उतनेही जोरका प्रत्याघात कर अपनी समता-बुद्धि व्यक्त कर देती है। इससे भली भाँति समझा जा सकता है, कि मनमें वैर न रहनेपरभी (अर्थात् निर्वैर) प्रतिकार कैसे किया जाता है ? कर्मविपाक प्रक्रियामें कह चुके हैं, कि इसी कारणसे भगवानभी " ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् " (गीता ४. ११) – जो मुझे जैसे भजते हैं, उन्हें वैसेही फल देता हूँ – इस प्रकार व्यवहार तो करते हैं; परंतु फिरभी 'वैषम्य-नैर्घृण्य' दोषोंसे अलिप्त रहते हैं। इसी प्रकार व्यवहार अथवा कानून-कायदेमेंभी खूनी आदमीको फाँसीकी सजा देनेवाले न्यायाधीशको, कोई उसका दुश्मन नहीं कहता। अध्यात्मशास्त्रका सिद्धान्त है, कि जब किसीकी बुद्धि निष्काम होकर साम्यावस्थामें पहुँच जावे, तब वह मनुष्य अपनी इच्छासे किसी दूसरेका नुकसान नहीं करता, उससे यदि किसी दूसरेका नुकसान होभी जाय, तो समझना चाहिये, कि वह दूसरेके कर्मका फल है; अथवा निष्काम बुद्धिवाला स्थितप्रज्ञ ऐसे समयपर जो काम करता है – फिर देखनेमें वह मातृ-वध या गुरु-वध-सरीखा कितनाही भयंकर क्यों न हो – उसके शुभ-अशुभ फलका बंधन अथवा लेप उसको नहीं लगता (गीता ४. १४; ९. २८; १८. १७)। फ़ौजदारी कानूनमें आत्मसंरक्षाके जो नियम हैं वे इसी तत्त्वपर रचे गये हैं। कहते हैं, कि जब लोगोंने मनुसे राजा होनेकी प्रार्थना की, तब उन्होंने पहले यह उत्तर दिया, कि " अनाचारसे चलनेवालोंका शासन करनेके लिये राज्यको स्वीकार करके मैं पापमें नहीं पड़ना चाहता। " परंतु जब लोगोंने यह वचन दिया, कि " तमब्रुवन् प्रजाः मा भीः कर्तृनेनो गमिष्यति " (मभा. शां. ६७. २३) – ड़रिये नहीं, जिसका पाप उसीको लगेगा, आपको तो रक्षा करनेका पुण्यही मिलेगा; और प्रतिज्ञा की, कि " प्रजाकी रक्षा करनेमें जो खर्च लगेगा, उसे हम लोग 'कर' देकर पूरा करेंगे ", तब मनुने प्रथम राजा होना स्वीकार किया। सारांश, जैसे अचेतन सृष्टिका कभीभी न बदलनेवाला यह नियम है, कि " आघातके बराबरही प्रत्याघात " हुआ करता है; वैसेही सचेतन सृष्टिमें उस नियमका यह रूपांतर है, कि " जैसेको तैसा " होना चाहिये। वे साधारण लोग, कि जिनकी बुद्धि साम्यावस्थामें पहुँच नहीं गई है, इस कर्मविपाकके नियमके विषयमें अपनी ममत्व-बुद्धि उत्पन्न कर लेते हैं, और क्रोधसे अथवा द्वेषसे आघातकी अपेक्षा अधिक प्रत्याघात करके आघातका बदला लिया करते हैं; अथवा अपनेसे दुबले मनुष्यके साधारण या काल्पनिक अपराधके लिये प्रतिकार-बुद्धिके निमित्तसे उसको लूट कर अपना फायदा कर लेनेके लिये सदा प्रवृत्त होते हैं। किंतु साधारण मनुष्योंके समान बदला लेनेकी, वैरकी, अभिमानकी, क्रोधसे – लोभसे, या द्वेषसे दुर्बलोंको लूटनेकी अथवा टेकसे अपने अभिमान, शेखी, सत्ता और शक्तिकी प्रदर्शिनी दिखलानेकी बुद्धि जिसके मनमें न रहे, उसकी शांत, निर्वैर और सम-बुद्धि वैसेही नहीं बिगड़ती है, जैसे कि अपने ऊपर गिरी हुई गेंदको सिर्फ़ पीछे लौटा देनेसे बुद्धिमें कोईभी विकार नहीं उपजता; और

लोकसंग्रहकी दृष्टिसे ऐसे प्रत्याघातस्वरूप कर्म करना उसका धर्म अर्थात् कर्तव्य हो जाता है, कि जिससे दुष्टोंका दबदवा बढ़ कर कहीं गरीबोंपर अत्याचार न होने पावे (गीता ३. २५)। गीताकेरे सा उपदेशका सार यही है, कि ऐसे प्रसंगपर सम-बुद्धिसे किया हुआ घोर युद्धभी धर्म्य और श्रेयस्कर है। वैरभाव न रखकर सबसे बर्तना, दुष्टोंके साथ दुष्ट न बन जाना, क्रोध करनेवालेपर क्रुद्ध न होना आदि धर्म-तत्त्व स्थितप्रज्ञ कर्मयोगीको मान्य तो हैंही; परंतु संन्यासमार्गका यह मत कर्मयोग नहीं मानता, कि 'निर्वैर' शब्दका अर्थ केवल निष्क्रिय अथवा प्रतिकारशून्य है; किंतु वह निर्वैर शब्दका सिर्फ़ इतनाही अर्थ मानता है, कि वैर अर्थात् मनकी दुष्ट बुद्धि छोड़ देनी चाहिये; और जब कि कर्म किसीके छूटते हैंही नहीं, तब उसका कथन है, कि सिर्फ़ लोकसंग्रहके लिये अथवा प्रतिकारार्थ जितने कर्म आवश्यक और शक्य हों, उतने कर्म मनमें दुष्ट बुद्धिको स्थान न देकर – केवल कर्तव्य समझ – वैराग्य और निःसंग-बुद्धिसे करते रहना चाहिये (गीता ३. १९)। अतः इस श्लोकमें (गीता ११. ५५) सिर्फ़ 'निर्वैर' पदका प्रयोग न करते हुए –

मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥

उसके पूर्व इस दूसरे महत्त्वके विशेषणकाभी प्रयोग करके – कि 'मत्कर्मकृत्' अर्थात् " मेरे याने परमेश्वरके प्रीत्यर्थ अर्थात् परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे सारे कर्म करनेवाला " – भगवानने गीतामें निर्वैरत्व और निष्काम कर्मका, भक्तिकी दृष्टिसे, मेल मिला दिया है। इसीसे शांकरभाष्य तथा अन्य टीकाओंमेंभी कहा है, कि इस श्लोकमें पुरे गीता-शास्त्रका निचोड आ गया है। गीतामें यह कहींभी नहीं बतलाया, कि बुद्धिको निर्वैर करनेके लिये या उसके निर्वैर हो चुकने परभी, सभी प्रकारके कर्म छोड़ देने चाहिये। इस प्रकार प्रतिकारका कर्म निर्वैरत्व और परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे करनेपर कर्ताको उसका कोईभी पाप या दोष तो लगताही नहीं; उलटे, प्रतिकारका काम हो चुकनेपर, जिन दुष्टोंका प्रतिकार किया गया है, उन्हींका आत्मौपम्य-दृष्टिसे कल्याण करनेकी बुद्धिभी मनसे नष्ट नहीं होती। एक उदाहरण लीजिये; दुष्ट कर्मके कारण रावणको, निर्वैर और निष्पाप रामचंद्रने युद्धमें मार तो डाला; पर उसकी उत्तरक्रिया करनेमें जब बिभीषण हिचकने लगा, तब रामचंद्रने उसको समझाया कि :–

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥

" (रावणके मनका) वैर मरणके साथ चुकही गया। हमारा (दुष्टोंका नाश करनेका) काम हो चुका। अब यह जैसा तेरा (भाई) है, वैसाही मेराभी है। इसलिये इसका अग्निसंस्कार कर " (वाल्मीकि रा. ६. १०९. २५) रामायणका

यह तत्त्व भागवतमेंभी (भाग. ८. १९. १३) एक स्थानपर बतलाया गया है; और अन्यान्य पुराणोंमें जो ये कथाएँ हैं – कि भगवानने जिन दुष्टोंका संहार किया, उन्हींको फिर दयालु होकर सद्‌गति दे डाली – उनका रहस्यभी यही है। इन्हीं सब विचारोंको मनमें लाकर श्रीसमर्थ रामदासस्वामीने कहा है, कि "उद्धतके लिये उद्धत होना चाहिये।" और महाभारतमें भीष्मने परशुरामसे कहा है :–

यो यथा वर्तते यस्मिन् तस्मिन्नेवं प्रवर्तयन्।
नाधर्मं समवाप्नोति न चाश्रेयश्च विन्दति ।।

"अपने साथ जो जैसा बर्ताव करता है, उसके साथ वैसेही बर्तनेसे न तो अधर्म (अनीति) होता है; और न अकल्याणभी" (मभा. उद्यो. १७९. ३०)। फिर आगे चलकर शांतिपर्वके सत्यानृत अध्यायमें फिर वही उपदेश युधिष्ठिरको किया है :–

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः तस्मिन् तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ।।

"अपने साथ जो जैसा बर्ताव है, उसके साथ वैसाही बर्तवा करना धर्मनीति है। मायावी पुरुषके साथ मायावीपनसे और साधु पुरुषके साथ साधुताका व्यवहार करना चाहिये" (मभा. शां. १०९. २९; उद्यो. ३६. ७)। ऐसेही ऋग्वेदमें इंद्रको उसके मायावीपनका दोष न देकर उसकी स्तुतिहीकी गई है, कि – "त्वं मायाभिरनवद्य मायिनं. . .वृत्रं अर्दयः।" (ऋ. १०. १४७. २; १. ८०. ७) – हे निष्पाप इंद्र ! मायावी वृत्रको तूने मायासेही मारा है। और भारवि कविने अपने 'किरातार्जुनीय' काव्यमेंभी ऋग्वेदके तत्त्वकाही अनुवाद इस प्रकार किया है :–

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं।
भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।।

"मायावियोंके साथ जो मायावी नहीं बनते, वे नष्ट हो जाते हैं" (किरा. १. ३०)। परंतु यहाँ और एक बातपर ध्यान देना चाहिये, कि दुष्ट पुरुषका प्रतिकार यदि साधुतासे हो सकता हो, तो पहले साधुतासेही करे। क्योंकि दूसरा यदि दुष्ट हो जाय, तो उसके साथ हमेंभी दुष्ट न हो जाना चाहिये, कोई एक यदि नकटा हो जाय तो सारा गाँवका गाँव अपनी नाक नहीं कटा लेता ! और क्या कहें, यह धर्म हैभी नहीं। इस "न पापे प्रतिपापः स्यात्" सूत्रका ठीक भावार्थ यही है; और इसी कारणसे विदुरनीतिमें धृतराष्ट्रको पहले यही नीतितत्त्व बतलाया गया है, कि "न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः" – जो व्यवहार स्वयं अपने लिये प्रतिकूल मालूम हो, वैसा बर्ताव दूसरोंके साथ न करे। इसके पश्चातही विदुरने कहा है :–

अक्रोधेन जयेत्क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ।।

"(दूसरेके) क्रोधको (अपनी) शांतिसे जीते। दुष्टको साधुतासे जीते। कृपणको दानसे जीते; और अनृतको सत्यसे जीते" (मभा. उद्यो. ३८. ७३, ७४)। पाली भाषामें बौद्धोंका जो 'धम्मपद' नामक नीतिग्रंथ है, उसमें '(धम्म. २३३) इसी श्लोकका ज्यों का त्यों अनुवाद है :–

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन सच्चेनालीकवादिनम्॥

शांतिपर्वमें युधिष्ठिरको उपदेश करते हुए भीष्मनेभी इसी नीति-तत्त्वके गौरवका वर्णन इस प्रकार किया है :–

कर्म चैतदसाधूनां असाधु साधुना जयेत्।
धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा॥

"दुष्टकी असाधुता अर्थात् दुष्ट कर्मका साधुतासे निवारण करना चाहिये। क्योंकि पापकर्मसे प्राप्त जीतकी अपेक्षा धर्मसे अर्थात् नीतिसे मर जानाभी श्रेयस्कर है" (मभा. ९५. १६)। किंतु ऐसी साधुतासे यदि दुष्टके दुष्कर्मोंका निवारण न होता हो, अथवा साम-उपचार और मेल-जोलकी बात इन दुष्टोंको नापसंद हो, तो 'कण्टकेनैव कण्टकम्' के न्यायसे जो काँटा इन पुल्टिससे बाहर न निकलता हो, उसको साधारण काँटेसें अथवा लोहेके काँटे (सुई)सेही बाहर निकाल डालना आवश्यक है (दास. १९. ९. १२–३१)। क्योंकि, प्रत्येक समय लोकसंग्रहके लिये दुष्टोंका निग्रह करना, भगवानके समान, साधु-पुरुषोंकाभी धर्मकी दृष्टिसे पहला कर्तव्य है। 'साधुतासे दुष्टताको जीते' इस वाक्यमेंही पहले यही बात मानी गई है, कि दुष्टताको जीत लेना अथवा उसका निवारण करना साधु-पुरुषका पहला कर्तव्य है। फिर उसकी सिद्धिके लिये बतलाया है, कि पहले किस उपायकी योजना करे। यदि साधुतासे उसका निवारण न हो सकता हो – सीधी अँगुलीसे घी न निकले – तो 'जैसेको तैसे' बन कर दुष्टताका निवारण करनेमेंसे हमें हमारे धर्म-ग्रंथकार कभीभी नहीं रोकते। वे यह कहींभी प्रतिपादन नहीं करते, कि दुष्टताके आगे साधुपुरुष अपना बलिदान खुशीसे किया करें। सदा ध्यान रहे, कि जो पुरुष अपने बुरे कामोंसे पराई गर्दनें काटनेपर उतारू हो गया, उसे यह कहनेका कोईभी नैतिकहक़ नहीं रह जाता, कि और लोग मेरे साथ साधुताका बर्ताव करें। धर्मशास्त्रमें स्पष्ट आज्ञा है (मनु. ८. १९, ३५१), कि इस प्रकार जब साधु-पुरुषोंको कोई असाधु काम लाचारीसे करना पड़े, तो उसकी जिम्मेदारी शुद्ध बुद्धिवाले साधु-पुरुषोंपर नहीं रहती, किंतु उसका जिम्मेदार वही दुष्ट पुरुष हो जाता है, कि जिसके दुष्ट कर्मोंकाही वह नतीजा है। स्वयं बुद्धने देवदत्तका जो शासन किया, उसकी उपपत्ति बौद्ध ग्रंथकारोंनेभी इसी तत्त्वपर लगाई है (मिलिंद प्र. ४. १. ३०–३४)। जड़ सृष्टिके व्यवहारमें ये आघात-प्रत्याघातरूपी कर्म नित्य और

बिलकुल ठीक होते हैं। परंतु मनुष्यके व्यवहार उसके इच्छाधीन हैं, और ऊपर जिस त्रैलौक्य-चिंतामणिकी मात्राका उल्लेख किया है, उसके दुष्टोंपर प्रयोग करनेका निश्चित विचार जिस धर्मज्ञानसे होता है, वह धर्मज्ञानभी अत्यंत सूक्ष्म है; इस कारण विशेष अवसरपर बड़े बड़े लोगभी सचमुच इस दुविधामें पड़ जाते हैं, कि जो हम करना चाहते हैं, वह योग्य है या अयोग्य? अथवा धर्म्य है या अधर्म्य? – "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः" (गीता ४. १६)। ऐसे अवसर-पर कोरे विद्वान किंतु सदैव थोड़े-बहुत स्वार्थके पंजेमें फँसे हुए, पुरुषोंकी पंडिताई-पर या केवल अपने सार-असार-विचारके भरोसेपरही कोई काम न कर बैठे; बल्कि पूर्ण साम्यावस्थामें पहुँचे हुए परमावधिके साधु-पुरुषकी शुद्ध बुद्धिकीही शरणमें जा कर उसी गुरुके निर्णयको प्रमाण माने। क्योंकि निरा तार्किक पांडित्य जितना अधिक होगा, युक्तियाँभी उतनीही अधिक निकलेंगी। इसी कारण बिना शुद्धबुद्धिके कोरे पांडित्यसे ऐसे विकट प्रश्नोंका कभी सच्चा और समाधानकारक निर्णय नहीं होने पाता; अतएव उसको शुद्ध और निष्कामबुद्धिवाला गुरुही करना चाहिये। जो शास्त्रकार अत्यंत सर्वमान्य हो चुके हैं, उनकी बुद्धि इस प्रकारकी शुद्ध रहती है, और यही कारण है, जो भगवानने अर्जुनसे कहा है – "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ" (गीता १६. २४) – कार्य-अकार्यका निर्णय करनेमें तुझे शास्त्रको प्रमाण मानना चाहिये। तथापि यह न भूल जाना चाहिये, कि कालमानके अनुसार श्वेतकेतु जैसे आगेके साधुपुरुषोंको इन शास्त्रोंमेंभी फ़र्क़ करनेका अधिकार प्राप्त होता रहता है।

निर्वैर और शांत साधु-पुरुषोंके आचरणके संबंधमें लोगोंकी आजकल जो गैर-समझ देखी जाती है, उसका कारण यह है, कि कर्मयोगमार्ग प्रायः लुप्त हो गया है; और सारे संसारहीको त्याज्य माननेवाले संन्यास-मार्गका चारों ओर दौर-दौरा हो गया है। गीताका यह उपदेश अथवा उद्देश्यभी नहीं है, कि निर्वैर होनेसे निष्प्रतिकार-भी होना चाहिये। जिसे लोकसंग्रहकी चिंताही नहीं है, उसे जगतमें दुष्टोंकी प्रबलता फैले तो – और न फैले तो – करनाही क्या है? उसकी जान रहे, चाहे चली जाय; सब एकही-सा है। किंतु पूर्णावस्थामें पहुँचे हुए कर्मयोगी प्राणिमात्रमें आत्माकी एकताको पहचान कर यद्यपि सभीके साथ निर्वैरताका व्यवहार किया करते हैं, तथापि अनासक्त-बुद्धिसे पात्रता-अपात्रताका, सार-असार-विचार करके स्वधर्मानु-सार प्राप्त हुए कर्म करनेमें वे कभी नहीं चूकते; और कर्मयोग कहता है, कि इस रीतिसे किये हुए कर्म कर्ताकी साम्य-बुद्धिमेंभी कुछ न्यूनता नहीं आने देते। गीता-धर्म-प्रतिपादित कर्मयोगके इस तत्त्वको मान लेनेपर कुलाभिमान और देशाभिमान आदि कर्तव्य-धर्मोंकीभी कर्मयोगशास्त्रके अनुसार योग्य उपपत्ति लगाई जा सकती है। यद्यपि यह अंतिम सिद्धान्त है, कि समग्र मानव जातिका – प्राणिमात्रका – जिससे हित होता हो, वही धर्म है; तथापि परमावधिकी इस स्थितिको प्राप्त करनेके

लिये कुलाभिमान, धर्माभिमान और देशाभिमान आदि चढ़ती हुई सीढ़ियोंकी आवश्यकता तो कभीभी नष्ट होनेकी नहीं। निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये जिस प्रकार सगुणोपासना आवश्यक है, उसी प्रकार – 'वसुधैव कुटुंबकम्' – की ऐसी बुद्धि पानेके लिये कुलाभिमान, जात्याभिमान, धर्माभिमान और देशाभिमान आदिकी आवश्यकता है, एवं समाजकी प्रत्येक पीढ़ी इसी जीनेसे ऊपर चढ़ती है, इस कारण इसी जीनेको सदैवही स्थिर रखना पड़ता है। ऐसेही जब अपने आसपासके लोग अथवा अन्य राष्ट्र नीचेकी सीढ़ीपर हों, तब यदि कोई एक-आध मनुष्य अथवा राष्ट्र चाहे, कि मैं अकेलेही ऊपरकी सीढ़ीपर बना रहूँ, तो वह कदापि सिद्ध हो नहीं सकता। क्योंकि ऊपर कहाही जा चुका है, कि परस्पर व्यवहारमें 'जैसेको तैसे' न्यायसे ऊपर – ऊपरकी श्रेणीवालोंको नीचे – नीचेकी श्रेणीवाले लोगोंके अन्यायका प्रतिकार करना विशेष प्रसंगपर आवश्यक रहता है। इसमें कोई शंका नहीं कि सुधरते सुधारते जगतके सभी मनुष्योंकी स्थिति एक दिन ऐसी जरूर हो जावेगी, कि वे प्राणिमात्रमें आत्माकी एकताको पहचाने लगें। अंततः मनुष्यमात्रको ऐसी स्थिति प्राप्त कर देनेकी आशा रखना कुछ अनुचितभी नहीं है। परंतु यह न्यायतःही सिद्ध है, कि आत्मोन्नतिकी परमावधिकी यह स्थिति जबतक सबको प्राप्त हो नहीं गई है, तबतक अन्यान्य राष्ट्रों अथवा समाजोंकी स्थितिपर ध्यान देकर साधु-पुरुष अपने समाजोंको उन उन समयोंमें श्रेयस्कर देशाभिमान आदि धर्मोंकाही उपदेश देते रहें। इसके अतिरिक्त इस दूसरी बातपरभी ध्यान देना चाहिये, कि मंजिल दर मंजिल तैयार करके, इमारत बन जानेपर, जिस प्रकार नीचेके हिस्से निकाल डाले नहीं जा सकते अथवा जिस प्रकार तलवार हाथमें आ जानेसे कुदालीकी, या सूर्य होनेसे, अग्निकीभी आवश्यकता बनीही रहती है, उसी प्रकार सर्वभूतहितकी अंतिम सीमापर पहुँच जानेपरभी न केवल देशाभिमानकीही, वरन् कुलाभिमानकीभी आवश्यकता बनी ही रहती है। क्योंकि समाजसुधारकी दृष्टिसे देखें तो कुलाभिमान जो विशेष काम करता है, वह निरे देशाभिमानसे नहीं होता; और देशाभिमानका कार्य निरी सर्वभूतात्मैक्य-दृष्टिसे सिद्ध नहीं होता। अर्थात समाजकी पूर्णावस्थामेंभी साम्यबुद्धिकेही समान देशाभिमान और कुलाभिमान आदि धर्मोंकीभी सदैव जरूरत रहतीही है। किंतु केवल अपनेही देशके अभिमानको परम साध्य मान लेनेसे जैसे एक राष्ट्र अपने लाभके लिये दूसरे राष्ट्रका मन-माना नुकसान करनेके लिये तैयार रहता है, वैसी बात सर्वभूतहितको परम साध्य माननेसे नहीं होती। कुलाभिमान, देशाभिमान और अंतमें पूरी मनुष्य जातिके हितमें यदि विरोध आने लगे, तो साम्यबुद्धिसे परिपूर्ण नीति-धर्मका यह महत्त्वपूर्ण और विशेष कथन है, कि उच्च श्रेणीके धर्मोंकी सिद्धिके लिये निम्न श्रेणीके धर्मोंको छोड़दें। विदुरने धृतराष्ट्रको उपदेश करते हुए कहा है, कि युद्धमें कुलका क्षय हो जावेगा, अतः दुर्योधनके हठके लिये पांडवोंको राज्यका भाग न देनेकी अपेक्षा यदि दुर्योधन न माने तो

(अपना लड़का भलेही हो) – उसे अकेलेको छोड़ देनाही उचित है; और इस समर्थनमें यह श्लोक कहा है :–

> **त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।**
> **ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।।**

"कुलके (बचावके) लिये एक व्यक्तिको, गाँवके लिये कुलको, और पूरे लोक-समूहके लिये गाँवको, एवं आत्माके लिये पृथ्वीको छोड़ दें" (मभा. आदि. ११५. ३६; सभा ६१. ११) । इस श्लोकके पहले तीन चरणोंका तात्पर्य वही है, कि जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है; और चौथे चरणमें आत्मरक्षाका तत्त्व बतलाया गया है । 'आत्म' शब्द सामान्य सर्वनाम है, इससे यह आत्मरक्षाका तत्त्व जैसे एक व्यक्तिको उपयुक्त होता है, वैसेही एकत्रित लोकसमूहको, जातिको, देशको अथवा राष्ट्रकोभी उपयुक्त होता है; और कुलके लिये एक पुरुषको, ग्रामके लिये कुलको, एवं देशके लिये ग्रामको छोड़ देनेकी क्रमशः चढ़ती हुई इस प्राचीन प्रणालीपर जब हम ध्यान देते हैं, तब स्पष्ट दीख पड़ता है, कि 'आत्म' शब्दका अर्थ इन सबकी अपेक्षा इस स्थलपर अधिक महत्त्वका है । फिरभी कुछ स्वार्थी या शास्त्र न जाननेवाले लोग इस चरणका कभी कभी विपरीत अर्थात् निरा स्वार्थ-प्रधान अर्थ किया करते हैं । अतएव यहाँ कह देना चाहिये, कि आत्मरक्षाका यह तत्त्व स्वार्थपरायणता नहीं है । क्योंकि जिन शास्त्रकारोंने निरे स्वार्थसाधु चार्वाक-पंथको राक्षसी बतलाया है (गीता अ. १६), संभव नहीं है, कि वेही स्वार्थके लिये किसीसेभी जगत्को डुबानेके लिये कहें । ऊपरके श्लोकमें 'अर्थे' शब्दका अर्थ सिर्फ़ स्वार्थ-प्रधान नहीं है किंतु "संकट आनेपर उसके निवारणार्थ" ऐसा करना चाहिये; और कोशकारोंनेभी यही अर्थ किया है । स्वार्थपरायणता और आत्मरक्षामें बड़ा भारी अंतर है । कामोपभोगकी इच्छा अथवा लोभसे अपना स्वार्थ साधनेके लिये दुनियाका नुकसान करना स्वार्थपरायणता है । यह अमानुषी और निंद्य है । उक्त श्लोकके प्रथम तीन चरणोंमें कहा है, कि एकके हितकी अपेक्षा अनेकोंके हितपर सदैव ध्यान देना चाहिये । तथापि प्राणिमात्रमें एकही आत्मा रहनेके कारण प्रत्येक मनुष्यको इस जगतमें सुखसे रहनेका एकही-सा नैसर्गिक अधिकार है । और इस सर्वमान्य महत्त्वके नैसर्गिक स्वत्वकी ओर दुर्लक्ष्य कर जगतके किसीभी एक व्यक्तिकी या समाजकी हानि करनेका अधिकार, दूसरे किसी व्यक्ति या समाजको नीतिकी दृष्टिसे कदापि प्राप्त नहीं हो सकता – फिर चाहे वह समाज बल और संख्यामें कितनाही चढ़ा-बढ़ा क्यों न हो ! अथवा उसके पास छीना-झपटी करनेके साधन दूसरोंसे अधिक क्यों न हो ! यदि कोई इस युक्तिका अवलंबन करे, कि एककी अपेक्षा अथवा थोडोंकी अपेक्षा बहुतोंका हित अधिक योग्यताका है । और इस युक्तिसे, संख्यामें अधिक बढ़े हुए समाजके स्वार्थी बर्तावका समर्थन करे, तो वह युक्तिवाद केवल राक्षसी समझा जावेगा । इस

प्रकार दूसरे लोग यदि अन्यायसे वर्तने लगें, तो बहुतेरोंके तो क्या, सारी पृथ्वीके हितकी अपेक्षाभी आत्मरक्षा अर्थात् अपने बचावका नैतिक अधिकार औरभी अधिक सबल हो जाता है; यही उक्त चौथे चरणका भावार्थ है और पहले तीन चरणोंमें जिस अर्थका वर्णन है, उसके लिये महत्त्वपूर्ण अपवादके नाते उसे साथही बतला दिया है। इसके सिवा यहभी देखना चाहिये, कि यदि हम स्वयं जीवित रहेंगे, तो लोककल्याण कर सकेंगे। अतएव लोकहितकी दृष्टिसे विचार करें, तोभी विश्वामित्र-के समान यही कहना पड़ता है, कि "जीवन् धर्ममवाप्नुयात्" – जीयेंगे तो धर्म करेंगे; अथवा कालिदासके अनुसार यही कहना पड़ता है, कि "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" (कुमा. ५. ३३) – शरीरही सब धर्मोंका मूलभूत साधन है; या मनुके कथनानुसार कहना पड़ता है, कि "आत्मानं सततं रक्षेत्" – स्वयं अपनी रक्षा सदासर्वदा करनी चाहिये। यद्यपि आत्मरक्षाका अधिकार सारे जगतके हितकी अपेक्षा इस प्रकार श्रेष्ठ है, तथापि दूसरे प्रकरणमें कह चुके हैं, कि कई अवसरों-पर कुलके लिये, देशके लिये, धर्मके लिये अथवा परोपकारके लिये स्वयं अपनीही इच्छासे साधु लोग अपनी जानपर खेल जाते हैं। उक्त श्लोकके पहले तीन चरणोंमें यही तत्त्व वर्णित है। ऐसे प्रसंगपर मनुष्य आत्मरक्षाके अपने श्रेष्ठ स्वत्वपरभी स्वेच्छासे पानी फेर दिया करता है, अतः ऐसे कामकी नैतिक योग्यताभी सबसे श्रेष्ठ समझी जाती है। तथापि इस बातका अचूक निश्चय कर देनेके लिये, कि ऐसे अवसर कब उत्पन्न होते हैं, निरा पांडित्य या तर्कशक्ति पूर्ण समर्थ नहीं है। इसलिये धृतराष्ट्रके उल्लिखित कथानकसे यह बात प्रकट होती है, कि विचार करनेवाले मनुष्यका अंतःकरण पहलेसेही शुद्ध और सम रहना चाहिये। महाभारतमेंही कहा है, कि धृतराष्ट्रकी बुद्धि इतनी मंद न थी, कि वे विदुरके उपदेशको समझ न सकें, परंतु पुत्रप्रेम उनकी बुद्धिको सम होने कहाँ देता था? कुबेरको जिस प्रकार लाख रुपयेकी कभी कमी नहीं पडती, उसी प्रकार जिसकी बुद्धि एक बार सम हो चुकी, उसे कुलात्मैक्य, देशात्मैक्य या धर्मात्मैक्य आदि निम्न श्रेणीकी एकताओंका कभी टोटा पड़ताही नहीं है। ब्रह्मात्मैक्यमें इन सबका अंतर्भाव हो जाता है : फिर देश-धर्म, कुलधर्म आदि संकुचित धर्मोंका अथवा सर्वभूतहितके व्यापक धर्मका – अर्थात् इनमेंसे जिस-तिसकी स्थितिके अनुसार, अथवा आत्मरक्षाके निमित्त जिस समयमें जिसे जो धर्म श्रेयस्कर हो, उसको उसी धर्मका – उपदेश करके जगतके धारण-पोषणका काम साधु लोग करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि मानव जातिकी वर्तमान स्थितिमें देशाभिमानही मुख्य सद्गुण हो गया है; और सुधरे हुए राष्ट्रभी इन विचारों और तैयारियोंमें अपने ज्ञानका, कुशलताका और द्रव्यका उपयोग किया करते हैं, कि पास-पड़ोसके शत्रुदेशीय बहुत-से लोगोंको प्रसंग पड़नेपर थोड़ेही समय हम क्यों कर जानसे मार सकेंगे। किंतु स्पेन्सर और कोंट प्रभृति पंडितोंने अपने ग्रंथोंमें स्पष्ट रीतिसे कह दिया है, कि केवल इसी एक कारणसे देशाभिमानकोही नीतिकी

दृष्टिसे मानवजातिका परम साध्य मान नहीं सकते; और जो आक्षेप इन लोंगोके प्रतिपादित तत्त्वपर हो नहीं सकता, वही आक्षेप, हम नहीं समझते, कि अध्यात्म-दृष्टया प्राप्त सर्वभूतात्मैक्यरूप तत्त्वपरही कैसे हो सकता है? छोटे बच्चेके कपडे उसके शरीरकेही अनुसार – बहुत हुआ तो जरा ढीले अर्थात् बाढ़के लिये गुंजाईश रख कर – जैसे ब्योंताने पड़ते हैं, वैसेही सर्वभूतात्मैक्य बुद्धिकीभी बात है। समाज हो या व्यक्ति, सर्वभूतात्मैक्य बुद्धिसे उसके आगे जो साध्य रखना है, वह उसके अधिकारके अनुरूप अथवा उसकी अपेक्षा जरा-सा और आगेका होगा; तभी वह उसको श्रेयस्कर हो सकता है; उसकी सामर्थ्यकी अपेक्षा बहुत अच्छी बात उसको एकदम करनेके लिये बतलाई जाय, तो उससे उसका कल्याण कभी नहीं हो सकता। परब्रह्मकी कोई सीमा न होनेपरभी उपनिषदोंमें उसकी उपासनाकी क्रम-क्रमसे बढ़ती हुई सीढ़ियाँ बतलानेका यही कारण है; और जिस समाजमें सभी स्थितप्रज्ञ हों, वहाँ क्षात्र-धर्मकी जरूरत न भी हो, तोभी जगतके अन्यान्य समाजोंकी तत्कालीन स्थितिपर ध्यान दे करके "आत्मानं सततं रक्षेत्"के ढंगपर हमारे धर्मशास्त्रकी चातुर्वर्ण्य व्यवस्थामें क्षात्र-धर्मका संग्रह किया गया है। यूनानके प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटोने अपने ग्रंथमें जिस समाज-व्यवस्थाको अत्यंत उत्तम बतलाया है, उसमेंभी निरंतरके अभ्याससे युद्धकालामें प्रवीण वर्गको समाजरक्षकके नाते प्रमुखता दी है। इससे स्पष्टही दीख पड़ेगा कि तत्त्वज्ञानी लोग परमावधिकी शुद्ध और उच्च स्थितिके विचारोंमेंही डूब क्यों न रहा करें; परंतु वे तत्कालीन अपूर्ण समाज व्यवस्थाका विचार करनेसेभी कभी नहीं चूकते।

ऊपरकी सब बातोंका इस प्रकार विचार करनेसे ज्ञानी पुरुषके संबंधमें यह सिद्ध होता है, कि वह ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे अपनी बुद्धिको निर्विषय, शांत और प्राणिमात्रमें निर्वैर तथा सम रखे और इस स्थितिको पा जानेसे सामान्य अज्ञानी लोगोंसे उकतावे नहीं अथवा स्वयं सारे संसारी कामोंका त्याग कर याने कर्म-संन्यास आश्रमको स्वीकार करके इन लोगोंकी बुद्धिको न बिगाड़े। परंतु देश-काल और परिस्थितिके अनुसार जिन्हें जो योग्य हो, उसीका उन्हें उपदेश देवे; अपने निष्काम कर्तव्य-आचरणसे सद्व्यवहारका अधिकारानुसार प्रत्यक्ष आदर्श दिखला कर, सबको धीरे धीरे यथासंभव शांतिसे किंतु उत्साहपूर्वक उन्नतिके मार्गमें लगावे; बस, यही ज्ञानी पुरुषका सच्चा धर्म है। समय-समयपर अवतार ले कर भगवानभी यही काम किया करते हैं; और ज्ञानी पुरुषकोभी यही आदर्श मान, फलपर ध्यान न देते हुए, इस जगतका अपना कर्तव्य शुद्ध अर्थात् निष्काम बुद्धिसे सदैव यथाशक्ति करते रहना चाहिये। सारे गीताशास्त्रका सारांश यही है, कि इस प्रकारके कर्तव्य-पालनमें यदि मृत्युभी आ जावे, तो बड़े आनंदसे उसे स्वीकार कर लेना चाहिये (गीता ३. ३५); अपने कर्तव्य अर्थात् धर्मको न छोड़ना चाहिये। इसेही लोकसंग्रह अथवा कर्मयोग कहते हैं। न केवल वेदान्तही, वरन् उसके आधारपर साथ-ही-साथ कर्म-

अकर्मका ऊपर लिखा हुआ ज्ञानभी जब गीतामें बतलाया गया, तभी तो पहले युद्ध छोड़कर भीख माँगनेकी तैयारी करनेवाला अर्जुन आगे चलकर स्वधर्मके अनुसार भयानक युद्ध करनेके लिये – सिर्फ़ इसीलिये नहीं, कि भगवान् कहते हैं, वरन् अपनी इच्छासे – प्रवृत्त हो गया। स्थितप्रज्ञकी साम्य-बुद्धिका यही तत्त्व, कि जिसका अर्जुनको उपदेश हुआ है, कर्मयोगशास्त्रका मूल आधार है। अतः उसीको प्रमाण मान, उसके आधारसे हमने बतलाया है, कि पराकाष्ठाकी नीतिमत्ताकी उपपत्ति क्योंकर लगती है। हमने इस प्रकरणमें कर्मयोगशास्त्रकी इन मोटी-मोटी बातोंका संक्षिप्त निरूपण किया है, कि आत्मौपम्य-दृष्टिसे समाजमें परस्पर एक-दूसरेके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये; 'जैसेको तैसे' वाले न्यायसे अथवा पात्रता-अपात्रताके कारण पराकाष्ठाके नीतिधर्ममें कौन-से भेद होते हैं; अथवा अपूर्णा-वस्थाके समाजमें बर्तनेवाले साधुपुरुषकोभी अपवादात्मक नीतिधर्म कैसे स्वीकार करने पड़ते हैं। इन्हीं युक्तियोंका उपयोग न्याय, परोपकार, दान, दया, अहिंसा, सत्य और अस्तेय आदि नित्य धर्मोंके विषयमें किया जा सकता है। आजकलकी अपूर्ण समाज-व्यवस्थामें यह दिखलानेके लिये, कि प्रसंगके अनुसार इन नीति-धर्मोंमें कहाँ और कौन-सा फ़र्क करना ठीक होगा, यदि इन धर्मोंमेंसे प्रत्येकपर एक एक स्वतंत्र ग्रंथ लिखा जाय, तोभी यह विषय समाप्त न होगा; और यह भगवद्गीताका मुख्य उद्देश्यभी नहीं है। इस ग्रंथके दूसरेही प्रकरणमें हम इसका दिग्दर्शन कर चुके हैं, कि अहिंसा और सत्य, सत्य और आत्मरक्षा, आत्मरक्षा और शांति आदिमें पर-स्पर विरोध होकर विशेष प्रसंगपर कर्तव्य-अकर्तव्यका संदेह कैसे उत्पन्न हो जाता है। यह निर्विवाद है, कि ऐसे अवसरपर साधुपुरुष "नीतिधर्म, लोकयात्रा-व्यवहार, स्वार्थ और सर्वभूतहित" आदि बातोंका तारतम्य-विचार करके फिर कार्य-अकार्यका निर्णय किया करते हैं; और महाभारतमें श्येनने शिबि राजाको यह बात स्पष्टही बतला दी है। सिज्विक नामक अंग्रेज ग्रंथकारने अपने नीतिशास्त्रविषयक ग्रंथमें इसी अर्थका विस्तारसहित वर्णन अनेक उदाहरण लेकर किया है। किंतु कुछ पश्चिमी पंडित इतनेहीसे यह जो अनुमान करते हैं, कि स्वार्थ और परार्थके सार-असारका विचार करनाही नीति-निर्णयका तत्त्व है; उसे हमारे शास्त्रकारोंने कभी मान्य नहीं किया है। क्योंकि हमारे शास्त्रकारोंका कथन है, कि यह सार-असारका विचार अनेक बार इतना सूक्ष्म और अनैकांतिक अर्थात् अनेक अनुमान निष्पन्न कर देनेवाला होता है, कि यदि यह साम्य-बुद्धि – "जैसा मैं, वैसा दूसरा" – पहलेसेही मनमें सोलहों आने जमी हुई न हो, तो कोरे तार्किक सार-असारके विचारसे कर्तव्य-अकर्तव्यका सदैव अचूक निर्णय होना संभव नहीं है; और फिर ऐसी घटना हो जानेकीभी संभावना रहती है; जैसे कि "मोर नाचता है, इसलिये मोरनीभी नाचने लगती है?" अर्थात् "देखादेखी साधै जोग, छीजै काया, बाढ़ै रोग" इस लोकोक्तिके अनुसार ढोंग फैल सकेगा; और समाजकी हानि होगी। मिल प्रभृति उपयुक्ततावादी पश्चिमी नीति-

शास्त्रज्ञोंके उपपादनमें यही तो मुख्य अपूर्णता है। गरुड झपटकर अपने पंजेसे मेमनेको आकाशमें उठा ले गया, इसलिये उसकी देखादेखी यदि कौवाभी ऐसाही करने लगे, तो धोखा खाये विना न रहेगा। इसीलिये गीता कहती है, कि साधु-पुरुषोंकी बाहरी युक्तियोंपरही अवलंबित मत रहो। अंतःकरणमें सदैव जागृत रहनेवाली साम्य-बुद्धिकीही अंतमें शरण लेनी चाहिये। क्योंकि कर्मयोगशास्त्रकी सच्ची जड़ साम्य-बुद्धिही है। अर्वाचीन आधिभौतिक पंडितोंमेंसे कोई **स्वार्थको**, तो कोई **परार्थ** अर्थात् "अधिकांश लोगोंके अधिक सुख "को नीतिका मूल तत्त्व बतलाते हैं। परंतु हम चौथे प्रकरणमें यह दिखला चुके हैं, कि कर्मके केवल बाहरी परिणामोंको उपयोगी होनेवाले इन तत्त्वोंसे सर्वत्र निर्वाह नहीं होता; इसका विचारभी अवश्य करना पड़ता है, कि कर्ताकी बुद्धि कहाँ तक शुद्ध है। कर्मके बाह्य परिणामोंके सार-असारका विचार करना चतुराईका और दूरदर्शिताका लक्षण है सही; परंतु दूरदर्शिता और नीति, ये शब्द समानार्थक नहीं हैं। इसीसे हमारे शास्त्रकार कहते हैं, कि निरे बाह्य कर्मके सार-असार विचारकी इस कोरी व्यापारी क्रियामें सद्वर्तावका सच्चा बीज नहीं है; किंतु साम्यबुद्धिरूप **परमार्थही** नीतिका मूल आधार है। मनुष्यकी अर्थात् जीवात्माकी पूर्णावस्थाका योग्य विचार करें, तोभी उक्त सिद्धान्तही करना पड़ता है। लोभसे एक-दूसरेको लूटनेमें बहुतेरे आदमी होशियार होते हैं परंतु इस बातके जाननेयोग्य कोरे ब्रह्मज्ञानकोही – कि यह होशियारी, अथवा अधिकांश लोगोंके अधिक सुख, काहेमें हैं – इस जगतमें प्रत्येक मनुष्यका परम साध्य कोईभी नहीं कहता। जिसका मन या अंतःकरण शुद्ध है, वही पुरुष उत्तम कहलाने योग्य है। और तो क्या; यहभी कह सकते हैं, कि जिसका अंतःकरण निर्मल, निर्वैर और शुद्ध नहीं है, वह यदि बाह्य कर्मोंके हिसाबी तारतम्यमें फँसकर तदनुसार बर्ते, तो उस पुरुषके ढोंगी बन जानेकी संभावना है (गीता ३. ६)। परंतु कर्मयोगशास्त्रम साम्य-बुद्धिको प्रमाण मान लेनेसे यह दोष नहीं रहता। साम्य-बुद्धिको प्रमाण मान लेनेसे कहना पड़ता है, कि कठिन समस्या आनेपर धर्म-अधर्मका निर्णय करानेके लिये ज्ञानी साधु-पुरुषोंकीही शरणमें जाना चाहिये, कोई और उपाय नहीं। कोई भयंकर रोग होनेपर जिस प्रकार बिना वैद्यकी सहायताके उसका निदान और उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती, उसी प्रकार धर्म-अधर्म-निर्णयके विकट प्रसंगपर यदि कई सामान्य मनुष्य सत्पुरुषोंकी मदत न ले; और यह अभिमान रखे, कि मैं "अधिकांश लोगोंके अधिक सुख "वाले एकही साधनसे धर्म-अधर्मका अचूक निर्णय आपही कर लूँगा, तो उसका यह अभिमान व्यर्थ होगा। साम्य-बुद्धिको बढ़ाते रहनेका अभ्यास प्रत्येक मनुष्यको करना चाहिये और इस क्रमसे संसारभरके मनुष्यकी बुद्धि जब पूर्ण साम्यावस्थामें पहुँच जावेगी, तभी सत्ययुगकी प्राप्ति होगी; तथा मनुष्य-जातिका परम साध्य प्राप्त होगा अथवा पूर्णावस्था सबको प्राप्त हो जावेगी। कार्य-अकार्य-शास्त्रकी प्रवृत्तिभी इसी लिये हुई है; और इसी कारण उसकी इमारत-

कोभी साम्य-बुद्धिकीही नींवपर खड़ा करना चाहिये। परंतु इतनी दूर न जाकर आगे पंद्रहवें प्रकरणमें की गयी तुलनात्मक परीक्षासे स्पष्ट मालूम हो जायगा, कि यदि नीतितत्त्वोंका केवल लौकिक कसौटीकी दृष्टिसेही विचार करें, तोभी गीताका साम्य-बुद्धिवाला पक्षही पाश्चात्त्य आधिभौतिक या आधिदैवत पंथकी अपेक्षा अधिक योग्यताका और मार्मिक सिद्ध होता है। परंतु गीताके तात्पर्यके निरूपणका जो एक महत्त्वपूर्ण भाग अभी शेष है, उसेही पहले पूराकर लेते हैं।

तेरहवाँ प्रकरण

भक्तिमार्ग

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।। *

— गीता १८. ६६

अवतक अध्यात्म-दृष्टिसे इन वातोंका विचार किया गया है, कि देहमें वनी सर्वभूतात्मैक्यरूपी निष्काम वुद्धिही कर्मयोगकी और मोक्षकीभी जड़ है। यह शुद्ध वुद्धि ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे प्राप्त होती है; और इसी शुद्ध वुद्धिसे प्रत्येक मनुष्यको जन्मभर स्वधर्मानुसार प्राप्त हुए अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन करना चाहिये। परंतु इतनेहीसे भगवद्गीताके प्रतिपाद्य विषयका विवेचन पूरा नहीं होता। यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानही केवल सत्य और अंतिम साध्य है, तथा "उसके समान इस संसारमें दूसरी कोईभी वस्तु पवित्र नहीं है" (गीता ४. ३८); तथापि अवतक उसके विषयमें जो विचार किया गया; और उसकी सहायतासे साम्य-वुद्धि प्राप्त करनेका जो मार्ग वतलाया गया है, वह सव वुद्धिगम्य है। इसलिये सामान्य जनोंकी शंका है, कि उस विषयको पूरी तरहसे समझनेके लिये प्रत्येक मनुष्यकी वुद्धि इतनी तीव्र कैसे हो सकती है; और यदि किसी मनुष्यकी वुद्धि तीव्र न हो, तो क्या उसको ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे हाथ धो वैठना चाहिये ? सच कहा जाय, तो यह शंकाभी कुछ अनुचित नहीं दीख पड़ती। यदि कोई कोकहे — "जव कि बड़े बड़े ज्ञानी पुरुषभी विनाशी नामरूपात्मक मायासे आच्छादित तुम्हारे उस अमृतस्वरूपी परब्रह्मका वर्णन करते समय 'नेति नेति' कह कर चुप हो जाते हैं, तब हमारे समान साधारण जनोंकी समझमें वह कैसे आवे ? इसलिये हमें कोई ऐसा सरल उपाय या मार्ग वलताओ, जिससे तुम्हारा वह गहन ब्रह्मज्ञान हमारी अल्प ग्रहणशक्तिके समझमें आ जावे;" — तो इसमें उसका क्या दोष है ? गीता और कठोपनिषद्में (गीता २. २९; क. २. ७) कहा है, कि आश्चर्यचकित होकर आत्मा (ब्रह्म)का वर्णन करनेवाले तथा सुननेवाले वहुत हैं, तोभी किसीको उसका ज्ञान नहीं होता। श्रुतिग्रंथोंमें इस विषयपर एक वोधदायक कथाभी है। उसमें यह वर्णन है, कि जव वाष्कलिने वाहव्से कहा — "हे महाराज ! मुझे कृपाकर वतलाइये, कि ब्रह्म किसे

---

* "सव प्रकारके धर्मोंको याने परमेश्वरप्राप्तिके साधनोंको छोड़ केवल मेरीही शरणमें आ। मैं तुझे सव पापोंसे मुक्त करूँगा; डर मत।" इस श्लोकके अर्थका विवेचन इस प्रकरणके अंतमें किया है।

कहते हैं; " तव वाहव् कुछभी नहीं वोले। वाष्कलिने फिर वही प्रश्न किया, तोभी वाहव् चुपही रहे। जब ऐसाही चार-पाँच वार हुआ, तब अंतमें वाहव्‌ने वाष्कलिसे कहा – " अरे ! मैं तेरे प्रश्नोंका उत्तर तभीसे दे रहा हूँ; परंतु तेरी समझमें नहीं आया – मैं क्या करूँ ? ब्रह्मस्वरूप किसी प्रकार वतलाया नहीं जा सकता, इसलिये शांत होना अर्थात् चुप रहनाही सच्चा ब्रह्मलक्षण है। समझा ?" (वे. सू. शां. भा. ३. २. १७)। सारांश, जिस दृश्य-सृष्टि-विलक्षण, अनिर्वाच्य और अचिंत्य परब्रह्म-का यह वर्णन है – कि वह मुँह वंद कर बतलाया जा सकता है, आँखोंसे दिखाई न देनेपर उसे देख सकते हैं और समझमें न आनेपर वह ज्ञात होने लगता है (केन. २. ११) – उसको साधारण बुद्धिके मनुष्य कैसे पहचान सकेंगे और उसके द्वारा साम्यावस्था प्राप्त होकर उनको सद्‌गति कैसे मिलेगी ? जब परमेश्वर-स्वरूपका अनुभवात्मक और यथार्थ ज्ञान ऐसा होवे, कि सब चराचर सृष्टिमें एक आत्मा प्रतीत होने लगे, तभी मनुष्यकी पुरी उन्नति होगी; और ऐसी उन्नति कर लेनेके लिये तीव्र बुद्धिके अतिरिक्त कोई दुसरा मार्गही न हो, तो संसारके लाखों-करोडों मनुष्योंको ब्रह्मप्राप्तिकी आशा छोड़ चुपचाप बैठे रहना होगा। क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्योंकी संख्या हमेशा कमही रहती है। यदि यह कहें कि बुद्धिमान् लोगोंके कथनपर विश्वास रखनेमें हमारा काम चल जायगा; तो उनमेंभी कई मतभेद दिखाई देते हैं; और यदि यह कहें, कि विश्वास रखनेसे काम चल जाता है, तो यह बात आप-ही-आप सिद्ध हो जाती है, कि इस गहन ज्ञानकी प्राप्तिके लिये "विश्वास अथवा श्रद्धा रखना " भी, बुद्धिके अतिरिक्त दूसरा मार्ग है। सच पूछो तो यही दीख पड़ेगा, कि ज्ञानकी पूर्ति अथवा फलद्रूपता श्रद्धाके विना नहीं होती। यह कहना, कि सब ज्ञान केवल बुद्धिहीसे प्राप्त होता है, उसके लिये किसी अन्य मनोवृत्तिकी सहायता आवश्यक नहीं, उन पंडितोंका वृथाभिमान है, जिनकी बुद्धि केवल तर्कप्रधान शास्त्रोंका जन्म भर अध्ययन करनेसे कर्कश हो गई है। उदाहरणके लिये यह सिद्धान्त लीजिये, कि कल सबेरे फिर सूर्योदय होगा। हम लोग इस सिद्धान्तके ज्ञानको अत्यंत निश्चित मानते हैं। क्यों ? उत्तर यही है, कि हमने और हमारे पूर्वजोंने इस क्रमको हमेशा अखंडित देखा है। परंतु कुछ अधिक विचार करनेसे मालूम होगा, कि " हमने अथवा हमारे पूर्वजोंने जवतक प्रतिदिन सबेरे सूर्यको निकलते देखा है ", इसीसे यह वात कल सबेरे सूर्योदय होनेका कारण नहीं हो सकती; अथवा प्रतिदिन हमारे देखनेके लिये या हमारे देखनेसेही कुछ सूर्योदय नहीं होता; यथार्थमें सूर्योदय होनेके कुछ औरही कारण हैं। अच्छा; अव यदि " हमारा सूर्यको प्रतिदिन देखना " कल सूर्योदय होनेका कारण नहीं है, तो इसके लिये क्या प्रमाण है, कि कल सूर्योदय होगा ? दीर्घ कालतक किसी वस्तुका क्रम एक सा अवाधित दीख पडनेपर यह मान लेनाभी एक प्रकार विश्वास या श्रद्धाही तो है न, कि वह क्रम आगेभी वैसाही नित्य चलता रहेगा ? यद्यपि हम उसको एक वहुत बड़ा प्रतिष्ठित नाम – 'अनुमान'

दे दिया करते हैं; तोभी यह ध्यानमें रखना चाहिये, कि वह अनुमान बुद्धिगम्य कार्यकारणात्मक नहीं है; किंतु उसका मूल-स्वरूप श्रद्धात्मकही है। मन्नूको शक्कर मीठी लगती है; इसलिये छन्नूकोभी वह मीठी लगेगी – यह जो निश्चय हम लोग किया करते हैं; वहभी वस्तुतः इसी नमूनेका है। क्योंकि जब कोई कहता है, कि मुझे शक्कर मीठी लगती है, तब इस ज्ञानका अनुभव उसकी बुद्धिको प्रत्यक्ष रूपसे होता है सही; परंतु इससेभी आगे बढ़कर जब हम यह सकते हैं, कि शक्कर सब मनुष्योंको मीठी लगती है, तब बुद्धिको श्रद्धाकी सहायता दिये बिना काम नहीं चल सकता। रेखागणित या भूमितिशास्त्रका सिद्धान्त है, कि ऐसी दो रेखाएँ हो सकती हैं, जो चाहे जितनी बढ़ाई जावें; तोभी आपसमें नहीं मिलती। कहना नहीं होगा, कि इस तत्त्वको अपने ध्यानमें लानेके लिये हमको अपने प्रत्यक्ष अनुभवकेभी परे केवल श्रद्धाहीकी सहायतासे चलना पड़ता है। इसके सिवा यहभी ध्यानमें रखना चाहिये, कि संसारके सब व्यवहार श्रद्धा, प्रेम आदि नैसर्गिक मनोवृत्तियोंसेही चलते हैं; इन वृत्तियोंको रोकनेके सिवा बुद्धि दूसरा कोई कार्य नहीं करती। और जब बुद्धि किसी बातकी भलाई या बुराईका निश्चय कर लेती है, तब आगे उस निश्चयको अमलमें लानेका काम मनके द्वारा अर्थात् मनोवृत्तिके द्वाराही हुआ करता है। इस बातकी चर्चा पहले 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचारमें' हो चुकी है। सारांश यह है, कि बुद्धिगम्य ज्ञानकी पूर्ति होनेके लिये और आगे बुद्धिसे नीचे उतरकर आचरण तथा कृतिमें उसकी फलद्रूपता होनेके लियेही इस ज्ञानको हमेशा, श्रद्धा, दया, वात्सल्य, कर्तव्य-प्रेम इत्यादि अन्य नैसर्गिक मनोवृत्तियोंकी आवश्यकता होती है; और जो ज्ञान इन मनोवृत्तियोंको शुद्ध तथा जागृत नहीं करता, और जिस ज्ञानको उनकी सहायता अपेक्षित नहीं होती, उसे सूखा, कर्कश, अधूरा, बाँझ या कच्चा ज्ञान समझना चाहिये। जैसे बिना बारुदके केवल गोलीसे बंदूक नहीं चलती, वैसेही प्रेम, श्रद्धा आदि मनोवृत्तियोंकी सहायताके बिना केवल बुद्धिगम्य ज्ञान किसीको तार नहीं सकता, यह सिद्धान्त हमारे प्राचीन ऋषियोंको भली भाँति मालूम था। उदाहरणके लिये छांदोग्योपनिषद्में वर्णित यह कथा लीजिये (छां. ६. १२) :– एक दिन श्वेतकेतुके पिताने यह सिद्धकर दिखानेके, लिये कि अव्यक्त और सूक्ष्म परब्रह्मही सब दृश्य जगतका मूल-कारण है; श्वेतकेतुसे कहा, कि बरगदका एक फल ले आओ, और देखो, कि उसके भीतर क्या है। श्वेतकेतुने वैसाही किया, उस फलको तोड़कर देखा और कहा – "इसके भीतर छोटे छोटे बहुतसे बीज या दाने हैं।" उसके पिताने फिर कहा, कि "उन बीजोंमेंसे एक बीज ले लो; उसे तोड़कर देखो और बतलाओ, कि उसके भीतर क्या है ?" श्वेतकेतुने एक बीज ले लिया; उसे तोड़कर देखा और कहा कि "इसके भीतर तो कुछ नहीं है।" तब पिताने कहा, "अरे! यह जो तुम 'कुछ नहीं' कहते हो, उसीसे यह बरगदका बहुत बड़ा वृक्ष हुआ है;" और अंतमें यह उपदेश दिया, कि 'श्रद्धस्व' इसका विश्वास कर अर्थात् इस कल्पनाको केवल बुद्धिमें रख। मुँहसेही 'हाँ' मत कहो; किंतु उसकेभी आगे चल याने इस

तत्त्वको अपने हृदयमें अच्छी तरह जमने दे; और आचरण या कृतिमें दिखाई देने दे। सारांश, यदि यह निश्चयात्मक ज्ञान होनेके लियेभी अंतमें श्रद्धाकी आवश्यकता है, कि सूर्यका उदय कल सवेरे होगा, तो यहभी निर्विवाद सिद्ध है, कि इस बातको पूर्णतया जान लेनेके लिये – कि सारी सृष्टिका मूल तत्त्व अनादि, अनंत, सर्वकर्तृ, सर्वज्ञ, स्वतंत्र और चैतन्यरूप है – पहले हम लोगोंको यथाशक्ति, बुद्धिरूपी बटोहीका अवलंबन करना चाहिये; परंतु उसके अनुरोधसे आगे कुछ दूर तो अवश्यही श्रद्धा तथा प्रेमकी पगडंडीसेही जाना चाहिये, देखिये, मैं जिसे माँ कहकर ईश्वरके समान वंद्य और पूज्य मानता हूँ, उसेही अन्य लोग एक सामान्य स्त्री समझते हैं; या नैयायिकोंके शास्त्रीय शब्दाडंबरके अनुसार "गर्भधारण-प्रसवादिस्त्रीत्वसामान्यावच्छेदकावच्छिन्नव्यक्तिविशेषः समझते हैं।" इस एक छोटेसे व्यावहारिक उदाहरणसे यह बात किसीकेभी ध्यानमें सहज आ सकती है, कि जब केवल तर्कशास्त्रके सहारे प्राप्त किया गया ज्ञान, श्रद्धा और प्रेमके साँचेमें ढाला जाता है, तब उसमें कैसा अंतर हो जाता है। इसी कारणसे गीतामें (गीता ६. ४७) कहा है, कि कर्मयोगियोंमेंभी श्रद्धावान् श्रेष्ठ है; और ऐसाही सिद्धान्त जैसे पहले कह चुकेभी हैं – अध्यातमशास्त्रमें कहा गया है, कि इंद्रियातीत होनेके कारण जिन पदार्थोंका चिंतन करते नहीं बनता, उनके स्वरूपका निर्णय केवल तर्कसे नहीं करना चाहिये – "अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तान्स्तर्केण चिंतयेत्।"

यदि यही एक अड़चन हो, कि साधारण मनुष्योंके लिये निर्गुण परब्रह्मका ज्ञान होना कठिन है, तो बुद्धिमान पुरुषोंमें मतभेद होनेपरभी श्रद्धा या विश्वाससे उसका निवारण किया जा सकता है। कारण यह है, कि इन पुरुषोंमें जो अधिक विश्वसनीय होंगे, उन्हींके वचनोंपर विश्वास रखनेसे हमारा काम बन जावेगा (गीता १३. २५)। तर्कशास्त्रमें इस उपायको 'आप्तवचनप्रमाण' कहते हैं। 'आप्त'का अर्थ विश्वसनीय पुरुष है। जगतके व्यवहारपर दृष्टि डालनेसे यही दिखाई देगा कि, हजारों लोग आप्त-वाक्यपर विश्वास रखकरही अपना व्यवहार चलाते हैं। दो पंचे दसके बदले सात क्यों नहीं होते ? अथवा एकपर एक लिखनेसे दो नहीं होते; ग्यारह क्यों होते हैं; इस विषयकी उपपत्ति या कारण बतलानेवाले पुरुष बहुतही कम मिलते हैं। तोभी इन सिद्धान्तोंको सत्य मानकरही जगतका व्यवहार चल रहा है। ऐसे लोग बहुत कम मिलेंगे, जिन्हें इस बातका प्रत्यक्ष ज्ञान है, कि हिमालयकी ऊँचाई पाँच मील है या दस मील। परंतु जब कोई यह प्रश्न पूछता है, कि हिमालयकी ऊँचाई कितनी है, तब भूगोलकी पुस्तकमें पढ़ी हुई, 'तेईस हजार फीट' संख्या हम तुरंतही बतला देते हैं। फिर यदि इसी प्रकार कोई पूछे, कि 'ब्रह्म कैसा है' तो यह उत्तर देनेमें क्या हानि है, कि वह 'निर्गुण' है। वह सचमुचही निर्गुण है या नहीं, इस बातकी पूरी जाँचकर उसके साधक-बाधक प्रमाणोंकी मीमांसा करनेके लिये सामान्य लोगोंमें बुद्धिकी तीव्रता भलेही न हो; परंतु श्रद्धा या विश्वास कुछ ऐसा मनोधर्म नहीं है,

जो केवल महाबुद्धिमान् पुरुषोंमेंही पाया जाय। अज्ञ जनोंमेंभी श्रद्धाकी कुछ न्यूनता नहीं होती। और जब कि श्रद्धासेही वे लोग अपने सैकड़ों सांसारिक व्यवहार सदैव किया करते हैं, तो उसी श्रद्धासे यदि वे ब्रह्मको निर्गुण मान लेवें, तो कोई प्रत्यवाय नहीं दीख पड़ता। मोक्ष-धर्मका इतिहास पढ़नेसेभी मालूम होगा, कि जब ज्ञाता पुरुषोंने ब्रह्मस्वरूपकी मीमांसाकर उसे निर्गुण बतलाया, उसके पहलेही मनुष्यने केवल अपनी श्रद्धासे यह जान लिया था, कि सृष्टिकी जड़मेंभी सृष्टिके नाशवान् और अनित्य पदार्थोंसे भिन्न या विलक्षण कोई एक तत्त्व है; जो अनाद्यन्त, अमृत, स्वतंत्र, सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र और सर्वव्यापी है; और मनुष्य उसी समयसे उस तत्त्वकी उपासना किसी-न-किसी रूपमें करता चला आया है। यह सच है, कि वह उस समय इस ज्ञानकी उपपत्ति बतला नहीं सकता था; परंतु आधिभौतिकशास्त्रमें यही क्रम दीख पड़ता है, कि पहले अनुभव होता है; और पश्चात् उसकी उपपत्ति बतलाई जाती है। उदाहरणार्थ, भास्कराचार्यको पृथ्वीके अथवा अंतमें न्यूटनको सारे विश्वके, गुरुत्वाकर्षणकी कल्पना सूझनेके पहलेभी यह बात अनादि कालसे सब लोगोंको मालूम थी, कि पेड़से गिरा हुआ फल नीचे पृथ्वीपर गिर पड़ता है। अध्यात्मशास्त्रकोभी यही नियम उपयुक्त है। श्रद्धासे प्राप्त हुए ज्ञानकी जाँच करना और उसकी उपपत्तिकी खोज करना बुद्धिका काम है सही; परंतु सब प्रकार योग्य उपपत्तिके न मिलनेसेही यह नहीं कहा जा सकता, कि श्रद्धासे प्राप्त होनेवाला ज्ञान केवल भ्रम है।

यदि सिर्फ़ इतनाही जान लेनेसे हमारा काम चल जाय, कि ब्रह्म निर्गुण है; तो इसमें संदेह नहीं, कि वह काम उपर्युक्त कथनके अनुसार श्रद्धासे चला जा सकता है (गीता १३. २५)। परंतु नवें प्रकरणके अंतमें कह चुके हैं, कि ब्राह्मी स्थिति या सिद्धावस्थाकी प्राप्ति कर लेनाही इस संसारमें मनुष्यका परम साध्य या अंतिम ध्येय है; और उसके लिये केवल यह कोरा ज्ञान कि ब्रह्म निर्गुण है, किसी कामका नहीं। दीर्घ समयके अभ्यास और नित्यकी आदतसे इस ज्ञानका प्रवेश हृदयमें तथा देहेंद्रियोंमें अच्छी तरह हो जाना चाहिये; और आचरणके द्वारा ब्रह्मात्मैक्य-बुद्धिही हमारा देह; स्वभाव हो जाना चाहिये और ऐसा होनेके लिये परमेश्वरके स्वरूपका प्रेमपूर्वक चिंतन करके मनको तदाकार करनाही एक सुलभ उपाय है। यह मार्ग अथवा साधन हमारे देशमें बहुत प्राचीन समयसे प्रचलित है; और इसीको उपासना या भक्ति कहते हैं। भक्तिका लक्षण शांडिल्यसूत्रमें (शां. सू. २) इस प्रकार है, कि "सा (भक्तिः) परानुरक्तिरीश्वरे"– ईश्वरके प्रति 'परं' अर्थात् निरतिशय जो प्रेम है, उसे भक्ति कहते हैं। 'पर' शब्दका अर्थ केवल निरतिशयही नहीं है ; किंतु भागवतपुराणमें कहा है, कि वह प्रेम निर्हेतुक, निष्काम और निरंतर हो – "अहैतुक्य व्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे" (भाग. ३. २९. १२)। कारण यह है, कि जब भक्ति इस हेतुसे की जाती है, कि हे ईश्वर ! मुझे कुछ दे; तब वैदिक यज्ञयागादिक काम्य-कर्मोंके समान उसेभी कुछ-न-कुछ व्यापारका स्वरूप प्राप्त हो जाता है। ऐसी

भक्ति राजस कहलाती है; और फिर उससे चित्तकी शुद्धिही पूरी पूरी नहीं होती, और जब चित्तकी शुद्धिही पूरी नहीं हुई, तब कहना नही होगा कि, आध्यात्मिक उन्नतिमें मोक्षकी प्राप्तिमें बाधा आ जायगी। अध्यात्मशास्त्र-प्रतिपादित पूर्ण निष्कामताका तत्त्व इस प्रकार भक्तिमार्गमेंभी बना रहता है और इसीलिये गीतामें भगवद्भक्तोंकी चार श्रेणियाँ करके कहा है, कि " उनमेंसे जो 'अर्थार्थी' है याने जो कुछ पानेके हेतु परमेश्वरकी भक्ति करता है, वह निकृष्ट श्रेणीका भक्त है; और परमेश्वरका ज्ञान होनेके कारण जो स्वयं अपने लिये कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं रखता " (गीता ३. १८); परंतु नारद आदिकोंके समान जो 'ज्ञानी' पुरुष अन्य निष्काम कर्मोंकी तरह केवल कर्तव्य-बुद्धिसेही परमेश्वरकी भक्ति करता है, वही सब भक्तोंमें श्रेष्ठ है (गीता ७. १६-१८)। यह भक्ति भागवतपुराणके (भाग ७. ५. २३) अनुसार नौ प्रकारकी है, जैसे :–

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम् ।।

नारदके भक्तिसूत्रमें इसी भक्तिके ग्यारह भेद किये गये हैं (ना. सू. ८२)। परंतु भक्तिके इन सब भेदोंका निरूपण दासबोध आदि अनेक भाषा-ग्रंथोंमें विस्तृत रीतिसे किया गया है; इसलिये हम यहाँ उनकी विशेष चर्चा नहीं करते। भक्ति किसीभी प्रकारकी हो; यह प्रकट है, कि परमेश्वरमें निरतिशय और निर्हेतुक प्रेम रखकर अपनी वृत्तिको तदाकार करनेका भक्तिका सामान्य काम प्रत्येक मनुष्यको अपने मनहीसे करना पड़ता है। छठे प्रकरणमें कह चुके हैं, कि बुद्धि नामक जो अंतरिंद्रिय है, वह केवल भले-बुरे, धर्म-अधर्म अथवा कार्य-आर्यका निर्णय करनेके सिवा और कुछ नहीं करती, शेष मानसिक कार्य मनहीको करने पड़ते हैं। अर्थात् अब मनहीके दो भेद हो जाते हैं।– एक भक्ति करनेवाला मन और दूसरा उसका उपास्य याने जिससे प्रेम किया जाता है वह वस्तु। उपनिषदोंमें जिस श्रेष्ठ ब्रह्म-स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है, वह इंद्रियातीत, अव्यक्त, अनंत, निर्गुण और 'एकमेवाद्वितीयम्' है, इसलिये उपासनाका आरंभ उस स्वरूपसे नहीं हो सकता। कारण यह है, कि जब इस श्रेष्ठ ब्रह्म-स्वरूपका अनुभव होता है, तब मन अलग नहीं रहता; किंतु उपास्य और उपासक, अथवा ज्ञाता और ज्ञेय, दोनों एकरूप हो जाते हैं, यह 'अध्यात्म' प्रकरणमें कह चुके हैं, निर्गुण ब्रह्म अंतिम साध्य वस्तु है, साधन नहीं; और जबतक किसी-न-किसी साधनसे निर्गुण ब्रह्मके साथ एकरूप होनेकी पात्रता मनमें न आवे, तबतक इस श्रेष्ठ ब्रह्म-स्वरूपका साक्षात्कार हो नहीं सकता। अतएव साधनकी दृष्टिसे की जानेवाली उपासनाके लिये जिस ब्रह्म-स्वरूपका स्वीकार करना होता है, वह दुसरी श्रेणीका – अर्थात् उपास्य और उपासकके भेदसे – मनको गोचर होनेवाला, याने सगुणही होता है; और इसी लिये उपनिषदोंमें जहाँ जहाँ ब्रह्मकी उपासना

कही गई है, वहाँ वहाँ उपास्य ब्रह्मके अव्यक्त होनेपरभी सगुण-रूपसेही उसका वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ, शांडिल्यविद्यामें जिस ब्रह्मकी उपासना कही गई है, वह यद्यपि अव्यक्त अर्थात् निराकार है, तथापि छांदोग्योपनिषदमें (छां. ३. १४) कहा है, कि वह प्राणशरीर, सत्यसंकल्प, सर्वगंध, सर्वरस, सर्वकर्म, अर्थात् मनको गोचर होनेवाले सब गुणोंसे युक्त हो। स्मरण रहे, कि यहाँ उपास्य ब्रह्म यद्यपि सगुण है; तथापि वह अव्यक्त अर्थात् निराकार है। परंतु मनुष्यके मनकी स्वाभाविक रचनाही ऐसी है, कि सगुण वस्तुओंमेंसेभी जो वस्तु अव्यक्त होती है; अर्थात् जिसका कोई विशेष रूप, गंध आदि नहीं; और इसलिये जो नेत्रादि इंद्रियोंको अगोचर है, उससे प्रेम करना या हमेशा उसका चिंतनकर मनको उसीमें स्थिर करके वृत्तिको तदाकार करना, मनुष्यके लिये बहुत कठिन और दुःसाध्यभी है। क्योंकि, मन स्वभावसेही चंचल है, इसलिये जबतक मनके सामने आधारके लिये कोई इंद्रियगोचर स्थिर वस्तु न हो, तबतक मन बारबार भूल जाया करता है, स्थिर कहाँ होना है। चित्तकी स्थिरताका यह मानसिक कार्य बड़े बड़े ज्ञानी पुरुषोंकोभी दुष्कर होता है, तो फिर साधारण मनुष्योंके लिये कहनाही क्या? अतएव रेखा-गणितके सिद्धान्तोंकी शिक्षा देते समय जिस प्रकार ऐसी रेखाकी कल्पना करनेके लिये – कि जो अनादि, अनंत और बिना चौड़ाईकी (अव्यक्त) है; किंतु जिसमें लंबाईका गुण होनेसे सगुण है – उस रेखाका एक छोटा-सा नमूना स्लेट या तख्ते-पर व्यक्त करके दिखलाना पड़ता है; उसी प्रकार ऐसे परमेश्वरसे प्रेम करने और उसमें अपनी वृत्तिको लीन करनेके लिये, कि जो सर्वकर्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ अतएव सगुण है; परंतु निराकार अर्थात् अव्यक्त है, मनके सामने कुछ-न-कुछ अर्थात् 'प्रत्यक्ष' नामरूपात्मक किसी व्यक्त वस्तुके रहे-बिना कमसे-कम साधारण मनुष्योंका काम चल नहीं सकता।* यही क्यों, पहले किसी व्यक्त पदार्थको देखे बिना कमसे-कम मनुष्यके मनमें अव्यक्तकी कल्पनाही जागृत हो नहीं सकती। उदाहरणार्थ, जब हम लाल, हरे इत्यादि अनेक व्यक्त रंगोंको पहले आँखोंसे देख लेते हैं, तभी 'रंग'की सामान्य और अव्यक्त कल्पना हमारे मनमें जागृत होती है, अन्यथा होही नहीं सकती। अब चाहे इसे कोई मनुष्यके मनका स्वभाव कहे या दोष; कुछभी कहा

---

* इस विषयपर एक श्लोक है, जो योगवासिष्ठका कहा जाता है :–

अक्षरावगमलब्धये यथा स्थूलवर्तुलदृषत्परिग्रहः।
शुद्धबुद्धपरिलब्धये तथा दारुमृण्मयशिलामयार्चनम्॥

"अक्षरोंका परिचय करानेके लिये लड़कोंके सामने जिस प्रकार छोटे छोटे कंकड़ रखकर अक्षरोंका आकार दिखलाना पड़ता है, उसी प्रकार (नित्य) शुद्ध-बुद्ध परब्रह्मका ज्ञान होनेके लिये लकड़ी, मिट्टी या पत्थरकी मूर्तिका उपयोग किया जाता है।" परंतु यह श्लोक बृहद्योगवासिष्ठमें नहीं मिलता।

जाय, पर जबतक देहधारी मनुष्य अपने मनके इस स्वभावको अलग नहीं कर सकता, तबतक उपासनाके लिये याने भक्तिके लिये निर्गुणसे सगुणमें – और उसमेंभी अव्यक्त सगुणकी अपेक्षा व्यक्त सगुणहीमें – आना पड़ता है; इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं। यही कारण है, कि व्यक्त-उपासनाका मार्ग अनादि कालसे प्रचलित है; रामतापनीय आदि उपनिषदोंमें प्रत्यक्ष मनुष्य-रूपधारी व्यक्त ब्रह्म-स्वरूपकी उपसनाका वर्णन है; और भगवद्गीतामेंभी यह कहा गया है, कि :–

क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।

"अव्यक्तमें चित्तकी (मनकी) एकाग्रता करनेवालेको बहुत कष्ट होते हैं; क्योंकि इस अव्यक्त गतिको पाना देहेंद्रियधारी मनुष्यके लिये स्वभावतः कष्टदायक है" (गीता १२. ५)। इस 'प्रत्यक्ष' मार्गहीको 'भक्ति-मार्ग' कहते हैं। इसमें कुछ संदेह नहीं, कि कोई बुद्धिमान् पुरुष अपनी बुद्धिसे परब्रह्मके स्वरूपका निश्चय कर उसके अव्यक्त स्वरूपमें केवल अपने विचारोंके बलसे अपने मनको स्थिरकर सकता है। परंतु इस रीतिसे अव्यक्तमें 'मन'को आसक्त करनेका कामभी तो अंतमें श्रद्धा और प्रेमसेही सिद्ध करना होता है, इसलिये इस मार्गमेंभी श्रद्धा और प्रेमकी आवश्यकता छूट नहीं सकती। सच पूछो तो तात्त्विक दृष्टिसे सच्चिदानंद ब्रह्मोपासनाका समावेशभी प्रेममूलक भक्ति-मार्गमेंही किया जाना चाहिये। परंतु इस मार्गमें ध्यान करनेके लिये जिस ब्रह्मस्वरूपका स्वीकार किया जाता है, वह पहलेसे अव्यक्त और केवल बुद्धिगम्य अर्थात् ज्ञानगम्य होता है; और उसीको प्रधानता दी जाती है, इसलिये इस क्रियाको भक्ति-मार्ग न कहकर अध्यात्म-विचार, अव्यक्तोपासना या केवल उपासना, अथवा **ज्ञान-मार्ग** कहते हैं; और उपास्य ब्रह्मके सगुणही रहनेपरभी जब उसका अव्यक्तके बदले व्यक्त – और विशेषतः मनुष्यदेहधारी – रूप स्वीकृत किया जाता है, तब वही **भक्ति-मार्ग** कहलाता है। इस प्रकार यद्यपि मार्ग दो हैं, तथापि उन दोनोंसे एकही परमेश्वरकी प्राप्ति होती है; और अंतमें एकही-सी साम्यबुद्धि मनमें उत्पन्न होती है, इसलिये स्पष्ट दीख पड़ेगा, कि जिस प्रकारकिसी छतपर जानेके लिये दो जीने होते हैं, उसी प्रकार भिन्न भिन्न मनुष्योंकी योग्यताके अनुसार ये दो (ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग) अनादि-सिद्ध भिन्न भिन्न मार्ग हैं, इन मार्गोंकी भिन्नतासे अंतिम साध्य अथवा ध्येयमें कुछ भिन्नता नहीं होती। इसमेंसे एक जीनेकी पहली सीढ़ी बुद्धि है, तो दूसरे जीनेकी पहली सीढ़ी श्रद्धा और प्रेम है; और किसीभी मार्गसे जाओ; अंतमें एकही परमेश्वरका एकही प्रकारका ज्ञान होता है; एवं एकही-सी मुक्तिभी प्राप्त होती है। इस लिये दोनों मार्गोंमें यही सिद्धान्त एकही-सा स्थिर रहता है, कि "अनुभवात्मक ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं मिलता।" फिर यह व्यर्थ बखेड़ा करनेसे क्या लाभ है, कि ज्ञान-मार्ग श्रेष्ठ है या

भक्ति-मार्ग श्रेष्ठ है ? यद्यपि ये दोनों साधन प्रथमावस्थामें अधिकार या योग्यताके अनुसार भिन्न हों, तथापि अंतमें अर्थात् परिणामरूपमें दोनोंकी योग्यता समान है; और गीतामें इन दोनोंको एकही 'अध्यात्म' नाम दिया गया है (गीता ११.१)। अब यद्यपि साधनकी दृष्टिसे ज्ञान और भक्तिकी योग्यता एकही समान है; तथापि इन दोनोंमें यह महत्त्वका भेद है, कि भक्ति कदापि निष्ठा नहीं हो सकती; किंतु ज्ञानको निष्ठा याने सिद्धावस्थाकी अंतिम स्थिति कह सकते हैं। इसमें संदेह नहीं कि, अध्यात्म-विचारसे या अव्यक्तोपासनासे परमेश्वरका जो ज्ञान होता है, वही भक्ति-सेभी हो सकता है (गीता १८. ५५); परंतु इस प्रकार ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर आगे यदि कोई मनुष्य सांसारिक कार्योंको छोड़ दे, और ज्ञानहीमें सदा निमग्न रहने लगे, तो गीताके अनुसार वह 'ज्ञाननिष्ठ' कहलावेगा; 'भक्तिनिष्ठ' नहीं। इसका कारण यह है, कि जबतक भक्तिकी क्रिया जारी रहती है, तबतक उपास्य और उपासकरूपी द्वैतभावभी बना रहता है; और अंतिम ब्रह्मात्मैक्य स्थितिमें तो भक्तिकी कौन कहे, अन्य किसीभी प्रकारकी उपासना शेष नहीं रह सकती। भक्तिका पर्यवसान या फल ज्ञान है। भक्ति ज्ञानका साधन है – वह अंतिम साध्य नहीं है। सारांश अव्यक्तोपासनाकी दृष्टिसे ज्ञान एक बार साधन हो सकता है; और दूसरी बार ब्रह्मात्मैक्यके अपरोक्षानुभवकी दृष्टिसे उसी ज्ञानको निष्ठा याने (सिद्धावस्थाकी) अंतिम स्थिति कह सकते हैं। जब इस भेदको प्रकट रूपसे दिखलानेकी आवश्यकता, होती है, तब 'ज्ञान-मार्ग' और 'ज्ञाननिष्ठा' इन दोनों शब्दोंका उपयोग समान अर्थमें नहीं किया जाता; किंतु अव्यक्तोपासनाकी साधनावस्थावाली स्थिति दिखलानेके लिये ान-मार्ग' शब्दका उपयोग किया जाता है; और ज्ञान-प्राप्तिके अनंतर सब कर्मोंको छोड़ ज्ञानहीमें निमग्न हो जानेकी जो सिद्धावस्थाकी स्थिति है, उसके लिये 'ज्ञाननिष्ठ' शब्दका उपयोग किया जाता है। अर्थात् अव्यक्तोपासना या अध्यात्म-विचारके अर्थमें ज्ञानको एक बार साधन (ज्ञान-मार्ग) कह सकते हैं और दूसरी बार अपरोक्षानुभवके अर्थमें उसी ज्ञानको निष्ठा याने कर्मत्यागरूपी अंतिम अवस्था कह सकते हैं। यही बात कर्मके विषयमेंभी कही जा सकती है। शास्त्रोक्त मर्यादाके अनुसार जो कर्म पहले चित्तकी शुद्धिके लिये किया जाता है, वह साधन कहलाता है। इस कर्मसे चित्तका शुद्धि होती है; और अंतमें ज्ञान तथा शांतिकी प्राप्ति होती है। परंतु यदि कोई मनुष्य आगे इस ज्ञानमेंही निमग्न न रहकर शांतिपूर्वक मृत्यु-पर्यंत निष्काम कर्म करता चला जावे, तो ज्ञानयुक्त निष्काम कर्मकी दृष्टिसे उसके इस कर्मको निष्ठा कह सकते हैं (गीता ३. ३)। यह बात भक्तिके विषयमें नहीं कह सकते, क्योंकि भक्ति सिर्फ़ एक मार्ग या उपाय अर्थात् ज्ञान-प्राप्तिका साधन है, वह निष्ठा नहीं है। इसलिये गीताके आरंभमें ज्ञान (सांख्य) और योग (कर्म) येही दो निष्ठाएँ कही गई हैं; उनमेंसे कर्म योग-निष्ठाकी सिद्धिके उपाय, साधन, विधि या मार्गका विचार करते समय (गीता ७. १), अव्यक्तोपासना (ज्ञान-मार्ग)

और व्यक्तोपासनाका (भक्ति-मार्ग)– अर्थात् जो दो साधन प्राचीन समयसे एक साथ चले आ रहे हैं उनका – वर्णन करके, गीतामें सिर्फ़ इतनाही कहा है, कि " इन दोनोंमेंसे अव्यक्तोपासना बहुत क्लेशमय है; और व्यक्तोपासना या भक्ति अधिक सुलभ है याने इस साधनको स्वीकार सब साधारण लोग कर सकते हैं "। प्राचीन उपनिषदोंमें ज्ञान-मार्गहीका विचार किया गया है; और शांडिल्य आदि सूत्रोंमें तथा भागवत आदि ग्रंथोंमें भक्ति-मार्गहीकी महिमा गाई गई है। परंतु साधन-दृष्टिसे ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्गमें योग्यतानुसार भेद दिखलाकर, अंतमें निष्काम कर्मके साथ दोनोंका मेल जैसा गीताने सम-बुद्धिसे किया है, वैसा अन्य किसीभी प्राचीन धर्मग्रंथने नहीं किया है।

ईश्वरके स्वरूपका यह यथार्थ और अनुभवात्मक ज्ञान होनेके लिये, कि " सब प्राणियोंमें एकही परमेश्वर है;" देहेंद्रियधारी मनुष्यको क्या करना चाहिये, इस प्रश्नका विचार उपर्युक्त रीतिसे करनेपर जान पड़ेगा, कि यद्यपि परमेश्वरका श्रेष्ठ स्वरूप अनादि, अनंत, अनिर्वाच्य, अचिंत्य और 'नेति नेति' है, तथापि वह **निर्गुण, अज्ञेय** और **अव्यक्तभी** है, और जब उसका अनुभव होता है, तब उपास्य-उपासकरूपी द्वैतभाव शेष नहीं रहता, इसलिये उपासनाका आरंभ वहाँसे नहीं हो सकता। वह तो केवल अंतिम साध्य है, साधन नहीं; और तद्रूप होनेकी अद्वैत स्थितिकी प्राप्तिके लिये उपासना केवल एक साधन या उपाय है। अतएव उस उपासनामें जिस वस्तुको स्वीकार करना पड़ता है, उसका सगुण होना अत्यंत आवश्यक है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी और निराकार ब्रह्मस्वरूप वैसा अर्थात् **सगुण** है। परंतु वह केवल **बुद्धिगम्य** और **अव्यक्त** अर्थात् इंद्रियोंको अगोचर होनेके कारण उपासनाके लिये अत्यंत क्लेशमय है। अतएव प्रत्येक धर्ममें यही दीख पड़ता है, कि इन दोनों परमेश्वर-स्वरूपोंकी अपेक्षा जो परमेश्वर अचिंत्य, सर्वसाक्षी, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् जगदात्मा होकरभी हमारे समान हमसे बोलेगा, हमसे प्रेम करेगा, हमको सन्मार्ग दिखावेगा और हमें सद्गति देगा; जिसे हम लोग 'अपना' कह सकेंगे, जिसे हमारे सुखदुःखोंके साथ सहानुभूति होगी अथवा जो हमारे अपराधोंको क्षमा करेगा, जिसके साथ हम लोगोंका यह प्रत्यक्ष संबंध उत्पन्न हो, कि " हे परमेश्वर! मैं तेरा हूँ और तू मेरा है," जो पिताके समान मेरी रक्षा करेगा और माताके समान प्यार करेगा; अथवा जो " गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् " (गीता ९. १७, १८) है -- अर्थात् जिसके विषयमें मैं यह कह सकूँगा, कि " तू मेरी गति है, तू पोषणकर्ता है, तू मेरा स्वामी है, तू मेरा साक्षी है, तू मेरा विश्रामस्थान है, तू मेरा अंतिम आधार है, तू मेरा सखा है," और ऐसा कहकर बच्चोंकी नाईं प्रेमपूर्वक तथा लाड़से जिसके स्वरूपका आकलन मैं कर सकूँगा – ऐसे सत्यसंकल्प, सकलैश्वर्यसंपन्न, दयासागर, भक्तवत्सल, परम पवित्र, परम उदार, परम कारुणिक, परमपूज्य, सर्वसुंदर, सकलगुणनिधान अथवा संक्षेपमें कहे तो ऐसे

लाइले **सगुण, प्रेमगम्य** और **व्यक्त** याने **प्रत्यक्ष-रूपधारी** सुलभ परमेश्वरहीके स्वरूपका सहारा मनुष्य 'भक्तिके लिये' स्वभावतः लिया करता है। जो परब्रह्म मूलमें अचिंत्य और 'एकमेवाद्वितीयम्' है, उसके उक्त प्रकारके अंतिम दो स्वरूपोंको – अर्थात् प्रेम, श्रद्धा आदि मनोमय नेत्रोंसे मनुष्यको गोचर होनेवाले स्वरूपोंकोही – वेदान्तशास्त्रकी परिभाषामें 'ईश्वर' कहते हैं। परमेश्वर सर्वव्यापी होकरभी 'बिठ्ठल' मर्यादित क्यों हो गया? इसका उत्तर प्रसिद्ध महाराष्ट्र साधु तुकारामने एक पद्यमें (तु. गा. ३८. ७) दिया है, जिसका आशय यह है :–

रहता है सर्वत्रही व्यापक एक समान।
पर निज भक्तों के लिये छोटा है भगवान् ॥

यही सिद्धान्त वेदान्त-सूत्रमेंभी दिया गया है (वे. सू. १. २. ७)। उपनिषदोंमेंभी जहाँ जहाँ ब्रह्मकी उपासनाका वर्णन है, वहाँ वहाँ प्राण, मन इत्यादि सगुणपर केवल अव्यक्त वस्तुओंहीका निर्देश न कर, उनके साथ साथ सूर्य (आदित्य), अन्न इत्यादि सगुण व्यक्त पदार्थोंकी उपासनाभी कही गई है (तै. ३. २–६; छां. ७)। श्वेताश्वतरोपनिषदमें तो 'ईश्वर'का लक्षण इस प्रकार बतला कर, कि "मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वे. ४. १०) – प्रकृतिहीको माया और इस मायाके अधिपतिको महेश्वर जानो; आगे गीताहीके समान (गीता १०. ३) सगुण ईश्वरकी महिमाका इस प्रकार वर्णन किया है, कि "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" – इस देवको जान लेनेसे मनुष्य सब पाशोंसे मुक्त हो जाता है (श्वे. ४. १६)। इस उपास्य परब्रह्मके चिन्ह, पहचान, अवतार, अंश या प्रतिनिधिके तौरपर उपासनाके लिये आवश्यक नाम-रूपात्मक वस्तुकोही वेदान्तशास्त्रमें 'प्रतीक' कहते हैं। प्रतीक (प्रति + इक) शब्दका धात्वर्थ, (प्रति) अपनी ओर हुआ है। जब किसी वस्तुका कोई एक भाग पहले गोचर हो; और फिर उससे आगे उस वस्तुका ज्ञान हो, तब उस भागको प्रतीक कहते हैं। इस नियमके अनुसार, सर्वव्यापी परमेश्वरका ज्ञान होनेके लिये उसका कोईभी प्रत्यक्ष चिन्ह, अंशरूपी विभूति या भाग 'प्रतीक' हो सकता है। उदाहरणार्थ, महाभारतमें ब्राह्मण और व्याधका जो संवाद है, उसमें व्याधने ब्राह्मणको पहले बहुत-सा अध्यात्मज्ञान बतलाया। फिर अंतमें "हे द्विजवर! मेरा जो प्रत्यक्ष धर्म है उसे अब देखो" – "प्रत्यक्षं मम यो धर्मस्तं च पश्य द्विजोत्तम" (मभा. वन. २१३. ३) ऐसा कहकर उस ब्राह्मणको वह व्याध अपने वृद्ध माता-पिताके समीप ले गया और कहने लगा – यही मेरे 'प्रत्यक्ष' देवता हैं; और मनोभावसे ईश्वरके समान इन्हींकी सेवा करना मेरा 'प्रत्यक्ष' धर्म है। इसी अभिप्रायको मनमें रखकर भगवान् श्रीकृष्णने अपने व्यक्त स्वरूपकी उपासना बतलानेके पहले गीतामें कहा है, कि भक्तिका यह मार्ग –

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

"सब विद्याओंमें और गुह्योंमें श्रेष्ठ (राजविद्या और राजगुह्य) है; यह उत्तम, पवित्र, प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाला, धर्मानुकूल, सुखसे आचरण करने योग्य और अक्षय है" (गीता ९. २)। इस श्लोकमें राजविद्या और राजगुह्य दोनों सामासिक शब्द हैं; इनका विग्रह इस प्रकार है – 'विद्यानां राजा' और 'गुह्यानां राजा' (विद्याओंका राजा और गुह्योंका राजा)। और जब समास होता है, तब संस्कृत व्याकरणके नियमानुसार 'राज' शब्द उसमें पहले आता है। परंतु इनके बदले कुछ लोग 'राज्ञां विद्या' (राजाओंकी विद्या) ऐसा विग्रह करते हैं; और कहते हैं, कि योगवासिष्ठमें (यो. २. ११. १६–१८) जो वर्णन है, उसके अनुसार जब प्राचीन समयमें ऋषियोंने राजाओंको ब्रह्मविद्याका उपदेश किया, तबसे ब्रह्मविद्या या अध्यात्मज्ञानहीको राजविद्या और राजगुह्य कहने लगे हैं। इसलिये गीतामेंभी इन शब्दोंका वही अर्थ याने अध्यात्मज्ञान – भक्ति नहीं – लिया जाना चाहिये। गीता-प्रतिपादित मार्गभी मनु, इक्ष्वाकु प्रभृति राजपरंपराहीसे प्रवृत्त हुआ है (गीता ४. १); इसलिये नहीं कहा जा सकता, कि गीतामें 'राजविद्या' और 'राजगुह्य' शब्द 'राजाओंकी विद्या' और 'राजाओंका गुह्य' – याने राजमान्य विद्या और गुह्य – के अर्थमें प्रयुक्त न हुए हों। परंतु इन अर्थोंको मान लेनेपरभी यह ध्यान देने योग्य बात है, कि इस स्थानमें ये शब्द ज्ञान-मार्गके लिये प्रयुक्त नहीं हुए हैं। कारण यह है, कि गीताके जिस अध्यायमें यह श्लोक आया है, उसमें भक्ति-मार्गकाही विशेष प्रतिपादन किया गया है (गीता ९. २२–३१); और यद्यपि साध्य ब्रह्म एकही है, तथापि गीतामेंही अध्यात्मविद्याका साधनात्मक ज्ञान-मार्ग केवल 'बुद्धिगम्य' अतएव 'अव्यक्त' और 'दुःखकारक' कहा गया है (गीता १२. ५)। ऐसी अवस्थामें यह असंभव जान पड़ता है, कि भगवान् अब उसके विरुद्ध उसी ज्ञान-मार्गको 'प्रत्यक्षावगम्' याने व्यक्त और 'कर्तुं सुसुखम्' याने आचरण करनेमें सुखकारक कहेंगे। अतएव प्रकरणकी साम्यताके कारण और केवल भक्ति-मार्गहीके लिये सर्वथा उपयुक्त होनेवाले 'प्रत्यक्षावगम्' तथा 'कर्तुं सुसुखम्' पदोंकी स्वारस्य-सत्ताके कारण, अर्थात् इन दोनों कारणोंसे, यही सिद्ध होता है, कि इस श्लोकमें 'राजविद्या' शब्दसे भक्ति-मार्गही विवक्षित है। 'विद्या' शब्द केवल ब्रह्म-ज्ञानसूचक नहीं है; किंतु परब्रह्मका ज्ञान प्राप्तकर लेनेके जो साधन या मार्ग हैं उन्हेंभी उपनिषदोंमें 'विद्या' ही कहा है। उदाहरणार्थ, शांडिल्यविद्या, प्राणविद्या, हार्दविद्या इत्यादि। वेदान्त-सूत्रके तीसरे अध्यायके तीसरे पादमें, उपनिषदोंमें वर्णित सभी ऐसी विद्याओंका अर्थात् साधनाओंका विचार किया गया है। उपनिषदोंसे यहभी विदित होता है, कि प्राचीन समयमें ये सब विद्याएँ गुप्त रखी जाती थीं; और केवल शिष्योंके अतिरिक्त अन्य किसीकोभी उनका उपदेश नहीं किया जाता था। अतएव कोईभी विद्या हो, वह गुह्य अवश्यही होगी। परंतु ब्रह्म-प्राप्तिके लिये साधनभूत होनेवाली ये जो गुह्य विद्याएँ या मार्ग हैं, वे यद्यपि अनेक हों, तथापि

उन सबमें गीता-प्रतिपादित भक्ति-मार्गरूपी विद्या अर्थात् साधन श्रेष्ठ (गुह्यानां विद्यानां च राजा) है। क्योंकि हमारे मतानुसार उक्त श्लोकका भावार्थ यह है, कि वह (भक्ति-मार्गरूपी साधन) ज्ञान-मार्गकी विद्याके समान 'अव्यक्त' नहीं है; किंतु वह 'प्रत्यक्ष' आँखोंसे दिखाई देनेवाला है और इसी लिये उसका आचरणभी सुखसे किया जाता है। यदि गीतामें केवल बुद्धिगम्य ज्ञान-मार्गही प्रतिपादित किया गया होता, तो वैदिक धर्मके सब संप्रदायोंमें आज सैकड़ों वर्षसे इस ग्रंथकी जैसी चाह होती चली आ रही है, वैसी हुई होती या नहीं इसमें संदेह है। गीतामें जो मधुरता, प्रेम या रस भरा है, वह उसमें प्रतिपादित भक्ति-मार्गहीका परिणाम है। पहले तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने – जो परमेश्वरके प्रत्यक्ष अवतार हैं – यह गीता कही है; और उसमेंभी दूसरी बात यह है, कि भगवानने अज्ञेय परब्रह्मका कोरा ज्ञानही नहीं कहा है; किंतु स्थान स्थानमें प्रथम पुरुषका प्रयोग करके अपने सगुण और व्यक्त स्वरूपको लक्ष्य कर कहा है, कि "**मुझमें** यह सब गूँथा हुआ है" (गीता ७. ७), "यह सब **मेरीही** माया है" (गीता ७. १४), "**मुझसे** भिन्न और कुछभी नहीं है" (गीता ७. ७), "**मुझे** शत्रु और मित्र दोनों बराबर हैं" (गीता ९.२९), "**मैंने** इस जगतको उत्पन्न किया है" (गीता ९. ४), "**मैंही** ब्रह्मका और मोक्षका मूल हूँ" (गीता १४. २७) अथवा "**मुझे** पुरुषोत्तम कहते हैं" (गीता १५. १८)। और अंतमें अर्जुनको यह उपदेश किया, कि "सब धर्मोंको छोड़ तू अकेले **मेरी** शरण आ, **मैं** तुझे सब पापोंसे मुक्त करूँगा, डर मत" (गीता १८. ६६)। इससे श्रोताकी यह भावना हो जाती है, कि मानों मैं ऐसे साक्षात् पुरुषोत्तमके सामने खड़ा हूँ, जो सम-दृष्टि, परमपूज्य, और अत्यंत दयालु है; और तब आत्मज्ञानके विषयमें उसकी निष्ठाभी बहुत दृढ हो जाती है। इतनाही नहीं; किंतु गीताके अध्यायोंका इस प्रकार पृथक् पृथक् विभाग न कर – कि एक बार ज्ञानका तो दूसरी बार भक्तिका प्रतिपादन हो -- ज्ञानहीमें भक्ति और भक्तिहीमें ज्ञानको गूँथ दिया है; जिसका परिणाम यह होता है, कि ज्ञान और भक्तिमें अथवा बुद्धि और प्रेममें परस्पर विरोध न होकर परमेश्वरके ज्ञानके साथही प्रेमरसकाभी अनुभव होता है; और सब प्राणियोंके विषयमें आत्मौपम्य-बुद्धिकी जागृति होकर अंतमें चित्तको विलक्षण शांति, समाधान और सुख प्राप्त होता है! इसीमें कर्मयोगभी आ मिला है! मानों दूधमें शक्कर मिल गई हो! फिर इसमें कोई आश्चर्य नहीं, जो हमारे पंडितजनोंने यह सिद्धान्त किया, कि गीता-प्रतिपादित ज्ञान, ईशावास्योपनिषदके कथनानुसार, मृत्यु और अमृत अर्थात् इहलोक और परलोक दोनों जगह श्रेयस्कर है।

ऊपर किये गये विवेचनसे पाठकोंके ध्यानमें यह बात आ जायगी, कि भक्ति-मार्ग किसे कहते हैं; ज्ञानमार्ग और भक्ति-मार्गमें समानता तथा विषमता क्या है; भक्ति-मार्गको राजमार्ग (राजविद्या) या सहज उपाय क्यों कहा है; और गीतामें

भक्तिको स्वतंत्र निष्ठा क्यों नहीं माना है। परंतु ज्ञानप्राप्तिके इस सुलभ, अनादि और प्रत्यक्ष मार्गमेंभी धोखा खा जानेकी जो एक जगह है, उसकाभी कुछ विचार किया जाना चाहिये। नहीं तो संभव है, कि इस मार्गसे चलनेवाला पथिक असावधानतासे गड्ढेमें गिर पड़े। भगवद्गीतामें इस गड्ढेका स्पष्ट वर्णन किया गया है; और वैदिक भक्ति-मार्गमें अन्य भक्ति-मार्गोंकी अपेक्षा जो कुछ विशेषता है, वह यही है। यद्यपि इस बातको सब लोग मानते हैं, कि परब्रह्ममें मनको चित्त-शुद्धि-द्वारा साम्य-बुद्धिकी प्राप्तिके लिये साधारण आसक्त कर मनुष्योंके सामने परब्रह्मके 'प्रतीक'के नातेसे कुछ-न-कुछ सगुण अथवा व्यक्त वस्तु अवश्य होनी चाहिये, नहीं तो चित्तकी स्थिरता हो नहीं सकती; तथापि इतिहाससे दीख पड़ता है, कि 'प्रतीक'के स्वरूपके विषयमें अनेक बार झगडे और बखेडे हो जाया करते हैं। अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिसे देखा जाय, तो इस संसारमें ऐसा कोई स्थान नहीं, कि जहाँ परमेश्वर न हो। भगवद्गीतामेंभी जब अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा, कि "किन किन विभूतियोंके रूपसे तुम्हारा चिंतन (भजन) किया जावे, सो मुझे बतलाइये" (गीता १०. १८); तब दसवें अध्यायमें भगवानने इस स्थावर और जंगम-सृष्टिमें चारों ओर व्याप्त अपनी अनेक विभूतियोंका वर्णन करके कहा है, कि मैं इंद्रियोंमें मन, स्थावरोंमें हिमालय, यज्ञोंमें जपयज्ञ, सर्पोंमें वासुकि, दैत्योंमें प्रल्हाद, पितरोंमें अर्यमा, गंधर्वोंमें चित्ररथ, वृक्षोंमें अश्वत्थ, पक्षियोंमें गरुड, महर्षियोंमें भृगु, अक्षरोंमें अकार, और आदित्योंमें विष्णु हूँ; और अंतमें यह कहा :–

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥

"हे अर्जुन! यह जानो कि जो कुछ वैभव, लक्ष्मी या प्रभावसे युक्त हो, वह मेरेही तेजके अंशसे उत्पन्न हुआ है" (गीता १०. ४१); और अधिक क्या कहा जाय! मैं अपने एक अंशमात्रसे इस सारे जगतमें व्याप्त हूँ! इतना कहकर अगले अध्यायमें विश्वरूपदर्शनसे अर्जुनको इस सिद्धान्तकी प्रत्यक्ष प्रतीतिभी करा दी है। यदि इस संसारमें दिखलाई देनेवाले सब पदार्थ या गुण परमेश्वरहीके रूप याने प्रतीक हैं तो यह कौन और कैसे कह सकता है, कि उनमेंसे किसी एकहीमें परमेश्वर है और दूसरेमें नहीं? न्यायतः यही मानना पड़ता है, कि वह दूर है और समीपभी है, सत् और असत् होनेपरभी वह उन दोनोंसे परे है, अथवा गरुड और सर्प, मृत्यु और मारनेवाला, विघ्नकर्ता और विघ्नहर्ता, भयकृत और भयनाशक, घोर और अघोर, शिव और अशिव, वृष्टि करनेवाला और उसको रोकनेवालाभी (गीता ९. १९; १०. ३२) वही है। अतएव भगवद्भक्त तुकाराम महाराजनेभी (तु. गा. २०. ६५. ४) इसी भावसे कहा है :–

छोटा बड़ा कहें जो कुछ हम।
फबता है सब तुझे महत्तम ॥

इस प्रकार विचार करनेपर मालूम होता है, कि संसारकी प्रत्येक वस्तु यदि अंशतः परमेश्वरहीका स्वरूप है, तो फिर जिन लोगोंके ध्यानमें परमेश्वरका यह सर्वव्यापी स्वरूप एकाएक नहीं आ सकता, वे यदि इस अव्यक्त और शुद्ध रूपको पहचाननेके लिये इन अनेक वस्तुओंमेंसे किसी एकको साधन या प्रतीक समझकर उसकी उपासना करें, तो क्या हानि है? कोई मनकी उपासना करेंगे, तो कोई द्रव्ययज्ञ या जपयज्ञ करेंगे। कोई गरुडकी भक्ति करेंगे, तो कोई ॐ मंत्राक्षरहीका जप करेंगे; कोई विष्णुका, तो कोई शिवका, कोई गणपतिका तो कोई भवानीका भजन करेंगे। कोई अपने मातापिताके चरणोंमें ईश्वरभाव रखकर उनकी सेवा करेंगे; और कोई उससेभी अधिक व्यापक सर्वभूतात्मक विराट् पुरुषकी उपासना पसंद करेंगे। कोई कहेंगे, सूर्यको भजो; और कोई कहेंगे, कि राम या कृष्णही सूर्यसे श्रेष्ठ हैं। परंतु अज्ञानसे या मोहसे जब यह दृष्टि छूट जाती है, कि "सब विभूतियोंका मूल स्थान एकही परब्रह्म है", अथवा जब किसी धर्मके मूल सिद्धान्तोंमेंही यह व्यापक दृष्टि नहीं होती, तब अनेक प्रकारके उपास्योंके विषयमें वृथाभिमान और दुराग्रह उत्पन्न हो जाता है; और कभी कभी तो लड़ाइयाँ हो जानेतक नौबत आ पहुँचती है। वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई या मुहंमदी धर्मोंके परस्पर-विरोधकी बात छोड़ दें और केवल ईसाई धर्मकोही देखें; तो यूरोपके इतिहाससे यही दीख पड़ता है, कि एक-ही सगुण और व्यक्त ईसा मसीहके उपासकोंमेंभी विधिभेदोंके कारण एक दूसरेकी जान लेने-तककी नौबत आ चुकी थी। हमारे देशके सगुण उपासकोंमेंभी अबतक यह झगड़ा दीख पड़ता है, कि हमारा देव निराकार होनेके कारण अन्य लोगोंके साकार देवसे श्रेष्ठ है। भक्ति-मार्गमें उत्पन्न होनेवाले इन झगड़ोंका निर्णय करनेके लिये कोई उपाय है या नहीं? यदि है तो वह कौन-सा उपाय है? जब तक इसका ठीक ठीक विचार नहीं हो जाता, तबतक भक्तिमार्ग बेखटकेका या बगैर धोखेका नहीं कहा जा सकता। इसलिये अब यही विचार किया जायगा, कि गीतामें इस प्रश्नका क्या उत्तर दिया गया है। कहना नहीं होगा, कि हिंदुस्तानकी वर्तमान दशामें इस विषयका यथोचित विचार करना विशेष महत्त्वकी बात है।

साम्य-बुद्धिकी प्राप्तिके लिये मनको स्थिर करके परमेश्वरकी अनेक सगुण विभूतियोंमेंसे किसी एक विभूतिके स्वरूपका प्रथमतः चिंतन करना अथवा उसको प्रतीक समझकर प्रत्यक्ष नेत्रोंके सामने रखना, इत्यादि साधनोंका वर्णन प्राचीन उपनिषदोंमेंभी पाया जाता है; और रामतापनी सरीखे उत्तरकालीन उपनिषदमें या गीतामेंभी मानव-रूपधारी सगुण परमेश्वरकी निस्सीम और एकांतिक भक्ति-कोही परमेश्वर-प्राप्तिका मुख्य साधन माना है। परंतु साधनकी दृष्टिसे यद्यपि वासुदेव-भक्तिको गीतामें प्रधानता दी गई है, तथापि अध्यात्म-दृष्टिसे विचार करने पर, वेदान्त-सूत्रकी नाईं (वे. सू. ४. १. ४) गीतामेंभी आगे यही स्पष्ट रीतिसे कहा है, कि 'प्रतीक' एक प्रकारका साधन है – वह सत्य, सर्वव्यापी और नित्य

परमेश्वर हो नहीं सकता। अधिक क्या कहें, नाम-रूपात्मक व्यक्त अर्थात् सगुण वस्तुओंमेंसे किसीकोभी लीजिये; वह मायाही है। जो सत्य परमेश्वरको देखना चाहता है, उसे इस सगुण रूपकेभी परे अपनी दृष्टिको ले जाना चाहिये। यह प्रकट है, कि भगवानकी जो अनेक विभूतियाँ हैं, उनमें अर्जुनको दिखलाये गये विश्वरूपसे अधिक व्यापक और कोईभी विभूति हो नहीं सकती। परंतु जब यही विश्वरूप भगवानने नारदको दिखलाया, कि तब उन्होंने कहा है, कि "तू मेरे जिस रूपको देख रहा है, कि वह सत्य नहीं है, यह माया है; मेरे सत्य स्वरूपको देखनेके लिये इसकेभी आगे तुझे जाना चाहिये" (मभा. शां. ३३९. ४४); और गीतामेंभी भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे स्पष्ट रीतिसे यही कहा है :–

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

"यद्यपि मैं अव्यक्त हूँ, तथापि मूर्ख लोग मुझे व्यक्त (गीता ७. २४) अर्थात् मनुष्यदेहधारी मानते हैं (गीता ९. ११); परंतु यह बात सच नहीं है। मेरा अव्यक्त स्वरूपही सत्य है।" इसी तरह उपनिषदोंमेंभी यद्यपि उपासनाके लिये मन, वाचा, सूर्य, आकाश इत्यादि अनेक व्यक्त या अव्यक्त ब्रह्मप्रतीकोंका वर्णन किया गया है, तथापि अंतमें यह कहा है, कि जो वाचा, नेत्रों या कानोंको गोचर हो वह ब्रह्म नहीं; जैसे :–

यन्मनसा न मनुते येनाऽऽहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

"मनसे जिसका मनन नहीं किया जा सकता, किंतु मनही जिसकी मनन-शक्तिमें आ जाता है, उसे तू सत्य ब्रह्म समझ। जिसकी (प्रतीक समझकर) उपासना की जाती है, वह (सत्य) ब्रह्म नहीं है" (केन. १. ५–८)। 'नेति नेति' सूत्रकाभी यही अर्थ है : मन या आकाशको लीजिये अथवा व्यक्त उपासना मार्गके अनुसार शालग्राम, शिवलिंग इत्यादिको लीजिये, या श्रीराम, कृष्ण आदि अवतारी पुरुषोंकी अथवा साधु-पुरुषोंकी व्यक्त मूर्तिका चिंतन कीजिये, मंदिरोंमें शिलामय अथवा धातुमय देवकी मूर्तिको देखिये, अथवा विना मूर्तिका मंदिर या मसजिद लीजिये; – ये सब छोटे बच्चेकी ढकेलगाडीके समान मनको स्थिर करनेके लिये अर्थात् चित्तकी वृत्तिको परमेश्वरकी ओर झुकानेके साधन है। प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी इच्छा और अधिकारके अनुसार उपासनाके लिये किसी प्रतीकका स्वीकारकर लेता है। यह प्रतीक चाहे कितनाही प्यारा हो; परंतु इस बातको नहीं भूलना चाहिये, कि सत्य परमेश्वर इस "प्रतीकमें नहीं है" – "न प्रतीके न हि सः" (वे. सू. ४. १. ४) – उसके परे है। इसी हेतुसे भगवद्गीतामेंभी सिद्धान्त किया गया है, कि "जिन्हें मेरी माया मालूम नहीं होती, वे मूढ़ जन मुझे नहीं जानते" (गीता ७. १३-१५)। भक्ति-मार्गमें मनुष्यका उद्धार करनेकी जो शक्ति है, वह सजीव अथवा निर्जीव

मूर्तिमें या पत्थरोंकी इमारतोंमें नहीं है; किंतु उस प्रतीकमें उपासक अपने सुभीतेके लिये जो उस प्रतीकसेभी श्रेष्ठ ईश्वरभावना रखता है, वही यथार्थमें तारक होती है। चाहे प्रतीक पत्थरका हो, मिट्टीका हो, धातुका हो या अन्य किसी पदार्थका हो; उसकी योग्यता 'प्रतीक'से अधिक कभी नहीं हो सकती। इस प्रतीकमें जैसा हमारा भाव होगा, ठीक उसीके अनुसार हमारी भक्तिका फल परमेश्वर – प्रतीक नहीं – हमें दिया करता है। फिर ऐसा बखेड़ा मचानेसे क्या लाभ, कि हमारा प्रतीक श्रेष्ठ है और तुम्हारा निकृष्ट ? यदी भाव शुद्ध न हो, तो केवल प्रतीककी उत्तमतासेही क्या लाभ होगा ? दिनभर लोगोंको धोखा देने और फँसानेका धंधा करके सुबह-शाम या किसी त्योहारके दिन देवालयमें देवदर्शनके लिये, अथवा किसी निराकार देवके मंदिरमें उपासनाके लिये, जानेसे परमेश्वरकी प्राप्ति होना असंभव है। कथा सुननेके बहाने देवालयमें जानेवाले कुछ मनुष्योंका वर्णन रामदासस्वामीने इस प्रकार किया है – "कोई कोई विषयी लोग कथा सुननेके बहानेसे आते हैं और स्त्रियोंकीही ओर घूरा करते हैं; चोर लोग पादत्राण (जूते) चुरा ले जाते हैं" (दास. १८. १०. २६)। यदि केवल देवालयमें या देवताकी मूर्तिहीमें तारक-शक्ति हो तो ऐसे लोगोंकोभी मुक्ति मिल जानी चाहिये। कितेक लोगोंकी समझ है, कि परमेश्वरकी भक्ति केवल मोक्षहीके लिये की जाती है; परंतु जिन्हे कोई व्यावहारिक या स्वार्थकी वस्तु चाहिये, वे भिन्न भिन्न देवताओंकी आराधना करें और गीतामेंभी इस बातका उल्लेख किया गया है, कि ऐसी स्वार्थ-बुद्धिसे वे लोग भिन्न भिन्न देवताओंकी पूजा किया करते हैं (गीता ७. २०)। परंतु इसके आगे गीताहीका कथन है, कि यह समझ तात्त्विक दृष्टिसे सच नहीं मानी जा सकती, कि इन देवताओंकी आराधना करनेसे वे स्वयं कुछ फल देते हैं (गीता ७. २१)। अध्यात्मशास्त्रका यह चिर-स्थायी सिद्धान्त है (वे. सू. ३. २. ३८–४१); और यही सिद्धान्त गीताकोभी मान्य है (गीता ७. २२), कि मनमें किसीभी वासना या कामनाको रखकर किसीभी देवताकी आराधना की जावे; उसका फल सर्वव्यापी परमेश्वरही दिया करता है, न कि देवता। यद्यपि फलदाता परमेश्वर इस प्रकार एकही हो, तथापि वह प्रत्येकके भले-बुरे भावोंके अनुसार भिन्न भिन्न फल दिया करता है (वे. सू. २. १. ३४–३७)। इसलिये यह दीख पड़ता है, कि भिन्न भिन्न देवता-ओंकी या प्रतीकोंकी उपासनाके फलभी भिन्न भिन्न होते हैं। इसी अभिप्रायको मनमें रखकर भगवानने अन्यत्रभी कहा है :–

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

"मनुष्य श्रद्धामय है। प्रतीक कुछभी हो; परंतु जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वैसाही वह हो जाता है" (गीता १७. ३. मैत्र्यु. ४. ६)। अथवा –

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

' देवताओंकी भक्ति करनेवाले देवलोकमें, पितरोंकी भक्ति करनेवाले पितृलोकमें, भूतोंकी भक्ति करनेवाले भूतोंमें जाते हैं; और मेरी भक्ति करनेवाले मेरे पास आते हैं " (गीता ९. २५)। या –

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

" जो जिस प्रकार मुझे भजते हैं, उसी प्रकार मैं उन्हें भजता हूँ " (गीता ४. ११)। सब लोग जानते हैं, कि शालग्राम सिर्फ़ एक पत्थर है। उसमें यदि विष्णुका भाव रखा जाय, तो विष्णुलोक मिलेगा; और यदि उसी प्रतीकमें यक्ष, राक्षस आदि भूतोंकी भावना रखके उसकी पूजा की जाय, तो यक्ष, राक्षस आदि भूतोंकेही लोक प्राप्त होंगे। यह सिद्धान्त हमारे सब शास्त्रकारोंको मान्य है, कि फल हमारे भावमें है; प्रतीकमें नहीं और लौकिक व्यवहारमेंभी किसी मूर्तिकी पूजा करनेके पहले उसकी प्राणप्रतिष्ठाभी करनेकी जो रीति है, उसकाभी रहस्य यही है। जिस देवताकी भावनासे उस मूर्तिकी पूजा करनी हो, उस देवताकी प्राणप्रतिष्ठा उस मूर्तिमें करते हैं। मूर्तिमें परमेश्वरकी भावना न रख कोई यह समझकर उसकी पूजा या आराधना नहीं करते कि वह मूर्ति केवल किसी विशिष्ट आकारकी; मिट्टी, पत्थर या धातु है; और यदि कोई ऐसा करेभी, तो गीताके उक्त सिद्धान्तके अनुसार उसको मिट्टी, पत्थर या धातुहीकी दशा निस्संदेह प्राप्त होगी। जब प्रतीकमें और स्थापित या आरोपित प्रतीकमें हमारे आंतरिक भावमें इस प्रकार भेदकर लिया जाता है, तब केवल प्रतीकके विषयमें झगड़ा करते रहनेका कोई कारण नहीं रह जाता। क्योंकि, अब तो यह भावही नहीं रहता, कि प्रतीकही देवता है। सब कर्मोंके फलदाता और सर्वसाक्षी परमेश्वरकी दृष्टि अपने भक्तजनोंके भावकी ओरही रहा करती है। इसी-लिये साधु तुकाराम कहते हैं, कि " देव भावकाही भूखा है !" – प्रतीकका नहीं। भक्ति-मार्गका यह तत्त्व जिसे भली भाँति मालूम हो गया है उसके मनमें यह दुराग्रह नहीं रहने पाता, कि " मैं जिस ईश्वरस्वरूप या प्रतीककी उपासना करता हूँ, वही सच्चा है; और अन्य सब मिथ्या हैं; " किंतु उसके अंतःकरणमें ऐसी उदार-बुद्धि जागृत हो जाती है, कि " किसीका प्रतीक कुछभी हो; परंतु जो लोग उसके द्वारा परमेश्वरका भजन-पूजन किया करते हैं, वे सब एकही परमेश्वरमें जा मिलते हैं। " और तब उसे भगवानके इस कथनकी प्रतीति होने लगती है, कि –

येऽप्यन्यदेवताभक्ताः यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

" चाहे विधि, अर्थात् बाह्योपचार या साधन शास्त्रके अनुसार न हों; तथापि अन्य देवताओंका श्रद्धापूर्वक (याने उनमें शुद्ध परमेश्वरका भाव रखकर) यजन करने-वाले लोग (पर्यायसे) मेराही यजन करते हैं " (गीता ९. २३)। भागवतमेंभी इसी अर्थका वर्णन कुछ शब्दभेदके साथ किया गया है (भाग. १०. पू. ४०. ८–१०); शिवगीतामें तो उपर्युक्त श्लोकही ज्यों-का-त्यों पाया जाता है (शिव. १२. ४);

और "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋ. १. १६४. ४६) इस वेदवचनका तात्पर्यभी वही है। इससे सिद्ध होता है, कि यह तत्त्व वैदिक धर्ममें बहुत प्राचीन समयसे चला आ रहा है और यह इसी तत्त्वका फल है; कि आधुनिक कालमें श्रीशिवाजी-महाराजके समान वैदिकधर्मीय वीरपुरुषके स्वभावमें, उनके परम उत्कर्षके समयमेंभी, परधर्म-असहिष्णुता-रूपी दोष दीख नहीं पड़ता था। यह मनुष्योंकी अत्यंत शोचनीय मूर्खताका लक्षण है, कि वे इस सत्य तत्त्वको तो नहीं पहचानते, कि ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और उसकेभी परे अर्थात् अचिंत्य है; किंतु वे ऐसे नाम-रूपात्मक व्यर्थ अभिमानके अधीन हो जाते हैं, कि ईश्वरने अमुक समय या अमुक देशमें, अमुक माताके गर्भसे, अमुक वर्णका, नामका या आकृतिका जो व्यक्त स्वरूप धारण किया, वही केवल सत्य है; और इस अभिमानमें फँसकर एक-दूसरेकी जान तक लेनेको उतारू हो जाते हैं। गीता-प्रतिपादित भक्ति-मार्गको 'राजविद्या' कहा है सही; परंतु यदि इस बातकी खोज की जाय, कि जिस प्रकार स्वयं भगवान् श्रीकृष्णहीने "मेरा दृश्य स्वरूपभी केवल मायाही है; मेरे यथार्थ स्वरूपको जाननेके लिये इस मायासेभी परे जाओ;" कहकर यथार्थ उपदेश किया है, उस प्रकारका उपदेश और किसने किया है? एवं "अविभक्तं विभक्तेषु" इस सात्त्विक ज्ञान-दृष्टिसे सब धर्मोंकी एकताको पहचानकर, भक्ति-मार्गके थोथे झगड़ोंकी जड़हीको काट डालनेवाले धर्मगुरु पहले पहल कहाँ अवतीर्ण हुए? अथवा उनके मतानुयायी अधिक कहाँ हैं? तो कहना पड़ेगा, कि इस विषयमें हमारी पवित्र भारतभूमिकोही अग्रस्थान दिया जाना चाहिये। हमारे देशवासियोंको राजविद्याका और राजगुह्यका यह साक्षात् पारस अनायासही प्राप्त हो गया है; परंतु जब हम देखते हैं, कि हममेंसेही कुछ लोग अपनी आँखोंपर अज्ञानरूपी चश्मा लगाकर उस पारसको चकमक पत्थर कहनेके लिये तैयार हैं, तब इसे अपने दुर्भाग्यके सिवा और क्या कहें?

प्रतीक कुछभी हो; भक्ति-मार्गका फल प्रतीकमें नहीं है, किंतु उस प्रतीकमें, जो हमारा आंतरिक भाव होता है, उस भावमें है, इसलिये यह सच है, कि प्रतीकके बारेमें झगड़ा मचानेसे कुछ लाभ नहीं। परंतु अब यह शंका है, कि वेदान्तकी दृष्टिसे जिस शुद्ध परमेश्वर-स्वरूपकी भावना प्रतीकमें आरोपित करनी पड़ती है, उस शुद्ध परमेश्वर-स्वरूपकी कल्पना बहुतेरे लोग अपने प्रकृति-स्वभावके अनुसार या अज्ञानके कारण प्रायः एकाएक कर नहीं सकते; ऐसी अवस्थामें इन लोगोंके लिये प्रतीकमें शुद्ध भाव रखकर परमेश्वरकी प्राप्ति कर लेनेका कौनसा उपाय है? यह कह देनेसे काम नहीं चल सकता, कि "भक्ति-मार्गमें ज्ञानका काम श्रद्धासे हो जाता है, इसलिये विश्वाससे या श्रद्धासे परमेश्वरके शुद्ध-स्वरूपको जान कर प्रतीकमेंभी वही भाव रखो – बस; तुम्हारा भाव सफल हो जायगा।" कारण यह है, कि कोईभी भाव रखना मनका अर्थात् श्रद्धाका धर्म है सही; परंतु उसे बुद्धिकी थोड़ी-बहुत सहायता मिलेबिना कभी काम नहीं चल सकता। क्योंकि, अन्य सब मनोधर्मोंकी तरह

केवल श्रद्धा या प्रेम और एक प्रकारसे अंधे हैं और यह बात केवल श्रद्धा या प्रेमको कभी मालूम हो नहीं सकती, कि किसपर श्रद्धा रखनी चाहिये और किसपर नहीं; अथवा किससे प्रेम करना चाहिये और किससे नहीं। यह काम प्रत्येक मनुष्यको अपनी बुद्धिसेही करना पड़ता है; क्योंकि निर्णय करनेके लिये बुद्धिके सिवा कोई दूसरी इंद्रिय नहीं है। सारांश यह है, कि चाहे किसी मनुष्यकी बुद्धि अत्यंत तीव्र न भी हो; तथापि उसमें यह जाननेकी सामर्थ्य तो अवश्यही होना चाहिये, कि श्रद्धा, (प्रेम या विश्वास) कहाँ रखा जावे; नहीं तो अंध श्रद्धा और उसीके साथ अंध प्रेमभी धोखा खा जायगा; और दोनों गड्ढेमें जा गिरेंगे। विपरीत पक्षमें यहभी कहा जा सकता है, कि श्रद्धारहित केवल बुद्धिही यदि कुछ काम करने लगे, तो कोरे युक्तिवाद और तर्कज्ञानमें फँसकर, न जाने वह कहाँ कहाँ भटकती रहेगी; वह जितनीही अधिक तीव्र होगी, उतनीही अधिक भटकेगी। इसके अतिरिक्त इस प्रकरणके आरंभहीमें कहा जा चुका है, कि श्रद्धा आदि मनोधर्मोंकी सहायताके विना केवल बुद्धिगम्य ज्ञानमें कर्तृत्व-शक्तिभी उत्पन्न नहीं होती। अतएव श्रद्धा और ज्ञान अथवा मन और बुद्धिका हमेशा साथ रहना आवश्यक है। परंतु मन और बुद्धि, दोनों त्रिगुणात्मक प्रकृतिहीके विकार हैं, इसलिये उनमेंसे प्रत्येकके जन्मतः तीन भेद – सात्त्विक, राजस और तामस हो सकते हैं; और यद्यपि उनका साथ हमेशा बना रहे, तोभी भिन्न भिन्न मनुष्योंमें उनकी जितनी शुद्धता या अशुद्धता होगी, उसी हिसाबसे मनुष्यके स्वभाव, समझ और व्यवहारभी भिन्न भिन्न हो जावेंगे। यदी बुद्धि केवल जन्मतः अशुद्ध, राजस या तामस, हो तो उसका किया हुआ भले-बुरेका निर्णय गलत होगा; जिसका परिणाम यह होगा, कि अंध श्रद्धाके सात्त्विक अर्थात् शुद्ध होनेपरभी वह धोखा खा जायगी। अच्छा; यदि श्रद्धाही जन्मतः अशुद्ध हो, तो बुद्धिके सात्त्विक होनेसेभी कुछ लाभ नहीं, क्योंकि ऐसी अवस्थामें बुद्धिकी आज्ञाको माननेके लिये श्रद्धा तैयारही नहीं रहती। परंतु साधारण अनुभव यह है कि बुद्धि और मन दोनों अलग अलग अशुद्ध नहीं रहते जिसकी बुद्धि जन्मतः अशुद्ध होती है; उसका मन अर्थात् श्रद्धाभी प्रायः न्यूनाधिक अशुद्ध अवस्थामेंही रहती है; और फिर यह अशुद्ध बुद्धि स्वभावतः अशुद्ध अवस्थामें रहनेवाली श्रद्धाको अधिकाधिक भ्रममें डाल दिया करती है। ऐसी अवस्थामें रहनेवाले किसी मनुष्यको परमेश्वरके शुद्ध स्वरूपका चाहे जैसा उपदेश किया जाय; परंतु वह उसके मनमें जमताही नहीं; अथवा यहभी देखा गया है, कि कभी कभी – विशेषतः श्रद्धा और बुद्धि दोनोंभी जन्मतः अपक्व और कमजोर हों, तब – वह मनुष्य उसी उपदेशका विपरीत अर्थ किया करता है। इसका एक उदाहरण लीजिये – यह देखा गया है, कि जब ईसाई धर्मके उपदेशक आफ्रिका-निवासी नीग्रो जातिके जंगली लोगोंको अपने धर्मका उपदेश करने लगते हैं, तब उन्हें आकाशमें रहनेवाले पिताकी अथवा ईसा मसीहकी कुछभी यथार्थ कल्पना हो नहीं सकती। उन्हें जो कुछ बतलाया जाता है, उसे वे अपनी अपक्व

बुद्धिके अनुसार अयथार्थ भावसे ग्रहण किया करते हैं। इसीलिये एक अंग्रेज ग्रंथकारने लिखा है, कि उन लोगोंमें सुधरे हुए धर्मको समझनेकी पात्रता लानेके लिये सबसे पहले उन्हें अर्वाचीन मनुष्योंकी योग्यताको पहुँचा देना चाहिये।* भवभूतिके इस दृष्टान्तमेंभी वही अर्थ है, कि एकही गुरुके पास पढ़े हुए शिष्योंमें भिन्नता दीख पड़ती है, और यद्यपि सूर्य एकही है, तथापि उसके प्रकाशसे काँचकी मणिसे आग निकलती है, लेकिन मिट्टीके ढेडेपर कुछ परिणाम नहीं होता (उ. राम. २. ४)। प्रतीत होता है, कि प्रायः इसी कारणसे प्राचीन समयमें शुद्र आदि अज्ञ जन वेद-श्रवणके लिये अनधिकारी माने जाते होंगे।† गीताके अठारहवें अध्यायमेंभी इस विषयकी चर्चा की गई है और आरंभमें कहा है, कि जिस प्रकार बुद्धिके स्वभावतः सात्त्विक, राजस और तामस भेद हुआ करते हैं (गीता १८. ३०–३२), उसी प्रकार श्रद्धाकेभी स्वभावतः सात्त्विकादि तीन भेद होते हैं (गीता १७. २)। भगवान् कहते हैं, कि आगे प्रत्येक व्यक्तिके देहस्वभावके अनुसार उसकी श्रद्धाभी स्वभावतः भिन्न हुआ करती है (गीता १७. ३) इसलिये जिन लोगोंकी श्रद्धा सात्त्विक है, वे देवताओंमें; जिनकी श्रद्धा राजस है, वे यक्ष-राक्षस आदिमें और जिनकी श्रद्धा तामस है, वे भूत-पिशाच आदिमें विश्वास करते हैं (गीता १७. ४–६)। यदि मनुष्यकी श्रद्धाका अच्छापन या बुरापन इस प्रकार नैसर्गिक स्वभावपर अवलंबित है, तो अब यह प्रश्न होता है, कि पहले यथाशक्ति भक्तिभावसे इस श्रद्धामें अधिकाधिक सुधार हो सकता है, या नही और वह किसी समय पूर्ण शुद्ध अर्थात् सात्त्विक अवस्थाको पहुँच सकती है, या नहीं ? भक्ति-मार्गके उक्त प्रश्नका स्वरूप कर्मविपाकक्रियाके ठीक इस प्रश्नके समान है, कि ज्ञानकी प्राप्ति करलेनेके लिये मनुष्य स्वतंत्र है, या नहीं ? और कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर एकही है। भगवानने अर्जुनको पहले यही उपदेश किया, कि 'मय्येव मन आधत्स्व' (गीता १२. ८) – मेरे शुद्ध स्वरूपमें तू अपने मनको स्थिर कर; और इसके बाद परमेश्वरस्वरूपको मनमें स्थिर करनेके लिये भिन्न भिन्न उपायोंका इस प्रकार वर्णन किया है – "यदि तू मेरे स्वरूपमें अपने चित्तको स्थिर न कर सकता हो, तो तू अभ्यास अर्थात् बार-बार प्रयत्न कर। यदि तुझसे अभ्यासभी न हो सके, तो मेरे लिये चित्त-शुद्धिकारक कर्म

---

* "And the only way, I suppose, in which beings of so low an order of development (*e. g.* an Australian savage or a Bushman) could be raised to a civilized level of feeling and thought would be by cultivation continued through several generations; they would have to undergo a gradual process of humanization before they could attain to the capacity of civilization." Dr. Maudsley's *Body and Mind*, Ed. 1873. p. 57

† See Max Muller's *Three Lectures on the Vedanta Philosophy*, pp. 72, 73.

कर। यदि यहभी न हो सके, तो कर्मफलका त्याग कर; और उससे मेरी प्राप्ति कर ले" (गीता १२. ९–११; भाग. ११. ११. २१–२५)। यदि मूल देह-स्वभाव अथवा प्रकृति तामस हो, तो परमेश्वरके शुद्ध स्वरूपमें चित्तको स्थिर करनेका प्रयत्न एकदम या एक-ही जन्ममें नहीं होगा, परंतु कर्मयोगके समान भक्ति-मार्गमेंभी कोई बात निष्फल नहीं होती। स्वयं भगवान् सब लोगोंको इस प्रकार भरोसा देते हैं :–

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

जब कोई मनुष्य एक बार भक्ति-मार्गसे चलने लगता है, तब इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें, अगले जन्ममें नहीं तो उसके आगेके जन्ममें, कभी-न-कभी, उसको परमेश्वरके स्वरूपका ऐसा यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है, कि "यह सब वासुदेवात्मकही है;" और इन ज्ञानसे अंतमें उसे मुक्तिभी मिल जाती है (गीता ७. १९)। छठे अध्यायमेंभी इसी प्रकार कर्मयोगका अभ्यास करनेवालेके विषयमें कहा गया है, कि "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" (गीता ६. ४५) और भक्ति-मार्गके लिये यही नियम उपयुक्त होता है। भक्तको चाहिये, कि वह जिस देवका भाव प्रतीकमें रखना चाहे, उसके स्वरूपको अपने देह-स्वभावके अनुसार पहलेहीसे यथाशक्ति शुद्ध मानकर आरंभ करे। कुछ समयतक इसी भावनाका फल परमेश्वर (प्रतीक नहीं) दिया करता है (गीता ७. २२)। परंतु इसके आगे चित्त-शुद्धिके लिये किसी अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं रहती। यदि परमेश्वरकी यही भक्ति यथामति हमेशा जारी रहे, तो भक्तके अंतःकरणकी भावना आप-ही-आप उन्नत हो जाती है और फिर परमेश्वरसंबंधी ज्ञानकी वृद्धिभी होने लगती है एवं अंतमें मनकी ऐसी अवस्था हो जाती है कि "वासुदेवः सर्वम्"– उपास्य और उपासकका भेदभाव शेष नहीं रह जाता; और अंतमें शुद्ध ब्रह्मानंदमें आत्माका लय हो जाता है। मनुष्यको चाहिये, कि वह अपने प्रयत्नकी मात्राको कभी कम न करे। सारांश यह है, कि जिस प्रकार किसी मनुष्यके मनमें कर्मयोगकी केवल जिज्ञासा उत्पन्न होतेही वह धीरे धीरे पूर्ण सिद्धिकी ओर आप-ही-आप आकर्षित हो जाता है (गीता ६. ४४); उसी प्रकार गीता-धर्मका यह सिद्धान्त है, कि भक्ति-मार्गमें जब कोई भक्त एक बार अपने तईं ईश्वरको सौंप देता है, तो स्वयं भगवानही उसकी निष्ठाको बढ़ाते चले जाते हैं; और अंतमें उसे अपने यथार्थ स्वरूपका पूर्ण ज्ञानभी करा देते हैं (गीता ७. २१; १०. १०)। इसी ज्ञानसे – न कि केवल कोरी और अंध श्रद्धासे – भगवद्भक्तको अंतमें पूर्ण सिद्धि मिल जाती है। भक्तिमार्गसे इस प्रकार ऊपर चढ़ते चढ़ते अंतमें जो स्थिति प्राप्त होती है, वह और ज्ञान-मार्गसे प्राप्त होनेवाली अंतिम स्थिति, दोनों एकही समान हैं, इसलिये गीताको पढ़नेवालोंके ध्यानमें यह बात सहजही आ जायगी, कि बारहवें अध्यायमें भक्तिमान् पुरुषकी अंतिम स्थितिका जो वर्णन किया गया है, वह दूसरे

अध्यायमें किये गये स्थितप्रज्ञके वर्णनहीके समान है। इससे यह बात प्रकट होती है, कि यद्यपि आरंभमें ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग भिन्न हों, और यदि कोई अपने अधिकार-भेदके कारण ज्ञान-मार्गसे या भक्ति-मार्गसे चलने लगता है, तोभी अंतमें ये दोनों मार्ग एकत्र मिल जाते हैं, और जो गति ज्ञानीको प्राप्त होती है, वही गति भक्तकोभी मिला करती है। इन दो मार्गोंमें भेद सिर्फ़ इतनाही है, कि ज्ञान-मार्गमें आरंभहीसे बुद्धिके द्वारा परमेश्वर-स्वरूपके आकलन करना पड़ता है; भक्ति-मार्गमें यही तो ज्ञान श्रद्धाकी सहायतासे ग्रहणकर लिया जाता है। परंतु यह प्राथमिक भेद आगे नष्ट हो जाता है; और भगवान् स्वयं कहते हैं, कि :-

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांति अचिरेणाधिगच्छति ।।

"जब श्रद्धावान् मनुष्य इंद्रियनिग्रह-द्वारा ज्ञान-प्राप्तिका प्रयत्न करने लगता है; तब उसे ब्रह्मात्मैक्यरूप-ज्ञानका प्रत्यक्ष अनुभव होता है; और फिर उस ज्ञानसे उसे शीघ्रही पूर्ण शांति मिलती है" (गीता ४. ३९)। अथवा –

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।*

"मेरे (याने परमेश्वरके) स्वरूपका तात्त्विक ज्ञान भक्तिसे होता है; और जब यह ज्ञान हो जाता है, तब (पहले नहीं); भक्त मुझमें आ मिलता है" (गीता १८. ५५; ११. ५४) परमेश्वरका पूरा ज्ञान होनेके लिये इन दो मार्गोंके सिवा कोई तीसरा मार्ग नहीं है। इसलिये गीतामें यह बात स्पष्ट रीतिसे कह दी गई है, कि जिसे न तो स्वयं अपनी बुद्धि है और न श्रद्धाभी, उसका सर्वथा नाशही समझिये – "अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति" (गीता. ४. ४०)।

ऊपर कहा गया है, कि श्रद्धा और भक्तिसे अंतमें पूर्ण ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान प्राप्त होता है। इसपर कुछ तार्किकोंका यह आक्षेप है, कि यदि भक्तिमार्गका प्रारंभ इस द्वैतभावसेही किया जाता है, कि उपास्य भिन्न है और उपासकभी भिन्न है, तो अंतमें ब्रह्मात्मैक्यरूप अद्वैत ज्ञान कैसे होगा? परंतु यह आक्षेप केवल भ्रांतिमूलक है। यदि ऐसे तार्किकोंके कथनका सिर्फ इतना अर्थ हो, कि ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानके होनेपर भक्तिका प्रवाह रुक जाता है, तो उसमें कुछ आपत्ति दीख नहीं पड़ती। क्योंकि अध्यात्मशास्त्रकाभी यही सिद्धान्त है, कि जब उपास्य, उपासक और उपासनारूपी

---

* इस श्लोकके 'अभि' उपसर्गपर जोर देकर शांडिल्यसूत्रमें (सू. १५) यह दिखलानेका प्रयत्न किया गया है, कि भक्ति ज्ञानका साधन नहीं है; किंतु वह स्वतंत्र साध्य या निष्ठा है। परंतु यह अर्थ अन्य सांप्रदायिक अर्थोंके समान आग्रहका है – सरल नहीं है।

त्रिपुटीका लय हो जाता है; तब वह व्यापार बंद हो जाता है, जिसे व्यवहारमें भक्ति कहते हैं। परंतु यदि उक्त आक्षेपका यह अर्थ हो, कि द्वैतमूलक भक्ति-मार्गसे अंतमें अद्वैत-ज्ञान होही नहीं सकता; तो यह आक्षेप न केवल तर्कशास्त्रकी दृष्टिसे किंतु बड़े बड़े भगवद्भक्तोंके अनुभवके आधारसेभी मिथ्या सिद्ध हो सकता है। तर्कशास्त्रकी दृष्टिसे इस बातमें कुछ रुकावट नहीं दीख पड़ती, कि परमेश्वर-स्वरूपमें किसी भक्तका चित्त ज्यों ज्यों अधिकाधिक स्थिर होता जावें, त्यों त्यों उसके मनसे भेदभावभी छूटता चला जावे। ब्रह्म-सृष्टिमेंभी हम यही देखते हैं कि यद्यपि आरंभमें पारेकी बूँदे भिन्न भिन्न होती हैं; तथापि आपसमें मिल-कर उनके एकत्र होजानेमें कोई रुकावट नहीं आती। इसी प्रकार अन्य पदार्थोंमेंभी एकीकरणकी क्रियाका आरंभ प्राथमिक भिन्नताहीसे हुआ करता है; और भृंगी-कीटका दृष्टान्त तो सब लोगोंको विदितही है। परंतु इस विषयमें तर्कशास्त्रकी अपेक्षा साधुपुरुषोंके प्रत्यक्ष अनुभवकोही अधिक प्रामाणिक समझना चाहिये। अतः भगवद्भक्त-शिरोमणि तुकाराम महाराजका अनुभव हमारे लिये विशेष महत्त्वका है। सब लोग जानते हैं, कि, तुकाराम महाराजको कुछ उप-निषदादि ग्रंथोंके अध्ययनसे अध्यात्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था; तथापि उनकी गाथामें लगभग साढ़ेतीनसौ 'अभंग' अद्वैत-स्थितिके वर्णनमें कहे गये हैं, और इन सब अभंगोंमें "वासुदेवः सर्वम्" (गीता ७. १९) का भाव प्रतिपादित किया गया है; अथवा बृहदारण्यकोपनिषदमें जैसे याज्ञवल्क्यने 'सर्वमात्मैवाभूत्' कहा है, वैसेही अर्थका प्रतिपादन स्वानुभवसे किया गया है। उदाहरणके लिये उनके एक अभंगका (तु. गा. ३६२७) आशय देखिये :–

गुड़-सा मीठा है भगवान् बाहर-भीतर एक समान।
किसका ध्यान करूँ सविवेक ? जलतरंगसे है हम एक ॥

इसके आरंभका उल्लेख हमने पहलेही अध्यात्म-प्रकरणमें किया है; और वहाँ यह दिखलाया है, कि उपनिषदोंमें वर्णित ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे उसके अर्थकी किस तरह पूरी समता है। जब कि स्वयं तुकाराम महाराज अपने अनुभवसे भक्तोंकी परमा-वस्थाका वर्णन इस प्रकार कर रहे हैं, तब यदि कोई तार्किक यह कहनेका साहस करे, कि "भक्तिमार्गसे अद्वैतज्ञान हो नहीं सकता" अथवा देवताओंका केवल अंधविश्वास करनेसेही मोक्ष मिल जाता है, उसके लिये ज्ञानकी कोई आवश्यकता नहीं, तो इसे आश्चर्यही समझना चाहिये।

भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्गका अंतिम साध्य एकही है; और "परमेश्वरके अनुभवात्मक ज्ञानसेही अंतमें मोक्ष मिलता है," यह सिद्धान्त दोनों मार्गोंमें एक-ही-सा बना रहता है। यही क्यों; बल्कि अध्यात्म-प्रकरणमें और कर्मविपाक प्रकरणमें पहले जो और सिद्धान्त बतलाये गये हैं; वेभी सब गीताके भक्ति-मार्गमें स्थिर रहते

हैं। उदाहरणार्थ, भागवत धर्ममें कुछ लोग इस प्रकार चतुर्व्यूहरूपी सृष्टिकी उत्पत्ति बतलाया करते हैं, कि वासुदेवरूपी परमेश्वरसे संकर्षणरूपी जीव उत्पन्न हुआ; और फिर संकर्षणसे प्रद्युम्न अर्थात् मन तथा प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध अर्थात् अहंकार हुआ। दूसरे कुछ लोग तो इन चार व्यूहोंमेंसे तीन, दो या एक वासुदेवहीको मानते हैं – परंतु जीवकी उत्पत्तिके विषयमें ये मत सच नहीं है। उपनिषदोंके आधारपर वेदान्त सूत्रमें (वे. सू. २. ३. १७; २. २. ४२–४५) निश्चय किया गया है, कि अध्यात्म-दृष्टिसे जीव सनातन परमेश्वरहीका सनातन अंश है। इसलिये भगवद्गीतामें केवल भक्ति-मार्गकी उक्त चतुर्व्यूहसंबंधी कल्पना छोड़ दी गई है; और जीवके विषयमें वेदान्त-सूत्रकारोंका उपयुक्त सिद्धान्त दिया गया है (गीता २. २४; ८. २०; १३. २२; १५. ७)। इससे यही सिद्ध होता होता है, कि वासुदेवभक्ति और कर्मयोग ये दोनों तत्त्व गीतामें यद्यपि भागवत धर्मसेही लिये गये हैं, तथापि क्षेत्ररूपी जीव और परमेश्वरके स्वरूपके विपयमें अध्यात्मज्ञानसे भिन्न किन्हीं और ऊटपटाँग कल्पनाओंको गीतामें स्थान नहीं दिया गया है। अब यद्यपि गीतामें भक्ति और अध्यात्म अथवा श्रद्धा और ज्ञानका पूरा पूरा मेल रखनेका प्रयत्न किया गया है, तथापि यह स्मरण रहे, कि जब अध्यात्मशास्त्रके सिद्धान्त भक्ति-मार्गमें लिये जाते हैं, तब उनमें कुछ-न-कुछ शब्दभेद अवश्य करना पड़ता है; और गीतामें ऐसा भेद किया भी गया है। ज्ञान-मार्गके और भक्ति-मार्गके इस शब्दभेदके कारण कुछ लोगोंने भूलसे समझ लिया है, कि गीतामें जो सिद्धान्त कभी भक्तिकी दृष्टिसे और कभी ज्ञानकी दृष्टिसे कहे गये हैं, उनमें परस्पर विरोध है; अतएव उतने भरके लिये गीता असंबद्ध है। परंतु हमारे मतसे यह विरोध वस्तुतः सच नहीं हैं; और हमारे शास्त्रकारोंने अध्यात्म तथा भक्तिमें जो मेल कर दिया है, उसकी ओर ध्यान न देनेसेही ऐसे विरोध दिखाई दिया करते हैं। इसलिये यहाँ इस विपयका कुछ अधिक स्पष्टीकरण कर देना चाहिये। अध्यात्मशास्त्रका सिद्धान्त है, कि पिंड और ब्रह्मांडमें एक-ही आत्मा नाम-रूपसे आच्छादित है, इसलिये अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिसे हम लोग कहा करते हैं, कि "जो आत्मा मुझमें है, वही प्राणियोंमेंभी है" – "सर्वभूतस्थ-मात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" (गीता ६. २९) अथवा "यह सब आत्माही है" – "इदं सर्वमात्मैव"। परंतु भक्ति-मार्गमें अव्यक्त परमेश्वरहीको व्यक्त परमेश्वरका स्वरूप प्राप्त हो जाता है, अतएव अब उक्त सिद्धान्तके बदले गीतामें यह वर्णन पाया जाता है, कि "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति" – मैं (भगवान्) सब प्राणियोंमें हूँ; और सब प्राणी मुझमें हैं (गीता ६. २९); "अथवा वासुदेवः सर्वमिति" जो कुछ है, वह सब वासुदेवमय है (गीता ७. १९); अथवा "येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि" – ज्ञान हो जानेपर तू सब प्राणियोंको मुझमें और स्वयं अपनेमेंभी देखेगा (गीता ४. ३५)। इसी कारणसे भागवत-पुराणमेंभी भगवद्गीताका यह लक्षण इस प्रकार कहा गया है :–

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ।।

" जो अपने मनमें यह भेदभाव नहीं रखता, कि मैं अलग हूँ; भगवान् अलग हैं; और सब लोग भिन्न हैं; किंतु जो सब प्राणियोंके विषयमें यह भाव रखता है, कि भगवान् और मैं दोनों एक हूँ; और जो यह समझता है, कि सब प्राणी भगवानमें और मुझमेंभी हैं, वही सब भागवतोंमें श्रेष्ठ है " (भाग. ११. २. ४५; ३. २४. ४६)। इससे दीख पड़ेगा, कि अध्यात्मशास्त्रके 'अव्यक्त परमात्मा' शब्दोंके बदले 'व्यक्त परमेश्वर' शब्दोंका प्रयोग किया गया है – यही सब भेद हुआ है। अध्यात्मशास्त्रमें यह बात युक्तिवादसे सिद्ध हो चुकी है, कि परमात्माके अव्यक्त होनेके कारण सारा जगत् आत्ममय हैं। परंतु भक्ति-मार्ग प्रत्यक्ष अवगम्य है, इसलिये परमेश्वरकी अनेक व्यक्त विभूतियोंका वर्णन करके और अर्जुनको दिव्य-दृष्टि देकर प्रत्यक्ष विश्वरूप-दर्शनसे इस बातकी साक्षात्प्रतीति करा दी है, कि सारा परमेश्वरमय जगत् (आत्ममय) है (गीता अ. १०, ११)। अध्यात्मशास्त्रमें कहा गया है, कि कर्मका क्षय ज्ञानसे होता है, परंतु भक्ति-मार्गका यह तत्त्व है, कि सगुण परमेश्वरके सिवा इस जगत्में और कुछ नहीं है – वही ज्ञान है, वही कर्म है, वही ज्ञाता है, वही करनेवाला, करानेवाला और फल देनेवालाभी है। अतएव संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण इत्यादि कर्मभेदोंकी झंझटमें न पड़, भक्तिमार्गके अनुसार यह प्रतिपादन किया जाता है, किकर्म करनेकी बुद्धि देनेवाला, कर्मका फल देनेवाला और कर्मका क्षय करनेवाला एक परमेश्वरही है। उदाहरणार्थ, तुकाराम महाराज (तु. गा. ४९०) एकान्तमें ईश्वरकी प्रार्थना करके स्पष्टतासे पर प्रेमपूर्वक कहते हैं –:

एक बात एकान्तमें सुन लो, जगदाधार ।
तारें मेरे कर्म तो प्रभुका क्या उपकार ? ।।

यही भाव अन्य शब्दोंमें दूसरे स्थानपर इस प्रकार व्यक्त किया गया है, कि " प्रारब्ध, क्रियमाण और संचितका झगड़ा भक्तोंके लिये नहीं है। देखो; सब कुछ ईश्वरही है, जो भीतर-बाहर सर्व-व्याप्त है " (तु. गा. १०२३)। भगवद्गीताने यही कहा है, कि " ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति " (गीता. १८. ६१) – ईश्वरही सब लोगोंके हृदयमें निवास करके उनसे यंत्रके समान सब कर्म करवाता है। कर्म-विपाक-प्रक्रियामें सिद्ध किया गया है, कि ज्ञानकी प्राप्ति कर लेनेके लिये आत्माको पूरी स्वतंत्रता है; परंतु उसके बदले भक्ति-मार्गमें यह कहा जाता है, कि इस बुद्धिका देनेवाला परमेश्वरही है – " तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् " (गीता ७. २१), अथवा " ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्तिते " (गीता १०. १०)। ऐसे बारह वर्णन किये गये हैं। इसी प्रकार संसारके सब कर्म परमेश्वरकीही सत्तासे हुआ करते हैं, इसलिये भक्ति-मार्गमें यह वर्णन पाया जाता है, कि वायुभी उसीके भयसे चलती है; और सूर्य तथा चंद्रभी उसीकी शक्तिसे चलते है (कठ. ६. ३;

वृ. ३. ८. ९)। अधिक क्या कहा जाय; उसकी इच्छाके विना पेड़का एक पत्तातक नहीं हिलता। यही कारण है, कि भक्तिमार्गमें यह कहते हैं, कि मनुष्य केवल निमित्तमात्रहीके लिये सामने रहता है (गीता ११. ३३); और उसके सब व्यवहार परमेश्वरही उसके हृदयमें निवास कर उससे कराया करता है। साधु तुकाराम (तु. गा. २३१०. ४) कहते हैं, कि "यह प्राणी केवल निमित्तहीके लिये स्वतंत्र है; मेरा मेरा' कहकर व्यर्थही यह अपना नाशकर लेता है।" इस जगतके व्यवहार और सुस्थितिको स्थिर रखनेके लिये सभी लोगोंको कर्म करना चाहिये। परंतु ईशावास्योपनिषद्का जो यह तत्त्व है – कि जिस प्रकार अज्ञानी लोक किसी कर्मको 'मेरा' कहकर किया करते हैं, वैसे न कर ज्ञानी पुरुषको ब्रह्मार्पणबुद्धिसे सब कर्म मृत्युपर्यंत करते रहना चाहिये, उक्त उपदेशका सारांश है। यही उपदेश भगवानने अर्जुनको इस श्लोकमें किया है :–

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।

अर्थात् "जो कुछ तू करेगा, खायेगा, हवन करेगा, देगा या तप करेगा, वह सब मुझे अर्पण कर" (गीता ९. २७); इससे तुझे कर्मकी बाधा नहीं होगी। भगवद्गीताका यही श्लोक शिवगीतामें (१४. ४५) पाया जाता है; और भागवतके इस श्लोकमेंभी उसी अर्थका वर्णन है :–

कायेन वाचा मनसेंद्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ।।

"काया, वाचा, मन, इंद्रिय, बुद्धि या आत्माकी प्रवृत्तिसे अथवा स्वभावके अनुसार जो कुछ हम किया करते हैं, वह सब परात्पर नारायणको सपर्मण कर दिया जावें" (भाग. ११. २. ३६)। सारांश यह है, कि अध्यात्मशास्त्रमें जिसे ज्ञान-कर्म-समुच्चय पक्ष, फलाशात्याग अथवा ब्रह्मार्पणपूर्वक कर्म कहते हैं (गीता ४. २४; ५. १०; १२. १२), उसीको भक्ति-मार्गमें 'कृष्णार्पणपूर्वक कर्म' यह नया नाम मिल जाता है। भक्ति-मार्गवाले भोजनके समय 'गोविंद, गोविंद' कहा करते हैं; उसका रहस्य इस कृष्णार्पण-बुद्धिमेंही है। ज्ञानी जनकने कहा है, कि हमारे सब व्यवहार लोगोंके उपयोगके लिये निष्काम-बुद्धिसे हो रहे हैं; और भगवद्भक्तभी खाना, पीना, इत्यादि अपना सब व्यवहार कृष्णार्पण-बुद्धिसेही किया करते हैं। उद्यापन, ब्राह्मण-भोजन अथवा अन्य इष्टापूर्त कर्म करनेपर अंतमें 'इदं कृष्णार्पणमस्तु' अथवा 'हरिर्दाता हरिर्भोक्ता' कहकर पानी छोड़नेकी जो रीति है, उसका मूल तत्त्वभी भगवद्गीताके उक्त श्लोकमें हैं। यह सच है, कि जिस प्रकार बालियोंके न रहनेपरभी कानोंके छेद मात्र बाकी रह जाय, उसी प्रकार वर्तमान समयमें उक्त संकल्पकी दशा हो गई है, क्योंकि पुरोहित उस संकल्पके सच्चे अर्थको न समझकर

सिर्फ़ तोतेकी नाई उसे पढ़ा करता है; और यजमान वहिरेकी नाई पानी छोड़नेकी कवायत किया करता है! परंतु विचार करनेसे मालूम होता है, कि इसकी जड़में कर्म-फलाशाको छोड़कर कर्म करनेका तत्त्व है; और इसकी हँसी करनेसे शास्त्रमें तो कुछ दोष न ीं आता; किंतु हँसी करनेवालेका अज्ञानही प्रकट होता है। यदि सारी आयुके कर्म – यहाँतक कि जिंदा रहनेकाभी कर्म – इस प्रकार कृष्णार्पण-बुद्धिसे अथवा फलाशाका त्यागकर किये जावें, तो पापवासना कैसे रह सकती है? और कुकर्म कैसे हो सकते हैं? फिर लोगोंके उपयोगके लिये कर्म करो; संसारकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करो; इत्यादि उपदेश करनेकी आवश्यकताही कहाँ रह जाती है? तब तो 'मैं' और 'लोग' इन दोनोंका समावेश परमेश्वरमें और परमेश्वरका समावेश इन दोनोंमें हो जाता है, इसलिये स्वार्थ और परार्थ दोनोंभी कृष्णार्पणरूपी परमार्थमें डूब जाते हैं; और तुकाराम महाराज जैसे महात्माओंकी यह उक्तिही चरितार्थ होती है, कि "संतोंकी विभूतियाँ जगतके कल्याणहीके लिये हुआ करती हैं; वे लोग परोपकारके लिये अपने शरीरको कष्ट दिया करते हैं।" पिछले प्रकरणमें युक्तिवादसे यह सिद्ध कर दिया गया है, कि जो मनुष्य अपने सब काम कृष्णार्पण-बुद्धिसे किया करता है, उसका 'योगक्षेम' किसी प्रकार रुक नहीं सकता; और भक्ति-मार्गवालोंको तो स्वयं भगवानने गीतामें आश्वासन दिया है, कि "तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्" (गीता ९. २२)। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि जिस प्रकार ऊँचे दर्जेके ज्ञानी पुरुषका कर्तव्य है, कि वह सामान्य जनोंमें बुद्धिभेद न करके उन्हें सन्मार्गमें लगावें (गीता ३. २६), उसी प्रकार परम श्रेष्ठकाभी यही कर्तव्य है, कि वह निम्न श्रेणीके भक्तोंकी श्रद्धाको भ्रष्ट न कर, उनके अधिकारके अनुसारही उन्हें उन्नतिके मार्गमें लगा देवे। सारांश, उक्त विवेचनसे यह मालूम हो जायगा, कि अध्यात्मशास्त्रमें और कर्म-विपाकमें जो सिद्धान्त कहे गये हैं, वे सब कुछ शब्दभेदसे भक्ति-मार्गमेंभी स्थिर रखे गये हैं; और ज्ञान तथा भक्तिमें इस प्रकार मेलकर देनेकी पद्धति हमारे यहाँ बहुत प्राचीन समयसे प्रचलित है।

परंतु जहाँ शब्दभेदसे अर्थके अनर्थ हो जानेका भय रहता है, वहाँ इस प्रकारसे शब्दभेदभी नहीं किया जाता; क्योंकि अर्थही प्रधान बात है। उदाहरणार्थ, कर्म-विपाक-प्रक्रियाका सिद्धान्त है, कि ज्ञान-प्राप्तिके लिये प्रत्येक मनुष्य स्वयं प्रयत्न करे; और अपना उद्धार आपही कर ले। यदि इसमें शब्दोंका कुछ भेद करके यह कहा जाय, कि यह कामभी परमेश्वरही करता है; तो मूढ जन आलसी हो जावेंगे। इसलिये "आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः" – आप-ही अपना शत्रु और आप-ही अपना मित्र है (गीता ६. ५) – यह तत्त्व भक्ति-मार्गमेंभी प्रायः ज्यों-का-त्यों अर्थात् शब्दभेद न करके बतलाया जाता है। साधु तुकारामके इस भावका उल्लेख पहले हो चुका है, कि "इससे किसीका क्या नुकसान हुआ? अपनी बुराई अपने हाथोंकर ली" (तु. गा. ४४४८)। इससेभी अधिक स्पष्ट शब्दोंमें उन्होंने

कहा है, कि " ईश्वरके पास कुछ मोक्षकी गठड़ी नहीं धरी है, कि वह किसीके हाथमें दे दे।। यहाँ तो इंद्रियोंको जीतना और मनको निर्विषय करनाही मुख्य उपाय है (तु. गा. ४२९७)। क्या यह उपनिषदोंके इस मंत्रके – " मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो: " के – समान नहीं है, जो पहले दसवें प्रकरणमें दिया जा चुका है। यह सच है, कि परमेश्वरही इस जगतकी सब घटनाओंका करने-करानेवाला है। परंतु उसपर निर्दयताका और पक्षपात करनेका दोष न लगाया जावे; इसलिये कर्म-विपाक-प्रक्रियामें जो यह सिद्धान्त कहा गया है, कि परमेश्वर प्रत्येक मनुष्यको उसके कर्मोंके अनुसार फल दिया करता है। वह सिद्धान्त इसी कारणसे. बिना किसी प्रकारका शब्दभेद कियेही भक्ति-मार्गमें ले लिया जाता है। इसी प्रकार यद्यपि उपासनाके लिये ईश्वरको व्यक्त मानना पड़ता है, तथापि अध्यात्मशास्त्रका यह सिद्धान्त-भी हमारे यहाँके भक्ति-मार्गमें कभी छूट नहीं जाता, कि जो कुछ व्यक्त है, वह सब माया है और सत्य परमेश्वर उसके परे है। पहले कह चुके हैं, कि इसी कारणसे गीतामें वेदान्तसूत्र-प्रतिपादित जीवका स्वरूपही स्थिर रखा गया है। मनुष्यके मनकी प्रत्यक्षकी ओर अथवा व्यक्तकी ओर झुकनेकी जो स्वाभाविक प्रवृत्ति हुआ करती है, उसमें और तत्त्वज्ञानके गहन सिद्धान्तोंमें मेलकर देनेकी वैदिक धर्मकी यह रीति किसीभी अन्य देशके लोगोंके भक्ति-मार्गमें दीख नहीं पड़ती। जब लोग एक बार परमेश्वरकी किसी सगुण विभूतिका स्वीकार कर व्यक्तका सहारा लेते हैं, तब उसीमें ऐसे आसक्त होकर फँस जाते हैं, कि उसके सिवा उन्हें और कुछ दीखही नहीं पड़ता; और उनके मनमें अपने अपने सगुण प्रतीकके विषयमें वृथाभिमान उत्पन्न हो जाता है। ऐसी अवस्थामें वे लोग यह मिथ्या भेद करनेका यत्न करने लगते हैं, कि तत्त्वज्ञानका मार्ग भिन्न है; और श्रद्धाका भक्ति-मार्ग भिन्न है। परंतु हमारे देशमें तत्त्वज्ञानका उदय बहुत प्राचीन कालमेंही हो चुका था, इसलिये गीता-धर्ममें श्रद्धा और ज्ञानका कुछभी विरोध नहीं है; बल्कि वैदिक ज्ञानमार्ग श्रद्धासे और वैदिक भक्ति-मार्ग ज्ञानसे, पुनीत हो गया है, अतएव मनुष्य किसीभी मार्गका स्वीकार क्यों न करे; अंतमें उसे एकही-सी सद्‌गति प्राप्त होती है। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं, कि अव्यक्त ज्ञान और व्यक्त भक्तिके मेलका यह महत्त्व केवल व्यक्त क्राइस्टमेंही लिपटे रहनेवाले धर्मके पंडितोंके ध्यानमें नहीं आ सका, और इसलिये उनकी एक-देशीय तथा तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे कोती नजरसे गीता-धर्ममें उन्हें विरोध दीख पड़ने लगा। परंतु आश्चर्यकी बात तो यही है, कि वैदिक धर्मके इस गुणकी प्रशंसा न कर हमारे देशके कुछ अनुकरणप्रेमी जन आजकल इसी गुणकी निंदा करते देखे जाते हैं! माघ काव्यका (१६. ४३) यह वचन इसी बातका एक अच्छा उदाहरण है, कि " अथ वाऽभिनिविष्टबुद्धिषु। व्रजति व्यर्थकतां सुभाषितम्! " – खोटी समझसे जब एक बार मन ग्रस्त हो जाता है, तब मनुष्यको अच्छी बातेंभी ठीक नहीं जँचती।

स्मार्तमार्गमें चतुर्थाश्रमका जो महत्त्व है, वह भक्ति-मार्गमें अथवा भागवत धर्ममें नहीं है। वर्णाश्रम-धर्मका वर्णन भागवत धर्ममेंभी किया जाता है; परंतु उस धर्मका सारा आधार भक्तिपरही होता है, इसलिये जिसकी भक्ति उत्कट हो, वही सबसे श्रेष्ठ माना जाता है – फिर चाहे वह गृहस्थ हो, वानप्रस्थ या बैरागी हो; इसके विषयमें भागवत धर्ममें कुछ विधिनिषेध नहीं है (भा. ११. १८. १३, १४)। संन्यास-आश्रम स्मार्त-धर्मका एक आवश्यक भाग है, भागवत धर्मका नहीं। परंतु ऐसा कोई नियम नहीं, कि भागवत धर्मके अनुयायी कभी विरक्त न हों; और गीतामेंही कहा है, कि संन्यास और कर्मयोग ये दोनों मोक्षकी दृष्टिसे समान योग्यताके हैं। इसलिये यद्यपि चतुर्थाश्रमका स्वीकार न किया जावे, तथापि सांसारिक कर्मोंको छोड़ बैरागी हो जानेवाले पुरुष भक्ति-मार्गमेंभी पाये जा सकते हैं। यह बात पूर्व समयसेही कुछ कुछ चली आ रही है। परंतु उस समय इन लोगोंको प्रभुता न थी; और ग्यारहवें प्रकरणमें यह बात स्पष्ट रीतिसे बतला दी गई है, कि भगवद्गीतामें कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्मयोगहीको अधिक महत्त्व दिया गया है। कालांतरसे कर्मयोगका यह महत्त्व लुप्त हो गया; और वर्तमान समयमें भागवत धर्मीय लोगोंकोभी यही समझ हो गई है, कि भगवद्भक्त वही है, कि जो सांसारिक कर्मोंको छोड़, विरक्त होकर केवल भक्तिमेंही निमग्न हो जावे। इसलिये यहाँ भक्तिकी दृष्टिसे फिरभी कुछ थोड़ा-सा विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है, कि इस विषयमें गीताका मुख्य सिद्धान्त और सच्चा उपदेश क्या है? भक्ति-मार्गका अथवा भागवत धर्मका ब्रह्म स्वयं सगुण भगवानही है। यदि येही भगवान् स्वयं सारे संसारके कर्ता-धर्ता हैं, और साधुजनोंकी रक्षा करने तथा दुष्टजनोंको दंड देनेके लिये समय समयपर अवतार लेकर इस जगतका धारण-पोषण किया करते हैं, तो यह कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि भगवद्भक्तोंकोभी लोकसंग्रहके लिये उन्हीं भगवानका अनुकरण करना चाहिये। हनुमानजी रामचंद्रके बड़े भक्त थे; परंतु उन्होंने रावण आदि दुष्टजनोंका निर्दलन करनेका काम कुछ छोड़ नही दिया था। भीष्मपितामहकी गणनाभी परम भगवद्भक्तोंमें की जाती है; परंतु यद्यपि वे स्वयं मृत्युपर्यंत ब्रह्मचारी रहे, तथापि उन्होंने स्वधर्मानुसार स्वकीयोंकी और राज्यकी रक्षा करनेका काम अपने जीवनभर जारी रखा था। यह बात सच है, कि जब भक्तिके द्वारा परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त हो गया हो, तब भक्तको स्वयं अपने हितके लिये कुछ प्राप्त कर लेना शेष नहीं रह जाता। परंतु प्रेममूलक भक्ति-मार्गसे दया, करुणा, कर्तव्य-प्रीति इत्यादि श्रेष्ठ मनोवृत्तियोंका नाश नहीं हो सकता; बल्कि वे औरभी अधिक शुद्ध हो जाती हैं। ऐसी दशामें यह प्रश्नही नहीं उठ सकता, कि कर्म करें या न करें? वरन् भगवद्भक्त तो वही है, कि जिसके मनमें ऐसा अभेदभाव उत्पन्न हो जाय :–

जिसका कोई न हो हृदयसे उसे लगावे,
प्राणिमात्रके लिये प्रेमकी ज्योति जगावे।

सबमें विभुको व्याप्त जान सबको अपनावे,
है बस ऐसा वही भक्तकी पदवी पावे ।

ऐसी अवस्थामें स्वभावतः उन लोगोंकी वृत्ति लोकसंग्रहीके अनुकूल हो जाती है, जैसा कि ग्यारहवें प्रकरणमें कह चुके हैं – "संतोंकी विभूतियाँ जगतके कल्याणहीके लिये हुआ करती हैं । वे लोक परोपकारके लिये अपने शरीरको कष्ट दिया करते हैं ।" जब यह मान लिया, कि परमेश्वरही इस सृष्टिको उत्पन्न करता है, और उसके सब व्यवहारोंकोभी किया करता है; तब यह अवश्यही मानना पड़ेगा, कि उसी सृष्टिके व्यवहारोंको सरलतासे चलानेके लिये चातुर्वर्ण्य आदि जो व्यवस्थाएँ हैं, वे उसीकी इच्छासे निर्मित हुई हैं । गीतामेंभी भगवानने स्पष्ट रीतिसे यही कहा है, कि "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः" (गीता ४. १३) । अर्थात् यह परमेश्वरहीकी इच्छा है, कि प्रत्येक मनुष्य अपने अपने अधिकारके अनुसार समाजके इन कामोंको लोकसंग्रहके लिये करता रहे । इसीसे आगे यहभी सिद्ध होता है, कि सृष्टिके जो व्यवहार परमेश्वरकी इच्छासे चल रहे हैं, उनका एक-आध विशेष भाग किसी मनुष्यके द्वारा पूरा करानेके लियेही परमेश्वर उसको उत्पन्न किया करता है; और यदि परमेश्वर-द्वारा नियत किया गया उसका यह काम मनुष्य न करे, तो परमेश्वरहीकी अवज्ञा करनेका पाप उसे लगेगा । यदि तुम्हारे मनमें यह अहंकार-बुद्धि जागृत होगी, कि ये काम मेरे हैं अथवा मैं उन्हें अपने स्वार्थके लिये करता हूँ; तो उन कर्मोंके भले-बुरे फल तुम्हें अवश्य भोगने पड़ेंगे । परंतु यदि तुम इन्हीं कर्मोंको केवल स्वधर्म जानकर परमेश्वरार्पणपूर्वक इस भावसे करोगे, कि "परमेश्वरके मनमें जो कुछ करना है, उसके लिये मुझे निमित्त करके वह मुझसे काम कराता है" (गीता ११. ३३); तो उसमें कुछ अनुचित या अयोग्य नहीं । बल्कि गीताका यह कथन है, कि इस स्वधर्माचरणसेही सर्वभूतान्तर्गत परमेश्वरकी सात्त्विक भक्ति हो जाती है । भगवानने अपने सब उपदेशोंका तात्पर्य गीताके अंतिम अध्यायमें उपसंहाररूपसे अर्जुनको इस प्रकार बतलाया है, कि "सब प्राणियोंके हृदयमें निवास करके परमेश्वरही उन्हें यंत्रके समान नचाता है; इसलिये ये दोनों भावनाएँ मिथ्या हैं, कि मैं अमुक कर्मको छोड़ता हूँ या अमुक कर्मको करता हूँ । फलाशाको छोड सब कर्म कृष्णार्पण-बुद्धिसे करते रहो । यदि तू ऐसा निग्रह करेगा, कि मैं इन कर्मोंको नहीं करता; तोभी प्रकृतिधर्मके अनुसार तुझे उन कर्मोंको करनाही होगा । अतएव परमेश्वरमें अपने सब स्वार्थोंका लय करके स्वधर्मानुसार प्राप्त व्यवहारको परमार्थ-बुद्धिसे और वैराग्यसे लोकसंग्रहके लिये तुझे अवश्य करनाही चाहिये; मैंभी यही करता हूँ; मेरे उदाहरणको देख और उसके अनुसार वर्ताव कर ।" जैसे ज्ञानका और निष्काम कर्मका विरोध नहीं, वैसेही भक्तिमें और कृष्णार्पण-बुद्धिसे किये गये कर्मोंमेंभी विरोध उत्पन्न नहीं होता । महाराष्ट्रके प्रसिद्ध भगवद्भक्त तुकाराम महाराजभी भक्तिके द्वारा परमेश्वरके "अणोरणीयान् महतो महीयान्" (कठ. २. २०; गीता ८.९) –

परमाणुसेभी छोटा और बड़ेसेभी बड़ा – ऐसे स्वरूपके साथ अपने तादात्म्यका वर्णन करके कहते हैं, कि "अब मैं केवल परोपकारहीके लिये बचा हूँ।" उन्होंने संन्यास-मार्गके अनुयायियोंके समान यह नहीं कहा, कि अब मेरा कुछभी काम शेष नहीं है (तु. गा. ३५८७)। बल्कि वे कहते हैं, कि "भिक्षापात्रका अवलंबन करना लज्जास्पद जीवन है, वह नष्ट हो जावे। नारायण ऐसे मनुष्यकी सर्वथा उपेक्षाही करता है।" (तु. गा. २५९५)। अथवा "सत्यवादी मनुष्य संसारके सब काम करता है; परंतु जलमें कमलपत्रके समान उनसे अलिप्त रहता है। जो उपकार करता है और प्राणियोंपर दया करता है, उसीमें आत्मस्थितिका निवास जानो" (तु. गा. ३७८०. २, ३)। इन वचनोंसे साधु तुकारामका इस विषयमें स्पष्ट अभिप्राय व्यक्त हो जाता है। यद्यपि तुकाराम महाराज संसारी थे, तथापि उनके मनका झुकाव कुछ कर्मत्यागहीकी ओर था। परंतु प्रवृत्तिप्रधान भागवत धर्मका लक्षण अथवा गीताका सिद्धान्त यह है, कि उत्कट भक्तिके साथ साथ मृत्युपर्यंत ईश्वरार्पणपूर्वक निष्काम कर्म करतेही रहना चाहिये; और यदि कोई इस सिद्धान्तका पूरा पूरा स्पष्टीकरण देखना चाहे, तो उसे श्रीसमर्थ रामदासस्वामीके दासबोध ग्रंथको ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये (स्मरण रहे, कि साधु तुकारामनेही शिवाजी महाराजको जिन 'सद्गुरुकी शरण' में जानेको कहा था, उन्हींका यह प्रासादिक ग्रंथ है)। रामदासस्वामीने अनेक बार कहा है, कि भक्तिके द्वारा अथवा परमेश्वरके शुद्ध-स्वरूपको पहचान कर जो सिद्ध-पुरुष कृतकृत्य हो चुके हैं, वे "सब लोगोंको 'सयाना' बनानेके लिये" (दास. १९. १०. १४) जिस प्रकार निःस्पृहतासे अपना काम यथाधिकार किया करते हैं, उसे देखकर साधारण लोकभी अपना अपना व्यवहार करना सीखें; क्योंकि "बिना किये कुछभी नहीं होता" (दास. १९. १०. २५; १२. ९. ६; १८. ७. ३); और अंतिम दशकमें (दास. २०. ४. २६) उन्होंने कर्मकी सामर्थ्यका भक्तिकी तारक शक्तिके साथ पूरा पूरा मेल इस प्रकार कर दिया है :–

हलचलमें सामर्थ्य है। जो करेगा वही पावेगा।
परंतु उसमें भगवानका। अधिष्ठान चाहिये ।।

गीताके आठवें अध्यायमें अर्जुनको जो उपदेश किया गया है, कि "मामनुस्मर युध्य च" (गीता ८. ७) – नित्य मेरा स्मरण कर; और युद्ध कर – उसका तात्पर्य, और छठे अध्यायके अंतमें जो कहा है, कि "कर्मयोगियोंमें भक्तिमान् श्रेष्ठ है" (गीता ६. ४७) उसकाभी तात्पर्य वही है, कि जो रामदासस्वामीके उक्त वचनमें है। गीताके अठारहवें अध्यायमेंभी भगवानने यही कहा है :–

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।

"जिसने इस सारे जगत्को उत्पन्न किया है, उसकी अपने स्वधर्मानुरूप निष्काम कर्माचरणसे (न कि केवल वाचासे अथवा पुष्पोंसे) पूजा करके मनुष्य सिद्धि

पाता है" (गीता १८. ४६)। अधिक क्या कहें, इस श्लोकका और समस्त गीता-काभी भावार्थ यही है, कि स्वधर्मानुरूप निष्काम कर्म करनेसे सर्वभूतान्तर्गत विराट-रूपी परमेश्वरकी एक प्रकारकी भक्ति, पूजा या उपासनाही हो जाती है। ऐसा कहनेसे, कि "अपने धर्मानुरूप कर्मोंमें परमेश्वरकी पूजा करो," यह नहीं समझना चाहिये, कि "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः" इत्यादि नवविधा भक्ति गीताको मान्य नहीं। परंतु गीताका कथन है, कि कर्मोंको गौण समझकर उन्हें छोड़ देना और इस नव-विधा भक्तिमेंही बिलकुल निमग्न हो जाना उचित नहीं है, शास्त्रतः प्राप्त अपने सब कर्मोंको यथोचित रीतिसे अवश्य करनाही चाहिये। परंतु उन्हें 'स्वयं अपने लिये' समझकर नहीं, किंतु परमेश्वरका स्मरणकर इस निर्मम बुद्धिसे करना चाहिये, कि "ईश्वरनिर्मित सृष्टिके संग्रहार्थ उसीके ये सब कर्म हैं।" ऐसा करनेसे कर्मका लोप नहीं होगा; उलटे इन कर्मोंसेही परमेश्वरकी सेवा, भक्ति वा उपासना हो जायगी, और उन कर्मोंके पाप-पुण्यके भागी हम न होकर अंतमें पूर्ण सद्गतिभी मिल जायगी। गीताके इस सिद्धान्तपर ध्यान न देकर गीताके भक्ति-प्रधान टीकाकार अपने ग्रंथोंमें यह भावार्थ बतलाया करते हैं, कि गीतामें भक्तिहीको प्रधान माना है; और कर्मको गौण। परंतु संन्यासमार्गीय टीकाकारोंके समान भक्ति-प्रधान टीका-कारोंका यह तात्पर्यार्थभी एक-पक्षीय है। गीता-प्रतिपादित भक्ति-मार्ग कर्म-प्रधान है; और उसका मुख्य तत्त्व यह है, कि परमेश्वरकी पूजा न केवल पुष्पोंसे या वाचासेही होती है; किंतु वह स्वधर्मोक्त निष्काम कर्मोंसेभी होती है; और ऐसी पूजा प्रत्येक मनुष्यको अवश्य करनी चाहिये। जब कि कर्ममय भक्तिका यह तत्त्व गीताके समान अन्य किसीभी स्थानमें प्रतिपादित नहीं हुआ है, तब इसी तत्त्वको गीता-प्रतिपादित भक्ति-मार्गका विशेष लक्षण कहना चाहिये।

इस प्रकार कर्मयोगकी दृष्टिसे ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्गका पूरा पूरा मेल यद्यपि हो गया, तथापि ज्ञान-मार्गसे भक्ति-मार्गमें जो एक महत्त्वकी विशेषता है, उसकाभी अब अंतमें स्पष्ट रीतिसे वर्णन हो जाना चाहिये। यह तो पहलेही कह चुके हैं, कि ज्ञान-मार्ग केवल बुद्धिगम्य होनेके कारण अल्प बुद्धिवाले सामान्य जनोंके लिये क्लेशमय है; और भक्ति-मार्गके श्रद्धामूलक, प्रेमगम्य तथा प्रत्यक्ष होनेके कारण उसका आचरण करना सब लोगोंके लिये सुगम है। परंतु क्लेशके सिवा ज्ञान-मार्गमें एक औरभी अड़चन है। जैमिनीकी मीमांसा, या उपनिषद् और वेदान्त-सूत्रोंको देखें, तो मालूम होगा, कि उनमें श्रौत-यज्ञयाग आदिकी अथवा कर्म-संन्यासपूर्वक 'नेति नेति'-स्वरूपी परब्रह्मकीही चर्चा भरी पड़ी है; और अंतमें यही निर्णय किया है, कि स्वर्ग-प्राप्तिके लिये साधनभूत होनेवाले श्रौत यज्ञ-यागादिक कर्म करनेका अथवा मोक्ष-प्राप्तिके लिये आवश्यक उपनिषदादि वेदाध्ययन करनेका अधिकारभी पहले तीन वर्णोंके पुरुषोंको है (वे. सू. १. ३. ३४-३८)। इन ग्रंथोंमें इस बातका विचार नहीं किया गया है, कि उक्त तीन वर्णोंका, स्त्रियोंको अथवा चातुर्वर्ण्यके अनुसार सारे

समाजके हितके लिये खेती या अन्य व्यवसाय करनेवाले साधारण स्त्री-पुरुषोंको मोक्ष कैसे मिले। अच्छा; स्त्री-शूद्रादिकोंके साथ वेदोंकी ऐसी अनबन होनेसे यदि यह कहा जाय, कि उन्हें मुक्ति कभी मिलही नहीं सकती; तो उपनिषदों और पुराणोंमेंही ऐसे वर्णन पाये जाते हैं, कि गार्गी प्रभृति स्त्रियोंको और विदुर प्रभृतिको ज्ञानकी प्राप्ति होकर सिद्धि मिल गई थी (वे. सू. ३. ४. ३६–३९)। ऐसी दशामें यह सिद्धान्त नहीं किया जा सकता, कि सिर्फ़ पहले तीन वर्णोंके पुरुषोंहीको मुक्ति मिलती है; और यदि यह मान लिया जावे, कि स्त्री-शूद्र आदि सभी लोगोंको मुक्ति मिल सकती है; तो अब बतलाना चाहिये, कि उन्हें किस साधनसे ज्ञानकी प्राप्ति होगी। बादरायणाचार्य कहते हैं, कि 'विशेषानुग्रहश्च' (वे. सू. ३. ४. ३८) अर्थात् परमेश्वरका विशेष अनुग्रहही उनके लिये एक साधन है; और भागवतमें (भाग. १. ४. २५) कहा है, कि कर्म-प्रधान भक्ति-मार्गके रूपमें इसी विशेषानुग्रहात्मक साधनका "महाभारतमें और अतएव गीतामेंभी निरूपण किया गया है, क्योंकि स्त्रियों, शूद्रों या (कलियुगके) नामधारी ब्राह्मणोंके कानोंतक श्रुतिकी आवाज नहीं पहुँचती है।" इस मार्गसे प्राप्त होनेवाला ज्ञान और उपनिषदोंका ब्रह्मज्ञान – दोनों यद्यपि एकहीसे हों, तथापि अब स्त्री-पुरुषसंबंधी या ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रसंबंधी कोई भेद शेष नहीं रहता; और इस मार्गके विशेष गुणके बारेमें गीता कहती है, कि –

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।

"हे पार्थ ! स्त्री, वैश्य और शूद्र या अंत्यज आदि जो पाप-योनियोंमें उत्पन्न हुए हैं, मेरा आश्रय करके वेभी सब उत्तम गति पा जाते हैं" (गीता. ९. ३२)। यही श्लोक महाभारतके अनुगीतापर्वमेंभी आया है (मभा. अश्व. १९. ६१); और ऐसी कथाएँभी हैं, कि वनपर्वान्तर्गत ब्राह्मण-व्याध-संवादमें मांस बेचनेवाले व्याधने किसी ब्राह्मणको, तथा शांतिपर्वमें तुलाधारने अर्थात् बनियेने जाजलि नामक तपस्वी ब्राह्मणको, यह निरूपण सुनाया है, कि स्वधर्मके अनुसार निष्काम बुद्धिसे आचरण करनेही मोक्ष कैसे मिल जाता है (मभा. वन. २०६–२१४; शां. २६०–२६३) इससे प्रकट होता है, कि जिसकी बुद्धि सम हो जावे, वही श्रेष्ठ है, फिर चाहे वह सुनार हो, बढ़ई हो, बनिया हो या कसाई। किसी मनुष्यकी योग्यता उसके धंधेपर, व्यवसायपर या जातिपर, अवलंबित नहीं; किंतु सर्वथा उसके अंतःकरणकी शुद्धतापर अवलंबित होती है; और यही भगवानकाभी अभिप्राय है। इस प्रकार किसी समाजके सब लोगोंके लिये मोक्षके दरवाजे खुल जानेसे, उस समाजमें जो एक प्रकारकी विलक्षण जागृति उत्पन्न होती है, उसका स्वरूप महाराष्ट्रके भागवत धर्मके इतिहाससे भली भाँति दीख पड़ता है। परमेश्वरको क्या स्त्री, क्या चाण्डाल, क्या ब्राह्मण-सभी समान हैं; "देव भावका भूखा है" – न प्रतीकका, न

कालो-गोरे वर्णका; और न स्त्री-पुरुष आदि या ब्राह्मण-चांडाल आदि भेदोंकाभी। साधु तुकारामका इस विषयका अभिप्राय, इस हिंदी पदसे प्रकट हो जायगा :–

क्या द्विजाति क्या शूद्र ईशको वेश्या भी भज सकती है,
श्वपचोंकोभी भक्तिभावमें शुचिता कब तज सकती है।
अनुभवसे कहता हूँ, मैंने उसे कर लिया है बस में,
जो चाहे सो पिये प्रेमसे अमृत भरा है इस रसमें ।।

अधिक क्या कहें ? गीताशास्त्रकाभी यह सिद्धान्त है, कि "मनुष्य कितनाभी दुराचारी क्यों न हो; परंतु यदि अंतकालमें वह अनन्य भावसे भगवानकी शरणमें जावे तो परमेश्वर उसे नहीं भूलता" (गीता ९. ३०; ८. ५–८)। उक्त पद्यमें 'वेश्या' शब्दको (जो साधु तुकाराम महाराजके मूल वचनके आधारसे रखा गया है) देखकर, पवित्रताका ढोंग करनेवाले बहुतेरे विद्वानोंको कदाचित् बुरा लगे। परंतु सच बात तो यह है, कि ऐसे लोगोंको सच्चा धर्म-तत्त्व मालूमही नहीं है। न केवल हिंदु धर्ममें, किंतु बौद्ध धर्ममेंभी यही सिद्धान्त स्वीकार किया गया है (मिलिंदप्रश्न ३. ७ २); और उनके धर्म-ग्रंथोंमें ऐसी कथाएँ हैं, कि बुद्धने आम्रपाली नामक किसी वेश्याको और अंगुलीमाल नामके चोरको दीक्षा दी थी। ईसाइयोंके धर्म ग्रंथमेंभी यह वर्णन है, कि ईसाके साथ जो दो चोर सूलीपर चढ़ाये गये थे, उनमेंसे एक चोर मृत्युके समय ईसाकी शरणमें गया; और ईसाने उसे सद्गति दी (ल्यूक. २३. ४२. ४३)। स्वयं ईसानेभी एक स्थानमें कहा है, कि हमारे धर्ममें श्रद्धा रखनेवाली वेश्याएँभी मुक्त हो जाती हैं (मेथ्यु. २१. ३१; ल्यूक. ७. ५०)। यह बात दसवें प्रकरणमें हम बतला चुके हैं, कि अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिसेभी यही सिद्धान्त निष्पन्न होता है। परंतु यह धर्म-तत्त्व शास्त्रतः यद्यपि निर्विवाद है ; तथापि जिसका सारा जन्म दुराचरणमें व्यतीत हुआ है, उसके अंतःकरणमें केवल मृत्युके समयही अनन्य भावसे भगवानकी शरणमें जानेकी बुद्धि कैसे जागृत रह सकती है ? ऐसी अवस्थामें अंतःकालकी वेदनाओंको सहते हुए केवल यंत्रके समान एक बार 'रा' कहकर और कुछ देरसे 'म' कहकर, मुँह खोलने और बंद करनेके परिश्रमके सिवा कुछ अधिक लाभ नहीं होता। इसलिये भगवानने सब लोगोंसे निश्चित रीतिसे कहा है, कि "न केवल मृत्युके समयही किंतु सारे जीवनभर सदैव मेरा स्मरण मनमें रहने दो; और स्वधर्मके अनुसार अपने सब व्यवहारोंको परमेश्वरार्पणबुद्धिसे करते रहो, फिर चाहे तुम किसीभी जातिके रहो, तोभी तुम कर्मोंको करते हुएभी मुक्त हो जाओगे" (गीता ९. २६–२८, ३०–३४)।

इस प्रकार उपनिषदोंका ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान आबालवृद्ध सभी लोगोंके लिये सुलभ तो कर दिया गया है; परंतु ऐसा करते समय न तो व्यवहारका लोप होने दिया है; और न वर्ण, आश्रम, जाति-पाति अथवा स्त्री-पुरुष आदिका कोईभी भेद रखा गया है। जब हम गीता-प्रतिपादित भक्ति-मार्गकी इस शक्ति अथवा समताकी

ओर ध्यान देते हैं, तब गीताके अंतिम अध्यायमें भगवानने प्रतिज्ञापूर्वक गीताशास्त्रका जो उपसंहार किया है, उसका मर्म प्रकट हो जाता है। वह ऐसा है – "सब धर्म छोड़कर मेरे अकेलेकी शरणमें आ जा; मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूँगा, घबराना नहीं।" यहाँपर धर्म शब्दका उपयोग इसी व्यापक अर्थमें किया गया है, कि सब व्यवहारोंको करते हुएभी पाप-पुण्यसे अलिप्त रहकर परमेश्वर-रूपी प्राप्ति या आत्मश्रेय जिस मार्ग प्रत्यक्ष उपायके द्वारा संपादन किया जा सकता है, वही धर्म है। अनुगीताके गुरुशिष्य-संवादमें ऋषियोंने ब्रह्मासे यह प्रश्न किया (अश्व. ४९), कि अहिंसाधर्म, सत्यधर्म, व्रत तथा उपवास, ज्ञान, यज्ञयाग, दान, कर्म, संन्यास आदि जो जो अनेक प्रकारके मुक्तिके साधन अनेक लोग बतलाते हैं, उनमेंसे सच्चा साधन कौन है? शांतिपर्वके (मभा. शां. ३५४) उंच्छवृत्ति उपाख्यमेंभी यह प्रश्न है, कि गार्हस्थ्यधर्म, वानप्रस्थधर्म, राजधर्म, मातृ-पितृसेवा-धर्म, क्षत्रियोंका रणांगणमें मरण, ब्राह्मणोंका स्वाध्याय, इत्यादि जो अनेक धर्म या स्वर्ग-प्राप्तिके साधन शास्त्रोंने बतलाये हैं, उनमेंसे ग्राह्य धर्म कौन है? ये भिन्न धर्म-मार्ग या धर्म दिखनेमें तो परस्पर-विरुद्ध मालूम होते हैं, परंतु शास्त्रकार इन सब प्रत्यक्ष मार्गोंकी योग्यताको एक-सीही समझते हैं, क्योंकि समस्त प्राणियोंमें साम्य-बुद्धि रखनेका जो अंतिम साध्य है, वह इनमेंसे किसीभी धर्मपर प्रीति और श्रद्धाके साथ मनको एकाग्र किये बिना प्राप्त नहीं हो सकता! तथापि, इन अनेक मार्गोंकी अथवा प्रतीक-उपासनाकी झंझटमें फँसनेसे मन घबरा जा सकता है, इसलिये अकेले अर्जुनकोही नहीं; किंतु उसे निमित्त करके सब लोगोंको भगवान् इस प्रकार निश्चित आश्वासन देते हैं, कि चित्त-शुद्धिके इन अनेक धर्म-मार्गोंको छोड़कर "तू केवल मेरी शरणमें आ; मैं तुझे समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा; डर मत।" साधु तुकारामभी इसी प्रकार सब धर्मोंका निरसन करके अंतमें भगवानसे यही माँगते हैं, कि :–

चतुराई चेतना सभी चुल्हेमें जावें,
बस मेरा मन एक ईश-चरणाश्रय पावे।
आग लगे आचार-विचारोंके उपचयमें,
उस विभु का विश्वास सदा दृढ रहे हृदयमें ॥

निश्चयपूर्वक उपदेशकी या प्रार्थनाकी अंतिम सीमा हो चुकी।

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी सोनेकी थालीका यह भक्तिरूपी अंतिम कौर है, यही प्रेमग्रास है। इसे पा चुके, अब आगे चलिये।

चौदहवाँ प्रकरण

गीताध्याय-संगति

प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ऋषिर्नारायणोऽब्रवीत् । *

– महाभारत, शांति. २१७.२

अबतक किये गये विवेचनसे दीख पड़ेगा, कि भगवद्गीतामें अर्थात् भगवानके द्वारा गाये गये उपनिषदमें यह प्रतिपादन किया गया है, कि कर्मोंको करते हुएही अध्यात्मविचारसे या भक्तिसे सर्वात्मैक्यरूप साम्य-बुद्धि पूर्णतया प्राप्त कर लेना; और उसे प्राप्त कर लेनेपरभी संन्यास लेनेकी झंझटमें न पड़ संसारमें शास्त्रतः प्राप्त सब कर्मोंको केवल अपना कर्तव्य समझकर करते रहनाही, इस संसारमें मनुष्यका परम पुरुषार्थ अथवा जीवन व्यतीत करनेका उत्तम मार्ग है। परंतु जिस क्रमसे हमने इस ग्रंथमें उक्त अर्थका वर्णन किया है, उसकी अपेक्षा गीता ग्रंथका क्रम भिन्न है, इसलिये अब यहभी देखना चाहिये, कि भगवद्गीतामें इस विषयका वर्णन किस प्रकार किया गया है। किसीभी विषयका निरूपण दो रीतियोंसे किया जाता है: एक शास्त्रीय और दूसरी पौराणिक। शास्त्रीय पद्धति वह है, कि जिसके द्वारा तर्क-शास्त्रानुसार साधकबाधक प्रमाणोंको क्रमसहित उपस्थित करके यह दिखला दिया जाता है, कि सब लोगोंकी समझमें सहजही आ सकनेवाली बातोंसे किसी प्रतिपाद्य विषयके मूलतत्त्व किस प्रकार निष्पन्न होते हैं। भूमितिशास्त्र इस पद्धतिका एक अच्छा उदाहरण है; और न्यायसूत्र या वेदान्त-सूत्रका उपपादनभी इसी वर्गका है। इसीलिये भगवद्गीतामें जहाँ ब्रह्मसूत्र याने वेदांत-सूत्रोंका उल्लेख किया है, वहाँ यहभी वर्णन है, कि उसका विषय हेतुयुक्त और निश्चयात्मक प्रमाणोंसे सिद्ध किया गया है – "ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" (गीता १३.४) परंतु भगवद्गीताका निरूपण सशास्त्र भलेही हो; तथापि वह इस शास्त्रीय पद्धतिसे नहीं किया गया है। भगवद्गीतामें जो विषय है, उसका वर्णन अर्जुन और श्रीकृष्णके संवादरूपमें अत्यंत मनोरंजक और सुलभ रीतिसे किया गया है। इसीलिये प्रत्येक अध्यायके अंतमें "भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" कहकर आगे गीतानिरूपणके स्वरूपके द्योतक 'श्रीकृष्णार्जुनसंवादे' इन शब्दोंका उपयोग किया गया

---

* "नारायण ऋषिने धर्मको प्रवृत्तिप्रधान बतलाया है।" नर और नारायण नामक ऋषियोंमेंसेही ये नारायण ऋषि हैं। पहले बतला चुके हैं, कि इन्हीं दोनोंके अवतार श्रीकृष्ण और अर्जुन थे। इसी प्रकार महाभारतका वह वचनभी पहले उद्धृत किया गया है; जिससे यह मालूम होता है, कि गीतामें नारायणीय धर्मकाही प्रतिपादन किया गया है।

है। इस निरूपणमें और 'शास्त्रीय' निरूपणमें जो भेद है, उसको स्पष्टतासे बतलानेके लिये हमने संवादात्मक निरूपणकोही 'पौराणिक' नाम दिया है। सात सौ श्लोकोंके इस संवादात्मक अथवा पौराणिक निरूपणमें 'धर्म' जैसे व्यापक शब्दमें शामिल होनेवाले सभी विषयोंका विस्तारपूर्वक विवेचन कभी होही नहीं सकता। परंतु आश्चर्यकी बात है, कि गीतामें जो अनेक विषय उपलब्ध होते हैं, उनकाही संग्रह (संक्षेपमेंही क्यों न हो) अविरोधसे कैसे किया जा सका ! इस बातसे गीताकारकी अलौकिक शक्ति व्यक्त होती है; और अनुगीताके आरंभमें जो यह कहा गया है, कि गीताका उपदेश " अत्यंत योगयुक्त चित्तसे " बतलाया गया है उसकी सत्यताकी प्रतीतिभी हो जाती है। अर्जुनको जो विषय पहलेसेही मालूम थे, उन्हें फिरसे विस्तारपूर्वक कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। उसका मुख्य प्रश्न तो यही था, कि मैं लड़ाईका घोर कृत्य करूँ या न करूँ ? और करूँभी तो किस प्रकार करूँ ? जब श्रीकृष्ण अपने उत्तरमें एकाध युक्ति बतलाते थे, तब अर्जुन उसपर कुछ-न-कुछ आक्षेप किया करता था। इस प्रकारके प्रश्नोत्तररूपी संवादमें गीताका विवेचन स्वभावहीसे कहीं संक्षिप्त और कहीं द्विरुक्त हो गया है। उदाहरणार्थ, त्रिगुणात्मक प्रकृतिके फैलावका वर्णन कुछ थोड़े भेदसे दो जगह है (गीता अ. ७. १४); और स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त, त्रिगुणातीत, तथा ब्रह्मभूत इत्यादिकी स्थितिका वर्णन एक-सा होनेपरभी, भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे प्रत्येक प्रसंगपर बार बार किया गया है। इसके विपरीत " यदि अर्थ और काम धर्मसे विभक्त न हों, तो वे ग्राह्य हैं " – इस तत्त्वका दिग्दर्शन गीतामें केवल " धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि " (गीता ७. ११) इसी एक वाक्यमें कर दिया गया है। इसका परिणाम यह होता है, कि यद्यपि गीतामें सब विषयोंका समावेश किया गया है, तथापि गीता पढ़ते समय उन लोगोंके मन उलझनमें पड़ जाते हैं; जो श्रौत धर्म, स्मार्त धर्म, भागवत धर्म, सांख्यशास्त्र, पूर्वमीमांसा, वेदान्त, कर्म-विपाक इत्यादिके उन प्राचीन सिद्धान्तोंकी परंपरासे परिचित नहीं हैं, कि जिनके आधारपर गीताके ज्ञानका निरूपण किया गया है। और जब गीताके प्रतिपादनकी पद्धति ठीक ठीक ध्यानमें नहीं आती, तब वे लोग कहने लगते हैं कि, गीता मानों बजीगरकी झोली है; अथवा शास्त्रीय पद्धतिके प्रचारके पूर्व गीताकी रचना हुई होगी; इसलिये उसमें स्थान-स्थानपर अधूरापन और विरोध दीख पड़ता है, अथवा गीताका ज्ञानही हमारी बुद्धिके लिये अगम्य है ! इस संशयको हटानेके लिये यदि टीकाओंका अवलोकन किया जाय, तो उनसेभी कुछ लाभ नहीं होता, क्योंकि वे बहुधा भिन्न भिन्न संप्रदायानुसार बनी हैं ! इसलिये टीकाकारोंके मतोंके परस्पर-विरोधोंकी एकवाक्यता करना असंभव-सा हो जाता है; और पढ़नेवालेका मन अधिकाधिक घबराने लगता है। इस प्रकारके भ्रममें पड़े हुए कई सुप्रबुद्ध पाठकोंको हमने देखा है। इस अड़चनको हटानेके लिये हमने अपनी बुद्धिके अनुसार गीताके प्रतिपाद्य विषयोंका शास्त्रीय क्रम बाँधकर अबतक विवेचन किया है। अब यहाँ इतना और

बतला देना चाहिये, कि येही विषय श्रीकृष्ण और अर्जुनके संभाषणमें, अर्जुनके प्रश्नों या शंकाओंके अनुरोधसे, कुछ न्यूनाधिक होकर कैसे उपस्थित हुए हैं। इससे यह विवेचन पूरा हो जायगा; और अगले प्रकरणमें सुगमतासे सब विषयोंका उपसंहार कर दिया जायगा।

पाठकोंको प्रथम इस ओर ध्यान देना चाहिये, कि जब हमारा हिंदुस्थान देश ज्ञान, वैभव, यश और स्वराज्यके सुखका अनुभव ले रहा था, उस समय एक सर्वज्ञ, महापराक्रमी, यशस्वी और परमपूज्य क्षत्रियने दूसरे क्षत्रियको, जो महान् धनुर्धारी था, क्षात्र धर्मके स्वकार्यमें प्रवृत्त करनेके लिये गीताका उपदेश किया है। जैन और बौद्ध धर्मोंके प्रवर्तक महावीर और गौतम बुद्धभी क्षत्रियही थे। परंतु इन दोनोंने वैदिक धर्मके केवल संन्यास-मार्गको अंगीकार कर क्षत्रिय आदि सब वर्णोंके लिये संन्यास-धर्मका दरवाजा खोल दिया था; परंतु भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा नहीं किया, क्योंकि भागवत-धर्मका यह उपदेश है, कि न केवल क्षत्रियोंको परंतु ब्राह्मणोंकोभी निवृत्ति-मार्गकी शांतिके साथ साथ निष्काम-बुद्धिसे सब कर्म आमरणान्त करते रहनेका प्रयत्न करना चाहिये। किसीभी प्रकारका उपदेश करनेके लिये किसी-न-किसी कारणकी आवश्यकता होती है, और उस उपदेशकी सफलताके लिये शिष्यके मनम उस उपदेशका ज्ञान प्राप्त कर लेनेकी इच्छाभी प्रथमहीसे जागृत रहनी चाहिये। अतएव इन दोनों बातोंका स्पष्टीकरण करनेके लियेही व्यासजीने, गीताके पहले अध्यायमें, इस बातका विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया है, कि श्रीकृष्णने अर्जुनको यह उपदेश क्यों दिया है। कौरव-पांडवोंकी सेनाएँ युद्धके लिये तैयार होकर कुरुक्षेत्रपर खड़ी हैं; थोड़ीही देरमें लड़ाई छिडनेवालीही थी, कि इतनेमें अर्जुनके कहनेसे श्रीकृष्णने उसका रथ दोनों सेनाओंके बीचमें ले जाकर खड़ा कर दिया; और अर्जुनसे कहा, कि "तुझे जिनसे युद्ध करना है, उन भीष्म, द्रोण आदिको देख।" तब अर्जुनने दोनों सेनाओंकी ओर दृष्टि पहुँचाई और देखा, कि अपनेही बापदादा, काका, आजा, मामा, बंधु, पुत्र नाती, स्नेही, आप्त, गुरु, गुरुबंधु आदि दोनों सेनाओंमें खड़े हैं; और इस युद्धमें सब लोगोंका नाश होनेवाला है! लड़ाई एकाएक उपस्थित नहीं हुई थी ; लडाई करनेका निश्चय पहलेही हो चुका था; और बहुत दिनोंसे दोनों ओरकी सेनाओंका प्रबंध हो रहा था। परंतु इस आपसकी लड़ाईसे होनेवाले कुलक्षयका प्रत्यक्ष स्वरूप जब पहले पहल अर्जुनकी नज़रमें आया, तब उसके समान महायोद्धाकेभी मनमें विषाद उत्पन्न हुआ; और उसके मुखसे ये शब्द निकल पड़े, "ओह! आज हम लोग अपनेही कुलका भयंकर क्षय इसीलिये करनेवाले हैं न, कि राज्य हमींको मिले; इसकी अपेक्षा भिक्षा माँगना क्या बुरा है?" और इसके वाद उसने श्रीकृष्णसे कहा, कि "शत्रु चाहे मुझे जानसे मार डाले, मुझे इसकी चिंता नहीं; परंतु त्रैलोक्यके राज्यके लियेभी मैं पितृहत्या, गुरुहत्या, बंधुहत्या या कुलक्षयके समान घोर पातक करना नहीं चाहता।" उसकी सारी देह थर-थर काँपने लगी; हाथ-पैर

शिथिल हो गये; मुँह सूख गया; और खिन्नवदन हो अपने हाथका धनुष्यबाण फेंक-कर वह बेचारा रथमें चुपचाप बैठ गया। इतनी कथा पहले अध्यायमें है। इस अध्यायको 'अर्जुन-विषादयोग' कहते हैं। क्योंकि यद्यपि पूरी गीतामें ब्रह्मविद्यान्तर्गत-(कर्म)योगशास्त्र नामक एकही विषय प्रतिपादित हुआ है; तोभी प्रत्येक अध्यायमें जिस विषयका वर्णन प्रधानतासे किया जाता है, उस विषयको इस कर्म-योग शास्त्रकाही एक भाग समझना चाहिये; और ऐसा समझकरही प्रत्येक अध्यायको उसके विषयानुसार अर्जुन-विषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग इत्यादि भिन्न भिन्न नाम दिये गये हैं। इन सब 'योगों'को एकत्र करनेसे "ब्रह्मविद्याका कर्मयोग-शास्त्र" हो जाता है। पहले अध्यायकी कथाका महत्त्व हम इस ग्रंथके आरंभमें कह चुके हैं। इसका कारण यह है, कि जबतक हम उपस्थित प्रश्नके स्वरूपको ठीक तौरसे जान न लें, तबतक उस प्रश्नका उत्तरभी भली भाँति हमारे ध्यानमें नहीं आता। यदि कहा जाय, कि गीताका यही तात्पर्य है, कि "सांसारिक कर्मोंसे निवृत्त होकर भगवद्भजन करो या संन्यास ले लो;" तो फिर अर्जुनको उपदेश करनेकी कुछ आवश्यकताही न थी, क्योंकि वह तो लड़ाईका घोर कर्म कर भिक्षा माँगनेके लिये आप-ही-आप तैयार हो गया था। पहलेही अध्यायके अंतमें श्रीकृष्णके मुखसे ऐसे अर्थका एक-आध श्लोक कहलाकर वही गीताकी समाप्ति कर देनी चाहिये थी, "वाह! क्या ही अच्छा कहा! तेरी इस उपरतिको देख मुझे आनंद मालूम होता है। चल, हम दोनों इस कर्ममय संसारको छोड़ संन्यासाश्रमके द्वारा या भक्तिके द्वारा अपने आत्माका कल्याण कर लें!" फिर, इधर लड़ाई हो जानेपर व्यासजी उसका वर्णन करनेमें तीन वर्षतक (मभा. आ. ६२. ५२) अपनी वाणीका भलेही दुरुपयोग करते रहते; परंतु उसका दोष बेचारे अर्जुन और श्रीकृष्णपर तो आरोपित न हुआ होता। हाँ; यह सच है, कि कुरुक्षेत्रमें जो सैंकड़ो महारथी एकत्र हुए थे, वे अवश्यही अर्जुन और श्रीकृष्णका उपहास करते; परंतु जिसको अपने आत्माका कल्याणकर लेना है, वह ऐसे उपहासकी चिंताही क्यों करता? संसार कुछभी कहे; उपनिषदोंमें तो यही कहा है, कि "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" (जा. ४) – जिस क्षण उपरति हो, उसी क्षण संन्यास धारण करो; विलंब न करो। यदि यह कहा जाय, कि अर्जुनकी उपरति ज्ञानपूर्वक न थी, वह केवल मोहकी थी; तोभी वह थी तो उपरतिही। बस; उपरति होनेसे आधा काम हो चुका, अब मोहको हटाकर उसी उपरतिको पूर्ण ज्ञानमूलक कर देना भगवानके लिये कुछ असंभव बात न थी। भक्ति-मार्गमें या संन्यास-मार्गमेंभी ऐसे अनेक उदाहरण हैं; कि जब कोई किसी कारणसे संसारसे उकता गये, तो वे दुःखित हो इस संसारको छोड़ जंगलमें चल गये; और आगे उन लोगोंने पूरी सिद्धिभी प्राप्त कर ली है। इसी प्रकार अर्जुनकीभी यही दशा कर दी होती। ऐसा तो भी होही नहीं सकता था, कि कभी संन्यास लेनेके समय वस्त्रोंको गेरूआ रंग देनेके लिये मुठ्ठीभर लाल मिट्टी, या

भक्तिसे भगवन्नाम-संकीर्तन करनेके लिये झांझ, मृदंग आदि सामग्री सारे कुरु-क्षेत्रमेंभी न मिलती।

परंतु ऐसा कुछभी न करके उलटे दूसरे अध्यायके आरंभमेंही श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है, कि "अरे! तुझे यह दुर्बुद्धि (कश्मल) कहाँसे सूझ पड़ी? यह नामर्दी (क्लैब्य) तुझे शोभा नहीं देती। यह तेरी कीर्तिको धूलिमें मिला देगी। इसलिये इस दुर्बलताका त्याग कर युद्धके लिये खड़ा हो जा।" परंतु अर्जुनने किसी अबलाकी तरह अपना रोनाधोना जारी रखा और वह अत्यंत दीनहीन वाणीमें बोला – "मैं भीष्म, द्रोण आदि महात्माओंको कैसे मारूँ? मेरा मन इसी संशयमें चक्कर खा रहा है, कि मरना भला है, या मारना? इसलिये मुझे यह बतलाओ, कि इन दोनोंमें कौन-सा धर्म श्रेयस्कर है। मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ।" अर्जुनकी इन बातोंको सुनकर श्रीकृष्ण जान गये, कि अब यह मायाके चंगुलमें फँस गया है, इसलिये जरा हँसकर उन्होंने उसे 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यादि ज्ञान बतलाना आरंभ किया। अर्जुन ज्ञानी पुरुषके सदृश बर्ताव करना चाहता था; और वह कर्म-संन्यासकी बातेंभी करने लग गया था। इसलिये, संसारमें ज्ञानी पुरुषके आचरणके जो दो पंथ अथवा निष्ठाएँ दीख पड़ती हैं – अर्थात्, 'कर्म करना' और 'कर्म छोड़ना' वहीसे भगवानने उपदेशका आरंभ किया है; और अर्जुनको पहली बात यही बतलाई है, कि इन दो पंथों या निष्ठाओंमेंसे तू किसीकोभी ले; परंतु तू भूल कर रहा है। इसके बाद, जिस ज्ञान या सांख्यनिष्ठाके आधारपर अर्जुन कर्म-संन्यासकी बातें करने लगा था, उसी सांख्यनिष्ठाके आधारपर श्रीकृष्णने प्रथम 'एषा तेऽभिहिता बुद्धिः" (गीता. २. ११–३९) तक उपदेश किया है, और फिर अध्यायके अंत-तक कर्मयोग-मार्गके अनुसार अर्जुनको यही बतलाया है, कि युद्धही तेरा सच्चा कर्तव्य है। यदि "एषा तेऽभिहिता सांख्ये" सरीखा श्लोक 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' श्लोकके पहले आता, तो यही अर्थ औरभी अधिक व्यक्त हो गया होता। परंतु संभाषणके प्रवाहमें सांख्य-मार्गका प्रतिपादन हो जानेपर वह इस रूपमें आया है – "यह तो सांख्य-मार्गके अनुसार प्रतिपादन हुआ; अब योगमार्गके अनुसार प्रति-पादन करता हूँ।" कुछभी हो; परंतु अर्थ एकही है। हमने ग्याहरवें प्रकरणमें सांख्य (या संन्यास) और योगका (या कर्मयोग) भेद पहलेही स्पष्ट करके बतला दिया है। इसलिये उसकी पुनरावृत्ति न कर इतनाही कह देते हैं, कि चित्तकी शुद्धताके लिये स्वधर्मानुसार वर्णाश्रम-विहित कर्म करके ज्ञान-प्राप्ति होनेपर मोक्षके लिये अंतमें सब कर्मोंको छोड़ संन्यास लेना सांख्य-मार्ग है; और कर्मोंका कभी त्याग न कर अंततक उन्हें निष्काम बुद्धिसे करते रहना योग अथवा कर्मयोग है। अर्जुनसे भगवान् प्रथम यह कहते हैं, कि सांख्य-मार्गके अध्यात्मज्ञानानुसार आत्मा अविनाशी और अमर है, इसलिये तेरी यह समझ गलत है, कि "मैं भीष्म, द्रोण आदिको मारूँगा।" क्योंकि न तो आत्मा मरता है; और न मारताही है। जिस प्रकार मनुष्य अपने वस्त्र

बदलता है, उसी प्रकार आत्मा एक देह छोड़कर दूसरी देहमें चला जाता है; परंतु इससे उसे मृत मानकर शोक करना उचित नहीं। अच्छा; मान लिया, कि 'मैं मारूँगा' यह भ्रम है, तबभी तू कहेगा, कि युद्धही क्यों करना चाहिये ? तो उसका उत्तर यह है, कि शास्त्रतः प्राप्त हुए युद्धसे परावृत्त न होनाही क्षत्रियोंका धर्म है; और जब कि इस सांख्य-मार्गमें प्रथमतः वर्णाश्रम-विहित कर्म करनाही श्रेयस्कर माना जाता है; तब यदि तू वैसा न करेगा, तो लोग तेरी निंदा करेंगे – अधिक क्या कहें, युद्धमें मरनाही क्षत्रियोंका धर्म है। फिर व्यर्थ शोक क्यों करता है ? "मैं मारूँगा और वह मरेगा" यह केवल कर्मदृष्टि है – इसे छोड़ दे; तू अपना प्रवाहपतित कार्य ऐसी बुद्धिसे करता चला जा, कि मैं केवल स्वधर्म कर रहा हूँ; इससे तुझे कुछभी पाप नहीं लगेगा। यह उपदेश सांख्य मार्गानुसार हुआ। परंतु चित्तकी शुद्धताके लिये प्रथमतः कर्म करके चित्तशुद्धि हो जानेपर अंतमें सब कर्मोंको छोड़ संन्यास लेनाही यदि इस मार्गके अनुसार श्रेष्ठ माना जाता है, तो यह शंका रहही जाती है, कि उपरति होतेही युद्धको छोड़ (यदि हो सके तो) एकदम संन्यास ले लेना क्या अच्छा नहीं है ? केवल इतना कह देनेसे काम नहीं चलता, कि मनु आदि स्मृतिकारोंकी आज्ञा है, कि गृहस्थाश्रमके बाद फिर कहीं बुढापेमें संन्यास लेना चाहिये, युवावस्थामें तो गृहस्थाश्रमीही होना चाहिये। क्योंकि किसीभी समय यदि संन्यास लेनाही श्रेष्ठ है, तो ज्योंही संसारसे जी हटा, त्योंही तनिकभी देर न कर संन्यास लेना उचित है; और इसी हेतुसे उपनिषदोंमेंभी ऐसे वचन पाये जाते हैं, कि "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा" (जा. ४)। संन्यास लेनेसे जो गति प्राप्त होगी, वही युद्धक्षेत्रमें मरनेसे क्षत्रियको प्राप्त होती है। महाभारतमें कहा है :–

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमंडलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥

"हे पुरुष-व्याघ्र ! सूर्यमंडलको पार कर ब्रह्मलोकको जानेवाले केवल दोही पुरुष हैं। एक तो योगयुक्त संन्यासी और दूसरा युद्धमें लड़कर मर जानेवाला वीर" (उद्यो. ३२. ६५)। इसी अर्थका एक श्लोक कौटिल्यके, याने चाणक्यके अर्थशास्त्रमेंभी है : –

यान् यज्ञसंघैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणः पात्रचयैश्च यान्ति।
क्षणेन तानप्यतियान्ति शूराः प्राणान् सुयुद्धेषु परित्यजन्तः ॥

स्वर्गकी इच्छा करनेवाले ब्राह्मण अनेक यज्ञोंसे, यज्ञपात्रोंसे और तपोंसे जिस लोकमें जाते हैं, उस लोककेभी परे, युद्धमें प्राण अर्पण करनेवाले शूर पुरुष एक क्षणमें जा पहुँचते हैं – अर्थात् न केवल तपस्वियोंको या संन्यासियोंको वरन् यज्ञयाग आदि करनेवाले दीक्षितोंकोभी जो गति प्राप्त होती है, वही युद्धमें मरनेवाले क्षत्रियकोभी मिलती है (कौटि. १०. ३. १५०–५२; मभा. शां. ९८–१००)। "क्षत्रियको

स्वर्गमें जानेके लिये युद्धके समान दूसरा दरवाजा क्वचितही खुला मिलता है; युद्धमें मरनेसे स्वर्ग; और जय प्राप्त करनेसे पृथ्वीका राज्य मिलेगा " (२. ३२, ३३) गीताके इस उपदेशका तात्पर्यभी वही है। इसलिये सांख्य-मार्गके अनुसार यहभी प्रतिपादित किया जा सकता है, कि क्या संन्यास लेना और क्या युद्ध करना, दोनोंमे एकही फलकी प्राप्ति होती है। तथापि इस मार्गके युक्तिवादसे यह निश्चितार्थ पूर्ण रीतिसे सिद्ध नहीं होता कि " कुछभी हो; युद्ध करनाही चाहिये। " सांख्य-मार्गमें जो यह न्यूनता या दोष है, उसे ध्यानमें रख आगे भगवानने कर्मयोग-मार्गका प्रतिपादन आरंभ किया है; और गीताके अंतिम अध्यायके अंततक इसी कर्मयोगका – अर्थात् कर्मोंको करनाही चाहिये और मोक्षमें उनसे कोई बाधा नहीं होती; किंतु उन्हें करते रहनेमेही मोक्ष प्राप्त होता है, इसका – भिन्न भिन्न प्रमाण देकर, शंका-निवृत्तिपूर्वक समर्थन किया है। इस कर्मयोगका मुख्य तत्त्व यह है, कि किसीभी कर्मको भला या बुरा कहनेके लिये उस कर्मके बाह्य परिणामोंकी अपेक्षा पहले यह देख-लेना चाहिये. कि कर्ताकी वासनात्मक बुद्धि शुद्ध है अथवा अशुद्ध (गीता २. ४९.)। परंतु वासनाकी शुद्धता या अशुद्धताका निर्णयभी तो आखिर व्यवसायात्मका बुद्धिही करती है, इसलिये जबतक निर्णय करनेवाली बुद्धींद्रिय स्थिर और शांत न होगी, तबतक वासनाभी शुद्ध और सम नहीं हो सकती। इसीलिये उसके साथ यहभी कहा है, कि वासनात्मक बुद्धिको शुद्ध करनेके लिये प्रथम समाधिके योगसे व्यवसायात्मका बुद्धींद्रियकोभी स्थिर कर लेना चाहिये (गीता २. ४१)। संसारके सामान्य व्यवहारोंकी ओर देखनेसे प्रतीत होता है, कि बहुतेरे मनुष्य स्वर्गादि भिन्न भिन्न काम्य सुखोंकी प्राप्तिके लियेही यज्ञयागादिक वैदिक काम्य कर्मोंकी झंझटमें पड़े रहते हैं, इससे उनकी बुद्धि कभी एक फलकी प्राप्तिमें, तो कभी दूसरेही फलकी प्राप्तिमें, अर्थात् स्वार्थहीमें, निमग्न रहती है, और सदा बदलनेवाली याने चंचल हो जाती है। ऐसे मनुष्योंको स्वर्ग-सुखादिक अनित्य फलकी अपेक्षा अधिक महत्त्वका अर्थात् मोक्षरूपी नित्य सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये अब अर्जुनको कर्मयोग-मार्गका रहस्य इस प्रकार बतलाया गया है, कि वैदिक कर्मोंके काम्य झगड़ोंको छोड़ दे और निष्काम बुद्धिसे कर्म करना सीखे। तेरा अधिकार केवल कर्म करने भरकाही है – कर्मके फलकी प्राप्ति अथवा अप्राप्ति तेरे अधिकारकी बात नही है (२. ४७)। ईश्वरकोही फलदाता मानकर जब इस सम-बुद्धिसे – कि कर्मका फल मिले अथवा न मिले, दोनों समान है – केवल स्वकर्तव्य समझकरही जो कर्म किये जाते हैं; उन कर्मोंके पाप-पुण्यका लेप कर्ताको नही होता। इसलिये तू इस सम-बुद्धिका आश्रय कर। इस सम-बुद्धिकोही **योग** – अर्थात् पापके भागी न होते हुए कर्म करनेकी युक्ति – कहते हैं। यदि तुझे यह योग सिद्ध हो जाय, तो कर्म करनेपरभी तुझे मोक्षकी प्राप्ति हो जायगी; मोक्षके लिये कुछ कर्म-संन्यासहीकी आवश्यकता नहीं है (गीता २. ४७–५३)। जब भगवानने अर्जुनसे कहा, कि जिस मनुष्यकी बुद्धि इस प्रकार

सम हो गई हो, उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं (गीता २. ५३); तब अर्जुनने पूछा, कि " महाराज ! कृपा कर बतलाइये, कि स्थितप्रज्ञका बर्ताव कैसा होता है ? " इसलिये दूसरे अध्यायके अंतमें स्थितप्रज्ञका वर्णन किया गया है; और अंतमें कहा गया है, कि स्थितप्रज्ञकी स्थितिकोही ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। सारांश यह है, कि अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये गीतामें जो उपदेश दिया गया है, उसका प्रारंभ इन दो निष्ठाओंसे किया गया है, कि जिन्हें इस संसारके ज्ञानी मनुष्योंने ग्राह्य माना है; और जिन्हें 'कर्म छोड़ना' (सांख्य) और 'कर्म करना' (योग) कहते हैं; तथा युद्ध करनेकी आवश्यकताकी उपपत्ति पहले सांख्यनिष्ठाके अनुसार बतलाई गई है। परंतु जब यह देखा गया, कि इस उपपत्तिसे काम नहीं चलता, यह अधूरी है, तब फिर तुरंतही योग या कर्मयोग-मार्गके अनुसार ज्ञान बतलाना आरंभ किया है; और यह बतलानेके पश्चात्, कि इस कर्मयोगका अल्प आचरणभी कितना श्रेयस्कर है, दूसरे अध्यायमें भगवानने अपने उपदेशको इस स्थानतक पहुँचा दिया है, कि कर्मयोग-मार्गमें कर्मकी अपेक्षा वह बुद्धिही श्रेष्ठ मानी जाती है, जिससे कर्म करनेकी प्रेरणा हुआ करती है; तो अब स्थितप्रज्ञकी नाई तू अपनी बुद्धिको सम करके अपना कर्म कर; जिससे तू कदापि पापका भागी न होगा। अब देखना है, कि आगे कौन-कौनसे प्रश्न उपस्थित होते हैं। गीताके सारे उपपादनकी जड़ दूसरे अध्यायमेंही है, इसलिये इसके विषयका विवेचन यहाँ कुछ विस्तारसे किया गया है।

तीसरे अध्यायके आरंभमें अर्जुनने प्रश्न किया है, कि " यदि कर्मयोग-मार्गमेंभी कर्मकी अपेक्षा बुद्धिही श्रेष्ठ मानी जाती है, तो मैं अभी स्थितप्रज्ञकी नाई अपनी बुद्धिको सम किये लेता हूँ, फिर आप मुझसे इस युद्धके समान घोर कर्म करनेके लिये क्यों कहते हैं ? " इसका कारण यह है, कि कर्मकी अपेक्षा बुद्धिको श्रेष्ठ कह देनेसेही इन प्रश्नोंका निर्णय नहीं हो जाता, कि " युद्ध क्यों करें ? बुद्धिको सम रखकर उदासीन क्यों न बैठे रहें ? " बुद्धिको सम रखनेपरभी कर्म-संन्यास किया जा सकता है। फिर जिस मनुष्यकी बुद्धि सम हो गई है, उसे सांख्य-मार्गके अनुसार कर्मोंका त्याग करनेमें क्या हर्ज है ? इस प्रश्नका उत्तर भगवान् इस प्रकार देते हैं, कि पहले तुझे सांख्य और योग नामक दो निष्ठाएँ बतलाई हैं सही, परंतु यहभी स्मरण रहे, कि किसी मनुष्यके कर्मोंका सर्वथा छूट जाना असंभव है। जबतक वह देहधारी है, तबतक प्रकृति स्वभावतः उससे कर्म करावेगीही; और जब कि प्रकृतिके ये कर्म छूटतेही नहीं हैं, तब तो इंद्रियनिग्रहके द्वारा बुद्धिको स्थिर और सम करके केवल कर्मेंद्रियोंसेही अपने सब कर्तव्य-कर्मोंको करते रहना अधिक श्रेयस्कर है। इसलिये तू कर्म कर, यदि कर्म नहीं करेगा, तो तुझे खानेतकको न मिलेगा (गीता ३. ३-८)। ईश्वरनेही कर्मको उत्पन्न किया है; मनुष्यने नहीं। जिस समय ब्रह्मदेवने सृष्टि और प्रजाको उत्पन्न किया, उसी समय उसने 'यज्ञ'कोभी उत्पन्न किया था; और उसने प्रजासे यह कह दिया था, कि यज्ञके द्वारा तुम अपनी समृद्धि कर

लो। जब कि ये यज्ञ बिना कर्म किये सिद्ध नहीं होते; तो अब यज्ञको कर्महीं कहना चाहिये। इसलिये यह सिद्ध होता है, कि मनुष्य और कर्म साथही साथ उत्पन्न हुए हैं। परंतु ये कर्म केवल यज्ञके लियेही हैं; और यज्ञ करना मनुष्यका कर्तव्य है, इसलिये इन कर्मोंके फल मनुष्यको बंधनमें डालनेवाले नहीं होते। अब यह सच है, कि जो मनुष्य पूर्ण ज्ञानी हो गया, स्वयं उसके लिये कोईभी कर्तव्य शेष नहीं रहता; और न लोगोंसेभी उसका कुछ अटका रहता है। परंतु इतनेहीसे यह सिद्ध नहीं हो जाता, कि कर्म मत करो। क्योंकि कर्म करनेसे किसीकोभी छुटकारा न मिलनेके कारण यही अनुमान करना पड़ता है, कि यदि स्वार्थके लिये न हो; तोभी अब उसी कर्मको निष्काम बुद्धिसे लोकसंग्रहके लिये अवश्य करना चाहिये (गीता ३. १७-१९)। इन्हीं बातोंपर ध्यान देकर प्राचीन कालमें जनक आदि ज्ञानी पुरुषोंने कर्म किये हैं; और मैंभी कर रहा हूँ। इसके अतिरिक्त यहभी स्मरण रहे, कि ज्ञानी पुरुषोंके कर्तव्योंमेंसेही एक मुख्य कर्तव्य है, 'लोकसंग्रह करना' अर्थात् अपने बर्तावसे लोगोंको सन्मार्गकी शिक्षा देना और उन्हें उन्नतिके मार्गमें लगा देना, ज्ञानी पुरुषहीका कर्तव्य है। मनुष्य कितनाही ज्ञानवान् क्यों न हो जावे; परंतु प्रकृतिके व्यवहारोंसे उसका छुटकारा नहीं है, इसलिये कर्म छोड़ना तो दूरही रहा; परंतु कर्तव्य समझकर स्वधर्मानुसार कर्म करते रहना और आवश्यकता होनेपर उसीमें मर जानाभी श्रेयस्कर है (गीता. ३. ३०–३५);– इस प्रकार तीसरे अध्यायमें भगवानने उपदेश दिया है। भगवानने इस प्रकार प्रकृतिको सब कामोंका कर्तृत्व दे दिया, यह देख अर्जुनने प्रश्न किया, कि मनुष्य, इच्छा न रहनेपरभी पाप, क्यों करता है? तब भगवानने यह उत्तर देकर अध्याय समाप्त कर दिया है, कि काम-क्रोध आदि विकार बलात्कारसे मनको भ्रष्ट कर देते हैं, अतएव अपनी इंद्रियोंका निग्रह करके प्रत्येक मनुष्यको अपना मन अपने अधीन रखना चाहिये। सारांश, स्थितप्रज्ञकी नाई बुद्धिकी समता हो जानेपरभी कर्मसे किसीका छुटकारा नहीं, अतएव यदि स्वार्थके लिये न हो, तोभी लोकसंग्रहके लिये निष्काम बुद्धिसे कर्म करतेही रहना चाहिये – इस प्रकार कर्मयोगकी आवश्यकता सिद्ध की गई है; और भक्ति-मार्गके परमेश्वरार्पणपूर्वक कर्म करनेके इस तत्त्वकाभी, " कि मुझे सब कर्म अर्पण कर " (गीता ३. ३०–३१) – इसी अध्यायमें प्रथम उल्लेख हो गया है।

परंतु यह विवेचन तीसरे अध्यायमें पूरा नहीं हुआ; इसलिये **चौथा** अध्यायभी उसी विवेचनके लिये आरंभ किया गया है। किसीके मनमें यह शंका न आने पाये, कि अबतक किया गया प्रतिपादन केवल अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेके लियेही नूतन रचा गया होगा, इसलिये चौथे अध्यायके आरंभमें इस कर्मयोगकी अर्थात् भागवत या नारायणीय धर्मकी त्रेतायुगवाली परंपरा बतलाई गई है। जब श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा, कि आदौ याने युगके आरंभमें मैंनेही यह कर्मयोग-मार्ग विवस्वानको, विवस्वानने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुको बतलाया था, परंतु इस बीचमें यह नष्ट हो गया

था; इसलिये मैंने वही योग (कर्मयोग-मार्ग) तुझे फिरसे बतलाया है। तब अर्जुनने पूछा, कि आप विवस्वानके पहले कैसे होंगे ? इसका उत्तर देते हुए भगवानने बतलाया है, कि साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंका नाश और धर्मकी संस्थापना करनाही मेरे अवतारोंका प्रयोजन है, एवं इस प्रकार लोकसंग्रहकारक कर्मोंको करते हुएभी उनमें मेरी कुछ आसक्ति नहीं है, इसलिये मैं उनके पापपुण्यादि फलोंका भागी नहीं होता। इस प्रकार कर्मयोगका समर्थन करके और यह उदाहरण देकर कि प्राचीन समयमें जनक आदिनेभी इसी तत्त्वको ध्यानमें लाकर कर्मोंका आचरण किया है; भगवानने अर्जुनको फिर यही उपदेश दिया है, कि " तूभी वैसेही कर्म कर।" तीसरे अध्यायमें मीमांसकोंका जो सिद्धान्त बतलाया गया था, कि " यज्ञके लिये किये गये कर्म बंधक नही होते " उसीको अब फिरसे बतलाकर 'यज्ञ'की विस्तृत और व्यापक व्याख्या इस प्रकारकी है – केवल तिल और चावलको जलाना अथवा पशुओंको मारना एक प्रकारका यज्ञ है सही; परंतु यह द्रव्यमय यज्ञ हलके दर्जेका है, और संयमाग्निमें कामक्रोधादि इंद्रिय-वृत्तियोंको जलाना अथवा 'न मम' कहकर सब कर्मोंको ब्रह्ममें स्वाहा कर देना ऊँचे दर्जेका यज्ञ है। इसलिये अब अर्जुनको ऐसा उपदेश किया है, कि तू इस ऊँचे दर्जेके यज्ञके लिये फलाशाका त्याग करके कर्म कर। क्योंकि मीमांसकोंके न्यायके अनुसार यज्ञार्थ किये गये कर्म यदि स्वतंत्र रीतिसे बंधक न हों, तोभी यज्ञका कुछ-न-कुछ फल बिना प्राप्त हुए नहीं रहता, इसलिये यज्ञभी यदि निष्काम बुद्धिसेही किया जावे, तो उसके लिये किया गया कर्म और स्वयं यज्ञ दोनो बंधक न होंगे। अंतमें कहा है, कि साम्य-बुद्धि उसे कहते हैं, जिससे यह ज्ञान हो जावे, कि सब प्राणी अपनेमें या भगवानमें हैं। जब ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तभी सब कर्म भस्म हो जाते हैं; और कर्ताको उनकी कुछ बाधा नहीं होती। " सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते " – सब कर्मोंका लय ज्ञानमें हो जाता है; कर्म स्वयं बंधक नहीं होते, बंध केवल अज्ञानसे उत्पन्न होता है। इसलिये अर्जुनको यह उपदेश देकर, इस अध्यायको पूरा किया गया है, कि अज्ञानको छोड़ कर्मयोगका आश्रय कर; और लड़ाईके लिये खड़ा हो जा। सारांश, इस अध्यायमें ज्ञानकी इस प्रकार प्रस्तावना की गई है, कि कर्मयोग-मार्गकी सिद्धिके लियेभी साम्य-बुद्धिरूप ज्ञानकी आवश्यकता है।

कर्मयोगकी आवश्यकता क्या है या कर्म क्यों किये जावें ? इसके कारणोंका विचार तीसरे और चौथे अध्यायमें किया गया है सही; परंतु दूसरे अध्यायमें सांख्य-ज्ञानका वर्णन करके कर्मयोगके विवेचनमेंभी बारबार कर्मकी अपेक्षा बुद्धिही श्रेष्ठ बतलाई गयी है, इसलिये यह बतलाना अब अत्यंत आवश्यक है, कि इन दो मार्गोंमें कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है। क्योंकि यदि दोनों मार्ग एक-सी योग्यताके कहे जायँ, तो परिणाम यह होगा, कि जिसे जो मार्ग अच्छा लगेगा वह उसीको अंगीकार कर लेगा, केवल कर्मयोगकोही स्वीकार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। अर्जुनके

मनमें यही शंका उत्पन्न हुई, इसलिये उसने **पाँचवे अध्यायके** आरंभमें भगवानसे पूछा है, कि "सांख्य और योग, इनदोनों निष्ठाओंको एकत्र करके मुझे उपदेश कीजिये, मुझे केवल इतनाही निश्चयात्मक बतला दीजिये, कि इन दोनोंमें श्रेष्ठ मार्ग कौन-सा है, जिससे कि मैं सहजही उसके अनुसार बर्ताव कर सकूं।" इसपर भगवानने स्पष्ट रीतिसे यह कहकर अर्जुनका संदेह दूर कर दिया है, कि यद्यपि दोनों मार्ग निःश्रेयस्कर हैं, अर्थात् एक-सेही मोक्षप्रद हैं, तथापि उनमें कर्मयोगकी योग्यता अधिक है – "कर्मयोगो विशिष्यते" (गीता ५. २)। इसी सिद्धान्तको दृढ करनके लिये भगवान् औरभी कहते हैं, कि संन्यास या सांख्यनिष्ठासे जो मोक्ष मिलता है, वही कर्मयोगसेभी मिलता है। इतनाही नहीं, परंतु कर्मयोगमें जो निष्काम बुद्धि बतलाई गई है, उसे बिना प्राप्त किये संन्यास सिद्ध नहीं होता; और जब वह प्राप्त हो जाती है, तब योग-मार्गसे कर्म करते रहनेपरभी ब्रह्म-प्राप्ति अवश्य हो जाती है। फिर यह झगड़ा करनेसे क्या लाभ है, कि सांख्य और योग भिन्न भिन्न हैं? यदि हम चलना, बोलना, देखना, सुनना, सूंघना इत्यादि सैंकड़ों कर्मोंको छोड़ना चाहें, तोभी वे नहीं छूटते, इस दशामें कर्मोंको छोड़नेका हठ न कर उन्हें ब्रह्मार्पण बुद्धिसे करते रहनाही बुद्धिमत्ताका मार्ग है। इसलिये तत्त्वज्ञानी पुरुष निष्काम बुद्धिसे कर्म करते रहते हैं; और अंतमें उन्हींके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति कर लिया करते हैं। ईश्वर तुमसे न यह कहता है, कि कर्म करो; और न यह कहता है, कि उनका त्याग कर दो! यह तो सब प्रकृतिकी क्रीडा है; और बंधक मनका धर्म है, इसलिये जो मनुष्य सम-बुद्धिसे अथवा, 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' होकर कर्म किया करता है, उसे उन कर्मोंकी बाधा नहीं होती। अधिक क्या कहें; इस अध्यायके अंतमें यहभी कहा है, कि जिसकी बुद्धि कुत्ता, चांडाल, ब्राह्मण, गौ, हाथी इत्यादिके प्रति सम हो जाती है, और जो सर्वभूतान्तर्गत आत्माकी एकताको पहचान कर अपने व्यवहार करने लगता है, उसे बैठे-बिठाये ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष प्राप्त हो जाता है – मोक्ष-प्राप्तिके लिये उसे कहीं भटकना नहीं पड़ता; वह सदामुक्तही है।

छठे अध्यायमें वही विषय आगे चल रहा है; और उसमें कर्मयोगकी सिद्धिके लिये आवश्यक सम-बुद्धिकी प्राप्तिके उपायोंका वर्णन है। पहलेही श्लोकमें भगवानने अपना मत स्पष्ट बतला दिया है, कि जो मनुष्य कर्मफलकी आशा न रख, केवल कर्तव्य समझकर संसारके प्राप्त कर्म करता रहता है, वही सच्चा योगी और सच्चा संन्यासी है; जो मनुष्य अग्निहोत्र आदि कर्मोंका त्यागकर चुपचाप बैठा रहे, वह सच्चा संन्यासी नहीं है। इसके बाद भगवानने आत्मस्वतंत्रताका इस प्रकार वर्णन किया है, कि कर्मयोग-मार्गमें बुद्धिको स्थिर करनेके लिये इंद्रियनिग्रहरूपी जो कर्म करना पड़ता है, उसे स्वयं आपही करे; यदि कोई ऐसा न करे, तो किसी दूसरेपर उसका दोषारोपण नहीं किया जा सकता। इसके आगे इस अध्यायमें इंद्रियनिग्रह-रूपी योगकी साधनाका, पातंजलयोगकी दृष्टिसे, मुख्यतः वर्णन किया गया है।

परंतु यम-नियम-आसन-प्राणायम आदि साधनोंके द्वारा यद्यपि इंद्रियोंका निग्रह किया जावे, तोभी उतनेमेही काम नहीं चलता, इसलिये आत्मैक्यज्ञानकीभी आवश्यकताके विषयमें इसी अध्यायमें कहा गया है, कि आगे उस पुरुषकी वृत्ति "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" अथवा "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति" (गीता ६. २९, ३०) इस प्रकार सब प्राणियोंमें सम हो जानी चाहिये। इतनेमें अर्जुनने यह शंका उपस्थित की, कि यदि यह साम्यबुद्धिरूपी योग एक जन्ममें सिद्ध न हो, तो फिर दूसरे जन्ममेंभी आरंभहीसे उसका अभ्यास करना होगा – और फिरभी वही दशा होगी – और इस प्रकार यदि यह चक्र हमेशा चलताही रहे, तो मनुष्यको इस मार्गके द्वारा सद्गति प्राप्त होना असंभव है। इस शंकाका निवारण करनेके लिये भगवानने पहले यह कहा है, कि योगमार्गमें कुछभी व्यर्थ नहीं जाता। पहले जन्मके संस्कार शेष रह जाते हैं; और उनकी सहायतासे दूसरे जन्ममें अधिक अभ्यास होता है, तथा क्रम-क्रमसे अंतमें सिद्धि मिल जाती है। इतना कहकर भगवानने इस अध्यायके अंतमें अर्जुनको पुनः यह निश्चित और स्पष्ट उपदेश किया है, कि कर्मयोग-मार्गही श्रेष्ठ और क्रमशः सुसाध्य है, इसलिये केवल (अर्थात् फलाशाको न छोड़ते हुए) कर्म करना, तपश्चर्या करना, ज्ञानके द्वारा कर्मसंन्यास करना इत्यादि सब मार्गोंको छोड़ दे, और तू योगी हो जा – अर्थात् निष्काम कर्मयोग-मार्गका आचरण करने लग।

कुछ लोगोंका मत है, कि यहाँ अर्थात् पहले छः अध्यायोंमें कर्मयोगका विवेचन पूरा हो गया और इसके आगे ज्ञान और भक्तिको 'स्वतंत्र' निष्ठा मानकर भगवानने उनका वर्णन किया है – अर्थात् ये दोनों निष्ठाएँ परस्पर निरपेक्ष या कर्मयोगकी बराबरी की, परंतु उससे पृथक् और उसके बदले विकल्पके नातेसे आचरणीय हैं। सातवें अध्यायसे बारहवें अध्यायतक भक्तिका और आगे शेष छः अध्यायोंमें ज्ञानका वर्णन किया गया है; और इस प्रकार अठारह अध्यायोंके विभाग करनेसे कर्म, भक्ति और ज्ञानमेंसे प्रत्येकके हिस्सेमें छः छः अध्याय आते हैं; तथा गीताके समान भाग हो जाते हैं। परंतु यह मत ठीक नहीं है। पाँचवें अध्यायके आरंभके श्लोकोंसे स्पष्ट मालूम हो जाता है, कि जब अर्जुनकी मुख्य शंका यही थी, कि "मैं सांख्यनिष्ठाके अनुसार युद्ध करना छोड़ दूँ, या युद्धके भयंकर परिणामको प्रत्यक्ष दृष्टिके सामने देखते हुएभी युद्धही करूँ? और यदि युद्धही करना पड़े, तो उसके पापसे कैसे बचूँ?" – तब उसका समाधान ऐसे अधूरे और अनिश्चित उत्तरसे कभी होही न सकता था, कि "ज्ञानसे मोक्ष मिलता है; और वह कर्मसेभी प्राप्त हो जाता है; अथवा यदि तेरी इच्छा हो, तो भक्ति नामकी एक और तीसरी निष्ठाभी है।" इसके अतिरिक्त यह माननाभी ठीक न होगा, कि जब अर्जुन किसी एकही निश्चयात्मक मार्गको जानना चाहता है, तब सर्वज्ञ और चतुर श्रीकृष्ण उसके प्रश्नके मूल स्वरूपको छोड़कर उसे तीन स्वतंत्र और विकल्पात्मक मार्ग बतला दें। सच बात तो यह है,

कि गीतामें 'कर्मयोग' और 'संन्यास' इन्हीं दो निष्ठाओंका विचार है (गीता ५. १); और यहभी साफ़ साफ़ बतला दिया है, कि इनमेंसे 'कर्मयोग'ही अधिक श्रेयस्कर है (गीता ५. २)। भक्तिकी तीसरी निष्ठा तो कहीं बतलाईभी नहीं गई है। अर्था यह कल्पना सांप्रदायिक टीकाकारोंकी मनगढ़ंत है, कि ज्ञान, कर्म और भक्ति तीन स्वतंत्र निष्ठाएँ हैं; और उनकी यह समझ होनेके कारण, कि गीतामें केवल मोक्षके उपायोंकाही वर्णन किया गया है, उन्हें ये तीन निष्ठाएँ कदाचित् भागवतसे सूझी हों (भाग. ११. २०. ६)। परंतु टीकाकारोंके ध्यानमें यह बात नहीं आई, कि भागवत-पुराण और भगवद्गीताका तात्पर्य एक नहीं है। यह सिद्धान्त भागवतकार कोभी मान्य है, कि केवल कर्मोंसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, मोक्षके लिये ज्ञानकी आवश्यकता रहती है। परंतु इसके अतिरिक्त, भागवत-पुराणका यह भी कथन है, कि यद्यपि ज्ञान और नैष्कर्म्य मोक्षदायक हों, तथापि ये दोनों (अर्थात् गीता-प्रतिपादित निष्काम कर्मयोग) भक्तिके बिना शोभा नहीं देते – "नैष्कर्म्यमत्यच्युत-भाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्" (भाग. १२. १२. ५२; १. २. १२)। इस प्रकार देखा जाय तो स्पष्ट प्रकट होता है, कि भागवतकार केवल भक्तिकोही सच्ची निष्ठा अर्थात् अंतिम मोक्षप्रद स्थिति मानते हैं। भागवतका न तो यह कहना है, कि भगवद्भक्तोंको ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करनाही नहीं चाहिये; और न यह कहना है, कि करनाही चाहिये। भागवत-पुराणका सिर्फ़ यह कहना है, कि निष्काम कर्म करो अथवा न करो – ये सब भक्तियोगकेही भिन्न भिन्न प्रकार हैं (भाग. ३. २९. ७–१९)। भक्तिके अभावसे सब कर्मयोग पुनः संसारमें अर्थात् जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले हो जाते हैं (भाग. १. ५. ३४, ३५)। सारांश, यह है, कि भागवतकारका सारा विश्वास भक्तिपरही होनेके कारण उन्होंने निष्काम कर्मयोग-कोभी भक्तियोगमेंही ढकेल दिया है; और यह प्रतिपादन किया है, कि अकेली भक्तिही सच्ची निष्ठा है। परंतु भक्तिही कुछ गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं है। इसलिये भागवतके उपर्युक्त सिद्धान्त या परिभाषाको गीतामें घुसेड़ देना वैसेही अयोग्य है, जैसे कि आममें शरीफेकी कलम लगाना। गीता इस बातको पूरी तरह मानती है, कि परमेश्वरके ज्ञानके सिवा और किसीभी अन्य उपायसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, और इस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये भक्ति एक सुगम मार्ग है, परंतु इसी मार्गके विषयमें आग्रह न कर गीता यहभी कहती है, कि मोक्षप्राप्तिके लिये जिस ज्ञानकी आवश्यकता है, उसकी प्राप्ति, जिसे जो मार्ग सुगम हो, वह उसी मार्गसे कर ले। गीताका मुख्य विषय तो यही है, कि अंतमें अर्थात् ज्ञान-प्राप्तिके अनंतर मनुष्य कर्म करे अथवा न करे। इसलिये संसारमें जीवन्मुक्त पुरुषोंके जीवन व्यतीत करनेके जो दो मार्ग दीख पड़ते हैं – अर्थात् कर्म करना और कर्म छोड़ना – वहींसे गीताके उपदेशका आरंभ किया गया है। इनमेंसे पहले मार्गको गीताने भागवतकारकी नाई 'भक्तियोग' यह नया नाम नहीं दिया है; किंतु नारायणीय धर्ममें प्रचलित प्राचीन

नामही – अर्थात् ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कर्म करनेको 'कर्मयोग' या 'कर्मनिष्ठा' और ज्ञानोत्तर कर्मोंका त्याग करनेको 'सांख्य' या 'ज्ञाननिष्ठा', येही नाम गीतामें स्थिर रखे गये हैं। गीताकी इस परिभाषाको स्वीकार कर यदि विचार किया जाय, तो दीख पड़ेगा, कि ज्ञान और कर्मकी वरावरीकी भक्ति नामक कोई तीसरी स्वतंत्र निष्ठा कदापि नहीं हो सकती। इसका कारण यह है, कि 'कर्म करना' और 'न करना' अर्थात् 'छोड़ना' (योग और सांख्य) ऐसे अस्तिनास्तिरूप दो पक्षोंके अतिरिक्त कर्मके विषयमें तीसरा पक्षही अव वाकी नहीं रहता। इसलिये यदि गीताके अनुसार किसी भक्तिमान् पुरुषकी निष्ठाके विषयमें निश्चय करना हो, तो यह निर्णय केवल इसी वातसे नहीं किया जा सकता, कि वह भक्तिभावमें लगा हुआ है, परंतु इस वातका विचार किया जाना चाहिये, कि वह कर्म करता है या नहीं। भक्ति परमेश्वर-प्राप्तिका एक सुगम साधन है और साधनके नातेसे यदि भक्तिहीको 'योग' कहें (गीता १४. २६), तो वह अंतिम 'निष्ठा' नहीं हो सकती। भक्तिके द्वारा परमेश्वरका ज्ञान हो जानेपर जो मनुष्य कर्म करेगा, उसे 'कर्मनिष्ठ' और जो न करेगा, उसे 'सांख्यनिष्ठ' कहना चाहिये, पाँचवें अध्यायमें भगवानने अपना यह अभिप्राय स्पष्ट वतला दिया है, कि उक्त दोनों निष्ठाओंमें कर्म करनेकी निष्ठा अधिक श्रेयस्कर है। परंतु कर्मपर संन्यास-मार्गवालोंका यह महत्त्वपूर्ण आक्षेप है, कि परमेश्वरका ज्ञान होनेमें कर्मसे प्रतिवंध होता है; और परमेश्वरके ज्ञानविना तो मोक्षकी प्राप्तिही नहीं हो सकती, इसलिये कर्मोंका त्यागही करना चाहिये। पाँचवें अध्यायमें सामान्यतः यह वतलाया गया है, कि उपर्युक्त आक्षेप असत्य है; और संन्यास-मार्गसे जो मोक्ष मिलता है, वही कर्मयोग-मार्गसेभी मिलता है (गीता ५. ५) परंतु वहाँ इस सामान्य सिद्धान्तका कुछभी स्पष्टीकरण नहीं किया गया था, इसलिये अव भगवान् उस वचे हुए तथा महत्त्वपूर्ण विषयका विस्तृत निरूपण कर रहे हैं, कि कर्म करते रहनेहीसे परमेश्वरके ज्ञानकी प्राप्ति होकर मोक्ष किस प्रकार मिलता है। इसी हेतुसे सातवें अध्यायके आरंभमें अर्जुनसे यह न कहकर, कि मैं तुझे भक्ति नामक एक स्वतंत्र तीसरी निष्ठा वतलाता हूँ, भगवान् यह कहते हैं, कि :-

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

"हे पार्थ ! मुझमें चित्तको स्थिर करके और मेरा आश्रय लेकर योग याने कर्म-योगका आचरण करते समय, 'यथा' अर्थात् जिस रीतिसे मुझे संदेहरहित पूर्णतया जान सकेगा, वह (रीति तुझे वतलाता हूँ) सुन" (गीता. ७ १); और इसीको आगेके श्लोकमें 'ज्ञानविज्ञान' कहा है (गीता ७. २)। इनमेंसे पहले अर्थात् ऊपर दिये गये 'मय्यासक्तमनाः' श्लोकके 'योगं युंजन्' – अर्थात् "कर्मयोगका आचरण करते हुए" – ये पद अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। परंतु किसीभी टीकाकारने इनकी ओर

विशेष ध्यान नहीं दिया है। 'योगं' अर्थात् वही कर्मयोग है, कि जिसका वर्णन पहले छः अध्यायोंमें किया जा चुका है; और इस कर्मयोगका आचरण करते हुए जिस विधि या रीतिसे भगवानका पूरा ज्ञान हो जायगा, उस रीति या विधिका वर्णन अब याने सातवें अध्यायमे प्रारंभ करता हूँ– यही इस श्लोकका अर्थ है। अर्थात् पहले छः अध्यायोंका अगले अध्यायोंसे संबंध बतलानेके लिये यह श्लोक जानबूझकर सातवें अध्यायके आरंभमें रखा गया है। इसलिये इस श्लोकके अर्थकी ओर ध्यान न देकर यह कहना बिलकुल अनुचित है, कि "पहले छः अध्यायोंके बाद भक्तिनिष्ठाका स्वतंत्र रीतिसे वर्णन किया गया है।" केवल इतनाही नहीं, वरन् यहभी कहा जा सकता है, कि इस श्लोकमें 'योगं युंजन्' पद जानबूझकर इसी लिये रखे गये हैं, कि जिससे कोई ऐसा विपरीत अर्थ न करने पावे। गीताके पहले पाँच अध्यायोंमें कर्मकी आवश्यकता बतलाकर सांख्य-मार्गकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ कहा गया है; और इसके बाद छठे अध्यायमें पातंजलयोगके साधनोंका वर्णन किया गया है, जो कर्म-योगमें इंद्रियनिग्रह कर्मयोगके लिये आवश्यक है। परंतु इतनेहीसे कर्मयोगका वर्णन पूरा नहीं हो जाता। इंद्रियनिग्रह मानो कर्मेंद्रियोंसे एक प्रकारकी कसरत करना है। यह सच है, कि अभ्यासके द्वारा इंद्रियोंको हम अपने अधीन रख सकते हैं; परंतु यदि मनुष्यकी वासनाही बुरी होगी, तो इंद्रियोंको काबूमें रखनेसे कुछभी लाभ नहीं होगा। क्योंकि देखा जाता है, कि दुष्ट वासनाओंके कारण कुछ लोग इसी इंद्रियनिहग्रहरूप सिद्धिका जारण-मारण आदि दुष्कर्मोंमें उपयोग किया करते हैं। इसलिये छठे अध्यायमें कहा है, कि इंद्रियनिग्रहके साथही वासनाभी "सर्वभूतस्थ-मात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" की नाई शुद्ध हो जानी चाहिये (गीता ६. २९); और ब्रह्मात्मैक्यरूप परमेश्वरके शुद्ध स्वरूपकी पहचान हुए बिना वासनाकी इस प्रकार शुद्धता होना असंभव है। तात्पर्य यह है, कि जो इंद्रियनिग्रह कर्मयोगके लिये आवश्यक है, वह भलेही प्राप्त हो जाय; परंतु 'रस' अर्थात् विषयोंकी चाह मनमें ज्यों-की-त्यों बनीही रहती है। इस रस अथवा विषयवासनाका नाश करनेके लिये परमेश्वरसंबंधी पूर्ण ज्ञानीकीही आवश्यकता है–यह बात गीताके दूसरे अध्यायमें कही गई है (गीता २. ५९)। इसलिये कर्मयोगका आचरण करते हुएही जिस रीति अथवा विधिसे परमेश्वरका यह ज्ञान प्राप्त होता है, उसी विधिका अब भगवान् सातवें अध्यायसे वर्णन करते हैं। "कर्मयोगका आचरण करते हुए"–इस पदसे यहभी सिद्ध होता है, कि कर्मयोगके जारी रहतेही इस ज्ञानकी प्राप्ति कर लेनी है, उसके लिये कर्मोंको छोड़ नहीं बैठना है; और इसीसे यह कहनाभी निर्मूल हो जाता है, कि भक्ति और ज्ञानको कर्मयोगके बदले विकल्प मानकर इन्हीं दो स्वतंत्र मार्गोंका वर्णन सातवें अध्यायसे आगे किया गया है। गीताका कर्मयोग भागवत धर्मसेही लिया गया है, इसलिये कर्मयोगमें ज्ञान-प्राप्तिकी विधिका जो वर्णन है, वह भागवत धर्म अथवा नारायणीय धर्ममें कही गई विधिकाही वर्णन है; और इसी

अभिप्रायसे शांतिपर्वके अंतमें वैशंपायनने जनमेजयसे कहा है, कि " भगवद्गीतामें प्रवृत्ति-प्रधान नारायणीय धर्म और उसकी विधियोंका वर्णन किया गया है। " (पहले प्रकरणके आरंभमें दिये गये श्लोक देखिये)। वैशंपायनके कथनानुसार इसीमें संन्यास-मार्गकी विधियोंकाभी अंतर्भाव होता है ; क्योंकि यद्यपि इन दोनों मार्गोंमें " कर्म करना अथवा कर्मोंको छोड़ना " यही भेद है, तथापि दोनोंको एकही ज्ञानविज्ञानकी आवश्यकता है, इसलिये दोनों मार्गोंमें ज्ञान-प्राप्तिकी विधियाँ एक-ही-सी होती हैं। परंतु जबकि उपर्युक्त श्लोकमें " कर्मयोगका आचरण करते हुए " — ऐसे प्रत्यक्ष पद रखे गये हैं, तब स्पष्ट रीतिसे यही सिद्ध होता है, कि गीताके सातवें और उसके अगले अध्यायोंमें ज्ञान-विज्ञानका निरूपण मुख्यतः कर्मयोगहीकी पूर्तिके लिये किया है और उसकी व्यापकताके कारण उसमें संन्यासमार्गकीभी विधियोंका समावेश हो जाता है, कर्मयोगको छोड़कर केवल सांख्यनिष्ठाके समर्थनके लिये यह ज्ञानविज्ञान नहीं बतलाया गया है। दूसरी यह बातभी ध्यान देने योग्य है, कि सांख्य-मार्गवाले यद्यपि ज्ञानको महत्त्व दिया करते हैं, तथापि वे कर्मको या भक्तिको कुछभी महत्त्व नहीं देते; और गीतामें तो भक्ति सुगम तथा प्रधान मानी गई है, इतनाही क्यों, वरन् अध्यात्मज्ञान और भक्तिका वर्णन करते समय श्रीकृष्णने अर्जुनको जगह-जगहपर यही उपदेश दिया है, कि " तू कर्म अर्थात् युद्ध कर " (गीता ८.७; ११.३३; १६.२४; १८.६)। इसलिये यही सिद्धान्त करना पड़ता है, गीताके सातवें और अगले अध्यायोंमें ज्ञान-विज्ञानका जो निरूपण है, वह पिछले छः अध्यायोंमें कहे गये कर्मयोगकी पूर्ति और समर्थनके लियेही बतलाया गया है, यहाँ केवल सांख्यनिष्ठाका या केवल भक्तिका स्वतंत्र समर्थन विवक्षित नहीं है। ऐसा सिद्धान्त करनेपर कर्म, भक्ति और ज्ञान इस प्रकार गीताके तीन परस्पर स्वतंत्र विभाग नहीं हो सकते। इतनाही नहीं; परंतु अब यह विदित हो जायगा, कि यह मतभी (जिसे कुछ लोग प्रकट किया करते हैं) केवल काल्पनिक अतएव मिथ्या है, कि 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें तीनही पद हैं, और गीताके अध्यायभी अठारह हैं, इसलिये 'छः त्रिक अठारह' के हिसाबसे गीताके छः छः अध्यायोंके तीन समान विभाग करके, पहले छः अध्यायोंमें 'त्वम्' पदका, दूसरे छः अध्यायोंमें 'तत्' पदका और तीसरे छः अध्यायोंमें 'असि' पदका विवेचन किया गया है। इस मतको काल्पनिक या मिथ्या कहनेका कारण यही है, कि अब तो यह एकदेशीय पक्षही शेष नहीं रहने पाता; जो यह कहे, कि सारी गीतामें केवल ब्रह्मज्ञानकाही प्रतिपादन किया गया है, तथा 'तत्त्वमसि' महावाक्यके विवरणके सिवा गीतामें और कुछ अधिक नहीं है।

इस प्रकार जब मालूम हो गया, कि भगवद्गीतामें भक्ति और ज्ञानका विवेचन क्यों किया गया है, तब सातवेंसे सत्रहवें अध्यायके अंततक ग्यारहों अध्यायोंकी संगति सहजही ध्यानमें आ जाती है। पीछे छठे प्रकरणमें बतला दिया गया है, कि

जिस परमेश्वर-स्वरूपके ज्ञानसे बुद्धि रसवर्ज्य और सम होती है, उस परमेश्वर-स्वरूपका विचार एक बार क्षराक्षर-दृष्टिसे और फिर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-दृष्टिसे करना पड़ता है; और उससे अंतमें यह सिद्धान्त किया जाता है, कि जो तत्त्व पिंडमें है वही ब्रह्मांडमें है । इन्हीं विषयोंका अब गीतामें वर्णन है । परंतु जब इस प्रकार परमेश्वरके स्वरूपका विचार करने लगते हैं, तब दीख पड़ता है, कि परमेश्वरका स्वरूप कभी तो व्यक्त (इंद्रियगोचर) होता है और कभी अव्यक्त । फिर ऐसे प्रश्नोंकाभी विचार इस निरूपणमें करना पडता है, कि इन दोनों स्वरूपोंमें श्रेष्ठ कौन-सा है; और इस श्रेष्ठ स्वरूप कैसे उत्पन्न होता है ? इसी प्रकार अब इस बातकाभी निर्णय करना पड़ता है, कि परमेश्वरके पूर्ण ज्ञानसे बुद्धिको स्थिर, सम और आत्मनिष्ठ करनेके लिये परमेश्वरकी जो उपासना करनी पड़ती है, वह कैसी हो – अव्यक्तकी उपासना करना अच्छा है, अथवा व्यक्तकी ? और इसीके साथ साथ इस विषयकी उपपत्ति बतलानी पड़ती है, कि परमेश्वर यदि एक है, तो व्यक्त सृष्टिमें यह अनेकता क्यों दीख पड़ती है ? इन सब विषयोंको व्यवस्थित रीतिसे बतलानेके लिये यदि ग्यारह अध्याय लग गये, तो कुछ आश्चर्य नहीं । हम यह नहीं कहते, कि गीतामें भक्ति और ज्ञानका बिलकुल विवेचनही नहीं है । हमारा केवल इतनाही कहना है, कि कर्म, भक्ति और ज्ञानको तीन स्वतंत्र विषय या निष्ठाएँ अर्थात् तुल्यबलकी समझकर, इन तीनोंमें गीताके अठारह अध्यायोंके जो अलग अलग और बराबर बराबर हिस्से कर दिये जाते हैं, वैसा करना उचित नहीं है, किंतु सारी गीतामें एकही निष्ठाका अर्थात् ज्ञानमूलक और भक्ति-प्रधान कर्म-योगका प्रतिपादन किया है; और सांख्य-निष्ठा, ज्ञान-विज्ञान या भक्तिका जो निरूपण भगवद्गीतामें पाया जाता है, वह सिर्फ़ कर्मयोग-निष्टाकीही पूर्ति और समर्थनके लिये आनुषंगिक है, किसी स्वतंत्र विषयका प्रतिपादन करनेके लिये नहीं । अब यह देखना है, कि हमारे इस सिद्धान्तके अनुसार कर्मयोगकी पूर्ति और समर्थनके लिये बतलाये गये ज्ञान-विज्ञानका विभाग गीताके अध्यायोंके क्रमानुसार किस प्रकार किया गया है ।

सातवें अध्यायमें क्षराक्षर-सृष्टिके अर्थात् ब्रह्मांडके विचारको आरंभ करके भगवानने प्रथम अव्यक्त अथवा अक्षर परब्रह्मके ज्ञानके विषयमें यह कहा है, कि जो इस सारी सृष्टिको – पुरुष और प्रकृतिको – मेरेही पर और अपर स्वरूप जानते हैं, और जो इस मायाके परेके अव्यक्त रूपको पहचानकर मुझे भजते हैं, उनकी बुद्धि सम हो जाती है; तथा उन्हें मैं सद्गति देता हूँ; और फिर उन्होंने अपने स्वरूपका इस प्रकार वर्णन किया है, कि सब देवता, सब प्राणी, सब यज्ञ, सब कर्म और सब अध्यात्म मैंही हूँ; मेरे सिवा इस संसारमें अन्य कुछभी नहीं है । इसके बाद **आठवें अध्यायके** आरंभमें अर्जुनने अध्यात्म, अधियज्ञ, अधिदैव और अधिभूत शब्दोंका अर्थ पूछा है । इन शब्दोंका अर्थ बतलाकर भगवानने कहा है, कि इस प्रकार जिसने मेरा स्वरूप पहचान लिया, उसे मैं कभी नहीं भूलता । इसके बाद

इन विषयोंका संक्षेपमें विवेचन है, कि सारे जगतमें अविनाशी या अक्षर-तत्त्व कौन-सा है; सब संसारका संहार कैसे और कब होता है; जिस मनुष्यको परमेश्वरके स्वरूप-का ज्ञान हो जाता है, उसको कौन-सी गति प्राप्त होती है; और ज्ञानके बिना केवल काम्य-कर्म करनेवालेको कौन-सी गति मिलती है। **नवें अध्यायमेंभी** यही विषय है। इसमें भगवानने उपदेश किया है, कि जो अव्यक्त परमेश्वर इस प्रकार चारों ओर प्राप्त है, उसके व्यक्त स्वरूपकी भक्तिके द्वारा पहचान करके अनन्य भावसे उसकी शरणमें जानाही ब्रह्म-प्राप्तिका प्रत्यक्षावगम्य और सुगम मार्ग अथवा राजमार्ग है; और इसीको राजविद्या या राजगुह्य कहते हैं। तथापि इन तीनों अध्यायोंमें बीच बीचमें भगवान् कर्मयोग-मार्गका यह प्रधान तत्त्व बतलाना नहीं भूले हैं, कि ज्ञानवान् या भक्तिमान् पुरुषोंको कर्म करतेही रहना चाहिये। उदाहरणार्थ, आठवें अध्यायमें कहा है, कि "तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च" – इसलिये सदा अपने मनमें मेरा स्मरण रख और युद्ध कर (गीता ८. ७); और नवें अध्यायमें कहा है, कि "सब कर्मोंको मुझे अर्पण कर देनेसे उनके शुभाशुभ फलोंसे तू मुक्त हो जायगा" (गीता ९. २७, २८)। ऊपर भगवानने जो यह कहा है, कि सारा संसार मुझसे उत्पन्न हुआ है; और वह मेराही रूप है, वही बात **दसवें अध्यायमें** ऐसे अनेक उदा-हरण देकर अर्जुनको भली भाँति समझा दी है, कि "संसारकी प्रत्येक श्रेष्ठ वस्तु मेरीही विभूति है।" फिर अर्जुनके प्रार्थना करनेपर **ग्यारहवें अध्यायमें** भगवानने उसे अपना विश्वरूप प्रत्यक्ष दिखलाया है; और उसकी दृष्टिके सन्मुख इस बातकी सत्यताका अनुभव करा दिया है, कि मैं ही (परमेश्वर) सारे संसारमें चा ओररों व्याप्त हूँ। परंतु इस प्रकार विश्वरूप दिखला कर और अर्जुनके मनमें यह विश्वास करा के, कि "सब कर्मोंका करानेवाला मैंही हूँ" भगवाननें तुरंतही कहा है, कि "सच्चा कर्ता तो मैंही हूँ, तू निमित्तमात्र है; इसलिये निःशंक होकर युद्ध कर." (गीता ११. ३३)। यद्यपि इस प्रकार यह सिद्ध हो गया, कि संसारमें एकही परमेश्वर है, तोभी अनेक स्थानोंमें परमेश्वरके अव्यक्त स्वरूप कोही प्रधान मानकर यह वर्णन किया गया है, कि "मैं अव्यक्त हूँ परंतु मूर्ख लोग मुझे व्यक्त समझते हैं" (गीता ७. २४); "यदक्षरं वेदविदो वदन्ति" (गीता ८. ११)। जिसे वेदवेत्तागण अक्षर कहते हैं; "अव्यक्तको अक्षर कहते हैं" (गीता ८. २१); "मेरे यथार्थ स्वरूपको न पहचानकर मूर्ख लोग मुझे देहधारी मानते हैं" (गीता ९. ११); "विद्याओंमें अध्यात्मविद्या श्रेष्ठ" (गीता १०. ३२); और अर्जुनके कथनानुसार "त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्" (गीता ११. ३७)। इसीलिये **बारहवें** अध्यायके आरंभमें अर्जुनने पूछा है, कि किस परमेश्वरकी – व्यक्तकी या अव्यक्तकी – उपासना करनी चाहिये ? तब भगवानने अपना यह मत प्रदर्शित किया है, कि जिस व्यक्त स्वरूपकी उपासनाका वर्णन नवें अध्यायमें हो चुका है,

वही सुगम है, और दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञका जैसा वर्णन है, वैसाही परम भगवद्-भक्तोंकी स्थितिका वर्णन करके यह अध्याय पूरा कर दिया है।

कुछ लोगोंकी राय है, कि यद्यपि गीताके कर्म, भक्ति और ज्ञान ये तीन स्वतंत्र भाग न भी किये जा सकें; तथापि सातवें अध्यायसे ज्ञान-विज्ञानका जो विषय आरंभ हुआ है, उसके भक्ति और ज्ञान ये दो पृथक् भाग सहजही हो जाते हैं; और वे लोग कहते हैं, कि द्वितीय षड्ध्यायी भक्तिप्रधान है। परंतु कुछ विचार करनेके उपरान्त किसीकोभी ज्ञात हो जावेगा, कि यह मतभी ठीक नहीं है। कारण यह है, कि सातवें अध्यायका आरंभ क्षराक्षर-सृष्टिके ज्ञान-विज्ञानसे किया गया है; न कि भक्तिसे। और, यदि कहा जाय, कि बारहवें अध्यायमें भक्तिका वर्णन पूरा हो गया है; तो हम देखते हैं, कि अगले अध्यायोंमें ठौर ठौरपर भक्तिके विषयमें बारबार यह उपदेश किया गया है, कि जो बुद्धिके द्वारा स्वरूपको नहीं जान सकते, वे श्रद्धापूर्वक दूसरोंके वचनोंपर विश्वास रखकर मेरा ध्यान करें." (गीता १३. २५), " जो मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति करता है, वही ब्रह्मभूत होता है " (१४. गीता २६), " जो मुझेही पुरुषोत्तम जानता है, वह मेरीही भक्ति करता है " (गीता १५. १९); और अंतमें अठारहवें अध्यायमें पुनः भक्तिकाही इस प्रकार उपदेश किया है, कि " सब धर्मोंको छोड़कर तू मुझको भज " (गीता १८. ६६); इसलिये हम यह नहीं कह सकते, कि केवल दूसरी षड्ध्यायीहीमें भक्तिका उपदेश है। इसी प्रकार, यदि भगवानका यह अभिप्राय होता, कि ज्ञानसे भक्ति भिन्न है; तो चौथे अध्यायमें ज्ञानकी प्रस्तावना करके (गीता ४. ३४–३७) सातवें अध्यायके अर्थात् उपर्युक्त आक्षेपकोंके मतानुसार भक्ति-प्रधान षड्ध्यायीके आरंभमें, भगवानने यह न कहा होता, कि अब मैं तुझे वही " ज्ञान और विज्ञान " बतलाता हूँ (गीता ७. २)। यह सच है, कि इससे आगेके नवें अध्यायमें राजविद्या और राजगुह्य अर्थात् प्रत्यक्षावगम्य भक्ति-मार्ग बतलाया है; परंतु अध्यायके आरंभमेंही कह दिया है, कि " तुझे विज्ञानसहित ज्ञान बतलाता हूँ (गीता. ९. १)। इससे स्पष्ट होता है, कि गीतामें भक्तिका समावेश ज्ञानहीमें गया प्रकट किया हैं। दसवें अध्यायमें भगवानने अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है; परंतु ग्यारहवें अध्यायके आरंभमें अर्जुनने उसेही 'अध्यात्म' कहा है (गीता ११. १); और ऊपर यह बतलाही दिया गया है, कि परमेश्वरके व्यक्त स्वरूपका वर्णन करते समय बीच-बीचमें व्यक्त स्वरूपकी अपेक्षा अव्यक्त स्वरूपकी श्रेष्ठताकाभी बातें आ गई हैं। इन्हीं सब बातोंसे बारहवें अध्यायके आरंभमें अर्जुनने यह प्रश्न किया है, कि उपासना व्यक्त परमेश्वरकी की जावे या अव्यक्तकी ? तब यह उत्तर देकर, कि अव्यक्तकी अपेक्षा व्यक्तकी उपासना अर्थात् भक्ति सुगम है, भगवानने **तेरहवें अध्यायमें** क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका 'ज्ञान' बतलाना आरंभ कर दिया; और सातवें अध्यायके आरंभके समान चौदहवें अध्यायके आरंभमेंभी कहा है, कि " परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् " –

फिरसे मैं तुझे वही 'ज्ञानविज्ञान' पूरी तरहसे बतलाता हूँ (गीता १८. १)। इस ज्ञानका वर्णन करते समय भक्तिका सूत्र या संबंधभी टूटने नहीं पाया है। इससे यह बात स्पष्ट मालूम हो जाती है, कि भगवानका उद्देश्य और ज्ञान इन दोनोंको पृथक् रीतिसे बतलानेका नहीं था; किंतु सातवें अध्यायमें जिस ज्ञान-विज्ञानका आरंभ किया गया है, उसीमें दोनों एकत्र गूँथ दिये गये हैं। भक्ति भिन्न है और ज्ञान भिन्न है – यह कहना उस संप्रदायके अभिमानियोंकी नासमझी है, वास्तवमें गीताका अभिप्राय ऐसा नहीं है। अव्यक्तोपासनामें (ज्ञानमार्गमें) अध्यात्मविचारसे परमेश्वरके स्वरूपका जो ज्ञान प्राप्त कर लेना पड़ता है, वही भक्ति-मार्गमेंभी आवश्यक है; परंतु व्यक्तोपासनामें (भक्ति-मार्गमें) आरंभमें वह ज्ञान दूसरोंसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण किया जा सकता है (गीता १३. २५); इसलिये भक्ति-मार्ग प्रत्यक्षावगम्य और सामान्यतः सभी लोगोंके लिये सुखकारक है (गीता ९. २), और ज्ञान-मार्ग (या अव्यक्तोपासना) क्लेशमय (गीता १२. ५) है – बस, इसके अतिरिक्त इन दो साधनोंमें गीताकी दृष्टिसे और कुछभी भेद नहीं है। परमेश्वर-स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करके बुद्धिको सम करनेका जो कर्मयोगका उद्देश्य या साध्य है, वह इन दोनों साधनोंके द्वारा एक-सा-ही प्राप्त होता है। इसलिये चाहे व्यक्तोपासना कीजिये या अव्यक्तोपासना; भगवानको दोनों एकही समान ग्राह्य हैं। तथापि ज्ञानी पुरुषकोभी उपासनाकी थोड़ी-बहुत आवश्यकता होतीही है; इसलिये चतुर्विध भक्तोंमें भक्तिमान् ज्ञानीको श्रेष्ठ कहकर (गीता. ७. १७) भगवानने ज्ञान और भक्तिके विरोधको हटा दिया है। कुछभी हो; परंतु जब कि ज्ञान-विज्ञानका वर्णन किया जा रहा है, तब प्रसंगानुसार एक-आध अध्यायमें व्यक्तोपासनाका और किसी दूसरे अध्यायमें अव्यक्तोपासनाका विशेष वर्णन हो जाना अपरिहार्य है। परंतु इतनेहीसे यह संदेह न हो जावे, कि ये दोनों पृथक् पृथक् हैं; इसलिये परमेश्वरके व्यक्त स्वरूपका वर्णन करते समय व्यक्त स्वरूपकी अपेक्षा अव्यक्तकी श्रेष्ठता और अव्यक्त स्वरूपका वर्णन करते समय भक्तिकी आवश्यकता बतला देनाभी भगवान् नहीं भूले हैं। अब विश्वरूपके और विभूतियोंके वर्णनमेंही तीन-चार अध्याय लग गये हैं, इसलिये यदि इन तीन-चार अध्यायोंको (षड़ध्यायीको नहीं) स्थूलमानसे 'भक्ति-मार्ग' नाम देनाही किसीको पसंद हो, तो ऐसा करनेमें कोई हानि नहीं। कुछभी कहिये; परंतु यह तो निश्चित रूपसे मानना पड़ेगा, कि गीतामें भक्ति और ज्ञानको न तो पृथक् किया है; और न इन दोनों मार्गोंको स्वतंत्रभी कहा है। संक्षेपमें उक्त निरूपणका यही भावार्थ ध्यानमें रहे, कि कर्मयोगमें जिस साम्य-बुद्धिको प्रधानता दी जाती है, उसकी प्राप्तिके लिये परमेश्वरके सर्वव्यापी स्वरूपका ज्ञान हो जाना, चाहिये, फिर यह ज्ञान चाहे व्यक्तकी उपासनासे हो, चाहे अव्यक्तकी; सुगमताके अतिरिक्त इनमें अन्य कोई भेद नहीं है; और गीतामें सातवेंसे लगाकर सत्रहवें अध्यायतक सब विषयोंको 'ज्ञानविज्ञान'को 'अध्यात्म' यही नाम दिया गया है।

जब भगवानने अर्जुनके कर्मचक्षुओंको विश्वरूप-दर्शनके द्वारा यह प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया, कि परमेश्वरही सारे ब्रह्मांडमें या क्षराक्षर-सृष्टिमें समाया हुआ है; तव **तेरहवें अध्यायमें** ऐसा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार बतलाया है, कि यही परमेश्वर पिंडमें अर्थात् मनुष्यके शरीरमें या क्षेत्रमें आत्माके रूपसे निवास करता है; और इस आत्माका अर्थात् क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही परमेश्वरकाभी (परमात्माका) ज्ञान है। प्रथम परमात्माका अर्थात् परब्रह्मका "अनादिमत्परं ब्रह्म।" इत्यादि प्रकार-से उपनिषदोंके आधार-से वर्णन करके आगे बतलाया गया है, कि यही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार 'प्रकृति' और 'पुरुष' नामक सांख्य-विवेचनमें अंतर्भूत हो गया है; और अंतमें यह वर्णन किया गया है, कि जो 'प्रकृति' और 'पुरुष'के भेदको पहचान-कर अपने 'ज्ञानचक्षुओं'के द्वारा निर्गुण परमात्माको जान लेता है, वह मुक्त हो जाता है। परंतु उसमेंभी कर्मयोगका यह सूत्र स्थिर रखा गया है, कि "सब काम प्रकृति करती है, आत्मा कर्ता नहीं है – यह जाननेसे कर्म बंधक नहीं होते" (गीता १३. २९); और भक्तिका "ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति" (गीता. १३. २४) यह सूत्रभी स्थिर रखा है। **चौदाहवें अध्यायमें** इसी ज्ञानका वर्णन करते हुए सांख्य-शास्त्रके अनुसार बतलाया गया है, कि सर्वत्र एकही आत्मा या परमेश्वरके होनेपरभी प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम गुणोंके भेदोंके कारण संसारमें वैचित्र्य उत्पन्न होता है। आगे कहा गया है, कि जो मनुष्य प्रकृतिके इस खेलको जानकर और अपनेको कर्ता न समझ भक्तियोगसे परमेश्वरकी सेवा करता है, वही सच्चा त्रिगुणातीत या मुक्त है। अंतमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर स्थितप्रज्ञ और भक्तिमान् पुरुषकी स्थितिके समानही त्रिगुणातीतकी स्थितिका वर्णन किया गया है। श्रुति-ग्रंथोंमें परमेश्वरका कहीं कहीं वृक्षरूपसे जो वर्णन पाया जाता है, उसीका **पंद्रहवें अध्यायके** आरंभमें वर्णन करके भगवानने बतलाया है, कि जिसे सांख्यवादी "प्रकृतिका पसारा" कहते हैं, वही यह अश्वत्थ वृक्ष है; और अंतमें भगवानने अर्जुनको यह उपदेश किया है, कि क्षर और अक्षर दोनोंके परे जो पुरुषोत्तम है, उसे पहचानकर उसकी 'भक्ति' करनेसे मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है; तूभी ऐसाही कर। **सोलहवें अध्यायमें** कहा गया है, कि प्रकृतिभेदके कारण संसारमें जैसे वैचित्र्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मनुष्योंमेंभी दो भेद अर्थात् दैवी संपत्तिवाले और आसुरी संपत्तिवाले होते हैं; इसके वाद उनके कर्मोंका वर्णन किया गया है; और यह बतलाया गया है, कि उन्हें कौन-सी गति प्राप्त होती है। अर्जुनके पूछनेपर **सत्रहवें अध्यायमें** इस बातका विवेचन किया गया है, कि त्रिगुणात्मक प्रकृतिके गुणोंकी विषमताके कारण उत्पन्न होनेवाला वैचित्र्य श्रद्धा, दान, यज्ञ, तप इत्यादिमेंभी दीख पड़ता है। इसके बाद यह बतलाया गया है, कि 'ॐ तत्सत्' इस ब्रह्मनिर्देशके 'तत्' पदका अर्थ "निष्कामबुद्धिसे किया गया कर्म" और 'सत्' पदका अर्थ "अच्छा परंतु काम्य-बुद्धिसे किया गया कर्म" होता है; और इस अर्थके अनुसार वह सामान्य ब्रह्म-निर्देशभी

कर्मयोग-मार्गकेही अनुकूल है। सारांश-रूपसे सातवें अध्यायसे लेकर सत्रहवें अध्याय-तक ग्यारह अध्यायोंका तात्पर्य यही है, कि संसारमें चारों ओर एकही परमेश्वर व्याप्त है, फिर तुम चाहे उसे विश्वरूप-दर्शनके द्वारा पहचानो, चाहे ज्ञान-चक्षुके द्वारा। शरीरमें क्षेत्रज्ञभी वही है, और क्षर-सृष्टिमें अक्षरभी वही है। वही दृश्य सृष्टिमें व्याप्त है, और उसके बाहर अथवा परेभी है। यद्यपि वह एक है, तोभी प्रकृतिके गुणभेदके कारण व्यक्त सृष्टिमें नानात्व या वैचित्र्य दीख पड़ता है, और इस मायासे अथवा प्रकृतिके गुणभेदके कारणही दान, श्रद्धा, तप, यज्ञ, धृति, ज्ञान इत्यादि तथा मनुष्योंमेंभी अनेक भेद हो जाते हैं। परंतु इन सब भेदोंमें जो एकता है, उसे पहचानकर उस एक और नित्य तत्त्वकी उपासनाके द्वारा – फिर वह उपासना चाहे व्यक्तकी हो, अथवा अव्यक्तकी – प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धिको स्थिर और सम करे, तथा उस निष्काम, सात्त्विक अथवा साम्य-बुद्धि-सेही संसारमें स्वधर्मानुसार प्राप्त सब व्यवहार केवल कर्तव्य समझ किया करे। इस ज्ञान-विज्ञानका प्रतिपादन, इस ग्रंथके अर्थात् गीतारहस्यके पिछले प्रकरणोंमें विस्तृत रीतिसे किया गया है, इसलिये हमने सातवें अध्यायसे लगाकर सत्रहवें अध्यायतकका सारांशही इस प्रकरणमें दिया है – अधिक विस्तार नहीं किया। हमारा प्रस्तुत उद्देश्य केवल गीताके अध्यायोंकी संगति देखनाही है; अतएव उस कामके लिये जितना भाग आवश्यक है, उतनेकाही हमने यहाँ उल्लेख किया है।

कर्मयोगमें कर्मकी अपेक्षा बुद्धिही श्रेष्ठ है, इसलिये इस बुद्धिको शुद्ध और सम करनेके लिये परमेश्वरकी सर्वव्यापकता अर्थात् सर्वभूतान्तर्गत आत्मैक्यका जो 'ज्ञानविज्ञान' आवश्यक होता है, उसका वर्णन आरंभ करके अबतक इस बातका निरूपण किया गया, कि भिन्न भिन्न अधिकारके अनुसार व्यक्त या अव्यक्तकी उपासनाके द्वारा जब यह यह ज्ञान हृदयमें भिद जाता है, तब बुद्धिको स्थिरता और समता प्राप्त हो जाती है; और कर्मोंका त्याग न करनेपरभी अंतमें मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। इसीके साथ क्षराक्षरका और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञकाभी विचार किया गया है। परंतु भगवानने निश्चित रूपसे कह दिया है, कि इस प्रकार बुद्धिके सम हो जानेपरभी कर्मोंका त्याग करनेकी अपेक्षा फलाशाको छोड़ देना और लोकसंग्रहके लिये आमरण कर्मही करते रहना अधिक श्रेयस्कर है (गीता ५.२)। अतएव स्मृति-ग्रंथोंमें वर्णित 'संन्यासाश्रम' इस कर्मयोगमें नहीं होता; और इससे मन्वादि स्मृति-ग्रंथोंका तथा इस कर्मयोगका विरोध हो जाना संभव है। इसी शंकाको मनमें लाकर **अठारहवें अध्यायके** आरंभमें अर्जुनने 'संन्यास' और 'त्याग'का रहस्य पूछा है। भगवान् इस विषयमें यह उत्तर देते हैं, कि 'संन्यास'का मूल अर्थ 'छोड़ना' है; और कर्मयोग-मार्गमें यद्यपि कर्मोंको नहीं छोड़ते, तथापि फलाशाको छोड़ते हैं, इसलिये, कर्मयोग तत्त्वतः संन्यासही होता है; क्योंकि यद्यपि संन्यासीका भेष धारण करके भिक्षा न माँगी जावे, तथापि वैराग्यका और संन्यासका जो तत्त्व स्मृतियोंमें कहा

गया है – अर्थात् बुद्धिका निष्काम होना – वह कर्मयोगमेंभी स्थिर रहता है। परंतु फलाशाके छूटनेसे स्वर्ग-प्राप्तिकीभी आशा नहीं रहती, इसलिये यहाँ एक और शंका उपस्थित होती है, कि ऐसी दशामें यज्ञयागादिक श्रौतकर्म करनेकी क्या आवश्यकता है ? इसपर भगवानने अपना यह निश्चित मत बतलाया है, कि उपर्युक्त कर्म चित्त-शुद्धिकारक हुआ करते हैं; इसलिये उन्हेंभी अन्य कर्मोंके साथ निष्काम बुद्धिसे करते रहना चाहिये और इस प्रकार लोकसंग्रहके लिये यज्ञचक्रको हमेशा जारी रखना चाहिये। अर्जुनके प्रश्नोंका इस प्रकार उत्तर देनेपर प्रकृति-स्वभावानुरूप ज्ञान, कर्म_ कर्ता, बुद्धि, धृति और सुखके जो सात्त्विक, तामस और राजस भेद हुआ करते हैं, उनका निरूपण करके गुणवैचित्र्यका विषय पूरा किया है। इसके बाद निश्चय किया गया है, कि निष्काम कर्म, निष्काम कर्ता, आसक्ति-रहित बुद्धि, अनासक्तिसे होनेवाला सुख, और 'अविभक्तं विभक्तेषु' इस नियमके अनुसार होनेवाला आत्मैक्य-ज्ञान – येही सात्त्विक या श्रेष्ठ हैं। इसी तत्त्वके अनुसार चातुर्वर्ण्यकीभी उपपत्ति बतलाई गई है और कहा गया है, कि चातुर्वर्ण्य-धर्मसे प्राप्त हुए कर्मोंको सात्त्विक अर्थात् निष्काम बुद्धिसे केवल कर्तव्य मानकर करते रहनेसेही मनुष्य इस संसारमें कृतकृत्य हो जाता है और अंतमें उसे शांति तथा मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। अंतमें भगवानने अर्जुनको भक्ति-मार्गका यह निश्चित उपदेश किया है, कि कर्म तो प्रकृतिका धर्म है, इसलिये यदि तू उन्हें छोड़ना चाहे, तोभी वे न छूटेंगे, अतएव यह समझकर, कि सब करनेवाला और करानेवाला परमेश्वरही है, तू उसकी शरणमें जा और सब काम निष्काम बुद्धिसे करता जा। मैंही वह परमेश्वर हूँ, मुझपर विश्वास रख, मुझे भज, मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूँगा। ऐसा उपदेश करके भगवानने गीताके प्रवृत्ति-प्रधान धर्मका निरूपण पूरा किया है। सारांश यह है, कि इस लोक और परलोक इन दोनोंका विचार करके ज्ञानवान् एवं शिष्ट जनोंने 'सांख्य' और 'कर्मयोग' नामक जिन दो निष्ठाओंको प्रचलित किया हैं, उन्हींसे गीताके उपदेशका आरंभ हुआ है। इन दोनोंमें-से, पाँचवें अध्यायके निर्णयानुसार, जिस कर्मयोगीकी योग्यता अधिक है, जिस कर्मयोगकी सिद्धिके लिये छठे अध्यायमें पातंजलयोगका वर्णन किया है, जिस कर्मयोगके आचरणकी विधिका वर्णन अगले ग्यारह अध्यायोंमें (७ से १७ तक) पिंडब्रह्मांड-ज्ञानपूर्वक विस्तारसे किया गया है; और यह कहा गया है, कि उस विधिसे आचरण करनेपर परमेश्वरका पूरा ज्ञान हो जाता है, एवं अंतमें मोक्षकी प्राप्ति होती है, उसी कर्मयोगका समर्थन अठारहवें अध्यायमें अर्थात् अंतमेंभी है। और मोक्षरूपी आत्मकल्याणके आड़े न आकर परमेश्वरार्पण-पूर्वक केवल कर्तव्य-बुद्धिसे स्वधर्मानुसार लोकसंग्रहके लिये सब कर्मोंको करते रहनेका जो यह योग या युक्ति है, उसकी श्रेष्ठताका यह भगवत्प्रणीत उपपादन जब अर्जुनने सुना, तभी उसने संन्यास लेकर भिक्षा माँगनेका अपना पहला विचार छोड़ दिया और अब – केवल भगवानके कहनेहीसे नहीं; किंतु कर्माकर्म-शास्त्रका पूर्ण ज्ञान हो जानेके

कारण – वह स्वयं अपनी इच्छासे युद्ध करनेके लिये प्रवृत्त हो गया है। अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेके लियेही गीताका आरंभ हुआ है ; और उसका अंतभी वैसेही हुआ है (गीता १८. ७३)।

गीताके अठारह अध्यायोंकी जो संगति ऊपर बतलाई गई है, उससे यह प्रकट हो जायगा, कि गीता केवल कर्म, भक्ति और ज्ञान इन तीन स्वतंत्र निष्ठाओंकी खिचड़ी नहीं है; अथवा वह सूत, रेशम और जरीके चिथड़ोंकी सिली हुई गुदड़ी नहीं है; वरन् दीख पड़ेगा, कि सूत, रेशम और जरीके ताने-बानेको यथास्थानमें योग्य रीतिसे एकत्र करके, यह कर्मयोग नामक मूल्यवान् और मनोहर गीतारूपी वस्त्र आदिसे अंत तक "अत्यंत योगयुक्त चित्तसे" एक-सा बुना गया है। यह सच है, कि निरूपणकी पद्धति संवादात्मक होनेके कारण शास्त्रीय पद्धतिकी अपेक्षा वह, ज़रा ढीली है, परंतु यदि इस बातपर ध्यान दिया जाय, कि संवादात्मक निरूपणसे शास्त्रीय पद्धतिकी रुक्षता हट गई है; और उसके बदले गीतामें सुलभता और प्रेमरस भरगया है, तो शास्त्रीय पद्धतिके हेतु-अनुमानोंकी केवल बुद्धिग्राह्य तथा नीरस कटकट छूट जानेका किसीकोभी तिलमात्र बुरा न लगेगा। इसी प्रकार यद्यपि गीता-निरूपणकी पद्धति पौराणिक या संवादात्मक है, तोभी यह बात इस ग्रंथके कुल-विवेचन-से मालूम हो जायगी, कि ग्रंथपरीक्षणकी मीमांसकोंकी सब कसौटियोंपर कसनेपरभी गीताका तात्पर्य निश्चित करनेमें कुछभी बाधा नहीं होती। गीताका आरंभ देखा जाय तो मालूम होगा, कि अर्जुन क्षात्र-धर्मके अनुसार लड़ाई करनेके लिये चला था। जब धर्माधर्मकी विचिकित्साके चक्करमें पड़ गया, तब उसे वेदान्त-शास्त्रके आधारपर प्रवृत्ति-प्रधान कर्मयोग-धर्मका उपदेश करनेके लिये गीता प्रवृत्त हुई है; और हमने पहलेही प्रकरणमें यह बतला दिया है, कि गीताके उपसंहार और फल दोनों इसी प्रकारके अर्थात् प्रवृत्ति-प्रधानही हैं। इसके बाद हमने बतलाया है, कि गीतामें अर्जुनको जो उपदेश किया है, उसमें "तू युद्ध अर्थात् कर्मही कर" ऐसा दस-बारह बार स्पष्ट रीतिसे और पर्यायसे तो अनेक बार (अभ्यास) बतलाया है; और हमने यहभी बतलाया है, कि संस्कृत-साहित्यमें कर्मयोगकी उपपत्ति बतलानेवाला गीताके सिवा दूसरा ग्रंथ नहीं है, इसलिये **अभ्यास** और **अपूर्वता** इन दो प्रमाणोंसे गीतामें कर्मयोगकी प्रधानताही अधिक व्यक्त होती है। मीमांसकोंने ग्रंथ-तात्पर्यका निर्णय करनेके लिये जो कसौटियाँ बतलाई हैं, उनमेंसे **अर्थवाद** और **उपपत्ति** ये दोनों शेष रह गईं थी। उनके विषयमें पहले पृथक् पृथक् प्रकरणोंमें और अब गीताके अध्यायोंके क्रमानुसार इस प्रकरणमें जो विवेचन किया गया है, उससे यही निष्पन्न हुआ है, कि गीतामें अकेला 'कर्मयोग'ही प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रकार ग्रंथतात्पर्य-निर्णयके मीमांसकोंके सब नियमोंका उपयोग करनेपर यही बात निर्विवाद सिद्ध होती है, कि गीता-ग्रंथमें ज्ञानमूलक और भक्ति-प्रधान कर्मयोगहीका प्रतिपादन किया गया है। अब इसमें संदेह नहीं, कि इसके अतिरिक्त शेष सब गीता-तात्पर्य

केवल सांप्रदायिक हैं। यद्यपि से सब तात्पर्य सांप्रदायिक हों, तथापि ये प्रश्न किया जा सकता है, कि कुछ लोगोंको गीतामें ये सांप्रदायिक अर्थ – विशेषत: संन्यास-प्रधान अर्थ – ढूंढ़नेका मौक़ा कैसे मिल गया? जबतक इस प्रश्नकाभी विचार न हो जायगा, तब तक यह नहीं कहा जा सकता, कि सांप्रदायिक अर्थोंकी चर्चा पुरी हो चुकी है, इसलिये अब संक्षेपमें इसी बातका विचार किया जायगा, कि ये सांप्रदायिक टीकाकार गीताका संन्यास-प्रधान अर्थ कैसे कर सकें, और फिर यह प्रकरण पूरा किया जायगा।

हमारे शास्त्रकारोंका यह सिद्धान्त है, कि चूंकि मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है, इसलिये पिंड-ब्रह्मांडके तत्त्वको पहचाननाही उसका मुख्य काम या पुरुषार्थ है; और इसीको धर्मशास्त्रमें 'मोक्ष' कहते हैं। परंतु दृश्य सृष्टिके व्यवहारोंकी ओर ध्यान देकर शास्त्रोंमेंही यह प्रतिपादन किया गया है, कि पुरुषार्थ चार प्रकारके हैं – जैसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यह पहलेही बतला दिया गया है, कि इस स्थानपर 'धर्म' शब्दका अर्थ व्यावहारिक, सामाजिक और नैतिक धर्म समझना चाहिये। अब पुरुषार्थको इस प्रकार चतुर्विध माननेपर यह प्रश्न सहजही उत्पन्न हो जाता है, कि पुरुषार्थके चारों अंग या भाग परस्पर पोषक हैं या नहीं? इसलिये स्मरण रहे, कि पिंडमें और ब्रह्मांडमें जो तत्त्व है, उसका ज्ञान हुएबिना मोक्ष नहीं मिलता, फिर वह ज्ञान किसीभी मार्गसे प्राप्त हो। इस सिद्धान्तके विषयमें शाब्दिक मतभेद भलेही हो; परंतु तत्त्वत: कुछ मतभेद नहीं है। कमसे कम गीता-शास्त्रका तो यह सिद्धान्त सर्वथैव ग्राह्य है। इसी प्रकार गीताको यह तत्त्वभी पूर्णतया मान्य है, कि यदि अर्थ और काम, इन दोनों पुरुषार्थोंको प्राप्त करना हो, तो वेभी नीति-धर्मसेही प्राप्त किये जावें। अब केवल धर्म '(अर्थात् व्यावहारिक चातुर्वर्ण्य-धर्म) और मोक्षके पारस्परिक संबंधकाही निर्णय करना शेष रह गया। इनमेंसे धर्मके विषयमें तो यह सिद्धान्त सभी पक्षोंको मान्य है, कि धर्म के द्वारा चित्तको शुद्ध किये बिना मोक्षकी बात ही करना व्यर्थ है। परंतु इस प्रकार चित्तको शुद्ध करनेके लिये बहुत समय लगता है; इसलिये मोक्षकी दृष्टिसे विचार करनेपरभी यही सिद्ध होता है, कि तत्पूर्वकालमें पहले पहल संसारके सब कर्तव्योंको 'धर्म-से' पूरा कर लेना चाहिये (मनु. ६. ३५–३७)। संन्यासका अर्थ है 'छोड़ना'; और जिसने धर्मके द्वारा इस संसारमें कुछ प्राप्त या सिद्ध नहीं किया है वह त्यागही क्या करेगा? अथवा जो 'प्रपंच' (सांसारिक कर्म) ही ठीक ठीक साध नहीं सकता, उस 'अभागी'से परमार्थभी कैसे ठीक सधेगा (दास. १२. १. १–१०; १२. ८. २१–३१)? किसीका अंतिम उद्देश्य या साध्य चाहे सांसारिक हो अथवा पारमार्थिक, परंतु यह बात प्रकट है, कि उसकी सिद्धिके लिये दीर्घ प्रयत्न, मनोनिग्रह और सामर्थ्य इत्यादि गुणोंकी एक-सी आवश्यकता होती है; और जिसमें ये गुण विद्यमान नहीं होते, उसे किसीभी उद्देश्य या साध्यकी प्राप्ति नहीं होती। इस बातको मान लेनेपरभी कुछ

लोग इससे आगे बढ़कर कहते हैं, कि जब दीर्घ प्रयत्न और मनोनिग्रहके द्वारा आत्मज्ञान हो जाता है, तब अंतमें संसारके विषयोपभोगरूपी सब व्यवहार निस्सार प्रतीत होने लगते हैं; और जिस प्रकार साँप अपनी निरुपयोगी केंचुलीको छोड़ देता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषभी सब सांसारिक विषयोंको छोड़ केवल परमेश्वर-स्वरूपमेंही लीन हो जाया करते है (बृ. ४. ४. ७)। जीवन व्यतीत करनेके इस मार्गमें चूँकि सब व्यवहारोंका त्यागकर अंतमें केवल ज्ञानकोही प्रधानता दी जाती है, अतएव उसे ज्ञाननिष्ठा, सांख्यनिष्ठा अथवा सब व्यवहारोंका त्याग करनेसे संन्यास निष्ठाभी कहते हैं। परंतु इसके विपरीत गीताशास्त्रमें कहा है, कि आरंभमें चित्तकी शुद्धताके लिये 'धर्म'की आवश्यकता तो हैही, परंतु आगे चित्तकी शुद्धि होनेपरभी – स्वयं अपने लिये विषयोपभोगरूपी व्यवहार चाहे तुच्छ हो जावें; तोभी – उन्हीं व्यवहारोंको केवल स्वधर्म और कर्तव्य समझकर, लोकसंग्रहके लिये निष्काम बुद्धिसे करते रहना आवश्यक है। यदि ज्ञानी मनुष्य ऐसा न करेगा, तो लोगोंको आदर्श बतलानेवाला कोईभी न रहेगा, और फिर इस संसारका नाश हो जायगा। इस कर्मभूमिमें किसी-केभी कर्म छूट नहीं सकते; और यदि बुद्धि निष्काम हो जावे, तो कोईभी कर्म मोक्षके आड़े आ नहीं सकता। इसलिये संसारके कर्मोंका त्याग न कर सब व्यवहारोंको विरक्त-बुद्धिसे अन्य जनोंकी नाईं मृत्युपर्यंत करते रहनाही ज्ञानी पुरुषकाभी कर्तव्य हो जाता है। गीता-प्रतिपादित जीवन व्यतीत करनेके इस मार्गकोही कर्मनिष्ठा या कर्मयोग कहते हैं। परंतु यद्यपि कर्मयोग इस प्रकार श्रेष्ठ निश्चित किया गय-है, तथापि उसके लिये गीतामें संन्यास-मार्गकी कहींभी निंदा नहीं की गई है, उलटे. यह कहा है, कि वहभी मोक्षका देनेवालाही है। स्पष्टही है, कि सृष्टिके आरंभमें सनत्कुमार प्रभृतिने और आगे चल कर शुक-याज्ञवल्क्य आदि ऋषियोंने जिस मार्गका स्वीकार किया है, उसे भगवानभी किस प्रकार सर्वथैव त्याज्य कहेंगे ? संसारके व्यवहार किसी मनुष्यको अंशतः उसके प्रारब्ध-कर्मानुसार प्राप्त हुए जन्म-स्वभावसे नीरस या मधुर मालूम होते हैं; और यह पहले कह चुके हैं, कि ज्ञान हो जानेपरभी प्रारब्ध-कर्मको भोगे बिना छुटकारा नहीं। इसलिये इस प्रारब्ध-कर्मानुसार प्राप्त हुए जन्म-स्वभावके कारण यदि किसी ज्ञानी पुरुषका जो सांसारिक व्यवहारोंसे ऊब जावे; और यदि वह संन्यासी हो जाये, तो उसकी निंदा करनेसे कोई लाभ नहीं। आत्मज्ञानके द्वारा जिस सिद्ध पुरुषकी बुद्धि निःसंग और पवित्र हो गई है, वह इस संसारमें चाहे और कुछ करे, या न करे, परंतु इस बातको नहीं भूलना चाहिये, कि वह मानवी बुद्धिकी शुद्धताकी परम सीमा, और विषयोंमें स्वभावतः लुब्ध होनेवाली हठीली मनोवृत्तियोंको अपने ताबेंमें रखनेकी सामर्थ्यकी पराकाष्ठा सब लोगोंको प्रत्यक्ष रीति-से दिखला देता है। उसका यह कार्य लोकसंग्रहकी दृष्टिसेभी कुछ छोटा नहीं है। लोगोंके मनमें संन्यास-धर्मके विषयमें जो आदर-बुद्धि विद्यमान है, उसका सच्चा कारण यही है; और मोक्षकी दृष्टिसे वह गीताकोभी संमत है। परंतु केवल

जन्म-स्वभावकी ओर, अर्थात् प्रारब्ध-कर्मकीही ओर ध्यान न देकर यदि शास्त्रकी रीतिके अनुसार इस बातका विचार किया जावे, कि जिसने पूरी आत्म-स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है, उस ज्ञानी पुरुषको इस कर्म-भूमिमें किस प्रकार बर्ताव करना चाहिये; तो गीताके अनुसार यह सिद्धान्त करना पड़ता है, कि कर्मत्याग-पक्ष गौण है; और सृष्टिके आरंभमें मरीचि प्रभृतिने तथा आगे चल कर जनक आदिकोंने जिस कर्मयोगका आचरण किया है, उसीको ज्ञानी पुरुष लोकसंग्रहके लिये स्वीकार करे। क्योंकि, अब न्यायतः यही कहना पड़ता है, कि परमेश्वरकी निर्माण की हुई सृष्टिको चलानेका कामभी ज्ञानी मनुष्यकोही करना चाहिये; और, इस मार्गमें ज्ञान-सामर्थ्यके साथही कर्म-सामर्थ्यकाभी विरोधरहित मेल होनेके कारण, यह कर्मयोग केवल सांख्यमार्गकी अपेक्षा कहीं अधिक योग्यताका निश्चित होता है।

सांख्य और कर्मयोग, इन दोनों निष्ठाओंमें जो मुख्य भेद है, उसका उक्त रीति-से विचार करने पर **सांख्य + निष्काम कर्म = कर्मयोग** यह समीकरण निष्पन्न होता है; और वैशंपायनके कथनानुसार गीता-प्रतिपादन प्रवृत्ति-प्रधान कर्मयोगके प्रतिपादनमेंही सांख्य-निष्ठाके निरूपणकाभी सरलतासे समावेश हो जाता है (मभा. शां. ३४८. ५३); और इसी कारणसे गीताके संन्यास-मार्गीय टीकाकारोंको यह बतलानेके लिये अच्छा अवसर मिल गया है, कि गीतामें उनका सांख्य या संन्यास-मार्गही प्रतिपादित है। गीताके जिन श्लोकोंमें कर्मको श्रेयस्कर निश्चित कर कर्म करनेको कहा है, उन श्लोकोंकी ओर ध्यान न देनेसे अथवा यह मनगढ़ंत बात कह देनेसे, कि वे सब श्लोक अर्थवादात्मक अर्थात् आनुषंगिक एवं प्रशंसात्मक हैं या किसी अन्य युक्तिसे उपर्युक्त समीकरणके ' निष्काम कर्म 'को उड़ा देनेसे, उसी समीकरणका ' सांख्य = कर्मयोग ' यह रूपांतर हो जाता है; और फिर यह कहनेके लिये अवसर मिल जाता है, कि गीतामें सांख्य-मार्गकाही प्रतिपादन किया है। परंतु इस रीतिसे गीताका अर्थ किया है, वह गीताके उपक्रमोपसंहारके अत्यंत विरुद्ध है; और इस ग्रंथमें हमने स्थान-स्थानपर स्पष्ट रीतिसे दिखला दिया है, कि गीतामें कर्मयोगको गौण तथा संन्यासको प्रधान मानना वैसेही अनुचित है, जैसे घर-मालिकको कोई उसीके घरमें पाहुना कह दे; और पाहुनेको घर-मालिक ठहरा दे; और जिन लोगोंका मत है, कि गीतामें केवल वेदान्त, केवल भक्ति या सिर्फ पातंजलयोगहीका प्रतिपादन किया गया है, उनके इन मतोंकाभी खंडन हम कर ही चुके हैं। गीतामें कौन-सी बात नहीं है ? वैदिक धर्ममें मोक्ष-प्राप्तिके जितने साधन या मार्ग हैं, उनमेंसे प्रत्येक मार्गका कुछ-न-कुछ भाग गीतामें है; और इतना होनेपरभी, " भूतभृन्न च भूतस्थो "के (गीता ९. ५) न्यायसे गीताका सच्चा रहस्य इन मार्गोंकी अपेक्षा भिन्नही है। संन्यास-मार्ग अर्थात् उपनिषदोंका यह तत्त्व गीताको ग्राह्य है, कि ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं; परंतु उसे निष्काम कर्मके साथ जोड़ देनेके कारण गीता-प्रतिपादित भागवत धर्ममेंही यति-धर्मकाभी सहजही समावेश हो गया है। तथापि गीतामें

संन्यास और वैराग्यका अर्थ यह नहीं किया है, कि कर्मोंको छोड़ देना चाहिये; किंतु यह कहा है, कि केवल फलाशाकाही त्याग करनेमें सच्चा वैराग्य या संन्यास है और अंतमें सिद्धान्त किया है, कि उपनिषत्कारोंके कर्म-संन्यासकी अपेक्षा निष्काम कर्मयोग अधिक श्रेयस्कर है। कर्मकांडी मीमांसकोंका यह मतभी गीताको मान्य है, कि यदि केवल यज्ञके लियेही वेदविहित यज्ञयागादि कर्मोंका आचरण किया जावे, तो वे बंधक नहीं होते; परंतु 'यज्ञ' शब्दका अर्थ विस्तृत करके गीताने उक्त मतमें यह सिद्धान्त और जोड़ दिया है, कि यदि फलाशा त्याग कर सब कर्म किये जावें, तो यही एक बड़ा भारी यज्ञ हो जाता है, इस लिये मनुष्यका यही कर्तव्य है, कि वह वर्णाश्रमविहित सब कर्मोंको केवल निष्काम बुद्धिसे सदैव करता रहे। सृष्टिकी उत्पत्तिके क्रमके विषयमें उपनिषत्कारोंके मतकी अपेक्षा सांख्योंका मत गीतामें प्रधान माना गया है; तोभी प्रकृति और पुरुषतकही न ठहर कर, सृष्टिके उत्पत्तिक्रमकी परंपरा उपनिषदोंमें वर्णित नित्य परमात्मापर्यंत ले जाकर भिड़ा दी गई है। केवल बुद्धिके द्वारा अध्यात्मज्ञानको प्राप्त कर लेना क्लेशदायक है, इसलिये भागवत या नारायणीय धर्ममें जो कहा है, कि उसे भक्ति और श्रद्धाके द्वारा प्राप्त कर लेना चाहिये, उस वासुदेव-भक्तिकी विधिका वर्णनभी गीतामें किया गया हैं; परंतु इस विषयमेंभी भागवत धर्मकी सब अंशोंमें कुछ नक़ल नहीं की गई है; वरन् भागवत धर्ममेंभी वर्णित जीवके उत्पत्तिविषयक इस मतको वेदान्त-सूत्रकी नाईं गीतानेभी त्याज्य माना है, कि वासुदेवसे संकर्षण या जीव उत्पन्न हुआ है; और भागवत धर्ममें वर्णित भक्तिका तथा उपनिषदोंके क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संबंधी सिद्धान्तका गीतामें पूरा पूरा मेल कर दिया है। इसके सिवा मोक्ष-प्राप्तिका दूसरा साधन पातंजलयोग है। यद्यपि गीताका कहना यह नहीं कि पातंजलयोगही जीवनका मुख्य कर्तव्य है; तथापि गीता यह कहती है, कि बुद्धिको सम करनेके लिये इंद्रियनिग्रह करनेकी आवश्यकता है, इसलिये उतने भरके लिये पातंजलयोगके यम-नियम-आसन आदि साधनोंका उपयोग कर लेना चाहिये। सारांश, वैदिक धर्ममें मोक्ष-प्राप्तिके जो जो साधन बतलाये गये हैं, उन सभीका कुछ-न-कुछ वर्णन, कर्मयोगका सांगोपांग विवेचन करनेके समय, गीतामें प्रसंगानुसार करना पड़ा है। यदि इस सब वर्णनोंको स्वतंत्र माना जाय, तो विसंगति उत्पन्न होकर ऐसा आभास होता है, कि गीताके सिद्धान्त परस्पर विरोधी हैं; और यह आभास भिन्न भिन्न सांप्रदायिक टीकाओंमें तो औरभी अधिक दृढ हो जाता है। परंतु जैसा हमने ऊपर कहा है, उसके अनुसार यदि यह सिद्धान्त किया गया, कि ब्रह्मज्ञान और भक्तिका मेल करके अंतमें उसके द्वारा कर्मयोगका समर्थन करनाही गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, तो ये सब विरोध लुप्त हो जाते हैं और पूर्ण व्यापक दृष्टिको स्वीकार कर जिस अलौकिक चातुर्यसे गीताके तत्त्वज्ञानके साथ भक्ति तथा कर्मयोगका यथोचित मेल कर दिया गया है, उसको देख दाँतों तले अंगुली दबाकर रह जाना पड़ता है। गंगामें कितनीही नदियाँ क्यों न आ मिलें;

परंतु इससे उसका मूल स्वरूप नहीं बदलता; बस, ठीक यही हाल गीताकाभी है। उसमें सब कुछ भलेही हो; परंतु उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय तो कर्मयोगही है। यद्यपि इस प्रकार कर्मयोगही मुख्य विषय है; तथापि कर्मके साथही मोक्ष-धर्मके मर्मकाभी इसमें भली भाँति निरूपण किया गया है, इसलिये कार्य-अकार्यका निर्णय करनेके हेतु बतलाया गया यह गीता-धर्मही – " स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने " (मभा. अश्व. १६. १२) – ब्रह्मकी प्राप्ति करा देनेके लियेभी पूर्ण समर्थ है; और भगवानने अर्जुनसे अनुगीताके आरंभमें स्पष्ट रीतिसे कह दिया है, कि इस मार्गसे चलनेवालेको मोक्ष-प्राप्तिके लिये किसीभी अन्य अनुष्ठानकी आवश्यकता नहीं है। हम जानते हैं, कि संन्यास-मार्गके उन लोगोंको हमारा उपरोक्त कथन रोचक प्रतीत न होगा, जो यह प्रतिपादन किया करते हैं, कि विना सब व्यावहारिक कर्मोंका त्याग किये मोक्षकी प्राप्ति होती नहीं; परंतु इसके लिये कोई अन्य उपाय नहीं है। गीता-ग्रंथ न तो संन्यास-मार्गका है और न निवृत्ति-प्रधान किसी दूसरेही पंथकाभी। इतनाही नहीं, तो गीताशास्त्रकी प्रवृत्ति इसीलिये हुई है, कि वह ब्रह्मज्ञानकी दृष्टिसे ठीक ठीक युक्तिसहित इस प्रश्नका उत्तर दे, कि ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपरभी कर्मोंका संन्यास करना अनुचित क्यों है? इसलिये संन्यास-मार्गके अनुयायियोंको चाहिये, कि वे गीताकोभी ' संन्यास देने ' की झंझटमें न पड़ 'संन्यास-मार्ग-प्रतिपादक' जो अन्य वैदिक ग्रंथ हैं, उन्हींसे संतुष्ट रहें। अथवा गीतामें संन्यास-मार्गकोभी भगवानने जिस निरभिमान बुद्धिसे निःश्रेयस्कर कहा है, उसी सम-बुद्धिसे सांख्यमार्गवालोंकोभी यह कहना चाहिये, कि " परमेश्वरका हेतु यह है, कि संसार चलता रहे; और जब कि इसीलिये वह बार बार अवतार धारण करता है, तब ज्ञानप्राप्तिके अनंतर निष्कामबुद्धिसे व्यावहारिक कर्मोंको करते रहनेके जिस मार्गका उपदेश भगवानने गीतामें दिया है, वही मार्ग कलिकालमें उपयुक्त है। " – और ऐसा कहनाही उनके लिये सर्वोत्तम पक्ष है।

पंद्रहवाँ प्रकरण

उपसंहार

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।*

– गीता ८. ७

चाहे आप गीताके अध्यायोंकी संगति या मेल देखिये, या उन अध्यायोंके विषयोंका मीमांसकोंकी पद्धतिसे पृथक् पृथक् विवेचन कीजिये; किसीभी दृष्टिसे विचार कीजिये; अंतमें गीताका यही सच्चा तात्पर्य सिद्ध होता कि "ज्ञान भक्ति-युक्त कर्मयोग "ही गीताका सार है; अर्थात् सांप्रदायिक टीकाकारोंने कर्मयोगको गौण ठहरा कर गीताके जो अनेक प्रकारके तात्पर्य बतलाये हैं, वे यथार्थ नहीं, हैं; किंतु उपनिषदोंमें वर्णित अद्वैत वेदान्तका भक्तिके साथ मेल कर उसके द्वारा बड़े बड़े कर्मवीरोंके चरित्रोंका रहस्य या उनके जीवनक्रमकी उपपत्ति बतलानाही गीताका सच्चा तात्पर्य है। मीमांसकोंके कथनानुसार केवल श्रौत-स्मार्त कर्मोंको सदैव करते रहना भलेही शास्त्रोक्त हो; तोभी ज्ञानरहित केवल तांत्रिक क्रियासे बुद्धिमान् मनुष्यका समाधान नहीं होता; और यदि उपनिषदोंमें वर्णित धर्मको देखें, तो वह केवल ज्ञानमय होनेके कारण अल्प-बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये अत्यंत कष्टसाध्य है। इसके सिवा एक और बात है, उपनिषदोंका संन्यास-मार्गभी लोक-संग्रहका बाधक है; इसलिये भगवानने ऐसे ज्ञानमूलक, भक्ति-प्रधान और निष्काम कर्मविषयक धर्मका उपदेश गीतामें किया है, कि जिसका पालन आमरण किया जावे; जिससे बुद्धि (ज्ञान), प्रेम (भक्ति) और कर्तव्यका ठीक ठीक मेल हो जावे; मोक्षकी प्राप्तिमें कुछ अंतर न पड़ने पावे; और लोक-व्यवहारभी सरलतासे होता रहे। इसीमें कर्म-अकर्मके शास्त्रका सब सार भरा हुआ है। अधिक क्या कहें, गीताके उपक्रम-उपसंहारसे यह बात स्पष्टतया विदित हो जाती है, कि अर्जुनको इस धर्मका उपदेश करनेमें कर्म-अकर्मका विवेचनही मूल कारण है। इस बातका विचार दो तरहसे किया जाता है, कि किस कर्मको धर्म्य, पुण्यप्रद, न्याय्य या श्रेयस्कर कहना चाहिये; और किस कर्मको इसके विरुद्ध अर्थात् अधर्म्य, पापप्रद, अन्याय्य या गर्ह्य कहना चाहिये। पहली रीति यह है, कि उपपत्ति, कारण या मर्म न बतलाकर केवल यह कह दे, कि किसी कामको अमुक रीतिसे करो, कि तो वह शुद्ध होगा, और अन्य रीतिसे करो, तो अशुद्ध हो जायगा। उदाहरणार्थ – हिंसा मत करो, चोरी मत

---

* "इसलिये सदैव मेरा स्मरण कर और लड़ाई कर।" लड़ाई कर – शब्दकी योजना यहांपर प्रसंगानुसार की गई है; परंतु उसका अर्थ केवल 'लड़ाई कर' ही नहीं है, यह अर्थभी समझा जाना चाहिये, कि "यथाधिकार कर्म कर।"

करो, सच बोलो, धर्माचरण करो, इत्यादि बातें इसी प्रकारकी हैं। मनुस्मृति आदि स्मृति-ग्रंथोंमें तथा उपनिषदोंमें ये विधियाँ, आज्ञाएँ अथवा आचार स्पष्ट रीतिसे बतलाये गये हैं। परंतु मनुष्य ज्ञानवान् प्राणी है; इसलिये उसका समाधान केवल ऐसी विधियों या आज्ञाओंसे नहीं हो सकता; क्योंकि मनुष्यकी यही स्वाभाविक इच्छा होती है, कि वह उन नियमोंके बनाये जानेका कारणभी जान ले; और इसलिये वह विचार करके इन नियमोंके नित्य तथा मूल तत्त्वकी खोज़ करता है – बस; यही दूसरी रीति है, कि जिसमें कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदिका विचार किया जाता है। व्यावहारिक धर्मके अंतको इस रीतिसे देखकर उसके मूल तत्त्वोंको ढूँढ़ निकालना शास्त्रका काम है; तथा उस विषयके केवल नियमोंको एकत्र करके बतलाना आचारसंग्रह कहलाता है। कर्ममार्गका आचार-संग्रह स्मृति-ग्रंथोंमें है; और उनके आचारोंके मूल तत्त्वोंका शास्त्रीय अर्थात् तात्त्विक विवेचन भगवद्गीतामें संवाद-पद्धतिसे या पौराणिक रीतिसे किया गया है। अतएव भगवद्गीताके प्रतिपाद्य विषयको केवल **कर्मयोग** न कहकर **कर्मयोगशास्त्र** कहनाही अधिक उचित तथा प्रशस्त होगा; और यही **योगशास्त्र** शब्द भगवद्गीताके अध्याय-समाप्ति-सूचक संकल्पमें आया है। जिन पश्चिमी पंडितोंने पारलौकिक दृष्टिको त्याग दिया है या जो लोग उसे गौण मानते है, वे गीतामें प्रतिपादित कर्मयोगशास्त्रकोही भिन्न भिन्न लौकिक नाम दिया करते हैं – जैसे सद्व्यवहारशास्त्र, सदाचारशास्त्र, नीतिशास्त्र, नीतिमीमांसा, नीतिशास्त्रके मूल तत्त्व, कर्तव्यशास्त्र, कार्य-अकार्य व्यवस्थिति, समाजधारण।-शास्त्र इत्यादि। इन लोगोंकी नीति-मीमांसाकी पद्धतिभी लौकिकही रहती है। इसी कारणसे ऐसे पाश्चात्त्य पंडितोंके ग्रंथोंका जिन्होंने अवलोकन किया है, उनमेंसे बहुतोंकी यह समझ हो जाती है, कि संस्कृत साहित्यमें सदाचरण या नीतिके मूल तत्त्वोंकी चर्चा किसीने नहीं की है। वे कहने लगते हैं कि, "हमारे यहाँ जो कुछ गहन तत्त्वज्ञान है, वह सिर्फ़ हमारा वेदान्तही है; और वर्तमान वेदान्त-ग्रंथोंको देखो; तो मालूम होगा, कि वे सांसारिक कर्मोंके विषयमें प्राय: उदासीन हैं। ऐसी अवस्थामें कर्मयोगशास्त्रका अथवा नीतिका विचार कहाँ मिलेगा? यह विचार व्याकरण अथवा न्यायके ग्रंथोंमें तो मिलनेवाला हैही नहीं; और स्मृति-ग्रंथोंमें धर्मशास्त्रके संग्रहके सिवा और कुछभी नहीं; इसलिये हमारे प्राचीन शास्त्रकार, मोक्षहीके गूढ विचारोंमें निमग्न होनेके कारण सदाचरणके या नीतिधर्मके मूल-तत्त्वोंका विवेचन करना भूल गये!" परंतु महाभारत और गीताको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे यह भ्रमपूर्ण समझ दूर हो जा सकती है। इतनेपरभी कुछ लोग कहते हैं, कि महाभारत एक अत्यंत विस्तीर्ण ग्रंथ है, इसलिये उसको पढ़कर पूर्णतया मनन करना बहुतही कठिन है; और गीता यद्यपि एक छोटा-हा ग्रंथ है तोभी उसमें सांप्रदायिक टीकाकारोंके मतानुसार केवल मोक्ष-प्राप्तिहीका ज्ञान बतलाया गया है। परंतु किसीने इस बातको नहीं जाँचा, कि संन्यास और कर्मयोग, दोनों मार्ग हमारे यहाँ वैदिक कालसेही

प्रचलित हैं; किसीभी समय समाजमें संन्यास-मार्गियोंकी अपेक्षा कर्मयोगमेंही अनुयायियोंकी संख्या हजारों गुना अधिक हुआ करती है; और, पुराण-इतिहासके जिन कर्मशील महापुरुषोंका अर्थात् कर्मवीरोंका वर्णन है, वे सब कर्मयोग-मार्गकाही अवलंब करनेवाले थे। यदि थे सब बातें सच हैं, तो क्या इन कर्मवीरोंसे किसीकोभी यह नहीं सूझा होगा, कि अपने कर्मयोग-मार्गका समर्थन किया जाना चाहिये ? अच्छा; यदि कहा जाय, कि उस समय जितना ज्ञान था, वह सब ब्राह्मण जातिमेंही था; और वेदान्ती ब्राह्मण कर्म करनेके विषयमें उदासीन रहा करते थे; इसलिये कर्मयोगविषयक ग्रंथ नहीं लिखे गये होंगे; तोभी यह आक्षेप उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपनिषत्कालमें और उसके बाद क्षत्रियोंमेंभी जनक और श्रीकृष्ण सरीखे ज्ञानी पुरुष हो गये हैं; और व्याससदृश बुद्धिमान् ब्राह्मणोंने बड़े बड़े क्षत्रियोंका इतिहासभी लिखा है। इस इतिहासको लिखते समय क्या उनके मनमें यह विचार न आया होगा, कि जिन प्रसिद्ध पुरुषोंका इतिहास हम लिख रहे हैं, उनके चरित्रके मर्म या रहस्यकोभी प्रकट कर देना चाहिये ? इस मर्म या रहस्यको कर्मयोग अथवा व्यवहारशास्त्र कहते हैं; और इसे बतलानेके लियेही महाभारतमें स्थान-स्थानपर सूक्ष्म धर्म-अधर्मका विवेचन करके, अंतमें संसारके धारण एवं पोषणके लिये कारणभूत सदाचरण अर्थात् धर्मके मूल तत्त्वोंका विवेचन मोक्ष-दृष्टिको न छोड़ते हुए गीतामें किया गया है। अन्यान्य पुराणोंमें भी ऐसे बहुतसे प्रसंग पाये जाते हैं। परंतु गीताके तेजके सामने अन्य सब विवेचन फीके पड़ जाते हैं; इसी कारणसे भगवद्गीता कर्मयोग-शास्त्रका प्रधान ग्रंथ हो गया है। हमने इस बातका पिछले प्रकरणोंमें विस्तृत विवेचन किया है, कि कर्मयोगका सच्चा स्वरूप क्या है। तथापि जबतक इस बातकी तुलना न की जावे, कि गीतामें वर्णन किये गये कर्म-अकर्मके आध्यात्मिक मूल तत्त्वोंसे पश्चिमी पडितों द्वारा प्रतिपादित नीतिके मूलतत्त्व कहाँ तक मिलते हैं; तबतक यह नहीं कहा जा सकता, कि गीता-धर्मका निरूपण पूरा हो गया। इस प्रकार तुलना करते समय दोनों ओरके अध्यात्मज्ञानकीभी तुलना करनी चाहिये। परंतु यह बात सर्वमान्य है, कि अबतक पश्चिमी आध्यात्मिक ज्ञानकी पहुँच हमारे वेदान्तसे अधिक दूरतक नहीं होने पाई है; इसी कारणसे पूर्वी और पश्चिमी अध्यात्मशास्त्रोंकी तुलना करनेकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती।* ऐसी अवस्थामें अब केवल उस नीति-

---

* वेदान्त और पश्चिमी तत्त्वज्ञानकी तुलना प्रोफेसर डायसनके *The Elements of Metaphysics* नामक ग्रंथमें कई स्थानोंमें की गई है। इस ग्रंथके दूसरे संस्करणके अंतमें 'On the Philosophy of Vedanta' इस विषयपर एक व्याख्यानभी छापा गया है। जब प्रो. डायसन सन १८९३ में हिंदुस्थानमें आये थे, तब उन्होंने बंबईकी रायल एशियाटिक सोसायटीमें यह व्याख्यान दिया था। इसके अतिरिक्त *The Religion and Philosophy of the Upanishads* नामक डायसनसाहबका ग्रंथभी इस विषयपर पढ़ने योग्य है।

शास्त्रकी अथवा कर्मयोगकी तुलनाकाही विषय बाकी रह जाता है, जिसके बारेमें कुछ लोगोंकी समझ है, कि इसकी उपपत्ति हमारे प्राचीन शास्त्रकारोंने नहीं बतलाई है। परंतु इस एकही विषयका विचारभी इतना विस्तृत है, कि उसका पूर्णतय प्रतिपादन करनेके लिये एक स्वतंत्र ग्रंथही लिखना पड़ेगा। तथापि, इस विषयपर इस ग्रंथमें थोड़ाभी विचार न करना उचित न होगा; इसलिये केवल दिग्दर्शन करनेके लिये उसकी कुछ महत्त्वपूर्ण बातोंका विवेचन इस उपसंहारमें किया जावेगा। -

थोड़ाभी विचार करनेपर यह सहजही ध्यानमें आ सकता है, कि सदाचार और दुराचार, तथा धर्म और अधर्म शब्दोंका उपयोग यथार्थमें ज्ञानवान् मनुष्यके कर्मकेही लिये होता है; और यही कारण है, कि नीतिमत्ता केवल जड़ कर्मोंमें नहीं किंतु बुद्धिमें रहती है। "धर्मो हि तेषामधिको विशेषः" – धर्म-अधर्मका ज्ञान मनुष्यका अर्थात् बुद्धिमान् प्राणियोंकाही विशिष्ट गुण है – इस वचनका तात्पर्य और भावार्थही वही है। किसी गधे या बैलके कर्मोंके परिणामको देखकर हम उसे उपद्रवी तो बेशक कहा करते हैं, परंतु जब वह धक्का देता है, तब उसपर कोई नालिश करने नहीं जाता। इसी तरह किसी नदीमें बाढ़ आ जानेसे फसल बह जाती है, तो "अधिकांश लोगोंकी अधिक हानि" होनेके कारण कोई उसे दुराचारिणी, लुटेरी, या अनीतिमान् नहीं कहता। इसपर कोई प्रश्न कर सकते हैं, कि यदि धर्म-अधर्मके नियम मनुष्यके व्यवहारोंहीके लिये उपयुक्त हुआ करते हैं, तो मनुष्यके कर्मोंके भले-बुरेपनका विचारभी केवल उसके कर्मसेही करनेमें क्या हानि है? इस प्रश्नका उत्तर देना कुछ कठिन नहीं। क्योंकि अचेतन वस्तुओं अथवा पशुपक्षी आदि मूढ योनिके प्राणियोंका दृष्टान्त छोड़, यदि मनुष्यकेही कृत्योंका विचार करें, तोभी दीख पड़ेगा, कि जब कोई आदमी अपने पागलपनसे अथवा अनजानेमें कोई अपराध कर डालता है, तब वह संसारमें और कानून द्वारा क्षम्य माना जाता है। इससे यही बात सिद्ध होती है, कि मनुष्यकेभी कर्म-अकर्मकी भलाई-बुराई ठहरानेके लिये, सबसे पहले कर्ताकी बुद्धिकाही विचार करना पड़ता है -- अर्थात् यह विचार करना पड़ता है, कि उसने उस कार्यको किस उद्देश्य, भाव या हेतुसे किया; और उसको उस कर्मके परिणामका ज्ञान था या नहीं। किसी धनवान् मनुष्यके लिये यह कोई कठिन काम नहीं, कि वह अपनी इच्छाके अनुसार मन-माना दान दे दें। यह दानविषयक काम 'अच्छा' भलेही हो; परंतु उसकी सच्ची नैतिक योग्यता उस दानकी स्वाभाविक क्रियासे नहीं ठहराई जा सकती। इसके लिये यहभी देखना पड़ेगा, कि उस धनवान् मनुष्यकी बुद्धि सचमुच श्रद्धायुक्त है, या नहीं; और उसका निर्णय करनेके लिये यदि स्वाभाविक रीतिसे किये गये दानके सिवा और कुछ प्रमाण न हो; तो इस दानकी योग्यता किसी श्रद्धापूर्वक किये गये दानकी योग्यताके बराबर नहीं समझी जाती; और कुछ नहीं, तो संदेह करनेके लिये उचित कारण अवश्य रह जाता है। सब धर्म-अधर्मका विवेचन हो जानेपर महाभारतमें यही बात एक आख्यानके स्वरूपमें उत्तम रीतिसे समझाई

गई है। जब युधिष्ठिर राजगद्दी पा चुके तब उन्होंने एक बृहत् अश्वमेध-यज्ञ किया। उसमें अन्न और द्रव्य आदिके अपूर्व दान करनेसे और लाखों मनुष्योंके संतुष्ट होनेसे उनकी बहुत प्रशंसा होने लगी। उस समय वहाँ एक दिव्य नकुल (नेवला) आया; और युधिष्ठिरसे कहने लगा – "तुम्हारी व्यर्थही प्रशंसा की जाती है। पूर्वकालमें इसी कुरुक्षेत्रमें एक दरिद्री ब्राह्मण रहता था, जो उंछवृत्तिसे, अर्थात् खेतोंमें गिरे हुए अनाजके दानोंको चुनकर, अपना जीवन-निर्वाह किया करता था। एक दिन भोजन करनेके समय उसके यहाँ एक अपरिचित आदमी क्षुधासे पीडित अतिथि बन कर आ गया। यह दरिद्री ब्राह्मण और उसके कुटुंबी-जनभी कई दिनोंके भूखे थे; तोभी उसने अपने, अपनी स्त्रीके और अपने लड़कोंके सामने परोसा हुआ सब सत्तू उस अतिथिको समर्पण कर दिया। इस प्रकार उसने जो अतिथि-यज्ञ किया था, उसके महत्त्वकी बराबरी तुम्हारा यह यज्ञ – कितनाही बड़ा क्यों न हो – कभी नहीं कर सकता" (मभा. अश्व. ९०)। उस नेवलेका मुँह और आधा शरीर सोनेका था। उसने जो यह कहा, कि युधिष्ठिरके अश्वमेध-यज्ञकी योग्यता उस गरीब ब्राह्मणद्वारा अतिथिको दिये गये सेर भर सत्तूके बराबरभी नहीं है; उसका कारण उसने यह बतलाया है, कि – "उस ब्राह्मणके घरमें अतिथिकी जूठनपर लोटनेसे मेरा मुँह और आधा शरीर सोनेका हो गया, परंतु युधिष्ठिरके यज्ञमंडपकी जूठन पर लोटनेसे मेरा बचा हुआ आधा शरीर सोनेका नहीं हो सका!" यहाँपर कर्मके बाह्य परिणामकोही देख कर यदि इसी बातका विचार करें – कि अधिकांश लोगोंका अधिक सुख किसमें है – तो यही निर्णय करना पड़ेगा, कि एक अतिथिको तृप्त करनेकी अपेक्षा लाखों आदमियोंको तृप्त करनेकी योग्यता लाखगुनी अधिक है। परंतु प्रश्न यह है, कि केवल धर्म-दृष्टिसेही नहीं, किंतु नीति-दृष्टिसेभी क्या यह निर्णय ठीक होगा? किसीको अधिक धन-संपत्ति मिल जाना या लोकोपयोगी अनेक अच्छे काम करनेका मौक़ा मिल जाना केवल उसके सदाचारपरही अवलंबित नहीं रहता है। यदि वह गरीब ब्राह्मण द्रव्यके अभावसे बड़ा भारी यज्ञ नहीं कर सकता था; और इसलिये यदि उसने अपनी शक्तिके अनुसार कुछ अल्प और तुच्छ कामही किया, तो क्या उसकी नैतिक या धार्मिक योग्यता कम समझी जायगी? यदि कम समझी जावे तो यही कहना पड़ेगा, कि गरीबोंको धनवानोंके सदृश नीतिमान् और धार्मिक होनेकी कभी इच्छा और आशा नहीं रखनी चाहिये। आत्म-स्वातंत्र्यके अनुसार अपनी बुद्धिको शुद्ध रखना उस ब्राह्मणके अधिकारमें था; और यदि उसके स्वल्पाचरणसे इस बातमें कुछ संदेह नहीं रह जाता, कि उसकी परोपकार बुद्धि युधिष्ठिरकेही समान शुद्ध थी; तो उस ब्राह्मणकी और उसके स्वल्पकृत्यकी नैतिक योग्यता युधिष्ठिरके और उसके बहु-व्ययसाध्य-यज्ञके बराबरकीही मानी जानी चाहिये। बल्कि यहभी कहा जा सकता है, कि कई दिनोंतक क्षुधासे पीड़ित होनेपरभी उस गरीब ब्राह्मणने अन्नदान करके अतिथिके प्राण बचानेमें जो स्वार्थत्याग किया, उससे उसकी शुद्ध बुद्धि औरभी अधिक

व्यक्त होती है। यह तो सभी जानते हैं, कि धैर्य आदि गुणोंके समान शुद्ध बुद्धिकी सच्ची परीक्षा संकटकालमेंही हुआ करती है; और कांटनेभी अपने नीतिग्रंथके आरंभमें यही प्रतिपादन किया है, कि संकटके समयभी जिसकी शुद्ध बुद्धि (नैतिक सत्त्व) भ्रष्ट नहीं होती, वही सच्चा नीतिमान् है। उक्त नेवलेका अभिप्रायभी यही था। परंतु युधिष्ठिरकी शुद्ध बुद्धिकी परीक्षा कुछ राज्यारूढ होनेपर संपत्ति-कालमें किये गये एक अश्वमेध-यज्ञसेही होनेकी न थी; उसके पहलेही अर्थात् आपत्ति-कालकी अनेक अड़चनोंके प्रसंगोपर ब्राह्मणके समानही उसकी पूरी परीक्षा हो चुकी थी। इसीलिये महाभारतका यह सिद्धान्त है, कि धर्म-अधर्मके निर्णयके सूक्ष्म न्यायसेभी युधिष्ठिरको धार्मिकही कहना चाहिये। कहना नहीं होगा, कि वह नेवला निंदक ठहराया गया है। तथापि महाभारतमें यह वर्णन है, कि अश्वमेध करनेवालेको जो गति मिलती है, वही उस ब्राह्मणकोभी मिली। इससे यही सिद्ध होता है, कि उस ब्राह्मणके कर्मकी योग्यता युधिष्ठिरके यज्ञकी अपेक्षा अधिक भलेही न हो; तथापि इसमें संदेह नहीं, कि महाभारतकार उन दोनोंकी नैतिक और धार्मिक योग्यता एकसमान मानते हैं। व्यावहारिक कार्योंको देखनेसेभी मालूम हो सकता है, कि जब किसी धर्मकृत्यके लिये या लोकोपयोगी कार्यके लिये लखपति मनुष्य हजार रुपये चंदा देता है और कोई गरीब मनुष्य एक रुपया चंदा देता है; तब हम लोग उन दोनोंकी नैतिक योग्यता एक समानही समझते हैं। 'चंदा' शब्दको देखकर यह दृष्टान्त कुछ लोगोंको कदाचित् नया मालूम हो, परंतु यथार्थमें बात ऐसी नहीं है, क्योंकि उक्त नेवलेकी कथाका निरूपण करते समय महाभारतमेंही धर्म-अधर्मके विवेचनमें कहा गया है, कि :–

सहस्रशक्तिश्च शतं शतशक्तिर्दशापि च ।
दद्यादपश्च यः शक्त्या सर्वे तुल्यफलाः स्मृताः ।।

"हज़ारवालेने सौ, सौवालेने दस, अथवा किसीने यथाशक्ति थोडासा पानीभी दिया, तोभी ये सब तुल्यफल हैं; अर्थात् इन सबकी योग्यता एकसमान है" (मभा. अश्व. ९०. ९७); और "पत्रं पुष्पं फलं तोयं" (गीता. ९. २६) – इस गीतावाक्यका तात्पर्यभी यही है। हमारे धर्ममेंही क्या, ईसाई धर्ममेंभी इस तत्त्वका संग्रह है। ईसा मसीहने एक जगह कहा है – "जिसके पास अधिक है, उससे अधिक पानेकी आशा की जाती है" (ल्यूक. १२. ४८)। इक दिन जब ईसा मंदिर (गिरिजाधर) गया था, तब वहाँ धर्मार्थ द्रव्य इकठ्ठा करनेका काम शुरू होनेपर एक अत्यंत गरीब विधवा स्त्रीने अपने पासके दो पैसे उस धर्मकार्यके लिये दे दिये। यह देखकर ईसाके मुँहसे यह उद्गार निकल पड़ा, कि "इस स्त्रीने अन्य सब लोगोंकी अपेक्षा अधिक दान दिया है।" इसका वर्णन बाइबलमें (मार्क. १२. ४३; ४४) है। इससे यह स्पष्ट है, कि यह बात ईसाकोभी मान्य थी, कि कर्मकी योग्यता कर्ताकी बुद्धिसेही निश्चित की जानी चाहिये; और यदि कर्ताकी बुद्धि शुद्ध हो, तो

बहुधा छोटे छोटे कर्मोंकी नैतिक योग्यताभी बड़े बड़े कर्मोंकी योग्यताके बराबरही हो जाती है। इसके विपरीत – अर्थात् जब बुद्धि शुद्ध न हो तब – किसी कर्मकी नैतिक योग्यताका विचार करनेपर यह मालूम होगा, कि यद्यपि हत्या करना केवल एकही कर्म है; तथापि अपनी जान बचानेके लिये आक्रमणकारीकी हत्या करनेमें और किसी राह चलते धनवान् मुसाफ़िरको द्रव्यके लोभसे मार डालनेमें, नैतिक दृष्टिसे बहुत अंतर है। जर्मन कवि शिलरने इसी आशयके एक प्रसंगका वर्णन अपने 'विलियम टेल' नामक नाटकके अंतमें किया है; और वहाँ बाह्यतः एकहीसे दीख पड़नेवाले दो कृत्योंमें बुद्धिकी शुद्धता-अशुद्धताके कारण जो भेद दिखलाया गया है, वही भेद स्वार्थत्याग और स्वार्थके लिये की गई हत्यामेंभी है। इससे मालूम होता है, कि कर्म छोटे-बड़े हों या बराबर हों; उनमें नैतिक दृष्टिसे जो भेद हो जाता है, वह कर्ताके हेतुके कारणही हुआ करता है। इस हेतुकोही उद्देश्य, वासना या बुद्धि कहते हैं। इसका कारण यह है, कि 'बुद्धि' शब्दका शास्त्रीय अर्थ यद्यपि 'व्यवसायात्मक इंद्रिय' है; तोभी ज्ञान, वासना, उद्देश्य या हेतु सब बुद्धींद्रियके व्यापारकेही फल है, अतएव इनके लियेभी बुद्धि शब्दहीका सामान्यतः प्रयोग किया जाता है; और पहलेभी यह बतलाया जा चुका है, कि स्थितप्रज्ञकी साम्य-बुद्धिमें व्यवसायात्मक बुद्धिकी स्थिरता और वासनात्मक बुद्धिकी शुद्धता, दोनोंका समावेश होता है, भगवानने अर्जुनसे कुछ यह सोचनेको नहीं कहा, कि युद्ध करनेसे कितने मनुष्योंका कितना कल्याण होगा और कितने लोगोंकी कितनी हानि होगी; बल्कि अर्जुनसे भगवान् यही कहते हैं, कि इस समय यह विचार गौण है, कि तुम्हारे युद्ध करनेसे भीष्म मरेंगे कि द्रोण; मुख्य प्रश्न यही है, कि तुम किस बुद्धि (हेतु या उद्देश्य)से युद्ध करनेको तैयार हुए हो। यदि तुम्हारी बुद्धि स्थितप्रज्ञोंके समान होगी, और यदि तुम उस शुद्ध और पवित्र बुद्धिसे अपना कर्तव्य करने लगोगे, तो फिर चाहे भीष्म मरे या द्रोण; तुम्हें उसका पाप नहीं लगेगा। तुम कुछ इस फलकी आशासे तो युद्ध करही नहीं रहो हो, कि भीष्म मारे जाएँ। जिस राज्यपर तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है, उसका हिस्सा तुमने माँगा; और युद्ध टालनेके लिये यथाशक्ति गम खाकर बीच-बचाव करनेकाभी तुमने बहुत कुछ प्रयत्न किया। परंतु जब इस मेलके प्रयत्नसे और साधुपनके मार्गसे निर्वाह नहीं हो सका, तब लाचारीसे तुमने युद्ध करनेका निश्चय किया है, इसमें तुम्हारा कुछ दोष नहीं है। क्योंकि दुष्ट मनुष्यसे किसी ब्राह्मणकी नाईं अपने धर्मानुसार प्राप्त अधिकारकी भिक्षा न माँगते हुए, आवश्यकता आ पड़नेपर क्षत्रिय-धर्मके अनुसार लोकसंग्रहार्थ उसकी प्राप्तिके लिये अंतमें युद्ध करनाही तुम्हारा कर्तव्य है (मभा. उ. २८, ७२; वनपर्व ३३. ४८, ५०)। भगवानके उक्त युक्तिवादको व्यासजीनेभी स्वीकार किया है, और, उन्होंने इसीके द्वारा आगे चलकर शांतिपर्वमें युधिष्ठिरका समाधान किया है (शां. अ. ३२, ३३)। परंतु कर्म-अकर्मका निर्णय करनेके लिये बुद्धिको इस तरहसे श्रेष्ठ

मान लें, तोभी अब यह अवश्य जान लेना चाहिये, कि शुद्ध बुद्धि किसे कहते हैं। क्योंकि, मन और बुद्धि दोनों प्रकृतिके विकार हैं; इसलिये वे स्वभावतः तीन प्रकारके अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस हो सकते हैं। इसलिये गीतामें कहा है, कि शुद्ध या सात्त्विक बुद्धि वह है, कि जो बुद्धिसेभी परे रहनेवाले नित्य आत्माके स्वरूपको पहचाने; और यह पहचान कर, कि सब प्राणियोंमें एकही आत्मा है, उसीके अनुसार कार्य-अकार्यका निर्णय करे। इस सात्त्विक बुद्धिकाही दूसरा नाम साम्यबुद्धि है, और इसके 'साम्य' शब्दका अर्थ "सर्वभूतान्तर्गत आत्माकी एकता या समानताको पहचाननेवाली" है। जो बुद्धि इस समानताको नहीं जानती, वह न तो शुद्ध है और न सात्त्विकभी। इस प्रकार जब यह मान लिया गया, कि नीतिका निर्णय करनेमें साम्य-बुद्धिही श्रेष्ठ है, तब यह प्रश्न उठता है, कि बुद्धिकी इस समता अथवा साम्यको कैसे पहचानना चाहिये? क्योंकि बुद्धि तो अंतरिंद्रिय है; इसलिये उसका भलाबुरापन हमारी आँखोंसे दीख नहीं पड़ता। अतः बुद्धिकी समता तथा शुद्धताकी परीक्षा करनेके लिये पहले मनुष्यके बाह्य आचरणको देखना चाहिये; नहीं तो कोईभी मनुष्य ऐसा कह कर – कि मेरी बुद्धि शुद्ध है – मनमाना बर्ताव करने लगेगा। इसीसे शास्त्रोंका सिद्धान्त है, कि सच्चे ब्रह्मज्ञानी पुरुषकी पहचान उसके स्वभावसेही हुआ करती है। जो केवल मुँहसे कोरी बातें करता है, वह सच्चा साधु नहीं। भगवद्गीतामेंभी स्थितप्रज्ञ तथा भगवद्भक्तोंके लक्षण बतलाते समय खास करके इसी बातका वर्णन किया गया है, कि वे संसारके अन्य लोगोंके साथ कैसा बर्ताव करते हैं; और तेरहवें अध्यायमें ज्ञानकी व्याख्याभी इसी प्रकार – अर्थात् यह बतलाकर, कि स्वभावपर ज्ञानका क्या परिणाम होता है – की गई है। इससे यह साफ़ मालूम होता है, कि गीता यह कभी नहीं कहती, कि बाह्य कर्मोंकी ओर कुछभी ध्यान न दो। परंतु इस बातपर ध्यान देना चाहिये, कि किसी मनुष्यकी विशषकरके अपरिचित मनुष्यकी – बुद्धिकी समताकी परीक्षा करनेके लिये यद्यपि केवल उसका बाह्य कर्म या आचरण और, उसमेंभी, संकट-समयका आचरणही प्रधान साधन है; तथापि केवल इस बाह्य आचरण द्वाराही नीतिमत्ताकी अचूक परीक्षा हमेशा नहीं हो सकती। क्योंकि उक्त नकुलोपाख्यानसे यह सिद्ध हो चुका है, कि यदि बाह्य कर्म छोटाभी हो; तथापि विशेष अवसरपर उसकी नैतिक योग्यता बड़े कर्मोंकेही बराबर हो जाती है। इसीलिये हमारे शास्त्रकारोंने यह सिद्धान्त किया है, कि बाह्य-कर्म चाहे छोटा हो या बड़ा, एकहीको सुख देनेवाला हो या अधिकांश लोगोंको; उसको केवल बुद्धिकी शुद्धताका एक प्रमाण मानना चाहिये, इससे अधिक महत्त्व उसे नहीं देना चाहिये। किंतु उस बाह्य-कर्मके आधारपर पहले यह देख लेना चाहिये, कि कर्म करनेवालेकी बुद्धि कितनी शुद्ध है; और अंतमें इस रीतिसे व्यक्त होनेवाली बुद्धिके आधारपरही उक्त कर्मकी नीतिमत्ताका निर्णय करना चाहिये, यह निर्णय केवल बाह्य-कर्मोंको देखनेसे ठीक नहीं हो सकता। यही कारण है, कि

" कर्मकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है " (गीता. २. ४९) ऐसा कहकर गीताके कर्मयोगमें सम और शुद्ध-बुद्धिको अर्थात् वासनाकोही प्रधानता दी गई है। नारद-पंचरात्र नामक भागवतधर्मका गीतासे अर्वाचीन एक ग्रंथ है। उसमें मार्कंडेय नारदसे कहते हैं :–

> **मानसं प्राणिनामेव सर्वकर्मैककारणम् ।**
> **मनोनुरूपं वाक्यं च वाक्येन प्रस्फुटं मनः ।**

" मनही लोगोंके सब कर्मोंका एक (मूल) कारण है। जैसा मन रहता है, वैसीही बात निकलती है; और बातचीतसे मन प्रकट होता है " (ना. पं.१. ७. १८)। सारांश यह है, कि मन (अर्थात् मनका निश्चय) सबसे प्रथम है, उसके अनन्तर सब कर्म हुआ करते हैं। इसीलिये कर्म-अकर्मका निर्णय करनेके लिये गीताके शुद्ध-बुद्धिके सिद्धान्तकोही बौद्ध ग्रंथकारोंने स्वीकृत किया है। उदाहरणार्थ, 'धम्मपद' नामक बौद्ध-धर्मीय प्रसिद्ध नीतिग्रंथके आरंभमेंही कहा है, कि :–

> **मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा (श्रेष्ठा) मनोमया ।।**
> **मनसा चे पदुठ्ठेन भासति वा करोति वा ।।**
> **ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कंनु वहतो पदं ।।**

" मन याने मनका व्यापार प्रथम है। उसके अनंतर धर्म-अधर्मका आचरण होता है। ऐसा क्रम होनेके कारण इस काममें मनही मुख्य और श्रेष्ठ है, इसलिये इन सब धर्मोंको मनोमयही समझना चाहिये, अर्थात् कर्ताका मन जिस प्रकार शुद्ध या दुष्ट रहता है, उसी प्रकार उसके भाषण और कर्मभी भले-बुरे हुआ करते हैं, तथा उसी प्रकार आगे उसे सुख-दुःख मिलता है।"* इसी तरह उपनिषदों और गीताका यह अनुमानभी (कौषी. ३. १; गीता १८. १७) बौद्ध धर्ममें हो गया है, कि जिसका मन एक बार पूर्ण शुद्ध और निष्काम हो जाता है, उस स्थितप्रज्ञ पुरुषसे फिर कभी पाप होना संभव नहीं; अर्थात् सब कुछ करकेभी वह पाप-पुण्यसे अलिप्त रहता है। इसलिये बौद्ध धर्म-ग्रंथोंमें अनेक स्थलोंपर वर्णन किया गया है, कि 'अर्हत्' अर्थात् पूर्णावस्थामें पहुँचा हुआ मनुष्य हमेशाही शुद्ध और निष्पाप रहता है (धम्मपद २९४, २९५; मिलिंद प्र. ४. ५. ७)।

पश्चिमी देशोंमें नीतिका निर्णय करनेके लिये दो पंथ हैं : पहला आधिदैवत पंथ, जिसके अनुसार, नीतिका निर्णय करनेके लिये सदसद्विवेक-देवताकी शरणमें

---

* पाली भाषाके इस श्लोकका भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न अर्थ करते हैं। परंतु जहाँतक हम समझते हैं, इस श्लोककी रचना इसी तत्त्वपर की गई है, कि कर्म-अकर्मका निर्णय करनेके लिये मानसिक स्थितिका विचार अवश्य करना पड़ता है। 'धम्मपद'का मैक्समूलर साहबने अंग्रेजीमें भाषांतर किया है, उसमें इस श्लोककी टीका देखिये। S. B. E. Vol. X, pp. 3-4.

जाना पडता है; और दूसरा आधिभौतिक पंथ है, कि जो इस वाह्य कसौटीके द्वाराही नीतिका निर्णय करनेके लिये कहता है, कि "अधिकांश लोगोंका अधिक हित किसमें है ? " परंतु ऊपर किये गये विवेचनसे यह स्पष्ट मालूम हो सकता है, कि ये दोनों पंथ शास्त्र-दृष्टिसे अपूर्ण तथा एकपक्षीय हैं। कारण यह है, कि सदसद्विवेकशक्ति कोई स्वतंत्र वस्तु या देवता नहीं; किंतु वह व्यवसायात्मका बुद्धिमेंही शामिल है, इसलिये प्रत्येक मनुष्यकी प्रकृति और स्वभावके अनुसार उसकी सदसद्विवेकबुद्धिभी सात्त्विक, राजस या तामस हुआ करती है। ऐसी अवस्थामें उसका कार्य-अकार्य निर्णय सदैव दोषरहित नहीं हो सकता; और यदि केवल "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख" किसमें है, इस बाह्य आधिभौतिक कसौटीपरही ध्यान देकर नीति-मत्ताका निर्णय करें; तो कर्म करनेवाले पुरुषकी बुद्धिका कुछभी विचार नहीं हो सकेगा; तब यदि कोई मनुष्य चोरी या व्यभिचार करे; और उसके बाह्य अनिष्ट-कारक परिणामोंको कम करनेके लिये या छिपानेके लिये पहलेहीसे सावधान होकर कुछ कुटिल प्रबंध कर ले; तो यही कहना पड़ेगा, कि उसका दुष्कृत्य आधिभौतिक नीति-दृष्टिसे उतना निंदनीय नहीं है। अतएव यह बात नहीं, कि केवल वैदिक धर्म-मेंही कायिक, वाचिक और मानसिक शुद्धताकी आवश्यकताका वर्णन किया गया हो (मनु. १२. ३–८; ९. २९); किंतु बाइबलमेंभी व्यभिचारको केवल कायिक पाप न मानकर, परस्त्रीकी ओर दूसरे पुरुषोंका देखना या परपुरुषकी ओर दूसरी स्त्रियोंका देखनाभी व्यभिचार माना गया है (मेथ्यू. ५. २८); और बौद्ध धर्ममें कायिक अर्थात् बाह्य शुद्धताके साथ साथ वाचिक और मानसिक शुद्धताकीभी आव-श्यकता बतलाई गई है (धम्मपद ९६, ३९१)। इसके सिवा ग्रीन साहबका यहभी कहना है, कि बाह्य-सुखकोही परम साध्य माननेसे मनुष्य मनुष्यमें और राष्ट्र-राष्ट्रमें उसे पानेके लिये प्रतिद्वंद्विता उत्पन्न हो जाती है; और कलहका होनाभी संभव है। क्योंकि बाह्य-सुखकी प्राप्तिके लिये जो बाह्य साधन आवश्यक है, वे प्रायः दूसरोंके सुखको कम किये बिना हमें नहीं मिल सकते। परंतु साम्य-बुद्धिके विषयमें ऐसा नहीं कह सकते। यह आंतरिक सुख आत्मवश है, अर्थात् यह किसी दूसरे मनुष्यके सुखमें बाधा न डालकर प्रत्येकको मिल सकता है। इतनाही नहीं; किंतु आत्मैक्यको पहचानकर सब प्राणियोंसे समताका व्यवहार करनाही जिसका स्वभाव बन जाता है वह गुप्त या प्रकट, किसी रीतिसेभी कोई दुष्कृत्य करही नहीं सकता; और फिर उसे यह बतलानेकी आवश्यकताभी नहीं रहती, कि "हमेशा यह देखते रहो, कि अधिकांश लोगोंका अधिक सुख किसमें है।" कारण यह है, कि कोईभी मनुष्य हो; वह सार-असार-विचारके बादही किसी कृत्यको किया करता है। यह बात नहीं, कि केवल नैतिक कर्मोंका निर्णय करनेके लियेही सार-असार-विचारकी आवश्यकता होती है। सार-असार-विचार करते समय यही महत्त्वका प्रश्न होता है, कि अंतःकरण कैसा होना चाहिये ? क्योंकि सब लोगोंके अंतःकरण एक समान नहीं

होते। अतएव जबकि यह कह दिया जावे, कि "अंतःकरणमें सदा साम्य-बुद्धि जागृत रहनी चाहिये;" तव फिर यह बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं, कि अधिकांश लोगों या सब प्राणियोंके हितका सार-असार-विचार करो। पश्चिमी पंडितभी अब यह कहने लगे हैं, कि मानव-जातिके प्राणियोंके सवंधमें मनुष्यके जो कुछ कर्तव्य हैं, वे तो हैंही; परंतु मूक जानवरोंके संबंधमेंभी उसके कुछ कर्तव्य हैं, जिनका समावेश कार्य-अकार्य शास्त्रमें किया जाना चाहिये; और यदि इस व्यापक दृष्टिसे देखें तो मालूम होगा, कि "अधिकांश लोगोंका अधिक हित"की अपेक्षा 'सर्वभूतहित' शब्दही अधिक व्यापक और उपयुक्त है; तथा 'साम्य-बुद्धि'में इन सभीका समावेश हो जाता है। इसके विपरीत यदि ऐसा मान लें, कि किसीकी बुद्धि शुद्ध और सम नहीं है; तो वह इस बातका ठीक ठीक हिसाब भलेही कर ले, कि "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख" किसमें है; परंतु नीति-धर्मकी ओर उसको प्रवृत्ति होना संभव नहीं है। क्योंकि किसी सत्कार्यकी ओर प्रवृत्ति होना शुद्ध मनका गुण या धर्म है; हिसाबी मनका नहीं। यदि कोई कहे, कि "हिसाब करनेवाले मनुष्यके स्वभाव या मनको देखनेकी तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं है, तुम्हें केवल यही देखना चाहिये, कि उसका किया हुआ हिसाब सही है या नहीं; और उस हिसाबसे कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय हो कर तुम्हारा काम चल जाता है या नहीं" – तो वहभी सच नहीं हो सकता। कारण यह है, कि सामान्यतः यह तो सभी जानते हैं कि सुख:दु:ख किसे कहते हैं, तोभी सब प्रकारके सुखदु:खोंके तारतम्यका हिसाब करते समय पहले यह निश्चय कर लेना पड़ता है, कि किस प्रकारके सुखदु:खोंको कितना महत्त्व देना चाहिये। परंतु सुखदु:खकी इस प्रकार माप करनेके लिये उष्णतामापक यंत्रके समान कोई निश्चित बाह्य साधन न तो वर्तमान समयमें है; और न भविष्यमेंभी उसके मिल सकनेकी कुछ संभावना है। इसलिये सुखदु:खोंकी ठीक ठीक कीमत ठहरानेका काम याने उनके महत्त्व या योग्यताका निर्णय करनेका काम, प्रत्येक मनुष्यको अपने मनसेही करना पड़ेगा। परंतु जिसके मनमें ऐसी आत्मौपम्य-बुद्धि पूर्ण रीतिसे जागृत नहीं हुई है, कि "जैसा मैं हूँ, वैसाही दूसराभी है;" उसे दूसरोंके सुखदु:खकी तीव्रताका स्पष्ट ज्ञान कभी नहीं हो सकता, इसलिये वह इन सुखदु:खोंकी सच्ची योग्यता कभी जानही नहीं सकेगा, और फिर तारतम्य-निर्णय करनेके लिये उसने सुखदु:खोंकी जो कीमत पहले ठहरा ली होगी, उसमें भूल हो जायगी; और अंतमें उसका किया सब हिसाबभी गलत हो जायगा। इसीलिये कहना पड़ता है, कि "अधिकांश लोगोंके अधिक सुखको देखना" इस वाक्यकी 'देखना' इस हिसाबी बाह्य क्रियाको अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये; किंतु जिस आत्मौपम्य और निर्लोभ बुद्धिसे (अनेक) दूसरोंके सुखदु:खोंकी यथार्थ कीमत पहले ठहराई जाती है, वह सब प्राणियोंके विषयमें साम्यावस्थाको पहुँची हुई, शुद्ध-बुद्धिही नीतिमत्ताकी सच्ची जड़ है। स्मरण रहे, कि नीतिमत्ता निर्मम, शुद्ध, प्रेमी, सम या (संक्षेपमें कहें तो)

सत्त्वशील अंतःकरणका धर्म है; वह केवल सार-असार-विचारका फल नहीं है। यह सिद्धान्त इस कथासे औरभी स्पष्ट हो जायगा। भारतीय युद्धके बाद युद्धिष्ठिरके राज्यासीन होनेपर जब कुंती अपने पुत्रोंके पराक्रमसे कृतार्थ हो चुकी, और धृत-राष्ट्रके साथ वानप्रस्थाश्रमका आचरण करनेके लिये बनको जाने लगी, तब "तू अधिकांश लोगोंका कल्याण किया कर" इत्यादि व्यर्थ बातें न कर उसने युधिष्ठिरसे सिर्फ़ यही कहा है, कि "मनस्ते मदहस्तु च" (मभा. अश्व. १७. २१) – "तू अपने मनको हमेशा विशाल बनाये रख।" जिन पश्चिमी पंडितोंने यह प्रतिपादन किया है, कि केवल "अधिकांश लोगोंका अधिक सुख किसमें है" यह देखनाही नीति-मत्ताकी सच्ची शास्त्रीय और सीधी कसौटी है। वे कदाचित् पहलेहीसे यह मान लेते हैं, कि उनके समानही अन्य सब लोग शुद्ध मनके हैं, और ऐसा समझकर वे अन्य सब लोगोंको यह बतलाते हैं, कि नीतिका निर्णय किस रीतिसे किया जावे। परंतु ये पंडित जिस बातको पहलेहीसे मान लेते हैं, वह सच नहीं हो सकती, इसलिये नीति-निर्णयका उनका नियम अपूर्ण और एकपक्षीय सिद्ध होता है। इतनाही नहीं; बल्कि उनके लेखोंसे यह भ्रमकारक विचारभी उत्पन्न हो जाता है, कि मन, स्वभाव या शीलको यथार्थमें अधिकाधिक शुद्ध और पापभीरु बनानेका प्रयत्न करनेके बदले, यदि कोई नीतिमान् बननेके लिये अपने कर्मोंके बाह्य परिणामोंका हिसाब करना सीख ले, तो बस होगा; और फिर जिनकी स्वार्थ-बुद्धि नहीं छूटी हो, वे लोग धूर्त, मिथ्याचारी या ढ़ोंगी (गीता ३. ६) बनकर सारे समाजकी हानिका कारण हो जाते हैं। इसलिये केवल नीतिमत्ताकी कसौटीकी दृष्टिसे देखें, तोभी कर्मोंके केवल बाह्य परिणामोंपर विचार करनेवाला मार्ग कृपण तथा अपूर्ण प्रतीत होता है। अतः हमारे निश्चयके अनुसार गीताका यही सिद्धान्त पश्चिमी आधिदैविक अथवा आधिभौतिक पक्षोंके मतोंकी अपेक्षा अधिक मार्मिक, व्यापक, युक्तिसंगत और निर्दोष है, कि बाह्य कर्मोंसे व्यक्त होनेवाली और संकटके समयमेंभी दृढ रहनेवाली साम्य-बुद्धिकाही सहारा इस काममें अर्थात् कर्मयोगमें लेना चाहिये; तथा, ज्ञानयुक्त निस्सीम शुद्ध-बुद्धि या शीलही सदाचरणकी सच्ची कसौटी है।

नीतिशास्त्रसंबंधी आधिभौतिक और आधिदैविक ग्रंथोंको छोड़कर नीतिका विचार आध्यात्मिक-दृष्टिसे करनेवाले पश्चिमी पंडितोंके ग्रंथोंको यदि देखें, तो मालूम होगा, कि उनमेंभी नीतिमत्ताका निर्णय करनेके विषयमें गीताकेही सदृश कर्मकी अपेक्षा शुद्ध-बुद्धिकोही विशेष प्रधानता दी गई है। उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध जर्मन तत्त्ववेत्ता कांटके "नीतिके आध्यात्मिक मूल तत्त्व" तथा नीतिशास्त्रसंबंधी दूसरे ग्रंथोंको लीजिये। यद्यपि कांटने* सर्वभूतात्मैक्यका सिद्धान्त अपने ग्रंथोंमें

* Kant's *Theory of Ethics*, trans. by Abbott, 6th Ed. इस पुस्तक-में ये सब सिद्धान्त दिये गये हैं। पहला सिद्धान्त १०, १२. १६ और २४ वें पृष्ठमें; दूसरा ११२ और ११७ वें पृष्ठमें; तीसरा ३१,५८, १२१ और २९० वें पृष्ठमें;

नहीं दिया है, तथापि व्यवसायात्मक और वासनात्मक बुद्धिकाही सूक्ष्म विचार करके उसने यह निश्चित किया है, कि (१) किसी कर्मकी नैतिक योग्यता इस बाह्य फलपरसे नहीं ठहराई जानी चाहिये, कि उस कर्मद्वारा कितने मनुष्योंको सुख होगा; बल्कि उसकी योग्यताका निर्णय यही देखकर करना चाहिये, कि कर्म करनेवाले मनुष्यकी 'वासना' कहाँतक शुद्ध है। (२) मनुष्यकी इस वासनाको (अर्थात् वासनात्मक बुद्धि) तभी शुद्ध, पवित्र और स्वतंत्र समझना चाहिये, जब कि वह इंद्रियसुखोंमें लिप्त न रहकर सदैव शुद्ध (व्यवसायात्मक) बुद्धिकी आज्ञाके इस बुद्धि-द्वारा निश्चित कर्तव्य-अकर्तव्यके नियमोंके) अनुसार चलने लगे। (३) इस प्रकार इंद्रियनिग्रह हो जाने पर जिसकी वासना शुद्ध हो गई हो, उस पुरुषके लिये किसी नीति-नियमादिके बंधनकी आवश्यकता नहीं रह जाती; ये नियम तो सामान्य मनुष्योंकेही लिये हैं। (४) इस प्रकारसे वासनाके शुद्ध हो जानेपर जो कुछ कर्म करनेको वह शुद्ध-वासना या बुद्धि कहा करती है, वह इसी विचारसे कहा जाता है कि "हमारे समानही यदि दूसरेभी करने लगें, तो परिणाम क्या होगा"; और (५) वासनाकी इस स्वतंत्रता और शुद्धताकी उपपत्तिका पता कर्म-सृष्टिको छोड़कर ब्रह्म-सृष्टिमें प्रवेश किये विना नहीं चल सकता! परंतु आत्मा और ब्रह्म-सृष्टिसंबंधी कांटके विचार कुछ अपूर्ण हैं; और ग्रीन यद्यपि कांटकाही अनुयायी हैं, तथापि उसने अपने 'नीतिशास्त्रके उपोद्घातमें' पहले यह सिद्ध किया है, कि बाह्य-सृष्टिका अर्थात् ब्रह्मांडका जो अगम्य तत्त्व है, वही आत्मस्वरूपसे पिंडमें अर्थात् मनुष्यदेहमें अंशतः प्रादुर्भूत हुआ है। इसके अनंतर उसने यह प्रतिपादन किया है,* कि मनुष्य-शरीरमें एक नित्य और स्वतंत्र तत्त्व है, अर्थात् आत्मा जिसमें यह उत्कट इच्छा होती है, कि सर्व भूतान्तर्गत अपने सामाजिक पूर्णस्वरूपको अवश्य पहुँच जाना चाहिये; और यही इच्छा मनुष्यको सदाचारकी ओर प्रवृत्त किया करती है। इसीमें मनुष्यका नित्य और चिरकालिक कल्याण है; तथा विषयसुख अनित्य है। सारांश यही दीख पड़ता है, यद्यपि कांट और ग्रीन, दोनोंकी दृष्टि आध्यात्मिक है, तथापि ग्रीन व्यवसायात्मका बुद्धिके व्यापारोंमेंही लिपटे नहीं रहा; किंतु उसने कर्म-अकर्म-विवेचनकी तथा वासना-स्वातंत्र्यकी उपपत्तिको पिंड और ब्रह्मांड दोनोंमें एकतासे व्यक्त होनेवाले शुद्ध आत्मस्वरूपतक पहुँचा दिया है। कांट और ग्रीन जैसे आध्यात्मिक पाश्चात्त्य नीतिशास्त्रज्ञोंके उक्त सिद्धान्तोंकी और नीचे लिखे गये गीता-प्रतिपादित कुछ सिद्धान्तोंकी तुलना करनेसे दीख पड़ेगा, कि यद्यपि वे दोनों अक्षरशः एक बराबर नहीं हैं, तथापि उनमें कुछ अद्भुत समता

चौथा १८, ३८, ५५ और ११९ वें पृष्ठमें और पाँचवाँ ७०–७३ तथा ८० वें पृष्ठमें पाठकोंको मिलेगा।

* *Green's Prolegomena to Ethics*. §§ 99. 174–179 *and* 223–2.23.

अवश्य है। देखिये, गीताके सिद्धान्त ये हैं – (१) बाह्य कर्मकी अपेक्षा कर्ताकी (वासनात्मक) बुद्धिही श्रेष्ठ है। (२) व्यवसायात्मक बुद्धि आत्मनिष्ठ होकर जब संदेहरहित तथा सम हो जाती है, तब फिर वासनात्मक बुद्धि आपही आप शुद्ध और पवित्र हो जाती है । (३) इस रीतिसे जिसकी बुद्धि सम और स्थिर हो जाती है, वह स्थितप्रज्ञ पुरुष हमेशा विधि और नियमोंसे परे रहा करता है। (४) और उसके आचरण या उसकी आत्मैक्य-बुद्धिसे सिद्ध होनेवाले नीति-नियम सामान्य पुरुषोंके लिये आदर्शके समान पूजनीय तथा प्रमाणभूत हो जाते हैं; और (५) पिंड अर्थात् देहमें तथा ब्रह्मांड अर्थात् सृष्टिमें एकही आत्मस्वरूपी तत्त्व है, देहान्तर्गत आत्मा अपने शुद्ध और पूर्णस्वरूपको (मोक्ष) प्राप्त कर लेनेके लिये सदा उत्सुक रहता है, तथा इस शुद्ध-स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर सब प्राणियोंके विषयमें आत्मौपम्य-दृष्टि प्राप्त हो जाती है। परंतु यह बात ध्यान देने योग्य है, कि ब्रह्म, आत्मा, माया, आत्मस्वातंत्र्य, ब्रह्मात्मैक्य, कर्मविपाक इत्यादि विषयोंपर हमारे वेदान्तशास्त्रके जो सिद्धान्त हैं, वे कांट और ग्रीनके सिद्धान्तोंसेभी बहुत आगे बढ़े हुए तथा अधिक निश्चित हैं, इसलिये उपनिषदान्तर्गत वेदान्तके आधारपर किया हुआ गीताका कर्मयोग-विवेचन आध्यात्मिक दृष्टिसे असंदिग्ध, पूर्ण तथा दोषरहित हुआ है; और आजकलके वेदान्ती जर्मन पंडित प्रोफेसर डायसनने नीति-विवेचनकी इसी पद्धतिको अपने 'अध्यात्मशास्त्रके मूल तत्त्व' नामक ग्रंथमें स्वीकार किया है। डायसन शोपेनहरका अनुयायी है; उसे शोपेनहरका यह सिद्धान्त पूर्णतया मान्य है, कि "संसारका मूल कारण वासनाही है, इसलिये उसका क्षय किये बिना दुःखकी निवृत्तिका होना असंभव है; अतएव वासनाका क्षय करनाही प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है"; और इसी आध्यात्मिक सिद्धान्त-द्वारा आगे नीतिका उपपत्तिका विवेचन उसने अपने उक्त ग्रंथके तीसरे भागमें स्पष्ट रीतिसे किया है। उसने पहले यह सिद्ध कर दिखलाया है, कि वासनाका क्षय होनेके लिये, या हो जानेपरभी, कर्मोंको छोड़ देनेकी आवश्यकता नहीं है; बल्कि "वासनाका पूरा क्षय हुआ है, कि नहीं" यह बात परोपकारार्थ किये गये निष्काम कर्मसे जैसे प्रकट होती है, वैसे अन्य किसीभी प्रकारसे व्यक्त नहीं होती, अतएव निष्काम कर्म वासना-क्षयकाही लक्षण और फल है। इसके बाद उसने यह प्रतिपादन किया है, कि वासनाकी निष्कामताही सदाचरण और नीतिमत्ताकाभी मूल है; और इसके अंतमें गीताका "तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार" (गीता ३. १९) यह श्लोक दिया है।* इससे मालूम होता है, कि डायसनको इस उपपत्तिका ज्ञान गीतासेही हुआ होगा। जो हो; यह बात कुछ कम गौरवकी नहीं, कि डायसन, ग्रीन, शोपेनहर और कांटके पूर्व – अधिक क्या कहें, आरिस्टॉटलकेभी सैंकड़ों वर्ष पूर्वही ये विचार हमारे देशमें प्रचलित हो चुके थे। आजकल बहुतेरे लोगोंकी यह समझ हो रही है, कि वेदान्त केवल एक ऐसा बखेड़ा है, जो हमें इस संसारको छोड़ देने और मोक्षकी प्राप्ति करनेका उपदेश देता है, परंतु

यह समझ ठीक नहीं। संसारमें जो कुछ आँखोंसे दीख रहा है, उसके परे जाकर इन गहन प्रश्नोंका यथाशक्ति शास्त्रीय रीतिसे विचार करनेके लियेही वेदान्तशास्त्र प्रवृत्त हुआ है, कि "मैं कौन हूँ? इस सृष्टिकी जड़में कौनसा तत्त्व है? इस तत्त्वसे मेरा क्या संबंध है? इस संबंधपर ध्यान दे कर इस संसारमें मेरा परम साध्य या अंतिम ध्येय क्या है? इस साध्य या ध्येयको प्राप्त करनेके लिये मुझे जीवनयात्राके किस मार्गको स्वीकार करना चाहिये, अथवा किस मार्गसे कौनसा ध्येय सिद्ध होगा?" बल्कि निष्पक्ष-दृष्टिसे देखा जाय तो यह मालूम होगा, कि समस्त नीतिशास्त्र अर्थात् मनुष्योंके पारस्परिक व्यवहारका विचार उस गहन शास्त्रकाही एक अंग है। सारांश यह है, कि कर्मयोगकी उपपत्ति वेदान्तशास्त्रहीके आधारपर की जा सकती है, और अब संन्यास-मार्गीय लोग चाहे कुछभी कहें, परंतु इसमें संदेह नहीं, कि गणितशास्त्रके जैसे – शुद्ध गणित और व्यावहारिक गणित ये दो भेद हैं, उसी प्रकार वेदान्तशास्त्र-केभी दो भेद शुद्ध वेदात्त और नैतिक अथवा व्यावहारिक वेदान्त होते हैं। कांट तो यहाँ तक कहता है, कि मनुष्यके मनमें 'परमेश्वर' (परमात्मा), 'अमृतत्व' और (इच्छा) 'स्वातंव्य'के संबंधके गूढ विचार इन नीति-प्रश्नका विचार करते करतेही उत्पन्न हुए हैं, कि "मैं संसारमें किस तरह बर्ताव करूँ? या इस संसारमें मेरा सच्चा कर्तव्य क्या है?" और ऐसे प्रश्नोंके उत्तर न देकर नीतिकी उपपत्ति केवल किसी बाह्य-सुखकी दृष्टिसेही बतलाना मानो मनुष्यके मनकी उस पशुवृत्तिको – जो स्वभावतः विषयसुखमें लिप्त रहा करती है – उत्तेजित करना एवं सच्ची नीतिमत्ताकी जड़परही कुल्हाड़ी चलाना है।* अब इस बातको अलग करके समझानेकी कोई आवश्यकता नहीं, कि यद्यपि गीताका प्रतिपाद्य विषय कर्मयोगही है, तोभी उसमें शुद्ध वेदान्त क्यों और कैसे आ गया। कांटने इस विषयपर "शुद्ध (व्यवसा-यात्मक बुद्धिकी मीमांसा" और "व्यावहारिक (वासनात्मक) बुद्धिकी मीमांसा" नामक दो अलग अलग ग्रंथ लिखे हैं। परंतु हमारे औपनिषदिक तत्त्वज्ञानके अनुसार भगवद्गीतामें इन दोनों विषयोंका समावेश किया गया है; बल्कि श्रद्धा-मूलक भक्ति-मार्गकाभी विवेचन उसीमें होनेके कारण गीता सबसे अधिक ग्राह्य और प्रमाणभूत हो गई है।

---

* "Empiricism on the contrary, cuts up at the roots the morality of intentions (in which, and not in actions only, consists the high worth that men can and ought to give themselves) ... ... Empiricism, moreover, being on this account allied with all the inclinations which (no matter what fashion they put on) degrade humanity when they are raised to the dignity of a supreme practical principle,..is for that reason much more dangerous." Kant's *Theory of Ethics*, pp. 163 and 236-238. See also Kant's *Critique of Pure Reason*, (trans. by Max Muller) 2nd Ed. pp. 640-657.

मोक्ष-धर्मको क्षणभरके लिये एक ओर रखकर केवल कर्म-अकर्मकी परीक्षाके नैतिक तत्त्वकी दृष्टिसेभी जब 'साम्य-बुद्धि'ही श्रेष्ठ सिद्ध होती है; तब यहांपर इस बातकाभी थोड़ा-सा विचार कर लेना चाहिये, कि गीताके आध्यात्मिक पक्षको छोड़कर नीतिशास्त्रोंमें अन्य पंथ कैसे और क्यों निर्माण हुए ? डाक्टर पाल कारस* नामक एक प्रसिद्ध अमेरिकन ग्रंथकार अपने नीतिशास्त्रविषयक ग्रंथमें इस प्रश्नका यह उत्तर देता है, कि "पिंड-ब्रह्मांडकी रचनाके संबंधमें मनुष्यकी जैसी समझ (राय) होती है, उसके अनुसार नीतिशास्त्रके मूल तत्त्वोंके संबंधमें उसके विचारोंका रंग बदलता रहता है। सच पूछो तो, पिंड-ब्रह्मांडकी रचनाके संबंधमें कुछ-न-कुछ निश्चित मत हुए बिना नैतिक प्रश्नही उपस्थित नहीं हो सकता। पिंड-ब्रह्मांडकी रचनाके संबंधमें कुछ पक्का मत न रहनेपरभी हम लोगोंसे कुछ नैतिक आचरण कदाचित् हो सकता है, परंतु यह आचरण स्वप्नावस्थाके व्यापारके समान होगा; इसलिये इसे नैतिक कहनेके बदले देहधर्मानुसार होनेवाली केवल एक कायिक क्रियाही कहना चाहिये।" उदाहरणार्थ, बाघिन अपने बच्चोंकी रक्षाके लिये प्राण देनेको तैयार हो जाती है; परंतु इसे हम उसका नैतिक आचरण न कहकर उसका जन्मसिद्ध स्वभावही कहते हैं। इस उत्तरसे इस बातका अच्छी तरह स्पष्टीकरण हो जाता है, कि नीतिशास्त्रके उपपादनमें अनेक पंथ क्यों हो गये हैं। इसमें कुछ संदेह नहीं, कि "मैं कौन हूँ, यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ, मेरा इस संसारमें क्या उपयोग हो सकता है ?" इत्यादि गूढ प्रश्नोंका निर्णय जिस तत्त्वसे हो सकेगा, उसी तत्त्वके अनुसार प्रत्येक विचारवान् पुरुष अंतमें इस बातकाभी निर्णय अवश्य करेगा, कि मुझे अपने जीवन-कालमें अन्य लोगोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये। परंतु इन गूढ प्रश्नोंका उत्तर भिन्न भिन्न कालमें तथा भिन्न भिन्न देशोंमें एकही प्रकारका नहीं हो सकता। युरोप खंडमें प्रचलित इसाई धर्ममें यह वर्णन पाया जाता है, कि मनुष्य और सृष्टिका कर्ता बाइबलमें वर्णित सगुण परमेश्वर है; और उसीने पहले पहल संसारको उत्पन्न करके सदाचरणके नियम या आज्ञाएँ मनुष्योंको बता दी हैं; तथा आरंभमें ईसाई पंडितोंकाभी यही अभिप्राय था, कि बाइबलमें वर्णित पिंड-ब्रह्मांडकी इस कल्पनाके अनुसार बाइबलमें कहे गये नीतिनियमही नीतिशास्त्रके मूल तत्त्व हैं। फिर जब यह मालूम होने लगा, कि ये नियम व्यावहारिक दृष्टिसे अपूर्ण हैं, तब

---

* See *The Ethical Problem* by Dr. Carus, 2nd Ed. p. 111. "Our proposition is that the leading principle in ethics must be derived from the Philosophical view back of it. The world-conception a man has, can alone give character to the principle in his ethics. Without any world-conception we can have no ethics (i. e ethics in the highest sense of the word). We may act morally like dreamers or somnambulists, but our ethics would in the case be a mere moral instinct without any rational insight into its *raison d'etere*.

इनकी पूर्ति करनेके लिये अथवा स्पष्टीकरणार्थ यह प्रतिपादन किया जाने लगा, कि परमेश्वरहीने मनुष्यको सदसद्विवेकशक्ति दी है। परंतु अनुभवसे फिर यह अड़चन दीख पड़ने लगी, कि चोर और साह दोनोंकी सदसद्विवेकशक्ति एक समान नहीं रहती; तब इस मतका प्रचार होने लगा, कि परमेश्वरकी इच्छा नीतिशास्त्रकी नींव भलेही हो, परंतु उस ईश्वरी इच्छाके स्वरूपको जाननेके लिये केवल इसी बातका विचार करना चाहिये, कि अधिकांश लोगोंका अधिक सुख किसमें है – इसके सिवा परमेश्वरकी इच्छाको जाननेका अन्य कोई मार्ग नही है। पिंड-ब्रह्मांडकी रचना संबंधमें ईसाई लोगोंकी जो यह समझ है – कि बाइबलमें वर्णित सगुण परमेश्वरही संसारका कर्ता है; और यह उसकीही इच्छा या आज्ञा है, कि मनुष्य नीतिके नियमानुसार बर्ताव करे – उसी आधारपर उक्त सब मत प्रचलित हुए हैं। परंतु आधिभौतिक शास्त्रोंकी उन्नति तथा वृद्धि होनेपर जब मालूम होने लगा, कि ईसाई धर्म-पुस्तकोंमें पिंड-ब्रह्मांडकी रचनाके विषयमें कहे गये सिद्धान्त ठीक नहीं हैं, तब यह विचार एक ओर रखा गया, कि परमेश्वरके समान कोई सृष्टिका कर्ता है या नहीं; और यही विचार किया जाने लगा, कि नीतिशास्त्रकी इमारत प्रत्यक्ष दिखनेवाली बातोंकी नींव पर क्योंकर खड़ी की जा सकती है। तबसे फिर यह प्रतिपादन किया जाने लगा, कि अधिकांश लोगोंका अधिक सुख या कल्याण, अथवा मनुष्यत्वकी वृद्धि, येही दृश्य-तत्त्वके नीतिशास्त्रके मूल कारण हैं। इस प्रतिपादनमें इस बातकी किसी उपपत्ति या कारण का कोई उल्लेख नहीं किया गया है, कि कोई मनुष्य अधिकांश लोगोंका अधिक हित क्यों करे? सिर्फ इतनाही कह दिया जाता है, कि यह मनुष्यकी नित्य बढ़नेवाली एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। परंतु मनुष्यस्वभावमें स्वार्थ सरीखी औरभी दूसरी वृत्तियाँ दीख पड़ती हैं, इसलिये इन पंथमेंभी फिर मतभेद होने लगे। नीतिमत्ताकी ये सब उपपत्तियाँ कुछ सर्वथा निर्दोष नहीं हैं। परन्तु उक्त पंथके सभी पंडितोंमें "सृष्टिके दृश्य पदार्थोंसे परे सृष्टिकी जड़में कुछ-न-कुछ अव्यक्त तत्त्व अवश्य है", इस सिद्धान्तपर एकही-सा अविश्वास और अश्रद्धा है, इस कारण उनके विषय-प्रतिपादनमें चाहे कुछ अड़चनभी क्यों न हो; तोभी वे लोग केवल बाह्य और दृश्य तत्त्वोंसेही किसी तरह निर्वाह कर लेनेका हमेशा प्रयत्न किया करते हैं। नीति तो सभीको चाहिये; परंतु उक्त कथनसे मालूम हो जायगा, कि पिंड-ब्रह्मांडकी रचनाके संबंधमें भिन्न भिन्न मत होनेके कारण उन लोगोंकी नीतिशास्त्रविषयक उपपत्तियोंमें हमेशा कैसे भेद हो जाया करते हैं। इसी कारणसे पिंड-ब्रह्मांडकी रचनाके विषयमें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक मतोंके अनुसार हमने तीसरे प्रकरणमें नीतिशास्त्रके प्रतिपादनके तीन भेद किये हैं; और आगे फिर प्रत्येक पंथके मुख्य मुख्य सिद्धान्तोंका भिन्न भिन्न विचार किया है। जिनका यह मत है, कि सगुण परमेश्वरने सर्व दृश्य सृष्टिको बनाया है, वे नीतिशास्त्रका केवल यहींतक विचार करते हैं, कि अपने अपने धर्म-ग्रंथोंमें परमेश्वरकी जो आज्ञाएँ

हैं वे तथा परमेश्वरकी सत्तासे निर्मित सदसद्विवेचन अथवा शक्तिरूप देवताही सब कुछ है – इसके बाद और कुछ नहीं है। इसीको हमने 'आधिदैविक' पंथ कहा है। क्योंकि सगुण परमेश्वरभी तो एक देवताही है न! अब जिनका यह मत है, कि दृश्य सृष्टिका आदिकारण कोईभी अदृश्य मूल तत्त्व नहीं है; और यदि होभी, तो वह मनुष्यकी बुद्धिके लिये अगम्य है; वे लोग "अधिकांश लोगोंका अधिक कल्याण" या "मनुष्यत्वका परम उत्कर्ष" जैसे केवल दृश्य-तत्त्व द्वाराही नीतिशास्त्रका प्रतिपादन किया करते हैं; और यह मानते हैं, कि इस बाह्य और दृश्य तत्त्वके परे विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस पंथको हमने 'आधिभौतिक' नाम दिया है। जिनका यह सिद्धान्त है, कि नामरूपात्मक दृश्य सृष्टिकी जड़में आत्मा सरीखा कुछ-न-कुछ नित्य और अव्यक्त तत्त्व अवश्य है, वे लोग अपने अपने नीतिशास्त्रकी उपपत्तिको आधिभौतिक उपपत्तिसेभी परे ले जाते हैं, और आत्मज्ञान तथा नीति या धर्मका मेल करके इस बातका निर्णय करते हैं, कि संसारमें मनुष्यका सच्चा कर्तव्य क्या है? इस पंथको हमने 'आध्यात्मिक' कहा है। इन तीनों पंथोंमें आचार नीति एकही है; परंतु पिंड-ब्रह्मांडकी रचनाके संबंधमें प्रत्येक पंथका मत भिन्न भिन्न है, जिससे नीतिशास्त्रके मूल-तत्त्वोंका स्वरूप हर एक पंथमें थोड़ा बदलता गया है। यह बात प्रकट है, कि व्याकरणशास्त्र कोई नई भाषा नहीं बनाता; किंतु जो भाषा व्यवहारमें प्रचलित रहती है, उसीके नियमोंकी वह खोज करता है, और भाषाकी उन्नतिमें सहायक होता है; ठीक यही हाल नीतिशास्त्रकाभी है। मनुष्य इस संसारमें जबसे पैदा हुआ है, उसी दिनसे वह स्वयं अपनीही बुद्धिसे अपने आचरणको देशकालानुसार शुद्ध रखनेका प्रयत्नभी करता चला आया है, और समय समय पर जो प्रसिद्ध पुरुष या महात्मा हो गये हैं, उन्होंने अपनी समझके अनुसार आचार-शुद्धिके लिये, 'चोदना' या प्रेरणारूपी अनेक नियमभी बना दिये हैं। नीतिशास्त्रकी उत्पत्ति कुछ इस लिये नहीं हुई है, कि वह इन नियमोंको तोड़कर नये नियम बनाने लगे। हिंसा मत कर, सच बोल, परोपकार कर, इत्यादि नीतिके नियम प्राचीन कालसेही चलते आये हैं। अब नीतिशास्त्रका सिर्फ़ यही देखनेका काम है, कि नीतिकी यथोचित वद्धि होनेके लिये सब नीतिनियमोंमें मूल तत्त्व क्या है। यही कारण है, कि जब हम नीतिशास्त्रके किसीभी पंथको देखते हैं, तब हम वर्तमान कालमें प्रचलित नीतिके प्रायः सब नियमोंको सभी पंथोंमें एक-से पाते हैं, उनमें जो कुछ भेद दिखलाई पड़ता है, वह उपपत्तिके स्वरूप-भेदके कारण है, और इसलिये डॉ. पाल कारसका यह कथन सच मालूम होता है, कि इस भेदके होनेका मुख्य कारण यही है, कि हरएक पंथमें पिंड-ब्रह्मांडकी रचनाके संबंधमें भिन्न भिन्न मत हैं।

अब यह बात सिद्ध हो गई, कि मिल, स्पेन्सर, कांट आदि आधिभौतिक पंथके आधुनिक पाश्चात्त्य नीतिशास्त्रविषयक ग्रंथकारोंने आत्मौपम्य-दृष्टिके

सुलभ तथा व्यापक तत्त्वको छोड़कर, 'सर्वभूतहित' या "अधिकांश लोगोंका अधिक हित" जैसे आधिभौतिक और बाह्य तत्त्वपरही नीतिमत्ताको स्थापित करनेका जो प्रयत्न किया, वह इसीलिये किया है, कि पिंड-ब्रह्मांडसंबंधी उनके मत प्राचीन मतोंसे भिन्न हैं। परंतु जो लोग उक्त नूतन मतोंको नहीं मानते; और जो इन प्रश्नोंका स्पष्ट तथा गंभीर विचार कर लेना चाहते हैं, कि, "मैं कौन हूँ? सृष्टि क्या है? मुझे इस सृष्टिका ज्ञान कैसे होता है? जो सृष्टि मुझसे बाहर है, वह स्वतंत्र है या नहीं? यदि है, तो उसका मूल तत्त्व क्या है? इस तत्त्वसे मेरा क्या संबंध है? एक मनुष्य दूसरेके सुखके लिये अपनी जान क्यों देवे?" "जो जन्म लेते हैं, वे मरतेभी हैं" इस नियमके अनुसार यदि यह बात निश्चित है, कि "जिस पृथ्वीपर हम रहते हैं, उसका और उसके साथ समस्त प्राणियोंका किसी दिन अवश्य नाश हो जायगा; तो नाशवान् भविष्यकी पीढ़ियोंके लिये हम अपने सुखका नाश क्यों करें?"– अथवा जिन लोगोंका केवल इस उत्तरसे पूरा समाधान नहीं होता हो, कि "परोपकार आदि मनोवृत्तियाँ इस समय कर्ममय, अनित्य और दृश्य-सृष्टिकी नैसर्गिक प्रवृत्तियाँही हैं," और जो यह जानना चाहते हैं, कि इन नैसर्गिक प्रवृत्तियाँका मूल कारण क्या है – उनके लिये अध्यात्मशास्त्रके नित्य तत्त्वज्ञानका सहारा लेनेके सिवा और कोई दूसरा मार्ग नहीं है; और, इसी कारणसे ग्रीनने अपने नीतिशास्त्रके ग्रंथका आरंभ इसी तत्त्वके प्रतिपादनसे किया है, कि जिस आत्माको जड़ सृष्टिका ज्ञान होता है, वह आत्मा जड़ सृष्टिसे अवश्यही भिन्न होगा; और कांटने पहले व्यवसायत्मिका बुद्धिका विवेचन करके फिर वासनात्मक बुद्धिकी तथा नीतिशास्त्रकी मीमांसा की है। "मनुष्य अपने सुखके लियेही या अधिकांश लोगोंको सुख देनेके लियेहो पैदा हुआ है" – यह कथन ऊपरसे चाहे कितनाही मोहक तथा उत्तम दिखे, परंतु वस्तुतः यह सच नहीं है। यदि हम क्षणभर इस बातका विचार करें, कि जो महात्मा केवल सत्यके लिये प्राण-दान करनेको तैयार रहते हैं, उनके मनमें क्या यही हेतु रहता है, कि भविष्यकी पीढ़िके लोगोंको अधिकाधिक विषय-सुख प्राप्त होवें, तो यही कहना पड़ता है, कि अपने तथा अन्य लोगोंके अनित्य आधिभौतिक सुखोंकी अपेक्षा इस संसारमें मनुष्यका औरभी कुछ दूसरा अधिक महत्त्वका परम साध्य या उद्देश्य अवश्य है। यह उद्देश्य क्या है? जिन्होंने पिंड-ब्रह्मांडके नामरूपात्मक, अतएव नाशवान्, परंतु दृश्य स्वरूपसे आच्छादित आत्मस्वरूपी नित्य तत्त्वको अपनी आत्मप्रतीतिके द्वारा जान लिया है, वे लोग उक्त प्रश्नका यह उत्तर देते हैं कि अपने आत्माके अमर, श्रेष्ठ, शुद्ध, नित्य तथा सर्वव्यापी स्वरूपकी पहचान करके उसीमें रत रहनाही ज्ञानवान् मनुष्यका इस नाशवान् संसारमें पहला कर्तव्य है। जिसे सर्वभूतान्तर्गत आत्मैक्यकी इस तरहसे पहचान हो जाती है, तथा यह ज्ञान जिसकी देह तथा इंद्रियोंमें समा जाता है, वह पुरुष इस बातके सोचमें पड़ा नहीं रहता, कि यह संसार झूठ है या सच, किंतु वह सर्वभूतहितके लिये उद्योग करनेमें

आप-ही-आप प्रवृत्त हो जाता है; और सत्य मार्गका अग्रेसर बन जाता है। क्योंकि उसे यह पूरी तौरसे मालूम रहता है, कि अविनाशी तथा त्रिकालाबाधित सत्य कौन-सा है। मनुष्यकी यह आध्यात्मिक पूर्णावस्थाही सब नीति-नियमोंका मूल उगमस्थान है, और इसेही वेदान्तमें 'मोक्ष' कहते हैं। किसीभी नीतिको लीजिये; वह इस अंतिम साध्यसे अलग नहीं हो सकती, इसलिये नीतिशास्त्रका या कर्मयोगशास्त्रका विवेचन करते समय आखिर इसी तत्त्वकी शरणमें जाना पड़ता है। सर्वात्मैक्यरूप अव्यक्त मूल तत्त्वकाही एक व्यक्त स्वरूप सर्वभूतहितेच्छा है; और सगुण परमेश्वर तथा दृश्य सृष्टि दोनों उस आत्माकेही व्यक्त स्वरूप हैं, जो सर्वभूतातर्गत, सर्वव्यापी और अव्यक्त है; और इस व्यक्त स्वरूपके आगे परे जाकर अव्यक्त आत्माका ज्ञान प्राप्त किये बिना, ज्ञानकी पूर्ति तो होतीही नहीं, किंतु इस संसारमें हर एक मनुष्यका जो यह परम कर्तव्य है, कि शरीरस्थ आत्माको पूर्णावस्थामें पहुँचा दे; वहभी इस ज्ञानके बिना सिद्ध नहीं हो सकता। चाहे नीतिको लीजिये, व्यवहारको लीजिये, धर्मको लीजिये अथवा किसीभी दूसरे शास्त्रको लीजिये; अध्यात्मज्ञानही सबकी अंतिम गति है – "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।" हमारा भक्ति-मार्गभी इसी तत्त्वज्ञानका अनुसरण करता है, इसलिये उसमेंभी यही सिद्धान्त स्थिर रहता है, कि ज्ञान-दृष्टिसे निष्पन्न होनेवाला साम्य-बुद्धिरूपी तत्त्वही मोक्षका तथा सदाचरणका मूल स्थान है। वेदान्तशास्त्रसे सिद्ध होनेवाले उक्त तत्त्वपर एकही महत्त्वपूर्ण आक्षेप किया जा सकता है, कि कुछ वेदान्ती ज्ञान-प्राप्तिके अनंतर सब कर्मोंका संन्यास कर देना उचित मानते हैं, इसीलिये यह दिखला कर – कि ज्ञान और कर्ममें विरोध नहीं है, गीतामें कर्मयोगके इस सिद्धान्तका विस्तारसहित वर्णन किया गया है, कि वासनाका क्षय होनेपरभी ज्ञानी पुरुष अपने सब कर्मोंको परमेश्वरार्पणपूर्वक-बुद्धिसे लोकसंग्रहके लिये केवल कर्तव्य समझ करही करता चला जावे। अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये यह उपदेश अवश्य दिया गया है, कि तू परमेश्वरको सब कर्म समर्पण करके युद्ध कर; परंतु यह उपदेश केवल तत्कालीन प्रसंगको देखकरही किया है (गीता ८. ७)। उक्त उपदेशका भावार्थ यही मालूम होता है, कि अर्जुनके समानही किसान, सुनार, लोहार, बढ़ई, बनिया, ब्राह्मण, व्यापारी, लेखक उद्यमी इत्यादि सभी लोग अपने अपने अधिकारानुरूप अपने व्यवहारोंको परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे करते हुए संसारका धारण-पोषण करते रहें; जिसे जो रोजगार निसर्गतः प्राप्त हुआ है, उसे यदि वह निष्काम बुद्धिसे करता रहे, तो कर्ताको कुछभी पाप नहीं लगेगा, सब कर्म एकहीसे हैं; दोष केवल कर्ताकी बुद्धिमें है, न कि उसके कर्मोंमें, अतएव बुद्धिको सम करके यदि सब कर्म किये जायँ, तो परमेश्वरकी उपासना हो जाती है, पाप नहीं लगता; और अंतमें सिद्धिभी मिल जाती है। परंतु जिन (विशेषतः अर्वाचीन कालके) लोगोंका यह दृढ़-संकल्प-सा हो गया है, कि चाहे कुछभी हो जाय, इस नाशवान् दृश्य-सृष्टिके आगे बढ़कर आत्म-अनात्म-विचारके

गहरे पानीमें पैठना ठीक नहीं है; वे अपने नीतिशास्त्रका विवेचन, ब्रह्मात्मैक्यरूप परम साध्यकी उच्च श्रेणीको छोड़ कर, मानव-जातिका कल्याण या सर्वभूतहित जैसे निम्न कोटिके आधिभौतिक दृश्य परंतु अनित्य, तत्त्वसेही शुरू किया करते हैं। स्मरण रहे, कि किसी पेड़की चोटीको तोड़ देनेसेही वह नया पेड़ नहीं कहलाता; उसी तरह आधिभौतिक पंडितोंका निर्माण किया हुआ नीतिशास्त्र भोंडा या अपूर्ण भले ही हो; परंतु वह नया नहीं हो सकता। ब्रह्मात्मैक्यको न मानकर प्रत्येक पुरुषको स्वतंत्र माननेवाले हमारे यहांके सांख्य-शास्त्रज्ञ पंडितोंनेभी, यही देख कर, कि दृश्य-जगतका धारण-पोषण और विनाश किन गुणोंके द्वारा होता है; सत्त्व-रज-तम तीनों गुणोंके लक्षण निश्चित किये हैं; और फिर प्रतिपादन किया हैं, कि इनमेंसे सात्त्विक सद्गुणोंका परम उत्कर्ष करनाही मनुष्यका कर्तव्य है, तथा मनुष्यको इसीसे अंतमें त्रिगुणातीत अवस्था मिलकर मोक्षकी प्राप्ति होती है। भगवद्गीताके सत्रहवें तथा अठारहवें अध्यायोंमें थोड़े भेदके साथ इसीका वर्णन है।* सच देखा जाय, तो क्या सात्त्विक सद्गुणोंका परम उत्कर्ष, और आधिभौतिकवादके अनुसार क्या परोपकार-बुद्धिकी अथवा मनुष्यत्वकी वृद्धि, दोनोंका अर्थ एक-ही है। महाभारत और गीतामें इन सब अधिभौतिक तत्त्वोंका स्पष्ट उल्लेख तो है ही; बल्कि महाभारतमें यहभी साफ़ साफ़ कहा गया है, कि धर्म-अधर्मके नियमोंके लौकिक या बाह्य उपयोगका विचार करनेपर यही जान पड़ता है, कि ये नीति-धर्म सर्वभूतहितार्थ अर्थात् लोककल्याणार्थ ही हैं। परंतु पश्चिमी आधिभौतिक पंडितोंका किसीभी अव्यक्त तत्त्वपर विश्वास नहीं है, इसलिये यद्यपि वे जानते हैं, कि तात्त्विक दृष्टिसे कार्य-अकार्यका निर्णय करनेके लिये आधिभौतिक तत्त्व पूरा काम नहीं देते; तोभी वे निरर्थक शब्दोंका आडंबर बढ़ाकर व्यक्त तत्त्वसेही अपना निर्वाह किसी तरह कर लिया करते हैं। गीतामें ऐसा नहीं किया गया है, किंतु इन तत्त्वोंकी परंपराको पिंड-ब्रह्मांडके मूल अव्यक्त तथा नित्य-तत्त्वतक ले जाकर मोक्ष, नीतिधर्म और व्यवहार इन तीनोंकीभी पूरी एकवाक्यता तत्त्वज्ञानके आधारसे गीतामें भगवानने सिद्ध कर दिखाई है; और इसलिये अनुगीताके आरंभमें स्पष्ट कहा गया है, कि कार्य-अकार्य निर्णयार्थ जो धर्म बतलाया गया है, वही मोक्ष-प्राप्ति करा देनेके लियेभी समर्थ है (मभा. अश्व. १६. १२)। जिनका यह मत होगा कि, मोक्षधर्म और नीति-शास्त्रको अथवा अध्यात्मशास्त्र और नीतिको एकमें मिला देनेकी आवश्यकता नहीं है, उन्हें उक्त उपपादनका महत्त्वही मालूम नहीं हो सकता। परंतु जो लोग इसके संबंधमें उदासीन नहीं हैं, उन्हें निस्संदेह यह मालूम हो जायगा, कि गीतामें किया गया कर्मयोगका प्रतिपादन आधिभौतिक विवेचनकी अपेक्षा श्रेष्ठ तथा ग्राह्य है।

* बाबू किशोरीलाल सरकार, एम्. ए., बी. एल्. ने The Hindu System of Moral Science नामक जो एक छोटासा-ग्रंथ लिखा है, वह इसी ढंगका है; अर्थात् उसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुणोंके आधारपर विवेचन किया गया है।

अध्यात्मज्ञानकी वृद्धि प्राचीन कालमें हिंदुस्थानमें जैसी हो चुकी है, वैसी और कहींभी नहीं हुई, इसलिये किसी अन्य देशमें, कर्मयोगके ऐसे आध्यात्मिक उपपादनका पहले पाया जाना बिलकुल संभव नहीं था – और, यह विदितही है, कि ऐसा उपपादन कहीं पायाभी नहीं जाता।

यह स्वीकार होनेपर भी – कि इस संसारके अशाश्वत होनेके कारण इसमें सुखकी अपेक्षा दुःखही अधिक है (गीता ९. ३३) – गीतामें जो यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है, कि " कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः " – सांसारिक कर्मोंका कभी न कभी संन्यास करनेकी अपेक्षा उन्हीं कर्मोंको निष्काम बुद्धिसे लोककल्याणके लिये करते रहना अधिक श्रेयस्कर है (गीता ३. ८; ५. २), उसके साधक तथा बाधक कारणोंका विचार ग्यारहवें प्रकरणमें किया जा चुका है। परंतु गीता इस कर्मयोगकी पश्चिमी कर्म-मार्गसे अथवा हमारे यहांके संन्यास-मार्गकी पश्चिमी कर्मत्याग-पक्षसे, तुलना करते समय उक्त सिद्धान्तका कुछ अधिक स्पष्टीकरण करना आवश्यक मालूम होता है। यह मत वैदिक धर्ममें पहले पहल उपनिषत्कारों तथा सांख्यवादियों-द्वारा प्रचलित किया गया है, कि दुःखमय तथा निस्सार संसारसे बिना निवृत्त हुए मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके पूर्वका वैदिक धर्म प्रवृत्ति-प्रधान अर्थात् कर्म-कांडात्मकही था, परंतु यदि वैदिक धर्मको छोड़ अन्य धर्मोंका विचार किया जाय, तो यह मालूम होगा, कि उनमेंसे बहुतोंने आरंभसेही संन्यास-मार्गको स्वीकार कर लिया था। उदाहरणार्थ, जैन और बौद्ध धर्म पहलेहीसे निवृत्ति-प्रधान हैं; और ईसामसीहकाभी वैसाही उपदेश है। बुद्धने अपने शिष्योंको यदि अंतिम उपदेश दिया है, कि " संसारका त्याग करके यति-धर्मसे रहना चाहिये, स्त्रियोंकी ओर देखना नहीं चाहिये; और उनसे बातचीतभी नहीं करना चाहिये " (महापरि-निब्बाण सुत्त ५. २३); ठीक इसी तरह मूल ईसाई धर्मकाभी कथन है। ईसाने कहा है, कि " तू अपने पड़ोसीको अपनेही समान प्यार कर " (मेथ्यू. १९. १९); और, पालकाभी कथन है, कि " तू जो कुछ खाता, पीता या करता है, वह सब ईश्वरके लिये कर " (१ कारिं. १०. ३१); और ये दोनों उपदेश ठीक उसी तरहके हैं, जैसे कि गीतामें आत्मौपम्य-बुद्धिसे ईश्वरार्पणपूर्वक कर्म करनेको कहा गया है (गीता ६. २९; ९. २७)। परंतु केवल इतनेहीसे यह सिद्ध नहीं होता, कि ईसाई धर्म गीता-धर्मके समान प्रवृत्ति-प्रधान है। क्योंकि ईसाई धर्ममेंभी अंतिम साध्य यही है, कि मनुष्यको अमृतत्व मिले तथा वह मुक्त हो जावे; और उसमें यहभी प्रतिपादन किया गया है, कि यह स्थिति घरद्वार त्यागे विना प्राप्त नहीं हो सकती, अतएव ईसा मसीहके मूल धर्मको संन्यास-प्रधानही कहना चाहिये। स्वयं ईसा मसीह अंततक अविवाहित रहे। जब एक समय एक आदमीने उनसे प्रश्न किया, कि " माँ-बाप तथा पड़ोसियोंको प्यार करनेके धर्मका मैं अबतक पालन करता चला आया हूँ, अब मुझे यह बतलाओ, कि अमृतत्व मिलनेमें क्या कसर है ? " तब ईसाने साफ़ उत्तर

दिया है कि, " तू अपने घरद्वारको बेच दे या किसी गरीबको डाल दे; और मेरा भक्त बन " (मेथ्यू. १९. १६–३० ; मार्क १९. २१–३१) ; और वे तुरंत अपने शिष्योंकी ओर देख उनसे कहने लगे, कि सुईके छेदसे ऊँट भलेही निकल जाय; परंतु ईश्वरके राज्यमें किसी धनवानका प्रवेश होना कठिन है। " यह कहनेमें कोई अतिशयोक्ति नहीं दीख पड़ती, कि यह उपदेश याज्ञवल्क्यके इस उपदेशकी नकल है, कि जो उन्होंने मैत्रेयीको किया था। वह उपदेश यह है – " अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन " (बृ. २. ४. २) – द्रव्यसे अमृतत्व मिलनेकी आशा नहीं है। गीतामें कहा गया है, कि अमृतत्व प्राप्त करनेके लिये सांसारिक कर्मोंको छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है, बल्कि उन्हें निष्काम बुद्धिसे करतेहीं रहना चाहिये; परंतु ऐसा उपदेश ईसाने कहींभी नहीं किया है। इसके विपरीत उन्होंने यही कहा है, कि सांसारिक संपत्ति और परमेश्वरके बीच चिरस्थायी विरोध है (मेथ्यू. ६. २४), इसलिये " माँ-बाप, घर-द्वार, स्त्री-बच्चे और भाई-बहिन एवं स्वयं अपने जीवनसेभी द्वेष करके जो मनुष्य मेरा अनुयायी नहीं बनता, वह मेरा भक्त कभी हो नहीं सकता " (ल्यूक. १४. २६–३३)। ईसाके शिष्य पालकाभी स्पष्ट उपदेश है, कि " स्त्रियोंको स्पर्शतकभी न करना सर्वोत्तम पक्ष है " (१. कारिं. ७. १), इसी प्रकार, हम पहलेही कह चुके हैं, कि ईसाके मुँहसे निकले हुए – " हमारी जन्मदात्री * माता, हमारी कौन होती है? हमारे आसपासके ईश्वरभक्तही हमारे माँ-बाप और बंधु हैं " (मेथ्यू. १२. ४६–५०) – इस वाक्यमें, और " किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः " बृहदारण्यकोपनिषदके संन्यासविषयक इस वचनमें (बृ. ४. ४. २२) बहुत कुछ समानता है। स्वयं बाइबलकेही इन वाक्योंसे यह सिद्ध होता है, कि जैन और बौद्ध धर्मोंके सदृशही ईसाई धर्मभी आरंभमें संन्यास-प्रधान अर्थात् संसारको त्याग देनेका उपदेश देनेवाला है, और ईसाई धर्मके इतिहासको देखनेसेभी यही मालूम होता है † कि ईसाके इस उपदेशानुसारही पहले ईसाई धर्मोपदेशक वैराग्यसे रहा करते

---

* यह तो संन्यास-मार्गियोंका हमेशाहीका उपदेश है। शंकराचार्यका " का ते कान्ता कस्ते पुत्रः " यह श्लोक प्रसिद्धही है; और, अश्वघोषके 'बुद्धचरित' (६.४५) में यह वर्णन पाया है, कि बुद्धके मुखसे " क्वाहं मातुः क्व सा मम " ऐसा उद्गार निकला था।

† See Paulen's *System of Ethics* (Eng. trans.) Book I. Chap. 2 and 3; esp. pp. 89–97. "The new (Christian) converts seemed to renounce their family and country ...... their gloomy and austere aspect, their abhorrence of the common business and pleasures of life, and their frequent predictions of impending calamities inspired the pagans with the apprehension of some danger which would arise from the new sect." *Historian's History of the World*, Vol. VI, p. 318. जर्मन कवि गटेने अपने Faust (फौस्ट)

थे – "ईसाके भक्तोंको द्रव्य-संचय न करके रहना चाहिये" (मेथ्यू. १० ९–१५)। ईसाई धर्मोपदेशकोंमें तथा ईसाके भक्तोंमें गृहस्थ-धर्मसे संसारमें रहनेकी जो रीति पाई जाती है, वह बहुत दिनोंके वादके सुधारोंका फल है – वह मूल ईसाई धर्मका स्वरूप नहीं है। वर्तमान समयमेंभी शोपेनहर सरीखे विद्वान् यही प्रतिपादित करते हैं, कि संसार दुःखमय होनेके कारण त्याज्य है, और पहले यह बतलाया जा चुका है, कि ग्रीस देशमें प्राचीन कालमें यह प्रश्न उपस्थित हुआ था, कि तत्त्व-विचारमेंही अपने जीवनको व्यतीत कर देना श्रेष्ठ है, या लोकहितके लिये राजकीय मामलोंमें प्रयत्न करते रहना श्रेष्ठ है। सारांश यह है, कि पश्चिमी लोगोंका यह कर्मत्याग-पक्ष और हम लोगोंका संन्यास-मार्ग कई अंशोंमें एकही है; और इन मार्गोंका समर्थन करनेकी पूर्वी और पश्चिमी पद्धतिभी एकही-सी है। परंतु आधुनिक पश्चिमी पंडित कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्म-मार्गकी श्रेष्ठताके जो कारण बतलाते हैं, वे गीतामें दिये गये प्रवृत्ति-मार्गके प्रतिपादनसे भिन्न हैं, इसलिये अब इन दोनोंके भेदकोभी यहाँ-पर अवश्य बतलाना चाहिये। पश्चिमी आधिभौतिक कर्म-मार्गियोंका कहना है, कि संसारके सब मनुष्योंका अथवा अधिकांश लोगोंका अधिक सुख – अर्थात् ऐहिक सुख – ही इस जगत्में परम साध्य है, अतएव सब लोगोंके सुखके लिये प्रयत्न करते हुए उसी सुखमें स्वयंभी मग्न हो जाना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है, और इसकी पुष्टिके लिये उनमेंसे अधिकांश पंडित यह प्रतिपादनभी करते हैं, कि संसारमें दुःखकी अपेक्षा सुखही अधिक है। इस दृष्टिसे देखनेपर यही कहना पड़ता है, कि पश्चिमी कर्म-मार्गीय लोग "सुख-प्राप्तिकी आशासे सांसारिक कर्म करनेवाले" होते हैं; और पश्चिमी कर्मत्यागमार्गीय लोग "संसारसे उबे हुए" होते हैं; तथा कदाचित् इसी कारणसे उनको क्रमानुसार 'आशावादी' और 'निराशावादी' कहते हैं।* परंतु भगवद्गीतामें जिन दो निष्ठाओंका वर्णन है, वे इनसे भिन्न हैं। चाहे स्वयं अपने लिये हो या परोपकारके लिये हो, कुछभी हो; परंतु जो मनुष्य ऐहिक विषयसुख

नामक काव्यमें यह लिखा है – "Thou shalt renounce ! That is the eternal song which ring in everyone's ears; which, our whole life-long every hour is hoarsely singing to us." (Faust, Part I, II. 1195–1198). मूल इसाई धर्मके संन्यास-प्रधान होनेके विषयमें कितनेही अन्य आधार और प्रमाण दिये जा सकते हैं।

* जेम्स सलीने (James Sulli) अपने Pessimism नामक ग्रंथमें Optimist और Pessimist नामक दो पंथोंका वर्णन किया है। इनमेंसे Optimist का अर्थ 'उत्साही, आनंदित' और Pessimist का अर्थ 'संसारसे त्रस्त' होता है; और हमने पहले एक टिप्पणीमें बतला दिया है, कि ये शब्द गीताके 'योग' और 'सांख्य'के पूर्णरूपसे समानार्थक नहीं हैं (पृष्ठ ३०६)। 'दुःखनिवारणेच्छुक' नामक जो एक तीसरा पंथ है और जिसका वर्णन आगे किया गया है, उसका सलीने Meliorism नाम रखा है।

पानेकी लालसासे संसारके कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, उसकी साम्य-बुद्धिरूप सात्त्विक वृत्तिमें कुछ-न-कुछ बट्टा अवश्य लग जाता है, इसलिये गीताका यह उपदेश, है, कि संसार दुःखमय हो या सुखमय, सांसारिक कर्म जब छूटतेही नहीं, तब उनके सुखदुःखका विचार करते रहनेसे कुछ लाभ नहीं होगा। चांहे सुख हो या दुःख। परंतु मनुष्यका यही कर्तव्य है, कि वह इस बातमें अपना महद्भाग्य समझे, कि उसे नरदेह प्राप्त हुई है; और कर्म-सृष्टिके इस अपरिहार्य व्यवहारमें जो कुछ प्रसंगानुसार प्राप्त हो, उसे अपने अंतःकरणको निराश न करके इस न्याय् अर्थात् साम्य-बुद्धिसे सहता रहे, कि "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः" (गीता २. ५६); एवं अपने अधिकारानुसार जो कुछ कर्म शास्त्रतः अपने हिस्सेमें आ पड़े, उसे जीवन-पर्यंत, और किसीके लिये नहीं; किंतु संसारके धारण-पोषणके लिये, निष्काम बुद्धिसे करता रहे। गीताकालमें चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जारी थी, इसीलिये बतलाया गया है, कि ये सामाजिक कर्म चातुर्वर्ण्यके विभागके अनुसार हरएकके हिस्सेमें आ पड़ते हैं और अठारहवें अध्यायमें यहभी बतलाया गया है, कि ये भेद गुणकर्म-विभागसे कैसे निष्पन्न होते हैं '(गीता १८. ४१-४४)। परंतु इससे किसीको यह न समझ लेना चाहिये, कि गीताके नीति-तत्त्व चातुर्वर्ण्यरूपी समाजव्यवस्थापरही अवलंबित हैं। यह बात महाभारतकारकेभी ध्यानमें पूर्णतया आ चुकी थी, कि अहिंसादि नीति-धर्मोंकी व्याप्ति केवल चातुर्वर्ण्यके लियेही नहीं है, बल्कि ये धर्म मनुष्यमात्रके लिये एक समान हैं। इसीलिये महाभारतमें स्पष्ट रीतिसे कहा गया है, कि चातुर्वर्ण्यके बाहर जिन अनार्य लोगोंमें ये धर्म प्रचलित हैं, उन लोगोंकीभी रक्षा राजाको इन सामान्य कर्मोंके अनुसारही करनी चाहिये (शां. ६५. १२-२२)। अर्थात् गीतामेंही कही गई नीतिकी उपपत्ति चातुर्वर्ण्यसरीखी किसी एक विशिष्ट समाजव्यवस्थापर अवलंबित नहीं है: किंतु सर्वसामान्य आध्यात्मिक ज्ञानके आधारपरही उसका प्रतिपादन किया गया है। गीताके नीति-धर्मका मुख्य तात्पर्य यहीं है, कि जो कर्तव्य-कर्म शास्त्रतः प्राप्त हो, उसे निष्काम और आत्मौपम्य-बुद्धिसे करना चाहिये; और सब देशोंके लोगोंके लिये यह एकही समान उपयोगी है। परंतु, यद्यपि आत्मौपम्य-दृष्टिका और निष्काम कर्माचरणका यह सामान्य नीति-तत्त्व सिद्ध हो गया, तथापि इस बातकाभी स्पष्ट विचार कर लेना आवश्यक है, कि यह नीति-तत्त्व जिन कर्मोंको उपयोगी होता है, वे कर्म इस संसारमें प्रत्येक व्यक्तिको कैसे प्राप्त होते हैं। इसे बतलानेके लियेही, उस समयमें उपयुक्त होनेवाले सहज उदाहरणके नातेसे गीतामें चातुर्वर्ण्यका उल्लेख किया गया है; और, साथ साथ गुणकर्म-विभागके अनुसार उस समाजव्यवस्थाकी संक्षेपमें उपपत्तिभी बतलाई है। परंतु इस बातपरभी ध्यान देना चाहिये, कि वह चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाही कुछ गीताका मुख्य भाग नहीं है। सारे गीताशास्त्रका व्यापक सिद्धान्त यही है, कि यदि कहीं चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था प्रचलित न हो अथवा वह किसी गिरी दशामें हो; तो वहाँभी तत्कालीन प्रचलित समाज-

व्यवस्थाके अनुसार समाजके धारण-पोषणके जो काम अपने हिस्सेमें आ पडे, उन्हें लोकसंग्रहके लिये धैर्य और उत्साहसे तथा निष्काम बुद्धिसे कर्तव्य समझकर करते रहना चाहिये, क्योंकि मनुष्यका जन्म उसी कामके लिये हुआ है; न कि केवल सुखोपभोगके लिये। कुछ लोग गीताके नीतिधर्मको केवल चातुर्वर्ण्य-मूलक समझते हैं; लेकिन उनकी यह समझ ठीक नहीं है। चाहे समाज हिंदुओंका हो या म्लेंच्छोंका, चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, चाहे वह पूर्वी हो या पश्चिमी, यदि उस समाजमें चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था प्रचलित हो, तो उस व्यवस्थाके अनुसार, या दूसरी समाज-व्यवस्था जारी हो, तो उस व्यवस्थाके अनुसार, जो काम अपने हिस्सेमें आ पड़े अथवा जिसे हम अपनी रुचिके अनुसार कर्तव्य समझकर एक वार स्वीकृत कर लें, वही अपना स्वधर्म हो जाता है; और गीता कहती है, कि किसीभी कारणसे इस धर्मको ऐन मौक़ेपर छोड़ देना और दूसरों कामोंमें लग जाना, धर्मकी तथा सर्वभूतहितकी दृष्टिसे निंदनीय है। यही तात्पर्य "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" (गीता ३. ३५)-- अर्थात् स्वधर्मपालनमें यदि मृत्यु हो जाय, तो वहभी श्रेयस्कर है; परंतु दूसरोंका धर्म भयावह होता है, इस गीता-वचनका है। इसी न्यायके अनुसार माधवराव पेशवाको जिन्होंने ब्राह्मण होकरभी तत्कालीन देशकालानुरूप क्षात्र-धर्मका स्वीकार किया था, रामशास्त्रीने यह उपदेश किया था, कि "स्नान-संध्या और पूजापाठमें सारा समय व्यतीत न कर क्षात्र-धर्मके अनुसार प्रजाकी रक्षा करनेमें अपना सब समय लगा देनेसेही तुम्हारा उभय लोकमें कल्याण होगा" यह बात महाराष्ट्र इतिहासमें प्रसिद्ध है। गीताका मुख्य उपदेश यह बतलानेका नहीं है, कि समाज-धारणाके लिये कैसी व्यवस्था होनी चाहिये। गीता-शास्त्रका तात्पर्य यही है, कि समाज-व्यवस्था चाहे कैसीभी हो; उसमें जो यथाधिकार कर्म तुम्हारे हिस्सेमें पड़ जाएँ, उन्हें उत्साह-पूर्वक करके सर्वभूतहितरूपी आत्मश्रेयकी सिद्धि करो। इस तरहसे कर्तव्य मानकर गीतामें वर्णित स्थितप्रज्ञ पुरुष जो कर्म किया करते हैं, वे स्वभावसेही लोककल्याण-कारक हुआ करते हैं। गीता-प्रतिपादित इस कर्मयोगमें और पाश्चात्त्य आधिभौतिक कर्ममार्गमें यह एक बड़ा भारी भेद है, कि गीतामें वर्णित स्थितप्रज्ञोंके मनमें यह अभिमान-बुद्धि रहतीही नहीं, कि मैं अपने कर्मोंके द्वारा लोककल्याण करता हूँ; वल्कि उनके देहस्वभावहीमें साम्य-बुद्धि आ जाती है; और इसीसे वे लोग अपने समयकी समाज-व्यवस्थाके अनुसार केवल कर्तव्य समझ कर जो जो कर्म किया करते हैं, वे सब स्वभावतः लोककल्याणकारक हुआ करते हैं; और आधुनिक पाश्चात्त्य नीतिशास्त्रकार संसारको सुखमय मानकर कहाँ करते हैं, कि इस संसारमें सब लोगोंको सुखकी प्राप्ति करा देनेके लिये लोककल्याणका कार्य करना चाहिये।

तथापि सभी पाश्चात्त्य आधुनिक कर्मयोगी संसारको सुखमय नहीं मानते। शोपेनहरके समान संसारको दुःख-प्रधान माननेवाले पंडितभी वहाँ हैं, जो यह प्रति पादन करते हैं, कि यथाशक्ति लोगोंके दुःखका निवारण करना ज्ञानी पुरुषोंका

कर्तव्य है; इसलिये संसारको न छोड़ते हुए उनको ऐसा प्रयत्न करते रहना चाहिये, जिससे लोगोंका दुःख कम होता जावे। अब तो पश्चिमी देशोंमें दुःखनिवारणेच्छुक कर्मयोगियोंका एक अलग पंथही हो गया है। इस पंथका गीताके कर्मयोग-मार्गसे बहुतकुछ साम्य है। जिस स्थापनर महाभारतमें कहा गया है, कि "सुखाद्बहुतरं जीविते नात्र संशयः" – संसारमें सुखकी अपेक्षा दुःखही अधिक है, वहीपर मनुने दुःखं वृहस्पतिसे तथा नारदने शुकसे कहा है :–

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति।
अशोचन्प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ॥

"जो दुःख सार्वजनिक है, उसके लिये शोक करते रहना उचित नहीं; उसका रोना न रोकर उसके प्रतिकारार्थ (ज्ञानी पुरुषोंको) कुछ उपाय करना चाहिये" (मभा. शां. २०५. ५; ३३०. १५)। इससे प्रकट होता है, कि यह तत्त्व महाभारत-कारकोभी मान्य है, कि संसारके दुःखमय होनेपरभी, उसमें सब लोगोंको होनेवाले दुःखको कम करनेका उद्योग चतुर पुरुष करते हैं। परंतु यह कुछ हमारा सिद्धान्त पक्ष नहीं है। सांसारिक सुखोंकी अपेक्षा आत्मबुद्धि-प्रसादसे होनेवाले सुखको अधिक महत्त्व देकर, इस आत्मबुद्धि-प्रसादरूपी सुखका पूरा अनुभव करते हुए, केवल कर्तव्य समझकरही, अर्थात् ऐसी राजस अभिमान-बुद्धि मनमें न रखकर, कि मैं लोगोंका दुःख कम करूंगा, सब व्यावहारिक कर्मोंको करनेका उपदेश देनेवाले गीताके कर्म-योगकी बराबरी करनेके लिये, दुःखनिवारणेच्छुक पश्चिमी कर्मयोगमेंभी अभी बहुत-कुछ सुधार होना चाहिये। प्रायः सभी पाश्चिमात्य पंडितोंके मनमें यह बात समाई रहती है, कि स्वयं अपना या सब लोगोंका सांसारिक सुखही मनुष्यका इस संसारमें परम साध्य है – चाहे वह सुखके साधनोंको अधिक करनेसे मिले या दुःखोंको कम करनेसे; इसी कारणसे उसके शास्त्रोंमें गीताके निष्काम कर्मयोगका यह उपदेश कहींभी नहीं पाया जाता, कि यद्यपि संसार दुःखमय है, तथापि उसे अपरिहार्य समझकर केवल लोकसंग्रहके लियेही संसारके कर्म करते रहना चाहिये। सभी कर्म-मार्गी हैं तो सही; परंतु शुद्ध नीतिकी दृष्टिसे देखनेपर उनमें यही भेद मालूम होता है, कि पाश्चात्य कर्मयोगी सुखेच्छुक या दुःखनिवारणेच्छुक होते हैं – कुछभी कहाँ जाय परंतु वे 'इच्छुक' अर्थात् 'सकाम' अवश्य ही हैं; और गीताके कर्मयोगी हमेशाही फलाशाका त्याग करनेवाले अर्थात् निष्काम होते हैं। इसी बातको यदि दूसरे शब्दमें व्यक्त करें, तो यह कहा जा सकता है, कि गीताका कर्मयोग सात्त्विक है; और पाश्चात्य कर्मयोग राजस है (गीता १८. २३, २४)।

केवल कर्तव्य समझकर परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे सब कर्मोंको करते रहनेका और उसके द्वारा परमेश्वरके यजन या उपासनाको मृत्युपर्यंत जारी रखनेका जो यह गीता-प्रतिपादित ज्ञानयुक्त प्रवृत्ति-मार्ग या कर्मयोग है, इसेही 'भागवत धर्म' कहते हैं। "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः" (गीता १८. ४५) – यही

इस मार्गका रहस्य है। महाभारतके वनपर्वमें ब्राह्मण-व्याध-कथामें (मभा. वन. २०८) और शांतिपर्वमें तुलाधार-जाजली-संवादमें (मभा. शां. २६१) इसी धर्मका निरूपण किया गया है; और मनुस्मृतिमेंभी (मनु. ६. ९६, ९७) यति-धर्मका निरूपण करनेके अनंतर इसी मार्गको वेद-संन्यासियोंका कर्मयोग कह कर विहित तथा मोक्षदायक बतलाया है। 'वेदसंन्यासिक' पदसे और वेदकी संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रंथोंमें जो वर्णन हैं, उनसे यही सिद्ध होता हैं, कि यह मार्ग हमारे देशमें अनादि कालसे चला आ रहा है। यदि ऐसा न होता, तो यह देश इतना वैभवशाली कभी हुआ नहीं होता; क्योंकि यह बात प्रकट ही है, कि किसीभी देशके वैभवपूर्ण होनेके लिये वहाँके कर्ता या वीर पुरुष कर्म-मार्गकेही अगुआ हुआ करते हैं। हमारे कर्मयोगका मुख्य तत्त्व यही है, कि कोई कर्ता या वीर पुरुष भलेही हों; परंतु उन्हेंभी ब्रह्मज्ञानको न छोड़ उसके साथही साथ कर्तव्यको स्थिर रखना चाहिये; और यह पहलेही बतलाया जा चुका है, कि इसी बीजरूप तत्त्वका व्यवस्थित विवेचन करके श्रीभगवानने इस मार्गका अधिक दृढीकरण और प्रसार किया था, इसलिये इस प्राचीन मार्गकाही आगे चल कर 'भागवत धर्म' नाम पड़ा होगा। विपरीत पक्षमें उपनिषदोंसे तो यही व्यक्त होता है, कि कभी-न-कभी कुछ ज्ञानी सत्पुरुषोंके मनका झुकाव पहलेहीसे स्वभावतः संन्यास-मार्गकी ओर रहा करता था; अथवा कम-से-कम इतना अवश्य होता था, कि पहले गृहस्थाश्रममें रहकर अंत समयमें संन्यास लेनेकी बुद्धि मनमें जागृत हुआ करती थी – फिर चाहे वे लोग सचमुच संन्यास लें या न लें। इसलिये यहभी नहीं कहा जा सकता, कि संन्यास-मार्ग नया है; परंतु स्वभाव-वैचित्र्यादि कारणोंसे ये दोनों मार्ग यद्यपि हमारे यहाँ प्राचीन कालसेही प्रचलित हैं, तथापि इस बातकी सत्यतामें कोई शका नहीं, कि वैदिक कालमें मीमांसकोंके कर्म-मार्गकीही लोगोंमें विशेष प्रबलता थी; और कौरव-पांडवोंके समयमें तो कर्मयोगने संन्यास-मार्गको पीछे हटा दिया था। कारण यह है, कि हमारे धर्मशास्त्रकारोंने साफ़ कह दिया है, कि कौरव-पांडवोंके कालके अनंतर अर्थात् कलियुगमें संन्यास-धर्म निषिद्ध है; और जब कि धर्मशास्त्र "आचारप्रभवो धर्मः" (मभा. अनु. १४९, १३७; मनु. १. १०८) इस वचनके अनुसार प्रायः आचारहीका अनुवादक हुआ करता है; तब सहज-ही सिद्ध होता है कि धर्मशास्त्रकारोंके उक्त निषेध करनेके पहलेही लोकाचारमें संन्यास-मार्ग गौण हो गया होगा।* परंतु इस प्रकार यदि कर्मयोगकी पहले प्रबलता थी और आखिर कलियुगमें संन्यास-धर्मको निषिद्ध माननेतककी नौबत आ चुकी थी; तो अब यहाँ यही स्वाभाविक शंका होती है, कि तेजीसे बढ़ते हुए इस ज्ञानयुक्त कर्मयोगके ऱ्हासका तथा वर्तमान समयके भक्ति-मार्गमेंभी संन्यास-पक्षकोही श्रेष्ठ माने जानेका कारण क्या है?

---

* पृष्ठ ३४४–३४५ की टिप्पणीमें दिये गये वचनोंको देखो।

कुछ लोग कहते हैं, कि यह परिवर्तन श्रीमदाद्यशंकाराचार्यके द्वारा हुआ। परतु इतिहासको देखनेसे इस उपपत्तिमें सत्यता नहीं दीख पड़ती। पहले प्रकरणमें हम कह चुके हैं, कि श्रीशंकराचार्यके संप्रदायके दो विभाग हैं – (१) मायावादात्मक अद्वैत ज्ञान, और (२) कर्म-संन्यास-धर्म। अब यद्यपि अद्वैत ब्रह्मज्ञानके साथ साथ संन्यास-धर्मकाभी प्रतिपादन उपनिषिदोंमें किया गया है, तोभी इन दोनोंका कोई नित्य संबंध नहीं है, इसलिये यह नहीं कहाँ जा सकना, कि अद्वैत-वेदान्त-मतको स्वीकार करनेपर संन्यास-मार्गकोभी अवश्य स्वीकार करनाही चाहिये। उदाहरणार्थ, याज्ञवल्क्य प्रभृतिसे अद्वैत-वेदान्तकी पुरी शिक्षा पाये हुए जनक आदिक स्वयं कर्मयोगी थे। यही क्यों; बल्कि उपनिषदोंका अद्वैत-ब्रह्मज्ञानही गीताका प्रतिपाद्य विषय होनेपरभी, गीता इसी ज्ञानके आधारसे संन्यासके बदले कर्मयोगकाही समर्थन किया गया है। इसलिये पहले इस बातपर ध्यान देना चाहिये, कि शांकर-संप्रदायपर संन्यास-धर्मको उत्तेजन देनेका जो आक्षेप किया जाता है, वह इस संप्रदायके अद्वैत ज्ञानको उपयुक्त न होकर उसके अंतर्गत केवल संन्यास-धर्मकोही उपयोगी हो सकता है। यद्यपि श्रीशंकराचार्यने इस संन्यास-मार्गको नये सिरेसे नहीं चलाया है; तथापि कलियुगमें निषिद्ध या वर्जित माने जानेके कारण उसमें जो गौणता आ गई थी, उसे, उन्होंनें अवश्य दूर किया है। परंतु यदि इसके भी पहले अन्य कारणोंसे लोगोंमें संन्यास मार्गकी चाह हुई न होती, तो इसमें संदेह है, कि आचार्यका संन्यास-प्रधान मत इतना अधिक फैलाने पाता या नहीं। ईसानेकहा है सही, कि " यदि कोई एक गालमें थप्पड मार दे, तो दूसरे गालकोभी उसके सामने कर दो " (ल्यूक. ६. २९)। परंतु यदि विचार किया जाय, कि इस मतके अनुयायी यूरोपके ईसाई राष्ट्रोंमें कितने हैं; तो यही दीख पड़ेगा, कि किसी बातके प्रचलित होनेके लिये केवल इतनाही बस नहीं है, कि कोई धर्मोपदेशक उसे अच्छी कह दे; बल्कि ऐसा होनेके लिये – अर्थात् लोगोंके मनका झुकाव उधर होनेके लिये – उस उपदेशके पहलेही कुछ सबल कारण उत्पन्न हो जाया करते हैं; और तब फिर लोकाचारमें धीरे धीरे परिवर्तन होकर उसीके अनुसार धर्म-नियमोंमेंभी परिवर्तन होने लगता है। " आचार-धर्मका मूल है " – इस स्मृति-वचनका तात्पर्यभी यही है। गत शताब्दीमें शोपेनहरने जर्मनीमें संन्यास-मार्गका समर्थन किया था, परंतु उसका बोया हुआ बीज वहाँ अबतक अच्छी तरहसे जमने नहीं पाया, और इस समय तो निट्शेकेही मतोंकी वहाँ धूम मची हुई है। हमारे यहाँ देखनेसेभी यही मालूम होगा, कि संन्यास-मार्ग श्रीशंकराचार्यके पहले अर्थात् वैदिक-कालमेंही यद्यपि जारी हो गया था, तोभी वह उस समय कर्मयोगसे आगे अपना कदम नहीं बढ़ा सका था। स्मृति-ग्रंथोंमें अंतमें संन्यास लेनेको कहा गया है सही; परंतु उसमेंभी पूर्वाश्रमोंके कर्तव्यपालनका उपदेश दियाही गया है। श्रीशंकराचार्यके ग्रंथोंका प्रतिपाद्य विषय कर्म-संन्यास-पक्ष भलेही हो, परंतु स्वयं उनके जीवन-चरितसेही यह बात सिद्ध

होती है, कि ज्ञानी पुरुषोंको तथा संन्यासियोंको धर्म-संस्थापनाके समान लोकसंग्रहके काम यथाधिकार करनेके लिये उनकी ओरसे कुछ मनाही नहीं थी (वे. सू. शां. भा. ३. ३. ३२)। संन्यास-मार्गकी प्रवलताका कारण यदि श्रीशंकराचार्यका स्मार्त संप्रदायही होता तो आधुनिक भागवत संप्रदायके रामानुजाचार्य अपने गीता-भाष्यमें शंकराचार्यकीही नाईं कर्मयोगको गौण नहीं मानते। परंतु जो कर्मयोग एक वार तेजीसे जारी था, वह जब कि भागवत-संप्रदायमेंभी निवृत्ति-प्रधान भक्तिसे पीछे हटा दिया गया है, तव तो यही कहना पड़ता है, कि उसके पिछड़ जानेके लिये कुछ ऐसे कारण अवश्य उपस्थित हुए होंगे; जो सभी संप्रदायोंको अथवा सारे देशको एकही समान लागू हो सकें। हमारे मतानुसार उनमेंसे पहला और प्रधान कारण जैन एवं बौद्ध धर्मोंका उदय तथा प्रचार है, क्योंकि इन्हीं दोनों धर्मोंने चारों वर्णोंके लिये संन्यास-मार्गका दरवाजा खोल दिया था; और इसीलिये क्षत्रियवर्गमेंभी संन्यास धर्मका विशेष उत्कर्ष होने लगा था। परंतु, यद्यपि आरंभमें बुद्धने कर्मरहित संन्यास-मार्गकाही उपदेश दिया था, तथापि गीताके कर्मयोगानुसार बौद्ध धर्ममें शीघ्रही यह सुधार किया गया, कि बौद्ध यतियोंको अकेले जंगलमें जाकर एक कोनेमें नहीं बैठे रहना चाहिये; बल्कि उनको धर्मप्रचार तथा परोपकारके अन्य काम करनेके लिये सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिये (देखो परिशिष्ट प्रकरण)। इतिहास-ग्रंथोंसे यह बात प्रकट है, कि इसी सुधारके कारण उद्योगी बौद्ध-धर्मीय यति-लोगोंके संघ उत्तरमें तिव्वत, पूर्वमें ब्रह्मदेश, चीन और जापान, दक्षिणमें लंका और पश्चिममें तुर्किस्थान तथा उससे लगे हुए ग्रीस इत्यादि यूरोपके देशोंतक जा पहुँचे थे। शालिवाहन शकके लगभग छः-सात सौ वर्ष पहले जैन और बौद्ध धर्मोंके प्रवर्तकोंका जन्म हुआ था; और श्रीशंकराचार्यका जन्म शालिवाहन शकके छः सौ वर्ष अनंतर हुआ। इस बीचमें बौद्ध यतिओंके संघोंका अपूर्व वैभव सब लोग अपनी आँखोंके सामने देख रहे थे, इसीलिये यति-धर्मके विषयमें उन लोगोंमें एक प्रकारकी चाह तथा आदर-बुद्धि शंकराचार्यके जन्मके पहलेही उत्पन्न हो चुकी थी। शंकराचार्यने यद्यपि जैन और बौद्ध धर्मोंका खंडन किया है; तथापि यति-धर्मके बारेमें लोगोंमें जो आदर-बुद्धि उत्पन्न हो चुकी थी, उसका उन्होंने नाश नहीं किया, किंतु उसीको वैदिक रूप दे दिया; और बौद्ध धर्मके बदले वैदिक धर्मकी संस्थापना करनेके लिये उन्होंने बहुत प्रयत्नशील वैदिक संन्यासी तैयार किये। ये संन्यासी ब्रह्मचर्यव्रतसे रहते थे; और संन्यासका दंड तथा गेरुआ वस्त्रभी धारण करते थे; परंतु अपने गुरुके समान इन लोगोंनेभी वैदिक धर्मकी स्थापनाका काम आगे जारी रखा था। यति-संघकी इस नई जोड़ीको (वैदिक संन्यासियोंके संघ) देख उस समय अनेक लोगोंके मनमें शंका होने लगी थी, कि शांकर-मतमें और बौद्ध-मतमें यदि कुछ अंतर हैभी, तो क्या है; और प्रतीत होता है, कि प्रायः इसी शंकाको दूर करनेके लिये छांदोग्योपनिषदके भाष्यमें आचार्यने लिखा है, कि " बौद्ध यति-धर्म और सांख्य यति-धर्म दोनों वेदबाह्य

तथा खोटे हैं। एवं हमारा संन्यास-धर्म वेदके आधारसे प्रवृत्त किया गया है, इसलिये यही सच्चा है" (छां. शां. भा. २. २३. १)। जो हो; यह निर्विवाद सिद्ध है, कि कलियुगमें पहले जैन और बौद्ध लोगोंनेही यति-धर्मका प्रचार किया था। परंतु बौद्ध यतियोंनेभी धर्मप्रसार तथा लोकसंग्रहके लिये आगे चलकर उपर्युक्त कम करना शुरू कर दिया था; और इतिहाससे मालूम होता है, कि इनको हरानेके लिये श्रीशंकराचार्यने जो वैदिक यति-संघ तैयार किये थे, उन्होंनेभी कर्मको बिलकुल न त्याग कर अपने उद्योगसेही वैदिक धर्मकी फिरसे स्थापना की। अनंतर शीघ्रही इस देशपर मुसलमानोंकी चढ़ाइयाँ होने लगीं; और जब इस परचक्रसे पराक्रमपूर्वक रक्षा करनेवाले तथा देशका धारण-पोषण करनेवाले क्षत्रिय राजाओंकी तथा देशकी कर्तृत्व-शक्तिका मुसलमानोंके जमानेमें ऱ्हास होने लगा; तब संन्यास और कर्मयोगमेंसे संन्यास-मार्ग, क्योंकि 'राम राम' जपते हुए चुप बैठे रहनेकाही सांसारिक लोगोंको अधिकाधिक ग्राह्य होने लगा होगा, क्योंकि तत्कालीन बाह्य परिस्थितिके लिये यही मूल एकदेशीय मत विशेष सुभीतेका हो गया था। इसके पहले यह स्थिति नहीं थी, क्योंकि, 'शूद्रकमलाकर'में कहे गये विष्णु-पुराणके निम्न श्लोकसेभी यही मालूम होता है :-

अपहाय निजं कर्म कृष्ण कृष्णेति वादिनः।
ते हरेर्द्वेषिणः पापाः धर्मार्थं जन्म यद्धरे ॥ *

"अपने (स्वधर्मोक्त) कर्मोंको छोड़ (केवल) 'कृष्ण कृष्ण' कहते रहनेवाले लोग हरिके द्वेषी और पापी हैं; क्योंकि स्वयं हरिका जन्मभी तो धर्मकी रक्षा करनेके लियेही होना है।" सच पूछो, तो ये लोग न तो संन्यासनिष्ठ हैं और न कर्मयोगीभी; क्योंकि ये लोग संन्यासियोंके समान ज्ञानसे और तीव्र वैराग्यसे सब सांसारिक कर्मोंको नहीं छोड़ते हैं; और संसारमें रह करभी कर्मयोगके समान अपने हिस्सेके शास्त्रोक्त कर्तव्यका पालन निष्काम बुद्धिसे नहीं करते; इसलिये इन वाचिक संन्यासियोंकी गणना एक निरालीही तृतीय निष्ठामें होनी चाहिये, जिसका वर्णन गीतामें नहीं किया गया है। चाहे किसीभी कारणसे हो; जब लोग इस तरहसे तृतीय प्रकृतिके बन जाते हैं तब आखिर धर्मकाभी नाश हुए विना नहीं रह सकता। इरान देशसे पारसी धर्मके हटाये जानेके लियेभी ऐसीही स्थिति कारण हुई थी और इसीसे हिंदुस्थानमें वैदिक धर्मकेभी "समूलं च विनश्यति" होनेका समय आ गया था। परंतु बौद्ध धर्मके ऱ्हासके बाद वेदान्तके साथही गीताके भागवत धर्मका जो पुनरुज्जीवन होने लगा था, उसके कारण हमारे यहाँ यह दुष्परिणाम नहीं हो सका। जब कि दौलतावादका हिंदु राज्य मुसलमानोंने नष्ट-भ्रष्ट नहीं किया

---

*बम्बईके छपे हुए विष्णुपुराणमें यह श्लोक हमें नहीं मिला। परंतु उसका उपयोग कमलाकर भट्ट सरीखे प्रामाणिक ग्रंथकारने किया है; इससे यह निराधारभी नहीं कहा जा सकता।

गया था, उसके कुछ वर्ष पूर्वही श्रीज्ञानेश्वर महाराजने हमारे सौभाग्यसे भगवद्-गीताको मराठी भाषामें अलंकृत कर गीताकी ब्रह्मविद्याको महाराष्ट्र प्रांतमें अति सुगम कर दिया था; और हिंदुस्थानके अन्य प्रांतोंमेंभी इसी समय अनेक साधु-संतोंने गीताके भक्ति-मार्गका उपदेश जारी कर रख था। यवन-ब्राह्मण-चांडाळ इत्यादिकों को एक समान और ज्ञानमूलक गीता-धर्मका जाज्वल्य उपदेश – चाहे वह वैराग्य-युक्त भक्तिके रूपमेंही क्यों न हो – एकही समय चारों ओर लगातार जारी था; इसलिये हिंदु धर्मका पूरा ऱ्हास होनेका कोई भय नहीं रहा। इतनाही नहीं, बल्कि उसकी कुछ कुछ छाप मुसलमानी धर्मपरपभी जमने लगी; कबीर जैसे भक्त इस देशकी संत-मंडलीमें मान्य हो गये; और औरंगजेबके बड़े भाई शहाजादा दाराने इसी समय अपनी देखरेखमें उपनिषदोंका फारसीमें भाषांतर कराया। यदि वैदिक भक्ति-धर्म अध्यात्मज्ञानको छोड़ केवल तांत्रिक श्रद्धाकेही आधारपर स्थापित हुआ होता, तो इस बातका संदेह है, कि उसमें यह विलक्षण सामर्थ्य रह सकती थी या नहीं। परंतु भागवत धर्मका यह आधुनिक पुनरुज्जीवन मुसलमानोंकेही जमानेमें हुआ है, अतएव यहभी अनेकांशोंमें केवल भक्तिविषयक अर्थात् एकदेशीय हो गया है; और मूल भागवत-धर्मके कर्मयोगका स्वतंत्र महत्त्व जो एक बार घट गया था, वह उसे फिर प्राप्त नहीं हुआ। फलतः उस समयके भागवत-धर्मीय संतजन, पंडित और आचार्य लोगभी कर्मयोग संन्यास-मार्गका अंग या साधन है, यह कहनेके बदले कहने लगे, कि कर्मयोग भक्ति-मार्गका अंग या साधन है। उस समयमें प्रचलित इस सर्वसाधारण मत या समझके विरुद्ध केवल श्रीसमर्थ रामदासस्वामीने अपने 'दासबोध' ग्रंथमें विवेचन किया है। कर्मयोगके सच्चे और वास्तविक महत्त्वका वर्णन, विशेषतः उसके उत्तरार्धको शुद्ध तथा प्रासादिक मराठी भाषामें जिसे देखना हो, उसे समर्थकृत उक्त ग्रंथको, अवश्य पढ़ लेना चाहिये।* शिवाजी महाराजको श्रीसमर्थ रामदासस्वामीकाही उपदेश मिला था; और मरहठोंके जमानेमें जब कर्मयोगके तत्त्वोंको समझाने तथा उनके प्रचार करनेकी आवश्यकता मालूम होने लगी, तब शांडिल्य-सूत्रों तथा ब्रह्मसूत्र-भाष्यके बदले महाभारतका गद्यात्मक भाषांतर होने लगा, एवं 'बखर' नामक ऐतिहासिक लेखोंके रूपमें उसका अध्ययन शुरू हो गया। ये भाषांतर तंजौरके पुस्तकालयमें आज तक रखे हुए हैं। यदि यही कार्यक्रम बहुत समयतक अवाधित रीतिसे चलता, तो गीताकी सब एकपक्षीय और संकुचित टीकाओंका महत्त्व घट जाता; और कालमानके अनुसार एक बार फिर यह बात सब लोगोंके ध्यानमें आ जाती, कि महाभारतकी सारी नीतिका सार गीता-

---

* हिंदी प्रेमियोंको यह जानकर हर्ष होगा, कि वे अब समर्थ रामदासस्वामीकृत इस 'दासबोध' नामक मराठी ग्रंथके उपदेशामृतसे वंचित नहीं रह सकते, क्योंकि इसका शुद्ध, सरल तथा हृदयग्राही अनुवाद हिंदीमेंभी हो चुका है। यह हिंदी ग्रंथ चित्रशाला प्रेस, पूनासे मिल सकता है।

प्रतिपादित कर्मयोगमें कह दिया गया है। परंतु हमारे दुर्भाग्यसे कर्मयोगका यह पुनरुज्जीवन बहुत दिनों तक नहीं टिक सका।

हिंदुस्थानके धार्मिक इतिहासका विवेचन करनेका यह स्थान नहीं है। ऊपरके संक्षिप्त विवेचनसे पाठकोंको मालूम हो गया होगा, कि गीता-धर्ममें जो एक प्रकारकी सजीवता, तेज या सामर्थ्य है, वह संन्यास-धर्मके उस दवदवेसेभी विलकुल नष्ट नहीं होने पायी, कि जो मध्यकालमें दैववशात् हो गया था। तीसरे प्रकरणमें यह बतला चुके हैं, कि धर्म शब्दका धात्वर्थ 'धारणाद्धर्मः' है; और सामान्यतः उसके ये दो भेद होते हैं – एक 'पारलौकिक' और दूसरा 'व्यावहारिक' अथवा 'मोक्ष-धर्म' और 'नीति-धर्म'। चाहे वैदिक धर्मको लीजिये; बौद्ध धर्मको लीजिये, अथवा ईसाई धर्मको लीजिये, सबका मुख्य हेतु यही है, कि जगत्का धारण-पोषण हो; और मनुष्यको अंतमें सद्गति मिले, इसीलिये प्रत्येक धर्ममें मोक्ष-धर्मके साथही साथ व्यावहारिक धर्म-अधर्मकाभी विवेचन थोड़ा-बहुत किया गया है। यही नहीं; बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है, कि प्राचीन कालमें यह भेदही नहीं किया जाता था, कि "मोक्षधर्म और व्यावहारिक धर्म भिन्न भिन्न हैं।" क्योंकि उस समय सब लोगोंकी यही धारणा थी, कि परलोकमें सद्गति मिलनेके लिये इस लोकमेंभी हमारा आचरण शुद्धही होना चाहिये। वे लोग गीताके कथनानुसार यही मानते थे, कि पारलौकिक तथा सांसारिक कल्याणकी जड़भी एकही है। परंतु आधिभौतिक ज्ञानका प्रसार होनेपर आजकल पश्चिमी देशोंमें यह धारणा स्थिर न रह सकी; और इस बातका विचार होने लगा, कि मोक्ष-धर्मरहित नीतिकी, अर्थात् जिन नियमोंसे जगत्का धारणा-पोषण हुआ करता है उन नियमोंकी, उपपत्ति बतलाई जा सकती है या नहीं; और फलतः केवल आधिभौतिक अर्थात् दृश्य या व्यक्त आधारपरही समाजधारणा-शास्त्रकी रचना होने लगी है। इसपर प्रश्न होता है, कि केवल व्यक्तसेही मनुष्यका निर्वाह कैसे हो सकेगा? पेड़, मनुष्य इत्यादि जातिवाचक शब्दोंसेभी तो अव्यक्त अर्थही प्रकट होता है न। आमका पेड़ या गुलावका पेड़ एक विशिष्ट दृश्य वस्तु है सही, परंतु 'पेड़' सामान्य शब्द किसीभी दृश्य अथवा व्यक्त वस्तुको नहीं दिखला सकता। इसी तरह हमारा सब व्यवहार हो रहा है। इससे यही सिद्ध होता है, कि मनमें अव्यक्तसंबंधी कल्पनाकी जागृतिके लिये पहले कुछ-न-कुछ व्यक्त वस्तु आँखोंके सामने अवश्य होनी चाहिये। परंतु इसेभी निश्चयही जानना चाहिये, कि व्यक्तही कुछ अंतिम अवस्था नहीं है; और विना अव्यक्तका आश्रय लिये न तो हम एक कदम आगे बढ़ा सकते हैं; और न एक वाक्यभी पूरा कर सकते हैं। ऐसी अवस्थामें अध्यात्म-दृष्टिसे सर्वभूतात्मैक्यरूप परब्रह्मकी अव्यक्त कल्पनाको नीति-शास्त्रका आधार यदि न मानें, तोभी उसके स्थानमें 'सर्व मानव-जाति'को – अर्थात् आँखोंसे न दिखनेवाली अतएव अव्यक्त वस्तुको ही – अंतमें देवताके समान पूजनीय मानना पड़ता है। आधिभौतिक पंडितोंका कथन है, कि 'सर्व मानव-जातिमें' पूर्वकी तथा

भविष्यतकी पीढ़ियोंका समावेश कर देनेसे अमृतत्वविषयक मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको संतुष्ट हो जाना चाहिये; और अब तो प्रायः वे सभी सच्चे हृदयसे यही उपदेश करने लग गये हैं, कि इस (मानव-जातिरूपी) बड़े देवताकी प्रेमपूर्वक अनन्यभावसे उपासना करना, उसकी सेवामें अपनी समस्त आयुको बिता देना तथा उसके लिये अपने सब स्वार्थोंको तिलांजलि दे देनाही प्रत्येक मनुष्यका इस संसारमें परम कर्तव्य है। फ्रेंच पंडित कोंट द्वारा प्रतिपादित धर्मका सार यही है; और इसी धर्मको उसने अपने ग्रंथमें 'सकल मानव-जातिधर्म' या संक्षेपमें 'मानव-धर्म' कहा है।* आधुनिक जर्मन पंडित निट्शेकाभी यही हाल है। उसने तो स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया है, कि उन्नीसवीं सदीमें "परमेश्वर मर गया है" और अध्यात्मशास्त्र थोथा झगड़ा है। इतना होनेपरभी उसने अपने सभी ग्रंथोंमें आधिभौतिक-दृष्टिसेही कर्मविपाक तथा पुनर्जन्मको मंजूर करके प्रतिपादन किया है, कि काम ऐसा करना चाहिये, जो जन्मजन्मान्तरोंमेंभी किया जा सके। और समाजकी इस प्रकार व्यवस्था होनी चाहिये, कि जिससे भविष्यतमें ऐसे मनुष्य-प्राणी पैदा हों, जिनकी सब मनोवृत्तियाँ अत्यंत विकसित होकर पूर्णावस्थामें पहुँच जावें – बस; इस संसारमें मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य और परम साध्य यही है। इससे स्पष्ट है, कि जो लोग अध्यात्मशास्त्रको नहीं मानते, उन्हेंभी कर्म-अकर्मका विवेचन करनेके लिये कुछ-न-कुछ परम साध्य अवश्य मानना पड़ता है और यह साध्य एक प्रकारसे 'अव्यक्त' ही होता है। इसका कारण यह है, कि यद्यपि आधिभौतिक नीतिशास्त्रज्ञोंके ये दो ध्येय हैं – (१) सब मानव-जातिरूप महादेवकी उपासना करके सब मनुष्योंका हित करना चाहिये; और (२) ऐसे कर्म करना चाहिये, कि जिससे भविष्यतमें अत्यंत पूर्णावस्थामें पहूँचा हुआ मनुष्य-प्राणी उत्पन्न हो सके; तथापि जिन लोगोंको इन दोनोंका उपदेश किया जाता है, उनकी दृष्टिसे वे अगोचर या अव्यक्तही बने रहते हैं। कोंट अथवा निट्शेका यह उपदेश ईसाई धर्म सरीखे तत्त्वज्ञानरहित केवल आधिदैवत भक्ति-मार्गका विरोधी भलेही हो; परंतु जिस धर्म-अधर्मशास्त्रका अथवा नीतिशास्त्रका परमध्येय अध्यात्म-दृष्टिसे सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञानरूप साध्यकी या कर्मयोगी स्थितप्रज्ञकी पूर्णावस्थाकी नींवपर स्थापित हुआ है, उसके पेटमें सब आधिभौतिक साध्योंका विरोधरहित समावेश सहजहीमें हो जाता है; और इससे कभी इस भयकी आशंका नहीं हो सकती, कि अध्यात्मज्ञानसे पवित्र किया गया वैदिक धर्म उक्त उपदेशसे क्षीण हो जावेगा। अब प्रश्न ये हैं, कि यदि अव्यक्तकोही परम

---

* कोंटने अपने धर्मका Religion of Humanity नाम रखा है। उसका विस्तृत विवेचन कोंटके A System of Positive Polity (Eng. trans. in four vols.) नामक ग्रंथमें किया गया है। इस ग्रंथमें इस बातकी उत्तम चर्चा की गई है कि केवल आधिभौतिक दृष्टिसेभी समाज-धारणा किस तरह की जा सकती है।

साध्य मानना पड़ता है, तो वह सिर्फ़ मानव-जातिके लियेही क्यों माना जाय? अर्थात् वह मर्यादित या संकुचित क्यों कर दिया जाय? पूर्णावस्थाकोही जब परम साध्य मानना है; तो उसमें ऐसे आधिभौतिक साध्यकी अपेक्षा, जो जानवर और मनुष्य दोनोंके लिये समान हो, अधिकताही क्या है? इन प्रश्नोंका उत्तर देते समय अध्यात्म-दृष्टिसे निष्पन्न होनेवाले समस्त चराचर सृष्टिके एक अनिर्वाच्य परम तत्त्वकीही शरणमें आखिर जाना पड़ता है। अर्वाचीन-कालमें आधिभौतिक शास्त्रोंकी अश्रुतपूर्व उन्नति हुई है; जिससे मनुष्यका दृश्य सृष्टिविषयक ज्ञान पूर्व-कालकी अपेक्षा सैंकडों गुना अधिक बढ़ गया है; और यह बातभी निर्विवाद सिद्ध है, कि 'जैसेको तैसा' इस नियमके अनसार जो प्राचीन राष्ट्र इस आधिभौतिक ज्ञानकी प्राप्ति नहीं कर लेगा, उसका सुधरे हुए नये पाश्चात्त्य राष्ट्रोंके सामने टिकना असंभव है। परंतु आधिभौतिक शास्त्रोंकी चाहे जितनी वृद्धि क्यों न हो जावे; यह अवश्यही कहना होगा, कि जगत्के मूल तत्त्वको समझ लेनेकी मनुष्यमात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति केवल आधिभौतिक वादसे कभी पूरी तरह संतुष्ट नहीं हो सकती। केवल व्यक्त सृष्टिके ज्ञानसे सब बातोंका निर्वाह नहीं हो सकता, इसलिये स्पेन्सर सरीखे उत्क्रांति-वादीभी स्पष्टतया स्वीकार करते हैं, कि नामरूपात्मक दृश्य सृष्टिकी जड़में कुछ अव्यक्त तत्त्व अवश्यही होगा। परंतु उनका यह कहना है, कि इस नित्य-तत्त्वके स्वरूपको समझ लेना संभव नहीं है, इसलिये इसके आधारसे किसीभी शास्त्रकी उपपत्ति नहीं बतलाई जा सकती – जर्मन तत्त्ववेत्ता कांटभी अव्यक्त सृष्टि-तत्त्वकी अज्ञेयताको स्वीकार करता है। तथापि उसका यह मत है, कि नीतिशास्त्रकी उपपत्ति इसी अगम्य तत्त्वके आधारपर बतलाई जानी चाहिये। शोपेनहर इससेभी आगे बढ़कर प्रतिपादन करता है, कि यह अगम्य तत्त्व वासनास्वरूपी है; और नीतिशास्त्र-संबंधी अंग्रेज ग्रंथकार ग्रीनका मत है, कि यही सृष्टि-तत्त्व आत्माके रूपमें अंशतः मनुष्यके शरीरमें प्रादुर्भूत हुआ है। गीता तो स्पष्ट रीतिसे कहती है, कि "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।" हमारे उपनिषत्कारोंका यही सिद्धान्त है, कि जगत्का आधारभूत यह अव्यक्त तत्त्व नित्य है, एक है, अमृत है, स्वतंत्र है, आत्मरूपी है – बस; इससे अधिक इसके विषयमें और कुछ नहीं कहा जा सकता; और इस बातमें संदेह है, कि उक्त सिद्धान्तसेभी आगे मानवी ज्ञानकी गति कभी-बढ़ेगी या नहीं; क्योंकि जगत्का आधारभूत अव्यक्त तत्त्व इंद्रियोंसे अगोचर अर्थात् निर्गुण है, इसलिये उसका वर्णन, गुण, वस्तु, या क्रिया दिखानेवाले किसीभी शब्दसे नहीं हो सकता; और इसीलिये उसे 'अज्ञेय' कहते हैं। परंतु अव्यक्त सृष्टि-तत्त्वका जो ज्ञान हमें हुआ करता है, वह यद्यपि शब्दोंसे अधिक न भी बतलाया जा सके; और इसलिये देखनेमें यद्यपि वह अल्पसा दीख पड़े, तथापि वही मानवी ज्ञानका सर्वस्व है; और इसीलिये लौकिक नीतिमत्ताकी उपपत्तिभी उसीके आधारसे बतलाई जानी चाहिये; एवं गीतामें किये विवेचनसे साफ़ मालूम हो जाता है, कि ऐसी

उपपत्ति उचित रीतिसे बतलानेके लिये कुछभी अड़चन नहीं हो सकती । दृश्य-सृष्टिके हजारों व्यवहार किस पद्धतिसे चलाये जावें – उदाहरणार्थ, व्यापार कैसे करना चाहिये, लड़ाई कैसे जीतनी चाहिये, रोगीको कौन-सी औषधि किस समय दी जावे, सूर्य चंद्रादिकोंकी दूरीको कैसे जानना चाहिये – इसे भली भाँति समझनेके लिये हमेशा नामरूपात्मक दृश्य सृष्टिके ज्ञानकीही आवश्यकता हुआ करेगी और इसमें कुछभी संदेह नहीं, कि इन सब लौकिक व्यवहारोंको अधिकाधिक कुशलतासे करनेके लिये नामरूपात्मक आधिभौतिक शास्त्रोंका अधिकाधिक अध्ययन अवश्य करना चाहिये । परंतु यह गीताका विषय नहीं है । गीताका मुख्य विषय तो यही है, कि अध्यात्म-दृष्टिसे मनुष्यकी परम श्रेष्ठ अवस्थाको बतला कर उसके आधारसे यह निर्णय कर दिया जावे, कि कर्म-अकर्मरूप नीति-धर्मका मूल तत्त्व क्या है । इनमेंसे पहले याने आध्यात्मिक परम साध्य – मोक्षके बारेमें आधिभौतिक पंथ उदासीन भलेही रहे; परंतु दूसरे विषयका, अर्थात् केवल नीति-धर्मके मूल तत्त्वोंका, निर्णय करनेके लियेभी आधिभौतिक पक्ष असमर्थ है; और पिछले प्रकरणोंमें हम बतला चुके है, कि प्रवृत्तिकी स्वतंत्रता, नीति-धर्मकी नित्यता तथा अमृतत्व प्राप्त कर लेनेकी मनुष्यके मनकी स्वाभाविक इच्छा, इत्यादि गहन विषयोंका निर्णय आधिभौतिक पंथसे नहीं हो सकता – उसके लिये आखिर हमें आत्मानात्म-विचारमें प्रवेश करनाही पड़ता है । परंतु अध्यात्मशास्त्रका काम कुछ इतनेहीसे पूरा नहीं हो जाता । जगतके आधारभूत अमृतत्वकी नित्य उपासना करनेसे, और अपरोक्षानुभवसे मनुष्यके आत्माको एक प्रकारकी विशिष्ट शांति मिलनेपर उसके शील-स्वभावमें जो परि-वर्तन हो जाता है, वही सदाचरणका मूल है; इसलिये इस बातपर ध्यान रखनाभी उचित है, कि मानव-जातिकी पूर्णावस्थाके विषयमेंभी अध्यात्मशास्त्रकी सहायतासे जैसा उत्तम निर्णय हो जाता है, वैसा केवल आधिभौतिक सुखवादसे नहीं होता । क्योंकि यह बात पहलेभी विस्तारपूर्वक बतलाई जा चुकी है, कि केवल विषयसुख तो पशुओंका उद्देश्य या साध्य है, उससे ज्ञानवान् मनुष्यकी बुद्धिका कभी पूरा समाधान हो नहीं सकता; सुखदुःख अनित्य हैं तथा धर्मही नित्य है । इस दृष्टिसे विचार करने-पर सहजही ज्ञात हो जावेगा, कि गीताके पारलौकिक धर्म तथा नीति-धर्म दोनोंका प्रतिपादन जगतके आधारभूत नित्य तथा अमृतत्वके आधारसेही किया गया है, इस-लिये यह परमावधिका गीता-धर्म, उस आधिभौतिकशास्त्रसे कभी हार नहीं खा सकता, जो मनुष्यके सब कर्मोंका विचार सिर्फ़ इस दृष्टिसे किया करता है, कि मनुष्य केवल एक उच्च श्रेणीका जानवर है । यही कारण है, कि हमारा गीता-धर्म नित्य तथा अभय हो गया है; और भगवाननेही उसमें ऐसा सुप्रबंध कर रखा है, कि हिंदु-ओंको इस विषयमें किसीभी दूसरे धर्म, ग्रंथ, या मतकी ओर मुँह ताकनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती । जब सब ब्रह्मज्ञानका निरूपण हो गया, तब याज्ञवल्क्यने राजा जनसे

कहा है, कि "अभयं वै प्राप्तोऽसि" – अब तू अभय हो गया (बृ. ४. २. ४); यही बात गीता-धर्मके ज्ञानके लिये अनेक अर्थोमें अक्षरशः कही जा सकती है।

गीता-धर्म कैसा है? वह सर्वतोपरि निर्भर और व्यापक है। वह सम है, अर्थात् वर्ण, जाति, देश या किसी अन्य भेदोंके झगड़ेमें नहीं पड़ता; किंतु सब लोगोंको एकही मापतौलसे सद्गति देता है। वह अन्य सब धर्मोंके विषयमें यथोचित सहिष्णुता दिखलाता है। वह ज्ञान, भक्ति और कर्मयुक्त है; और अधिक क्या कहें? वह सनातन वैदिक धर्म-वृक्षका अत्यंत मधुर तथा अमृत फल है। वैदिक धर्ममें पहले द्रव्यमय या पशुमय यज्ञोंका अर्थात् केवल कर्मकांडकाही अधिक महात्म्य था, परंतु फिर उपनिषदोंके ज्ञानसे यह केवल कर्मकांड-प्रधान श्रौत-धर्म गौण माना जाने लगा; और उसी समय सांख्यशास्त्रकाभी प्रादुर्भाव हुआ। परंतु यह ज्ञान सामान्य जनोंको अगम्य था; और इसका झुकावभी कर्म-संन्यासकी ओरही विशेष रहा करता था, इसलिये केवल औपनिषदिक धर्मसे अथवा दोनोंकी स्मार्त एकवाक्यतासेभी सर्वसाधारण लोगोंका पूरा समाधान होना संभव नहीं था। अतएव उपनिषदोंके केवल बुद्धिगम्य ब्रह्मज्ञानके साथ प्रेमगम्य व्यक्त उपासनाके राजगुह्यका संयोग करके कर्मकांडकी प्राचीन परंपराके अनुसारही, अर्जुनको निमित्त करके गीता-धर्म सब लोगोंको मुक्तकंठसे यही कहता है, कि "तुम अपनी अपनी योग्यताके अनुसार अपने अपने सांसारिक कर्तव्योंका पालन लोकसंग्रहके लिये निष्काम बुद्धिसे, आत्मौपम्य-दृष्टिसे तथा उत्साहसे यावज्जीवन करते रहो, और उसके द्वारा ऐसे नित्य परमात्म-देवताका सदा यजन करो, जो पिंड-ब्रह्मांडमें तथा समस्त प्राणियोंमें एकत्वसे व्याप्त है; उसीमें तुम्हारा सांसारिक तथा पारलौकिक कल्याण है।" उससे कर्म, बुद्धि, (ज्ञान) और प्रेम (भक्ति) इन तीनोंके बीचका विरोध नष्ट हो जाता है; और सब आयु या जीवनही को ज्ञानमय करनेके लिये उपदेश देनेवाले अकेले गीता-धर्ममें सकल वैदिक धर्मका सारांश आ जाता है। इस नित्य-धर्मको पहचानकर, केवल कर्तव्य समझ करके, सर्वभूतहितके लिये प्रयत्न करनेवाले सैकड़ों महात्मा और कर्ता या वीर पुरुष जब इस पवित्र भारतभूमिको अलंकृत किया करते थे, तब यह देश परमेश्वरकी कृपाका पात्र बनकर न केवल ज्ञानके वरन् ऐश्वर्यकेभी शिखरपर पहुँच गया था; और कहना नहीं होगा, कि जबसे दोनों लोगोंका साधन यह श्रेयस्कर धर्म छूट गया है, तभीसे इस देशकी निकृष्टावस्थाका आरंभ हुआ है। इसलिये ईश्वरसे आशापूर्वक अंतिम प्रार्थना यही है, कि भक्तिका, ब्रह्मज्ञानका और कर्तृत्व-शक्तिका यथोचित मेल कर देनेवाले इस तेजस्वी तथा सम गीता-धर्मके अनुसार परमेश्वरका यजन-पूजन करनेवाले सत्पुरुष इस देशमें फिरभी उत्पन्न हों। और, अंतमें उदार पाठकोंसे निम्न मंत्रद्वारा (ऋ. १०. १९१. ४) यह विनंती करके गीताका रहस्य-विवेचन यहाँ समाप्त किया जाता है, कि इस ग्रंथमें कहीं भ्रमसे कुछ न्यूनाधिकता हुई हो, तो उसे सम-दृष्टिसे सुधार लीजिये :–

समानो व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

यथा वः सुसहासति ॥*

---

* यह मंत्र ऋग्वेद संहिताके अंतमें आया है। यज्ञमंडपमें एकत्रित लोगोंको लक्ष्य करके यह कहा गया है। अर्थ – "तुम्हारा अभिप्राय एक समान हो, तुम्हारे अंतःकरण एक समान हों; और तुम्हारा मन एक समान हो, जिससे तुम्हारा सुसाह्य होगा; अर्थात् संघ-शक्तिकी दृढता होगी।" असति = अस्ति, यह वैदिक रूप है। "यथा वः सुसहासति" इसकी द्विरुक्ति ग्रंथकी समाप्ति दिखलानेके लिये की गई है।

॥ ॐ तत्सत् ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

परिशिष्ट-प्रकरण

गीताकी बहिरंगपरीक्षा

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वाऽपि पापीयाञ्जायते तु सः ॥ *

– स्मृति

पिछले प्रकरणोंमें इस बातका विस्तृत वर्णन किया गया है, कि जब भारतीय युद्धमें होनेवाले भीषण कुलक्षय और ज्ञातिक्षयका प्रत्यक्ष दृश्य पहले पहल आँखोंके सामने उपस्थित हुआ, तब अर्जुन अपने क्षात्रधर्मका त्याग करके संन्यासका स्वीकार करनेके लिये तैयार हो गया था; और उस समय उसको ठीक मार्गपर लानेके लिये श्रीकृष्णने वेदान्तशास्त्रके आधारपर यह प्रतिपादन किया, कि कर्मयोगही अधिक श्रेयस्कर है; कर्मयोगमें बुद्धिहीकी प्रधानता है, इसलिये ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसे अथवा परमेश्वर-भक्तिसे अपनी बुद्धिको साम्यावस्थामें रखकर उस बुद्धिके द्वारा स्वधर्मानुसार सब कर्म करते रहनेसेही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है, मोक्ष पानेके लिये इसके सिवा अन्य किसी बातकी आवश्यकता नहीं है; और इस प्रकार उपदेश करके, भगवानने अर्जुनको युद्ध करनेमें प्रवृत्त कर दिया। गीताका यही यथार्थ तात्पर्य है। अब "गीताको भारतमें सम्मिलित करनेका कोई प्रयोजन नहीं" इत्यादि जो शंकाएँ इस भ्रमसे उत्पन्न हुई हैं – कि गीताग्रंथ केवल वेदान्तविषयक और निवृत्ति-प्रधान है – उनकाभी निवारण आप-ही-आप हो जाता है। क्योंकि कर्णपर्वमें सत्यानृतका विवेचन करके जिस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुनको युधिष्ठिरके वधसे परावृत्त किया है, उसी प्रकार उसे युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये गीताका उपदेशभी आवश्यक था; और यदि काव्यकी दृष्टिसे देखा जाय, तोभी यह सिद्ध होता है, कि महाभारतमें अनेक स्थानोंपर ऐसेही जो अन्योन्य प्रसंग दीख पड़ते हैं, उन सबका मूल तत्त्व कहीं-न-कहीं

---

* "किसी मंत्रके ऋषि, छंद, देवता और विनियोगको न जानते हुए जो (उक्त मंत्रकी) शिक्षा देता है अथवा जप करता है, वह पापी होता है।" यह किसी-न-किसी स्मृति-ग्रंथका वचन है; परंतु मालूम नहीं, कि किस ग्रंथका है। हाँ, उसका मूल आर्षेयब्राह्मण (आर्षेय. १) श्रुति-ग्रंथमें पाया जाता है; वह यह है – "यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मंत्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा प्रतिपद्यते ॥" अर्थात् ऋषि, छंद आदि किसीभी मंत्रके जो बहिरंग हैं, उनके बिना मंत्र नहीं कहना चाहिये। यही न्याय गीता सरीखे ग्रंथके लियेभी लगाया जा सकता है।

बतलाना आवश्यक था, इसलिये उसे भगवद्‌गीतामें बतलाकर व्यावहारिक धर्म-अधर्मके अथवा कार्य-अकार्य व्यवस्थितिके निरूपण की पूर्ति गीताहीमें की है। वनपर्वके ब्राह्मण-व्याध-संवादमें व्याधने वेदान्तके आधार पर इस बातका विवेचन किया है, कि " मैं मांस बेचनेका रोजगार क्यों करता हूँ। " और, शांतिपर्वके तुलाधार-जाजलि-संवादमेंभी, उसी तरह, तुलाधारने अपने वाणिज्य व्यवसायका समर्थन किया है (वन. २०६–२१५; शां. २६०–२६३)। परंतु यह उपपत्ति उन विशिष्ट व्यवसायोंहीकी है। इसी प्रकार अहिंसा, सत्य आदि विषयोंका विवेचन यद्यपि महाभारतमें कई स्थानोंपर मिलता है, तथापि वहभी एकदेशीय अर्थात् उन विशिष्ट विषयोंके लियेही है, इसलिये वह महाभारतका प्रधान भाग नहीं माना जा सकता; अथवा इस प्रकारके एकदेशीय विवेचनसे यहभी निर्णय नहीं किया जा सकता, कि जिन भगवान् श्रीकृष्ण और पांडवोंके उज्ज्वल कार्योंका वर्णन करनेके लिये व्यासजीने महाभारतकी रचना की है, उन महानुभावोंके चरित्रोंको आदर्श मानकर मनुष्य उस प्रकार आचरण करे या नहीं। यदि यही मान लिया जाय, कि संसार निःसार है और कभी-न-कभी संन्यास लेनाही हितकारक है, तो स्वभावतः ये प्रश्न उपस्थित होते हैं, कि श्रीकृष्ण तथा पांडवोंको इतनी झंझटमें पड़नेका कारणही क्या था? और, यदि उनके प्रयत्नोंका कुछ हेतु मान लिया जाय, तो लोकसंग्रहार्थ उनका गौरव करके व्यासजीको तीन वर्षपर्यंत लगातार परिश्रम करके (मभा. आ. ६२. ५२) एक लाख श्लोकोंके इस वृहत्-ग्रंथको लिखनेका प्रयोजनही क्या था? केवल इतनाही कह देनेसे ये प्रश्न यथेष्ट हल नहीं हो सकते, कि वर्णाश्रम-कर्म चित्त-शुद्धिके लिये किये जाते हैं, क्योंकि चाहे जो कहा जाय; स्वधर्माचरण अथवा जगतके अन्य सब व्यवहार तो संन्यास-दृष्टिसे गौणही माने जाते हैं। इसलिये, महाभारतमें जिन महान् पुरुषोंके चरित्रोंका वर्णन किया गया है, उन महात्माओंके आचरणपर 'मूले कुठारः' न्यायसे होनेवाले आक्षेपको हटाकर, उक्त ग्रंथमें कहीं-न-कहीं विस्तारपूर्वक यह बतलाना आवश्यक था, कि संसारके सब काम करने चाहिये या नहीं और यदि कहा जाय, कि करने चाहिये; तो प्रत्येक मनुष्यको अपना अपना कर्म संसारमें किस प्रकार करना चाहिये, जिससे वह कर्म उसकी मोक्ष-प्राप्तिके मार्गमें बाधा न डाल सके। नलोपाख्यान, रामोपाख्यान आदि महाभारतके उपाख्यानोंमें उक्त बातोंका विवेचन करना उपयुक्त न हुआ होता, क्योंकि ऐसा करनेसे उन उपांगोंके सदृश्य यह विवेचनभी गौणही माना गया होता। इसी प्रकार वनपर्व अथवा शांतिपर्वके अनेक विषयोंकी खिचड़ींमें यदि गीताकोभी सम्मिलित कर दिया जाता, तो उसका महत्त्व अवश्यही घट गया होता। अतएव उद्योगपर्व समाप्त होनेपर महाभारतका प्रधान कार्य – भारतीय युद्ध – आरंभ होनेके ठीक मौकेपरही, उसपर ऐसे आक्षेप किये गये हैं, जो नीति-धर्मकी दृष्टिसे अपरिहार्य दीख पड़ते हैं; और वहीं यह कर्म-अकर्म विवेचनका स्वतंत्र शास्त्र उपपत्तिसहित बतलाया गया है। सारांश,

पढ़नेवाले कुछ देरके लिये यदि यह परंपरागत कथा भूल जायँ, कि श्रीकृष्णजीने युद्धके आरंभमेंही अर्जुनको गीता सुनाई है; और यदि वे इसी बुद्धिसे विचार करें, कि महाभारतमें धर्म-अधर्मका निरूपण करनेके लिये रचा गया यह एक आर्ष-महाकाव्य है; तोभी यही दीख पड़ेगा, कि गीताके लिये महाभारतमें जो स्थान नियुक्त किया गया है, वही गीताका महत्त्व प्रकट करनेके लिये काव्य-दृष्टिसेभी अत्यंत उचित है। जब इन बातोंकी ठीक ठीक उपपत्ति मालूम हो गई, कि गीताका प्रतिपाद्य विषय क्या है और महाभारतमें किस स्थानपर गीता बतलाई गई है; तब ऐसे प्रश्नोंका कुछभी महत्त्व दीख नहीं पडता, कि "रणभूमिपर गीताका ज्ञान बतलानेकी क्या आवश्यकता थी? कदाचित् किसीने इस ग्रंथको महाभारतमें पीछे घुसेड़ दिया होगा! अथवा, भगवद्गीतामें दसही श्लोक मुख्य हैं या सौ?" क्योंकि अन्य प्रकरणोंसेभी यही दीख पड़ता है, कि जब एक बार यह निश्चय हो गया, कि धर्म-निरूपणार्थ 'भारत'का 'महाभारत' करनेके लिये अमुक विषय महाभारतमें अमुक कारणसे अमुक स्थानपर रखा जाना चाहिये; तब महाभारतकार इस बातकी चिंता नहीं करते, कि उस विषयके पूर्ण निरूपणमें कितना स्थान लग जायगा। तथापि गीताकी बहिरंग-परीक्षाके संबंधमें जो अन्यान्य युक्तियाँ पेश की जाती हैं, उनपरभी अब प्रसंगानुसार विचार करके उनके सत्यांशकी जाँच करना आवश्यक है। इसलिये उनमेंसे (१) गीता और महाभारत, (२) गीता और उपनिषद्, (३) गीता और ब्रह्मसूत्र, (४) भागवत धर्मका उदय और गीता, (५) वर्तमान गीताका काल, (६) गीता और बौद्ध ग्रंथ, (७) गीता और ईसाइयोंकी बाइबल, इन सात विषयोंका विवेचन इस प्रकरणके सात भागोंमें क्रमानुसार किया गया है। स्मरण रहे, कि उक्त बातोंका विचार करते समय, केवल काव्यकी दृष्टिसे अर्थात् व्यावहारिक और ऐतिहासिक दृष्टिसेही महाभारत, गीता, ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् आदि ग्रंथोंका विवेचन बहिरंग-परीक्षा किया करते हैं, इसलिये, अब उक्त प्रश्नोंका विचार हमभी उसी दृष्टिसे करेंगे।

भाग १ – गीता और महाभारत

ऊपर यह अनुमान किया है, कि श्रीकृष्णजी सरीखे महात्माओंके चरित्रोंका नैतिक समर्थन करनेके लिये महाभारतमें कर्मयोग-प्रधान गीता, उचित कारणोंसे, उचित स्थानमें रखी गई है; और गीता महाभारतकाही एक भाग होना चाहिये; वही अनुमान इन दोनों ग्रंथोंकी रचनाकी तुलना करनेसे अधिक दृढ हो जाता है। परंतु तुलना करनेके पहले इन दोनों ग्रंथोंके वर्तमान स्वरूपका कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। अपने गीता-भाष्यके आरंभमें श्रीमच्छंकराचार्यजीने स्पष्ट रीतिसे कह दिया है, कि गीता ग्रंथमें सात-सौ श्लोक हैं; और वर्तमान समयमें प्राप्त सब प्रतियोंमेंभी उतनेही श्लोक पाये जाते हैं। इन सात-सौ श्लोकोंमेंसे १ श्लोक

धृतराष्ट्रका है, ४० संजयके, ८४ अर्जुनके और ५७५ भगवानके हैं। परंतु वंवईमें गणपत कृष्णाजीके छापाख़ानेमें मुद्रित महाभारतकी प्रतिमें भीष्मपर्वमें वर्णित गीताके अठारह अध्यायोंके वाद जो अध्याय आरंभ होता है, उसके (अर्थात् भीष्मपर्वके तेंतालीसवें अध्यायके) आरंभमें साढ़ेपाँच श्लोकोंमें गीतारहस्यका वर्णन किया गया है और उसमें कहा है :–

षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः ।
अर्जुनः सप्तपंचाशत् सप्तषष्टि तु संजयः ।
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते ।।

"गीतामें केशवके ६२०, अर्जुनके ५७, संजयके ६७ और धृतराष्ट्रका १, इस प्रकार कुल मिलाकर ७४५ श्लोक हैं।" मद्रास इलाकेमें जो पाठ प्रचलित है, उसके अनुसार कृष्णाचार्य-द्वारा प्रकाशित महाभारतकी प्रतिमें ये श्लोक पाये जाते हैं। परंतु कलकत्तेमें मुद्रित महाभारतमें ये नहीं मिलते; और भारत-टीकाकार नीलकंठने तो इनके विषयमें यह लिखा है, कि इन साढ़ेपाँच श्लोकोंको "गौडैः न पठ्यन्ते" अतएव प्रतीत होता है, कि ये प्रक्षिप्त हैं। परंतु यद्यपि इन्हें प्रक्षिप्त मान लें; तथापि यह नहीं वतलाया जा सकता, कि गीतामें ७४५ श्लोक (अर्थात् वर्तमान प्रतियोंमें जो ७०० श्लोक हैं उनसे ४५ श्लोक अधिक) किसे और कव मिले। महाभारत वड़ा भारी ग्रंथ है, इसलिये संभव है, कि इसमें समय समयपर अन्य श्लोक जोड़ दिये गये हों तथा कुछ निकाल डाले गये हों। परंतु यह वात गीताके विषयमें नहीं कही जा सकती। गीता-ग्रंथ सदैव पठनीय होनेके कारण वेदोंके सदृश पूरी गीताकोभी कंठाग्र करनेवाले लोग पहले वहुत थे, और अवतकभी कुछ है। यही कारण है, कि वर्तमान गीतामें वहुत-से पाठांतर नहीं हैं; और जो कुछ भिन्न पाठ हैं, वे सव टीकाकारोंको मालूम हैं। इसके सिवा यहभी कहा जा सकता है, कि इसी हेतुसे गीता-ग्रंथमें वरावर ७०० श्लोक रखे गये हैं, कि इसमें कोई फेरफार न कर सके। अव प्रश्न यह है, कि वंवई तथा मद्रासमें मुद्रित महाभारतकी प्रतियोंमेंही ४५ श्लोक, और वेभी सव भगवानहीके ज्यादा कहाँसे आ गये? संजय और अर्जुनके श्लोकोंका जोड़ वर्तमान प्रतियोंमें, और इस गणनामें समान अर्थात् १२४ हैं; और ग्यारहवें अध्यायके "पश्यामि देवान्" (गीता ११. १५–३१) आदि १७ श्लोकोंके साथ मतभेदके कारण संभव है, कि अन्य दस श्लोकभी संजयके माने जावें, इसलिये कहा जा सकता है, कि यद्यपि संजय और अर्जुनके श्लोकोंका जोड़ समानही है, तथापि प्रत्येक श्लोकको पृथक् पृथक् गिननेमें कुछ फ़र्क़ हो गया होगा। परंतु इस वातका कुछ पता नहीं लगता, कि वर्तमान प्रतियोंमें भगवानके जो ५७५ श्लोक हैं, उनके वदले ६२० (अर्थात् ४५ अधिक) कहाँसे आ गये। यदि यह कहते हैं, कि गीताका 'स्तोत्र' या 'ध्यान' या इसी प्रकारके किसी अन्य प्रकरणका इसमें समावेश किया गया होगा; तो देखते हैं, कि वंवईमें मुद्रित महाभारतकी पोथीमें वह प्रकरण

नहीं है। इतना ही नहीं; किंतु इस पोथीवाली गीतामेंभी सात सौ-ही श्लोक हैं। अतएव, वर्तमान सात सौ श्लोकोंकी गीताहीको प्रमाण माननेके सिवा अन्य मार्ग नहीं है। यह हूई गीताकी बात; परंतु जब महाभारतकी ओर देखते हैं, तो कहना पड़ता है, कि यह विरोध कुछभी नहीं है। स्वयं भारतहीमें यह कहा है, कि महाभारत-संहिताकी संख्या एक लाख है। परंतु रा. व. चिंतामणराव वैद्यने महाभारतके अपने टीका-ग्रंथमें स्पष्ट करके बतलाया है, कि वर्तमान प्रकाशित पोथियोंमें उतने श्लोक नहीं मिलते; और भिन्न भिन्न पर्वोंके अध्यायोंकी संख्याभी भारतके आरंभमें दी गई अनुक्रमणिकाके अनुसार नहीं है। ऐसी अवस्थामें, गीता और महाभारतकी तुलना करनेके लिये इन ग्रंथोंकी किसी-न-किसी विशेष पोथीका आधार लिये बिना काम नहीं चल सकता; अतएव श्रीमच्छंकराचार्यने जिस सात सौ श्लोकोंवाली गीताको प्रमाण माना है, उसी गीताको और कलकत्तेके बाबू प्रतापचंद्र राय-द्वारा प्रकाशित महाभारतकी पोथीको प्रमाण मानकर हमने इन दोनों ग्रंथोंकी तुलना की है; और हमारे इस ग्रंथमें उद्धृत महाभारतके श्लोकोंका स्थान-निर्देशभी, कलकत्तेमें मुद्रित उक्त महाभारतके अनुसारही किया गया है। इन श्लोकोंको बंबईकी पोथीमें अथवा मद्रासके पाठक्रमके अनुसार प्रकाशित कृष्णाचार्यकी प्रतिमें देखना हो; और यदि वे हमारे निर्दिष्ट किये हुए स्थानोंपर न मिलें, तो कुछ आगे पीछे ढूँढ़नेसे वे मिल जायँगे।

सात सौ श्लोकोंकी गीता और कलकत्तेके बाबू प्रतापचंद्र राय-द्वारा प्रकाशित महाभारतकी तुलना करनेसे प्रथम यही दीख पड़ता है, कि भगवद्गीता महाभारतहीका एक भाग है; और इस बातका उल्लेख स्वयं महाभारतमेंही कई स्थानोंमें पाया जाता है। पहला उल्लेख आदिपर्वके आरंभमें दूसरे अध्यायमें दी गई अनुक्रमणिकामें किया गया है। पर्व-वर्णनमें पहले यह कहा है – "पूर्वोक्तं भगवद्गीतापर्व भीष्मवधस्ततः" (मभा. आ. २. ६९); और फिर अठारह पर्वोंके अध्यायों और श्लोकोंकी संख्या बतलाते समय भीष्मपर्वके वर्णनमें पुनश्च भगवद्गीताका स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया गया है :–

कश्मलं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः।
मोहजं नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शिभिः॥

"जिसमें मोक्षगर्भ कारण बतलाकर वासुदेवने अर्जुनके मनका मोहज कश्मल दूर कर दिया (मभा. आ. २. २४७)। इसी प्रकार आदिपर्वके (आ. १. १७९) पहले अध्यायमें प्रत्येक श्लोकके आरंभमें 'यदाश्रौषं' कहकर, जब धृतराष्ट्रने बतलाया है, कि दुर्योधन प्रभृतिकी जय-प्राप्तिके विषयमें किस किस प्रकार मेरी निराशा होती गई; तब यह वर्णन है, कि "ज्योंही सुना, कि अर्जुनके मनमें मोह उत्पन्न होनेपर श्रीकृष्णने उसे विश्वरूप दिखलाया, त्योंही जयके विषयमें मेरी पूरी निराशा हो गई।" आदिपर्वके इन तीनों उल्लेखोंके बाद शांतिपर्वके अंतमें नारायणीय धर्मका

वर्णन करते हुए गीताका फिरभी उल्लेख करना पड़ा है। नारायणीय, सात्वत, ऐकांतिक और भागवत – ये चारों नाम समानार्थक हैं। नारायणीयोपाख्यानमें (शां. ३३४–३५१) उस भक्तिप्रधान प्रवृत्ति-मार्गके उपदेशका वर्णन किया गया है, कि जिसका उपदेश नारायण ऋषि अथवा भगवानने श्वेतद्वीपमें नारदजीको किया था। पिछले प्रकरणोंमें भागवत धर्मके इस तत्त्वका वर्णन किया जा चुका है, कि वासुदेवकी एकांतभावसे भक्ति करके इस जगतके सब व्यवहार स्वधर्मानुसार करते रहनेसेही मोक्षकी प्राप्ती हो जाती है, और यहभी बतला दिया गया है, कि इसी प्रकार भगवद्गीतामेंभी संन्यास-मार्गकी अपेक्षा कर्मयोगही श्रेष्ठतर माना गया है। इस नारायणीय धर्मकी परंपराका वर्णन करते समय वैशंपायन जनमेजयसे कहते हैं, कि यह धर्म साक्षात् नारायणसे नारदको प्राप्त हुआ है; और यही धर्म "कथितो हरिगीतासु समासविधकल्पत:" (मभा. शां. ३४६. १०) – हरिगीता अथवा भगवद्गीतामें बतलाया गया है। इसी प्रकार आगे चलकर ३४८ वें अध्यायके ८ वें श्लोकमें यह बतलाया गया है, कि :–

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपांडवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम्॥

कौरव और पांडवोंके युद्धके समय विमनस्क अर्जुनको भगवानने ऐकांतिक अथवा नारायण-धर्मकी इन विधियोंका उपदेश किया था; और सब युगोंमें स्थित नारायण-धर्मकी परंपरा बतलाकर पुनश्च कहा है, कि इस धर्मका और यतियोंके धर्म अर्थात् संन्यास-धर्मका वर्णन 'हरिगीता'में किया गया है (मभा. शां. ३४८. ५३)। आदिपर्व और शांतिपर्वमें किये गये इन छः उल्लेखोंके अतिरिक्त अश्वमेधपर्वके अनुगीतापर्वमेंभी और एक बार भगवद्गीताका उल्लेख किया गया है। जब भारतीय युद्ध पूरा हो गया, युधिष्ठिरका राज्याभिषेकभी हो गया; और एक दिन श्रीकृष्ण तथा अर्जुन एकत्र बैठे हुए थे; तब श्रीकृष्णने कहा – "यहाँ अब मेरे रहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है; द्वारका जानेकी इच्छा है।" इसपर अर्जुनने श्रीकृष्णसे प्रार्थना की, कि युद्धके आरंभमें पहले आपने मुझे जो उपदेश किया था, वह मैं भूल गया; इसलिये वह मुझे फिरसे बतलाइये (अश्व. १६)। तब इस बिनतीके अनुसार, द्वारकाको जानेके पहले, श्रीकृष्णने अर्जुनको अनुगीता सुनाई है। इस अनुगीताके आरंभहीमें भगवानने कहा है – "दुर्भाग्य-वश तू उस उपदेशको भूल गया; जिसे मैंने तुझे युद्धके आरंभमें बतलाया था। उस उपदेशको फिरसे वैसेही बतलाना अब मेरे लियेभी असंभव है, इसलिये उसके बदले तुझे कुछ अन्य बातें बतलाता हूँ" (मभा. अश्व. अनुगीता १६. ९–१३)। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि अनुगीतामें वर्णित कुछ प्रकरण गीताके प्रकरणोंके समानही है। अनुगीताके उक्त निर्देशको मिलाकर महाभारतमें भगवद्गीताका सात बार स्पष्ट उल्लेख हो गया है। अर्थात् अंतर्गत

प्रमाणोंसे स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है, कि भगवद्गीता वर्तमान महाभारतकाही एक भाग है।

परंतु संदेहकी गति निरंकुश रहती है; इसलिये उपर्युक्त सात निर्देशोंसेभी कई लोगोंका समाधान नहीं होता। वे कहते हैं, कि यह कैसे सिद्ध हो सकता है, कि ये उल्लेखभी भारतमें पीछेसे नहीं जोड़ दिये गये होंगे? इस प्रकार उनके मनमें यह शंका ज्यों-की-त्यों रह जाती है, कि गीता महाभारतका भाग है अथवा नहीं। पहले तो यह शंका केवल इसी समझसे उपस्थित हुई है, कि गीता-ग्रंथ ब्रह्मज्ञान-प्रधान है; परंतु हमने पहलेही विस्तारपूर्वक बतला दिया है, कि यह समझ ठीक नहीं, अतएव यथार्थमें देखा जाय, तो अब इस शंकाके लिये कोई स्थानही नहीं रह जाता। तथापि इन प्रमाणोंपरही अवलंबित न रहते हुए अब हम बतलाना चाहते हैं, कि अन्य प्रमाणोंसेभी उक्त शंकाकी अयथार्थता सिद्ध हो सकती है। जब दो ग्रंथोंके विषयमें यह शंका की जाती है, कि वे दोनों एकही ग्रंथकारके हैं या नहीं; तब काव्यमीमांसक-गण पहले इन दोनों बातों – शब्दसादृश्य और अर्थसादृश्य – का विचार किया करते हैं। शब्दसादृश्यमें केवल शब्दोंहीका समावेश नहीं होता किंतु उसमें भाषा-रचनाकाभी समावेश किया जाता है। इस दृष्टिसे विचार करते समय देखना चाहिये कि गीताकी भाषा और महाभारतकी भाषामें कितनी समता है। परंतु महाभारत ग्रंथ बहुत बड़ा और विस्तीर्ण है; इसलिये उसमें प्रसंगके अनुसार स्थान-स्थानपर भाषाकी रचनाभी भिन्न भिन्न रीतिसे की गई है। उदाहरणार्थ, कर्णपर्वके कर्ण और अर्जुनके युद्धका वर्णन पढ़नेसे दीख पड़ता है, कि उसकी भाषारचना अन्य प्रकरणोंकी भाषासे भिन्न है। अतएव यह निश्चित करना अत्यंत कठिन है, कि गीता और महाभारतकी भाषामें समता है या नहीं। तथापि सामान्यतः विचार करनेपर हमें परलोकवासी काशीनाथपंत तेलंगके* मतसे सहमत होकर कहना पड़ता है, कि गीताकी भाषा तथा छंदरचना आर्ष अथवा प्राचीन है। उदाहरणार्थ, काशीनाथपंतने यह बतलाया है, कि अंत (गीता २. १६), भाषा (गीता २. ५४), ब्रह्म (=प्रकृति, गीता १४. ३), योग (कर्मयोग), पादपूरक अव्यय 'ह' (गीता २. ९) आदि शब्दोंका प्रयोग गीतामें जिस अर्थमें किया गया है, उस अर्थमें वे शब्द कालिदास प्रभृतिके काव्योंमें नहीं पाये जाते; और पाठभेदहीसे क्यों न हो; परंतु गीताके ११. ३५ श्लोकमें 'नमस्कृत्वा' यह अपाणिनीय शब्द रखा गया है, तथा गीता

---

* स्वर्गीय काशीनाथ त्र्यंबक तेलंग-द्वारा रचित भगवद्गीताका अंग्रेजी अनुवाद मेक्समूलर साहब-द्वारा संपादित प्राच्यधर्म-पुस्तकमालामें (Sacred Books of the East Series, Vol. VIII) प्रकाशित हुआ है। इस ग्रंथमें गीतापर एक टीकात्मक लेख प्रस्तावनाके तौरपर जोड़ दिया गया है। स्वर्गीय तैलंगके मतानुसार इस प्रकरणमें जो उल्लेख हैं, वे (एक स्थानको छोड़) इस प्रस्तावनाको लक्ष्य करकेही किये गये हैं।

११. ४८ में 'शक्य अहं' इस प्रकार अपाणिनीय संधिभी की गई है। इसी तरह "सेनानीनामहं स्कन्दः" (गीता १०. २४) में जो 'सेनानीनां' षष्ठीकारक है वहभी पाणिनीके अनुसार शुद्ध नहीं है। आर्ष वृत्तरचनाके उदाहरणोंको स्वर्गीय तेलंगने स्पष्ट करके नहीं बतलाया है; परंतु हमें यह प्रतीत होता है, कि ग्यारहवें अध्यायवाले विश्वरूप-वर्णनके (गीता ११. १५–५०) छत्तीस श्लोकोंको लक्ष्य करकेही उन्होंने गीताकी छंदरचनाको आर्ष कहा है। इन श्लोकोंके प्रत्येक चरणमें ग्यारह अक्षर हैं; परंतु गणोंका कोई नियम नहीं है; एक इंद्रवज्रा चरण है तो दूसरा उपेंद्र-वज्रा, तीसरा है शालिनी, तो चौथा किसी अन्य प्रकारका; इस तरह उक्त छत्तीस श्लोकोंमें – अर्थात् १४४ चरणोंमें – भिन्न भिन्न जातिके कुल ग्यारह चरण दीख पड़ते हैं। तथापि उनमें यह नियमभी दीख पड़ता है, कि प्रत्येक चरणमें ग्यारह अक्षर हैं; और उनमेंसे पहला, चौथा, आठवाँ और अंतिम दो अक्षर गुरु हैं; तथा छठा अक्षर प्रायः लघुही है। इससे यह अनुमान किया जाता है, कि ऋग्वेद तथा उप-निषदोंके त्रिष्टुप् छंदके ढँगपरही ये श्लोक रचे गये हैं। ऐसे ग्यारह अक्षरोंके विषम-वृत्त कालिदासके काव्योंमें नहीं मिलते। हाँ, शाकुंतल नाटकका "अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः" यह श्लोक इसी छंदमें है; परंतु कालिदासहीने उसे 'ऋक्छंद' अर्थात् ऋग्वेदका छंद कहा है। इससे यह बात प्रकट हो जाती है, कि आर्ष वृत्तोंके प्रचारके समयहीमें गीता-ग्रंथकी रचना हुई है। महाभारतके अन्य स्थलोंमें उक्त प्रकारके आर्ष शब्द और वैदिक वृत्त दीख पड़ते हैं। परंतु इसके अतिरिक्त इन दोनों ग्रंथोंके भाषासादृश्यका दूसरा दृढ प्रमाण यह है, कि महाभारत और गीतामें एकहीसे अनेक श्लोक पाये जाते हैं। महाभारतके सब श्लोकोंकी छानबीन कर यह निश्चित करना कठिन है, कि उनमेंसे गीतामें कितने श्लोक उपलब्ध हैं। परंतु महाभारत पढ़ते समय उसमें जो श्लोक अक्षरशः या न्यूनाधिक पाठभेदसे गीताके श्लोकके सदृश हमें जान पड़े, उनकी संख्याभी कुछ कम नहीं है; और उनके आधारपर भाषा-सादृश्यके प्रश्नका निर्णयभी सहजही हो सकता है। नीचे दिये गये श्लोक और श्लोकार्ध, गीता और महाभारत (कलकत्ता की प्रति) में शब्दशः अथवा एक-आध शब्दकी भिन्नता होकर ज्यों-के-त्यों मिलते है :–

गीता	महाभारत
१. ९ नानाशस्त्रप्रहरणा.० श्लोकार्ध।	भीष्मपर्व (५१. ४); गीताके सदृशही दुर्योधन द्रोणाचार्यसे अपनी सेनाका वर्णन कर रहा है।
१. १० अपर्याप्तं० पूरा श्लोक।	भीष्म. (५१. ६)

१. १२–१९ तक आठ श्लोक।	भीष्म (५१. २२–२९); कुछ शब्द-भेद रहते हुए शेष गीताके श्लोकोंके समानही हैं।
१. ४५ अहो बत महत्पापं० श्लोकार्ध।	द्रोण. (१९७. ५०); कुछ शब्दभेद हैं, शेष गीताके श्लोकके समान।
२. १९ उभौ तौ न विजानीत० श्लोकार्ध।	शांति. (२२४. १४); कुछ पाठभेद होकर बलि-वासव-संवाद और कठोप-निषदमें (२. १८) है।
२. २८ अव्यक्तादीनि भूतानि० श्लोक।	स्त्री. (२. ६. ९. ११); 'अव्यक्त'के बदले 'अभाव' है, शेष सब समान है।
२. ३१ धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयो० श्लोकार्ध।	भीष्म. (१२४. ३६); भीष्म कर्णको यही बतला रहे हैं।
२. ३२ यदृच्छया० श्लोक।	कर्ण. (५७. २) 'पार्थ'के बदले 'कर्ण' पद रखकर दुर्योधन कर्णसे कह रहा है।
२. ४६ यावान् अर्थ उपपाने० श्लोक।	उद्योग. (४५. २६); सनत्सुजातीय प्रकरणमें कुछ शब्दभेदसे पाया जाता है।
२. ५९ विषया विनिवर्तन्ते० श्लोक।	शांति. (२०४. १६); मनु-बृहस्पति-संवादमें अक्षरशः मिलता है।
२. ६७ इंद्रियाणां हि चरतां० श्लोक।	वन. (२१०. २६); ब्राह्मण-व्याध-संवादमें कुछ पाठभेदसे आया है और पहले रथका रूपकभी दिया गया है।
२. ७० आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं० श्लोक।	शांति. (२५०. ९); शुकानुप्रश्नमें ज्यों-का-त्यों आया है।
३. ४२ इंद्रियाणि पराण्याहुः० श्लोक।	शांति. (२४५. ३; २४७. २) कुछ पाठभेदसे शुकानुप्रश्नमें दो बार आया है। परंतु इस श्लोकका मूल स्थान कठोपनिषदमें है (कठ. ३. १०)।
४. ७ यदा यदाहि धर्मस्य० श्लोक।	वन. (१८९. २७); मार्कंडेय-प्रश्नमें ज्यों-का-त्यों है।

४. ३१ नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य० श्लोकार्ध । — शांति. (२६७. ४०); गोकापिलीयाख्यानमें पाया जाता है, और सब प्रकरण यज्ञविषयकही है ।

४. ४० नायं लोकोऽस्ति न परो० श्लोकार्ध । — वन. (१९९. ११०); मार्कण्डेय समस्यापर्वमें शब्दशः मिलता है ।

५. ५ यत्सांख्यै: प्राप्यते स्थानं० श्लोक । — शांति. (३०५; १९; ३१६. ४); इन दोनों स्थानोंमें कुछ पाठभेदसे वसिष्ठकराल औरयाज्ञवल्क्य-जनकके संवादमें पाया जाता है ।

५. १८ विद्याविनयसंपन्ने० श्लोक । — शांति. (२३८. १९); शुकानुप्रश्नमें अक्षरशः मिलता है ।

६. ५ आत्मैव ह्यात्मनो बंधु० श्लोकार्ध । और आगामी श्लोकका अर्ध । — उद्योग. (३३. ६३, ६४); विदुरनीतिमें ठीक ठीक मिलता है ।

६. २९ सर्वभूतस्थमात्मानं० श्लोकार्ध । — शांति. (२३८. २१); शुकानुप्रश्न, मनुस्मृति (१२. ९१), ईशावास्योपनिषद् (६) और कैवल्योपनिषदमें (१. १०) तो ज्यों-का-त्यों मिलता है ।

६. ४४ जिज्ञासुरपि योगस्य० श्लोकार्ध । — शांति. (२३५. ७); शुकानुप्रश्नमें कुछ पाठ-भेद करके रखा गया है ।

८. १७ सहस्रयुगपर्यंतं० यह श्लोक पहले युगका अर्थ न वतलाकर गीतामें दिया गया है । — शांति. (२३१. ३१); शुकानुप्रश्नम अक्षरशः मिलता है; और युगका अर्थ वतलानेवाला कोष्टकभी पहले दिया गया है । मनुस्मृतिमेंभी कुछ पाठांतरसे मिलता है (मनु. १. ७३) ।

८. २० यः स सर्वेषु भूतेषु श्लोकार्ध । — शांति. (३३९. २३); नारायणीय धर्ममें कुछ पाठांतर होकर दो वार आया है ।

९. ३२ स्त्रियो वैश्यास्तथा० यह पूरा श्लोक और आगामी श्लोकका पूर्वार्ध । — अश्व. (१९. ६१, ६२); अनुगीतामें कुछ पाठांतरके साथ येही श्लोक हैं ।

१३. १३ सर्वतः पाणिपादं० श्लोक।	शांति. (२३८. २९; अश्व १९. ४९); शुकानुप्रश्न, अनुगीता तथा अन्यत्रभी यह अक्षरशः मिलता है। इस श्लोकका मूलस्थान श्वेताश्वेतरोपनिषद् (३. १६) है।
१३. ३० यदा भूतपृथग्भावं० श्लोक।	शांति. (१७. २३); युधिष्ठिरने अर्जुनसे येही शब्द कहे हैं।
१४. १८ ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था० श्लोक।	अश्व. (३९. १०); अनुगीताके गुरु-शिष्यसंवादमें अक्षरशः मिलता है।
१६. २१ त्रिविधं नकरस्येदं० श्लोक।	उद्योग. (३२. ७). विदुरनीतिमें अक्षरशः मिलता है।
१७. ३ श्रद्धामयोऽयं पुरुषः० श्लोकार्ध।	शांति.(२६३. १७); तुलाधार-जाजलि-संवादके श्रद्धा प्रकरणमें मिलता है।
१८. १४ अधिष्ठानं तथा कर्ता० श्लोक।	शांति. (३४७. ८७); नारायणीय धर्ममें अक्षरशः मिलता है।

उक्त तुलनासे यह बोध होता है, कि २७ पूरे श्लोक और १२ श्लोकार्ध, गीता तथा महाभारतके भिन्न प्रकरणोंमें – कहीं कहीं तो अक्षरशः और कहीं कहीं कुछ पाठांतर होकर – एकहीसे हैं; और, यदि पूरी तौरसे जाँच की जावें, तो औरभी कुछ श्लोकों तथा श्लोकार्धोंका मिलना संभव है। यदि यह देखना चाहें, कि दो-दो अथवा तीन-तीन शब्द अथवा श्लोकके चतुर्थांश (चरण) गीता और महाभारतमें कितने स्थानोंपर एक-से हैं, तो उपर्युक्त तालिका कहीं अधिक बढ़ानी होगी।* परंतु इस शब्द-साम्यके अतिरिक्त केवल उपर्युक्त तालिकाके श्लोक-सादृशका विचार करें,

*यदि इस दृष्टिसे संपूर्ण महाभारत देखा जाय, तों गीता और महाभारतमें समान श्लोकपाद अर्थात् चरण सौंसेभी अधिक दीख पड़ेंगे। उनमेंसे कुछ यहाँ दिये जाते हैं – किं भोगैर्जीवितेन वा (गीता १. ३२) नैतत्त्वय्युपपद्यते (गीता २. ३), त्रायते महतो भयात् (२. ४०), अशांतस्य कुतः सुखम् (२. ६६), उत्सीदेयुरिमे लोकाः (३. २४), मनो दुर्निग्रहं चलम् (६. ३५), ममात्मा भूतभावनः (९. ५), मोघाशा मोघकर्माणः (९. १२), समः सर्वेषु भूतेषु (९. २९), दीप्तानलार्कद्युतिं (११. १७), सर्वभूतेहिते रताः (१२. ४), तुल्यनिंदा स्तुतिः (१२. १९), संतुष्टो येनकेनचित् (१२. १९), समलोष्टाश्मकांचनः (१४. २४); त्रिविधा कर्मचोदना (१८. १८); निर्ममः शांतः (१८. ५३), ब्रह्म-भूयाय कल्पते (१८. ५३) इत्यादि।

तो बिना यह कहे नहीं रहा जा सकता, कि महाभारतके अन्य प्रकरण और गीता, ये दोनों एकही लेखनीके फल हैं। यदि प्रत्येक प्रकरणपर विचार किया जाय, तो यह प्रतीत हो जायगा, कि उपर्युक्त ३३ श्लोकोंमेंसे १ मार्कंडेय प्रश्नमें, आधा मार्कंडेय-समस्यामें, १ ब्राह्मण-व्याध-संवादमें, २ विदुर-नीतिमें, १ सनत्सुजातीयमें १ मनु-बृहस्पति-संवादमें, ६॥ शुकानुप्रश्नमें, १ तुलाधार-जाजलि-संवादमें, १ वसिष्ठ-कराल और याज्ञवल्क्य-जनक-संवादमें, १॥ नारायणीय धर्ममें, २॥ अनुगीतामें और शेष भीष्म, द्रोण, कर्ण, तथा स्त्रीपर्वमें उपलब्ध हैं। इनमेंसे प्रायः सब जगह ये श्लोक पूर्वापर संदर्भके उक्त उचित स्थानोंपरही मिलते हैं – प्रक्षिप्त नहीं हैं; और यहभी प्रतीत होता है, कि इनमेंसे कुछ श्लोक गीताहीमें समारोप दृष्टिसे लिये गये हैं। उदाहरणार्थ, 'सहस्रयुगपर्यंतम्' (गीता. ८. १७) इस श्लोकके स्पष्टीकरणार्थ वर्ष और युगकी व्याख्या पहले बतलाना आवश्यक था; और महाभारत (शां. २३१) तथा मनुस्मृतिमें इस श्लोकके पहले उनके लक्षणभी कहे गये हैं। परंतु गीतामें यह श्लोक, 'युग' आदिकी व्याख्या न बतला कर, एकदम कहा गया है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर यह नहीं कहा जा सकता, कि महाभारतके अन्य प्रकरणोंमें ये श्लोक गीताहीसे उद्धृत किये गये हों; और, इतने भिन्न भिन्न प्रकरणोंमेंसे गीतामें इन श्लोकोंका लिया जानाभी संभव नहीं है। अतएव, यही कहना पड़ता है, कि गीता और महाभारतके इन प्रकरणोंका लिखनेवाला कोई एकही पुरुष होना चाहिये। यहाँ यह बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है, कि जिस प्रकार मनुस्मृतिके कई श्लोक महाभारतमें मिलते हैं,* उसी प्रकार गीताका 'सहस्रयुग-पर्यंतम्' (८. १७) यह पूर्ण श्लोक कुछ हेरफेरके साथ, और यह श्लोकार्ध – "श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्" (गीता ३. ३५; १८.४७) 'श्रेयान्'के बदले 'वरं' पाठांतर होकर – मनुस्मृतिमें पाया जाता है, तथा 'सर्वभूतस्थ-मात्मानम्' यह श्लोकार्धभी (गीता ६. २९) 'सर्वभूतेषु चात्मानम्' इस रूपसे मनुस्मृतिमें पाया जाता है (मनु. १. ७३; १०. ९७; १२. ९१)। महाभारतके अनुशासनपर्वमें तो 'मनुनाभिहितं शास्त्रम्' (अनु. ४७. ३५) कहकर मनुस्मृतिका स्पष्ट रीतिसे उल्लेख किया गया है।

शब्द-सादृश्यके बदले यदि अर्थ-सादृश्य देखा जाय, तोभी उक्त अनुमान दृढ़ हो जाता है। पिछले प्रकरणोंमें गीताके कर्मयोग-मार्ग और प्रवृत्ति प्रधान भागवत-धर्म या नारायणीय धर्मकी समताका दिग्दर्शन हम करही चुके हैं। नारायणीय धर्ममें व्यक्त-

---

* 'प्राच्यधर्म-पुस्तकमाला'में मनुस्मृतिका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। उसमें बुलर साहबने एक फेहरिस्त जोड़ दी है, और यहभी बतलाया है, कि मनुस्मृतिके कौन कौन-से श्लोक महाभारतमें मिलते हैं। (S. B. E. Vol. XXV, p. 533 §§ देखो).

सृष्टिकी उपपत्तिकी जो यह परंपरा बतलाई गई है, (मभा. शां. ३३९. ७१, ७२), कि वासुदेवसे संकर्षण, संकर्षणसे प्रद्युम्न, प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध और अनिरुद्धसे ब्रह्मदेव हुए; वह गीतामें नहीं ली गई। इसके अतिरिक्त यहभी सच है, कि गीता-धर्म और नारायणीय धर्ममें अन्य अनेक भेद हैं। परंतु चतुर्व्यूह परमेश्वरकी कल्पना गीताको मान्य भलेही न हो; तथापि गीताके सिद्धान्तोंपर विचार करनेसे प्रतीत होता है, कि गीता-धर्म और भागवत-धर्म एकहीसे हैं। वे सिद्धान्त ये हैं – एकव्यूह वासुदेवकी भक्तिही राजमार्ग हैं; किसीभी अन्य देवताकी भक्ति की जाय, वह वासुदेवहीको अर्पण हो जाती है; भक्त चार प्रकारके होते हैं; स्वधर्मके अनुसार सब कर्म करके भगवद्भक्तको यज्ञचक्र जारी रखना चाहिये; और संन्यास लेना उचित नहीं है। यह पहले बतलाया जा चुका है, कि विवस्वान्-मनु, इक्ष्वाकु आदि सांप्रदायिक परंपराभी दोनों ओर एकही है। इसी प्रकार सनत्सुजातीय, शुकानुप्रश्न, याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद, अनुगीता इत्यादि प्रकरणोंको पढ़नेसे यह बात ध्यानमें आ जायगी, कि गीतामें वर्णित वेदान्त या अध्यात्मज्ञानभी उक्त प्रकरणोंमें प्रतिपादित ब्रह्मज्ञानसे मिलता-जुलता है। कापिल-सांख्यशास्त्रके २५ तत्त्वों और गुणोत्कर्षके सिद्धान्तसे सहमत होकरभी भगवद्गीताने जिस प्रकार यह माना है, कि प्रकृति और पुरुषकेभी परे कोई नित्य-तत्त्व है; उसी प्रकार शांतिपर्वके वसिष्ठ-कराल-जनक-संवादमें और याज्ञवल्क्य-जनक-संवादमें विस्तारपूर्वक यह प्रतिपादन किया गया है, कि सांख्योंके २५ तत्त्वोंके परे एक 'छब्बीसवाँ' तत्त्व और हैं, जिसके ज्ञानके बिना कैवल्य प्राप्त नहीं होता। यह विचार-सादृश्य केवल कर्मयोग या अध्यात्म इन्हीं दो विषयोंके संबंधमें नहीं दीख पड़ता; किंतु इन दो मुख्य विषयोंके अतिरिक्त गीतामें जो अन्याय विषय हैं, उनकी बराबरीके प्रकरणभी महाभारतमें कई जगह पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, गीताके पहले अध्यायके आरंभमेंही द्रोणाचार्यसे दोनों सेनाओंका जैसा वर्णन दुर्योधनने किया है, ठीक वैसाही आगे भीष्मपर्वके ५१ वें अध्यायमें, उसने फिरसे द्रोणाचार्यसे वर्णन किया है। पहले अध्यायके उत्तरार्धमें अर्जुनको जैसा विषाद हुआ, वैसाही आगे युधिष्ठिरको शांतिपर्वके आरंभमें हुआ है; और जब भीष्म तथा द्रोणका 'योगबल'से वध करनेका समय समीप आया, तब अर्जुनके मुखसे फिर वैसेही खेदयुक्त वचन निकले, हैं (मभा. भीष्म. ९७. ४–७; १०८. ८८–९४)। गीताके (गीता १. ३२, ३३) आरंभमें अर्जुनने कहा है, कि जिनके लिये उपभोग प्राप्त करना है, उन्हींका वध करके जय प्राप्त करे, तो उसका उपयोगही क्या होगा ? और जब युद्धमें सब कौरवोंका वध हो गया, तब यही बात दुर्योधनके मुखसेभी निकली है (मभा. शल्य. ३१. ४२–५१)। दूसरे अध्यायके आरंभमेंही जैसे सांख्य और कर्मयोग ये दोनों निष्ठाएँ बतलाई गई हैं, वैसेही नारायणीय धर्ममें और शांतिपर्वके जापकोपाख्यान तथा जनक-सुलभा-संवादमेंभी इन निष्ठाओंका वर्णन पाया जाता है (मभा. शां. १९६, ३२०)। तीसरे अध्यायके,

वनपर्वके आरंभमें द्रौपदीने युधिष्ठिरसे कहा है, कि अकर्मकी अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है; कर्म न किया जाय, तो उपजीविकाभी न हो सकेगी। सो यही बातें (मभा. वन. ३२); और इन्हीं तत्त्वोंका उल्लेख अनुगीतामेंभी फिरसे किया गया है। श्रौत-धर्म या स्मार्त-धर्म यज्ञमय है, यज्ञ और प्रजाको ब्रह्मदेवने एकही साथ निर्माण किया है, इत्यादि गीताका प्रवचन नारायणीय धर्मके अतिरिक्त शांतिपर्वके अन्य स्थानोंमें (शां. २६७) और मनुस्मृति (मनु. ३) मेंभी मिलता है। तुलाधार-जाजली-संवादमें तथा ब्राह्मण-व्याध-संवादमेंभी येही विचार मिलते हैं, कि स्वधर्मके अनुसार कर्म करनेमें कोई पाप नहीं है (मभा. शां. २६०–२६३; वन. २०६-२१५)। इसके सिवा, सृष्टिकी उत्पत्तिका जो थोड़ा वर्णन गीताके सातवें और आठवें अध्यायोंमें है, उसी प्रकारका वर्णन शांतिपर्वके शुकानुप्रश्नमेंभी पाया जाता है (शां. २३१); और छठे अध्यायमें पातंजलयोगके आसनोंका जो वर्णन है, उसीका फिरसे शुकानुप्रश्न (शां. २३९)में और आगे चलकर शांतिपर्वके ३००वें अध्यायमें तथा अनुगीतामेंभी विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है (अश्व. १९)। अनुगीताके गुरुशिष्य-संवादमें किये गये मध्यमोत्तम वस्तुओंके वर्णन (अश्व. ४३, ४४) और गीताके दसवें अध्यायके विभूति-वर्णनके विषयमें तो यह कहा जा सकता है, कि इन दोनोंका प्राय: एकही अर्थ है। महाभारतमें कहा है, कि गीतामें भगवानने अर्जुनको जो विश्वरूप दिखलाया था, वही संधि-प्रस्तावके समय दुर्योधन आदि कौरवोंको, और युद्धके बाद द्वारकाको लौटते समय मार्गमें उत्तंकको भगवानने दिखलाया; और नारायणने नारदको तथा दाशरथि रामने परशुरामको दिखलाया (उ. १३०; अश्व. ५५; शां. ३३९; वन ९९)। इसमें संदेह नहीं, कि गीताका विश्वरूप-वर्णन इन चारों स्थानोंके वर्णनोंसे कहीं अधिक सुरस और विस्तृत है; परंतु सब वर्णनोंको पढ़नेसे यह सहजही मालूम हो जाता है, कि अर्थ-सादृश्यकी दृष्टिसे उनमें कोई नवीनता नहीं है। गीताके चौदहवें और पंद्रहवें अध्यायोंमें इन बातोंका निरूपण किया गया है, कि सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंके कारण सृष्टिमें भिन्नता कैसे उत्पन्न होती है; इन गुणोंके लक्षण क्या हैं; और सब कर्तृत्व गुणोंहीका है, आत्माका नहीं; ठीक इसी प्रकार इन तीनोंका वर्णन अनुगीता (अश्व. ३६–३९) और शांतिपर्वमेंभी अनेक स्थानोंमें पाया जाता है (शां. २८५, ३३०–३११); सारांश, गीतामें जिस प्रसंगका वर्णन किया गया है, उसके अनुसार उसमें कुछ विषयोंका विवेचन अधिक विस्तृत हो गया है, और गीताकी विषय-विवेचन-पद्धतिभी कुछ भिन्न है; तथापि यह दीख पड़ता है, कि गीताके सब विचारोंसे समानता रखनेवाले विचार महाभारतमेंभी पृथक् पृथक्, कहीं-न-कहीं, न्यूनाधिक पायेही जाते हैं; और यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं, कि विचार-सादृश्यके साथ-ही-साथ थोड़ीबहुत समता शब्दोंमेंभी आप-ही आप आ जाती है। मार्गशीर्ष महीनेके संबंधकी सादृश्यता तो बहुतही विलक्षण है। गीतामें " मासानां मार्गशीर्षोऽहम् "

(गीता १०. ३५) कहकर इस मासको जिस प्रकार पहला स्थान दिया है, उसी प्रकार अनुशासनपर्वके दानधर्म-प्रकरणमें जहाँ उपवासके लिये महीनोंके नाम बतलानेका मौक़ा दो बार आया है, वहाँ प्रत्येक बार मार्गशीर्षसेही महिनोंकी गिनती आरंभ की गई है (अनु. १०६, १०९)। गीतामें वर्णित आत्मौपम्यकी या सर्वभूतहितकी दृष्टि, अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भेद तथा देवयान और पितृयान-गतिका उल्लेख महाभारतके अनेक स्थानोंमें पाया जाता है, परंतु पिछले प्रकरणोंमें इनका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है; अतएव यहाँपर पुनरुक्तिकी आवश्यकता नहीं।

भाषा-सादृश्यकी ओर देखिये, या अर्थ-सादृश्यपर ध्यान दीजिये, अथवा गीताके विषय महाभारतमें जो छः-सात उल्लेख मिलते हैं, उन पर विचार कीजिये; अनुमान यही करना पड़ता है, कि गीता वर्तमान महाभारतकाही एक भाग है; और जिस पुरुषने वर्तमान महाभारतकी रचना की है, उसीने वर्तमान गीताकाभी वर्णन किया है। हमने देखा है, कि इन सब प्रमाणोंकी ओर ध्यान न देकर अथवा किसी तरह उनका अटकल-पच्चू अर्थ लगाकर, कुछ लोगोंने गीताको प्रक्षिप्त सिद्ध करनेका का यत्न किया है। परंतु जो लोग बाह्य प्रमाणोंको नहीं मानते; और अपने-ही संशयरूपी पिशाचको अग्रस्थान दिया करते हैं, हमारे मतसे, उनकी विचार-पद्धति सर्वथा अशास्त्रीय अतएव अग्राह्य है। हाँ, यदि इस बातकी उपपत्तिही मालूम न होती, कि गीताको महाभारतमे क्या स्थान दिया गया है, तो बात कुछ और थी। परंतु जैसे कि इस प्रकरणके आरंभमें बतला दिया गया है; गीता केवल वेदान्त-प्रधान अथवा भक्ति-प्रधान नहीं है; किंतु महाभारतमें जिन प्रमाणभूत श्रेष्ठ पुरुषोंके चरित्रोंका वर्णन किया गया है, उनके चरित्रोंका नीति-तत्त्व या मर्म बतलानेके लिये महाभारतमें कर्मयोग-प्रधान गीताका निरूपण अत्यंत आवश्यक था; और वर्तमान समयमें महाभारतके जिस स्थानपर वह पाई जाती है, उससे बढ़कर, काव्य-दृष्टि-सेभी कोई अधिक योग्य स्थान उसके लिये दीख नहीं पड़ता। इतना सिद्ध होनेपर अंतिम सिद्धान्त यही निश्चित होता है, कि गीता महाभारतमें उचित कारणसे और उचित स्थानपरही कही गई है -- वह प्रक्षिप्त नहीं है। महाभारतके समानही रामा-यणभी सर्वमान्य और उत्कृष्ट आर्ष महाकाव्य है; और उसमेंभी कथा-प्रसंगानुसार सत्य, पुत्रधर्म, मातृधर्म, रणधर्म, आदिका मार्मिक विवेचन है। परंतु यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं, कि वाल्मीकि ऋषिका मूल हेतु अपने काव्यको महाभारतके समान "अनेकसमयान्वित, सूक्ष्म धर्म-अधर्मके न्यायोंसे ओतप्रोत, और सब लोगोंको शील तथा सच्चरितकी शिक्षा देनेमें सब प्रकारसे समर्थ" बनानेका नहीं था, इसलिये धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य या नीतिकी दृष्टिसे महाभारतकी योग्यता रामायणसे कहीं बढ़कर है। महाभारत केवल आर्ष काव्यका केवल इतिहास नहीं है; किंतु वह एक संहिताही है, जिसमें धर्म-अधर्मके सूक्ष्म प्रसंगोंका निरूपण किया गया है; और

यदि इस धर्म-संहितामें कर्मयोगका शास्त्रीय तथा तात्त्विक विवेचन न किया जाय, तो फिर वह कहाँ किया जा सकता है? केवल वेदान्त-ग्रंथोंमें यह विवेचन नहीं किया जा सकता। उसके लिये योग्य स्थान धर्मसंहिताही है, और यदि महाभारत-कारने यह विवेचन न किया होता, तो यह धर्म-अधर्मका वृहत् संग्रह अथवा पाँचवाँ वेद उतनाही अपूर्ण रह जाता। इस अपूर्णताकी पूर्ति करनेके लियेही भगवद्गीता महाभारतमें रखी गई है। सचमुच यह बड़ा भाग्य है, कि इस कर्मयोगशास्त्रका मंडन महाभारतका जैसे उत्तम ज्ञानी सत्पुरुषनेही किया है, जो वेदान्तशास्त्रके समानही व्यवहारमें भी अत्यंत निपुण ।

इस प्रकार सिद्ध हो चुका, कि वर्तमान भगवद्गीता प्रचलित महाभारतहीका एक भाग है; तथापि अब उसके अर्थका कुछ अधिक स्पष्टीकरण करना चाहिये। भारत और महाभारत इन दो शब्दोंको हम लोग आजकल समानार्थक समझते हैं; परंतु वस्तुतः वे दो भिन्न भिन्न शब्द हैं। व्याकरणकी दृष्टिसे देखा जाय, तो 'भारत' नाम उस ग्रंथको प्राप्त हो सकता है, जिसमें भरतवंशी राजाओंके परा-क्रमका वर्णन हो। रामायण, भागवत आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति ऐसीही है; और, इस रीतिसे भारतीय युद्धका; जिस ग्रंथमें वर्णन है, उसे केवल 'भारत' कहना यथेष्ट हो सकता है; फिर वह ग्रंथ चाहे जितना विस्तृत हो। रामायण ग्रंथभी कुछ छोटा नहीं है; परंतु उसे कोई महारामायण नहीं कहता। फिर भारतहीको 'महाभारत' क्यों कहते हैं? महाभारतके अंतमें यह बतलाया है, कि महत्त्व और भारतत्व इन दो गुणोंके कारण इस ग्रंथको महाभारत नाम दिया गया है (स्वर्गा. ५. ४४)। परंतु 'महाभारत'का सरल शब्दार्थ 'बड़ा भारत' होता है; और ऐसा अर्थ करनेसे यह प्रश्न उठता है, कि 'बड़े' भारतके पहले क्या कोई 'छोटा' भारतभी था? और, उसमें गीता थी या नहीं? वर्तमान महाभारतके आदिपर्वमें लिखा है, कि उपाख्यानोंके अतिरिक्त महाभारतके श्लोकोंकी संख्या चौबीस हज़ार है (मभा. आ. १. १०१); और आगे चलकर यहभी लिखा है, कि पहले इसीका नाम 'जय' था (आ. ६२. २०)। 'जय' शब्दसे भारतीय युद्धमें पांडवोंकी जयका बोध होता है; और ऐसा अर्थ करनेसे यही प्रतीत होता है, कि भारतीय युद्धका वर्णन 'जय' नामक ग्रंथमें पहले किया गया था; आगे चलकर उसी ऐतिहासिक ग्रंथमें अनेक उपाख्यान जोड़ दिये गये; और इस प्रकार महाभारत एक बड़ा ग्रंथ हो गया, जिसमें इतिहास और धर्म-अधर्म विवेचनकाभी निरूपण किया गया है। आश्वलायन गृह्यसूत्रोंके ऋषितर्पणमें "सुमंतु-जैमिनी-वैशंपायन-पैल-सूत्र-भाष्यभारत-महाभारत धर्माचार्याः" (आ. गृ. ३. ४. ४) इस प्रकार भारत और महाभारत इन दो भिन्न भिन्न ग्रंथोंका स्पष्ट उल्लेख किया गया है; उनसेभी उक्त अनुमानही दृढ़ हो जाता है। इस प्रकार छोटे भारतका बड़े भारतमें समावेश हो जानेमें कुछ कालके बाद, छोटा 'भारत' नामक स्वतंत्र ग्रंथ शेष नहीं रहा; और स्वभावतः लोगोंमें

यह समझ हो गई, केवल 'महाभारत' ही एक भारत-ग्रंथ है। वर्तमान महाभारतकी पोथीमेंभी यह वर्णन मिलता है, कि व्यासजीने पहले अपने पुत्र – शुक – को और अनंतर अपने अन्य शिष्योंको भारत पढ़ाया था (आ. १. १०३); और आगे यहभी कहा, कि सुमंतु, जैमिनि, पैल, शुक और वैशंपायन इन पाँच शिष्योंने पाँच भिन्न भिन्न भारतसंहिताओंकी अथवा महाभारतोंकी रचना की (आ. ६३. ९०)। इस विषयमें यह कथा पाई जाती है, कि इन पाँच महाभारतोंमेंसे वैशंपायनके महाभारतको और जैमिनीके महाभारतसे केवल अश्वमेधपर्वहीको व्यासजीने रख लिया। इससे अब यहभी मालूम हो जाता है, कि ऋषितर्पणमें 'भारत-महाभारत' शब्दोंके पहले सुमंतु आदि नाम क्यों रखे गये हैं। परंतु यहाँ इस विषयके इतने गहरे विचारका कोई प्रयोजन नहीं। रा. ब. चिंतामणराव वैद्यने महाभारतके अपने टीका-ग्रंथमें इस विषयका विचार करके जो सिद्धान्त स्थापित किया है, वही हमें संयुक्तिक मालूम होता है। अतएव यहाँ परइतना कह देनाही यथेष्ट होगा, कि वर्तमान समयमें जो महाभारत उपलब्ध है, वह मूलमें वैसाहीं न था; भारत या महाभारतके अनेक रूपांतर हो गये हैं; और उस ग्रंथको जो अंतिम स्वरूप प्राप्त हुआ, वह हमारा वर्तमान महाभारत है। यह नहीं कहा जा सकता, कि मूल भारतमेंभी गीता न रही होगी। हाँ, यह प्रकट है कि सनत्सुजातीय, विदुरनीति, शुकानुप्रश्न, याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद, विष्णुसहस्रनाम, अनुगीता, नारायणीय धर्म आदि प्रकरणोंके समानही वर्तमान गीताकोभी महाभारतकारने पहले ग्रंथोंके आधारपरही लिखा है – नई रचना नहीं की है। तथापि, यहभी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, कि मूल गीतामें महाभारतकारने कुछभी हेरफेर न किया होगा। उपर्युक्त विवेचनसे यह बात सहजही समझमें आ सकती है, कि वर्तमान सात सौ श्लोकोंकी गीता वर्तमान महाभारतहीका एक भाग है; दोनोंकी रचनाभी एकनेही की है; और वर्तमान महाभारतमें वर्तमान गीताको किसीने बादमें मिला नहीं दिया है। आगे यहभी बतलाया जायगा, कि वर्तमान महाभारतका समय कौन-सा है, और मूल गीताके विषयमें हमारा मत क्या है।

भाग २ – गीता और उपनिषद्

अब देखना चाहिये, कि गीता और भिन्न भिन्न उपनिषदोंका परस्पर संबंध क्या है। वर्तमान महाभारतहीमें स्थान-स्थानपर सामान्य रीतिसे उपनिषदोंका उल्लेख किया गया है; और बृहदारण्यक (बृ. १. ३) तथा छांदोग्य (छां. १. २)में वर्णित प्राणेंद्रियोंके युद्धका हालभी अनुगीता (अश्व. २३)मेंभी है; तथा "न मे स्तेनो जनपदे" आदि कैकेय-अश्वपति राजाके मुखसे निकले हुए शब्दभी (छा. ५. ११. ५) शांतिपर्वमें उक्त राजाकी कथाका वर्णन करते समय ज्यों-के-त्यों पाये जाते हैं (शां. ७७. ८)। इसी प्रकार शांतिपर्वके जनक-पंचशिख-संवादमें

बृहदारण्यक (बृ. ४. ५. १३) का यह विषय मिलता है, कि ' न प्रेत्य संज्ञास्ति ' – मरनेपर ज्ञातको कोई संज्ञा नहीं रहती, क्योंकि वह ब्रह्ममें मिल जाता है ; और वहीं अंतमें प्रश्न (प्रश्न. ६. ५) तथा मुंडक (मुं. ३. २. ८) उपनिषदोंमें वर्णित नदी और समुद्रका दृष्टान्त नाम-रूपसे विमुक्त पुरुषके विषयमें दिया गया है। इंद्रियोंको घोड़े कह कर ब्राह्मण-व्याध-संवाद (वन. २१०) में और अनुगीतामें बुद्धिको सारथीकी जो उपमा दी गई है, वहीभी कठोपनिषद्सेही ली गई है (कठ. १. ३. ३); और कठोपनिषद्के ये दोनों श्लोक – " एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा " (कठ. ३. १२) और " अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात् " (कठ. २. १४) - भी शांतिपर्वमें दो स्थानोंपर (शां. १८७. २९; ३३१. ४४) कुछ फेरफारके साथ पाये जाते हैं। श्वेताश्वतरका ' सर्वतः पाणिपादम् ' श्लोकभी, जैसा कि पहले कह चुके हैं, महाभारतमें अनेक स्थानोंपर और गीतामेंभी मिलता है। परंतु केवल इतनेहीसे यह सादृश पूरा नहीं हो जाता, इनके सिवा उपनिषदोंके औरभी बहुत-से वाक्य महाभारतमें कई स्थानोंपर मिलते हैं। यही क्यों; यहभी कहा जा सकता है, कि महाभारतका अध्यात्मज्ञान प्रायः उपनिषदोंसेही लिया गया है।

गीतारहस्यके नवें और तेरहवें प्रकरणोंमें हमने विस्तारपूर्वक दिखला दिया है, कि महाभारतके समानही भगवद्गीताका अध्यात्मज्ञानभी उपनिषदोंके आधार-पर स्थापित है; और गीतामें भक्ति-मार्गका जो वर्णन है, वहभी इस ज्ञानसे अलग नहीं है। अतएव यहाँ उसको दुबारा न लिखकर संक्षेपमें सिर्फ़ यही बतलाते हैं, कि गीताके द्वितीय अध्यायमें वर्णित आत्माका अशोच्यत्व, आठवें अध्यायका अक्षर-ब्रह्मस्वरूप और तेरहवें अध्यायका क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार तथा विशेष करके 'ज्ञेय' पर-ब्रह्मका स्वरूप – इन सब विषयोंका वर्णन गीतामें अक्षरशः उपनिषदोंके आधारपरही किया गया है। कुछ उपनिषद् गद्यमें हैं और कुछ पद्यमें हैं। उनमेंसे गद्यात्मक उप-निषदोंके वाक्योंको पद्यमय गीतामें ज्यों-का-त्यों उद्धृत करना संभव नहीं; तथापि जिन्होंने छांदोग्योपनिषद् आदिको पढ़ा है, उनके ध्यानमें यह बात सहजही आ जायगी, कि " जो है सो है; और जो नहीं, हो नहीं " (गीता २. १६) तथा " यं यं वापि स्मरन् भावम्० " (गीता ८. ६) इत्यादि विचार छांदोग्योपनिषदसे लिये गये हैं; और " क्षीणे पुण्ये " (गीता ९. २१), " ज्योतिषां ज्योतिः " (गीता १३.१७) तथा " मात्रास्पर्शाः " (गीता २. १४) इत्यादि विचार और वाक्य बृहदारण्यक उपनिषदसे लिये गये हैं। परंतु गद्यात्मक उपनिषदोंको छोड़ जब पद्या-त्मक उपनिषदोंपर विचार करते हैं, तो यह समता इससेभी अधिक स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि इन पद्यात्मक उपनिषदोंके कुछ श्लोक ज्यों-के त्यों भगवद्गीतामें उद्धृत किये गये हैं। उदाहरणार्थ, कठोपनिषदके छः-सात श्लोक अक्षरशः अथवा कुछ शब्दभेदसे गीतामें लिये गये हैं। गीताके द्वितीय अध्यायका "आश्चर्यवत्पश्यति०" (गीता. २. २९) श्लोक, कठोपनिषद्की द्वितीय वल्लीके " आश्चर्यो वक्ता० "

(कठ. २. ७) श्लोकके समान है; और " न जायते म्रियते वा कदाचित्० " (गीता २. २०) श्लोक तथा " यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरंति० " (गीता ८. ११) श्लोकार्ध, गीता और कठोपनिषद्‌में अक्षरशः एकही हैं (कठ. २. १९; २. १५)। यह पहलेही बतला दिया गया है, कि गीताका " इंद्रियाणि पराण्याहु० " (गीता ३. ४२) श्लोक कठोपनिषदसे (कठ. ३. १०) लिया गया है। इसी प्रकार गीताके पंद्रहवें अध्यायमें वर्णित अश्वत्थ वृक्षका रूपक कठोपनिषदसे और " न तद्भासयते सूर्यो० " (गीता १५. ६) श्लोक कठ तथा श्वेताश्वतर उपनिषदोंसे शब्दोंमें कुछ फेरफार करके लिया गया है। " श्वेताश्वतर उपनिषदकी अन्य बहुतेरी कल्पनाएँ तथा श्लोकभी गीतामें पाये जाते हैं। नवें प्रकरणमें कह चुके हैं, कि माया शब्दका प्रयोग पहले पहल श्वेताश्वेतरोपनिषदमें हुआ है; और वहींसे वह गीता तथा महाभारतमें लिया गया होगा। शब्द-सादृश्यसे यहभी प्रकट होता है, कि गीताके छठे अध्यायमें योगाभ्यासके लिये योग्य स्थलका जो यह वर्णन किया गया है – " शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य० " (गीता ६. ११) – वह श्वेताश्वतरोपनिषदके " समे शुचौ " आदि (श्वे. २. १०) मंत्रसे लिया गया है, और " समं कायशिरोग्रीवं " (गीता ६. १३) ये शब्दभी श्वेताश्वतरोपनिषदके " तिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम् " (श्वे. २. ८) मंत्रसे लिये हैं। इसी प्रकार " सर्वतः पाणिपादं " श्लोक तथा उसके आगेका श्लोकार्धभी गीता (गीता १३. १३) और श्वेताश्वतरोपनिषदमें शब्दशः मिलते हैं (श्वे. ३. १६); और " अणोरणीयांसं " तथा " आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् " पदभी गीतामें (८. ९) और श्वेताश्वतरोपनिषद् (श्वे. ३. ९. २०) में एकहीसे हैं। इनके अतिरिक्त गीता और उपनिषदोंका शब्द-सादृश्य यह है, कि " सर्वभूतस्थमात्मानम् " (गीता ६. २९) और " वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो " (गीता १५. १५) ये दोनों श्लोकार्ध कैवल्योपनिषदमें (कैं. १. १०; २. ३) ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। परंतु इस शब्द-सादृश्यके विषयपर अधिक विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि इस बातका किसीकोभी संदेह नहीं है, कि गीताका वेदान्त-विषय उपनिषदोंके आधारपर प्रतिपादित किया गया है। हमें विशेष कर यही देखना है, कि उपनिषदोंके विवेचनमें और गीताके विवेचनमें कुछ अंतर है या नहीं; और यदि है, तो किस बातमें; अतएव अब उसीपर दृष्टि डालनी चाहिये।

उपनिषदोंकी सख्या बहुत ह। उनमेंसे कुछ उपनिषदोंकी भाषा तो इतनी अर्वाचीन है, कि उनका और पुराने उपनिषदोंका असमकालीन होना सहजही मालूम पड़ जाता है। अतएव गीता और उपनिषदोंमें प्रतिपादित विषयोंके सादृश्य का विचार करते समय, इस प्रकरणमें हमने प्रधानतासे उन्हीं उपनिषदोंको तुलनाके लिये लिया है, जिनका उल्लेख ब्रह्मसूत्रोंमें है। इन उपनिषदोंके अर्थको और गीताके अध्यायत्मको जब हम मिलाकर देखते हैं, तब प्रथम यही बोध होता है, कि यद्यपि दोनोंमें निर्गुण परब्रह्मका स्वरूप एक-सा है, तथापि निर्गुणसे सगुणकी उत्पत्तिका

वर्णन करते समय, 'अविद्या' शब्दके बदले 'माया' या 'अज्ञान' शब्दहीका उपयोग गीतामें किया गया है। नवें प्रकरणमें इस बातका स्पष्टीकरण कर दिया गया है, कि 'माया' शब्द श्वेताश्वतरोपनिषदमें आ चुका है; नामरूपात्मक अविद्याके लियेही यह दूसरा पर्याय शब्द है; तथा यहभी ऊपर बतला दिया गया है, कि श्वेताश्वतरोपनिषद्के कुछ श्लोक गीतामें अक्षरशः पाये जाते हैं। इससे पहला अनुमान यह किया जाता है, कि – "सर्व खल्विदं ब्रह्म" (छां. ३. १४. १) या "सर्वमात्मानं पश्यति" (बृ. ४. ४. २३) अथवा "सर्वभूतेषु चात्मानम्" (ईश. ६) इस सिद्धान्तका अथवा उपनिषदोंके सारे अध्यात्मज्ञानका यद्यपि गीतामें संग्रह किया गया है, तथापि गीता-ग्रंथ तब बना होगा, जब कि नामरूपात्मक अविद्याको उपनिषदोंमेंही 'माया' नाम प्राप्त हो गया होगा।

अब यदि इस बातका विचार करें, कि उपनिषदोंके और गीताके उपपादनमें क्या भेद है, तो दीख पड़ेगा, कि गीतामें कापिल-सांख्यशास्त्रको विशेष महत्त्व दिया गया है। बृहदारण्यक या छांदोग्य, दोनों उपनिषद् ज्ञान-प्रधान हैं; परंतु उनमें तो सांख्य-प्रक्रियाका नामभी दीख नहीं पड़ता; और कठ आदि उपनिषदोंमें यद्यपि अव्यक्त, महान् इत्यादि सांख्योंके शब्द आये हैं, तथापि यह स्पष्ट है, कि उनका अर्थ सांख्य-प्रक्रियाके अनुसार न करके वेदान्त-पद्धतिके अनुसार करना चाहियें। मैत्र्युपनिषदके उपपादनकोभी यही न्याय उपयुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार सांख्य-प्रक्रियाको बहिष्कृत करनेकी सीमा यहाँतक आ पहुँची है, कि वेदान्त-सूत्रोंमें पंचीकरणके बदले छांदोग्य उपनिषदके आधारपर त्रिवृत्करणहीसे सृष्टिके नामरूपात्मक वैचित्र्यकी उपपत्ति बतलाई गई है (वे. सू. २. ४. २०)। सांख्योंको एकदम अलग करके अध्यायके क्षर-अक्षरका विवेचन करनेकी यह पद्धति गीतामें स्वीकृत नहीं हुई है। तथापि स्मरण रहे, कि गीतामें सांख्योंके सिद्धान्त ज्यों-के-त्यों नहीं ले लिये गये हैं। त्रिगुणात्मक अव्यक्त प्रकृतिसे, गुणोत्कर्षके अनुसार, सारी व्यक्त-सृष्टिकी उत्पत्ति होनेके विषयमें सांख्योंके जो सिद्धान्त हैं, वे गीताको ग्राह्य हैं; और उनके इस मतसेभी गीता सहमत है, कि पुरुष निर्गुण हो कर द्रष्टा है। परंतु द्वैत-सांख्यज्ञानपर अद्वैत-वेदान्तका पहले इस प्रकार प्राबल्य स्थापित कर दिया है, कि प्रकृति और पुरुष स्वतंत्र नहीं हैं; वे दोनों उपनिषदमें वर्णित आत्मरूपी एकही परब्रह्मके रूप अर्थात् विभूतियाँ हैं; और फिर सांख्योंके क्षर-अक्षर-विचारका वर्णन गीतामें किया गया है। उपनिषदोंके ब्रह्मात्मैक्यरूप अद्वैत-मतके साथ स्थापित किया हुआ द्वैती सांख्योंके सृष्ट्युत्पत्तिक्रमका यह मेल गीताके समान महाभारतके अन्य स्थानोंमें किये हुए अध्यात्मविवेचनमेंभी पाया जाता है; और ऊपर जो अनुमान किया गया है, कि गीता और महाभारत, ये दोनों ग्रंथ एकही व्यक्तिके द्वारा रचे गये हैं, वह इस मेलसे औरभी दृढ हो जाता है।

उपनिषदोंकी अपेक्षा गीताके उपपादनमें जो दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है, वह व्यक्तोपासना अथवा भक्तिमार्ग है। भगवद्गीताके समानही उपनिषदोंमेंभी

केवल यज्ञयाग आदि कर्म ज्ञान-दृष्टिसे गौण माने गये हैं ; परंतु व्यक्त मानव-देहधारी ईश्वरकी उपासना प्राचीन उपनिषदोंमें नहीं दीख पड़ती। उपनिषत्कार इस तत्त्वसे सहमत हैं, कि अव्यक्त और निर्गुण परब्रह्मका आकलन होना कठिन है, इसलिये मन, आकाश, सूर्य, अग्नि, यज्ञ आदि सगुण प्रतीकोंकी उपासना करनी चाहिये। परंतु उपासनाके लिये प्राचीन उपनिषदोंमें जिन प्रतीकोंका वर्णन किया गया है, उनमें मनुष्यदेहधारी परमेश्वरके स्वरूपका प्रतीक नही बतलाया गया है। मैत्र्युपनिषद् (मै. ७. ७)में कहा है, कि रुद्र, शिव, विष्णु, अच्युत, नारायण, – ये सब परमात्माहीके रूप हैं। श्वेताश्वतरोपनिषदमें 'महेश्वर' आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं; और "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" (श्वे. ५. १३) अथवा "यस्य देवे परा भक्तिः" (श्वे. ६. २३) आदि वचनभी श्वेताश्वतरमें पाये जाते हैं। परंतु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, कि इन वचनोंके नारायण, विष्णु आदि शब्दोंसे विष्णुके मानव-देहधारी अवतारही विवक्षित हैं। कारण यह है, कि रुद्र और विष्णु ये दोनों देवता, वैदिक अर्थात् प्राचीन हैं; तब यह कैसे मान लिया जाय, कि "यज्ञो वै विष्णुः" (तै. सं. १. ७. ४) इत्यादि प्रकारसे प्राचीन यज्ञयागहीको विष्णुकी उपासनाका जो स्वरूप आगे दिया गया है, वही उपर्युक्त उपनिषदोंका अभिप्राय नहीं होगा? तथापि यदि कोई कहे, कि मानव-देहधारी अवतारोंकी कल्पना उस समयभी होगी, तो वहभी बिलकुलही असंभव नहीं है। क्योंकि, श्वेताश्वतरोपनिषदमें जो 'भक्ति' शब्द है, उसे यज्ञरूपी उपासनाके विषयमें प्रयुक्त करना ठीक नहीं जँचता। यह बात सच है, कि महानारायण, नृसिंहतापनी, रामतापनी, तथा गोपालतापनी आदि उपनिषदोंके वचन श्वेताश्वतरोपनिषदके वचनोंकी अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट हैं, इसलिये उनके विषयमें उक्त प्रकारकी शंका करनेके लिये कोई स्थानही नहीं रह जाता। परंतु इन उपनिषदोंका काल निश्चित करनेके लिये ठीक ठीक साधन नहीं है, इसलिये इन उपनिषदोंके आधारपर यह प्रश्न ठीक तौरसे हल नहीं किया जा सकता, कि वैदिक धर्ममें मानवदेहधारी विष्णुकी भक्तिका उदय कब हुआ? तथापि अन्य रीतिसे वैदिक भक्ति-मार्गकी प्राचीनता अच्छी तरह सिद्ध की जा सकती है। पाणिनीका एक सूत्र है 'भक्तिः' – अर्थात् जिसमें भक्ति हो (पा. ४. ३. ९५); इसके आगे "वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्" (पा. ४. ३. ९८) सूत्रमें कहा गया है, कि जिसकी वासुदेवमें भक्ति हो, उसे 'वासुदेवक' और जिसकी अर्जुनमें भक्ति हो, उसे 'अर्जुनक' कहना चाहिये; और पतंजलिके महाभाष्यमें इसपर टीका करते समय कहा गया है, कि इस सूत्रमें 'वासुदेव' क्षत्रियका या भगवानका नाम है। इन ग्रंथोंमेंसे पातंजलभाष्यके विषयमें डॉक्टर भांडारकरने यह सिद्ध किया है, कि वह ईसाई सनके लगभग ढ़ाई सौ वर्ष पहले बना है; और इसमें तो संदेह नहीं, कि पाणिनीका काल इससेभी अधिक प्राचीन है। इसके सिवा भक्तिका उल्लेख बौद्ध धर्म-ग्रंथोंमेंभी किया गया है, और हमने आगे चलकर विस्तारपूर्वक बतलाया है, कि बौद्ध धर्मके महायान पंथमें भक्तिके

तत्त्वोंका प्रवेश होनेके लिये श्रीकृष्णका भागवत-धर्मही कारण हुआ होगा। अतएव यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि कम-से कम बुद्धके पहले – अर्थात् ईसाई सनके पहले लगभग छः सौसे अधिक वर्ष - हमारे यहाँका भक्ति-मार्ग पूरी तरह स्थापित हो गया था। नारद-पंचरात्र या शांडिल्य अथवा नारदके भक्ति-सूत्र उसके बादके हैं। परंतु उससे भक्ति-मार्ग अथवा भागवत धर्मकी प्राचीनतामें कुछभी बाधा हो नहीं सकती। गीतारहस्यमें किये गये विवेचनसे ये बातें स्पष्ट विदित हो जाती हैं, कि प्राचीन उपनिषदोंमें जिन सगुणोपासनाओंका वर्णन है, उसीसे क्रमशः हमारा भक्ति-मार्ग निकला है; पांतजलयोगमें चित्तको स्थिर करनेके लिये किसी-न-किसी व्यक्त और प्रत्यक्ष वस्तुको दृष्टिके सामने रखना पड़ता है, इसलिये उससे भक्ति-मार्गकी ओरभी पुष्टि हो गई है; भक्ति-मार्ग किसी अन्य स्थानसे हिंदुस्थानमें नहीं लाया गया है और न उसे कहींसे लानेकी आवश्यकताभी थी। हिंदुस्थानहीमें इस प्रकारसे प्रादुर्भूत भक्ति-मार्गका और विशेषतः वासुदेव-भक्तिका उपनिषदोंमें वर्णित वेदान्तकी दृष्टिसे मंडन करनाही गीताके प्रतिपादनका एक विशेष भाग है।

परंतु गीताका इससेभी अधिक महत्त्वपूर्ण भाग, कर्मयोगके साथ भक्ति और ब्रह्मज्ञानका मेल कर देनाही है। चातुर्वर्ण्यके अथवा श्रौतयज्ञयाग आदि कर्मोंको यद्यपि उपनिषदोंने गौण माना है, तथापि कुछ उपनिषत्कारोंका कथन है, कि उन्हें चित्त-शुद्धिके लिये तो करनाही चाहिये, और चित्त-शुद्धि होनेपरभी उन्हें छोड़ देना उचित नहीं। इतना होनेपरभी कहना चाहिये कि अधिकांश उपनिषदोंका झुकाव सामान्यतः कर्मसंन्यासकी ओरही है। ईशावास्योपनिषदके समान कुछ अन्य उपनिषदोंमेंभी "कुर्वन्नेवेह कर्मणि" जैसे आमरण कर्म करते रहनेके विषयमें वचन पाये जाते हैं; परंतु अध्यात्मज्ञान और सांसारिक कर्मोंके बीचका विरोध मिटाकर प्राचीन कालसे प्रचलित इस कर्मयोगका समर्थन जैसा गीतामें किया गया है, वैसा किसीभी अन्य उपनिषदमें नहीं पाया जाता। अथवा यहभी कहा जा सकता है, कि इसी विषयमें गीताका सिद्धान्त अधिकांश उपनिषत्कारोंके सिद्धान्तोंसे भिन्न है। गीतारहस्यके ग्यारहवें प्रकरणमें इस विषयका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है, इसलिये उसके बारेमें यहाँ अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं।

गीताके छठे अध्यायमें जिस योग-साधनका निर्देश किया गया है, उसका विस्तृत और ठीक ठीक विवेचन पांतजल-योग-सूत्रोंमें पाया जाता है; और इस समय ये सूत्रही इस विषयके प्रमाणभूत ग्रंथ समझे जाते हैं। इन सूत्रोंके चार अध्याय हैं। पहले अध्यायके आरंभमें ही योगकी व्याख्या इस प्रकार की गई है, कि "योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः"; और यह बतलाया गया है, कि "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः"– यह निरोध अभ्यास तथा वैराग्यसे किया जा सकता है। आगे चलकर यमनियम-आसन-प्राणायाम आदि योगसाधनोंका वर्णन करके तीसरे और चौथे अध्यायोंमें इस बातका निरूपण किया है, कि 'असंप्रज्ञात' अर्थात् निर्विकल्प समाधिसे अणिमा-

लघिमा आदि अलौकिक सिद्धियाँ और शक्तियाँ प्राप्त होती हैं; तथा इसी समाधीसे अंतमें ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिल जाता है। भगवद्‌गीतामेंभी पहले चित्तनिरोध करनेकी आवश्यकता (गीता ६.२०) बतलाई गई है। फिर कहा है, कि अभ्यास तथा वैराग्य इन दोनों साधनोंसे चित्तका निरोध करना चाहिये (गीता ६. ३५); और अंतमें निर्विकल्प समाधि लगानेकी रीतिका वर्णन करके, यह दिखलाया है, कि उसमें क्या सुख है। परंतु केवल इतनेहीसे यह नहीं कहा जा सकेगा, कि पांतजलयोग-मार्गसे भगवद्‌गीता सहमत है; अथवा पांतजल-सूत्र भगवद्‌गीतासे प्राचीन हैं। पातंजल-सूत्रोंकी नाई भगवानने यह नहीं कहा है, कि समाधि सिद्ध होनेके लिये नाक पकड़े पकड़े सारी आयु व्यतीत कर देनी चाहिये। कर्मयोगकी सिद्धिके लिये बुद्धिकी समता होनी चाहिये; और इस समताकी प्राप्तिके लिये केवल साधनरूपसे चित्तनिरोध तथा समाधिका वर्णन गीतामें किया गया है। ऐसी अवस्थामें यही कहना चाहिये, कि इस विषयमें पातंजल-सूत्रोंकी अपेक्षा श्वेताश्वतरोपनिषद् या कठोपनिषदके साथ गीता अधिक मिलती-जुलती है। ध्यान-बिंदु, छुरिका और योगतत्त्व उपनिषदभी योगविषयकही हैं। परंतु उनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय केवल योग है; और उनमें सिर्फ़ योगहीकी महत्ताका वर्णन किया गया है, इसलिये केवल कर्मयोगको श्रेष्ठ माननेवाली गीतासे इन एकपक्षीय उपनिषदोंका मेल करना उचित नहीं; और न वह होही सकता है। थामसन साहबने गीताका अंग्रेजीमें जो अनुवाद किया है, उसके उपोद्‌घातमें आप कहते हैं, कि गीताका कर्मयोग पातंजलयोगहीका एक रूपांतर है, परंतु यह बात असंभव है। इस विषयपर हमारा यही कथन है, कि गीताके 'योग' शब्दका ठीक ठीक अर्थ समझमें न आनेके कारण यह भ्रम उत्पन्न हुआ है। क्योंकि इधर गीताका कर्मयोग प्रवृत्ति-प्रधान है, तो उधर पातंजल-योग बिलकुल उसके विरुद्ध अर्थात् निवृत्ति-प्रधान है। अतएव उनमेंसे एकका दूसरेसे प्रादुर्भूत होना कभी संभव नहीं; औरभी यह बात गीतामें कही नहीं गई है। इतनाही नहीं; यहभी कहा जा सकता है, कि योग शब्दका प्राचीन अर्थ 'कर्मयोग' था, और संभव है, कि वही शब्द पातंजल-सूत्रोंके अनंतर केवल 'चित्तनिरोधरूपी योग'के अर्थमें प्रचलित हो गया हो। चाहे जो हो; यह निर्विवाद सिद्ध है, कि प्राचीन समयमें जनक आदिने जिस निष्काम कर्माचरणके मार्गका अवलंबन किया था, उसीके सदृश गीताका योग अर्थात् कर्मयोगभी है; और वह मनु-इक्ष्वाकु आदि महानुभावोंकी परंपरासे चले हुए भागवत धर्मसे लिया गया है – वह कुछ पातंजलयोगसे उत्पन्न नहीं हुआ है।

अबतक किये गये विवेचनसे यह बात समझमें आ जागयी, कि गीता-धर्म और उपनिषदोंमें किन किन बातोंकी विभिन्नता और समानता है। इनमेंसे अधिकांश बातोंका विवेचन गीतारहस्यमें स्थान-स्थानपर किया जा चुका है। अतएव यहाँ संक्षेपमें यह बतलाया जाता है, कि यद्यपि गीतामें प्रतिपादित ब्रह्मज्ञान उपनिषदोंके आधारपरही बतलाया गया है, तथापि उपनिषदोंके अध्यात्मज्ञानकाही निरा अनुवाद

न कर, उसमें वासुदेव-भक्तिका और सांख्यशास्त्रमें वर्णित सृष्टयुत्पत्ति-क्रमका अर्थात् क्षराक्षर-ज्ञानकाभी समावेश किया गया है; और, उस वैदिक कर्मयोग-धर्महीका प्रधानतासे प्रतिपादन किया गया है, जो सामान्य लोगोंके लिये आचरण करनेमें सुगम हो; एवं इस लोक साथ परलोकमें श्रेयस्कर हो। उपनिषदोंकी अपेक्षा गीतामें जो कुछ विशेषता है, वह यही है। अतएव ब्रह्मज्ञानके अतिरिक्त अन्य बातोंमेंभी संन्यास-प्रधान उपनिषदोंके तथा गीताका मेल करनेके लिये सांप्रदायिक दृष्टिसे गीताके अर्थकी खींचातानी करना उचित नहीं है। यह सच है, कि दोनोंमें अध्यात्म-ज्ञान एकही-सा है; परंतु – जैसा कि हमने गीतारहस्यके ग्यारहवें प्रकरणमें स्पष्ट दिखला दिया है – अध्यात्मज्ञानरूपी मस्तक एक भलेही हो; तोभी सांख्य तथा कर्मयोग वैदिक धर्म-पुरुषके दो समान बलवाले हाथ हैं; और इनमेंसे ईशावास्योपनिषदके अनुसार, ज्ञानयुक्त कर्महीका प्रतिपादन मुक्त-कंठसे गीतामें किया गया है।

भाग – ३ गीता और ब्रह्मसूत्र

ज्ञान-प्रधान, भक्ति-प्रधान और योग-प्रधान उपनिषदोंके साथ भगवद्गीतामें जो सादृश्य और भेद हैं, उनका इस प्रकार विवेचन कर चुकेनेपर यथार्थमें ब्रह्म-सूत्रों और गीताकी तुलना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि, भिन्न भिन्न उपनिषदोंमें भिन्न भिन्न ऋषियोंके बतलाये हुए अध्यात्म-सिद्धान्तोंका नियमबद्ध विचार करनेके लियेही बादरायणाचार्यके ब्रह्मसूत्रोंकी रचना हुई है, इसलिये उनमें उपनिषदोंसे भिन्न भिन्न विचारोंका होना संभव नहीं। परंतु भगवद्गीताके तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विचार करते समय आरंभमेंही ब्रह्मसूत्रोंका स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया है :–

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितै:॥

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका "अनेक प्रकारसे विविध छंदोंके द्वारा (अनेक) ऋषियोंने पृथक् पृथक् और हेतुयुक्त तथा पूर्ण निश्चयात्मक ब्रह्मसूत्रपदोंसेभी विवेचन किया है" (गीता १३. ४); और यदि इन ब्रह्मसूत्रोंको तथा वर्तमान वेदान्त-सूत्रोंको एकही मान लें, तो कहना पड़ता है, कि वर्तमान गीता वर्तमान वेदान्त-सूत्रोंके बाद बनी होगी। अतएव गीताका काल-निर्णय करनेकी दृष्टिसे इस बातका अवश्य विचार करना पड़ता है, कि ये ब्रह्मसूत्र कौनसे हैं। क्योंकि वर्तमान वेदान्त-सूत्रोंके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र नामक कोई दूसरा ग्रंथ नहीं पाया जाता; और न उसके विषयमें कहीं वर्णनही है; *

---

* इस विषयका विचार परलोकवासी तेलंगने किया है। इसके सिवा सन १८९५में इसी विषयपर प्रो. तुकाराम रामचंद्र अंमळनेरकर, बी. ए.नेभी एक निबंध प्रकाशित किया है।

और, यह कहना तो किसी प्रकार उचित नहीं जँचता, कि वर्तमान ब्रह्मसूत्रोंके बाद गीता बनी होगी। क्योंकि, गीताकी प्राचीनताके विषयमें परंपरागत समझ चली आ रही है। ऐसा प्रतीत होता है, कि प्रायः इसी कठिनाईको ध्यानमें लाकर शांकरभाष्यमें 'ब्रह्मसूत्रपदैः'का अर्थ "श्रुतियोंके अथवा उपनिषदोंके ब्रह्मप्रतिपादक वाक्य" किया गया है। परंतु, इसके विपरीत शांकरभाष्यके टीकाकार आनंदगिरि और रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य प्रभृति गीताके अन्यान्य भाष्यकार यह कहते हैं, कि यहाँ पर 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव' शब्दोंसे 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इन बादारायणाचार्यके ब्रह्मसूत्रोंकाही निर्देश किया गया है; और श्रीधरस्वामीको दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं। अतएव इस श्लोकका सत्यार्थ हमें स्वतंत्र रीतिसेही निश्चित करना चाहिये। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ विचार "**ऋषियोंने अनेक प्रकारसे पृथक्**" कहा है; और इसके सिवा (चैव) "हेतुयुक्त और विनिश्चयात्मक ब्रह्मसूत्रपदोंनेभी" वही अर्थ कहा है; इस प्रकार 'चैव' (औरभी) पदसे इस बातका स्पष्टीकरण हो जाता है, कि इस श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारके दो **भिन्न भिन्न** स्थानोंका उल्लेख किया गया है। ये दोनों स्थान केवल भिन्नही नहीं हैं, किंतु उनमेंसे पहला अर्थात् ऋषियोंका किया हुआ वर्णन "विविध छंदोंके-द्वारा पृथक् पृथक् अर्थात् भिन्न भिन्न तथा अनेक प्रकारका" है; और उसका अनेक ऋषियों-द्वारा किया जाना 'ऋषिभिः'से (इस बहुवचन तृतीयान्त पद) स्पष्ट हो जाता है; तथा ब्रह्मसूत्रपदोंका दूसरा "वर्णन हेतुयुक्त और निश्चयात्मक" है, इस प्रकार इन दोनों वर्णनोंकी विशेष भिन्नताकाभी स्पष्टीकरण इसी श्लोकमें है। 'हेतुमत्' शब्द महाभारतमें कई स्थानोंपर पाया जाता है; और उसका अर्थ है – "नैयायिक पद्धतिसे कार्यकारणभाव बतलाकर किया हुआ प्रतिपादन" – उदाहरणार्थ, जनकके सन्मुख सुलभाका किया हुआ भाषण, अथवा श्रीकृष्ण जब शिष्टाईके लिये कौरवोंकी सभामें गये, उस समय उनका किया हुआ भाषण लीजिये। महाभारतमेंही पहले भाषणको "हेतुमत् और अर्थवत्" (मभा. शां. ३२०. १९१) और दूसरेको 'सहेतुक' (मभा. उद्यो. १३१. २) कहा है। इससे प्रकट होता है, कि जिस प्रतिपादनमें साधक-बाधक प्रमाण बतलाकर अंतमें कोईभी अनुमान निस्संदेह सिद्ध किया जाता है, उसीको 'हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' विशेषण लगाये जा सकते हैं; ये शब्द उपनिषदोंके ऐसे संकीर्ण प्रतिपादनको नहीं लगाये जा सकते, कि जो एक स्थानमें कुछ हो और दूसरे स्थानमें कुछ। अतएव "ऋषिभिः बहुधा विविधैः पृथक्" और "हेतुमद्भिः विनिश्चितैः" पदोंके विरोधात्मक स्वारस्यको यदि स्थिर रखना हो, तो यही कहना पड़ेगा कि गीताके उक्त श्लोकमें "ऋषियों-द्वारा विविध छंदोंमें किये गये अनेक प्रकारके पृथक्" विवेचनोंसे भिन्न भिन्न उपनिषदोंके संकीर्ण और पृथक् वाक्यही अभिप्रेत हैं; तथा "हेतुयुक्त और विनिश्चयात्मक ब्रह्मसूत्रपदों"से ब्रह्मसूत्र-ग्रंथका वह विवेचनही अभिप्रेत है, कि जिसमें साधक-बाधक प्रमाण दिखलाकर अंतिम सिद्धान्तोंका संदेहरहित निर्णय किया गया है। यहभी

स्मरण रहे, कि उपनिषदोंके सब विचार इधर उधर बिखरे हुए हैं, अर्थात् अनेक ऋषियोंको जैसे सूझते गये, वैसेही वे कहे गये हैं, उनमें कोई विशेष पद्धति या क्रम नहीं है; अतएव उनकी एकवाक्यता किये बिना उपनिषदोंका भावार्थ ठीक ठीक समझमें नहीं आता। यही कारण है, कि उपनिषदोंके साथही साथ उस ग्रंथका अर्थात् वेदान्त-सूत्र '(ब्रह्मसूत्र)काभी उल्लेख कर देना आवश्यक था, जिसमें कार्यकारण-हेतु दिखला कर उनकी (अर्थात् विचारोंकी) एकवाक्यता की गई है।

गीताके श्लोकोंका उक्त अर्थ करनेसे यह प्रकट हो जाता है, कि उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र गीताके पहले बने हैं। उममेंसे मुख्य मुख्य उपनिषदोंके विषयमें तो कुछभी मतभेद नहीं रह जाता; क्योंकि इन उपनिषदोंके श्लोकही गीतामें शब्दशः पाये जाते हैं। परंतु ब्रह्मसूत्रोंके विषयमें संदेह अवश्य किया जा सकता है, क्योंकि ब्रह्मसूत्रोंमें यद्यपि 'भगवद्गीता' शब्दका उल्लेख प्रत्यक्षमें नहीं किया गया है; तथापि भाष्यकार मानते हैं, कि कुछ सूत्रोंमें 'स्मृति' शब्दोंसे भगवद्गीताहीका निर्देश किया गया है। जिन ब्रह्मसूत्रोंमें शांकरभाष्यके अनुसार 'स्मृति' शब्दसे गीताहीका उल्लेख किया गया है, उनमेंसे नीचे दिये हुए सूत्र मुख्य हैं :-

ब्रह्मसूत्र – अध्याय, पाद और सूत्र	**गीता** – अध्याय और श्लोक
१.२.६ स्मृतेश्च।	गीता १८.६१ "ईश्वरः सर्वभूतानां०" आदि श्लोक।
१.३.२३ अपि च स्मर्यते।	गीता १५.६. "न तद्भासयते सूर्यः" आदि।
२.१.३६ उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च	गीता १५.३ "न रूपमस्येह तथोपलभ्यते०" आदि।
२.३.४५ **अपि च स्मर्यते।**	गीता १५.७. "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः०" आदि।
३.२.१७ दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते।	गीता १३.१२ "ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि०" आदि।
३.३.३१ अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्	गीता ८.३६ "शुक्लकृष्णे गती ह्येते०" आदि।
४.१.१० स्मरन्ति च।	गीता ६.११ "शुचौ देशे०" आदि।
४.२.२१ **योगिनः प्रति च स्मर्यते।**	गीता ८.२३ "यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः०" आदि।

उपर्युक्त आठ स्थानोंमेंसे कुछ यदि संदिग्धभी माने जायँ, तथापि, हमारे मतसे तो चौथं (ब्र. सू. २.३.४५) और आठवेंके (ब्र. सू. ४. २. २१) विषयमें कुछ संदेह नहीं है; और यह बातभी स्मरण रखने योग्य है, कि इस विषयमें, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य, इन चारों भाष्यकारोंका

मत एकही-सा है। ब्रह्मसूत्रके उक्त दोनों स्थानोंके (ब्र. सू. २. ३. ४५; ४. २. २१) विषयमें इस प्रसंगपरभी अवश्य ध्यान देना चाहिये – जीवात्मा और परमात्माके परस्पर-संबंधका विचार करते समय, पहले "नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः" (ब्र. सू. २. ३. १७) इस सूत्रसे यह निर्णय किया है, कि सृष्टिके अन्य पदार्थोंके समान जीवात्मा परमात्मासे उत्पन्न नहीं हुआ है; उसके वाद "अंशो नाना-व्यपदेशात्०" (ब्र. सू. २. ३. ४३) सूत्रमें यह बतलाया है, कि जीवात्मा पर-मात्माहीका 'अंश' है; और आगे 'मंत्रवर्णाच्चि' (ब्र. सू. २. ३. ४४) इस प्रकार श्रुतिका प्रमाण देकर अंतमें **"अपि च स्मर्यंते"** (ब्र. सू. २. ३. ४५) – "स्मृतिमेंही यही कहा है" – इस सूत्रका प्रयोग किया गया है। सब भाष्यकारोंका कथन है, कि यह स्मृतिही गीताका "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" (गीता १५.७) यह वचन है। परंतु इसकी अपेक्षा अंतिम स्थान (अर्थात् ब्रह्मसूत्र ४. २. २१) औरभी अधिक निस्संदेह है। यह पहलेही, दसवें प्रकरणमें, बतलाया जा चुका है, कि देवयान और पितृयाण गतियोंमें क्रमानुसार उत्तरायणके छः महीने और दक्षिणायनके छः महीने होते हैं; और उनका अर्थ काल-प्रधान न करके बाद-रायणाचार्य कहते हैं, कि इन शव्दोंसे तत्कालाभिमानी देवता अभिप्रेत हैं (वे. सू. ४. ३. ४)। अब यह प्रश्न हो सकता है, कि दक्षिणायन और उत्तरायण शब्दोंका काल-वाचक अर्थ क्या कभी लियाही न जावे ? इसलिये "योगिनः प्रति च स्मर्यते" (ब्र. सू. ४. २. २१) अर्थात् ये काल "स्मृतियोंमें योगियोंके लिये विहित माने गये हैं" इस सूत्रका प्रयोग किया गया है; और गीतामें (गीता ८. २३) यह बात साफ़ साफ़ कह दी गई है, कि "यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः" – ये काल योगियोंको विहित है। इससे भाष्यकारोंके मतानुसार यही कहना पड़ता है, कि उक्त दोनों स्थानोंपर ब्रह्मसूत्रोंमें 'स्मृति' शव्दसे भगवद्गीताही विवक्षित है।

परंतु जब यह मानते हैं, कि भगवद्गीतामें ब्रह्मसूत्रोंका स्पष्ट उल्लेख है; और ब्रह्मसूत्रोंमें 'स्मृति' शव्दसे भगवद्गीताका निर्देश किया गया है; तो दोनोंमें काल-दृष्टिसे विरोध उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि भगवद्गीतामें ब्रह्मसूत्रोंका साफ़ साफ़ उल्लेख है, इसलिये ब्रह्मसूत्रोंका गीताके पहले रचा जाना निश्चित होता है, और ब्रह्मसूत्रोंमें 'स्मृति' शव्दसे गीताका निर्देश माना जाय तो गीताका ब्रह्मसूत्रोंके पहले होना निश्चित हुआ जाता है। ब्रह्मसूत्रोंका एक बार गीता पहले रचा जाना और दूसरी बार उन्हीं सूत्रोंका गीताके बाद रचा जाना संभव नहीं। अच्छा, अब यदि इस झगड़ेसे वचनेके लिये गीताके 'ब्रह्मसूत्रपदैः' शव्दसे शांकरभाष्यमें दिये हुए अर्थको स्वीकार करते हैं, तो 'हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' इत्यादि पदोंका स्वारस्यही नष्ट हो जाता है; और यदि यह मानें, कि ब्रह्मसूत्रोंके 'स्मृति' शव्दसे गीताके अतिरिक्त कोई दूसरा स्मृति-ग्रंथ विवक्षित होगा; तो यह कहना पड़ेगा, कि सभी भाष्यकारोंने भूल की है ! अच्छा; यदि उनकी भूल कहें; तोभी यह बतलाया नहीं जा सकता, कि

'स्मृति' शब्दसे कौन-सा ग्रंथ विवक्षित है; तब इस अड़चनसे कैसे पार पावें ? हमारे मतानुसार इस अड़चनसे बचनेका केवल एकही मार्ग है। यदि यह मान लिया जाय, कि जिसने ब्रह्मसूत्रोंकी रचना की है, उसीने मूल भारत तथा गीताको वर्तमान स्वरूप दिया है; तो कोई अड़चन या विरोध नहीं रह जाता। ब्रह्मसूत्रोंको 'व्याससूत्र' कहनेकी रीति पड़ गई है; और "शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः" (वे. सू. ३. ४. २) इस सूत्रपर शांकरभाष्यकी टीकामें आनंदगिरिने लिखा है, कि जैमिनि वेदान्त-सूत्रकार व्यासजीके शिष्य थे; और अपने आरंभके मंगलाचरणमेंभी, 'श्रीमद्व्यासपयोनिधिर्निधिरसौ' इस प्रकार उन्होंने ब्रह्मसूत्रोंका वर्णन किया है। यह कथा वर्तमान महाभारतके आधारपर हम ऊपर बतला चुके हैं, कि महाभारतकार व्यासजीके पैल, शुक, सुमन्तु, जैमिनि और वैशंपायन नामक पाँच शिष्य थे; और उनको व्यासजीने महाभारत पढ़ाया था। इन दोनों बातोंको मिला कर विचार करनेसे यही अनुमान होता है, कि मूल भारत और तदंतर्गत गीताको वर्तमान स्वरूप देनेका तथा ब्रह्मसूत्रोंकी रचना करनेका कामभी एक बादरायण व्यासजीनेही किया होगा। इस कथनका यह मतलब नहीं, कि बादरायणाचार्यने वर्तमान महाभारतकी नवीन रचना की। हमारे कथनका भावार्थ यह है :- महाभारत ग्रंथके अति विस्तृत होनेके कारण संभव है, कि बादरायणाचार्यके समय उसके कुछ भाग इधर उधर बिखर गये हों या लुप्तभी हो गये हों; ऐसी अवस्थामें तत्कालीन उपलब्ध महाभारतके भागोंकी खोज़ करके तथा ग्रंथमें जहाँ जहाँ अपूर्णता, अशुद्धियाँ और त्रुटियाँ दीख पड़ीं, वहाँ वहाँ उनका संशोधन और उनकी पूर्ति करके, तथा अनुक्रमणिका आदि जोड़ कर बादराणाचार्यने इस ग्रंथका पुनरुज्जीवन किया हो; अथवा उसे वर्तमान स्वरूप दिया हो। मराठी साहित्यमें यह बात प्रसिद्ध है, कि ज्ञानेश्वरी ग्रंथका ऐसाही संशोधन एकनाथ महाराजने किया था; और यह कथाभी प्रचलित है, कि एक बार संस्कृतका व्याकरण-महाभाष्य प्रायः लुप्त हो गया था और उसका पुनरुद्धार चंद्रशेखराचार्यको करना पड़ा। अब इस बातकीभी ठीक ठीक उपपत्ति लग जाती है, कि महाभारतके अन्य प्रकरणोंमें गीताके श्लोक क्यों पाये जाते हैं; तथा यह बातभी सहजही हल हो जाती है. कि गीतामें ब्रह्मसूत्रोंका स्पष्ट उल्लेख और ब्रह्मसूत्रोंमें 'स्मृति' शब्दसे गीताका निर्देश क्यों किया गया है। जिस गीताके आधारपर वर्तमान गीता बनी है, वह बादरायणाचार्यके पहलेभी उपलब्ध थी, इसी कारण ब्रह्मसूत्रोंमें 'स्मृति' शब्दसे उसका निर्देश किया गया; और महाभारतका संशोधन करते समय गीतामें* यह बतलाया गया, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विस्तारपूर्वक

---

* पिछले प्रकरणोंमें हमने यह बतलाया है, कि ब्रह्मसूत्र वेदान्तसंबंधी मुख्य ग्रंथ है, और इसी प्रकार गीता कर्मयोगविषयक प्रधान ग्रंथ है। अब यदि हमारा यह अनुमान सत्य हो, कि ब्रह्मसूत्र और गीताकी रचना अकेले व्यासजीनेही की है; तो इन दोनों शास्त्रोंका कर्ता उन्हींको मानना पड़ता है। हम यह बात अनुमानद्वारा

विवेचन ब्रह्मसूत्रोंमें किया गया है। वर्तमान गीतामें ब्रह्मसूत्रोंका जो यह उल्लेख है, उसकी बराबरीकेही सूत्र-ग्रंथके अन्य उल्लेख वर्तमान महाभारतमेंभी हैं। उदाहरणार्थ, अनुशासनपर्वके अष्टावक्र आदि संवादमें "अनृताः स्त्रिय इत्येवं सूत्रकारो व्यवस्यति" (अनु. १९. ६) यह वाक्य है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण (शांति. ३१८. १६–२३) पंचरात्र (शांति. ३३९.१०७), मनु. (अनु. ३७. १६) और यास्कके निरुक्तकाभी (शांति. ३४२. ७१) अन्यत्र साफ़ साफ़ उल्लेख किया गया है। परंतु गीताके समान महाभारतके सब भागोंको मुखाग्र करनेकी रीति नहीं थी; इसलिये यह शंका सहजही उत्पन्न होती है, कि गीताके अतिरिक्त महाभारतमें अन्य स्थानोंपर जो अन्य ग्रंथोंके उल्लेख हैं, वे काल-निर्णयार्थ कहाँ-तक विश्वसनीय माने जायँ। क्योंकि, जो भाग मुखाग्र नहीं किये जाते, उनमें क्षेपक श्लोक मिला देना कोई कठिन बात नहीं। परंतु, हमारे मतानुसार, उपर्युक्त अन्य उल्लेखोंका यह बतलानेके लिये उपयोग करना कुछ अनुचित न होगा, कि वर्तमान गीतामें किया गया ब्रह्मसूत्रोंका उल्लेख केवल अकेला या अपूर्व अतएव अविश्वसनीय नहीं है।

ऊपर सिद्धकर चुके हैं; परंतु कुंभकोणस्थ कृष्णाचार्यने, दाक्षिणात्य पाठके अनुसार, महाभारतकी जो एक पोथी हालहीमें प्रकाशित की है, उसमें शांतिपर्वके २१२ वें अध्यायमें (वार्ष्णेयाध्यात्म प्रकरणमें) प्रथम इस बातका वर्णन करते समय – कि युगके आरंभमें भिन्न भिन्न शास्त्र और इतिहास किस प्रकार निर्मित हुए – ३४ वाँ श्लोक इस प्रकार दिया है :–

वेदान्तकर्मयोगं च वेदविद् ब्रह्मविद्विभुः।
द्वैपायनो निजग्राह शिल्पशास्त्रं भृगुः पुनः॥

इस श्लोकमें 'वेदान्तकर्मयोग' एकवचनान्त पद है; परंतु उसका अर्थ 'वेदान्त और कर्मयोगही करना पड़ता है। अथवा यहभी प्रतीत होता है, कि 'वेदान्तं कर्मयोगं च' यही मूलपाठ होगा; और लिखते समय या छापते समय 'न्त'के ऊपरका अनुस्वार छूट गया हो। इस श्लोकमें यह साफ़ साफ़ कह दिया गया है, कि वेदान्त और कर्म-योग, दोनों शास्त्र व्यासजीको प्राप्त हुए थे; और शिल्पशास्त्र भृगुको मिला था। परंतु यह श्लोक बंबईके गणपत कृष्णाजीके छापाखानेसे प्रकाशित पोथीमें या कलकत्तेकी प्रतिमें नहीं मिलता। कुंभकोणकी पोथीका शांतिपर्वका २१२ वाँ अध्याय, बंबई और कलकत्ताकी प्रतिमें, २१० वाँ है। कुंभकोण पाठका यह श्लोक हमारे मित्र डॉक्टर गणेश कृष्ण गर्देने हमें सूचित किया, अतएव हम उनके कृतज्ञ हैं। उनके मता-नुसार इस स्थानपर कर्मयोग शब्दसे गीताही विवक्षित है; और इस श्लोकमें गीता और वेदान्त-सूत्रोंका (अर्थात् दोनोंका) कर्तृत्व व्यासजीकोही दिया गया है। महाभारतकी तीन पोथियोंमेंसे केवल एकही प्रतिमें ऐसा पाठ मिलता है, अतएव उसके विषयमें कुछ शंका उत्पन्न होती है। इस विषयमें चाहे जो कहा जाय; किंतु इस पाठसे इतना तो अवश्य सिद्ध हो जाता है, कि हमारा यह अनुमान, कि वेदान्त और कर्मयोगका कर्ता एकही है, कुछ नया या निराधार नहीं।

'ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव' इत्यादि श्लोकके पदोंके अर्थ-स्वारस्यकी मीमांसा करके हम ऊपर इस बातका निर्णय कर चुके हैं, कि वर्तमान भगवद्गीतामें ब्रह्मसूत्रों या वेदान्त-सूत्रोंहीका उल्लेख किया गया है। परंतु भगवद्गीतामें ब्रह्मसूत्रोंका उल्लेख होनेका – और वहभी तेरहवें अध्यायमें अर्थात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारहीमें होनेका – हमारे मतसे एक और महत्त्वपूर्ण तथा दृढ कारण है। भगवद्गीतामें वासुदेव-भक्तिका तत्त्व यद्यपि मूल भागवत या पांचरात्र-धर्मसे लिया गया है, जैसा हम पिछले प्रकरणोंमें कह आये हैं, चतुर्व्यूह-पांचरात्र-धर्ममें वर्णित मूल जीव और मनकी उत्पत्तिके विषयका यह मत भगवद्गीताको मान्य नहीं है, कि वासुदेवसे संकर्षण अर्थात् जीव, संकर्षणसे प्रद्युम्न (मन) और प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध (अहंकार) उत्पन्न हुआ। ब्रह्मसूत्रोंका यह सिद्धान्त है, कि जीवात्मा किसी अन्य वस्तुसे उत्पन्न नहीं हुआ है (वे. सू. २. ३. १७), और वह सनातन परमात्माहीका नित्य 'अंश' है (वे. सू. २. ३. ४३)। इसलिये ब्रह्मसूत्रोंके दूसरे अध्यायके दूसरे पादमें पहले कहा है, कि वासुदेवसे संकर्षणका होना अर्थात् भागवत-धर्मीय जीवसंबंधी उत्पत्ति संभव नहीं (वे. सू. २. २. ४२); और फिर यह कहा है, कि मन जीवकी एक इंद्रिय है, इसलिये जीवसे प्रद्युम्नका (मन) होनाभी संभव नहीं (वे. सू. २. २. ४३); क्योंकि लोकव्यवहारकी ओर देखनेसे तो यही बोध होता है, कि कर्ताहीसे कारण या साधन उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार बादरायणाचार्यने, भागवत धर्ममें वर्णित जीवकी उत्पत्तिका युक्तिपूर्वक खंडन किया है। संभव है, कि भागवत धर्मवाले इसपर यह उत्तर दें, कि हम वासुदेव (ईश्वर), संकर्षण (जीव), प्रद्युम्न (मन) तथा अनिरुद्धको (अहंकार) एकही समान ज्ञानी समझते हैं; और एकसे दूसरेकी उपपत्तिको लाक्षणिक तथा गौण मानते हैं। परंतु ऐसा माननेसे कहना पड़ेगा, कि एक मुख्य परमेश्वरके बदले चार मुख्य परमेश्वर हैं, अतएव ब्रह्मसूत्रोंमें कहा है, कि यह उत्तरभी समर्पक नहीं है; और बादरायणाचार्यने अंतिम निर्णय यह किया है, कि यह मत – परमेश्वरसे जीवका उत्पन्न होना – वेदों अर्थात् उपनिषदोंके मतके विरुद्ध अतएव त्याज्य है (वे. सू. २. २. ४४, ४५)। यद्यपि यह बात सच है, कि भागवत धर्मका कर्मप्रधान भक्ति-तत्त्व भगवद्गीतामें लिया गया है, तथापि गीताका यहभी सिद्धान्त है, कि जीव वासुदेवसे उत्पन्न नहीं हुआ, किंतु वह नित्य परमात्माहीका 'अंश' है (गीता १५. ७)। जीवविषयक यह सिद्धान्त मूल भागवत धर्मसे नहीं लिया गया, इसलिये यह बतलाना आवश्यक था, कि इसका आधार क्या है। क्योंकि यदि ऐसा न किया जाता, तो संभव था, कि यह भ्रम उपस्थित हो जाता, कि चतुर्व्यूह भागवत धर्मके प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-तत्त्वके साथही साथ जीवकी उत्पत्ति-विषयक कल्पनासेभी गीता सहमत है। अतएव क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारमें जब जीवात्माका स्वरूप बतलानेका समय आया, तब, अर्थात् गीताके तेरहवें अध्यायके आरंभहीमें यह स्पष्ट रूपसे कह देना पड़ा, कि "क्षेत्रज्ञके अर्थात् जीवके स्वरूपके संबंधमें हमारा

मत भागवत धर्मके अनुसार नहीं; वरन् उपनिषदोंमें वर्णित ऋषियोंके मतानुसार हैं;" और फिर उसके साथही साथ स्वभावतः यहभी कहना पड़ा है, कि भिन्न भिन्न ऋषियोंने भिन्न भिन्न उपनिषदोंमें पृथक् पृथक् उपपादन किया है, इसलिये उन सबकी ब्रह्मसूत्रोंमें की गई एकवाक्यता ही (वे. सू. २. ३. ४३) हमें ग्राह्य है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर यही प्रतीत होगा, कि भागवत धर्मके भक्ति-मार्गका गीतामें इस रीतिसे समावेश किया गया है, जिससे वे आक्षेप दूर हो जायँ, कि जो ब्रह्मसूत्रोंमें भागवत धर्मपर ला दे गये हैं। रामानुजाचार्यने अपने वेदान्तसूत्र-भाष्यमें उक्त सूत्रोंके अर्थको बदल दिया है (वे. सू. रा. भा. २. २. ४२–४५)। परंतु हमारे मतसे अर्थ क्लिष्ट अतएव अग्राह्य हैं। थिबो साहबका झुकाव रामानुज-भाष्यमें दिये गये अर्थकी ओरही है; परंतु उनके लेखोंसे तो यही ज्ञात होता है, कि इस बातका यथार्थ स्वरूप उनके ध्यानमें नहीं आया। महाभारतके शांतिपर्वके अंतिम भागमें नारायणीय अथवा भागवत धर्मका जो वर्णन है, उसमें यह नहीं कहा है, कि वासुदेवसे जीव अर्थात् संकर्षण हुआ; किंतु पहले यह बतलाया है, कि "जो वासुदेव है, वही (स एव) संकर्षण अर्थात् जीव या क्षेत्रज्ञ है" (मभा. शां. ३३४. २८, २९; ३३९. ३९, ७१); और इसके वाद संकर्षणसे प्रद्युम्न तककी केवल परंपरा दी गई है। एक स्थानपर तो यह साफ़ साफ़ कह दिया है, कि भागवत धर्मके कोई चतुर्व्यूह, कोई त्रिव्यूह, कोई द्विव्यूह और अंतमें कोई एकव्यूहभी मानते हैं (मभा. शां. ३४८. ५७)। परंतु भागवत धर्मके इन विविध पक्षोंको स्वीकार न कर, उनमेंसे सिर्फ़ वही एक मत वर्तमान गीतामें स्थिर किया गया है, जिसका मेल क्षेत्रक्षेत्रज्ञके परस्पर-संबंधसे उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रोंसे हो सके; और इस बातपर ध्यान देनेपर यह प्रश्न ठीक तौरसे हल हो जाता है, कि ब्रह्मसूत्रोंका उल्लेख गीतामें क्यों किया है? अथवा यह कहनाभी अत्युक्ति नहीं, कि मूल गीतामें यह एक सुधारही किया गया है।

भाग – ४ भागवत धर्मका उदय और गीता

गीतारहस्यमें अनेक स्थानोंपर तथा इस प्रकरणमेंभी पहले यह बतला दिया गया है, कि उपनिषदोंके ब्रह्मज्ञान तथा कापिल-सांख्यके क्षर-अक्षर-विचारके साथ भक्ति और विशेषतः निष्काम कर्मका मेल करके कर्मयोगका शास्त्रीय रीतिसे पूर्णतया समर्थन करनाही गीता-ग्रंथका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। परंतु इतने विषयोंकी एकता करनेकी गीताकी पद्धति जिनके ध्यानमें पूरी तरह नहीं आ सकती, अथवा जिनका पहलेहीसे यह मत हो जाता है, कि इतने विषयोंकी एकता होही नहीं सकती; उन्हें इस बातका आभास हुआ करता है, कि गीताके बहुतेरे सिद्धान्त परस्परविरोधी हैं। उदाहरणार्थ, इन आक्षेपकोंका यह मत है, कि तेरहवें अध्यायका यह कथन कि – इस जगतमें जो कुछ है, वह सव निर्गुण ब्रह्म है, – सातवें अध्यायके इस कथनसे

बिलकुलही विरुद्ध है, कि यह सब सगुण वासुदेवही है । (गीता ७. १९) इसी प्रकार भगवान् एक जगह कहते हैं, कि " मुझे शत्रु और मित्र समान हैं " (गीता ९. २९); और दूसरे स्थानपरभी कहते हैं, कि " ज्ञानी तथा भक्तिमान् पुरुष मुझे अत्यंत प्रिय हैं " (गीता ७. १७, १२.१९) – ये दोनों बातें परस्परविरोधी हैं। परंतु हमने गीतारहस्यमें अनेक स्थानोंपर इस बातका स्पष्टीकरण कर दिया है, कि वस्तुत: : ये विरोध नहीं हैं; किंतु एकही बातपर एक बार अध्यात्म-दृष्टिसे और दूसरी वार भक्तिकी दृष्टिसे विचार किया गया है, इसलिये यद्यपि दिखनेमें ये विरोधी वातें कहनी पड़ीं, तथापि अंतमें व्यापक तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे गीतामें उनका मेलभी कर दिया गया है । इसपरभी कुछ लोगोंका यह आक्षेप है, कि अव्यक्त ब्रह्म-ज्ञान और व्यक्त परमेश्वरकी भक्तिमें यद्यपि उक्त प्रकारसे मेल कर दिया गया है, तथापि मूल गीतामें इस मेलका होना संभव नहीं; क्योंकि मूल गीता वर्तमान गीताके समान परस्परविरोधी वातोंसे भरी नहीं थी, उसमें वेदान्तियोंने अथवा सांख्यशास्त्रा-भिमानियोंने अपने अपने शास्त्रोंके भाग पीछेसे घुसेड़ दिये हैं। उदाहरणार्थ, प्रो. गार्बेका कथन है, कि मूल गीतामें भक्तिका मेल केवल सांख्य तथा योगहीसे किया गया है; वेदान्तके साथ मीमांसकोंके कर्म-मार्गके साथ भक्तिका मेल कर देनेका काम किसीने पीछेसे किया है । मूल गीतामें इस प्रकार जो श्लोक पीछेसे जोड़े गये, उनकी, अपने मतानुसार, एक तालिकाभी उसने जर्मन भाषामें अनुवादित अपनी गीताके अंतमें दी है ! हमारे मतानुसार ये सब कल्पनाएँ भ्रममूलक हैं। वैदिक धर्मके भिन्न भिन्न अंगोंकी ऐतिहासिक परंपरा और गीताके 'सांख्य' तथा 'योग' शब्दोंका सच्चा अर्थ ठीक ठीक न समझनेके कारण, और विशेषत: तत्त्वज्ञानविरहित अर्थात् केवल भक्तिप्रधान ईसाई धर्महीका इतिहास उक्त लेखकों के (प्रो. गार्बे प्रभृति) सामने रखा रहनेके कारण, उक्त प्रकारके भ्रम उत्पन्न हो गये हैं। ईसाई धर्म पहले केवल भक्तिप्रधान था; और ग्रीक लोगोंके अथवा अन्य तत्त्वज्ञानसे उसका मेल करनेका कार्य पीछेसे किया गया है । परंतु, यह बात हमारे धर्मकी नहीं । हिंदुस्थानमें भक्ति-मार्गका उदय होनेके पहलेही मीमांसकोंका यज्ञ-मार्ग, उपनिषत्कारोंका ज्ञान तथा सांख्य और योग – इन सबको परिपक्व दशा प्राप्त हो चुकी थी । इसलिये पहलेहीसे हमारे देशवासियोंको स्वतंत्र रीतिसे प्रतिपादित ऐसा भक्ति-मार्ग कभीभी मान्य नहीं हो सकता था; जो इन सब शास्त्रोंसे और विशेष करके उपनिषदोंमें वर्णित ब्रह्मज्ञानसे अलग हो । इन बातोंपर ध्यान देनेसे यह मानना पड़ता है, कि गीताके धर्म-प्रतिपादनका स्वरूप पहलेहीसे प्राय: वर्तमान गीताके प्रतिपादनके सदृशही था । गीतारहस्यका विवेचनभी इसी बातकी ओर ध्यान देकर किया गया है, परंतु यह विषय अत्यंत महत्वका है, इसलिये संक्षेपमें यहांपर यह बतलाना चाहिये, कि गीता-धर्मके मूल स्वरूप तथा परंपराके संबंधमें ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेपर, हमारे मतसे कौन-कौन-सी बातें निष्पन्न होती हैं।

गीतारहस्यके दसवें प्रकरणमें इस बातका विवेचन किया गया है, कि वैदिक धर्मका अत्यंत प्राचीन स्वरूप न तो भक्ति-प्रधान, न तो ज्ञान-प्रधान और न योग-प्रधानभी था; किंतु वह यज्ञमय अर्थात् कर्म-प्रधान था; और वेदसंहिता तथा ब्राह्मणोंमें विशेषतः इसी यज्ञयाग आदि कर्म-प्रधान धर्मका प्रतिपादन किया गया है। आगे चल कर इसी धर्मका व्यवस्थित विवेचन जैमिनीके मीमांसा-सूत्रोंमें किया गया है। इसीलिये उसे 'मीमांसक-मार्ग' नाम प्राप्त हुआ। परंतु, यद्यपि 'मीमांसक' नाम नया है; तथापि इस विषयमें तो बिलकुलही संदेह नहीं, कि यज्ञयाग आदि धर्म अत्यंत प्राचीन है; इतनाही नहीं, तो उसे ऐतिहासिक दृष्टिसे वैदिक धर्मकी प्रथम सीढ़ी कह सकते हैं। 'मीमांसक-मार्ग' नाम प्राप्त होनेके पहले उसको त्रयी धर्म अर्थात् तीन वेदोंद्वारा प्रतिपादित धर्म कहते थे; और इसी नामका उल्लेख गीतामेंभी किया गया है (गीता ९. २०, २१)। कर्ममय त्रयी धर्मके इस प्रकार जोर-शोरसे प्रचलित रहनेपर, कर्मसे अर्थात् केवल यज्ञयाग आदिके बाह्य प्रयत्नसे परमेश्वरका ज्ञान कैसे हो सकता है ? ज्ञान होना एक मानसिक स्थिति है, इसलिये परमेश्वरके स्वरूपका विचार किये बिना ज्ञान होना संभव नहीं, इत्यादि विषय और कल्पनाएँ उपस्थित होने लगीं; और धीरे धीरे उन्हींमेंसे औपनिषदिक ज्ञानका प्रादुर्भाव हुआ। यह बात, छांदोग्य आदि उपनिषदोंके आरंभमें जो अवतरण दिये हैं, उनसे स्पष्ट मालूम हो जाती है। इस औपनिषदिक ब्रह्मज्ञानहीको आगे चलकर 'वेदान्त' नाम प्राप्त हुआ। परंतु, मीमांसा शब्दके समान यद्यपि वेदान्त नाम पीछेसे प्रचलित हुआ है, तथापि उससे यह नहीं कहा जा सकता, कि ब्रह्मज्ञान अथवा ज्ञान-मार्गभी नया है। यह सच है, कि कर्मकांडके अनंतरही ज्ञानकांड उत्पन्न हुआ! परंतु स्मरण रहे, कि ये दोनों प्राचीन हैं। इस ज्ञान-मार्गहीकी दूसरी, किंतु स्वतंत्र शाखा 'कापिल-सांख्य' है। गीतारहस्यमें यह बतला दिया गया है, कि इधर ब्रह्मज्ञान अद्वैती है, तो उधर सांख्य है द्वैती; और सृष्टिकी उत्पत्तिके क्रमके संबंधमें सांख्योंके विचार मूलमें भिन्न हैं। परंतु औपनिषदिक अद्वैती ब्रह्मज्ञान तथा सांख्योंका द्वैती ज्ञान, दोनों यद्यपि मूलमें भिन्न भिन्न हों, तथापि केवल ज्ञान-दृष्टिसे देखनेपर जान पड़ेगा, कि ये दोनों मार्ग अपने पहलेके यज्ञ-याग आदि कर्म-मार्गके एकहीसे विरोधी थे। अतएव यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न हुआ, कि कर्मका ज्ञानसे किस प्रकार मेल किया जाए ? इसी कारणसे उपनिषत्-कालहीमें इस विषयपर दो दल हो गये थे। उनमेंसे बृहदारण्यकादि उपनिषद् तथा सांख्य यह कहने लगे, कि कर्म और ज्ञानमें नित्य विरोध है, इसलिये ज्ञान हो जानेपर कर्मका त्याग करना प्रशस्तही नहीं, किंतु आवश्यकभी है। इसके विरुद्ध ईशावास्यादि अन्य उपनिषद् यह प्रतिपादन करने लगे, कि ज्ञान हो जानेपरभी कर्म छोड़ा नहीं जा सकता, वैराग्यसे बुद्धिको निष्काम करके जगतमें व्यवहारकी सिद्धिके लिये ज्ञानी पुरुषको सब कर्म करनेही चाहिये। इन उपनिषदोंके

भाष्योंमेंसे इस भेदको निकाल डालनेका प्रयत्न किया गया है। परंतु गीतारहस्यके ग्यारहवें प्रकरणके अंतमें किये गये विवेचनसे यह बात ध्यानमें आ जाएगी, कि शांकर-भाष्यमें ये सांप्रदायिक अर्थ खींचातानीसे किये गये हैं; और इसलिये इन उपनिषदोंपर स्वतंत्र रीतिसे विचार करते समय वे अर्थ ग्राह्य नहीं माने जा सकते। यह नहीं कि, केवल यज्ञयागादि कर्म तथा ब्रह्मज्ञानहीमें मेल करनेका प्रयत्न किया गया हो; किंतु मैत्र्युपनिषदके विवेचनसे यह बातभी साफ़ साफ़ प्रकट होती है, कि कापिलसांख्यमें पहले पहल स्वतंत्र रीतिसे प्रादुर्भूत क्षराक्षरज्ञानकी तथा उपनिषदोंके ब्रह्मज्ञानकी एकवाक्यता – जितनी हो सकती थी – करनेकाभी प्रयत्न उसी समय आरंभ हुआ था। बृहदारण्यकादि प्राचीन उपनिषदोंमें कापिल-सांख्यज्ञानको कुछ महत्त्व नहीं दिया गया है। परंतु मैत्र्युपनिषदमें सांख्योंकी परिभाषाका पूर्णतया स्वीकार करके यह कहा है, कि अंतमें एक परब्रह्महीसे सांख्योंके चौबीस तत्त्व निर्मित हुए हैं। तथापि कापिल-सांख्यशास्त्रभी वैराग्य-प्रधान अर्थात् कर्मके विरुद्ध है। तात्पर्य यह है, कि प्राचीन कालमेंही वैदिक धर्मके तीन दल हो गये थे – (१) केवल यज्ञयाग आदि कर्म करनेका मार्ग; (२) ज्ञान तथा वैराग्यसे कर्मसंन्यास करना, अर्थात् ज्ञाननिष्ठा अथवा सांख्यमार्ग; और (३) ज्ञान तथा वैराग्यबुद्धिहीसे नित्य कर्म करनेका मार्ग, अर्थात् ज्ञानकर्म-समुच्चय-मार्ग। इनमेंसे ज्ञानमार्गहीसे आगे चलकर दो अन्य शाखाएँ – योग और भक्ति – निर्मित हुई हैं। छांदोग्यादि प्राचीन उपनिषदोंमें यह कहा है, कि परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मचिंतन अत्यंत आवश्यक है; और यह चिंतन, मनन तथा ध्यान करनेके लिये चित्त एकाग्र होना चाहिये; और चित्तको स्थिर करनेके लिये परब्रह्मका कोई न कोई सगुण प्रतीक पहले नेत्रोंके सामने रखना पड़ता है। इस प्रकार ब्रह्मोपासना करते रहनेसे चित्तकी जो एकाग्रता हो जाती है, उसीको आगे विशेष महत्त्व दिया जाने लगा और चित्तविरोधरूपी योग एक जुदा मार्ग हो गया; और जब सगुण प्रतीकके बदले परमेश्वरके मानवरूपधारी व्यक्त प्रतीतकी उपासनाका आरंभ धीरे धीरे होने लगा, तब अंतमें भक्ति-मार्ग उत्पन्न हुआ। यह भक्तिमार्ग औपनिषदिक ज्ञानसे अलग, बीचहीमें स्वतंत्र रीतिसे प्रादुर्भूत नहीं हुआ है; और न भक्तिकी कल्पना हिंदुस्थानमें किसी अन्य देशसे लाई गई है। सब उपनिषदोंका अवलोकन करनेसे यह क्रम दीख पड़ता है, कि पहले ब्रह्मचिंतनके लिये यज्ञके अंगोंकी अथवा ॐकारकी उपासना थी; आगे चलकर रुद्र, विष्णु आदि वैदिक देवताओंकी, अथवा आकाश आदि सगुण व्यक्त-ब्रह्म-प्रतीकोंकी, उपासनाका आरंभ हुआ; और अंतमें इसी हेतुसे अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिके लियेही राम, नृसिंह, श्रीकृष्ण, वासुदेव आदिकी भक्ति, अर्थात् एक प्रकारकी उपासना, जारी हुई है। उपनिषदोंकी भाषासे यह बातभी साफ़ साफ़ मालूम होती है, कि उनमेंसे योगतत्त्वादि योगविषयक उपनिषद् अथवा नृसिंहतापनी, रामतापनी आदि भक्तिविषयक उपनिषद्

छांदोग्यादिकी अपेक्षा अर्वाचीन है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टिसे यह कहना पड़ता है, कि छांदोग्यादि प्राचीन उपनिषदोंमें वर्णित कर्म, ज्ञान अथवा संन्यास, और ज्ञानकर्म-समुच्चय – इन तीनों दलोंका प्रादुर्भूत हो जानेपरही आगे योग-मार्ग और भक्ति-मार्गको श्रेष्ठता प्राप्त हुई है। परंतु योग और भक्ति, ये दोनों साधन यद्यपि उक्त प्रकारसे आगे श्रेष्ठ माने गये, तथापि उनके पहलेके ब्रह्मज्ञानकी श्रेष्ठता उससे कुछ कम नहीं हुई, और न उसका कम होना संभवही था। इसी कारण योग-प्रधान अथवा भक्ति-प्रधान उपनिषदोंमेंभी ब्रह्मज्ञानको भक्ति और योगका अंतिम साध्य कहा है। और ऐसा वर्णनभी कई स्थानोंमें पाया जाता है, कि जिन रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण तथा वासुदेव आदिकी भक्ति की जाती है, वेभी परमात्माके अथवा परब्रह्मके रूप हैं (मैत्र्यु. ७.७; रामपू. १६; अमृतबिंदु. २२ आदि)। सारांश वैदिक धर्ममें समय समयपर आत्मज्ञानी पुरुषोंने जिन धर्मांगोंको प्रवृत्त किया है, वे प्राचीन समयमें प्रचलित धर्मांगोंसेही प्रादुर्भूत हुए हैं; और नये धर्मांगोंका प्राचीन समयमें प्रचलित धर्मांगोंके साथ मेल करा देनाही वैदिक धर्मकी उन्नतिका पहलेसे मुख्य उद्देश्य रहा है; तथा भिन्न भिन्न धर्मांगोंकी एकवाक्यता करनेके इसी उद्देश्यका स्वीकार करके, आगे चलकर स्मृतिकारोंने आश्रमव्यवस्था-धर्मका प्रतिपादन किया है। भिन्न भिन्न धर्मांगोंकी एकवाक्यता करनेकी इस प्राचीन पद्धतिपर ध्यान दिया जाता है, तब यह कहना सयुक्तिक नहीं प्रतीत होता, कि उक्त पूर्वापर पद्धतिको छोड़ केवल गीता-धर्मही अकेला प्रवृत्त हुआ होगा।

ब्राह्मण-ग्रंथोंके यज्ञ-यागादि कर्म, उपनिषदोंका ब्रह्मज्ञान, कापिल-सांख्य, चित्त-निरोधरूपी योग तथा भक्ति, येही वैदिक धर्मके मुख्य मुख्य अंग हैं, और इनकी उत्पत्तिके क्रमका सामान्य इतिहास ऊपर लिखा गया है। अब इस बातका विचार किया जाएगा, कि गीतामें इन सब धर्मांगोंका जो प्रतिपादन किया गया है, उसका मूल क्या है? – अर्थात् वह प्रतिपादन साक्षात् भिन्न भिन्न उपनिषदोंसे गीतामें लिया गया है अथवा बीचमें एक-आध सीढ़ी और है। केवल ब्रह्मज्ञानके विवेचनके समय कठ आदि उपनिषदोंके कुछ श्लोक गीतामें ज्यों-के-त्यों लिये गये हैं; और ज्ञान-कर्म-समुच्चय-पक्षका प्रतिपादन करते समय जनक आदिके औपनिषदिक उदाहरणभी दिये गये हैं। इससे प्रतीत होता है, कि गीता-ग्रंथ साक्षात् उपनिषदोंके आधारपर रचा गया होगा। परंतु गीताहीमें गीता-धर्मकी जो परंपरा दी गई है, उसमें तो उपनिषदोंका कहींभी उल्लेख नहीं मिलता। जिस प्रकार गीतामें द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञको श्रेष्ठ माना है (गीता ४ ३३), उसी प्रकार छांदोग्योप-निषदमेंभी एक स्थानपर यह कहा है, कि मनुष्यका जीवन एक प्रकारका यज्ञही है (छां. ३. १६, १७); और इस प्रकारके यज्ञकी महत्ताका वर्णन करते हुए यहभी कहा है, कि "यह यज्ञ-विद्या घोर आंगिरस नामक ऋषिने देवकीपुत्र कृष्णको बतलाई।" इस देवकीपुत्र कृष्ण तथा गीताके श्रीकृष्णको एकही व्यक्ति माननेके

लिये कोई प्रमाण नहीं है। परंतु यदि कुछ देरके लिए दोनोंको एकही व्यक्ति लें; तोभी स्मरण रहे, कि ज्ञान-यज्ञको श्रेष्ठ माननेवाली गीतामें घोर आंगिरसका कहींभी उल्लेख नहीं किया गया है। इसके सिवा, बृहदारण्यकोपनिषदसे यह बात प्रकट है, कि जनकका मार्ग यद्यपि ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक था, तथापि उस समय इस मार्गमें भक्तिका समावेश नहीं किया गया था। अतएव भक्तियुग ज्ञान-कर्म-समुच्चय पंथकी सांप्रदायिक परंपरामें जनककी गणना नहीं की जा सकती, और न वह गीतामें की गई है। गीताके चौथे अध्यायके आरंभमें कहा है (गीता ४. १–३), कि युगके आरंभमें भगवानने पहले विवस्वानको, विवस्वानने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुको गीता-धर्मका उपदेश किया था; परंतु कालके हेरफेरसे उसका लोप हो जानेके कारण वह फिरसे अर्जुनको बतलाना पड़ा। गीता-धर्मकी परंपराका ज्ञान होनेके लिये ये श्लोक अत्यंत महत्त्वके हैं, परंतु टीकाकारोंने शब्दार्थ बतलानेके अतिरिक्त उनका विशेष रीतिसे स्पष्टीकरण नहीं किया है; और कदाचित् ऐसा करना उन्हें इष्टभी न रहा हो। क्योंकि, यदि कहा जाएँ, कि गीता-धर्म मूलमें किसी एक विशिष्ट पंथका है; तो उससे अन्य धार्मिक पंथोंको कुछ-न-कुछ गौणता प्राप्त हो जाती है। परंतु हमने गीतारहस्यके आरंभमें तथा गीताके चौथे अध्यायके प्रथम दो श्लोकोंकी टीकामें प्रमाणसहित इस बातका स्पष्टीकरण कर दिया है, कि गीतामें वर्णित परंपराका मेल उस परंपराके साथ पूरा दीख पडता है, कि जो महाभारतान्तर्गत नारायणीयोपाख्यानमें वर्णित भागवत धर्मकी परंपरामें अंतिम त्रेतायुग-कालीन परंपरा है। भागवत धर्म तथा गीता-धर्मकी परंपराकी एकताको देखकर कहना पड़ता है कि गीता-ग्रंथ भागवत-धर्मीय है; और यदि इस विषयमें कुछ शंका हो, तो महाभारतमें दिये गये वैशंपायनके इस वाक्य – "गीतामें भागवत धर्मही बतलाया गया है" (मभा. शां. ३४६. १०) से वह दूर हो जाती है। इस प्रकार जब यह सिद्ध हो गया, कि गीता औपनिषदिक ज्ञानका अर्थात् वेदान्तका स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है, उसमें भागवत धर्मका प्रतिपादन किया गया है; तब यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं, कि भागवत धर्मसे अलग करके गीताकी जो चर्चा की जाएगी, वह अपूर्ण तथा भ्रममूलक होगी। अतएव, भागवत धर्म कब उत्पन्न हुआ और उसका मूल स्वरूप क्या था, इत्यादि प्रश्नोंके विषयमें जो बातें इस समय उपलब्ध हैं, उनकाभी विचार संक्षेपमें यहाँ किया जाना चाहिये। गीतारहस्यमें हम पहलेही कह चुके हैं, कि इस भागवतधर्मकेही नारायणीय, सात्वत, पांचरात्र-धर्म आदि अन्य नाम हैं।

उपनिषत्कालके बाद और बुद्धके पहले जो वैदिक धर्म-ग्रंथ बने, उनमेंसे अधिकांश ग्रंथ लुप्त हो गये हैं, इस कारण भागवत धर्मपर वर्तमान समयमें जो ग्रंथ उपलब्ध हैं, उनमेंसे, गीताके अतिरिक्त, मुख्य ग्रंथ येही हैं – महाभारतान्तर्गत शांतिपर्वके अंतिम अठारह अध्यायोंमें निरूपित नारायणीयोपाख्यान (मभा. शां.

३३४–३५१), शांडिल्य-सूत्र, भागवत-पुराण, नारद-पंचरात्र, नारद-सूत्र, तथा रामानुजाचार्य आदिके ग्रंथ। इनमें रामानुजाचार्यके ग्रंथ तो प्रत्यक्षमें सांप्रदायिक दृष्टिसेही, अर्थात् भागवतधर्मके विशिष्टाद्वैत वेदान्तसे मेल करनेके लिये विक्रम संवत् १३३५ में (शालिवाहन शकके लगभग बारहवें शतकमें) लिखे गये हैं। अतएव भागवत धर्मका मूल-स्वरूप निश्चित करनेके लिये इन ग्रंथोंका सहारा नहीं लिया जा सकता; और यही बात मध्वादिके अन्य वैष्णव ग्रंथोंकीभी है। श्रीमद्भागवतपुराण इसके पहलेका है। परंतु इस पुराणके आरंभमेंही यह कथा है (भाग. स्कं. १ अ. ४.५), कि जब व्यासजीने देखा, कि महाभारतमें, अतएव गीतामेंभी, नैष्कर्म्य-प्रधान भागवत धर्मका जो निरूपण किया गया है, उसमें भक्तिका जैसा चाहिये वैसा वर्णन नहीं है; और "भक्तिके बिना केवल नैष्कर्म्य शोभा नहीं पाता", तब उनका मन कुछ उदास और अप्रसन्न हो गया; एवं अपने मनकी इस तलमलाहटको दूर करनेके लिये नारदजीकी सूचनासे उन्होंने भक्तिके माहात्म्यका प्रतिपादन करनेवाले भागवतपुराणकी रचना की। इस कथाका ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेपर दीख पड़ेगा, कि मूल भागवत धर्ममें अर्थात् भारतान्तर्गत भागवत धर्ममें नैष्कर्म्यको जो श्रेष्ठता दी गयी थी, वह जब समयके हेरफेरसे कम होने लगी; और उसके बदले जब भक्तिको प्रधानता दी जाने लगी, तब भागवत धर्मके इस दूसरे स्वरूपका (अर्थात् भक्तिप्रधान भागवत धर्मका) प्रतिपादन करनेके लिये यह भागवतपुराणरूपी मेवा पीछे तैयार किया गया है। नारदपंचरात्र-ग्रंथभी इसी प्रकार का अर्थात् केवल भक्ति-प्रधान है; और उसमें द्वादश-स्कंधोंके भागवतपुराणका तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण, विष्णुपुराण, गीता और महाभारतका नामोल्लेख कर स्पष्ट निर्देश किया गया है (ना. पं. २. ७. २८–३२; ३. १४. ७३; ४. ३. १५४)। इसलिये यह प्रकट है, कि भागवत धर्मके मूल-स्वरूपका निर्णय करनेके लिये इस ग्रंथकी योग्यता भागवत-पुराणसेभी कम दर्जेकी है। नारदसूत्र तथा शांडिल्य-सूत्र कदाचित् नारदपंचरात्र-सेभी कुछ प्राचीन हो; परंतु नारद-सूत्रमें व्यास और शुक (ना. सू. ८३) का उल्लेख है, इसलिए वह भारत और भागवतके बादका है; और शांडिल्यसूत्रमें भगवद्गीताके श्लोक ही उद्धृत किये गये हैं (शां. सू. ९. १५ और ८३), अतएव यह सूत्र यद्यपि नारद-सूत्र (ना. सू. ८३) से प्राचीनभी हो; तथापि इसमें संदेह नहीं, कि यह गीता और महाभारतके अनंतर का है। अतएव, भागवत-धर्मके मूल तथा प्राचीन स्वरूपका निर्णय अंतमें महाभारतान्तर्गत नारायणीयाख्यानके आधारसेही करना पड़ता है। भागवतपुराण (भाग. १. ३. २४) और नारद-पंचरात्र (ना. पं. ४. ३. १५६–१५९; ४. ८. ८१) ग्रंथोंमें बुद्धको विष्णुका अवतार कहा है। परंतु नारायणीयाख्यानमे वर्णित दशावतारोंमें बुद्धका समावेश नहीं किया गया है – पहला अवतार हंसका और आगे कृष्णके बाद एकदम कल्कि अवतार

बतलाया है (मभा. शां. ३३९. १००)। इससे यही सिद्ध होता है, कि नारायणीयाख्यान भागवतपुराणसे और नारद-पंचरात्रसे प्राचीन है। इस नारायणीयाख्यानमें यह वर्णन है, कि नर तथा नारायण (जो परब्रह्महीके अवतार हैं) नामक दो ऋषियोंने नारायणीय अर्थात् भागवत धर्मको पहले पहल जारी किया; और उनके कहनेसे जब नारद ऋषि श्वेतदीपको गये, तब वहाँ स्वयं भगवानने नारदको इस धर्मका प्रथम उपदेश किया। भगवान् जिस श्वेतदीपमें रहते हैं, वह क्षीर-समुद्रमें है; और क्षीर-समुद्र मेरुपर्वतकी उत्तरमें है; इत्यादि नारायणीयाख्यानकी बातें प्राचीन और पौराणिक ब्रह्मांडवर्णनके अनुसारही हैं; और इस विषयमें हमारे यहाँ किसीको कुछ कहनाभी नहीं है। परंतु वेबर नामक पश्चिमी संस्कृतज्ञ पंडितने इसी कथाका विपर्यास करके यह दीर्घ शंका की थी, कि भागवत धर्ममें वर्णित भक्ति-तत्त्व श्वेतदीपसे – अर्थात् हिंदुस्थानके बाहरके किसी अन्य देशसे – हिंदुस्थानमें लाया गया है; और भक्तिका यह तत्त्व इस समय ईसाई धर्मके अतिरिक्त और कहींभी प्रचलित नहीं था; इसलिए ईसाई देशोंसेही भक्तिकी कल्पना भागवत धर्मियोंको सूझी है! परंतु पाणिनीको वासुदेव-भक्तिका तत्त्व मालूम था; और बौद्ध तथा जैन धर्ममेंभी भागवतधर्म तथा भक्तिके उल्लेख पाये जाते है; एवं यह बातभी निर्विवाद है, कि पाणिनी और बुद्ध दोनों ईसाके पहले हुए थे। इसलिये अब पश्चिमी पंडितोंनेभी निश्चित किया है कि वेबर साहबकी उपर्युक्त शंका निराधार है। ऊपर यह बतला दिया गया है, कि भक्तिरूप धर्मांगका उदय हमारे यहाँ ज्ञान-प्रधान उपनिषदोंके अनंतर हुआ है। इससे यह बात निर्विवाद प्रकट होती है, कि ज्ञान-प्रधान उपनिषदोंके बाद तथा बुद्धके पहले वासुदेव-भक्तिसंबंधी भागवत धर्म उत्पन्न हुआ है। अब प्रश्न केवल इतनाही है, कि वह बुद्धके कितने शतक* पहले हुआ ? अगले विवेचनसे यह बात ध्यानमें आ जाएगी, कि यद्यपि उक्त प्रश्नका पूर्णतया निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता; तथापि स्थूल-दृष्टिसे उस कालका अंदाज करना कुछ असंभव नहीं है।

गीता (गी. ४. २) में यह कहा है, कि श्रीकृष्णने जिस भागवत धर्मका उपदेश अर्जुनको किया है, उसका पहले लोप हो गया था। भागवत धर्मके तत्त्वज्ञानमें

---

* भक्तिमान् (पाली = भत्तिमा) शब्द थेरगाथा (श्लो. ३७०) में मिलता है; और एक जातकमेंभी भक्ति का उल्लेख किया गया है। इसके सिवा, प्रसिद्ध फ्रेंच पाली-पंडित सेनार्त (Senart) ने 'बौद्ध धर्मका मूल' इस विषयपर सन १९०९ में एक व्याख्यान दिया था, जिसमें स्पष्ट रूपसे यह प्रतिपादन किया है, कि भागवत धर्म बौद्ध धर्मके पहलेका है। "No one will claim to derive from Buddhism' Vishnuism or the Yoga. Assuredly, Buddhism is the borrower",... "To sum up, if there had not previously, existed a religion made up of the doctrines of Yoga, of Vishnuite legends, of devotion to Vishnu-Krishna, worshipped under the title of Bhagavata

परमेश्वरको वासुदेव, जीवको संकर्षण, मनको प्रद्युम्न तथा अहंकारको अनिरुद्ध कहा है। इनमेंसे वासुदेव तो स्वयं श्रीकृष्णहीका नाम है; संकर्षण उनके ज्येष्ठ भ्राता बलरामका नाम है; तथा प्रद्युम्न और अनिरुद्ध श्रीकृष्णजीके पुत्र और पौत्रके नाम हैं। इसके सिवा इस धर्मका जो दूसरा नाम 'सात्वत'भी है, वह उस यादव-जातिका नाम है, जिसमें श्रीकृष्णजीने जन्म लिया था। इससे यह बात प्रकट होती है, कि जिस कुल तथा जातिमें श्रीकृष्णजीने जन्म लिया था, उसमें यह धर्म प्रचलित हो गया था; और तभी उन्होंने अपने प्रिय मित्र अर्जुनको उसका उपदेश किया होगा – और यही बात पौराणिक कथामेंभी कही गई है। यहभी कथा प्रचलित है, कि श्रीकृष्णजीके साथही सात्वत जातिकाभी अंत हो गया। इस कारण श्रीकृष्णके बाद सात्वत जातिमें इस धर्मका प्रसार होनाभी संभव नहीं था। भागवतधर्मके भिन्न भिन्न नामोंके विषयमें इस प्रकारकी ऐतिहासिक उपपत्ति बतलाई जा सकती है, कि जिस धर्मको श्रीकृष्णजीने प्रवृत्त किया था, वह उनके पहले कदाचित् नारायणीय या पाँचरात्र नामोंसे न्यूनाधिक अंशोंमें प्रचलित रहा होगा; और आगे सात्वत जातिमें उसका प्रसार होनेपर उसे 'सात्वत' नाम प्राप्त हुआ होगा। तदनंतर भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनको नर-नारायणके अवतार मानकर लोग इस धर्मको 'भागवत धर्म' कहने लगे होंगे। इस विषयके संबंधमें यह माननेकी कोई आवश्यकता नहीं, कि तीन या चार भिन्न भिन्न श्रीकृष्ण हो चुके हैं; और उनमेंसे हर एकने इस धर्मका प्रचार करते समय अपनी ओरसे कुछ-न-कुछ सुधार करनेका प्रयत्न किया है – वस्तुतः ऐसा माननेके लिए कोई प्रमाणभी नहीं है। मूल धर्ममें न्यूनाधिक परिवर्तन हो जानेके कारणही यह कल्पना उत्पन्न हो गई है। बुद्ध, ईसा तथा मुहंमद तो अपने अपने धर्मके स्वयं एकही एक संस्थापक हो गये हैं; और आगे उनके धर्मोंमें भले-बुरे अनेक परिवर्तनभी हो गये हैं। परंतु इससे कोई यह नहीं मानता, कि बुद्ध, ईसा या मुहंमद अनेक हो गये। इसी प्रकार यदि मूल भागवत धर्मको आगे चलकर भिन्न भिन्न स्वरूप प्राप्त हो गये या श्रीकृष्णजीके विषयमें आगे भिन्न भिन्न कल्पनाएँ रूढ हो गईं, तो यह कैसे माना जा सकता है, कि उतनेही भिन्न

Buddhism would not have come to birth at all." सेनार्तका यह लेख पूनेसे प्रकाशित होनेवाले The Indian Interpreter नामक मिशनरी त्रैमासिक पत्र अक्तूबर १९०९ और जनवरी १९१० के अंकोंमें प्रसिद्ध हुआ है; और ऊपर दिये गये वाक्य जनवरीके अंकके १७७ तथा १७८ पृष्टों में हैं। डॉ. बुल्हरनेभी कहा है – The ancient Bhagavta, Satvata or Pancharatra sect devoted to the worship of Narayana and his defied teacher Krishna-Devakiputra dates from a period long anterior to the rise of Jainas the 8th Century B. C." – Indian Antiquary Vol. XXIII. (1894), P. 248. इस विषयका अधिक विवेचन आगे चलकर इसी परिशिष्ट प्रकरणके छठें भागमें किया गया है।

भिन्न श्रीकृष्णभी हो गये ? हमारे मतानुसार ऐसा माननेके लिये कोई कारण नहीं है। कोईभी धर्म लीजिये, समयके हेरफेरसे उसका रूपांतर हो जाना बिलकुल स्वाभाविक है, उसके लिये इस बातकी आवश्यकता नहीं, कि भिन्न भिन्न कृष्ण, बुद्ध या ईसा मसीह माने जावें।* कुछ लोग, और विशेषत: कुछ कुछ पश्चिमी तर्कज्ञानी – यह किया करते हैं, कि श्रीकृष्ण, यादव और पांडव, तथा भारतीय युद्ध आदि ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं, ये सब कल्पित कथाएँ हैं; और कुछ लोगोंके मतमें तो महाभारत अध्यात्म विषयका एक बृहत् रूपकही है। परंतु हमारे प्राचीन ग्रंथोंके प्रमाणोंको देखकर किसीभी निःपक्षपाती मनुष्यको यह मानना पड़ेगा, कि उक्त शंकाएँ बिलकुल निराधार हैं। यह बात निर्विवाद है, कि इन कथाओंके मूलमें इतिहासहीका आधार है। सारांश, हमारा मत यह है, कि श्रीकृष्ण चार-पाँच नहीं हुए, वे केवल एकही ऐतिहासिक पुरुष थे। अब श्रीकृष्णजीके अवतार-कालपर विचार करते समय रा. ब. चिंतामणराव वैद्यने यह प्रतिपादन किया है, कि श्रीकृष्ण, यादव, पांडव तथा भारतीय युद्धका एकही काल – अर्थात् कलियुगका आरंभ-काल न होकर पुराणगणनाके अनुसार उस कालसे अबतक पाँच हज़ारसेभी अधिक वर्ष बीत चुके हैं। और यही श्रीकृष्णजीके अवतारका यथार्थ काल है।† परंतु पांडवोंसे लगाकर शक-काल तकके राजाओंकी पुराणोंमें वर्णित पीढ़ियोंसे इस कालका मेल नहीं दीख पड़ता। अतएव भागवत तथा विष्णु-पुराणमें जो यह वचन है, कि "परीक्षित राजाके जन्मसे नंदके अभिषेकतक ११११५ अथवा १०१५ वर्ष होते हैं"

---

* श्रीकृष्णके चरित्रमें पराक्रम, भक्ति और वेदान्तके अतिरिक्त गोपियोंकी रासक्रिडाका समावेश होता है; और ये बातें परस्पर-विरोधी हैं। इसलिये आजकल कुछ विद्वान् यह प्रतिपादन किया करते हैं, कि महाभारतका कृष्ण भिन्न, गीताका भिन्न और गोकुलका कन्हैयाभी भिन्न है। डॉ. भांडारकरने अपने वैष्णव, शैव आदि पंथ संबंधी अंग्रेजी ग्रंथमें इसी मतको स्वीकार किया है। परंतु हमारे मतमें यह ठीक नहीं है। यह बात नहीं, कि गोपियोंकी कथामें जो शृंगार-वर्णन है, वह बादमें न आया हो। परंतु केवल उतनेहीके लिये यह माननेकी कोई आवश्यकता नहीं, कि श्रीकृष्ण नामके कई भिन्न भिन्न पुरुष हो गये; और इसके लिये कल्पनाके सिवा कोई अन्य आधारभी नहीं है। इसके सिवा, यहभी नहीं, कि गोपियोंकी कथाका प्रचार पहले भागवत-कालहीमें हुआ हो; किंतु शककालके आरंभमें यानी विक्रम संवत् १३६ के लगभग अश्वघोष-विरचित 'बुद्धचरित' (४. १४) में और भास कविकृत 'बालचरित' नाटक (३. २) मेंभी गोपियोंका उल्लेख किया गया है। अतएव इस विषयमें हमें डॉ. भांडारकरके कथनसे चिंतामणराव वैद्यका मत अधिक सयुक्तिक प्रतीत होता है।

† रावबहादुर चिंतामणराव वैद्यका यह मत उनके महाभारतके टीकात्मक अंग्रेजी ग्रंथमें है। इसके सिवा इसी विषयपर आपने सन १९१४ में डेक्कन कॉलेज एनिवसरीके समय जो व्याख्यान दिया था उसमभी इस बातका विवेचन किया था।

(भाग. १२. २. २६; विष्णु. ४. २४. ३२), उसीके आधारपर विद्वानोंने अव यह निश्चित किया है, कि ईसाई सनके लगभग १४०० वर्ष पहले भारतीय युद्ध और पांडव हुए होंगे। अर्थात् श्रीकृष्णका अवतार-कालभी यही है, और इस कालको स्वीकारकर लेनेपर यह वात सिद्ध होती है, कि श्रीकृष्णने भागवत धर्मको, ईसासे लगभग १४०० वर्ष पहले, अथवा बुद्धसे ८०० वर्ष पहले – प्रचलित किया होगा। इसपर कुछ लोग यह आक्षेप करते हैं, कि श्रीकृष्ण तथा पांडवोंके ऐतिहासिक पुरुष होनेमें कोई संदेह नहीं; परंतु श्रीकृष्णके जीवन-चरित्रमें उनके अनेक रूपांतर दीख पड़ते हैं – जैसे श्रीकृष्ण नामक एक क्षत्रिय योद्धाको पहले महापुरुषका पद प्राप्त हुआ, पश्चात् विष्णुका पद मिला और धीरे धीरे अतमें पूर्ण परब्रह्मका रूप ब्राह्मणोंसे प्राप्त हो गया – इन सब अवस्थाओंमें आरंभसे अंततक बहुत-सा काल बीत चुका होगा, इसीलिये भागवत-धर्मके उदयका तथा भारतीय युद्धका एक-ही काल नहीं माना जा सकता। परंतु यह आक्षेप निरर्थक है। "किसे देव मानना चाहिये; और किसे नहीं मानना चाहिये" इस विषयपर आधुनिक तर्कज्ञोंकी समझमें तथा दो-चार हज़ार वर्ष पहलेके लोगोंकी समझ (गीता १०. ४१)में बड़ा अंतर हो गया है। श्रीकृष्णके पहलेही बने हुए उपनिषदोंमें यह सिद्धान्त किया गया है, कि ज्ञानी पुरुष स्वयं ब्रह्ममय हो जाता है (बृ. ४. ४. ६); और मैत्र्युपनिषदमें यह साफ़ साफ़ कह दिया है, कि रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण ये सब ब्रह्मही हैं (मैत्र्यु. ७. ७)। फिर श्रीकृष्णको परब्रह्मत्व प्राप्त होनेके लिये अधिक समय लगनेका कारण क्या है? इतिहासकी ओर देखनेसे विश्वसनीय बौद्ध ग्रंथोंमेंभी यह वात दीख पड़ती है, कि स्वयं अपनेको 'ब्रह्मभूत' (सेलसुत्त. १४; थेरगाथा ८३१) कहलाता था, उसके जीवनकालहीमें उसे देवके सदृश सन्मान दिया जाता था और उसके स्वर्गस्थ होनेके बाद शीघ्र ही उसे 'देवाधिदेव'का अथवा वैदिक धर्मके परमात्माका स्वरूप प्राप्त हो गया था; और उसकी पूजाभी हो गई थी। यही बात ईसा मसीहकीभी है। यह बात सच है, कि बुद्ध तथा ईसाके समान श्रीकृष्ण संन्यासी नहीं थे; और न भागवत धर्मही निवृत्ति-प्रधान है। परंतु केवल इसी आधारपर, बौद्ध तथा ईसाई धर्मके मूल पुरुषोंके समान, भागवत धर्मप्रवर्तक श्रीकृष्णकोभी पहलेहीसे ब्रह्म अथवा देवका स्वरूप प्राप्त होनेमें किसी बाधाके उपस्थित होनेका कारण दीख नहीं पड़ता।

इस प्रकार श्रीकृष्णका समय निश्चित कर लेनेपर, उसी कालको भागवत धर्मका उदयकाल माननाभी प्रशस्त तथा सयुक्तिक है, परंतु सामान्यतः पश्चिमी पंडित ऐसा करनेमें जो हिचकिचाते हैं, उसका कारण कुछ औरही है। इन पंडितोंमेंसे अधिकांशका अबतक यही मत है, कि खुद ऋग्वेदकाही काल ईसाके पहले लगभग १५०० वर्ष या बहुत हुआ तो २००० वर्षसे अधिक प्राचीन नहीं है। अतएव उन्हें अपनी दृष्टिसे यह कहना असंभव प्रतीत होता है, कि भक्ति-प्रधान भागवत धर्म

ईसाके लगभग १४०० वर्ष पहले प्रचलित हुआ होगा। क्योंकि वैदिक धर्मसाहित्यसे यह क्रम निर्विवाद सिद्ध है, कि ऋग्वेदके बाद यज्ञयाग आदि कर्म-प्रतिपादक यजुर्वेद और ब्राह्मण-ग्रंथ बने। तदनंतर ज्ञान-प्रधान उपनिषद और सांख्यशास्त्र निर्मित हुए; और अंतमें भक्ति-प्रधान ग्रंथ रचे गये; और केवल भागवत धर्मके ग्रंथोंका अवलोकन करनेसेभी स्पष्ट प्रतीत होता है, कि औपनिषदिक ज्ञान, सांख्यशास्त्र, चित्त-निरोधरूपी योग आदि धर्मांग भागवत धर्मके उदयके पहलेही प्रचलित हो चुके थे। समय की मनमानी खींचातानी करनेपरभी यही मानना पड़ता है, कि ऋग्वेदके बाद और भागवत धर्मके उदयके पहले, उक्त भिन्न भिन्न धर्मांगोंका प्रादुर्भाव तथा वृद्धि होनेके लिये, बीचमें कम-से-कम दस-बारह शतक अवश्य बीत गये होंगे। परंतु यदि माना जाए, कि भागवत धर्मको श्रीकृष्णने अपनेही समयमें – अर्थात् इसाके लगभग १४०० वर्ष पहले – प्रवृत्त किया होता; तो उक्त भिन्न भिन्न धर्मांगोंकी वृद्धिके लिये उक्त पश्चिमी पंडितोंके मतानुसार कुछभी उचित कालावकाश नहीं रह जाता। क्योंकि, ये पंडित लोग ऋग्वेद-कालहीको ईसासे पहले १५०० तथा २००० वर्षसे अधिक प्राचीन नहीं मानते, ऐसी अवस्थामें यह मानना पड़ता है, कि सौ या अधिकसे अधिक पाँच-छः सौ वर्षके बादही भागवत धर्मका उदय हो गया। इसलिये उपर्युक्त कथनानुसार कुछ निरर्थक कारण बतला कर वे लोग श्रीकृष्ण और भागवत धर्मकी समकालीनताको नहीं मानते; और यह कहनेके लियेभी उद्यत हो गये हैं, कि भागवत धर्मका उदय बुद्धके बाद हुआ होगा। परंतु जैन तथा बौद्ध ग्रंथोंमेंही भागवत धर्मके जो उल्लेख पाये जाते हैं, उनसे तो यही बात स्पष्ट विदित होती है कि भागवत धर्म बुद्धसे प्राचीन है। अतएव डॉ. बुल्हरने* कहा है, कि भागवत धर्मका उदय-काल बौद्ध-कालके आगे हटानेके बदले, हमारे 'ओरायन' ग्रंथके प्रतिपादनके अनुसार ऋग्वेदादि ग्रंथोंका कालही पीछे हटाया जाना चाहिये। पश्चिमी पंडितोंने अटकलपच्चू अनुमानोंसे वैदिक ग्रंथोंके जो काल निश्चित किये हैं, वे भ्रममूलक हैं; अतः वैदिक-कालकी पूर्वमर्यादा ईसाके पहले ४५०० वर्षसे कम नहीं ली जा सकती, इत्यादि बातोंको हमने अपने 'ओरायन' ग्रंथमें वेदोंके उदगयन-स्थिति-दर्शक वाक्योंके आधारपर सिद्ध कर दिया है, और यही अनुमान अब अधिकांश पश्चिमी पंडितोंकोभी ग्राह्य है। इस प्रकार ऋग्वेद-कालको पीछे हटानेसे वैदिक धर्मके सब अंगोंकी वृद्धि होनेके लिये उचित कालावकाश मिल जाता है; और भागवत-धर्मादय-कालको संकुचित करनेका प्रयोजनही नहीं रह जाता। परलोकवासी शंकर बाळकृष्ण दीक्षितने अपने (मराठी) "भारतीय ज्योतिःशास्त्र के इतिहास"में

---

* डॉ. बुल्हरने *Indian Antiquary*, September 1894 (Vol. XXIII, pp. 238--244) में हमारे 'ओरायन' ग्रंथकी जो समालोचना की है, उसे देखो।

यह बतलाया है, कि ऋग्वेदके बाद ब्राह्मण आदि ग्रंथोंमें कृत्तिका प्रभृति नक्षत्रोंकी गणना है, इसलिये उनका काल ईसासे लगभग २५०० वर्ष पहले निश्चित करना पड़ता है। परंतु हमारे देखनेमें यह अभीतक नहीं आया है, कि उदगयन-स्थितिसे ग्रंथोंके कालका निर्णय करनेकी इस रीतिका प्रयोग उपनिषदोंके विषयमें किया गया हो। रामतापनीसरीखे भक्तिप्रधान तथा योगतत्त्वसरीखे योग-प्रधान उपनिषदोंकी भाषा और रचना प्राचीन नहीं दीख पड़ती, केवल इसी आधार-पर कई लोगों ने यह अनुमान किया है, कि सभी उपनिषद् प्राचीनतामें बुद्धकी अपेक्षा चार-पाँच सौ वर्षसे अधिक नहीं हैं। परंतु काल-निर्णयकी उपर्युक्त रीतिसे देखा जाए, तो यह समझ भ्रममूलक प्रतीत होगी। यह सच है, कि ज्योतिषकी रीतिसे सभी उपनिषदोंका काल निश्चित नहीं किया जा सकता; तथापि मुख्य मुख्य उपनिषदोंका काल निश्चित करनेके लिए इस रीतिका बहुत अच्छा उपयोग किया जा सकता है। भाषाकी दृष्टिसे देखा जाए, तो प्रो. मैक्समूलरका यह कथन है, कि मैत्र्युपनिषद् पाणिनीसेभी प्राचीन है;* क्योंकि इस उपनिषदमें ऐसी कई छांदस शब्द-संधियोंका प्रयोग किया गया है, जो सिर्फ मैत्रायणी-संहितामेंही पायी जाती हैं; और जिनका प्रचार पाणिनीके समय बंद हो गया था। **परंतु मैत्रायण्युपनिषद्** कुछ सबसे पहला अर्थात् अति-प्राचीन उपनिषद् नहीं है। उसमें न केवल ब्रह्मज्ञान और सांख्यका मेलकर दिया है, किंतु कई स्थानोंपर छांदोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, कठ और ईशावास्य उपनिषदोंके वाक्य अथवा श्लोकभी उसमें प्रमाणार्थ उद्धृत किये गये हैं। हाँ; यह सच है, कि मैत्र्युप-निषदमें स्पष्ट रूपसे उक्त उपनिषदोंके नाम नहीं दिये गये हैं। परंतु इन वाक्योंके पहले ऐसे परवाक्य-दर्शक पद रखे गये हैं, कि 'एवं ह्याह' या 'उक्तं च' (= ऐसा कहा है), इसीलिये इस विषयमें कोई संदेह नहीं रह जाता, कि ये वाक्य दूसरे ग्रंथोंसे लिये गये हैं – स्वयं मैत्र्युपनिषत्कारके नहीं हैं; और अन्य उपनिषदोंको देखनेसे सहजही मालूम हो जाता है, कि वे वचन कहाँसे उद्धृत किये हैं। अब इस मैत्र्युपनिषदमें कालरूपी अथवा संवत्सररूपी ब्रह्मका विवेचन करते समय यह वर्णन पाया जाता है, कि "मघा नक्षत्रके आरंभसे क्रमश: श्रविष्ठा अर्थात् धनिष्ठा नक्षत्रके आधे भागपर पहुँचनेतक (मघाद्यं श्रविष्ठार्धमम्) दक्षिणायन होता है; और सार्प अर्थात् आश्लेषा नक्षत्रसे विपरीत क्रमपूर्वक, अर्थात् आश्लेषा, पुष्य आदि क्रमसे, पीछे गिनते हुए धनिष्ठा नक्षत्रके आधे भागतक उत्तरायण होता है" (मैत्र्यु. ६. १४)। इसमें संदेह नहीं, कि उदगयन-स्थितिदर्शक ये वचन तत्कालीन उदगयन-स्थितिको लक्ष्य करकेही कहे गये हैं; और फिर उससे इस उप

---

* See Sacred Books of the East Series, Vol. XV, Intro. pp. xlviii--lii.

निपदका काल-निर्णयभी गणितकी रीतिसे सहजही किया जा सकता है। परंतु दीख पड़ता है, किसीनेभी उसका इस दृष्टिसे विचार नहीं किया है। मैत्र्युपनिपदमें वर्णित यह उदगयन-स्थिति वेदांगज्योतिषमें कही गई उदगयन-स्थितिके पहलेकी है। क्योंकि वेदांगज्योतिषमें यह बात स्पष्ट रूपसे दी गई है, कि उदगयनका आरंभ धनिष्ठा नक्षत्रके आरंभसे होता है, और मैत्र्युपनिपदमें उसका आरंभ 'धनिष्ठार्ध'से किया गया है। इस विषयमें मतभेद है, कि मैत्र्युपनिपदके 'श्रविष्ठार्धम्' शब्दमें जो 'अर्धम्' पद है, उसका अर्थ 'ठीक आधा' करना चाहिये; अथवा "धनिष्ठा और शततारकाके बीच किसी स्थानपर" करना चाहिये? परंतु चाहे जो कहा जाएँ; इसमें तो कुछभी संदेह नहीं, कि वेदांगज्योतिषके पहलेकी उदगयन-स्थितिका वर्णन मैत्र्युपनिपदमें किया है; और वही उस समयकी स्थिति होनी चाहिये। अतएव यह कहना चाहिये, कि वेदांगज्योतिष-कालका उदगयन, मैत्र्युपनिपत्कालीन उदगयनकी अपेक्षा लगभग आधे नक्षत्रसे पीछे हट आया था। ज्योतिर्गणितसे यह सिद्ध होता है, कि वेदांगज्योतिषमें कही गई उदगयन-स्थिति ईसवी सनके लगभग १२०० या १४०० वर्ष पहलेकी है; * और आधे नक्षत्रसे उदगयनके पीछे हटनेमें लगभग ४८० वर्ष लग जाते हैं, इसलिये गणितसे यह बात निष्पन्न होती है, कि मैत्र्युपनिषद् ईसाके पहले १८८० से १६८० वर्षके बीच कभी-न-कभी बना होगा। और कुछ नहीं तो यह उपनिषद् निस्संदेह वेदांगज्योतिषके पहलेका है। अब यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि छांदोग्यादि जिन उपनिषदोंके अवतरण मैत्र्युपनिषदमें दिये गये हैं, वे उससेभी प्राचीन हैं। सारांश, इन सब ग्रंथोंके कालका निर्णय इस प्रकार हो चुका है, कि ऋग्वेद सन ईसवीसे लगभग ४५०० वर्ष पहलेका है; यज्ञयाग आदि विषयक ब्राह्मण-ग्रंथ सन ईसवीसे लगभग २५०० वर्ष पहलेके हैं; और छांदोग्य आदि ज्ञान-प्रधान उपनिषद् सन ईसवीसे लगभग १६०० वर्ष पुराने हैं। अब यथार्थमें वे बातें अवशिष्ट नहीं रह जातीं, जिनके कारण पश्चिमी पंडित लोग भागवत धर्मके उदय-कालको आगेकी ओर हटा लानेका यत्न किया करते हैं; और श्रीकृष्ण तथा भागवत धर्मको, गाय और बछड़ेकी नैसर्गिक जोडीके समान, एक-ही काल-रज्जुसे बाँधनेमें कोई भयभी नहीं दीख पड़ता; एवं फिर बौद्ध ग्रंथकारों द्वारा वर्णित अथवा अन्य ऐतिहासिक स्थितिसेभी ठीक ठीक मेल हो जाता है। इसी समय वैदिक-कालकी समाप्ति हुई; और सूत्र तथा स्मृति-कालका आरंभ हुआ है।

---

* वेदांगज्योतिषका कालविषयक विवेचन हमारे *Orion* (ओरायन) नामक अंग्रेजी ग्रंथमें तथा प. वा. शंकर बालकृष्ण दीक्षितके 'भारतीय ज्योतिःशास्त्रका इतिहास' मराठी ग्रंथमें (पृ. ८७–९४ तथा १२७–१३९) किया गया है। उसमें इस बातकाभी विचार किया गया है, उदगयनसे वैदिक ग्रंथोंका कौन-सा काल निश्चित किया जा सकता है।

उक्त कालगणनासे यह बात स्पष्टतया विदित हो जाती है, कि भागवत धर्मका उदय ईसाके लगभग १४०० वर्ष पहले, अर्थात् बुद्धके लगभग सात-आठ सौ वर्ष पहले, हुआ है। यह काल बहुत प्राचीन है; तथापि यह ऊपर बतला चुके हैं, कि ब्राह्मण-ग्रंथोंमें वर्णित कर्ममार्ग इससेभी अधिक प्राचीन है; और उपनिषदों तथा सांख्यशास्त्रमें वर्णित ज्ञानभी भागवत धर्मके उदयके पहले ही प्रचलित होकर सर्वमान्य हो गया था। ऐसी अवस्थामें हमारे मनसे, यह कल्पना करना सर्वथा अनुचित है, कि उक्त ज्ञान तथा धर्मांगोंकी कुछ चिंता न करके श्रीकृष्णसरीखे ज्ञानी और चतुर पुरुषने अपना धर्म प्रवृत्त किया होगा; अथवा उनके प्रवृत्त करने परभी यह धर्म तत्कालीन राजर्षियों तथा ब्रह्मर्षियोंको मान्य हुआ होगा; और लोगोंमें उसका प्रसार हुआ होगा। ईसाने अपने भक्ति-प्रधान धर्मका उपदेश पहले पहल जिन यहुदी लोगोंको किया था, उनमें उस समय धार्मिक तत्त्वज्ञानका प्रसार नहीं हुआ था, इसलिये अपने धर्मका मेल तत्त्वज्ञानके साथ कर देनेकी उसे कोई आवश्यकता नहीं थी। केवल यह बतला देनेसे ईसाका धर्मोपदेश-संबंधी काम पूरा हो सकता था, कि पुरानी बाईबलमें जिस कर्ममय धर्मका वर्णन किया गया है, हमारा यह भक्ति-मार्गभी उसीके लिये हुआ है; और उसने प्रयत्नभी केवल इतनाही किया है। परंतु ईसाई धर्मकी इन बातोंसे भागवत धर्मके इतिहासकी तुलना करते समय यह ध्यानमें रखना चाहिये, कि जिन लोगोंमें तथा जिस समय भागवत धर्मका प्रचार किया गया, उस उमयके वे लोग केवल कर्म-मार्गहीसे नहीं, किंतु ब्रह्मज्ञान तथा कापिल-सांख्यशास्त्रसेभी परिचित हो गये थे; और इन तीनों धर्मांगोंकी एकवाक्यता (मेल) करनाभी सीख चुके थे। ऐसे लोगोंसे यह कहना किसी प्रकार उचित नहीं हुआ होता, कि "तुम अपने कर्मकांड या औपनिषदिक और सांख्यज्ञानको छोड़ दो; और केवल श्रद्धापूर्वक भागवत धर्मको स्वीकार कर लो।" ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रंथोंमें वर्णित और उस समयमें प्रचलित यज्ञयाग आदि कर्मोंका फल क्या है? क्या उपनिषदोंका या सांख्यशास्त्रका ज्ञान वृथा है? भक्ति और चित्त-निरोधरूपी योगका मेल कैसे हो सकता है? – इत्यादि उस समय स्वभावतः उपस्थित होनेवाले प्रश्नोंका जबतक ठीक ठीक उत्तर न दिया जाता, तब भागवत धर्मका प्रचार होनाभी संभव नहीं था। अतएव न्यायकी दृष्टिसे अब यही कहना पड़ेगा, कि भागवत धर्ममें आरंभहीसे इन सब विषयोंकी चर्चा करना अत्यंत आवश्यक था; और महाभारतान्तर्गत नारायणीयोपाख्यानके देखनेसेभी यह सिद्धान्त दृढ हो जाता है। इस आख्यानमें भागवत धर्मके साथ औपनिषदिक ब्रह्मज्ञानका और सांख्य-प्रतिपादित क्षराक्षर-विचारका मेल कर दिया गया है; और यहभी कहा है, कि "चार वेद और सांख्य तथा योग, इन पाँचोंका उसमें (भागवत धर्ममें) समावेश होता है, इसलिये उसे पांचरात्र-धर्म नाम प्राप्त हुआ है" (मभा. शां. ३३९. १०७); और "वेदारण्यकसहित (अर्थात् उपनिषदोंकोभी

लेकर) ये सब (शास्त्र) परस्पर एक दूसरेके अंग हैं " (मभा. शां. ३४८. ८२)। 'पांचरात्र' शब्दकी यह निरुक्ति व्याकरणकी दृष्टिसे चाहे शुद्ध न हो; तथापि उससे यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है, कि सब प्रकारके ज्ञानकी एकवाक्यता भागवत धर्ममें आरंभहीसेकी गई थी। परंतु भक्तिके साथ अन्य सब धर्मांगोंकी एकवाक्यता करनाही भागवत धर्मकी प्रधान विशेषता नहीं है। यह नहीं, कि भक्तिके धर्मतत्त्वको पहले भागवत धर्महीने प्रवृत्त किया हो। ऊपर दिये हुए मैत्र्युपनिषदके (मैत्र्यु. ७. ७) वाक्यों से यह बात प्रकट है, कि रुद्रकी या विष्णुके किसी न किसी स्वरूपकी भक्ति, भागवत धर्मका उदय होनेके पहलेही जारी हो चुकी थी; और यह भावनाभी पहलेही उत्पन्न हो चुकी थी, कि उपास्य कुछभी हो; वह ब्रह्महीका प्रतीक अथवा एक प्रकारका रूप है। यह सच है, कि रुद्र आदि उपास्योंके बदले भागवत धर्ममें वासुदेव उपास्य माना गया है; परंतु गीता तथा नारायणीयोपाख्यानमेंभी यह कहा है, कि भक्ति चाहे जिसकी की जाएँ; वह एक भगवानहीके प्रति पहुँचती है; रुद्र और भगवान् भिन्न भिन्न नहीं हैं, (गीता ९. २३; मभा. शां. ३४१. २०–२६)। अतएव केवल वासुदेवभक्तिही भागवत धर्मका मुख्य लक्षण नहीं मानी जा सकती। जिस सात्वत-जातिमें भागवत धर्म प्रादुर्भूत हुआ, उस जातिके सात्यकि आदि पुरुष, परम भगवद्भक्त भीष्म और अर्जुन, तथा स्वयं श्रीकृष्णभी बड़े पराक्रमी एवं दूसरोंसे पराक्रमके कार्य करनेवाले हो गये हैं। अतएव अन्य भगवद्भक्तोंकोभी उचित था, कि वे इसी आदर्शको अपने संमुख रखें; और तत्कालीन प्रचलित चातुर्वर्ण्यके अनुसार युद्ध आदि सब व्यावहारिक कर्म करें – बस, यही मूल भागवत धर्मका मुख्य विषय था। यह बात नहीं, कि भक्तिके तत्त्वको स्वीकार करके वैराग्ययुक्त बुद्धिसे संसारका त्याग करनेवाले पुरुष उस समय विलकुल ही न होंगे। परंतु, यह सात्वतोंके या श्रीकृष्णके भागवत धर्मका मुख्य तत्त्व नहीं है। श्रीकृष्णजीके उपदेशका सार यही है, कि भक्तिसे परमेश्वरका ज्ञान हो जानेपर भगवद्भक्तको परमेश्वरके समान जगतके धारण-पोषणके लिये सदा यत्न करते रहना चाहिये। उपनिषत्कालमें जनक आदिकोंनेभी यह निश्चित कर दिया था, कि ब्रह्मज्ञानी पुरुषके लियेभी निष्काम कर्म करना कोई अनुचित बात नहीं। परंतु उस समय उसमें भक्तिका समावेश नहीं किया गया था; और इसके सिवा ज्ञानोत्तर कर्म करना अथवा न करना हर एककी इच्छापर अवलंबित था – अर्थात् वैकल्पिक समझा जाता था (वे. सू. ३. ४. १५)। वैदिक धर्मके इतिहासमें भागवत धर्मने जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण और स्मार्त-धर्मसे विभिन्न कार्य किया, वह यह है, कि उस (भागवत धर्म) ने कुछ कदम आगे बढ़कर केवल निवृत्तिकी अपेक्षा निष्काम कर्म-प्रधान प्रवृत्ति-मार्ग (नैष्कर्म्य) को अधिक श्रेयस्कर ठहराया; और केवल ज्ञानहीसे नहीं, किंतु भक्तिसेभी कर्मका उचित मेल कर दिया। इस धर्मके मूल प्रवर्तक नर और नारायण ऋषिभी इसी प्रकार सब

काम निष्काम बुद्धिसे किया करते थे; और महाभारत (मभा. उद्यो. ४८. २१, २२) में कहा है, कि सब योगोंको उनके समान कर्म करनाही उचित है। नारायणीय आख्यानमें तो भागवत धर्मका लक्षण स्पष्ट बतलाया है, कि " प्रवृत्ति-लक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः " (मभा. शां. ३४७. ८१) – नारायणीय अथवा भागवत धर्म प्रवृत्ति-प्रधान या कर्म-प्रधान है। नारायणीय या मूल भागवत धर्मका जो निष्काम प्रवृत्ति-तत्त्व है, उसीका नाम नैष्कर्म्य है; और यही मूल भागवत धर्मका मुख्य तत्त्व है। परंतु, भागवत-पुराणसे यह बात दीख पडती है; कि आगे कालांतरमें यह तत्त्व मंद होने लगा और इस धर्ममें तो वैराग्य-प्रधान वासुदेव-भक्ति श्रेष्ठ मानी जाने लगी। नारद-पंचरात्रमें भक्तिके साथ साथ मंत्रतंत्रोंकाभी समावेश भागवत धर्ममें कर दिया गया है। तथापि, भागवतहीसे यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि ये सब इस धर्मके मूल स्वरूप नही हैं। क्योंकि, भागवत (भाग. १. ३. ८; ११. ४. ४६) मेंही यह कहा है, कि जहाँ नारायणीय अथवा सात्वत-धर्मके विषयमें कुछ कहनेका मौका आया है, वहाँ सात्वत-धर्म या नारायण ऋषिका धर्म (अर्थात् भागवत धर्म) 'नैष्कर्म्यलक्षण' है; और आगे यहभी कहा है, कि इस नैष्कर्म्य-धर्ममें भक्तिको उचित महत्त्व नहीं दिया गया था, इसलिये भक्ति-प्रधान भागवत-पुराण कहना पड़ा (भाग. १. ५. १२)। इससे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है, कि मूल भागवत धर्म नैष्कर्म्य-प्रधान अर्थात् निष्काम कर्म-प्रधान था; किंतु आगे समयके हेरफेरसे उसका स्वरूप बदलकर वह भक्ति-प्रधान हो गया। गीतारहस्यमें ऐसी ऐतिहासिक बातोंका विवेचन पहलेही हो चुका है, कि ज्ञान तथा भक्तिसे पराक्रमका सदैव संबंध रखनेवाले मूल भागवत धर्ममें और आश्रम-व्यवस्थारूपी स्मार्त-मार्गमें क्या भेद है? केवल संन्यास-प्रधान जैन और बौद्ध धर्मके प्रसारसे भागवत धर्मके कर्मयोगकी अवनति होकर उसे दूसराही स्वरूप अर्थात वैराग्ययुक्त भक्ति-स्वरूप कैसे प्राप्त हुआ? और बौद्ध धर्मका ऱ्हास होनेके बाद जो वैदिक संप्रदाय प्रवृत्त हुए; उनमेंसे कुछने तो अंतमें भगवद्गीताहीको संन्यास-प्रधान, कुछने केवल भक्ति-प्रधान तथा कुछने विशिष्टाद्वैत-प्रधान स्वरूप कैसे दे दिया।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचनसे यह बात समझमें आ जाएगी, कि वैदिक धर्मके सनातन प्रवाहमें भागवत धर्मका उदय कब हुआ? और पहले उसके प्रवृत्ति-प्रधान या कर्म-प्रधान रहनेपरभी आगे चलकर भक्ति-प्रधान स्वरूप एवं अंतमें रामानुजा-चार्यके समय विशिष्टाद्वैती स्वरूप कैसे प्राप्त हो गया। भागवत धर्मके इन भिन्न भिन्न स्वरूपोंमेंसे जो मूलारंभका अर्थात निष्काम कर्म-प्रधान स्वरूप है, वही गीता-धर्मका स्वरूप है। अब यहाँपर संक्षेपमें यह बतलाया जाएगा, कि उक्त प्रकारकी मूल गीताके कालके विषयमें क्या अनुमान किया जा सकता है? श्रीकृष्ण तथा भारतीय युद्धका काल यद्यपि एकही है, अर्थात् सन ईसवीके पहले लगभग १४०० वर्ष है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता, कि भागवत धर्मके ये दोनों प्रधान ग्रंथ – मूल गीता तथा

मूल भारत – उसी समय रचे गये होंगे। किसीभी धर्म-ग्रंथका उदय होनेपर तुरंतही उस धर्मपर ग्रंथ रचे नहीं जाते; और भारत तथा गीताके विषयमेंभी यही न्याय पर्याप्त होता है। वर्तमान महाभारतके आरंभमें यह कथा है, कि जब भारतीय युद्ध समाप्त हो चुका; और जब पांडवोंका पोता (पौत्र) जनमेजय सर्प-सत्र कर रहा था, तब वहाँ वैशंपायनने जनमेजयको पहले पहल गीतासहित भारत सुनाया था; और आगे जब वही सौतीने शोनकको सुनाया, तभीसे भारत प्रचलित हुआ। यह बात प्रकट है, कि सौती आदि पौराणिकोंके मुखसे निकलकर आगे भारतको काव्यमय ग्रंथका स्थायी स्वरूप प्राप्त होनेमें कुछ समय अवश्य बीत गया होगा। परंतु इस कालका निर्णय करनेके लिये अब कोई साधन उपलब्ध नहीं है। ऐसी अवस्थामें यदि यह मान लिया जाए, कि भारतीय युद्धके लगभग पाँच सौ वर्षके भीतरही आर्ष महाकाव्यात्मक मूल भारत निर्मित हुआ होगा, तो कुछ विशेष साहसकी बात नहीं होगी। क्योंकि बौद्ध धर्मके ग्रंथ, बुद्धकी मृत्युके बाद, इससेभी जल्दी तैयार हुए हैं। अब आर्ष महाकाव्यमें नायकका केवल पराक्रम बतला देनेसेही काम नहीं चलता; किंतु उसमें यहभी बतलाना पड़ता है, कि नायक जो कुछ करता है, वह उचित है या अनुचित। इतनाही क्यों ? संस्कृतके अतिरिक्त अन्य साहित्योंमें जो उक्त प्रकारके महाकाव्य हैं, उनसेभी यही ज्ञात होता है, कि नायकके कार्योंके गुण-दोषोंका विवेचन करना आर्ष महाकाव्यका एक प्रधान भाग होता है। अर्वाचीन दृष्टिसे देखा जाए, तो कहना पड़ेगा, कि नायकोंके कार्योंका समर्थन केवल नीतिशास्त्रके आधारपर करना चाहिये। किंतु प्राचीन समयमें धर्म तथा नीतिमें पृथक भेद नहीं माना जाता था, अतएव उक्त समर्थनके लिए धर्म-दृष्टिके सिवा अन्य मार्ग नहीं था। फिर यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं, कि जो भागवत धर्म भारतके नायकोंको ग्राह्य हुआ था अथवा जो उन्हींके द्वारा प्रवृत्त किया गया था, उसी भागवत धर्मके आधारपर उनके कार्योंका समर्थन करनाभी आवश्यक था। इसके सिवा दूसरा कारण यहभी है, कि भागवत धर्मके अतिरिक्त तत्कालीन प्रचलित अन्य वैदिक धर्मपंथ न्यूनाधिक रीतिसे अथवा सर्वथा निवृत्ति-प्रधान थे, इसलिये उनमें वर्णित-धर्मतत्त्वोंके आधारपर भारतके नायकोंकी वीरताका पूर्णतया समर्थन करना संभव नहीं था। अतएव कर्मयोग-प्रधान भागवत धर्मका निरूपण महाकाव्यात्मक मूल भारतहीमें करना आवश्यक था। यही मूल गीता है, और यदि भागवत धर्मके मूल स्वरूपका उपपत्तिसहित प्रतिपादन करनेवाला सबसे पहला ग्रंथ यह न भी हो; तो यह स्थूल अनुमान किया जा सकता है, कि यह आदि-ग्रंथोंमेंसे एक अवश्य है; और इसका काल ईसासे लगभग ९०० वर्ष पहले है। इस प्रकार गीता यदि भागवत धर्म-प्रधान पहला ग्रंथ न हो, तोभी वह मुख्य ग्रंथोंमेंसे एक अवश्य है, इसलिये इस बातका दिग्दर्शन करना आवश्यक था, कि उसमें प्रतिपादित निष्काम कर्मयोग तत्कालीन प्रचलित अन्य धर्म-पंथोंसे – अर्थात् कर्मकांडसे, औपनिषदिक ज्ञानसे, सांख्यसे, चित्तनिरोधरूपी योगसे तथा भक्तिसेभी –

अविरुद्ध है; इतनाही नहीं, किंतु यही इस ग्रंथका मुख्य प्रयोजनभी कहा जा सकता है। नियमबद्ध वेदान्त और मीमांसाशास्त्र पीछेसे बने हैं, इसलिये उनका प्रतिपादन मूल गीतामें नहीं आ सकता; और यही कारण है, कि कुछ लोग यह शंका करते हैं, कि वेदान्त विषय गीतामें पीछेसे मिला दिया गया है। परंतु नियमबद्ध वेदान्त और मीमांसाशास्त्र पीछे भलेही बने हों; किंतु इसमें कोई संदेह नहीं, कि इन शास्त्रोंके प्रतिपाद्य विषय बहुत प्राचीन हैं; और इस बातका उल्लेख हम ऊपर करही आये हैं। अतएव मूल गीतामें इन विषयोंका प्रवेश होना काल-दृष्टिसे किसी प्रकार विपरीत नहीं कहा जा सकता। तथापि हम यहभी नहीं कहते, कि जब मूल भारतका महाभारत बनाया गया होगा, तब मूल गीतामें कुछभी परिवर्तन नहीं हुआ होगा। किसीभी धर्म-पंथको लीजिये; उसके इतिहाससे तो यही बात प्रकट होती है, कि उसमें समय-समयपर मतभेद होकर अनेक उपपंथ निर्माण हो जाया करते हैं। यही बात भागवत धर्मके विषयमेंभी कही जा सकती है। नारायणीयाख्यानमें (मभा. शां. ३४८. ५७) यह बात स्पष्ट रूप कह दी गई है, कि भागवत धर्मको कुछ लोग तो चतुर्व्यूह – अर्थात् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, इस प्रकार चार व्यूहोंका मानते हैं; और कुछ लोग त्रिव्यूह, द्विव्यूह या एकव्यूहही मानते हैं। आगे चलकर, ऐसेही औरभी अनेक मतभेद उपस्थित हुए होंगे। इसी प्रकार औपनिषदिक और सांख्यज्ञानकीभी वृद्धि हो रही थी। अतएव इस बातकी सावधानी रखना अस्वाभाविक या मूल गीताके हेतुके विरुद्धभी नहीं था, कि मूल गीतामें जो कुछ विभिन्नता हो, वह दूर हो जावे; और बढ़ते हुए पिंडब्रह्मांडज्ञानसे भागवत धर्मका पूर्णतया मेल हो जावे। हमने पहले 'गीता और ब्रह्मसूत्र' शीर्षक लेखमें यह बतला दिया है, कि इसी कारणसे वर्तमान गीतामें ब्रह्मसूत्रोंका उल्लेख पाया जाता है। इसके सिवा, उक्त प्रकारके अन्य परिवर्तनभी मूल गीतामें हो गये होंगे। परंतु मूल गीता-ग्रंथमें ऐसे अनेक परिवर्तनोंका होनाभी संभव नहीं था। वर्तमान समयमें गीताकी जो प्रामाणिकता है, उससे प्रतीत नहीं होता, कि वह उसे वर्तमान महाभारतके बाद मिली होगी। ऊपर कह चुके हैं, कि ब्रह्मसूत्रोंमेंही 'स्मृति' शब्दसे गीताको प्रमाण माना है। मूल भारतका महाभारत होते समय यदि मूल गीतामेंभी बहुतसे परिवर्तन हो गये होते, तो इस प्रामाणिकतामें निस्संदेह कुछ बाधा आ गई होती। परंतु वैसे नहीं हुआ; और गीता-ग्रंथकी प्रामाणिकता कहीं अधिक बढ़ गई है। अतएव यही अनुमान करना पड़ता है, कि मूल गीतामें जो कुछ परिवर्तन हुए होंगे, वे महत्त्वके न थे; किंतु ऐसे थे, जिनसे मूल ग्रंथके अर्थकी पुष्टि हो गई है। भिन्न भिन्न पुराणोंमें वर्तमान भगवद्गीताके नमूनेकी जो अनेक गीताएँ कही गई हैं; उनसे यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है, कि उक्त प्रकारसे मूल गीताको जो स्वरूप एक बार प्राप्त हो गया था, वही अबतक बना हुआ है; उसके बाद उसमें कुछभी परिवर्तन नहीं हुआ। क्योंकि, इन सब पुराणोंमेंसे अत्यंत प्राचीन पुराणोंके कुछ शतक पहलेही यदि वर्तमान गीता पूर्णतया प्रमाण-

भूत, और इसीलिये परिवर्तित न होने योग्य, न हो गई होती, तो उसी नमूनेकी अन्य गीताओंकी रचना करनेकी कल्पना होनाभी संभव नहीं था। इसी प्रकार गीताके भिन्न भिन्न सांप्रदायिक टीकाकारोंने एकही गीताके शब्दोंकी खींचातानी करके यह दिखलानेका जो प्रयत्न किया है, कि गीताका अर्थ हमारेही संप्रदायके अनुकूल है; उसकीभी कोई आवश्यकता नहीं थी। वर्तमान गीताके कुछ सिद्धान्तोंको परस्पर-विरोधी देख कुछ लोग यह शंका करते हैं, कि वर्तमान महाभारतान्र्गत गीतामेंभी आगे समय-समयपर कुछ परिवर्तन हुआ होगा। परंतु हम पहलेही बतला चुके हैं, कि वास्तवमें यह विरोध नहीं है, किंतु यह भ्रम है; जो धर्म-प्रतिपादन करनेवाली पूर्वापार वैदिक पद्धतियोंके स्वरूपको ठीक तौरपर न समझनेसे हुआ है। सारांश, ऊपर किये गये विवेचनसे यह बात समझमें आ जायगी, कि भिन्न भिन्न प्राचीन वैदिक धर्मांगोंकी एकवाक्यता करके प्रवृत्ति मार्गका विशेष रीतिसे समर्थन करने-वाले भागवत-धर्मका उदय हो चुकनेपर लगभग पाँच सौ वर्षके पश्चात् अर्थात् ईसाके लगभग ९०० वर्ष पहले, मूल भारत और मूल गीता, दोनों ग्रंथ निर्मित हुए, जिनमें उस मूल भागवत धर्मकाही प्रतिपादन किया गया था; और भारतका महा-भारत होते समय यद्यपि इस मूल गीतामें तदर्थपोषक कुछ सुधार किये गये हो; तथापि उसके असली रूपमें उस समयभी कुछ परिवर्तन नहीं हुआ। एवं वर्तमान महाभारतमें जब गीता जोडी गई, तब (और उसके बादभी) उसमें कोई नया परिवर्तन नहीं हुआ – और होनाभी असंभव था। मूल गीता या मूल भारतके स्वरूप एवं कालका यह निर्णय स्वभावतः स्थूल दृष्टिसे एवं अंदाजसे किया गया है। क्योंकि इस मसय उसके लिये कोई विशेष साधन उपलब्ध नहीं है। परंतु वर्तमान महाभारत तथा वर्तमान गीताकी यह बात नहीं, क्योंकि उनके कालका निर्णय करनेके लिये बहुतेरे साधन उपलब्ध हैं। अतएव उसकी चर्चा स्वतंत्र रीतिसे अगले भागमें की गई है। यहाँपर पाठकोंको स्मरण रखना चाहिये, कि वर्तमान गीता और वर्तमान महाभारत ये दोनोंही ग्रंथ हैं, जिनके मूल स्वरूपमें कालान्तरसे परिवर्तन होता रहा; और जो इस समय गीता तथा महाभारतके रूपमें हमें उपलब्ध हैं, ये उस समयके पहले मूल ग्रंथ नहीं है।

भाग ५ – वर्तमान गीताका काल

इस बातका विवेचन हो चुका, कि भगवद्‌गीता भागवत धर्मपर प्रधान ग्रंथ है, और स्थूलमानसे यह निश्चित किया गया, कि यह भागवत धर्म ईसवी सनके लगभग १४०० वर्ष पहले प्रादुर्भूत हुआ; एवं उसके कुछ शतकोंके बाद मूल गीता बनी होगी; और यहभी बतलाया गया, कि मूल भागवत धर्मके निष्काम कर्म-प्रधान होनेपरभी आगे उसीका भक्ति-प्रधान स्वरूप हो कर अंतमें विशिष्टाद्वैतकाभी उसमें समावेश हो गया। मूल गीता अथवा मूल भागवत धर्मके विषयमें इससे अधिक जान-

कारी निदान वर्तमान समयमें तो मालूम नहीं है; और यही दशा पचास वर्ष पहले वर्तमान गीता तथा वर्तमान महाभारतकीभी थी। परंतु डॉक्टर भांडारकर, परलोक-वासी काशीनाथपंत तेलंग, परलोकवासी शंकर बाळकृष्ण दीक्षित तथा रावबहादुर चिंतामणराव वैद्य प्रभृति विद्वानोंके उद्योगसे वर्तमान गीता एवं वर्तमान महाभारतका काल निश्चित करनेके लिये यथेष्ट साधन उपलब्ध हो गये हैं;और अभी हालहीमें स्वर्गवासी त्र्यंबक गुरुनाथ काळेने दो-एक प्रमाण औरभी बतलाये हैं। इन सबको एकत्रित कर तथा हमारे मतसे उनमें जिन बातोंका मिलाना ठीक जँचा, उनकोभी मिलाकर परिशिष्टका यह भाग संक्षेपमें लिखा गया है। इस परिशिष्ट-प्रकरणमें आरंभहीमें हमने यह बात प्रमाणसहित दिखला दी है, कि वर्तमान महाभारत तथा वर्तमान गीता, दोनों ग्रंथ एक-ही व्यक्ति द्वारा रचे गये हैं। यदि दोनों ग्रंथोंको एकही व्यक्तिद्वारा रचे गये अर्थात् एककालीन मान लें, तो महाभारतके कालसे गीताका कालभी सहजही निश्चित हो जाता है। अतएव इस भागमें पहलेही ये प्रमाण दिये गये हैं, जो वर्तमान महाभारतका काल निश्चित करनेमें अत्यंत प्रधान माने जाते हैं; और उनके बाद स्वतंत्र रीतिसे वे प्रमाणभी दिये गये हैं, जो वर्तमान गीताका काल निश्चित करनेमें उपयोगी हैं। ऐसा करनेका उद्देश्य यह है, कि महाभारतका कालनिर्णय करनेके जो प्रमाण हैं वे यदि किसीको संदिग्ध प्रतीत हों, तो उससे गीताके कालका निर्णय करनेमें कोई बाधा न होने पाये।

महाभारत-काल-निर्णय : महाभारत ग्रंथ बहुत बड़ा है; और उसीमें लिखा है, कि वह लक्ष श्लोकात्मक है। परंतु रावबहादुर वैद्यने महाभारतके अपने टीकात्मक अंग्रेजी ग्रंथके पहले परिशिष्टमें यह बतलाया है,* कि जो महाभारत ग्रंथ इस समय उपलब्ध है, उसमें उपरोक्त लाख श्लोकोंकी संख्यामें कुछ न्यूनाधिकता हो गई है; और यदि उनमें हरिवंशके श्लोक मिला दिये जावें, तोभी योगफल एक लाख नहीं होता। तथापि यह माना जा सकता है, कि भारतका महाभारत होनेपर जो बृहत् ग्रंथ तैयार हुआ, वह प्रायः वर्तमान ग्रंथहीसा होगा। ऊपर बतला चुके हैं, कि इस महाभारतमें यास्कके निरुक्त तथा मनुसंहिताका और भगवद्गीतामें तो ब्रह्मसूत्रों-काभी उल्लेख पाया जाता है। अब इसके अतिरिक्त, महाभारतके काल-निर्णय करनेके लिये जो प्रमाण पाये जाते हैं, वे ये हैं :–

(१) अठारह पर्वोंका यह ग्रंथ तथा हरिवंश, ये दोनों संवत् ५३५ और ६३५के बीच जावा और बाली द्वीपोंमें गये थे; तथा वहाँकी प्राचीन 'कवि' नामक भाषामें उनका अनुवाद हुआ है। इस अनुवादके ये आठ पर्व – आदि, विराट्, उद्योग, भीष्म, आश्रमवासी, मुसल, प्रास्थानिक और स्वर्गारोहण – बाली द्वीपमें इस मसय

---

* The Mahabharata : A Criticism, p, 185 रा. ब. वैद्यके महाभारतके जिस टीकात्मक ग्रंथका हमने आगे कहीं कहीं उल्लेख किया है, वह यही पुस्तक है।

उपलब्ध हैं; और उनमेंसे कुछ प्रकाशितभी हो चुके हैं। यद्यपि अनुवाद कवि-भाषामें किया गया है, तथापि उसमें स्थान-स्थानपर महाभारतके मूल संस्कृत श्लोकही रखे गये हैं। उनमेंसे उद्योगपर्वके श्लोकोंकी जाँच हमने की है। वे सब श्लोक वर्तमान महाभारतकी कलकत्तेमें प्रकाशित पोथीके उद्योगपर्वके अध्यायोंमें – बीच-बीचमें क्रमशः – मिलते हैं। इससे सिद्ध होता है, कि लक्ष-श्लोकात्मक महाभारत संवत् ५३५के लगभग दो सौ वर्ष पहले हिंदुस्थानमें प्रमाणभूत माना जाता था। क्योंकि, यदि वह यहाँ प्रमाणभूत न हुआ होता, तो जावा तथा बाली द्वीपोंमें उसे न ले गये होते। तिब्बतकी भाषामेंभी महाभारतका अनुवाद हो चुका है; परंतु वह उसके बादका है।*

(२) गुप्त राजाओंके समयका एक शिलालेख हालमें उपलब्ध हुआ है, कि जो चेदि संवत् १९७ अर्थात् विक्रम संवत् ५०२ में लिखा गया था। उसमें इस बातका स्पष्ट रीतिसे निर्देश किया गया है, कि उस समय महाभारत ग्रंथ एक लाख श्लोकोंका था; और इससे यह प्रकट हो जाता है, कि विक्रम संवत् ५०२ के लगभग दो सौ वर्ष पहले उसका अस्तित्व अवश्य होगा।†

(३) आजकल भास कविके जो नाटक-ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, उनमेंसे अधिकांश महाभारतके आख्यानोंके आधारपर रचे गये हैं। इससे प्रकट है, कि उस समय महाभारत उपलब्ध था; और वह प्रमाणभी माना जाता था। भास कविकृत 'बालचरित' नाटकमें श्रीकृष्णजीकी शिशु-अवस्थाकी बातोंका तथा गोपियोंका उल्लेख पाया जाता है। अतएव यह कहना पड़ता है, कि हरिवंशभी उस समय अस्तित्वमें होगा। यह बात निर्विवाद है, कि भास कवि कालिदाससे पुराना है। भास कविकृत नाटकोंके संपादक पंडित गणपतिशास्त्रीनीने स्वप्नवासवदत्ता नामक नाटककी प्रस्तावनामें लिखा है, कि भास चाणक्यसेभी प्राचीन है; क्योंकि भास कविके नाटकका एक श्लोक चाणक्यके अर्थशास्त्रमें पाया जाता है; और उसमें यह बतलाया है, कि वह किसी दूसरेका है। परंतु यह काल यद्यपि कुछ संदिग्ध माना जाय, तथापि हमारे मतसे यह बात निर्विवाद है, कि भासका समय सन ईसवीके दूसरे अथवा तीसरे शतकके औरभी इस ओरका नहीं माना जा सकता।

(४) बौद्ध ग्रंथोंके द्वारा यह निश्चित किया गया है, कि शालिवाहन शकके आरंभमें अश्वघोष नामक एक बौद्ध कवि हो गया है, जिसने 'बुद्धचरित' और

---

* जावा द्वीपके महाभारतका ब्योरा The Modern Review, July 1914 pp. 32–38 में दिया गया है; और तिब्बती भाषामें अनुवादित महाभारतका उल्लेख Rockhill's Life of the Buddha, p. 228 note I में किया है।

† यह शिलालेख Inscriptionum Indicarum नामक पुस्तकके तृतीय खंडके पृष्ठ १३४ में पूर्णतया दिया हुआ है, और स्वर्गवासी शंकर बाळकृष्ण दीक्षितने उसका उल्लेख अपने 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र' में (पृ. १०८) किया है।

'सौंदरानंद' नामक दो बौद्ध धर्मीय संस्कृत महाकाव्य लिखे थे। अब ये ग्रंथ छापकर प्रकाशित किये गये हैं। इन दोनोंमेंभी भारतीय कथाओंका उल्लेख है। इनके सिवा 'वज्रसूचिकोपनिषद्'पर अश्वघोषका व्याख्यानरूपी एक और ग्रंथ है; अथवा यह कहना चाहिये, कि यह 'वज्रसूचिकोपनिषद्' उसीका रचा हुआ है। इस ग्रंथको प्रोफेसर वेबरने सन १८६० में, जर्मनीमें प्रकाशित किया है। उसमें हरिवंशके श्राद्ध माहात्म्यमेंसे "सप्तव्याधा दशार्णेषु" (हरि. २४.२०, २१) इत्यादि श्लोक, तथा स्वयं महाभारतके कुछ अन्य श्लोक (उदाहरणार्थ, मभा. शां. २६१.१७); पाये जाते हैं। इससे प्रकट होता है, कि शक संवत्से पहले हरिवंशको मिलाकर वर्तमान लक्ष श्लोकात्मक महाभारत प्रचलित था।

(५) आश्वलायन गृह्यसूत्रोंमें (३.४.४) भारत तथा महाभारतका पृथक् पृथक् उल्लेख किया गया है; और बौधायन धर्मसूत्रमें एक स्थान (२.२.२६) पर महाभारतमें वर्णित ययाति उपाख्यानका एक श्लोक मिलता है, (मभा. आ. ७८.१०)। बुल्हर साहबका कथन है, कि केवल एकही श्लोकके आधारपर यह अनुमान दृढ नहीं हो सकता, कि महाभारत बौधायनके पहले था।* परंतु यह शंका ठीक नहीं; क्योंकि बौधायनके गृह्य शेष-सूत्रमें विष्णुसहस्रनामका स्पष्ट उल्लेख है। (बौ. गृ. शे. १.२२.८); और आगे चलकर इसी सूत्रमें (२.२२.९) गीताका "पत्रं पुष्पं फलं तोयं" श्लोकभी (गीता ९.२६) मिलता है। बौधायन सूत्रमें पाये जानेवाले इन उल्लेखोंको पहले पहल परलोकवासी त्र्यंबक गुरुनाथ काळेने प्रकाशित किया था;† और इन सब उल्लेखोंसे यही कहना पड़ता है, कि बुल्हर साहबकी शंका निर्मूल है; आश्वलायन तथा बौधायन और दोनोंभी महाभारतसे, परिचित थे। बुल्हरहीने अन्य प्रमाणोंसे निश्चित किया है, कि बौधायन सन् ईसवीके लगभग ४०० वर्ष पहले हुआ होगा।

(६) स्वयं महाभारतमें जहाँ विष्णुके अवतारोंका वर्णन किया गया है, वहाँ बुद्धका नामतक नहीं; और नारायणीयोपाख्यानमें (मभा. शां. ३३९.१००) जहाँ दस अवतारोंके नाम दिये हैं, वहाँ हंसको प्रथम अवतार कहकर तथा कृष्णके बाद एकदम कल्किको लाकर पूरे दस गिना दिये हैं। परंतु वनपर्वमें कलियुगकी भविष्यत् स्थितिका वर्णन करते समय कहा है, कि "एडूकचिन्हा पृथिवी न देवगृहभूषिता" (मभा. वन १९०.६८) पृथ्वीपर देवालयोंके बदले एडूक होंगे। बुद्धके बाल तथा दाँत प्रभृति किसी स्मारक वस्तुको जमीनमें गाड़कर उसपर जो खंभ, मीनार या इमारत बनाई जाती थी, उसे एडूक कहते थे, और आजकल उसे 'डागोबा'

---

* See 'Sacred Books of the East Series' Vol. XIV., Intro. p. xli.

† परलोकवासी त्र्यंबक गुरुनाथ काळेका पूरा लेख The Vedic Magazine and Gurukula Samachar, Vol. VII, Nos. 6-7, pp. 528–532, में प्रकाशित हुआ है। इसमें लेखकका नाम प्रोफेसर काळे लिखा है; पर वह अशुद्ध है।

कहते हैं। डागोबा शब्द संस्कृत 'धातुगर्भ' (= पाली डागब)का अपभ्रंश है; और 'धातु' शब्दका अर्थ " भीतर रक्खी हुई स्मारक वस्तु " है, सीलोन तथा ब्रह्मदेशमें ये डागोबा कई स्थानोंपर पाये जाते हैं। इससे प्रतीत होता है, कि बुद्धके बाद, परंतु अवतारोंमें उसकी गणना होनेके पहलेही महाभारत रचा गया होगा। महाभारतम 'बुद्ध' तथा 'प्रतिबुद्ध' शब्द अनेक बार मिलते हैं (मभा. शां. १९४.५८; ३०७.४७; ३४३.५२)। परंतु वहाँ केवल ज्ञानी, जाननेवाला अथवा स्थितप्रज्ञ पुरुष इतनाही अर्थ उन शब्दोंसे अभिप्रेत है। प्रतीत नहीं होता, कि ये शब्द बौद्ध धर्मसे लिये गये हों; किंतु यह माननेके लिये दृढ कारणभी है, कि बौद्धोंनेही ये शब्द वैदिक धर्मसे लिये होंगे।

(७)कालनिर्णयकी दृष्टिसे यह बात अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, कि महाभारतमें नक्षत्रगणना अश्विनी आदिसे नहीं है; किंतु वह कृत्तिका आदिसे है (मभा. अनु. ६४.८९); और मेष-वृषभ आदि राशियोंका कहींभी उल्लेख नहीं है। क्योंकि इस बातसे यह अनुमान सहजही किया जा सकता है, कि यूनानियोंके सहवाससे हिंदुस्थानमें मेष, वृषभ आदि राशियोंके आनेके पहले – अर्थात् सिकंदरके पहलेही – महाभारत ग्रंथ रचा गया होगा। परंतु इससेभी अधिक महत्त्वकी बात श्रवण आदि नक्षत्रगणनाके विषयकी है। अनुगीतामें (मभा. अश्व. ४४.२; और आदि. ७१.३४) कहा है, कि विश्वामित्रने श्रवण आदिकी नक्षत्रगणना आरंभ की और टीकाकारने उसका यह अर्थ किया हैं, कि उस समय श्रवण नक्षत्रसे उत्तरायणका आरंभ होता था; इसके सिवा उसका कोई दूसरा ठीक ठीक अर्थभी नहीं हो सकता। वेदांगज्योतिषके समय उत्तरायणका आरंभ धनिष्ठा नक्षत्रसे हुआ करता था। धनिष्ठामें उदगयन होनेका काल ज्योतिर्गणितकी रीतिसे शकके पहले लगभग १५०० वर्ष आता है; और ज्योतिर्गणितकी रीतिसे उदगयनको एक नक्षत्र पीछे हटनेके लिये लगभग हजार वर्ष लग जाते हैं। इस हिसाबसे श्रवणके आरंभमें उदयगन होनेका काल शकके पहले लगभग ५०० वर्ष आता है। सारांश, गणितके द्वारा यह बतलाया जा सकता है, कि शकके पहले ५०० वर्ष वर्षके लगभग वर्तमान महाभारत बना होगा। परलोकवासी शंकर बाळकृष्ण दीक्षितने अपने 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र'की विशेषता यह है, कि इसके कारण वर्तमान महाभारतका काल शकके पहले ५०० वर्षसे अधिक पीछे हटायाही नहीं जा सकता।

(८) रावबहादुर वैद्यने महाभारतपर जो टीकात्मक ग्रंथ अंग्रेजीमें लिखा है, उसमें यह बतलाया है, कि चंद्रगुप्तके दरबारमें (सन ईसवीसे लगभग ३२० वर्ष पहले रहनेवाले मेगस्थनीज़ नामक ग्रीक वकीलको महाभारतकी कथाएँ मालूम थीं। मेगस्थनीज़का पूरा ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं है; परंतु उसके अवतरण कई ग्रंथोंमें पाये जाते हैं। वे सब एकत्रित करके, पहले जर्मन भाषामें प्रकाशित किये गये; और फिर मेक्‌क्रिंडलने उनका अंग्रेजी अनुवाद किया है। इस

पुस्तकमें (पृ. २००-२०५) कहा है, कि उसमें वर्णित हेरेक्लीजही श्रीकृष्ण हैं; और मेगस्थनीज्के समय शौरसेनीय लोग – जो मथुराके निवासी थे – उसीकी पूजा किया करते थे। उसमें यहभी लिखा है, कि हेरेक्लीज अपने मूलपुरुष डायोनिसनसे पंद्रहवाँ था। इसी प्रकार महाभारतमेंभी (मभा. अनु. १४७. २५–३३) कहा है, कि श्रीकृष्ण दक्षप्रजापतिसे पंद्रहवें पुरुष हैं। और मेगस्थनीजने कर्णप्रावरण, एकपाद, ल्लाटाक्ष आदि अद्भुत लोगोंका (पृ. ७४) अथवा सोनेकी ऊपर निकालनेवाली चीटियोंका (पिपीलिकाओं) (पृ. ९४) वर्णन किया है, वहभी महाभारतहीमें (मभा. सभा. ५१, ५२) पाया जाता है। इन बातोंसे और अन्य बातोंसे प्रकट हो जाता है, कि मेगस्थनीजके समय न केवल महाभारत ग्रंथही न प्रचलित था, किंतु श्रीकृष्ण-चरित्र तथा श्रीकृष्ण-पूजाकाभी प्रचार हो गया था।

यदि इस बातपर ध्यान दिया जाय, कि उपर्युक्त प्रमाण परस्परसापेक्ष अर्थात् एक दूसरेपर अवलंबित नहीं हैं, किंतु वे स्वतंत्र हैं, तो यह बात निस्संदेह प्रतीत होगी, कि वर्तमान महाभारत शकके लगभग पाँच सौ वर्ष पहले अस्तित्वमें जरूर था। इसके बाद कदाचित् किसीने उसमें कुछ नये श्लोक मिला दिये होंगे; अथवा उसमेंसे कुछ निकालभी डाले होंगे। परंतु इस समय कुछ विशिष्ट श्लोकोंके विषयमें कोई प्रश्न नहीं है – प्रश्न तो समूचे ग्रंथकेही विषयमें है; और यह बात सिद्ध है, कि यह समस्त ग्रंथ शककालके कम-से-कम पाँच शतक पहलेही रचा गया है। इस प्रकरणके आरंभहीमें हमने यह सिद्ध कर दिया है, कि गीता समस्त महाभारत ग्रंथकाही एक भाग है – वह कुछ उसमें पीछे नहीं मिलाई गई है। अतएव गीताकाभी वही काल मानना पड़ता है, जो कि महाभारतका है। संभव है, कि मूल गीता इसके पहलेकी हो; क्योंकि जैसे इसी प्रकरणके चौथे भागमें बतलाया गया है; उसकी परंपरा

---

* See M'Crindle's Ancient India-Megasthenes and Arrian, pp. 202–205 मेगस्थनीजका यह कथन एक वर्तमान खोजके कारण विचित्रतापूर्वक दृढ हो गया है। बम्बई सरकारके Archaeological Department की १९१४ ईसवी की Progress Report हालहीमें प्रकाशित हुई है। उसमें एक शिलालेख है, जो ग्वालियर रियासतके भेलसा शहरके पास बेसनगर गाँवमें खाम्बबाबा नामक एक गरुडध्वज-स्तंभपर मिला है। इस लेखमें यह कहा है, कि हेलिओडोरस नामक एक हिंदु बने हुए यवन अर्थात् ग्रीकने इस स्तंभके सामने वासुदेवका मंदिर बनवाया था; और यह यवन वहाँके भगभद्र नामक राजाके दरबारमें तक्षशिलाके एँटिआल्किडस नामक ग्रीक राजाके एलचीकी हैसियतसे रहता था। एँटिआल्किडसके सिक्कोंसे अब यह सिद्ध किया गया है, कि वह ईसाके पहले १४० वें वर्षमें राज्य करता था। इससे यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है, कि उस समय वासुदेवभक्ति प्रचलित थी; केवल इतनाही नहीं; किंतु यवन लोगभी वासुदेवके मंदिर बनवाने लगे थे। यह पहलेही बतला चुके हैं; कि मेगस्थनीजहीको नहीं; किंतु पाणिनीकोभी वासुदेवभक्ति मालूम थी।

बहुत प्राचीन समय तक हटानी पड़ती है। परंतु, चाहे जो कुछ कहा जाय; यह निर्विवाद सिद्ध है, कि उसका काल महाभारतके बादका नहीं माना जा सकता। यह नहीं, कि यह बात केवल उपर्युक्त प्रमाणोंहीसे सिद्ध होती है, किंतु इसके विषयमें स्वतंत्र प्रमाणभी दीख पड़ते हैं। अब आगे उन स्वतंत्र प्रमाणोंकाही वर्णन किया जाता है।

गीता-कालका निर्णय : ऊपर जो प्रमाण बतलाये गये हैं, उनमें गीताका स्पष्ट अर्थात् नामतः निर्देश नहीं किया गया है; वहाँ गीताके कालका निर्णय महाभारत-कालसे किया गया है। अब यहाँ क्रमशः वे प्रमाण दिये जाते हैं, जिनमें गीताका स्पष्ट रूपसे उल्लेख है। परंतु पहले यह बतला देना चाहिये, कि परलोकवासी तेलंगने गीताको आपस्तम्बके पहलेकी अर्थात् ईसासे कम-से-कम तीन सौ वर्षसे अधिक प्राचीन कहा है। डॉक्टर भांडारकरने अपने 'वैष्णव, शैव आदि पंथ' नामक अंग्रेजी ग्रंथमें प्रायः इसी कालको स्वीकार किया है। प्रोफेसर गार्बेके* मतानुसार तेलंगद्वारा निश्चित किया गया काल ठीक नहीं। उनका यह कथन है, कि मूल गीता ईसाके पहले दूसरी सदीमें हुई; और ईसाके बाद दूसरे शतकमें उसमें कुछ सुधार किये गये हैं। परंतु नीचे लिखे प्रमाणोंसे यह बात भली भाँति प्रकट हो जायगी, कि गार्बेका उक्त कथन ठीक नहीं है।

(१) गीतापर जो टीकाएँ तथा भाष्य उपलब्ध हैं, उनमें शांकरभाष्य अत्यंत प्राचीन है। श्रीशंकराचार्यने महाभारतके सनत्सुजातीय प्रकरणपरभी भाष्य लिखा है; और उनके ग्रंथोंमें महभारतके मनु-बृहस्पति-संवाद शुकानुप्रश्न और अनु-गीतामेंसे बहुतेरे वचन अनेक स्थानोंपर प्रमाणार्थ लिये गये हैं। इससे यह बात प्रकट है, कि उनके समयमें महाभारत और गीता, दोनों ग्रंथ प्रमाणभूत माने जाते थे। प्रोफेसर काशीनाथ बापू पाठकने एक सांप्रदायिक श्लोकके आधारपर श्रीशंकरा-चार्यका जन्मकाल ८४५ विक्रमी संवत् (शक ७१०) निश्चित किया है। परंतु हमारे मतसे इस कालको औरभी सौ वर्ष पीछे हटाना चाहिये। क्योंकि महानुभव पंथके 'दर्शन-प्रकाश' नामक ग्रंथमें यह कहा है, कि 'युग्मपयोधिरसान्वितशाके' अर्थात् शक ६४२ में (विक्रमी संवत् ७७७) श्रीशंकराचार्यने गुहामें प्रवेश किया; और उस समय उनकी आयु ३२ वर्षकी थी, अतएव यह सिद्ध होता है, कि उनका जन्म शक ६१० में (संवत् ७४५) हुआ। हमारे मतमें यही समय, प्रोफेसर पाठक-द्वारा निश्चित किये हुए कालसे, कहीं अधिक सयुक्तिक प्रतीत होता है। परंतु, यहाँ-पर उसके विषयमें विस्तारपूर्वक विवेचन नहीं किया जा सकता। गीतापर जो शांकर-भाष्य है, उसमें पूर्व समयके अधिकांश टीकाकारोंका उल्लेख किया गया है; और

---

* See Telang's Bhagavadgita, S. B. E. Vol. VIII, Intro. pp. 21 and 34; Dr. Bhandarkar's Vaishnavism, Shaivism and other Sects, P. 13; Dr. Garbe's Die Bhagavadgita, p. 64.

उक्त भाष्यके आरंभहीमें श्रीशंकराचार्यने कहा है, कि इन टीकाकारोंके मतोंका खंडन करके हमने नया भाष्य लिखा है। अतएव आचार्यका जन्मकाल चाहे शक ६१० लीजिये या ७१०; इसमें तो कुछभी संदेह नहीं, कि उस समयके कम-से-कम दो-तीन सौ वर्ष पहले अर्थात् शक ४०० के लगभग गीता प्रचलित थी। अव देखना चाहिये, कि इस कालकेभी और पहले कैसे और कितना जा सकते हैं।

(२) परलोकवासी तेलंगने यह दिखलाया है, कि कालिदास और बाणभट्ट गीतासे परिचित थे। कालिदासकृत रघुवंशमें (१०.३१) विष्णुकी स्तुतिके विषयमें जो "अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते" यह श्लोक है, वह गीताके (३.२२) "नानवाप्तमवाप्तव्यं" श्लोकसे मिलता है; और बाणभट्टकी कादंबरीके "महाभारतमिवानन्तगीताकर्णनानन्दितनरं" इस एक श्लेष-प्रधान वाक्यमें गीताका स्पष्ट-रूपसे उल्लेख किया गया है। कालिदास और भारविका उल्लेख स्पष्टरूपसे संवत् ६९१ के (शक ५५६) एक शिलालेखमें पाया जाता है; और अब यहभी निश्चित हो चुका है, कि बाणभट्टभी संवत् ६६३ के (शक ५२८) लगभग हर्ष राजाके पास था। इस बातका विवेचन परलोकवासी पांडुरंग गोविंद-शास्त्री पारखीने बाणभट्टपर लिखे हुए अपने एक मराठी निबंधमें किया है।

(३) जावा द्वीपमें जो महाभारत ग्रंथ यहाँसे गया है, उसके भीष्मपर्वमें एक गीता प्रकरण है, जिसमें गीताके भिन्न भिन्न अध्यायोंके लगभग सौ-सव्वा सौ श्लोक अक्षरश: मिलते हैं। सिर्फ़ १२, १५, १६ और १७ – इन चार अध्यायोंके श्लोक उसमें नहीं हैं। इससे यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं दीख पड़ती, कि उस समयभी गीताका स्वरूप वर्तमान गीताके सदृशही था। क्योंकि कवि-भाषामें गीताका यह अनुवाद है; और उसमें जो संस्कृत श्लोक मिलते हैं, वे बीच-बीचमें उदाहरण तथा प्रतीकके तौरपर ले लिये गये हैं। इससे यह अनुमान करना युक्तिसंगत नहीं, कि उस उमय गीतामें केवल उतनेही श्लोक थे। जब डॉक्टर नरहर गोपाल सरदेसाई जावा द्वीपको गये थे, तब उन्होंने इस बातकी खोज़ की है। इस विषयका वर्णन कल-कत्तेके 'मॉडर्न रिव्यू' नामक मासिक पत्रके जुलाई १९१४के अंकमें तथा उसके पूर्व पूनाके 'चित्रमय-जगत्' मासिकपत्रमेंभी प्रकाशित हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है; कि शक चार-पाँच सौके कम-से-कम दो सौ वर्ष पहले महाभारतके भीष्मपर्वमें गीता थी; और उसके श्लोकभी वर्तमान गीताके श्लोकोंके क्रमानुसारही थे।

(४) विष्णुपुराण और पद्मपुराण आदि ग्रंथोंमें भगवद्गीताके नमूनेपर बनी हुई जो अन्य गीताएँ दीख पडती हैं, अथवा उनके उल्लेख पाये जाते हैं, उनका वर्णन इस ग्रंथके पहले प्रकरणमें किया गया है। इससे यह बात स्पष्टतया विदित होती है, कि उस समय भगवद्गीता प्रमाण तथा पूजनीय मानी जाती थी, इसीलिये उसका उक्त प्रकारसे अनुकरण किया गया है; और यदि ऐसा न होता, तो उसका कोईभी अनुकरण न करता। अतएव सिद्ध है, कि इन पुराणोंमें जो अत्यंत प्राचीन

पुराण हैं, उनसेभी भगवद्गीता कम-से-कम सौ-दौ-सौ वर्ष अधिक प्राचीन अवश्य होगी। पुराण-कालका आरंभ-समय सन ईसवीके दूसरे शतकसे अधिक अर्वाचीन नहीं माना जा सकता, अतएव गीताका काल कम-से-कम शकारंभके कुछ थोड़ा पहलेही मानना पड़ता है।

(५) ऊपर यह बतला चुके हैं, कि कालिदास और बाण गीतासे परिचित थे। कालिदाससे पुराने भास कविके नाटक हालहीमें प्रकाशित हुए हैं। उनमेंसे 'कर्णभार' नाटकमें बारहवाँ श्लोक इस प्रकार है :–

हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः।
उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे॥

यह श्लोक गीताके "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्" (गीता २.३७) श्लोकके समानार्थक है; और जब कि भास कविके अन्य नाटकोंसे यह प्रकट होता है, कि वह महाभारतसे पूर्णतया परिचित था; तब तो यही अनुमान किया जा सकता है, कि उपर्युक्त श्लोक लिखते समय उसके मनमें गीताका उक्त श्लोक अवश्य आया होगा। अर्थात् यह सिद्ध होता है, कि भास कविके पहलेभी महाभारत और गीताका अस्तित्व था। पंडित गणपतिशास्त्रीने यह निश्चित किया है, कि भास कविका काल शक-के दो-तीन सौ वर्ष पहले रहा होगा। परंतु कुछ लोगोंका मत है, कि वह शकके सौ-दौ सौ वर्ष बाद हुआ है। यदि इस दूसरे मतको सत्य माने, तोभी उपर्युक्त प्रमाणसे सिद्ध हो जाता है, कि भाससे कम-से-कम सौ-दौसौ वर्ष पहले अर्थात् शक-कालके आरंभमें महाभारत और गीता, दोनों ग्रंथ सर्वमान्य हो गये थे।

(६) परंतु प्राचीन ग्रंथकारों-द्वारा गीताके श्लोक लिये जानेका औरभी अधिक दृढ प्रमाण, परलोकवासी त्र्यंबक गुरुनाथ काळेने गुरुकुलकी 'वैदिक मेगजीन' नामक अंग्रेजी मासिक पुस्तक (पुस्तक ७. अंक ६–७, पृष्ठ ५२८–५३२, मार्गशीर्ष और पौष, संवत् १९७०) में प्रकाशित किया है। इसके पहले पश्चिमी संस्कृत पंडितोंका यह मत था, कि संस्कृत काव्य-पुराणोंकी अपेक्षा किन्हीं अधिक अथवा प्राचीन ग्रंथोंमें, उदाहरणार्थ सूत्र-ग्रंथोंमेंभी, गीताका उल्लेख नहीं पाया जाता; और इसलिये यह कहना पड़ता है, कि सूत्र-कालके बाद, अर्थात् अधिकसे अधिक सन् ईसवीके पहले, दूसरी सदीमें गीता बनी होगी। परंतु परलोकवासी काळेने प्रमाणोंसे सिद्ध कर दिया है, कि यह मत ठीक नहीं है। बौधायन-गृह्यशेषसूत्रमें (२. २२. ९) गीताका (९.२६) निम्नलिखित श्लोक 'तदाह भगवान्' कहकर स्पष्ट रूपसे लिया गया है :–

देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्यान्मनसा वार्चयेदिति। तदाह भगवान् –

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ इति

और आगे चलकर कहा है, कि भक्तिसे नम्र होकर इन मंत्रोंको पढ़ना चाहिये – "**भक्तिनम्रः** एतान्मंत्रानधीयीत।" इसी गृह्यशेष-सूत्रके तीसरे प्रश्नके अंतमें यहभी कहा है, कि "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" इस द्वादशाक्षर-मंत्रका जप करनेसे अश्वमेधका फल मिलता है। इससे यह बात पूर्णतया सिद्ध होती है, कि बौधायनके पहले गीता प्रचलित थी; और वासुदेव-पूजाभी सर्वमान्य समझी जाती थी। इसके-सिवा बौधायनके पितृमेध-सूत्रके तृतीय प्रश्नके आरंभहीमें यह वाक्य है :–

> **जातस्य वै मनुष्यस्य ध्रुवं मरणमिति विजानीयात्तस्माज्जाते**
> **न प्रहृष्येन्मृते च न विषीदेत।**

इससे सहजही दीख पड़ता है, कि वह गीताके "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥" इस श्लोकसे सूझ पड़ा होगा; और उसमें उपर्युक्त 'पत्रं पुष्पं' श्लोकका योग कर देनेसे तो कुछ शंकाही नहीं रह जाती। ऊपर बतला चुके हैं, स्वयं महाभारतका एक श्लोक बौधायन-सूत्रोंमें पाया जाता है। बुल्हर साहबने निश्चित किया है* कि बौधायनका काल आपस्तंबके सौ-दोसौ वर्ष पहले होगा; और आपस्तंबका काल ईसाके पहले तीन सौ वर्षसे कम हो नहीं सकता। परंतु हमारे मतानुसार उसे कुछ इस ओर हटाना चाहिये। क्योंकि महाभारतमें मेष-वृषभ आदि राशियाँ नहीं हैं और 'काल-माधव'में तो बौधायनका "मीनमेषयोर्मेषवृषभयोर्वा वसंतः" यह वचन दिया गया है; यही वचन परलोकवासी शंकर बालकृष्ण दीक्षितके 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र'मेंभी (पृष्ठ १०२) लिया गया है। इससेभी यही निश्चित अनुमान किया जाता है, कि महाभारत बौधायनके पहलेका है, तथा शकारंभके कम-से-कम चार सौ वर्ष पहले बौधायनका समय होना चाहिये; और पाँच सौ वर्ष पहले महाभारत तथा गीताका अस्तित्व था। परलोकवासी काळेने बौधायनका काल ईसाके सात-आठ सौ वर्ष पहलेका निश्चित किया है; किंतु वह ठीक नहीं है। जान पड़ता है, कि बौधायनका राशिविषयक वचन उनके ध्यानमें न आया होगा।

(७) उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह बात किसीकोभी स्पष्ट रूपसे विदित हो जायगी, कि वर्तमान गीता शकके लगभग पाँच सौ वर्ष पहले अस्तित्वमें थी; बौधायन तथा आश्वलायनभी उससे परिचित थे; और उस समयसे श्रीशंकराचार्यके समय-तक उसकी परंपरा अविच्छिन्न रूपमें दिखलाई जा सकती है। परंतु अब तक जिन प्रमाणोंका उल्लेख किया गया है, वे सब वैदिक धर्मके ग्रंथोंसे लिये गये हैं। अब आगे चलकर जो प्रमाण दिया जायगा, वह वैदिक धर्म-ग्रंथोंसे भिन्न अर्थात् बौद्ध साहित्यका है। इससे गीताकी उपर्युक्त प्राचीनता स्वतंत्र रीतिसे औरभी अधिक दृढ तथा

---

* See Sacred Books of the East Series, Vol. II, Intro. p. xliii and also the same Series, Vol. XIV, Intro. p. xliii.

निःसंदिन्ध हो जाती है। बौद्ध धर्मके पहलेही भागवत धर्मका उदय हो गया था, इस विषयमें बुल्हर और प्रसिद्ध फ्रेंच पंडित सेनार्तके मतोंका उल्लेख पहले हो चुका है; तथा प्रस्तुत प्रकरणके अगले भागमें इन बातोंका विवेचन स्वतंत्र रीतिसे किया जायगा, कि बौद्ध धर्मकी वृद्धि कैसे हुई ? तथा हिंदु धर्मसे उसका क्या संबंध है ? यहाँ केवल गीता-कालके संबंधमेंही आवश्यक उल्लेख संक्षिप्त रूपसे किया जायगा। भागवत धर्म बौद्ध धर्मके पहलेका है, तथापि केवल इतना कह देनेसेही इस बातका निश्चय नहीं किया जा सकता, कि गीताभी बुद्धके पहले थी। क्योंकि यह कहनेके लिये कोई निश्चित प्रमाण नहीं है, कि भागवत धर्मके साथही गीता-ग्रंथकाभी उदय हुआ। अतएव यह देखना आवश्यक है, कि बौद्ध ग्रंथकारोंने गीता-ग्रंथका स्पष्ट उल्लेख कहीं किया है या नहीं ? प्राचीन बौद्ध ग्रंथोंमें यह स्पष्ट रूपसे लिखा है, कि बुद्धके समय चार वेद, वेदांग, व्याकरण, ज्योतिष, इतिहास, निघंटु आदि वैदिक धर्मग्रंथ प्रचलित हो चुके थे; अतएव इसमें संदेह नहीं, कि बुद्धके पहलेही वैदिक धर्म पूर्णावस्थामें पहुँच चुका था। इसके बाद बुद्धने जो नया पंथ चलाया, वह अध्यात्मकी दृष्टिसे अनात्मवादी था; परंतु जैसे अगले भागमें बतलाया जायगा आचरण-दृष्टिसे उसमें उपनिषदोंके संन्यास-मार्गहीका अनुकरण किया गया था। परंतु अशोकके समय बौद्ध धर्मकी यह दशा बदल गई थी; बौद्ध भिक्षुओंने जंगलमें रहना छोड़ दिया था – धर्म प्रसारार्थ तथा परोपकारके काम करनेके लिये वे लोग पूर्वकी ओर चीनमें और पश्चिमकी ओर अलेक्जेंड्रिया तथा ग्रीसतक चले गये थे। बौद्ध धर्मके इतिहासमें यह एक अत्यंत महत्त्वका प्रश्न है, कि जंगलोंमें रहना छोड़कर लोकसंग्रहके काम करनेके लिये बौद्ध यति कैसे प्रवृत्त हो गये ? बौद्ध धर्मके प्राचीन ग्रंथोंपर दृष्टि डालिये। सुत्तनिपातके खग्गविसाणसुत्तमें कहा है, कि जिस भिक्षुने पूर्ण अर्हतावस्था प्राप्त कर ली है, वह कोईभी काम न करे; केवल गेंडेके सदृश्य जंगलमें निवास किया करे; और महावग्गमें (५. १. २७) बुद्धके प्रमुख शिष्य सोनकोलीविसकी कथामें कहा है, कि जो भिक्षु निर्वाणपदतक पहुँच चुका है, उसके लिये न तो कोई कामही अवशिष्ट रह जाता है; और न किया हुआ कर्मही भोगना पड़ता है – " कतस्स पटिचयो नत्थि करणीयं न विज्जति। " यह शुद्ध संन्यास-मार्ग है, और हमारे औपनिषदिक संन्यास-मार्गसे इसका पूर्णतया मेल मिलता है। यह " करणीयं न विज्जति " वाक्य, गीताके " तस्य कार्यं न विद्यते " इस वाक्यसे केवल समानार्थकही नहीं है, किंतु शब्दशःभी एकही है। परंतु जब बौद्ध भिक्षुओंका यह मूल संन्यास-प्रधान आचार बदल गया और जब वे परोपकारके काम करने लगे, तब नये तथा पुराने मतमें झगडा हो गया; पुराने लोग अपनेको 'थेरवाद' (वृद्धपंथ) कहने लगे; और नवीन मत-वादी लोग अपने पंथका 'महायान' नाम रख करके पुराने पंथको 'हीनयान' (अर्थात् हीन पंथके) नामसे संबोधित करने लगे। अश्वघोष महायान पंथका था; और वह इस मतको मानता था, कि बौद्ध

यति लोग परोपकारके काम किया करें। अतएव 'सौंदरानंद' (सौं. १८. ५४) काव्यके अंतमें, जब नंद अर्हतावस्थामें पहुँच गया, तव उसे वुद्धने जो उपदेश दिया, है, उसमें पहले यह कहा है :–

अवाप्तकार्योऽसि परां गतिं गतः न तेऽस्ति किंचित्करणीयण्वपि ।

"तेरा कर्तव्य हो चुका, तुझे उत्तम गति मिल गई, अब तेरे लिये तिलभरभी कर्तव्य नहीं रहा।" और आगे स्पष्ट-रूपसे यह उपदेश किया है, कि :–

विहाय तस्मादिह कार्यमात्मनः कुरु स्थिरात्मन्परकार्यमप्यथो ।।

"अतएव अब तू अपना कार्य छोड़, बुद्धिको स्थिर करके परकार्य किया कर" (सौं. १८. ५७)। प्राचीन धर्म-ग्रंथोंमें पाये जानेवाले वुद्धके कर्मत्यागविषयक उपदेशमें तथा कर्मयोगविषयक इस उपदेशमें कि जिसे 'सौंदरानंद' काव्यमें अश्व घोषने वुद्धके मुखसे कहलाया है, अत्यंत भिन्नता है। और, अश्वघोषकी इन दलीलोंमें तथा गीताके तीसरे अध्यायमें जो युक्ति-प्रयुक्तियाँ हैं, उनमें – "तस्य कार्यं न विद्यते . . . तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर" तेरे लिये कुछ रह नहीं गया है, इसलिये जो कर्म प्राप्त हों, उनको निष्काम वुद्धिसे किया कर (गीता ३. १७, १९) न केवल अर्थदृष्टिसेही, किंतु शब्दशःभी समानता है। अतएव इससे यह अनुमान होता है, कि ये दलीलें अश्वघोषको गीताहीसे मिली हैं। इसका कारण ऊपर वतलाही चुके हैं, कि अश्वघोषसेभी पहले महाभारत था। परंतु इसे केवल अनुमानही न समझिये। वौद्ध धर्मानुयायी तारानाथने वौद्ध धर्मविषयक इतिहाससंवंधी जो ग्रंथ तिब्वती भाषामें लिखा है, उसमें लिखा है, कि बौद्धोंके पूर्वकालीन संन्यास-मार्गमें महायान पंथने जो कर्मयोगविषयक सुधार किया था, उसे महायान-पंथके मुख्य पुरस्कर्ता नागार्जुनके गुरु राहुलभद्रने 'ज्ञानी श्रीकृष्ण और गणेश' से जाना था। इस ग्रंथका अनुवाद रूसी भाषासे जर्मन भाषामें किया गया है – अंग्रेजीमें अभीतक नहीं हुआ है। डॉ. केर्नने १८९६ ईसवीमें वौद्ध धर्मपर एक पुस्तक लिखी थी।* यहाँ उसीसे हमने यह अवतरण लिया है। डॉक्टर केर्नकाभी यही मत है, कि यहाँपर श्रीकृष्णके नामसे भगवद्गीताहीका उल्लेख किया गया है। महायान-पंथके वौद्ध ग्रंथोंमेंसे 'सद्धर्मपुंडरीक' नामक ग्रंथमेंभी भगवद्गीताके श्लोकोंके किया समान कुछ श्लोक हैं। परंतु इन वातोंका और अन्य वातोंका विवेचन अगले भागमें जायगा। यहाँपर केवल यही वतलाना है, कि वौद्ध-ग्रंथकारोंकेही मतानुसार मूल वौद्ध-धर्मके संन्यास-प्रधान होने परभी उसमें भक्ति-प्रधान तथा कर्म-प्रधान महायान-पंथकी उत्पत्ति भगवद्गीताके कारणही हुई है; और अश्वघोषके काव्यमें

* See Dr. Kern's Manual of Indian Buddhism (Grundriss, III. 8) P. 122 महायान पंथके 'अमितायुसुत्त' नामक मुख्य ग्रंथका अनुवाद चीनी भाषामें सन १४८ के लगभग किया गया था।

गीताकी जो ऊपर समता बतलाई गई है, उससे इस अनुमानको औरभी दृढता प्राप्त हो जाती है। पश्चिमी पंडितोंका निश्चय है, कि महायान-पंथका पहला पुरस्कर्ता नागार्जुन शकके लगभग सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले हुआ होगा; और यह तो स्पष्टही है, कि इस पंथका बीजारोपण अशोकके राजशासनके समयमें हुआ होगा। बौद्ध ग्रंथोंसे तथा स्वयं बौद्ध ग्रंथकारोंके लिखे हुए उस धर्मके इतिहाससे यह बात स्वतंत्र रीतिसे सिद्ध हो जाती है, कि भगवद्गीता महायान बौद्ध-पंथके जन्मसे पहले – अशोकसेभी पहले – याने सन ईसवीसे लगभग ३०० वर्ष पहलेही अस्तित्वमें थी।

इन सब प्रमाणोंपर विचार करनेसे इसमें कुछभी शंका नहीं रह जाती, कि वर्तमान भगवद्गीता शालिवाहन शकके लगभग पाँच सौ वर्ष पहलेही अस्तित्वमें थी। डॉक्टर भांडारकर, परलोकवासी तेलंग, रावबहादुर चिंतामणराव वैद्य और परलोकवासी दीक्षितका मतभी इससे बहुत-कुछ मिलता-जुलता है; और उसीको यहाँ ग्राह्य मानना चाहिये। हाँ, प्रोफेसर गार्बेका मत भिन्न है। उन्होंने उसके प्रमाणमें गीताके चौथे अध्यायवाले संप्रदाय-परंपराके श्लोकोंमेंसे 'योगो नष्टः' – योगका नाश हो गया – इस वाक्यको लेकर योग शब्दका अर्थ 'पातंजल योग' किया है। परंतु हमने प्रमाणसहित पहलेही बतला दिया है, कि वहाँ योग शब्दका अर्थ 'पातंजल-योग' नहीं – 'कर्मयोग' है। इसलिये प्रो. गार्बेका मत भ्रममूलक अतएव अग्राह्य है। यह बात निर्विवाद है, कि वर्तमान गीताका काल शालिवाहन शकके पाँच सौ वर्ष पहलेकी अपेक्षा और कम नहीं माना जा सकता। पिछले भागमें यह बतलाही चुके हैं कि मूल गीता इससेभी कुछ सदियोंसे पहलेकी होनी चाहिये।

भाग ६ – गीता और बौद्ध ग्रंथ

वर्तमान गीताका काल निश्चित करनेके लिये पिछले भागमें जिन बौद्ध ग्रंथोंके प्रमाण दिये गये हैं, उनका पूरा पूरा महत्त्व समझनेके लिये गीता और बौद्ध ग्रंथ या बौद्ध धर्मकी साधारण समानता तथा विभिन्नता परभी यहाँ विचार करना आवश्यक है। पहले कई बार बतला चुके हैं, कि गीता-धर्मकी विशेषता यह है, कि गीतामें वर्णित स्थितप्रज्ञ प्रवृत्तिमार्गावलंबी रहता है। परंतु इस विशेष गुणको थोड़ी देरके लिये अलग रख दें; और उक्त पुरुषके केवल मानसिक तथा नैतिक गुणोंहीका विचार करें, तो गीतामें स्थितप्रज्ञके (गीता २.५५–७२), ब्रह्मनिष्ठ पुरुषके (४.१९–२३; ५.१८–२८) और भक्तियोगी पुरुषके (१२.१३–१९) जो लक्षण बतलाये हैं, उनमें और निर्वाणपदके अधिकारी अर्हतोंके अर्थात् पूर्णावस्थाको पहुंचे हुए बौद्ध भिक्षुओंके जो लक्षण भिन्न भिन्न बौद्ध ग्रंथोंमें दिये हुए हैं, उनमें विलक्षण समता दीख पड़ती है (धम्मपद श्लोक ३६०–४२३ और सुत्त-निपातोंमेंसे मुनिसुत्त तथा धम्मिकसुत्त देखो)। इतनाही नहीं; किंतु इन वर्णनोंके

शब्दसाम्यसे दीख पड़ता है, कि स्थितप्रज्ञ अथवा भक्तिमान् पुरुषके समानही सच्चा भिक्षुभी 'शांत', 'निष्काम', 'निर्मम', 'निराशी' (निरिस्सित), 'समदुःखसुख', 'निरारंभ', 'अनिकेतन' या 'अनिवेशन' अथवा 'समानिन्दा-स्तुति', और 'मान-अपमान तथा लाभ-अलाभको समान माननेवाला' रहता है (धम्मपद ४०, ४१ १; सुत्तनि. मुनिसुत्त १. ७, १४; द्वयतानुपस्सनसुत्त २१–२३; और विनयपिटक चुल्लवग्ग. ७. ४. ७)। द्वयतानुपस्सनसुत्तके ४०वें श्लोकका यह विचार – ज्ञानी पुरुषके लिये जो प्रकाश है, वही अज्ञानीको अंधकार है – गीताके (गीता २. ६९) "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी" इस श्लोकान्तर्गत विचारके सदृश है। और मुनिसुत्तके १० वें श्लोकका यह वर्णन – "अरोसनेय्यो न रोसेति" अर्थात् न तो स्वयं कष्ट पाता है और न दूसरोंकोभी कष्ट देता है – गीताके "यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः" (गीता १२. १५) इस वर्णनके समान है। इसी प्रकार सेल्लसुत्तके ये विचार, कि "जो कोई जन्म लेता है वह मरता है" और "प्राणियोंका आदि तथा अंत अव्यक्त है, इसलिये उसका शोक करना वृथा है" (सेल्लसुत्त १, ९; गी. २. २७, २८), कुछ शब्दोंके हेरफेरसे गीताकेही विचार हैं। गीताके दसवें अध्यायमें अथवा अनुगीतामें (मभा. अश्व. ४३, ४४) "ज्योतिष्मानोंमें सूर्य, नक्षत्रोंमें चंद्र, और वेद-मंत्रोंमें गायत्री" आदि जो वर्णन है, वही सेल्लसुत्तके २१ वें और २२ वें श्लोकोंमें तथा महावग्गमें (६. ३५. ८) ज्यों-का-त्यों आया है। इसके सिवा शब्दसादृश्यके तथा अर्थसमताके छोटे-मोटे उदाहरण परलोकवासी तेलंगने गीताके अपने अंग्रेजी अनुवादकी टिप्पणियोंमें दे दिये हैं। तथापि प्रश्न होते हैं, कि यह सदृशता हुई कैसे ? ये विचार असलमें बौद्ध धर्मके हैं या वैदिक धर्मके ? और इनसे अनुमान क्या निकलता है ? किंतु इन प्रश्नोंको हल करनेके लिये उस समय जो साधन उपलब्ध थे वे अपूर्ण थे। यही कारण है, जो उपर्युक्त चमत्कारिक शब्दसादृश्य और अर्थ-सादृश्य दिखला देनेके सिवा परलोकवासी तेलंगने इस विषयमें और कोई विशेष बात नहीं लिखी। परंतु अब बौद्ध धर्मकी जो अधिक बातें उपलब्ध हो गई हैं, उनके उक्त प्रश्न हल किये जा सकते हैं, इसलिये यहाँ पर बौद्ध धर्मकी उन बातोंका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है। परलोकवासी तेलंगकृत गीताका अंग्रेजी अनुवाद जिस 'प्राच्यधर्म-ग्रंथमाला'में प्रकाशित हुआ था, उसीमें आगे चलकर पश्चिमी विद्वानोंने बौद्ध धर्म-ग्रंथोंके अंग्रेजी अनुवाद प्रसिद्ध किये हैं। ये बातें प्रायः उन्हींसे एकत्रित की गई हैं; और प्रमाणमें बौद्ध ग्रंथोंके जो स्थल बतलाये गये हैं, उनका सिलसिलाभी इसी मालाके अनुवादोंमें मिलेगा। कुछ स्थानोंपर पाली शब्दों तथा वाक्योंके अवतरण मूल पाली ग्रंथोंसेही उद्धृत किये गये हैं।

अब यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है, कि जैन धर्मके समान बौद्ध धर्मभी अपने वैदिक धर्म-रूप पिताकाही पुत्र है, जो जितनी चाहिये उतनी संपत्तिका हिस्सा

लेकर किसी कारणसे विभक्त हो गया है; अर्थात् वह कोई पराया नहीं है, किंतु उसके पहले यहाँपर जो ब्राह्मण-धर्म था, उसीकी यहीं उपजी हुई यह एक शाखा है। लंकाके महावंस या दीपवंस आदि प्राचीन पाली भाषाके ग्रंथोंमें बुद्धके पश्चाद्वर्ती राजाओं तथा बौद्ध आचार्योंकी परंपराका जो वर्णन है, उसका हिसाब लगा कर देखनेसे ज्ञात होता है, कि गौतमबुद्धने अस्सी वर्षकी आयु पाकर ईसवी सनसे ५४३ वर्ष पहले अपना शरीर छोड़ा। परंतु इसमें कुछ बातें असंबद्ध हैं। इसलिये प्रोफेसर मेक्समूलरने इस गणनापर सूक्ष्म विचार करके बुद्धका यथार्थ निर्वाण-काल इसवी सनसे ४७३ वर्ष पहले बतलाया है; और डॉक्टर बुल्हरभी अशोकके शिलालेखोंसे इसी कालका सिद्ध होना प्रमाणित करते हैं। तथापि प्रोफेसर -हिस्डेविड्स् या डॉ. केर्नके समान कुछ खोज़ करनेवाले इस कालको उक्त कालसे ६५ या १०० वर्ष औरभी आगे हटाना चाहते हैं। प्रोफेसर गायगरने हालहीमें इन सब मतोंकी जाँच करके बुद्धका यथार्थ निर्वाण-काल ईसवी सनसे ४८३ वर्ष पहले माना है।* इनमेंसे कोईभी काल क्यों न स्वीकार कर लिया जाय, यह निर्विवाद है, कि बुद्धका जन्म होनेके पहलेही वैदिक धर्म पूर्ण अवस्थामें पहुँच चुका था; और न केवल उपनिषदही किंतु धर्म-सूत्रोंके समान ग्रंथभी उसके पहलेही तैयार हो चुके थे। क्योंकि, पाली भाषाके प्राचीन बौद्ध धर्म-ग्रंथोंहीमें लिखा है, कि – "चारों वेद, वेदांग, व्याकरण, ज्योतिष, इतिहास और निघंटु" आदि विषयोंमें प्रवीण कुछ सत्त्वशील ब्राह्मण गृहस्थों तथा जटिल तपस्वियोंसे स्वयं गौतमबुद्धने वाद करके उनको अपने धर्मकी दीक्षा दी (सुत्तनिपातोंमेंसे सेल्लसुत्तके सेल्लका वर्णन तथा वथ्थुगाथा ३०–४५ देखो)। कठ आदि उपनिषदोंमें (कठ १. १८; मुंड. १. २. १०) अथवा उन्हींको लक्ष्य करके गीतामें (२. ४०–४५; ९. २०–२१) जिस प्रकार यज्ञयाग आदि श्रौतकर्मोंकी गौणताका वर्णन किया गया है, उसी प्रकार तथा कुछ अंशोंमें उन्हीं शब्दोंके द्वारा तेविज्जसुत्तोंमें (त्रैविद्य-सूत्रों) बुद्धनेभी अपने मतानुसार 'यज्ञयागादि'को निरुपयोगी तथा त्याज्य बतलाया है; और इस बातका निरूपण किया है, कि ब्राह्मण जिसे ('ब्रह्मसहव्यत्ययता' = ब्रह्मसायुज्यता) कहते हैं, वह अवस्था कैसे प्राप्त होती है। इससे यह बात स्पष्ट विदित होती है, कि ब्राह्मण-धर्मके कर्मकांड तथा ज्ञानकांड – अथवा गार्हस्थ्य-धर्म और संन्यास-धर्म, अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति – इन दोनों शाखाओंके पूर्णतया रूढ हो जानेपर उनमें सुधार करनेके लिये बौद्ध धर्म उत्पन्न हुआ है। सुधारके विषयमें सामान्य नियम यह है, कि उसमें

---

* बुद्ध-निर्वाणकालविषयक वर्णन प्रो. मेक्समूलरने अपने 'धम्मपद'के अंग्रेजी अनुवादकी प्रस्तावनामें (S. B. E. Vol. X. Intro. pp. xxxv-xlv) किया है; और उसकी परीक्षा डॉ. गायगरने सन १९१२ में प्रकाशित अपने 'महावंश'के अनुवादकी प्रस्तावनामें की है (The Mahavamsa by Dr. Geiger, Pali Text Society, Intro. p. xxii *f*).

पहलेकी कुछ बातें स्थिर रह जाती हैं; और कुछ बदल जाती हैं। अतएव इस न्यायके अनुसार अब इस बातका विचार करना चाहिये, कि बौद्ध धर्ममें वैदिक धर्मकी किन किन बातोंको स्थिर रख लिया है; और किनको छोड़ दिया है। यह विचार गार्हस्थ्य धर्म और संन्यास इन दोनोंकी पृथक् पृथक् दृष्टियोंसे, करना चाहिये। परंतु बौद्ध धर्म मूलमें संन्यास-मार्गीय अथवा केवल निवृत्ति-प्रधान है, इसलिये पहले दोनोंके संन्यास-धर्मका विचार करके अनंतर दोनोंके गार्हस्थ्य धर्मके तारतम्यपर विचार किया जायगा।

वैदिक संन्यास-धर्मपर दृष्टि डालनेसे दीख पड़ता है, कि कर्ममय सृष्टिके सब व्यवहार तृष्णामूलक अतएव दुःखमय हैं; उससे अर्थात् जन्म-मरणके भवचक्रसे आत्माका सर्वथा छुटकारा होनेके लिये मन निष्काम और विरक्त करना चाहिये तथा उसको दृश्यसृष्टिके मूलमें रहनेवाले आत्मस्वरूपी नित्य परब्रह्ममें स्थिर करके सांसारिक कर्मोंका सर्वथा त्याग करना उचित है; इस आत्मनिष्ठ स्थितिहीमें सदा निमग्न रहना संन्यास-धर्मका मुख्य तत्त्व है। दृश्य-सृष्टि नामरूपात्मक तथा नाशवान् है; और कर्मविपाकके कारणही उसका अखंडित व्यापार जारी है।

कम्मना वत्तती लोको कम्मना वत्तती पजा (प्रजा)।
कम्मनिबंधना सत्ता (सत्त्वानि) रथस्साऽणीव यायतो ॥

"कर्महीसे लोग और प्रजाभी जारी हैं। जिस प्रकार चलती हुई गाड़ी रथकी कीलसे नियंत्रित रहती है, उसी प्रकार प्राणिमात्र कर्मसे बंधा हुआ है" (सुत्तनि. वासेठमुत्त ६१)। वैदिक धर्मके ज्ञानकांडका उक्त तत्त्व, अथवा जन्म-मरणका चक्कर, या ब्रह्मा, इंद्र, महेश्वर, यम आदि अनेक देवता और उनके भिन्न भिन्न स्वर्ग-पाताल आदि लोकोंका ब्राह्मण-धर्ममें वर्णित अस्तित्वभी बुद्धको मान्य था; और इसी कारण नामरूप, कर्मविपाक, अविद्या, उपादान और प्रकृति वगैरह वेदान्त या सांख्य-शास्त्रके शब्द तथा ब्रह्मादि वैदिक देवताओंकी कथाएँभी (बुद्धकी श्रेष्ठताको स्थिर रखकर) कुछ हेरफेरसे बौद्ध ग्रंथोंमें पाई जाती हैं। यद्यपि बुद्धको वैदिक धर्मके कर्म सृष्टिविषयक ये सिद्धान्त मान्य थे, कि दृश्य सृष्टि नाशवान् और अनित्य है; एवं उसके व्यवहार कर्मविपाकके कारण जारी हैं; तथापि वैदिक धर्म अर्थात् उपनिषत्कारोंका यह सिद्धान्त उन्हें मान्य न था, कि नामरूपात्मक नाशवान् सृष्टिके मूलमें नामरूपसे व्यतिरिक्त आत्मस्वरूपी परब्रह्मके समान एक नित्य और सर्वव्यापक वस्तु है – इन दोनों धर्मोंमें जो विशेष भिन्नता है, वह यही है। गौतम-बुद्धने यह बात स्पष्ट रूपसे कह दी है, कि आत्मा या ब्रह्म यथार्थमें कुछ नहीं है – केवल भ्रम है, इसलिये आत्म-अनात्मके विचारमें या ब्रह्म-चिंतनके पचड़ेमें पड़कर किसीकोभी अपना समय न खोना चाहिये (सब्बासवसुत्त ९–१३)। दीघनिकायोंके ब्रह्मजालसुत्तोंमेंभी यही बात स्पष्ट होती है, कि आत्माविषयक कोईभी

कल्पना बुद्धको मान्य न थी ।* इन सुत्तोंके अंतमें कहा है, कि आत्मा और ब्रह्म एक है या दो, फिर ऐसेही भेद बतलाते हुए आत्माकी भिन्न भिन्न ६२ प्रकारकी कल्पनाएं बतलाकर कहा है, कि ये सभी मिथ्या 'दृष्टि' हैं; और मिलिंदप्रश्नमेंभी (मि. प्र. २, ३, ६, २. ७. १५) बौद्ध धर्मके अनुसार नागसेनने यूनानी मिलिंदसे (मिनांदर) साफ़ साफ़ कह दिया है, कि "आत्मा तो कोई यथार्थ वस्तु नहीं है ।" यदि मान लें, कि आत्मा और उसी प्रकार ब्रह्मभी, दोनों भ्रमही हैं, यथार्थ नहीं हैं, तो वस्तुतः धर्मकी नींवही गिर जाती है। क्योंकि, फिर सभी अनित्य वस्तुएँही बच रहती हैं; और नित्य-सुख या उसका अनुभव करनेवाला कोईभी नहीं रह जाता। यही कारण है, जो श्रीशंकराचार्यने तर्कदृष्टिसेभी इस मतको अग्राह्य निश्चित किया है: परंतु अभी हमें केवल यही देखना है, कि असली बुद्ध धर्म क्या है ? इसलिये इस वादको यहीं छोड़कर देखेंगे, कि बुद्धने आगे अपने धर्मकी क्या उपपत्ति बतलाई है। यद्यपि बुद्धको आत्माका अस्तित्व मान्य न था; तथापि इन बातोंसे वे पूर्णतया सहमत थे, कि (१) कर्मविपाकके कारण नाम-रूपात्मक देहको (आत्माको नहीं) नाशवान्, जगतके प्रपंचमें बार बार जन्म लेना पड़ता है; और (२) पुनर्जन्मका यह चक्कर या सारा संसारही दुःखमय है, इससे छुटकारा पा कर स्थिर शांति या सुखको प्राप्त कर लेना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार इन दो बातों – अर्थात् सांसारिक दुःखके अस्तित्व और उसके निवारण करनेकी आवश्यकताको मान लेनेसे वैदिक धर्मका यह प्रश्न फिरभी ज्यों-का-त्यों बनाही रहता है, कि दुःखनिवारण करके अत्यंत सुख प्राप्तकर लेनेका मार्ग कौन-सा है ? और उसका कुछ-न-कुछ ठीक ठीक उत्तर देना आवश्यक हो जाता है। उपनिषत्कारोंने कहा है, कि यज्ञयाग आदि कर्मोंके द्वारा संसारचक्रसे छुटकारा हो नहीं सकता; और बुद्धने इससेभी कहीं आगे बढ़कर इन सब कर्मोंका हिंसात्मक अतएव सर्वथा त्याज्य और निषिद्ध बतलाया है। इसी प्रकार यदि स्वयं 'ब्रह्म'हीको एक बड़ा भारी भ्रम मानें, तो दुःख-निवारणार्थ जो ब्रह्मज्ञान-मार्ग है, वहभी भ्रांतिकारक या असंभव निर्णित होता है। फिर दुःखमय भवचक्रसे छूटनेका मार्ग कौन-सा है ? बुद्धने इसका यह उत्तर दिया है, कि किसी रोगको दूर करनेके लिये उस रोगका मूल कारण ढूँढ़ कर उसीको हटानेका प्रयत्न जिस प्रकार चतुर वैद्य किया करता है, उसी प्रकार सांसारिक दुःखके रोगको दूर करनेके लिये (३) उसके कारणको जानकर, (४) उसी कारणको दूर करनेवाले मार्गका अवलंब बुद्धिमान् पुरुषको करना चाहिये। इन कारणोंका विचार करनेसे दीख पड़ता है, कि तृष्णा या कामनाही इस जगतके सब दुःखोंकी जड़ है; और एक नामरूपात्मक शरीरका नाश हो जानेपर बचे हुए इस वासनात्मक

---

* ब्रह्मजालसुत्तका अंग्रेजीमें अनुवाद नहीं है; परंतु उसका संक्षिप्त विवेचन ऱ्हिस्डेविड्स्ने S. B. E. Vol. XXVI. Intro. pp. xxiii-xxv में किया है।

बीजहींसे अन्यान्य नाम-रूपात्मक शरीर पुनः पुनः उत्पन्न हुआ करते हैं। और फिर बुद्धने निश्चित किया है, कि पुनर्जन्मके दुःखमय संसारसे पिंड छुड़ानेके लिये इंद्रिय-निग्रहसे, ध्यानसे तथा वैराग्यसे तृष्णाका पूर्णतया क्षय करके संन्यासी या भिक्षु बन जानाही एकमेव यथार्थ मार्ग है; और इसी वैराग्ययुक्त संन्याससे अचल शांति एवं सुख प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है, कि यज्ञयाग आदिकी, तथा आत्म-अनात्म विचारकी झंझटमें न पड़कर, निम्न चार दृश्य बातोंपरही बौद्ध धर्मकी रचना की गई है। वे चार बातें ये हैं : सांसारिक दुःखका अस्तित्व, उसका कारण, उसके निरोध या निवारण करनेकी आवश्यकता, और उसे समूल नष्ट करनेके लिये वैराग्यरूप-साधन; अथवा बौद्धकी परिभाषाके अनुसार क्रमशः दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग। अपने धर्मके इन्हीं चार मूल तत्त्वोंको बुद्धने 'आर्यसत्य' नाम दिया है। उपनिषदके आत्मज्ञानके बदले चार आर्यसत्योंकी दृश्य नींवके ऊपर यद्यपि इस प्रकार बौद्ध धर्म खड़ा किया गया है, तथापि अचल शांति या सुख पानेके लिये तृष्णा अथवा वासनाका क्षय करके मनको निष्काम करनेके जिस मार्गका (चौथा सत्य) उपदेश बुद्धने किया है, वह मार्ग, और मोक्ष-प्राप्तिके लिये उपनिषदोंमें वर्णित मार्ग, दोनों वस्तुतः एकही हैं, इसलिये यह बात स्पष्ट है, कि दोनोंका अंतिम दृश्य-साध्य मनकी निर्विषय स्थिति ही है। परंतु इन दोनों धर्मोंमें भेद यह है, कि ब्रह्म तथा आत्माको एक माननेवाले उपनिषत्कारोंने मनकी इस निष्काम अवस्थाको 'आत्मनिष्ठा', 'ब्रह्म-संस्था', 'ब्रह्मभूतता', 'ब्रह्मनिर्वाण' (गीता ५. १७–२५; छां. २. २३. १), अर्थात् ब्रह्ममें आत्माका लय होना आदि अंतिम आधारदर्शक नाम दिये हैं; और बुद्धने उसे केवल 'निर्वाण' अर्थात् 'विराम पाना', या "दीपकके बुझ जानेके समान वासनाका नाश होना" यह केवल क्रियादर्शक नाम दिया है। क्योंकि, ब्रह्म या आत्माको भ्रम कह देनेपर यह प्रश्नही नहीं रह जाता, कि "विराम कौन पाता है और किसमें पाता है?" (सुत्तनिपातमेंसे रतनसुत्त १४ और वंगीससुत्त १२, १३), एवं बुद्धने तो यह स्पष्ट रीतिसे कह दिया है, कि चतुर मनुष्यको इस गूढ प्रश्नका विचारभी न करना चाहिये (सव्वासवसुत्त ८–१३; मिलिंदप्रश्न ४. २. ४, ५)। यह स्थिति प्राप्त होनेपर, पुनर्जन्म नहीं होता, इसलिये एक शरीरके नष्ट होनेपर फिर दूसरे शरीरको पानेकी सामान्य क्रियाके लिये प्रयुक्त होनेवाले 'मरण' शब्दका उपयोग बौद्ध धर्मके अनुसारभी 'निर्वाण'के लिये किया नहीं जा सकता। निर्वाण तो 'मृत्युकी मृत्यु', अथवा उपनिषदोंके वर्णनानुसार "मृत्युको पारकर जानेका मार्ग" है – निरी मौत नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषदमें (४. ४. ७) यह जो दृष्टान्त दिया है, कि जिस प्रकार सर्पको अपनी कैंचली छोड़ देनेपर उसकी कुछ परवाह नहीं रहती, उसी प्रकार जब कोई मनुष्य उक्त स्थितिमें पहुँच जाता है, तब उसेभी अपने शरीरकी कुछ चिंता नहीं रह जाती; और उसी दृष्टान्तका आधार असली भिक्षुका वर्णन करते समय सुत्तनिपातके उरगसुत्तके प्रत्येक श्लोकमें लिया गया है। वैदिक धर्मका

यह तत्त्वभी (कौषी. ब्रा. ३. १), कि "आत्मनिष्ठ पुरुष पाप-पुण्यसे सदैव अलिप्त रहता है" (बृ. ४. ४. २३); "इसलिये उसे मातृवध तथा पितृवधसरीखे पातकोंकाभी दोष नहीं लगता", धम्मपदमें शब्दशः ज्यों-का-त्यों बतला गया है (धम्म. २९४, २९५; मिलिंदप्रश्न ४. ५. ७)। सारांश, यद्यपि ब्रह्म तथा आत्माका अस्तित्व बुद्धको मान्य नहीं था, तथापि मनको शांत, विरक्त तथा निष्काम करना प्रभृति मोक्ष-प्राप्तिके जिन साधनोंका उपनिषदोंमें वर्णन है, वेही साधन बुद्धके मतसे निर्वाण-प्राप्तिके लियेभी आवश्यक हैं; इसीलिये बौद्ध यति तथा वैदिक संन्यासियोंके वर्णन मानसिक स्थितिकी दृष्टिसे एकहीसे होते हैं; और इसी कारण पाप-पुण्यकी जिम्मेदारीके संबंधसे तथा जन्म-मरणके चक्करसे छुटकारा पानेके विषयमें वैदिक संन्यास-धर्मके जो सिद्धान्त हैं, वेही बौद्ध धर्ममें स्थिर रखे गये हैं। परंतु वैदिक धर्म गौतमबुद्धसे पहलेका है, अतएव इस विषयमें कोई शंका नहीं, कि ये विचार असलमें वैदिक धर्मकेही हैं।

वैदिक तथा बौद्ध संन्यास-धर्मोंकी विभिन्नताका वर्णन हो चुका। अब देखना चाहिये, कि गार्हस्थ्य-धर्मके विषयमें बुद्धने क्या कहा है। आत्म-अनात्म-विचारके तत्त्वज्ञानको महत्त्व न देकर सांसारिक दुःखोंके अस्तितव आदि दृश्य आधारपरही यद्यपि बौद्ध धर्म खड़ा किया गया है; तथापि स्मरण रखना चाहिये, कि कोंटसरीखे आधुनिक पश्चिमी पंडितोंके निरे आधिभौतिक धर्मके अनुसार – अथवा गीता-धर्मके अनुसारभी बौद्ध धर्म मूलमें प्रवृत्ति-प्रधान नहीं है। यह सच है कि, बुद्धको उपनिषदोंके आत्मज्ञानकी 'तात्त्विक दृष्टि' मान्य नहीं है। परंतु बृहदारण्यक उपनिषदमें (बृ. ४. ४. ६) वर्णित याज्ञवल्क्यका यह सिद्धान्त कि, "संसारको बिलकुल छोड़ करके मनको निर्विषय तथा निष्काम करनाही इस जगतमें मनुष्यका केवल एक परम कर्तव्य है", बौद्ध धर्ममेंभी सर्वथा स्थिर रखा गया है, इसीलिये बौद्ध धर्म मूलमें केवल संन्यास-प्रधान हो गया है। यद्यपि बुद्धके समग्र उपदेशोंका तात्पर्य यह है, कि संसारका त्याग कियेबिना, केवल गृहस्थाश्रममेंही बने रहनेसे, परम सुख अर्हतावस्था कभी प्राप्त हो नहीं सकती; तथापि यह न समझ लेना चाहिये कि उसमें गार्हस्थ्यवृत्तिका बिलकुल विवेचनही नहीं है। जो मनुष्य बिना भिक्षु बने बुद्ध, उसके धर्म, और बौद्ध भिक्षुओंके संघ अर्थात् मेले या मंडलियाँ, इन तीनोंपर विश्वास रखे; और "बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि" इस संकल्पके उच्चारण द्वारा उक्त तीनोंकी शरणमें जाय, उसको बौद्ध-ग्रंथोंमें उपासक कहा है। येही लोग बौद्ध धर्मावलंबी गृहस्थ हैं। प्रसंग-प्रसंगपर स्वयं बुद्धनेभी कुछ स्थानोंपर उपदेश किया है, कि उन उपासकोंको अपना गार्हस्थ्य-व्यवहार कैसा रखना चाहिये (महापरिनिब्बाणसुत्त १. २४)। वैदिक गार्हस्थ्य-धर्ममेंसे हिंसात्मक श्रौत यज्ञयाग और चारों वर्णोंका भेद बुद्धको ग्राह्य नहीं था। इन बातोंको छोड़ देनेसे स्मार्त पंचमहायज्ञ, दान आदि परोपकार धर्म और नीतिपूर्वक आचरण

करनाही गृहस्थका कर्तव्य रह जाता है; तथा गृहस्थोंके धर्मका वर्णन करते समय केवल इन्हीं वातोंका उल्लेख वौद्ध-ग्रंथोंमें पाया जाता है। वुद्धका मत है, कि प्रत्येक गृहस्थ अर्थात् उपासकको पंचमहायज्ञ करनाही चाहिये। उनका स्पष्ट कथन है, कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, सर्वभूतानुकंपा और (आत्मा मान्य न हो, तथापि) आत्मौपम्य-दृष्टि, शौच या मनकी पवित्रता, तथा विशेष करके सत्पात्रों याने वौद्ध-भिक्षुओंको एवं वौद्ध भिक्षु-संघको अन्न-वस्त्र आदिका दान देना प्रभृति नीति-धर्मोंकाभी पालन बौद्ध उपासकोंको करना चाहिये। बौद्ध धर्ममें इसीको 'शील' कहा है; और दोनोंकी तुलना करनेसे यह वात स्पष्ट हो जाती है, कि पंचमहायज्ञके समान ये नीति-धर्मभी ब्राह्मण-धर्मके धर्म-सूत्रों अथवा प्राचीन स्मृति-ग्रंथोंसे (मनु. ६. ९२; १०. ६३) बुद्धने लिये हैं।* और तो क्या, इस आचारके विषयमें प्राचीन ब्राह्मणोंकी स्तुति स्वयं बुद्धनेही ब्राह्मणधम्मिकसुत्तोंमें की है; तथा मनुस्मृतिके कुछ श्लोक तो धम्मपदमें अक्षरशः पाये जाते हैं (मनु. २. १२१; ५. ४५; धम्मपद १०९, १३१) बौद्ध धर्ममें वैदिक ग्रंथोंसे न केवल पंचमहायज्ञ और नीति-धर्मही लिये गये हैं; किंतु वैदिक धर्ममें पहले कुछ उपनिषत्कारों-द्वारा प्रतिपादित इस मतकोभी बुद्धने स्वीकार किया है, कि गृहस्थाश्रममें पूर्ण मोक्ष-प्राप्ति कभीभी नहीं होती। उदाहरणार्थ, सुत्तनिपात्तोंके धम्मिकसुत्तमें भिक्षुके साथ उपासककी तुलना करके बुद्धने साफ़ साफ़ कह दिया है, कि गृहस्थको उत्तम शीलके द्वारा वहुत हुआ तो 'स्वयंप्रकाश' देवलोककी प्राप्ति हो जावेगी; परंतु जन्म-मरणके चक्करसे पूर्णतया छुटकारा पानेके लिये संसार तथा लड़के-बच्चे, स्त्री आदिको छोड़ करके अंतमें उसको भिक्षु-धर्मही स्वीकार करना चाहिये (धम्मिकसुत्त १७, २९; बृ. ४. ४. ६; मभा. वन. २. ६३)। तेविज्जसुत्तमें (ते. सु. १. ३५. ३. ५) यह वर्णन है, कि कर्म-मार्गीय वैदिक ब्राह्मणोंसे वाद करते समय अपने उक्त संन्यास-प्रधान मतको सिद्ध करनेके लिये बुद्ध ऐसी युक्तियाँ पेश करते थे, कि "यदि तुम्हारे ब्रह्मके वाल-वच्चे-स्त्री तथा क्रोध-लोभ नहीं हैं, तो स्त्री-पुत्रोंमें रहकर तथा यज्ञ-याग आदि काम्य कर्मोंके द्वारा तुम्हें ब्रह्मकी प्राप्ति होगीही कैसे ?" और यहभी प्रसिद्ध है, कि स्वयं बुद्धने युवावस्थामेंही अपनी स्त्री, अपने पुत्र तथा राजपाटकोभी त्याग दिया था, एवं भिक्षु-धर्म स्वीकार-कर लेनेपर छः वर्षके वाद उन्हें बुद्धावस्था प्राप्त हुई थी। बुद्धके समकालीन, परंतु उनसे पहलेही समाधिस्थ हो जानेवाले, महावीर नामक अंतिम जैन तीर्थंकरकाभी ऐसाही उपदेश है। परंतु वह बुद्धके समान अनात्मवादी नहीं था; और इन दोनों धर्मोंमें महत्त्वका भेद यह है, कि वस्त्रप्रावरण आदि ऐहिक सुखोंका त्याग और अहिंसाव्रत प्रभृति धर्मोंका पालन वौद्ध भिक्षुओंकी अपेक्षा जैन यति अधिक दृढतासे किया करते थे; एवं अवभी करते रहते हैं। खानेहीकी नियतसे जो प्राणी न मारे

* See Dr. Kern's Manual of Buddhism (Grundriss III.8) p. 68.

गये हों, उनका 'पवत्त' (सं. प्रवृत्त) अर्थात् "तैयार किया हुआ मांस" (हाथी, सिंह, आदि कुछ प्राणियोंको छोड़कर) बुद्ध स्वयं खाया करते थे; 'पवत्त' मांस तथा मछलियाँ खानेकी आज्ञा बौद्ध भिक्षुओंकोभी दी गई है; एवं बिना वस्त्रोंके नंग-धडंग घूमना बौद्ध-भिक्षु-धर्मके नियमानुसार अपराध है; (महावग्ग. ६. ३१. १४; ८. २८. १)। सारांश, यद्यपि बुद्धका निश्चित उपदेश था, कि अनात्मवादी भिक्षु बनो; तथापि काया-क्लेशमय उग्र तपसे बुद्ध सहमत नहीं थे (महावग्ग. ५. १. १६; गीता ६. १६); बौद्ध भिक्षुओंके विहारों अर्थात् उनके रहनेके मठोंकी सारी व्यवस्थाभी ऐसी रखी जाती थी, कि जिससे उनको कोई विशेष शारीरिक कष्ट न सहना पड़े; और प्राणायाम आदि योगाभ्यास सरलतापूर्वक हो सके। तथापि बौद्ध धर्ममें यह तत्त्व पूर्णतया स्थिर है, कि अर्हतावस्था या निर्वाणसुखकी प्राप्तिके लिये गृहस्थाश्रमको त्यागनाही चाहिये, इसलिये यह कहनेमें कोई प्रत्यवाय नहीं, कि बौद्ध धर्म संन्यास-प्रधान धर्म है।

यद्यपि बुद्धका निश्चित मत था, कि ब्रह्मज्ञान अथवा आत्म-अनात्म-विचार भ्रमका एक बड़ा-सा जाल है; तथापि इस दृश्य कारणके लिये, अर्थात् दुःखमय संसार-चक्रसे छूटकर निरंतर शांति तथा सुख प्राप्तिके लिये, उपनिषदोंमें वर्णित संन्यास-मार्गवालोंके इसी साधनको उन्होंने मान लिया था, कि वैराग्यसे मनको निर्विषय रखना चाहिये; और जब यह सिद्ध हो गया, कि चातुर्वर्ण्य भेद या हिंसात्मक यज्ञ-यागको छोड़कर बौद्ध धर्ममें वैदिक गार्हस्थ्य-धर्मके नीतिनियमही कुछ हेरफेर करके लिये गये हैं, तब यदि उपनिषद् तथा मनुस्मृति आदि ग्रंथोंमें वैदिक संन्यासियोंके जो वर्णन हैं, वे वर्णन, एवं बौद्ध भिक्षुओं या अर्हतोंके वर्णन, अथवा अहिंसा आदि नीति-धर्म, दोनों धर्मोंमें एकहीसे – और कई स्थानोंपर शब्दशः एकहीसे – दीख पड़ें, तो आश्चर्यकी बात नहीं है। ये सब बातें मूल वैदिक धर्महीकी हैं। परंतु बौद्धोंने केवल इतनीही बातें वैदिक धर्मसे नहीं ली हैं; प्रत्युत बौद्ध धर्मके दशरथ-जातकके समान जातक-ग्रंथभी प्राचीन वैदिक पुराण-इतिहासकी कथाओंके, बुद्ध धर्मके अनुकूल तैयार किये हुए, रूपांतर हैं। न केवल बौद्धोंनेही, किंतु जैनोंनेभी अपने अभिनव-पुराणोंमें वैदिक कथाओंके ऐसेही रूपांतर कर लिये हैं। सेल* साहबने तो यह लिखा है, कि ईसाके अनंतर प्रचलित हुए मुहंमदी धर्ममें ईसाके चरित्रका इसी प्रकार विपर्यास कर लिया गया है। वर्तमान समयकी खोजसे यह सिद्ध हो चुका है, कि पुरानी बाइबलमें सृष्टिकी उत्पत्ति, प्रलय तथा नूह आदिकी जो कथाएँ हैं, वे सब प्राचीन खाल्दी जातिकी धर्म-कथाओंके रूपांतर हैं, कि जिनका वर्णन यहुदी लोगोंका किया हुआ है। उपनिषद्, प्राचीन धर्म-सूत्र, तथा मनुस्मृतिके वर्णन कथाएँ अथवा

---

* See Sele's Koran, " To the Reader" (Preface), p. x. and the Preliminary Discourse, See IV. p. 58. (Chandos Classics Edition.)

विचार जब बौद्ध ग्रंथोंमें इस प्रकार – कई बार तो बिलकुल शब्दशः – लिये गये हैं, तब यह अनुमान सहजही हो जाता है, कि ये असलमें महाभारतकेही हैं। बौद्ध-ग्रंथ-प्रणेताओंने इन्हें वहींसे उद्धृत कर लिया होगा। वैदिक धर्म-ग्रंथोंके जो भाव और श्लोक बौद्ध-ग्रंथोंमें पाये जाते हैं, उनके कुछ उदाहरण ये हैं :– "जयसे बैरकी वृद्धि होती है; और बैरसे वैर शांत नहीं होता" (मभा. उद्यो. ७१. ५९, ६३), "दूसरेके क्रोधको शांतिसे जीतना चाहिये" आदि विदुरनीति (मभा. उद्योग. ३८. ७३) तथा जनकका यह वचन कि "यदि मेरी एक भुजामें चंदन लगाया जाय और दूसरी काटकर अलगकर दी जाय, तोभी मुझे दोनों बातें समानही हैं" (मभा. शां. ३२०. ३६); इनके अतिरिक्त महाभारतके औरभी बहुतसे श्लोक बौद्ध-ग्रंथोंमें शब्दशः पाये जाते हैं (धम्मपद ५, २२३; मिलिंदप्रश्न ७. ३. ५)। इसमें कोई संदेह नहीं, कि उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा मनुस्मृति आदि वैदिक ग्रंथ बुद्धकी अपेक्षा प्राचीन हैं, इसलिये उनके जो विचार तथा श्लोक बौद्ध-ग्रंथोंमें पाये जाते हैं, उनके विषयमें विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है, कि उन्हें बौद्ध-ग्रंथकारोंने उपर्युक्त वैदिक ग्रंथोंहीसे लिया है; किंतु यह बात महाभारतके विषयमें नहीं कही जा सकती। महाभारतमेंही बौद्ध डागोबाओंका जो उल्लेख है, उससे स्पष्ट होता है, कि महाभारतका अंतिम संस्करण बुद्धके बाद रचा गया है। अतएव केवल श्लोकके सादृश्यके आधारपर यह निश्चय नहीं किया जा सकता, कि वर्तमान महाभारत बौद्ध-ग्रंथोंके पहलेहीका है; और गीता महाभारतकाही एक भाग है, इसलिये यही न्याय गीताकोभी उपर्युक्त हो सकेगा। इसके सिवा, यह पहलेही कहा जा चुका है, कि गीतामेंही ब्रह्म-सूत्रोंका उल्लेख है; और ब्रह्म-सूत्रोंमें है बौद्ध धर्मका खंडन। अतएव स्थितप्रज्ञके वर्णन प्रभृतिकी (वैदिक और बौद्ध) दोनोंकी समताको छोड़ देते हैं, और यहाँ अब इस बातका विचार करते हैं, कि उक्त शंकाको दूर करने एवं गीताको निर्विवाद रूपसे बौद्ध-ग्रंथोंसे पुरानी सिद्ध करनेके लिये बौद्ध-ग्रंथोंमें कोई अन्य साधन मिलता है या नहीं।

ऊपर कह चुके हैं, कि बौद्ध धर्मका मूल स्वरूप शुद्ध निरात्मवादी और निवृत्ति-प्रधान है। परंतु उसका यह स्वरूप बहुत दिनोंतक टिक न सका। भिक्षुओंके आचरणके विषयमें मतभेद हो गया; और बुद्धकी मृत्युके पश्चात् उसमें अनेक उपपंथोंका निर्माणही नहीं होने लगा, किंतु धार्मिक तत्त्वज्ञानके विषयमेंभी इसी प्रकारका मतभेद उपस्थित हो गया। आजकल कई लोग तो यहभी कहने लगे हैं, कि "आत्मा नहीं है" इस कथनके द्वारा बुद्धको मनसे यही बतलाना है, कि "अचिन्त्य आत्मज्ञानके शुष्क-वादमें मत पड़ो; वैराग्य तथा अभ्यासके द्वारा मनको निष्काम करनेका प्रयत्न पहले करो; आत्मा हो चाहे न हो; मनके निग्रह करनेका कार्य मुख्य है; और उसे सिद्ध करनेका प्रयत्न पहले करना चाहिये।" उनके कहनेका यह मतलब नहीं है, कि ब्रह्म या आत्मा बिलकुल हैही नहीं। क्योंकि तेविज्जसुत्तमें स्वयं बुद्धनेही 'ब्रह्मसहव्याताय' स्थितिका उल्लेख किया है; और सेल्लसुत्त तथा थेरगाथामेंभी उन्होंने कहा है, कि

मैं ब्रह्मभूत हूँ (सेल्लसुत्त १४; थेरगाथा ८३१)। परंतु मूल हेतु चाहे जो हो; यह निर्विवाद है, कि ऐसे अनेक प्रकारके मत, वाद तथा आग्रही पंथ तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे आगे निर्मित हो गये; जो कहते थे, कि "आत्मा या ब्रह्ममेंसे कोईभी नित्य वस्तु जगतके मूलमें नहीं है; जो कुछ दीख पड़ता है, वह क्षणिक या शून्य है; अथवा जो कुछ दीख पड़ता है, वह ज्ञान है; ज्ञानके अतिरिक्त – जगतमें कुछभी नहीं है", इत्यादि (वे. सू. शां. भा. २. २. १८–२६)। इस निरीश्वर या अनात्मवादी बौद्ध मतकोही क्षणिकवाद, शून्यवाद और विज्ञानवाद कहते है। परंतु यहाँपर इन सब पंथोंके विचार करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। हमारा प्रश्न ऐतिहासिक है। अतएव उसका निर्णय करनेके लिये 'महायान' नामक पंथका वर्णन, जितना आवश्यक है उतनाही, यहाँपर किया जाता है। बुद्धके मूल उपदेशमें आत्मा या ब्रह्मका (अर्थात् परमात्मा या परमेश्वर) अस्तित्वही अग्राह्य अथवा गौण माना गया है, इसलिये स्वयं बुद्ध अपने जीवन-कालमेंसेही भक्तिके द्वारा परमेश्वरकी प्राप्ति करनेके मार्गका उपदेश किया जाना संभव नहीं था; और जबतक बुद्धकी भव्य मूर्ति एवं चरित्रक्रम लोगोंके सामने प्रत्यक्ष रीतिसे उपस्थित था, तबतक उस मार्गकी कुछ आवश्यकताही नहीं थी। परंतु आगे यह आवश्यक हो गया, कि यह धर्म सामान्य जनोंको प्रिय हो; और उसका अधिक प्रसारभी होवे। अतः घरदार छोड़, भिक्षु बन करके मनोनिग्रहसे बैठे-बिठाये निर्वाण पाने – यह न समझकर कि किसमें ? – के इस निरीश्वर निवृत्ति-मार्गकी अपेक्षा किसी सरल और प्रत्यक्ष मार्गकी आवश्यकता हुई। बहुत संभव है, कि साधारण बुद्ध-भक्तोंने तत्कालीन प्रचलित वैदिक भक्ति-मार्गका अनुकरण करके, बुद्धकी उपासनाका आरंभ पहले पहल स्वयं कर दिया हो; अतएव बुद्धके निर्वाण पानेके पश्चात् शीघ्रही बौद्ध पंडितोंने बुद्धहीको "स्वयंभू तथा अनादि, अनंत पुरुषोत्तम "का रूप दे दिया; और वे कहने लगे, कि बुद्धका निर्वाण होना तो उन्हींकी लीला है, "असली बुद्धका कभी नाश नहीं होता – वह तो सदैव अचल रहता है।" इसी प्रकार बौद्ध-ग्रंथोंमें यह प्रतिपादन किया जाने लगा, कि असली बुद्ध "सारे जगतका पिता है; और जनसमूह उनकी संतान हैं", इसलिये वहभी सभीको "समान है, न वह किसीसे प्रेमही करता है और न किसीसे द्वेषभी करता है।" "धर्मकी व्यवस्था बिगड़नेपर 'धर्मकृत्य'के लिये वही समय-समयपर बुद्धके रूपसे प्रकट हुआ करता है", और इसी देवाधिदेव बुद्धकी "भक्ति करनेसे, उसके ग्रंथोंकी पूजा करनेसे और उसके डागोबाके संमुख कीर्तन करनेसे" अथवा "उसे भक्तिपूर्वक दो-चार कमल या एक फूल समर्पण कर देनेभीसे मनुष्यको सद्गति प्राप्त होती है (सद्धर्मपुंडरीक २. ७७–९८; ५. २२; १५. ५–२२; मिलिंदप्रश्न ३. ७. ७)।* मिलिंदप्रश्नमें

---

* प्राच्यधर्म-पुस्तकमालाके २१वें खंडमें 'सद्धर्मपुंडरीक' ग्रंथका अनुवाद प्रकाशित हुआ है। यह मूल ग्रंथ संस्कृत भाषाका है। अब मूल संस्कृत ग्रंथभी प्रकाशित हो चुका है।

(मि. प्र. ३. ७ २) यहभी कहा है, कि " किसी मनुष्यकी सारी उम्र दुराचरणोंमें क्यों न बीत गई हो; परंतु मृत्युके समय यदि वह बुद्धकी शरणमें जावे, तो उसे स्वर्गकी प्राप्ति अवश्य होगी "; और सद्धर्मपुंडरीकके दूसरे तथा तीसरे अध्यायोंमें इस बातका विस्तृत वर्णन है, कि सब लोगोंका " अधिकार, स्वभाव तथा ज्ञान एकही प्रकारका नहीं होता; इसलिये अनात्मपर निवृत्ति-प्रधान-मार्गके अतिरिक्त भक्तिके इस मार्गको (यान) बुद्धनेही दया करके अपनी–" उपायचातुरीसे निर्मित किया है। " स्वयं बुद्धके बतलाये हुए इस धर्म-तत्त्वको एकदम छोड़ देना कभीभी संभव नहीं था; कि निर्वाणपादकी प्राप्ति होनेके लिये भिक्षु-धर्महीको स्वीकार करना चाहिये; क्योंकि यदि ऐसा किया जाता, तो मानो बुद्धके मूल उपदेशपरही हरताल पोता जाता। परंतु यह कहना कुछ अनुचित नहीं था, कि भिक्षु हो गया तो क्या हुआ; उसे जंगलमें 'गेंडे'के समान अकेले तथा उदासीन न बने रहना चाहिये; किंतु धर्मप्रसार आदि लोकहित तथा परोपकारके काम 'निरिस्सित' बुद्धिसे करते जानाही बौद्ध भिक्षुओंका कर्तव्य है;† इसी मतका प्रतिपादन महायान-पंथके सद्धर्मपुंडरीक आदि ग्रंथोंमें किया गया है; और नागसेनने मिलिंदसे कहा है, कि " गृहस्थाश्रममें रहते हुए निर्वाण-पदको पा लेना बिलकुल अशक्य नहीं है – और उसके कितनेही उदाहरणभी हैं " (मि. प्र. ६. २. ४)। यह बात किसीकेभी ध्यानमें सहजही आ जायगी, कि ये विचार अनात्मवादी तथा केवल संन्यास-प्रधान मूल बौद्ध धर्मके नहीं हैं, अथवा शून्यवाद या विज्ञान-वादको स्वीकार करकेभी इनकी उपपत्ति नहीं जानी जा सकती; और पहले पहल अधिकांश बौद्ध धर्मवालोंको स्वयं मालूम पडता था, कि ये विचार बुद्धके मूल उपदेशसे विरुद्ध हैं। परंतु फिर यही नया मतही स्वभावसे अधिकाधिक लोकप्रिय होने लगा; और बुद्धके मूल उपदेशके अनुसार आचरण करनेवालेको 'हीनयान' (हलका मार्ग) तथा इस नये पंथको 'महायान' (बड़ा मार्ग) नाम प्राप्त हो गया।* चीन, तिब्बत और जापान आदि देशोंमें आजकल जो बौद्ध धर्म प्रचलित

---

† सुत्तनिपातमें खग्गविसाणसुत्तके ४१ वें श्लोकका ध्रुवपद "एको चरे खग्गविसाणकप्पो " है। उसका यह अर्थ है, कि खग्गविसाण याने गेंडा और उसीके समान बौद्ध भिक्षुको जंगलमें अकेले रहना चाहिये।

* हीनयान और महायान-पंथोंका भेद बतलाते हुए डॉक्टर केर्नने कहा है, कि :–
" Not the Arhat, who has shaken off all human feeling, but the generous self-sacrificing, active Bodhisattva is the ideal of the Mahayanists, and this attractive side of the creep has, more perhaps than anything else, contributed to their wide conquests, whereas S. Buddhism has not been able to make converts except where the soil had been prepared by Hindusism and Mahayanism "—Manual of Indian Buddhism, p. 69. Southern Buddhism अर्थात् हीनयान है। महायान-पंथमें भक्तिकाभी समावेश हो चुका था। " Mahayanism lays

है, वह महायान-पंथका है; और बुद्धके निर्वाणके पश्चात् महायान-पंथी भिक्षुसंघके दीर्घोद्योगके कारणही बौद्ध धर्मका इतनी शीघ्रतासे फैलाव हो गया। डॉक्टर केर्नकी राय है, कि बौद्ध धर्ममें इस सुधारकी उत्पत्ति शालिवाहन शकके लगभग तीन सौ वर्ष पहले हुई होगी।† क्योंकि बौद्ध-ग्रंथोंमें इसका उल्लेख है, कि शक राजा कनिष्टके शासन-कालमें बौद्ध-भिक्षुओंकी जो एक महापरिषद् हुई थी, उसमें महायान-पंथके भिक्षु उपस्थित थे। इस महायान-पंथके 'अमितायुसुत्त' नामक प्रधान सूत्र-ग्रंथका वह अनुवाद अभी उपलब्ध है, जो कि चीनी भाषामें सन् १४८ इसवीके लगभग किया गया था। परंतु हमारे मतानुसार यह काल इससेभी प्राचीन होना चाहिये। क्योंकि, सन ईसवीसे लगभग २३० वर्ष पहले प्रसिद्ध किये गये अशोकके शिलालेखों में संन्यास-प्रधान निरीश्वर बौद्ध धर्मका विशेष रीतिसे कोई उल्लेख नहीं मिलता; उनमें सर्वत्र प्राणिमात्रपर दया करनेवाले प्रवृत्ति-प्रधान बौद्ध धर्महीका उपदेश किया गया है। तब यह स्पष्ट है, कि पहलेही बौद्ध धर्मको महायान-पंथके प्रवृत्ति-प्रधान स्वरूपका प्राप्त होना आरंभ हो गया था। बौद्ध यति नागार्जुन इस पंथका मुख्य पुरस्कर्ता था, न कि मूल उत्पादक।

ब्रह्म या परमात्माके अस्तित्वको न मानकर, उपनिषदोंके मतानुसार, केवल मनको निर्विषय करनेवाले निवृत्ति-मार्गके स्वीकारकर्ता मूल निरीश्वरवादी बुद्ध धर्महीमेंसे यह कब संभव था, कि आगे क्रमशः स्वाभाविक रीतिसे भक्ति-प्रधान प्रवृत्ति-मार्ग निकल पड़ेगा; इसलिये बुद्धका निर्वाण हो जानेपर बौद्ध धर्मको शीघ्रही जो यह कर्म-प्रधान भक्ति-स्वरूप प्राप्त हो गया, उससे प्रकट होता है, कि इसके लिये बौद्ध धर्मके बाहरका तत्कालीन कोई न कोई अन्य कारण निमित्त हुआ होगा; और इस कारणको ढूंढ़ते समय भगवद्गीतापर दृष्टि पहुँचेविना नहीं रहती। क्योंकि, जैसे हमने गीतारहस्यके ग्यारहवें प्रकरणमें स्पष्टीकरण कर दिया है, हिंदुस्थानमें तत्कालीन प्रचलित धर्मोंमेंसे जैन तथा उपनिषद्-धर्म पूर्णतया निवृत्ति-प्रधानही थे; और वैदिक धर्मके पाशुपत अथवा शैव आदि पंथ यद्यपि भक्ति-प्रधान थे तो सही; पर प्रवृत्ति-मार्ग और भक्तिका मेल भगवद्गीताके अतिरिक्त अन्यत्र कहींभी नहीं पाया जाता था। गीतामें भगवानने अपने लिये पुरुषोत्तम नामका उपयोग किया है; और

---

a great stress on devotion in this respect as in many others harmonising with the current of feeling in India which led to the growing importance of Bhakti." *Ibid*, p. 124.

† See Dr. Kern's Manual of Indian Buddhism, pp. 6, 69 and 119. (मिलिंद मिनँडर नामी यूनानी राजा) सन् ईसवीसे लगभग १४० या १५० वर्ष पहले हिंदुस्तानकी वायव्यकी ओर, बॅक्ट्रिया देशमें राज्य करता था। मिलिंदप्रश्नमें इस बातका उल्लेख है, कि नागसेनने इसे बौद्ध धर्मकी दीक्षा दी थी। बौद्ध धर्म फैलानेके ऐसे काम महायान-पंथके लोगही किया करते थे, इसलिये स्पष्टही है, कि तब महायान-पंथ प्रादुर्भूत हो चुका था।

ये विचार भगवद्गीतामेंही आये हैं, कि " मैं पुरुषोत्तमही सब लोगोंका 'पिता' और 'पितामह' हूँ (गीता ९. ७); सबको 'सम' हूँ, मुझे न तो कोई द्वेष्यही है और न कोई प्रिय (गीता ९. २९); मैं यद्यपि अज और अव्यय हूँ, तथापि धर्म-संरक्षणार्थ समय-समयपर अवतार लेता हूँ (४. ६-८); मनुष्य कितनाही दुराचारी क्यों न हो, पर मेरा भजन करनेसे वह साधुही हो जाता है (९. ३०); अथवा मुझे भक्ति-पूर्वक एक-आध फूल, फल, पत्ता या थोडासा पानी अर्पण कर देनेसेभी मैं उसे बड़ेही संतोषपूर्वक ग्रहण करता हूँ (गीता ९. २६); और अज्ञ लोगोंके लिये भक्ति एक सुलभ मार्ग है " (गीता १२. ५); इत्यादि। इसी प्रकार इस तत्त्वका विस्तृत प्रतिपादन गीताके अतिरिक्त कहींभी नहीं किया गया है, कि ब्रह्मनिष्ठ पुरुष लोक-संग्रहके लिये प्रवृत्त-धर्महीको स्वीकार करें। अतएव यह अनुमान करना पड़ता है, कि जिस प्रकार मूल बुद्ध धर्ममें वासनाका क्षय करनेका निरा निवृत्ति-प्रधान-मार्ग उपनिषदोंसे लिया गया है, उसी प्रकार जब महायान-पंथ निकाला तब उसमें प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-तत्त्वभी भगवद्गीताहीसे लिया गया होगा। परंतु यह बात केवल अनुमानोंपरही अवलंबित नहीं है। तिब्बती भाषामें बौद्ध धर्मके इतिहासपर बौद्ध-धर्मी तारानाथ-लिखित जो ग्रंथ है, उसमें स्पष्ट लिखा है, कि महायान-पंथके मुख्य पुरस्कर्ताका अर्थात् " नागार्जुनका गुरु राहुलभद्र नामक बौद्ध पहले ब्राह्मण था; और इस ब्राह्मणको (महायान-पंथकी) कल्पना सूझ पड़नेके लिये ज्ञानी श्रीकृष्ण तथा गणेश कारण हुए। " इसके सिवा, एक दुसरे तिब्बती ग्रंथमेंभी यही उल्लेख पाया जाता है।* यह सच है, कि तारानाथका ग्रंथ बहुत प्राचीन नहीं है; परंतु यह कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि उसका वर्णन प्राचीन ग्रंथोंके आधारको छोड़ कर नहीं किया गया है। क्योंकि, यह संभव नहीं है, कि कोईभी बौद्ध ग्रंथकार स्वयं अपने धर्मपंथके तत्त्वोंको बतलाते समय, बिना किसी कारणके, परधर्मियोंका इस प्रकार उल्लेख कर दे। इसलिये स्वयं बौद्ध ग्रंथकारोंहीके द्वारा इस विषयमें श्रीकृष्णके नामका उल्लेख किया जाना बड़े महत्त्वका है। क्योंकि, भगवद्गीताके अतिरिक्त श्रीकृष्णोक्त दूसरा प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-ग्रंथ वैदिक धर्ममें हैही नहीं, अतएव इससे

---

*See Dr. Kern's Manual of Indian Buddhism, p. 122.

" He (Nagarjuna) was a pupil of the Brahmana Rahulabhadra, who himself was a Mahayanist. This Brahmana was much indebted to the sage Krishna and still more to Ganesha. This quassi–historical notice, reduced to its less allegorical expression means that Mahayanism is much indebted to the Bhagavadgita and more even to Shivaism." जान पड़ता है, कि डॉ. केर्न 'गणेश' शब्दसे शैव पंथ समझते हैं। डॉ. केर्नने प्राच्यधर्म-पुस्तक-मालामें 'सद्धर्मपुंडरीक' ग्रंथका अनुवाद किया है; और उसकी प्रस्तावनामें इसी मतका प्रतिपादन किया है। (S. B. E. Vol. XXI, Intro. pp. xxv-xxviii).

यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है, कि महायान-पंथके अस्तित्वमें आनेसे पहलेही न केवल भागवत धर्मही किंतु भागवत धर्मविषयक श्रीकृष्णोक्त ग्रंथ अर्थात् भगवद्-गीताभी उस उमय प्रचलित थी; और डॉक्टर केर्नभी इसी मतका समर्थन करते हैं। जब गीताका अस्तित्व बुद्ध धर्मीय महायान-पंथसे पहलेका निश्चित हो गया; तब अनुमान किया जा सकता है, कि उसके साथ महाभारतभी रहा होगा। बौद्ध-ग्रंथोंमें कहा गया है, कि बुद्धकी मृत्युके पश्चात् शीघ्रही उनके मतोंका संग्रह कर लिया गया; परंतु इससे वर्तमान समयमें पाये जानेवाले अत्यंत प्राचीन बौद्ध-ग्रंथोंकाभी उसी समयमें रचा जाना सिद्ध नहीं होता। महापरिनिब्बाणसुत्तको वर्तमान बौद्ध-ग्रंथोंमें प्राचीन मानते हैं। परंतु उसमें पाटलिपुत्र शहरके विषयमें जो उल्लेख है, उससे प्रोफेसर र्‍हिस्डेविड्स्ने दिखलाया है, कि यह ग्रंथ बुद्धका निर्वाण हो चुकनेपर कम-से-कम सौ वर्ष पहले तैयार न किया गया होगा और बुद्धके अनंतर सौ वर्ष बीतनेपर बौद्ध-धर्मीय भिक्षुओंकी जो दूसरी परिषद् हुई थी, उसका वर्णन विनयपिटकामें चुल्लवग्ग ग्रंथके अंतमें है। इससे विदित होता है,† कि लंकाद्वीपके पाली भाषामें लिखे हुए विनयपिटकादि प्राचीन बौद्ध-ग्रंथ इस परिषदके हो चुकनेपर रचे गये हैं। इस विषयमें बौद्ध ग्रंथकारोंहीने कहा है, कि अशोकके पुत्र महेंद्रने ईसाकी सदीसे लगभग २४१ वर्ष पहले जब प्रथम सिंहलद्वीपमें बौद्ध धर्मका प्रचार करना आरंभ किया, तब ये ग्रंथभी वहाँ पहुँचाये गये, और फिर कोई ड़ेढ सौ वर्षके बाद ये यहाँ पहले पहल पुस्तकके रूपमें लिखे गये। यदि मान लें, कि इन ग्रंथोंको मुखाग्र रट डालनेकी चाल थी, इसलिये महेंद्रके समयसे उनमें कुछ भी फेरफार न किया गया होगा, तोभी यह कैसे कहा जा सकता है, कि बुद्धके निर्वाणके पश्चात् ये ग्रंथ जब पहले पहल तैयार किये गये, तब अथवा आगे महेंद्र या अशोक-कालतक, तत्कालीन प्रचलित वैदिक-ग्रंथोंसे इनमें कुछभी नहीं लिया गया? अतएव यदि महाभारत बुद्धके पश्चातका हो तोभी अन्य प्रमाणोंसेभी उसका सिकंदर बादशाहसे पहलेका अर्थात् सन् ३२५ ईसवीसे पह-लेका होना सिद्ध है, इसलिये मनुस्मृतिके श्लोकोंके समानही महाभारतके श्लोकोंकाभी उन पुस्तकोंमें पाया जाना संभव है, कि जिनको महेंद्र सिंहलद्वीपमें ले गया था। सारांश, बुद्धकी मुत्युके पश्चात् उनके धर्मका प्रसार होते देखकर शीघ्रही प्राचीन वैदिक गाथाओं तथा कथाओंका महाभारतमें एकत्रित संग्रह किया गया है; और दिखाई देता है, कि उसके जो श्लोक बौद्ध-ग्रंथोंमें शब्दशः पाये जाते हैं, उनको बौद्ध-ग्रंथ-कारोंने महाभारतसेही लिया है; न कि स्वयं महाभारतकारने बौद्ध-ग्रंथोंसे। परंतु यदि मान लिया जाय, कि बौद्ध ग्रंथकारोंने इन श्लोकोंको महाभारतसे नहीं लिया है; बल्कि उन पुराने वैदिक-ग्रंथोंसे लिया होगा, कि जो महाभारतकेभी आधार हैं, परंतु वर्तमान समयमें उपलब्ध नहीं है और इस कारण महाभारतके कालका निर्णय

---

† See S. B. E. Vol. XI, Intro. pp. xv-xx and p. 58.

उपर्युक्त श्लोक-समानतासे पूरा नहीं होता; तथापि नीचे लिखी हुई चार बातोंसे इतना तो निस्संदेह सिद्ध हो जाता है, कि बौद्ध धर्ममें महायान-पंथका प्रादुर्भाव होनेसे पहले केवल भागवत धर्मही प्रचलित न था; बल्कि उस समय भगवद्गीताभी सर्वमान्य हो चुकी थी और इसी गीताके आधारपर महायान-पंथ निकला है; एवं श्रीकृष्णप्रणीत गीताके तत्त्व बौद्ध धर्मसे नहीं लिये गये हैं। वे चार बातें इस प्रकार हैं : (१) केवल अनात्मवादी तथा संन्यास-प्रधान मूल बुद्ध धर्महीसे आगे चलकर क्रमशः स्वाभाविक रीतिसे भक्ति-प्रधान तथा प्रवृत्ति-प्रधान तत्त्वोंका निकलना संभव नहीं है। (२) महायान-पंथकी उत्पत्तिके विषयमें स्वयं बौद्ध ग्रंथकारोंने श्रीकृष्णके नामका स्पष्टतया निर्देश किया है। (३) गीताके भक्ति-प्रधान तथा प्रवृत्ति-प्रधान तत्त्वोंकी महायान-पंथके मतोंसे अर्थतः तथा शब्दशः समानता है। और (४) बौद्ध धर्मके साथ साथ तत्कालीन प्रचलित अन्यान्य जैन अथवा वैदिक पंथोंमें प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-मार्गका प्रचार न था। उपर्युक्त प्रमाणोंसे वर्तमान गीताका ऊपर जो काल निर्णीत हुआ है, वह इससे पूर्णतया मिलता-जुलता है।

भाग ७ – गीता और ईसाइयोंकी बाइबल

पिछले भागमें बतलाई हुई बातोंसे निश्चित हो गया, कि हिंदुस्थानमें भक्ति-प्रधान भागवत धर्मका उदय ईसासे लगभग १४ सौ वर्ष पहले हो चुका था; और ईसाके पहले प्रादुर्भूत मूल संन्यास-प्रधान बौद्ध धर्ममें प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-तत्त्वका प्रवेश, वह बौद्ध-ग्रंथकारोंकेही मतानुसार, श्रीकृष्णप्रणीत गीताहीके कारण हुआ है। गीताके बहुतेरे सिद्धान्त ईसाइयोंकी नई बाइबलमें दीख पड़ते हैं; बस, इसी बुनियाद-पर कई ईसाई ग्रंथोंमें यह प्रतिपादन रहता है, कि ये तत्त्व ईसाई धर्मसे गीतामें ले लिये गये होंगे; और विशेषतः डॉक्टर लारिनसरने गीताके उस जर्मन भाषानुवाद-में – कि जो सन् १८६९ ईसवीमें प्रकाशित हुआ था – जो कुछ प्रतिपादन किया है, उसका निर्मूलत्व अब आप-ही-आप सिद्ध हो जाता है। लारिनसरने अपनी पुस्तकके (अर्थात् गीताके जर्मन अनुवादके) अंतमें भगवद्गीता और बाइबल – विशेष-कर नई बाइबल – के शब्द-सादृश्यके कोई एक सौ से अधिक स्थल बतलाये हैं; और उनमेंसे कुछ तो विलक्षण एवं ध्यान देने योग्यभी हैं। एक उदाहरण लीजिये – "उस दिन तुम जानोगे, कि मैं अपने पितामें, तुम मुझमें और मैं तुममें हूँ" (जान. १४. २०), यह वाक्य गीताके नीचे लिखे हुए वाक्योंसे समानार्थकही नहीं है, प्रत्युत शब्दशःभी एक-ही है :– "येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि" (गीता ४. ३५); और "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति" (गीता ६. ३०)। उसी प्रकार जानका आगेका यह वाक्यभी "जो मुझसे प्रेम करता है, उससे मैं प्रेम करता हूँ" (गीता १४. २१), गीताके "प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थं अहं स च मम प्रियः" (गीता ७. १७) इस वाक्यके बिलकुलही सदृश है। इन वाक्यों तथा

इन्हींसे मिलते-जुलते दूसरे अनेक सदृश वाक्योंकी बुनियादपर डॉक्टर लारिनसरने अनुमान करके कह दिया है, कि गीताकार बाइबलसे परिचित थे; और ईसाके लगभग पाँच सौ वर्षोंके पीछे गीता बनी होगी। डॉ. लारिनसरकी पुस्तकके इस भागका अंग्रेजी अनुवाद 'इंडियन एंटिक्वेरी 'की दूसरी पुस्तकमें उस समय प्रकाशित हुआ था; और परलोकवासी तेलंगने भगवद्गीताका जो पद्यात्मक अंग्रेजी अनुवाद किया है, उसकी प्रस्तावनामें उन्होंने लारिनसरके उक्त मतका पूर्णतया खंडन किया है।* डॉ. लारिनसर पश्चिमी संस्कृतज्ञ पंडितोंमें नहीं लेखे जाते थे; और संस्कृतकी अपेक्षा उनका ईसाई धर्मका ज्ञान तथा अभिमान कहीं अधिक था। अतएव उनके मत न केवल परलोकवासी तेलंगहीको, किंतु मेक्समूलर प्रभृति मुख्य मुख्य पश्चिमी सस्कृत पंडितोंकोभी अग्राह्य हो गये थे। बेचारे लारिनसर को यह कल्पनाभी न हुई होगी, कि ज्योंही एक बार गीताका समय ईसासे प्रथम निस्संदिग्ध निश्चित हो गया, त्योंही गीता और बाइबलके जो सैंकडों अर्थ-सादृश्य और शब्द-सादश्य मैं दिखला रहा हूँ, वे भूतोंके समान उलटे मेरेही गलेसे आ लिपटेंगे ! परंतु इसमें संदेह नहीं, कि जो बात कभी स्वप्नमेंभी नहीं दीख पड़ती, वही कभी कभी आँखोंके सामने नाचने लगती है; और सचमुच देखा जाय, तो अब डॉक्टर लारिनसरको उत्तर देनेकीभी कोई आवश्यकताही नहीं है। तथापि कुछ बडे बड़े अंग्रेजी ग्रंथोंमें अभीतक इसी असत्य मतका उल्लेख दीख पडता है, इसलिये यहाँपर उस अर्वाचीन खोज़के परिणामका संक्षेपमें दिग्दर्शन करा देना आवश्यक प्रतीत होता है, कि जो इस विषयमें निष्पन्न हुआ है। पहले यह ध्यानमें रखना चाहिये, कि जब किन्हीं दो ग्रंथोंके सिद्धान्त एक-से होते हैं, तब केवल इन सिद्धान्तोंकी समानताहीके भरोसे यह निश्चय नहीं किया जा सकता, कि अमुक ग्रंथ पहले रचा गया है, और अमुक पीछे। क्योंकि यहाँपर ये दोनों बातें संभव हैं, (१) इन दोनों ग्रंथोंमेंसे पहले ग्रंथके विचार दूसरे ग्रंथसे लिये गये होंगे; अथवा (२) दूसरे ग्रंथके विचार पहलेसे। अतएव पहले जब दोनों ग्रंथोंके कालका स्वतंत्र रीतिसे निश्चय कर लिया जाय, तब फिर विचार-सादृश्यसे यह निर्णय करना चाहिये, कि अमुक ग्रंथकारने अमुक ग्रंथसे अमुक विचार लिये हैं। इसके सिवा, दो भिन्न भिन्न देशोंके दो ग्रंथकारोंको एकहीसे विचारोंका एकही समयमें, अथवा कभी आगे-पीछेभी, स्वतंत्र रीतिसे सूझ पड़ना कोई बिलकुल अशक्य बात नहीं है, इसलिये उन दोनों ग्रंथोंकी समानताको जाँचते समय यह विचारभी करना पड़ता है, कि वह समानता स्वतंत्र रीतिसे आविर्भूत होनेके योग्य है या नहीं ? और जिन दो देशोंमें ये ग्रंथ निर्मित हुए हों, उनमें उस समय कुछ

---

* See Bhagavadgita translated into English Blank Verse with Notes &c. by K. T. Telang, 1875 (Bombay). This book is different from the translation in the S. B. series.

आवागमन होकर एक देशके विचारोंका दूसरे देशमें पहुँचना संभव था या नहीं ? इस प्रकार चारों ओरसे विचार करनेपर दीख पड़ता है, कि ईसाई धर्मसे किसीभी बातका गीतामें लिया जाना संभवही नहीं था; बल्कि गीताके तत्त्वोंके समान जो कुछ तत्त्व ईसाईयोंकी बाइबलमें पाये जाते हैं, उन तत्त्वोंको ईसाने अथवा उसके शिष्योंने बहुत करके बौद्ध धर्मसे – अर्थात् पर्यायसे गीता या वैदिक धर्महीसे – बाइबलमें ले लिया होगा; और अब इस बातको कुछ पश्चिमी पंडित लोग स्पष्ट रूपसे कहनेभी लग गये हैं। इस प्रकार तराजूका फिरा हुआ पलड़ा देखकर ईसाके कट्टर भक्तोंको आश्चर्य होगा; और यदि उनके मनका झुकाव इस बातको स्वीकृत न करनेकी ओर हो जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं है। परंतु ऐसे लोगोंसे हमें इतनाही कहना है, कि यह प्रश्न धार्मिक नहीं है – ऐतिहासिक है, इसलिये इतिहासकी सार्व-कालिक पद्धतिके अनुसार हालमें उपलब्ध हुई बातोंपर शांतिपूर्वक विचार करना आवश्यक है, और फिर उससे निकलनेवाले अनुमानोंको सभी लोग – और विशेषत: वे लोग, कि जिन्होंने यह विचार सादृश्यका प्रश्न प्रथम उपस्थित किया है – आनंद-पूर्वक तथा पक्षपात-रहित बुद्धिसे ग्रहण करें; यही न्याय्य तथा युक्तिसंगत है।

नई बाइबलका ईसाई धर्म, यहुदी बाइबल अर्थात् प्राचीन बाइबलमें प्रति-पादित प्राचीन यहुदी धर्मका सुधरा हुआ रूपांतर है। यहुदी भाषामें ईश्वरको 'इलोहा' (अरबीमें 'इलाह') कहते हैं – परंतु मोजेसने जो नियम बना दिये हैं, उनके अनुसार यहुदी धर्मके मुख्य उपास्य देवताकी विशेष संज्ञा 'जिहोव्हा' है। पश्चिमी पंडितोंनेही अब निश्चय किया है, कि यह 'जिहोव्हा' शब्द असलमें यहुदी नहीं है; किंतु खाल्दी भाषाके 'यव्हे' (संस्कृत यह्व) शब्दसे निकला है। यहुदी लोग मूर्ति-पूजक नहीं हैं। उनके धर्मका मुख्य आचार यह है, कि अग्निमें पशु या अन्य वस्तुओंका हवन करें; ईश्वरके बतलाये हुए नियमोंका पालन करके जिहोव्हाको संतुष्ट करें; और उसके द्वारा इस लोकमें अपना तथा अपनी जातिका कल्याण प्राप्त करें। अर्थात् संक्षेपमें कहा जा सकता है, कि वैदिक धर्मीय कर्मकांडके समान यहुदी धर्मभी यज्ञमय तथा प्रवृत्ति-प्रधान है। उसके विरुद्ध ईसाका अनेक स्थानोंपर उपदेश है, कि "मुझे (हिंसाकारक) यज्ञ नहीं चाहिये, मैं (ईश्वरकी) कृपा चाहता हूँ" (मेथ्यू. ९. १३); "ईश्वर तथा द्रव्य, दोनोंको साध लेना संभव नहीं" (मेथ्यू. ६. २४); "जिसे अमृतत्वकी प्राप्तिकर लेनी हो, उसे स्त्री-बच्चे छोड़ करके मेरा भक्त होना चाहिये" (मेथ्यू. १९. २१); और जब ईसाने अपने शिष्योंको धर्मप्रचारार्थ देश-विदेशमें भेजा, तब संन्यास-धर्मके इन नियमोंका पालन करनेके लिये उनको उपदेश किया कि "तुम अपने पास सोना, चाँदी तथा बहुतसे वस्त्रप्रावरणभी न रखना" (मेथ्यू. १०. ९-१३)। यह सच है, कि अर्वाचीन ईसाई राष्ट्रोंने ईसाके इन सब उपदेशोंको लपेट कर ताकमें रख दिया है; परंतु जिस प्रकार आधुनिक शंकराचार्यके हाथी-घोड़े रखनेसे शांकर-संप्रदाय दरबारी नहीं

कहा जा सकता, उसी प्रकार अर्वाचीन ईसाई राष्ट्रोंके इस आचरणसे मूल ईसाई धर्मके विषयमेंभी यह नहीं कहा जा सकता, कि वह धर्मभी प्रवृत्ति-प्रधान था। मूल वैदिक धर्मके कर्मकांडात्मक होनेपरभी जिस प्रकार उसमें आगे चल कर ज्ञानकांडका उदय हो गया, उसी प्रकार यहूदी तथा ईसाई धर्मका सबंध है। परंतु वैदिक कर्म-कांडमें धीरे धीरे, क्रमशः ज्ञानकांडकी और फिर भक्ति-प्रधान भागवत धर्मकी उत्पत्ति एवं वृद्धि सैकड़ों वर्षों तक होती रही है; किंतु यह बात ईसाई धर्ममें नहीं है। इतिहाससे पता चलता है, कि ईसाके अधिकसे अधिक लगभग दो सौ वर्ष पहले **एसी या एसीन** नामक संन्यासियोंका पंथ यहुदियोंके देशमें एकाएक आविर्भूत हुआ था। ये एसी लोग थे तो यहुदी धर्मकेही; परंतु हिंसात्मक यज्ञयागको छोड़कर ये अपना समय किसी शांत स्थानमें बैठे परमेश्वरके चिंतनमें बिताया करते थे; और उदरपोषणार्थ कुछ करना पड़ा, तो खेतीके समान निरुपद्रवी व्यवसाय किया करते थे। क्वाँरे रहना, मद्य-मांससे परहेज रखना, हिंसा न करना, शपथ न खाना, संघके साथ मठमें रहना और किसीको कुछ द्रव्य मिल जाय, तो उसे पूरे संधकी सामाजिक आमदनी समझना आदि, उनके पंथके मुख्य तत्त्व थे; और यदि कोई उस मंडलीमें प्रवेश करना चाहता था, तो उसे तीन वर्ष तक उम्मीदवारी करके फिर कुछ शर्तें मंजूर करनी पड़ती थीं – उनका प्रधान मठ मृत-समुद्रके पश्चिमी किनारे एंगदीमें था। वहीं पर वे संन्यास-वृत्तिसे शांतिपूर्वक रहा करते थे। स्वयं ईसाने तथा उसके शिष्योंने नई बाइबलमें एसी पंथके मतोंका जो मान्यतापूर्वक निर्देश किया है (मेथ्यू. ५. ३४; १९. १२; जेम्स. ५. १२. कृत्य. ४. ३२–३५), उससे दीख पड़ता है, कि ईसाभी इसी पंथका अनुयायी था; और इस पंथके संन्यास-धर्मकाही उसने अधिक प्रचार किया है। यद्यपि ईसाके संन्यास-प्रधान भक्ति-मार्गकी परंपरा इस प्रकार एसी पंथकी परंपरासे मिला दी जावे, तोभी ऐतिहासिक दृष्टिसे इस बातकी कुछ-न-कुछ सयुक्तिक उपपत्ति बतलाना आवश्यक है, कि मूल कर्ममय यहुदी धर्मसे संन्यास-प्रधान एसी पंथका उदय कैसे हो गया? इस पर कुछ लोग कहते हैं; कि ईसा एसीन-पंथी नहीं था। अब जो इस बातको सच मान लें, तो यह प्रश्न नहीं टाला जा सकता, कि नई बाइबलमें जिस संन्यास-प्रधान धर्मका वर्णन किया गया है, उसका मूल क्या है? अथवा कर्म-प्रधान यहुदी धर्ममें उसका प्रादुर्भाव एकदम कैसे हो गया? इसमें भेद केवल इतनाही होता है, कि एसीन पंथकी उत्पत्तिवाले प्रश्नके बदले इस प्रश्नको हल करना पड़ता है। क्योंकि, अब समाजशास्त्रका यह मामूली सिद्धान्त निश्चित हो गया है, कि "कोईभी बात किसीभी स्थानमें एकदम उत्पन्न नहीं हो जाती, उसकी वृद्धि धीरे धीरे तथा बहुत दिन पहलेसे हुआ करती है; और जहाँ-पर इस प्रकारकी वृद्धि दीख नहीं पड़ती, वहाँपर वह बात प्रायः पराये देशों या पराये लोगोंसे ली हुई होती है।" प्राचीन ईसाई ग्रंथकारोंके ध्यानमें यह अड़चन आईही न हो, सो बात नहीं; परंतु यूरोपियन लोगोंको बौद्ध धर्मका ज्ञान होनेके पहले –

अर्थात् अठारहवीं सदीतक – शोधक ईसाई विद्वानोंका यह मत था, कि यूनानी तथा यहुदी लोगोंका पारस्परिक निकट संबंध हो जानेपर यूनानियोंके – विशेषतः पायथा-गोरसके – तत्त्वज्ञानकी बदौलत कर्ममय यहुदी धर्ममें एसी लोगोंके संन्यास-मार्गका प्रादुर्भाव हुआ होगा। किंतु अर्वाचीन शोधोंसे यह सिद्धान्त सत्य नहीं माना जा सकता। इससे सिद्ध होता है, कि यज्ञमय यहुदी धर्महीमें एकाएक संन्यास-प्रधान एसी या ईसाई धर्मकी उत्पत्ति हो जाना स्वभावतः संभव नहीं था; और उसके लिये यहुदी धर्मसे बाहरका कोई न कोई अन्य कारण निमित्त हो चुका है – यह कल्पना नई नहीं है; किंतु ईसाकी अठारहवीं सदीसे पहलेके ईसाई पंडितोंकोभी वह मान्य हो चुकी थी।

कोलब्रुक साहबने* कहा है, कि पायथागोरसके तत्त्वज्ञानके साथ बौद्ध धर्मके तत्त्वज्ञानकी कहीं अधिक समता है। अतएव यदि उपर्युक्त सिद्धान्त सच मान लिया जाय, तोभी कहा जा सकेगा, कि एसी-पंथका जनकत्व परंपरासे हिंदुस्थान-कोही मिलता है। परंतु इतनी आनाकानी करनेकीभी अब कोई आवश्यकता नहीं है। बौद्ध-ग्रंथोंके साथ नई बाइबलकी तुलना करनेपर स्पष्टही दीख पड़ता है, कि एसी या ईसाई धर्मकी पायथागोरियन मंडलियोंसे जितनी समता है, उससे कहीं अधिक और विलक्षण समता केवल एसी धर्मकीही नहीं; किंतु ईसाके चरित्र और ईसाके उपदेशकीभी बुद्धके धर्मसे है। जिस प्रकार ईसाको भ्रममें फँसानेका प्रयत्न शैतानने किया था; और जिस प्रकार सिद्धावस्था प्राप्त होनेके समय ईसाने ४० दिन उपवास किया था; उसी प्रकार बुद्ध-चरित्रमेंभी यह वर्णन है, कि बुद्धको मारका ड़र दिखलाकर मोहमें फँसानेका प्रयत्न किया गया था; और उस समय बुद्ध ४९ दिन (सात सप्ताह) तक निराहार रहा था। इसी प्रकार पूर्ण श्रद्धाके प्रभावसे पानीपर चलना, मुख तथा शरीरकी कांतिको एकदम सूर्य-सदृश बना लेना, अथवा शरणागत चोरों या वेश्याओंकोभी सद्गति देना इत्यादि बातेंभी बुद्ध और ईसा, दोनोंके चरित्रोंमें एकही-सी मिलती हैं; और ईसाके जो ऐसे मुख्य मुख्य नैतिक उपदेश हैं, कि "तू अपने पड़ोसियों या शत्रुओंसेभी प्रेम कर," वेभी ईसासे पहलेही मूल बुद्ध धर्ममें कहीं कहीं बिलकुल अक्षरशः आ चुके हैं। ऊपर बतलाही चुके हैं, कि भक्तिका तत्त्व मूल बुद्ध धर्ममें नहीं था; परंतु वहभी आगे चलकर, अर्थात् कम-से-कम ईसासे दो-तीन सदियोंसे पहलेही, महायान बौद्ध-पंथमें भगवद्गीतासे लिया जा चुका था। मि. आर्थर लिलीने अपनी पुस्तकमें आधारपूर्वक स्पष्ट करके दिखला दिया है, कि यह साम्य केवल इतनीही बातोंमें नहीं है; बल्कि इसके सिवा बौद्ध तथा ईसाई धर्म की अन्यान्य सैकड़ों छोटी-मोटी बातोंमें उक्त प्रकारकाही साम्य वर्तमान है। यही क्यों; सूलीपर चढ़ाकर ईसाका वध किया गया था; इसलिये ईसाई लोग जिस सूलीके चिन्हको पूज्य तथा पवित्र मानते हैं, उसी सूलीके चिन्हको 'स्वस्तिक' 卐

*See Colebrooke's Miscellaneous Essays, Vol. I, pp. 399-400.

(साँथिया)के रूपमें वैदिक तथा बौद्ध धर्मवाले ईसाके सैकड़ों वर्ष पहलेसेही शुभदायक चिन्ह् मानते थे; और प्राचीन शोधकोंने यह निश्चय किया है, कि मिश्र आदि, पृथ्वीके पुरातन खंडोंके देशोंहीमें नहीं, किंतु कोलंबससे कुछ शतक पहले अमेरिकाके पेरू तथा मेक्सिको देशमेंभी स्वस्तिक चिन्ह् शुभदायक माना जाता था।* इससे यह अनुमान करना पड़ता है, कि ईसाके पहलेही सब लोगोंको स्वस्तिक चिन्ह् पूज्य हो चुका था; और उसीका उपयोग आगे चल कर ईसाके भक्तोंने एक विशेष रीतिसे कर लिया है। बौद्ध भिक्षु और प्राचीन ईसाई धर्मोपदेशकोंकी – विशेषतः पुराने पादड़ियोंकी – पोशाक और धर्मविधिमेंभी कहीं अधिक समता पाई जाती है। उदाहरणार्थ, 'बाप्तिस्मा' अर्थात् स्नानके पश्चात् दीक्षा देनेकी विधिभी ईसासे पहलेही प्रचलित थी; और अब सिद्ध हो चुका है, कि दूर दूरके देशोंमें धर्मोपदेशक भेजकर धर्म-प्रसार करनेकी पद्धति, ईसाई धर्मोपदेशकोंसे पहलेही, बौद्ध भिक्षुओंको पूर्णतया स्वीकृत हो चुकी थी।

किसीभी विचारवान् मनुष्यके मनमें यह प्रश्न होना विलकुलही स्वाभाविक है, कि बुद्ध और ईसाके चरित्रोंमें तथा उनके नैतिक उपदेशोंमें और उनके धर्मोंकी धार्मिक विधियोंतकमें यह जो अद्भुत और व्यापक समता पाई जाती है, उसका क्या कारण है?† बौद्ध धर्म-ग्रंथोंका अध्ययन करनेसे जब पहले पहल यह समता पश्चिमी लोगोंको दीख पड़ी, तब कुछ ईसाई पंडित कहने लगे, कि बौद्ध धर्मवालोंने इन तत्त्वोंको 'नेस्टोरियन' नामक ईसाई पंथसे लिया होगा, कि जो एशिया खंडमें प्रचलित था; परंतु यह बातही संभव नहीं है। क्योंकि नेस्टार-पंथका प्रवर्तकही ईसासे लगभग सवा चार सौ वर्षके पश्चात् उत्पन्न हुआ था; और अब अशोकके शिलालेखोंसे यह भली भाँति सिद्ध हो चुका है, कि ईसाके लगभग पाँच सौ वर्ष पहले, अर्थात् नेस्टारसे तो लगभग नौ सौ वर्ष पहले, बुद्धका जन्म हो गया था; अशोकके समय और अर्थात् सन् ईसवीसे कम-से-कम ढाई सौ वर्ष पहले, बौद्ध धर्म हिंदुस्थानमें और आसपासके देशोंमें तेजीसे फैला हुआ था, एवं बुद्ध-चरित आदि ग्रंथभी उस समय तैयार हो चुके थे। इस प्रकार जब बौद्ध धर्मकी प्राचीनता निर्विवाद है, तब ईसाई तथा बौद्ध धर्ममें दीख पडनेवाले साम्यके विषयमें वे दोही पक्ष रह जाते हैं

* See The 'Secret of the Pacific' by C. Reginald Enock, 1912, pp. 248-252.

† इस विषयपर मि. आर्थर लिलीने Buddhism in Christendom नामक एक स्वतंत्र ग्रंथ लिखा है। इसके सिवा Buddha and Buddhism नामक ग्रंथके अन्तिम चार भागोंमें उन्होंने अपने मतका संक्षिप्त निरूपण स्पष्ट रूपसे किया है। हमने परिशिष्टके इस भागमें जो विवेचन किया है, उसका आधार विशेषतया यही दूसरा ग्रंथ है। Buddha and Buddhism ग्रंथ The World's Epoch-makers' Series में सन् १९०० ईसवीमें प्रसिद्ध हुआ है। इसके दसवें भागमें बौद्ध और ईसाई धर्मके कोई ५० समान उदाहरणोंका दिग्दर्शन कराया है।

(१) वह साम्य स्वतंत्र रीतिसे दोनों ओर उत्पन्न हुआ हो; अथवा (२) इन तत्त्वोंको ईसाने या उसके शिष्योंने बौद्ध धर्मसे लिया हो। इसपर प्रोफेसर -हिस्-डेविड्स्का मत है, कि बुद्ध और ईसाकी परिस्थिति एकहीसी होनेके कारण दोनों ओर यह सादृश्य आप-ही-आप स्वतंत्र रीतिसे उत्पन्न हुआ है।* परंतु, थोड़ा-सा विचार करनेपर यह बात सबके ध्यानमें आजावेगी, कि यह कल्पना समाधानकारक नहीं है। क्योंकि, जब कोई नई बात किसीभी स्थानपर स्वतंत्र रीतिसे उत्पन्न होती है, तब उसका उदय सदैव क्रमशः हुआ करता है; और इसलिये उसकी उन्नतिका क्रमभी बतलाया जा सकता है। उदाहरण लीजिये – सिलसिलेवार ठीक तौरपर यह बातलाया जा सकता है, कि वैदिक कर्मकांडसे ज्ञानकांड, और ज्ञानकांड अर्थात् उपनिषदोंहीसे आगे चलकर भक्ति, पातंजलयोग अथवा अंतमें बौद्ध धर्म कैसे उत्पन्न हुआ ? परंतु यज्ञमय यहुदी धर्ममें संन्यास-प्रधान एसी या ईसाई धर्मका उदय उक्त प्रकारसे नहीं हुआ है। वह एकदम उत्पन्न हो गया है; और ऊपर बतलाही चुके हैं, कि प्राचीन ईसाई पंडितभी यह मानते हैं, कि इस रीतिसे उसके एकदम उदय हो जानेमें यहुदी धर्मके अतिरिक्त कोई अन्य बाहरी कारण निमित्त रहा होगा। इसके सिवा बौद्ध, तथा ईसाई धर्ममें जो समता दीख पडती है, वह इतनी विलक्षण और पूर्ण है, कि वैसी समताका स्वतंत्र रीतिसे उत्पन्न होना संभवभी नहीं है। यदि यह बात सिद्ध हो गई होती, कि उस समय यहुदी लोगोंको बौद्ध धर्मका ज्ञान होनाही सर्वथा असंभव था, तो बात दूसरी थी। परंतु इतिहाससे सिद्ध होता है, कि सिकंदरके समयसे आगे – और विशेष कर अशोकके समयमेंही (अर्थात् ईसासे लगभग २५० वर्ष पहले) – पूर्वकी ओर मिश्रके एलेक्जेंड्रिया तथा यूनानतक बौद्ध यतियोंकी पहुँच हो चुकी थी। अशोकके एक शिलालेखमेंही यह बात लिखी है, कि यहुदी लोगोंके तथा आसपासके देशोंके यूनानी राजा एंटिओकससे उसने संधि की थी। इसी प्रकार बाइबलमें (मेथ्यू. २. १) वर्णन है, कि जब ईसा पैदा हुआ, तब पूर्वकी ओरके कुछ ज्ञानी पुरुष जेरूसलेम गये थे। ईसाई लोग कहते हैं, कि ये ज्ञानी पुरुष मगी अर्थात् ईरानी धर्मके होंगे – हिंदुस्थानी नहीं। परंतु चाहे जो कहा जाय; अर्थ तो दोनोंका एकही है। क्योंकि, इतिहाससे यह बात स्पष्टतया विदित होती है, कि बौद्ध धर्मका प्रसार इस समयसे पहलेही कश्मीर और काबुलमें हो गया था; एवं वह पूर्वकी ओर ईरान तथा तुर्किस्तानतकभी पहुँच चुका था। इसके सिवा प्लूटार्कने†

---

* See Buddhist Suttas, S. B. E. Series, Vol. XI, p. 163.

† See Plutarch's Morals – Theosophical Essays translated by C. N. King (George Bell & Sons) pp. 96–97. पाली भाषाके महावंशमें (२९. ३९) यवनों अर्थात् यूनानियोंके अलसंदा (योन-नगराऽलसंदा) नामक शहरका उल्लेख है। उसमें यह लिखा है, कि ईसाकी सदीसे कुछ वर्ष पहले जब सिंहलद्वीपमें एक मंदिर बन रहा था, तब वहाँ बहुत-से बौद्ध यति उत्सवार्थ

साफ़ साफ़ लिखा है, कि ईसाके समयमें हिंदुस्थानका एक यति लालसमुद्रके किनारे और एलेक्जेंड्रियाके आसपासके प्रदेशोंमें प्रतिवर्ष आया करता था। तात्पर्य इस विषयमें अब कोई शंका नहीं रह गई है, कि ईसासे दो-तीन सौ वर्ष पहलेही यहुदियोंके देशमें बौद्ध यतियोंका प्रवेश होने लगा था; और जब यह संबंध सिद्ध हो गया, तब यह बात सहजही निष्पन्न हो जाती है, कि यहुदी लोगोंमें पहले संन्यास-प्रधान एसी पंथका और फिर आगे चलकर संन्यासयुक्त भक्ति-प्रधान ईसाई धर्मका प्रादुर्भाव होनेके लिये बौद्ध धर्मही विशेष कारणभूत हुआ होगा। अंग्रेजी ग्रंथकार लिलीनेभी यही अनुमान किया है; और इसकी पुष्टिमें फ्रेंच पंडित एमिल् बुर्नुफ् और रोस्नीके† इसी प्रकारके मतोंका उसने अपने ग्रंथोंमें हवाला दिया है; एवं, जर्मन देशके लिपजिकके तत्त्वज्ञानशास्त्राध्यापक प्रोफेसर सेडनने इस विषयके अपने ग्रंथमेंभी उक्त मतहीका प्रतिपादन किया है। जर्मन प्रोफेसर श्रडरने अपने एक निबंधमें कहा है, कि ईसाई तथा बौद्ध धर्म सर्वथा एक-से नहीं है; यद्यपि उन दोनोंकी कुछ बातोंमें समता हो, तथापि अन्य बातोंमें वैषम्यभी थोड़ा नहीं है; और इसी कारण बौद्ध धर्मसे ईसाई धर्मका उत्पन्न होना नहीं माना जा सकता। परंतु यह कथन विषयसे बाहरका है, इसलिये इसमें कुछभी जान नहीं है। यह कोईभी नहीं कहता, कि ईसाई तथा बौद्ध धर्म सर्वथा एक-सेही हैं। क्योंकि यदि ऐसा होता, तो ये दोनों धर्म पृथक् पृथक् न माने गये होते। मुख्य प्रश्न तो यह है, कि जब मूलमें यहुदी धर्म केवल कर्ममय है, तब उसमें सुधारके रूपसे संन्यासयुक्त भक्ति-मार्गके प्रतिपादक ईसाई धर्मकी उत्पत्ति होनेके लिये कारण क्या हुआ होगा? और ईसाकी अपेक्षा बौद्ध धर्म सचमुचही प्राचीन है; उसके इतिहासपर ध्यान देनेसे यह कथन ऐतिहासिक दृष्टिसेभी संभव नहीं प्रतीत होता, कि संन्यास-प्रधान भक्ति और नीतिके तत्त्वोंको ईसाने स्वतंत्र रीतिसे ढूंढ़ निकाला हो। बाइबलमें इस बातका कहींभी वर्णन नहीं मिलता, कि ईसा अपनी आयुके बारहवें वर्षसे लेकर तीस वर्षकी आयुतक क्या करता था और कहाँ था? यह प्रकट है, कि उसने अपना यह समय ज्ञानार्जन, धर्मचिंतन और प्रवासमें बिताया होगा। अतएव विश्वासपूर्वक कौन कह सकता है, कि आयुके इस भागमें उसका बौद्ध भिक्षुओंसे प्रत्यक्ष या पर्यायसे कुछभी संबंध हुआही न होगा? क्योंकि, इस समय बौद्ध यतियोंका दौर-दौरा यूनानतक हो चुका था। नेपालके एक बौद्ध

पधारे थे। महावंशके अंग्रेजी अनुवादक अलसंदा शब्दसे मिश्र देशके एलेक्जेंड्रिया शहरको नहीं लेते। वे इस शब्दसे यहाँ उस अलसंदा नामक गाँवकोही विवक्षित बतलाते हैं, कि जिसे सिकंदरने काबूलमें बसाया था; परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस छोटे-से गाँवको किसीनेभी यवनोंका नगर न कहा होता। इसके सिवा ऊपर बतलाये हुए अशोकके शिलालेखहीमें यवनोंके राज्योंमें बौद्ध भिक्षुओंके भेजे जानेका स्पष्ट उल्लेख है।

† See Lillie's Buddha and Buddhism, pp. 158 *ff*.

उसके ग्रंथमें स्पष्ट वर्णन है, कि उस समय ईसा हिंदुस्थानमें आया था और वहां उसे बौद्ध धर्मका ज्ञान प्राप्त हुआ। यह ग्रंथ निकोलस नोटोव्हिश नामक एक रूसीके हाथ लग गया था और उसने फ्रेंच भाषामें इसका अनुवाद सन १८९४ ईसवीमें प्रकाशित किया है। बहुतेरे ईसाई पंडित कहते हैं, कि नोटोव्हिशका अनुवाद सच भलेही हो, – परंतु मूल ग्रंथका प्रणेता कोई लफंगा है, जिसने यह बनावटी ग्रंथ गढ़ डाला है। हमाराभी कोई विशेष आग्रह नहीं है, कि उक्त ग्रंथको ये पाठक लोग सत्यही मान लें। नोटोव्हिशको मिला हुआ ग्रंथ सत्य हो या प्रक्षिप्त, परंतु हमने केवल ऐतिहासिक दृष्टिसे जो विवेचन ऊपर किया है, उससे यह बात स्पष्टतया विदित हो जायगी, कि यदि ईसाको नहीं, तो कम-से-कम उसके भक्तोंको तो कि जिन्होंने नई बाइबलमें उसका चरित्र लिखा है, बौद्ध धर्मका ज्ञान होना असंभव नहीं था; और यदि यह बात असंभव नहीं है; तो ईसा और बुद्धके चरित्र तथा उपदेशमें जो विलक्षण समता पाई जाती है, उसकी केवल स्वतंत्र रीतिसे उत्पत्ति माननाभी युक्तिसंगत नहीं जँचता।* सारांश यह है, कि मीमांसकोंका केवल कर्म-मार्ग, जनक आदिका ज्ञानयुक्त कर्मयोग (नैष्कर्म्य), उपनिषत्कारों तथा सांख्योंकी ज्ञाननिष्ठा और संन्यास, चित्त-निरोध-रूपी पातंजलयोग, एवं पांचरात्र वा भागवत धर्म अर्थात् भक्ति, ये सभी धार्मिक अंग और तत्त्व मूलमें प्राचीन वैदिक धर्मकेही हैं। इनमेंसे ब्रह्मज्ञान, कर्म और भक्तिको छोड़ कर, चित्त-निरोधरूपी योग तथा कर्म-संन्यास, इन्हीं दोनों तत्त्वोंके आधारपर बुद्धने पहले पहल अपने संन्यास-प्रधान धर्मका उपदेश चारों वर्णोंको किया था। परंतु आगे चलकर उसीमें भक्ति तथा निष्काम कर्मको मिलाकर बुद्धके अनुयायियोंने उसके धर्मका चारों ओर प्रसार किया। अशोकके समय बौद्ध धर्मका इस प्रकार प्रचार हो जानेके पश्चात् शुद्ध कर्म-प्रधान यहुदी धर्ममें संन्यास-मार्गके तत्त्वोंका प्रवेश होना आरंभ हुआ; और अंतमें उसीमें भक्तिको मिलाकर ईसाने अपना धर्म प्रवृत्त किया है। इतिहाससे निष्पन्न होनेवाली इस परंपरापर दृष्टि देनेसे, डॉक्टर लॉरिन-सरका यह कथन तो असत्य सिद्ध होताही है, कि गीतामें ईसाई धर्मसे कुछ बातें ली गई हैं; किंतु इसके विपरीत, यह बात अधिक संभवही नहीं, बल्कि विश्वास करने योग्यभी है, कि आत्मौपम्य-दृष्टि, संन्यास, निर्वैरत्व या भक्तिके जो तत्त्व नई बाइबलमें पाये जाते हैं, वे ईसाई धर्ममेंही बौद्ध धर्मसे – अर्थात् परंपरासे वैदिक धर्मसे – लिये गये होंगे; और यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है, कि इसके लिये हिंदुओंको दूसरोंका मुँह ताकनेकी कभी आवश्यकता थीही नहीं।

---

* बाबू रमेशचंद्र दत्तकाभी यही मत है, उन्होंने इसका विस्तारपूर्वक विवेचन अपने ग्रंथमें किया है। Ramesh Chander Dutt's History of Civilization in Ancient India, Vol. II. Chap. XX, pp. 328-340.

इस प्रकार, इस प्रकरणके आरंभमें दिये हुए सात प्रश्नोंका विवेचन हो चुका। अब इन्हींके साथ महत्त्वके कुछ ऐसे प्रश्न उत्पन्न होते हैं, कि हिंदुस्थानमें जो भक्तिपंथ आजकल प्रचलित हैं, उनपर भगवद्गीताका क्या परिणाम हुआ है? परंतु इन प्रश्नोंको गीता-ग्रंथसंबंधी कहनेकी अपेक्षा यही कहना ठीक है, कि ये हिंदु धर्मके अर्वाचीन इतिहाससे संबंध रखते हैं, इसलिये, और विशेषतः यह परिशिष्ट-प्रकरण थोड़ा थोड़ा करनेपरभी हमारे अंदाजसे अधिक बढ़ गया है, इसीलिये, अब यहींपर गीताकी बहिरंग परीक्षा समाप्त की जाती है।

श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य

गीताके मूल श्लोक, हिंदी अनुवाद और टिप्पणियाँ

उपोद्घात

ज्ञानसे और श्रद्धासे – उसमेंभी विशेषतः भक्तिके सुलभ राजमार्गसे जितनी हो सके उतनी समबुद्धि करके लोकसंग्रहके निमित्त स्वधर्मानुसार अपने अपने कर्म निष्कामबुद्धिसे मरणपर्यंत करते रहनाही प्रत्येक मनुष्यका परम कर्तव्य है; इसीमें उसका सांसारिक और पारलौकिक परम कल्याण है; तथा उसे मोक्षकी प्राप्तिके लिये कर्म छोड बैठनेकी अथवा और कोईभी दूसरा अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता नहीं है – समस्त गीताशास्त्रका यही फलितार्थ है, जो गीतारहस्यमें प्रकरणशः विस्तारपूर्वक प्रतिपादित हो चुका है। इसी प्रकार चौदहवें प्रकरणमें यहभी दिखला चुके हैं, कि उल्लिखित उद्देश्यसे गीताके अठारह अध्यायोंका मेल कैसे अच्छा और सरल मिल जाता है; एवं इस कर्मयोग-प्रधान गीता-धर्ममें अन्यान्य मोक्ष-साधनोंके कौन-कौनसे भाग किस प्रकार आये हैं। इतना कह चुकनेपर, वस्तुतः इससे अधिक काम नहीं रह जाता, कि गीताके श्लोकोंका हमारे मतानुसार क्रमशः हिंदी भाषामें सरल अर्थ बतला दिया जावे। किंतु गीतारहस्यके सामान्य विवेचनमें यह बतलाते न बनता था, कि गीताके प्रत्येक अध्यायके विषय-विभाग कैसे किये गये हैं; अथवा टीकाकारोंने अपने संप्रदायकी सिद्धिके लिये गीताके कुछ विशेष श्लोकोंके पदोंकी किस प्रकार खींचातानी की है, अतः इन दोनों बातोंका विचार करके और जहांका तहां पूर्वापर संदर्भ दिखला देनेके लियेभी अनुवादके साथ साथ आलोचनाके ढँगपर कुछ टिप्पणियोंके देनेकी आवश्यकता हुई। फिरभी जिन विषयोंका गीतारहस्यमें विस्तृत वर्णन हो चुका है, उनका केवल दिग्दर्शन करा दिया है, और गीतारहस्यके जिस प्रकरणमें उस विषयका विचार किया गया है, उसका सिर्फ हवाला दे दिया है। ये टिप्पणियां मूल ग्रंथसे अलग पहचान ली जा सकें, इसके लिये उन्हें ऐसे [ ] चौकोन कोष्टकोंके भीतर रखा गया है और उनके पीछे टूटी हुई खडी रेखाएँभी लगा दी गयी हैं। श्लोकोंका अनुवाद, जहांतक बना पडा है, शब्दशः किया गया है; और कितनेही स्थलोंपर तो मूलकेही शब्द रख दिये गये हैं; एवं 'अर्थात्' याने से जोडकर उनका अर्थ खोल दिया है; और छोटी-मोटी टिप्पणियोंका काम अनुवादसेही निकाल लिया गया है। इतना करनेपरभी संस्कृतकी और हिंदीकी भाषाप्रणाली भिन्न भिन्न है, इस कारण, मूल संस्कृत श्लोकका पूर्ण अर्थ व्यक्त करनेके लिये हिंदीमें कुछ अधिक शब्दोंका प्रयोग अवश्य करना पडता है, और अनेक स्थलोंपर मूलके शब्दको अनुवादमें प्रमाणार्थ लेना पडता है। इन शब्दोंपर ध्यान जमनेके लिये ऐसे ( ) गोलाकार कोष्टकमें ये शब्द रखे गये हैं। संस्कृत ग्रंथोंमें श्लोकका आँकडा श्लोकके अंतमें रहता है; परंतु अनुवादमें हमने उसे आरंभमें रखा है। अतः किसी श्लोकका अनुवाद देखना हो,

तो अनुवाद उस अंकके आगेका वाक्य पढ़ना चाहिये। अनुवादकी रचना प्राय: ऐसी की गई है, कि टिप्पणी छोड़कर निरा अनुवादही पढ़ते जायँ, तो अर्थमें कहींभी कोई व्यतिक्रम न पड़े। इसी प्रकार जहाँ मूलमें एकही वाक्य एकसे अधिक श्लोकोंमें पूरा हुआ है, वहाँ उतनेही श्लोकोंके अनुवादमें वह अर्थ पूर्ण किया गया है। अतएव कुछ श्लोकोंका अनुवाद मिलाकरही पढ़ना चाहिये। ऐसे श्लोक जहाँ जहाँ हैं, वहाँ वहाँ श्लोकके अनुवादमें पूर्णविराम चिन्ह (।) नहीं लगाया गया है। फिरभी यह स्मरण रहे, कि अनुवाद अंतमें अनुवादही है। हमने अपने अनुवादमें गीताके सरल, खुले और प्रधान अर्थको ले आनेका प्रयत्न किया है सही; परंतु संस्कृत शब्दोंमें और विशेषत: भगवानकी प्रेमयुक्त, रसीली, व्यापक और प्रतिक्षणमें नई रुचि देनेवाली वाणीमें, लक्षणासे अनेक व्यंग्यार्थ उत्पन्न करनेकी जो सामर्थ्य है, उसे ज़राभी न घटा-बढ़ाकर दूसरे शब्दोंमें ज्यों-का-त्यों अनुवादमें झलका देना असंभव है; अर्थात् संस्कृत जाननेवाला पुरुष अनेक अवसरोंपर लक्षणासे गीताके श्लोकोंका जैसे उपयोग करेगा, वैसे गीताका निरा अनुवाद पढ़नेवाले पुरुष नहीं कर सकेंगे। अधिक क्या कहें? संभव है, कि वे गोताभी खा जायँ। अतएव सब लोगोंसे हमारी आग्रहपूर्वक बिनती है, कि मूल गीता-ग्रंथका अध्ययन संस्कृतमेंही अवश्य कीजिये; और अनुवादके साथही साथ मूल श्लोक रखनेका प्रयोजनभी यही है। गीताके प्रत्येक अध्यायके विषयका सुविधासे ज्ञान होनेके लिये इन सब विषयोंकी – अध्यायोंके क्रमसे प्रत्येक श्लोककी – अनुक्रमणिकाभी पहले अलग दे दी है। यह अनुक्रमणिका वेदान्त-सूत्रोंकी अधिकरण-मालाके ढँगकी है। प्रत्येक श्लोक पृथक् पृथक् न पढ़कर, अनुक्रमणिकाके इस सिलसिलेसे गीताके श्लोक एकत्र पढ़नेपर गीताके तात्पर्यके संबंधमें जो भ्रम फैला है, वह कई अंशोंमें दूर हो सकता है। क्योंकि, सांप्रदायिक टीकाकारोंने गीताके श्लोकोंकी खींचातानी कर अपने संप्रदायकी सिद्धिके लिये कुछ श्लोकोंके जो निराले अर्थ कर डाले हैं, वे प्राय: इस पूर्वापर संदर्भकी ओर दुर्लक्ष करकेही किये गये हैं। उदाहरणार्थ, गीता ३.१९; ६.३; १८.२ देखिये। इस दृष्टिसे देखें तो यह कहनेमें कोई हानि नहीं, कि गीताका यह अनुवाद और गीतारहस्य, दोनों परस्पर एक दूसरेकी पूर्ति करते हैं; और जिसे हमारा वक्तव्य पूर्णतया समझ लेना हो, उसे इन दोनों भागोंका अवलोकन करना चाहिये। भगवद्गीता ग्रंथको कंठस्थ कर लेनेकी रीति प्रचलित है, इसलिये उसमें महत्त्वके पाठभेद कहींभी नहीं पाये जाते हैं। फिरभी यह बतलाना आवश्यक है, कि वर्तमानकालमें गीतापर उपलब्ध होनेवाले भाष्योंमें जो सबसे प्राचीन भाष्य है, उसी शांकरभाष्यके मूल पाठोंको हमने प्रमाण माना है।

गीताके अध्यायोंकी श्लोकशः विषयानुक्रमणिका

[टिप्पणी :– इस अनुक्रमणिकामें गीताके अध्यायोंके, विषयोंके, श्लोकोंके क्रमसे जो विभाग किये गये गये हैं, वे मूल संस्कृत श्लोकोंके पहले §§ इस चिन्हसे दिखलाये गये हैं; और अनुवादमें ऐसे श्लोकोंसे अलग परिच्छेद शुरू किया गया है।]

पहला अध्याय – अर्जुनविषादयोग

१ संजयसे धृतराष्ट्रका प्रश्न। २–११ दुर्योधनका द्रोणाचार्यसे दोनों दलोंकी सेनाओंका वर्णन करना। १२–१९ युद्धके आरंभमें परस्पर सलामीके लिये शंखध्वनि। २०–२७ अर्जुनका रथ आगे ले जाकर सैन्यनिरीक्षण। २८–३७ दोनों सेनाओंमें अपनेही बांधव हैं, उनको मारनेसे कुलक्षय होगा, यह सोचकर अर्जुनको विषाद हुआ। ३८–४४ कुलक्षय प्रभृति पातकोंका परिणाम। ४५–४७ युद्ध न करनेका अर्जुनका निश्चय और धनुर्बाणत्याग।

दूसरा अध्याय – सांख्ययोग

१–३ श्रीकृष्णका उत्तेजन। ४–१० अर्जुनका उत्तर, कर्तव्यमूढता और धर्मनिर्णयार्थ श्रीकृष्णके शरणापन्न होना। ११–१३ आत्माका अशोच्यत्व। १४, १५ देह और सुखदुःखकी अनित्यता। १६–२५ सदसद्विवेक और आत्माके नित्यादि स्वरूपकथनसे उसके अशोच्यत्वका समर्थन। २६, २७ आत्माके अनित्यत्व पक्षको उत्तर। २८ सांख्यशास्त्रानुसार व्यक्त भूतोंका अनित्यत्व और अशोच्यत्व। २९, ३० लोगोंको आत्मा दुर्ज्ञेय है सही; परंतु तू सत्य ज्ञानको प्राप्तकर, शोक करना छोड़ दे। ३१–३८ क्षात्रधर्मके अनुसार युद्ध करनेकी आवश्यकता। ३९ सांख्यमार्गानुसार विषय-प्रतिपादनकी समाप्ति और कर्मयोगके प्रतिपादनका आरंभ। ४० कर्मयोगका स्वल्प आचरणभी क्षेमकारक है। ४१ व्यवसायात्मिका बुद्धिकी स्थिरता। ४२–४४ कर्मकांडके अनुयायी मीमांसकोंकी अस्थिर बुद्धिका वर्णन। ४५, ४६ स्थिर और योगस्थ बुद्धिसे कर्म करनेके विषयमें उपदेश। ४७ कर्मयोगकी चतुःसूत्री। ४८–५० कर्मयोगका लक्षण और कर्मकी अपेक्षा कर्ताकी बुद्धिकी श्रेष्ठता। ५१–५३ कर्मयोगसे मोक्षप्राप्ति, ५४–७० अर्जुनके पूछनेपर, कर्मयोगी स्थितप्रज्ञके लक्षण; और उसीमें प्रसंगानुसार विषयासक्तिसे काम आदिकी उत्पत्तिका क्रम। ७१, ७२ ब्राह्मी स्थिति।

तीसरा अध्याय – कर्मयोग

१, २ अर्जुनका यह प्रश्न, कि कर्मोंको छोड़ देना चाहिये या करते रहना चाहिये; सच क्या है? ३–८ यद्यपि सांख्य (कर्म-संन्यास) और कर्मयोग, दो निष्ठाएँ हैं, तोभी कर्म किसीके नहीं छूटते, इसलिये कर्मयोगकी श्रेष्ठता सिद्ध करके अर्जुनको उसीके आचरण करनेका निश्चित उपदेश। ९–१६ मीमांसकोंके यज्ञार्थ कर्मकोभी आसक्ति छोड़कर करनेका उपदेश, यज्ञचक्रका अनादित्व और जगत्के धारणार्थ उसकी आवश्यकता। १७–१९ ज्ञानी पुरुषमें स्वार्थ नहीं होता, इसीलिये प्राप्त कर्मोंको वह निःस्वार्थ अर्थात् निष्काम-बुद्धिसे किया करे; क्योंकि कर्म किसीकेभी नहीं छूटते। २०–२४ जनक आदिका उदाहरण; लोकसंग्रहका महत्त्व और स्वयं भगवानका दृष्टान्त। २५–२९ ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मोंमें भेद, एवं यह आवश्यकता कि ज्ञानी मनुष्य निष्काम कर्म करके अज्ञानीको सदाचरणका आदर्श दिखलावे। ३० ज्ञानी पुरुषके समान परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे युद्ध करनेका अर्जुनको उपदेश। ३१, ३२ भगवानके इस उपदेशके अनुसार श्रद्धापूर्वक बर्ताव करने अथवा न करनेका फल। ३३, ३४ प्रकृतिकी प्रबलता और इंद्रियनिग्रह। ३५ निष्काम कर्मभी स्वधर्मकाही करे; उसमें यदि मृत्यु हो जाय, तो कोई परवाह नहीं। ३६–४१ कामही मनुष्यको उसकी इच्छाके विरुद्ध पाप करनेके लिये उकसाता है; इंद्रियसंयमसे उसका नाश। ४२, ४३ इंद्रियोंकी श्रेष्ठताका क्रम और आत्मज्ञानपूर्वक उनका नियमन।

चौथा अध्याय – ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग

१–३ कर्मयोगकी संप्रदाय-परंपरा –। ४–८ जन्मरहित परमेश्वर मायासे दिव्य जन्म अर्थात् अवतार कब और किस लिये लेता है – इसका वर्णन। ९, १०, इस दिव्य जन्मका और कर्मका तत्त्व जान लेनेसे पुनर्जन्म छूटकर भगवद्प्राप्ति। ११, १२ अन्य रीतिसे भजे तो वैसा फल; उदाहरणार्थ, इस लोकके फल पानेके लिये देवताओंकी उपासना। १३–१५ भगवानके चातुर्वर्ण्य आदि निर्लेप कर्म, उनके तत्त्वको जान लेनेसे कर्मबंधका नाश और वैसे कर्म करनेके लिये उपदेश। १६–२३ कर्म, अकर्म और विकर्मका भेद; अकर्मही निःसंग कर्म है। वही सच्चा कर्म है; और उसीसे कर्मबंधका नाश होता है। २४-३३ अनेक प्रकारके लाक्षणिक यज्ञोंका वर्णन; और ब्रह्म-बुद्धिसे किये हुए यज्ञकी अर्थात् ज्ञानयज्ञकी श्रेष्ठता। ३४–३७ ज्ञातासे ज्ञानोपदेश, ज्ञानसे आत्मौपम्य-दृष्टि और पापपुण्यका नाश। ३८–४० ज्ञान प्राप्तिके उपाय – बुद्धि(- योग) और श्रद्धा। इसके अभावमें नाश। ४१, ४२ (कर्म -) योग और ज्ञानका पृथक् उपयोग बतलाकर दोनोंके आश्रयमें युद्ध करनेके लिये उपदेश।

पाँचवाँ अध्याय – संन्यासयोग

१, २ यह स्पष्ट प्रश्न, कि संन्यास श्रेष्ठ है या कर्मयोग ? इसपर भगवानका यह निश्चित उत्तर कि मोक्षप्रद तो दोनों हैं, पर उनमेंसे कर्मयोगही श्रेष्ठ है। ३–६ संकल्पोंको छोड़ देनेसे कर्मयोगी नित्य-संन्यासीही होता है; और बिना कर्मके संन्यासभी सिद्ध नहीं होता। इसलिये तत्त्वतः दोनों एकही हैं। ७–१३ मन सदैव संन्यस्त रहता है, और कर्म केवल इंद्रियाँ किया करती हैं, इसलिये कर्मयोगी सदा अलिप्त, शांत और मुक्त रहता है। १४, १५ सच्चा कर्तृत्व और भोक्तृत्व प्रकृतिका है, परंतु अज्ञानसे आत्माका अथवा परमेश्वरका समझा जाता है। १६, १७ इस अज्ञानके नाशसे पुनर्जन्मसे छुटकारा। १८–२३ ब्रह्मज्ञानसे प्राप्त होनेवाले सम-दर्शित्वका, स्थिर बुद्धिका और सुखदुःखकी क्षमताका वर्णन। २४-२८ सर्वभूत-हितार्थ कर्म करते रहनेपर भी कर्मयोगी इसी लोकमें सदैव ब्रह्मभूत, समाधिस्थ और मुक्त है। २९ (कर्तृत्व अपने ऊपर न लेकर) परमेश्वरको यज्ञ-तपका भोक्ता और सब भूतोंका मित्र जान लेनेका फल।

छठा अध्याय – ध्यानयोग

१, २ फलाशा छोड़कर कर्तव्य करनेवालाही सच्चा संन्यासी और योगी है। संन्यासीका अर्थ निरग्नि और अक्रिय नहीं है। ३, ४ कर्मयोगीकी साधनावस्थामें और सिद्धावस्थामें शम एवं कर्मके कार्य-कारणका बदल जाना तथा योगारूढका लक्षण। ५, ६ योगको सिद्ध करनेके लिये आत्माकी स्वतंत्रता। ७–९ जितात्म योगयुक्तोंमेंभी सम-बुद्धिकी श्रेष्ठता। १०–१७ योगसाधनके लिये आवश्यक आसन और आहारविहारका वर्णन। १८–२३ योगीके और योगसमाधिके आत्यंतिक सुखका वर्णन। २४–२६ मनको धीरे धीरे समाधिस्थ, शांत और आत्मनिष्ठ कैसे करना चाहिये ? २७, २८ योगीही ब्रह्मभूत और अत्यंत सुखी है। २९–३२ प्राणि-मात्रमें योगीकी आत्मौपम्य-बुद्धि। ३३–३६ अभ्यास और वैराग्यसे चंचल मनका निग्रह। ३७–४५ अर्जुनके प्रश्न करनेपर इस विषयका वर्णन, कि योगभ्रष्टको अथवा जिज्ञासुकोभी जन्मजन्मांतरमें उत्तम फल मिलनेसे अंतमें पूर्ण सिद्धि कैसे मिलती है ? ४६, ४७ तपस्वी, ज्ञानी और निरे कर्मोंकी अपेक्षा कर्मयोगी – और उनमेंभी भक्तिमान् कर्मयोगी – श्रेष्ठ है। अतएव अर्जुनको (कर्म-)योगी होनेके विषयमें उपदेश।

सातवाँ अध्याय – ज्ञान-विज्ञानयोग

१–३ कर्मयोगकी सिद्धिके लिये ज्ञान-विज्ञानके निरूपणका आरंभ। सिद्धिके लिये प्रयत्न करनेवालोंका कम मिलना। ४–७ क्षराक्षरविचार। भगवानकी

अष्टधा अपरा और जीवरूपी परा प्रकृति उससे आगे सारा विस्तार। ८–१२ विस्तारके सात्त्विक आदि सब भागोंमें गुंथे हुए परमेश्वरस्वरूपका दिग्दर्शन। १३ – १५ परमेश्वरकी यही गुणमयी और दुस्तर माया है; और उसीके शरणागत होनेपर मायासे उद्धार होता है। १६–१९ भक्त चतुर्विध हैं; उनमें ज्ञानी श्रेष्ठ है। अनेक जन्मोंसे ज्ञानकी पूर्णता और भगवत्प्राप्तिरूप नित्य फल। २०–२३ अनित्य काम्य-फलोंके निमित्त देवताओंकी उपासना; परंतु उसमेंभी उनकी श्रद्धाका फल भगवानही देते हैं। २४–२८ भगवानका सत्य-स्वरूप अव्यक्त है; परंतु मायाके कारण और द्वंद्वमोहके कारण वह दुर्ज्ञेय है। मायामोहके नाशसे स्वरूपका ज्ञान। २९, ३० ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, और अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ सब एक परमेश्वरही है – यह जान लेनेसे अंततक ज्ञानसिद्धि हो जाती है।

आठवाँ अध्याय – अक्षर-ब्रह्मयोग

१–४ अर्जुनके प्रश्न करनेपर ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ और अधिदेहकी व्याख्याएँ। उन सबमें एकही ईश्वर है। ५–८ अंतकालमें भगवत्स्मरणसे मुक्ति। परंतु जो मनमें नित्य रहता है, वही अंतकालमेंभी रहता है; अतएव सदैव भगवानका स्मरण करने और युद्ध करनेके लिये उपदेश। ९-१३ अंतकालमें परमेश्वरका अर्थात् ॐकारका समाधिपूर्वक ध्यान और उसका फल १४–१६ भगवानका नित्य चिंतन करनेसे पुनर्जन्म-नाश। ब्रह्मलोकादि गतियाँ नित्य नहीं हैं। १७–१९ ब्रह्मका दिन-रात, दिनके आरंभमें अव्यक्तसे सृष्टिकी उत्पत्ति और रात्रिके आरंभमें उसीमें लय। २०–२२ इस अव्यक्तसेभी परेका अव्यक्त और अक्षर पुरुष। भक्तिसे उनका ज्ञान और उसकी प्राप्तिसे पुनर्जन्मका नाश। २३–२६ देवयान और पितृयाणमार्ग; पहला पुनर्जन्मनाशक है और दूसरा इसके विपरीत है। २७, २८ इन मार्गोंके तत्त्वको जाननेवाले योगीको अत्युत्तम फल मिलता है; अतः तदनुसार सदा व्यवहार करनेका उपदेश।

नौवाँ अध्याय – राजविद्या-राजगुह्ययोग

१–३ ज्ञान-विज्ञानयुक्त भक्ति-मार्ग मोक्षप्रद होनेपरभी प्रत्यक्ष और सुलभ है। अतएव राजमार्ग है। ४–६ परमेश्वरकी अपार योगसामर्थ्य। प्राणिमात्रमें रहकरभी उनमें नहीं है; और प्राणिमात्रभी उसमें रहकर नहीं हैं। ७–१० मायात्मक प्रकृतिके द्वारा सृष्टिकी उत्पत्ति और संहार, भूतोंकी उत्पत्ति और लय। इतना करनेपरभी वह निष्काम है, अतएव अलिप्त है। ११, १२ इसे बिना पहचाने, मोहमें फँसकर, मनुष्यदेहधारी परमेश्वरकी अवज्ञा करनेवाले मूर्ख और आसुरी हैं। १३–१५ ज्ञानयज्ञके द्वारा अनेक प्रकारसे उपासना करनेवाले दैवी हैं। १६–१९ ईश्वर सर्वत्र है, वही जगत्का माँ-बाप है, स्वामी है, पोषक है और भले-बुरेका कर्ता है।

२०–२२ श्रौत यज्ञयाग आदिका दीर्घ उद्योग यद्यपि स्वर्गप्रद हैं, तोभी वह फल अनित्य है। योगक्षेमके लिये यदि आवश्यक समझें तो वह भक्तिसेभी साध्य है। २३–१५ अन्यान्य देवताओंकी भक्ति पर्यायसे परमेश्वरकीही होती है, परंतु जैसी भावना होगी और जैसा देवता होगा, फलभी वैसाही मिलेगा। २६ भक्ति हो, तो परमेश्वर फूलकी पँखुरीसेभी संतुष्ट हो जाता है। २७, २८ सब कर्मोंको ईश्वरार्पण करनेका उपदेश। उसीके द्वारा कर्मबंधसे छुटकारा और मोक्ष। २९–३३ परमेश्वर सबको एक-सा है। दुराचारी हो या पापयोनि, स्त्री हो, या वैश्य या शूद्र निःसीम भक्त होनेपर सबको एकही गति मिलती है। ३४ यही मार्ग अंगीकार करनेके लिये अर्जुनको उपदेश।

दसवाँ अध्याय – विभूतियोग

१–३ यह जान लेनेसे पापका नाश होता है, कि अजन्मा परमेश्वर देवताओं और ऋषियोंसेभी पूर्वका है। ४–६ ईश्वरी विभूति और योग। ईश्वरसेही बुद्धि आदि भावोंकी, सप्तर्षियोंकी और मनुकी, एवं परंपरासे सबकी, उत्पत्ति। ७–११ इसे जाननेवाले भगवद्‌भक्तोंको ज्ञान-प्राप्ति; परंतु उन्हेंभी बुद्धि-सिद्धि भगवानही देते हैं। १२–१८ अपनी विभूति और योग बतलानेके लिये भगवानसे अर्जुनकी प्रार्थना। १९–४० भगवानकी अनंत विभूतियोंमेंसे मुख्य मुख्य विभूतियोंका वर्णन। ४१, ४२ जो कुछ विभूतिमत्, श्रीमत् और ऊर्जित है, वह सब परमेश्वरी तेज है; परंतु अंशसे है।

ग्यारहवाँ अध्याय – विश्वरूप-दर्शनयोग

१–४ पूर्व अध्यायमें बतलाये हुए अपने ईश्वरी रूपको दिखलानेके लिये भगवानसे प्रार्थना। ५–८ इस आश्चर्यकारक और दिव्य रूपको देखनेके लिये अर्जुनको दिव्य-दृष्टि-ज्ञान। ९–१४ विश्वरूपका संजयकृत वर्णन। १५–३१ विस्मय और भयसे नम्र होकर अर्जुनकृत विश्वरूप-स्तुति और यह प्रार्थना, कि प्रसन्न होकर बतलाइये, कि "आप कौन हैं ?" ३२–३४ पहले यह बतलाकर, कि "मैं काल हूँ" फिर अर्जुनको उत्साहजनक ऐसा उपदेश, कि पूर्वसेही इस कालके-द्वारा ग्रसे-हुए वीरोंको तुम निमित्त बनकर मारो। ३५–४६ अर्जुनकृत स्तुति, क्षमा, प्रार्थना और पहलेका सौम्य रूप दिखलानेके लिये विनय। ४७–५१ बिना अनन्य-भक्तिके विश्वरूपका दर्शन मिलना दुर्लभ है। फिर पूर्व स्वरूप-धारण। ५२–५४ विना भक्तिके विश्वरूपका दर्शन देवताओंकोभी नहीं हो सकता। ५५ अतः भक्तिसे निस्संग और निर्वैर होकर परमेश्वरार्पण-बुद्धिके द्वारा कर्म करनेके विषयमें अर्जुनको सर्वार्थ-सारभूत अंतिम उपदेश।

बारहवाँ अध्याय – भक्तियोग

१ पिछले अध्यायके अंतिम सारभूत उपदेशपर अर्जुनका प्रश्न – व्यक्तो-पासना श्रेष्ठ है या अव्यक्तोपासना ? २–८ दोनोंमें गति एकही है; परंतु अव्यक्तो-

पासना क्लेशकारक है; और व्यक्तोपासना सुलभ एवं शीघ्र-फलप्रद है। अत: निष्काम कर्मपूर्वक व्यक्तोपासना करनेके विषयमें उपदेश। ९–१२ भगवानमें चित्तको स्थिर करनेके अभ्यास, ज्ञान-ध्यान इत्यादि उपाय और उनमें कर्मफलत्यागकी श्रेष्ठता। १३–१९ भक्तिमान् पुरुषकी स्थितिका वर्णन और भगवत्प्रियता। २० इस धर्मका आचरण करनेवाले श्रद्धालु भक्त भगवानको अत्यंत प्रिय हैं।

तेरहवाँ अध्याय – क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग

१, २ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी व्याख्याएँ। उनका ज्ञानही परमेश्वरका ज्ञान है। ३, ४ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार उपनिषदोंका और ब्रह्मसूत्रोंका है। ५, ६ क्षेत्र-स्वरूप-लक्षण। ७–११ ज्ञानका स्वरूप-लक्षण। तद्विरुद्ध अज्ञान।१२–१७ ज्ञेयके स्वरूपका लक्षण। १८ इस सबको जान लेनेका फल। १९–२१ प्रकृति-पुरुष-विवेक। करने-धरनेवाली प्रकृति है, पुरुष अकर्ता किंतु भोक्ता, द्रष्टा इत्यादि है। २२, २३ पुरुषही देहमें परमात्मा है। इस प्रकृति-पुरुष-ज्ञानसे पुनर्जन्म नष्ट होता है। २४, २५ आत्मज्ञानके मार्ग – ध्यान, सांख्ययोग, कर्मयोग और श्रद्धापूर्वक श्रवणसे भक्ति। २६–२८ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे स्थावर-जंगम सृष्टि; उसमें जो अविनाशी है, वही परमेश्वर है। अपने प्रयत्नसे उसकी प्राप्ति। २९, ३० करने-धरनेवाली प्रकृति है; और आत्मा अकर्ता है; सब प्राणिमात्र एकमें हैं; और एकसे सब प्राणिमात्र होते हैं। यह जान लेनेसे ब्रह्म-प्राप्ति। ३१–३३ आत्मा अनादि और निर्गुण है, अतएव यद्यपि वह क्षेत्रका प्रकाशक है, तथापि निर्लेप है। ३४ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके भेदको जान लेनेसे परम सिद्धि।

चौदहवाँ अध्याय – गुणत्रयविभागयोग

१, २ ज्ञान-विज्ञानान्तर्गत प्राणिवैचित्र्यका गुणभेदसे विचार। वहभी मोक्षप्रद है। ३, ४ प्राणिमात्रका पिता परमेश्वर है; और उसके अधीनस्थ प्रकृति माता है। ५–९ प्राणिमात्रपर सत्त्व, रज और तमके होनेवाले परिणाम। १०–१३ एक एक गुण अलग नहीं रह सकता। किन्हीं दोको दबाकर तीसरेकी वृद्धि; और प्रत्येककी वृद्धिके लक्षण। १४–१८ गुण-प्रवृद्धिके अनुसार कर्मके फल और मरनेपर प्राप्त होनेवाली गति। १९, २० त्रिगुणातीत हो जानेसे मोक्ष-प्राप्ति। २१–२५ अर्जुनके प्रश्न करनेपर त्रिगुणातीतके लक्षणका और आचारका वर्णन। एकान्त-भक्तिसे त्रिगुणातीत अवस्थाकी सिद्धि, और फिर सब मोक्षके, धर्मके, एवं सुखके अंतिम स्थान परमेश्वरकी प्राप्ति।

पंद्रहवाँ अध्याय – पुरुषोत्तमयोग

१, २ अश्वत्थरूपी ब्रह्मवृक्षके वेदोक्त और सांख्योक्त वर्णनका मेल। ३–६ असंगसे इसको काट डालनाही उससे परेके अव्यक्त पदकी प्राप्तिका मार्ग है। अव्यय

पदवर्णन। ७–११ जीव और लिंगशरीरका स्वरूप एवं संबंध। ज्ञानीके लिये गोचर है। १२–१५ परमेश्वरकी सर्वव्यापकता। १६–१८ क्षराक्षरलक्षण। उससे परे पुरुषोत्तम। १९,२० इस गुह्य पुरुषोत्तम-ज्ञानसे सर्वज्ञता और कृतकृत्यता।

सोलहवाँ अध्याय – दैवासुरसम्पद्विभागयोग

१–३ दैवी संपत्तिके छब्बीस गुण। ४ आसुरी संपत्तिके लक्षण। ५ दैवी संपत्ति मोक्षप्रद और आसुरी बंधनकारक है। ६–२० आसुरी लोगोंका विस्तृत वर्णन, उनको जन्म जन्ममें अधोगति मिलती है। २१, २२ नरकके त्रिविध द्वार – काम, क्रोध और लोभ। इनसे बचनेमें कल्याण है। २३, २४ शास्त्रानुसार कार्या-कार्यका निर्णय और आचरण करनेके विषयमें उपदेश।

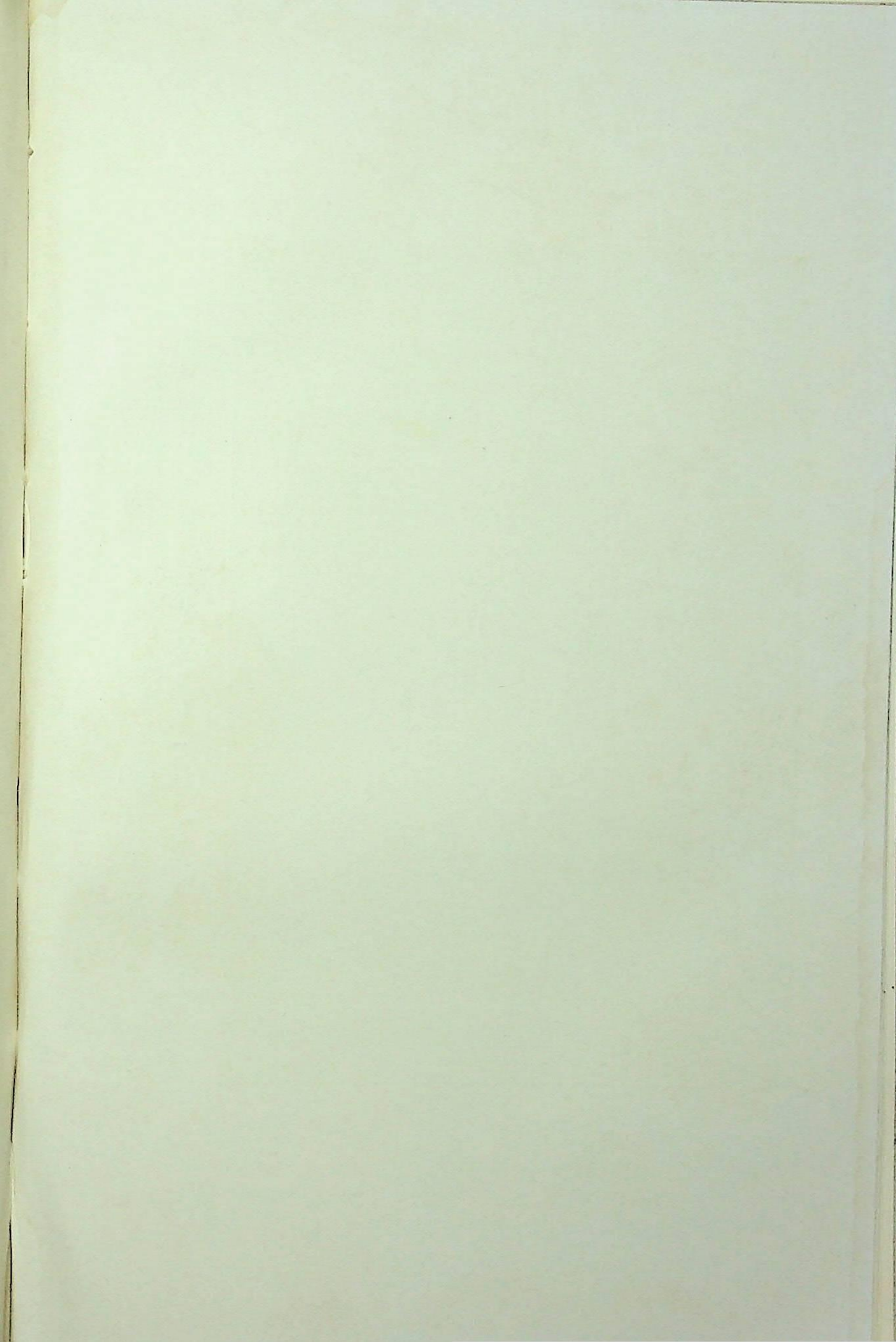
सत्रहवाँ अध्याय – श्रद्धात्रयविभागयोग

१–४ अर्जुनके पूछनेपर प्रकृति-स्वभावानुरूप सात्त्विक आदि त्रिविध श्रद्धाका वर्णन। जैसी श्रद्धा वैसा पुरुष। ५, ६ इनसे भिन्न आसुर। ७–१० सात्त्विक, राजस और तामस आहार। ११–१३ त्रिविध यज्ञ। १४–१६ तपके तीन भेद – शारीर, वाचिक और मानस। १७–१९ इनमें सात्त्विक आदि भेदोंसे प्रत्येक त्रिविध है। २०–२२ सात्त्विक आदि त्रिविध दान। २३ ॐ तत्सत् ब्रह्मनिर्देश। २४–२७ इनमें 'ॐ'से आरंभसूचक, 'तत्'से निष्काम और 'सत्'से प्रशस्त कर्मका समावेश होता है। २८ शेष, अर्थात् असत् इहलोक और परलोकमें निष्फल है।

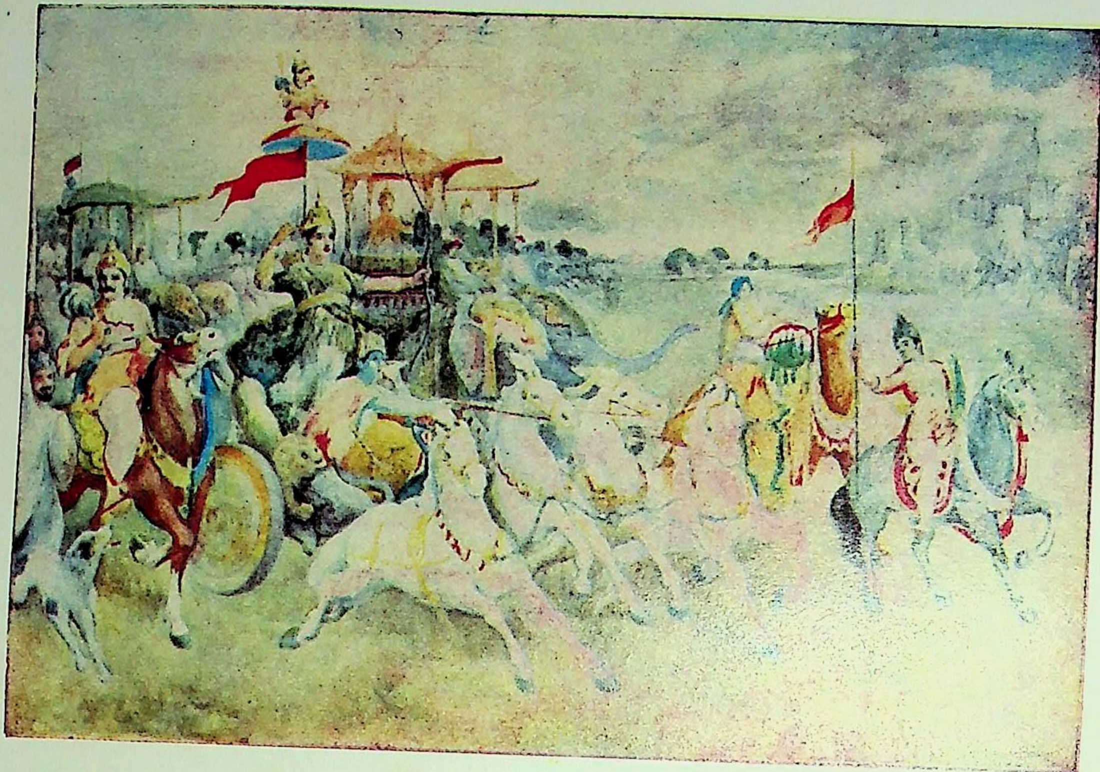
अठारहवाँ अध्याय – मोक्ष-संन्यासयोग

१, २ अर्जुनके पूछनेपर संन्यास और त्यागकी कर्मयोग-मार्गान्तर्गत व्याख्याएँ। ३–६ कर्मका त्याज्य-अत्याज्यविषयक निर्णय; यज्ञयाग आदि कर्मोंकोभी अन्यान्य कर्मोंके समान निःसंग-बुद्धिसे करनाही चाहिये। ७–९ कर्मत्यागके तीन भेद– सात्त्विक, राजस और तामस; फलाशा छोड़कर कर्तव्य-कर्म करनाही सात्त्विक त्याग है। १०, ११ कर्मफलत्यागी ही सात्त्विक त्यागी है। क्योंकि कर्म तो किसीसेभी छूटही नहीं सकता। १२ कर्मका त्रिविध फल सात्त्विक त्यागी पुरुषको बंधक नहीं होता। १३–१५ कोईभी कर्म होनेके पाँच कारण हैं, केवल मनुष्यही कारण नहीं है। १६, १७ अतएव यह अहंकार-बुद्धि कि मैं करता हूँ छूट जानेसे कर्म करनेपरभी अलिप्त रहता है। १८, १९ कर्मचोदना और कर्मसंग्रहका सांख्यो-क्त लक्षण और उनके तीन भेद। २०–२२ सात्त्विक आदि गुण-भेदसे ज्ञानके तीन भेद। 'अविभक्तं विभक्तेषु' यह सात्त्विक ज्ञान है। २३–२५ कर्मकी त्रिविधता। फलाशारहित कर्म सात्त्विक है। २६–२८ कर्ताके तीन भेद। निस्संग कर्ता सात्त्विक है। २९–३२ बुद्धिके तीन भेद। ३३–३५ धृतिके तीन भेद। ३६–३९ सुखके

तीन भेद। आत्मबुद्धिप्रसादज सात्त्विक सुख है। ४० गुणभेदसे सारे जगत्के तीन भेद। ४१–४४ गुणभेदसे चातुर्वर्ण्यकी उपपत्ति; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके स्वभावजन्य कर्म। ४५, ४६ चातुर्वर्ण्य-विहित स्वकर्माचरणसेही अंतिम सिद्धि। ४७–४९ परधर्मका आचरण भयावह है, स्वकर्म सदोष होनेपरभी अत्याज्य है, सारे कर्म स्वधर्मके अनुसार, निस्संग-बुद्धिके द्वारा करनेसेही नैष्कर्म्य-सिद्धि मिलती है। ५०–५६ इसका निरूपण कि सारे कर्म करते रहनेभी यह सिद्धि किस प्रकार मिलती है? ५७, ५८ इसी मार्गको स्वीकार करनेके विषयमें अर्जुनको उपदेश। ५९–६३ प्रकृति-धर्मके सामने अहंकारकी एक नहीं चलती। ईश्वरकीही शरणमें जाना चाहिये। अर्जुनको यह उपदेश, कि इस गुह्यको समझकर फिर जो दिलमें आवे, सो कर। ६४–६६ भगवानका यह अंतिम आश्वासन, कि सब धर्म छोड़कर 'मेरी शरणमें आ,' सब पापोंसे 'मैं तुझे मुक्तकर दूँगा।' ६७–६९ कर्मयोग-मार्गकी परंपराको आगे प्रचलित रखनेका श्रेय। ७०, ७१ उसका फलमाहात्म्य। ७२, ७३ कर्तव्यमोह नष्ट होकर अर्जुनकी युद्ध करनेके लिये तैयारी। ७४–७८ धृतराष्ट्रको यह कथा सुना चुकनेपर संजयकृत उपसंहार।



कुरुक्षेत्रकी रणभूमि



ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ। माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतु ॥ १४ ॥
... कपिध्वज। ... धनुरुद्यम्य पांडवः ॥ २० ॥ सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापयमेच्युत ॥ २१ ॥ (अ. १)

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः ।

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

पहला अध्याय ।

[भारतीय युद्धके आरंभमें श्रीकृष्णने अर्जुनको जिस गीताका उपदेश किया है, उसका आगे लोगोंमें प्रचार कैसे हुआ; इसकी परंपरा वर्तमान महाभारत ग्रंथमेंही इस प्रकार दी गई है :– युद्धमें आरंभ होनेसे प्रथम व्यासजीने धृतराष्ट्रसे जाकर कहा, कि "यदि तुम्हारी इच्छा युद्ध देखनेकी हो, तो मैं तुम्हें दृष्टि देता हूँ।" इसपर धृतराष्ट्रने कहा, कि 'मैं अपने कुलका क्षय नहीं देखना चाहता।" तब एकही स्थानपर बैठे बैठे, सब बातोंका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जानेके लिये संजय नामक सूतको व्यासजीने दिव्य-दृष्टि दे दी। इस संजयके द्वारा युद्धके अविकल वृत्तान्त धृतराष्ट्रको अवगत करा देनेका प्रबंध करके व्यासजी चले गये (मभा. भीष्म. २)। जब आगे युद्धमें भीष्म आहत हुए और उक्त प्रबंधके अनुसार, वह समाचार सुनानेके लिये पहले संजय धृतराष्ट्रके पास गया, तब भीष्मके बारेमें शोक करते हुए धृतराष्ट्रने संजयको आज्ञा दी, कि युद्धकी सारी वातोंका वर्णन करो। तदनुसार संजयने पहले दोनों दलोंकी सेनाओंका वर्णन किया; और फिर धृतराष्ट्रके पूछनेपर गीता बतलाना आरंभ किया है। आगे चलकर यह सब वार्ता व्यासजीने अपने शिष्योंको, बादमें उन शिष्योंमेंसे वैशंपायनने जनमेजयको और अंतमें सौतीने शौनकको सुनाई। महाभारतकी सभी छपी हुई प्रतियोंमें भीष्मपर्वके २५ वें अध्यायसे ४२ वें अध्यायतक यही गीता कही गई है। इस परंपराके अनुसार :–]

धृतराष्ट्रने पूछा – (१) हे संजय ! कुरुक्षेत्रकी पुण्यभूमिमें एकत्रित मेरे और पांडुके युद्धेच्छुक पुत्रोंने क्या किया ?

[हस्तिनापुरके चहूँ ओरका मैदान कुरुक्षेत्र है। वर्तमान दिल्ली शहर इसी मैदानपर बसा हुआ है। महाभारतमें यह कथा है, कि कौरव-पांडवोंका

संजय उवाच।

§ § दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथः ॥ ६ ॥

पूर्वज कुरु नामका राजा इस मैदानको हलसे बड़े कष्टपूर्वक जोता करता था, अतएव उसको क्षेत्र (या खेत) कहते हैं। जब इंद्रने कुरुको यह वरदान दिया, कि इस क्षेत्रमें जो लोग तप करते करते या युद्धमें मर जावेंगे, उन्हें स्वर्गकी प्राप्ति होगी; तब उसने इस क्षेत्रमें हल चलाना छोड़ दिया (मभा. शल्य. ५३)। इंद्रके इस वरदानके कारणही यह क्षेत्र धर्मक्षेत्र या पुण्यक्षेत्र कहलाने लगा। इस मैदानके विषयमें यह कथा प्रचलित है, कि यहींपर परशुरामने एकीस बार सारी पृथ्वीको निःक्षत्रिय करके पितृतर्पण किया था; और अर्वाचीन कालमेंभी इसी क्षेत्रपर बड़ी बड़ी लढ़ाईयाँ हो चुकी हैं।]

संजयने कहा – (२) उस समय पांडवोंकी सेनाको व्यूह रचकर (खड़ी) देख, राजा दुर्योधन (द्रोण) आचार्यके पास गया; और उनसे कहा लगा, कि –

[महाभारत (मभा. भी. १९. ४–७; मनु. ७. १९१)के उन अध्यायोंमें, कि जो गीतासे पहले लिखे गये हैं, यह वर्णन है, कि जब कौरवोंकी सेनाका भीष्मद्वारा रचा हुआ व्यूह पांडवोंने देखा; और जब उनको अपनी सेना कौरवोंकी सेनासे कम दीख पड़ी, तब उन्होंने युद्धविद्याके अनुसार वज्र नामक व्यूह रचकर अपनी सेना खड़ी की। युद्धमें प्रतिदिन ये व्यूह बदला करते थे।]

(३) हे आचार्य ! पांडुपुत्रोंकी इस बड़ी सेनाको देखिये, कि जिसकी व्यूहरचना तुम्हारे बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्रने (धृष्टद्युम्न) की है। (४) इसमें शूर, महाधनुर्धर, और युद्धमें भीम तथा अर्जुनसरीखे युयुधान (सात्यकि), विराट और महारथी द्रुपद, (५) धृष्टकेतु, चेकितान और वीर्यवान् काशिराज, पुरुजित् कुंतिभोज, और नरश्रेष्ठ शैब्य, (६) इसी प्रकार पराक्रमी युधामन्य और वीर्यशाली उत्तमौजा

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥ ७॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥ ८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ९॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥ १०॥

एवं सुभद्राका पुत्र (अभिमन्यु) तथा द्रौपदीके (पांच) पुत्र–ये सभी महारथी हैं।

[दस हजार धनुर्धारी योद्धाओंके साथ अकेले युद्ध करनेवालेको महारथी कहते हैं। दोनों ओरकी सेनाओंमें जो रथी, महारथी अथवा अतिरथी थे, उनका वर्णन उद्योगपर्वके (१६४ से १७१ तक) आठ अध्यायोंमें किया गया है। वहाँ बतला दिया है, कि धृष्टकेतु शिशुपालका बेटा था। इसी प्रकार पुरुजित् कुंतिभोज, ये दो भिन्न भिन्न पुरुषोंके नाम नहीं हैं। जिस कुंतिभोज राजाको कुंती गोद दी गई थी, पुरुजित् उसका औरस पुत्र था, और कुंतिभोज उसके कुलका नाम है; एवं यह वर्णन पाया जाता है, कि वह धर्म, भीष्म और अर्जुनका मामा था। (मभा. उ. १७१. २)। युधामन्यु और उत्तमौजा, दोनों पांचाल्य थे; और चेकितान एक यादव था। युधामन्यु और उत्तमौजा, युद्धमें, दोनों अर्जुनके चक्र-रक्षक थे। शैब्य शिबी देशका राजा था।]

(७) हे द्विजश्रेष्ठ! अब हमारी ओर, सेनाके जो मुख्य मुख्य नायक हैं, उनके नामभी मैं आपको सुनाता हूँ; ध्यान देकर सुनिये। (८) आप और भीष्म, कर्ण और रणजित् कृप, अश्वत्थामा और (दुर्योधनके सौ भाइयोंमेंसे एक) विकर्ण, तथा सोमदत्तका पुत्र (भूरिश्रवा), (९) एवं इनके सिवा बहुतेरे अन्यान्य शूर मेरे लिये प्राण देनेको तैयार हैं; और सभी नाना प्रकारके शस्त्र चलानेमें निपुण तथा युद्धमें प्रवीण हैं। (१०) इस प्रकार हमारी यह सेना – जिसकी रक्षा स्वयं भीष्म कर रहे हैं – अपर्याप्त अर्थात् अपरिमित या अमर्यादित है; किंतु उनकी (पांडवों) वह सेना – जिसकी रक्षा भीम कर रहा है – पर्याप्त अर्थात् परिमित या मर्यादित है।

[इस श्लोकमें 'पर्याप्त' और 'अपर्याप्त' शब्दोंके अर्थके विषयमें मतभेद है। 'पर्याप्त'का सामान्य अर्थ 'बस' या 'काफ़ी' होता है, इसलिये कुछ लोग यह अर्थ बतलाते हैं, कि " पांडवोंकी सेना काफ़ी है; और हमारी काफ़ी नहीं है। " परंतु यह अर्थ ठीक नहीं है। पहले उद्योगपर्वमें, धृतराष्ट्रसे अपनी सेनाका वर्णन करते समय उक्त मुख्य मुख्य सेनापतियोंके नाम बतलाकर दुर्योधनने कहा है'

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

कि "मेरी सेना बड़ी और गुणवान् है, इसलिये जीत मेरीही होगी" (उ. ५४. ६०–७०)। इसी प्रकार आगे चलकर भीष्मपर्वमें, जिस समय द्रोणाचार्यके पास दुर्योधन फिरसे सेनाका वर्णन कर रहा था, उस समयभी, गीताके उपर्युक्त श्लोकोंके समानही श्लोक उसने अपने मुँहसे ज्यों-के-त्यों कहे हैं (भीष्म ५१. ४–६)। और तीसरी बात यह है, कि सब सैनिकोंको प्रोत्साहित करनेके लियेही हर्षपूर्वक यह वर्णन किया गया है। इन सब बातोंका विचार करनेसे इस स्थानपर 'अपर्याप्त' शब्दका 'अमर्यादित, अपार या अगणित'के सिवा और कोई अर्थही हो नहीं सकता। 'पर्याप्त' शब्दका धात्वर्थ 'चहुँ ओर (परि-)वेष्टन करने-योग्य' (आप् = प्रापना) है। परंतु 'अमुक कामके लिये पर्याप्त' या 'अमुक मनुष्यके लिये पर्याप्त' इस प्रकार पर्याप्त शब्दके पीछे चतुर्थी अर्थके दूसरे शब्द जोड़कर प्रयोग करनेसे 'पर्याप्त' शब्दका यह अर्थ हो जाता है – 'उस कामके लिये या मनुष्यके लिये भरपूर अथवा समर्थ।' और यदि 'पर्याप्त'के पीछे कोई दूसरा शब्द न रखा जावे, तो केवल 'पर्याप्त' शब्दका अर्थ होता है 'भरपूर, परिमित या जिसकी गिनती की जा सकती है।' प्रस्तुत श्लोकमें 'पर्याप्त' शब्दके पीछे दूसरा शब्द नहीं है, इसलिये यहाँपर उसका उपर्युक्त दूसरा अर्थ (परिमित या मर्यादित)विवक्षित है; और महाभारतके अतिरिक्त अन्यत्रभी ऐसे प्रयोग किये जानेके उदाहरण ब्रह्मानंदगिरिकृत टीकामें दिये गये हैं। कुछ लोगोंने यह उपपत्ति बतलाई है, कि दुर्योधन भयसे अपनी सेनाको 'अपर्याप्त' अर्थात् 'अपूरा' कहता है; परंतु यह ठीक नहीं है। क्योंकि, दुर्योधनके डर जानेका वर्णन कहींभी नहीं मिलता, किंतु इसके विपरीत यह वर्णन पाया जाता है, कि दुर्योधनकी बड़ी भारी सेनाको देखकर पांडवोंने वज्र नामक व्यूह रचा; और कौरवोंकी अपार सेनाको देख युधिष्ठिरको बहुत खेद हुआ था (मभा. भीष्म. १९. ५; २१. १)। पांडवोंकी सेनाका सेनापति धृष्टद्युम्न था, परंतु "भीम रक्षा कर रहा है" कहनेका कारण यह है, कि पहले दिन पांडवोंने वज्र नामका जो व्यूह रचा था, उसकी रक्षाके लिये इस व्यूहके अग्रभागमें भीमही नियुक्त किया गया था; अतएव सेनारक्षककी दृष्टिसे दुर्योधनको वही सामने दिखाई दे रहा था (मभा. भीष्म. १९. ४–११, ३३, ३४); और इसी अर्थमें इन दोनों सेनाओंके विषयमें महाभारतके गीताके पहलेके अध्यायोंमें 'भीमनेत्र' और 'भीष्मनेत्र' कहा गया है (मभा. भी. २०.१)।]

(११) (तो अब) नियुक्तिके अनुसार सब अयनोंमें अर्थात् सेनाके भिन्न भिन्न प्रवेशद्वारोंमें रहकर तुम सबको मिल करके भीष्मकीही सभी ओरसे रक्षा करनी चाहिये।

§ § तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

[सेनापति भीष्म स्वयं पराक्रमी और किसीसेभी हार जानेवाले न थे। "सभी ओरसे सबको उनकी रक्षा करनी चाहिये", इस कथनका कारण दुर्योधनने दूसरे स्थलपर (मभा. भी. १५. १५–२०; ९९. ४०, ४१)। यह बतलाया है, कि भीष्मका निश्चय था कि हम शिखंडीपर शस्त्र न चलावेंगे, इसलिये शिखंडीकी ओरसे भीष्मका घात होनेकी संभावना थी, अतएव सबको सावधानी रखनी चाहिये :–

अरक्ष्यमाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाबलम्।
मा सिंहं जंबुकेनेव घातयेथाः शिखंडिना ॥

"महाबलवान् सिंहकी रक्षा न करें, तो भेड़िया उसे मार डालेगा; इसलिये जंबुक-सदृश शिखंडीसे सिंहका घात न होने दो।" शिखंडीको छोड़ और दूसरे किसीकीभी खबर लेनेके लिये भीष्म अकेलेही समर्थ थे, अन्यकी किसी सहायताकी उन्हें अपेक्षा न थी।]

(१२) (इतनेमें) दुर्योधनको हर्षाते हुए प्रतापशाली वृद्ध कौरव पितामह (सेनापति भीष्म)ने सिंहकी ऐसी बड़ी गर्जना कर (लड़ाईकी सलामीके लिये) अपना शंख फूंका। (१३) इसके साथही साथ अनेक शंख, भेरी (नौबतें), पणव, आनक और गोमुख (ये लड़ाईके बाजे) एकदम बजने लगे; और इन बाजोंका नाद चारों ओर खूब गूंज उठा। (१४) अनंतर सफ़ेद घोड़ोंसे जुते हुए बड़े रथमें बैठे हुए माधव (श्रीकृष्ण) और पांडवने (अर्जुन) (यह सूचना करनेके लिये कि हमारे पक्षकीभी तैयारी है, प्रत्युत्तरके ढँगपर) दिव्य शंख बजाये। (१५) हृषीकेश अर्थात् श्रीकृष्णने पांचजन्य (नामक शंख), अर्जुनने देवदत्त, भयंकर कर्म करनेवाले वृकोदर अर्थात् भीमसेनने पौंड्र नामक बड़ा शंख फूंका;

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥
§§ अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

(१६) कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनंतविजय, नकुल और सहदेवने सुघोष, एवं मणिपुष्पक, (१७) महाधनुर्धर काशिराज, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, विराट, तथा अजेय सात्यकि, (१८) द्रुपद और द्रौपदीके (पाँचों) बेटे, तथा महाबाहु सौभद्र (अभिमन्यु), इन सबने, हे राजा (धृतराष्ट्र) ! चारों ओर अपने अपने अलग अलग शंख बजाये। (१९) आकाश और पृथिवीको दहला देनेवाली उस तुमुल आवाज़ने कौरवोंका कलेजा फाड़ डाला।

(२०) अनंतर कौरवोंको व्यवस्थासे खड़े देख, परस्पर एक दूसरेपर शस्त्रप्रहार होनेका समय आनेपर धनुष्य उठाकर, कपिध्वज पांडव अर्थात् अर्जुन, (२१) हे राजा धृतराष्ट्र ! श्रीकृष्णसे ये शब्द बोला : अर्जुनने कहा :– हे अच्युत ! मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीच ले चलकर खड़ा करो, (२२) उतनेमें युद्धकी इच्छा से तैयार हुए इन लोगोंको मैं अवलोकन करता हूँ; और मुझे इस रणसंग्राममें किनके साथ लड़ना है, एवं (२३) युद्धमें दुर्बुद्धि दुर्योधनका कल्याण

संजय उवाच।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥

करनेकी इच्छासे यहाँ जो लड़नेवाले जमा हुए हैं, उन्हें मैं देख लूँ। संजय बोला :– (२४) हे धृतराष्ट्र ! गुडाकेश अर्थात् आलस्यको जीतनेवाले अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर हृषीकेश अर्थात् इंद्रियोंके स्वामी श्रीकृष्णने (अर्जुनके) उत्तम रथको दोनों सेनाओंके मध्यभागमें लाकर खड़ा कर दिया; और :–

[हृषीकेश और गुडाकेश शब्दोंके जो अर्थ ऊपर दिये गये हैं, वे टीकाकारोंके मतानुसार हैं। नारदपंचरात्रमेंभी 'हृषीकेश'की यह निरुक्ति है, कि हृषीक = इंद्रियाँ और उनका ईश = स्वामी (नारदपंच. ५. ८. १७); और अमरकोशपर क्षीरस्वामीकी जो टीका है, उसमें लिखा है, कि हृषीक (अर्थात् इंद्रियाँ) शब्द हृष् = आनंद देना, इस धातुसे बना है; इंद्रियाँ मनुष्यको आनंद देती हैं, इसलिये उन्हें हृषीक कहते हैं। तथापि, यह शंका होती है, कि हृषीकेश और गुडाकेशके जो अर्थ ऊपर दिये गये हैं, वे ठीक हैं या नहीं ? क्योंकि, हृषीक (अर्थात् इंद्रियाँ) और गुडाका (अर्थात् निद्रा या आलस्य) ये शब्द प्रचलित नहीं हैं; हृषीकेश और गुडाकेश इन दोनों शब्दोंकी व्युत्पत्ति दूसरी रीतिसेभी लग सकती है। हृषीक + ईश और गुडाका + ईशके बदले हृषी + केश और गुडा + केश ऐसाभी पदच्छेद किया जा सकता है; और फिर ये अर्थ हो सकते हैं, कि हृषी अर्थात् हर्षसे खड़े किये हुए या प्रशस्त जिसके केश (बाल) हैं, वह श्रीकृष्ण; और गुडा अर्थात् गूढ़ या घने जिसके केश हैं, वह अर्जुन। भारतके टीकाकार नीलकंठने गुडाकेश शब्दका यह अर्थ, गीता १०. २० पर अपनी टीकामें विकल्पसे सूचित किया है; और सूतके बापका जो रोमहर्षण नाम है, उससे हृषीकेश शब्दकी उल्लिखित दूसरी व्युत्पत्तिकोभी असंभवनीय नहीं कह सकते। महाभारतके शांतिपर्वान्तर्गत नारायणीयोपाख्यानमें विष्णुके मुख्य मुख्य नामोंकी निरुक्ति देते हुए यह अर्थ किया है, कि हृषी अर्थात् आनंददायक; और केश अर्थात् किरण; और कहा है, कि सूर्यचंद्ररूप अपनी विभूतियोंकी किरणोंसे समस्त जगत्को हर्षित करता है, इसलिये उसे हृषीकेश कहते हैं (महा. शांति. ३४१. ४७; ३४२. ६४, ६५; उद्यो. ६९. ९); और पहलेके श्लोकोंमें कहा गया है, कि उसी प्रकार केशव शब्दभी केश अर्थात् किरण शब्दसे बना है (शां. ३४१. ४७) इनमेंसे कोईभी अर्थ क्यों न लें; पर श्रीकृष्ण और अर्जुनके ये नाम रखे जानेके, सभी अंशोंमें, योग्य कारण बतलाये जा नहीं सकते, लेकिन यह दोष नैरुक्तिकोंका नहीं है। जो व्यक्तिवाचक या विशेष नाम अत्यंत

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच ।

§§ दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

| रूढ हो गये हैं, उनकी निरुक्ति बतलानेमें इस प्रकारकी अडचनोंका आना या
| मतभेद हो जाना बिलकुल सहज बात है ।]

(२५) भीष्म, द्रोण तथा सब राजाओंके सामने (वे) बोले, कि " अर्जुन ! (यहाँ) एकत्रित हुए इन कौरवोंको देखो । " (२६) तब अर्जुनको दिखाई दिया, कि वहाँ पर इकठ्ठे हुए सब (अपनेही) बड़े-बूढ़े, आजा, आचार्य, मामा, भाई, बेटे, नाती, मित्र, (२७) ससुर और स्नेही दोनोंही सेनाओंमें हैं; (और इस प्रकार) यह देखकर, कि वे सभी एकत्रित हमारे बांधव हैं, कुंतीपुत्र अर्जुन (२८) परम करुणासे व्याप्त होता हुआ खिन्न होकर यह कहने लगा :–

अर्जुनने कहा :– हे कृष्ण ! युद्ध करनेकी इच्छासे (यहाँ) जमा हुए इन स्वजनोंको देखकर (२९) मेरे गात्र शिथिल हो रहे हैं, मुँह सूख रहा है, शरीरमें कँपकँपी उठकर रोएँभी खड़े हो गये हैं; (३०) गांडीव (धनुष्य) हाथसे गिर पड़ता है; और शरीरमेंभी सर्वत्र दाह हो रहा है; खड़ा नहीं रहा जाता और मेरा मन चक्कर-सा खा गया है । (३१) इसी प्रकार हे केशव ! (मुझे सब) लक्षण विपरीत दिखते हैं ; और स्वजनोंको युद्धमें मारकर श्रेय अर्थात् कल्याण (होगा

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

ऐसा) नहीं दीख पड़ता। (३२) हे कृष्ण ! मुझे विजयको इच्छा नहीं, न राज्य चाहिये और न सुखभी। हे गोविंद ! राज्य, उपभोग या जीवित रहनेसेभी हमें उसका क्या उपयोग है ? (३३) जिनके लिये राज्यकी, उपभोगोंकी और सुखोंकी इच्छा करनी थी, वेही ये लोग जीव और संपत्तिकी आशा छोड़कर युद्धके लिये खड़े हैं। (३४) आचार्य, बड़े-बूढ़े, लड़के, दादा, मामा, ससुर, नाती, साले और संबंधी (३५) यद्यपि ये (हमें) मारनेके लिये खड़े हैं, तथापि हे मधुसूदन ! त्रैलोक्यके राज्यतकके लिये, मैं (इन्हें) मारनेकी इच्छा नहीं करता; फिर पृथ्वीकी बात है क्या चीज ? (३६) हे जनार्दन ! इन कौरवोंको मारकर हमारा कौन-सा प्रिय होगा ? यद्यपि ये आततायी हैं, तोभी इनको मारनेसे हमें पापही लगेगा। (३७) इसलिये हमें अपनेही बांधव कौरवोंको मारना उचित नहीं है। क्योंकि हे माधव ! स्वजनोंको मारकर हम सुखी क्योंकर होंगे ?

[अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदाराहरश्चैव षडेते आततायिनः ॥ (वसिष्ठस्मृ. ३. १६) अर्थात् घर जलानेके लिये आयाहुआ, विष देनेवाला, हाथमें हथियार लेकर मारनेके लिये आया हुआ, धन लूटकर ले जानेवाला और स्त्री या खेत हरणकर्ता – ये छः आततायी हैं। मनुनेभी कहा है, कि इन दुष्टोंको बेधड़क जानसे मार डालें, इसमें कोई पातक नहीं है (मनु. ८. ३५०, ३५१)।]

§§ यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

(३८) लोभसे इनकी बुद्धि नष्ट हो गई है, इन्हें कुलके क्षयसे होनेवाला दोष और मित्रद्रोहका पातक यद्यपि दिखाई नहीं देता, (३९) तथापि हे जनार्दन ! कुलक्षयका दोष हमें स्पष्ट दीख पड़ा रहा है, अतः इस पापसे पराङ्मुख होनेकी बात हमारे मनमें आये बिना कैसे रहेगी ?

[प्रथमसेही यह प्रत्यक्ष हो जानेपर, कि युद्धमें गुरुवध, सुहृद्वध और कुलक्षय होगा, लड़ाईसंबंधी अपने कर्तव्यके विषयमें अर्जुनको जो व्यामोह हुआ, उसका क्या बीज है ? गीतामें आगे जो प्रतिपादन है, उससे इसका क्या संबंध है ? और उस दृष्टिसे प्रथमाध्यायका कौन-सा महत्त्व है ? – इन सब प्रश्नोंका विचार गीतारहस्यके पहले और फिर चौदहवें प्रकरणमें हमने किया है, उसे देखो । इस स्थानपर ऐसी साधारण युक्तियोंका उल्लेख किया गया है, कि लोभसे बुद्धि नष्ट हो जानेके कारण दुष्टोंको अपनी दुष्टता जान न पड़ती हो, तो चतुर पुरुषोंको दुष्टोंके फंदेमें पड़कर दुष्ट न होना चाहिये – " न पापे प्रतिपापः स्यात " उन्हें चुप रहना चाहिये । इन साधारण युक्तियोंका ऐसे प्रसंगपर कहाँतक उपयोग किया जा सकता है, अथवा करना चाहिये ? – यहभी ऊपरके समानही एक महत्त्वका प्रश्न है; और इसका गीताके अनुसार जो उत्तर है, उसका हमने गीतारहस्यके बारहवें प्रकरणमें (पृ. ३९३–३९८) निरूपण किया है । गीताके अगले अध्यायोंमें जो विवेचन है, वह अर्जुनकी उन शंकाओंकी निवृत्ति करनेके लिये है, कि जो उसे पहले अध्यायमें हुई थीं; इस बातपर ध्यान दिये रहनेसे गीताका तात्पर्य समझनेमें किसी प्रकारका संदेह नहीं रह जाता । भारतीय युद्धमें एकही राष्ट्र और धर्मके लोगोंमें फूट हो गई थी; और वे परस्पर मरने-मारनेपर उतारू हो गये थे, इसी कारणसे उक्त शंकाएँ उत्पन्न हुई हैं । अर्वाचीन इतिहासमें जहाँ जहाँ ऐसे प्रसंग आये हैं, वहाँ वहाँ ऐसेही प्रश्न उपस्थित हुए हैं । अस्तु; कुलक्षयसे आगे जो जो अनर्थ होते हैं, उन्हें अर्जुन स्पष्ट कर कहता है ।]

(४०) कुलका क्षय होनेसे सनातन कुलधर्म नष्ट होते हैं, और (कुल)धर्मोंके

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥
§ § अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

छूटनेसे समूचे कुलपर अधर्मकी धाक जमती है; (४१) हे कृष्ण ! अधर्मके फैलनेसे कुलस्त्रियाँ बिगड़ती हैं; हे वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके बिगड़ जानेपर वर्णसंकर होता है। (४२) और वर्णसंकर होनेसे वह कुलघातकको और (समग्र) कुलको निश्चयही नरकमें ले जाता है; एवं पिंडदान और तर्पणादि क्रियाओंके लुप्त हो जानेसे उनके पितरभी पतन पाते हैं। (४३) कुलघातकोंके इन वर्णसंकरकारक दोषोंसे पुरातन जातिधर्म और कुलधर्म उत्पन्न होते हैं; (४४) और हे जनार्दन ! हम ऐसा सुनते आ रहे हैं, कि जिन मनुष्योंके कुलधर्म विच्छिन्न हो जाते हैं, उनको निश्चयही नरकवास होता है।

(४५) देखो तो सही ! हम राज्य-सुख-लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हुए हैं, (सचमुचही) यह हमने एक बड़ा पाप करनेकी योजना की है ! (४६) इसकी अपेक्षा मेरा अधिक कल्याण तो इसमें होगा, कि मैं निःशस्त्र होकर प्रतिकार करना छोड़ दूँ; (और ये) शस्त्रधारी कौरव मुझे रणमें मार डालें। संजयने कहा :–

[रथमें खड़े होकर युद्ध करनेकी प्रणाली थी, अतः " रथमें अपने स्थान-पर बैठ गया " इन शब्दोंसे यही अर्थ अधिक व्यक्त होता है, कि खिन्न हो जानेके कारण युद्ध करनेकी उसे इच्छा न थी। महाभारतमें कुछ स्थलोंपर इन रथोंका जो वर्णन है, उससे दीख पड़ता है, कि भारतकालीन रथ प्रायः दो पहियोंके होते थे; बड़े-बड़े रथोंमें चार-चार घोड़े जोते जाते थे; और रथी एवं

संजय उवाच।

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

---

(४७) इस प्रकार रणभूमिमें भाषण कर, शोकसे व्यथितचित्त अर्जुन (हाथका) धनुष्य-बाण त्याग कर रथमें अपने स्थानपर योंही बैठ गया।

[सारथी, दोनों अगले भागमें परस्पर एक दूसरेकी आजूबाजूमें बैठते थे। रथ की पहचानके लिये प्रत्येक रथपर एक प्रकारकी विशेष ध्वजा लगी रहती थी। यह बात प्रसिद्ध है, कि अर्जुनकी ध्वजापर प्रत्यक्ष हनुमानही बैठे थे।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, अर्जुनविषादयोग नामक पहला अध्याय समाप्त हुआ।

[गीतारहस्यके पहले (पृष्ठ ३), तीसरे (पृष्ठ ६०), और ग्यारहवें (पृष्ठ ३५३) प्रकरणमें इस संकल्पका ऐसा अर्थ किया गया है, कि गीतामें केवल ब्रह्मविद्याही नहीं है, किंतु उसमें ब्रह्मविद्याके आधारपर कर्मयोगका प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि यह संकल्प महाभारतमें नहीं है, परंतु यह गीतापर संन्यासमार्गी टीका होनेके पहलेका होगा; क्योंकि, संन्यास-मार्गका कोईभी पंडित ऐसा संकल्प न लिखेगा। और इससे यह प्रकट होता है, कि गीतामें संन्यास-मार्गका प्रतिपादन नहीं है, किंतु कर्मयोगका शास्त्र समझकर, संवाद-रूपसे विवेचन है। संवादात्मक और शास्त्रीय पद्धतिका भेद रहस्यके चौदहवें प्रकरणके आरंभमें बतलाया गया है।]

द्वितीयोऽध्यायः।

संजय उवाच।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १॥

श्रीभगवानुवाच।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥ २॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥ ३॥

अर्जुन उवाच।

§§ कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

दूसरा अध्याय।

संजयने कहा :– (१) इस प्रकार करुणासे व्याप्त, आँखोंमें आँसू भरे हुए और विषाद पानेवाले अर्जुनसे मधुसूदन (श्रीकृष्ण) यह बोले – श्रीभगवानने कहा :– (२) हे अर्जुन! संकटके इस प्रसंगपर तेरे (मनमें) यह मोह (कश्मलं) कहाँसे आ गया, जिसका कि आर्योंने अर्थात् सत्पुरुषोंने (कभी) आचरण नहीं किया, जो अधोगतिको पहुँचानेवाला है, और जो दुष्कीर्तिकारक है? (३) हे पार्थ! ऐसा नामर्द मत हो! यह तुझे शोभा नहीं देता। अरे, शत्रुओंको ताप देनेवाले! अंतःकरणकी इस क्षुद्र दुर्बलताको छोड़कर (युद्धके लिये) खड़ा हो।

[इस स्थानपर हमने 'परंतप' शब्दका अर्थ कर तो दिया है; परंतु बहुतेरे टीकाकारोंका यह मत हमारी रायमें युक्तिसंगत नहीं है, कि अनेक स्थानोंपर आनेवाले विशेषणरूपी संबोधन या कृष्ण-अर्जुनके नाम गीतामें हेतुगर्भित अथवा अभिप्रायसहित प्रयुक्त हुए हैं। हमारा मत है, कि पद्यरचनाके लिये अनुकूल नामोंका प्रयोग किया गया है; और उनमें कोई विशेष अर्थ उद्दिष्ट नहीं है। अतएव कई बार हमने श्लोकमें प्रयुक्त नामोंकाही हूबहू अनुवाद न कर 'अर्जुन' या 'श्रीकृष्ण' ऐसा साधारण अनुवाद कर दिया है।]

अर्जुनने कहा :– (४) हे मधुसूदन! मैं (परम-)पूज्य भीष्म और द्रोणके

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

साथ, हे शत्रुनाशने ! युद्धमें बाणोंसे कैसे लड़ूँगा ? (५) महात्मा गुरु लोगोंको न मारकर इस लोकमें भीख माँग करके पेट पालनाभी श्रेयस्कर है; परंतु अर्थलोलुप (हों, तोभी) गुरु लोगोंको मारकर इसी जगतमें मुझे उनके रक्तसे सने हुए भोग भोगने पड़ेंगे।

| ['गुरु लोगोंको' इस बहुवचनान्त शब्दसे 'बड़े-बूढ़ों 'काही अर्थ लेना चाहिये। क्योंकि, विद्या सिखानेवाला गुरु एक द्रोणाचार्यको छोड़, सेनामें और कोई दूसरा न था। युद्ध छिड़नेके पहले जब ऐसे गुरु लोगों – अर्थात् भीष्म, द्रोण और शल्य – की पादवंदना कर उनका आशीर्वाद लेनेके लिये युधिष्ठिर रणांगणमें अपना कवच उतारकर नम्रतासे उनके समीप गये, तब शिष्ट-संप्रदायका उचित पालन करनेवाले युधिष्ठिरका अभिनंदन कर सबने इसका कारण बतलाया, कि दुर्योधनकी ओरसे हम क्यों लड़ेंगे ?

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज ! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥

| " सच तो यह है, कि मनुष्य अर्थका गुलाम है, अर्थ किसीका गुलाम नहीं; इसलिये हे युधिष्ठिर महाराज ! कौरवोंने मुझे अर्थसे जकड़ रखा है " (मभा. भी. अ. ४३, श्लो. ३५. ५०, ७६)। ऊपर जो यह 'अर्थलोलुप' शब्द है, वह इसी श्लोकके अर्थका द्योतक है।]

(६) हम जय प्राप्त करें या हमें (वे लोग) जीत लें – इन दोनों बातोंमेंसे हमें श्रेयस्कर कौन है, यहभी समझ नहीं पड़ता। जिन्हें मारकर फिर जीवित रहनेकी इच्छा नहीं, वेही ये कौरव (युद्धके लिये) सामने डटे हैं।

| ['गरीयः' शब्दसे प्रकट होता है, कि अर्जुनके मनमें " अधिकांश लोगोंके अधिक सुख "के समान कर्म और अकर्मकी लघुता-गुरुता ठहरानेकी कसौटी थी, पर वह इस बातका निर्णय नहीं कर सकता था, कि उन कसौटीके अनुसार किसकी जीत होनेमें भलाई है ? गीतारहस्य प्र. ४, पृ. ८४–८७ देखो।]

(७) दीनतासे मेरी स्वाभाविक वृत्ति नष्ट हो गई, है (मुझे अपने) धर्म अर्थात्

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

कर्तव्यका मनमें मोह हो गया है, इसलिये मैं तुमसे पूछता हूँ, कि जो निश्चयसे श्रेयस्कर हो, वह मुझे बतलाओ । मैं तुम्हारा शिष्य हूँ । मुझ शरणागतको समझाइये । (८) क्योंकि पृथ्वीका निष्कंटक समृद्ध राज्य या देवताओं (स्वर्ग) काभी स्वामित्व मिल जाय, तथापि मुझे ऐसा कुछभी (साधन) नज़र नहीं आता, कि जो इंद्रियोंको सुखा डालनेवाले मेरे इस शोकको दूर करे। संजयने कहा :– (९) इस प्रकार शत्रुसंतापी गुडाकेश अर्थात् अर्जुनने हृषीकेशसे (श्रीकृष्ण) कहा; और फिर श्रीगोविंदसे 'मैं न लडूँगा' कहकर (वह) चुप हो गया ! (१०) (फिर) हे भारत (धृतराष्ट्र) ! दोनों सेनाओंके बीच खिन्न होकर बैठे हुए अर्जुनसे श्रीकृष्ण कुछ हँसते हुए-से बोले ।

[एक ओर तो क्षत्रियका स्वधर्म और दूसरी ओर गुरुहत्या एव कुलक्षय-के पातकोंका भय – इस खींचातानीमें 'मरें या मारें', के झमेलेमें पड़कर, लड़ाई छोडकर भिक्षा माँगनेके लिये तैयार हो जानेवाले अर्जुनको अब भगवान् इस जगतके उसके सच्चे कर्तव्यका उपदेश करते हैं। अर्जुनकी शंका थी, कि लड़ाई जैसे घोर कर्मसे आत्माका कल्याण न होगा । इसीसे, जिन उदार पुरुषोंने परब्रह्मका ज्ञान प्राप्तकर अपने आत्माका पूर्ण कल्याण कर लिया है, वे इस दुनियामें कैसा बर्ताव करते हैं; यहींसे गीताके उपदेशका आरंभ हुआ है। भगवान् कहते हैं, कि संसारकी चाल-ढालके परखनेसे दीख पड़ता है, कि आत्मज्ञानी पुरुषोंके जीवन बितानेके अनादिकालसे दो मार्ग चले आ रहे हैं (गीता ३. ३; गीतारहस्य प्र. ११)। आत्मज्ञान संपादन करनेपर शुकसरीखे पुरुष संसार छोड़कर आनंदसे भिक्षा माँगते फिरते हैं, तो जनकसरीखे दूसरे आत्मज्ञानी ज्ञानके पश्चातभी स्वधर्मानुसार लोगोंके कल्याणार्थ संसारके सैकड़ों व्यवहारोंमें अपना समय लगाया करते हैं। पहले मार्गको सांख्य या सांख्यनिष्ठा कहते हैं; और दूसरेको कर्मयोग या योग कहते हैं (श्लोक ३९)। यद्यपि ये दोनों निष्ठाएँ प्रचलित हैं, तथापि गीताका यह सिद्धान्त है, कि इनमेंसे कर्मयोगही अधिक श्रेष्ठ है (गीता

श्रीभगवानुवाच।

§ § अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥

५.२)–यह सिद्धान्त आगे बतलाया जावेगा। इन दोनों निष्ठाओंमेंसे अर्जुनके मनकी चाह अब संन्यासनिष्ठाकी ओरही अधिक बढ़ी हुई थी। अतएव उसी मार्गके तत्त्वज्ञानसे अर्जुनकी भूल पहले उसे सुझा दी गई है; और आगे ३९ वें श्लोकसे भगवानने कर्मयोगका प्रतिपादन करना आरंभ कर दिया है। सांख्य-मार्गवाले पुरुष ज्ञानके पश्चात् कर्म भलेही न करतें हों; पर उनका ब्रह्मज्ञान और कर्मयोगका ब्रह्मज्ञान कुछ भिन्न भिन्न नहीं है। तब सांख्य-निष्ठाके अनुसार देखने परभी आत्मा यदि अविनाशी और नित्य है, तो फिर किंचित् उपहासपूर्वक अर्जुनसे भगवानका प्रथम कथन है, कि तेरी यह बकबक व्यर्थ है, कि "मैं अमुकको कैसे मारूँ?"]

श्रीभगवानने कहा :– (११) जिनका शोक न करना चाहिये, तू उन्हींका शोक कर रहा है और ज्ञानकीभी हाँकता है! किसीके प्राण (चाहे) जायँ या (चाहे) रहें; ज्ञानी पुरुष उनका शोक नहीं करते।

[इस श्लोकमें यह कहा गया है, कि ज्ञानी लोग स्वाभाविक प्राणोंके जानेका या रहनेकाभी शोक नहीं करते। इनमेंसे जानेका शोक करना तो स्वाभाविक है उसे न करनेका उपदेश करना उचित है। पर टीकाकारोंने यह शंका करके, कि प्राण रहनेका शोक कैसा और क्यों करना चाहिये; उसके विषयमें बहुत-कुछ चर्चा की है; और कई एकोंने कहा है, कि मूर्ख एवं अज्ञानी लोगोंके प्राण रहना शोककाही कारण है। किंतु इतनी बालकी खाल निकालते रहनेकी अपेक्षा 'शोक करना' शब्दकाही 'भला या बुरा लगना' अथवा 'परवाह करना' ऐसा व्यापक अर्थ करनेसे कोईभी अडचन रह नहीं जाती। यहाँ इतनाही वक्तव्य है, कि ज्ञानी पुरुषको दोनों बातें एकहीसी होती हैं।]

(१२) देखो न; ऐसा तो हैही नहीं, कि मैं (पहले) कभीही था नहीं। ऐसाभी नहीं, कि तू और ये राजा लोग (पहले) न थे; और ऐसाभी नहीं हो सकता, कि हम सब लोग अब आगे न होंगे।

[इस श्लोकपर रामानुज-भाष्यमें जो टीका है, उसमें लिखा है :– इस श्लोकसे ऐसा सिद्ध होता है, कि 'मैं' अर्थात् परमेश्वर और 'तू एवं राजा लोग' अर्थात् अन्यान्य आत्मा, ये दोनों यदि पहले (अतीतकालमें) थे; और आगे

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥
§§ मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ १४॥

होनेवाले हैं, तो परमेश्वर और आत्मा, ये दोनों पृथक्, स्वतंत्र और नित्य हैं। किंतु यह अनुमान ठीक नहीं है; सांप्रदायिक आग्रहका है; क्योंकि इस स्थान-पर प्रतिपाद्य इतनाही है, कि सभी नित्य हैं; उनका पारस्परिक संबंध यहाँ बतलाया नहीं है और बतलानेकी कोई आवश्यकताभी न थी। जहाँ वैसा प्रसंग आया है, वहाँ गीतामेंही ऐसा अद्वैत सिद्धान्त (गीता ८. ४; १३. ३१) स्पष्ट रीतिसे बतला दिया है, कि समस्त प्राणियोंके शरीरमें देहधारी आत्मा मैं अर्थात् एकही परमेश्वर हूँ।]

(१३) जिस प्रकार देह धारण करनेवालेको इस देहमें बालपन, जवानी, और बुढ़ापा (प्राप्त होता है), उसी प्रकार (आगे) दूसरी देह प्राप्त हुआ करती है। (इसलिये) इस विषयमें ज्ञानी पुरुषोंको मोह नहीं होता।

[अर्जुनके मनमें यही तो बड़ा डर या मोह था, कि " अमुकको मैं कैसे मारूँ। " इसलिये उसे दूर करनेके निमित्त, तत्त्वकी दृष्टिसे भगवान् पहले इसीका विचार बतलाते हैं, कि मरना क्या है और मारना क्या है (श्लोक ११–३०)। मनुष्य केवल देहरूपी निरी वस्तुही नहीं है; वरन् देह और आत्माका समुच्चय है। इनमेंसे 'मैं' इस अहंकाररूपसे व्यक्त होनेवाला आत्मा नित्य और अमर है। वह आज है, कल था और कलभी रहेगाही। अतएव मरना या मारना, ये शब्दही उसके लिये उपयुक्त नहीं किये जा सकते और उसका शोकभी न करना चाहिये। अब बाकी रह गई देह; सो यह प्रकटही है, कि वह अनित्य और नाशवान् है; आज नहीं तो कल, कल नहीं तो सौ वर्षोंमें सही; उसका तो नाश होनेहीको है – " अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः " (भाग. १०. १. ३८); और एक देह छूटभी गई, तोभी कर्मोंके अनुसार आगे दूसरी देह मिलेबिना नहीं रहती, अतएव उसकाभी शोक करना उचित नहीं। सारांश, देह या आत्मा, दोनों दृष्टियोंसे विचार करें, तो सिद्ध होता है, कि मरे हुएका शोक करना पागलपन है, यह पागलपन भलेही हो; पर यह अवश्य बतलाना चाहिये, कि वर्तमान देहका नाश होते समय जो क्लेश होते हैं, उनके लिये शोक क्यों न करें ? अतएव अब भगवान् इन कायिक सुखदुःखोंका स्वरूप बतला कर दिखलाते हैं, कि उनकाभी शोक करना उचित नहीं है।]

(१४) हे कुंतिपुत्र ! शीतोष्ण या सुखदुःख देनेवाले, ये मात्राओं अर्थात्

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

बाह्य सृष्टिके पदार्थोंके (इंद्रियोंसे) जो संयोग हैं, उनकी उत्पत्ति होती है और नाश होता है। (अतएव) वे अनित्य अर्थात् विनाशवान् हैं। हे भारत ! (शोक न करके) उनको तू सहन कर। (१५) क्योंकि, हे नरश्रेष्ठ ! सुख और दुःखको समान माननेवाले जिस ज्ञानी पुरुषको इनकी व्यथा नहीं होती, वही अमृतत्व अर्थात् अमृत-ब्रह्मकी स्थितिको प्राप्तकर लेनेमें समर्थ होता है।

[जिस पुरुषको ब्रह्मात्मैक्यज्ञान होनेपरभी नामरूपात्मक जगत् मिथ्या नहीं जान पड़ा है, वह बाह्य पदार्थों और इंद्रियोंके संयोगसे होनेवाले शीत-उष्ण आदि या सुखदुःख आदि विकारोंको सत्य मानकर आत्मामें उनका अध्यारोप किया करता है; और इस कारणसे उसको दुःखकी पीड़ा होती है। परंतु जिसने यह जान लिया है, कि ये सभी विकार प्रकृतिके हैं, आत्मा अकर्ता और अलिप्त है; उसे सुख और दुःख एकहीसे हैं। अब भगवान् अर्जुनसे यह कहते हैं, कि इस सम-बुद्धिसे तू उनको सहन कर। और यही अर्थ अगले अध्यायमें अधिक विस्तारसे वर्णित है। शांकरभाष्यमें 'मात्रा' शब्दका अर्थ इस प्रकार किया है :– " मीयते एभिरिति मात्राः " अर्थात् जिनसे बाहरी पदार्थ मापे जाते हैं या ज्ञात होते हैं, उन्हें इंद्रियाँ कहते हैं। पर मात्राका अर्थ इंद्रियाँ न करके, कुछ लोग ऐसाभी अर्थ करते हैं, कि इंद्रियोंसे मापे जानेवाले शब्दरूप आदि बाह्य पदार्थोंको मात्रा कहते हैं; और उनका इंद्रियोंसे तो स्पर्श अर्थात् संयोग होता है, उसे मात्रास्पर्श कहते हैं। इसी अर्थको हमने स्वीकृत किया है। क्योंकि, इस श्लोकके विचार गीतामें आगे जहाँपर आये हैं (गीता ५. २१–२३), वहाँ 'बाह्यस्पर्श' शब्द है। और 'मात्रास्पर्श' शब्दका, हमारे किये हुए अर्थके समान, अर्थ करनेसे इन दोनों शब्दोंका अर्थ एकही-सा हो जाता है। यद्यपि इस प्रकार ये दोनों शब्द मिलते-जुलते हैं, तोभी मात्रास्पर्श शब्द पुराना दीख पड़ता है। क्योंकि मनु-स्मृतिमें (६. ५७) इसी अर्थमें मात्रासंग शब्द आया है; और बृहदारण्यकोप-निषदमें वर्णन है, कि मरनेपर ज्ञानी पुरुषके आत्माका मात्राओंसे असंसर्ग (मात्राऽसंसर्गः) होता है अर्थात् वह मुक्त हो जाता है; और उसे संज्ञा नहीं रहती (बृ. माध्यं. ४. ५. १४; वे. सू. शां. भा. १. ४. २२)। शीतोष्ण और सुखदुःख पद उपलक्षणात्मक हैं; उनमेंही राग-द्वेष, सत्-असत् और मृत्यु-अमरत्व इत्यादि परस्पर-विरोधी द्वंद्वोंका समावेश होता है। ये सब माया-सृष्टिके द्वंद्व हैं। सच्चा परब्रह्म, नासदीय सूक्तमें जो वर्णन है, उसके अनुसार, इन द्वंद्वोंसे परे है। इसलिये प्रकट है, कि अनित्य माया-सृष्टिके इन द्वंद्वोंको शांतिपूर्वक सहकर, इन द्वंद्वोंसे बुद्धिको छुड़ाये बिना ब्रह्म-प्राप्ति नहीं होती (गीता २. ४५; ७. २८;

§ § नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

[गीतार. प्र. ९, पृष्ठ २२६ और २४५–२४७)। अब अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिसे इसी अर्थको व्यक्तकर दिखलाते हैं :-]

(१६) जो नहीं (असत्) है, वह होही नहीं सकता; और जो है (सत्), उसका अभाव नहीं होता; तत्त्वज्ञानी पुरुषोंने इस प्रकार 'है और नहीं है' (इन सत् और असत्) इन दोनोंका अंत देख लिया है – अर्थात् अंत देखकर उनके स्वरूपका निर्णय किया है।

[इस श्लोकके 'अन्त' शब्दका अर्थ और 'राद्धान्त', 'सिद्धान्त' एवं 'कृतान्त' शब्दोंके (गीता १८. १३) 'अन्त' शब्दका अर्थ एकही है। शाश्वत-, कोशमें (शा. ३८१) 'अन्त' शब्दके ये अर्थ हैं – "स्वरूपप्रान्तयोरन्तमन्तिकेऽपि प्रयुज्यते।" इस श्लोकमें सत्का अर्थ ब्रह्म और असत्का अर्थ नामरूपात्मक दृश्य जगत् है (गीतार. प्र. ९, पृ. २२६–२२७; और २४५–२४७) स्मरण रहे, कि "जो है, उसका अभाव नहीं होता" इत्यादि तत्त्व देखनेमे यद्यपि सत्कार्यवादके समान दीख पड़े, तोभी उसका अर्थ कुछ निराला है। जहां एक वस्तुसे दूसरी वस्तु निर्मित है – उदा., बीजसे वृक्ष – वहाँ सत्कार्यवादका तत्त्व उपयुक्त होता है। प्रस्तुत श्लोकमें इस प्रकारका प्रश्न नहीं है; वक्तव्य इतनाही है, कि सत् अर्थात् जो है, उसका अस्तित्व (भाव) और असत् अर्थात् जो नहीं है, उसका अभाव, ये दोनों नित्य याने सदैव कायम रहनेवाले हैं। इस प्रकार क्रमसे दोनोंके भाव-अभावको नित्य मान लें, तो आगे फिर आप-ही-आप कहना पड़ता है, कि जो 'सत्' है, उसका नाश होकर उसीका 'असत्' नहीं हो जाता। परंतु यह अनुमान, और सत्कार्यवादमें पहलेही ग्रहणकी हुई एक वस्तुसे दूसरी वस्तुकी कार्यकारणरूप उत्पत्ति, ये दोनों एक-सी नहीं हैं (गीतार. प्र. ७, पृ. १५६)। माध्वभाष्यमें इस श्लोकके "नासतो विद्यते भावः" इस पहले चरणके 'विद्यते भावः' का 'विद्यते + अभावः' ऐसा परिच्छेद है और उसका यह अर्थ किया है, कि असत् याने अव्यक्त-प्रकृतिका अभाव, अर्थात् नाश, नहीं होता। और जब कि दूसरे चरणमें यह कहा है, कि सत्काभी नाश नहीं होता, तब अपने द्वैती संप्रदायके अनुसार मध्वाचार्यने इस श्लोकका ऐसा अर्थ किया है. कि सत् और असत् दोनों नित्य हैं! परंतु यह अर्थ सरल नहीं है, इसमें खींचातानी है। क्योंकि स्वाभाविक रीतिसे दीख पड़ता है, कि परस्पर-विरोधी असत् और सत् शब्दोंके समानही अभाव और भाव ये दो विरोधी शब्दही इस स्थलपर प्रयुक्त हैं; एवं दूसरे चरणमें अर्थात् "नाभावो विद्यत सतः" यहाँपर

अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ १७॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ १८॥

| 'नाभावों'में यदि अभाव शब्दही लेना पड़ता है, तो प्रकट है, कि पहले चरणमें भाव शब्दही रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त यह कहनेके लिये, कि असत् और सत् ये दोनों नित्य हैं; 'अभाव' और 'विद्यते' इन पदोंके दो बार प्रयोग करनेकी कोई आवश्यकता न थी। किंतु मध्वाचार्यके कथनानुसार यदि इस द्विरुक्तिको आदरार्थक मानभी लें, तोभी आगे अठारहवें श्लोकमें स्पष्टही कहा है, कि व्यक्त या दृश्यसृष्टिमें आनेवाला मनुष्यका शरीर नाशवान् अर्थात् अनित्य है। अतएव आत्माके साथही भगवद्गीताके अनुसार, देहकोभी नित्य नहीं मान सकते; प्रकट रूपसे यह सिद्ध होता है, कि एक नित्य है और दूसरा अनित्य। पाठकोंको यह दिखलानेके लिये कि, सांप्रदायिक दृष्टिसे खींचातानी कैसे की जाती है, हमने नमूनेके ढ़ँगपर यहाँ इस श्लोकका मध्वभाष्यवाला अर्थ लिख दिया है – अस्तु; जो सत् है, वह कभी नष्ट होनेवाला नहीं, अतएव सत्स्वरूपी आत्माका शोक न करना चाहिये; और तत्त्वकी दृष्टिसे नामरूपात्मक देह आदि अथवा सुखदुःख आदि विकार मूलमेंही विनाशी हैं, इसलिये उनके नाश होनेका शोक करनाभी उचित नहीं। फलतः आरंभमें अर्जुनसे जो यह कहा है, कि "जिसका शोक न करना चाहिये, उसका तू शोक कर रहा है", वह सिद्ध हो गया। अब 'सत्' और 'असत्'के अर्थोंकोही अगले दो श्लोकोंमें औरभी स्पष्ट कर बतलाते हैं :– |

(१७) स्मरण रहे, कि यह संपूर्ण (जगत्) जिसने फैलाया अथवा व्याप्त किया है, वह (मूल आत्मस्वरूप ब्रह्म) अविनाशी है। इस अव्यक्त तत्त्वका विनाश करनेके लिये कोईभी समर्थ नहीं है।

| [पिछले श्लोकमें जिसे सत् कहा है, उसीका यह वर्णन है। यह बतलाकर, कि शरीरका स्वामी अर्थात् आत्मा इसी 'नित्य' श्रेणीमें आता है; अब यह बतलाते हैं, कि अनित्य या सत् किसे कहना चाहिये :–]

(१८) कहा है, कि जो शरीरका स्वामी (आत्मा) नित्य, अविनाशी और अचिंत्य है, उसे प्राप्त होनेवाले ये शरीर नाशवान् अर्थात् अनित्य हैं। अतएव हे भारत! तू युद्ध कर!

| [सारांश, इस प्रकार नित्य-अनित्यका विवेक करनेसे तो यह भावही झूठा होता है, कि "मैं अमुकको मारता हूँ", और युद्ध न करनेके लिये

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

| अर्जुनने जो कारण दिखलाया था, वह निर्मूल हो जाता है। इसी अर्थको अब और अधिक स्पष्ट करते हैं :–]

(१९) (शरीरके स्वामी या आत्मा) कोही जो मारनेवाला मानता है, या जो ऐसा समझता है, कि वह मारा जाता है; उन दोनोंकोभी सच्चा ज्ञान नहीं है। (क्योंकि) यह (आत्मा) न तो मारता है और न माराभी जाता है।

| [क्योंकि यह आत्मा नित्य और स्वयं अकर्ता है, सब खेल तो प्रकृतिकाही है। कठोपनिषदमें यह और अगला श्लोक आया है (कठ. २. १८, १९)। इसके अतिरिक्त महाभारतके अन्य स्थानोंमेंभी ऐसा वर्णन है, कि कालसे सब ग्रसे हुए हैं; कालकी इस क्रीडाकोही 'मारने और मरने'की लौकिक संज्ञाएँ हैं (शां. २५. १५)। गीतामेंभी (गीता ११. ३३) आगे भक्ति-मार्गकी भाषासे यही तत्त्व भगवानने अर्जुनको फिर बतलाया है, कि भीष्म-द्रोण आदिको कालस्वरूपसे मैंनेही पहले मार डाला है, तू केवल निमित्त हो जा।]

(२०) यह (आत्मा) न तो कभी जन्मता है और न मरताभी है; ऐसाभी नहीं है, कि यह (एक वार) होकर फिर होनेका नहीं; यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, एवं शरीरका वध हो जाय तोभी मारा नहीं जाता। (२१) हे पार्थ ! जिसने जान लिया, कि यह आत्मा अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय है, वह पुरुष किसीको कैसे मरवायेगा और किसीको कैसे मारेगा ? (२२) जिस प्रकार कोई मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोड़कर दूसरे नये ग्रहण करता है, उसी प्रकार देही अर्थात् शरीरका स्वामी आत्मा पुराने शरीर त्यागकर दूसरे नये शरीर धारण करता है। (२३) इसे अर्थात् आत्माको शस्त्र काट नहीं सकते; इसे आग जला नहीं सकती; वैसेही इसे पानी भिगा या गला नहीं सकता और वायु सुखाभी नहीं सकती है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥

§§ अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि॥ २६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७॥

[वस्त्रकी यह उपमा प्रचलित है। महाभारतमें एक स्थानपर, एक घर (शाला) छोड़कर दूसरे घरमें जानेका दृष्टान्त पाया जाता है (शां. १५, १६); और एक अमेरिकन ग्रंथकारने यही कल्पना पुस्तकको नई जिल्द बाँधनेका दृष्टान्त देकर व्यक्त की है। पिछले तेरहवें श्लोकमें बालपन, जवानी और बुढ़ापा, इन तीन अवस्थाओंको जो न्याय उपयुक्त किया गया है, वही अब सब शरीरके विषयमें किया गया है।]

(२४) (कभीभी) न कटनेवाला, न जलनेवाला, न भीगनेवाला और न सूखनेवाला यह (आत्मा) नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन अर्थात् चिरंतन है। (२५) इस आत्माकोही, अव्यक्त अर्थात् जो इंद्रियोंको गोचर न होनेवाला, अचिंत्य अर्थात् जो मनसेभी जाना नहीं जा सकता और अविकार्य अर्थात् जिसे किसीभी विकारकी उपाधि नहीं है, कहते हैं। इसलिये उसे (आत्माको) इस प्रकारका समझकर उसका शोक करना तुझे उचित नहीं है।

[यह वर्णन उपनिषदोंसे लिया है। यह वर्णन निर्गुण आत्माका है, सगुणका नहीं। क्योंकि अविकार्य या अचिंत्य विशेषण सगुणको लग नहीं सकते (गीतारहस्य प्र. ९ देखो)। आत्माके विषयमें वेदान्तशास्त्रका जो अंतिम सिद्धान्त है, उसके आधारसे शोक न करनेके लिये यह उपपत्ति बतलाई गई है। अब कदाचित् कोई ऐसा पूर्वपक्ष करे, कि हम आत्माको नित्य नहीं समझते, इसलिये तुम्हारी उपपत्ति हमें ग्राह्य नहीं; तो इस पूर्वपक्षका प्रथम उल्लेख करके भगवान् उसका यह उत्तर देते हैं कि :–]

(२६) अथवा, यदि तू ऐसा मानता हो, कि यह आत्मा (नित्य नहीं, शरीरके साथही) सदा जन्मता या सदा मरता है, तोभी हे महाबाहु ! उसका शोक करना तुझे उचित नहीं। (२७) क्योंकि जो जन्मता है, उसकी मृत्यु निश्चित

§ § अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥

§ § आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

है, और जो मरता है, उसका जन्म निश्चित है; इसलिये (इस) अपरिहार्य बातका (ऊपर उल्लिखित तेरे मतके अनुसारभी) शोक करना तुझको उचित नहीं।

[स्मरण रहे, कि ऊपरके दो श्लोकोंमें बतलाई हुई उपपत्ति सिद्धान्त-पक्षकी नहीं है; यह 'अथ च = अथवा' शब्दसे बीचमेंही उपस्थित किये हुए पूर्व पक्षका उत्तर है। आत्माको नित्य मानो चाहे अनित्य; दिखलाना इतनाही है, कि दोनोंभी पक्षोंमें शोक करनेका प्रयोजन नहीं है। गीताका यह सच्चा सिद्धान्त पहलेही बतला चुके हैं, कि आत्मा सत्, नित्य, अज, अविकाय और अचिंत्य या निर्गुण है। अस्तु; देह अनित्य है, अतएव शोक करना उचित नहीं; इसीका, सांख्यशास्त्रके अनुसार, दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं –]

(२८) सब भूत आरंभमें अव्यक्त, मध्यमें व्यक्त और मरणसमयमें फिर अव्यक्त होते हैं; (ऐसी यदि सभीकी स्थिति है) तो हे भारत! उसमें शोक किस बात का?

['अव्यक्त' शब्दकाही अर्थ है :– "इंद्रियोंको गोचर न होनेवाला"। मूल एक अव्यक्त द्रव्यसेही आगे क्रमक्रमसे समस्त व्यक्त सृष्टि निर्मित होती है; और अंतमें अर्थात् प्रलय-कालमें सब व्यक्त सृष्टिका फिर अव्यक्तमेंही लय हो जाता है (गीता ८. १८); इस सांख्य-सिद्धान्तका अनुसरण कर, इस श्लोककी दलीलें हैं। सांख्य-मतवालोंके इस सिद्धान्तका स्पष्टीकरण गीतारहस्यके सातवें और आठवें प्रकरणमें किया गया है। किसीभी पदार्थकी व्यक्त स्थिति यदि इस प्रकार कभी न कभी नष्ट होनेवाली है, तो जो व्यक्त स्वरूप निसर्गसेही नाशवान् है, उसके विषयमें शोक करनेकी कोई आवश्यकताही नहीं। यही श्लोक 'अव्यक्त'के बदले 'अभाव' शब्दसे संयुक्त होकर महाभारतके स्त्रीपर्वमें (मभा. स्त्री. २. ६) आया है। और आगे "अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः। न ते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना।" (स्त्री २. १३) इस श्लोकमें 'अदर्शन' अर्थात् "नजरसे दूर हो जाना" इस शब्दकाभी मृत्युको उद्देश्यकर उपयोग किया गया है। सांख्य और वेदान्त, दोनों शास्त्रोंके अनुसार शोक करना यदि व्यर्थ सिद्ध होता है, और आत्मा-को अनित्य माननेसेभी यदि यही बात सिद्ध होती है, तो फिर लोग मृत्युके विषयमें शोक क्यों करते हैं? आत्मस्वरूपसंबंधी अज्ञानही इसका उत्तर है। क्योंकि –]

(२९) कोई तो मानो आश्चर्य (अद्भुत वस्तु) समझकर इसकी ओर

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ ३०॥

देखता है, कोई आश्चर्यसरीखा इसका वर्णन करता है; और कोई मानो आश्चर्य समझकर सुनता है। परंतु (इस प्रकार देखकर अन्य वर्णन और) सुनकरभी (इनमेंसे), कोई इसे (तत्त्वत:) नहीं जानता है।

[अपूर्व वस्तु समझकर बड़े-बड़े लोग आश्चर्यसे आत्माके विषयमें कितनाही विचार क्यों न करें, पर उसके सच्चे स्वरूपको जाननेवाले लोग बहुतही थोड़े हैं, इसीसे बहुतेरे लोग मृत्युके विषयमें शोक किया करते हैं। इससे तू ऐसा न करके, पूर्ण विचारसे आत्मस्वरूपको यथार्थ रीतिपर समझ ले और शोक करना छोड़दे यही इसका अर्थ है। कठोपनिषद (कठ. २. ७)में इसी ढगका आत्माका वर्णन है।]

(३०) सबके शरीरमें (रहनेवाला) शरीरका स्वामी (आत्मा) सर्वदा अवध्य अर्थात् कभीभी वध न किया जानेवाला है; अतएव हे भारत (अर्जुन)! सब अर्थात् किसीभी प्राणीके विषयमें शोक करना तुझे उचित नहीं है।

[अबतक यह सिद्ध किया गया, कि सांख्य या संन्यास-मार्गके तत्त्वज्ञानानुसार आत्मा अमर है और देह तो स्वभावसेही अनित्य है, इस कारण कोई मरे या मारे, उसमें 'शोक' करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, परंतु यदि कोई इससे यह अनुमान कर ले, कि कोई किसीको मारे तो उसमेंभी 'पाप' नहीं, तो वह भयंकर भूल होगी। मरना या मारना, इन दो शब्दोंके अर्थोंका यह पृथक्करण है, मरने या मारनेमें जो डर लगता है, उसे पहले दूर करनेके लियेही यह ज्ञान बतलाया है। मनुष्य तो आत्मा और देहका समुच्चय है। इनमें आत्मा अमर है, इसलिये मरना या मारना ये दोनों शब्द उसे उपयुक्त नहीं होते। बाकी रह गई देह; वहभी स्वभावसेही अनित्य है, इसलिये यदि उसका नाश हो जाय, तो शोक करने योग्य कुछ है नहीं। परंतु यदृच्छा या कालकी गतिसे कोई मर जाय, या किसीको कोई मार डाले, तो उसका सुख-दु:ख न मानकर शोक करना छोड़ दें; तोभी इस प्रश्नका निपटारा नहीं हो जाता, कि युद्ध जैसा घोर कर्म करनेके लिये, जानबूझकर, प्रवृत्त होकर लोगोंके शरीरोंका नाश हम क्यों करें? क्योंकि, देह यद्यपि अनित्य है, तथापि आत्माका पक्का कल्याण या मोक्ष संपादन कर देनेके लिये देहही तो एकमात्र साधन है, अतएव आत्महत्या करना अथवा विना योग्य कारणोंके किसी दूसरेको मार डालना, ये दोनों शास्त्रानुसार घोर पातकही हैं। इसलिये मरे हुएका शोक करना यद्यपि उचित नही है, तोभी इसका कुछ-न-कुछ प्रबल कारण बतलाना आवश्यक है, कि एक दूसरेको क्यों मारे। इसीका नाम

§ § स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ ३१ ॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ ३३ ॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ ३४ ॥

| धर्माधर्म-विवेक है और गीताका वास्तविक प्रतिपाद्य विषयभी यही है। इसीसे
| जो चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था सांख्य-मार्गकोभी संमत है, उसके अनुसारभी अब प्रथम
| युद्ध करना क्षत्रियोंका कर्तव्य है, इसलिये भगवान् कहते हैं, कि तू मरने-
| मारनेका शोक मत कर; इतनाही नहीं, बल्कि लड़ाईमें मरना या मार डालना,
| ये दोनों बातें क्षत्रियधर्मके अनुसार तुझको आवश्यकही हैं –]

(३१) इसके सिवा स्वधर्मकी ओर देखें, तोभी (इस समय) हिंमत हारना तुझे उचित नहीं है। क्योंकि धर्मोचित युद्धकी अपेक्षा क्षत्रियको श्रेयस्कर और कुछ हैही नहीं।

| [स्वधर्मकी यह उपपत्ति आगेभी दो बार (गीता ३. ३५; १८.४७)
| बतलाई गई है। संन्यास अथवा सांख्य-मार्गके अनुसार यद्यपि कर्मसंन्यासरूपी
| चतुर्थ आश्रम अंतकी सीढ़ी है, तोभी मनु आदि सभी स्मृति-कर्ताओंका कथन
| है, कि उसके पहले चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्थाके अनुसार ब्राह्मणको ब्राह्मण-धर्म और
| क्षत्रियको क्षत्रिय-धर्मका पालन कर गृहस्थाश्रम पूरा करना चाहिये, अतएव
| इस श्लोकका और आगेके श्लोकका तात्पर्य यह है, कि गृहस्थाश्रमी अर्जुनको
| युद्ध करना आवश्यक है।]

(३२) और हे पार्थ ! यह युद्ध आपही आप खुला हुआ स्वर्गका द्वारही है; ऐसा युद्ध भाग्यवान् क्षत्रियोंहीको मिला करता है। (३३) अतएव यदि तू (अपने) धर्मके अनुकूल यह युद्ध न करेगा, तो स्वधर्म और कीर्ति खोकर पाप बटोरेगा; (३४) यही नहीं, बल्कि (सब) लोग तेरी अक्षय्य दुष्कीर्ति गाते रहेंगे ! और अपयश तो संभावित पुरुषके लिये मृत्युसेभी बढ़कर है।

| [श्रीकृष्णने यही तत्त्व उद्योगपर्वमें युधिष्ठिरकोभी बतलाया है (मभा.
| उ. ७२. २४)। वहाँ यह श्लोक है – “ कुलीनस्य च या निंदा वधो वाऽमित्र-
| कर्षणम्। महागुणो वधो राजन् न तु निंदा कुजीविका।। ” परंतु गीतामें उसकी

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

| अपेक्षा यह अर्थ संक्षेपमें है; और गीता-ग्रंथका प्रचारभी अधिक है, इस कारण
| गीताके 'संभावितस्य०' इत्यादि वाक्यका कहावतका-सा उपयोग होने लगा है।
| गीताके और बहुतेरे श्लोकभी इसीके समान सर्वसाधारण लोगोंमें प्रचलित हो
| गये हैं। अब दुष्कीर्तिका स्वरूप बतलाते हैं –]

(३५) (सब) महारथी समझेंगे, कि तू डरकर रणसे भाग गया; और जिन्हें (आज) तू बहुमान्य हो रहा है, वेही तेरी योग्यता कम समझने लगेंगे। (३६) ऐसेही तेरी सामर्थ्यकी निंदा कर, तेरे शत्रु ऐसी ऐसी अनेक बातें (तेरे विषयमें) कहेंगे, जो न कहनी चाहिये। इससे अधिक दुःखकारक और हैही क्या? (३७) मर जायगा, तो स्वर्गको जावेगा, और जीतेगा तो पृथ्वी (का राज्य) भोगेगा! इसलिये हे अर्जुन! युद्धका निश्चय करके उठ!

| [उल्लिखित विवेचनसे न केवल यही सिद्ध हुआ, कि सांख्य-ज्ञानके
| अनुसार मरने-मारनेका शोक न करना चाहिये, प्रत्युत यहभी सिद्ध हो गया,
| कि स्वधर्मके अनुसार युद्ध करनाही कर्तव्य है। तोभी अब इस शंकाका उत्तर
| दिया जाता है, कि लड़ाईमें होनेवाली हत्याका 'पाप' कर्ताको लगता है या
| नहीं। वास्तवमें इस उत्तरकी युक्तियाँ कर्मयोग-मार्गकी हैं, इसलिये उस मार्गकी
| प्रस्तावना यहीं हुई है।]

(३८) सुख-दुःख, लाभ-नुकसान और जय-पराजयको एकसा मानकर फिर युद्धमें लग जा। ऐसा करनेसे तुझे (कोईभी) पाप लगनेका नहीं।

| [संसारमें आयु बितानेके दो मार्ग हैं – एक सांख्य और दूसरा योग।
| इनमेंसे जिस सांख्य अथवा संन्यास-मार्गके आचारको ध्यानमें लाकर अर्जुन
| युद्ध छोड़ भिक्षा माँगनेके लिये तैयार हुआ था, उस संन्यास-मार्गके तत्त्वज्ञाना-
| नुसारही आत्माका या देहका शोक करना उचित नहीं है। भगवानने अर्जुनको
| सिद्ध कर दिखलाया है, कि सुख और दुःखोंको सम-बुद्धिसे सह लेना चाहिये,

§§ एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥
§§ नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

[एवं स्वधर्मकी ओर ध्यान देकर युद्ध करनाही क्षत्रियको उचित है, तथा समबुद्धिसे युद्ध करनेमें कोईभी पाप नहीं लगता। परंतु इस मार्गका (सांख्य) मत है, कि कभी-न-कभी संसार छोड़कर संन्यास ले लेनाही प्रत्येक मनुष्यका इस जगतमें परम कर्तव्य है, इसलिये इष्ट जान पड़े तो अभीही युद्ध छोड़कर संन्यास क्यों न ले लें; अथवा स्वधर्मपालनही क्यों करें ? इत्यादि शंकाओंका निवारण सांख्य-ज्ञानसे नहीं होता; और इसीसे यह कह सकते हैं, कि अर्जुनका मूल आक्षेप ज्यों का त्यों बना रहता है। अतएव अब भगवान् कहते हैं –]

(३९) सांख्य अर्थात् संन्यास-निष्ठाके अनुसार तुझे यह बुद्धि अर्थात् ज्ञान या उपपत्ति बतलाई। अब जिस बुद्धिसे युक्त होनेपर (कर्मोंके न छोड़ने परभी) हे पार्थ ! तू कर्मबंध छोड़ेगा, ऐसी यह (कर्म)-योगकी बुद्धि अर्थात् ज्ञान (तुझे बतलाता हूँ) सुन !

[भगवद्गीताका रहस्य समझनेके लिये यह श्लोक अत्यंत महत्त्वका है। सांख्य शब्दसे कपिलका सांख्य या निरा वेदान्त, और योग शब्दसे पातंजलयोग यहाँपर उद्दिष्ट नहीं है; सांख्यसे संन्यास-मार्ग और योगसे कर्म-मार्गहीका अर्थ यहाँपर लेना चाहिये। गीताके (३.३) श्लोकसे प्रकट यह है, कि ये दोनों मार्गस्वतंत्र हैं, इनके अनुयायियोंकोभी क्रमसे 'सांख्य' – संन्यास-मार्गी, और 'योग' कर्मयोग-मार्गी कहते हैं (गीता ५.५.)। इनमेंसे सांख्य-निष्ठावाले लोग कभी-न-कभी अंतमें कर्मोंको सर्वथा छोड़ देनाही श्रेष्ठ मानते हैं; इसलिये इस मार्गके तत्त्वज्ञानसे अर्जुनकी इस शंकाका पूरा पूरा समाधान नहीं होता, कि "युद्ध क्यों करूँ ?" अतएव जिस कर्मयोग-निष्ठाका ऐसा मत है, कि संन्यास न लेकर ज्ञानप्राप्तिके पश्चातभी निष्काम बुद्धिसे सदैव कर्म करते रहनाही प्रत्येकका सच्चा पुरुषार्थ है, उसी कर्मयोगका, अथवा संक्षेपमें योग-मार्गका, ज्ञान बतलाना अब आरंभ किया गया है; और गीताके अंतिम अध्याय तक, अनेक कारण दिखलाते हुए, अनेक शंकाओंका निवारण कर, इसी मार्गका, पुष्टीकरण किया गया है। गीताके विषय-निरूपणका, स्वयं भगवानका किया हुआ, यह स्पष्टीकरण ध्यानमें रखनेसे इस विषयमें कोई शंका रह नहीं जाती, कि कर्मयोगही गीतामें प्रतिपाद्य है। कर्मयोगके मुख्य मुख्य सिद्धान्तोंका पहले निर्देश करते हैं –]

(४०) यहाँ अर्थात् इस कर्मयोग-मार्गमें (एक वार) आरंभ किये हुए

§ § व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

कर्मका नाश नहीं होता और (आगे) विघ्नभी नहीं होते । इस धर्मका थोड़ा-साभी (आचरण) बड़े भयसे संरक्षण करता है ।

[इस सिद्धान्तका महत्त्व गीतारहस्यके दसवें प्रकरणमें (पृष्ठ २८६) दिखलाया गया है; और अधिक स्पष्टीकरण आगे गीतामेंभी किया गया है (गीता ६. ४०–४६)। इसका यह अर्थ है, कि कर्मयोग-मार्गमें यदि एक जन्ममें सिद्धि न मिले, तो किया हुआ कर्म व्यर्थ न जाकर अगले जन्ममें उपयोगी होता है; और प्रत्येक जन्ममें इसकी बढ़ती होती है, एवं अंतमें कभी-न-कभी सच्ची सद्गति मिलतीही है । अब कर्म-योगमार्गका दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त बतलाते हैं –]

(४१) हे कुरुनंदन, इस मार्गमें व्यवसाय-बुद्धि अर्थात् कार्य और अकार्यका निश्चय करनेवाली (इंद्रियरूपी) बुद्धि एक अर्थात् एकाग्र रखनी पड़ती है; क्योंकि जिनकी बुद्धिका (इस प्रकार एक) निश्चय नहीं होता, उनकी बुद्धि अर्थात् वासनाएँ अनेक शाखाओंसे युक्त और अनंत (प्रकारकी) होती हैं ।

[संस्कृतमें बुद्धि शब्दके अनेक अर्थ हैं । ३९ वें श्लोकमें यह शब्द-ज्ञानके अर्थमें आया है; और आगे ४९ वें श्लोकमें इस 'बुद्धि' शब्दकाही " समझ, इच्छा, वासना, या हेतु " अर्थ है । परंतु बुद्धि शब्दके पीछे 'व्यवसायात्मिका' विशेषण है, इसलिये इस श्लोकके पूर्वार्धमें उसी शब्दका अर्थ यों होता है – व्यवसाय अर्थात् कार्य-अकार्यका निश्चय करनेवाली बुद्धि-इंद्रिय (गीतार. प्र. ६, १३४–१३९)। पहले इस बुद्धि-इंद्रियसे किसीभी बातका भला-बुरा विचार कर लेने पर फिर तदनुसार कर्म करनेकी इच्छा या वासना मनमें हुआ करती है, अतएव इस इच्छा या वासनाकोभी बुद्धिही कहते हैं; परंतु उस समय 'व्यवसायात्मिका' यह विशेषण उसके पीछे नहीं लगाते । भेद दिखलाना आवश्यकही हो, तो 'वासनात्मक' बुद्धि कहते हैं । इस श्लोकके दूसरे चरणमें सिर्फ़ 'बुद्धि' शब्द है, उसके पीछे 'व्यवसायात्मका' यह विशेषण नहीं है, इसलिये बहुवचनान्त 'बुद्धयः'से ' वासना, कल्पनातरंग ' अर्थ होकर पूरे श्लोकका यह अर्थ होता है, कि " जिसकी व्यवसायात्मका बुद्धि अर्थात् निश्चय करनेवाली बुद्धि-इंद्रिय स्थिर नहीं होती, उनके मनमें क्षण-क्षण में नई तरंगें या वासनाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं । " बुद्धि शब्दके ' निश्चय करनेवाली इंद्रिय ' या 'वासना' इन दोनों अर्थोंको ध्यानमें रखे बिना कर्मयोगकी बुद्धिके विवेचनका मर्म भली भाँति समझमें आनेका नहीं । व्यवसायात्मका बुद्धिके स्थिर या एकाग्र न रहनेसे प्रतिदिन भिन्न भिन्न

§§ यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥

वासनाओंसे मन व्यग्र हो जाता है; और मनुष्य ऐसी अनेक झंझटोंमें पड़ जाता है, कि आज पुत्रप्राप्तिके लिये अमुक कर्म करो, तो कल स्वर्गकी प्राप्तिके लिये अमुक कर्म करो। बस इसीका वर्णन अब करते हैं :–)

(४२) हे पार्थ ! (कर्मकांडात्मक वेदोंके (फलश्रुति-युक्त) वाक्योंमें भूले हुए और यह कहनेवाले मूढ़ लोग कि, उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, बढ़ा कर कहा करते हैं, कि – (४३) "अनेक प्रकारके (यज्ञ-याग आदि) कर्मोंसेही (फिर) जन्मरूप फल मिलता है, और (जन्म-जन्मान्तरमें) भोग तथा ऐश्वर्य मिलता है ;" – स्वर्गके पीछे पड़े हुए वे काम्य-बुद्धिवाले (लोग), (४४) उल्लिखित भाषणकी ओरही उनके मन आकर्षित हो जानेसे, भोग और ऐश्वर्यमेंही गर्क रहते हैं; इस कारण उनकी व्यवसायात्मका अर्थात् कार्य-अकार्यका निश्चय करनेवाली बुद्धि (कभीभी)- समाधिस्थ अर्थात् एक स्थानमें स्थिर नहीं रह सकती।

[ऊपरके तीनों श्लोकोंका मिलकर एकही वाक्य है; उसमें उन ज्ञान-विरहित कर्मठ मीमांसा-मार्गवालोंका वर्णन है, जो श्रौत-स्मार्त कर्मकांडके अनुसार आज अमुक हेतुकी सिद्धिके लिये, तो कल और किसी हेतुसे, सदैव स्वार्थके लियेही, यज्ञ-याग आदि कर्म करनेमें निमग्न रहते हैं। यह वर्णन उपनिषदोंके आधारपर किया गया है – उदाहरणार्थ, मुंडकोपनिषदमें कहा है –

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥

"इष्टापूर्तही श्रेष्ठ है, दूसरा कुछभी श्रेष्ठ नहीं – यह माननेवाले मूढ़ लोग स्वर्गमें पुण्यका उपभोग कर चुकनेपर फिर नीचेके इस मनुष्य-लोकमें आते हैं" (मुंड. १. २. १०)। ज्ञानविरहित कर्मोंकी इसी ढंगकी निंदा ईशावास्य और कठ उपनिषदोंमेंभी की गयी है (कठ. २. ५; ईश. ९. १२)। परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त न करके केवल कर्मोंमेंही फसे रहनेवाले इन लोगोंको (गीता ९. २१) अपने अपने कर्मोंके स्वर्ग आदि फल मिलते तो हैं, पर उनकी वासना आज एक कर्ममें, तो कल किसी दूसरेही कर्ममें रत होकर चारों ओर घुड़-

§ § त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

| दौड़सी मचाये रहती है, इस कारण उन्हें स्वर्गका आवागमन नसीब हो जाने
| परभी मोक्ष नहीं मिलता। मोक्षकी प्राप्तिके लिये बुद्धि-इंद्रियको स्थिर या एकाग्र
| रखना चाहिये। आगे छठे अध्यायमें विचार किया गया है, कि उसको एकाग्र
| किस प्रकार करना चाहिये। अभी तो इतनाही कहते हैं कि –]

(४५) हे अर्जुन! (कर्मकांडात्मक) वेद (इस रीतिसे) त्रैगुण्यकी बातोंसे भरे पड़े हैं, इसलिये तू निस्त्रैगुण्य अर्थात् त्रिगुणोंसे अतीत, नित्यसत्त्वस्थ और सुखदुःख आदि द्वंद्वोंसे अलिप्त हो, एवं योगक्षेम आदि स्वार्थोंमें न पड़कर आत्मनिष्ठ हो!

| [सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंसे मिश्रित प्रकृतिकी सृष्टिको
| त्रैगुण्य कहते हैं। यह बात गीतारहस्य (पृ. २३१–२५७)में स्पष्ट कर दिखलाई
| गई है, कि सृष्टि, सुख-दुख आदि अथवा जन्म-मरण आदि विनाशवान् द्वंद्वोंसे भरी
| हुई है; और सत्य ब्रह्म उसके परे है। इसी अध्यायके ४३ वें श्लोकमें, कहा है,
| कि प्रकृतिके अर्थात् मायाके इस संसारके सुखोंकी प्राप्तिके लिये मीमांसक-
| मार्गवाले लोग श्रौत, यज्ञ-याग आदि क्रिया करते हैं; और वे इन्हींमें निमग्न
| रहा करते हैं। कोई पुत्र-प्राप्तिके लिये एक विशेष यज्ञ करता है, तो कोई पानी
| बरसानेके लिये दूसरी इष्टि करता है। ये सब कर्म इस लोगमें संसारी व्यवहारोंके
| लिये अर्थात् अपने योगक्षेमके लिये हैं। अतएव प्रकटही है, कि जिसे मोक्ष प्राप्त
| करना हो, वह वैदिक कर्मकांडके इन त्रिगुणात्मक और निरे योगक्षेम संपादन
| करनेवाले कर्मोंको छोड़कर, अपना चित्त इसके परेके परब्रह्मकी ओर लगावे।
| इसी अर्थमें 'निर्द्वन्द्व' और 'निर्योगक्षेम' – शब्द ऊपर आये हैं। यहाँ ऐसी शंका
| हो सकती है, कि वैदिक कर्मकांडके इन काम्य कर्मोंको छोड़ देनेसे योग-क्षेम
| (निर्वाह) कैसे होगा (गीतार. पृ. २९२–३९१)। किंतु इसका उत्तर यहाँ
| नहीं दिया है, यह विषय आगे फिर नवें अध्यायमें आया है; वहाँ कहा है,
| कि इस योग-क्षेमको भगवान् करते हैं; और इन्हीं दो स्थानोंपर, गीतामें
| 'योगक्षेम' शब्द आया है (गीता ९. ९२ और उसपर हमारी टिप्पणी देखो)।
| नित्य-सत्त्वस्थ पदकाही अर्थ त्रिगुणातीत होता है। क्योंकि आगे कहा है, कि
| सत्त्वगुणके नित्य उत्कर्षसेही फिर त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त होती है, और
| वही सच्ची सिद्धावस्था है (गीता १४. १४, २०; गीतार. पृ. १६६–१६७
| तात्पर्य यह है, कि मीमांसकोंके योगक्षेमकारक त्रिगुणात्मक काम्य कर्म
| छोड़कर एवं सुख-दुःखके द्वंद्वोंसे निपटकर ब्रह्मनिष्ठ अथवा आत्मनिष्ठ होनेके

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

विषयमें यहाँ उपदेश किया गया है। किंतु इस बातपर फिरभी ध्यान देना चाहिये, कि आत्मनिष्ठ होनेका अर्थ सब कर्मोंको स्वरूपतः एकदम छोड़ देना नहीं है। ऊपरके श्लोकमें वैदिक काम्य कर्मोंकी जो निंदा की गई है, या जो न्यूनता दिखलाई गई है, वह कर्मोंकी नहीं; बल्कि उन कर्मोंके विषयमें जो काम्य-बुद्धि होती है, उसकी है। यदि यह काम्य-बुद्धि मनमें न हो, तो निरे यज्ञयाग किसीभी प्रकारसे मोक्षके लिये प्रतिबंधक नहीं होते (गीतार. पृ. २९५–२९७)। आगे अठारहवें अध्यायके आरंभमें भगवानने अपना यह निश्चित और उत्तम मत बतलाया है, कि मीमांसकोंके इन्हीं यज्ञयाग आदि कर्मोंको फलाशा और संग छोड़कर चित्तकी शुद्धि और लोकसंग्रहके लिये अवश्य करना चाहिये (गीता १८. ६))। गीताकी इन दो स्थानोंकी बातोंको एकत्र करनेसे यह प्रकट हो जाता है, कि इस अध्यायके श्लोकमें मीमांसकोंके कर्मकांडकी जो न्यूनता दिखलाई गई है, वह उसकी काम्य-बुद्धिको उद्देश्य करके है, केवल क्रियाके लिये नहीं है। इसी अभिप्रायको मनमें लाकर भागवतमेंभी कहा है :–

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंगोऽर्पितमश्विरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥

वेदोक्त कर्मोंकी वेदमें जो फलश्रुति कही गयी है, वह रोचनार्थ है अर्थात् इसीलिये है, कि कर्ताको ये कर्म अच्छे लगें। अतएव इन कर्मोंको उस फल-प्राप्तिके लिये न करें, किंतु निःसंग-बुद्धिसे अर्थात् फलकी आशा छोड़कर ईश्वरार्पण-बुद्धिसे करें; जो पुरुष ऐसा करता है, उसे नैष्कर्म्यसे प्राप्त होनेवाली सिद्धि मिलती है" (भाग. ११. ३. ४६)। सारांश, यद्यपि, वेदोंमें कहा है, कि अमुक अमुक कारणोंके निमित्त यज्ञ करें, तथापि उसमें न भूलकर केवल इसीलिये यज्ञ करें कि वे यष्टव्य हैं। अर्थात् यज्ञ करना हमारा कर्तव्य है; काम्य-बुद्धिको तो छोड़ दें, पर यज्ञको न छोड़ें (गीता १५. ११); और उसी प्रकार अन्यान्य कर्मभी किया करें – यह गीताके उपदेशका सार है; और यही अर्थ अगले श्लोकमें व्यक्त किया गया है।]

(४६) चारों ओर पानीकी बाढ आ जाने पर कुएँका जितना अर्थ या प्रयोजन रह जाता है (अर्थात् कुछभी काम नहीं रहता), उतनाही प्रयोजन ज्ञान-प्राप्त ब्राह्मणको सब (कर्मकांडात्मक) वेदका रहता है (अर्थात् सिर्फ़ काम्य-कर्मरूपी वैदिक कर्मकांडकी उसे कुछ आवश्यकता नहीं रहती।

[इस श्लोकके फलितार्थके संबंधमें मतभेद नहीं है। पर टीकाकारोंने

इसके शब्दोंकी नाहक खींचातानी की है। 'सर्वतः सम्प्लुतोदके' यह सप्तम्यन्त सामासिक पद है। परंतु इसे निरी सप्तमी या उदपानका विशेषणभी न समझ कर 'सति सप्तमी' मान लेनेसे, "सर्वतः सम्प्लुतोदके सति उदपाने यावानर्थः (न स्वल्पमपि प्रयोजनं विद्यते) तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेषु अर्थः" इस प्रकार किसीभी बाहरके पदको अध्याहृत मानना नहीं पड़ता, सरल अन्वय लग जाता है, और उसका यह सरल अर्थभी हो जाता है, कि "चारों ओर पानीही पानी होनेपर (पीनेके लिये कहींभी बिना प्रयत्नके यथेष्ट पानी मिलने लगनेपर) जिस प्रकार कुएँको कोईभी नहीं पूछता, उसी प्रकार ज्ञान-प्राप्त पुरुषको यज्ञ-याग आदि केवल वैदिक कर्मका कुछभी उपयोग नहीं रहता।" क्योंकि, वैदिक कर्म केवल स्वर्ग-प्राप्तिके लियेही नहीं, बल्कि अंतमें मोक्षसाधक ज्ञान-प्राप्तिके लिये करना होता है; और इस पुरुषको तो ज्ञान-प्राप्ति पहलेही हो जाती है, इस कारण उसे वैदिक कर्म करके कोई नई वस्तु पानेके लिये शेष रह नहीं जाती। इसी हेतुसे, आगे तीसरे अध्यायमें (गीता ३. १७) कहा है, कि "जो ज्ञानी हो गया, उसे इस जगतमें कर्तव्य शेष नहीं रहता।" बड़े भारी तालाब या नदी पर अनायासही, जितना चाहिये उतना, निर्मल पानी पीनेकी सुविधा होनेपर कुएँकी ओर कौन झाँकेगा? ऐसे समय कोईभी कुएँकी अपेक्षा नहीं रखता। सनत्सुजातीयके अंतिम अध्यायमें (मभा. उद्योग. ४५. २६) यही श्लोक कुछ थोड़े-से शब्दोंके हेरफेरसे आया है। माधवाचार्यने इस श्लोककी टीकामें वैसाही अर्थ किया है, जैसा कि हमने ऊपर किया है; एवं शुकानुप्रश्नमें ज्ञान और कर्मके तारतम्यका विवेचन करते समय साफ़ कह दिया है – "न ते (ज्ञानिनः) कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां पिबन्निव" – नदीपर जिसे पानी मिलता है, वह जिस प्रकार कुएँकी परवाह नहीं करता उसी प्रकार 'ते' अर्थात् ज्ञानी पुरुष कर्मकी कुछ परवाह नहीं करते (मभा. शां. २४०. १०)। ऐसेही पांडव-गीताके सत्रहवें श्लोकमें कुएँका दृष्टान्त यों दिया है – जो वासुदेवको छोड़कर दूसरे देवताकी उपासना करता है, वह – "तृषितो जाह्नवीतीरे कूपं वांछति दुर्मतिः" – भागीरथी तटपर पीनेके लिये पानी मिलने परभी, कुएँ की इच्छा करनेवाले प्यासे पुरुषके समान मूर्ख है। यह दृष्टान्त केवल वैदिक ग्रंथोंमेंही नहीं है, प्रत्युत पालीके बौद्ध ग्रंथोंमेंभी उसके प्रयोग हैं। यह सिद्धान्त बौद्ध धर्मकोभी मान्य है, कि जिस पुरुषने अपनी तृष्णा समूल नष्ट कर डाली हो उसे आगे और कुछ प्राप्त करनेके लिये नहीं रह जाता; और इस सिद्धान्तको बतलाते हुए उदान नामक पाली ग्रंथके (७. ९) इस श्लोकमें यह दृष्टान्त दिया है – "किं कयिरा उदपानेन आपा चे सब्बदा सियुम" – सर्वदा पानी मिलने योग्य हो जानेसे कुएँको लेकर क्या करना है? आजकल बड़े-बड़े शहरोंमें यह देखाभी जाता है, कि घरमें नल हो जानेसे फिर कोई कुएँकी परवाह नहीं करता। इससे और विशेष कर

§ § कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

शुकानुप्रश्नके विवेचनसे गीताके दृष्टान्तका स्वारस्य ज्ञात हो जायगा; और यह दीख पड़ेगा, कि हमने इस श्लोकका ऊपर जो अर्थ किया है, वही सरल और ठीक है। परंतु, चाहे इस कारणसे हो, कि ऐसे अर्थसे वेदोंमें कुछ गौणता आ जाती है; अथवा इस सांप्रदायिक सिद्धान्तकी ओर दृष्टि देनेसे हो, कि ज्ञानमेंही समस्त कर्मोंका समावेश रहनेके कारण ज्ञानीको कर्म करनेकी जरूरत नहीं। गीताके टीकाकार इस श्लोकके पदोंका अन्वय कुछ निराले ढँगसे लगाते हैं। वे इस श्लोकके पहले चरणमें 'तावान्' और दूसरे चरणमें 'यावान्' पदोंको अध्याहृत मानकर ऐसा अर्थ लगाते हैं – "उदपाने यावानर्थः तावानेव सर्वतः सम्प्लुतोदके यथा सम्पद्यते तथा यावान् सर्वेषु वेदेषु अर्थः तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य सम्पद्यते" – अर्थात् स्नान-पान आदि कर्मोंके लिये कुएँका जितना उपयोग होता है, उतनाही बड़े तालावकाभी (सर्वतः सम्प्लुतोदके) हो सकता है; उसी प्रकार वेदोंका जितनाभी उपयोग है, उतना सब, ज्ञानी पुरुषको ज्ञानसे हो सकता है। परंतु इस अन्वयमें पहली श्लोकपंक्तिमें 'तावान्' और दूसरी पंक्तिमें 'यावान्' इन दो पदोंके अध्याहार कर लेनेकी आवश्यकता पड़नेके कारण, हमने इस अन्वय और अर्थको स्वीकृत नहीं किया। हमारा अन्वय और अर्थ किसीभी पदके, अध्याहार किये बिनाही लग जाता है; और पूर्वके श्लोकसे सिद्ध होता है, कि उसमें प्रतिपादित वेदोंके कोरे अर्थात् ज्ञानव्यतिरिक्त कर्मकांडका गौणत्वही इस स्थलपर विवक्षित है। अब ज्ञानी पुरुषको यज्ञयाग आदि कर्मोंकी कोई आवश्यकता न रह जानेसे, कुछ लोग जो यह अनुमान किया करते हैं, कि इन कर्मोंको ज्ञानी पुरुष न करे, विलकुल छोड़ दे – यह वात गीताको संमत नहीं हैं। क्योंकि, यद्यपि इन कर्मोंका फल ज्ञानी पुरुषको अभीष्ट नहीं होता, तथापि फलके लिये न सही; तोभी यज्ञयाग आदि कर्मोंको, अपना शास्त्र-विहित कर्तव्य समझकर, वह कभी छोड़ नहीं सकता – अठारहवें अध्यायमें भगवानने अपना निश्चित मत स्पष्ट कह दिया है, कि फलाशा न रहे, तोभी अन्यान्य निष्काम कर्मोंके समान यज्ञयाग आदि कर्मभी ज्ञानी पुरुषको निःसंग-बुद्धिसे करनेही चाहिये (पिछले श्लोकपर और गीता ३. १९ पर हमारी जो टिप्पणी है, उसे देखो)। यही निष्कामविषयक अर्थ अब अगले श्लोकमें व्यक्त कर दिखलाते हैं –]

(४७) कर्म करने मात्रका तेरा अधिकार है; फल (मिलना या न मिलना) कभीभी तेरे अधिकार अर्थात् तावेमें नहीं; (इसलिये मेरे कर्मका)

§ § योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

अमुक फल मिले, यह (लालची) हेतु (मनमें) रखकर काम करनेवाला न हो; और कर्म न करनेकाभी तू आग्रह न कर।

[इस श्लोकके चारों चरण परस्पर एक दूसरेके अर्थके पूरक हैं। इस कारण अतिव्याप्ति न होकर कर्मयोगका सारा रहस्य थोड़ेमें उत्तम रीतिसे बतला दिया गया है। और तो क्या, यह कहनेमेंभी कोई हानि नहीं, कि ये चारों चरण कर्मयोगकी चतुःसूत्रीही हैं। यह पहले कह दिया है, कि " कर्म करने मात्रका तेरा अधिकार है। " परंतु इसपर यह शंका होती है, कि, कर्मका फल तो कर्मसेही संयुक्त होनेके कारण " जिसका पेड़, उसीका फल " इस न्यायसे जो कर्म करनेका अधिकारी है, वही फलकाभी अधिकारी होगा। अतएव इस शंकाको दूर करनेके निमित्त दूसरे चरणमें स्पष्ट कह दिया है, कि " फलमें तेरा अधिकार नहीं है। " फिर इससे निष्पन्न होनेवाला तीसरा यह सिद्धान्त बतलाया है, कि " मनमें फलाशा रखकर कर्म करनेवाला मत हो। " ('कर्मफलहेतुः' = कर्मफले हेतुर्यस्य स कर्मफलहेतुः, ऐसा बहुव्रीहि समास होता है;), परंतु कर्म और उसका फल दोनों संलग्न होते हैं, इस कारण यदि कोई ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादन करने लगे, कि फलाशाके साथ साथ फलकोभी छोड़ही देना चाहिये, तो उसेभी सच न माननेके लिये अंतमें स्पष्ट उपदेश किया है, कि " फलाशाको तो छोड़ दे, पर इसके साथही कर्म न करनेका अर्थात् कर्म छोड़नेका आग्रह न कर। " सारांश, " कर्म कर " कहनेसे यह अर्थ तो नहीं होता कि " फलकी आशाको रख " और " फलकी आशाको छोड़ " कहनेसे यह अर्थ नहीं हो जाता कि " कर्मोंको छोड़ दे " अतएव इस श्लोकका यह अर्थ है, कि फलाशा छोड़कर कर्तव्य-कर्म अवश्य करना चाहिये; किंतु न तो कर्मकी आसक्तिमें फँसें और न कर्मही छोड़ें – " त्यागो न युक्त इह कर्मसु नापि रागः " (योग. ५. ५. ५४)। और यह दिखलाकर कि फल मिलनेकी बात अपने वशमें नहीं है; किंतु उसके लिये और अनेक बातोंकी अनुकूलता आवश्यक है; अठारहवें अध्यायमें फिर यही अर्थ औरभी दृढ किया गया है (गीता १८. १४–१६; गीतारहस्य प्र. ५, पृ. ११५; प्र. १२)। अब कर्मयोगका यह स्पष्ट लक्षण बतलाते हैं, कि इसेही योग अथवा कर्मयोग कहते हैं –]

(४८) हे धनंजय ! आसक्ति छोड़कर, और कर्मकी सिद्धि हो या असिद्धि, दोनोंको समानही मानकर, 'योगस्थ' हो करके कर्म कर; (कर्मके सिद्ध होने या निष्फल होनेमें रहनेवाली) समताकी (मनो-)वृत्तिकोही (कर्म-)योग कहते हैं।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

(४९) क्योंकि हे धनंजय! बुद्धिके (साम्य-)योगकी अपेक्षा (बाह्य) कर्म बहुतही कनिष्ठ है। अतएव इस साम्य-बुद्धिकी शरणमें जा। फलहेतुक अर्थात् फलपर दृष्टि रखकर काम करनेवाले लोग कृपण अर्थात् दीन या निचले दर्जेके हैं। (५०) जो (साम्य-)बुद्धिसे युक्त हो जाय, वह इस लोकमें पाप और पुण्य, दोनोंसे अलिप्त रहता है, अतएव योगका आश्रय कर। (पाप-पुण्यसे बचकर) कर्म करनेकी चतुराईकोही (कुशलता या युक्ति) कर्मयोग कहते हैं।

[इन श्लोकोंमें कर्मयोगका जो लक्षण बतलाया ह, वह महत्त्वका है; इस संबंधमें गीतारहस्यके तीसरे प्रकरणमें (पृ. ५६–६४) जो विवेचन किया गया है, उसे देखो। पर उसमेंभी कर्मयोगका जो तत्त्व – "कर्मकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है" – ४९ वें श्लोकमें बतलाया है, वह अत्यंत महत्त्वका है। 'बुद्धि' शब्दके पीछे 'व्यवसायात्मिका' विशेषण नहीं है, इसलिये इस श्लोकमें उसका अर्थ 'वासना' या 'समझ' होना चाहिये। कुछ लोग बुद्धिका अर्थ 'ज्ञान' करके इस श्लोकका ऐसा अर्थ करना चाहते हैं, कि ज्ञानीकी अपेक्षा कर्म हलके दर्जेका है; परंतु यह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि, पीछे ४८ वें श्लोकमें समत्वका लक्षण बतलाया है, और ४९ वें तथा अगले श्लोकमेंभी वही वर्णित है, इस कारण यहाँ बुद्धिका अर्थ समत्व-बुद्धिही करना चाहिये। किसीभी कर्मकी भलाई-बुराई कर्मपर अवलंबित नहीं होती; कर्म एकही क्यों न हो, पर करनेवालेकी भली वा बुरी बुद्धिके अनुसार वह शुभ अथवा अशुभ हुआ करता है; अतः कर्मकी अपेक्षा बुद्धिही श्रेष्ठ है; इत्यादि नीतिके तत्त्वोंका विचार गीतारहस्यके चौथे, बारहवें और पंद्रहवें प्रकरणमें (पृ. ८८, ३८३–३८४; ४७७–४८०) किया गया है; इस कारण यहाँ और अधिक चर्चा नहीं करते। ४१ वें श्लोकमें बतलायाही है, कि वासनात्मक बुद्धिको सम और शुद्ध रखनेके लिये कार्य-अकार्यका निर्णय करनेवाली व्यवसायात्मका बुद्धि पहले स्थिर हो जानी चाहिये। इसलिये 'साम्य-बुद्धि' – इस शब्दसेही स्थिर व्यवसायात्मका बुद्धि, और शुद्ध वासना (वासनात्मक बुद्धि) इन दोनोंकाभी बोध हो जाता है। यह साम्य-बुद्धिही, शुद्ध आचरण अथवा कर्मयोगकी जड़ है, इसलिये ३९ वें श्लोकमें भगवानने पहले जो यह कहा है, कि कर्म करनेकीभी कर्मकी बाधा न लगनेवाली युक्ति अथवा योग तुझे बतलाता हूँ; उसीके अनुसार इस श्लोकमें कहा है, कि "कर्म करते समय बुद्धिको

§§ कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

स्थिर, पवित्र, सम और शुद्ध रखनाही " वह 'युक्ति' या 'कौशल्य' है, और इसीको 'योग' कहते हैं – इस प्रकार योग शब्दकी दो बार व्याख्या की गई है। ५० वें श्लोकके " योगः कर्मसु कौशलम् " इस पदका इस प्रकार सरल अर्थ लगनेपरभी, कुछ लोगोंने ऐसी खींचातानीसे अर्थ लगानेका प्रयत्न किया है, कि " कर्मसु योगः कौशलम् " – कर्ममें जो योग है, उसको कौशल कहते हैं। पर 'कौशल' शब्दकी व्याख्या करनेका यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है, 'योग' शब्दका लक्षण बतलानाही अभीष्ट है, इसलिये यह अर्थ सच्चा नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त जब कि " कर्मसु कौशलम् " ऐसा सरल अन्वय लग सकता है, तब 'कर्मसुयोगः' ऐसा औंधासीधा अन्वय करनाभी ठीक नहीं है। अब बतलाते हैं, कि इस प्रकार साम्य-बुद्धिसे समस्त कर्म करते रहनेसे व्यवहारका लोप नहीं होता और पूर्ण सिद्धि अथवा मोक्ष प्राप्त हुए बिना नहीं रहता –]

(५१) (समत्व-) बुद्धिसे युक्त (जो) ज्ञानी पुरुष कर्मफलका त्याग करते हैं, (वे) जन्मके बंधसे मुक्त होकर (परमेश्वरके) दुःखविरहित पदको जा पहुँचते हैं। (५२) जब तेरी बुद्धि मोहके गँदले आवरणसे पार हो जायगी, तब उन बातोंसे तू विरक्त हो जायगा, जो सुनी हैं और सुननेकी हैं।

[अर्थात् तुझे अधिक कुछ सुननेकी इच्छा न होगी। क्योंकि इन बातोंके सुननेसे मिलनेवाला फल तुझे पहलेही प्राप्त हो चुका होगा। 'निर्वेद' शब्दका उपयोग प्रायः संसारी प्रपंचसे उकताहट या वैराग्यके लिये किया जाता है। इस श्लोकमें उसका सामान्य अर्थ ' ऊब जाना ' या ' चाह न रहना 'ही है। अगले श्लोकसे दीख पड़ेगा, कि यह उकताहट, विशेष करके पीछे बतलाये हुए, त्रैगुण्य-विषयक श्रौत-कर्मोंके संबंधमें है।]

(५३) (नाना प्रकारके) वेदवाक्योंसे घबड़ाई हुई तेरी बुद्धि जब समाधिवृत्तिमें स्थिर और निश्चल होगी, तब (यह साम्य-बुद्धिरूप) योग तुझे प्राप्त होगा।

[सारांश, द्वितीय अध्यायके ४४ वें श्लोकके कथनानुसार, लोग जो वेद-वाक्यकी फलश्रुतिमें भूले हुए हैं, और जो लोग किसी विशेष फलकी प्राप्तिके

अर्जुन उवाच ।

§§ **स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।**
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

| लिये कुछ-न-कुछ कर्म करनेकी धुनमें लगे रहते हैं, उनकी बुद्धि स्थिर नहीं होती – औरभी अधिक गड़बड़ा जाती है। इसलिये अनेक उपदेशोंका सुनना छोड कर चित्तको निश्चल समाधि-अवस्थामें रख; ऐसा करनेसे साम्य-बुद्धिरूप कर्मयोग तुझे प्राप्त होगा और अधिक उपदेशकी जरूरत न रहेगी, एवं कर्म करनेपरभी तुझे उनका पाप न लगेगा। इस रीतिसे जिस कर्मयोगीकी बुद्धि या प्रज्ञा स्थिर हो जाय, उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। अब अर्जुनका प्रश्न है, कि उसका व्यवहार कैसा होता है।]

अर्जुनने कहा – (५४) हे केशव ! (मुझे बतलाओ कि) समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ किसे कहें ? उस स्थितप्रज्ञका बोलना, बैठना, और चलना कैसा रहता है ?

| [इस श्लोकमें 'भाषा' शब्द 'लक्षण'के अर्थमें प्रयुक्त है और हमने उसका भाषांतर, उसकी भाषा धातुके अनुसार 'किसे कहें' किया है। गीतारहस्यके बारहवें प्रकरणमें (पृ. ३६८–३६९) स्पष्ट कर दिया है, कि स्थितप्रज्ञका बर्ताव कर्मयोगशास्त्रका आधार है; और उससे अगले वर्णनका महत्त्व ज्ञात हो जायगा।]

श्रीभगवानने कहा :– (५५) हे पार्थ ! (जब कोई मनुष्य अपने) मनके समस्त काम अर्थात् वासनाओंको छोड़ता है; और अपने आपमेंही संतुष्ट होकर रहता है, तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। (५६) दुःखमें जिसके मनको खेद नहीं होता, सुखमें जिसकी आसक्ति नहीं; और प्रीति, भय एवं क्रोध जिसके छूट गये हैं, उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं। (५७) सब बातोंमें जिसका मन निःसंग हो गया; और यथाप्राप्त शुभ-अशुभका जिसे आनंद या विषादभी नहीं; (कहना चाहिये

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

कि) उसकी बुद्धि स्थिर हुई । (५८) जिस प्रकार कछुवा अपने (हाथ-पैर आदि) अवयव सब ओरसे सिकोड लेता है, उसी प्रकार जव कोई पुरुष इंद्रियोंके (शब्द, स्पर्श आदि) विषयोंसे (अपनी) इंद्रियोंको खींच लेता है, तव (कहना चाहिये कि) उसकी बुद्धि स्थिर हुई । (५९) निराहारी पुरुषके विषय छूट जावें, तोभी (उनका) रस अर्थात् चाह नहीं छूटती । परंतु परब्रह्मका अनुभव होनेपर (सब विषय और उनकी) चाहभी छूट जाती है—अर्थात् विषय और उनकी चाह, दोनों छूट जाते हैं ।

[अन्नसे इंद्रियोंका पोषण होता है । अतएव निराहार या उपवास करनेसे इंद्रियाँ अशक्त होकर अपने विषयोंका सेवन करनेमें असमर्थ हो जाती हैं । पर इस रीतिसे विषयोपभोगका छूटना केवल जबर्दस्तीकी, अशक्तताकी बाह्य क्रिया हुई । उससे मनकी विषयवासना (रस) कुछ कम नहीं होता, इसलिये वह वासना जिससे नष्ट हो, उस ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति करनी चाहिये । इस प्रकार ब्रह्मका अनुभव हो जानेपर मन एवं उसके साथही साथ इंद्रियाँभी आप-ही-आप तावेमें रहती है; इंद्रियोंको तावेमें रखनेके लिये निराहार आदि उपाय आवश्यक नहीं हैं; यही इस श्लोकका भावार्थ है । और यही अर्थ आगे छठे अध्यायके इस श्लोकमें स्पष्टतासे वर्णित है (गीता ६. १६, १७; ३. ६, ७), कि योगीका आहार नियमित रहे, आहार-विहार आदिको वह बिलकुलही न छोड़ दे । सारांश, गीताका यह सिद्धान्त ध्यानमें रखना चाहिये, कि शरीरको कृश करनेवाले निराहार आदि साधन एकांगी हैं, अतएव वे त्याज्य हैं, नियमित आहारविहार और ब्रह्मज्ञानही इंद्रियनिग्रहका उत्तम साधन है । इस श्लोकमें रस शब्दका " जिह्वासे अनुभव किया जानेवाला मीठा, कडुवा इत्यादि रस " ऐसा अर्थ करके, कुछ लोग यह अर्थ करते हैं, कि उपवासोंसे शेष इंद्रियोंके विषय यदि छूटभी जायँ, तोभी जिह्वाका रस अर्थात् खाने-पीने-की इच्छा कम न होकर बहुत दिनोंके निराहारसे वह औरभी अधिक तीव्र हो जाती है; और, भागवतमें ऐसे अर्थका एक श्लोकभी है (भाग. ११. ८. २०) । पर हमारी रायमें गीताके इस श्लोकका ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं । क्योंकि दूसरे चरणसे वह मेल नहीं रखता । इसके अतिरिक्त भागवतमें 'रस' शब्द नहीं, 'रसनं' है; और गीताके श्लोकका दूसरा चरणभी वहाँ नहीं है । अतएव भागवत और गीताके श्लोकको एकार्थक

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥

मान लेना उचित नहीं है। अब आगेके दो श्लोकोंमें यही अर्थ अधिक स्पष्टकर बतलाते हैं, कि बिना ब्रह्मसाक्षात्कारके पूरा इंद्रियनिग्रह होही नहीं सकता है –]

(६०) कारण यह है, कि केवल (इंद्रियोंके दमन करनेके लिये) प्रयत्न करनेवाले विद्वानकेभी मनको, हे कुंतीपुत्र ! ये प्रबल इंद्रियाँ बलात्कारसे मनमानी ओर खींच लेती हैं। (६१) (अतएव) इन सब इंद्रियोंका संयमनकर युक्त अर्थात् योगयुक्त और मत्परायण होकर रहना चाहिये। इस प्रकार जिसकी इंद्रियाँ अपने आधीन हो जायँ, (कहना चाहिये कि) उसकी बुद्धि स्थिर हो गई।

[इस श्लोकमें कहा है, कि नियमित आहारसे इंद्रियनिग्रह करके, साथही साथ ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये मत्परायण होना चाहिये। अर्थात् ईश्वरमें चित्त लगाना चाहिये; और ५९ वें श्लोकका हमने जो अर्थ किया है, उससे प्रकट होगा, कि उसका हेतु क्या है? मनुनेभी निरे इंद्रियनिग्रह करनेवाले पुरुषको यह इशारा किया है, कि "बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' (मनु. २. २१५); और उसीका अनुवाद ऊपरके ६० वें श्लोकमें किया है। सारांश, इन तीन श्लोकोंका भावार्थ यह है, कि जिसे स्थितप्रज्ञ होना हो, उसे अपना आहार-विहार नियमित रखकर ब्रह्मज्ञानही प्राप्त करना चाहिये; और यह ब्रह्मज्ञान होनेपरही मन निर्विषय होता है, शरीरक्लेशके उपाय तो ऊपरी हैं– सच्चे नहीं। 'मत्परायण' पदसे यहाँ भक्ति-मार्गकाभी आरंभ हो गया है (गीता ९. १३४)। ऊपरके श्लोकमें जो 'युक्त' शब्दका अर्थ योगसे तैयार या बना हुआ है। गीता. ६. १७ के 'युक्त' शब्द है, उसका अर्थ 'नियमित' है। पर गीताके इस शब्दका सदैवका अर्थ है– "साम्य-बुद्धिका जो योग गीतामें बतलाया गया है, उसका उपयोग करके तदनुसार समस्त सुखदुःखोंको शांति-पूर्वक सहन कर, व्यवहार करनेमें चतुर पुरुष" (गीता ५. २३)। इस रीतिसे निष्णात हुए पुरुषकोही 'स्थितप्रज्ञ' यह कहते हैं, उसकी यह अवस्थाही सिद्धावस्था कहलाती है; और इस अध्यायके तथा पाँचवे एवं बारहवें अध्यायके अंतमें इसीका वर्णन है। यह बतला दिया, कि विषयोंकी चाह छोड़कर स्थित-प्रज्ञ होनेके लिये क्या आवश्यक है? अब अगले श्लोकोंमें यह वर्णन करते हैं कि, विषयोंमें चाह कैसे उत्पन्न होती है? इस चाहसे आगे चलकर कामक्रोध आदि

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

| विकार कैसे उत्पन्न होते हैं? और अंतमें उससे मनुष्यका नाश कैसे हो जाता
| है। एवं इनसे छुटकारा किस प्रकार मिल सकता है?]

(६२) विषयोंका चिंतन करनेवाले पुरुषका इन विषयोंमें संग बढ़ता जाता है। फिर इस संगसे यह वासना उत्पन्न होती है, कि हमको काम (अर्थात् वह विषय) चाहिये; और (इस कामकी तृप्ति होनेमें विघ्न आनेसे) उस कामसेही क्रोधकी उत्पत्ति होती है; (६३) क्रोधसे संमोह अर्थात् अविवेक होता है, संमोहसे स्मृति-भ्रंश, स्मृति-भ्रंशसे बुद्धि-नाश और बुद्धि-नाशसे (पुरुषका) सर्वस्व नाश हो जाता है। (६४) परंतु अपना आत्मा अर्थात् अंतःकरण जिसके काबूमें है, वह (पुरुष) प्रीति और द्वेषसे छूटी हुई, अपने आधीन इंद्रियोंसे विषयोंमें बर्ताव करकेभी (चित्तसे) प्रसन्न रहता है। (६५) चित्त प्रसन्न रहनेसे उसके सब दुःखोंका नाश होता है। क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न है, उसकी बुद्धिभी तत्काल स्थिर होती है।

| [स्मरण रहे, कि इन दो श्लोकोंमें स्पष्ट वर्णन है, कि विषय या कर्मोंको
| न छोड़, स्थितप्रज्ञ केवल उनका संग छोड़कर विषयोंमेंही निःसंग-बुद्धिसे वर्तता
| रहता है और उसे जो शांति मिलती है, वह कर्मत्यागसे नहीं; किंतु फलाशाके
| त्यागसे प्राप्त होती है। क्योंकि, इसके सिवा अन्य बातोंमें इस स्थितप्रज्ञमें और
| संन्यास-मार्गवाले स्थितप्रज्ञमें कोई भेद नहीं है। इंद्रिय-संयमन, निरिच्छा और
| शांति ये गुण दोनोंकोभी चाहिये; परंतु इन दोनोंमें महत्त्वका भेद यह है, कि
| गीताका स्थितप्रज्ञ कर्मोंका संन्यास नहीं करता, किंतु लोकसंग्रहके निमित्त
| समस्त कर्म निष्काम बुद्धिसे किया करता है; और संन्यास-मार्गवाला स्थित-
| प्रज्ञ करताही नहीं है (गीता ३. २५)। किंतु गीताके संन्यास-मार्गीय टीका-
| कार इस भेदको गौण समझकर, सांप्रदायिक आग्रहसे प्रतिपादन किया करते
| हैं, कि स्थितप्रज्ञका उक्त वर्णन संन्यास-मार्गकाही है। इस प्रकार जिसका

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

| चित्त प्रसन्न नहीं, उसका वर्णनकर स्थितप्रज्ञके स्वरूपको अब औरभी अधिक
| व्यक्त करते हैं –]

(६६) जो पुरुष उक्त रीतिसे युक्त अर्थात् योगयुक्त नहीं हुआ है उसमें (स्थिर) बुद्धि और भावना अर्थात् दृढ-बुद्धिरूप निष्ठाभी नहीं रहती। जिसे भावना नहीं, उसे शांति नहीं; और जिसे शांति नहीं, उसे सुख मिलेगा कहाँसे? (६७) (विषयोंमें) संचार अर्थात् व्यवहार करनेवाली इंद्रियोंके पीछे पीछे मन जो जाने लगता है, वही पुरुषकी बुद्धिको ऐसे हरण किया करता है, जैसे कि पानीमें नौकाको वायु खींचती है। (६८) अतएव हे महाबाहु अर्जुन ! इंद्रियोंके विषयोंसे जिसकी इंद्रियाँ चहूँ ओरसे हटी हुई हों, (कहना चाहिये कि) उसीकी बुद्धि स्थिर हुई।

| [सारांश, मनके निग्रहके द्वारा इंद्रियोंका निग्रह करना सब साधनोंका
| मूल है। विषयोंमें व्यग्र होकर इंद्रियाँ इधर-उधर दौड़ती रहें, तो आत्मज्ञान
| प्राप्तकर लेनेकी (वासनात्मक) बुद्धिही नहीं हो सकती। अर्थ यह है, कि बुद्धि
| न हो, तो उसके विषयमें दृढ उद्योगभी नहीं होता; और फिर शांति एवं
| सुखभी नहीं मिलता। गीतारहस्यके चौथे प्रकरणमें दिखलाया है, कि इंद्रिय-
| निग्रहका यह अर्थ नहीं है, कि इंद्रियोंको सर्वथा दबाकर सब कर्मोंको बिलकुल
| छोड़ दे; किंतु गीताका अभिप्राय यह है, कि ६४ वें श्लोकमें जो वर्णन है, उसके
| अनुसार निष्काम बुद्धिसे कर्म करते रहना चाहिये।]

(६९) सब लोगोंकी जो रात है, उसमें स्थितप्रज्ञ जागता है; और जब समस्त प्राणिमात्र जागते रहते हैं, तब इस ज्ञानवान् पुरुषको रात मालूम होती है।

| [यह विरोधाभासात्मक वर्णन अलंकारिक है। अज्ञान अंधकारको
| और ज्ञान प्रकाशको कहते हैं (गीता १४. ११)। अर्थ यह है, कि अज्ञानी

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

§§ विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्ति धिच्छति ॥ ७१ ॥

| लोगोंको जो वस्तु अनावश्यक प्रतीत होती है, (अर्थात् उन्हें जो अंधकार है वही ज्ञानियोंको आवश्यक होती है; और जिसमें अज्ञानी लोग उलझे रहते हैं, उन्हें जहाँ उजेला मालूम होता है – वहीं ज्ञानीको अँधेरा दीख पड़ता है – अर्थात् ज्ञानीको वह अभीष्ट नहीं रहता। उदाहरणार्थ, ज्ञानी पुरुष काम्य-कर्मोंको तुच्छ मानता है, तो सामान्य लोग उन्हींसे लिपटे रहते हैं; और ज्ञानी पुरुषको जो निष्काम कर्म चाहिये, उसकी औरोंको चाह नहीं होती।]

(७०) चारों ओरसे (पानी) भरते जानेपरभी जिसकी मर्यादा नहीं डिगती, ऐसे समुद्रमें जिस प्रकार सब पानी चला जाता है, उसी प्रकार जिस पुरुषमें समस्त विषय (उसकी शांति भंग किये बिनाही) प्रवेश करते हैं, उसेही (सच्ची) शांति मिलती है। विषयोंकी इच्छा करनेवालेको (यह शांति मिलना संभव नहीं है)।

| [इस श्लोकका अर्थ यह नहीं है, कि शांति प्राप्त करनेके लिये कर्म न करना चाहिये; प्रत्युत भावार्थ यह है, कि साधारण लोगोंका मन फलाशासे या काम्य-वासनासे घबड़ा जाता है; और उनके कर्मोंसे उनसे मनकी शांति बिगड़ जाती है; परंतु जो सिद्धावस्थामें पहुँच गया है, उसका मन फलाशासे क्षुब्ध नहीं होता, कितनेही कर्म करनेको क्यों न हों, पर उसके मनकी शांति नहीं डिगती। वह समुद्रसरीखा शांत बना रहता है, और सब काम किया करता है, अतएव उसे सुख-दुःखकी व्यथा नहीं होती। (उक्त ६४ वाँ श्लोक और गीता ४. १९)। अब इस विषयका उपसंहार करके बतलाते हैं, कि स्थितप्रज्ञकी इस स्थितिका नाम क्या है ?]

(७१) जो पुरुष समस्त काम अर्थात् आसक्ति छोड़कर और निःस्पृह हो करके (व्यवहारमें) वर्तता है, एवं जिसे ममत्व और अहंकार नहीं होता, उसेही शांति मिलती है !

| [संन्यास-मार्गके टीकाकार इस 'चरति' (वर्तता है) पदका "भीख माँगता फिरता है" ऐसा अर्थ करते हैं; परंतु यह अर्थ ठीक नहीं है। पिछले ६४ वें और ६७ वें श्लोकोंमें 'चरन्' एवं 'चरतां'का जो अर्थ है, वही अर्थ यहाँभी करना चाहिये। गीतामें ऐसा उपदेश कहींभी नहीं है, कि स्थितप्रज्ञ भिक्षा माँगा करे। हाँ; इसके विरुद्ध ६४ वें श्लोकमें यह स्पष्ट कह दिया है, कि स्थित-प्रज्ञ पुरुष इंद्रियोंको अपने अधीन रखकर 'विषयोंमें वर्ते।' अतएव 'चरति'का

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ऐसाही अर्थ करना चाहिये, कि "वर्तता है" अर्थात् "जगतके व्यवहार करता है"। श्रीसमर्थ रामदासस्वामीने दासबोधके उत्तरार्धमें इस बातका उत्तम वर्णन किया है, कि 'निःस्पृह' चतुर पुरुष (स्थितप्रज्ञ) व्यवहारमें कैसे वर्तता है, और गीतारहस्यके चौदहवें प्रकरणका विषयभी वही है।]

(७२) हे पार्थ। ब्राह्मी स्थिति यही है। इसे पा जानेपर कोईभी मोहमें नहीं फँसता; और अंतकालमें अर्थात् मरनेके समयमेंभी इस स्थितिमें रहकर वह ब्रह्म-निर्वाण अर्थात् ब्रह्ममें मिल जानेके स्वरूपका मोक्ष पाता है।

[यह ब्राह्मी स्थिति कर्मयोगकी अंतिम और अत्युत्तम स्थिति है (गीतार. प्र. ९, पृ. २३१; २५१); और इसमें विशेषता यह है; कि इसके प्राप्त हो जानेसे फिर मोह नहीं होता। यहाँपर इस विशेषत्वके बतलानेका कारण यह कि, यदि किसीको किसी दिन दैवयोगसे घड़ी-दो घड़ीके लिये इस ब्राह्मी स्थितिका अनुभव हो सके, तो उससे चिरकालिक लाभ नहीं होता। क्योंकि किसीभी मनुष्यकी यदि मरते समय यह स्थिति न रहेगी, तो मरणकालमें जैसी वासना मनमें रहेगी, उसीके अनुसार आगे पुनर्जन्म होगा (गीतारहस्य पृ. २९१)। यही कारण है, जो ब्राह्मी स्थितिका वर्णन करते हुए इस श्लोकमें स्पष्टतया कह दिया है, कि 'अंतकालेऽपि' = अंतकालमेंभी, स्थितप्रज्ञकी यह अवस्था स्थिर बनी रहती है। अंतकालमें मनके शुद्ध रहनेकी विशेष आवश्य-कताका वर्णन उपनिषदोंमें (छां. ३. १४. १; प्र. ३. १०) और गीतामेंभी (गीता ८. ५–१०) है। यह वासनात्मक कर्म अगले अनेक जन्मोंके मिलनेका कारण है, इसलिये प्रकटही है, कि कम-से-कम मरनेके समय तो वासना शून्य हो जानी चाहिये। और फिर यहभी कहना पड़ता है, कि मरण समयमें वासना शून्य होनेके लिये पहलेही वैसा अभ्यास हो जाना चाहिये। क्योंकि, वासनाको शून्य करनेका कर्म अत्यंत कठिन है, और विना ईश्वरकी विशेष कृपाके उसका सहसा किसीकोभी प्राप्त हो जाना न केवल कठिन है, वरन् असंभवभी है, यह तत्त्व केवल वैदिक धर्ममेंही नहीं है, कि मरण-समयमें वासना शुद्ध होनी चाहिये; किंतु अन्यान्य धर्मोंमेंभी यह तत्त्व अंगीकृत हुआ है। (गीतारहस्य प्र. १३, पृ. ४४१)]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए उपनिषदमें, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

[इस अध्यायमें, आरंभमें सांख्य अथवा संन्यास-मार्गका विवेचन है, इस कारण इसको सांख्ययोग नाम दिया गया है। परंतु इससे यह न समझ लेना चाहिये, कि पूरे अध्यायमें वही विषय है। एकही अध्यायमें प्रायः अनेक विषयोंका वर्णन होता है। जिस अध्यायमें जो विषय आरंभमें आ गया है, अथवा जो विषय उसमें प्रमुख है, उसके अनुसार उस अध्यायका नाम रख दिया जाता है। (गीतारहस्य प्रकरण १४, पृ. ४४६.)]

तृतीयोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

§ § लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेण योगिनाम् ॥ ३ ॥

तीसरा अध्याय

[अर्जुनको भय हो गया था, कि मुझे भीष्म-द्रोण आदिको मारना पड़ेगा। अतः सांख्य-मार्गके अनुसार आत्माकी नित्यता और अशोच्यत्वसे यह सिद्ध करके कि अर्जुनका भय वृथा है; फिर स्वधर्मका थोड़ा-सा विवेचन करके गीताके मुख्य विषय कर्मयोगका दूसरेही अध्यायमें आरंभ किया गया है; और कहा गया है, कर्म करनेपरभी उनके पाप-पुण्यसे वचनेके लिये केवल वही एक युक्ति या योग है, कि वे कर्म साम्य-बुद्धिसे किये जावें। इसके अनंतर अंतमें उस कर्मयोगी स्थितप्रज्ञका वर्णनभी किया गया है, कि जिसकी बुद्धि इस प्रकार सम हो गई है। परंतु इतनेसेही कर्मयोगका विवेचन पूरा नहीं हो जाता। यह वात सच है, कि कोईभी काम सम-बुद्धिसे किया जावे, तो उसका पाप नहीं लगता; परंतु जब कर्मकी अपेक्षा समबुद्धिकीही श्रेष्ठता विवादरहित सिद्ध होती है (गीता २. ४९), तब फिर स्थितप्रज्ञकी नाई बुद्धिको सम कर लेनेसेही काम चल जाता है; इससे यह सिद्ध नहीं होता, कि कर्म करनेही चाहिये। अतएव जब अर्जुनने यही शंका प्रश्नरूपमें उपस्थित की, तव भगवान् इस अध्यायमें तथा अगले अध्यायमें प्रतिपादन करते हैं, कि "कर्म करनेही चाहिये।"]

अर्जुनने कहा :– (१) हे जनार्दन ! यदि तुम्हारा यही मत है, कि कर्मकी अपेक्षा (साम्य-)बुद्धिही श्रेष्ठ है, तो हे केशव ! मुझे (युद्धके) घोर कर्ममें क्यों लगाते हो ? (२) देखनेंमें व्यामिश्र अर्थात् संदिग्ध भाषण करके तुम मेरी बुद्धिको भ्रममें डाल रहे हो ! इसलिये तुम ऐसी एकही बात निश्चित करके मुझे वतलाओ, जिससे मुझे श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त हो।

श्रीभगवानने कहा :– (३) हे निष्पाप अर्जुन ! (अर्थात् दूसरे अध्यायमें)

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

मैंने यह बतलाया है, कि इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठाएँ हैं – अर्थात् ज्ञानयोगसे सांख्योंकी और कर्मयोगसे योगियोंकी।

[हमने 'पुरा' शव्दका अर्थ, 'पहले' अर्थात् 'दूसरे अध्यायमें' किया है, यही अर्थ सरल है। क्योंकि दूसरे अध्यायमें पहले सांख्य-निष्ठाके अनुसार ज्ञानका वर्णन करके फिर कर्मयोग-निष्ठाका आरंभ किया गया है। परंतु 'पुरा' शव्दका अर्थ 'सृष्टिके आरंभमें' भी हो सकता है; क्योंकि महाभारतमें, नारायणीय या भागवत-धर्मके निरूपणमें यह वर्णन है, कि सांख्य और योग (निवृत्ति और प्रवृत्ति) इन दोनों प्रकारकी निष्ठाओंको भगवानने स्वतंत्र रूपसे जगत्के आरंभमेंही उत्पन्न किया है (शां. ३४०; ३४७)। 'निष्ठा' शव्दके पहले मोक्ष शब्द अध्याहृत है। ? 'निष्ठा' शव्दका अर्थ वह मार्ग है, कि जिसपर चलनेपर अंतमें मोक्ष मिलता है। गीताके अनुसार ऐसी निष्ठाएँ दोही हैं; और वे दोनोंभी स्वतंत्र हैं, कोई किसीका अंग नहीं है – इत्यादि बातोंका विस्तृत विवेचन गीतारहस्यके ग्यारहवें प्रकरण (पृ. ३०६–३१७)में किया गया है, इसलिये उसे यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है। गीतारहस्यके ग्यारहवें प्रकरणके अंतमें (पृष्ठ ३५४–३५७) नक्शा देकर इस बातकाभी वर्णन कर दिया गया है, इन दोनों निष्ठाओंमें भेद क्या है। मोक्षकी दो निष्ठाएँ बतला दी गईं; अब तदंगभूत नैष्कर्म्य-सिद्धिका स्वरूप स्पष्ट करके बतलाते हैं :–]

(४) (परंतु) कर्मोंका प्रारंभ न करनेसेही पुरुषको नैष्कर्म्य-प्राप्ति नहीं हो जाती; और कर्मोंका (त्याग) करनेसेही सिद्धि नहीं मिल जाती। (५) क्योंकि कोईभी मनुष्य (कुछ-न-कुछ) कर्म किये बिना क्षणभरभी नहीं रह सकता। प्रकृतिके गुण प्रत्येक परतंत्र मनुष्यको (तो सदा कुछ-न-कुछ) कर्म करनेमें लगायाही करते हैं।

[चौथे श्लोकके पहले चरणमें जो 'नैष्कर्म्य' पद है, उसका 'ज्ञान' अर्थ मानकर संन्यास-मार्गवाले टीकाकारोंने इस श्लोकका अर्थ अपने संप्रदायके अनुकूल इस प्रकार बना लिया है – "कर्मोंका आरंभ न करनेसे ज्ञान नहीं होता, अर्थात् कर्मोंसेही ज्ञान होता है" क्योंकि कर्म ज्ञानप्राप्तिका साधन है! परंतु यह अर्थ न तो सरल है और न ठीकभी है। नैष्कर्म्य शव्दका उपयोग वेदान्त और मीमांसा, इन दोनों शास्त्रोंमें कई वार किया गया है; और सुरेश्वरा-

चार्यका 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' नामक इसी विषयपर एक ग्रंथभी है। तथापि नैष्कर्म्यके ये तत्त्व कुछ नये नहीं है; और न केवल सुरेश्वराचार्यहीके, किंतु मीमांसा और वेदान्तके सूत्र बननेकेभी पूर्वसेही इनका प्रचार होता आ रहा है। यह बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं, कि कर्म बंधक होताही है; इसलिये पारेका उपयोग करनेके पहले जिस प्रकार वैद्य लोग उसे मारकर शुद्ध कर लेते हैं, उसी प्रकार कर्म करनेके पहले ऐसा उपाय करना पड़ता है, कि जिससे उसका बंधकत्व या दोष मिट जाय; और ऐसी युक्तिसे कर्म करनेकी स्थितिकोही 'नैष्कर्म्य' कहते हैं। इस प्रकार बंधकत्वरहित कर्म मोक्षके लिये बाधक नहीं होता, अतएव मोक्षशास्त्रका यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, कि यह स्थिति कैसे प्राप्त की जाय? मीमांसहक लोग इसका यह उत्तर देते हैं, कि नित्य और निमित्त होनेपर, नैमित्तिक कर्म तो करना चाहिये; पर काम्य और निषिद्ध कर्म नहीं करने चाहिये, इससे कर्मका बंधकत्व नहीं रहता; और नैष्कर्म्यावस्था सुलभ रीतिसे प्राप्त हो जाती है। परंतु वेदान्तशास्त्रने सिद्धान्त किया है, कि मीमांसकोंकी यह युक्ति ग़लत है; और इस बातका विवेचन गीतारहस्यके दसवें प्रकरणमें (पृष्ठ २७६) किया गया है। अन्य कुछ लोगोंका कथन है, कि यदि कर्मही किये न जावें, तो उनसे बाधाभी तो कैसे हो सकती है? इसलिये, उनके मतानुसार, नैष्कर्म्य अवस्था प्राप्त करनेके लिये सब कर्मोंहीको छोड देना चाहिये। इनके मतसे कर्मशून्यताकोही 'नैष्कर्म्य' कहते हैं। परंतु चौथे श्लोकमें बतलाया गया है, कि यह मत ठीक नहीं है, इससे तो सिद्धि अर्थात् मोक्षभी नहीं मिलता; और पाँचवें श्लोकमें उसका कारणभी बतला दिया है। यदि हम कर्मको छोड़ देनेका विचार करें, तोभी जबतक यह देह है, तबतक सोना, बैठना इत्यादि कर्म कभी रुकही नहीं सकते (गीता ५. ९; १८. ११)। इसलिये कोईभी मनुष्य कभी कर्मशून्य नहीं हो सकता। फलतः कर्मशून्यरूपी नैष्कर्म्यभी असंभव है। सारांश, कर्मरूपी बिच्छू कभी नहीं मरता। इसलिये ऐसा कोई उपाय सोचना चाहिये, कि जिससे वह विषरहित हो जाय। गीताका सिद्धान्त है, कि कर्मोंमेंसे अपनी आसक्तिको हटा लेनाही एकमात्र उपाय है; और आगे अनेक स्थानोंमें इसी उपायका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। परंतु इसपरभी शंका हो सकती है, कि यद्यपि सब कर्मोंको छोड़ देना नैष्कर्म्य नहीं है, तथापि संन्यास-मार्गवाले तो सब कर्मोंका संन्यास अर्थात् त्याग करकेही मोक्ष प्राप्त करते हैं, अतः मोक्षकी प्राप्तिके लिये कर्मोंका त्याग करना आवश्यक है। इस तर्कका उत्तर गीता इस प्रकार देती है, कि संन्यास-मार्गवालोंको मोक्ष तो मिलता है सही; परंतु उन्हें वह कर्मोंका त्याग करनेसे नहीं मिलता, किंतु मोक्षसिद्धि उनके ज्ञानका फल है। यदि केवल कर्मोंका त्याग करनेसेही मोक्षसिद्धि होती हो, तो फिर पत्थरकोभी मुक्ति मिलनी चाहिये! इससे ये तीन बातें सिद्ध

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥

होती हैं :– (१) नैष्कर्म्य कर्मशून्यता नहीं है, (२) कर्मोंको त्याग देनेका कोई कितनाभी प्रयत्न क्यों न करे, परंतु वे छूट नहीं सकते; और (३) कर्मोंको त्याग देना सिद्धि प्राप्त करनेका उपाय नहीं है; और येही बातें ऊपरके श्लोकमें बतलाई गई हैं। जब ये तीनों बातें सिद्ध हो गईं, तब अठारहवें अध्यायके कथनानुसार 'नैष्कर्म्यसिद्धि'की (गीता १८. ४८, ४९) प्राप्तिके लिये यही एक मार्ग शेष रह जाता है, कि कर्म तो छोड़े नहीं; पर ज्ञान-द्वारा यद्यपि आसक्तिका क्षय करके सब कर्म सदा करते रहें। क्योंकि ज्ञान मोक्षका साधन हो, तोभी कर्मशून्य रहनाभी कभी संभव नहीं, इसलिये कर्मोंके वंधकत्वको (बंधन) नष्ट करनेके लिये आसक्ति छोड़कर उन्हें करना आवश्यक होता है। इसीको कर्मयोग कहते हैं; और अब बतलाते हैं, कि यही ज्ञानकर्म-समुच्चयात्मक मार्ग विशेष योग्यताका अर्थात् श्रेष्ठ है –]

(६) जो मूढ (हाथ-पैर आदि) कर्मेंद्रियोंको रोककर मनसे इंद्रियोंके विषयोंका चिंतन किया करता है, उसे मिथ्याचारी अर्थात् दांभिक कहते हैं। (७) परंतु हे अर्जुन ! जो मनसे इंद्रियोंका आकलन करके, (केवल) कर्मेंद्रियों-द्वारा अनासक्त-बुद्धिसे 'कर्मयोग'का आरंभ करता है, उसकी योग्यता विशेष अर्थात् श्रेष्ठ है।

[पिछले अध्यायमें जो यह बतलाया गया है, कि कर्मयोगमें कर्मकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है (गीता २. ४९), उसीका इन दोनों श्लोकोंमें स्पष्टीकरण किया गया है। यहाँ साफ़ साफ़ कह दिया है, कि जिस मनुष्यका मन तो शुद्ध नहीं है; पर जो केवल दूसरोंके भयसे या इस अभिलाषासे कि दूसरे मुझे भला कहें, केवल वाह्येंद्रियोंके व्यापारको रोकता है, वह सच्चा सदाचारी नहीं है, वह ढोंगी है। जो लोग इस वचनका प्रमाण देकर – कि "कलौ कर्ता च लिप्यते" कलियुगमें दोष बुद्धिमें नहीं, किंतु कर्ममें रहता है, यह प्रतिपादन किया करते हैं, कि बुद्धि चाहे जैसी हो; परंतु कर्म वुरा न हो; उन्हें उक्त श्लोकमें वर्णित गीतातत्त्वपर विशेष ध्यान देना चाहिये। सातवें श्लोकसे यह बात प्रकट होती है, कि निष्काम बुद्धिसे कर्म करनेके योगकोही गीतामें 'कर्मयोग' कहा है। कुछ संन्यास-मार्गीय टीकाकार इस श्लोकका ऐसा अर्थ करते हैं, कि यद्यपि यह कर्मयोग छठे श्लोकमें बतलाये हुए दांभिक मार्गसे श्रेष्ठ है, तथापि यह संन्यास-मार्गसे श्रेष्ठ नहीं है। परंतु यह युक्ति सांप्रदायिक आग्रहकी है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

क्योंकि न केवल इसी श्लोकमें, वरन् फिर पाँचवें अध्यायके आरंभमें और अन्यत्रभी, यह स्पष्ट कह दिया गया है, कि संन्यास-मार्गसेभी कर्मयोग अधिक योग्यताका या श्रेष्ठ है (गीतार. प्र. ११, पृ. ३०९-३१०)। इस प्रकार जब कर्मयोगही श्रेष्ठ है, तब अर्जुनको इसी मार्गका आचरण करनेके लिये अब उपदेश करते है :-]

(८) (अपने धर्मके अनुसार) नियत अर्थात् नियमित कर्म तू कर। क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना कहीं अधिक अच्छा है। इसके अतिरिक्त (यह समझ ले, कि यदि) तू कर्म न करेगा, तो (भोजनभी न मिलनेसे) तेरा शरीर-निर्वाहतक न हो सकेगा।

['अतिरिक्त' और 'तक' (अपि च) पदोंसे शरीरयात्राको कम-से-कम हेतु कहा है। अब यह बतलानेके लिये यज्ञ-प्रकरणका आरंभ किया जाता है, कि 'नियत' अर्थात् नियत किया हुआ 'कर्म' कौन-सा है? और दूसरे किस महत्त्वके कारण उसका आचरण करना चाहिये? आजकल यज्ञयाग आदि श्रौतधर्म लुप्त-सा हो गया है, इसलिये इस विषयका आधुनिक पाठकोंको कोई विशेष महत्त्व मालूम नहीं होता। परंतु गीताके समयमें इन यज्ञयागोंका पूरा पूरा प्रचार था; और 'कर्म' शब्दसे मुख्यतः इन्हींका बोध हुआ करता था। अतएव, गीताधर्ममें इस बातका विवेचन करना अत्यावश्यक था, कि ये धर्मकृत्य किये जावें या नहीं; और यदि किये जावें, तो किस प्रकार? इसके सिवा, यहभी स्मरण रहे, कि यज्ञ शब्दका अर्थ केवल ज्योतिष्टोम आदि श्रौतयज्ञ या अग्निमें किसीभी वस्तुका हवन करनाही नहीं है (गीता. ४. ३२)। सृष्टिका निर्माण करके, उसका काम ठीक ठीक चलते रहनेके लिये, अर्थात् लोकसंग्रहार्थ, ब्रह्माने प्रजाको चातुर्वर्ण्यविहित जो जो काम बाँट दिये हैं, उन सबका 'यज्ञ' शब्दमें समावेश होता है (मभा. अनु. ४८. ३; गीतार. प्र. १०, पृ. २९१-२९७)। धर्मशास्त्रोंमें इन्हीं कर्मोंका उल्लेख है; और यहाँ 'नियत' शब्दसे वेही विवक्षित हैं। इसलिये कहना चाहिये, कि यद्यपि आजकल श्रौत यज्ञ-याग लुप्तप्राय हो गये हैं; तथापि यज्ञ-चक्रका यह विवेचन अबभी निरर्थक नहीं है। शास्त्रोंके अनुसार ये सब कर्म काम्य हैं, अर्थात् इसलिये बतलाये गये हैं, कि मनुष्यका इस जगत्में कल्याण हो और उसे सुख मिले। परंतु पीछे दूसरे अध्याय (गीता २. ४१-४४)में यह सिद्धान्त किया है, कि मीमांसकोंके ये सहेतुक या काम्यकर्म मोक्षके लिये प्रतिबंधक है, अतएव वे नीचे दर्जेके हैं; और

§ § यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

| अब तो मानना पड़ता है, कि उन्हीं कर्मोंको करना चाहिये; इसलिये अगले | श्लोकोंमें इस बातका विस्तृत विवेचन किया गया है, कि इन कर्मोंका शुभाशुभ | लेप अथवा बंधकत्व कैसे मिट जाता है और उन्हें करते रहनेपरभी नैष्कर्म्यावस्था | क्योंकर प्राप्त होती है ? यह समग्र विवेचन भारतमें वर्णित नारायणीय या | भागवत धर्मके अनुसार है (मभा. शां. ३४०)।]

(९) यज्ञके लिये जो कर्म किये जाते हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कर्मोंसे यह लोक बँधा हुआ है। तदर्थ अर्थात् यज्ञार्थ (किये जानेवाले) कर्म (भी) तू आसक्ति या फलाशा छोड़कर करता जा।

| [इस श्लोकके पहले चरणमें मीमांसकोंका और दूसरेमें गीताका | सिद्धान्त बतलाया गया है। मीमांसकोंका कथन है, कि जब वेदोंनेही यज्ञयागादि | कर्म हरएक मनुष्यके लिये नियत कर दिये हैं, और जब कि ईश्वरनिर्मित सृष्टिके | व्यवहार ठीक ठीक चलते रहनेके लिये यह यज्ञ-चक्र आवश्यक है, तब कोईभी | इन कर्मोंका त्याग नहीं कर सकता। यदि कोई इनका त्याग कर देगा, तो समझना | होगा, कि वह श्रौतधर्मसे वंचित हो गया। परंतु कर्मविपाक-प्रक्रियाका सिद्धान्त | है, कि प्रत्येक कर्मका फल मनुष्यको भोगनाही पड़ता है; और उसके अनुसार | कहना पड़ता है, कि यज्ञके लिये मनुष्य जो जो कर्म करेगा, उसका भला या बुरा | फलभी उसे भोगनाही पड़ेगा। मीमांसकोंका इसपर यह उत्तर है, कि वेदोंकीही | आज्ञा है, कि 'यज्ञ' करने चाहिये, इसलिये यज्ञार्थ जो जो कर्म किये जावेंगे, वे | सब ईश्वरसंमत होंगे; अतः उन कर्मोंसे कर्ता बद्ध नहीं हो सकता। परंतु यज्ञोंके- | सिवा दूसरे कर्मोंके लिये उदाहरणार्थ, केवल अपना पेट भरनेके लिये, मनुष्य | जो कुछ कर्म करेगा, वह यज्ञार्थ नहीं हो सकता; उसमें तो केवल मनुष्यकाही | निजी लाभ है। यही कारण है, जो मीमांसक उसे 'पुरुषार्थ' कर्म कहते | हैं; और उन्होंने निश्चित किया है, कि ऐसे याने यज्ञार्थके अतिरिक्त अन्य | कर्म अर्थात् पुरुषार्थ कर्मका जो कुछ भला या बुरा फल होगा, वह मनुष्यको | भोगनाही पड़ता है – यही सिद्धान्त उक्त श्लोककी पहली पंक्तिमें दिया | है (गीतार. प्र. ३, पृ. ५३–५६)। कुछ टीकाकार, यज्ञ = विष्णु ऐसा गौण | अर्थ करके, कहते हैं, कि यज्ञार्थ शब्दका अर्थ विष्णुप्रीत्यर्थ या परमेश्वरार्पण- | पूर्वक है। परंतु हमारी समझमें यह अर्थ खींचातानीका और क्लिष्ट है। पर | यहाँपर प्रश्न होता है, कि यज्ञके लिये जो कर्म करने पड़ते हैं, उनके सिवा मनुष्य | यदि दूसरे कुछभी कर्म न करे, तो क्या वह कर्मबंधनसे छूट सकता है ? क्योंकि

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

| यज्ञभीतो कर्महो है, और उसका स्वर्गप्राप्तिरूप जो शास्त्रोक्त फल है, वह मिले बिना नहीं रहता । परंतु गीताके दूसरेही अध्यायमें स्पष्ट रीतिसे बतलाया गया है, कि यह स्वर्गप्राप्तिरूप फल मोक्षप्राप्तिके विरुद्ध है (गीता २. ४०–४४; ९. २०, २१)। इसीलिये उक्त श्लोकके दूसरे चरणमें यह बात फिर बतलाई गई है, कि मनुष्यको यज्ञार्थभी जो नियत कर्म करना होता है, उसेभी वह फलकी आशा छोडकर अर्थात् केवल कर्तव्य समझकर करे; और इसी अर्थका प्रतिपादन आगे सात्त्विक यज्ञकी व्याख्या करते समय किया गया है (गीता १७. ११; १८.६) । इस श्लोकका भावार्थ यह है, कि इस प्रकार सब कर्म यज्ञार्थ और सोभी फलाशा छोडकर करनेसे, (१) वे मीमांसकोंके न्याया-नुसारही किसीभी प्रकार मनुष्यको बद्ध नहीं करते, क्योंकि वे तो यज्ञार्थ किये जाते हैं; और (२) उनका स्वर्गप्राप्तिरूप शास्त्रोक्त एवं अनित्य फल मिलनेके बदले मोक्षप्राप्ति होती है, क्योंकि वे फलाशा छोडकर किये जाते हैं । आगे १९वें श्लोकमें और फिर चौथे अध्यायके २३ वें श्लोकमें यही अर्थ दुबारा प्रति-पादित हुआ है। तात्पर्य यह है, कि मीमांसकोंके इस सिद्धान्त "यज्ञार्थ कर्म-करने चाहिये । क्योंकि वे बंधक नहीं होते" मेंही भगवद्गीताने औरभी यह सुधार कर दिया है, कि "जो कर्म यज्ञार्थ किये जावें, उन्हेंभी फलाशा छोडकर करना चाहिये ।" किंतु इसपरभी यह शंका होती है, कि मीमांसकोंके सिद्धान्तको इस प्रकार सुधारनेका प्रयत्न करके यज्ञयाग आदि गार्हस्थ्यवृत्तिको जारी रखनेकी अपेक्षा क्या यह अधिक अच्छा नहीं है, कि कर्मोंकी झंझटसे छूटकर मोक्षप्राप्तिके लिये सब कर्मोंको छोडकर संन्यास ले लें ? भगवद्गीता इस प्रश्नका साफ़ यही उत्तर देती है, कि 'नहीं' । क्योंकि यज्ञ-चक्रके बिना इस जगतके व्यवहार जारी नहीं रह सकते । अधिक क्या कहें ? जगतके धारण-पोषणके लिये ब्रह्माने इस चक्रको प्रथम उत्पन्न किया है; और जब कि जगतकी सुस्थिति या संग्रहही भगवानको इष्ट है, तब इस यज्ञ-चक्रको कोईभी नहीं छोड़ सकता । अब यही अर्थ अगले श्लोकमें बतलाया गया है। इस प्रकरणमें पाठकोंको सदा स्मरण रखना चाहिये, कि यज्ञ शब्द यहाँ केवल श्रौत-यज्ञकेही अर्थमें प्रयुक्त नहीं है, किंतु उसमें स्मार्त-यज्ञोंका तथा चातुर्वर्ण्य आदिके यथाधिकार सब व्यावहारिक कर्मोंका समावेश है ।]

(१०) आरंभमें यज्ञके साथ साथ प्रजाको उत्पन्न करके ब्रह्माने (उनसे) कहा, "इसके (यज्ञ) द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो; यह (यज्ञ) तुम्हारी कामधेनु होवे,

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

अर्थात् यह तुम्हारे इच्छित फलोंको देनेवाला होवे। (११) तुम इस यज्ञसे देवताओंको समृद्ध करते रहो, (और) वे देवता तुम्हें यज्ञसे समृद्ध करते रहें। (इसप्रकार) परस्पर एक दूसरेको समृद्ध करते हुए (दोनोंभी) परम श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्तकर लो।" (१२) क्योंकि, यज्ञसे संतुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे इच्छित (सब) भोग तुम्हें देंगे। उन्हींका दिया हुआ उन्हें (वापिस) न देकर, जो (केवल स्वयं) उपभोग करता है, वह सचमुच चोर है।

[जब ब्रह्माने इस सृष्टि अर्थात् देव आदि सब लोकोंको उत्पन्न किया, तब उसे चिंता हुई, कि इन लोगोंका आगे धारण-पोषण कैसे होगा ? महाभारतके नारायणीय धर्ममें वर्णन है, कि ब्रह्माने इसके बाद हजार वर्षतक तप करके भगवानको संतुष्ट किया; तब भगवानने सब लोकोंके निर्वाहके लिये प्रवृत्ति-प्रधान यज्ञचक्र उत्पन्न किया, और देवता तथा मनुष्य, दोनोंसे कहा, कि उसके अनुसार बर्ताव करके एक दूसरेकी रक्षा करो। उक्त श्लोकमें इसी कथाका कुछ शब्दभेदसे अनुवाद किया गया है (मभा. शां. ३४०. ३८–७२)। इससे यह सिद्धान्त औरभी अधिक दृढ हो जाता है, कि प्रवृत्ति-प्रधान भागवत धर्मके तत्त्वकाही गीतामें प्रतिपादन किया गया है। परंतु भागवत धर्ममें यज्ञोंमें की जानेवाली हिंसा गर्ह्य मानी गई है (मभा. शां. ३३६, ३३७), इसलिये पशु-यज्ञके स्थानमें प्रथम द्रव्यमय यज्ञ शुरू हुआ, और अंतमें यह मत प्रचलित हो गया, कि जपमय यज्ञ अथवा ज्ञानमय यज्ञही सबमें श्रेष्ठ है (गीता ४. २३–३३)। यज्ञ शब्दसे मतलब चातुर्वर्ण्यके सब कर्मोंसे है; और यह बात स्पष्ट है, कि समाजका उचित रीतिसे धारण-पोषण होनेके लिये इन यज्ञकर्मों या यज्ञचक्रको अच्छी तरह जारी रखना चाहिये (मनु. १. ८७)। अधिक क्या कहें ? यह यज्ञचक्र आगे बीसवें श्लोकमें वर्णित लोकसंग्रहकाही एक स्वरूप है (गीतार. प्र. ११)। इसीलिये स्मृतियोंमेंभी लिखा है, कि देवलोक और मनुष्यलोक, इन दोनोंके संग्रहार्थ भगवाननेही प्रथम जिस लोकसंग्रहकारक कर्मको निर्माण किया है, उसे आगे अच्छी तरह प्रचलित रखना मनुष्यका कर्तव्य है, और यही अर्थ अब अगले श्लोकमें स्पष्ट रीतिसे बतलाया गया है :–]

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

(१३) यज्ञ करके शेष बचे हुए भागको ग्रहण करनेवाले सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। परंतु (यज्ञ न करके केवल) अपनेही लिये जो (अन्न) पकाते हैं, वे पापी लोग पाप भक्षण करते हैं।

[ऋग्वेदके १०. ११७. ६ मंत्रमेंभी यही अर्थ है। उसमें कहा है, कि "नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी" – जो मनुष्य अर्यमा या सखाका पोषण नहीं करता, अकेलेही भोजन करता है, उसे केवल पापी समझना चाहिये। इसी प्रकार मनुस्मृतिमेंभी कहा है, कि अवं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात्। यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते"॥ (मनु. ३. ११८) – जो मनुष्य अपने लियेही (अन्न) पकाता है, वह केवल पाप भक्षण करता है। यज्ञ करनेपर जो शेष रह जाता है, उसे 'अमृत' और दूसरोंके भोजन कर चुकनेपर जो शेष रहता है (भुक्तशेष), उसे 'विघस्' कहते हैं (मनु. ३. २८५); और भले मनुष्योंके लिये यही अन्न विहित कहा गया है (गीता. ४. ३१)। अब इस बातका औरभी स्पष्टीकरण करते हैं, कि यज्ञ आदि कर्म न तो केवल तिल और चावलोंको आगमें झोंकनेके लियेही हैं, या न स्वर्गप्राप्तिके लियेभी; वरन् जगतका धारण-पोषण होनेकेलिये उनकी बहुत आवश्यकता है, अर्थात् यज्ञपरही सारा जगत् अवलंबित है :–]

(१४) प्राणिमात्रकी उत्पत्ति अन्नसे होती है, अन्न पर्जन्यसे उत्पन्न होता है, पर्जन्य यज्ञसे उत्पन्न होता है; और यज्ञकी उत्पत्ति कर्मसे होती है।

[मनुस्मृतिमेंभी मनुष्यकी और उसके धारणके लिये आवश्यक अन्नकी उत्पत्तिके विषयमें इसी प्रकारका वर्णन है। मनुके श्लोकका भाव यह है :– "यज्ञकी आगमें दी हुई आहुति सूर्यको मिलती है; और फिर सूर्यसे (अर्थात् परंपरा-द्वारा यज्ञसेही) पर्जन्य उपजता है, पर्जन्यसे अन्न और अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है" (मनु. ३. ७६)। यही श्लोक महाभारतमेंभी है (मभा. शां. २६२. ११)। तैत्तिरीय उपनिषद्में (२. १) यह पूर्वपरंपरा इससेभी पीछे हटा दी गई है और ऐसा क्रम दिया है, "कि परमात्मासे प्रथम आकाश उत्पन्न हुआ; और फिर क्रमसे वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई, पृथ्वीसे औषधि, औषधिसे अन्न, और अन्नसे पुरुष उत्पन्न हुआ।" अतएव इस परंपराके अनुसार, प्राणिमात्रके कर्मपर्यंत बतलाई हुई पूर्वपरंपराको अब

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

| कर्मके पहले प्रकृति और प्रकृतिके पहले सीधे अक्षर-ब्रह्मपर्यंत पहुँचाकर, पूरी करते हैं :-]

(१५) (यह) जान ले, कि कर्मकी उत्पत्ति ब्रह्मसे अर्थात् प्रकृतिसे हुई (है); और यह ब्रह्म अक्षरसे अर्थात् परमेश्वरसे उत्पन्न हुआ है। इसलिये (यह समझ ले, कि) सर्वगत ब्रह्मही यज्ञमें सदा अधिष्ठित रहता है।

[कोई कोई इस श्लोकके 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ 'प्रकृति' नहीं समझते, वे कहते हैं, कि यहाँ ब्रह्मका अर्थ 'वेद' है। परंतु 'ब्रह्म' शब्दका 'वेद' अर्थ करनेसे यद्यपि इस वाक्यमें आपत्ति नहीं हुई, कि " ब्रह्म अर्थात् 'वेद' परमेश्वरसे उत्पन्न हुए हैं, " तथापि वैसा अर्थ करनेसे " सर्वगत ब्रह्म यज्ञमें है " इसका अर्थ ठीक ठीक नहीं लगता। इसलिये " मम योनिर्महत् ब्रह्म " (गीता १४. ३) श्लोकमें 'ब्रह्म'पदका जो 'प्रकृति' अर्थ है, उसके अनुसार रामानुजभाष्यमें जो यह अर्थ किया गया है, कि इस स्थानमेंभी 'ब्रह्म' शब्दसे जगतकी मूल प्रकृतिही विवक्षित है; वही अर्थ हमेंभी ठीक मालूम होता है। इसके सिवा महाभारतके शांतिपर्वके यज्ञप्रकरणमें यह वर्णन है कि " अनुयज्ञं जगत्सर्वं यज्ञश्चानुजगत्सदा " (शां. २६७. ३४) – यज्ञके पीछे जगत् है, और जगतके पीछे पीछे यज्ञ है। ब्रह्मका अर्थ 'प्रकृति' करनेसे उस वर्णनकाभी प्रस्तुत श्लोकसे मेल हो जाता है, क्योंकि जगतही प्रकृति है। गीतारहस्यके सातवें और आठवें प्रकरणमें यह बात विस्तारपूर्वक बतलाई गई है कि परमेश्वरसे प्रकृति और त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे जगतके सब कर्म कैसे निष्पन्न होते हैं, उसी प्रकार पुरुषसूक्तमेंभी यह वर्णन है, कि देवताओंने प्रथम यज्ञ करकेही सृष्टिको निर्माण किया है।]

(१६) हे पार्थ ! इस प्रकार (जगतके धारणार्थ) चलाये हुए चक्र अर्थात् कर्म या यज्ञके चक्रको, जो इस जगत्में आगे नहीं चलाता, उसकी आयु पापरूप है; उस इंद्रियलंपटका (अर्थात् देवताओंको न देकर स्वयं उपभोग करनेवालाका) जीवन व्यर्थ है।

[स्वयं ब्रह्मानेही – मनुष्योंने नहीं – लोगोंके धारण-पोषणके लिये यज्ञमय कर्म या चातुर्वर्ण्य-वृत्ति उत्पन्न की है। यह सृष्टिका क्रम चलते रहनेके लिये (श्लोक १४) और साथही साथ अपना निर्वाह होनेके लिये (श्लोक ८), इन दोनों कारणोंसे, उस वृत्तिकी आवश्यकता है; और इससे सिद्ध होता

§§ यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ १७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ १८॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ १९॥

है, कि इस यज्ञचक्रको अनासक्त-बुद्धिसे इस जगत्‌में सदा चलाते जाना चाहिये। अब यह बात मालूम हो चुकी, कि मीमांसकोंका या त्रयी-धर्मका कर्मकांड (यज्ञचक्र) गीता-धर्ममें अनासक्त-बुद्धिकी युक्तिसे कैसे स्थिर रखा गया है (गीतार. प्र. ११, पृ. ३४७–३४८)। परंतु कई संन्यास-मार्गवाले वेदान्ती इस विषयमें शंका करते हैं, कि आत्मज्ञानी पुरुषको जब यहीं मोक्ष प्राप्त हो जाता है, और उसे जो कुछ प्राप्त करना होता है, वह सब उसे यहीं मिल जाता है, तब उसे इस जगतमें कुछभी कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है, और उसको कर्म करनाभी न चाहिये। इसी शंकाका उत्तर अगले तीन श्लोकोंमें दिया है।]

(१७) परंतु जो मनुष्य केवल आत्मामेंही रत, आत्मामेंही तृप्त और आत्मामेंही संतुष्ट हो जाता है, उसके लिये (स्वयं अपना) कुछभी कार्य (शेष) नहीं रह जाता; (१८) उसी प्रकार यहाँ अर्थात् इस जगतमें (कोई काम) करनेसे या न करनेसेभी उसका लाभ नहीं होता; और सब प्राणियोंमें उसका (अपना) कुछभी मतलब अटका नहीं रहता। (१९) तस्मात् अर्थात् जब ज्ञानी पुरुष इस प्रकार कोईभी अपेक्षा नहीं रखता, तब तूभी (फलकी) आसक्ति छोड़कर (अपना) कर्तव्य-कर्म सदैव किया कर। क्योंकि आसक्ति छोड़कर कर्म करनेवाले मनुष्यको परमगति प्राप्त होती है।

[१७ से १९ तकके श्लोकोंका टीकाकारोंने बहुतही विपर्यास कर डाला है, इसलिये हम पहले उनका सरल भावार्थही बतलाते हैं। तीनों श्लोक मिलकर हेतु-अनुमानयुक्त एकही वाक्य है। इनमेंसे १७ वें और १८ वें श्लोकोंमें पहले उन कारणोंका उल्लेख किया गया है, कि जो ज्ञानी पुरुषके कर्म करनेके विषयमें साधारण रीतिसे बतलाये जाते हैं; और इन्हीं कारणोंसे गीताने जो अनुमान निकाला है, वह १९ वें श्लोकमें कारणबोधक 'तस्मात्' शब्दका प्रयोग पहले करके बतलाया गया है। इस जगतमें सोना, बैठना, उठना या जिंदा रहना आदि सब कर्मोंको कोई छोड़नेकी इच्छा करे, तो वे छूट नहीं सकते। अतः इस अध्यायके आरंभमें, चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें, स्पष्ट कह दिया गया है, कि कर्मोंको

छोड़ देनेसे न तो नैष्कर्म्य होता है और न वह सिद्धि प्राप्त करनेका उपायभी है। परंतु इसपर संन्यास-मार्गवालोंकी यह दलील है, कि " हम कुछ सिद्धि प्राप्त करनेके लिये कर्म करना नहीं छोड़ते हैं। प्रत्येक मनुष्य इस जगतमें जो कुछ करता है, वह अपने या पराये लाभके लियेही करता है। किंतु मनुष्यका अपना परम साध्य जो सिद्धावस्था अथवा मोक्ष है; वह ज्ञानी पुरुषको उसके ज्ञानसे प्राप्त हुआ करता है, इसलिये उसको ज्ञान प्राप्त हो जानेपर अन्य कुछभी प्राप्त करनेके लिये नहीं रहता (श्लोक १७)। ऐसी अवस्थामें, चाहे वह कर्म करे या न करे, उसे दोनों बातें समान है। अच्छा; यदि कहें कि उसे लोकोपयोगार्थ कर्म करने चाहिये, तो लोगोंसेभी उसे कुछ लेना-देना नहीं रहता (श्लोक १८)। फिर वह कर्म करेही क्यों?" इसका उत्तर गीता यों देती है, कि जब कर्म करना और न करनाभी तुम्हें दोनों एक-से हैं, तब कर्म न करनेकाही तुम्हारा इतना हठ क्यों है? जो कुछ शास्त्रके अनुसार प्राप्त होता जाय, उसे आग्रहविहीन बुद्धिसे करके छुट्टी पा जाओ। इस जगतमें कर्म किसीकेभी छूटते नहीं हैं; फिर चाहे वह ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी। अब दीखनेमें तो यह बड़ीही जटिल समस्या जान पड़ती है, कि कर्म तो छूटनेसे रहे; और ज्ञानी पुरुषको स्वयं अपने लिये उनकी आवश्यकता नहीं! परंतु गीताको यह समस्या कुछ कठिन नहीं जँचती। गीताका कथन यह है, कि जब कर्म छूटताही नहीं है, तब उसे करनाही चाहिये। किंतु अब स्वार्थबुद्धि न रहनेसेही उसे निःस्वार्थ अर्थात् निष्काम बुद्धिसे किया करो। १९ वें श्लोकमें 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके यही उपदेश अर्जुनको किया गया है, एवं इसकी पृष्टिमें आगे २२ वें श्लोकमें यह दृष्टान्त दिया गया है, कि सबसे श्रेष्ठ ज्ञानी भगवान् स्वयं अपना कुछभी कर्तव्य न होनेपरभी कर्महीं करते हैं। सारांश, संन्यास-मार्गके लोग ज्ञानी पुरुषकी स्थितिका वर्णन करते हैं, उसे ठीक मान लें, तो गीताका यह वक्तव्य है, कि उस स्थितिसे कर्म-संन्यास-पक्ष सिद्ध होनेके बदले, सदा निष्काम कर्म करते रहनेका पक्षही औरभी दृढ हो जाता है। परंतु संन्यास-मार्गवाले टीकाकारोंको कर्मयोगकी उक्त युक्ति और सिद्धान्त (श्लोक ७, ८, ९) मान्य नहीं है, इसलिये वे उक्त कार्यकारणभावको, अथवा समूचे अर्थप्रवाहको, या आगे बतलाये हुए भगवानके दृष्टान्तकोभी नहीं मानते (श्लोक २२, २५, ३०)। उन्होंने, इन तीनों श्लोकोंको तोड़-मरोड़कर स्वतंत्र मान लिया है; और इनमेंसे पहले दो श्लोकोंमें जो यह निर्देश है, कि "ज्ञानी पुरुषको स्वयं अपना कुछभी कर्तव्य नहीं रहता।" उसीको गीताका अंतिम सिद्धान्त मानकर, उसी आधारपर यह प्रतिपादन किया है, कि भगवान् ज्ञानी पुरुपसे कहते हैं, कि कर्म छोड़ दे! परंतु ऐसा करनेसे तीसरे अर्थात् १९ वें श्लोकमें अर्जुनको जो लगे हाथ यह उपदेश किया है, कि "आसक्ति छोड़कर कर्म कर।" वह अलग हुआ जाता है और उसकी उपपत्तिभी नहीं लगती। इस

पेंचसे बचनेके लिये, इन टीकाकारोंने यह अर्थ करके अपना समाधान कर लिया है, कि अर्जुनको कर्म करनेका उपदेश तो इसलिये किया है, कि वह अज्ञानी था! परंतु इतनी माथापच्ची करनेपरभी १९वें श्लोकका 'तस्मात्' पद निरर्थकही रह जाता है; और संन्यास-मार्गवालोंका किया हुआ यह अर्थ इसी अध्यायके पूर्वापर संदर्भसेभी विरुद्ध होता है; एवं गीताके अन्यान्य स्थलोंके इन उल्लेखोंसेभी विरुद्ध हो जाता है, कि ज्ञानी पुरुषोंकोभी आसक्ति छोड़कर कर्म करना चाहिये; तथा आगे भगवानने जो अपना दृष्टान्त दिया है, उससेभी यह अर्थ विरुद्ध हो जाता है (गीता २. ४७; ३. ७. २५; ४. २३; ६. १; १८. ६. ९; गीतारहस्य प्र. ११, पृ. ३२३–३२६)। इसके सिवा एक बात औरभी है, वह यह, कि इस अध्यायमें उस कर्मयोगकाही विवेचन चल रहा है, कि जिसके कारण कर्म करनेपरभी वे बंधक नहीं होते (गीता २. ३९); उस विवेचनके बीचमेंही यह बे-सिरपैरकी-सी बात कोईभी समझदार मनुष्य न कहेगा, कि "कर्म छोड़ना उत्तम है"। फिर भला भगवान् यह बात क्यों कहने लगे? अतएव निरे सांप्रदायिक आग्रहके और खींचातानीके ये अर्थ माने नहीं जा सकते। योगवासिष्ठमें लिखा है, कि जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुषकोभी कर्म करने चाहिये; और जब रामने पूछा – "मुझे बतलाइये, कि मुक्त पुरुष कर्म क्यों करे?" तब वसिष्ठने उत्तर दिया है :–

ज्ञस्य नार्थः कर्मत्यागैः नार्थः कर्मसमाश्रयैः।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ॥

"ज्ञ अर्थात् ज्ञानी पुरुषको कर्म छोड़नेसे या करनेसेभी कोई लाभ नहीं उठाना होता, अतएव (तेन) वह जो जैसे प्राप्त हो जाय, उसे वैसे किया करता है" (योग ६. उ. १९९. ४)। इसी ग्रंथके अंतमें, उपसंहारमें फिर गीताकेही शब्दोंमें पहले यह कारण दिखलाया है :–

मम नास्ति कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
यथाप्राप्तेन तिष्ठामि ह्यकर्मणि क आग्रहः॥

"किसी बातका करना या न करना मुझे एक-सा-ही है।" और दूसरीही पंक्तिमें कहा है, कि जब दोनों बातें एकहीसी हैं, तब फिर "कर्म न करनेका आग्रहही क्यों है? जो जो शास्त्रकी रीतिसे प्राप्त होता जाय, उसे मैं करता रहता हूँ" (यो. ६ उ. २१६. १४)। उसी प्रकार इसके पहले, योगवासिष्ठमें "नैव तस्य कृतेनार्थो०" आदि, और गीताका श्लोकही शब्दशः लिया गया है, और आगेके श्लोकमें कहा है, कि "यद्यथा नाम संपन्नं तत्तथाऽस्त्वितरेण किम्" – अतः जो प्राप्त हो, उसेही (जीवमुक्त) किया करता है; और कुछ प्रतीक्षा करता हुआ नहीं बैठता (यो. ६. उ. १२५. ४९. ५०)। योगवासिष्ठमेंही

§ § कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

नहीं; किंतु गणेशगीतामेंभी इसी अर्थके प्रतिपादनमें यह श्लोक आया है :–

किंचिदस्य न साध्यं स्यात्सर्वजन्तुषु सर्वदा ।
अतोऽसक्ततया भूप कर्तव्यं कर्म जन्तुभिः ।।

"उसका अन्य प्राणियोंमें कोई साध्य (प्रयोजन) शेष नहीं रहता; अतएव हे राजन् ! लोगोंको अपना अपना कर्तव्य आसक्तबुद्धिसे करते रहना चाहिये" (गणेशगीता २. १८) । इन सब उदाहरणोंपर ध्यान देनेसे ज्ञात होगा, कि यहाँपर गीता तीनों श्लोकोंका जो कार्यकारण-संबंध हमने ऊपर दिखलाया है, वही ठीक है । और गीताके तीनों श्लोकोंका पूरा अर्थ योगवासिष्ठके एक ही श्लोकमें आ गया है। अतएव उसके कार्यकारणभावके विषयमें शंका करनेके लिये स्थानही नहीं रह जाता। गीताकी इन्हीं युक्तियोंको महायान-पंथके बौद्ध ग्रंथकारोंनेभी पीछेसे ले लिया है (गीतारहस्य परिशिष्ट पृ. ५६८–५६९, ५८२–५८३)। ऊपर जो यह कहा गया है, कि स्वार्थ न रहनेके कारणसेही ज्ञानी पुरुषको अपना कर्तव्य निष्काम बुद्धिसे करना चाहिये; और इस प्रकारसे किये हुए निष्काम कर्मका मोक्षमें बाधक होना तो दूर रहा, उसीसे सिद्धि मिलती है – इसीकी पुष्टिके लिये अब दृष्टान्त देते हैं :–]

(२०) जनक आदिनेभी इस प्रकार कर्मसेही सिद्धि पाई है। इसी प्रकार लोक-संग्रहपर दृष्टि देकरभी तुझे कर्म करनाही उचित है।

[इस श्लोकके पहले चरणमें इस बातका उदाहरण दिया है, कि निष्काम कर्मोसे सिद्धि मिलती है; और दूसरे चरणसे भिन्न रीतिके प्रतिपादनका आरंभ कर दिया है। यह तो सिद्ध किया, कि ज्ञानी पुरुषका लोगोंमें कुछ अटका नहीं रहता; तोभी जब उसका कर्म छूटही नहीं सकता, तब तो उसे निष्काम कर्मही करना चाहिये। परंतु यद्यपि यह युक्ति नियमसंगत है, कि कर्म जब छूट नहीं सकता है, तब उन्हें करनाही चाहिये। तथापि सिर्फ़ इसीसे साधारण मनुष्योंका पूरा पूरा विश्वास नहीं हो जाता। मनमें शंका होती है, कि क्या कर्म टाले नहीं टलते हैं, इसीलिये उसे करना चाहिये ? उसमें और कोई साध्य नहीं है ? अतएव इस श्लोकके दूसरे चरणसे यह दिखलानेका आरंभ कर दिया है, कि इस जगतमें अपने कर्मसे लोकसंग्रह करना ज्ञानी पुरुषका एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रत्यक्ष साध्य है। 'लोकसंग्रहमेवापि' के 'एवापि' पदका यही तात्पर्य है। और इससे स्पष्ट होता है, कि अब भिन्न रीतिके प्रतिपादनका आरंभ हो गया है। 'लोकसंग्रह' शब्दमें 'लोक'का अर्थ व्यापक है; अतः इस शब्दमें न केवल मनुष्यजातिकोही, वरन् सारे जगतको सन्मार्गपर लाकर, उसको नाशसे

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

बचाते हुए संग्रह करना – अर्थात् भली भाँति धारण, पोषण-पालन या बचाव करना इत्यादि सभी बातोंका समावेश हो जाता है। गीतारहस्यके ग्यारहवें प्रकरण (पृ. ३३०–३३८) में इन बातोंका विस्तृत विचार किया गया है, इसलिये हम यहाँ उसकी पुनरुक्ति नहीं करते। अब पहले यह बतलाते हैं, कि लोकसंग्रह करनेका यह कर्तव्य या अधिकार ज्ञानी पुरुषकाही क्यों है :–]

(२१) श्रेष्ठ (अर्थात् आत्मज्ञानी कर्मयोगी) पुरुष जो कुछ करता है, वही अन्य अर्थात् साधारण मनुष्यभी किया करते हैं। वह जिसे प्रमाण मानकर अंगीकार करता है, लोग उसीका अनुकरण करते हैं।

[तैत्तिरीय उपनिषदमेंभी पहले 'सत्यं वद', 'धर्मं चर' इत्यादि उपदेश किया है और फिर अंतमें कहा है, कि "जब तुम्हें संदेह हो कि यहाँ संसारमें किसी प्रसंगपर कैसे बर्ताव करें, तब वैसेही बर्ताव करो, कि जैसा ज्ञानी, युक्त और धर्मिष्ठ ब्राह्मण करते हों" (तै. १.११.४)। इसी अर्थका एक श्लोक नारायणीय धर्ममेंभी है (मभा. शां. ३४१.२५); और इसी आशयका मराठीमें श्रीरामदास स्वामीजीका जो एक श्लोक है, वह इसीका अनुवाद है। और जिसका सार यह है :– "लोककल्याणकारी मनुष्य जैसे बर्ताव करता है वैसेही, इस संसारमें, सब लोगभी किया करते हैं।" यही भाव इस प्रकार प्रकट' किया जा सकता है – "देख भलोंकी चालको, बर्ते सब संसार।" रामदास स्वामीजीका यह लोककल्याणकारी पुरुषही गीताका श्रेष्ठ कर्मयोगी है। श्रेष्ठ शब्दका अर्थ "आत्मज्ञानी संन्यासी" नहीं है (गीता ५.२)। अब भगवान् स्वयं अपना उदाहरण देकर इसी अर्थको औरभी दृढ करते हैं, कि आत्मज्ञानी पुरुषकी स्वार्थबुद्धि छूट जानेपरभी, लोककल्याणके कर्म उससे छूट नहीं जाते :–]

(२२) हे पार्थ ! (देखो, कि) त्रिभुवनमें न तो (मेरा) कुछ कर्तव्य (शेष) रहा है, (और) न कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करनेको (रह गई) है; तोभी मैं कर्म करताही रहता हूँ। (२३) क्योंकि यदि मैं कदाचित् आलस्य छोड़कर कर्मोंमें न बर्तूंगा, तो हे पार्थ ! सब मनुष्य सब प्रकारसे मेरेही पथका अनुकरण करेंगे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ २४

§ § सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥ २५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ २६॥

(२४) यदि मैं कर्म न करूँ, तो ये सारे लोक उत्सन्न अर्थात् नष्ट हो जावेंगे, मैं संकरकर्ता होऊँगा और इन प्रजाजनोंका मेरे हाथसे नाश होगा।

[भगवानने अपना उदाहरण देकर इस श्लोकमें भली भाँति स्पष्ट कर दिखला दिया है, कि लोकसंग्रह कुछ पाखंड नहीं है। इसी प्रकार हमने ऊपर १७ से १९ वें श्लोकका जो यह अर्थ किया है, कि ज्ञान प्राप्त हो जानेपर ज्ञाताका कुछ कर्तव्य भलेही न रह गया हो; फिरभी निष्काम बुद्धिसे सारे कर्म उसे करते रहना चाहिये, वहभी स्वयं भगवानके इस दृष्टान्तसे पूर्णतया सिद्ध हो जाता है। यदि ऐसा न हो, तो यहही दृष्टान्त निरर्थक हो जागया (गीतार. प्र. ११, पृ. ३२४–३२५)। सांख्य-मार्ग और कर्म-मार्गमें यह बड़ा भारी भेद है, कि सांख्यमार्गके ज्ञानी पुरुष सारे कर्म छोड़ बैठते हैं, फिर चाहे इस कर्मत्यागसे यज्ञचक्र डूब जाय और जगतका कुछभी हुआ करे–उन्हें उसकी परवाह नहीं होती; और कर्ममार्गके ज्ञानी पुरुष; स्वयं अपने लिये आवश्यक न भी हो, तोभी लोकसंग्रहको महत्त्वपूर्ण आवश्यक साध्य समझकर, तदर्थ अपने धर्मके अनुसार, अपने सारे काम किया करते हैं (गीतारहस्य प्र. ११, पृ. ३५५–३५८)। यह बतला दिया गया, कि स्वयं भगवान क्या करते हैं। अब ज्ञानियों और अज्ञानियोंके कर्मोंका भेद दिखलाकर बतलाते हैं, कि अज्ञानियोंको सुधारनेके लिये ज्ञाताका आवश्यक कर्तव्य क्या है :–]

(२५) हे अर्जुन! (इसलिये) लोकसंग्रह करनेकी इच्छा रखनेवाले ज्ञानी पुरुषकोभी आसक्ति छोड़कर उसी प्रकार बर्तना चाहिये, जिस प्रकार कि (व्यावहारिक) कर्मोंमें आसक्त अज्ञानी लोग बर्ताव करते हैं। (२६) कर्ममें आसक्त अज्ञानियोंकी बुद्धिमें ज्ञानी पुरुष भेद-भाव उत्पन्न न करे; (आप स्वयं) युक्त अर्थात् योगयुक्त हो कर सभी काम करे; और लोगोंसे खुशीसे करावे।

[इस श्लोकका अर्थ यह है, कि अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भेदभाव उत्पन्न न करें; और आगे चल कर २९ वें श्लोकमेंभी यही बात फिरसे कही गई है। परंतु इसका मतलब यह नहीं है, कि लोगोंको अज्ञानमें बनाये रखे। २५ वें श्लोकमें

कहा है; कि ज्ञानी पुरुषको लोकसंग्रह करना चाहिये। लोकसंग्रहका अर्थही लोगोंको चतुर बनाना है। परंतु इसपर कोई शंका करे, कि जो लोकसग्रहही करना हो, तो फिर यह आवश्यक नहीं, कि उसके लिये ज्ञानी पुरुष स्वयं कर्म करे; लोगोंको समझा देने – ज्ञानका उपदेश कर देने – सेही काम चल जाता है। इसका भगवान् यह उत्तर देते हैं, कि जिनको सदाचारणका दृढ अभ्यास हो नहीं गया है, (और साधारण लोग ऐसेही होते हैं), उनको यदि केवल मुँहसे उपदेश किया जाय – सिर्फ़ ज्ञान बतला दिया जाय – तो वे अपने अनुचित बर्तावके समर्थनमेंही उस ब्रह्मज्ञानका दुरुपयोग किया करते हैं; और उलटे वे ऐसी व्यर्थ बातें कहते-सुनते सदैव देखे जाते हैं, कि " अमुक ज्ञानी पुरुष तो ऐसे कहता है। " इसी प्रकार यदि ज्ञानी पुरुष कर्मोंको सर्वथा छोड़ बैठे, तो अज्ञानी लोगोंको निरुद्योगी बननेके लिये वह एक उदाहरणही बन जाता है। लोगोंका इस प्रकार बातूनी, अथवा निरुद्योगी हो जानाही चालाक बुद्धिभेद है; और लोगोंकी बुद्धिमें इस प्रकारसे भेद-भाव उत्पन्न कर देना ज्ञाता पुरुषको उचित नहीं है। अतएव गीतामें यह सिद्धान्त किया है, कि जो पुरुष ज्ञानी हो जाय, वह. लोकसंग्रहके लिये, अर्थात् लोगोंको चतुर और सदाचरणी बनानेके लिये, स्वयं संसारमें रहकर निष्काम कर्म अर्थात् सदाचरणका प्रत्यक्ष आदर्श लोगोंको दिखलावें; और तदनुसार उनसे आचरण करावें – यही जगत्में उसका बड़ा महत्त्वपूर्ण काम है (गी. र. प्र. १२, पृ. ४०३–४०४)। किंतु गीताके इस अभिप्रायको समझे-बूझेबिना कुछ टीकाकार इस श्लोकका यों विपरीत अर्थ किया करते हैं, कि " ज्ञानी पुरुषको अज्ञानियोंके समानही कर्म करनेका स्वाँग इसलिये करना चाहिये, जिससे कि अज्ञानी लोग नादान बने रह करही अपने कर्म करते रहें ! " मानो दंभाचरण सिखलाने अथवा लोगोंको अज्ञानी बने रहने देकर जानवरोंके समान उनसे कर्म करा लेनेके लियेही गीता प्रवृत्त हुई है ! जिनका यह दृढ निश्चय है; कि ज्ञानी पुरुष कर्म न करे; संभव है, कि उन्हें लोकसंग्रह एक ढोंग-सा प्रतीत हो; परंतु गीताका वास्तविक अभिप्राय ऐसा नहीं है। भगवान् कहते हैं, कि ज्ञानी पुरुषके कामोंमेंसे लोकसंग्रह एक महत्त्वपूर्ण काम है; और ज्ञानी पुरुषभी अपने उत्तम आदर्शके द्वारा लोगोंको सुधारनेके लिये – नादान बनाये रखनेके लिये नहीं – कर्मही किया करे (गीतारहस्य प्र. ११, १२)। अब यह शंका हो सकती है, कि यदि आत्मज्ञानी पुरुष इस प्रकार लोकसंग्रहके लिये सांसारिक कर्म करने लगे तो वहभी अज्ञानीही बन जायगा, अतएव स्पष्ट कर बतलाते हैं, कि यद्यपि ज्ञानी और अज्ञानी, दोनोंभी संसारी बन जाय, तथापि उन दोनोंके बर्तावमें भेद क्या है और ज्ञानवानसे अज्ञानीको किस बातकी शिक्षा लेनी चाहिये :–]

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥
प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ।
§ § मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

(२७) प्रकृतिके (सत्त्व-रज-तम) गुणोंसे सब प्रकार कर्म हुआ करते हैं; पर अहंकारसे मोहित (अज्ञानी पुरुष) समझता है, कि मैं कर्ता हूँ; (२८) परंतु हे महाबाहु अर्जुन ! "गुण और कर्म ये दोनोंभी मुझसे भिन्न हैं" इस तत्त्वको जाननेवाला (ज्ञानी पुरुष), यह समझ कर उनमें आसक्त नहीं होता, कि गुणोंका यह आपसमें खैल हो रहा है। (२९) प्रकृतिके गुणोंसे बहके हुए लोग गुण और कर्मोंमेंही आसक्त रहते हैं; इन असर्वज्ञ और मंद जनोंको सर्वज्ञ पुरुष (अपने कर्मत्यागसे किसी अनुचित मार्गमें लगा कर) बिचला न दे।

[यहाँ २६ वें श्लोकके अर्थकाही अनुवाद किया गया है। इस श्लोकमें जो ये सिद्धान्त हैं, कि प्रकृति भिन्न है और आत्मा भिन्न है; प्रकृति अथवा मायाही सब कुछ करती है, आत्मा कुछ करता-धरता नहीं है; जो इस तत्त्वको जान लेता है, वही बुद्ध अथवा ज्ञानी हो जाता है, उसे कर्मका बंधन नहीं होता; इत्यादि – वे मूलमें कापिल-सांख्यशास्त्रके हैं; और गीतारहस्यके ७ वें प्रकरण (पृ. १६५–१६७) में उनका पूर्ण विवेचन किया गया है, उसे देखिये। २८ वें श्लोकका कुछ लोग यों अर्थ करते हैं, कि गुण याने इंद्रियाँ गुणोंमें याने विषयोंमें बर्तती हैं। यह अर्थ कुछ अशुद्ध नहीं है; क्योंकि सांख्यशास्त्रके अनुसार ग्यारह इंद्रियाँ और शब्द-स्पर्श आदि पाँच विषय मूल प्रकृतिके २३ गुणोंमेंसेही गुण हैं। परंतु इसकी अपेक्षा प्रकृतिके समस्त अर्थात् चौबीस गुणोंको लक्ष्य करकेही यह "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" सिद्धान्त स्थिर किया गया हैं (गीता १३. १९–२२; १४. २३)। हमने उसका शब्दशः और व्यापक रीतिसे अनुवाद किया है। भगवानने यह बतलाया है, कि ज्ञानी और अज्ञानी एकही कर्म करें, तोभी उसमें बुद्धिकी दृष्टिसे इस प्रकार बहुत बड़ा भेद रहता है (गीतारहस्य प्र. ११, पृ. ३१२, ३३०) अब इस पूरे विवेचनके सार-रूपसे यह उपदेश करते हैं :–]

(३०) (इसलिये हे अर्जुन !) मुझमें अध्यात्म बुद्धिसे सब कर्मोंका संन्यास

§ § ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

§ § सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेतौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

अर्थात् अर्पण करके और (फलकी) आशा एवं ममता छोड़ कर तू निश्चित हो करके युद्ध कर !

| [अब यह बतलाते हैं, कि इस उपदेशके अनुसार बर्ताव करनेसे क्या
| फल मिलता है और बर्ताव न करनेसे कैसी गति होती है :–]

(३१) जो श्रद्धावान् (पुरुष) दोषोंको न खोजकर मेरे इस मतके अनुसार नित्य बर्ताव करते हैं, वेभी कर्मसे अर्थात् कर्मबंधनसे मुक्त हो जाते हैं। (३२) परंतु जो दोष-दृष्टिसे शंकाएँ करके मेरे इस मतके अनुसार नहीं बर्तते, उन सर्वज्ञान-विमूढ अर्थात् पक्के मूर्ख अविवेकियोंको नष्ट हुए समझ ।

| [निष्काम बुद्धिसे समस्त कर्म करनेके लिये कहनेवाले कर्मयोगकी
| श्रेयस्करताके संबंधमें ऊपर अन्वयव्यतिरेकसे जो फलश्रुति बतलाई गई है, उससे
| पूर्णतया व्यक्त हो जाता है, कि गीतामें कौनसा विषय प्रतिपाद्य है। इसी कर्म-
| योग-निरूपणकी पूर्तिके हेतु भगवान् प्रकृतिकी प्रबलताका और फिर उसे रोकनेके
| लिये इंद्रियनिग्रहका वर्णन करते हैं :–]

(३३) ज्ञानी पुरुषभी अपनी प्रकृतिके अनुसार बर्तता है। सभी प्राणी (अपनी अपनी) प्रकृतिके अनुसार रहते हैं, अर्थात् (वहाँ) निग्रह जबर्दस्ती क्या करेगी ? (३४) इंद्रिय और उसके (शब्द-स्पर्श आदि) विषयोंमें प्रीति एवं द्वेष (दोनों) व्यवस्थित हैं – अर्थात् स्वभावतः निश्चित हैं। इस प्रीति और द्वेषके वशमें न जाना चाहिये; (क्योंकि) वे मनुष्यके शत्रु हैं।

| [तैंतीसवें श्लोकके 'निग्रह' शब्दका अर्थ 'निरा संयमन' नहीं है : किंतु
| उसका अर्थ 'जबर्दस्ती' अथवा 'हठ' है। इंद्रियोंका योग्य संयमन तो गीताको इष्ट
| है; किंतु यहाँपर कहना यह है, कि हठसे या जबर्दस्तीसे इंद्रियोंकी स्वाभाविक
| वृत्तियोंकोभी एकदम मार डालना संभव नहीं है। उदाहरण लीजिये; जबतक
| देह है, तबतक भूख-प्यास आदि धर्म, प्रकृतिसिद्ध होनेके कारण, छूट नहीं सकते;

§ § श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

| मनुष्य कितनाही ज्ञानी क्यों न हो; भूख लगतेही भिक्षा माँगनेके लिये तो उसे बाहर निकलनाही पड़ता है; इसलिये चतुर पुरुषका यही कर्तव्य है, कि जबर्दस्तीसे इंद्रियोंको बिलकुलही मार डालनेका वृथा हठ न करें; और योग्य संयमके द्वारा उन्हें अपने वशमें करके उनकी स्वभावसिद्ध वृत्तियोंका लोकसंग्रहार्थ उपयोग किया करे – यही इस श्लोकका भावार्थ है । इसी प्रकार ३४ वें श्लोकके 'व्यवस्थित' पदसे प्रकट होता है, कि सुख और दुःख, ये दोनों विकार स्वतंत्र हैं, एक दूसरेका अभाव नहीं है (गीतारहस्य प्र. ४, पृ. १००, ११५) । प्रकृति अर्थात् सृष्टिके अखंडित व्यापारमें कई बार हमें ऐसी बातेंभी करनी पड़ती हैं, कि जो हमें स्वयं पसंद नहीं (गीता १८. ५९); और यदि नहीं करते हैं, तो निर्वाह नहीं होता । ऐसे समय ज्ञानी पुरुष इन कर्मोंको निरिच्छ-बुद्धिसे केवल कर्तव्य समझकर करता जाता है और उनके पापपुण्यसे अलिप्त रहता है; और अज्ञानी उन्हींमें आसक्ति रखकर दुःख पाता है; भास कविके वर्णनानुसार बुद्धिकी दृष्टिसे यही इन दोनोंमें बड़ा भारी भेद है । परंतु अब एक और शंका होती है, कि यद्यपि यह सिद्ध हो गया, कि इंद्रियोंको जबर्दस्ती मारकर कर्मत्याग न करे; किंतु निःसंग-बुद्धिसे सभी काम करता जावे; परंतु यदि ज्ञानी पुरुष युद्धके समान हिंसात्मक घोर कर्म करनेकी अपेक्षा खेती, व्यापार या भिक्षा माँगना आदि निरुपद्रवी और सौम्य कर्म करे, तो क्या अधिक प्रशस्त नहीं है? भगवान इसका यह उत्तर देते है :–]

(३५) पराये धर्मका आचरण सुखसे करते बने, तोभी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्यविहित कर्मही अधिक श्रेयस्कर है; (फिर चाहे) वह विगुण अर्थात् सदोष भलेही हो। स्वधर्मके अनुसार (वर्तनेमें) मृत्यु हो जावे, तोभी उसमें कल्याण है, (परंतु) परधर्म भयंकर होता है !

| [स्वधर्मका अर्थ, वह व्यवहाय है, कि जो स्मृतिकारोंकी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके अनुसार प्रत्येक मनुष्यको शास्त्रद्वारा नियत कर दिया गया है; स्वधर्मका अर्थ मोक्ष-धर्म नहीं है । सब लोगोंके कल्याणके लिये ही गुण-कर्मके विभागसे चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाको (गीता १८. ४१) शास्त्रकारोंने प्रवृत्त कर दिया है, अतएव भगवान् कहते हैं कि ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि, ज्ञानी हो जानेपरभी, अपना अपना व्यवसाय करते रहें, इसीमें उनका और समाजका कल्याण है और इस व्यवस्थामें बार बार गड़बड़ करना योग्य नहीं है (गीतार. प्र. ११, पृ. ३३६; प्र. १५, पृ. ४९६) । " तेलीका काम तँबोली करे, दैव न मारे आप

अर्जुन उवाच ।

§ § अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

मरे " इस प्रचलित लोकोक्तिका भावार्थभी यही है। जहाँ चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाका चलन नहीं है, वहाँभी सबको यही श्रेयस्कर जँचेगा, कि जिसने सारी जिंदगी फौजी मुहकमेमें विताई हो, यदि फिर काम पड़े, तो उसको सिपाहीका पेशाही सुभीतेका होगा; न कि दर्जीका रोजगार; और यही न्याय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके लियेभी उपयोगी है। यह प्रश्न भिन्न है, कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था भली है या बुरी; और वह यहाँ उपस्थितभी नहीं होता। यह बात तो निर्विवाद है, कि समाजका समुचित धारण-पोपण होनेके लिये खेतीके जैसे निरुपद्रवी और सौम्य व्यवसायकीही भाँति अन्यान्य कर्मभी आवश्यक हैं। अतएव, जहाँ एक बार किसीभी उद्योग को अंगीकार किया – फिर चाहे उसे चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके कारण स्वीकार करो या अपनी मर्जीसे, – कि वह धर्म हो गया। फिर किसी विशेष अवसरपर उसमें मीन-मेख निकालकर अपना कर्तव्य-कर्म छोड़ बैठना अच्छा नहीं है; आवश्यकता होनेपर उस व्यवसायमेंही मर जाना चाहिये। बस, यही इस श्लोकका भावार्थ है। कोईभी व्यापार या रोजगार हो; उसमें कुछ-न-कुछ दोष सहजही निकाला जा सकता है (गीता १८. ४८)। परंतु इस नुक्ताचीनीके मारे अपना नियत कर्तव्यही छोड़ देना, कुछ धर्म नहीं है। महाभारतके ब्राह्मण-व्याध-संवादमें और तुलाधार-जाजलि-संवादमेंभी यही तत्त्व बतलाया गया है, एवं वहाँके ३५ वें श्लोकका पूर्वार्ध मनुस्मृतिमें (मनु. १०. ९७) और गीतामेंभी (गीता १८. ४७) आया है। भगवानने ३३ वें श्लोकमें कहा है, कि " इंद्रियोंको मारनेका हठ नहीं चलता। " इसपर अब अर्जुनने पूछा है, कि इंद्रियोंको मारनेका हठ क्यों नहीं चलता? और अपनी मर्जी न होने परभी मनुष्य बुरे कामोंकी ओर क्यों घसीटा जाता है?]

अर्जुनने कहा :– (३६) हे वार्ष्णेय (श्रीकृष्ण)! अब (यह बतलाओ, कि) अपनी इच्छा न रहनेपरभी मनुष्य, जबर्दस्तीसे, किसकी प्रेरणासे पाप करता है। श्रीभगवानने कहा :– (३७) इस विपयमें यह समझ कि रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाला बड़ा पेटू और बड़ा पापी यह काम एवं यह क्रोधही शत्रु है।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

§§ इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

---

(३८) जिस प्रकार धुएँसे अग्नि, धूलिसे दर्पण और जेरसे गर्भ ढँका रहता है, उसी प्रकार उससे यह सब ढँका हुआ है। (३९) हे कौन्तेय ! कभीभी तृप्त न होनेवाला यह कामरूपी अग्निही ज्ञाताका नित्य वैरी है; उसने ज्ञानको और ढँक रखा है।

| [यह मनुकेही कथनका अनुवाद है, मनुने कहा है, कि " न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ " (मनु. २. ९४) – कामके उपभोगोंसे काम कभी अघाता नहीं है; बल्कि इंधन डालनेपर अग्नि जैसे बढ़ जाती है, उसी प्रकार यह कामभी अधिकाधिक बढ़ता जाता है (गीतार. प्र. ५, पृ. १०६)।]

(४०) इंद्रियोंको, मनको, और बुद्धिको इसका अधिष्ठान अर्थात् घर या गढ़ कहते हैं। इनके आश्रयसे ज्ञानको लपेटकर (ढँककर) यह मनुष्यको भुलावेमें डाल देता है। (४१) अतएव हे भरतश्रेष्ठ ! पहले इंद्रियोंका संयम करके ज्ञान (अध्यात्म) और विज्ञानका (विशेष ज्ञान) नाश करनेवाले इस पापीको तू मार डाल।

(४२) कहा है, कि (स्थूल बाह्य पदार्थोंके मानसे उनको जाननेवाली) इंद्रियाँ पर अर्थात् परे हैं, इंद्रियोंके परे मन है, मनसेभी परे (व्यवसायात्मिका) बुद्धि है; और जो बुद्धिसेभी परे है, वह आत्मा है। (४३) हे महाबाहु अर्जुन !

इस प्रकार (जो) बुद्धिसे परे है, उसको पहचानकर और अपने आपको रोक करके दुरासाध्य कामरूपी शत्रुको तू मार डाल।

[कामरूपी आसक्तिको छोड़ कर स्वधर्मके अनुसार लोकसंग्रहार्थ समस्त कर्म करनेके लिये इंद्रियोंपर अपनी सत्ता होनी चाहिये; बस, यहाँ इतनाही इंद्रियनिग्रह विवक्षित है। यह अर्थ नहीं है, कि इंद्रियोंको जबर्दस्तीसे एकदम मार करके सारे कर्म छोड़ दे (गीतार. प्र. ५, पृ. ११५)। गीतारहस्यमें (परि. पृ. ५२८) दिखलाया है, कि " इंद्रियाणि पराण्याहु:० " इत्यादि ४२ वाँ श्लोक कठोपनिषदका है; और उसी उपनिषदके अन्य चार-पांच श्लोकभी गीतामें लिये गये हैं। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारका यह तात्पर्य है, कि बाह्य पदार्थोंके संस्कार ग्रहण करना इंद्रियोंका काम है, मनका काम इनकी व्यवस्था करना है; और फिर बुद्धि इनको अलग अलग छाँटती है, एवं आत्मा इन सबसे परे है तथा इन सबसे भिन्न है। इस विषयका विस्तारपूर्वक विचार गीतारहस्यके छठे प्रकरणके अंतमें (पृ. १३२–१४९) किया गया है। – कर्मविपाकके ऐसे गूढ प्रश्नोंका विचार, गीतारहस्यके दसवें प्रकरणमें (पृ. २८०–२८७) किया गया है, कि अपनी इच्छा न रहनेपरभी मनुष्य काम-क्रोध आदि प्रवृत्तिधर्मोंके कारण कोई काम करनेमें क्योंकर प्रवृत्त हो जाता है; और आत्मस्वतंत्रताके कारण इंद्रिय-निग्रहरूप साधनके द्वारा इससेभी छुटकारा पानेका मार्ग कैसे मिल जाता है; इसलिये यहाँ उसकी पुनरुक्ति नहीं की जाती है। गीताके छठे अध्यायमें यह विचार किया गया है, कि इंद्रियनिग्रह कैसे करना चाहिये।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

चतुर्थोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

[कर्म किसीके, छूटते नहीं हैं, इसलिये वुद्धि निष्काम हो जानेपरभी कर्म करनाही चाहिये; कर्मके मानेही यज्ञयाग आदि कर्म हैं; पर मीमांसकोंके ये कर्म स्वर्गप्रद हैं, अतएव एक प्रकारसे बंधक हैं; इस कारण इन्हें आसक्ति छोड़ करके करना चाहिये। ज्ञानसे स्वार्थवुद्धि छूट जावे, तोभी कर्म छूटते नहीं हैं, अतएव ज्ञाताकोभी निष्काम कर्म करनेही चाहिये; लोकसंग्रहके लिये वे आवश्यक हैं; इत्यादि प्रकारसे अब तक कर्मयोगका जो विवेचन किया गया, उसीको इस अध्यायमे दृढ किया है। कहीं यह शंका न हो, कि आयुष्य बितानेका यह मार्ग अर्थात् निष्ठा अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये नई वतलाई गई है; एतदर्थ इस मार्गकी प्राचीन गुरुपरंपरा पहले बतलाते हैं :–]

श्रीभगवानने कहा :– (१) अव्यय अर्थात् कभीभी क्षीण न होनेवाला अथवा त्रिकालमेंभी अबाधित और नित्य यह (कर्म-)योग(-मार्ग) मैंने विवस्वान् अर्थात् सूर्यको बतलाया था; विवस्वानने (अपने पुत्र) मनुको और मनुने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकुको बतलाया। (२) ऐसी परंपरासे प्राप्त हुए इसको (योग) रार्जाषयोंने जाना। परंतु हे शत्रुतापन (अर्जुन)! दीर्घकालके अनन्तर वही योग इस लोकमें नष्ट हो गया। (३) (सब रहस्योंमेंसे) उत्तम रहस्य समझकर उस पुरातन योगको, (कर्मयोगमार्ग) मैंने तुझे आज इसलिये बतला दिया, कि तू मेरा भक्त और सखा है।

| [गीतारहस्यके तीसरे प्रकरणमें (पृ. ५६–६५) हमने सिद्ध किया है, | कि इन तीनों श्लोकोंमें 'योग' शब्दसे, आयु बितानेके उन दोनों मार्गोंमेंसे –

कि जिन्हें सांख्य और योग कहते हैं, – योग अर्थात् कर्मयोग याने साम्य-बुद्धिसे कर्म करनेका मार्ग अभिप्रेत है। गीताके इस मार्गकी जो परंपरा ऊपरके श्लोकमें बतलाई गई है, वह यद्यपि इस मार्गकी जड़को समझनेके लिये अत्यंत महत्त्वकी है, तथापि टीकाकारोंने उसकी विशेष चर्चा नहीं की है – महाभारतके अंतर्गत नारायणीयोपाख्यानमें भागवत धर्मका जो निरूपण है, उसमें जनमेजयसे वैशंपायन कहते हैं, कि यह धर्म पहले श्वेतद्वीपमें भगवानसेही –

नारदेन तु सम्प्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः।
एष धर्मो जगन्नाथात्साक्षान्नारायणान्नृप ।।
एवमेष महान्धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ।।

"नारदको प्राप्त हुआ, और हे राजा ! वही महान् धर्म तुझे पहले हरिगीता अर्थात् भगवद्‌गीतामें समासविधिसहित बतलाया है" (मभा. शां. ३४६. ९, १०)। और फिर आगे कहा है, कि "युद्धमें विमनस्क हुए अर्जुनको यह धर्म बतलाया गया है" (मभा. शां. ३४८. ८)। इससे प्रकट होता है, कि गीताका योग अर्थात् कर्मयोग भागवत धर्मका है (गीतार. प्र. १, पृ. ८–११)। विस्तार हो जानेके भयसे गीतामें उसकी संप्रदाय-परंपरा सृष्टिके मूल आरंभसे नहीं दी है; विवस्वान्, मनु और इक्ष्वाकु, इन्हीं तीनोंका उल्लेख कर दिया है। परंतु इसका सच्चा अर्थ नारायणीय धर्मकी समस्त परंपरा देखनेसे स्पष्ट मालूम हो जाता है। ब्रह्माके कुल सात जन्म हैं। इनमेंसे पहले छः जन्मोंकी नारायणीय धर्ममें कथित, परंपराका वर्णन हो चुकनेपर, जब ब्रह्माके सातवें, अर्थात् वर्तमान, जन्मका कृतयुग समाप्त हुआ, तब –

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ ।।
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः।
गमिष्यति क्षयान्ते च पुनर्नारायणं नृप ।।
यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ।।

"त्रेतायुगके आरंभमें विवस्वानने मनुको (वह धर्म) दिया, मनुने लोक-धारणार्थ वह अपने पुत्र इक्ष्वाकुको दिया; और आगे इक्ष्वाकुसे सब लोगोंमें फैल गया। हे राजा ! सृष्टिका क्षय होनेपर (यह धर्म) फिर नारायणके यहाँ चला जावेगा। यह धर्म और 'यतीनां चापि' अर्थात् इसके साथही संन्यास-धर्मभी पहले तुझसे भगवद्‌गीतामें कह दिया है'–ऐसा नारायणीय धर्ममेंही वैशंपायनने जनमेजयसे फिर कहा है (मभा. शां. ३४८. ५१–१३)। इससे दीख पड़ता है, कि जिस द्वापरयुगके अंतमें भारतीय युद्ध हुआ था, उससे पहलेके त्रेतायुगभर-

अर्जुन उवाच ।

§ § अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

कीही भागवतधर्मकी परंपरा गीतामें वर्णित है, विस्तारभयसे अधिक वर्णन नहीं किया है। यह भागवत धर्मही योग या कर्मयोग है; और मनुको कर्मयोगके उपदेश किये जानेकी यह कथा न केवल गीतामेंही है; प्रत्युत भागवत-पुराणमेंभी (भाग. ८. २४. ५५) इस कथाका उल्लेख है और मत्स्य-पुराणके ५२ वें अध्यायमें मनुको उपदिष्ट कर्मयोगका महत्त्वभी वतलाया गया है। परंतु इनमेंसे कोईभी वर्णन नारायणीयोपाख्यानमें किये गये वर्णनके समान पूर्ण नहीं है। विवस्वान् – मनु – इक्ष्वाकुकी यह परंपरा सांख्य-मार्गको बिलकुलही उपयुक्त नहीं होती; और सांख्य एवं योग, इन दोनोंके अतिरिक्त तीसरी निष्ठा गीतामें वर्णितही नहीं है। इस बातपर ध्यान देनेसे दूसरी रीतिसेभी सिद्ध होता है, कि यह परंपरा कर्मयोगकीही है (गीता २. ३९)। परंतु सांख्य और योग, इन दोनों निष्ठाओंकी परंपरा यद्यपि एक न हो तोभी कर्मयोग अर्थात् भागवत धर्मके निरूपणमेंही सांख्य या संन्यास-निष्ठाके निरूपणका पर्यायमें समावेश हो जाता है (गीतारहस्य प्र. १४, पृ. ४६९)। इस कारण वैशंपायनने कहा है, कि भगवद्गीतामें यति-धर्म अर्थात् संन्यास-धर्मभी वर्णित है। मनुस्मृतिमें चार आश्रम-धर्मोंका जो वर्णन है, उसके छठे अध्यायमें पहले यति अर्थात् संन्यास आश्रमका धर्म कह चुकनेपर विकल्पसे 'वेदसंन्यासिओंका कर्मयोग' इस नामसे गीता या भागवत धर्मके कर्मयोगका वर्णन है; और स्पष्ट कहा है कि "निःस्पृहतासे अपना कार्य करते रहनेसेही अंतमें परम सिद्धि मिलती है" (मनु. ६. ९६); इससे स्पष्ट दीख पड़ता है, कि कर्मयोग मनुकोभी ग्राह्य था। इसी प्रकार अन्य स्मृतिकारोंकोभी यह मान्य था; और इस विषयके अनेक प्रमाण गीतारहस्यके ११ वें प्रकरणके अंतमें (पृ. ३६२–३६७) दिये गये हैं। अब अर्जुनको इस परंपरापर यह शंका है, कि :–]

अर्जुनने कहा :– (४) तुम्हारा जन्म तो अभी हुआ है; और विवस्वानका इससे बहुत पहले हो चुका है; (ऐसी दशामें) मैं यह कैसे जानूं, कि तुमने (यह योग) पहले वतलाया था ?

[अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् अपने अवतारोंके कार्योंका वर्णनकर आसक्तिविरहित कर्मयोग या भागवत धर्मकाही अब फिर समर्थन करते हैं, "कि इस प्रकार मैंभी कर्मोंको करता आ रहा हूं" :–]

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

श्रीभगवानने कहा :– (५) हे अर्जुन ! मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं । उन सबको मैं जानता हूँ; (और) हे परंतप ! तू नहीं जानता (यही भेद है) । (६) मैं (सब) प्राणियोंका स्वामी और जन्मविरहित हूँ और, यद्यपि मेरे आत्मस्वरूपमें कभीभी व्यय अर्थात् विकार नहीं होता, तथापि अपनीही प्रकृतिमें अधिष्ठित होकर मैं अपनी मायासे जन्म लिया करता हूँ ।

[इस श्लोकके अध्यात्मज्ञानमें कापिल-सांख्य और वेदान्त, इन दोनों मतोंकाही मेलकर दिया गया है । सांख्य-मतवालोंका कथन है, कि प्रकृति आप-ही सृष्टि निर्माण करती है । परंतु वेदांती लोग प्रकृतिको परमेश्वरकाही एक स्वरूप समझकर यह मानते हैं, कि प्रकृतिमें परमेश्वरके अधिष्ठित होनेपर प्रकृतिसे व्यक्त-सृष्टि निर्मित होती है । अपने अव्यक्त स्वरूपसे सारे जगतको निर्माण करनेकी परमेश्वरकी इस अचिंत्य शक्तिकोही गीतामें 'माया' कहा है; और इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषदमेंभी ऐसा वर्णन है :– "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।" अर्थात् प्रकृतिही माया है; और उस मायाका अधिपति परमेश्वर है (श्वे. ४. १०); और "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" – इससे मायाका अधिपति सृष्टि उत्पन्न करता है (श्वे. ४. १०) । प्रकृतिको माया क्यों कहते हैं, इस मायाका स्वरूप क्या है, और इस कथनका क्या अर्थ है, कि मायासे सृष्टि उत्पन्न होती है ? – इत्यादि प्रश्नोंका अधिक विवरण गीतारहस्यके ९ वें प्रकरणमें दिया गया है । यह बतला दिया, कि अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त कैसे होता है अर्थात् कर्म उपजा हुआ-सा कैसे दीख पड़ता है; अब इस बातका स्पष्टीकरण करते हैं, कि वह ऐसा कब और किसलिये करता है :–]

(७) हे भारत ! जब-जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मकी प्रबलता फैल जाती है, तब-तब मैं स्वयं ही जन्म (अवतार) लिया करता हूँ ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

§§ जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

(८) साधुओंकी संरक्षाके निमित्त और दुष्टोंका नाश करनेके लिये, युग-युगमें धर्मसंस्थापनाके अर्थ मैं जन्म लिया करता हूँ।

[इन दोनों श्लोकोंमें 'धर्म' शब्दका अर्थ केवल पारलौकिक वैदिक धर्म नहीं है; किंतु चारों वर्णोंके धर्म, न्याय और नीति प्रभृति बातोंकाभी उसमें मुख्यतासे समावेश होता है। इस श्लोकका तात्पर्य यह है, कि जगतमें जब अन्याय, अनीति, दुष्टता और अंधाधुंधी मचकर साधुओंको कष्ट होने लगता है और जब दुष्टोंका दबदबा बढ़ जाता है, तब अपने निर्माण किये हुए जगतकी सुस्थितिको स्थिर रखकर, उसका कल्याण करनेके लिये तेजस्वी और पराक्रमी पुरुषके रूपसे (गीता १०. ४१) अवतार लेकर भगवान् समाजकी बिगड़ी हुई व्यवस्थाको फिर ठीक कर दिया करते हैं। इस रीतिसे अवतार ले कर भगवान् जो काम करते हैं, उसीको 'लोकसंग्रह' भी कहते हैं; और पिछले अध्यायमें कह दिया गया है, कि यही काम अपनी शक्ति और अधिकारके अनुसार आत्मज्ञानी पुरुषोंकोभी करना चाहिये (गीता ३. २०)। यह बतला दिया गया, कि परमेश्वर कब और किसलिये अवतार लेता है। अब यह बतलाते हैं, कि इस तत्त्वको परख कर जो पुरुष तदनुसार बर्ताव करते हैं, उनको कौनसी गति मिलती है :-]

(९) हे अर्जुन ! इस प्रकारके मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्मके तत्त्वको जो जानता है, वह देह त्यागनेके पश्चात् फिर जन्म न लेकर मुझमें आ मिलता है। (१०) प्रीति, भय और क्रोधसे छूटे हुए, मत्परायण और मेरे आश्रयमें आये हुए अनेक लोग (इस प्रकार) ज्ञानरूप तपसे शुद्ध होकर मेरे स्वरूपमें आकर मिल गये हैं।

[भगवानके दिव्य जन्मको समझनेके लिये यह जानना पड़ता है, कि अव्यक्त परमेश्वर मायासे सगुण कैसे होता है; और इसके जान लेनेसे अध्यात्मज्ञान हो जाता है; एवं दिव्य कर्मको जान लेनेपर कर्म करकेभी अलिप्त रहनेका, अर्थात् निष्काम कर्मके तत्त्वका, ज्ञान हो जाता है। सारांश, परमेश्वरके दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको पूरा पूरा जान लेनेपर, अध्यात्मज्ञान और कर्मयोग

§ § ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥
कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

इन दोनोंकीभी पूरी पहचान हो जाती है; और मोक्षकी प्राप्तिके लिये इसीकी आवश्यकता होनेके कारण ऐसे मनुष्यको अंतमें भगवत्प्राप्ति हुए विना नहीं रहती। अर्थात् भगवानके दिव्य जन्म और दिव्य कर्म जान लेनेमें सब कुछ आ गया; फिर अध्यात्मज्ञान अथवा निष्काम कर्मयोग, इन दोनोंकाभी अलग अलग अध्ययन नहीं करना पड़ता। अतएव वक्तव्य यह है, कि भगवानके जन्म और कृत्यका विचार करो; एवं उसके तत्त्वको परखकर वर्ताव करो; भगवत्प्राप्ति होनेके लिये दूसरा कोई साधन अपेक्षित नहीं है। भगवानकी यही सच्ची उपासना है। अब इसकी अपेक्षा नीचेके दर्जेकी उपासनाओंके फल और उपयोग वतलाते हैं :-]

(११) जो मुझे जिस प्रकारसे भजते हैं, उन्हें मैं उसी प्रकारके फल देता हूँ। हे पार्थ ! किसीभी ओरसे हो, मनुष्य मेरेही मार्गमें आ मिलते हैं।

[" मम वर्त्मानुवर्तन्ते " इत्यादि उत्तरार्ध पहले (गी. ३. २३) कुछ निराले अर्थमें आया है; और इससे ध्यानमें आवेगा, कि गीतामें पूर्वापर संदर्भके अनुसार अर्थ कैसे बदल जाता है; यद्यपि यह सच है, कि किसीभी मार्गसे जानेपर मनुष्य परमेश्वरकीही ओर जाता है; तोभी यह जानना चाहिये, कि अनेक लोग अनेक मार्गोंसे क्यों जाते हैं ? अव इसका कारण बतलाते हैं :-]

(१२) (कर्मबंधनके नाशकी नहीं, केवल) कर्मफलकी इच्छा करनेवाले लोग इस लोकमें देवताओंकी पूजा इसलिये किया करते हैं, कि (ये) कर्मफल (इस) मनुष्यलोकमें शीघ्रही मिल जाते हैं।

[येही विचार सातवें अध्याय में (गीता ७. २१, २२) फिर आये हैं, परमेश्वरकी आराधनाका सच्चा फल है मोक्ष, परंतु वह तभी प्राप्त होता है, कि जब कालांतरसे एवं दीर्घ और एकान्त उपासनासे कर्मबंधका पूर्ण नाश हो जाता है; परंतु इतने दूरदर्शी और दीर्घ-उद्योगी पुरुष बहुतही थोड़े होते हैं। इस श्लोकका भावार्थ यह है कि बहुतेरोंको अपने उद्योग अर्थात् कर्मसे इसी लोकमें कुछ-न-कुछ प्राप्त करना होता है, और ऐसेही लोग देवताओंकी पूजा किया करते हैं (गीतार. प्र. १३, पृ. ४२८)। गीताका यहभी कथन है, कि पर्यायसे यहभी तो परमेश्वरकाही पूजन होता है; और वढ़ते वढ़ते इस योगका पर्यवसान निष्काम भक्तिमें होकर अंतमें मोक्ष प्राप्त हो जाता है (गीता

§ § चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

| ७.१९)। पहले कह चुके हैं, कि धर्मकी संस्थापना करनेके लिये परमेश्वर
| अवतार लेता है, अब संक्षेपमें बतलाते हैं, कि धर्मकी संस्थापना करनेके लिये
| क्या करना पड़ता है :–]

(१३) (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस प्रकार) चारों वर्णोंकी व्यवस्था गुण और कर्मके भेदके अनुसार मैंनेही निर्माण की है। इसे तू ध्यानमें रख, कि मैं उसका कर्ताभी हूँ; और अकर्ता अर्थात् उसे न करनेवाला अव्यय (मेंही) हूँ।

| [अर्थ यह है, कि परमेश्वर कर्ता भलेही हो; पर अगले श्लोकके वर्णना-
| नुसार वह सदैव निःसंग है, इस कारण अकर्ता ही है (गीता ५.१४)।
| परमेश्वरके स्वरूपके "सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्" ऐसे दूसरेभी
| विरोधाभासात्मक वर्णन आगे हैं (गीता १३.१४)। चातुर्वर्ण्यके गुण और
| भेदका निरूपण आगे अठराहवें अध्यायमें (गी. १८.४१–४९) किया गया है।
| अब भगवानने "करके न करनेवाला" ऐसा जो अपना वर्णन किया है, उसका
| मर्म बतलाते हैं :–]

(१४) मुझे कर्मका लेप अर्थात् बाधा नहीं होती; (क्योंकि) कर्मके फलमें मेरी इच्छा नहीं हैं – जो मुझे इस प्रकार जानता है, उसे कर्मकी बाधा नहीं होती।

| [ऊपर नवम श्लोकमें जो दो बातें कही हैं, कि मेरे 'जन्म' और 'कर्म'को
| जो जानता है, वह मुक्त हो जाता है, उन्हींमेंसे कर्मके तत्त्वका स्पष्टीकरण
| इस श्लोकमें किया है। 'जानता' है शब्दसे यहाँ "जान कर तदनुसार बर्तने
| लगता है" इतना अर्थ विवक्षित है। भावार्थ यह है, कि भगवानको उनके
| कर्मकी बाधा नहीं होती, इसका यह कारण है, कि वे फलाशा रखकर कामही
| नहीं करते; और इसे जान कर तदनुसार जो बर्तता है, उसको कर्मोंका बंधन
| नहीं होता। अब इस श्लोकके सिद्धान्तकोही प्रत्यक्ष उदाहरणसे दृढ करते हैं :–]

(१५) इसे जान कर प्राचीन समयके मुमुक्षु लोगोंनेभी कर्म किया था; इसलिये पूर्वके लोगोंके किये हुए अति प्राचीन कर्मही तू कर।

| [इस प्रकार मोक्ष और कर्मका विरोध नहीं है, अतएव अर्जुनको निश्चित

§ § किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्माणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

| उपदेश किया है, कि तू कर्म कर। परंतु इसपर यह शंका होती है, कि संन्यास-
| मार्गवालोंका जो यह कथन है, कि "कर्मोंके छोड़नेसे अर्थात् अकर्मसेही मोक्ष
| मिलता है।" उस कथनका वीज क्या है? अतएव अब कर्म और अकर्मके
| विवेचनका आरंभ करके आगे तेईसवें श्लोकमें सिद्धान्त करते हैं, कि अकर्म
| कुछ कर्मत्याग नहीं है; निष्काम कर्मकोही अकर्म कहना चाहिये।]

(१६) इस विषयमें बड़े बड़े विद्वानोंकोभी भ्रम हो जाता है, कि कौन कर्म है और कौन अकर्म? (अतएव) वैसा कर्म तुझे बतलाता हूँ, कि जिसे जान लेनेसे तू पापसे मुक्त होगा।

| ['अकर्म' नञ् समास है और व्याकरणकी रीतिसे उसके अ = नञ् शब्दके
| 'अभाव' अथवा 'अप्राशस्त्य' ये दोनों अर्थ हो सकते हैं; और यह नहीं कह
| सकते, कि इस स्थलपर ये दोनोंभी अर्थ विवक्षित न होंगे, परंतु अगले श्लोकमें
| 'विकर्म' नामसे कर्मका एक और तीसरा भेद किया है। अतएव इस श्लोकमें
| अकर्म शब्दसे विशेषतः वही कर्मत्याग उद्दिष्ट है, जिसे संन्यास-मार्गवाले
| लोग "कर्मका स्वरूपतः त्याग" कहते हैं। संन्यास-मार्गवाले कहते हैं, कि
| "सब कर्म छोड़ दो"; परंतु १८ वें श्लोककी टिप्पणीसे दीख पड़ेगा, कि इस
| बातको दिखलानेके लियेही यह विवेचन किया गया है, कि कर्मको सर्वथा त्याग
| देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, संन्यास-मार्गवालोंका कर्मत्याग सच्चा 'अकर्म'
| नहीं है, अकर्मका मर्म कुछ औरही है।]

(१७) कर्मकी गति गहन है; (अतएव) यह जान लेना चाहिये, कि कर्म क्या है, और यह समझना चाहिये, कि विकर्म (विपरीत कर्म) क्या है; और यहभी ज्ञात कर लेना चाहिये, कि अकर्म (कर्म न करना) क्या है? (१८) कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म जिसे दीख पड़ता है, वह पुरुष सब मनुष्योंमें ज्ञानी है, और वही युक्त अर्थात् योगयुक्त एवं समस्त कर्म करनेवाला है।

| [इस श्लोकमें और अगले पाँच श्लोकोंमें अकर्म एवं विकर्मका
| स्पष्टीकरण किया गया है, और इसमें जो कुछ कमी रह गई है, उसे आगे

अठारहवें अध्यायमें कर्मत्याग, कर्म और कर्ताके त्रिविध भेद-वर्णनमें पूरा कर दिया है (गीता १८.४–७; १८.२३–२५; १८.२६–२८)। यहाँ संक्षेपमें स्पष्टतापूर्वक यह बतला देना आवश्यक है, कि दोनों स्थलोंके कर्म-विवेचनसे कर्म, अकर्म और विकर्मके संबंधमें गीताके सिद्धान्त क्या हैं; क्योंकि, टीकाकारोंने इस संबंधमें बड़ी गड़बड़ कर दी है। संन्यास-मार्गवालोंको सब कर्मोंका स्वरूपतः त्याग इष्ट है, इसलिये वे गीताके 'अकर्म' पदका अर्थ खींचातानीसे अपने मार्गकी ओर लाना चाहते हैं; मीमांसकोंको यज्ञयाग आदि काम्य कर्म इष्ट हैं, इसलिये उनके अतिरिक्त और सभी कर्म उन्हें 'विकर्म' जँचते हैं। इसके सिवा मीमांसकोंके नित्यनैमित्तिक आदि कर्मभेदभी उसीमें आ जाते हैं; और फिर धर्मशास्त्री उसीमें अपनी ढाई चावलकी खिचडी पकानेकी इच्छा रखते हैं। सारांश, चारों ओरसे ऐसी खींचातानी होनेके कारण, अंतमें यह जान लेना कठिन हो जाता है, कि गीता 'अकर्म' किसे कहती है और 'विकर्म' किसे? अतएव पहलेसेही इस बातपर ध्यान दिये रहना चाहिये, कि गीतामें जिस तात्त्विक दृष्टिसे इस प्रश्नका विचार किया गया है, वह दृष्टि निष्काम कर्म करनेवाले कर्मयोगीकी है; काम्य-कर्म करनेवाले मीमांसकोंकी या कर्म छोड़नेवाले संन्यासमार्गियोंकी नहीं है। गीताकी इस दृष्टिको स्वीकार कर लेने पर तो यही कहना पड़ता है, कि 'कर्म-शून्यता'के अर्थमें 'अकर्म' इस जगतमें कहींभी नहीं रह सकता अथवा कोईभी मनुष्य कभी कर्म-शून्य नहीं हो सकता (गीता ३.५; १८.११); क्योंकि सोना, उठना, बैठना और कम-से-कम जीवित रहना तो किसीकाभी छूट नहीं जाता। और यदि कर्म-शून्य होना संभव नहीं है, तो निश्चय करना पड़ता है, कि अकर्म कहें किसे? इसके लिये गीताका यह उत्तर है, कि कर्मको निरी क्रिया न समझकर उससे आगे होनेवाले शुभ-अशुभ आदि परिणामोंका विचार करके, कर्मका कर्मत्व या अकर्मत्व निश्चित करो। यदि सृष्टिके मानेही कर्म है, तो मनुष्य जबतक सृष्टिमें है, तब तक उससे कर्म नहीं छूटता। अतः कर्म और अकर्मका जो विचार करना हो, वह इसी दृष्टिसे करना चाहिये, कि मनुष्यको वह कर्म कहाँ तक बद्ध करेगा। करने परभी जो कर्म हमें बद्ध नहीं करता, उसके विषयमें कहना चाहिये, कि उसका कर्मत्व अथवा बंधकत्व नष्ट हो गया; और यदि किसीभी कर्मका बंधकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार नष्ट हो गया हो, तो फिर वह कर्म 'अकर्म' ही हुआ। अकर्मका प्रचलित सांसारिक अर्थ कर्मशून्यता है सही, परंतु शास्त्रीय दृष्टिसे विचार करनेपर उसका यहाँ मेल नहीं मिलता। क्योंकि हम देखते हैं, कि चुपचाप बैठना अर्थात् कर्म न करनाभी कई बार कर्मही हो जाता है। उदाहरणार्थ, अपने माँ-बापको कोई मारता-पीटता हो, तो उसको न रोक-कर चुप्पी साधे बैठे रहना, उस समय यदि व्यावहारिक दृष्टिसे अकर्म अर्थात् कर्म-शून्यता हो तोभी वह कर्मही, – संभवतः विकर्म – है; और कर्मविपाककी

दृष्टिसे उसके अशुभ परिणाम हमें भोगने पड़ेंगे। अतएव गीता इस श्लोकमें विरोधाभासकी रीतिसे बड़ी खूबीके साथ कहती है, कि ज्ञानी वही है, जिसने जान लिया, कि अकर्ममेंभी (कभी कभी तो भयानक) कर्म हो जाता है, और कर्म करकेभी वह कर्मविपाककी दृष्टिसे मरा-सा, अर्थात् अकर्म, होता है; तथा यही अर्थ अगले श्लोकमें भिन्न भिन्न रीतिसे वर्णित है। कर्मके फलका बंधन न लगनेके लिये गीताशास्त्रके अनुसार यही एकमेव सच्चा साधन है, कि निःसंग-बुद्धिसे अर्थात् फलाशा छोड़कर निष्काम बुद्धिसे, वह कर्म किया जावे (गीतारहस्य प्र. ५, पृ. १११–११५; प्र. १०, पृ. २८६–२८७)। अतः इस साधनका उपयोग कर निःसंग-बुद्धिसे जो कर्म किया जाय, वही गीताके अनुसार प्रशस्त अर्थात् सात्त्विक कर्म है (गीता १८. ९); और गीताके मतमें वही सच्चा 'अकर्म' है। क्योंकि उसका कर्मत्व, अर्थात् कर्मविपाककी क्रियाके अनुसार बंधकत्व, निकल जाता है। मनुष्य जो कुछ कर्म करते हैं (और इस 'करते हैं' पदमें चुपचाप निठल्ले बैठे रहनेकाभी समावेश करना चाहिये), उनमेंसे उक्त प्रकारके अर्थात् 'सात्त्विक कर्म' अथवा गीताके अनुसार 'अकर्म' घटा देनेसे बाकी जो कर्म रह जाते हैं, उनके दो भाग हो सकते है : एक राजस और दूसरा तामस। इनमेंसे तामस कर्म मोह और अज्ञानसे हुआ करते हैं, इसलिये उन्हें विकर्म कहते हैं! फिर यदि कोई कर्म मोहसे छोड दिया जाय, तोभी वह विकर्मही है; अकर्म नहीं (गीता १८. ७)। अब रह गये राजस कर्म। ये कर्म पहले दर्जेके अर्थात् सात्त्विक नहीं हैं; अथवा ये वे कर्मभी नहीं हैं, जिन्हें गीता सचमुच 'अकर्म' कहती है। गीता इन्हें 'राजस' कर्म कहती है, परंतु यदि कोई चाहे, तो ऐसे राजस कर्मोंको केवल 'कर्म'भी कह सकता है। तात्पर्य, क्रियात्मक स्वरूपसे अथवा कोरे धर्मशास्त्रसेभी कर्म-अकर्मका निश्चय नहीं होता, किंतु कर्मके बंधकत्वसे यह निश्चय किया जाता है, कि कर्म है या अकर्म? अष्टावक्रगीता संन्यास-मार्गकी है; तथापि उसमेंभी कहा है :–

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी॥

अर्थात् मूर्खोंकी निवृत्ति, अथवा हठसे या मोहके द्वारा कर्मसे विमुखताही वास्तवमें प्रवृत्ति अर्थात् कर्म है और पंडित लोगोंकी प्रवृत्ति, अर्थात् निष्काम कर्मसेही निवृत्ति याने कर्मत्यागका फल मिलता है (अष्टा. १८. ६१)। गीताके उक्त श्लोकमें यही अर्थ विरोधाभासरूपी अलंकारकी रीतिसे बड़ी सुंदरतासे बतलाया गया है और गीताके अकर्मके इस लक्षणको भलीभाँति समझे बिना गीताके कर्म-अकर्मके विवेचनका मर्म कभीभी समझमें आनेका नहीं। अब इसी अर्थको अगले श्लोकोंमें अधिक व्यक्त करते हैं :–)

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

(१९) ज्ञानी पुरुष उसीको पंडित कहते हैं, कि जिसके सभी समारंभ अर्थात् उद्योग फलकी इच्छासे विरहित होते हैं, और जिसके कर्म ज्ञानाग्निसे भस्म हो जाते हैं।

| ["ज्ञानसे कर्म भस्म होते हैं" इसका अर्थ कर्मोंको छोड़ना नहीं हैं, किंतु
| इस श्लोकसे प्रकट होता है, कि "फलकी इच्छा छोड़ कर कर्म करना", यही
| अर्थ यहाँ लेना चाहिये (गीतार. प्र. १०, पृ. २८६–२९१)। इसी प्रकार
| आगे भगवद्भक्तके वर्णनमें जो 'सर्वारम्भपरित्यागी' समस्त – आरंभ या उद्योग
| छोड़नेवाला – पद आया है (गीता १२. १६; १४. २५), उसकेभी अर्थका
| निर्णय उससे हो जाता है। अब इसी अर्थको अधिक स्पष्ट करते हैं :–]

(२०) कर्मफलकी आसक्ति छोड़कर जो सदा तृप्त और निराश्रय है, अर्थात् (जो पुरुष) कर्मफलके साधनकी आश्रयभूत ऐसी बुद्धि नहीं रखता, कि अमुक कार्यकी सिद्धिके लिये अमुक काम करता हूँ, '(कहना चाहिये, कि) वह कर्म करनेमें निमग्न रहनेपरभी कुछभी नहीं करता। (२१) 'आशीः' अर्थात् फलकी वासना छोड़नेवाला, चित्तका नियमन करनेवाला और सर्वसंगसे मुक्त पुरुष केवल शारीर अर्थात् शरीर या कर्मेंद्रियोंसेही कर्म करते समय पापका भागी नहीं होता।

| [कुछ लोग बीसवें श्लोकके 'निराश्रय' शब्दका अर्थ 'घर-गिरस्ती' न
| रखनेवाला (संन्यासी) करते हैं; पर वह ठीक नहीं है। आश्रयको घर या गिरस्ती
| कह सकेंगे; परंतु इस स्थानपर कर्ताके स्वयं रहनेका ठिकाना विवक्षित नहीं
| है; यहाँ यह अर्थ है, कि वह जो कर्म करता है, उसका हेतुरूप ठिकाना (आश्रय)
| कहीं न रहे। यही अर्थ गीताके ६. १ श्लोकमें 'अनाश्रितःकर्मफलं' इन शब्दोंसे
| स्पष्ट व्यक्त किया है, और वामन पंडितने गीताकी 'यथार्थदीपिका' नामक
| अपनी मराठी टीकामें इसे स्वीकार किया है। ऐसेही २१ वें श्लोकमें 'शारीरके'
| माने सिर्फ़शरीरपोषणके लिये भिक्षाटन आदि कर्म नहीं हैं। आगे पाँचवें
| अध्यायमें "योगी अर्थात् कर्मयोगी लोग आसक्ति अथवा काम्य-बुद्धिको मनमें
| न रखकर केवल इंद्रियोंसे कर्म किया करते हैं" (गीता ५. ११) ऐसा जो
| वर्णन है, उसके समानार्थकही 'केवलं शारीरं कर्म' इन पदोंका सच्चा अर्थ है।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

| इंद्रियाँ कर्म तो करती हैं, पर बुद्धि सम रहनेके कारण उन कर्मोंका पाप-पुण्य
| कर्ताको नहीं लगता।]

(२२) यदृच्छासे जो प्राप्त हो जाय, उसमें संतुष्ट, (हर्ष-शोक आदि) द्वंद्वोंसे मुक्त, निर्मत्सर, और (कर्मकी) सिद्धि या असिद्धिको एक-सा-ही माननेवाला पुरुष (कर्म) करकेभी (उनके पाप-पुण्यसे) बद्ध नहीं होता। (२३) आसंगरहित, (राग-द्वेषसे) मुक्त, (साम्य-बुद्धिरूप) ज्ञानमें स्थिर चित्तवाले और (केवल) यज्ञहीके लिये (कर्म) करनेवाले पुरुषका कर्म समग्र विलीन हो जाता है!

| [तीसरे अध्यायमें (गीता ३. ९) जो यह भाव है, कि मीमांसकोंके मतमें
| यज्ञके लिये किये हुए कर्म बंधक नहीं होते; और आसक्ति छोड़ कर करनेसे
| वेही कर्म स्वर्गप्रद न होकर मोक्षप्रद होते हैं, वही इस श्लोकमें बतलाया
| गया है। "समग्र विलीन हो जाता है" मे 'समग्र' पद महत्त्वका है। मीमांसक
| लोग स्वर्गसुखकोही परम-साध्य मानते हैं; और उनकी दृष्टिसे स्वर्गसुखको
| प्राप्त करा देनेवाले कर्म बंधक नहीं होते। परंतु गीताकी दृष्टि स्वर्गसे परे
| अर्थात् मोक्षपर है; और इस दृष्टिसे स्वर्गप्रद कर्मभी बंधकही होते हैं। अतएव
| कहा है, कि यज्ञार्थ कर्मभी अनासक्त-बुद्धिसे करनेपर 'समग्र' लय पाते हैं अर्थात्
| स्वर्गप्रदभी न हो कर मोक्षप्रद हो जाते हैं। तथापि इस अध्यायके यज्ञप्रकरणके
| प्रतिपादनमें और तीसरे अध्यायवाले (यज्ञ-प्रकरणके) प्रतिपादनमें एक बड़ा
| भारी भेद है। तीसरे अध्यायमें कहा है, कि श्रौतस्मार्त अनादि यज्ञचक्रको स्थिर
| रखना चाहिये। परंतु अत्र भगवान् कहते हैं, कि यज्ञका इतनाही संकुचित अर्थ
| न समझो, कि देवताके उद्देश्यसे अग्निमें केवल तिल, चावल या पशुका हवन कर
| दिया जावें, अथवा चातुर्वर्ण्यके कर्म स्वधर्मके अनुसार, पर काम्य-बुद्धिसे किये
| जावें; अग्निमें आहुति छोड़ते समय अंतमें 'इदं न मम' – यह मेरा नहीं – इन
| शब्दोंका उच्चारण किया जाता है; इनमें स्वार्थत्यागरूप निर्ममत्वका जो तत्त्व
| है, वही यज्ञका प्रधान भाग है। इस रीतिसे 'न मम' कह कर अर्थात् ममतायुक्त
| बुद्धि छोड़कर, ब्रह्मार्पणपूर्वक जीवनके समस्त व्यवहार करनाभी एक बड़ा यज्ञ
| या होमही हो जाता है, और इस यज्ञसे देवाधिदेव परमेश्वर अथवा ब्रह्मका यजन
| हुआ करता है। सारांश, मीमांसकोंके द्रव्ययज्ञसंबंधी जो सिद्धान्त हैं, वे इस बड़े
| यज्ञके लियेभी उपयुक्त होते हैं; और लोकसंग्रहके निमित्त जगतके कर्म आसक्ति-

§ § ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

| विरहित करनेवाला पुरुष कर्मके 'समग्र' फलसे मुक्त होता हुआ अंतमें मोक्ष
| पाता है (गीतार. प्र. ११, पृ. ३४६–३५०)। ब्रह्मार्पणरूपी इस बड़े यज्ञकाही
| वर्णन अगले श्लोकमें पहले किया गया है; और फिर उसकी अपेक्षा कम
| योग्यताके अनेक लाक्षणिक यज्ञोंका स्वरूप बतलाया गया है; एवं तेंतीसवें
| श्लोकमें समग्र प्रकरणका उपसंहार कर कहा गया है, कि ऐसा "ज्ञानयज्ञही
| सबमें श्रेष्ठ है,"]

(२४) अर्पण अर्थात् हवन करनेकी क्रिया ब्रह्म है, हवि अर्थात् अर्पण करनेका द्रव्य ब्रह्म है, ब्रह्माग्निमें ब्रह्मने हवन किया है – (इस प्रकार) जिसकी बुद्धिमें (सभी) कर्म ब्रह्ममय, हैं, उसको ब्रह्मही मिलता है।

| [शांकरभाष्यमें 'अर्पण' शब्दका अर्थ "अर्पण करनेका साधन अर्थात्
| आचमनी इत्यादि" है; परंतु यह जरा कठिन है। इसकी अपेक्षा, अर्पण =
| अर्पण करनेकी या हवन करनेकी क्रिया, यह अर्थ अधिक सरल है। यह
| ब्रह्मार्पणपूर्वक अर्थात् निष्कामबुद्धिसे यज्ञ करनेवालोंका वर्णन हुआ। अब देव-
| ताके उद्देश्यसे अर्थात् काम्य-बुद्धिसे किये हुए यज्ञका स्वरूप बतलाते हैं :–]

(२५) कोई कोई (कर्म)-योगी (ब्रह्मबुद्धिके बदले) देवता आदिके उद्देश्यसे यज्ञ किया करते हैं; और कोई ब्रह्माग्निमें यज्ञसेही यज्ञका यजन करते हैं।

| [पुरुषसूक्तमें विराट्रूपी यज्ञपुरुषके देवताओं द्वारा, यजन होनेका जो
| वर्णन है – "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।" (ऋ. १०. ९०. १६), उसीको लक्ष्य-
| कर इस श्लोकका उत्तरार्थ कहा गया है 'यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति' ये पद ऋग्वेदके
| 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त'से समानार्थकही दीख पड़ते हैं। प्रकट है, कि इस यज्ञमें,
| जो सृष्टिके आरंभमें हुआ था, जिस विराट्रूपी पशुका हवन किया गया था, वह
| पशु, और जिस देवताका यजन किया गया था, वह देवता, ये दोनों ब्रह्मस्वरूपीही
| होंगे। सारांश, चौबीसवें श्लोकका यह वर्णनही तत्त्वदृष्टिसे ठीक है, कि सृष्टिके
| सब पदार्थोंमें सदैवही ब्रह्म भरा हुआ है, इस कारण इच्छारहित बुद्धिसे सब
| व्यवहार करते करते ब्रह्मसेही ब्रह्मका सदा यजन होता रहता है; केवल बुद्धि
| वैसी होनी चाहिये। पुरुषसूक्तको लक्ष्य कर गीतामें यही एक श्लोक नहीं है;
| प्रत्युत आगे दसवें अध्यायमेंभी (१०. ४२) इस सूक्तके अनुसार वर्णन है।
| देवताके उद्देश्यसे किये हुए यज्ञका वर्णन हो चुका; अब अग्नि, हवि इत्यादि

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

[शब्दोंके लाक्षणिक अर्थ लेकर बतलाते हैं, कि प्राणायाम आदि पातंजलयोगकी क्रियाएँ अथवा तपश्चरणभी एक प्रकारका यज्ञ होता है :–]

(२६) और कोई श्रोत्र आदि (कान, आँख आदि) इंद्रियोंका संयमरूप अग्निमें होम करते हैं; और कुछ लोग इंद्रियरूप अग्निमें (इंद्रियोंके) शब्द आदि विषयोंका हवन करते हैं। (२७) और कुछ लोग इंद्रियों तथा प्राणोंके सब कर्मोंको अर्थात् व्यापारोंको ज्ञानसे प्रज्वलित आत्मसंयमरुपी योगकी अग्निमें हवन किया करते हैं।

[इन श्लोकोंमें दो-तीन प्रकारके लाक्षणिक यज्ञोंका वर्णन है। जैसे (१) इंद्रियोंका संयमन करना अर्थात् उनको योग्य मर्यादाके भीतर अपने अपने व्यवहार करने देना; (२) इंद्रियोंके विषय अर्थात् उपभोगके पदार्थ सर्वथा छोड़कर, इंद्रियोंको बिलकुल मार डालना; (३) न केवल इंद्रियोंके व्यापारोंको, प्रत्युत प्राणोंकेभी व्यापारोंको बंद कर, अर्थात् पूरी समाधि लगा करके, केवल आत्मानंदमेंही मग्न रहना। अब इन्हें यज्ञकी उपमा दी जाय, तो पहले प्रकारमें इंद्रियोंको मर्यादित करनेकी क्रिया (संयमन) अग्नि हुई, क्योंकि दृष्टान्तसे यह कहा जा सकता है, कि इस मर्यादाके भीतर जो कुछ आ जाय, उसका उसमें हवन हो गया। इसी प्रकार दूसरेमें साक्षात् इंद्रियाँ और तीसरे प्रकारमें इंद्रियाँ एवं प्राण मिलकर दोनों होम करनेके द्रव्य हो जाते हैं और आत्मसंयमन अग्नि है; इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे हैं, जो निरा प्राणायामही किया करते है; उनका वर्णन उनतीसवें श्लोकमें हैं। 'यज्ञ' शब्दके मूल अर्थ द्रव्यात्मक यज्ञको लक्षणासे विस्तृत और व्यापक कर तप, संन्यास, समाधि एवं प्राणायाम प्रभृति भगवत्प्राप्तिके सब प्रकारके साधनोंका एक 'यज्ञ' शीर्षकमेंही समावेश कर देनेकी भगवद्गीताकी यह कल्पना कुछ अपूर्व नहीं है। मनुस्मृतिके चौथे अध्यायमें गृहस्थाश्रमके वर्णनके सिलसिलेमें पहले यह बतलाया गया है, कि ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और पितृयज्ञ – इन स्मार्त पंचमहायज्ञोंको कोई गृहस्थ न छोड़े; और फिर कहा है, कि इनके बदले कोई कोई " इंद्रियोंमें वाणीका हवनकर, अथवा वाणीमें प्राणका हवन करके या अंतमें ज्ञानयज्ञसेभी परमेश्वरका यजन करते हैं " (मनु. ४. २१–२४)। इतिहासकी दृष्टिसे देखें, तो विदित होता है, कि इंद्र-वरुण प्रभृति देवताओंके उद्देश्यसे जो द्रव्यमय यज्ञ श्रौत ग्रंथोंमें कहे गये हैं, उनका प्रचार धीरे धीरे घटता गया; और जब पातंजलयोगसे;

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

संन्याससे अथवा आध्यात्मिक ज्ञानसे परमेश्वरकी प्राप्ति कर लेनेके मार्ग अधिकाधिक प्रचलित होने लगे, तब 'यज्ञ' शब्दका अर्थ विस्तृतकर उसीमें मोक्षके समग्र उपायोंका लक्षणासे समावेश करनेका आरंभ हुआ होगा। इसका मर्म यही है, कि पहले जो शब्द धर्मकी दृष्टिसे प्रचलित हो गये थे, उन्हींका उपयोग अगले धर्ममार्गके लियेभी किया जावे। कुछभी हो; मनुस्मृतिके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है, कि गीताके पहले या कम-से-कम उस कालमें तो उक्त कल्पना सर्वसान्य हो चुकी थी।]

(२८) इस प्रकार तीक्ष्ण व्रतका आचरण करनेवाले यति अर्थात् संयमी पुरुष कोई द्रव्यरूप, कोई तपरूप, कोई योगरूप, कोई स्वाध्याय अर्थात् नित्य स्वकर्मानुष्ठानरूप और कोई ज्ञानरूप यज्ञ किया करते हैं। (२९) प्राणायाममें तत्पर होकर प्राण और अपानकी गतिको रोक करके, कोई प्राणवायुका अपानमें (हवन किया करते हैं) और कोई अपानवायुका प्राणमें हवन किया करते हैं।

[इस श्लोकका तात्पर्य यह है, कि पातंजलयोगके अनुसार प्राणायाम करनाभी एक यज्ञही है। यह पातंजलयोगरूप यज्ञ उनतीसवें श्लोकमें बतलाया गया है, अतः अठ्ठाईसवें श्लोकके 'योगरूप यज्ञ' पदका अर्थ कर्मयोगरूपी यज्ञ करना चाहिये। प्राणायाम शब्दके 'प्राण' शब्दसे श्वास और उच्छ्वास, दोनों क्रियाएँ प्रकट होती हैं; परंतु जब प्राण और अपानका भेद करना होता है, तब प्राण = बाहर जानेवाला अर्थात् उच्छ्वास वायु, और अपान = भीतर आनेवाला श्वास, यह अर्थ किया जाता है (वे. सू. शां. भा. २. ४. १२; छांदोग्य. शां. भा. १. ३. ३)। ध्यान रहे, कि प्राण और अपानके ये अर्थ प्रचलित अर्थोंसे भिन्न हैं। इस अर्थमेंसे अपानमें अर्थात् भीतर खींचे हुए श्वासमें प्राणका – उच्छ्वासका – होम करनेसे पूरक नामका प्राणायाम होता है; और इसके विपरीत प्राणमें अपानका होम करनेसे रेचक प्राणायाम होता है। प्राण और अपान, इन दोनोंकेही निरोधसे वही प्राणायाम कुम्भक हो जाता है। अब इनके सिवा व्यान, उदान और समान ये तीन वायु बचे रहे। इनमेंसे व्यान, प्राण और अपानके संधिस्थलोंमें रहता है, धनुष्य खींचने, वजन उठाने आदि दम रोककर या आधे श्वासका दमन करके शक्तिके काम करते समय व्यक्त होता है (छां. १. ३. ५)। मरणसमयमें निकल जानेवाले वायुको उदान

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥ ३०॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ ३१॥

कहते हैं (प्रश्न ३.७), और शरीरके सब स्थानोंपर एक-सा अन्नरस पहुँचानेवाले वायुको समान कहते हैं (प्रश्न. ३.५) – इस प्रकार वेदान्तशास्त्रमें इन शब्दोंके सामान्य अर्थ दिये गये हैं। परंतु कुछ स्थलोंपर इनसे निराले अर्थ अभिप्रेत होते हैं; उदाहरणार्थ, महाभारतके वनपर्वके २१२ वें अध्यायमें प्राण आदि वायुओंके निरालेही लक्षण दिये गये हैं और उसमें कहा है, कि प्राण मस्तकका वायु है और अपान नीचे सरकनेवाला वायु है (प्रश्न. ३.५ मैत्र्यु. २.६)। ऊपरके श्लोकमें जो वर्णन है, उसका यह अर्थ है, कि इनमेंसे जिस वायुका निरोध करते हैं, उसका अन्य वायुओंमें होम होता है।]

(३०–३१) और कुछ लोग आहारको नियमित कर प्राणोंकाही प्राणोंमें होम किया करते हैं। ये सभी लोग सनातन ब्रह्ममें जा मिलते हैं, कि जो यज्ञके जाननेवाले हैं, जिनके पाप यज्ञसे क्षीण हो गये हैं, (और जो) अमृतका अर्थात् यज्ञसे बचे हुएका उपभोग करनेवाले हैं। यज्ञ न करनेवालेको (जब) इस लोगमें सफलता नहीं होती। (तब) फिर हे कुरुश्रेष्ठ! (उसे) परलोक कहाँसे (मिलेगा)?

[सारांश, यज्ञ करना यद्यपि वेदकी आज्ञाके अनुसार मनुष्यका कर्तव्य है, तोभी यह यज्ञ एकही प्रकारका नहीं होता। प्राणायाम करो, तप करो, वेदका अध्ययन करो, अग्निष्टोम करो, पशुयज्ञ करो, तिल-चावल अथवा घीका हवन करो, पूजापाठ करो या नैवेद्य-वैश्वदेव आदि पाँच गृहयज्ञ करो; फलासक्तिके छूट जानेपर ये सब व्यापक अर्थमें यज्ञही हैं और फिर यज्ञशेषभक्षणके विषयमें मीमांसकोंके जो सिद्धान्त हैं, वे सब इनमेंसे प्रत्येक यज्ञके लिये उपयुक्त हो जाते हैं। इनमेंसे पहला नियम यह है, कि "यज्ञके अर्थ किया हुआ कर्म बंधक नहीं होता", और इसका वर्णन तेईसवें श्लोकमें हो चुका है (गीता ३.९ पर टिप्पणी देखो)। अब दूसरा नियम यह है, कि प्रत्येक गृहस्थ पंचमहायज्ञ कर अतिथि आदिके भोजन कर चुकनेपर फिर अपनी पत्नीसहित भोजन करे; और इस प्रकार बर्तनेसे गृहस्थाश्रम सफल होकर सद्गति देता है। "विघसं भुक्तशेषं तु यज्ञशेषमथामृतम्" (मनु. ३.२८५) – अतिथि वगैरहके भोजन कर चुकनेपर जो बचे, उसे 'विघस' और यज्ञ करनेसे जो शेष रहे, उसे 'अमृत' कहते हैं; इस प्रकार व्याख्या करके मनुस्मृति और अन्य स्मृतियोंमेंभी कहा है, कि प्रत्येक गृहस्थको नित्य विघसाशी और अमृताशी होना चाहिये (गीता ३.१३; गीतारहस्य प्र. १०, पृ. २९४)। अब भगवान्

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

कहते हैं कि सामान्य गृहयज्ञको उपयुक्त होनेवाला यह सिद्धान्तही सब प्रकारके उक्त यज्ञोंको उपयोगी होता है । यज्ञके अर्थ किया हुआ कोईभी कर्म बंधक नहीं होता, यही नहीं, बल्कि उन कर्मोंमेंसे अवशिष्ट काम यदि अपने निजी उपयोगमें आ जावें, तोभी वे बंधक नहीं होते (गीतार. प्र. १२, पृ. ३८६) । " बिना यज्ञके इहलोकभी सिद्ध नहीं होता " यह अंतिम वाक्य मार्मिक और महत्त्वका है । उसका अर्थ इतनाही नहीं है, कि यज्ञके बिना पानी नहीं बरसता; और पानीके न बरसनेसे इस लोककी गुजर नहीं होती; किंतु 'यज्ञ' शब्दका व्यापक अर्थ लेकर, इस सामाजिक तत्त्वकाभी उसमें पर्यायसे समावेश हुआ है, कि अपनी कुछ प्यारी बातोंको छोड़े बिना न तो सबको एक-सी सुविधा मिल सकती है; और न जगतके व्यवहारभी चल सकते हैं । उदाहरणार्थ, पश्चिमी समाजशास्त्रप्रणेता जो यह सिद्धान्त बतलाते हैं, कि हरएकके अपनी स्वतंत्रताको परिमित किये बिना औरोंको एक-सी स्वतंत्रता नहीं मिल सकती है, वही इस तत्त्वका उदाहरण है; और, यदि गीताकी परिभाषामें इसी अर्थको कहना हो, तो इस स्थलपर ऐसी यज्ञप्रधान भाषाकाही प्रयोग करना पड़ेगा, कि " जबतक प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतंत्रताके कुछ अंशकाभी यज्ञ न करे, तबतक इस लोकके व्यवहार चल नहीं सकते । " इस प्रकारके व्यापक और विस्तृत अर्थसे जब यह निश्चय हो चुका, कि यज्ञही सारी समाजरचनका आधार है, तब कहना नहीं होगा, कि केवल कर्तव्यकी दृष्टिसे उक्त 'यज्ञ' करना जबतक प्रत्येक मनुष्य न सीखेगा, तबतक समाजकी व्यवस्था ठीक न रहेगी ।]

(३२) इस प्रकार भाँति भाँतिके यज्ञ ब्रह्मके (ही) मुखमें जारी हैं । यह जान, कि वे सब कर्मसे निष्पन्न होते हैं । यह ज्ञान हो जानेसे तू मुक्त हो जायगा ।

[ज्योतिष्टोम आदि द्रव्यमय श्रौतयज्ञ अग्निमें हवन करके किये जाते हैं और शास्त्रमें कहा है; कि देवताओंका मुख अग्नि है, इस कारण ये यज्ञ उन देवताओंको मिल जाते हैं । परंतु यदि कोई शंका करे, कि देवताओंके मुख – अग्नि – में उक्त लाक्षणिक यज्ञ नहीं होते, अतः लाक्षणिक यज्ञोंसे श्रेयःप्राप्ति होगी कैसे, तो उसे दूर करनेके लिये, कहा है, कि अब ये यज्ञ साक्षात् ब्रह्मकेही मुखमें होती हैं । दूसरे चरणका भावार्थ यह है, कि जिस पुरुषने यज्ञविधिके इस व्यापक स्वरूपको – केवल मीमांसकोंके संकुचित अर्थकोही नहीं – जान लिया, उसकी बुद्धि संकुचित नहीं रहती, किंतु वह ब्रह्मके स्वरूपको पहचाननेका अधिकारी हो जाता है । अब बतलाते हैं, कि इन सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ यज्ञ कौन है :–]

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

§§ तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

(३३) हे परंतप ! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है । क्योंकि, हे पार्थ ! सब प्रकारके समस्त कर्मोंका पर्यवसान ज्ञानमें होता है ।

['ज्ञानयज्ञ' शब्द आगेभी दो बार गीतामें आया है (गीता ९. १५; १८. ७०) । हम जो द्रव्यमय यज्ञ करते हैं, वह परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये किया करते हैं । परंतु परमेश्वरकी प्राप्ति, उसके स्वरूपका ज्ञान हुए बिना नहीं होती । अतएव परमेश्वरके स्वरूपका ज्ञान प्राप्तकर, उस ज्ञानके अनुसार आचरण करके परमेश्वरकी प्राप्ति कर लेनेके मार्ग या साधनको 'ज्ञानयज्ञ' कहते हैं । यह यज्ञ मानस और बुद्धिसाध्य है, अतः द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा इसकी योग्यता अधिक समझी जाती है । मोक्षशास्त्रमें ज्ञानयज्ञका यह ज्ञानही मुख्य है, और इसी ज्ञानसे सब कर्मोंका क्षय हो जाता है, कुछभी हो; गीताका यह स्थिर सिद्धान्त है, कि अंतमें परमेश्वरका ज्ञान होना चाहिये, बिना ज्ञानके मोक्ष नहीं मिलता । तथापि " कर्मका पर्यवसान ज्ञानमें होता है " इस वचनका यह अर्थ नही है, कि ज्ञानके पश्चात् कर्मोंको छोड़ देना चाहिये – यह बात गीतारहस्यके दसवें और ग्यारहवें प्रकरणमें विस्तारपूर्वक प्रतिपादन की गई है । अपने लिये नहीं, तो लोकसंग्रहके निमित्त कर्तव्य समझकर सभी कर्म करनेही चाहिये; और जब कि वे ज्ञान एवं समबुद्धिसे किये जाते हैं, तब उनके पापपुण्यकी बाधा कर्ताको नहीं होती (आगे ३७ वाँ श्लोक देखो) और यह ज्ञानयज्ञ मोक्षप्रद होता है । अतः गीताका सब लोगोंको यही उपदेश है, कि यज्ञ करो, किंतु ज्ञानपूर्वक निष्काम बुद्धिसे करो ।]

(३४) ध्यानमें रख, कि प्रणिपातसे, प्रश्न करनेसे और सेवा करनेसे तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे; (३५) जिस ज्ञानको पाकर, हे पांडव ! फिर तुझे ऐसा मोह नहीं होगा, और जिस ज्ञानके योगसे समस्त प्राणियोंको तू अपनेमें और मुझमें भी देखेगा ।

[सब प्राणियोंको अपनेमें और अपनेको सब प्राणियोंमें देखनेका, समस्त प्राणिमात्रमें आत्माकी एकताका आगे जो जो ज्ञान, वर्णित है (गीता ६. २९),

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

§§ **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।**
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

| उसीका यहाँ उल्लेख किया गया है। मूलमें आत्मा और भगवान्, दोनों एकरूप हैं, अतएव आत्मामें सब प्राणियोंका समावेश होता है, अर्थात् भगवानमेंभी उनका समावेश होकर, आगे आत्मा (मैं), अन्य प्राणी और भगवान् यह त्रिविध भेद नष्ट हो जाता है। इसीलिये भागवत पुराणमें भगवद्भक्तोंका लक्षण देते हुए कहा है, कि "सब प्राणियोंको भगवानमें और अपनेमें जो देखता है, उसे उत्तम भागवत कहना चाहिये" (भाग. ११. २. ४५)। इस महत्त्वके नीतितत्त्वका अधिक स्पष्टीकरण गीतारहस्यके बारहवें प्रकरणमें (पृ. ३९१-३९९) और भक्ति-दृष्टिसे तेरहवें प्रकरणमें (पृ. ४३०-४३१) किया गया है।]

(३६) सब पापियोंसे यदि अधिक पाप करनेवाला हो, तोभी (इस) ज्ञान-नौकासेही तू सब पापोंको पारकर जावेगा। (३७) जिस प्रकार प्रज्वलित की हुई अग्नि (सब) इंधनको भस्म कर डालती है, उसी प्रकार हे अर्जुन! (यह) ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मोंको (शुभ-अशुभ बंधनोंको) जला डालती है।

| [ज्ञानकी महत्ता बतला दी। अब बतलाते हैं, कि इस ज्ञानकी प्राप्ति किन उपायोंसे होती है :-]

(३८) इस लोकमें ज्ञानके समान पवित्र सचमुचही और कुछभी नहीं है। काल पाकर जिसको योग अर्थात् कर्मयोग सिद्ध हो गया है वह पुरुष आप-ही उस ज्ञानको अपनेमें प्राप्त कर लेता है।

| [३७ वें श्लोकमें 'कर्मों'का अर्थ 'कर्मका बंधन' है (गीता ४. १९ देखो)। अपनी बुद्धिसे आरंभ किये हुए निष्काम कर्मोंके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति कर लेना, ज्ञानकी प्राप्तिका मुख्य या बुद्धिगम्य मार्ग है। परंतु जो स्वयं इस प्रकार अपनी बुद्धिसे ज्ञानको प्राप्त न कर सके, उसके लिये अब श्रद्धाका दूसरा मार्ग बतलाते हैं :-]

(३९) जो श्रद्धावान् पुरुष इंद्रियसंयम करके उसीके पीछे पड़ा रहे, उसे(भी) यह

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४०॥
§§ योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥ ४१॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

ज्ञान मिल जाता है; और ज्ञान प्राप्त हो जानेसे तुरंतही उसे परम शांति प्राप्त होती है।

| [सारांश, बुद्धिसे जो ज्ञान और शांति प्राप्त होगी, वही श्रद्धासेभी मिलती है (गीता १३. २५)। परंतु जिसके अपनी बुद्धि नहीं और श्रद्धाभी नहीं, वह :–]

(४०) परंतु जिसे न स्वयं ज्ञान है और न श्रद्धाभी है, उस संशयग्रस्त मनुष्यका नाश हो जाता है। संशयग्रस्तको न यह लोक है (और) न परलोक, एवं सुखभी नहीं है।

| [ज्ञानप्राप्तिके ये दो मार्ग बतला चुके; एक अपनी बुद्धिका और दूसरा श्रद्धाका। अब ज्ञान और कर्मयोगका पृथक् उपयोग दिखलाकर समस्त विषयका उपसंहार करते हैं :–]

(४१) हे धनंजय! उस आत्मज्ञानी पुरुषको कर्म बद्ध नहीं कर सकते, कि जिसने (कर्म-)योगके आश्रयसे कर्म अर्थात् कर्मबंधन त्याग दिये हैं, और ज्ञानसे जिसके (सब) संदेह दूर हो गये हैं। (४२) इसलिये अपने हृदयमें अज्ञानसे उत्पन्न हुए इस संशयको ज्ञानरूप तलवारसे काटकर, (कर्म-)योगका आश्रय कर। (और) हे भारत! (युद्धके लिये) खड़ा हो!

| [ईशावास्य उपनिषद्में 'विद्या' और 'अविद्या'का पृथक् उपयोग दिखला कर जिस प्रकार दोनोंको बिना छोड़ेही आचरण करनेके लिये कहा गया है (ईश. ११; गीतार. प्र. ११, पृ. ३५७); उसी प्रकार गीताके इन दो श्लोकोंमें ज्ञान और (कर्म-)योगका पृथक् उपयोग दिखलाकर उनके अर्थात् ज्ञान और योगके समुच्चयसेही कर्म करनेके विषयमें अर्जुनको उपदेश दिया गया है। इन दोनोंका पृथक् पृथक् उपयोग यह है, कि निष्काम बुद्धियोगके द्वारा कर्म करनेपर

| उनके बंधन टूट जाते हैं; और वे मोक्षके लिये प्रतिबंधक नहीं होते; एवं ज्ञानसे
| मनके संदेह दूर होकर मोक्ष मिलता है। अतः अंतिम उपदेश यह है, कि अकेले
| कर्म या अकेले ज्ञानको स्वीकार न कर; किंतु ज्ञानकर्म-समुच्चयात्मक कर्मयोगका
| आश्रय करके युद्ध कर। योगका आश्रय करके युद्धके लिये खड़ा रहना था,
| इस कारण गीतारहस्यके प्र. ३, पृ. ५६ में दिखलाया गया है, कि योग शब्दका
| अर्थ यहाँ 'कर्मयोग'ही लेना चाहिये। ज्ञान और योगका यह मेलही 'ज्ञानयोग-
| व्यवस्थितिः' पदसे आगे दैवी संपत्तिके लक्षणमें (गीता १६. १) फिर
| बतलाया गया है।]

इस प्रकार श्रीभगवानुके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

| [ध्यान रहे, कि 'ज्ञान-कर्म-संन्यास' पदमें 'संन्यास' शब्दका अर्थ स्वरूपतः
| 'कर्मत्याग' नहीं है, किंतु निष्काम बुद्धिसे परमेश्वरमें कर्मका संन्यास अर्थात्
| 'अर्पण करना' अर्थ है; और आगे अठारहवें अध्यायके आरंभमें उसीका
| स्पष्टीकरण किया गया है।]

पंचमोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
तच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

पाँचवाँ अध्याय

[चौथे अध्यायके सिद्धान्तपर संन्यास-मार्गवालोंकी जो शंका हो सकती है, उसेही अर्जुनके मुखसे, प्रश्नरूपसे कहलाकर, इस अध्यायमें, भगवानने उसका स्पष्ट उत्तर दिया है। यदि समस्त कर्मोंका पर्यवसान ज्ञान है (गी. ४. ३३), यदि ज्ञानसेही संपूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं (४. ३७); और यदि द्रव्ययम यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञही श्रेष्ठ है (४. ३३); तो दूसरेही अध्यायमें यह कहकर, कि "धर्म्य युद्ध करनाही क्षत्रियको श्रेयस्कर है" (गी. २. ३१), चौथे अध्यायके उपसंहारमें यह बात क्यों कही गई है, कि "अतएव तू कर्मयोगका आश्रय कर, युद्धके लिये उठ खड़ा हो" (गी. ४. ४२) ? इस प्रश्नका गीता यह उत्तर देती हैं, कि समस्त संदेहोंको दूरकर मोक्षप्राप्तिके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है, और यदि मोक्षके लिये कर्म आवश्यक न हों, तोभी कभी न छूटनेके कारण वे लोकसंग्रहार्थ आवश्यक हैं; इस प्रकार ज्ञान और कर्म, दोनोंकेही समुच्चयकी नित्य अपेक्षा है (४. ४१)। परंतु इसपरभी शंका होती है, कि यदि कर्मयोग और सांख्य, दोनों मार्ग शास्त्रमें विहित हैं, तो उनमेंसे अपनी इच्छाके अनुसार सांख्यमार्गको स्वीकारकर कर्मोंका त्याग करनेमें हानि क्या है ? अर्थात् इसकाभी पूरा निर्णय हो जाना चाहिये, कि इन दोनों मार्गोंमें श्रेष्ठ कौन-सा है; और अर्जुनके मनमें यही शंका हुई है। उसने तीसरे अध्यायके आरंभमें जैसा प्रश्न किया था, वैसा ही अबभी वह पूछता है, कि :–]

(१) अर्जुनने कहा :– हे कृष्ण ! (तुम) एक बार संन्यासको और दूसरी बार कर्मोंके योगको (अर्थात् कर्म करते रहनेके मार्गकोही) उत्तम बतलाते हो; अब निश्चय कर मुझे एकही (मार्ग) बतलाओ, कि जो इन दोनोंमें सचमुचही श्रेष्ठ अर्थात् अधिक प्रशस्त हो। (२) श्रीभगवानने कहा :– कर्म-संन्यास और कर्मयोग, (दोनों निष्ठाएँ या मार्ग) निःश्रेयस्कर अर्थात् मोक्ष प्राप्त करा देनेवाले

हैं; परंतु (अर्थात् मोक्षकी दृष्टिसे दोनोंकी योग्यता समान होने परभी) इन दोनोंमें कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगकी योग्यता विशेष है।

[उक्त प्रश्न और उत्तर, दोनों निःसंदिग्ध और स्पष्ट हैं। व्याकरणकी दृष्टिसे पहले श्लोकके 'श्रेय' शब्दका अर्थ अधिक प्रशस्त या बहुत अच्छा है; और दोनों मार्गोंके तारतम्य-भावविषयक अर्जुनके प्रश्नकाही यह उत्तर है, कि "कर्मयोगो विशिष्यते" – कर्मयोगकी योग्यता विशेष है ! तथापि यह सिद्धान्त सांख्यमार्गको इष्ट नहीं है, क्योंकि उसका कथन है, कि ज्ञानके पश्चात् सब कर्मोंका स्वरूपतः संन्यासही करना चाहिये; इस कारण इन स्पष्ट-अर्थवाले प्रश्नोत्तरोंकी कुछ लोगोने व्यर्थ खींचातानी की है; और जब यह खींचातानी करनेपरभी निर्वाह न हुआ, तब उन लोगोंने यह तुर्रा लगाकर किसी प्रकार अपना समाधान कर लिया है, कि 'विशिष्यते' (योग्यता या विशेषता) पदसे भगवानने कर्मयोगकी अर्थवादात्मक अर्थात् कोरी स्तुति कर दी है, असलमें भगवानका ठीक अभिप्राय वैसा नहीं है ! यदि भगवानका यह मत होता, कि ज्ञानके पश्चात् कर्मोंकी आवश्यकता नहीं है; तो क्या वे अर्जुनको यह उत्तर नहीं दे सकते थे, कि " इन दोनोंमें संन्यास श्रेष्ठ है ?" परंतु ऐसा न करके उन्होंने दूसरे श्लोकके पहले चरणमें बतलाया है, कि " कर्मोंका करना और कर्मोंको छोड़ देना " ये दोनों मार्ग एक-हीसे मोक्षदाता हैं;" और आगे 'तु' अर्थात् 'परंतु' पदका प्रयोग करके जब भगवानने यह निःसंदिग्ध विधान किया है, कि 'तयोः' अर्थात् इन दोनों मार्गोंमें कर्म छोड़नेके मार्गकी अपेक्षा कर्म करनेका पक्षही अधिक प्रशस्त (श्रेय) है; तब पूर्णतया सिद्ध हो जाता है, कि भगवानको यही मत ग्राह्य है, कि साधनावस्थामें ज्ञानप्राप्तिके लिये किये जानेवाले निष्काम कर्मोंकोही, ज्ञानी पुरुष आगे सिद्धावस्थामेंभी लोकसंग्रहके अर्थ मरणपर्यंत कर्तव्य समझकर करता रहे। यही अर्थ गीता ३.७ में वर्णित है और यही 'विशिष्यते' पद वहाँभी है, और उसके अगले श्लोकमें अर्थात् गीता ३.८ में ये स्पष्ट शब्द फिरभी हैं, कि " अकर्मकी अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है।" इसमें संदेह नहीं, कि उपनिषदोंमें कई स्थलों पर (बृ. ४. ४. २२) वर्णन है, कि ज्ञानी पुरुष लोकैषणा और पुत्रैषणा प्रभृति न रख कर भिक्षा माँगते हुए घूमा करते हैं। परंतु उपनिषदोंमेंभी यह नहीं कहा है, कि ज्ञानके पश्चात् यह एक-ही मार्ग है, दूसरा नहीं है। अतः केवल उल्लिखित उपनिषद्-वाक्यसेही गीताकी एकवाक्यता करना उचित नहीं है। गीताका यह कथन नहीं है, कि उपनिषदोंमें वर्णित यह संन्यास-मार्ग मोक्षप्रद नहीं है; किंतु यद्यपि कर्मयोग और संन्यास, दोनों मार्ग एक-सेही मोक्षप्रद हैं, तथापि, अर्थात् मोक्षकी दृष्टिसे दोनोंका फल एकही होने परभी, जगतके व्यवहारका विचार करनेपर गीताका यह निश्चित मत है, कि ज्ञानके पश्चातभी निष्काम बुद्धिसे कर्म करते रहनेका मार्गही अधिक प्रशस्त या श्रेष्ठ है। हमारा किया हुआ यह अर्थ गीताके बहुतेरे टीकाकारोंको मान्य नहीं

§ § ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५॥
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

है; उन्होंने कर्मयोगको गौण निश्चित किया है। परंतु हमारी समझमें ये अर्थ सरल नहीं हैं; और गीतारहस्यके ग्यारहवें प्रकरण (विशेषकर पृ. ३०६–३१५) में इसके कारणोंका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है, इस कारण यहाँ उसके दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार दोनोंमेंसे अधिक प्रशस्त मार्गका निर्णय कर दिया गया; अब यह सिद्ध कर दिखलाते हैं, कि ये दोनों मार्ग व्यवहारमें यदि लोगोंको भिन्न दीख पड़े तोभी तत्त्वतः वे दो नहीं हैं :–]

(३) जो (किसीकाभी) द्वेष नहीं करता और (किसीकीभी) इच्छा नहीं करता, उस पुरुषको (कर्म करनेपरभी) नित्यसंन्यासी समझना चाहिये; क्योंकि, हे महाबाहु अर्जुन! जो (सुखःदुख आदि) द्वंद्वोंसे मुक्त हो जाय, वह अनायासही (कर्मोंके सब) बंधोंसे मुक्त हो जाता है। (४) मूर्ख लोग कहते हैं, कि सांख्य (कर्मसंन्यास) और योग (कर्मयोग) भिन्न भिन्न हैं, परंतु पंडित लोग ऐसा नहीं कहते। किसीभी एक मार्गका भलीभाँति आचरण करनेसे दोनोंका फल मिल जाता है। (५) जिस (मोक्ष-)स्थानमें सांख्य-(मार्गवाले लोग) पहुँचते हैं, वहीं योगी अर्थात् कर्मयोगीभी जाते हैं। (इस रीतिसे) जिसने यह जान लिया, कि सांख्य और योग, (ये दोनों मार्ग) एकही हैं उसीने (ठीक तत्त्वको) पहचाना। (६) हे महाबाहु! योग अर्थात् कर्मके बिना संन्यासको प्राप्त कर लेना कठिन है। जो मुनि कर्मयोगयुक्त हो गया, उसे ब्रह्मकी प्राप्ति होनेमें विलंब नहीं लगता।

[सातवें अध्यायसे लेकर सत्रहवें अध्यायतक इस बातका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, कि सांख्यमार्गसे जो मोक्ष मिलता है, वही कर्मयोगसे अर्थात् कर्मोंके न छोड़नेपरभी मिलता है। यहाँ तो इतनाही कहना है, कि मोक्षकी दृष्टिसे दोनोंमें कुछ फर्क नहीं है, इस कारण अनादि कालसे चलते आये हुए इन दोनों मार्गोंका भेदभाव बढाकर झगड़ा करना उचित नहीं है; और आगेभी

§ § योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

| येही युक्तियाँ पुनः पुनः आई हैं (गीता ६. २; १८. १, २ एवं उनकी टिप्पणी | देखो)। "एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति" यही श्लोक कुछ | शब्दभेदसे महाभारतमेंभी दो बार आया है (शां. ३०५. १९; ३१६. ४)। | संन्यास-मार्गमें ज्ञानको प्रधान मान लेनेपरभी उस ज्ञानकी सिद्धि कर्म किये बिना | नहीं होती; और कर्म-मार्गमें यद्यपि कर्म किया करते हैं, तोभी वे ज्ञानपूर्वक | होते हैं, इस कारण ब्रह्मप्राप्तिमें कोई बाधा नहीं होती (गीता ६. २); फिर | इस झगड़ेको बढानेमें क्या लाभ है, कि दोनों मार्ग भिन्न भिन्न हैं? यदि कहा | जाय, कि कर्म करनाही बंधक है, तो अब बतलाते हैं, कि वह आक्षेपभी निष्काम | कर्मके विषयमें नहीं किया जा सकता :–]

(७) जो (कर्म-)योगयुक्त हो गया, जिसका अंतःकरण शुद्ध हो गया, जिसने अपने मन और इंद्रियोंको जीत लिया, और सब प्राणियोंका आत्माही जिसका आत्मा हो गया, वह (सब कर्म) करता हुआभी (कर्मोंके पाप-पुण्यसे) अलिप्त रहता है। (८) योगयुक्त तत्त्ववेत्ता पुरुषको समझना चाहिये, कि "मैं कुछभी नहीं करता; (और) देखनेमें, सुननेमें, स्पर्श करनेमें, खानेमें, सूंघनेमें, चलनेमें, सोनेमें, साँस लेनेछोड़नेमें, (९) बोलनेमें, विसर्जन करनेमें, लेनेमें, आँखोंके पलक खोलने और बंद करनेमेंभी, वह ऐसी बुद्धि रख कर (व्यवहार करे) कि (केवल) इंद्रियाँ अपने अपने विषयोंमें बर्तती हैं।

| [अंतके दो श्लोक मिल कर एक-ही वाक्य बना है और उसमें बतलाये | हुए सब कर्म भिन्न भिन्न इंद्रियोंके व्यापार हैं; उदाहरणार्थ, विसर्जन करना | गुदका, लेना हाथका, पलक हिलाना प्राणवायुका, देखना आँखोंका इत्यादि। "मैं | कुछभी नहीं करता" इसका यह मतलब नहीं, कि इंद्रियोंको चाहे जो करने | दे; किंतु मतलब यह है, कि 'मैं' इस अहंकार-बुद्धिके छूट जानेसे अचेतन इंद्रियाँ | आपही आप कोई बुरा काम नहीं कर सकतीं, और वे आत्माके काबूमें रहती | हैं। सारांश, कोई पुरुष ज्ञानी हो जाय, तोभी श्वासोच्छ्वास आदि इंद्रियोंके कर्म | उसकी इंद्रियाँ करतीही रहेंगी। यही क्यों पलभर जीवित रहनाभी कर्मही है। | फिर यह भेद कहाँ रह गया, कि संन्यास-मार्गका ज्ञानी पुरुष कर्म छोड़ता है और

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

| कर्मयोगी करता है ? कर्म तो दोनोंकोभी करनाही पड़ता है । पर अहंकारयुक्त
| आसक्ति छूट जानेसे वेही कर्म बंधक नहीं होते, इस कारण आसक्तिका छोड़-
| नाही इसका मुख्य तत्त्व है; और उसीका अब अधिक निरूपण करते हैं :–]

(१०) जो ब्रह्ममें अर्पण कर आसक्तिविरहित कर्म करता है, उसको वैसेही पाप नहीं लगता, जैसे कि कमलके पत्तेको पानी नहीं लगता । (११) (अतएव) कर्मयोगी (ऐसी अहंकारबुद्धि न रखकर, कि 'मैं करता हूँ' – केवल) शरीरसे, (केवल) मनसे, (केवल) बुद्धिसे और (केवल) इंद्रियोंसेभी आसक्ति छोड़ कर आत्मशुद्धिके लिये कर्म किया करते हैं ।

| [कायिक, वाचिक, मानसिक आदि, कर्मोंके भेदोंको लक्ष्यकर इस श्लोक-
| में शरीर, मन और बुद्धि शब्द आये हैं । मूलमें यद्यपि 'केवलः' विशेषण 'इंद्रियैः'
| शब्दके पीछे है, तथापि वह शरीर, मन और बुद्धिकोभी लागू है (गीता ४. २१)
| इसीसे अनुवादमें उसे 'शरीर' शब्दके समानही अन्य शब्दोंकेभी पीछे लगा दिया
| है । जैसे ऊपरके आठवें और नवें श्लोकमें कहा है, वैसेही यहाँभी कहा है, कि
| अहंकारबुद्धि एवं फलाशाके विषयमें आसक्ति छोड़ कर केवल कायिक, केवल
| वाचिक या केवल मानसिक, कोईभी कर्म किया जाय, तोभी कर्ताको उसका
| दोष नहीं लगता (गीता ३. २७; १३. २९; १८. १६) । अहंकारके न रहनेसे
| जो कर्म होते हैं, वे सिर्फ़ इंद्रियोंके हैं, और मन आदिक सभी इंद्रियाँ प्रकृतिकेही
| विकार हैं, अतः ऐसे कर्मोंका बंधन कर्ताको नहीं लगता । अब इसी अर्थको शास्त्रा-
| नुसार सिद्ध करते हैं :–]

(१२) जो युक्त अर्थात् योगयुक्त हो गया, वह कर्मफल छोड़कर अंतकी पूर्ण शांति पाता है; और जो अयुक्त है अर्थात् योगयुक्त नहीं है, वह कामसे अर्थात् वासनासे फलके विषयमें सक्त हो कर (पाप-पुण्यसे) बद्ध हो जाता है । (१३) सब कर्मोंका

§ § न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥
§ § ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

मनसे (प्रत्यक्ष नहीं) संन्यास कर, जितेन्द्रिय देहवान् (पुरुष) नौ द्वारोंके इस (देहरूपी) नगरमें न कुछ करता और न कराता हुआ आनंदसे पड़ा रहता है।

[अर्थात् वह जानता है, कि आत्मा अकर्ता है, सब खेल तो प्रकृतिका है; और इसका कारण स्वस्थ या उदासीन पड़ा रहता है (गीता १३. २०; १८. ५९)। दोनों आँखें, दोनों कान, नासिकाके दोनों छिद्र, मुख, मूत्रेन्द्रिय-और गुद – ये शरीरके नौ द्वार या दरवाजे समझे जाते हैं। अध्यात्म-दृष्टिसे यही उपपत्ति बतलाते हैं, कि कर्मयोगी कर्मोंको करकेभी युक्त कैसे बना रहता है :–]

(१४) प्रभु अर्थात् आत्मा या परमेश्वर लोगोंके कर्तृत्वको, उनके कर्मोंको (या उनको प्राप्त होनेवाले) कर्मफलके संयोगकोभी निर्माण नहीं करता। स्वभाव अर्थात् प्रकृतिही (सब कुछ) किया करती है। (१५) विभु अर्थात् सर्वव्यापी आत्मा या परमेश्वर किसीका पाप और किसीका पुण्यभी नहीं लेता। ज्ञानपर अज्ञानका पर्दा पड़ा रहनेके कारण (अर्थात् मायासे) प्राणी मोहित हो जाते हैं।

[इन दोनों श्लोकोंका तत्त्व असलमें सांख्यशास्त्रका है (गीतार. प्र. ७, पृ. १६४–१६७) और वेदान्तियोंके मतसे आत्माका अर्थ परमेश्वर है, अतः वेदान्ती लोग परमेश्वरके विषयमेंभी "आत्मा अकर्ता है" इस तत्त्वका उपयोग करते हैं। प्रकृति और पुरुष ऐसे दो मूल तत्त्व मानकर सांख्यमतवादी समग्र कर्तृत्व प्रकृतिका मानते हैं; और आत्माको उदासीन कहते हैं। परंतु वेदान्ती लोग इसके आगे बढ़ कर यह मानते हैं, कि इन दोनोंकाभी मूल एक निर्गुण परमेश्वर है, और वह सांख्यवालोंके आत्माके समान उदासीन और अकर्ता है, एवं सारा कर्तृत्व माया (अर्थात् प्रकृति)का है (गीतार. प्र. ९, पृ. २६७)। अज्ञानके कारण साधारण मनुष्यको ये बातें जान नहीं पडतीं; परंतु कर्मयोगी कर्तृत्व और अकर्तृत्वका भेद जानता है, इस कारण अब यही कहते, हैं कि वह कर्म करकेभी अलिप्तही रहता है :–]

(१६) परंतु ज्ञानसे जिनका यह अज्ञान नष्ट हो जाता है, उनके लिये उन्हींका ज्ञान परमार्थतत्त्वको, सूर्यके समान, प्रकाशित कर देता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥
§§ विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

(१७) और उस परमार्थतत्त्वमेंही जिनकी बुद्धि रँग जाती है, वहीं जिनका अंतःकरण रम जाता है और जो तन्निष्ठ एवं तत्परायण हो जाते हैं, उनके पाप ज्ञानसे बिलकुल धुल जाते है और वे फिर जन्म नहीं लेते ।

| [इस प्रकार जिसका अज्ञान नष्ट हो जाय, उस कर्मयोगीकी (संन्यासीकी | नहीं) ब्रह्मभूत या जीवन्मुक्त अवस्थाका अब अधिक वर्णन करते हैं :–]

(१८) पंडितोंकी अर्थात् ज्ञानियोंकी दृष्टि विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, ऐसेही कुत्ता और चांडाल, इन सभीके विषयमें समान रहती है ! (१९) इस प्रकार जिनका मन साम्यावस्थामें स्थिर हो जाता है, वे वहींके वहीं अर्थात् मरणकी प्रतीक्षा न कर, मृत्युलोकको जीत लेते हैं। क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, अतः साम्य-बुद्धिवाले ये पुरुष (सदैव) ब्रह्ममें स्थित अर्थात् यहींके यहीं ब्रह्मभूत हो जाते हैं ।

| [जिसने इस तत्त्वको जान लिया, कि "आत्मस्वरूपी परमेश्वर अकर्ता | है", और सारा खेल प्रकृतिका है, वह 'ब्रह्मसंस्थ' हो जाता है। और | उसीको मोक्ष मिलता है – "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" (छां. २. २३. १) यह वर्णन | उपनिषदोंमें है, और उसीका अनुवाद ऊपरके श्लोकोंमें किया गया है। परंतु | इस अध्यायके १–१२ श्लोकोंसे गीताका यह अभिप्राय प्रकट होता है, कि इस | अवस्थामेंभी कर्म नहीं छूटते । शंकराचार्यने छांदोग्य उपनिषदके उक्त वाक्यका | संन्यासप्रधान अर्थ किया है। परंतु मूल उपनिषदका पूर्वापार संदर्भ देखनेसे | विदित होता है, कि 'ब्रह्मसंस्थ' होनेपरभी तीनों आश्रमोंके कर्म करनेवालेके | विषयमेंही यह वाक्य कहा गया होगा; और इस उपनिषदके अंतमें यही अर्थ | स्पष्टरूपसे बतलाया गया है (छां. ८. १५. १)। ब्रह्मज्ञान हो चुकनेपर यह | अवस्था जीते जी प्राप्त हो जाती है, अतः इसेही जीवन्मुक्तावस्था कहते हैं | (गीतार. प्र. १०, पृ. २९७–३०२)। अध्यात्मविद्याकी यही पराकाष्ठा है | और चित्तवृत्ति-निरोधरूपी जिन योगसाधनोंसे यह अवस्था प्राप्त हो सकती | है, उनका विस्तारपूर्वक वर्णन अगले अध्यायमें किया गया है। इस अध्यायमें | अब केवल इसी अवस्थाका अधिक वर्णन है :–]

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥
§§ योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

(२०) प्रिय अर्थात् इष्ट वस्तुको पाकर प्रसन्न न हो जावे, और अप्रियको पानेसे खिन्नभी न होवे। (इस प्रकार) जिसकी बुद्धि स्थिर है और जो मोहमें नही फँसता (कहना चाहिये, कि) वही ब्रह्मवेत्ता ब्रह्ममें स्थित हुआ। (२१) बाह्य पदार्थोंके (इंद्रियोंसे होनेवाले) संयोगमें अर्थात् विषयोपभोगमें जिसका मन आसक्त नहीं, उसे (ही) आत्मसुख मिलता है; और वह ब्रह्मयुक्त पुरुष अक्षय सुखका अनुभव करता है। (२२) (बाहरी पदार्थोंके) संयोगसेही उत्पन्न होनेवाले भोगोंका आदि और अंत है, अतएव वे दुःखकेही कारण हैं; हे कौन्तेय ! उनमें पंडित लोग रत नहीं होते। (२३) शरीर छूटनेके पहले अर्थात् मरणपर्यंत कामक्रोधसे होनेवाले वेगको इस लोकमेंही सहन करनेमें (इंद्रियसंयमसे) जो समर्थ होता है, वही मुक्त और वही (सच्चा) सुखी है।

| [गीताके दूसरे अध्यायमें भगवानने कहा है, कि तुझे सुख-दुःख सहने चाहिये (गीता. २. १४), यह उसीका विस्तार और निरूपण है। गीता २. १४ में सुख-दुःखोंको 'आगमापायिनः' विशेषण लगाया है, तो यहाँ २२ वें श्लोकमें उनको 'आद्यन्तवन्तः' कहा है, और 'मात्रा' शब्दके बदले 'बाह्य शब्दका प्रयोग किया है। इसीमें 'युक्त' शब्दकी व्याख्याभी आ गई है। सुख-दुखोंका त्याग कर सम-बुद्धिसे उनको सहते रहनाही युक्तताका सच्चा लक्षण है। (गीता २. ६१ की टिप्पणी देखो)।]

(२४) इस प्रकार (बाह्य सुख-दुःखोंकी अपेक्षा न कर) जो अंतःसुखी अर्थात् अंतःकरणमेंही सुखी हो जाय, जो अपने आपमेंही आराम पाने लगे, और ऐसेही जिसे (यह) अंतःप्रकाश मिल जाय, वह (कर्म-)योगी ब्रह्मरूप हो जाता है, एवं उसेही ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्ममें मिल जानेका मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

जिन ऋषियोंकी द्वंद्वबुद्धि छूट गई है, अर्थात् जिन्होंने इस तत्त्वको जान लिया है, कि सब स्थानोंमें एकही परमेश्वर है, जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, और जो आत्मसंयमसे सब प्राणियोंका हित करनेमें रत हो गये हैं, उन्हें यह ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिलता है। (२६) कामक्रोधविरहित, आत्मसंयमी और आत्मज्ञानसंपन्न यतियोंको 'अभितः' अर्थात् आसपास या सन्मुख रखा हुआ-सा (अर्थात् बैठे-बिठाये) ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिल जाता है। (२७) बाह्य पदार्थोंके (इंद्रियोंके सुख-दुःखदायक) संयोगसे अलग होकर, दोनों भौंहोंके बीचमें दृष्टिको जमाकर और नाकसे चलनेवाले प्राण एवं अपानको सम करके, (२८) जिसने इंद्रियों, मन और बुद्धिका संयम कर लिया है, तथा जिसके भय, इच्छा और क्रोध छूट गये हैं, वह मोक्षपरायण मुनि सदा-सर्वदा मुक्तही है।

| [गीतारहस्यके नवम (पृ. २३४, २४८) और दशम (पृ. ३००) प्रकरणोंसे ज्ञात होगा, कि यह वर्णन जीवन्मुक्तावस्थाका है। परतु हमारी रायमें टीकाकारोंका यह कथन ठीक नहीं, कि यह वर्णन संन्यास-मार्गके पुरुषका है। संन्यास और कर्मयोग, दोनों मार्गोंमें शांति तो एक-ही-सी रहती है, और उतनेहीके लिये यह वर्णन संन्यासमार्गको उपयुक्त हो सकेगा। परंतु इस अध्यायके आरंभमें कर्मयोगको श्रेष्ठ निश्चित कर फिर २५ वें श्लोकमें जो यह कहा है, कि ज्ञानी पुरुष सब प्राणियोंका हित करनेमें प्रत्यक्ष मग्न रहते हैं, उससे प्रकट होता है, कि यह समस्त वर्णन कर्मयोगी जीवन्मुक्तकाही है, संन्यासीका नहीं है (गीता र. प्र. १२, पृ. ३५८ देखो)। कर्ममार्गमेंभी सर्वभूतान्तर्गत परमेश्वरको पहचाननाही परमसाध्य है, अतः भगवान् अंतमें कहते हैं, कि :–]

§§ भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे संन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ।। ५ ।।

---

(२९) जो मुझको (सब) यज्ञों और तपोंका भोक्ता, (स्वर्ग आदि) सब लोकोंका बड़ा स्वामी, एवं सब प्राणियोंका मित्र जानता है, वही शांति पाता है।

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद्में, ब्रह्म विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें संन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

षष्ठोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

छठा अध्याय

[इतना तो सिद्ध हो गया, कि मोक्षप्राप्ति होनेके लिये ज्ञानके सिवा और किसीकीभी अपेक्षा न हो, तोभी लोकसंग्रहकी दृष्टिसे ज्ञानी पुरुषको ज्ञानके अनंतरभी कर्म करते रहना चाहिये, परंतु फलाशा छोड़कर उन्हें सम-बुद्धिसे इसलिये करे, ताकि वे बंधक न हो जावें, इसेही कर्मयोग कहते हैं, और कर्म-संन्यास-मार्गकी अपेक्षा यह अधिक श्रेयस्कर है। तथापि इतनेसेंही कर्मयोगका प्रतिपादन समाप्त नहीं होता। तीसरेही अध्यायमें काम-क्रोध आदिका वर्णन करते हुए भगवानने अर्जुनसे कहा है, कि ये शत्रु मनुष्यकी इंद्रियोंमें, मनमें और बुद्धिमें घर करके उसके ज्ञान-विज्ञानका नाशकर देते हैं (गीता. ३. ४०), अतः तू इंद्रियोंके निग्रहसे इनको पहले जीत ले। इस उपदेशको पूर्ण करनेके लिये इन दो प्रश्नोंका स्पष्टीकरण करना आवश्यक था, कि (१) इंद्रियनिग्रह कैसे करें और (२) ज्ञान-विज्ञान किसे कहते हैं? परंतु बीचमेंही अर्जुनके प्रश्नोंसे यह बतलाना पड़ा कि कर्म-संन्यास और कर्मयोग इन दोनोंमें अधिक अच्छा मार्ग कौन-सा है, और फिर इन दोनों मार्गोंकी यथाशक्य एकवाक्यताभी करके यह प्रतिपादन किया गया है, कि कर्मोंको न छोड़करभी, उन्हींको निःसंग-बुद्धिसे करते जानेपर ब्रह्म-निर्वाणरूपी मोक्ष क्योंकर मिलता है? अब इस अध्यायमें उन साधनोंके निरूपण करनेका आरंभ किया गया है, जिनकी आवश्यकता कर्मयोगमेंभी उक्त निःसंग या ब्रह्मनिष्ठ स्थिति प्राप्त करनेमें होती है। तथापि यह निरूपणभी स्वतंत्र रीतिसे पातंजलयोगका उपदेश करनेके लिये नहीं किया गया है, और यह बात पाठकोंके ध्यानमें आ जाय, इसलिये यहाँ पिछले अध्यायोंमें प्रतिपादन की हुई बातोंकाही प्रथम उल्लेख किया गया है, जैसे – फलाशा छोड़कर कर्म करनेवाले पुरुषकोही सच्चा संन्यासी समझना चाहिये, कर्म छोड़नेवालेको नहीं, (गीता ५. ३) इत्यादि।]

श्रीभगवानने कहा :–(१) कर्मफलका आश्रय न करके (अर्थात् मनमें फलाशाको न टिकने देकर) जो (शास्त्रानुसार अपने विहित) कर्तव्य-कर्म करता है, वही संन्यासी और वही कर्मयोगी है। निरग्नि अर्थात् अग्निहोत्र आदि कर्मोंको छोड़ देनेवाला अथवा अक्रिय अर्थात् कोईभी कर्म न करके निठल्ले बैठनेवाला

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥
§§ आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

(सच्चा संन्यासी और योगी) नहीं है। (२) हे पांडव ! जिसे संन्यास कहते हैं, उसीको (कर्म-योग) समझ। क्योंकि संकल्प अर्थात् काम्य-बुद्धिरूप फलाशाका संन्यास (= त्याग) कियेबिना कोईभी (कर्म-)योगी नहीं होता।

[पिछले अध्यायमें जो कहा है, कि "एकं सांख्यं च" (गीता ५. ५), या "बिना योगके संन्यास नहीं होता" (५. ६) अथवा "ज्ञेयः स नित्य-संन्यासी" (५. ३), उसीका यह अनुवाद है, और आगे अठारहवें अध्यायमें (१८. २) समग्र विषयका उपसंहार करते हुए इसी अर्थका फिरभी वर्णन किया है। गृहस्थाश्रममें अग्निहोत्र रखकर यज्ञयाग आदि कर्म करने पड़ते हैं; पर जो संन्यासाश्रमी हो गया हो, उसके लिये मनुस्मृतिमें कहा है, कि उसको इस प्रकार अग्निकी रक्षा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती, इस कारण वह 'निरग्नि' हो जाय, और जंगलमें रहकर भिक्षासे पेट पाले, जगतके व्यवहारमें न पड़े (मनु. ६. २५ इत्यादि)। पहले श्लोकमें मनुके इसी मतका उल्लेख किया गया है; और इसपर भगवानका कथन है, कि निरग्नि और निष्क्रिय होना कुछ सच्चे संन्यासका लक्षण नहीं है। काम्य-बुद्धिका या फलाशाका त्याग करनाही सच्चा संन्यास है। संन्यास बुद्धिमें है; अग्नित्याग अथवा कर्मत्यागकी बाह्य क्रियामें नहीं है। अतएव फलाशा अथवा संकल्पका त्यागकर कर्तव्यकर्म करने-वालेकोही सच्चा संन्यासी कहना चाहिये। गीताका यह सिद्धान्त स्मृतिकारोंके सिद्धान्तसे भिन्न है, और गीतारहस्यके ११ वें प्रकरणमें (पृ. ३४८–३५१) स्पष्टकर दिखला दिया है, कि गीताने स्मार्त-मार्गसे इसका मेल कैसे किया है, इस प्रकार सच्चा संन्यास बतलाकर अब यह बतलाते हैं, कि ज्ञान होनेके पहले अर्थात् साधनावस्थामें जो कर्म किये जाते हैं, उनमें, और ज्ञानोत्तर अर्थात् सिद्धावस्थामें फलाशा छोड़कर जो कर्म किये जाते उनमें क्या भेद है :–]

(३) (कर्म-)योगारूढ होनेकी इच्छा रखनेवाले मुनिके लिये कर्म (शमका) कारण अर्थात् साधन कहा गया है; और उसी पुरुषके योगारूढ अर्थात् पूर्ण योगी हो जानेपर कहा जाता है, कि उसके लिये (आगे) शम (कर्मका) कारण हो जाता है।

[टीकाकारोंने इस श्लोकके अर्थका अनर्थ कर डाला है। श्लोकके पूर्वार्धमें योग = कर्मयोग यही अर्थ है, और यह बात सभीको मान्य है, कि उसकी सिद्धिके

लिये पहले कर्मही कारण होता है। किंतु "योगारूढ होनेपर उसीके लिये शम कारण हो जाता है" – इसका अर्थ टीकाकारोंने संन्यास-प्रधान कर डाला है। उनका कथन यों है :– 'शम' = कर्मका 'उपशम'; और जिसे योग सिद्ध हो गया है, उसे, कर्म छोड़ देने चाहिये ! क्योंकि उनके मतमें कर्मयोग संन्यासका अंग अर्थात् पूर्व-साधन है। परंतु यह अर्थ सांप्रदायिक आग्रहका है, जो ठीक नहीं है। इसका पहला कारण यह है, कि जब इस अध्यायके पहलेही श्लोकमें भगवानने कहा है, कि कर्मफलका आश्रय न करके "कर्तव्यकर्म करनेवाला" पुरुषही सच्चा योगी अर्थात् योगारूढ है, कर्म न करनेवाला (अक्रिय) सच्चा योगी नहीं है; तब यह मानना सर्वथा अन्याय्य है, कि तीसरे श्लोकमें योगारूढ पुरुषको कर्मका शम करनेके लिये, या कर्म छोड़नेके लिये भगवान् कहेंगे। संन्यास-मार्गका यह मत भलेही हो, कि शांति मिल जानेपर योगारूढ पुरुष कर्म न करे; परंतु गीताको यह मत मान्य नहीं है। गीतामें अनेक स्थानोंपर स्पष्ट उपदेश किया गया है, कि कर्मयोगी सिद्धावस्थामेंभी भगवानके समान यावज्जीवन निष्काम बुद्धिसे सब कर्म केवल कर्तव्य समझकर रहता रहे (गीता २. ७१; ३. ७, १९; ४. १९–२१; ५, ७–१२; १२. १२; १८. ५६, ५७; गीतार. प्र. ११, १२)। दूसरा कारण यह है, कि शम शब्दका अर्थ 'कर्मका शम' कहाँसे आया ? भगवद्गीतामें 'शम' शब्द दो-चार बार आया है (गीता १०. ४; १८. ४२), वहाँ और व्यवहारमेंभी उसका अर्थ 'मनकी शांति' है। फिर इसी श्लोकमें 'कर्मकी शांति' अर्थ क्यों लें ? इस कठिनाईको दूर करनेके लिये गीताके पैशाचभाष्यमें 'योगारूढस्य तस्यैव' के 'तस्यैव' इस दर्शक सर्वनामका संबंध 'योगारूढस्य' से न लगाकर, 'तस्य'को नपुंसकलिंगकी षष्ठी विभक्ति समझ करके ऐसा अर्थ किया है, कि 'तस्यैव कर्मणः शमः' (तस्य अर्थात् पूर्वार्धके कर्मका शम) किंतु यह अन्वयभी सरल नहीं है। क्योंकि, इसमें कोई संदेह नहीं, कि योगाभ्यास करनेवाले जिस पुरुषका वर्णन इस श्लोकके पूर्वार्धमें किया गया है, उसीकी जो स्थिति अभ्यास पूरा हो चुकनेपर होती है, उसे बतलानेकेलिये उत्तरार्धका आरंभ हुआ है। अतएव 'तस्यैव' पदोंसे 'कर्मणः एव' यह अर्थ लिया नहीं जा सकता; अथवा यदि लेही लें, तो उसका संबंध "'शमः'से न जोड़कर 'कारणमुच्यते'के साथ जोड़नेसे ऐसा अन्वय लगता है, "शमः योगारूढस्य तस्यैव कर्मणः कारणमुच्यते।" और गीताके संपूर्ण उपदेशके अनुसार उसका यह अर्थभी ठीक लग जायगा, कि "अब योगारूढके कर्मकाही शम कारण होता है।" टीकाकारोंके अर्थको त्याज्य माननेका तीसरा कारण यह है, कि संन्यास-मार्गके अनुसार योगारूढ पुरुषको यदि कुछभी करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती, उसके सब कर्मोंका अंत शममेंही हो जाता है; और यह सच है, तो "योगारूढको शम कारण होता है" इस वाक्यका 'कारण'

शब्द बिलकुलही निरर्थक हो जाता है। 'कारण' शब्द सदैव सापेक्ष है। 'कारण' कहनेसे उसको कुछ-न-कुछ 'कार्य' अवश्य चाहिये और संन्यास-मार्गके अनुसार योगारूढको तो कोईभी 'कार्य' नहीं रह जाता। यदि शमको मोक्षका 'कारण' अर्थात् साधन कहें, तो मेल नहीं मिलता। क्योंकि मोक्षका साधन ज्ञान है, शम नहीं। अच्छा; शमको ज्ञानप्राप्तिका 'कारण' अर्थात् साधन कहें, तो यह वर्णन योगारूढ अर्थात् पूर्णावस्थाको पहुँचे हुए पुरुषकाही है, इसलिये उसको ज्ञान-प्राप्ति तो कर्मके साधनसे पहलेही हो चुकती है। फिर यह शम 'कारण' है किसका? संन्यास-मार्गके टीकाकारोंसे इस प्रश्नका कुछभी समाधानकारक उत्तर देते नहीं बनता। परंतु उनके इस अर्थको छोड़कर विचार करने लगें, तो उत्तरार्धका अर्थ करनेमें पूर्वार्धका 'कर्म'पद सान्निध्यसामर्थ्यसे सहजही मनमें आ जाता है और फिर यह अर्थ निष्पन्न होता है, कि योगारूढ पुरुषको लोक-संग्रहकारक कर्म करनेके लिये अब 'शम' 'कारण' या साधन हो जाता है, क्योंकि यद्यपि उसका कोई स्वार्थ शेष नहीं रह गया है, तथापि लोकसंग्रहकारक कर्म किसीसे छूट नहीं सकते (गीता ३. १७–१९)। पिछले अध्यायमें जो यह वचन है, कि "युक्त. कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम्" (गीता ५. १२) – कर्मफलका त्याग करके योगी पूर्ण शांति पाता है इससेभी यही अर्थ सिद्ध होता है। क्यों कि; उसमें शांतिका संबंध कर्मत्यागसे न जोड़कर केवल फलाशाके त्यागसेही वर्णित है, वहींपर स्पष्ट कहा है, कि योगी जो कर्म-संन्यास करे, वह 'मनसा' अर्थात् मनसे करे (गीता. ५. १३), शरीरके द्वारा या केवल इंद्रियोंके द्वारा उहे कर्म करनेही चाहिये। हमारा तो यह मत है, कि अलंकार-शास्त्रके अन्योन्यालंकारका-सा अर्थचमत्कार या सौरस्य इस श्लोकमें सध गया है; और पूर्वार्धमें यह बतला कर, कि 'शम'का कारण 'कर्म' कब होता है, उत्तरार्धमें इसके विपरीत वर्णन किया है, कि 'कर्म'का कारण 'शम' कब होता है? भगवान् कहते हैं, कि प्रथम साधनावस्थामें 'कर्म'ही शमका अर्थात् योग-सिद्धिका कारण है। भाव यह है, कि यथाशक्ति निष्काम कर्म करते करतेही चित्त शांत होकर उसीके द्वारा अंतमें पूर्ण योगसिद्धि हो जाती है। किंतु योगीके योगारूढ होकर सिद्धावस्थामें पहुँच जानेपर कर्म और शमका उक्त कार्यकारण-भाव बदल जाता है याने कर्मशम कारण नहीं होता; किंतु शमही कर्मका कारण बन जाता है; अर्थात् योगारूढ पुरुष अपने सब काम अब कर्तव्य समझकर, फलकी आशा न रखकरके, शांतचित्तसे किया करता है। सारांश, इस श्लोकका भावार्थ यह नहीं है, कि सिद्धावस्थामें कर्म छूट जाते हैं, किंतु गीताका यह कथन है कि साधनावस्थामें 'कर्म' और 'शम'के बीच जो कार्यकारणभाव होता है, सिर्फ वही सिद्धावस्थामें बदल जाता है (गीतारहस्य प्र. ११, पृ. ३२४–३२५)। गीतामें यह कहींभी नहीं कहा, कि कर्मयोगीको अंतमें कर्म

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुसज्यते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

§§ उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

| छोड़ देने चाहिये, और ऐसा कहनेका उद्देश्यभी नहीं है। अतएव अवसर पाकर किसी ढंगसे गीताके बीचकेही किसी श्लोकका संन्यास-प्रधान अर्थ लगाना उचित नहीं है। आजकल गीता बहुतेरोंको दुर्बोध-सी हो गई है, उसका कारणभी यही है। अगले श्लोककी व्याख्यामें यही अर्थ व्यक्त होता है, कि योगारूढ पुरुषको कर्म करने चाहिये। वह श्लोक इस प्रकार है :–]

(४) क्योंकि, जब वह इंद्रियोंके (शब्द स्पर्श आदि) विषयोंमें और कर्मोंमें अनुषक्त नहीं होता तथा सब संकल्प अर्थात् काम्यबुद्धिरूप फलाशाका (प्रत्यक्ष कर्मोंका नहीं) संन्यास करता है, तब उसको योगारूढ कहते हैं।

| [कह सकते हैं, कि यह श्लोक पिछले श्लोकके साथ और पहलेके तीनों श्लोकोंके साथभी मिला हुआ है। इससे गीताका यह अभिप्राय स्पष्ट होता है, कि योगारूढ पुरुषको कर्म न छोड़कर केवल फलाशा या काम्य-बुद्धि छोड़करके शांत चित्तसे निष्काम कर्म करने चाहिये। 'संकल्पका संन्यास' ये शब्द ऊपर दूसरे श्लोकमें आये हैं, वहाँ इनका जो अर्थ है, वही इस श्लोकमेंभी लेना चाहिये। कर्मयोगमेंही फलाशात्यागरूपी संन्यासका समावेश होता है; और फलाशा छोड़-कर कर्म करनेवाले पुरुषकोही सच्चा संन्यासी और योगी अर्थात् योगारूढ कहना चाहिये। अब यह बतलाते हैं, कि इस प्रकारके निष्काम कर्मयोग या फलाशा-संन्यासकी सिद्धि प्राप्त कर लेना प्रत्येक मनुष्यके अधिकारमें है, जो स्वयं प्रयत्न करेगा उसे इसकी प्राप्ति हो जाना कुछ असंभव नहीं :–]

(५) (मनुष्य) अपना उद्धार आपही करे। अपने आपको (कभीभी) गिरने न दे। क्योंकि (प्रत्येक मनुष्य) स्वयंही अपना बंधु (अर्थात् सहायक), या स्वयंही अपना शत्रु है। (६) जिसने अपने आपको जीत लिया, वह स्वयं अपना बंधु है; परंतु जो अपने आपको नहीं पहचानता, वह स्वयं अपने साथ शत्रुके समान वैर करता है।

| [इन दो श्लोकोंमें आत्मस्वतंत्रताका वर्णन है, और इस तत्त्वका प्रतिपादन है, कि हरएकको अपना उद्धार आपही करना चाहिये, और प्रकृति कितनीभी क्यों

§ § जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

न हो, उसको जीत कर आत्मोन्नति कर लेना हरएकके बलवती बसकी बात है (गीतार. प्र. १०, पृ. २८०–२८४)। मनमें इस तत्त्वके भली भाँति जम जानेके लियेही एक बार अन्वयसे और फिर व्यतिरेकसे, दोनों रीतियोंसे, वर्णन किया है, कि आत्मा अपनाही मित्र कब होता है और आत्मा अपना शत्रु कब हो जाता है; और यही तत्त्व फिर १३. २८ श्लोकमेंभी आया है। संस्कृतमें 'आत्मा' शब्दके ये तीन अर्थ होते हैं – (१) अंतरात्मा, (२) मैं स्वयं, और (३) अंतःकरण या मन; इसीसे यह आत्मा शब्द इस श्लोकमें और अगले श्लोकोंमें अनेक बार आया है। अब बतलाते हैं, कि आत्माको अपने अधीन रखनेसे क्या फल मिलता है :–]

(७) जिसने अपने आत्मा अर्थात् अंतःकरणको जीत लिया हो और जिसे शांति प्राप्त हो गई हो, उसका 'परमात्मा' शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमानमें समाहित अर्थात् सम एवं स्थिर रहता है।

[इस श्लोकमें 'परमात्मा' शब्द आत्माके लियेही प्रत्युक्त है। देहका आत्मा सामान्यतः सुख-दुःखकी उपाधिमें मग्न रहता है; परंतु इंद्रियसंयमसे उपाधियोंको जीत लेनेपर यही आत्मा प्रसन्न हो करके परमात्मरूपी या परमेश्वरस्वरूपी बना करता है। परमात्मा कुछ आत्मासे विभिन्न स्वरूपका पदार्थ नहीं है, और आगे गीतामेंही (गीता १३. २२, ३१) कहा है, कि मानवी शरीरमें रहनेवाला आत्माही तत्त्वतः परमात्मा है। महाभारतमेंभी यह वर्णन है :–]

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः ।
तैरेव विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥

"प्राकृत अथवा प्रकृतिके गुणोंसे (सुख-दुःख आदि विकारोंसे) बद्ध रहनेके कारण आत्माकोही क्षेत्रज्ञ या शरीरका जीवात्मा कहते हैं; और इन गुणोंसे मुक्त होनेपर वही परमात्मा हो जाता है" (मभा. शां. १८७. २४)। गीता-रहस्यके ९ वें प्रकरणसे ज्ञात होगा, कि अद्वैत वेदान्तका सिद्धान्तभी यही है। जो कहते हैं, कि गीतामें अद्वैत मतका प्रतिपादन नहीं है; विशिष्टाद्वैत या शुद्ध द्वैतही गीताको ग्राह्य है, वे 'परमात्मा'को एक पद न मान 'पर' और 'आत्मा' ऐसे दो पद करके 'परं'को 'समाहितः'का क्रियाविशेषण समझते हैं ! यह अर्थ क्लिष्ट है; परंतु इस उदाहरणसे समझमें आ जावेगा, कि सांप्रदायिक टीकाकार अपने मतके अनुसार गीताकी कैसी खींचातानी करते हैं।]

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

§§ योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

(८) जिसका आत्मा ज्ञान और विज्ञानसे अर्थात् विविध ज्ञानसे तृप्त हो जाय, जो अपनी इंद्रियोंको जीत ले, जो कूटस्थ अर्थात् मूलमें जा पहुँचे और मिट्टी, पत्थर एवं सोनेको एक-सा मानने लगे, उसी (कर्म-)योगी पुरुषको 'युक्त' अर्थात् सिद्धावस्थाको पहुँचा हुआ कहते हैं। (९) सुहृद्, मित्र, शत्रू, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष करनेयोग्य और बांधवोंके विषयमें, एवं साधु तथा दुष्ट लोगोंके विषयमेंभी जिसकी बुद्धि सम हो गयी हो, वही (पुरुष) विशेष योग्यताका है।

[प्रत्युपकारकी इच्छा न रखकर सहायता करनेवाले स्नेहीको सुहृद् कहते हैं; जब दो दल हो जायँ, तब किसीकीभी बुराई-भलाई न चाहनेवालेको उदासीन कहते हैं; दोनों दलोंकी भलाई चाहनेवालेको मध्यस्थ कहते हैं; और संबंधीको बंधु कहते हैं – टीकाकारोंने ऐसेही अर्थ किये हैं। परंतु इन अर्थोंसे कुछ भिन्न अर्थभी कर सकते हैं। क्योंकि, इन शब्दोंका प्रयोग प्रत्येकमें कुछ भिन्न अर्थ दिखलानेके लियेही नहीं किया गया है, किंतु अनेक शब्दोंकी यह योजना सिर्फ़ इसीलिये की जाती है, कि सबके मेलसे व्यापक अर्थका बोध हो जाय, उसमें कुछभी न्यूनता न रहने पावे। इस प्रकार संक्षेपसे बतला दिया, कि योगी, योगारूढ या युक्त किसे कहना चाहिये (गीता २. ६१; ४. १८, ५. २३), और यहभी बतला दिया, कि इस कर्मयोगको सिद्ध कर लेनेके लिये प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र है, उसके लिये किसीका मुँह जोहनेकी कोई ज़रूरत नहीं। अब कर्मयोगकी सिद्धिके लिये अपेक्षित साधनका निरूपण करते हैं :–]

(१०) योगी अर्थात् कर्मयोगी एकान्तमें अकेला रहकर चित्त और आत्माका संयम करे, किसीभी काम्यवासनाको न रख, परिग्रह अर्थात् पाश छोड़करके निरंतर अपने योगाभ्यासमें लगा रहे।

[अगले श्लोकसे स्पष्ट होता है, कि यहाँपर 'युंजीत'पदसे पातंजलसूत्रका योग विवक्षित है। तथापि इसका यह अर्थ नहीं, कि कर्मयोगको प्राप्त कर लेनेकी इच्छा करनेवाला पुरुष अपनी समस्त आयु पातंजलयोगमें बिता दे। कर्मयोगके लिये आवश्यक साम्य-बुद्धिको प्राप्त करनेके लिये साधनस्वरूप

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

| पातंजलयोग इस अध्यायमें वर्णित है; और उतनेहीके लिये एकान्तवासभी
| आवश्यक है। प्रकृति-स्वभावके कारण संभव नहीं, कि सभीको पातंजलयोगकी
| समाधि एकही जन्ममें सिद्ध हो जाय। इसी अध्यायके अंतमें भगवानने कहा है,
| कि जिन पुरुषोंको समाधिसिद्ध नहीं हुई है, वे अपनी सारी आयु पातंजल-
| योगमेंही न बिता दें, किंतु जितना हो सके उतना, बुद्धिको स्थिर करके
| कर्मयोगका आचरण करते जावें, उसीसे अनेक जन्मोंमें उनको अंतमें सिद्धि
| मिल जायगी। (गीतार. प्र. १०, पृ. २८४–२८७)।

(११) पहले दर्भ, फिर मृगछाला, और उसपर फिर वस्त्र बिछाकर योगाभ्यासी पुरुष शुद्ध स्थानपर अपना स्थिर आसन लगावे, जो कि न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा भी, (१२) वहाँ चित्त और इंद्रियोंके व्यापार रोककर तथा मनको एकाग्र करके आत्मशुद्धिके लिये आसनपर बैठकर योगका अभ्यास करे। (१३) काय अर्थात् पीठ, मस्तक और ग्रीवाको सम करके अर्थात् सीधी खड़ी रेखामें निश्चल करके, स्थिर होता हुआ, दिशाओंको याने इधर-उधर न रखकर, अपनी नाककी नोकपर दृष्टि जमाकर, (१४) निडर हो, शांत अंतःकरणसे, ब्रह्मचर्यव्रत पालकर तथा मनका संयम करके, मुझमेंही चित्त लगाकर, मत्परायण होता हुआ युक्त हो कर बैठ जाय।

| ['शुद्ध स्थानपर' और 'काय, ग्रीवा एवं मस्तकको समकर' ये शब्द
| श्वेताश्वतर उपनिषदके हैं (श्वे. २. ८, १०); और ऊपरका समस्त वर्णनभी
| हटयोगका नहीं है, प्रत्युत पुराने उपनिषदोंमें योगका जो वर्णन है, उससे अधिक
| मिलता-जुलता है। हठयोगमें इंद्रियोंका निग्रह बलात्कारसे किया जाता है; पर
| आगे इसी अध्यायके २४ वें श्लोकमें कहा है, कि ऐसा न करके "मनसैव इंद्रिय-
| ग्रामं विनियम्य" – मनसेही इंद्रियोंको रोके। इससे प्रकट है, कि गीतामें हठयोग
| विवक्षित नहीं है। ऐसेही इसी अध्यायके अंतमें कहा है, कि इस वर्णनका यह

युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

उद्देश्य नहीं, कि कोई अपनी सारी जिंदगी योगाभ्यासमेंही बिता दे। अब इसी योगाभ्यासके फलका अधिक निरूपण करते हैं :–]

(१५) इस प्रकार सदा अपना योगाभ्यास जारी रखनेसे मन काबूमें होकर (कर्म-)योगीको मुझमें रहनेवाली और अंतमें निर्वाणपद अर्थात् मेरे स्वरूपमें लीन करा देनेवाली शांति प्राप्त होती है।

[इस श्लोकमें 'सदा'पदसे प्रतिदिनके २४ घंटोंका मतलब नहीं है। इतनाही अर्थ विवक्षित है, कि प्रतिदिन यथाशक्ति घड़ी-घड़ी भर यह अभ्यास करे (श्लोक १० की टिप्पणी देखो)। कहा है, कि इस प्रकार योगाभ्यास करता हुआ 'मच्चित्त' और 'मत्परायण' हो; इसका कारण यह है, कि पातंजलयोग मनके निरोध करनेकी एक युक्ति या क्रिया है। इस कसरतसे यदि मन आधीन हो जाय तोभी वह एकाग्र मन भगवानमें न लगाकर और दूसरी बातकी ओरभी लगाया जा सकता है। पर गीताका कथन है, कि एकाग्र चित्तका ऐसा दुरुपयोग न कर, मनकी इस एकाग्रता या समाधि का उपयोग परमेश्वरके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेमें होना चाहिये, और ऐसेही यह योग सुखकारक होता है, अन्यथा ये निरे क्लेश हैं; और यही अर्थ आगे २९ वें, ३० वें एवं अध्यायके अंतमें ४७ वें श्लोकमें फिर आया है। परमेश्वरमें निष्ठा न रख जो लोग केवल इंद्रियनिग्रहका योग या कसरत करते हैं, वे लोंगोंको क्लेशप्रद जारण, मारण या वशीकरण वगैरह कर्म करनेमेंही प्रवीण हो जाते हैं। यह अवस्था न केवल गीताकोही, प्रत्युत किसीभी मोक्षमार्गको इष्ट नहीं। अब फिर इस योगक्रियाकाही अधिक स्पष्टीकरण करते हैं :–]

(१६) हे अर्जुन ! अतिशय खानेवाले या बिलकुल न खानेवालेको, और खूब सोनेवाले अथवा जागरण करनेवालेको (यह) योग सिद्ध नहीं होता। (१७) जिसका आहारविहार नियमित है, कर्मोका आचरण नपा-तुला है और सोना-जागना परिमित है, उसको (यह) योग दुःखघातक अर्थात् सुखावह होता है।

[इस श्लोकमें 'योग'से पातंजलयोगकी क्रिया और 'युक्त'से नियमित, नपी-तुली अथवा परिमितका आर्थ है; और आगेभी दो-एक स्थानोंपर योग-से

§ § यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

| पातंजलयोगका ही अर्थ है। तथापि इतनेहीसे यह नहीं समझ लेना चाहिये, कि इस अध्यायमें पातंजलयोगही स्वतंत्र रीतिसे प्रतिपाद्य है। पहले स्पष्ट बतला दिया है, कि कर्मयोगको सिद्ध कर लेना जीवनका प्रधान कर्तव्य है, और उसके साधन मात्रके लिये पातंजलयोगका यह वर्णन है, और इस श्लोकके " कर्मके उचित आचरण " इन शब्दोंसेभी प्रकट होता है, कि अन्यान्य कर्मोको न छोड़ते हुए इस योगका अभ्यास करना चाहिये। अब योगीका थोडा-सा वर्णन करके समाधि-सुखका स्वरूप बतलाते हैं :-]

(१८) संयत मन जब आत्मामेंही स्थिर हो जाता है, और किसीभी उपभोगकी इच्छा नहीं रहती, तब कहते हैं, कि वह 'युक्त' हो गया। (१९) वायुरहित स्थानपर रखे हुए दीपककी ज्योति जैसे निश्चल होती है, वही उपमा चित्तको संयत करके योगाभ्यास करनेवाले योगीको दी जाती है।

| [इस उपमाके अतिरिक्त महाभारतमें (शांति. ३००. ३२, ३४) ये दृष्टान्त हैं – " तेलसे भरे हुए पात्रको जीने परसे ले जानेमें, या तूफानके समय नावका बचाव करनेमें मनुष्य जैसा 'युक्त' अथवा एकाग्र होता है, योगीका मन वैसाही एकाग्र रहता है। " कठोपनिषदका " सारथी और रथके घोडों "वाला दृष्टान्त तो प्रसिद्धही है; और यद्यपि वह दृष्टान्त गीतामें स्पष्ट नहीं आया है, तथापि दूसरे अध्यायके ६७ और ६८ तथा इसी अध्यायका २५ वाँ श्लोक, उस दृष्टान्तको मनमें रखकरही कहे गये हैं। यद्यपि योगका गीताका पारिभाषिक अर्थ कर्मयोग है; तथापि उस शब्दके अन्य अर्थभी गीतामें आये हैं। उदाहरणार्थ, ९. ५ और १०. ७ श्लोकोंमें योगका अर्थ है, " अलौकिक अथवा चाहे जो करनेकी शक्ति। " यहभी कह सकते हैं, कि योग शब्दके अनेक अर्थ होनेके कारणही गीतामें पातंजलयोग या सांख्य-मार्गको प्रतिपाद्य बतलानेकी सुविधा उन संप्रदायवालोंको मिल गई है। १९ वें श्लोकमें वर्णित चित्तनिरोधरूपी पातंजलयोगकी समाधिकाही स्वरूप अब विस्तारसे कहते हैं :-]

(२०) योगानुष्ठानसे निरुद्ध चित्त जिस स्थानमें रम जाता है, और जहाँ स्वयं

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न :खेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

आत्माको देखकर आत्मामेंही संतुष्ट हो रहता है, (२१) जहाँ (केवल) बुद्धिगम्य और इंद्रियोंको अगोचर अत्यंत सुखका उसे अनुभव होता है, और जहाँ वह (एकबार) स्थिर हुआ, तो तत्त्वसे कभीभी नहीं डिगता, (२२) ऐसेही जिस स्थितिको पानेसे उसकी अपेक्षा दूसरा कोईभी लाभ उसे अधिक नहीं जँचता, और जहाँ स्थिर होनेसे कोईभी बड़ा भारी दुःख (उसको) वहाँसे बिचला नहीं सकता, (२३) उसको दुःखके स्पर्शसे वियोग अर्थात् 'योग' नामकी स्थिति कहते हैं; और इस 'योग'का आचरण मनको उकताने न देकर निश्चयसे करना चाहिये ।

[इन चारों श्लोकोंका एकही वाक्य है । २३ वें श्लोकके आरंभके 'उसको' ('तं') इस दर्शक सर्वनामसे पहलेके तीन श्लोकोंका वर्णन उद्दिष्ट है; और चारों श्लोकोंमें 'समाधि'का वर्णन पूरा किया गया है । पातंजलयोग-सूत्रमें योगका यह लक्षण दिया है, कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' – चित्तकी वृत्तिके निरोधको योग कहते हैं, उसीके सदृश २० वें श्लोकके आरंभके शब्द हैं। अब इस 'योग' शब्दका नया लक्षण जानबूझ कर दिया है, कि समाधि इस चित्त-वृत्तिनिरोधकीही पूर्णावस्था है, और उसीको 'योग' कहते हैं। उपनिषदों और महाभारतमें कहा है, कि निग्रहकर्ता और उद्योगी पुरुषको सामान्य रीतिसे यह योग छः महीनोंमें सिद्ध होता है (मैत्र्यु. ६. २८; अमृतनाद. २९; मभा. अश्व. अनुगीता १९. ६६) । किंतु पहले २० वें और फिर २८ वें श्लोकमें स्पष्ट कह दिया है, कि पातंजलयोगकी समाधिसे प्राप्त होनेवाला सुख न केवल चित्तनिरोधसे, प्रत्युत चित्तनिरोधके द्वारा अपने आपके आत्माकी पहचान कर लेनेपर होता है । इस दुःखरहित स्थितिकोही 'ब्रह्मानंद' या ' आत्मप्रसादज सुख ' अथवा 'आत्मानंद' कहते हैं (गीता १८. ३७; गीतार. प्र. ९, पृ. २३४) । अगले अध्यायोंमें इसका वर्णन है, कि आत्मज्ञान होनेके लिये आवश्यक चित्तकी यह समता केवल पातंजलयोगसेही नहीं उत्पन्न होती; किंतु चित्तशुद्धिका यही परिणाम ज्ञान और भक्तिसेभी हो जाता है, और यही मार्ग अधिक प्रशस्त और सुलभ समझा जाता है । समाधिका लक्षण बतला चुके; अब बतलाते हैं, कि उसे किस प्रकार लगाना चाहिये :–]

§ § संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद्‌बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

§ § प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥
युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

(२४) संकल्पसे उत्पन्न होनेवाले सब कामों अर्थात् वासनाओंका निःशेष त्यागकर, और मनसेही सब इंद्रियोंका चारों ओरसे संयमकर, (२५) धैर्ययुक्त बुद्धिसे धीरे धीरे शांत होता जावे, और मनको आत्मामें स्थिर करके कोईभी विचार मनमें न आने दे। (२६) (इस रीतिसे चित्तको एकाग्र करते हुए) चंचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ-से बाहर जाने लगे, वहाँ-वहाँसे उसको रोककर आत्माकेही आधीन करे।

[मनकी समाधि लगानेकी क्रियाका यह वर्णन कठोपनिषदमें दी गई रथकी उपमासे (कठ. १.३.३) अच्छी तरह व्यक्त होता है। जिस प्रकार उत्तम सारथी रथके घोड़ोंको इधर-उधर न जाने देकर सीधे रास्तेसे ले जाता है, उसी प्रकारका प्रयत्न मनुष्यको समाधिके लिये करना पड़ता है। जिसने किसीभी विषयपर अपने मनको स्थिरकर लेनेका अभ्यास किया है, उसकी समझमें ऊपरवाले श्लोकका मर्म तुरंत आ जावेगा। मनको एक ओर रोके, तो वह दूसरी ओर खिसक जाता है; और वह आदत रुके बिना समाधि लग नहीं सकती। अब, इस प्रकार योगाभ्याससे चित्त स्थिर होनेपर जो फल मिलता है, उसका वर्णन करते हैं :–]

(२७) इस प्रकार शांतचित्त, रजसे रहित, निष्पाप और ब्रह्मभूत (कर्म-)-योगीको उत्तम सुख प्राप्त होता है। (२८) इस रीतिसे निरंतर अपना योगाभ्यास करनेवाला (कर्म-)योगी पापोंसे छूटकर ब्रह्मसंयोगसे प्राप्त होनेवाले अत्यंत सुखका आनंदसे उपभोग करता है।

[इन दो श्लोकोंमें हमने योगीका अर्थ कर्मयोगी किया है। क्योंकि, कर्मयोगका साधन समझ करही पातंजलयोगका वर्णन किया गया है; अतः

§ § सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

| पातंजलयोगके अभ्यास करनेवाले उक्त पुरुषसे कर्मयोगीही विवक्षित है। तथापि योगीका अर्थ "समाधि लगाये बैठा हुआ पुरुष"भी कर सकते हैं। किंतु स्मरण रहे, कि गीताका प्रतिपाद्य मार्ग इससेभी परे है। यही नियम अगले दो-तीन श्लोकोंको लागू है। निर्वाण ब्रह्मसुखका इस प्रकार अनुभव होनेपर सब प्राणियोंके विषयमें जो आत्मौपम्य-दृष्टि उत्पन्न हो जाती है, उसका अब वर्णन करते हैं :-]

(२९) (इस प्रकार) जिसका आत्मा योगयुक्त हो गया है, उसकी दृष्टि सम हो जाती है, और उसे सर्वत्र ऐसा दीख पड़ने लगता है, कि मैं सब प्राणियोंमें हूँ और सब प्राणी मुझमें हैं। (३०) जो मुझको (परमेश्वर परमात्मा) सब स्थानोंमें और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं कभी नहीं बिछुड़ता, और न वही मुझसे कभी दूर होता है।

| [इन दो श्लोकोंमें, पहला वर्णन 'आत्मा' शब्दका प्रयोगकर अव्यक्त अर्थात् आत्म-दृष्टिसे, और दूसरा वर्णन प्रथमपुरुषदर्शक 'मैं' पदके प्रयोगसे व्यक्त अर्थात् भक्तिदृष्टिसे किया गया है। परंतु अर्थ दोनोंका एकही है (गीतार. प्र. १३, पृ. ४३०-४३४)। मोक्ष और कर्मयोग, इन दोनोंकाभी आधार यह ब्रह्मात्मैक्य-दृष्टिही है। २९ वें श्लोकका पहला अर्धांश कुछ फ़र्कसे मनुस्मृति (मनु. १२. ९१), महाभारत (शां. २३८. २१; २६८. २२)। और उपनिषदों मेंभी (कैव. १. १०; ईश. ६) पाया जाता है। हमने गीतारहस्यके १२ वें प्रकरणमें विस्तारसहित दिखलाया है, कि सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञानही समग्र अध्यात्म और कर्मयोगका मूल है (पृ. ३८७ प्रभृति)। यह ज्ञान हुए बिना इंद्रियनिग्रहका सिद्ध हो जानाभी व्यर्थ है; इसीलिये अगले अध्यायसे परमेश्वरका ज्ञान बतलाना आरंभ कर दिया है।]

(३१) जो एकत्वबुद्धि अर्थात् सर्वभूतात्मैक्यबुद्धिको मनमें रखकर सब प्राणियोंमें रहनेवाले मुझको (परमेश्वरको) भजता है, वह (कर्म-)योगी सब प्रकारसे वर्तता हुआभी मुझमें रहता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच।

§ योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं य पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

(३२) हे अर्जुन ! सुख हो या दुःख, अपने समान औरोंकोभी। जो ऐसी (आत्मौपम्य-) दृष्टिसे सर्वत्र समान। देखने लगे, वह (कर्म-)योगी परम अर्थात् उत्कृष्ट माना जाता है।

| ["प्राणिमात्रमें एकही आत्मा है" यह दृष्टि सांख्य और कर्मयोग, दोनों मार्गोंमें एक-सी है। ऐसेही पातंजलयोगमेंभी समाधि लगाकर परमेश्वरकी पहचान हो जानेपर यही साम्यावस्था प्राप्त होती है। परंतु सांख्य और पातंजलयोगी, दोनोंकोभी सब कर्मोंका त्याग इष्ट है, अतएव वे व्यवहारमें इस साम्य-बुद्धिके उपयोग करनेका मौकाही नहीं आने देते; और गीताका कर्मयोगी ऐसा न कर, अध्यात्मज्ञानसे प्राप्त हुई इस साम्य-बुद्धिका व्यवहारमेंभी नित्य उपयोग करके, जगतके सभी काम लोकसंग्रहके लिये किया करता है, यही इन दोनोंमें बड़ा भारी भेद है, और इसीसे इस अध्यायके अंतमें (श्लोक ४६) स्पष्ट कहा है, कि तपस्वी अर्थात् पातंजलयोगी, और ज्ञानी अर्थात् सांख्य-मार्गी, इन दोनोंकी अपेक्षा कर्मयोगी श्रेष्ठ है। साम्ययोगके इस वर्णनको सुनकर अब अर्जुनने यह शंका की :–]

अर्जुनने कहा :– (३३) हे मधुसूदन ! साम्यसे अर्थात् साम्य-बुद्धिसे प्राप्त होनेवाला जो यह योग अर्थात् (कर्म-)योग तुमने बतलाया, मैं नहीं देखता, कि (मनकी) चंचलताके कारण वह स्थिर रहेगा। (३४) क्योंकि हे कृष्ण ! यह मन चंचल, हठीला, बलवान् और दृढ है। वायुके समान, अर्थात् हवाकी गठरी बाँधनेके समान, इसका निग्रह करना मुझे अत्यंत दुष्कर दिखता है।

| [३३ वें श्लोकके 'साम्य'से अथवा 'साम्य-बुद्धि'से प्राप्त होनेवाला, इस विशेषणसे यहाँ योग शब्दका कर्मयोगही अर्थ है। यद्यपि पहले पातंजलयोगकी समाधिका वर्णन आया है, तोभी इस श्लोकमें 'योग' शब्दसे पातंजलयोग विवक्षित नहीं है। क्योंकि, दूसरे अध्यायमें भगवाननेही कर्मयोगकी ऐसी व्याख्या की है, कि "समत्वं योग उच्चते" (गीता २. ४८) – "बुद्धिकी समता या

श्रीभगवानुवाच।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

[समत्वकोही योग कहते हैं। " अस्तु; अर्जुनकी कठिनाईको मान कर भगवान् अब कहते हैं :–]

श्रीभगवानने कहा :– (३५) हे महाबाहु अर्जुन! इसमें कुछभी संदेह नहीं, कि मन चंचल है और उसका निग्रह करना कठिन है। परंतु हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्यसे उसे आधीन किया जा सकता है। (३६) मेरे मतमें, जिसका अंतःकरण अपने काबूमें नहीं, उसको इस (साम्य-बुद्धिरूप) योगका प्राप्त होना कठिन है। किंतु अंतःकरणको काबूमें रखकर प्रयत्न करते रहनेपर उपायसे (इस योगका) प्राप्त होना संभव है।

[तात्पर्य, पहले जो बात कठिन दीख पड़ती है, वही अभ्याससे और दीर्घ उद्योगसे अंतमें सिद्ध हो जाती है। किसीभी कामको वारवार करना 'अभ्यास' कहलाता है, और 'वैराग्य'का मतलब है राग या प्रीति न रखना, अर्थात् इच्छाविहीनता। पातंजलयोग-सूत्रमें आरंभमेंही योगका यह लक्षण बतलाया है, कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' – चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहते हैं (इसी अध्यायका २० वाँ श्लोक देखो); और फिर अगले सूत्रमें कहा है, कि " अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः " – अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तिका निरोध हो जाता है। येही शब्द गीतामें आये हैं और अभिप्रायभी वही है; परंतु इतनेहीसे यह नहीं कहा जा सकता, कि गीतामें ये शब्द पातंजलयोग-सूत्रसे लिये गये हैं (गीतार. पृ. ५३२)। इस प्रकार, यदि मनोनिग्रह करके समाधि लगाना संभव हो, और कुछ निग्रही पुरुषोंको छ महिनोंके अभ्याससे यदि यह सिद्धि प्राप्त हो सकती हो, इसपर तोभी अव यह दूसरी शंका होती है, कि प्रकृति-स्वभावके कारण अनेक लोग दो-एक जन्मोंमेंभी कर्मयोगकी इस परमावस्थामें नहीं पहुँच सकते; फिर ऐसे लोग इस सिद्धि क्योंकर पावें? क्योंकि एक जन्ममें, जितना हो सका, उतना इंद्रियनिग्रहका अभ्यास कर कर्मयोगका आचरण करने लगें, तो वह मरते समय अधुराही रह जायगा, और अगले जन्ममें फिर पहलेसे आरंभ करे, तो फिर आगेके जन्ममेंभी वही हाल होगा। अतः अर्जुनका दूसरा प्रश्न है, कि इस प्रकारके पुरुष क्या करें :–]

अर्जुन उवाच।

§ § अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

अर्जुनने कहा :– (३७) हे कृष्ण ! श्रद्धा (तो) है, परंतु अयति अर्थात् (प्रकृति-स्वभावसे) पूरा प्रयत्न अथवा संयमन नहीं होता, इसलिये जिसका मन (साम्य-बुद्धिरूप कर्मयोगसे बिचल जावे, वह योगसिद्धि न पाकर किस गतिको-जा पहुँचता है ? (३८) हे महाबाहु श्रीकृष्ण ! यह पुरुष मोहग्रस्त होकर ब्रह्म प्राप्तिके मार्गमें स्थिर न होनेके कारण दोनों ओरसे छूटा हुआ या भ्रष्ट हो जानेपर छिन्न-भिन्न बादलके समान (बीचमेंही) नष्ट तो नहीं हो जाता ? (३९) हे कृष्ण ! मेरे इस संदेहको तुम्हेंही निःशेष दूर करना चाहिये; तुम्हें छोड़कर इस संदेहको मिटानेवाला दूसरा कोई न मिलेगा।

[यद्यपि नञ् समासमें आरंभके नञ् (अ) पदका साधारण अर्थ 'अभाव' होता है, तथापि कई बार 'अल्प' अर्थमेंभी उसका प्रयोग हुआ करता है, इस कारण ३७ वें श्लोकके 'अयति' शब्दका अर्थ "अल्प अर्थात् अधूरा प्रयत्न या संयम करनेवाला" होता है। ३८वें श्लोकमें जो कहा है, कि "दोनों ओरका आश्रय छूटा हुआ" अथवा "इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः" उसका अर्थभी कर्मयोग-प्रधानही करना चाहिये। कर्मके दो प्रकारके फल हैं – (१) काम्य-बुद्धिसे किंतु शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार कर्म करनेपर स्वर्गकी प्राप्ति होती है, और निष्काम बुद्धिसे करनेपर वह बंधक न होकर मोक्षदायक हो जाता है। परंतु इस अधूरे मनुष्यको कर्मके स्वर्ग आदि काम्य-फल नहीं मिलते, क्योंकि उसका ऐसा हेतुही नहीं रहता; और साम्य-बुद्धि पूर्ण न होनेके कारण उसे मोक्ष मिल नहीं सकता। इसलिये अर्जुनके मनमें शंका उत्पन्न हुई, कि उस बेचारेको न तो स्वर्ग मिला और न मोक्षभी – कहीं उसकी ऐसी स्थिति तो नहीं हो जाती, कि दोनों दिनसे गये पाँडे, हलुवा मिले न माँडे ? यह शंका केवल पातंजलयोग-रूपी कर्मयोगके साधनके लियेही नहीं की जाती। अगले अध्यायोंमें वर्णन है, कि कर्मयोग-सिद्धिके लिये आवश्यक साम्य-बुद्धि कभी पातंजलयोगसे, कभी भक्तिसे और कभी ज्ञानसे प्राप्त होती है; और जिस प्रकार पातंजलयोगरूपी

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

| यह साधन एकही जन्ममें अधूरा रह सकता है, उसी प्रकार भक्ति या ज्ञानरूपी
| साधनभी एक जन्ममें अपूर्ण रह सकते हैं। अतएव कहना चाहिये, कि अर्जुनके
| उक्त प्रश्नका भगवानने जो उत्तर दिया है, वह कर्मयोग-मार्गके सभी साधनोंको
| साधारण रीतिसेही उपयुक्त हो सकता है]

श्रीभगवानने कहा :– (४०) हे पार्थ ! क्या इस लोकमें और क्या परलोकमें, ऐसे पुरुषका कभी विनाश होताही नहीं। क्योंकि हे तात ! कल्याणकारक कर्म करनेवाले किसीभी पुरुषकी दुर्गति नहीं होती। (४१) पुण्यकर्ता पुरुषोंको मिलने-वाले (स्वर्ग आदि) लोकोंको पाकर और (वहाँ) बहुत वर्षोंतक निवास करके फिर यह योग-भ्रष्ट अर्थात् कर्मयोगसे भ्रष्ट पुरुष पवित्र श्रीमान् लोगोंके घरमें जन्म लेता है; (४२) अथवा बुद्धिमान् (कर्म-)योगियोंकेही कुलमें जन्म पाता है। इस प्रकारके जन्म (इस) लोकमें बड़े दुर्लभ हैं। (४३) उसमें अर्थात् इस प्रकारसे प्राप्त हुए जन्ममें वह पूर्व-जन्मके बुद्धि-संस्कारको पाता है; और हे कुरुनंदन ! वह उससे भूयः अर्थात् अधिक (योग)सिद्धि पानेका प्रयत्न करता है। (४४) अपने पूर्वजन्मके उस अभ्याससेही अवश अर्थात् अपनी इच्छा न रहने-परभी, वह (पूर्ण सिद्धिकी ओर) खींचा जाता है। जिसे (कर्म-)योगकी जिज्ञासा अर्थात् ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा हो गई है, वहभी शब्दब्रह्मके परे चला जाता है। (४५) (इस प्रकार) प्रयत्नपूर्वक उद्योग करते करते पापोंसे शुद्ध होता हुआ

(कर्म-)योगी अनेक जन्मोंके अनन्तर सिद्धि पाकर अंतमें उत्तम गति पा लेता है!

[इन श्लोकोंमें योग, योगभ्रष्ट और योगी शब्द, कर्मयोग, कर्मयोगसे भ्रष्ट और कर्मयोगीके अर्थमेंही व्यवहृत हैं। क्योंकि श्रीमान् कुलमें जन्म लेनेकी स्थिति दूसरोंको इष्ट होना संभवही नहीं है। भगवान् कहते हैं, कि पहलेसे, जितना हो सके उतना, शुद्ध-बुद्धिसे कर्मयोगका आचरण करना आरंभ करे। थोड़ा-ही क्यों न हो, पर इस रीतिसे जो कर्म किया जावेगा, वही इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें, इस प्रकार अधिक अधिक सिद्धि मिलनेके लिये उत्तरोत्तर कारणीभूत होगा, और उसीसे अंतमें पूर्ण सद्गति मिलती है। "इस धर्मका थोडा-साभी आचरण किया जाय, तो वह बड़े भयसे रक्षा करता है" (गीता २. ४०), और "अनेक जन्मोंके पश्चात् वासुदेवकी प्राप्ति होती है" (७. १९), ये श्लोक इसी सिद्धान्तके पूरक हैं। अधिक विवेचन गीतारहस्यके प्र. १०, पृ. २८४–२८७में किया गया है। ४४ वें श्लोकके शब्दब्रह्मका अर्थ है "वैदिक यज्ञयाग आदि काम्यकर्म" क्योंकि ये कर्म वेदविहित हैं, और वेदोंपर श्रद्धा रखकरही किये जाते हैं; तथा वेद अर्थात् सब सृष्टिके पहलेका शब्द याने शब्दब्रह्म है। प्रत्येक मनुष्य पहले पहल सभी कर्म काम्य-बुद्धिसे-ही किया करता है; परंतु इस कर्मसे जैसे जैसे चित्तशुद्धि हो जाती है, वैसे वैसे आगे निष्काम-बुद्धिसे कर्म करनेकी इच्छा होती है। इसीसे उपनिषदोंमें और महाभारतमेंभी (मैत्र्यु. ६. २२; अमृतबिंदु. १७; मभा. शां. २३१. ६३; २६९. १) यह वर्णन है, कि :–

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

"जानना चाहिये, कि ब्रह्म दो प्रकारका है; एक शब्दब्रह्म और दूसरा उससे परेका (निर्गुण)। शब्दब्रह्ममें निष्णात हो जानेपर फिर उससे परेका (निर्गुण) ब्रह्म प्राप्त होता है।" शब्दब्रह्मके काम्यकर्मोंसे उकता कर अंतमें लोकसंग्रहके अर्थ उन्हीं कर्मोंको करानेवाले कर्मयोगकी इच्छा होती है और फिर इस निष्काम कर्मयोगका थोड़ाबहुत आचरण पहले पहल होने लगता है। "अनन्तर स्वल्पारम्भाः क्षेमकराः" के न्यायसे यही थोड़ा-सा आचरण उस मनुष्यको इस मार्गमें धीरे धीरे आगे खींचता जाता है; और अंतमें क्रम-क्रमसे पूर्ण सिद्धि प्राप्त करा देता है। ४४ वें श्लोकमें जो यह कहा है, कि "कर्मयोगकी इच्छा होनेसेभी वह शब्दब्रह्मके परे चला जाता है" उसका तात्पर्यभी यही है। क्योंकि यह जिज्ञासा कर्मयोगरूपी कोल्हूका मुँह है; और एक बार इस कोल्हूके मुँहमें चले जानेपर फिर इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें, कभी न कभी पूर्ण सिद्धि मिलती है। और वह शब्दब्रह्मसे परेके ब्रह्मके ब्रह्मतक पहुँचेबिना नहीं रहता। पहले पहल जान पड़ता है, कि यह सिद्धि जनक आदिको एक-ही जन्ममें

§§ तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ ४६ ॥

मिल गई होगी; परंतु तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर, चलता है, कि उन्हेंभी यह फल जन्मजन्मान्तरके पूर्वसंस्कारसेही मिला होगा। अस्तु; कर्मयोगका थोड़ा-सा आचरण, यहाँतक कि जिज्ञासाभी इस रीतिसे सदैव कल्याणकारक है, इसके अतिरिक्त अंतमें मोक्षप्राप्तिभी निःसंदेह इसीसे होती है; अतः अब भगवान् अर्जुनसे कहते है, कि :–]

(४६) तपस्वी लोगोंकी अपेक्षा (कर्म-)योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानी पुरुषोंकी अपेक्षाभी श्रेष्ठ है, और कर्मकांडवालोंकी अपेक्षाभी श्रेष्ठ समझा जाता है; इसलिये हे अर्जुन ! तू योगी अर्थात् कर्मयोगी हो।

[जंगलमें जाकर उपवास आदि शरीरको क्लेशदायक व्रतोंसे अथवा हठयोगके साधनोंसे सिद्धि पानेवाले लागोंको इस श्लोकमें तपस्वी कहा है, और सामान्य रीतिसेभी इस शब्दका यही अर्थ है। "ज्ञानयोगेन सांख्यानां०" (गीता. ३. ३) में वर्णित, ज्ञानसे अर्थात् सांख्य-मार्गसे कर्म छोड़कर सिद्धि प्राप्तकर लेनेवाले सांख्यनिष्ठ लोगोंको ज्ञानी माना है। इसी प्रकार गीता २. ४२–४४ और ९. २०, २१ में वर्णित निरे काम्य-कर्म करनेवाले स्वर्गपरायण कर्मठ मीमांसकोंको कर्मी कहा है। इन तीनों पंथोंमेंसे प्रत्येक यही कहता है, कि हमारे मार्गसेही सिद्धि मिलती है। किंतु अब गीताका यह कथन है, कि तपस्वी हो, चाहे कर्मठ मीमांसक हो या ज्ञाननिष्ठ सांख्य हो, इनमें प्रत्येककी अपेक्षा कर्मयोगी – अर्थात् कर्मयोग-मार्गभी – श्रेष्ठ है। और पहले यही सिद्धान्त "अकर्मकी अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ०" (गीता. ३. ८), एवं "कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग विशेष०" (गीता ५. २) इत्यादि श्लोकोंमें वर्णित है (गीतार. प्र. ११, पृ. ३०९, ३१०)। और तो क्या, तपस्वी, मीमांसक अथवा ज्ञान-मार्गी इनमेंसे प्रत्येककी अपेक्षा कर्मयोगी श्रेष्ठ है, 'इसीलिये' पीछे जिस प्रकार अर्जुनको उपदेश किया है, कि "योगस्थ होकर कर्म कर" (गीता २. ४८; गीतार. प्र. ३, पृ. ५८), अथवा "योगका आश्रय करके खड़ा हो" (४. ४२), उसी प्रकार यहाँभी फिर स्पष्ट उपदेश किया है, कि "तू (कर्म-)योगी हो।" यदि इस प्रकार कर्मयोगको श्रेष्ठ न मानें, तो "तस्मात् तू योगी हो" इस उपदेशका 'तस्मात् = इसलिये' पद निरर्थक हो जावेगा। किंतु संन्यास-मार्गके टीकाकारोंको यह सिद्धान्त कैसे स्वीकृत हो सकता है ? अतः उन लोगोंने 'ज्ञानी' शब्दका अर्थ बदल दिया है, और वे कहते हैं, कि ज्ञानी शब्दका अर्थ केवल शब्दज्ञानी है, अथवा वे लोग, कि जो सिर्फ़पुस्तकें पढ़कर ज्ञानकी लंबी-चौड़ी

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

बातें छाँटा करते हैं। किंतु यह अर्थ निरे सांप्रदायिक आग्रहका है। ये टीकाकार गीताके इस अर्थको नहीं चाहते, कि कर्म छोड़नेवाले ज्ञान-मार्गको गीता कम दर्जेका समझती है। क्योंकि उससे उनके संप्रदायको गौणता प्राप्त होती है। और इसीलिये "कर्मयोगो विशिष्यते" काभी (गीता ५. २) अर्थ उन्होंने बदल दिया है। परंतु इसका पूरा पूरा विचार गीतारहस्यके ११ वें प्रकरणमें कर चुके हैं, अतः इस श्लोकका जो अर्थ हमने किया है, उसके विषयमें यहाँ अधिक चर्चा नहीं करते। हमारे मतमें यह निर्विवाद है, कि गीताके अनुसार कर्म-योगमार्गही सबमें श्रेष्ठ है। अब आगेके श्लोकमें बतलाते हैं, कि कर्म-योगियोंमेंभी कौन-सा तारतम्य भाव देखना पड़ता है :–]

(४७) तथापि सब (कर्म-)योगियोंमेंभी मैं उसेही सबसे उत्तम युक्त अर्थात् उत्तम सिद्ध कर्मयोगी समझता हूँ, कि जो मुझमें अंतःकरण रख कर श्रद्धासे मुझको भजता है।

[इस श्लोकका यह भावार्थ है, कि कर्मयोगमेंभी भक्तिका प्रेमपूरित मेल हो जानेसे वह योगी भगवानको अत्यन्त प्रिय हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है, कि निष्काम कर्मयोगकी अपेक्षाभी भक्ति श्रेष्ठ है। क्योंकि आगे बारहवें अध्यायमें भगवाननेही स्पष्ट कह दिया है, कि ध्यानकी अपेक्षा कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है (गीता. १२. १२)। निष्काम कर्म और भक्तिके समुच्चयको श्रेष्ठ कहना एक बात है, और सब निष्काम कर्मयोगको व्यर्थ कहकर, भक्तिहीको श्रेष्ठ बतलाना दूसरी बात है। गीताका सिद्धान्त पहले ढँगका है और भागवत-पुराणका पक्ष दुसरे ढँगका है। सब प्रकारके क्रियायोगको आत्मज्ञान-विघातक निश्चितकर भागवत के (भाग. १. ५. ३४) पहले और फिर अंतिम स्कंधमेंभी कहा है :–

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम् ।

नैष्कर्म्य अर्थात् निष्काम कर्मभी (भाग. ११. ३. ४६) बिना भगवद्‌भक्तिके शोभा नहीं देता, वह व्यर्थ है (भाग. १. ५. १२; १२. १२. ५२) इससे व्यक्त होगा, कि भागवतकारका ध्यान केवल भक्तिकेही ऊपर होनेके कारण वे विशेष प्रसंगपर भगवद्‌गीताकेभी आगे कैसी चौकड़ी भरते हैं। जिस पुराणका

निरूपण इस समझसे किया गया है, कि महाभारतमें, और फलतः गीतामें भक्तिका जैसा वर्णन होना चाहिये, वैसा नहीं हुआ; उसमें यदि अन्य ग्रन्थोंके समान औरभी कुछ बातें मिलें, तो कोई आश्चर्य नहीं। पर हमें तो गीताका तात्पर्य देखना है; न कि भागवतका कथन। दोनोंका उद्देश और समयभी भिन्न भिन्न हैं, इस कारण बात-बातमें उनकी एकवाक्यता करना उचित नहीं है। अस्तु; कर्मयोगकी साम्य-बुद्धि प्राप्त करनेके लिये जिन साधनोंकी आवश्यकता है, उनमेंसे पातंजलयोगके साधनोंका इस अध्यायमें निरूपण किया गया। ज्ञान और भक्ति ये अन्य साधन हैं; और अगले अध्यायसे उनके निरूपणका आरंभ होगा।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके, संवादमें, ध्यानयोग नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ।

सातवाँ अध्याय

[पहले यह प्रतिपादन किया गया, कि कर्मयोग सांख्य-मार्गके समानही मोक्षप्रद है, परंतु स्वतंत्र है और उससे श्रेष्ठ है, और यदि इस मार्गका थोड़ाभी आचरण किया जाय, तो वह व्यर्थ नहीं जाता। अनंतर इस मार्गकी सिद्धिके लिये आवश्यक इंद्रियनिग्रह करनेकी रीतिका वर्णन किया गया है। किंतु इंद्रियनिग्रहसे मतलब निरी बाह्यक्रियासे है, और जिसके लिये इंद्रियोंकी यह कसरत करनी है, उसका अबतक विचार नहीं हुआ। तीसरेही अध्यायमें भगवाननेही अर्जुनको इंद्रियनिग्रहका यह प्रयोजन बतलाया है कि " काम-क्रोध आदि शत्रु इंद्रियोंमें अपना घर बनाकर ज्ञान-विज्ञानका नाश करते हैं, इसलिये पहले तू इंद्रियनिग्रह करके इन शत्रुओंको मार डाल " (गीता ३. ४०, ४१)। और पिछले अध्यायमेंभी योगयुक्त पुरुषका यों वर्णन किया है, कि इंद्रियनिग्रहके द्वारा ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त हुआ " (गीता ६. ८) योगयुक्त पुरुष " समस्त प्राणियोंमें परमेश्वरको और परमेश्वरमें समस्त प्राणियोंको देखता है " (गीता ६. २९)। अतः जब इंद्रियनिग्रह करनेकी विधि बतला चुके, तब अब यह बतलाना आवश्यक हो गया, कि 'ज्ञान' और 'विज्ञान' किसे कहते हैं, और परमेश्वरका पूर्ण ज्ञान होकर कर्मोंको न छोड़ते हुएभी कर्मयोग-मार्गकी किन विधियोंसे अंतमें निःसंदिग्ध मोक्ष मिलता है ? सातवें अध्यायसे लेकर सत्रहवें अध्यायके अंतपर्यंत ग्यारह अध्यायोंमें, इसी विषयका वर्णन है, और अंतके अर्थात् अठारहवें अध्यायमें सब कर्मयोगका उपसंहार किया गया है। सृष्टिके अनेक प्रकारके अनेक विनाशवान् पदार्थोंमें एकही अविनाशी परमेश्वर समा रहा है — इस समझका नाम है 'ज्ञान'; और एकही नित्य परमेश्वरसे विविध नाशवान् पदार्थोंकी उत्पत्तिको समझ लेना 'विज्ञान' कहलाता है " (गीता १३. ३०), एवं इसीको क्षर-अक्षरका विचार कहते हैं। परंतु इसके सिवा अपने शरीरमें अर्थात् क्षेत्रमें जिसे आत्मा कहते हैं, उसके सच्चे स्वरूपको जान लेनेसेभी परमेश्वरके स्वरूपका बोध हो जाता है। इस प्रकारके विचारको क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार कहते हैं। इनमेंसे क्षर-अक्षरके विचारका पहले वर्णन करके फिर तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विचारका वर्णन किया है। यद्यपि परमेश्वर एक है, तथापि उपासनाकी दृष्टिसे तो उसके दो भेद होते हैं। उसका अव्यक्त स्वरूप केवल बुद्धिसे ग्रहण करनेयोग्यहै, व्यक्त स्वरूप प्रत्यक्ष अवगम्य है। अतः इन दोनों मार्गों या विधियोंको इसी निरूपणमें बतलाना पड़ा, कि बुद्धिसे परमेश्वरको कैसे पहचानें, और श्रद्धा या भक्तिसे व्यक्त स्वरूपकी उपासना करनेसे उसके द्वारा अव्यक्तका ज्ञान कैसे होता है ? तब इस समूचे विवेचनमें यदि ग्यारह अध्याय लग गये, तो कोई आश्चर्य नहीं है। इसके सिवा, इन दो मार्गोंसे परमेश्वरके ज्ञानके साथही इंद्रियनिग्रहभी आप-ही-आप हो

सप्तमोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

जाता है, अतः केवल इंद्रियनिग्रह प्राप्त करा देनेवाले पातंजलयोग-मार्गकी अपेक्षा मोक्ष-धर्ममें ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्गकी योग्यताभी अधिक मानी जाती है। तोभी स्मरण रहे, कि यह सारा विवेचन कर्मयोग-मार्गके उपपादनका एक अंश है, वह स्वतंत्र नहीं है। अर्थात् गीताके पहले छः अध्यायोंमें कर्म, दूसरे षट्कमें भक्ति और तीसरी षडध्यायीमें ज्ञान, इस प्रकार गीताके जो तीन स्वतंत्र विभाग किये जाते हैं, वे तत्त्वतः ठीक नहीं हैं। इस विषयका प्रतिपादन गीतारहस्यके चौदहवें प्रकरणमें (पृ. ४५३–४५८) किया गया है। स्थूलमानसे देखनेसे ये तीनों विषय गीतामें आये हैं सही; परंतु वे स्वतंत्र नहीं हैं, किंतु कर्मयोगके रूपसेही उनका विवेचन किया गया है, इसलिये यहाँ उसकी पुनरावृत्ति नहीं करते । अब देखना चाहिये, कि सातवें अध्यायका आरंभ भगवान् किस प्रकार करते हैं :–]

श्रीभगवानने कहा :–(१) हे पार्थ ! मुझमें चित्त लगाकर, और मेराही आश्रय करके (कर्म-)योगका आचरण करते हुए तुझे जिस प्रकारसे या जिस विधिसे मेरा पूर्ण और संशयविहीन ज्ञान होगा, उसे सुन। (२) विज्ञानसमेत इस पूरे ज्ञानको मैं तुझसे कहता हूँ कि जिसके जान लेनेसे इस लोकमें फिर और कुछभी जाननेके लिये शेष नहीं रह जाता।

[पहले श्लोकके 'मेराही आश्रय करके' इन शब्दोंसे और विशेषकर 'योग' शब्दसे प्रकट होता है, कि पहलेके अध्यायोंमें वर्णित कर्मयोगकी सिद्धिके लियेही अगला ज्ञान-विज्ञान कहा है, स्वतंत्र रूपसे नहीं बतलाया है (गीतार. प्र. १४, पृ. ४५६)। न केवल इसी श्लोकमें, प्रत्युत गीतामें अन्यत्रभी कर्म-योगको लक्ष्यकर ये शब्द आये हैं – 'मद्योगमाश्रितः' (गीता १२. ११), 'मत्परः' (गीता १८. ५७; ११. ५५); अतः इस विषयमें कोई शंका नहीं रहती, कि परमेश्वरका आश्रय करके जिस योगका आचरण करनेके लिये गीता कहती है, वह पीछेके छः अध्यायोंमें प्रतिपादित कर्मयोगही है। कुछ लोग विज्ञानका अर्थ अनुभविक ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मका साक्षात्कार करते हैं,

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

§ § भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

परंतु ऊपरके कथनानुसार हमें ज्ञात होता है, कि परमेश्वरी ज्ञानकेही समष्टि-रूप (ज्ञान) और व्यष्टिरूप (विज्ञान), ये दो भेद हैं, इस कारण ज्ञानविज्ञान शब्दसेभी उन्हींका अभिप्राय है (गीता १३. ३०; १८. २०)। दूसरे श्लोकके ये शब्द " फिर और कुछभी जाननेके लिये शेष नहीं रह जाता " – उपनिषदके आधारसे लिये गये हैं। छांदोग्य उपनिषद्में श्वेतकेतुसे उसके पिताने यह प्रश्न किया है, कि " येन...अविज्ञातं विज्ञातं भवति " – वह क्या है, कि जिस एकके जान लेनेसे सब कुछ जान लिया जाता है ? और फिर आगे उसका इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है। " यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। " (छां. ६. १. ४)। – हे तात ! जिस प्रकार मिट्टीके एक गोलेके भीतरी भेदको जान लेनेसे ज्ञात हो जाता है, कि शेष मिट्टीके पदार्थ उसी मृत्तिकाके विभिन्न नामरूप धारण करनेवाले विकार हैं, और कुछ नहीं हैं; उसी प्रकार ब्रह्मको जान लेनेसे दूसरा कुछभी जाननेके लिये नहीं रहता। मुंडक उपनिषदमेंभी (मुं. १. १. ३) आरंभमेंही यह प्रश्न है, कि " कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति " – किसका ज्ञान हो जानेसे अन्य सब वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है ? इससे व्यक्त होता है, कि अद्वैत वेदान्तका यही तत्त्व यहाँभी अभिप्रेत है, कि एक परमेश्वरका ज्ञान-विज्ञान हो जानेसे इस जगतमें और कुछभी जाननेके लिये नहीं रह जाता, क्योंकि जगतका मूल तत्त्व तो एक-ही है, नाम और रूपके भेदसे वही सर्वत्र समाया हुआ है; । सिवा उसके और कोई दूसरी वस्तु दुनियामें हैही नहीं, यदि ऐसा न हो तो दूसरे श्लोककी प्रतिज्ञा सार्थक नहीं होती ।.]

(३) हजारों मनुष्योंमें कोई एक-आधही सिद्धि पानेका यत्न करता है; और प्रयत्न करनेवाले इन (अनेक) सिद्ध पुरुषोंमेंसे एक-आधकोही मेरा सच्चा ज्ञान हो जाता है।

[ध्यान रहे, कि प्रयत्न करनेवालोंको यद्यपि यहाँ सिद्ध पुरुष कह दिया है, तथापि परमेश्वरका ज्ञान हो जानेपरही उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं। इस परमेश्वर-ज्ञानके क्षर-अक्षर-विचार और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार ये जो दोन भाग हैं, उनमेंसे क्षर-अक्षर-विचारका अब आरंभ करते हैं :–]

(४) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश (ये पाँच सूक्ष्म भूत), मन, बुद्धि

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

और अहंकार, इन आठ प्रकारोंमें मेरी प्रकृति विभाजित है। (५) यह अपरा अर्थात् निम्न श्रेणीकी (प्रकृति) है। हे महाबाहु अर्जुन ! यह जान कि इससे भिन्न, इसे जगतको धारण करनेवाली परा अर्थात् उच्च श्रेणीकी जीवस्वरूपी मेरी दूसरी प्रकृति है। (६) समझ रख, कि इन दोनोंसे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। सारे जगतका प्रभव अर्थात् मूल और प्रलय अर्थात् अंत मैंही हूँ। (७) हे धनंजय ! मुझसे परे और कुछभी नहीं है। धागेमें पिरोयी हुई मणियोंके समान, मुझमें यह सब गुंथा हुआ है।

[इन चारों श्लोकोंमें सब क्षर-अक्षर-ज्ञानका सार आ गया है; और अगले श्लोकोंमें इसीका विस्तार किया है। सांख्यशास्त्रमें सब सृष्टिके अचेतन अर्थात् जड़ प्रकृति और सचेतन पुरुष, ये दो स्वतंत्र तत्त्व बतलाकर प्रतिपादन किया है, कि आगे इन दोनों तत्त्वोंसे सब पदार्थ उत्पन्न हुए, इन दोनोंसे परे तीसरा तत्त्व नहीं है। परंतु गीताको यह द्वैत मंजूर नहीं, अतः प्रकृति और पुरुषको एक-ही परमेश्वरकी दो विभूतियाँ मानकर, चौथे और पाँचवें श्लोकमें वर्णन किया है, कि उनमें जड़ प्रकृति निम्न श्रेणीकी विभूति है, और जीव अर्थात् पुरुष श्रेष्ठ श्रेणीकी विभूति है; और कहा है, कि इन दोनोंसे समस्त स्थावर-जंगम सृष्टि उत्पन्न होती है (गीता १३. २६) इनमेंसे जीवभूत श्रेष्ठ प्रकृतिका विस्तारसहित विचार क्षेत्रज्ञकी दृष्टिसे आगे तेहरवें अध्यायमें किया है। अब रह गई जड़ प्रकृति। सो गीताका सिद्धान्त है (गीता ९. १०), कि वह स्वतंत्र नहीं; परमेश्वरकी अध्यक्षतामें उससे समस्त सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। यद्यपि गीतामें प्रकृतिको स्वतंत्र नहीं माना है, तथापि सांख्य-शास्त्रमें प्रकृतिके जो भेद हैं, उन्हींको कुछ हेरफेरसे गीतामें ग्राह्य कर लिया है। (गीतार. प्र. ८, पृ. १८०–१८४) और परमेश्वरसे मायाके द्वारा जड़ प्रकृति उत्पन्न हो चुकनेपर (गीता. ७. १४) सांख्योंका किया हुआ यह वर्णन कि आगे प्रकृतिसे सब पदार्थ कैसे निर्मित हुए अर्थात् गुणोत्कर्षका तत्त्वभी गीताको मान्य है (गीतार. प्र. ९, पृ. २४४)। सांख्योंका कथन है, कि प्रकृति और पुरुष मिलकर कुल पच्चीस तत्त्व हैं। इनमेंसे प्रकृतिसेही तेईस तत्त्व उपजते

§ § रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

| हैं। इन तेईस तत्त्वोंमेंसे पाँच स्थूल भूत, दस इंद्रियाँ और मन, ये सोलह तत्त्व, शेष सात तत्त्वोंसे निकले हुए अर्थात् उनके विकार हैं। अतएव यह विचार करते समय कि 'मूल तत्त्व' कितने हैं, इन सोलह तत्त्वोंको छोड देते हैं; और इन्हें छोड देनेसे बुद्धि (महान्), अहंकार और पंचतन्मात्राएँ (सूक्ष्म भूत) मिलकर सातही मूल तत्त्व बचे रहते हैं। सांख्यशास्त्रमें इन्हीं सातोंको 'प्रकृति-विकृतियाँ' कहते हैं। ये सात प्रकृति-विकृतियाँ और मूल प्रकृति मिलकर अब आठही प्रकारकी प्रकृति हुई; और महाभारत (शां. ३१०. १०–१५)में इसीको अष्टधा प्रकृति कहा है। परंतु सात प्रकृति-विकृतियोंके साथही मूल प्रकृतिकी गिनती कर लेना गीताको योग्य नहीं जँचा। क्योंकि ऐसा करनेसे यह भेद नहीं दिखलाया जाता, कि एक मूल है और उसके सात विकार हैं। इसीसे गीताके इस वर्गीकरणमें, कि सात प्रकृति-विकृतियाँ और मन मिलकर अष्टधा मूल प्रकृति है, और महाभारतके वर्गीकरणमें थोड़ा भेद किया गया है (गीतार. प्र. ८, पृ. १८४)। सारांश, यद्यपि गीताको सांख्यवालोंकी स्वतंत्र प्रकृति स्वीकृत नहीं, तथापि स्मरण रहे, कि उसके अगले विस्तारका निरूपण दोनोंने वस्तुतः समानही किया है। गीताके समान उपनिषद्में वर्णन है, कि सामान्यतः परब्रह्मसे ही :–

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥

इससे (पर पुरुष) प्राण, मन, सब इंद्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथ्वी – ये (सब) उत्पन्न होते हैं (मुंड. २. १. ३; कै. १. १५; प्रश्न ६. ४)। अधिक जानना हो, तो गीतारहस्यका ८ वाँ प्रकरण देखो। चौथे श्लोकमें कहा है, कि पृथ्वी, आप प्रभृति पंचतत्त्व मैंही हूँ; और अब यह कहकर, कि इन तत्त्वोंमें जो गुण हैं, वेभी मैंही हूँ, ऊपरके इस कथनकाही स्पष्टीकरण करते हैं, कि ये सब पदार्थ एकही धागेमें मणियोंके समान पिरोये हुए हैं :–]

(८) हे कौन्तेय ! जलमें रस मैं हूँ, चंद्र-सूर्यकी प्रभा मैं हूँ, सब वेदोंका प्रणव अर्थात् ॐकार मैं हूँ। आकाशमें शब्द मैं हूँ, और सब पुरुषोंका पौरुषभी मैं हूँ। (९) पृथ्वीमें पुण्यगंध अर्थात् सुगंधि, एवं अग्निका तेज मैं हूँ। सब प्राणि-

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

बलं बलवतामास्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

§§ त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

योंकी जीवनशक्ति, और तपस्वियोंका तप मैं हूँ। (१०) हे पार्थ ! मुझको सब प्राणियोंका सनातन बीज समझ। बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेजभी मैं हूँ। (११) काम (वासना) और राग अर्थात् विषयासक्ति (इन दोनोंको) घटाकर बलवान् लोगोंका बल मैं हूँ; और हे भरतश्रेष्ठ ! प्राणियोंमें, धर्मके विरुद्ध न जानेवाला कामभी मैं हूँ। (१२) और यह समझ, कि जो जो कुछ सात्त्विक, राजस या तामस भाव अर्थात् पदार्थ हैं, वे सब मुझसेही हुए हैं। परंतु वे मुझमे हैं, मैं उनमें नहीं हूँ।

["वे मुझमें हैं, मैं उनमें नहीं हूँ इसका अर्थ बड़ाही गंभीर है।" पहला
अर्थात् प्रकट अर्थ यह है, कि सभी पदार्थ परमेश्वरसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये
मणियोंके धागेके समान इन पदार्थोंका गुणधर्मभी यद्यपि परमेश्वरही है,
तथापि परमेश्वरकी व्याप्ति इसीमें नहीं चुक जाती, और समझना चाहिये, कि
इनको व्याप्त कर इनके परेभी वही परमेश्वर है; और यही अर्थ आगे "इस
समस्त जगतको मैं एकांशसे व्याप्त कर रहा हूँ" (गीता १०. ४२) इस श्लोकमें
वर्णित है। परंतु इसअर्थके अतिरिक्त दूसराभी अर्थ सदैव विवक्षित रहता है।
वह यह, कि त्रिगुणात्मक जगतका नानात्व यद्यपि मुझसे निर्माण हुआ दीख
पड़ता है, तथापि वह नानात्व मेरे निर्गुण स्वरूपमें नहीं रहता; और इस दूसरे
अर्थको मनमें रखकर "भूतभृत् न च भूतस्थः" (९. ४, ५) इत्यादि परमे-
श्वरकी अलौकिक शक्तियोंके वर्णन किये गये हैं (गीता १३. १४–१६)।
इस प्रकार यदि परमेश्वरकी व्याप्ति समस्त जगतसेभी अधिक है, तो प्रकट है,
कि परमेश्वरके सच्चे स्वरूपको पहचाननेके लिये इस मायिक जगतसेभी परे
जाना चाहिये; और अब उसी अर्थको स्पष्टतया प्रतिपादन करते हैं :–]

(१३) (सत्त्व, रज और तम इन) तीन गुणात्मक भावोंसे अर्थात् पदार्थोंसे

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥

§§ **चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।**
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥

मोहित होकर यह सारा संसार, इनसे परेके (अर्थात् निर्गुण) मुझ अव्ययको (परमेश्वर) नहीं जानता।

| [मायाके संबंधमें गीतारहस्यके ९ वें प्रकरणमें यह जो सिद्धान्त है, कि | माया अथवा अज्ञान त्रिगुणात्मक देहेंद्रियका धर्म है, न कि आत्माका, आत्मा | तो ज्ञानमय और नित्य है, इंद्रियाँ उसको भ्रममें डालती हैं; वही अद्वैती सिद्धान्त | ऊपरके श्लोकमें बतलाया है (गीता ७. २४; गीतार. प्र. ९, पृ. २३८–२४८)।

(१४) मेरी यह गुणात्मक और दिव्य माया दुस्तर है। अतः इस मायाको वे पारकर जाते हैं, जो मेरीही शरणमें आते हैं।

| [इससे प्रकट होता है, कि सांख्यशास्त्रकी त्रिगुणात्मक प्रकृतिकोही | गीतामें भगवान् अपनी माया कहते हैं। महाभारतके नारायणीयोपाख्यानमें | कहा है, कि नारदको विश्वरूप दिखलाकर अंतमें भगवान् बोले, कि :–

| **माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।**
| **सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैव त्वं ज्ञातुमर्हसि॥**

| "हे नारद! तुम जिसे देख रहे हो, वह मेरी उत्पन्न की हुई माया हैं। तू मुझे | सब प्राणियोंके गुणोंसे युक्त मत समझ" (शां. ३३९. ४४)। वही सिद्धान्त | अब यहाँभी बतलाया गया है। गीतारहस्यके ९ वें और १० वें प्रकरणमें बतला | दिया है, कि माया क्या चीज है]

(१५) मायाने जिनका ज्ञान नष्ट कर दिया है, ऐसे मूढ और दुष्कर्मी नराधम आसुरी बुद्धिमें पड़कर मेरी शरणमें नहीं आते।

| [यह बतला दिया, कि मायामें डूबे रहनेवाले लोग परमेश्वरको भूल | जाते हैं और नष्ट हो जाते हैं। अब ऐसा न करनेवाले अर्थात् परमेश्वरकी | शरणमें जाकर उसकी भक्ति करनेवाले लोगोंका वर्णन करते हैं।]

(१६) हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकारके पुण्यात्मा लोग मेरी भक्ति किया करते हैं :– १. आर्त अर्थात् रोगसे पीडित, २. जिज्ञासु अर्थात् ज्ञान प्राप्त-कर लेनेकी इच्छा करनेवाले, ३. अर्थार्थी अर्थात् द्रव्य आदि काम्य वासनाओंको

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेव नुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

मनमें रखनेवाले, और ४. ज्ञानी अर्थात् परमेश्वरका ज्ञान पाकर कृतार्थ हो जानेसे आगे कुछ प्राप्त न करना हो, तोभी निष्काम बुद्धिसे भक्ति करनेवाले। (१७) इसमेंसे एक भक्ति अर्थात् अनन्यभावसे मेरी भक्ति करनेवाले और सदैव युक्त यानी निष्काम बुद्धिसे बर्तनेवाले ज्ञानीकी योग्यता विशेष है, ज्ञानीको मैं अत्यंत प्रिय हूँ, और ज्ञानी मुझे (अत्यंत) प्रिय है। (१८) ये सभी भक्त उदार अर्थात् अच्छे हैं; पर मेरा मत है, कि ज्ञानी तो आत्माही है। क्योंकि, वह युक्तचित्त होकर (सबकी) उत्तमोत्तम गतिस्वरूप मुझमेंही (उनमें) ठहरा रहता है। (१९) अनेक जन्मोंके अनन्तर यह अनुभव हो जानेसे कि जो कुछ है, वह सब वासुदेवही है, ज्ञानवान् मुझे पा लेता है। ऐसा महात्मा अत्यंत दुर्लभ है।

[क्षर-अक्षरकी दृष्टिसे भगवानने अपने स्वरूपका यह ज्ञान बतला दिया, कि प्रकृति और पुरुष, दोनों मेरेही स्वरूप हैं, और चारों ओर मैंही एकतासे भरा हूँ, इसके साथही भगवानने ऊपर जो यह बतलाया है, कि इस स्वरूपकी भक्ति करनेसे परमेश्वरकी पहचान हो जाती है, उसके तात्पर्यको भली भाँति स्मरण रखना चाहिये। उपासना सभीको चाहिये, फिरे चाहे व्यक्तकी करो, चाहे अव्यक्तकी, परंतु इन दोनोंमें व्यक्तकी उपासना सुलभ होनेके कारण यहाँ उसीका वर्णन है; और उसीका नाम भक्ति है। तथापि स्वार्थ-बुद्धिको मनमें रखकर किसी विशेष हेतुके लिये परमेश्वरकी भक्ति करना निम्न-श्रेणीकी भक्ति है और परमेश्वरका ज्ञान पानेके हेतुसे भक्ति करनेवालेकोभी (जिज्ञासु) कच्चाही समझना चाहिये; क्योंकि उसकी जिज्ञासुत्व – अवस्थासेही व्यक्त होता है, कि अभीतक उसको परिपूर्ण ज्ञान नहीं हुआ। तथापि कहा है, कि ये सब भक्ति करनेवाले होनेके कारण सभी उदार अर्थात् अच्छे मार्गसे जानेवाले हैं (श्लो. १८)। परंतु पहले तीन श्लोकोंका तात्पर्य है, कि इसकेभी आगे जाकर अर्थात् ज्ञान-प्राप्तिसे कृतार्थ हो करके जिन्हें इस जगतमें करने अथवा पानेके लिये कुछभी शेष नहीं रह जाता (गीता ३. १७–१९), ऐसे ज्ञानी पुरुष निष्कामबुद्धिसे जो भक्ति करते हैं (भाग. १. ७. १०) वही सब श्रेष्ठ है। प्रल्हाद-नारद आदिकी भक्ति इसी श्रेष्ठ श्रेणीकी है, और

§ § कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

| इसीसे भागवतमें भक्तिका लक्षण भक्तियोग अर्थात् परमेश्वरकी निर्हेतुक और निरंतर भक्ति माना है, (भाग. ३. २९. १२; गीतार. प्र. १३, पृ. ४११–४१२)। १७ वें और १९ वें श्लोकके 'एकभक्तिः' और 'वासुदेवः' पद भागवत धर्मके हैं, और यहक हनेमें कोई क्षति नहीं, ।क भक्तोंका उक्त सभी वर्णन भागवत धर्म-काही है। क्योंकि महाभारतमें (मभा. शां. ३४१. ३३–३५) इस धर्मके वर्णनमें चतुर्विध भक्तोंका पहले उल्लेख करके फिर कहा है, कि :–

चतुर्विधा मम जना भक्ता एवं हि मे श्रुतम् ।
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः ।।
अहमेव गतिस्तेषां निराशोःकर्मकारिणाम् ।।
ये च शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः ।
सर्वे च्यवनधर्मास्ते प्रतिबुद्धस्तु श्रेष्ठभाक् ।।

अनन्यदैवत और एकान्तिक भक्त जिस प्रकार 'निराशीः' अर्थात् फलाशारहित कर्म करता है, उस प्रकार अन्य तीन भक्त नहीं करते, वे कुछ-न-कुछ हेतु मनमें रखकर भक्ति करते हैं, इसीसे वे तीनों च्यवनशील हैं; और एकान्ती प्रति-बुद्ध (अर्थात् जानकार) श्रेष्ट हैं। एवं आगे 'वासुदेव' शब्दकी आध्यात्मिक व्युत्पत्तियोंकी है – "सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम्" – मैं प्राणिमात्रमें वास करता हूँ, इसीसे मुझको वासुदेव कहते हैं (मभा. शां. ३४१. ४०)। अस्तु; अब यह वर्णन करते हैं, कि यदि सर्वत्र एकही परमेश्वर है, तो लोग भिन्न भिन्न देवताओंकी उपासना क्यों करते हैं, और ऐसे उपासकोंको क्या फल मिलता है :–]

(२०) अपनी-अपनी प्रकृतिके नियमानुसार भिन्न भिन्न (स्वर्ग आदि फलोंकी) कामवासनाओंसे पागल हुए लोग, भिन्न भिन्न (उपासनाओंके) नियमोंको पालकर दूसरे (भिन्नभिन्न) देवताओंको भजते रहते हैं। (२१) जो भक्त जिस रूपकी अर्थात् देवताकी श्रद्धासे उपासना करना चाहता है, उसकी उसी श्रद्धाको मैं स्थिर कर देता हूँ। (२२) फिर उस श्रद्धासे युक्त होकर, वह

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

उस देवताकी आराधना करने लगता है; एवं उसको मेरेही निर्माण किये हुए काम-फल मिलते हैं। (२३) परंतु (इन) अल्प-बुद्धि लोगोंको मिळनेवाला यह फल नाशवान् है (मोक्षके समान स्थिर रहनेवाला नहीं है) । देवताओंको भजनेवाले उनके पास जाते हैं, और मेरे भक्त मेरे यहाँ आते हैं।

[साधारण मनुष्योंकी समझ होती है, कि यद्यपि परमेश्वर मोक्षदाता है तथापि संसारके लिये आवश्यक अनेक इच्छित वस्तुओंको देनेकी शक्ति देवताओं, मेंही है; और इसीलिये इन्हीं देवताओंकी उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार जब यह समझ दृढ़ हो गई, कि देवताओंकी उपासना करनी चाहिये; तब अपनी अपनी स्वाभाविक श्रद्धाके अनुसार (गीता १७. १–६) कोई पीपल पूजते हैं, कोई किसी चबूतरेकी पूजा करते हैं और कोई किसी बड़ी भारी शिलाको सिंदूरसे रँगकर पूजते रहते हैं। इस बातका वर्णन उक्त श्लोकोंमें सुंदर रीतिसे किया गया है। इसमें ध्यान देनेयोग्य पहली बात यह है, कि भिन्न भिन्न देवताओंकी आराधनासे जो फल मिलता है, आराधक समझते हैं, कि उसके देनेवाले वेही देवता हैं; परंतु पर्यायसे वह परमेश्वरकी पूजा हो जाती है (गीता ९. २३) और तात्त्विक दृष्टिसे वह फलभी परमेश्वरही दिया करता है (श्लो. २२); यही नहीं, तो इस देवताकी आराधना करनेकी बुद्धिभी मनुष्यके पूर्वकर्मानुसार परमेश्वरही देता है (श्लोक २१)। क्योंकि इस जगतमें परमेश्वरके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वेदान्तसूत्र (३. २. ३८–४१) और उपनिषदमेंभी (कौषी. ३. ८) यही सिद्धान्त है। इन भिन्न भिन्न देवताओंकी भक्ति करते करते बुद्धि स्थिर और शुद्ध हो जाती है, तथा अंतमें एक एवं नित्य परमेश्वरका ज्ञान होता है – यही इन भिन्न भिन्न उपासनाओंका उपयोग है। परंतु इससे पहले जो फल मिलते हैं, वे सभी अनित्य होते हैं। अतः भगवानका उपदेश है, कि इन फलोंकी आशामें न उलझकर 'ज्ञानी' भक्त होनेकी उमंग प्रत्येक मनुष्यको रखनी चाहिये। यद्यपि भगवान् सब बातोंके करनेवाले और सब फलोंके दाता हैं, तोभी वे जिसके जैसे कर्म होंगे, तदनुसारही तो फल देंगे (गीता ४. ११), अतः तात्त्विक दृष्टिसे यहभी कहा जाता है, कि वे स्वयं कुछभी नहीं करते (गीता ५. १४)। गीतारहस्यके १० वें (पृ. २६९) और १३ वें प्रकरणमें (पृ. ४२८–४२९) इस विषयका अधिक विवेचन है; उसे देखो। कुछ लोग यह भूल जाते हैं, कि देवताओंकी आराधनाका फलभी परमेश्वरही देता है। और वे प्रकृति-स्वभावके अनुसार इन देवताओंकी धुनमें लग जाते हैं; अब ऊपरके इसी वर्णनका स्पष्टीकरण करते हैं :–]

§ § अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

(२४) अबुद्धि अर्थात् मूढ़ लोग, मेरे परं अर्थात् श्रेष्ठ, उत्तमोत्तम और अव्यक्त रूपको न जानकर मुझ अव्यक्तको व्यक्त हुआ मानते हैं। (२५) अपनी योगरूप मायासे आच्छादित रहनेके कारण मैं सबको (अपने स्वरूपसे) प्रकट नहीं दीखता। मूढ लोग नहीं जानते, कि मैं अज और अव्यय हूँ।

[अव्यक्त स्वरूपको छोड़कर व्यक्त स्वरूप धारणकर लेनेकी युक्तिको योग कहते हैं (गीता ४. ६; ७. १५; ९. ७)। वेदान्ती लोग इसीको माया कहते हैं, और इस योगमायासे ढँका हुआ परमेश्वर व्यक्त-स्वरूपधारी होता है। सारांश, इस श्लोकका भावार्थ यह है, कि व्यक्त सृष्टि मायिक अथवा अनित्य है और अव्यक्त परमेश्वर सच्चा या नित्य है। परंतु कुछ लोग इस स्थानपर और अन्य स्थानोंपरभी 'माया' शब्दका 'अलौकिक' अथवा 'विलक्षण शक्ति' अर्थ मानकर प्रतिपादन करते हैं, कि यह माया मिथ्या नहीं है, परमेश्वरके समानही नित्य है। गीतारहस्यके नवें प्रकरणमें मायाके स्वरूपका विस्तारसहित विचार किया है, इस कारण यहाँ इतनाही कह देते हैं, कि यह बात अद्वैत वेदान्तकोभी मान्य है, कि माया परमेश्वरकीही कोई विलक्षण और अनादि लीला है। क्योंकि, माया यद्यपि इंद्रियोंका उत्पन्न किया हुआ है, तथापि इंद्रियाँभी परमेश्वरकी सत्तासेही यह काम करती हैं, अतएव अंतमें इस मायाको परमेश्वरकीही लीला कहना पड़ता है। वाद है केवल इसके तत्त्वतः सत्य या मिथ्या होनेमें; सो उक्त श्लोकसे प्रकट होता है, कि विषयमें अद्वैत वेदान्तके समानही गीताकाभी यही सिद्धान्त है, कि जिस नामरूपात्मक मायासे अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त माना जाता है, वह माया, – फिर चाहे उसे अलौकिक शक्ति कहो या और कुछ कहो – 'अज्ञानसे' उपजी हुई दिखाऊ वस्तु या 'मोह' है, और सत्य परमेश्वर-तत्त्व इससे पृथक् है। यदि ऐसा न हो, तो 'अबुद्धि' 'मूढ' शब्दोंके प्रयोग करनेका कोई कारण नहीं दीख पड़ता। सारांश, माया सत्य नहीं है, सत्य है एक परमेश्वरही। किंतु गीताका कथन है, कि इस मायासे भूले रहनेसे लोग अनेक देवताओंके फंदेमें पड़े रहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषदमें (बृ. १. ४. १०) इसी प्रकारका वर्णन है; वहाँ कहा है, कि जो लोक आत्मा और ब्रह्मको एकही न जान कर भेदभावसे भिन्न भिन्न देवताओंके फंदेमें पड़े रहते हैं, वे 'देवताओंके पशु' हैं, अर्थात् गाय आदि पशुओंसे जैसे मनुष्यको फायदा होता है, वैसेही इन अज्ञानी भक्तोंसे सिर्फ़

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ २६॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप॥ २७॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ २८॥
§§ **जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।**
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

| देवताओंकाही फायदा है, उनके भक्तोंको मोक्ष नहीं मिलता। मायामें उलझ कर भेदभावसे अनेक देवताओंकी उपासना करनेवालोंका वर्णन हो चुका; अब बतलाते हैं, कि इस मायासे धीरे धीरे छुटकारा क्योंकर होता है :—]

(२६) हे अर्जुन! भूत, वर्तमान और भविष्यत् (कालमें जो हो चुके हैं उन्हें, मौजूदा और आगे होनेवाले) सभी प्राणियोंको मैं जानता हूँ; परंतु मुझे कोईभी नहीं जानता। (२७) क्योंकि हे भारत! (इंद्रियोंकी) इच्छाओं और द्वेषसे उपजनेवाले (सुख-दुःख आदि) द्वंद्वोंके मोहसे समस्त प्राणी, हे परतंप! इस सृष्टिमें भ्रममें फँस जाते हैं। (२८) परंतु जिन पुण्यात्माओंके पापका अंत हो गया है, वे (सुख-दुःख आदि) द्वंद्वोंके मोहसे छूट कर दृढव्रत हो करके मेरी भक्ति करते हैं।

| [इस प्रकार मायासे छुटकारा हो चुकनेपर, आगे उनकी जो स्थिति होती है, उसका वर्णन करते हैं :—]

(२९) जो (इस प्रकार) मेरा आश्रयकर जरा-मरणसे अर्थात् पुनर्जन्मके चक्करसे छूटनेके लिये प्रयत्न करते हैं, वे (सब) ब्रह्म, (सब) अध्यात्म और सब कर्मको जान लेते हैं। (३०) और अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञसहित (अर्थात् यह इस प्रकार, कि मैंही यह सब हूँ) जो मुझे जानते हैं, वे युक्तचित्त (होनेके कारण) मरण-कालमेंभी मुझे जानते हैं।

| [अगले अध्यायमें अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञका निरूपण किया है। धर्मशास्त्रका और उपनिषदोंका सिद्धान्त है, कि मरण-कालमें मनुष्यके

| मनमें जो बुद्धि प्रबल रहती है, उसके अनुसार उसे आगे जन्म मिलता है; इस
| सिद्धान्तको लक्ष्य करके अंतिम श्लोकमें 'मरण-कालमेंभी' शब्द हैं; तथापि उक्त
| श्लोकके 'भी' पदसे स्पष्ट होता है, कि मरनेसे पहले परमेश्वरका पूर्ण ज्ञान
| हुए विना केवल अंतकालमेंही यह ज्ञान नहीं हो सकता (गीता २. ७२)।
| विशेष विवरण अगले अध्यायमें है। कह सकते हैं, कि इन दो श्लोकोंमें अधिभूत
| आदि शब्दोंसे आगेके अध्यायकी प्रस्तावनाही की गई है।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, ज्ञानविज्ञानयोग नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

आठवाँ अध्याय

[इस अध्यायमें कर्मयोगके अंतर्गत ज्ञान-विज्ञानका निरूपणही हो रहा है, और पिछले अध्यायमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ, ये जो परमेश्वरके स्वरूपके विविध भेद कहे हैं, पहले उनका अर्थ बतलाकर विवेचन किया है, कि उनमें क्या तथ्य है। परंतु यह विवेचन उन शब्दोंकी केवल व्याख्या करके अर्थात् अत्यंत संक्षिप्त रीतिसे किया है, अतः यहाँपर उक्त विषयका कुछ अधिक स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। बाह्य सृष्टिके अवलोकनसे उसके वार्ताकी कल्पना अनेक लोग अनेक रीतियोंसे किया करते हैं। १. कोई कहते हैं, कि सृष्टिके सब पदार्थ पंचमहाभूतोंकेही विकार हैं और इन पंचमहाभूतोंको छोड़ मूलमें दूसरा कोईभी तत्त्व नहीं है। २. दूसरे कई लोग यह प्रतिपादन करते हैं, कि गीताके चौथे अध्यायके वर्णनके अनुसार समस्त जगत् यज्ञसे हुआ है, इसलिये यह परमेश्वर यज्ञनारायणरूपी है और यज्ञसेही उसकी पूजा होती है। ३. और कुछ लोगोंका कहना है, कि जड़ पदार्थ स्वयं सृष्टिके व्यापार नहीं करते; किंतु उनमेंसे प्रत्येकमें कोई-न-कोई सचेतन पुरुष या देवता रहते हैं; जो कि इन व्यवहारोंको किया करते हैं, और इसीलिये हमें उन देवताओंकी आराधना करनी चाहिये। उदाहरणार्थ, जड़ पांचभौतिक सूर्यके गोलेमें सूर्य नामका जो पुरुष है, वही प्रकाश देने वगैरेहका काम किया करता है, अतएव वही उपास्य है। ४. चौथे पक्षका कथन है, कि प्रत्येक पदार्थमें उस पदार्थसे भिन्न किसी देवताका निवास मानना ठीक नहीं है। जैसे मनुष्यके शरीरमें आत्मा है, वैसेही प्रत्येक वस्तुमें उसी वस्तुका कुछ-न-कुछ सूक्ष्म रूप अर्थात् आत्माके समान सूक्ष्म शक्ति वास करती है और वही उसका मूल और सच्चा स्वरूप है। उदाहरणार्थ, पंच स्थूल महाभूतोंमें पंच-सूक्ष्म-तन्मात्राएँ, और हाथ-पैर आदि स्थूल इंद्रियोंमें सूक्ष्म इंद्रियाँ मूलभूत रहती हैं। इसी चौथे तत्त्वपर सांख्योंका यह मतभी अवलंबित है, कि प्रत्येक मनुष्यका आत्माभी पृथक् पृथक् है और पुरुष असंख्य हैं; परंतु जान पड़ता है, कि यहाँ इस सांख्य मतका 'अधिदेह' वर्गमें समावेश किया गया है। उक्त चार पक्षोंकोही क्रमसे अधिभूत, अधियज्ञ, अधिदैवत और अध्यात्म कहते हैं। किसीभी शब्दके पीछे 'अधि' उपसर्ग रहनेसे यह अर्थ होता है – 'तमधिकृत्य', 'तद्विषयक', 'उस संबंधका' या 'उसमें रहनेवाला'। इस अर्थके अनुसार अधिदैवत अनेक देवताओंमें रहनेवाला तत्त्व है। साधारणतया अध्यात्म उस शास्त्रको कहते हैं, जो यह प्रतिपादन करता है, कि सर्वत्र एकही आत्मा है। किंतु यह अर्थ सिद्धान्त पक्षका है। अर्थात् पूर्वपक्षके इस कथनकी जाँच करके, कि "अनेक वस्तुओं या मनुष्योंमेंभी अनेक आत्मा हैं", वेदान्तशास्त्रने आत्माकी एकताके इस सिद्धान्तको निश्चित

कर दिया है। अतः पूर्वपक्षका जब विचार करना होता है, तब माना जाता है, कि प्रत्येक पदार्थका सूक्ष्म स्वरूप या आत्मा पृथक् पृथक् है; और यहाँपर अध्यात्म शब्दसे यही अर्थ अभिप्रेत है। महाभारतमें मनुष्यकी इंद्रियोंका उदाहरण देकर स्पष्ट कर दिया है, कि अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूत-दृष्टिसे एकही विवेचनके इस प्रकार भिन्न भिन्न भेद क्योंकर होते हैं ? (मभा. शां. ३१३; अश्व. ४१)। महाभारतकार कहते हैं, कि मनुष्यकी इंद्रियोंका विवेचन तीन तरहसे किया जा सकता है, जैसे – अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैवत। इन इंद्रियोंके द्वारा जो विषय ग्रहण किये जाते हैं – उदाहरणार्थ, हाथोंसे जो लिया जाता है, कानोंसे जो सुना जाता है, आँखोंसे जो देखा जाता है या मनसे जिसका चिंतन किया जाता है, – वे सब अधिभूत हैं; और हाथ-पैर आदिके (सांख्यशास्त्रोक्त) सूक्ष्म स्वभाव अर्थात् सूक्ष्म इंद्रियाँ, इन इंद्रियोंके अध्यात्म हैं। परंतु इन दोनों दृष्टियोंको छोड़कर अधिदैवत-दृष्टिसे विचार करनेपर – अर्थात् यह मान करके, कि हाथोंके देवता इंद्र, पैरोंके विष्णु, गुदके मित्र, उपस्थके प्रजापति, वाणीके अग्नि, आँखोंके सूर्य, कानोंके आकाश अथवा दिशा, जीभके जल, नाकके पृथ्वी, त्वचाके वायु, मनके चंद्रमा, अहंकारके बुद्धि, औंर बुद्धिके देवता पुरुष हैं। – कहा जाता है, कि येही देवता अपनी अपनी इंद्रियोंके व्यापार किया करते हैं, उपनिषदोंमेंभी उपासनाके लिये ब्रह्मस्वरूपके जो प्रतीक वर्णित हैं, उनमें मनको अध्यात्म और सूर्य अथवा आकाशको अधिदैवत प्रतीक कहा है (छां. ३. १८. १)। अध्यात्म और अधिदैवतका यह भेद केवल उपासनाके लियेही नहीं किया गया है, वल्कि जब इस प्रश्नका निर्णय करना पडा, कि वाणी, चक्षु और श्रोत्र प्रभृति इंद्रियों एवं प्राणोंमें श्रेष्ठ कौन है ? तब उपनिषदोंमें (बृ. १. ५. २१–२३; छां. १. २–३; कौषी. ४. १२–१३) एक बार वाणी, चक्षु और श्रोत्र इन सूक्ष्म इंद्रियोंको लेकर अध्यात्म दृष्टिसे विचार किया गया है, तथा दूसरी बार उन्हीं इंद्रियोंके देवता अग्नि, सूर्य और आकाशको लेकर अधिदैवत-दृष्टिसे विचार किया गया है। सारांश यह है, कि अधिदैवत, अधिभूत और अध्यात्म आदि भेद प्राचीन कालसे चले आ रहे हैं, और यह प्रश्नभी उसी जमानेका है, कि परमेश्वरके स्वरूपकी इन भिन्न भिन्न कल्पनाओंमेंसे सच्ची कौन है अथवा उसका तथ्य क्या है ? वृहदारण्यक उपनिषद्में (बृ. ३. ७) याज्ञवल्क्यने उद्दालक आरुणिसे कहा है, कि सब प्राणियोंमें, सब देवताओंमें, समग्र अध्यात्ममें, सब लोगोंमें, सब यज्ञोंमें और सब देहोंमें व्याप्त होकर, उनके न समझनेपरभी, उनको नचानेवाला एक-ही परमात्मा है। उपनिषदोंका यही सिद्धान्त वेदान्त-सूत्रके अंतर्यामी अधिकरणमें है (वे. सू. १. २. १८–२०), और वहीं यह सिद्ध किया है, कि सबके अंतःकरणमें रहनेवाला यह तत्त्व सांख्योंकी प्रकृति या जीवात्मा नहीं है, किंतु परमात्मा है। इसी सिद्धान्तके अनुरोधसे भगवान् अब अर्जुनसे कहते हैं, कि मनुष्यकी देहमें, सब प्राणियोंमें (अधिभूत), सब यज्ञोंमें (अधियज्ञ), सब देवताओंमें

अष्टमोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

श्रीभगवानुवाच।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ ३॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥

(अधिदैवत), सब कर्मोंमें, और सब वस्तुओंके सूक्ष्म (अर्थात् अध्यातम) स्वरूपोंमें एकही परमेश्वर समाया हुआ है, और देवता यज्ञ इत्यादि नानात्व अथवा विविध ज्ञान सच्चा नहीं है। सातवें अध्यायके अंतमें भगवानने अधिभूत आदि जिन शब्दोंका उच्चारण किया है, उनका अर्थ जाननेकी अर्जुनको इच्छा हुई, अतः वह पहले पूछता है :–]

अर्जुनने कहा :– (१) हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्मके माने क्या हैं? अधिभूत किसे कहना चाहिये? और अधिदैवत किसको कहते हैं? (२) अधियज्ञ कैसा होता है? हे मधुसूदन! इस देहमें (अधिदेह) कौन है? और (मुझे यह बतलाओ, कि) अंतकालमें इंद्रियनिग्रह करनेवाले (लोग) तुमको कैसे पहचानते हैं?

[ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत और अधियज्ञ शब्द पिछले अध्यायमें आ चुके हैं; इनके सिवा अब अर्जुनने यह नया प्रश्न किया है, कि अधिदेह कौन है? इसपर ध्यान देनेसे आगेके उत्तरका अर्थ समझनेमें कोई अडचन न होगी।]

श्रीभगवानने कहा :– (३) (सबसे) परम अक्षर अर्थात् कभीभी नष्ट न होनेवाला तत्त्व **ब्रह्म** है, (और) प्रत्येक वस्तुका अपना मूल भाव (स्वभाव) **अध्यात्म** कहलाता है। (अक्षर-ब्रह्मसे) भूतमात्रादि (चर-अचर) पदार्थोंकी उत्पत्ति करनेवाला विसर्ग अर्थात् सृष्टि-व्यापार **कर्म** है। (४) (उपजे हुए सब प्राणियोंकी) क्षर अर्थात् नामरूपात्मक या नाशवान् स्थिति **अधिभूत** है; और (इस पदार्थमें)

जो पुरुष अर्थात् सचेतन अधिष्ठाता है, वह **अधिदैवत** है; हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ ! (जिसे) **अधियज्ञ** (अर्थात् सब यज्ञोंका अधिपति कहते हैं, वह) मैंही इस देहमें (**अधिदेह**) हूँ।

[तीसरे श्लोकका 'परम' शब्द ब्रह्मका विशेषण नहीं है, किंतु अक्षरका विशेषण है। सांख्यशास्त्रमें अव्यक्त प्रकृतिकोभी 'अक्षर' कहा है (गीता १५. १६)। परंतु वेदान्तियोंका ब्रह्म इस अव्यक्त और अक्षर प्रकृतिकेभी परेका है (इसी अध्यायका २० वाँ और ३१ वाँ श्लोक देखो); और इसी कारण केवल **'अक्षर'** शब्दके प्रयोगसे सांख्योंकी प्रकृति अथवा ब्रह्म, ये दोनों अर्थ हो सकते हैं। इस संदेहको मिटानेके लिये 'अक्षर' शब्दके आगे 'परम' विशेषण रख कर ब्रह्मकी व्याख्या की है (गीतार. प्र. ९, पृ. २०२ – २०३)। हमने 'स्वभाव' शब्दका अर्थ, ऊपर दिये हुए महाभारतके उदाहरणोंके अनुसार, किसीभी पदार्थका **'सूक्ष्म स्वरूप'** किया है। नासदीय सूक्तमें दृश्य जगतको परब्रह्मकी विसृष्टि (विसर्ग) कहा है (गीतार. प्र. ९, पृ. २५६); और विसर्ग शब्दका वही अर्थ यहाँ लेना चाहिये। विसर्गका अर्थ 'यज्ञका हविरुत्सर्ग' करनेकी कोई जरूरत नहीं है। गीतारहस्यके दसवें प्रकरणमें (पृ. २६४) इस बातका विस्तृत विवेचन किया गया है, कि इस दृश्य-सृष्टिकोही कर्म क्यों कहते हैं ? पदार्थमात्रके नामरूपात्मक विनाशी स्वरूपको 'क्षर' कहते हैं; और इससे परे जो अक्षर तत्त्व है. उसको ब्रह्म समझना चाहिये। 'पुरुष' शब्दसे सूर्यका पुरुष, जलके देवता या वरुणपुरुष इत्यादि सचेतन सूक्ष्म देहधारी देवता विवक्षित हैं और हिरण्यगर्भ काभी उसमें समावेश होता है। यहाँ भगवानने 'अधियज्ञ' शब्दकी व्याख्या नहीं की। क्योंकि, यज्ञके विषयमें पीछे तीसरे और चौथे अध्यायोंमें विस्तारसहित वर्णन हो चुका है और फिर आगेभी कहा है, कि 'सब यज्ञोंका प्रभु और भोक्ता मैंही हूँ (गीता ९. २४; ५. २९; मभा. शां. ३४०)। इस प्रकार अध्यात्म आदिके लक्षण बतलाकर अंतमें संक्षेपसे कह दिया है, कि इस देहमें 'अधियज्ञ' (जिसे कहते हैं) वही मैं हूँ, अर्थात् मनुष्यदेहमें अधिदेह और अधियज्ञभी मैंही हूँ। प्रत्येक देहमें पृथक् पृथक् आत्मा (पुरुष) मानकर सांख्यवादी कहते हैं, कि वे असंख्य हैं। परंतु वेदान्तशास्त्रको यह मत मान्य नहीं है, उसने निश्चय किया है, कि यद्यपि देह अनेक हैं, तथापि सबमें आत्मा एकही है (गीतार. प्र. ७, पृ. १६६)। 'अधिदेह मैंही हूँ' इस वाक्यमें यही सिद्धान्त दर्शाया है; तोभी इस वाक्यके 'मैंही हूँ' शब्द केवल अधियज्ञ अथवा अधिदेहकोही उद्देश्य करके प्रयुक्त नहीं हैं; उनका संबंध अध्यात्म आदि पूर्वपदोंसेभी है। अतः समग्र अर्थ ऐसा होता है, कि अनेक प्रकारके यज्ञ, अनेक पदार्थोंके अनेक देवता, विनाशवान् पंचमहाभूत, पदार्थमात्रके सूक्ष्म भाग अथवा विभिन्न आत्मा, ब्रह्म, कर्म अथवा

§§ अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

| भिन्न भिन्न मनुष्योंकी देह – इन सबमें ' मैंही हूँ ', अर्थात् सबमें एकही परमेश्वर-तत्त्व है । कई लोगोंका कथन है, कि यहाँ 'अधिदेह' स्वरूपका स्वतंत्र वर्णन नहीं है, अधियज्ञकी व्याख्या करते समय अधिदेहका उसमें पर्यायसे उल्लेख हो गया है । किंतु हमें यह अर्थ ठीक नहीं जान पड़ता । क्योंकि, न केवल गीतामेंही, प्रत्युत उपनिषदों और वेदान्त-सूत्रोंमेंभी (बृ. ३. ७; वे. सू. १. २. २०) जहाँ यह विषय आया है, वहाँ अधिभूत आदि स्वरूपोंके साथही शरीर आत्माकाभी विचार किया है, और सिद्धान्त किया है, कि सर्वत्र एकही परमात्मा है । ऐसेही गीतामें जब कि अधिदेहके विषयमें पहलेभी प्रश्न हो चुका है, तब यहाँ उसके पृथक् उल्लेखकोही विवक्षित मानना युक्तिसंगत है । यदि यह सच है, कि सब कुछ परब्रह्महीही है, तो पहले पहल ऐसा बोध होना संभव है, कि उसके अधिभूत आदि स्वरूपोंका वर्णन करते समय उसमें परब्रह्मकोभी शामिल कर लेनेकी कोई जरूरत न थी । परंतु नानात्वदर्शक यह वर्णन उन लोगोंको लक्ष्य करके किया गया है, कि जो ब्रह्म, आत्मा, देवता और यज्ञनारायण आदि अनेक भेद करके नाना प्रकारकी उपासनाओंमे उलझे रहते हैं, अतएव पहले उन लक्षण बतलाये गये हैं, कि जो उन लोगोंकी समझके अनुसार होते हैं, और फिर यह भेदोंके सिद्धान्त किया गया है, कि " यह सब मैंही हूँ " । उक्त बातपर ध्यान देनेसे कोईभी शंका नहीं रह जाती । अस्तु; इस भेदका तत्त्व बतला दिया गया, कि उपासनाके लिये अधिभूत, अधिदैवत, अध्यात्म, अधियज्ञ और अधिदेह प्रभृति अनेक भेद करनेपरभी यह नानात्व सच्चा नहीं है, और वास्तवमें एकही परमेश्वर सबमें व्याप्त है । अब अर्जुनके इस अंतिम प्रश्नका उत्तर देते हैं, कि अंतकालमें यह सर्वव्यापी भगवान् कैसे पहचाना जाता है :–]

(५) और इसमें संदेह नहीं है, कि अंतकालमें जो मेराही स्मरण करता हुआ देह त्यागता है, वह मेरे स्वरूपमें मिल जाता है। (६) अथवा हे कौन्तेय ! सदा अर्थात् जन्मभर उसीमें रँगे रहनेसे मनुष्य जिस भावका स्मरण करता हुआ अंतमें शरीर त्यागता है, (आगे) उसीमें (भाव) वह जा मिलता है।

| [पाँचवें श्लोकमे मरण-समयमें परमेश्वरके स्मरण करनेकी आवश्यकता और फल बतलाया है। परंतु संभव है, कि इससे कोई यह समझ ले, कि केवल मरण-कालमें यह स्मरण करनेसेही काम चल जाता है, इसीलिये छठे श्लोकमें

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

[यह बतलाया है, कि जो बात जन्मभर मनमें रहती है, वह मरण-कालमेंभी नहीं छूटती, अतएव न केवल मरण-कालमेंभी प्रत्युत जन्मभरभी परमेश्वरका स्मरण और उपासना करनेकी आवश्यकता सिद्ध हुई है (गीतार. प्र. १०, पृ. २९०) । इस सिद्धान्तको मान लेनेसे आपही सिद्ध हो जाता है, कि अंतकालमें परमेश्वरको भजनेवाले परमेश्वरको पाते हैं और देवताओंका स्मरण करनेवाले देवताओंको पाते हैं (गीता ७. २३; ८. १३; ९. २५)। क्योंकि छांदोग्य उपनिषदके कथनानुसार " यथा क्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति " (छां० ३. १४. १) – इस लोकमें मनुष्यका जैसा क्रतु अर्थात् संकल्प होता है, मरनेपर उसे वैसीही गति मिलती है। छांदोग्यके समान अन्य उपनिषदोंमेंभी ऐसेही वाक्य हैं (प्रश्न. ३. १०; मैत्र्यु. ४. ६) । परंतु गीता अब यह कहती है, कि जन्मभर एकही भावनासे मनको रँगे बिना, अंतकालकी यातनाके समय वही भावना स्थिर नहीं रह सकती । अतएव आमरण अर्थात् आजीवन परमेश्वरका ध्यान करना आवश्यक है (वे. सू. ४. १. १२) – इस सिद्धान्तके अनुसार अर्जुनसे भगवान् कहते हैं, कि :–]

(७) इसलिये सर्वकाल अर्थात् सदैवही मेरा स्मरण करता रह, और युद्ध कर। मुझमें मन और बुद्धि अर्पण करनेसे (युद्ध करनेपरभी) मुझमेंही निःसंदेह आ मिलेगा । (८) हे पार्थ ! चित्तको दूसरी ओर न जाने देकर अभ्यासकी सहायतासे उसको स्थिर करके दिव्य परम पुरुषका ध्यान करते रहनेसे मनुष्य उसी पुरुषमें जा मिलता है ।

[जो लोग भगवद्गीतामें इस विषयका प्रतिपादन बतलाते हैं, कि संसारको छोड़ दो और केवल भक्तिकाही अवलंब करो, उन्हें सातवें श्लोकके सिद्धान्तकी ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये । मोक्ष तो परमेश्वरकी ज्ञानयुक्त भक्तिसे मिलता है; और यह निर्विवाद है, कि मरण-समयमेंभी उसी भावनाको स्थिर रहनेके लिये जन्मभर वही अभ्यास करना चाहिये । किंतु गीताका यह अभिप्राय नहीं, कि उसके लिये कर्मोंको छोड़ देना चाहिये; इसके विरुद्ध गीताशास्त्रका सिद्धान्त है, कि स्वधर्मके अनुसार जो कर्म प्राप्त होते जायँ, भगवद्भक्तको उन सबको निष्काम बुद्धिसे करते रहना चाहिये, और उसी सिद्धान्तको इन शब्दोंसे व्यक्त किया है, कि " मेरा सदैव चिंतन कर; और युद्ध कर । " अस्तु; अब

§ § कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥
ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

बतलाते हैं, कि परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे जन्मभर निष्काम कर्म करनेवाले कर्मयोगी अंतकालमेंभी दिव्य परम पुरुषका चिंतन किस प्रकारसे करते हैं।]

(९) कवि अर्थात् सर्वज्ञ, पुरातन, शास्ता अणुसेभी छोटे, सबके धाता अर्थात् आधार या कर्ता, अचिंत्यस्वरूप, और अंधकारसे परेके सूर्यके समान देदीप्यमान पुरुषका स्मरण (जो पुरुष), करता है, वह (मनुष्य) उसी दिव्य परम पुरुषमें जा मिलता है। (१०) अंतकालमें (इंद्रियनिग्रहरूप) योगकी सामर्थ्यसे और भक्तियुक्त होकर मनको स्थिर करके और दोनों भौहोंके बीचमें प्राणको भली भाँति रखकर, (११) वेदके जाननेवाले जिसे अक्षर कहते हैं, वीतराग हो कर यति लोग जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्यव्रतका आचरण करते हैं, वह पद अर्थात् ॐकारब्रह्म तुझे संक्षेपसे बतलाता हूँ। (१२) सब (इंद्रियरूपी) द्वारोंका संयमकर और मनका हृदयमें निरोध करके, (एवं) मस्तकमें, अपना प्राण ले जाकर समाधियोगमें स्थिर होनेवाला, (१३) इस एकाक्षर ब्रह्म ॐका जप और मेरा स्मरण करता हुआ जो (मनुष्य) देह छोड़ कर जाता है, उसे उत्तम गति मिलती है।

[श्लोक ९–११ में परमेश्वरके स्वरूपका जो वर्णन है, वह उपनिषदोंसे लिया गया है। नवें श्लोकका 'अणोरणीयान्' पद और अंतका चरण श्वेताश्वतर उपनिषदका है (श्वे. ३. ८, ९), एवं ग्यारहवें श्लोकका पूर्वार्ध अर्थतः और उत्तरार्ध शब्दशः कठ उपनिषदका है (कठ. २. १५)। कठ उपनिषदमें "तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि" इस चरणके आगे 'ओमित्येतत्' स्पष्ट कहा गया है, इससे प्रकट होता है, कि ११ वें श्लोकके 'अक्षर' और 'पद' शब्दोंका अर्थ ॐ वर्णाक्षररूपी ब्रह्म अथवा ॐ शब्द लेना चाहिये; और १३ वें श्लोकसेभी प्रकट

§ § अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

होता है, कि यहाँ ॐकारोपासनाही उद्दिष्ट है (प्रश्न. ५)। तथापि यह नहीं कह सकते, कि भगवानके मनमें 'अक्षर = अविनाशी ब्रह्म, और 'पद' = परम स्थान, ये अर्थभी न होंगे। क्योंकि, वर्णमालाका ॐ एक अक्षर है, और इसके सिवा यह कहा जा सकेगा, कि वह ब्रह्मके प्रतीकके नाते अविनाशीभी है (२१ वाँ श्लोक देखो)। इसलिये ११ वे श्लोकके अनुवादमें 'अक्षर' और 'पद' ये दुहरे अर्थवाले मूल शब्दही हमने रख लिये हैं। अब इस उपासनासे मिलनेवाली उत्तर गतिकाही अधिक निरूपण करते हैं :--]

(१४) हे पार्थ ! अनन्यभावसे सदा-सर्वदा जो मेरा नित्य स्मरण करता रहता है, उस नित्ययुक्त (कर्म-)योगीको मैं अर्थात् मेरी प्राप्ति सुलभ रीतिसे होती है। (१५) मुझमें मिल जानेपर, परमसिद्धि पाये हुए महात्मा उस पुनर्जन्मको नहीं पाते, कि जो दुःखोंका घर है और अशाश्वत है। (१६) हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकतक (स्वर्ग आदि) जितने लोक हैं वहाँसे (कभी न कभी इस लोकमें) पुनरावर्तन अर्थात् लौटना (पड़ता) है। परतु हे कौन्तेय ! मुझमें मिल जानेपर पुनर्जन्म नहीं होता।

[सोलहवें श्लोकके 'पुनरावर्तन' शब्दका अर्थ पुण्य चुक जानेपर भूलोकमें लौट आना है (गीता ९. २१; मभा. वन. २६०)। यज्ञ, देवताराधन और वेदाध्ययन प्रभृति कर्मोंसे यद्यपि इंद्रलोक, वरुणलोक, सूर्यलोक और कदाचित् ब्रह्मलोक प्राप्त हो जावे, तथापि पुण्यांशके समाप्त होतेही वहाँसे लौटकर फिर इस लोकमें जन्म लेना पड़ता है (बृ. ४. ४. ६); अथवा अंततः ब्रह्मलोकका नाश हो जानेपर पुनर्जन्मचक्रमें तो जरूरही गिरना पड़ता है। अतएव, उक्त १६ वें श्लोकका भावार्थ यह है, कि ऊपर लिखी हुई सब गतियाँ कम दर्जेकी हैं और परमेश्वरके ज्ञानसेही पुनर्जन्म नष्ट होता है, इस कारण वही गति सर्वश्रेष्ठ है (गीता ९. २०, २१)। अंतमें जो कहा है, कि ब्रह्मलोककी प्राप्तिभी अनित्य है, उसके समर्थनमें अब बतलाते हैं, कि ब्रह्मलोकसहित समस्त सृष्टिकी उत्पत्ति और लय वारंवार कैसे होता रहता है :-]

§§ सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

(१७) अहोरात्रको (तत्त्वतः) जाननेवाले पुरुष समझते हैं, कि (कृत, त्रेता, द्वापर और कलि, इन चारों युगोंका एक महायुग होता है, और ऐसे) हजार (महा-)युगोंका समय ब्रह्मदेवका एक दिन है, और (ऐसेही) हज़ार युगोंकी (उसकी) एक रात्रि है।

| [यह श्लोक इससे पहलेके युगमानका हिसाब न देकर गीतामें आया है; और इसका अर्थ अन्यत्र बतलाये हुए हिसाबसे करना चाहिये। यह हिसाब और गीताका यह श्लोकभी भारत (शां. २३१. ३१) और मनुस्मृतिमें (मनु. १. ७३) है; तथा यास्कके निरुक्तमेंभी यही अर्थ वर्णित है (निरुक्त १४. ९)। ब्रह्मदेवके दिनकोही कल्प कहते हैं। अगले श्लोकमें अव्यक्तका अर्थ सांख्य-शास्त्रकी अव्यक्त प्रकृति है, अव्यक्तका अर्थ परब्रह्म नहीं है; क्योंकि २० वें श्लोकमें स्पष्ट बतला दिया है, कि ब्रह्मरूपी अव्यक्त, १८ वें श्लोकमें वर्णित अव्यक्तसे परेका और भिन्न है। गीतारहस्यके आठवें प्रकरणमें (पृ. १९४) इसका पूरा स्पष्टीकरण है, कि अव्यक्तसे व्यक्त-सृष्टि कैसे होती है और कल्पके कालमानका हिसाबभी वहीं लिखा है।]

(१८) (ब्रह्मदेवके) दिनका आरंभ होनेपर अव्यक्तसे सब व्यक्त (पदार्थ) निर्मित होते हैं और रात्रि होनेपर उसी पूर्वोक्त अव्यक्तमें लीन हो जाते हैं। (१९) हे पार्थ ! भूतोंका वही समुदाय (इस प्रकार) बार बार उत्पन्न होकर अवश होता हुआ, अर्थात् इच्छा हो या न हो – रात होतेही लीन हो जाता है, और दिन होनेपर (फिर) जन्म लेता है।

| [अर्थात् पुण्यकर्मोंसे नित्य ब्रह्मलोकवास प्राप्तभी हो जाय, तोभी प्रलय-कालमें ब्रह्मलोककाभी नाश हो जानेसे फिर नये कल्पके आरंभमें प्राणियोंका जन्म लेना नहीं छूटता। इससे बचनेके लिये जो एकही मार्ग है, उसे अब बतलाते हैं :–]

§ § परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

(२०) किंतु इस ऊपर बतलाये हुए अव्यक्तसे परे दूसरा सनातन अव्यक्त पदार्थ है, कि जो सब भूतोंके नाश होनेपरभी नष्ट नहीं होता, (२१) जिस अव्यक्तको 'अक्षर' (भी) कहते हैं, वही परम अर्थात् उत्कृष्ट या अंतकी गति कहा जाता है; (और) जिसे पाकर फिर (जन्ममें) लौटते नहीं है, (वही) मेरा परम स्थान(भी) है। (२२) हे पार्थ ! जिसके भीतर (सब) भूत हैं और जिसने इन सबको फैलाया अथवा व्याप्तकर रखा है, वह पर अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष अनन्यभक्तिसेही प्राप्त होता है।

[बीसवाँ और इक्कीवसाँ श्लोक मिलकर एक वाक्य बना है। इनमेंसे २० वें श्लोकका 'अव्यक्त' शब्द पहले सांख्योंकी प्रकृतिको, अर्थात् १८ वें श्लोकके अव्यक्त द्रव्यको लक्ष्य करके प्रयुक्त है और आगे वही शब्द सांख्योंकी प्रकृतिसे परेके परब्रह्मके लियेभी उपयुक्त हुआ है; तथा २१ वें श्लोकमें कहा है, कि इसी दूसरे अव्यक्तको 'अक्षर'भी कहते हैं; ऐसेही अध्यायके आरंभमेंभी "अक्षरं ब्रह्म परमम्" यह वर्णन है। सारांश, 'अव्यक्त' शब्दके समानही गीतामें 'अक्षर' शब्दकाभी दो प्रकारसे उपयोग किया गया है। यह नहीं, कि सांख्योंकी प्रकृति ही अव्यक्त और अक्षर है; किंतु परमेश्वर या ब्रह्मभी, कि जो "सब भूतोंका नाश हो जानेपरभी नष्ट नहीं होता", अव्यक्त तथा अक्षर है। पंद्रहवें अध्यायमें पुरुषोत्तमके लक्षण बतलाते हुए जो यह वर्णन है, कि वह क्षर और अक्षरसे परेका है, उससे प्रकट है, कि वहाँका 'अक्षर' शब्द सांख्योंकी प्रकृतिके लिये उद्दिष्ट है (गीता १५. १६–१८)। ध्यान रहे, कि 'अव्यक्त' और 'अक्षर' इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग गीतामें कभी सांख्योंकी प्रकृतिके लिये, और कभी इस प्रकृतिसे परेके परब्रह्मके लिये किया गया है (गीतार. प्र. ९, पृ. २०२–२०३)। व्यक्त और अव्यक्तसे परे जो परब्रह्म है, उसका स्वरूप गीतारहस्यके नवें प्रकरणमें स्पष्ट कर दिया गया है। जिस स्थानमें पहुँच जानेसे मनुष्य पुनर्जन्मकी चपेटसे छूट जाता है, उस 'अक्षर-ब्रह्म'का वर्णन हो चुका, अब मरनेपर जिन्हें लौटना नहीं पड़ता (अनावृत्ति), और जिन्हें स्वर्गसे लौटकर फिर जन्म लेना पड़ता है (आवृत्ति), उनके बीचके समयका और गतिका भेद बतलाते हैं :–]

§§ यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥
§§ नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

(२३) हे भरतश्रेष्ठ! अब तुझे मैं वह काल बतलाता हूँ, कि जिस कालमें मरनेपर (कर्म-)योगी (इस लोकमें जन्मनेके लिये) लौट नहीं आते, और (जिस कालमें मरनेपर) लौट आते हैं। (२४) अग्नि, ज्योति, अर्थात् ज्वाला, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छः महीनोंमें मरे हुए ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्मको पाते हैं (लौटकर नहीं आते)। (२५) (अग्नि), धुआ, रात्रि, कृष्णपक्ष (और) दक्षिणायनके छः महीनोंमें मरा हुआ (कर्म-)योगी चंद्रके तेजमे अर्थात् चंद्रलोकमें जा कर (पुण्यांश घटनेपर) लौट आता है। (२६) इस प्रकार जगतकी शुक्ल और कृष्ण अर्थात् प्रकाशमय और अंधकारमय, ये दो शाश्वत गतियाँ याने स्थिर मार्ग माने जाते हैं। एक मार्गसे जानेपर लौटना नहीं पड़ता, और दूसरेसे फिर लौटना पड़ता है।

[उपनिषदोंमें इन दोनों गतियोंको देवयान (शुक्ल) और पितृयाण (कृष्ण), अथवा अर्चिरादि मार्ग और धूम्र-आदि मार्ग कहा है, तथा ऋग्वेदमेंभी इन मार्गोंका उल्लेख है। मरे हुए मनुष्यकी देहको अग्निमें जला देनेपर अर्थात् अग्निसेही इन दोनों मार्गोंका आरंभ हो जाता है, अतएव पंच्चीसवें श्लोकमें 'अग्नि' पदका पहले श्लोकसे अध्याहार कर लेना चाहिये। पच्चीसवें श्लोकका हेतु यही बतलाना है, कि प्रथम श्लोकोमें वर्णित मार्गमें और दूसरे मार्गमें भेद कहाँ होता है, इसीसे 'अग्नि शब्दकी पुनरावृत्ति उसमें नहीं की गई। गीतारहस्यके दसवें प्रकरणके अंतमें (पृ. २९७–२९८) इस संबंधकी अधिक बातें हैं। उनसे उल्लिखित श्लोकका भावार्थ खुल जावेगा। अब बतलाते हैं, कि इन दोनों मार्गोंका तत्त्व जान लेनेसे क्या फल मिलता है :–]

(२७) हे पार्थ ! इन दोनों सृतियोंको अर्थात् मार्गोंको (तत्त्वतः) जाननेवाला

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ।। ८ ।।

कोईभी (कर्म-)योगी मोहमें नहीं फँसता; अतएव हे अर्जुन ! तू सदासर्वदा (कर्म-)योगयुक्त हो । (२८) इसे (उक्त तत्त्वको) जान लेनेसे वेद, यज्ञ, तप और दानमें जो पुण्यफल बतलाया है, (कर्म-)योगी उस सबको छोड़ जाता है और उसके परेके आद्यस्थानको पा लेता है ।

[जिस मनुष्यने देवयान और पितृयाण, इन दोनों मार्गोंके तत्त्वको जान लिया, अर्थात् यह ज्ञात कर लिया, कि देवयान-मार्गसे मोक्ष मिल जानेपर पुनर्जन्म नहीं मिलता और पितृयाण-मार्ग स्वर्गप्रद हो, तोभी मोक्षप्रद नहीं है, वह इनमेंसे अपने सच्चे कल्याणके मार्गकाही स्वीकार करेगा, मोहसे निम्न श्रेणीके मार्गको स्वीकार न करेगा – इसी बातको लक्ष्य कर पहले श्लोकमें "इन दोनों सृतियोंको अर्थात् मार्गोंको (तत्त्वतः) जाननेवाला" ये शब्द आये हैं। इन श्लोकोंका भावार्थ यों है :– कर्मयोगी जानता है, कि देवयान और पितृयाण, इन दोनों मार्गोंमेंसे कौन मार्ग कहाँ जाता है, इसीसे उनमेंसे जो मार्ग उत्तम है, उसेही वह स्वभावतः स्वीकार करता है, एवं स्वर्गके आवागमनसे बचकर उससे परेके मोक्षप्रदकी प्राप्ति कर लेता है। २७ वें श्लोकमें तदनुसार व्यवहार करनेका अर्जुनको उपदेशभी किया गया है ।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवाद में, अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

नवमोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥

नवाँ अध्याय

[सातवें अध्यायमें ज्ञान-विज्ञानका निरूपण यह दिखलानेके लिये किया गया है, कि कर्मयोगका आचरण करनेवाले पुरुषको परमेश्वरका पूर्ण ज्ञान होकर मनकी शांति अथवा मुक्त-अवस्था कैसे प्राप्त होती है? फिर अक्षर और अव्यक्त पुरुषका स्वरूपभी बतला दिया गया है, और पिछले अध्यायमें कहा गया है, कि अंतकाल मेंभी उस स्वरूपको मनमें स्थिर रखनेके लिये पातंजलयोगसे समाधि लगाकर, अंतमें ॐकारकी उपासना की जावे। परंतु पहले तो अक्षर-ब्रह्मका ज्ञान होनाही कठिन है, और फिर उसमेंभी समाधिकी आवश्यकता होनेसे साधारण लोगोंको तो यह मार्ग छोड़ही देना पड़ेगा। इस कठिनाईपर ध्यान देकर अब भगवान् ऐसा राजमार्ग बतलाते हैं, कि जिससे सब लोगोंको परमेश्वरका ज्ञान सुलभ हो जावे। इसीको भक्तिमार्ग कहते हैं,और गीतारहस्यके तेहरवें प्रकरणमें हमने उसका विस्तारसहित विवेचन किया है। इस मार्गमें परमेश्वरका स्वरूप प्रेमगम्य और व्यक्त अर्थात् प्रत्यक्ष जाननेयोग्य रहता है; और उसी व्यक्त स्वरूपका विस्तृत निरूपण नवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें अध्यायोंमें किया गया है। तथापि स्मरण रहे, कि यह भक्ति-मार्गभी स्वतंत्र नहीं है, कर्मयोगकी सिद्धिके लिये सातवें अध्यायमें जिस ज्ञान-विज्ञानका आरंभ किया गया है, उसीका यह भाग है; और इस अध्यायका आरंभभी पिछले ज्ञान-विज्ञानके अंगकी दृष्टिसेही किया गया है।]

श्रीभगवानने कहा :– (१) अब तू दोषदर्शी नहीं है, इसलिये गुह्यसेभी गुह्य विज्ञानसहित ज्ञान तुझे बतलाता हूँ, जिसके जान लेनेसे पापसे मुक्त होगा। (२) यह (ज्ञान) समस्त गुह्योंमें राजा अर्थात् श्रेष्ठ, राजविद्या अर्थात् सब विद्याओंमें श्रेष्ठ, पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष बोध देनेवाला, आचरण करनेमें सुखकारक, अव्यक्त और धर्म्य है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

§§ मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

(३) हे परन्तप ! इस धर्मपर श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझे नहीं पाते वे मृत्यु-युक्त संसारके मार्गमें लौट आते हैं; (अर्थात् उन्हें मोक्ष नहीं मिलता)।

| [गीतारहस्यके तेरहवें प्रकरणमें (पृ. ४१३ ते ४१९) दूसरे श्लोकके 'राजविद्या', 'राजगुह्य', और 'प्रत्यक्षावगम' पदोंके अर्थोंका विचार किया गया है। ईश्वर-प्राप्तिके साधनोंको उपनिषदोंमें 'विद्याएँ' कहा है और ये विद्या गुप्त रखी जाती थीं। कहा है, कि भक्ति-मार्ग अथवा व्यक्तकी उपासनारूपी विद्या इन सब गुह्य विद्याओंमें श्रेष्ठ अथवा राजा है, इसके अतिरिक्त यह धर्म आँखोंसे प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाला और इसीसे आचरण करनेमें सुलभ है। तथापि इक्ष्वाकु प्रभृति राजाओंकी परंपरासेही इस योगका प्रचार हुआ है (गीता ४. २), इसलिये इस मार्गको राजाओं अर्थात् बडे आदमियोंकी विद्या – राजविद्या – कह सकेंगे। कोईभी अर्थ क्यों न लें, प्रकट है कि अक्षर या अव्यक्त ब्रह्मके ज्ञानको लक्ष्य करके यह वर्णन नहीं किया गया है, किंतु राजविद्या शब्दसे यहाँपर भक्ति-मार्गही विवक्षित है। इस प्रकार आरंभमेंही इस मार्गकी प्रशंसाकर भगवान् अब विस्तारसे उसका वर्णन करते हैं :–]

(४) मैंने अपने अव्यक्त स्वरूपसे इस समग्र जगतको फैलाया अथवा व्याप्त किया है। मुझमें सब भूत हैं, (परंतु) मैं उनमें नहीं हूँ। (५) और मुझमें सब भूतभी नहीं है ! देखो, (यह कैसी) मेरी ईश्वरी करनी या योगसामर्थ्य है ! भूतोंको उत्पन्न करनेवाला मेरा आत्मा; भूतोंका धारण करकेभी (फिर) भूतोंमें नहीं है ! (६) सर्वत्र बहनेवाला महान् वायु जिस प्रकार सर्वदा आकाशमें रहता है उसी प्रकार सब भूतोंको मुझमें समझ।

| [यह विरोधाभास इसलिये होता है, कि परमेश्वर निर्गुण है और सगुणभी है (सातवें अध्यायके १२ वें श्लोककी टिप्पणी, और गीतारहस्य प्र. ९, पृ. २०६, २०९, २१० देखो)। इस प्रकार अपने स्वरूपका आश्चर्यकारक वर्णन

§ § सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् । ॥ ७ ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

| करके अर्जुनकी जिज्ञासाको जागृतकर चुकनेपर अब भगवान् फिर कुछ फेरफारसे वही वर्णन प्रसंगानुसार करते हैं, कि जो सातवें और आठवें अध्यायमें पहले किया जा चुका है – अर्थात् मुझसे व्यक्त-सृष्टि किस प्रकार होती है और मेरे व्यक्त रूप कौन-से हैं (गीता ७. ४–१८; ८. १७–२०)। 'योग' शब्दका अर्थ यद्यपि अलौकिक सामर्थ्य या युक्ति किया जाय, तथापि स्मरण रहे, कि अव्यक्तसे व्यक्त होनेके इस योग अथवा युक्तिकोही माया कहते हैं। इस विषयका प्रतिपादन गीता ७. २५ की टिप्पणीमें और रहस्यके नवें प्रकरणमें (पृ. २३८–२४१) हो चुका है। परमेश्वरको यह 'योग' अत्यंत सुलभ है, कदाचित् यह परमेश्वरका दासही है, इसलिये परमेश्वरको योगेश्वर (गीता १८. ७५) कहते हैं। अब बतलाते हैं, कि इस योगसामर्थ्यसे जगतकी उत्पत्ति और नाश कैसे हुआ करते हैं :–]

(७) हे कौन्तेय ! कल्पके अंतमें सब भूत मेरी प्रकृतिमें आ मिलते हैं, और कल्पके आरंभमें (अर्थात् ब्रह्माके दिनके आरंभमें) उनको मैंही फिर निर्माण करता हूँ। (८) मैं अपनी प्रकृतिको हाथमें लेकर, (अपने अपने कर्मोंसे बँधे हुए) भूतोंके उस समस्त समुदायको पुनः पुनः निर्माण करता हूँ, कि जो (उस) प्रकृतिके काबूमें रहनेसे अवश अर्थात् परतंत्र है। (९) (परंतु) हे धनंजय ! इस (सृष्टि-निर्माण करनेके) काममें मेरी आसक्ति नहीं है, मैं उदासीनसा रहता हूँ, इस कारण मुझे वे कर्म बंधक नहीं होते। (१०) मैं अध्यक्ष होकर प्रकृतिसे सब चराचर सृष्टि उत्पन्न करवाता हूँ। हे कौन्तेय ! इस कारण जगतका यह बनना – बिगड़ना हुआ करता है।

| [पिछले अध्यायमें बतला चुके हैं, कि ब्रह्मदेवके दिनका (कल्पका) आरंभ होतेही अव्यक्त प्रकृतिसे व्यक्त-सृष्टि बनने लगती है (गी. ८. १८)। यहाँ इसी बातका अधिक स्पष्टीकरण किया है, कि परमेश्वर प्रत्येकके कर्मानुसार

§ § अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

§ § महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

| उसे भला-बुरा जन्म देता है, अतएव वह स्वयं इन कर्मोंसे अलिप्त है। शास्त्रीय प्रतिपादनमें ये सभी तत्त्व एकही स्थानमें बतला दिये जाते; परंतु गीताकी पद्धति संवादात्मक है, इस कारण प्रसंगके अनुसार एकही विषय, थोड़ा-सा यहाँ और थोड़ा-सा वहाँ, इस प्रकार वर्णित है। कुछ लोगोंकी दलील है, कि दसवें श्लोकके 'जगद्विपरिवर्तते' पद विवर्तवादको सूचित करते हैं। परंतु "जगतका बननाबिगड़ना हुआ करता है" अर्थात् "व्यक्तका अव्यक्त और फिर अव्यक्तका व्यक्त होता रहता है," हम नहीं समझते, कि इसकी अपेक्षा 'विपरिवर्तते' पदका कुछ अधिक अर्थ हो सकता है, और शांकरभाष्यमेंभी कोई विशेष अर्थ नहीं बतलाया गया है। गीतारहस्यके दसवें प्रकरणमें विवेचन किया गया है, कि मनुष्य कर्मसे अवश कैसे होता है :-]

(११) मूढ लोग मेरे उस परम स्वरूपको नहीं जानते, कि जो सब भूतोंका महान् ईश्वर है। मनुष्यकी देह धारण करनेसे (वे मुझे) मानव-तनुधारी समझ कर, मेरी अवहेलना करते हैं। (१२) उनकी आशाएँ व्यर्थ, कर्म फिजूल, ज्ञान निरर्थक और चित्त भ्रष्ट हैं और वे मोहात्मक राक्षसी तथा आसुरी स्वभावका आश्रय किये रहते हैं।

[यह आसुरी पुरुषका वर्णन है। अब दैवी स्वभावका वर्णन करते हैं :-]

(१३) परंतु हे पार्थ ! दैवी प्रकृतिका आश्रय करनेवाले महात्मा लोग सब भतोंके अव्यय आदिस्थान मुझको पहचान कर अनन्यभावसे मेरा भजन करते हैं; (१४) और यत्नशील, दृढ़व्रत एवं नित्य योगयुक्त होकर सदा मेरा कीर्तनकर और वंदना करते हुए भक्तिसे मेरी उपासना किया करते हैं। (१५) ऐसेही और

§§ अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ॥
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

कुछ लोग एकत्वसे अर्थात् अभेदभावसे, पृथक्त्वसे अर्थात् भेदभावसे, या अनेक भाँतिके ज्ञानयज्ञसे यजनकर सर्वतोमुख मेरी उपासना किया करते हैं।

[संसारमें पाये जानेवाले दैवी और राक्षसी स्वभावोंके पुरुषोंका यहाँ जो संक्षिप्त वर्णन है, उसका विस्तार आगे सोलहवें अध्यायमें किया गया है। पहले बतलाही चुके हैं, कि ज्ञान-यज्ञका अर्थ "परमेश्वरके स्वरूपका ज्ञानसेही आकलन करके, उसके द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेना है" (गीता ४. ३३ की टिप्पणी देखो)। किंतु परमेश्वरका यह ज्ञानभी द्वैत-अद्वैत आदि भेदोंसे अनेक प्रकारका हो सकता है, इस कारण ज्ञानयज्ञभी भिन्न भिन्न प्रकारोंसे हो सकते हैं इस प्रकार यद्यपि ज्ञानयज्ञ अनेक हों, तोभी पंद्रहवें श्लोकका तात्पर्य यह है, कि परमेश्वरके विश्वतोमुख होनेके कारण ये सब यज्ञ उसे ही पहुँचते हैं। 'एकत्वसे', 'पृथक्त्व' आदि पदोंसे प्रकट है, कि द्वैत-अद्वैतसे, विशिष्टाद्वैत आदि संप्रदाय यद्यपि अर्वाचीन हैं, तथापि ये कल्पनाएँ प्राचीन हैं। इस श्लोकमें परमेश्वरका जो एकत्व और पृथक्त्व बतलाया गया है, उसीका अब अधिक निरूपण कर बतलाते हैं, कि पृथक्त्वमें एकत्व क्या है :-]

(१६) क्रतु अर्थात् श्रौतयज्ञ मैं हूँ, यज्ञ अर्थात् स्मार्तयज्ञ मैं हूँ, स्वधा अर्थात् श्राद्धमें पितरोंको अर्पण किया हुआ अन्न मैं हूँ, औषध अर्थात् वनस्पतिसे (यज्ञके अर्थ) उत्पन्न हुआ अन्न मैं हूँ, (यज्ञमें हवन करतेसमय पढ़े जानेवाले) मंत्र मैं हूँ, घृत, मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और (अग्निमें छोड़ी हुई) आहुति मैंही हूँ।

[मूलमें क्रतु और यज्ञ, दोनों शब्द समानार्थकही हैं। परंतु जिस प्रकार 'यज्ञ' शब्दका अर्थ आगे व्यापक हो गया और देवपूजा, वैश्वदेव, अतिथि-सत्कार, प्राणायाम एवं जप इत्यादि कर्मोंकोभी 'यज्ञ'ही कहने लगे (गीता ४. २३-३०), उस प्रकार 'क्रतु' शब्दका अर्थ बढ़ने नहीं पाया। श्रौत-धर्ममें अश्वमेध आदि जिन यज्ञोंके लिये यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका वही अर्थ आगेभी स्थिर रहा है। अतएव शांकरभाष्यमें कहा है, कि इस स्थलपर 'क्रतु' शब्दसे 'श्रौत', यज्ञ और 'यज्ञ' शब्दसे 'स्मार्त' यज्ञ समझना चाहिये; और ऊपर हमने यही अर्थ किया है। क्योंकि ऐसा भेद न करें, तो 'क्रतु' और 'यज्ञ' शब्द समानार्थक होकर इस श्लोकमें उनकी अकारण द्विरुक्ति करनेका दोष लगता है।]

(१७) इस जगतका पिता, माता, धाता, '(आधार), पितामह (बाबा) मैं हूँ, जो

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

कुछ पवित्र या जो कुछ ज्ञेय है, वह और ॐकार, ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेदभी मैं हूँ, (१८) (सबकी) गति, (सबका) पोषक, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सखा, उत्पत्ति, प्रलय, स्थिति, निधान और अव्यय बीजभी मैं हूँ। (१९) हे अर्जुन ! मैं उष्णता देता हूँ, मैं पानीको रोकता और बरसाता हूँ; अमृत और मृत्यु, (ऐसेही) सत् और असत्भी मैं हूँ।

[परमेश्वरके स्वरूपका ऐसाही वर्णन फिर विस्तारसहित १०, ११ और १२, अध्यायोंमें है। तथापि वहाँ केवल विभूति न बतलाकर यह विशेषता दिखलाई है, कि परमेश्वरका और जगतके भूतोंका संबंध माँ-बाप, मित्र इत्यादिके समान है, इन दो स्थानोंके वर्णनोंमें यही भेद है। ध्यान रहे, कि पानीको बरसाने और रोकनेमेंसे एक क्रिया चाहे हमारी दृष्टिसे फायदेकी और नुकसानकी हो, तथापि तात्त्विक दृष्टिसे दोनोंको परमेश्वरही करता है। इसी अभिप्रायको मनमें रखकर भगवानने पहले (गीता ७. १२) कहा है, कि सात्त्विक, राजस और तामस, ये सब पदार्थ मैंही उत्पन्न करता हूँ; और आगे चौदहवें अध्यायमें इस बातका विस्तारसहित वर्णन किया है, कि गुणत्रय-विभागसे सृष्टिमें नानात्व कैसे उत्पन्न होता है। इस दृष्टिसे देखनेपर कैसे १९ वें श्लोकके सत् और असत् पदोंका क्रमसे 'भला' और 'बुरा' कैसे अर्थ किया जा सकेगा; और आगे गीतामें (गीता १७. २६–२८) एक बार ऐसा अर्थ कियाभी गया है परंतु जान पड़ता है, कि इन शब्दोंके, सत् = अविनाशी और असत् = विनाशी या नाशवान्, ये जो सामान्य अर्थ हैं, (गीता २. १६), वेही इस स्थानमें अभीष्ट होंगे; और 'मृत्यु और अमृत' के समान 'सत् और असत्' ये द्वंद्वात्मक शब्द ऋग्वेदके नासदीय सूक्तसे सूझ पड़े होंगे। तथापि दोनोंमें यह भेद है, कि नासदीय सूक्तमें 'सत्' शब्दका उपयोग दृश्यसृष्टिके लिये किया गया है और गीता 'सत्' शब्दका उपयोग परब्रह्मके लिये करती है, एवं दृश्य-सृष्टिको असत् कहती है (गीतार. प्र. ९, पृ. २४५–२४७)। किंतु इस प्रकार परिभाषाका यदि भेद हो, तोभी 'सत्' और 'असत्' इन दोनों शब्दोंकी एक साथ योजनासे प्रकट हो जाता है, कि उनमें दृश्य-सृष्टि और परब्रह्म इन दोनोंकाभी एकत्र समावेश होता है। अतः उक्त वर्णनसे यह भावार्थभी निकाला जा सकेगा, कि पारिभाषाके भेद किसीकोभी 'सत्' और 'असत्' कहा जाय;

§ § त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

| किंतु यह दिखलानेके लिये, कि दोनों परमेश्वरकेही रूप हैं, भगवानने 'सत्' और 'असत्' शब्दोंकी व्याख्या न देकर सिर्फ़ यह वर्णन कर दिया है, कि 'सत्' और 'असत्' मैंही हूँ (गीता ११. ३७; १३. १२)। इस प्रकार यद्यपि परमेश्वरके रूप अनेक हों, तथापि अब बतलाते हैं, कि उनकी एकत्वसे उपासना करने और अनेकत्वसे उपासना करनेमें क्या भेद है :–]

(२०) जो त्रैविद्य अर्थात् ऋक्, यजु और साम इन तीन वेदोंके कर्म करनेवाले, सोम पीनेवाले अर्थात् सोमयाजी, तथा निष्पाप (पुरुष) यज्ञसे मेरी पूजा करके स्वर्गलोक-प्राप्तिकी इच्छा करते हैं, वे इंद्रके पुण्यलोकमें पहुँचकर स्वर्गमें देवताओंके अनेक दिव्य भोग भोगते हैं। (२१) और उस विशाल स्वर्गलोकका उपभोग करके पुण्यका क्षय हो जानेपर, वे (फिर जन्म लेकर) मृत्युलोकमें आते हैं। इस प्रकार त्रयी-धर्म अर्थात् तीनों वेदोंके यज्ञयाग आदि श्रौत-धर्मके पालनेवाले और काम्य उपभोगकी इच्छा करनेवाले लोगोंको (स्वर्गका) आवागमन प्राप्त होता है।

| [यह सिद्धान्त पहले कई बार आ चुका है, कि यज्ञयाग आदि धर्मसे या नाना प्रकारके देवताओंकी आराधनासे कुछ समयतक स्वर्गवास मिल जाय, तोभी पुण्यांश चूक जानेपर फिर जन्म लेकरके भूलोकमें आना पड़ता है (गीता २. ४२–४४; ४. ३४; ६. ४१; ७. २३; ८. १६, २५)। परंतु मोक्षमें वह झंझट नहीं है; वह नित्य है, अर्थात् एक बार परमेश्वरको पा लेनेपर फिर जन्म-मरणके चक्करमें नहीं आना पडता। महाभारतमें (वन. २६०) स्वर्ग-सुखका जो वर्णन है, वहभी ऐसाही है। परंतु यज्ञयाग आदिसेही पर्जन्य प्रभृतिकी उत्पत्ति होती है, अतएव शंका होती है, कि उनको छोड़ देनेसे इस जगतका योगक्षेम अर्थात् निर्वाह कैसे होगा? (गीता २. ४५ की टिप्पणी; गीतार. प्र. १०, पृ. २९४) इसलिये अब ऊपरके श्लोकोंसे मिला करही उसका उत्तर देते हैं :-]

(२२) जो अनन्यनिष्ठ लोग मेरा चिंतनकर मुझे भजते हैं, उन नित्य योगयुक्त पुरुषोंका योगक्षेम मैं किया करता हूँ।

§ § येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

[न मिली हुई वस्तुका मिलना योग है, और मिली हुई वस्तुकी रक्षा करना क्षेम है; शाश्वतकोशमेंभी (श्लोक १००, २९२) योगक्षेमकी ऐसीही व्याख्या है, और उसका पूरा अर्थ 'सांसारिक नित्य निर्वाह' है। गीतारहस्यके बारहवें प्रकरणमें (पृ. ३८४–३८५) इसका विचार किया गया है, कि कर्मयोग-मार्गमें इस श्लोकका क्या अर्थ होता है, इसी प्रकार नारायणीय धर्ममेंभी (मभा. शां. ३४८. ७२) कहा है, कि :–

मनीषिणो हि ये केचित् यतयो मोक्षधर्मिणः ।
तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः ॥

वहाँ यह वर्णन है, कि ये पुरुष एकान्तभक्त हों, तोभी प्रवृत्ति-मार्गके हैं, अर्थात् निष्काम बुद्धिसे कर्म करनेवाले हैं। अब बतलाते हैं, कि परमेश्वरकी बहुत्वसे सेवा करनेवालोंकी अंतमें कौन गति होती है :–]

(२३) हे कौन्तेय ! श्रद्धायुक्त होकर अन्य देवताओंके भक्त बन करके जो लोग यजन करते हैं, वेभी विधिपूर्वक न हों, तोभी (पर्यायसे) मेराही यजन करते हैं; (२४) क्योंकि सब यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी मैंही हूँ। किंतु वे तत्त्वतः मुझे नहीं जानते इसलिये वे गिर जाया करते हैं।

[गीतारहस्यके तेरहवें प्रकरणमें (पृ. ४२२–४२६) यह विवेचन है, कि इन दोनों श्लोकोंके सिद्धान्तका महत्त्व क्या है। वैदिक धर्ममें यह तत्त्व बहुत पुराने समयसे चला आ रहा है, कि कोईभी देवता हो, वह भगवानकाही एक स्वरूप है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेदमेंही कहा है, कि "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"। (ऋ. १. १६४. ४६) – परमेश्वर एक है, परंतु पंडित लोग उसको अग्नि, यम, मातरिश्वा (वायु) कहा करते हैं; और इसके अनुसारही आगेके अध्यायमें परमेश्वरके एक होनेपरभी उसकीही अनेक विभूतियोंका वर्णन किया गया है। इसी प्रकार महाभारतके अंतर्गत नारायणीयोपाख्यानमें चार प्रकारके भक्तोंमें कर्म करनेवाले एकांतिक भक्तको श्रेष्ठ (गीता ७. १९ की टिप्पणी) बतलाकर कहा है :–

ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः ।
प्रबुद्धचर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत्परम् ॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

"ब्रह्माको, शिवको, अथवा अन्य देवताओंको भजनेवाले साधु पुरुषभी मुझमंही आ मिलते हैं" (मभा. शां. ३४१. ३५); और गीताके उक्त श्लोकोंका अनुवाद भागवतपुराणमेंभी किया गया है (भाग. १०, पू. ४०. ८–१०)। इसी प्रकार नारायणीयोपाख्यानमें आगे फिर कहा है :–

ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूंश्चैवातिथींस्तथा।
गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं तथा ॥
कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते।

"देव, पितर, गुरु, अतिथि, ब्राह्मण और गौ प्रभृतिकी सेवा करनेवाले पर्यायसे विष्णुकाही यजन करते हैं" (मभा. शां. ३४५. २६, २७)। इस प्रकार भागवत धर्मके स्पष्ट कहनेपरभी, कि भक्तिको मुख्य मानो। देवतारूप प्रतीक गौण है, अथवा यद्यपि विधिभेद हो, तथापि उपासना तो एकही परमेश्वरकी होती है; यह बड़े आश्चर्यकी बात है, कि भागवत धर्मवालेभी शैवोंसे झगड़ा किया करें! अब बतलाते हैं, कि यद्यपि यह सिद्धान्त सत्य है, कि किसीभी देवताकी उपासना क्यों न करें, पर वह पहुँचती है, भगवानकोही; तथापि यह ज्ञान न होनेसे, कि सभी देवता एकही हैं, मोक्षकी राह छूट जाती है, और भिन्न भिन्न देवताओंके उपासकोंको उनकी भावनाके अनुसार भगवानही भिन्न भिन्न फल देते हैं :–]

(२५) देवताओंका व्रत करनेवाले देवताओंके पास, पितरोंका व्रत करनेवाले पितरोंके पास, (भिन्न-भिन्न) भूतोंको पूजनेवाले (उन) भूतोंके पास जाते हैं, और मेरा यजन करनेवाले मेरे पास आते हैं।

[सारांश, यद्यपि एकही परमेश्वर सर्वत्र समाया हुआ है, तथापि उपासनाका फल प्रत्येकके भावके अनुरूप न्यूनाधिक योग्यताका मिला करता है। फिरभी इस पूर्व-कथनको भूल न जाना चाहिये, कि फल-दानका कार्यभी देवता नहीं करते, परमेश्वरही करता है, (गीता ७. २०–२३)। ऊपर २४ वें श्लोकमें भगवानने यह कहा है, कि "सब यज्ञोंका भोक्ता मैंही हूँ", उसका तात्पर्य यही है। महाभारतमेंभी कहा है :–

यस्मिन् यस्मिंश्च विषये योयो याति विनिश्चयम्।
स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम ॥

"जो पुरुष जिस भावमें निश्चय रखता है, वह उस भावके अनुरूपही फल पाता है" (शां. ३५२. ३); और यह श्रुतिभी है "यं यथा यथोपासते तदेव

§ § पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

§ § यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

भवति " (गीता ८. ६ की टिप्पणी देखो) नानात्वसे अर्थात् अनेक देवताओंकी उपासना करनेवालोंको जो फल मिलता है, उसे पहले चरणमें बतलाकर दूसरे चरणमें यह अर्थ वर्णन किया है, कि अनन्यभावसे भगवानकी भक्ति करनेवालों-कोही सच्ची भगवत्प्राप्ति होती है। अब भक्ति-मार्गका यह महत्त्वका तत्त्व बतलाते हैं, कि भगवान् इस ओर न देखकर कि मेरा भक्त, मुझे क्या समर्पण करता है ? केवल उसके भावकीही ओर दृष्टि दे करके उसकी भक्ति स्वीकार करते हैं :–]

(२६) जो मुझे भक्तिसे एक-आध पत्र, पुष्प, फल अथवा (यथाशक्ति) थोड़ासा जलभी अर्पण करता है, उस प्रयतात्म अर्थात् नियतचित्त पुरुषकी भक्तिकी उस भेंटको मैं (आनंदसे) ग्रहण करता हूँ।

[कर्मकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है (गीता २. ४९) – कर्मयोगके इस तत्त्व केही भक्ति-मार्गके रूपांतरका वर्णन उक्त श्लोकमें है (गीतार. प्र. १५, पृ. ४७५–४७७)। इस विषयमें सुदामाके तंदुलोंकी कथा प्रसिद्ध है, और यह श्लोक भागवत-पुराणके सुदामा-चरित्रके उपाख्यानमेंही आया है (भाग. १० उ. ८१. ४)। इसमें संदेह नहीं, कि पूजाके द्रव्य अथवा समग्रीका न्यूनाधिक होना सर्वथा और सर्वदा मनुष्यके बसकी बात नहीं होती। इसीसे शास्त्रमें कहा है, कि यथाशक्ति प्राप्त होनेवाले स्वल्प पूजा-द्रव्यसेही नहीं, प्रत्युत शुद्ध भावसे समर्पण किये गये मानसिक पूजा-द्रव्योंसेभी भगवान् संतुष्ट हो जाते हैं। देवता है भावका भूखा; न कि पूजाकी सामग्रीका। मीमांसक-मार्गकी अपेक्षा भक्ति-मार्गमें जो कुछ विशेषता है, वह यही है। यज्ञयाग करनेके लिये बहुत-सी सामग्री जुटानी पड़ती है और उद्योगभी बहुत करना पड़ता है; परंतु भक्ति-यज्ञ एक तुलसीदलसेभी हो जाता है। महाभारतमें कथा है, कि जब दुर्वासी ऋषि घरपर आये, तब द्रौपदीने इसी प्रकारके यज्ञसे भगवानको संतुष्ट किया था। भगवद्भक्त जिस प्रकार अपने कर्म करता है, अर्जुनको उसी प्रकार करनेका उपदेश देकर अब बतलाते हैं, कि उससे क्या फल मिलता है :–]

(२७) हे कौंतेय ! तू जो (कुछ) करता है, जो खाता है, जो होम-हवन करता है, जो दान करता है, (और) जो तप करता है, वह (सब) मुझे अर्पण किया

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥
§ § समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

कर। (२८) इस प्रकार वर्तनेसे (कर्म करकेभी) कर्मोंके शुभ-अशुभ फलरूप बंधनोंसे तू मुक्त रहेगा, और (कर्मफलोंके) संन्यास करनेके इस योगसे युक्तात्मा अर्थात् शुद्ध अंतःकरण हो कर मुक्त हो जायगा, एवं मुझमें मिल जायगा।

[इससे प्रकट होता है, कि भगवद्भक्तभी कृष्णार्पण-बुद्धिसे समस्त कर्म करे, उन्हें छोड़ न दे; और इस दृष्टिसे ये दोनों श्लोक महत्त्वके हैं। "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः"(गीता ४. २४) यह ज्ञान-यज्ञका तत्त्वही अब भक्तिकी परिभाषाके अनुसार २७ वें श्लोकमें बतलाया है (गीतार. प्र. १३, पृ. ४३२, ४३३)। तीसरेही अध्यायमें अर्जुनसे कह दिया है, कि "मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यास" (गीता ३. ३०) – मुझमें सब कर्मोंका संन्यास करके – युद्ध कर; और पाँचवें अध्यायमें फिर कहा है, कि "ब्रह्ममें कर्मोंको अर्पण करके संगरहित कर्म करनेवालेको कर्मका लेप नहीं लगता" (५. १०)। गीताके मतानुसार यही यथार्थ संन्यास है (गीता १८. २), और इस प्रकार अर्थात् कर्मफलाशा छोड़कर (संन्यस्य) सब कर्मोंको करनेवाला पुरुषही 'नित्यसंन्यासी' है (गीता ५. ३); कर्मत्यागरूप संन्यास गीताको समत नहीं है। पीछे अनेक स्थलों-पर कह चुके हैं, कि इस रीतिसे किये हुए कर्म मोक्षके लिये प्रतिबंधक नहीं होते (गीता २. ६४; ३. १९; ४. २३; ५. १२; ६. १; ८. ७), और इस २८ वें श्लोकमें उसी बातको फिर कहा है। भागवत-पुराणमेंही नृसिंहरूपी भगवानने प्रल्हादको यह उपदेश किया है कि "मय्यावेश्य मनस्तात कुरु कर्माणि मत्परः"– मुझमें चित्त लगाकर सब काम किया कर (भाग. ७. १०. २३); और आगे एकादश स्कन्धमें भक्तियोगका यह तत्त्व बतलाया है, कि भगवद्भक्त सब कर्मोंको नारायणार्पण कर दे (भाग. ११. २. २६; ११. ११. २४)। इस अध्यायके आरंभमें वर्णन किया है, कि भक्तिका मार्ग सुखकारक और सुलभ है। अब उसके समत्वरूपी दूसरे बड़े और विशेष गुणका वर्णन करते हैं :–]

(२९) मैं सब भूतोंको एक-सा हूँ। न मुझे (कोई) द्वेष्य अर्थात् अप्रिय है, और न (कोई) प्यारा। भक्तिसे जो मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं, और मैंभी उनमें हूँ। (३०) बड़ा दुराचारीही क्यों न हो, यदि वह मुझे अनन्यभावसे भजता है,

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

तो उसे साधुही समझना चाहिये । क्योंकि उसकी वुद्धिका निश्चय अच्छी तरह हुआ है। (३१) वह जल्दी धर्मात्मा हो जाता है और नित्य शांति पाता है। हे कौंतेय ! तू भली भाँति समझे रह, कि मेरा भक्त (कभीभी) नष्ट नहीं होता ।

[तीसवें श्लोकका भावार्थ ऐसा न समझना चाहिये, कि भगवद्भक्त यदि दुराचारी हों, तोभी वे भगवानको प्यारेही रहते हैं । भगवान् इतनाही कहते हैं, कि पहले कोई मनुष्य दुराचारीभी रहा हो, परंतु जब एक बार उसकी वुद्धि निश्चयसे परमेश्वराभिमुखका भजन करनेमें हो जाती है, तब आगे उसके हाथसे कोईभी दुष्कर्म नहीं हो सकता; और फिर वह धीरे धीरे धर्मात्मा हो कर सिद्धि पाता है, तथा अंतमें इस सिद्धिसे उसके पापका बिलकुल नाश हो जाता है। सारांश, छठे अध्यायमें (६. ४४) जो यह सिद्धान्त किया है, कि कर्मयोगके जाननेकी सिर्फ़ इच्छा होनेसेही कोल्हूमें अवश होकर मनुष्य शव्द-ब्रह्मसे परे चला जाता है, अब उसेही भक्ति-मार्गके लिये लागू कर दिखलाया है। अब इस वातकोही अधिक स्पष्ट करते हैं, कि परमेश्वर सब भूतोंको एक-सा कैसे है :–]

(३२) क्योंकि, हे पार्थ ! मेरा आश्रय करके स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र, (अथवा) अन्त्यज आदि जो पापयोनि हों, वेभी परम गति पाते हैं। (३३) फिर पुण्यवान् ब्राह्मणोंकी, मेरे भक्तोंकी, और राजर्षियों, (क्षत्रियों)की वात क्या कहनी है ? तू इस अनित्य और असुख अर्थात् दुःखकारक मृत्युलोकमें है, इस कारण मेरा भजन कर।

[३२ वें श्लोकके 'पापयोनि' शब्दको स्वतंत्र न मानकर कुछ टीकाकार कहते हैं, कि वह स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रोंकोभी लागू है, क्योंकि पहले कुछ-न-कुछ पाप किये बिना कोईभी स्त्री, वैश्य या शूद्रका जन्म नहीं पाता। उनके मतमें पापयोनि शब्द साधारण है और ये स्त्री, वैश्य तथा शूद्र उसके भेद उदाहरणार्थ दिये गये हैं। परंतु हमारी रायमें यह अर्थ ठीक नहीं है। आजकल राजदरवारमें जिन्हें 'गुन्हेगार जाति' कहते हैं, पापयोनि शब्दसे उस प्रकारका अर्थ विवक्षित है : इस लोकका सिद्धान्त यह है, कि उस जातिके लोगोंकोभी भगवद्भक्तिसे

§§ **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।**
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमत्भगवत्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

सिद्धि मिलती है। स्त्री, वैश्य और शूद्र इस वर्गके नहीं है, उन्हें मोक्ष मिलनेमें इतनीही बाधा है, कि वे वेद सुननेके अधिकारी नहीं हैं। इसीसे भागवत-पुराणमें कहा है, कि :–

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥

"स्त्रियों, शूद्रों अथवा कलियुगके नामधारी ब्राह्मणोंके कानोंमें वेद नहीं पहुँचते, इस कारण उन्हें मूर्खतासे बचनेके लिये व्यासमुनिने कृपालु होकर उनके कल्याणार्थही महाभारतकी – अर्थात् गीताकीभी – रचना की" (भाग. १.४. २५)। भगवद्गीताके उक्त श्लोक कुछ पाठभेदसे अनुगीतामेंभी पाये जाते हैं (मभा. अश्व. १९. ६१, ६२)। जातिका, वर्णका, स्त्री-पुरुष आदिका अथवा काले-गोरे रंग प्रभृतिका कोईभी भेद न रखकर सबको एकही सद्गति देनेवाले भगवद्भक्तिके इस राजमार्गका ठीक ठीक बड़प्पन इस देशकी – और विशेषतः महाराष्ट्की – संतमंडलीके इतिहाससे किसीकोभी ज्ञात हो सकेगा। उल्लिखित श्लोकका अधिक स्पष्टीकरण गीतारहस्यके प्र. १३, पृ. ४३८–४४२ में किया है। इस प्रकारके धर्मका आचरण करनेके विषयमें ३३ वें श्लोकके उत्तरार्धमें अर्जुनको जो उपदेश किया गया है, अगले श्लोकमेंभी वही प्रचलित है।]

(३४) मुझमें मन लगाकर, मेरा भक्त हो, मेरा यजन-पूजन कर और मुझे नमस्कार कर, इस प्रकार मत्परायण होकर, योगका अभ्यास करनेसे मुझेही पावेगा।

[वास्तवमें इस उपदेशका आरंभ ३३ वें श्लोकमेंही हो गया है। ३३ वें श्लोकमें 'अनित्य' पद अध्यात्मशास्त्रके इस सिद्धान्तके अनुसार आया है, कि प्रकृतिका फैलाव अथवा नामरूपात्मक दृश्य-सृष्टि अनित्य है और एक परमात्माही नित्य है; और 'असुख' पदसे इस सिद्धान्तका अनुवाद किया गया है, कि इस संसारमें सुखकी अपेक्षा दुःख अधिक है। तथापि यह वर्णन अध्यात्मका नहीं है, भक्ति-मार्गका है। अतएव भगवानने परब्रह्म अथवा परमात्मा शब्दका प्रयोग न करके "मुझे भज, मुझमें मन लगा, मुझे नमस्कार कर", ऐसे व्यक्त-स्वरूपके दर्शनेवाले प्रथम पुरुषका निर्देश किया है। भगवानका अंतिम कथन है,

| कि हे अर्जुन ! इस प्रकार भक्ति करके मत्परायण होता हुआ योग अर्थात् कर्म-
| योगका अभ्यास करता रहेगा, (गीता ७. १) तो तू कर्मबंधनसे मुक्त हो करके
| निःसंदेह मुझे पा लेगा। इसी उपदेशकी पुनरावृत्ति ग्यारहवें अध्यायके अंतमें की
| गई है। समस्त गीताका रहस्यभी यही है। भेद इतनाही है, कि इस रहस्यको
| एक बार अध्यात्म-दृष्टिसे और एक बार भक्ति-दृष्टिसे बतला दिया है।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग -- शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, राजविद्या-राजगुह्ययोग नामक नवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

दशमोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥
§§ बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ ४॥

दसवाँ अध्याय

[पिछले अध्यायमें कर्मयोगकी सिद्धिके लिये परमेश्वरके व्यक्त स्वरूपकी उपासनाका जो राजमार्ग बतलाया गया है, उसीका वर्णन इस अध्यायमें हो रहा है, और अर्जुनके पूछनेपर, अंतमें परमेश्वरके अनेक व्यक्त रूपों अथवा विभूतियोंका, अंतमें वर्णन किया गया है। इस वर्णनको सुनकर अर्जुनके मनमें भगवानके प्रत्यक्ष स्वरूपको देखनेकी इच्छा हुई, अतः ११ वें अध्यायमें भगवानने उसे विश्वरूप दिखलाकर कृतार्थ किया है।]

श्रीभगवानने कहा :– (१) हे महाबाहु! (मेरे भाषणसे) संतुष्ट होनेवाले तुझसे, अब तेरे हितार्थ मैं फिर (एक) अच्छी बात कहता हूँ, उसे सुन। (२) देवताओंके गण और महर्षिभी मेरी उत्पत्तिको नहीं जानते; क्योंकि देवताओं और महर्षिओंका सब प्रकारसे मैंही आदिकरण (हूँ)। (३) जो जानता है, कि मैं (पृथ्वी आदि सब) लोगोंका बड़ा ईश्वर हूँ और मेरे जन्म तथा आदि नहीं हैं, मनुष्योंमें वही मोहविरहित हो कर सब पापोंसे मुक्त होता है।

| [ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमें यह विचार पाया जाता है, कि भगवान् या
| परब्रह्म देवताओंकेभी पहलेका है, देवता पीछेसे हुए (गीतार. प्र. ९, पृ. २५६)।
| इस प्रकार प्रस्तावना हो गई। अब भगवान् इसका निरूपण करते हैं, कि मैं
| सबका महेश्वर कैसे हूँ :–]

(४) बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव (उत्पत्ति), अभाव (नाश), भय, अभय,

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

(५) अहिंसा, समता, तुष्टि (संतोष), तप, दान, यश, अयशके आदि अनेक प्रकारके प्राणिमात्रके भाव मुझसेही उत्पन्न होते हैं।

['भाव' शब्दका अर्थ है 'अवस्था', 'स्थिति' या 'वृत्ति' और सांख्य-शास्त्रमें उनका ' बुद्धिके भाव ' एवं ' शारीरिक भाव ' ऐसा भेद किया गया है। सांख्यशास्त्री पुरुषको अकर्ता और बुद्धिको प्रकृतिका एक विकार मानते हैं, इस-लिये वे कहते हैं, कि लिंग-शरीरको पशु-पक्षी आदिके भिन्न भिन्न जन्म मिलनेका कारण लिंग-शरीरमें रहनेवाली बुद्धिकी विभन्न अवस्थाएँ अथवा भावही हैं (गीतार. प्र. ८, पृ. १८९; सां. का. ४०–५५) ; और ऊपरके दो श्लोकोंमें उन्हीं भावोंका वर्णन है। परंतु वेदान्तियोंका सिद्धान्त है, कि प्रकृति और पुरुषसेभी परे परमात्मारूपी एक नित्य तत्त्व है और नासदीय सूक्तके वर्णनानुसार उसीके मनमें सृष्टि निर्माण करनेकी इच्छा उत्पन्न होकर आगेपर सारा दृश्य जगत् उत्पन्न होता है, इस कारण वेदान्तशास्त्रमेंभी कहा है, कि सृष्टिके मायात्मक सभी पदार्थ परब्रह्मके मानस भाव हैं (अगला श्लोक देखो), तप, दान और यज्ञ आदि शब्दोंसे तन्निष्ठक बुद्धिके भावही उद्दिष्ट हैं। भगवान् और कहते हैं, कि :–]

(६) सात महर्षि, पहलेके चार, और मनु, ये मेरेही मानस अर्थात् मनसे निर्माण किये हुए भाव हैं, कि जिनसे (इस) लोकमें यह प्रजा हुई है।

[यद्यपि इस श्लोकके शब्द सरल हैं, तथापि जिन पौराणिक पुरुषोंको उद्देश्य करके यह श्लोक कहा गया है, उनके संबंधमें टीकाकारोंमें बहुतही मतभेद है। विशेषतः अनेकोंने इसका निर्णय कई प्रकारसे किया है, कि 'पहलेके' (पूर्व) और 'चार' (चत्वारः) पदोंका अन्वय किन पदोंसे लगाना चाहिये। सात महर्षि प्रसिद्ध हैं, परंतु ब्रह्माके एक कल्पमें चौदह मन्वंतर (गीतार. प्र. ८, पृ. १९४) होते हैं और प्रत्येक मन्वंतरके मनु, देवता एवं सप्तर्षि भिन्न भिन्न होते हैं (हरिवंश १, ७; विष्णु. ३. १; मत्स्य. ९)। इसीसे 'पहलेके' शब्दको सात महर्षियोंका विशेषण मान कई लोगोंने ऐसा अर्थ किया है, कि आजकलके, अर्थात् वैवस्वत मन्वंतरसे पहलेके, चाक्षुष मन्वंतरवाले सप्तर्षि यहाँ विवक्षित हैं। भृगु आदि इन सप्तर्षियोंके नाम हैं – भृगु, नभ, विवस्वान्, सुधामा, विरजा, अतिनामा और सहिष्णु। किंतु हमारे मतमें यह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि, आजकलके अर्थात् वैवस्वत अथवा जिस मन्वन्तरमें गीता कही गई, उससे, पहलेके मन्वंतर-

वाले सप्तर्षि यहाँ बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है, अतः वर्तमान मन्वंतर-केही सप्तर्षि लेने चाहिये। महाभारतके शांतिपर्वके नारायणीयोपाख्यानमें इनके ये नाम हैं – मरीचि, अंगिरस, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ (मभा. शां. ३३५. २८, २९; ३४०. ६४, ६५); और हमारे मतसे येही यहाँपर विवक्षित हैं। क्योंकि गीतामें नारायणीय अथवा भागवत धर्मही विधिसहित प्रतिपाद्य है (गीतार. पृ. ८–९)। तथापि यहाँ इतना बतला देना आवश्यक है, कि मरीचि आदि सप्तर्षियोंके उक्त नाम कहीं कहीं अंगिरसके बदले भृगुसे दिये हुए पाये जाते हैं; और कुछ स्थानोंपर तो ऐसा वर्णन है, कि कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और वसिष्ठ वर्तमान युगके सप्तर्षि हैं (विष्णु. ३. १. ३२, ३३; मत्स्य ९. २७, २८; मभा. अनु. ९३. २१)। मरीचि आदि ऊपर लिखे हुए सात ऋषियोंमेंही भृगु और दक्षको मिलाकर विष्णु-पुराणमें (विष्णु. १. ७. ५, ६) नौ मानसपुत्रोंका और इन्हींमें फिर नारदकोभी जोड़ कर मनुस्मृतिमें ब्रह्मदेवके दस मानसपुत्रोंका वर्णन है (मनु. १. ३४, ३५); और इस मरीचि आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति भारतमें की गई है (म.भा. अनु. ८५)। परंतु हमें अभी इतनाही देखना है, कि सात महर्षि कौन कौन हैं, इस कारण इन नौ-दस मानसपुत्रोंका अथवा इनके नामोंकी व्युत्पत्तिका यहाँ विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। प्रकट है कि, 'पहलेके' इस पदका अर्थ 'पूर्व मन्वन्तरके सात महर्षि' लगा नहीं सकते। अब देखना है, कि 'पहलेके चार' इन शब्दोंको मनुका विशेषण मानकर कई एकोंने जो अर्थ किया है, वह कहाँ तक युक्तिसंगत है? कुल चौदह मन्वंतर हैं और इनके चौदह मनु हैं; उनमें सात-सातके दो वर्ग हैं। पहले सातोंके नाम स्वायंभुव, स्वारोचिष, औत्तमी, तामस, रैवत, चाक्षुष और वैवस्वत हैं, तथा ये स्वायंभुव आदि मनु कहे जाते हैं (मनु. १. ६२, ६३)। इनमेंसे छः मनु हो चुके और आजकल सातवाँ अर्थात् वैवस्वत मनु चल रहा है। इसके समाप्त होनेपर आगे सात मनु आवेंगे (भाग. ८. १३. ७), उनको सावर्णि मनु कहते हैं; उनके नाम हैं – सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, दैवसावर्णि और इंद्रसावर्णि (विष्णु. ३. २; भाग. ८. १३; हरिवंश १. ७)। इस प्रकार प्रत्येक मनुके सात सात होनेपर इस बातका कोई कारण नहीं बतलाया जा सकता, कि किसीभी वर्गके 'पहलेके' अर्थात् पहले 'चार'ही गीतामें क्यों विवक्षित हों? ब्रह्मांड-पुराणमें (४. १) कथा है, कि सावर्णि मनुओंमेंसे पहले मनुको छोड़कर अगले चार अर्थात् – दक्ष–, ब्रह्म–, धर्म– और रुद्रसावर्णि एकही समयमें उत्पन्न हुए; और इसी आधारसे कुछ लोग कहते हैं, कि; ये चार सावर्णि मनुही गीतामें विवक्षित हैं। किंतु इस-पर दूसरा आक्षेप यह है, कि ये सब सावर्णि मनु भविष्यमें होनेवाले हैं, इस कारण "जिनसे इस लोकमें यह प्रजा हुई" यह भूतकालदर्शक अगला वाक्य भावी

सावर्णि मनुओंको लागू नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'पहलेके चार' शब्दोंका संबंध 'मनु' पदसे जोड़ देना ठीक नहीं है। अतएव कहना पड़ता है, कि 'पहलेके चार' ये दोनों शब्द स्वतंत्र रीतिसे प्राचीन कालके किन्हीं चार ऋषियों अथवा पुरुषोंका बोध कराते हैं। और ऐसा मान लेनेसे यह प्रश्न सहजही होता है, कि ये पहलेके चार ऋषि या पुरुष कौन हैं? जिन टीकाकारोंने इस श्लोकका ऐसा अर्थ किया है, उनके मतमें सनक, सनंद, सनातन और सनत्कुमार (भाग. ३. १२. ४) येही वे चार ऋषि हैं। किंतु इस अर्थपर आक्षेप यह है, कि यद्यपि ये चारों ऋषि ब्रह्माके मानसपुत्र हैं, तथापि ये सभी जन्मसेही संन्यासी होनेके कारण प्रजावृद्धि नहीं करते थे, इससे ब्रह्मा इनपर क्रुद्ध हो गये थे (भाग. ३. १२; विष्णु. १. ७)। अर्थात् जिनसे इस लोकमें यह प्रजा हुई" – "येषां लोक इमाः प्रजाः" यह वाक्य इन चार ऋषियोंको बिलकुलही उपयुक्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त पुराणोंमें यद्यपि यह वर्णन है, कि ये ऋषि चार थे; तथापि भारतके नारायणीय अर्थात् भागवत धर्ममें कहा है, कि इन चारोंमें सन, कपिल और सनत्सुजातको मिला लेनेसे जो सात ऋषि होते हैं, वे सातों ब्रह्माके मानस-पुत्र हैं और पहलेसेही वे निवृत्ति-धर्मके थे (मभा. शां. ३४०. ६७; ६८)। इस प्रकार सनक आदि ऋषियोंको सात मान लेनेसे कोई कारण नहीं दीख पड़ता, कि उनमेंसे चारही यहाँ क्यों लिये जायँ। फिर 'पहलेके चार' हैं कौन? हमारे मतमें इस प्रश्नका उत्तर नारायणीय अथवा भावगत धर्मकी पौराणिक कथाओंसेही दिया जाना चाहिये। क्योंकि यह निर्विवाद है, कि गीतामें भागवत धर्महीका प्रतिपादन किया गया है। अब यदि यह देखें, कि भागवत धर्ममें सृष्टिकी उत्पत्तिकी कल्पना किस प्रकारकी थी, तो पता लगेगा, कि मरीचि आदि सात ऋषियोंके पहले वासुदेव (आत्मा), संकर्षण (जीव), प्रद्युम्न (मन), और अनिरुद्ध (अहंकार) ये चार मूर्तियाँ उत्पन्न हो गई थीं, और कहा है, कि आगे इनमेंसे पिछले अनिरुद्धसे अर्थात् ब्रह्मदेवसे मरीचि आदि पुत्र उत्पन्न हुए (मभा. शां. ३३९. ३४–४०, ६०–७२; ३४०. २७–३१)। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन्हीं चार मूर्तियोंको 'चतुर्व्यूह' कहते हैं और भागवत धर्मके एक पंथका मत है, कि ये चारों मूर्तियाँ स्वतंत्र थीं; तथा दूसरे कुछ लोग इनमेंसे तीन अथवा दोकोही प्रधान मानते हैं। किंतु भगवद्गीताको ये कल्पनाएँ मान्य नहीं हैं; और हमने गीतारहस्य प्र. ८, पृ. १९६ और परि. ५३९–५४० में दिखलाया हैं, कि गीता एकव्यूह-पंथकी है, अर्थात् एकही परमेश्वरसे चतुर्व्यूह आदि सब कुछकी उत्पत्ति मानती है। अतः व्यूहात्मक वासुदेव आदि मूर्तियोंको स्वतंत्र न मानकर इस श्लोकमें दर्शाया है, कि ये चारों व्यूह एकही परमेश्वर अर्थात् सर्वव्यापी वासुदेवके (गीता ७. १९) 'भाव' हैं। इस दृष्टिसे देखनेपर विदित होगा, कि भागवत धर्मके अनुसार 'पहलेके चार' इन शब्दोंका उपयोग वासुदेव

§§ एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

आदि चतुर्व्यूहके लिये किया गया है, कि जो सप्तर्षियोंके पूर्व उत्पन्न हुए थे। भारतमेंही लिखा है, कि भागवत धर्मके चतुर्व्यूह आदि भेद पहलेसेही प्रचलित थे (मभा. शां. ३४८. ५७)। यह कल्पना कुछ हमारीही नई नहीं है। सारांश, भारतान्तर्गत नारायणीयाख्यानके अनुसार हमने इस श्लोकका अर्थ यों लगाया है – 'सात महर्षि' अर्थात् मरीचि आदि; 'पहलेके चार' अर्थात् वासुदेव आदि चतुर्व्यूह; और 'मनु' अर्थात् जो उस समयसे पहले हो चुके थे और वर्तमान, सब मिला कर स्वायंभुव आदि सात मनु। अनिरुद्ध अर्थात् अहंकार आदि चार मूर्तियोंको परमेश्वरके पुत्र माननेकी कल्पना भारतके अन्य स्थानोंमेंभी पाई जाती है (मभा. शां. ३११. ७, ८)। परमेश्वरके भावोंका वर्णन हो चुका; अब बतलाते हैं, कि इन्हें जानकर उपासना करनेसे क्या फल मिलता है :–]

(७) जो मेरी इस विभूति अर्थात् विस्तारके, और योग अर्थात् इस विस्तार करनेकी युक्ति या सामर्थ्यके तत्त्वको जानता है, उसे निस्संदेह स्थिर (कर्म-)योग प्राप्त होता है। (८) यह जानकर, कि मैं सबका उत्पत्तिस्थान हूँ, और मुझसे सब वस्तुओंकी प्रवृत्ति होती है, ज्ञानी पुरुष भावयुक्त होते हुए मुझको भजते रहते हैं। (९) (वे) मुझमें मन जमाकर और प्राणोंको लगाकर, परस्पर बोध करते हुए एवं मेरी कथाएँ कहते हुए, (उसीमें) सदा संतुष्ट और रममाण रहते हैं। (१०) इस प्रकार सदैव युक्त होकर अर्थात् समाधानसे रह कर जो लोग मुझे प्रीतिपूर्वक भजते हैं, उनको मैंही ऐसी (समत्व-)बुद्धिका योग देता हूँ, कि जिससे वे मुझे पा लेंगे। (११) और उनपर अनुग्रह करनेके लियेही मैं उनके आत्मभाव अर्थात् अंतःकरणमें पैठकर तेजस्वी ज्ञानदीपसे (उनके मनके) अज्ञानमूलक अंधकारका नाश करता हूँ।

अर्जुन उवाच।

§§ परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ १४॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥

[सातवें अध्यायमे कहा है, कि भिन्न भिन्न देवताओंकी श्रद्धाभी परमेश्वरही देता है (७. २१)। उसी प्रकार अब ऊपरके दसवें श्लोकमेंभी वर्णन है, कि भक्ति-मार्गमें लगे हुए मनुष्यकी समत्व-बुद्धिको उन्नत करनेका कामभी परमेश्वरही करता है; और पहले (गीता ६. ४४) यह जो वर्णन आया है, कि जब मनुष्यके मनमें एक बार कर्मयोगकी जिज्ञासा जागृत हो जाती है, तब कोल्हूमें धरे हुएके समान वह आप-ही-आप पूर्ण सिद्धिकी ओर खींचा चला जाता है, उसके साथ भक्ति-मार्गका यह सिद्धान्त समानार्थक है। ज्ञानकी दृष्टिसे अर्थात् कर्मविपाक-प्रक्रियाके अनुसार कहा जाता है, कि यह कर्तृत्व आत्माकी स्वतंत्रतासे मिलता है। पर आत्माभी तो परमेश्वरही है, इस कारण भक्ति-मार्गमें ऐसा वर्णन हुआ करता है, कि ये फल अथवा बुद्धि परमेश्वरही प्रत्येक मनुष्यके पूर्व-कर्मोंके अनुसार देता है (गीता ७. २०; गीतार. प्र. १३, पृ. ४२८)। इस प्रकार भगवानके भक्ति-मार्गका तत्त्व बतला चुकने पर :–]

अर्जुनने कहा :– (१२–१३) तुमही परम ब्रह्म, श्रेष्ठ स्थान और परम पवित्र वस्तु (हो); सब ऋषि, ऐसेही देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यासभी तुमको दिव्य एवं शाश्वत पुरुष, आदिदेव, अजन्म, सर्वविभु अर्थात् सर्वव्यापी कहते हैं; और स्वयं तुमभी मुझसे वही कहते हो। (१४) हे केशव! तुम मुझसे यह जो कहते हो, उस सबको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! तुम्हारी व्यक्ति अर्थात् तुम्हारा मूल देवताओंको विदित नहीं और दानवोंको विदित नहीं। (१५) सब भूतोंके उत्पन्न करनेवाले हे भूतेश! हे देवदेव जगत्पते! हे पुरुषोत्तम! तुम स्वयंही अपने आपको जानते हो। (१६) अतः तुम्हारी जो दिव्य विभूतियाँ हैं,

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

§§ हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

जिन विभूतियोंसे इन सब लोकोंको तुम व्याप्तकर रहे हो, उन्हें आप-ही (कृपा कर) मुझे पूर्णतासे बतलावें। (१७) हे योगिन्! (मुझे यह बतलाइये, कि) सदा तुम्हारा चिंतन करता हुआ मैं तुम्हें कैसे पहचानूँ; और हे भगवन्! मैं किन किन पदार्थोंमें तुम्हारा चिंतन करूँ? (१८) हे जनार्दन! अपनी विभूति और योग मुझे फिर विस्तारसे बतलाओ; क्योंकि अमृततुल्य (तुम्हारे इस भाषणको) सुनते सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती।

[विभूति और योग, ये दोनों शब्द इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें आये हैं। और यहाँ अर्जुनने उन्हींको दुहरा दिया है। 'योग' शब्दका अर्थ पहले (गीता ७. २५) दिया जा चुका है, उसे देखो। भगवानकी विभूतियोंको अर्जुन इसलिये नहीं पूछता, कि भिन्न भिन्न विभूतियोंका ध्यान देवता समझ कर किया जावे; किंतु सत्रहवें श्लोकके इस कथनको स्मरण रखना चाहिये, कि उक्त विभूतियोंमें सर्वव्यापी परमेश्वरकीही भावना रखनेके लिये पूछता है। क्योंकि भगवान् यह पहलेही बतला चुके हैं (गीता ७. २०–२५; ९. २२–२८), कि एकही परमेश्वरको सब स्थानोंमें विद्यमान जानना एक बात है, और परमेश्वरकी भिन्न-भिन्न विभूतियोंको भिन्न-भिन्न देवता मानना दूसरी बात है; इन दोनोंमें भक्ति-मार्गकी दृष्टिसे महान् अंतर है।]

श्रीभगवानने कहा :– (१९) अच्छा; तो अब हे कुरुश्रेष्ठ! अपनी दिव्य विभूतियोंमेंसे तुम्हें मुख्य मुख्य बतलाता हूँ; क्योंकि मेरे विस्तारका अंत नहीं है।

[इस विभूति-वर्णनके समानही महाभारतके अनुशासनपर्वमें (अनु. १४. ३११–३३१) और अनुगीतामें (अश्व. ४३, ४४) परमेश्वरके रूपका वर्णन है। परंतु गीताका वर्णन उसकी अपेक्षा अधिक सरस है, इस कारण उसीकी पुनरुक्ति और स्थलोंमेंभी मिलती है। उदाहरणार्थ, भागवत-पुराणके एकादश स्कंधके सोलहवें अध्यायमें इसी प्रकारका विभूति-वर्णन भगवानने उद्धवको

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

| समझाया है; और वहीं (भाग. ११. १६. ६–८) प्रारंभमें कह दिया है, कि यह
| वर्णन गीताके इस अध्यायवाले वर्णनके अनुसार है ।]

(२०) हे गुडाकेश ! सब भूतोंके भीतर रहनेवाला आत्मा मैं हूँ; और (सब) भूतोंका आदि, मध्य और अंतभी मैं हूँ । (२१) (बारह) आदित्योंमेंसे विष्णु मैं हूँ; तेजस्वियोंमें किरणमाली सूर्य, (सात अथवा उनचास) मरुतोंमें मरीचि और नक्षत्रोंमें चंद्रमा मैं हूँ । (२२) मैं वेदोंमें सामवेद हूँ; देवताओंमें इंद्र हूँ; और इंद्रियोंमें मन हूँ; भूतोंमें चेतना अर्थात् प्राणकी चलन-शक्ति मैं हूँ ।

| [यहाँ वर्णन है, कि मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, अर्थात् सामवेद मुख्य है; ठीक
| ऐसाही महाभारतके अनुशासनपर्वमेंभी (१४. ३१७) "सामवेदश्च वेदानां
| यजुषां शतरुद्रियम्" कहा है । पर अनुगीतामें "ॐकारः सर्ववेदानां०" (अश्व.
| ४४. ६) इस प्रकार सब वेदोंमें ॐकारकोही श्रेष्ठता दी है; तथा गीतामेंभी
| (गीता ७. ८) पहले "प्रणवः सर्ववेदेषु" कहा है । ऐसेही गीता ९. १७ के
| "ऋक्सामयजुरेव च" इस वाक्यमें सामवेदकी अपेक्षा ऋग्वेदको अग्रस्थान
| दिया गया है और साधारण लोगोंकी समझभी ऐसीही है । इन परस्पर-विरोधी
| वर्णनोंपर कुछ लोगोंने अपनी कल्पनाओंको खूप सरपट दौड़ाया है । छांदोग्य
| उपनिषदमें ॐकारहीका नाम 'उद्गीथ' है, और लिखा है, कि यह उद्गीथ साम-
| वेदका सार है और सामवेद ऋग्वेदका सार है" (छां. १. १. २) । इस विषयके
| भिन्न भिन्न उक्त विधानोंका मेल छांदोग्यके इस वाक्यसे, सब वेदोंमें कौन वेद
| श्रेष्ठ है, हो सकता है । क्योंकि सामवेदके मंत्रभी मूल ऋग्वेदसेही लिये गये हैं ।
| पर इतनेसे संतुष्ट न हो कर कुछ लोग कहते हैं, कि गीतामें सामवेदको यहाँ पर
| जो प्रधानता दी गयी है, उसका कुछ-न-कुछ गूढ कारण होना चाहिये । यद्यपि
| छांदोग्य उपनिषदमें सामवेदको प्रधानता दी है, तथापि मनुने कहा है, कि
| "सामवेदकी ध्वनि अशुचि है" (मनु. ४. १२४) । अतः एकने अनुमान किया
| है, कि सामवेदको प्रधानता देनेवाली गीता मनुसे पहलेकी होगी; और दूसरा
| कहता है, कि गीता बनानेवाला सामवेदी होगा, इसीसे उसने यहाँपर सामवेदको
| प्रधानता दी होगी । परतु हमारी समझमें 'मैं वेदोंमें सामवेद हूँ' इसकी

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामास्मि सागरः ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

उपपत्ति लगानेके लिये इतनी दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है। भक्ति-मार्गमें परमेश्वरकी गानयुक्त स्तुतिको सदैव प्रधानता दी जाती है। उदाहरणार्थ नारायणीय धर्ममें नारदने भगवानका वर्णन किया है, कि "वेदेषु सपुराणेषु सांगोपांगेषु गीयसे" (मभा. शां. ३३४. २३), और वसु राजा ' 'जप्यं जगौ" – जप्य गाता था (शां. ३३७. २७;, ३४२. ७०, ८१)–इस प्रकार 'गै' धातुकाही प्रयोग फिर किया गया है। अतएव भक्ति-प्रधान धर्ममें, यज्ञयाग आदि क्रियात्मक वेदोंकी अपेक्षा, गान-प्रधान वेद अर्थात् सामवेदको अधिक महत्त्व दिया गया हो, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं; और "मैं वेदोंमें सामवेद हूँ" इस कथनका हमारे मतमें सीधा और सहज कारण यही है।]

(२३) (ग्यारह) रुद्रोंमें शंकर मैं हूँ; यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर मैं हूँ; (आठ) वसुओंमें पावक मैं हूँ; (और सात) पर्वतोंमें मेरु मैं हूँ। (२४) हे पार्थ ! पुरोहितोंमें मुख्य, बृहस्पति मुझको समझ। मैं सेनानायकोंमें स्कंद (कार्तिकेय), और जलाशयोंमें समुद्र हूँ। (२५) महर्षियोंमें भृगु हूँ; वाणीमें एकाक्षर अर्थात् ॐकार मैं हूँ। यज्ञोंमें जप-यज्ञ मैं हूँ; स्थावर अर्थात् स्थिर पदार्थोंमें हिमालय मैं हूँ।

['यज्ञोंमें जप-यज्ञ मैं हूँ' यह वाक्य महत्त्वका है। अनुगीतामें (मभा. अश्व. ४४. ८)कहा है, कि "यज्ञानां हुतमुत्तमम्" अर्थात् यज्ञोंमें (अग्निमें) हवि समर्पण करके सिद्ध होनेवाला यज्ञ उत्तम है; और वैदिक कर्मकांडवालोंका वही मत है। पर भक्ति-मार्गमें हविर्यज्ञकी अपेक्षा नाम-यज्ञ या जप-यज्ञका विशेष महत्त्व है, इसीसे गीतामें "यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि" कहा है। मनुनेभी एक स्थानपर (मनु. २. ८७) कहा है, कि "और कुछ करे या न करे, केवल जपसेही ब्राह्मण सिद्धि पाता है।" भागवतमें "यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं" पाठ है।]

(२६) मैं सब वृक्षोंमें अश्वत्थ अर्थात् पीपल, और देवर्षियोंमें मैं नारद हूँ; गंधर्वोंमें

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

चित्ररथ, और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूँ। (२७) घोड़ोंमें, अमृतमंथनके समय निकला हुआ, उच्चैःश्रवा मुझे समझ। मैं गजेंद्रोंमें ऐरावत, और मनुष्योंमें राजा हूँ। (२८) मैं आयुधोंमें वज्र, गौओंमें कामधेनु, और प्रजा उत्पन्न करनेवाला काम हूँ; सर्पोंमें वासुकि मैं हूँ। (२९) नागोंमें अनंत मैं हूँ; यादस् अर्थात् जलचर प्राणियोंमें वरुण, और पितरोंमें अर्यमा मैं हूँ; मैं नियमन करनेवालोंमें यम हूँ।

[वासुकि = सर्पोंका राजा और अनंत = 'शेष' ये अर्थ निश्चित हैं, और अमरकोश तथा महाभारतमेंभी ये अर्थ दिये गये हैं (मभा. आदि. ३५-३९ ३९)। परंतु निश्चयपूर्वक नहीं बतलाया जा सकता, कि नाग और सर्पमें क्या भेद है। महाभारतके अस्ति-उपाख्यानमें इन शब्दोंका प्रयोग समानार्थकही है। तथापि जान पड़ता है, कि यहाँपर सर्प और नाग शब्दोंसे सर्पके साधारण वर्गकी दो भिन्न-भिन्न जातियाँ विवक्षित हैं। श्रीधर-टीकामें सर्पको विषैला और नागको विषहीन कहा है, एवं रामानुज-भाष्यमें सर्पको एक सिरवाला और नागको अनेक सिरोंवाला कहा है। परंतु ये दोनों भेद ठीक नहीं जँचते। क्योंकि कुछ स्थलोंपर नागोंकेही प्रमुख कुल बतलाते हुए उनमें अनंत और वासुकिको पहले गिनाया है; और वर्णन किया है, कि दोनोंभी अनेक सिरोंवाले एवं विषधर हैं, किंतु अनंत है अग्निवर्णका और वासुकि है पीला।। भागवतका पाठ गीताके समानही है।]

(३०) दैत्योंमें प्रल्हाद मैं हूँ; मैं ग्रसनेवालोंमें काल, पशुओंमें मृगेन्द्र अर्थात् सिंह, और पक्षियोंमें गरुड हूँ। (३१) मैं वेगवानोंमें वायु हूँ; मैं शस्त्रधारियोंमें राम, मछलियोंमें मगर, और नदियोंमें भागीरथी हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

(३२) हे अर्जुन ! सृष्टिमात्रका आदि, अन्त और मध्यभी मैं हूँ; विद्याओंमें अध्यात्मविद्या, और वाद करनेवालोंका वाद मैं हूँ।

[पीछे २० वें श्लोकमें बतला दिया है, कि सचेतन भूतोंका आदि, मध्य और अंत मैं हूँ; तथा अब कहते हैं, कि सब चराचर सृष्टिका आदि, मध्य और अंत मैं हूँ; यही भेद है।]

(३३) मै अक्षरोंमें अकार, और समासोंमें (उभयपदप्रधान) द्वंद्व हूँ; (निमेष, मुहूर्त आदि) अक्षय काल मैंही हूँ और सर्वतोमुख अर्थात् चारों ओरसे मुखोंवाला धाता याने ब्रह्मा मैं हूँ; (३४) सबको क्षय करनेवाली मृत्यु, और आगे जन्म लेनेवालोंका उत्पत्तिस्थान मैं हूँ; स्त्रियोंमें कीर्ति, श्री और वाणी, स्मृति, मेधा, धति, तथा क्षमा मैं हूँ।

[कीर्ति, श्री, वाणी इत्यादि शब्दोंसेही देवियाँ, विवक्षित हैं। महाभारतमें (आदि. ६६. १३, १४) वर्णन है, कि इनमेंसे वाणी और क्षमाको छोड़ शेष पाँच और दूसरी पाँच (पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, लज्जा और मति) दोनों मिलकर कुल दशों दक्षकी कन्याएँ हैं, और धर्मके साथ व्याही जानेके कारण उन्हें धर्मपत्नी कहते हैं।]

(३५) साम अर्थात् गानेके योग्य वैदिक स्तोत्रोंमें बृहत्साम, (और) छंदोंमें गायत्री छंद मैं हूँ; महीनोंमें मार्गशीर्ष और ऋतुओंमें वसंत मैं हूँ।

[महीनोंमें मार्गशीर्षको प्रथम स्थान इसलिये दिया गया है, कि उन दिनोंमें बारह महीनोंको मार्गशीर्षसेही गिननेकी रीति थी। जैसे कि आजकल चैत्रसे है (मभा. अनु. १०६, १०९; एवं वाल्मीकिरामायण ३. १६)। भागवत ११. १६. २७ मेंभी ऐसाही उल्लेख है। हमने अपने 'ओरायन' ग्रंथमें लिखा है, कि मृगशीर्ष नक्षत्रको अग्रहायणी अथवा वर्षारंभका नक्षत्र कहते थे; जब मृगादि नक्षत्रगणनाका प्रचार था, तब मृगनक्षत्रको प्रथम अग्रस्थान मिला।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥
§ § यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ ४१ ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ।।१०।।

| और उसीसे आगे मार्गशीर्ष महीनेकोभी श्रेष्ठता मिली होगी। इस विषयको
| यहाँ विस्तारके भयसे अधिक बढ़ाना उचित नहीं है।]

(३६) मैं छलियोंका द्यूत हूँ; तेजस्वियोंका तेज, (विजयशाली पुरुषोंकी) विजय, (निश्चयी पुरुषोंका) निश्चय और, सत्त्वशीलोंका सत्त्व मैं हूँ। (३७) मैं यादवोंमें वासुदेव, पांडवोंमें धनंजय, मुनियोंमें व्यास, और कवियोंमें शुक्राचार्य कवि हूँ। (३८) मैं शासन करनेवालोंका दंड, जयकी इच्छा करनेवालोंकी नीति, और गुह्योंमें मौनभी हूँ। ज्ञानियोंका ज्ञान मैं हूँ। (३९) इसी प्रकार हे अर्जुन! सब भूतोंका जो कुछ बीज है, वह मैं हूँ; ऐसा कोई चर-अचर भूत नहीं है, जो मुझे छोड़े हो। (४०) हे परंतप! मेरी दिव्य विभूतियोंका अंत नहीं है। विभूतियोंका यह विस्तार मैंने (केवल) दिग्दर्शनार्थ बतलाया है।

| [इस प्रकार मुख्य मुख्य विभूतियाँ बतलाकर, अब इस प्रकरणका
| उपसंहार करते हैं :–]

(४१) जो जो वस्तु वैभव, लक्ष्मी, या प्रभावसे युक्त है, उसको तू मेरे तेजके अंशसे उपजी हुई समझ। (४२) अथवा हे अर्जुन! तुझे इस फैलावको

जानकर करना क्या है? (संक्षेपमें बतलाये देता हूँ, कि) मैं अपने एक (ही) अंशसे इस सारे जगतको व्याप्त कर रहा हूँ।

[अंतका श्लोक पुरुषसूक्तकी इस ऋचाके आधारपर कहा गया है – "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (ऋ. १०. ९०. ३); और यह मंत्र छांदोग्य उपनिषदमेंभी (छां. ३, १२. ६) है। 'अंश' शब्दके अर्थका स्पष्टीकरण गीतारहस्यके नवें प्रकरणके अंतमें (पृ. २४७, २४८) किया गया है। प्रकट है, कि जब भगवान् अपने एकही अंशसे इस जगतमें व्याप्त हो गये हैं, तब इसकी अपेक्षा भगवानकी पूरी महिमा बहुतही अधिक होगी; और उसे बतलानेके हेतुसेही अंतिम श्लोक कहा गया है। पुरुषसूक्तमें तो स्पष्टही कह दिया है, कि "एतावान् अस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः" इतनी इसकी वह महिमा हुई, पुरुष तो इसकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग अर्थात् कर्मयोगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

एकादशोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ३॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

ग्यारहवाँ अध्याय

[जब पिछले अध्यायमें भगवानने अपनी विभूतियोंका वर्णन किया, तब उसे सुनकर अर्जुनको परमेश्वरका वह विश्वरूप देखनेकी इच्छा हुई। भगवानने उसे जिस विश्वरूपका दर्शन कराया, उसका वर्णन इस अध्यायमें है। यह वर्णन इतना सरस है, कि गीताके उत्तम भागोंमें इसकी गिनती होती है और अन्यान्य गीताओंकी रचना करनेवालोंने इसीका अनुकरण किया है। अर्जुन प्रथम पूछता है, कि :–]

अर्जुनने कहा :–(१) मुझपर अनुग्रह करनेके लिये तुमने अध्यात्मसंज्ञक जो परम गुप्त बात बतलायी, उससे मेरा यह मोह जाता रहा। (२) इसी प्रकार हे कमलपत्राक्ष! भूतोंकी उत्पत्ति, लय और, (तुम्हारा) अक्षय माहात्म्यभी मैंने तुमसे विस्तारसहित सुन लिया। (३) अब, हे परमेश्वर! तुमने अपना जैसा वर्णन किया है, हे पुरुषोत्तम! मैं तुम्हारे उस प्रकारके ईश्वरी स्वरूपको (प्रत्यक्ष) देखना चाहता हूँ। (४) हे प्रभो! यदि तुम समझते हो, कि उस प्रकारका रूप मैं देख सकता हूँ, तो हे योगेश्वर! तुम अपना अव्यय स्वरूप मुझे दिखलाओ!

[सातवें अध्यायमें ज्ञानविज्ञानके निरूपण आरंभकर सातवें और आठवेंमें परमेश्वरके अक्षर अथवा अव्यक्त रूपका, तथा नवें एवं दसवेंमें अनेक व्यक्त रूपोंका जो ज्ञान बतलाया है, उसेही अर्जुनने पहले श्लोकमें 'अध्यात्म' कहा है। एक अव्यक्तसे अनेक व्यक्त पदार्थोंके निर्मित होनेका जो वर्णन सातवें (७. ४–१५), आठवें (८. १६–२१), और नवें (९. ४–८) अध्यायोंमें

श्रीभगवानुवाच।

§§ **पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।**
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ ५॥
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ ६॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥

| है, वही "भूतोंकी उत्पत्ति और लय" इन शब्दोंसे दूसरे श्लोकमें अभिप्रेत है। तीसरे श्लोकके दोनों अर्धांशोंको दो भिन्न-भिन्न वाक्य मानकर कुछ लोग उनका ऐसा अर्थ करते हैं, कि "हे परमेश्वर! तुमने अपना जैसा (स्वरूप-वर्णन किया, वह सत्य है (अर्थात् मैं समझ गया); अब हे पुरुषोत्तम!" मैं तुम्हारे ईश्वरी स्वरूपको देखना चाहता हूँ।" (गीता १०. १४)। परंतु दोनों पंक्तियोंको मिलाकर एकही वाक्य मानना ठीक जान पड़ता है; और परमार्थप्रपा टीकामें ऐसा कियाभी गया है। चौथे श्लोकमें जो 'योगेश्वर' शब्द है, उसका अर्थ (योगियोंका नहीं) ईश्वर है (१८. ७५)। योगका अर्थ (गीता ७. २५; ९. ५) अव्यक्त रूपसे व्यक्त सृष्टि निर्माण करनेकी सामर्थ्य अथवा युक्ति पहले की जा चुकी है; अब उस सामर्थ्यसेही विश्वरूप दिखलाना है, इस कारण यहाँ 'योगेश्वर' संबोधनका प्रयोग सहेतुक है।]

श्रीभगवानने कहा :– (५) हे पार्थ! मेरे अनेक प्रकारके, अनेक रंगोंके और आकारोंके (इन) सैंकड़ो अथवा हजारों दिव्य रूपोंको देख। (६) ये देख, (बारह) आदित्य, (आठ), वसु, (ग्यारह) रुद्र, (दो) अश्विनीकुमार और (उनचास) मरुद्गण! हे भारत! ये अनेक आश्चर्य देख, कि जो पहले कभी न देखे होंगे।

| [नारायणीय धर्ममें नारदको जो विश्वरूप दिखलाया गया है, उसमें यह विशेष वर्णन है, कि बाई ओर बारह आदित्य, सन्मुख आठ वसु, दाहिनी ओर ग्यारह रुद्र और पिछली ओर दो अश्विनीकुमार थे (शां. ३३९. ५०–५२)। परंतु यही वर्णन सर्वत्र विवक्षित नहीं दिखाई देता (मभा. उ. १३०)। आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार और मरुद्गण ये वैदिक देवता हैं; और महाभारतमें (शां. २०८. २३, २४) देवताओंके चातुर्वर्ण्यका भेद यों बतलाया है, कि इनमेंसे आदित्य क्षत्रिय हैं, मरुद्गण वैश्य हैं, और अश्विनीकुमार रुद्र हैं, शतपथब्राह्मण १४. ४. २. .२३)।]

(७) हे गुडाकेश! मेरी (इस) देहमें सब चर-अचर जगतको आज यहाँपर

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच ।

§§ एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥ १४ ॥

एकत्रित देख ले, और दूसराभी जो कुछ तुझ देखनेकी लालसा हो, उसेभी उसमें देख ले !

(८) परंतु तू अपनी इसी दृष्टिसे मुझे देख न सकेगा, तुझे मैं दिव्य दृष्टि देता हूं; (उससे) मेरे इस ईश्वरी योग अर्थात् योगसामर्थ्यको देख ।

संजयने कहा :–(९) हे राजा धृतराष्ट्र ! इस प्रकार कह करके फिर योगोंके बड़े ईश्वर हरिने अर्जुनको (अपना) श्रेष्ठ ईश्वरी रूप अर्थात् विश्वरूप दिखलाया। (१०) उसके अर्थात् उस विश्वरूपके अनेक मुख और नेत्र थे और उसमें अनेक अद्भुत दृश्य दीख पड़ते थे; (और) उसपर अनेक प्रकारके दिव्य अलंकार थे और उसमें नाना प्रकारके दिव्य आयुध सज्जित थे। (११) उस अनंत, सर्वतोमुख और सब आश्चर्योंसे भरे हुए देवताके दिव्य सुगंधित उबटन लगा हुआ था, और वह दिव्य पुष्प एवं वस्त्र धारण किये हुए था। (१२) यदि आकाशमें एक हजार सूर्योंकी प्रभा एकसाथ हो, तो वह उस महात्माकी क्रांतिके समान (कुछ कुछ) दीख पड़े ! (१३) तब अर्जुनको देवधिदेवके इस शरीरमें नाना प्रकारसे बँटा हुआ सारा जगत् एकत्रित दिखाई दिया। (१४) फिर आश्चर्यसे चकित होकर उसके शरीरपर रोमांच खड़े हो

अर्जुन उवाच।

§§ पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

आये; और मस्तक नमाकर नमस्कार करके एवं हाथ जोड़कर उस अर्जुनने देवतासे कहा :–

अर्जुनने कहा :– (१५) हे देव ! तुम्हारी इस देहमें सब देवताओंको और नाना प्रकारके प्राणियोंके समुदायोंको, ऐसेही कमलासनपर बैठे हुए (सब देवताओंके) स्वामी ब्रह्मदेवको, सब ऋषियोंको, और (वासुकि प्रभृति) सब दिव्य सर्पोंकोभी मैं देख रहा हूँ। (१६) अनेक बाहु, अनेक उदर, अनेक मुख और अनेक नेत्रधारी, अनतरूपी तुम्हींको मैं चारों ओर देखता हूँ; परंतु हे विश्वेश्वर विश्वरूप ! तुम्हारा न तो अंत, न मध्य या न आदिभी मुझे (कहीं) दीख पड़ता है। (१७) किरीट, गदा और चक्र धारण करनेवाले, चारों ओर प्रभा फैलाये हुए; तेज:पुंज, दमकते हुए अग्नि और सूर्यके समान देदीप्यमान्, आँखोंसे देखनेमेंभी अशक्य और अपरंपार (भरे हुए) तुम्हीं मुझें जहाँ-तहाँ दीख पड़ते हो। (१८) तुम्हीं अंतिम ज्ञेय अक्षर (ब्रह्म), तुम्हीं इस विश्वके अंतिम आधार, तुम्हीं अव्यय और तुम्हीं शाश्वत धर्मके रक्षक हो, और मुझे सनातन पुरुष तुम्हीं जान पड़ते हो। (१९) मैं देख रहा हूँ, कि जिसके न आदि है, न मध्य या न अंत, अनंत जिसके बाहु हैं, चंद्र और सूर्य जिसके नेत्र हैं, प्रज्वलित अग्नि जिसका मुख है, ऐसे अनंत शक्तिमान् तुमही अपने तेजसे इस समस्त जगतको तपा रहे हो। (२०) क्योंकि आकाश और

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४

पृथ्वीके बीचका यह (सब) अंतर और सभी दिशाएँ अकेले तुम्हींने व्याप्तकर डाली हैं; और हे महात्मन् ! तुम्हारे इस अद्भुत और उग्र रूपको देखकर त्रैलोक्य (डरसे) व्यथित हो रहा है। (२१) यह देखो, देवताओंके ये समूह तुममें प्रवेश कर रहे हैं, (और) कुछ भयसे हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहे हैं; (एवं) 'स्वस्ति, स्वस्ति ' कहकर महर्षियों और सिद्धोंके समुदाय अनेक प्रकारके स्तोत्रोंसे तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं। (२२) (ऐसेही) रुद्र और आदित्य, वसु और साध्यगण, विश्वेदेव, (दोनों) अश्विनीकुमार, मरुद्गण, उष्मपा अर्थात् पितर, और गंधर्व, यक्ष, राक्षस, एवं सिद्धोंके झुंडके झुंड सर्वत्र विस्मित होकर तुम्हारी ओर देख रहे हैं।

[श्राद्धमें पितरोंको जो अन्न अर्पण किया जाता है, उसे वे तभीतक ग्रहण करते हैं, जब तक कि वह गरमागरम रहे, इसीसे उनको 'उष्मपा' कहते हैं (मनु. ३. २३७)। मनुस्मृतिमें (३, ९४–२००) इन्हीं पितरोंके सोमसद् अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सोमपा, हविष्मान्, आज्यपा और सुकलिन् ये सात प्रकारके गण बतलाये हैं। आदित्य आदि देवता वैदिक हैं (ऊपरका छठा श्लोक देखो)। बृहदारण्यक उपनिषदमें (३. ९. २) यह वर्णन है, कि आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और इंद्र तथा प्रजापतिको मिलाकर ३३ देवता होते हैं; और महाभारतके आदिपर्व अ. ६५ एवं ६६में तथा शांतिपर्व अ. २०८ में उनके नाम और उत्पत्ति बतला गयी है।]

(२३) हे महाबाहु ! तुम्हारे इस विराट् अनेक मुखोंके, अनेक आँखोंके, अनेक भुजाओंके, अनेक जंघाओंके, अनेक पैरोंके, अनेक उदरोंके, और अनेक डाढ़ोंके कारण विकराल दिखनेवाले रूपको देखकर सब लोगोंको और मुझेभी भय हो रहा है। (२४) आकाशसे भिड़े हुए, प्रकाशमान्, अनेक रंगोंके, जबड़े फैलाये हुए, और बड़े चमकीले नेत्रोंसे युक्त तुमको देखकर अंतरात्मा घबड़ा गया है; इससे हे

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः॥ २७॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ २९॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥ ३०॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ ३१॥

विष्णो! मेरा धीरज छूट गया और शांतिभी जाती रही! (२५) और यह अवस्था हुई है, कि डाढ़ोंसे विकराल तथा प्रत्ययकालीन अग्नीके समान तुम्हारे (इन) मुखोंको देखतेही मुझे दिशाएँ नहीं सूझतीं, और समाधानभी नहीं होता। हे जगन्निवास, देवाधिदेव!! प्रसन्न हो जाओ (२६) यह देखो, राजाओंके झुंडासमेत धृतराष्ट्रके सब पुत्र, भीष्म, द्रोण और वह सूतपुत्र (कर्ण), हमारी ओरकेभी मुख्य मुख्य योद्धाओंके साथ, (२७) तुम्हारी विकराल डाढ़ोंवाले इन अनेक भयंकर मुखोंमें धड़ाधड़ घुस रहे हैं; और कुछ लोग तो दाँतोंमें दबकर ऐसे दिखाई दे रहे हैं, कि उनकी खोपड़ियाँ चूर हुई हैं। (२८) तुम्हारे अनेक प्रज्वलित मुखोंमें मनुष्यलोकके ये वीर वैदेही घुस रहे हैं, जैसे कि नदियोंके बड़े बड़े प्रवाह समुद्रकीही ओर चले जाते हैं। (२९) जलती हुई अग्निमें मरनेके लिये पतंग जिस प्रकार बड़े वेगसे कूदते हैं, वैसेही तुम्हारे-भी अनेक जबड़ोंमें मरनेके लिये (ये) लोग बड़े वेगसे प्रवेश कर रहे हैं। (३०) हे विष्णो! चारों ओरसे सब लोगोंको अपने प्रज्वलित मुखोंसे निगल-कर तुम जीभें चाट रहे हो! और तुम्हारी उग्र प्रभाएँ तेजसे समूचे जगतको व्याप्तकर (चारों ओर) चमक रही हैं। (३१) मुझे बतलाओ, कि इस उग्र रूपको धारण करनेवाले तुम कौन हो? हे देव देवश्रेठ! तुम्हें नमस्कार करता

श्रीभगवानुवाच ।

§§ कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति वर्से येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

संजय उवाच ।

§§ एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

हूँ ! प्रसन्न हो जाओ ! मैं जानना चाहता हूँ, कि तुम आदि पुरुष कौन हो ? क्योंकि मैं तुम्हारी इस करनीको (बिलकुल) नहीं जानता ।

श्रीभगवानने कहा :– (३२) मैं लोकोंका क्षय करनेवाला और बढ़ा हुआ 'काल' हूँ; लोगोंका संहार करने यहाँ आया हूँ । तू न हो, तोभी, अर्थात् तू कुछ करे, तोभी, सेनाओंमें खड़े हुए ये सब योद्धा नष्ट होनेवाले (मरनेवाले) हैं; (३३) अतएव तू उठ, यश प्राप्त कर, और शत्रुओंको जीत करके समृद्ध राज्यका उपभोग कर । मैंने उन्हें पहलेही मार डाला है; (इसलिये अब) हे सव्यसाची (अर्जुन) ! तू केवल निमित्तके लिये (आगे) हो ! (३४) मैं द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा ऐसेही अन्यान्य वीर योद्धाओंको (पहलेही) मार चुका हूँ; उन्हें तू मार । घबड़ाना नहीं ! युद्ध कर ! युद्धमें तू शत्रुओंको जीतेगा ।

| [सारांश, जब श्रीकृष्ण संधिके लिये गये थे, तब दुर्योधनको मेलकी
| कोईभी बात सुनते न देख भीष्मने श्रीकृष्णसे केवल शब्दोंमें कहा था, कि
| 'कालपक्वमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन' (मभा. उ. १२७. ३२) – ये सब
| क्षत्रिय कालपक्व हो गये हैं; उसी कथनका यह प्रत्यक्ष दृश्य श्रीकृष्णने अपने
| विश्वरूपसे अर्जुनको दिखला दिया है (ऊपरके २६–३१ श्लोक देखो) कर्म-
| विपाक-प्रक्रियाका यह सिद्धान्तभी ३३वें श्लोकमें आ गया है, कि दुष्ट मनुष्य
| अपने कर्मोंसेही मरते हैं, उनको मारनेवाला तो सिर्फ़ निमित्त है, इसलिये
| मारनेवालेको उसका दोष नहीं लगता ।]

संजयने कहा :– (३५) केशवके इस भाषणको सुनकर अर्जुन अन्यन्त भय-भीत हो गया, गला रुँधकर, काँपते हुए, हाथ जोड़ नमस्कार करके उसने श्रीकृष्णसे

अर्जुन उवाच।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥ ३६॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ ३८॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांक प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ ३९॥

नम्र होकर फिर कहा – अर्जुनने कहा :– (३६) हे हृषीकेश ! (सब) जगत् तुम्हारे (गुण-)कीर्तनसे प्रसन्न होता है, और (उसमें) अनुरक्त रहता है, राक्षस तुमसे डरकर (दशों) दिशाओंमें भाग जाते हैं, और सिद्ध पुरुषोंके संघ तुम्हींको नमस्कार करते हैं, यह (सब) उचितही है। (३७) हे महात्मन् ! तुम ब्रह्म-देवकेभी आदिकारण और उससेभी श्रेष्ठ हो, तुम्हारी वंदना वे कैसे न करेंगे ? हे अनंत ! हे देव देव ! हे जगन्निवास ! सत् और असत् तुम्हीं हो, और इन दोनोंसे, परे जो अक्षर है, वहभी तुम्हीं हो।

| [गीता ७. २४; ८. २० या १५. १६ से दीख पड़ेगा, कि सत् और असत् शब्दोंके अर्थ यहाँपर क्रमसे व्यक्त और अव्यक्त अथवा क्षर और अक्षर इन शब्दोंके अर्थोंके समान हैं। सत् और असत्से परे जो तत्त्व है, वही अक्षर ब्रह्म है, इसी कारण गीता १३. १२ में स्पष्ट वर्णन है, कि " मैं न तो सत् हूँ, और न असत्। " गीतामें 'अक्षर' शब्द कभी प्रकृतिकेलिये और कभी ब्रह्मके लिये उपयुक्त होता है। गीता ९. १९; १३. १२; और १५. १६ की टिप्पणी देखो।]

(३८) तुम आदिदेव, (तुम) पुरातन पुरुष, तुम्हीं इस जगत्के परम आधार हो; तुम ज्ञाता और ज्ञेय, तथा तुम श्रेष्ठस्थान हो; और हे अनंतरूप ! तुम्हींने (इस) विश्वको विस्तृत अथवा व्याप्त किया है। (३९) वायु, यम, अग्नि, वरुण, चंद्र, प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा, और परदादाभी तुम्हीं हो। तुम्हें हजार बार नमस्कार है ! और फिरभी तुम्हीको नमस्कार है !

| [ब्रह्मासे मरीचि आदि सात मानसपुत्र उत्पन्न हुए और मरीचिसे कश्यप, तथा कश्यपसे सब प्रजा उत्पन्न हुई है (मभा. आदि. ६५. ११); इस-लिये इन मरीचि आदिकोही प्रजापति कहते हैं (शां. ३४०. ६५)। इसीसे कोई कोई प्रजापति शब्दका अर्थ काश्यप आदि प्रजापति करते हैं। परंतु यहाँ

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥
सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥४३
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

प्रजापति शब्द एकवचनान्त है, इस कारण प्रजापतिका अर्थ ब्रह्मदेवही अधिक ग्राह्य दीख पड़ता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा, मरीचि आदिके पिता अर्थात् सबके पितामह (दादा) हैं, अतः आगेका 'प्रपितामह' (परदादा) पदभी आप-ही-आप प्रकट होता है और उसकी सार्थकता व्यक्त हो जाती है।]

(४०) हे सर्वात्मक ! तुम्हें सामनेसे नमस्कार है, पीछेसे नमस्कार है और सभी ओरसे तुमको नमस्कार है। तुम्हारा वीर्य अनंत है और तुम्हारा पराक्रम अतुल है। सबका समापन करनेवाले हो, इसलिये तुम्हीं 'सर्व' हो।

[सामनेसे नमस्कार, पीछेसे नमस्कार, ये शब्द परमेश्वरकी सर्वव्यापकता दिखलाते हैं। उपनिषदोंमें ब्रह्मका ऐसा वर्णन है, कि " ब्रह्मैवेदं अमृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिद् वरिष्ठम् " (मुं. २. २. २११; छां. ७. २५), उसीके अनुसार भक्ति-मार्गकी यह नमनात्मक स्तुति है।]

(४१) तुम्हारी इस महिमाको बिना जाने, मित्र समझकर प्यारसे या भूलसे, 'अरे कृष्ण', 'ओ यादव' 'हे सखा' इत्यादि जो कुछ मैंने अनादरसे कह डाला हो; (४२) और हे अच्युत ! आहार-विहारमें अथवा सोने-बैठनेमें, अकेलेमें या दस मनुष्योंके समक्ष, मैंने हँसी-दिल्लगीमें तुम्हारा जो अपमान किया हो, उसकेलिये मैं तुम अप्रमेय अर्थात् अनंतसे प्रार्थना करता हूँ, कि आप मुझे क्षमा करें। (४३) इस चराचर जगत्के पिता तुम्हीं हो, तुम पूज्य हो, और गुरुकेभी गुरु हो ! त्रैलोक्यभरमें तुम्हारी बराबरीका कोई नहीं है। फिर हे अतुलप्रभाव ! अधिक कहाँसे होगा ? (४४) तुम स्तुत्य और समर्थ हो, इसलिये शरीर झुकाकर नमस्कार करके मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ, कि 'प्रसन्न हो जाओ'। जिस प्रकार पिता अपने पुत्रके, अथवा सखा अपने सखाके, अपराध क्षमा करता है, उसी प्रकार हे देव ! प्रेमी

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

आपको प्रियके अर्थात् अपने प्रेमपात्रके (अर्थात् मेरे सब) अपराध क्षमा करने चाहिये।

[कुछ लोग "प्रियः प्रियायार्हसि" इन शब्दोंका "प्रिय पुरुष जिस प्रकार अपनी प्रिय स्त्रीके' ऐसा अर्थ करते हैं। परंतु हमारे मतमें यह ठीक नहीं है। क्योंकि व्याकरणकी रीतिसे 'प्रियायार्हसि'के प्रियायाः + अर्हसि अथवा प्रियायै + अर्हसि ऐसे पद नहीं किये जा सकते, और उपमाद्योतक 'इव' शब्दभी इस श्लोकमें दो बारही आया है। "अतः प्रियः प्रियायार्हसि" को तीसरी उपमा न समझकर उपमेय माननाही अधिक प्रशस्त है। 'पुत्रके' (पुत्रस्य), 'सखाके' (सख्युः), इन दोनों उपमानात्मक षठचन्त शब्दोंके समान आदि उपमेयमेंभी 'प्रियस्य' (प्रियके) यह षष्ठचन्त पद होता, तो बहुत अच्छा होता। परंतु अब 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' इस न्यायके अनुसार यहाँ व्यवहार करना चाहिये। हमारी समझमें यह बात बिलकुल युक्तिसंगत नहीं दीख पड़ती, कि 'प्रियस्य' इस षष्ठचन्त पुलिंग, पदके अभावमें, व्याकरणके विरुद्ध 'प्रियायाः' यह षष्ठचन्त स्त्रीलिंगका पद किया जावे, और जब वह अर्जुनके लिये लागू न हो सके तब, 'इव' शब्दको अध्याहार मानकर प्रियः प्रियायाः" – प्रेमी अपनी प्यारी स्त्रीके – ऐसी तीसरी उपमा मानी जावे, और वहभी शृंगारिक अतएव अप्रासंगिक हो। इसके सिवा एक और बात है, कि पुत्रस्य सख्युः, प्रियायाः, इन तीनों पदोंके उपमानमें चले जानेसे उपमेयमें षष्ठचन्त पद बिलकुलही नहीं रह जाता, और 'मे' अथवा 'मम' पदका फिरभी अध्याहार करना पड़ता है; एवं इतनी माथा-पच्ची करनेपर उपमान और उपमेयमें जैसे तैसे विभक्तिकी समता हो गई, तोभी दोनोंमें लिंगकी विषमताका नया दोष बनाही रहता है। दूसरे पक्षमें – अर्थात् प्रियाय + अर्हसि ऐसे व्याकरणकी रीतिसे शुद्ध और सरल पद किये जावें, तो उपमेयमें – जहाँ षष्ठी होनी चाहिये, वहाँ 'प्रियाय' यह चतुर्थी आती है, – बस; इतनाही दोष रहता है और यह दोषभी विशेष महत्त्वका नहीं है। क्योंकि षष्ठीका अर्थ यहाँ चतुर्थीका-सा है और अन्यत्रभी कई बार ऐसा होता है। परमार्थप्रपा टीकामें इस श्लोकका अर्थ वैसाही है, जैसा कि हमने किया है।]

(४५) कभी न देखे हुए रूपको देखकर मुझे हर्ष हुआ है और भयसे मेरा मन व्याकुलभी हो गया है। हे जगन्निवास, देवाधिदेव ! प्रसन्न हो जाओ ! और हे देव ! अपना वह पहलेका स्वरूप दिखलाओ। (४६) मैं पहलेके समानही किरीट और गदा धारण

श्रीभगवानुवाच ।

§§ मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

संजय उवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

करनेवाले, हाथमें चक्र लिये हुए तुमको देखना चाहता हूँ; (अतएव) हे सहस्रबाहु, विश्वमूर्ति ! उसी चतुर्भुज रूपसे प्रकट हो जाओ ।

श्रीभगवानने कहा :-(४७) हे अर्जुन ! (तुझपर) प्रसन्न होकर यह तेजोमय, अनंत, आद्य, और परम विश्वरूप अपनी योग-सामर्थ्यसे मैंने तुझे दिखलाया है; इसे तेरे सिवा और किसीने पहले नहीं देखा है। (४८) हे कुरुवीरश्रेष्ठ ! मनुष्यलोकमें मेरा इस प्रकारका स्वरूप कोईभी वेदसे, यज्ञोंसे, स्वाध्यायसे, दानसे, कर्मोंसे, अथवा उग्र तपसे नहीं देख सकता, कि जिसे तू ने देखा है। (४९) मेरे ऐसे घोर रूपको देखकर अपने चित्तमें व्यथा न होने दे, और मूढभी मत हो जा। डर छोड़कर संतुष्ट मनसे मेरे उसी स्वरूपको फिर देख ले। संजयने कहा :- (५०) इस प्रकार भाषण करके वासुदेवने अर्जुनको फिर अपना (पहलेका) स्वरूप दिखलाया; और फिर सौम्य रूप धारण करके उस महात्माने डरे हुए अर्जुनको धीरज बँधाया ।

[गीताके द्वितीय अध्यायके ५ वें से ८ वें, २० वें, २२ वें, २९ वें और ७० वें श्लोक, आठवें अध्यायके ९ वें, १० वें, ११ वें और २८ वें श्लोक, नवें अध्यायके २० और २१ वें श्लोक, पन्द्रहवें अध्यायके २ रे से ५ वें और १५ वें श्लोकका छंद विश्वरूपवर्णनके उक्त ३६ श्लोकोंके छंदके समानही है; अर्थात् इसके प्रत्येक चरणमें ग्यारह अक्षर हैं। परंतु उनमें गणोंका कोई एक नियम नहीं है, इससे कालिदास प्रभृतिके काव्योंके इंद्रवज्रा, उपेंद्रवज्रा, उपजाति, दोधक, शालिनी आदि छंदोंकी चाल पर ये श्लोक नहीं कहे जा सकते। अर्थात् यह वृत्तरचना आर्ष याने वेदसंहिताके त्रिष्टुप् वृत्तके नमूनेपर की गई है; इस

अर्जुन उवाच।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच।

§§ सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥
§§ मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे विश्वरूपदर्शनं नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

| कारण यह सिद्धान्त औरभी सुदृढ हो जाता है, कि गीता बहुत प्राचीन होगी। | गीतारहस्य परिशिष्ट प्रकरण पृ. ५१७ देखो।]

अर्जुनने कहा :– (५१) हे जनार्दन ! तुम्हारे इस सौम्य और मनुष्यदेहधारी रूपको देखकर अब मन ठिकाने आ गया और मैं पहलेकी भाँति सावधान हो गया हूँ।

श्रीभगवानने कहा :– (५२) मेरे जिस रूपको तूने देखा है, उसका दर्शन मिलना बहुत कठिन है। देवताभी इस रूपको देखनेकी सदैव इच्छा किये रहते हैं। (५३) जैसा तूने मुझे देखा है, वैसा मुझे वेदोंसे, तपसे, दानसे, अथवा यज्ञसेभी (कोई) देख नहीं सकता। (५४) हे अर्जुन ! केवल अनन्यभक्तिसेही इस प्रकार मेरा ज्ञान होना, मुझे देखना, और हे परंतप ! मुझमें तत्त्वसे प्रवेश करना संभव है।

| [भक्ति करनेसे परमेश्वरका पहले ज्ञान होता है, और फिर अंतमें | परमेश्वरके साथ उसका तादात्म्य हो जाता है; यही सिद्धान्त पहले ४. २९ | श्लोकमें और आगे १८. ५५ श्लोकमें फिर आया है और उसका स्पष्टीकरण | हमने गीतारहस्यके तेरहवें प्रकरणमें (पृ. ४२८–४२९) किया है। अब अर्जुनको | पूरी गीताके अर्थका सार संक्षेपमें बतलाते हैं :–]

(५५) हे पांडव ! जो इस बुद्धिसे कर्म करता है, कि सब कर्म मेरे अर्थात्

परमेश्वरके हैं, जो मत्परायण और संगविरहित है, और जो सब प्राणियोंके विषयमें निर्वैर है, वह मेरा भक्त मुझमें मिल जाता है।

[उक्त श्लोकका आशय यह है, कि जगत्के सब व्यवहार भगवद्भक्तको परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे करने चाहिये (ऊपर ३३ वाँ श्लोक देखो)। अर्थात् उसे सारे व्यवहार इस निरभिमान-बुद्धिसे करने चाहिये, कि जगत्के सभी कर्म परमेश्वरके हैं और सच्चा कर्ता और करानेवाला वही है; किंतु हमें निमित्त बनाकर वह ये कर्म हमसे करवा रहा है; ऐसा करनेसे वे कर्म शांति अथवा मोक्ष-प्राप्तिमें बाधक नहीं होते। शांकरभाष्यमेंभी यही कहा है, कि उक्त श्लोकमें पूरे गीताशास्त्रका तात्पर्य आ गया है। इससे प्रकट है, कि गीताका भक्ति-मार्ग यह नहीं कहता, कि आरामसे 'राम राम' जपा करो; प्रत्युत उसका कथन है, कि उत्कट भक्तिके साथ-ही-साथ उत्साहसे सब निष्काम कर्म करते रहो। संन्यासमार्गवाले कहते हैं, कि 'निर्वैर'का अर्थ निष्क्रिय है, परंतु वह अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है, इसी बातको प्रकट करनेके लिये उसके साथ 'मत्कर्मकृत्' अर्थात् "सब कर्मोंको परमेश्वरके (अपने नहीं) समझकर परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे उन्हें करनेवाला" विशेषण लगाया गया है। इस विषयका विस्तृत विचार गीता-रहस्यके बारहवें प्रकरणमें (पृ. ३९४–४०१) किया है।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषद्में, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अथवा कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

द्वादशोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

श्रीभगवानुवाच।

§§ **मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।**
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

बारहवाँ अध्याय

[कर्मयोगकी सिद्धिके लिये सातवें अध्यायमें ज्ञान-विज्ञानके निरूपणका आरंभ कर आठवेंमें अक्षर, अनिर्देश्य और अव्यक्त ब्रह्मका स्वरूप बतलाया है; और फिर नवें अध्यायमें भक्तिरूप प्रत्यक्ष राजमार्गके निरूपणका प्रारंभ करके दसवें और ग्यारहवेंमें तदंतर्गत 'विभूतिवर्णन' एवं 'विश्वरूपदर्शन' इन दो उपाख्यानोंका वर्णन किया है, और ग्यारहवें अध्यायके अंतमें साररूपसे अर्जुनको उपदेश किया है, कि भक्तिसे एवं निःसंग-बुद्धिसे समस्त कर्म करते रहो। अब इसपर अर्जुनका प्रश्न है, कि कर्मयोगकी सिद्धिके लिये सातवें और आठवें अध्यायोंमें क्षर-अक्षर-विचारपूर्वक परमेश्वरके अव्यक्त रूपकोही श्रेष्ठ सिद्ध करके अव्यक्तकी अथवा अक्षरकी उपासना (७. १९, २४; ८, २१) बतलाई है, और उपदेश किया है, कि युक्तचित्तसे युद्ध कर (८. ७); एवं नवें अध्यायमें व्यक्त-उपासनारूप प्रत्यक्ष धर्म बतलाकर कहा है, कि परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे सभी कर्म करने चाहिये (९. २७, ३४; ११. ५५); तो अब इन दोनोंमें श्रेष्ठ मार्ग कौन-सा है; इस प्रश्नमें व्यक्तोपासनाका अर्थ भक्ति है। परंतु यहाँ भक्तिसे भिन्न भिन्न अनेक उपास्योंका अर्थ विबक्षित नहीं है, उपास्य अथवा प्रतीक कोईभी हो; उसमें एकही सर्वव्यापी परमेश्वरकी भावना रखकर जो भक्ति की जाती है, वही सच्ची व्यक्त उपासना है, और इस अध्यायमें वही उद्दिष्ट है।]

अर्जुनने कहा :– (१) इस प्रकार सदा युक्त अर्थात् योगयुक्त हो कर जो भक्त तुम्हारी उपासना करते हैं; और जो अव्यक्त अक्षर अर्थात् ब्रह्मकी उपासना करते हैं, उनमें उत्तम (कर्म-)योगवेत्ता कौन हैं?

श्रीभगवानने कहा :– (२) मुझमें मन लगाकर सदा युक्तचित्त हो करके, परम श्रद्धासे जो मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे मतमें सबसे उत्तम युक्त अर्थात् योगी

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

हैं (३) परंतु जो अनिर्देश्य अर्थात् सबके मूलमें रहनेवाले अचल, प्रत्यक्ष न दिखलाये जानेवाले, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिंत्य और कूटस्थ अर्थात् नित्य अक्षर अर्थात् ब्रह्मकी उपासना (४) सब इंद्रियोंको रोककर सर्वत्र सम-बुद्धि रखते हुए करते हैं, वे सब भूतोंके हितमें निमग्न (लोगभी) मुझेही पाते हैं; (५) (तथापि) उनका चित्त अव्यक्तमें आसक्त रहनेके कारण उनको अधिक क्लेश होते हैं। क्योंकि (व्यक्त देहधारी मनुष्योंको) अव्यक्त उपासनाका मार्ग कष्टसे सिद्ध होता है। (६) परंतु जो मुझमें सब कर्मोंका संन्यास अर्थात् अर्पण करके मत्परायण होते हुए अनन्य-योगसे मेरा ध्यान कर मुझे भजते हैं, (७) हे पार्थ ! मुझमें चित्त लगानेवाले उन लोगोंका, मैं इस मृत्युमय संसार-सागरसे बिना विलंब किये, उद्धार कर देता हूँ। (८) (अतएव) मुझमेंही मन लगा, मुझमें बुद्धिको स्थिर कर। जिससे तू आगे निःसंदेह मुझमेंही निवास करेगा।

[इसमें भक्तिमार्गकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन है। दूसरे श्लोकमें पहले यह सिद्धान्त किया है, कि भगवद्भक्त उत्तम योगी है, फिर तीसरे श्लोकमें पक्षांतर-बोधक 'तु' अव्ययका प्रयोग कर, उसमें और चौथे श्लोकमें कहा है, कि अव्यक्तकी उपासना करनेवालेभी मुझेही पाते हैं। परंतु इसके सत्य होनेपर-भी पांचवें श्लोकमें यह बतलाया है, कि अव्यक्त-उपासकोका मार्ग अधिक क्लेशदायक होता है; छठे और सातवें श्लोकमें वर्णन किया है, कि अव्यक्तकी अपेक्षा व्यक्तकी उपासना सुलभ होती है; और अंतमें आठवें श्लोकमें उसके

§§ अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

| अनुसार व्यवहार करनेका अर्जुनको उपदेश किया है। सारांश, ग्यारहवें अध्यायके अंतमें (गीता ११. ५५) जो उपदेश कर चुके हैं, यहाँ अर्जुनके प्रश्न करनेपर उसीको दृढ कर दिया है। भक्ति-मार्गमें सुलभता क्या है? – इसका विस्तारपूर्वक विचार गीतारहस्यके तेहरवें प्रकरणमें कर चुके हैं, इस कारण यहाँ हम उसकी पुनरुक्ति नहीं करते। इतनाही कह देते हैं, कि अव्यक्तकी उपासना कष्टमय होनेपरभी मोक्षदायकही है; और भक्ति-मार्गवालोंको स्मरण रखना चाहिये, कि भक्ति-मार्गमेंभी कर्मोंको न छोड़कर उन्हेंही ईश्वरार्पणपूर्वक अवश्य करना पड़ता है। और इसी हेतुसे छठे श्लोकमें ही सब कर्मोंका संन्यास करके 'मुझमें ये शब्द रखे गये हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है, कि भक्ति-मार्गमेंभी कर्मोंको स्वरूपतः न छोड़ें, किंतु परमेश्वरमें उन्हें, अर्थात् उनके फलोंको, अर्पण कर दें। इससे प्रकट होता है, कि भगवानने इस अध्यायके अंतमें जिस भक्तिमान् पुरुषको अपना प्यारा बतलाया है, उसेभी इसी अर्थात् निष्काम कर्मयोग-मार्गकाही समझना चाहिये, स्वरूपतः कर्म-संन्यासीको नहीं। इस प्रकार भक्ति-मार्गकी श्रेष्ठता और सुलभता बतला कर अब परमेश्वरकी ऐसी भक्ति करनेके उपाय अथवा साधन बतलाते हुए उनके तारतम्यकाभी अंतमें स्पष्टीकरण करते हैं :–]

(९) अब (इस प्रकार) मुझमें भली भाँति चित्तको स्थिर करते तुझसे न बन पड़े, तो हे धनंजय ! अभ्यासकी सहायतासे अर्थात् बार-बार प्रयत्न करके मेरी प्राप्ति कर लेनेकी आशा रख। (१०) यदि अभ्यास करनेमेंभी तू असमर्थ हो, तो मदर्थ अर्थात् मेरी प्राप्तिके अर्थ (शास्त्रोंमें बतलाये हुए ज्ञान-ध्यान-भजन-पूजापाठ आदि) कर्म करता जा; मदर्थ (ये) कर्म करनेसेभी तू सिद्धि पावेगा। (११) परंतु यदि इसके करनेमेंभी तू असमर्थ हो, तो मद्योग अर्थात् मदर्पणपूर्वक योग, याने कर्मयोगका आश्रय करके यतात्मा होकर अर्थात् धीरे धीरे चित्तको रोकता हुआ, (अंतमें) सब कर्मोंके फलोंका त्याग कर दे। (१२) क्योंकि अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान

अधिक अच्छा है, ज्ञानकी अपेक्षा ध्यानकी योग्यता अधिक है, ध्यानकी अपेक्षा कमफलका त्याग (श्रेष्ठ है) और (इस कर्मफलके) त्यागसे तुरंतही शांति (प्राप्त होती है) है।

[कर्मयोगकी दृष्टिसे ये श्लोक अत्यंत महत्त्वके हैं। इन श्लोकोंमें भक्ति-युक्त कर्मयोगके सिद्ध होनेके लिये अभ्यास, ज्ञान-भजन आदि साधन बतलाकर, इनके और अन्य साधनोंके तारतम्यका विचार करके अंतमें – अर्थात् १२ वें श्लोकमें – कर्मफलके त्यागकी, अर्थात् निष्काम कर्मयोगकी, श्रेष्ठता वर्णित है। निष्काम कर्मयोगकी श्रेष्ठताका वर्णन कुछ यहीं नहीं है; किंतु तीसरे (३.८), पाँचवें (५. २), छठे (६. ४६) अध्यायोंमेंभी यही अर्थ स्पष्ट रीतिसे वर्णित है; और उसके अनुसार फलत्यागरूप कर्मयोगका आचरण करनेके लियेभी स्थान-स्थानपर अर्जुनको उपदेश किया है (गीतार. प्र. ११, पृ. ३०९–३१०)। परंतु जिनका संप्रदाय गीता-धर्मसे जुदा है, उनके लिये यह बात प्रतिकूल है, इसलिये उन्होंने ऊपरके श्लोकोंका और विशेषतया १२ वें श्लोकके पदोंका अर्थ बदलनेका प्रयत्न किया है। निरे ज्ञान-मार्गी अर्थात् सांख्य-टीकाकारोंको यह पसंद नहीं है, कि ज्ञानकी अपेक्षा कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ बतलाया जावे, इसलिये उन्होंने कहा है, कि या तो ज्ञान शब्दसे ‘ पुस्तकोंका ज्ञान ’ लेना चाहिये, अथवा कर्मफलत्यागकी इस प्रशंसाको अर्थवादात्मक याने कोरी प्रशंसा समझनी चाहिये। इसी प्रकार पातंजलयोगमार्गवालोंको अभ्यासकी अपेक्षा कर्मफलत्यागका बड़प्पन नहीं सुहाता; और कोरे भक्ति-मार्गवालोंको – अर्थात् जो कहते हैं, कि भक्तिको छोड़ दूसरे कोईभी कर्म न करो, उनको – ध्यानकी अपेक्षा अर्थात् भक्तिकी अपेक्षा कर्मफलत्यागकी श्रेष्ठता मान्य नहीं है। वर्तमान समयमें लुप्त-सा हो गया है, पातंजलयोग, ज्ञान और भक्ति, गीताका भक्तियुक्त कर्म योग-संप्रदाय इन तीनों संप्रदायोंसे भिन्न, है और इसीसे उस संप्रदायका कोई टीकाकारभी नहीं पाया जाता है। अतएव आजकल गीतापर जितनी टीकाएँ पाई जाती हैं, उनमें कर्मफलत्यागकी श्रेष्ठता अर्थवादात्मक समझी गई है। परंतु हमारी रायमें यह भूल है। गीतामें निष्काम कर्म योगकोही प्रतिपाद्य मान लेनेसे इस श्लोकके अर्थके विषयमें कोईभी अड़चन नहीं रहती। यदि मान लिया जाय, कि कर्म छोड़नेसे निर्वाह नहीं होता, निष्काम कर्म करनाही चाहिये; तो स्वरूपतः कर्मोंको त्यागनेवाला ज्ञान-मार्ग कर्मयोगसे हलका जँचने लगता है; और इंद्रियोंकी कोरी कसरत करनेवाला पातंजलयोग, अथवा सभी कर्मोंको छोड़ देनेवाला भक्ति-मार्गभी कर्मयोगकी अपेक्षा कम योग्यताका सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार निष्काम कर्मयोगकी श्रेष्ठता प्रमाणित हो जानेपर यही प्रश्न रह जाता है, कि कर्मयोगमें आवश्यक भक्तियुक्त साम्य-बुद्धिको प्राप्त करनेके लिये उपाय क्या है? ये उपाय तीन हैं – अभ्यास, ज्ञान और ध्यान। इनमेंसे यदि किसीसे अभ्यास न सधे, तो

वह ज्ञान अथवा ध्यानमेंसे किसीभी उपायको स्वीकार कर ले। गीताका कथन है, कि इन उपायोंका आचरण करना यथोक्त क्रमसे सुलभ है। १२ वें श्लोकमें कहा है, कि यदि इनमेंसे एकभी उपाय न सधे, तो मनुष्यको चाहिये, कि वह कर्मयोगके आचरण करनेकाही एकदम आरंभ कर दे। अब यहाँ एक शंका यह होती है, कि जिससे अभ्यास नहीं सधता, और जिससे ज्ञान-ध्यानभी नहीं होता, वह कर्मयोग करेगाही कैसे ? अतः कई एकोंने निश्चय किया है, कि कर्मयोगको सबकी अपेक्षा सुलभ कहनाही निरर्थक है। परंतु विचार करनेसे दीख पड़ेगा, कि इस आक्षेपमें कुछभी जान नहीं है। १२ वें श्लोकमें यह नहीं कहा है, कि सब कर्मोंके फलोंका 'एकदम' त्याग कर दे, वरन् यह कहा है, कि पहले भगवानके बतलाये हुए कर्मयोगका आश्रय करके, अर्थात् ततः, तदनंतर धीरे धीरे इस बातको अंतमें सिद्ध कर ले। और ऐसा अर्थ करनेसे कुछभी विसंगति नहीं रह जाती। पिछले अध्यायोंमें कह चुके हैं, कि कर्मफलके स्वल्प आचरणसेही नहीं (गीता २.४०), किंतु जिज्ञासा (गीता ६.४४ और टिप्पणी) हो जानेसेभी मनुष्य, कोल्हूमें धरे जैसे आप-ही-आप अंतमें सिद्धिकी ओर खींचा चला जाता है। अतएव उस मार्गकी सिद्धि पानेका पहला साधन या सीढी यही है, कि कर्मयोगका आश्रय करना चाहिये – अर्थात् इस मार्गसे जानेकी मनमें इच्छा होनी चाहिये। कौन कह सकता है, कि यह साधन अभ्यास, ज्ञान और ध्यानकी अपेक्षा सुलभ नहीं है १२ वें श्लोकका भावार्थभी यही है। न केवल भगवदगीताहीमें, किंतु सूर्य-गीतामेंभी कहा है :–

ज्ञानादुपास्तिरुत्कृष्टा कर्मोत्कृष्टमुपासनात् ।
इति यो वेद वेदान्तैः स एव पुरुषोत्तमः ।।

" जो इस वेदान्त तत्त्वको जानता है, कि ज्ञानकी अपेक्षा उपासना अर्थात् ध्यान या भक्ति उत्कृष्ट है, एवं उपासनाकी अपेक्षा कर्म अर्थात् निष्काम कर्म श्रेष्ठ है, वही पुरुषोत्तम है " (सूर्यगी. ४. ७७)। सारांश, भगवद्गीताका निश्चित मत यह है, कि कर्मफल-त्यागरूपी योग अर्थात् ज्ञान-भक्तियुक्त निष्काम कर्मयोगही सब मार्गोंमें श्रेष्ठ है; और इसके अनुकूलही नहीं, प्रत्युत पोषक युक्तिवाद १२ वें श्लोकमें है। यदि दूसरे किसी संप्रदायको वह न रुचे, तो वे उसे छोड़ दें, परंतु अर्थकी व्यर्थ खींचातानी न करें। इस प्रकार कर्मफल-त्यागको श्रेष्ठ सिद्ध करके, उस मार्गसे जानेवालेको (स्वरूपतः कर्म छोड़नेवालेको नहीं) जो सम और शांत स्थिति अंतमें प्राप्त होती है, उसका वर्णन करके अब भगवान् बतलाते हैं, कि ऐसाही भक्त मुझे अत्यंत प्रिय है :–]

§§ अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

(१३) जो किसीसे द्वेष नहीं करता, जो सब भूतोंके साथ मित्रतासे बर्तता है, जो कृपालू है, जो ममत्व-बुद्धि और अहंकारसे रहित है, जो दुःख और सुखमें समान है, एवं जो क्षमाशील है, (१४) जो सदा संतुष्ट, संयमी तथा दृढ निश्चयी है, जिसने अपने मन और बुद्धिको मुझमें अर्पणकर दिया है, वह मेरा (कर्म-)योगी भक्त मुझको प्यारा है। (१५) जिससे न तो लोगोंको क्लेश होता है और न जो लोगोंसेभी क्लेश पाता है, ऐसेही जो हर्ष, क्रोध, भय और विषादसे अलिप्त है, वही मुझे प्रिय है। (१६) मेरा वही भक्त मुझे प्यारा है, कि जो निरपेक्ष, पवित्र और दक्ष है, अर्थात् किसीभी कामको आलस्य छोडकर करता है, जो (फलके विषयमें) उदासीन है, जिसे कोईभी विकार डिगा नहीं सकता, और जिसने (काम्य फलके) सब आरंभ याने उद्योग छोड़ दिये हैं। (१७) जो न (किसीभी बातका) आनंद मानता है, न द्वेष करता है, जो न शोक करता है और न इच्छाभी रखता है, जिसने (कर्मके) शुभ और अशुभ (फल) छोड़ दिये हैं, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है। (१८) जिसे शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी, सुख और दुःख समान हैं, और जिसे (किसीमेंभी) आसक्ति नहीं है, (१९) जिसे निंदा और स्तुति दोनों एकसी हैं, जो मितभाषी है, एवं जो कुछ मिल जावे उसीमें संतुष्ट है, जिसका चित्त स्थिर है, और जो अनिकेत है अर्थात् जिसका (कर्म-फलाशारूप) ठिकाना कहींभी नहीं रह गया है, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्यारा है।

['अनिकेत' शब्द उन यतियोंके वर्णनोंमेंभी अनेक बार आया करता है, कि जो गृहस्थाश्रम छोड, संन्यास धारण करके भिक्षा माँगते हुए जंगलोंमें घूमते रहते हैं (मनु. ६. २५) और इसका धात्वर्थ ' बिना घरवाला ' है। अतः इस अध्यायके 'निर्मम', 'सर्वारंभपरित्यागी' और 'अनिकेत' शब्दोंसे, तथा गीतामें अन्यत्र 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः' (गीता ४. २१), अथवा 'विविक्तसेवी', (गीता १८. ५२) इत्यादि जो शब्द हैं, उनके आधारसे संन्यास-मार्गवाले टीकाकार कहते हैं, कि संन्यासाश्रम मार्गका यह परम ध्येय – " घर-द्वार छोड कर बिना किसी इच्छाके जंगलोंमें आयुके दिन बिताना)" – ही गीतामें प्रतिपाद्य है; और इसके लिये वे स्मृति-ग्रंथोंके संन्यास-आश्रम प्रकरणके श्लोकोंका प्रमाण दिया करते हैं। गीता-वाक्योंके ये निरे संन्यास-प्रतिपादक अर्थ संन्यास-संप्रदायकी दृष्टिसे महत्त्वके हो सकते हैं, किंतु वे सच्चे नहीं हैं। क्योंकि गीताके अनुसार 'निरग्नि' अथवा 'निष्क्रिय' होना 'सच्चा' संन्यास नहीं है; और पीछे कई बार गीताका यह स्थिर सिद्धान्त कहा जा चुका है (गीता ५. २; ६. १, २), कि केवल फलाशाको छोड़ना चाहिये, न कि कर्मको। अतः 'अनिकेत' पदका ' घर-द्वार छोड़ना ' अर्थ न करके, ऐसा करना चाहिये कि जिसका गीताके कर्मयोगके साथ मेल मिल सके। गीताके ४. २० वें श्लोकमें कर्मफलकी आशा न रखनेवाले पुरुषकोही 'निराश्रय' विशेषण लगाया गया है; और गीता ६. १ में उसी अर्थमें ' अनाश्रितः कर्मफलं ' शब्द आये हैं। 'आश्रय' और 'निकेत' इन दोनों शब्दोंका अर्थ एकही है। अतएव अनिकेतका गृहत्यागी अर्थ न करके, ऐसा करना चाहिये, कि आदिमें जिसके मनका स्थान फँसा नहीं है। इसी प्रकार ऊपर १६ वें श्लोकमें जो 'सर्वारंभपरित्यागी' शब्द है, उसका अर्थभी "सारे कर्म या उद्योगोंको छोडनेवाला" नहीं करना चाहिये, किंतु गीता ४. १९ में जो यह कहा है, कि "जिसके समारंभ फलाशा-विरहित हैं, उसके कर्म ज्ञानसे दग्ध हो जाते हैं" वैसाही अर्थ याने "काम्य आरंभ अर्थात् कर्म छोड़नेवाला" करना चाहिये, – यह बात गीता १८. २; ८१. ४९ से सिद्ध होती है। सारांश, जिसका चित्त घर-गृहस्थीमें, बाल-बच्चोंमें अथवा संसारके अन्यान्य कामोंमें उलझा रहता है, उसको आगे उससे दुःख होता है। अतएव गीताका इतनाही कहना है, कि इन सब बातोंमें चित्तको फँसने न दें; और मनकी इसी विरक्त स्थितिको प्रकट करनेके लिये गीताके 'अनिकेत' और 'सर्वारंभपरित्यागी' आदि शब्द स्थितप्रज्ञके वर्णनमें आया करते हैं। येही शब्द यतियोंके अर्थात् कर्म त्यागनेवाले संन्यासियोंके वर्णनोंमेंभी स्मृतिग्रंथोंमें आये हैं। पर सिर्फ इसी बुनियादपर यह नहीं कहा जा सकता, कि कर्मत्यागरूप संन्यासही गीतामें प्रतिपाद्य है। क्योंकि, इसके साथही गीताका यह दूसराभी निश्चित सिद्धान्त है, कि जिसकी बुद्धिमें वैराग्य पूर्णतः भिद गया

§§ ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता सुउपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

हो, उस ज्ञानी पुरुषकोभी इसी विरक्त-बुद्धिसे फलाशा छोड़कर शास्त्रतः प्राप्त होनेवाले सब कर्म करतेही रहना चाहिये। इस समूचे पूर्वापर संबंधको बिना समझे, गीतामें जहाँ कहीं 'अनिकेत' को जोडके वैराग्यबोधक शब्द मिल जावें, तो उन्हींपर सारा दारामदार रख कर यह कह देना ठीक नहीं है, कि गीतामें कर्मसंन्यास-प्रधान मार्गही प्रतिपाद्य है।]

(२०) ऊपर बतलाये हुए इस अमृततुल्य धर्मका जो मत्परायण होते हुए श्रद्धासे आचरण करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यंत प्रिय हैं।

[यह वर्णन पहले हो चुका है (गीता ६. ४७; ७. १८), कि भक्तिमान् ज्ञानी पुरुष सबसे श्रेष्ठ है; उस वर्णनके अनुसार भगवानने इस श्लोकमें बतलाया है, कि उनका अत्यंत प्रिय कौन है, अर्थात् यहाँ परम भगवद्भक्त कर्मयोगीका वर्णन किया है। पर भगवानही गीता ९. २९ वें श्लोकमें कहते हैं, कि "मुझे सब एकसे हैं, कोई विशेष प्रिय अथवा द्वेष्य नहीं।" देखनेमें यह विरोध प्रतीत होता है सही; पर यह जान लेनेसे कोई विरोध नहीं रह जाता, कि एक वर्णन सगुण उपासनाका अथवा भक्ति-मार्गका है; और दूसरा अध्यात्म-दृष्टि अथवा कर्मविपाक-दृष्टिसे किया गया है। गीतारहस्यके तेरहवें प्रकरणके अंतमें (पृ. ४३०–४३१) इस विषयका विवेचन है।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग, शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

त्रयोदशोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

तेरहवाँ अध्याय

[पिछले अध्यायमें यह बात सिद्ध की गई, कि अनिर्देश्य और अव्यक्त परमेश्वरका (बुद्धिसे) चिंतन करनेपर अंतमें मोक्ष तो मिलता है, परंतु उसकी अपेक्षा श्रद्धासे परमेश्वरके प्रत्यक्ष और व्यक्त स्वरूपकी भक्ति करके, परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे सब कर्मोंको करते रहनेपर, वही मोक्ष सुलभ रीतिसे मिल जाता है। परंतु इतनेहीसे ज्ञान-विज्ञानका वह निरूपण समाप्त नहीं हो जाता, कि जिसका आरंभ सातवें अध्यायमें किया गया है। परमेश्वरका पूर्ण ज्ञान होनेके लिये बाहरी सृष्टिके क्षर-अक्षर-विचारके साथही साथ मनुष्यके शरीर और आत्माका, अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकाभी, विचार करना पडता है। ऐसेही यदि सामान्य रीतिसे जान लिया, कि सब व्यक्त पदार्थ जड़ प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं; तोभी यह बतलाये बिना ज्ञान-विज्ञानका निरूपण पूरा नहीं होता, कि प्रकृतिके किस गुणसे यह विस्तार होता है? और उसका क्रम कौन-सा है? अतएव तेरहवें अध्यायमें पहले क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विचार, और फिर आगे चार अध्यायोंमें गुणत्रयका विचार बतलाकर अठारहवें अध्यायमें समग्र विषयका उपसंहार किया गया है। सारांश, तीसरी षडध्यायी स्वतंत्र नहीं है, तथा कर्मयोगकी सिद्धीके लिये जिस ज्ञान-विज्ञानके निरूपणका सातवें अध्यायमें आरंभ हो चुका है, उसीकी पूर्ति इस षडध्यायीमें की गई है (गीतारहस्य प्र. १४, पृ. ४५४–४५६)। गीताकी कई प्रतियोंमें इस तेरहवें अध्यायमेंके आरंभमें, यह श्लोक पाया जाता है। अर्जुन उवाच :– "प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च। एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव॥" और उसका अर्थ यह है। अर्जुनने कहा :– "मुझे प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेयके जाननेकी इच्छा है, सो बतलाओ।" परंतु स्पष्ट दीख पडता है, कि यह न जानकर, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार गीतामें आया कैसे है, किसीने पीछेसे यह श्लोक गीतामें घुसेड़ दिया है। टीकाकार इस श्लोकको क्षेपक मानते हैं; और क्षेपक न माननेसे गीताके श्लोकोंकी संख्याभी सात सौसे एक अधिक बढ़ जाती है। अतः इस श्लोकको हमनेभी प्रक्षिप्तही मानकर शांकरभाष्यके अनुसार इस अध्यायका आरंभ किया है।]

श्रीभगवानने कहा :– (१) हे कौन्तेय! इस शरीरकोही क्षेत्र कहते हैं।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

§ § तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

इसे (शरीरको) जो जानता है, उसे तद्विद अर्थात् इस शास्त्रके जाननेवाले, क्षेत्रज्ञ कहते हैं। (२) हे भारत! सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञभी मुझेही समझ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरा (परमेश्वरका) ज्ञान माना गया है।

[पहले श्लोकमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' इन दो शब्दोंका अर्थ दिया है; और दूसरे श्लोकमें क्षेत्रज्ञका यह स्वरूप बतलाया है, कि क्षेत्रज्ञ मैं परमेश्वर हूँ, अथवा जो पिंडमें है, वही ब्रह्मांडमें है। दूसरे श्लोकके चापि = भी शब्दोंका अर्थ यह है – न केवल क्षेत्रज्ञही, प्रत्युत क्षेत्रभी मैंही हूँ। क्योंकि, जिन सातवें तथा आठवें अध्यायमें बतला चुके हैं, कि पंचमहाभूतोंसे क्षेत्र या शरीर बनता है, वे प्रकृतिसे बने हैं; और यह प्रकृति परमेश्वरकी ही कनिष्ठ विभूति है (गीता ७. ४; ८. ४; ९. ८)। इस रीतिसे क्षेत्र या शरीरके पंच महाभूतोंसे बने रहनेके कारण क्षेत्रका समावेश उस वर्गमें होता है, जिसे क्षर-अक्षर-विचारमें 'क्षर' कहते हैं; और क्षेत्रज्ञही परमेश्वर है। इस प्रकार क्षराक्षर-विचारके समान क्षेत्रज्ञका विचारभी परमेश्वरके ज्ञानका एक भाग बन जाता है (गीतार. प्र. ६, पृ. १४३–१४९); और इसी अभिप्रायको मनमें लाकर दूसरे श्लोकके अंतमें यह वाक्य आया है, कि "क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरा अर्थात् परमेश्वरका ज्ञान है" जो लोग अद्वैत वेदान्तको नहीं मानते, उन्हें 'क्षेत्रज्ञभी मैंही हूँ' इस वाक्यकी खींचातानी करनी पडती है और प्रतिपादन करना पडता है, कि इस वाक्यसे 'क्षेत्रज्ञ' तथा 'मैं परमेश्वर'का अभेदभाव नहीं दिखलाया जाता; और दूसरे कई लोग 'मेरी' (मम) पदका अन्वय 'ज्ञान' शब्दके साथ न लगा 'मतं' अर्थात् 'माना गया है' शब्दके साथ लगाकर यों अर्थ करते हैं, कि "इनके ज्ञानको मैं ज्ञान समझता हूँ।" पर ये अर्थ सहज नहीं हैं। आठवें अध्यायके आरंभमेंही वर्णन है, कि देहमें निवास करनेवाला आत्मा (अधिदेव) मैंही हूँ, अथवा "जो पिंडमें है, वही ब्रह्मांडमें है"; और सातवेंमेंभी भगवानने 'जीव'को अपनीही परा प्रकृति कहा है (७. ५) इसी अध्यायके २२ वें और ३१ वें श्लोकमेंभी ऐसाही वर्णन है। अब बतलाते हैं, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विचार कहाँ पर और किसने किया है :–]

(३) क्षेत्र क्या है, वह किस प्रकारका है, उसके और कौन कौन विकार हैं, (उसमें भी) किससे क्या होता है; ऐसे ही वह अर्थात् क्षेत्रज्ञ कौन है और उसका प्रभाव क्या है? – इसे मैं संक्षेपसे बतलाता हूं, सुन।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

§ § महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इंद्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

(४) ब्रह्मसूत्रके पदोंसेभी, यह विषय गाया गया है, कि जिन्हें बहुत प्रकारसे, विविध छंदोंमें, पृथक् पृथक् (अनेक) ऋषियोंने (कार्यकारणरूप) हेतु दिखला कर पूर्ण निश्चित किया है ।

[गीतारहस्यके परिशिष्ट प्रकरणमें (गीतार. पृ. ५३३–५३८) हमने विस्तारपूर्वक दिखलाया है, कि इस श्लोकमें ब्रह्मसूत्र शब्दसे वर्तमानवेदान्त सूत्र उद्दिष्ट हैं । उपनिषद् किसी एकही ऋषिका कोई एक ग्रंथ नहीं है, अनेक ऋषियोंको भिन्न भिन्न काल या स्थानमें जिन अध्यात्म-विचारोंका स्फुरण हो आया, वे विचार बिना किसी पारस्परिक संबंधके भिन्न भिन्न उपनिषदोंमें वर्णित हैं, इसलिये उपनिषद् संकीर्ण हो गये हैं, और कई स्थानोंपर वे परस्पर-विरुद्धसे जान पडते हैं । ऊपरके श्लोकके पहले चरणमें जो 'विविध' और 'पृथक्' शब्द हैं, वे उपनिषदोंके इस संकीर्ण स्वरूपकाही बोध कराते हैं । इस प्रकार इन उपनिषदोंके संकीर्ण और परस्परविरुद्ध होनेके कारण, आचार्य बादरायणने उनके सिद्धान्तोंकी एकवाक्यता करनेके लिये ब्रह्म-सूत्रों या वेदान्त-सूत्रोंकी रचनाकी है, और उस सूत्रोंमें उपनिषदोंके सब विषयोंको लेकर प्रमाणसहित अर्थात् कार्यकारण आदि हेतु दिखलाकरके, पूर्ण रीतिसे सिद्ध किया है, कि प्रत्येक विषयके संबंधमें सब उपनिषदोंसे एकही सिद्धान्त कैसे निकाला जाता है; फलतः अर्थात् उपनिषदोंका रहस्य समझनेके लिये वेदान्त-सूत्रोंकी सदैव ज़रूरत पडती है, अतः इस श्लोकमें दोनोंकाभी उल्लेख किया गया है । ब्रह्मसूत्रके दूसरे अध्यायके तीसरे पादके पहले १६ सूत्रोंमें क्षेत्रका विचार और फिर उस पादके अंततक क्षेत्रज्ञका विचार किया गया है । ब्रह्मसूत्रोंमें यह विचार है, इसलिये उन्हें 'शारीरक सूत्र' अर्थात् शरीर या क्षेत्रका विचार करनेवाले सूत्रभी कहते हैं । यह बतला चुके, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विचार किसने और कहाँ किया है; अब बतलाते हैं, कि क्षेत्र क्या है :–]

(५) (पृथिवी आदि पाँच स्थूल) महाभूत, अहंकार, बुद्धि (महान्), अव्यक्त (प्रकृति), दश (सूक्ष्म) इंद्रियाँ और एक (मन); तथा (पाँच) इंद्रियोंके पाँच (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध – ये सूक्ष्म) विषय, (६) इच्छा,

§§ अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना अर्थात् प्राण आदिका व्यक्त व्यापार और धृति याने धैर्य, इस (३१ तत्त्वोंके) समुदायको सविकार क्षेत्र कहते हैं ।

[यह क्षेत्र और उसके विकारोंका लक्षण है । पाँचवे श्लोकमें सांख्य-मतवालोंके पच्चीस तत्त्वोंमेंसे पुरुषको छोड़ शेष चौबीस तत्त्व आ गये हैं । इन्हीं चौबीस तत्त्वोंमें मनका समावेश होनेके कारण इच्छा, द्वेष आदि मनोधर्मोंको अलग बतलानेकी जरूरत न थी । परंतु कणाद-मतानुयायियोंके मतसे ये धर्म आत्माके हैं और इस मतको मान लेनेसे शंका होती है, कि, इन गुणोंका क्षेत्रमेंही समावेश होता है या नहीं ? अतः क्षेत्र शब्दको व्याख्याको निःसंदिग्ध करनेके लिये यहाँ स्पष्ट रीतिसे क्षेत्रमेंही इच्छा-द्वेष आदि द्वंद्वोंका समावेश कर लिया है, और उसीमें भय-अभय आदि अन्य द्वंद्वोंकाभी लक्षणासे समावेश हो जाता है । यह दिखलानेके लिये, कि सबका संघात अर्थात् समूह क्षेत्रसे स्वतंत्र कर्ता नहीं है, उसकी गणना क्षेत्रमेंही की गई है । कई बार 'चेतना' शब्दकाही 'चैतन्य' अर्थ होता है । परंतु यहाँ चेतनासे "जड़ देहमें प्राण आदिके दीख पड़नेवाले व्यापार, अथवा जीवितावस्थाकी चेष्टाएँ इतनाही अर्थ विवक्षित है; और ऊपर दूसरे श्लोकमें कहा है, कि जड़ वस्तुमें यह चेतना जिससे उत्पन्न होती है, वह चिच्छक्ति अथवा चैतन्य, क्षेत्रज्ञ-रूपसे, क्षेत्रसे अलग रहता है । 'धृति' शब्दकी व्याख्या आगे गीतामेंही (१८. ३३) की है, उसे देखो । छठे श्लोकके 'समासेन' पदका अर्थ "इन सबका समुदाय" है । अधिक विवरण गीतारहस्यके आठवें प्रकरणके अंतमें (पृ. १४४, १४५) मिलेगा । पहले 'क्षेत्रज्ञ'के माने 'परमेश्वर' बतलाकर फिर स्पष्ट किया है, कि 'क्षेत्र' क्या है ? अब मनुष्यके स्वभावपर ज्ञानके जो परिणाम होते हैं, उनका वर्णन करके यह बतलाते हैं, कि ज्ञान किसको कहते हैं; और आगे ज्ञेयका स्वरूप बतलाया है । ये दोनों विषय दीखनेमें भिन्न दीख पडते हैं अवश्य; पर वास्तविक रीतिसे वे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारकेही दो भाग हैं । क्योंकि, प्रारंभमेंही बतला चुके हैं, कि क्षेत्रज्ञका अर्थ परमेश्वर है । अतएव क्षेत्रज्ञका ज्ञानही परमेश्वरका ज्ञान है, और उसीका स्वरूप अगले श्लोकोंमें वर्णित है – बीचमेंही कोई मनमाना विषय नहीं धर घुसेडा है ।]

(७) मानहीनता, दंभहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, पवित्रता, स्थिरता, मनोनिग्रह, (८) इंद्रियोंके विषयोंमें विराग, अहंकारहीनता, और

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ९॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥ १०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ ११॥

जन्म, मृत्यु, बुढापा, व्याधि एवं दुःखोंको (अपने पीछे लगे हुए) दोष समझना; (९) कर्ममें अनासक्ति, बाल-बच्चों और घर-गृहस्ती आदिमें लंपट न होना, इष्ट या अनिष्टकी प्राप्ति हो, चित्तकी सर्वदा एकहीसी वृत्ति रखना, (१०) और मुझमें अनन्य भावसे अटल भक्ति, 'विविक्त' अर्थात् चुने हुए अथवा एकान्त स्थानमें रहना, साधारण लोगोंके जमावको पसंद न करना, (११) अध्यात्म-ज्ञानको नित्य समझना, और तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंका परिशीलन – इनको ज्ञान कहते हैं; इसके व्यतिरिक्त जो कुछ है, वह सब अज्ञान है।

[सांख्योंके मतमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञका ज्ञानही प्रकृति-पुरुषके विवेकका ज्ञान है, और उसे इसी अध्यायमें आगे बतलाया है (गीता १३.१९–२३; १४.१९)। इसी प्रकार अठारहवें अध्यायमें (गीता १८.२०) ज्ञानके स्वरूपका यह व्यापक लक्षण बतलाया है – "अविभक्तं विभक्तेषु"। परंतु मोक्षशास्त्रम क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके ज्ञानका अर्थ केवल बुद्धिसे यही जान लेना विवक्षित नहीं होता, कि अमुक अमुक बातें अमुक प्रकारकी हैं। अध्यात्म शास्त्रका सिद्धान्त यह है, कि उस ज्ञानकाका देहके स्वभावपर साम्य-बुद्धिरूप परिणाम होना चाहिये, अन्यथा वह ज्ञान अपूर्ण या कच्चा है। अतएव यह बतलाकर, कि बुद्धिसे अमुक अमुक जान लेनाही ज्ञान है, ऊपरके पाँच श्लोकोंमें ज्ञानकी व्याख्या इस प्रकार की गई है, कि जब उक्त श्लोकोंमें बतलाये हुए मान और दंभका छूट जाना, अहिंसा, अनासक्ति, समबुद्धि इत्यादि बीस गुण मनुष्यके स्वभावमें दीख पड़ने लगें, तब उसे ज्ञान कहना चाहिये, (गीतार. प्र. ९, पृ. २४९, २५०) दसवें श्लोकमें "विविक्त-स्थानमें रहना और जमावको नापसंद करना" भी ज्ञानका एक लक्षण कहा है, उससे कुछ लोगोंने यह दिखानेका प्रयत्न किया है, कि गीताको संन्यास-मार्गही अभीष्ट है। किंतु हम पहलेही बतला चुके हैं (गीता १२.१९ की टिप्पणी; गीतार. प्र. १०, पृ. २८५), कि यह मत ठीक नहीं है, और ऐसा अर्थ करना उचितभी नहीं है। यहाँ इतनाही विचार किया है, कि ज्ञान क्या है; और इस विषयमें कोई वादभी नहीं है, वह ज्ञान बाल-बच्चोंमें, घरगृहस्तीमें अथवा लोगोंके जमावमें अनासक्ति है। अब अगला प्रश्न

§§ ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १५॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६॥

यह है, कि इस ज्ञानके हो जानेपर इसी अनासक्त-बुद्धिसे बालबच्चोंमें अथवा गृहस्तीमें रहकर प्राणिमात्रके हितार्थ जगतके व्यवहार किये जायँ अथवा न किये जायँ; और केवल ज्ञानकी व्याख्यासेही इसका निर्णय करना उचित नहीं है। क्योंकि भगवानने गीतामें अनेक स्थलोंपर कहा है, कि ज्ञानी पुरुष कर्मोंमें लिप्त न होकर, उन्हें अनासक्त-बुद्धिसे लोकसंग्रहके निमित्त करता रहे और इसकी सिद्धिके लिये जनकके बर्तावका और अपने व्यवहारका उदाहरणभी दिया है (गीता ३. १९–२५; ४. १४)। समर्थ श्रीरामदास स्वामीके चरित्रसे यह बात प्रकट होती है, कि शहरमें रहनेकी लालसा न रहनेपरभी जगत्के व्यवहार केवल कर्तव्य समझकर कैसे किये जा सकते हैं? (दासबोध १९. ६. २९; १९. ९. ११)। यह ज्ञानका लक्षण हुआ; अब ज्ञेयका स्वरूप बतलाते हैं :–]

(१२) (अब तुझे) वह बतलाता हूँ, (कि), जिसे जान लेनेसे 'अमृत' अर्थात् मोक्ष मिलता है। (वह) अनादि (सबसे) परेका ब्रह्म (है)। न उसे 'सत्' कहते हैं, और न 'असत्'भी। (१३) उसके, सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओर आँखें, सिर और मुँह हैं, सब ओर कान हैं; और वही इस लोकमें सबको व्याप रहा है। (१४) (उसमें) सब इंद्रियोंके गुणोंका आभास है, पर उसके कोईभी इंद्रिय नहीं है; वह (सबसे) असक्त अर्थात् अलग होकरभी सबका पालन करता है; और निर्गुण होनेपरभी गुणोंका उपभोग करता है। (१५) (वह) सब भूतोंके भीतर और बाहरभी है; अचर है और चरभी है; सूक्ष्म होनेके कारण वह अविज्ञेय है; और दूर होकरभी समीप है। (१६) वह (तत्त्वतः) 'अविभक्त' अर्थात् अखंडित (होकरभी) सब भूतोंमें मानो (नानात्वसे) विभक्त हो रहा है;

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७॥

और (सब) भूतोंका पालन करनेवाला, ग्रसनेवाला एवं उत्पन्न करनेवालाभी उसेही समझना चाहिये। (१७) उसेही तेजकाभी तेज, और अंधकारसे परेका कहते हैं, ज्ञान, जो जानने योग्य है, वह (ज्ञेय), और ज्ञानगम्य अर्थात् ज्ञानसे (ही) विदित होनेवालाभी (वही) है, और सबके हृदयमें वही अधिष्ठित है।

[अचिंत्य और अक्षर परब्रह्म जिसे कि क्षेत्रज्ञ अथवा परमात्माभी कहते हैं, (गीता १३. २२), का जो वर्णन ऊपर है, वह आठवें अध्यायवाले अक्षर-ब्रह्मके वर्णनके समान (गीता ८. ९–११) उपनिषदोंके आधारपर किया गया है। पूरा तेरहवाँ श्लोक (श्वे. ३. १६) और अगले श्लोकका यह अर्धांश कि "सब इंद्रियोंके गुणोंका भास होनेवाला, तथापि सब इंद्रियोंसे विरहित" श्वेताश्वतर उपनिषदमें (श्वे. ३. १७) ज्यों-का-त्यों है; एवं "दूर होनेपरभी समीप" ये शब्द ईशावास्य (५) और मुंडक (मुं. ३. १. ७) उपनिषदोंमें पाये जाते हैं। ऐसेही 'तेजका तेज' ये शब्द बृहदारण्यकके (बृ. ४. ४. १६) हैं; और 'अंधकारसे परेका' ये शब्द श्वेताश्वतरके (३. ८) हैं। इसी भाँति यह वर्णन कि "जो सत्भी नहीं है और असत्भी नहीं कहा जा सकता है।" ऋग्वेदके "नासदासीत्नो सदासीत्" इस ब्रह्मविषयक प्रसिद्ध सूक्तको (ऋ. १०. १२९) लक्ष्य कर किया गया है। 'सत्' और 'असत्' शब्दोंके अर्थोंका विचार गीतारहस्य प्र. ९, पृ. २४५–२४६ में विस्तारसहित किया गया है; और फिर गीताके ९. १९वें श्लोककी टिप्पणीमेंभी किया है। गीता ९. १९ में कहा है, कि 'सत्' और 'असत्' मैंही हूँ, अतः अब यह वर्णन विरुद्ध-सा जंचता है, कि सच्चा ब्रह्म न 'सत्' है और न 'असत्भी'। परंतु वास्तवमें यह विरोध सच्चा नहीं है। क्योंकि 'व्यक्त' (क्षर) सृष्टि और 'अव्यक्त' (अक्षर) सृष्टि, ये दोनों यद्यपि परमेश्वरकेही स्वरूप हों, तथापि यह सिद्धान्त गीतामेंही पहले "भूतभृन्न च भूतस्थो" (गीता ९. ५) श्लोकमें और आगे फिर (१५. १६, १७) पुरुषोत्तम-लक्षणमेंभी स्पष्टतया बतलाया गया है। सच्चा परमेश्वर-तत्त्व इन दोनोंसे परे अर्थात् पूर्णतया अज्ञेय है। निर्गुण ब्रह्म किसे कहते हैं, और जगत्में रहकरभी वह जगतसे बाहर कैसे है, अथवा वह 'विभक्त' अर्थात् नानारूपात्मक दीख पड़े, तोभी मूलमें 'अविभक्त' अर्थात् एक-ही कैसे हैं, इत्यादि प्रश्नोंका विचार गीतारहस्यके नवें प्रकरणमें (पृ. २०९ से आगे) किया जा चुका है। सोलहवें श्लोकके 'विभक्तमिव'का अनुवाद यह है –" मानो विभक्त हुआ-सा-दीख पड़ता है।" यह 'इव' शब्द उपनिषदोंमें अनेक वार इसी अर्थमें आया है, कि 'जगत्का' नानात्व भ्रांतिकारक है और एकत्वही

§§ इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८॥
§§ प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ १९॥

सत्य है। उदाहरणार्थ, "द्वैतमिव भवति", "य इह नानेव पश्यति" इत्यादि (बृ. २. ४. १४; ४. ४. १९; ४. ३. ७)। अतएव प्रकट है, कि गीतामें यह अद्वैत सिद्धान्तही प्रतिपाद्य है, कि नाना-नामरूपात्मक माया भ्रष्ट है, और उसमें अविभक्त रहनेवाला ब्रह्मही सत्य है। गीता १८. २० में फिर बतलाया है, कि "अविभक्तं विभक्तेषु" अर्थात् नानात्वमें एकत्व देखना सात्त्विक ज्ञानका लक्षण है। गीतारहस्यके अध्यातम प्रकरणमें वर्णन है, कि यह सात्त्विक ज्ञानही ब्रह्म है। गीतार. प्र. ९, पृ. २१५, २१६; (प्र. ६, पृ. १३२-१३३)।]

(१८) इस प्रकार संक्षेपसे बतला दिया, कि क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय किसे कहते हैं? मेरा भक्त इसे जानकर मेरे स्वरूपको पाता है।

[अध्यात्म या वेदान्तशास्त्रके आधारसे अब तक क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयका विचार किया गया। इनमेंसे 'ज्ञेय'ही क्षेत्रज्ञ अथवा परब्रह्म है और-'ज्ञान', दूसरे श्लोकमें बतलाया हुआ, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान है, इस कारण यही परमेश्वरके सब ज्ञानका संक्षेपमें निरूपण है। १८ वें श्लोकमें यही सिद्धान्त बतला दिया है, कि जब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारही परमेश्वरका ज्ञान है, तब आगे यह आपही सिद्ध है, कि उसका फलभी मोक्षही होना चाहिये। वेदान्तशास्त्रका क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार यहाँ समाप्त हो गया। परंतु प्रकृतिसेही पांचभौतिक विकारवान् क्षेत्र उत्पन्न हुआ है, इसलिये और सांख्य जिसे 'पुरुष' कहते हैं, उसेही अध्यात्मशास्त्रमें 'आत्मा' कहते हैं, इसलिये; सांख्यकी दृष्टिसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारही प्रकृति-पुरुषका विवेक होता है। गीताशास्त्र प्रकृति और पुरुषको सांख्यके समान दो स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानता; और सातवें अध्यायमें (गीता ७. ४, ५) कहा है, कि ये एकही परमेश्वरके, कनिष्ठ और श्रेष्ठ, दो रूप हैं। परंतु सांख्योंके द्वैतके बदले गीताशास्त्रके इस द्वैतको एकबार स्वीकारकर लेनेपर, फिर प्रकृति और पुरुषके परस्परसंबंधका सांख्योंका ज्ञान गीताको अमान्य नहीं है। और यहभी कह सकते हैं, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके ज्ञानकाही रूपांतर प्रकृति-पुरुषका विवेक है (गीतार. प्र. ७) इसीलिये अबतक उपनिषदोंके आधारसे जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ज्ञान बतलाया, उसेही अब सांख्योंकी परिभाषामें किंतु सांख्योंके द्वैतको अस्वीकार करके प्रकृति-पुरुष-विवेकके रूपसे बतलाते हैं:-

(१९) प्रकृति औष पुरुष, दोनोंकोही अनादि समझ। विकार और गुणोंको प्रकृतिसेही उपजा हुआ जान।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

[सांख्यशास्त्रके मतमें प्रकृति और पुरुष, दोनों न केवल अनादिही हैं, प्रत्युत स्वतंत्र और स्वयंभूभी हैं। वेदान्ती समझते हैं, कि प्रकृति परमेश्वरसेही उत्पन्न हुई है, अतएव वह न स्वयंभू है, और न स्वतंत्रभी है (गीता ४. ५. ६)। परंतु यह नहीं बतलाया जा सकता, कि परमेश्वरसे प्रकृति कब उत्पन्न हुई और पुरुष (जीव) परमेश्वरकाही अंश है। (गीता. १५. ७); इस कारण वेदान्तियोंको इतना मान्य है, कि दोनों अनादि हैं। इस विषयका अधिक विवेचन गीतारहस्यके ७ वें प्रकरणमें और विशेषतः पृ. १६२–१६८ में, एवं १० वें प्रकरणके पृ. २६४–२६९ में किया है।]

(२०) कार्य अर्थात् देहके और करण अर्थात् इंद्रियोंके कर्तृत्वके लिये प्रकृति कारण कही जाती है; और (कर्ता न होनेपरभी) सुखदुःखोंको भोगनेके लिये पुरुष (क्षेत्रज्ञ) कारण कहा जाता है।

[इस श्लोकमें 'कार्यकरण'के स्थानमें 'कार्यकारण'भी पाठ है; और तब उसका यह अर्थ होता है :– सांख्योंके महत् आदि तेईस तत्त्व एकसे दूसरा, दूसरेसे तीसरा, इस कार्यकारण-क्रमसे उपजकर सारी व्यक्त-सृष्टि प्रकृतिसे बनती है। यह अर्थभी बेजा नहीं है; परंतु क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विचारमें क्षेत्रकी उत्पत्ति बतलाना प्रसंगानुसार नहीं है। प्रकृतिसे जगत्के उत्पन्न होनेका वर्णन तो पहलेही सातवें और नवें अध्यायमें हो चुका है। अतएव 'कार्यकरण' पाठही यहाँ अधिक प्रशस्त दीख पड़ता है। शांकरभाष्यमें यही 'कार्यकरण' पाठ है।]

(२१) क्योंकि पुरुष प्रकृतिमें अधिष्ठित होकर प्रकृतिके गुणोंका उपभोग करता है; और '(प्रकृतिके) गुणोंको यह संयोग पुरुषको भली-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेके लिये कारण होता है।

[प्रकृति और पुरुषके पारस्परिक संबंधका और भेदका यह वर्णन सांख्यशास्त्रका है, (गीतार. प्र. ७, पृ. १५५–१६२)। अब यह कहकर कि वेदान्ती लोग पुरुषको परमात्मा कहते हैं, सांख्य और वेदान्तका मेल कर दिया गया है; और ऐसा करनेसे प्रकृति-पुरुष-विचार एवं क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारकी पूरी एकवाक्यता हो जाती है।]

§ § उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

§ § ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेण चापरे ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

(२२) (प्रकृतिके गुणोंके इस) उपद्रष्टा अर्थात् समीप बैठकर देखनेवाले, अनुमोदन करनेवाले, भर्ता अर्थात् (प्रकृतिके गुणोंको) बढानेवाले, और उपयोग करनेवालेकोही इस देहका परपुरुष, महेश्वर और परमात्मा कहते हैं। (२३) इस प्रकार पुरुष (निर्गुण) और प्रकृतिको (ही) जो गुणोंसमेत जानता है, वह कैसाभी बर्ताव क्यों न किया करे, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

[२२ वें श्लोकमें जब यह निश्चय हो चुका, कि पुरुषही देहका परमात्मा है, तब सांख्यशास्त्रके अनुसार पुरुषका जो उदासीनत्व और अकर्तृत्व है, वही अब आत्माका अकर्तृत्व हो जाता है और इस प्रकार सांख्योंकी उपपत्तिसे वेदान्तकी एकवाक्यता हो जाती है। वेदान्तवाले कुछ ग्रंथकारोंकी समझ है, कि सांख्यवादी वेदान्तके शत्रु हैं, अतः बहुतेरे वेदान्ती सांख्य-उपपत्तिको सर्वथा त्याज्य मानते हैं। किंतु गीतामें ऐसा न करके क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारका एक-ही विषय एक बार वेदान्तकी दृष्टिसे, और दूसरी बार (वेदान्तके अद्वैत मतको बिना छोड़े) सांख्य-दृष्टिसे, प्रतिपादन किया है, इससे गीताशास्त्रकी सम-बुद्धि प्रकट हो जाती है। यहभी कह सकते हैं, कि उपनिषदोंके और गीताके विवेचनमें यह एक महत्त्वका भेद है (गीतार. परिशिष्ट, पृ. ५२८)। इससे प्रकट होता है, कि यद्यपि गीताको सांख्योंका द्वैतवाद मान्य नहीं है, तथापि उनके प्रतिपादनमें जो कुछ युक्तिसंगत जान पड़ता है, वह गीताको अमान्य नहीं है। दूसरेही श्लोकमें कह दिया है, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ज्ञानही परमेश्वरका ज्ञान है। अब पिंडका ज्ञान और देहके परमेश्वरका ज्ञान संपादनकर मोक्ष प्राप्त करनेके मार्ग प्रसंगके अनुसार संक्षेपसे बतलाते है :–]

(२४) कुछ लोग ध्यानसे स्वयंही अपने आपमें आत्माको देखते हैं; (कोई सांख्ययोगसे देखते हैं और कोई कर्मयोगसे (२५) परंतु इस प्रकार जिन्हें (अपने

§ § यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

आपही) ज्ञान नहीं होता, वे दूसरेसे सुनकर (श्रद्धासे) परमेश्वरका भजन करते हैं। सुनी हुई बातको प्रमाण मान बर्तनेवाले ये पुरुषभी मृत्युको पारकर जाते हैं।

[इन दो श्लोकोंमें पातंजलयोगके अनुसार ध्यान, सांख्य-मार्गके अनुसार ज्ञानोत्तर कर्मसंन्यास, कर्मयोग-मार्गके अनुसार निष्काम बुद्धि परमेश्वरार्पण-पूर्वक कर्म करना और ज्ञान न हो, तोभी श्रद्धासे आप्तोंके वचनोंका विश्वास-कर परमेश्वरकी भक्ति करना (गीता ४. ३९), ये आत्मज्ञानके भिन्न भिन्न मार्ग बतलाये गये हैं। कोई किसीभी मार्गसे जावे, अंतमें उसे भगवानका ज्ञान होकर मोक्ष मिलही जाता है। तथापि पहले जो यह सिद्धान्त किया गया है, कि लोकसंग्रहकी दृष्टिसे कर्मयोग श्रेष्ठ है, वह इससे खंडित नहीं होता। इस प्रकार साधन बतलाकर अगले श्लोकमें समग्र विषयका सामान्य रीतिसे उपसंहार किया है; और उसमेंभी वेदान्तसे कापिल-सांख्यका मेल मिला दिया है।]

(२६) हे भरतश्रेष्ठ ! स्मरण रख, कि स्थावर या जंगम, किसीभी वस्तुका निर्माण क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे होता है। (२७) सब भूतोंमें एक-सा रहनेवाला, और सब भूतोंका नाश हो जानेपरभी जिसका नाश नहीं होता, ऐसे परमेश्वरको जिसने देख लिया, कहना होगा, कि उसीने (सच्चे तत्त्वको) पहचाना। (२८) ईश्वरको सर्वत्र एक-सा व्याप्त समझकर (जो पुरुष) अपने आपकाही घात नहीं करता, अर्थात् अपने आप अच्छे मार्गमें लग जाता है, उस कारणसे वह उत्तम गतिही पाता है।

[२७ वें श्लोकमें परमेश्वरका जो लक्षण बतलाया है, वह पीछे गीताके ८. २० वें श्लोकमें आ चुका है, और उसका स्पष्टीकरण गीतारहस्यके नवें प्रकरणमें किया गया है, (गीतार. प्र. ९, पृ. २१९, २५७)। ऐसेही २८ वें श्लोकमें फिर वही बात कही है, जो पीछे (गीता ६. ५–७) कही जा चुकी है, कि आत्मा अपना बंधु है, और वही अपना शत्रु है। इस प्रकार २६, २७ और २८ वें श्लोकोंमें सब प्राणियोंके विषयमें साम्य-बुद्धिरूप भावका वर्णन कर चुकनेपर बतलाते हैं, कि इसके जान लेनेसे क्या होता है :–]

§§ प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३० ॥
§§ अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥
§§ क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीसु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योबशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संबादे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।। १३ ।।

---

(२९) जिसने यह जान लिया, कि (सब) कर्म सब प्रकारसे केवल प्रकृतिसेही किये जाते हैं, और आत्मा अकर्ता है, अर्थात् कुछभी नहीं करता, कहना चाहिये कि उसने (सच्चे तत्त्वको) पहचान लिया। (३०) जब सब भूतोंका पृथक्त्व अर्थात् नानात्व एकतासे (दीखने लगे), और इस (एकता)सेही (सब) विस्तार दीखने लगे, तब ब्रह्म प्राप्त होता है।

| [अब बतलाते हैं, कि आत्मा निर्गुण, अलिप्त और अक्रिय कैसे है :–]

(३१) हे कौंतेय ! अनादि और निर्गुण होनेके कारण यह अव्यक्त परमात्मा शरीरमें रह करभी कुछ करता-धरता नहीं है, और उसे (किसीभी कर्मका) लेप अर्थात् बंधन नहीं लगता। (३२) जैसे आकाश चारों ओर भरा हुआ है, परंतु सूक्ष्म होनेके कारण उसे (किसीकाभी) लेप नहीं लगता, वैसेही देहमें सर्वत्र रहनेपरभी आत्माको (किसीकाभी) लेप नहीं लगता। (३३) हे भारत ! जैसे अकेला सूर्य इस सारे जगतको प्रकाशित करता है, वैसेही क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्रको अर्थात् शरीरको प्रकाशित करता है।

(३४) इस प्रकार ज्ञान-चक्षुसे अर्थात् ज्ञानरूप नेत्रसे, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको, एवं सब भूतोंकी (मूल) प्रकृतिके मोक्षको, जो जानते हैं, वे परब्रह्मको पाते हैं।

[यह पूरे प्रकरणका उपसंहार है। 'भूतप्रकृतिमोक्ष' शब्दका अर्थ हमने सांख्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार किया है। सांख्योंका सिद्धान्त यह है, कि मोक्षका मिलना या न मिलना आत्माकी अवस्थाएँ नहीं है, क्योंकि वह तो सदैव अकर्ता और असंग है। परंतु प्रकृतिके गुणोंके संगसे वह अपनेमें कर्तृत्वका आरोप किया करता है, इसलिये जब उसका यह अज्ञान नष्ट हो जाता है, तब उसके साथ लगी हुई प्रकृति छूट जाती है, अर्थात् उसीका मोक्ष हो जाता है, और इसके पश्चात् उसका पुरुषके आगे नाचना बंद हो जाता है। अतएव सांख्य-मतवाले प्रतिपादन किया करते हैं, कि तात्त्विक दृष्टिसे बंध और मोक्ष, ये दोनों अवस्थाएँ प्रकृतिकीही हैं (सांख्यकारिका ६२; गीतारहस्य प्र. ७, पृ. १६५–१६६) हमें जान पड़ता है, कि सांख्यके ऊपर लिखे हुए सिद्धान्तके अनुसारही इस श्लोकमें 'प्रकृतिका मोक्ष' ये शब्द आये हैं। परंतु कुछ लोग इन शब्दोंका यह अर्थभी लगाते हैं, कि "भूतेभ्यः प्रकृतेश्च मोक्षः" – पंचमहाभूतोंसे और प्रकृतिसे अर्थात् मायात्मक कर्मोंसे आत्माका मोक्ष होता है। नवें, ग्यारहवें और तेरहवें अध्यायके ज्ञान-विज्ञान निरूपण का भेद ध्यान देनेयोग्य है, कि यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विवेक ज्ञान-चक्षुसे विदित होनेवाला है (गीता १३. ३४)। तो नवें अध्यायकी राजविद्या प्रत्यक्ष अर्थात् चर्मचक्षुसे ज्ञात होनेवाली है (गीता ९. २), और विश्वरूप-दर्शन परम भगवद्भक्तकोभी केवल दिव्य-चक्षुसेही होनेवाला है (गीता ११. ८)।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, प्रकृति-पुरुष-विवेक अर्थात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

चौदहवाँ अध्याय

[तेहरवें अध्यायमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विचार एक बार वेदान्तकी दृष्टिसे और दूसरी बार सांख्यकी दृष्टिसे बतलाया है, एवं उसीमें प्रतिपादन किया है, कि सब कर्तृत्व प्रकृतिकाही है, पुरुष अर्थात् क्षेत्रज्ञ उदासीन रहता है। परंतु इस बातका विवेचन अब तक नहीं हुआ, कि प्रकृतिका यह कर्तत्व क्यों कर चला करता है ? अतएव इस अध्यायमें बतलाते हैं, कि एकही प्रकृतिसे विविध सृष्टि, विशेषतः सजीव सृष्टि, कैसे उत्पन्न होती है ? केवल मानवी सृष्टिकाही विचार करें, तो यह विषय क्षेत्रसंबंधी अर्थात् शरीरका होता है, इसलिये उसका समावेश क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचारमें हो सकता है। परंतु जब स्थावर सृष्टिभी त्रिगुणात्मक प्रकृतिकाही फैलाव है, तब प्रकृतिकें गुणभेदका यह विवेचन क्षर-अक्षर-विचारकाभी भाग हो सकता है। अतएव 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार' इस संकुचित नामको छोड़कर सातवें अध्यायमें जिस ज्ञान-विज्ञानके बतलानेका आरंभ किया था, उसी ज्ञान-विज्ञानको अधिक स्पष्ट रीतिसे फिरभी बतलानेका आरंभ भगवानने अब इस अध्यायमें किया है। सांख्यशास्त्रकी दृष्टिसे इस विषयका विस्तृत निरूपण गीतारहस्यके आठवें प्रकरणमें किया गया है। त्रिगुणके विस्तारका यह वर्णन अनुगीता और मनुस्मृतिके बारहवें अध्यायमेंभी है।]

श्रीभगवानने कहा :– (१) और फिर सब ज्ञानोंसे उत्तम ज्ञान बतलाता हूँ, कि जिसको जानकर सब मुनि इस लोकसे परम सिद्धि पा गये हैं। (२) इस ज्ञानका आश्रय करके मुझसे एकरूपता पाये हुए लोग सृष्टिके उत्पत्ति-कालमेंभी नहीं जन्मते और प्रलय-कालमेंभी व्यथा नहीं पाते; (अर्थात् जन्म-मरणसे एकदम छुटकारा पा जाते हैं।)

| [यह हुई प्रस्तावना। अब पहले बतलाते हैं, कि प्रकृति मेराही स्वरूप है; फिर सांख्योंके द्वैतको अलगकर, वेदान्तशास्त्रके अनुकूल यह निरूपण करते हैं, कि प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणोंसे सृष्टिके नाना प्रकारके व्यक्त पदार्थ किस प्रकार निर्मित होते हैं :–]

§§ मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

§§ सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

(३) हे भारत ! महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरीही योनि है और मैं उसमें गर्भ रखता हूँ; फिर उससे समस्त भूत उत्पन्न होने लगते हैं। (४) हे कौंतेय। (पशुपक्षी आदि) सब योनियोंमें जो जो मूर्तियाँ जन्मती हैं, उनकी योनि महत् ब्रह्म है और मैं बीजदाता पिता हूँ।

(५) हे महाबाहु ! प्रकृतिसे उत्पन्न हुए सत्त्व, रज और तम गुण देहमें रहनेवाले अव्यय अर्थात् निर्विकार आत्माको देहमें बाँध लेते हैं। (६) हे निष्पाप अर्जुन ! इन गुणोमेंसे निर्मलताके कारण प्रकाश डालनेवाला और निर्दोष सत्त्वगुण सुख और ज्ञानके साथसे (प्राणीको) बाँधता है। (७) रजोगुणका स्वभाव रागात्मक है और उससे तृष्णा और आसक्तिकी उत्पत्ति होती है। हे कौंतेय ! वह प्राणीको कर्म करनेके (प्रवृत्तिरूप) संगसे बाँध डालता है। (८) किंतु तमोगुण अज्ञानसे उपजता है और वह सब प्राणियोंको मोहमें डालता है। हे भारत ! वह प्रमाद, आलस्य, और निद्रासे (प्राणी)को बाँध लेता है। (९) सत्त्वगुण सुखमें, और रजोगुण कर्ममें, आसक्ति उत्पन्न करता है। परंतु हे भारत! तमोगुण ज्ञानको ढँक-कर प्रमाद अर्थात् कर्तव्यमूढतामें, या कर्तव्यके विस्मरणमें, आसक्ति उत्पन्न करता है।

[सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणोंके ये पृथक् लक्षण बतलाये गये हैं। किंतु ये गुण कभीभी पृथक् पृथक् नहीं रहते, तीनों सदैव एकत्र रहा करते हैं।

§§ रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥
§§ यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

| उदाहरणार्थ, कोईभी भला काम करना यद्यपि सत्त्वका लक्षण है, तथापि भले | कामको करनेकी प्रवृत्ति होना रजका धर्म है, इस कारण सात्त्विक स्वभावमेंभी | थोड़े-से रजका मिश्रण सदैव रहताही है। इसीसे अनुगीतामें इन गुणोंका इस | प्रकार मिथुनात्मक वर्णन है, कि तमका मिथुन अर्थात् जोड़ा सत्त्व है, और | सत्त्वका जोड़ा रज है (मभा. अश्व. ३६), और कहा है, कि इनके अन्योन्य | अर्थात् पारस्परिक आश्रयसे अथवा झगड़ेसे सृष्टिके सब पदार्थ बनते हैं (सां.का. | १२; गीतार. प्र. ७, पृ. १५८, १५९)। अब पहले इसी तत्त्वको बतलाकर | फिर सात्त्विक, राजस और तामस स्वभावके लक्षण बतलाते हैं :–]

(१०) रज और तमको दबाकर सत्त्व (बलवान) हो जाता है, (तब उसे सात्त्विक कहना चाहिये); एवं इसी प्रकार सत्त्व और तमको दबाकर रज, तथा सत्त्व और रजको दबाकर तम (बलवान हुआ करता है) (११) जब इस देहके सब द्वारोंमें (इंद्रियोंमें) प्रकाश अर्थात् निर्मल ज्ञान उत्पन्न होता, है, तब समझना चाहिये, कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है। (१२) हे भरतश्रेष्ठ ! रजोगुणके बढ़नेसे लोभ, कर्मकी प्रवृत्ति और उसका आरंभ अतृप्ति एवं इच्छा उत्पन्न होती हैं। (१३) और हे कुरुनंदन ! तमोगुणकी वृद्धि होनेपर अंधेरा, कुछभी न करनेकी प्रवृत्ति, प्रमाद, अर्थात् कर्तव्यकी विस्मृति और मोहभी उत्पन्न होता है।

| [यह बतला दिया, कि मनुष्यकी जीवितावस्थामें त्रिगुणोंके कारण | उसके स्वभावमें कौन कौन-से फ़र्क पड़ते हैं। अब बतलाते हैं, कि इन तीन | प्रकारके मनुष्योंको कौन-सी गति मिलती है :–]

(१४) सत्त्वगुणके उत्कर्ष-कालमें यदि प्राणी मर जावे, तो उत्तम तत्त्व जाननेवालोंके, अर्थात् देवता आदिके, निर्मल (स्वर्ग प्रभृति) लोक उसको प्राप्त

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

होते हैं। (१५) रजोगुणकी प्रबलतामें यदि मरे, तो जो कर्मोंमें आसक्त हों, उनमें (जनोंमें) जन्म लेता है; और तमोगुणमें मरे, तो (पशुपक्षी आदि) मूढ योनियोंमें उत्पन्न होता है। (१६) कहा है, कि पुण्य कर्मका फल निर्मल और सात्त्विक होता है, परंतु राजस कर्मका फल दुःख, और तामस कर्मका फल अज्ञान होता है। (१७) सत्त्वसे ज्ञान, तो रजोगुणसे केवल लोभ उत्पन्न होता है। तमोगुणसे न केवल प्रमाद और मोहही उपजता है, प्रत्युत अज्ञानकीभी उत्पत्ति होती है। (१८) सात्त्विक पुरुष ऊपरके अर्थात् स्वर्ग आदि लोकोंको जाते हैं। राजस मध्यम लोकमें अर्थात् मनुष्यलोकमें रहते हैं और कनिष्ठगुणवृत्तिके तामस अधोगति पाते हैं।

[सांख्यकारिकामेंभी यह वर्णन है, कि धार्मिक और पुण्य कर्म-कर्ता होनेके कारण सत्त्वस्थ मनुष्य स्वर्ग पाता है, और अधर्माचरण करके तामस पुरुष अधोगति पाता है (सां. का. ४४)। इसी प्रकार यह १८ वाँ श्लोक अनुगीताके त्रिगुण-वर्णनमेंभी ज्यों-का-त्यों आया है (मभा. अश्व. ३९. १०; मनु. १२. ४०) सात्त्विक कर्मोंसे स्वर्ग-प्राप्ति भले हो जावे, पर स्वर्गसुख है तो अनित्य ही। इस कारण परम पुरुषार्थकी सिद्धि उससे नहीं होती है। सांख्योंका सिद्धान्त है, कि इस परम पुरुषार्थ या मोक्षकी प्राप्तिके लिये उत्तम सात्त्विक स्थिति तो रहेही, उसके सिवा यह ज्ञान होनाभी आवश्यक है, कि प्रकृति अलग है और मैं (पुरुष) जुदा हूँ। सांख्य इसीको त्रिगुणातीत अवस्था कहते हैं; और यद्यपि यह स्थिति सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंसेभी परेकी है, तोभी यह सात्त्विक अवस्था-कीही पराकाष्ठा है, इस कारण इसका समावेश सामान्यतः सात्त्विक वर्गमेंही किया जाता है, उसके लिये एक नया चौथा वर्ग बनानेकी आवश्यकता नहीं है (गीतार. प्र. ७; पृ. १६८)। परंतु गीताको प्रकृति-पुरुषवाला सांख्योंका यह द्वैत मान्य नहीं है, इसलिये सांख्योंके उक्त सिद्धान्तका गीतामें इस प्रकार रूपांतर हो जाता है, कि प्रकृति और पुरुषसे परे जो एक आत्मस्वरूपी परमेश्वर या परब्रह्म है। यही अर्थ अब अगले श्लोकोंमें वर्णित है :–]

§§ नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १९॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥ २०॥

अर्जुन उवाच।

§§ कैर्लिंगैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥ २१॥

श्रीभगवानुवाच।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥ २२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते॥ २३॥

(१९) द्रष्टा अर्थात् उदासीनतासे देखनेवाला पुरुष, जब जान लेता है, कि (प्रकृतिसे) गुणोंके अतिरिक्त दूसरा कोई कर्ता नहीं है, और जब (तीनों) गुणोंसे परेके (तत्त्वको) पहचान लेता है, तब वह मेरे स्वरूपमें मिल जाता है। (२०) देहधारी मनुष्य देहकी उत्पत्तिके कारण स्वरूप उन तीनों गुणों जाकर जन्म, मृत्यु और बुढ़ापेके दुःखोंसे विमुक्त होता हुआ अमृतका अर्थात् मोक्षका अनुभव करता है।

[वेदान्तमें जिसे माया कहते हैं, उसीको सांख्य-मतवाले त्रिगुणात्मक प्रकृति कहते हैं, इसलिये त्रिगुणातीत होनाही मायासे छूट कर परब्रह्मको पहचान लेना है (गीतार. २.४५); और इसीको ब्राह्मी अवस्था कहते हैं (गीता २.७२; १८.५३)। अध्यात्मशास्त्रमें बतलाये हुए त्रिगुणातीतके इस लक्षणको सुनकर उसका और अधिक वृत्तान्त जाननेकी अर्जुनको इच्छा हुई, और पीछे द्वितीय अध्याय में (गीता २.५४) जैसा उसने स्थितप्रज्ञके संबंधमें प्रश्न किया था, वैसाही यहाँभी वह पूछता है :–]

अर्जुनने कहा :- (२१) हे प्रभो! किन लक्षणोंसे (जाना जाय, कि वह) इन तीनों गुणोंके परे चला जाता है? (मुझे बतलाइये, कि) उसका (त्रिगुणातीतका) आचार क्या है और वह इन तीन गुणोंके परे कैसे जाता है?

श्रीभगवानने कहा :– (२२) हे पांडव! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह (अर्थात् क्रमसे सत्त्व, रज और तम, इन गुणोंके कार्य अथवा फल) प्राप्त होनेसेभी जो उनका द्वेष नहीं करता, और प्राप्त न हों, तोभी उनकी आकांक्षा नहीं रखता; (२३) जो (कर्मफलके संबंधमें) उदासीन-सा रहता है; (सत्त्व, रज और तम ये गुण जिसे

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥
§§ मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

चलविचल नहीं कर सकते; तो इतनाही मान कर स्थिर रहता है, कि गुण (अपना अपना) काम करते हैं; जो डिगता नहीं है अर्थात् विकार नहीं पाता है; (२४) जिसे सुख-दुःख एक-सेही हैं; जो स्व-स्थ है अर्थात् अपनेमेंही स्थिर हुआ; मिट्टी, पत्थर और सोना जिसे समानही हैं; प्रिय-अप्रिय, निंदा और अपनी स्तुति जिसे समसमान हैं; जो सदा धैर्यसे युक्त है; (२५) जिसे मान-अपमान या मित्र और शत्रुदल तुल्य हैं अर्थात् एक-से हैं; और (इस समझसे कि प्रकृति सब कुछ करती है) जिसके सब (काम्य) उद्योग छूट गये हैं, उस पुरुषको गुणातीत कहते हैं।

[यह इन दो प्रश्नोंका उत्तर हुआ, कि त्रिगुणातीत पुरुषके लक्षण क्या हैं, और उसका आचार कैसा होता है ? ये लक्षण, और दूसरे अध्यायमें बतलाये हुए स्थितप्रज्ञके लक्षण (२. ५५–७२), एवं बारहवें अध्यायमें (१२.१३–२०) बतलाये हुए भक्तिमान् पुरुषके लक्षण, सब एक-सेही हैं। अधिक क्या कहें ? 'सर्वारंभपरित्यागी', 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' और 'उदासीनः' प्रभृति कुछ विशेषणभी दोनों या तीनों स्थानोंमें एकही हैं। इससे प्रकट होता है, कि पिछले अध्यायमें बतलाये हुए (गीता १३. २४, २५) चार मार्गोंमेंसे किसीभी मार्गके स्वीकारकर लेनेपरभी सिद्धि-प्राप्त पुरुषका आचार और उसके लक्षण सब मार्गोंमें एकहीसे रहते हैं। तथापि पीछे तीसरे, चौथे और पांचवे आदि अध्यायोंमें जो यह दृढ और अटल सिद्धान्त किया है, कि निष्काम कर्म किसीकेभी नहीं छूट सकते; उसके अबाधित होनेसे, स्मरण रखना चाहिये, कि ये स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त या त्रिगुणातीत, सभी कर्म-योगमार्गके हैं। 'सर्वारंभपरित्यागी'का अर्थ १२ वें अध्यायके १९ वें श्लोकको टिप्पणीमें बतला चुके हैं। सिद्धावस्थामें पहुँचे हुए पुरुषोंके इन वर्णनोंको स्वतंत्र मान कर संन्यास-मार्गके टीकाकार अपनेही संप्रदायको गीतामें प्रतिपाद्य बतलाते हैं। परंतु गीतारहस्यके ११ वें और १२ वें प्रकरणमें (पृ. ३२६-३२७ और ३७६–३७७) हमने इस बातका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन कर दिया है, कि यह अर्थ पूर्वापर संदर्भके विरुद्ध है; अतएव ठीक नहीं है। अर्जुनके दोनों प्रश्नोंके उत्तर हो चुके। अब बतलाते हैं, कि ये पुरुष इन तीन गुणोंसे परे कैसे जाते हैं :–]

(२६) और जो (मुझेही सब कर्म अर्पण करनेके) अव्यभिचार, अर्थात्

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।। १४।।

एकनिष्ठ भक्तियोगसे, मेरी सेवा करता है, वह इन तीनों गुणोंसे परे जाकर ब्रह्मभूत अवस्था पा लेनेमें समर्थ हो जाता है।

[संभव है, इस श्लोकसे यह शंका हो, कि जब त्रिगुणातीत अवस्था सांख्य-मार्गकी है, तब वही अवस्था कर्म-प्रधान भक्तियोगसे कैसे प्राप्त हो जाती है? इसीसे भगवान् कहते हैं :–]

(२७) क्योंकि, अमृत और अव्यय ब्रह्मका, शाश्वत धर्मका, एवं एकान्तिक अर्थात् परमावधिके अत्यंत सुखका अंतिम स्थान मैंही हूँ।

[इस श्लोकका भावार्थ यह है, कि सांख्योंके द्वैतको छोड़ देनेपर सर्वत्र एकही परमेश्वर रह जाता है, इस कारण उसीकी भक्तिसे त्रिगुणातीत अवस्थाभी प्राप्त होती है। तथापि एकही परमेश्वर मान लेनेसे साधनोंके संबंधमें गीताका कोईभी आग्रह नहीं है (गीता १३. २४, २५)। गीतामें भक्तिमार्गको सुलभ अतएव सब लोगोंके लिये ग्राह्य कहा है; यह कहींभी नहीं कहा है, कि अन्यान्य मार्ग त्याज्य हैं। गीतामें केवल भक्ति, केवल ज्ञान अथवा केवल योगही प्रतिपाद्य है, – ये मत भिन्न-भिन्न संप्रदायोंके अभिमानियोंने पीछेसे गीतापर लाद दिये हैं। गीताका सच्चा प्रतिपाद्य विषय तो निरालाही है: मार्ग कोईभी हो, गीताका मुख्य प्रश्न यही है, कि परमेश्वरका ज्ञान हो चुकनेपर संसारके कर्म लोकसंग्रहार्थ किये जावें या छोड़ दिये जावें? और इसका साफ़ साफ़ उत्तर पहलेही दिया जा चुका है, कि कर्मयोग श्रेष्ठ है।]

इस प्रकार भगवानने गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

पंचदशोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

पंद्रहवाँ अध्याय

[क्षेत्रक्षेत्रज्ञके विचारके सिलसिलेमें तेरहवें अध्यायमें उसी क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विचारके सदृश सांख्योंके प्रकृति-पुरुषका विवेक बतलाया है, और चौदहवें अध्यायमें कहा है, कि प्रकृतिके तीन गुणोंसे मनुष्य-मनुष्यमें स्वभाव-भेद कैसे उत्पन्न होता है और उससे सात्त्विक आदि गति-भेद क्योंकर होते हैं ? फिर यह विवेचन किया है, कि त्रिगुणातीत अवस्था या अध्यात्म-दृष्टिसे ब्राह्मी स्थिति किसे कहते हैं और वह कैसे प्राप्त की जाती है। यह सब निरूपण सांख्योंकी परिभाषामें है अवश्य परंतु सांख्योंके द्वैतको स्वीकार न करते हुए, जिस एकही परमेश्वरकी विभूतियां प्रकृति और पुरुश दोनों हैं, उस परमेश्वरका ज्ञान-विज्ञान-दृष्टिसे निरूपण किया गया है। परमेश्वरके स्वरूपके इस वर्णनके अतिरिक्त आठवें अध्यायमें अधियज्ञ, अध्यात्म और अधिदैवत आदि भेद दिखलाये जा चुके हैं। और, यह पहलेही कह चुके हैं, कि सब स्थानोंमें एकही परमात्मा व्याप्त है, एवं क्षेत्रमें क्षेत्रज्ञभी वही है। अब इस अध्यायमें पहले यह बतलाते हैं, कि परमेश्वरकीही रची हुई सृष्टिके विस्तारका, अथवा परमेश्वरके नामरूपात्मक विस्तारकाही, कभी कभी वृक्षरूपसे या वनरूपसे जो वर्णन पाया जाता है, उसका बीज क्या है; फिर परमेश्वरके सभी रूपोंमें श्रेष्ठ पुरुषोत्तमस्वरूपका वर्णन किया है]

श्रीभगवानने कहा :- (१) जिस अश्वत्थ वृक्षका ऐसा वर्णन करते है, कि जड (एक) ऊपर है, और शाखाएँ (अनेक) नीचे हैं, (जो) अव्यय अर्थात् कभी नाश नहीं पाता, (एवं) छन्दांसि अर्थात् वेद जिसके पत्ते हैं, उसे (वृक्षको) जिसने जान लिया, वह पुरुष (सच्चा), वेदवेत्ता (है) ।

[उक्त वर्णन ब्रह्मवृक्षका अर्थात् संसारवृक्षका है। यहाँपर संसारका यह संकुचित अर्थ विवक्षित नहीं है, कि "स्त्री-बाल-बच्चोंमें रहकर नित्य व्यवहार करते रहें", परंतु उसका यहाँ "आँखोंके सामने दिखाई देनेवाला जगत् अथवा दृश्य-सृष्टि" अर्थ है। इस संसारकोही सांख्य-मतवादी "प्रकृतिका विस्तार" और वेदान्ती "भगवानकी मायाका पसार" कहते हैं; एवं अनुगीतामें इसेही "ब्रह्मवृक्ष या ब्रह्मवन" (ब्रह्मारण्य) कहा है (मभा. अश्व. ३५. ४७) ।

यह कल्पना अथवा रूपक न केवल वैदिक धर्ममेंही है, कि प्रत्युत अन्य प्राचीन धर्मोंमेंभी पाया जाता है, एक बिलकुल छोटे-से बीजसे जिस प्रकार बड़ा भारी गगनचुंबी वृक्ष निर्माण हो जाता है, उसी प्रकार एक अव्यक्त परमेश्वरसे दृश्य-सृष्टिरूप भव्य वृक्ष उत्पन्न हुआ है। युरोपकी पुरानी भाषाओंमें इसके नाम 'विश्ववृक्ष' या 'जगत्‌वृक्ष' हैं। ऋग्वेदमें (१.२४.७) वर्णन है, कि वरुण-लोकमें एक ऐसा वृक्ष है, कि जिसकी किरणोंकी जड ऊपर (ऊर्ध्वं) है और उसकी किरणें ऊपरसे नीचे (निचीनाः) फैलती हैं। विष्णुसहस्रनाममें 'वारुणो वृक्षः' (वरुणके वृक्ष) को परमेश्वरके हजार नामोंमेंसे एकही नाम कहा है। यम और पितर जिस 'सुपलाश वृक्ष' के नीचे बैठकर सहपान करते हैं (ऋ. १०. १३५. १), अथवा जिसके "अग्रभागमें स्वादिष्ट पीपल है, और जिसपर दो सुपर्ण अर्थात् पक्षी रहते हैं" (ऋ. १. १६४. २२), या "जिस पिप्पलको (पीपल) वायुदेवता (मरुद्‌गण) हिलाते हैं" (ऋ. ५. ५४. १२), वह वृक्षभी यही है, अथर्ववेदमें जो यह वर्णन है, कि "देवसदन अश्वत्थ वृक्ष तीसरे स्वर्गलोकमें (वरुणलोकमें) है" (अथर्व ५. ४. ३; १९. ३९. ६), वहभी इसी वृक्षके संबंधमें जान पड़ता है। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें (३.८.१२ . २) अश्वत्थ शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है :- पितृयाण-कालमें अग्नि अथवा यज्ञप्रजापति देवलोकसे नष्ट होकर इस वृक्षमें अश्वका (घोड़े) रूप धरकर एक वर्षतक छिपा रहा था, इसीसे इस वृक्षका अश्वत्थ नाम हो गया (मभा. अनु. ८५); और कई एक नैरुक्तिकोंका यहभी मत है, कि पितृयाणकी लंबी रात्रिमें सूर्यके घोड़े यमलोकमें इस वृक्षके नीचे विश्राम किया करते हैं, इसलिये इसको अश्वत्थ (अर्थात् घोड़ेका स्थान) नाम प्राप्त हुआ होगा। 'अ' = नहीं, 'श्व' = कल और 'त्थ' = स्थिर – यह आध्यात्मिक निरुक्ति पीछेकी कल्पिता है। नामरूपात्मक मायाका स्वरूप जब कि विनाशवान् अथवा हरघड़ीमें पलटनेवाला है, तब उसको "कलतक न रहनेवाला" तो कह सकेंगे; परंतु 'अव्यय', अर्थात् जिसका कभीभी व्यय नहीं होता, विशेषण स्पष्ट कर देता है, कि यह अर्थ यहाँ अभिमत नहीं है। पहले पीपलके वृक्षकोही अश्वत्थ कहते थे, और कठोपनिषद्‌में (६.१) जो यह ब्रह्ममय अमृत अश्वत्थवृक्ष कहा गया है :-

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्‌शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्‌ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।।

वहभी यही है; और 'ऊर्ध्वमूलमधःशाख' इस पद-सादृश्यसेही व्यक्त होता है, कि भगवद्‌गीताका वर्णन कठोपनिषदके वर्णनसेही लिया गया है। परमेश्वर स्वर्गमें है, और उससे उपजा हुआ जगद्‌वृक्ष नीचे अर्थात् मनुष्य-लोकमें है, अतः वर्णन किया गया है, कि इस वृक्षका मूल (अर्थात् परमेश्वर) ऊपर है; और इसकी अनेक शाखाएँ अर्थात् जगतका फैलाव नीचे विस्तृत है। परंतु

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

| प्राचीन धर्मग्रंथोंमें एक और कल्पनाभी पाई जाती है, कि यह संसारवृक्ष वटवृक्ष होगा, न कि पीपल; क्योंकि वड़के पेड़के पाये ऊपरसे नीचे को वढ़ते जाते हैं। उदाहरणके लिये यह वर्णन है, कि अश्वत्थवृक्ष आदित्यका वृक्ष है और "न्यग्रोधो वारुणो वृक्षः"। न्यग्रोध अर्थात् नीचे (न्यक्) बढ़नेवाला (रोध) वटवृक्ष वरुणका वृक्ष है (गोभिलगुह्य. ४. ७. २४); और महाभारतमें लिखा है, कि मार्कंडेय ऋषिने प्रलयकालमें वालरूपी परमेश्वरको एक (उस प्रलयकाल-मेंभी नष्ट न होनेवाले, अतएव) अव्यय न्यग्रोध अर्थात् बड़के पेड़की शाखापर देखा था। मभा. वन. १८८. ९१)। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषदमें यह दिखलानेके लिये अव्यक्त परमेश्वरसे अपार दृश्य जगत् कैसे निर्माण होता है, जो दृष्टान्त दिया है, वहभी न्यग्रोधके बीजकाही है (छां. ६. १२. १)। श्वेताश्वतर उपनिषदमेंभी विश्ववृक्षका वर्णन है (श्वे. ६. ६); परंतु वहाँ स्पष्ट नहीं बतलाया, कि यह कौन-सा वृक्ष है। मुंडक उपनिषद्में (३. १) ऋग्वेदकाही यह वर्णन ले लिया है, कि, इसी वृक्षपर दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) बैठे हुए हैं, जिनमेंसे एक पिप्पल अर्थात् पीपलके फलोंको खाता है। पीपल और वड़को छोड़, इस संसारवृक्षके स्वरूपकी तीसरी कल्पना औदुं-बरकी है; एवं पुराणोंमें यह दत्तात्रेयका वृक्ष माना गया है। सारांश, प्राचीन ग्रंथोंमें ये तीनों कल्पनाएँ है, कि परमेश्वरकी मायासे उत्पन्न हुआ जगत् एक बड़ा पीपल, बड़ या औदुंबर है; और इसी कारणसे विष्णु सहस्रनाममें विष्णुके ये तीन वृक्षात्मक नाम दिये हैं :– 'न्यग्रोधोदुम्बरोऽऽश्वत्थः' (मभा. अनु. १४९. १११), एवं समाजमेंभी येही तीन वृक्ष देवतात्मक और पूजनेयोग्य माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त विष्णुसहस्रनाम और गीता, दोनोंही महाभारतके भाग हैं, और जब कि विष्णुसहस्रनाममें औदुंवर, वरगद (न्यग्रोध) और अश्वत्थ, येही तीन पृथक् नाम दिये गये हैं, तब गीतामें 'अश्वत्थ' शब्दका पीपलही (औदुंबर या वरगद नहीं) अर्थ लेना चाहिये, और मूलका अर्थभी वही है। "छंदांसि अर्थात् वेद जिसके पत्ते हैं" इस वाक्यके 'छंदांसि' शब्दमें छद् = ढँकना धातु मानकर (छां. १. ४.२) वृक्षको ढँकनेवाले पत्तोंसे वेदोंकी समता वर्णित है; और अंतम कहा है, कि यह वर्णन संपूर्ण वैदिक परंपराके अनुसार है, अतः इसे जिसने जान लिया, उसे वेदवेत्ता कहना चाहिये। इस प्रकार वैदिक वर्णन हो चुका; अब इसी वृक्षका दूसरे प्रकारसे अर्थात् सांख्यशास्त्रके अनुसार वर्णन करते हैं :–]

(२) उसकी शाखाएँ नीचे और ऊपरभी फैली हुई हैं, कि जो (सत्त्व आदि तीनों) गुणोंसे पली हुई है, और जिनसे (शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गंध-रूपी)

§ § न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

विषयोंके अंकुर फूटे हुए हैं; एवं अंतमें कर्मका रूप पानेवाली उसकी जड़ें नीचेभी मनुष्यलोकमें बढ़ती दूर चली गई हैं।

[गीतारहस्यके आठवें प्रकरणमें (पृ. १८०) इस बातका विस्तार-सहित निरूपण कर दिया है, कि सांख्यशास्त्रके अनुसार प्रकृति और पुरुष, ये दोही मूल तत्त्व है, और जब त्रिगुणात्मक प्रकृति पुरुषके आगे अपना विस्तार सजाने लगती है, तब महत् आदि तेईस तत्त्व उत्पन्न होते हैं, और उनसे यह ब्रह्मांड-वृक्ष बन जाता है। परंतु वेदान्तशास्त्रकी दृष्टिसे प्रकृति स्वतंत्र नहीं है, वह परमेश्वरकाही एक अंश है, अतः त्रिगुणात्मक प्रकृतिके इस विस्तारको स्वतंत्र वृक्ष न मानकर वेदान्तशास्त्रने यह सिद्धान्त किया है, कि ये शाखाएँ 'ऊर्ध्वमूल' पीपलकेही हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार, अब कुछ निराले स्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया है, कि पहले श्लोकमें वर्णित वैदिक 'अधःशाख' वृक्षकी 'त्रिगुणोंसे पली हुई' शाखाएँ न केवल नीचेही, प्रत्युत 'ऊपर'भी फैली हुई हैं और उसमें कर्मविपाकप्रक्रियाका धागाभी अंतमें पिरो दिया है। अनुगीतावाले ब्रह्मवृक्षके वर्णनमें केवल सांख्यशास्त्रके चौबीस तत्त्वोंकाही ब्रह्मवृक्ष बतलाया गया है, उसमें इस वृक्षके वैदिक और सांख्य वर्णनोंका मेल नहीं मिलाया गया है (मभा. अश्व. ३५, २२, २३; गीतार. प्र. ८, पृ. १८०)। परंतु गीतामें ऐसा नहीं किया, और दृश्य-सृष्टिरूप वृक्षके नातेसे वेदोंमें पाये जानेवाले परमेश्वरके वर्णनका, और सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृतिके विस्तारका या ब्रह्मांड-वृक्षके वर्णनका, इन दो श्लोकोंमें मेल कर दिया है। मोक्ष-प्राप्तिके लिये त्रिगुणात्मक और ऊर्ध्वमूल वृक्षके इस विस्तारसे मुक्त हो जाना चाहिये। परंतु यह वृक्ष इतना बड़ा है, कि इसके ओर-छोरका पताही नहीं चलता। अतएव अब बतलाते हैं, कि इस विराट् वृक्षका नाश करके इसके मूलमें वर्तमान अमृत-तत्त्वको पहचाननेका कौन-सा मार्ग है :–]

(३) परंतु इस लोकमें (जैसा कि ऊपर वर्णन किया है) वैसा उसका स्वरूप उपलब्ध नहीं होता; अथवा अन्त, आदि और आधारस्थानभी नहीं मिलता। अत्यन्त गहरी जडोंवाले इस अश्वत्थको (वृक्ष) अनासक्तिरूप सुदृढ तलवारसे काट कर, (४) फिर उस स्थानको ढूंढ निकालना चाहिये, कि जहाँसे फिर लौटना नहीं पडता; और यह संकल्प करना चाहिये, कि (सृष्टिक्रमकी यह) "पुरातन प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है, उसी आद्य पुरुषकी ओर मैं जाता हूँ।"

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

[गीतारहस्यके दसवें प्रकरणमें (गीतार. प्र. १०, पृ. २८७–२९१) विवेचन किया है, कि सृष्टिका फैलावही नामरूपात्मक कर्म है; और यह कर्म अनादि है। आसक्त-बुद्धि छोड़ देनेसे इसका क्षय हो जाता है, किसीभी दूसरे उपायसे इसका क्षय नहीं हो सकता। क्योंकि यह स्वरूपतः अनादि और अव्यय है। तीसरे श्लोकके " उसका स्वरूप या आदि-अंत नहीं मिलता " इन शब्दोंसे यह सिद्धान्त किया गया है, कि कर्म अनादि है; आगे और चलकर इसही कर्मवृक्षका क्षय करनेके लिये, अनासक्ति एकमेव साधन बतलाया है। ऐसेही उपासना करते समय जो भावना मनमें रहती है, उसके अनुसार आगे फल मिलता है (गीता ८. ६)। अतएव चौथे श्लोकमें यह स्पष्ट कर दिया है, कि वृक्ष-छेदनकी यह क्रिया होते समय मनमें कौन-सी भावना रहनी चाहिये ? शांकरभाष्यमें " तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये " जो पाठ है, उसमें वर्तमानकालके प्रथम पुरुषके एकवचनका 'प्रपद्ये' क्रियापद है, जिससे यह अर्थ करना पड़ता है; और उसमें 'इति'सरीखे किसी न किसी पदका अध्याहारभी करना पड़ता है। इस कठिनाईको हटानेके लिये रामानुजभाष्यमें लिखित " तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्येद्यतः प्रवृत्तिः " पाठांतरको स्वीकार कर लें, तो ऐसा अर्थ किया जा सकेगा, कि " जहाँ जानेपर फिर पीछे नहीं लौटना पडता, उस स्थानको खोजना चाहिये, (और) जिससे, सब सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है, उसीमें मिल जाना चाहिये "। किंतु 'प्रपद्' धातु है, नित्य आत्मनेपदी। इससे उसका विध्यर्थक अन्य पुरुषका रूप 'प्रपद्येत्' हो नहीं सकता। 'प्रपद्येत्' परस्मैपदका रूप है, और वह व्याकरणकी दृष्टिसे अशुद्ध है। प्रायः इसी कारणसे शांकरभाष्यमें यह पाठ स्वीकार नहीं किया गया है; और यही युक्तिसंगत है। छांदोग्य उपनिषदके कुछ मंत्रोंमें 'प्रपद्ये' पदका बिना 'इति'के इसी प्रकार उपयोग किया गया है (छां. ८. १४. १)। 'प्रपद्ये' क्रियापद प्रथमपुरुषान्त हो तो कहना न होगा, कि वक्तासे अर्थात् उपदेशकर्ता श्रीकृष्णसे उसका संबंध नहीं जोड़ा जा सकता। अब यह बतलाते हैं, कि इस प्रकारसे क्या फल मिलता है :–]

(५) जो मान और मोहसे विरहित हैं, जिन्होंने आसक्ति-दोषको जीत लिया है, जो अध्यात्म-ज्ञानमें सदैव स्थिर रहते हैं, जो निष्काम और सुखदुःखसंज्ञक द्वंद्वोंसे मुक्त हो गये हैं, वे ज्ञानी पुरुष उस अव्यय-स्थानको जा पहुँचते हैं। (६) जहाँ

§§ **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।**
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता, (ऐसा) वह मेरा परम स्थान हैं। उसे न तो सूर्य, न चंद्रमा (और) न अग्निभी प्रकाशित करना है।

| [इनमेंसे छठा श्लोक श्वेताश्वतर (६. १४), मुंडक (२. २. १०) और कठ (५. १५) इन तीनों उपनिषदोंमें पाया जाता है। सूर्य, चंद्र या तारे, ये सभी तो नामरूपोंकी श्रेणीमें आ जाते हैं; और परब्रह्म इन सब नामरूपोंसे परे है, इस कारण सूर्य-चंद्र आदिको परब्रह्मकेही तेजसे प्रकाश मिलता है, फिर यह प्रकटही है, कि परब्रह्मको प्रकाशित करनेके लिये किसी दूसरेकी अपेक्षाही नहीं है। ऊपरके श्लोकमें 'परम स्थान' शब्दका अर्थ 'परब्रह्म' है, और इस ब्रह्ममें मिल जानाही ब्रह्मनिर्वाण मोक्ष है। वृक्षका रूपक लेकर अध्यात्म-शास्त्रमें परब्रह्मका जो ज्ञान बतलाया जाता है, उसका विवेचन समाप्त हो गया। अब पुरुषोत्तम-स्वरूपका वर्णन करना है; परंतु अंतमें जो यह कहा है, कि "जहाँ जाकर लौटना नहीं पड़ता" उससे सूचित होनेवाली जीवकी उत्क्रांति और उसके साथही जीवके स्वरूपका पहले वर्णन करते हैं :–]

(७) जीवलोकमें (कर्मभूमि) मेराही सनातन अंश जीव होकर प्रकृतिमें रहनेवाली मनसहित छः अर्थात् मन और पाँच, (सूक्ष्म) इंद्रियोंको वह (अपनी ओर) खींच लेता है। (इसीको लिंग-शरीर कहते हैं)। (८) (यह) ईश्वर अर्थात् जीव जब (स्थूल) शरीर पाता है, और जब वह (स्थूल शरीरसे) निकल जाता है, तब यह (जीव) उन्हें (मन और पाँच इंद्रियोंको) वैसेही साथ ले जाता है, जैसे कि (गंधके पुष्प आदि) आश्रयसे वायु गंधको ले जाता है। (९) कान, आँखें, त्वचा, जीभ, नाक और मनमेंभी ठहरकर यह (जीव) विषयोंको भोगता है।

| [इन तीन श्लोकोंमेंसे, पहलेमें यह बतलाया है, कि सूक्ष्म या लिंग-शरीर क्या है, फिर इन तीन अवस्थाओंका वर्णन किया है, कि यह लिंग-शरीर स्थूल देहमें कैसे प्रवेश करता है, उससे बाहर कैसे निकलता है, और उसमें रहकर विषयोंका उपभोग कैसे करता है। सांख्य-मतके अनुसार यह सूक्ष्म शरीर महान् तत्त्वसे लेकर सूक्ष्म पंचतन्मात्राओंतकके अठारह तत्त्वोंसे बना है; और वेदान्त-

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥
§§ **यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।**
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

सूत्रोंमें (३. १. १) कहा है, कि पंच सूक्ष्म भूतोंका औरप्राणकाभी उसमें समावेश होता है (गीतार. प्र. ८, पृ. १८८–१९२)। ऐसेही मैत्र्युपनिषदमें (६. १०) वर्णन है, कि सूक्ष्मशरीर अठारह तत्त्वोंका वना है। इससे कहना पड़ता है, कि "मन और पाँच इंद्रियाँ" इन शब्दोंसे सूक्ष्म शरीरमें वर्तमान दूसरे तत्त्वोंका संग्रहभी यहाँ अभिप्रेत है। वेदान्त-सूत्रोंमेंभी (वे. सू. २. ३. १७, ४३) 'नित्य' और 'अंश' इन दो पदोंका उपयोग करकेही यह सिद्धान्त वतलाया है, कि जीवात्मा परमेश्वरसे वारबार नये सिरेसे उत्पन्न नहीं हुआ करता, वह परमेश्वरका 'सनातन अंश' है (गीता २. २४); और गीताके तेहरवें अध्यायमें (१३. ४) जो यह कहा है, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार ब्रह्म-सूत्रोंसे लिया गया है, उसका इससे दृढ़ीकरण हो जाता है (गीतार. परिशिष्ट पृ. ५३९–५४०)। गीतारहस्यके नवें प्रकरणमें (पृ. २४७) दिखलाया है, कि 'अंश' शब्दका अर्थ 'घटकाशादि'वत् अंश समझना चाहिये, न कि खंडित 'अंश'। शरीरको धारणा करना, शरीरको छोड़ देना, एवं उपभोग करना – इन तीनों क्रियाओंके इस प्रकार जारी रहनेपर :–]

(१०) (शरीरसे) निकल जानेवालेको अथवा रहनेवालेको, गुणोंसे युक्त हो कर (आपही नहीं) उपभोग करनेवालेको मूर्ख लोग नहीं जानते। ज्ञानचक्षुसे देखनेवाले लोग (उसे) पहचानते हैं। (११) इसी प्रकार प्रयत्न करनेवाले योगी अपनेमें स्थित इस आत्माको पहचानते हैं। परंतु वे अज्ञ लोग, कि जिनका आत्मा अर्थात् वुद्धि संस्कृत नहीं है, प्रयत्न करकेभी उसे नहीं पहचान पाते।

[१० वें और ११ वें श्लोकमें ज्ञानचक्षु या कर्म-योगमार्गसे आत्मज्ञानकी प्राप्तिका वर्णन कर जीवकी उत्क्रांतिका वर्णन पूरा किया है। पिछले सातवें अध्यायमें आत्माकी सर्वव्यापकताका जैसा वर्णन किया गया है (गीतार. ७. ८–१२), वैसाही अब उसका फिर थोड़ा-सा वर्णन प्रस्तावनाके ढँगपर करके, आगे सोलहवें श्लोकसे पुरुषोत्तम-स्वरूपका वर्णन किया है।]

(१२) जो तेज सूर्यमें रहकर सारे जगतको प्रकाशित करता है, जो तेज चंद्रमा और अग्निमें है, उसे मेराही तेज समझ।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥
§§ द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

(१३) इसी प्रकार पृथ्वीमें प्रवेशकर, मैंही (सब) भूतोंको अपने तेजसे धारण करता हूँ, और रसात्मक सोम (चंद्रमा) हो कर सब औषधियोंका अर्थात् वनस्पतियोंका पोषण करता हूँ ।

[सोम शब्दके 'सोमवल्ली' और 'चंद्र', दोनों अर्थ है, और वेदोंमें वर्णन है, कि चंद्र जिस प्रकार जलात्मक, अंशुमान और शुभ्र है, उसी प्रकार सोमवल्लीभी है; और दोनोंकोभी 'वनस्पतियोंका राजा' कहा है। तथापि पूर्वापार संदर्भसे यहाँ चंद्रही विवक्षित है। इस श्लोकमें यह कहकर, कि चंद्रका तेज मैंही हूँ, फिर इसी श्लोकमें बतलाया है, कि वनस्पतियोंका पोषण करनेका चंद्रका जो गुण है, वहभी मैंही हूँ। अन्य स्थानोंमेंभी ऐसे वर्णन हैं, कि जलमय होनेसे चंद्रमें यह गुण है और इससे वनस्पतियोंकी बाढ़ होती है।]

(१४) मैं वैश्वानररूप अग्नि होकर प्राणियोंकी देहोंमें रहता हूँ, और प्राण एवं अपानसे युक्त होकर (भक्ष्य, चोष्य, लेह्य और पेय ऐसे) चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ। (१५) इसी प्रकार मैं सबके हृदयमें अधिष्ठित हूँ, स्मृति, और ज्ञान, एवं, अपोहन अर्थात् उनका नाश, मुझसेही होता है; तथा सब वेदोंसे जाननेयोग्य मैंही हूँ। वेदान्तका कर्ता और वेद जाननेवालाभी मैंही हूँ।

[इस श्लोकका दूसरा चरण कैवल्य उपनिषदमें (कै. २. ३) है, और उसमें 'वेदैश्च सर्वैः' के स्थानमें 'वेदैरनेकैः' इतनाही पाठभेद है। तब जिन्होंने गीताकालमें 'वेदान्त' शब्दका प्रचलित होना न मानकर ऐसी दलीलें की हैं, कि या तो यह श्लोकही प्रक्षिप्त होगा या इसके 'वेदान्त' शब्दका कुछ औरही अर्थ लेना चाहिये, वे सब दलीलें बे-जड़-बुनियादकी हो जाती हैं। 'वेदान्त' शब्द मुंडक (३. २. ६) और श्वेताश्वतर (६. २२) उपनिषदोंमें आया है, तथा श्वेताश्वतरके कुछ मंत्र तो गीतामें हूबहू आ गये हैं। अब निरुक्तिपूर्वक पुरुषोत्तमका लक्षण बतलाते हैं :–]

(१६) (इस) लोकमें 'क्षर' और 'अक्षर', ये दो पुरुष हैं। सब (नाशवान्)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

भूतोंको क्षर कहते हैं, और कूटस्थको, अर्थात् इन सब भूतोंके मूलमें (कूट) रहनेवाले को,(कृतिरूप अव्यक्त तत्त्व) अक्षर कहते हैं। (१७) परंतु उत्तम पुरुष (इन दोनोंसे) भिन्न है। उसको परमात्मा कहते हैं। वही अव्यय ईश्वर त्रैलोक्यमें व्याप्त होकर (त्रैलोक्यका) पोषण करता है। (१८) जब कि मैं क्षरसेभी परेका और अक्षरसेभी उत्तम (पुरुष) हूँ, लोक-व्यवहारमें और वेदोंमेंभी पुरुषोत्तम नामसे मैं प्रसिद्ध हूँ।

[सोलहवें श्लोकके 'क्षर' और 'अक्षर' ये दो शब्द सांख्यशास्त्रके – व्यक्त और अव्यक्त, अथवा व्यक्त-सृष्टि और अव्यक्त प्रकृति – इन दो शब्दोंसे समानार्थक हैं। प्रकट हैं, कि इनमेंसे क्षरही नाशवान् पंचभूतात्मक व्यक्त पदार्थ है। परंतु स्मरण रहे, कि 'अक्षर' विशेषण पहले कई बार जव परब्रह्मकोभी लगाया गया है (गीता ८. ३; ८. २१; ११. ३७; १२. ३), तव पुरुषोत्तमके उल्लिखित लक्षणमें 'अक्षर' शब्दका अर्थ अक्षर-ब्रह्म नहीं है, किंतु उसका अर्थ सांख्योंकी अक्षर-प्रकृति है; और इस गड़बड़से बचानेके लियेही सोलहवें श्लोकमें " अक्षर अर्थात् कूटस्थ प्रकृति " यह विशेष व्याख्या की है(गीतार.. प्र. ९, पृ. २०२–२०५)। सारांश, व्यक्त-सृष्टि और अव्यक्त-प्रकृतिके परेका अक्षर-ब्रह्म (गीता ८. २०–२२ पर हमारी टिप्पणी देखो), और 'क्षर' (व्यक्त-सृष्टि) एवं 'अक्षर'से (प्रकृति) परेका पुरुषोत्तम, वास्तवमें ये दोनों एकही हैं। तेरहवें अध्यायमें (गीता १३. ३१) कहा गया है, कि इसेही **परमात्मा** कहते हैं और यही परमात्मा शरीरमें क्षेत्रज्ञरूपसे रहता है। इससे सिद्ध होता है, कि क्षर- अक्षर-विचारमें जो मूल तत्त्व अंतमें अक्षर-ब्रह्म निष्पन्न होता है, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविचारकाभी वही पर्यवसान है, अथवा '**पिंडमें और ब्रह्मांडमें**' एकही पुरुषोत्तम है। इसी प्रकार यहभी बतलाया गया है, कि अधिभूत और अधियज्ञ प्रभृतिका अथवा प्राचीन अश्वत्थ वृक्षका भी तत्त्व यही है। इस ज्ञान-विज्ञान प्रकरणका अंतिम निष्कर्ष यह है, कि जिसने जगत की इस एकताको जान लिया, और जिसके मनमें यह पहचान जिंदगी-भरके लिये स्थिर हो गई (वे. सूत्र ४. १. १२; गीता ८. ६); कि " सव भूतोंमें एक आत्मा है " (गीत ६. २९) वह कर्मयोगका आचरण करते करतेही परमेश्वरकी प्राप्ति कर लेता है। कर्म न करनेपर केवल परमेश्वर-

§ § यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पंचदशोऽध्यायः ।। १५ ।।

| भक्तिसेभी मोक्ष मिल जाता है; परंतु गीताके ज्ञान-विज्ञान-निरूपणका वह | तात्पर्य नहीं है। सातवें अध्यायके आरंभमेंही कह दिया है, कि ज्ञान-विज्ञानके | इस निरूपणका आरंभ यह दिखलानेके लियेही किया गया है, कि ज्ञानसे | अथवा भक्तिसे शुद्ध हुई निष्काम बुद्धिके द्वारा संसारके सभी कर्म करने चाहिये, और उन्हें करते हुएही मोक्ष मिलता है। अब बतलाते हैं, कि इसे जान | लेनेसे क्या फल मिलता है :-]

(१९) हे भारत! इस प्रकार बिना मोहके जो मुझेही पुरुषोत्तम समझता है, वह सर्वज्ञ होकर सर्वभावसे मुझेही भजता है। (२०) हे निष्पाप भारत। यह गुह्यसेभी गुह्यशास्त्र मैंने बतलाया है। इसे जानकर (मनुष्य) बुद्धिमान् अर्थात बुद्ध या ज़ानकार और कृतकृत्य हो जावेगा।

| [यहाँ बुद्धिमानकाही 'बुद्ध अर्थात् जानकार' अर्थ है; क्योंकि भारत | (शां. २४८. ११) में इसी अर्थमें 'बुद्ध' और 'कृतकृत्य' शब्द आये हैं। महा- | भारतमें 'बुद्ध' शब्दका रूढार्थ 'बुद्धावतार' कहींभी नहीं आया है। (गीतार. | परिशिष्ट पृ. ५६३) ।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, पुरुषोत्तमयोग नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

षोडशोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

सोलहवाँ अध्याय।

[पुरुषोत्तमयोगसे क्षर-अक्षर-ज्ञानकी परमावधि हो चुकी; और सातवें अध्यायसे जिस ज्ञान-विज्ञानके निरूपणका आरंभ यह दिखलानेके किया गया था, कि कर्मयोगका आचरण करते रहनेसे परमेश्वरका ज्ञान होता है और उसीसे मोक्ष मिलता है, उसकी यहाँ समाप्ति हो चुकी और अब यहीं उसका उपसंहार करना चाहिये। परंतु नवें अध्यायमें (९. १२) भगवानने जो यह बिलकुल संक्षेपमें कहा था, कि राक्षसी मनुष्य मेरे अव्यक्त और श्रेष्ठ स्वरूपको नहीं पहचानते, उसीका स्पष्टीकरण करनेके लिये इस अध्यायका आरंभ किया गया है, अगले अध्यायमें इसका कारण बतलाया गया है, कि मनुष्य-मनुष्यमें भेद क्यों होते हैं और अठारहवें अध्यायमें पूरी गीताका उपसंहार है।]

श्रीभगवानने कहा :– (१) अभय (निडर), शुद्ध सात्त्विक वृत्ति, ज्ञानयोगव्यवस्थिति अर्थात् ज्ञान-(मार्ग) और (कर्म-)योगकी तारतम्यसे व्यवस्था, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय अर्थात् स्वधर्मके अनुसार आचरण, तप, सरलता, (२) अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग अर्थात् कर्मफलका त्याग, शांति, अपैशुन्य अर्थात् क्षुद्रदृष्टि छोड़कर उदार भाव रखना, सब भूतोंमें दया, तृष्णा, मृदुता, न रखना (बुरे कामकी) लाज, अचापलता अर्थात् फिजूल कामोंका छूट जाना, (३) तेजस्विता, क्षमा, धृति, शुद्धता, द्रोह न करना, अतिमान न रखना – हे भारत! (ये) गुण दैवी संपत्तिमें जन्मे हुए पुरुषोंको प्राप्त होते हैं।

[दैवी संपत्तिके ये छब्बीस गुण और तेरहवें अध्यायमें बतलाये हुए ज्ञानके लक्षण (गीता १३. ७–११) वास्तवमें एकही हैं; और इसीसे आगेके

§§ दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

श्लोकमें 'अज्ञान'का समावेश आसुरी लक्षणोंमें किया गया है। यह नहीं कहा जा सकता, कि छब्बीस गुणोंकी इस सूचीके प्रत्येक शब्दका अर्थ दूसरे शब्दके अर्थसे सर्वथा भिन्न होगा; और हेतुभी ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थ, कोई कोई अहिंसाकेही कायिक, वाचिक और मानसिक भेद करके, क्रोधसे किसीके दिल दुखा देनेकोभी एक प्रकारकी हिंसाही समझते हैं। इसी प्रकार शुद्धताकोभी त्रिविध मान लेनेसे मनकी शुद्धिमें अक्रोध और द्रोह न करना आदि गुणभी आ सकते हैं। महाभारतके शांतिपर्वके १६० अध्यायसे लेकर १६३ अध्यायतक क्रमसे दम, तप, सत्य और लोभका विस्तृत वर्णन है, वहाँ दममेंही क्षमा, धृति, अहिंसा, सत्य, आर्जव, लज्जा आदि पच्चीस-तीस गुणोंका व्यापक अर्थमें समावेश किया है (मभा. शां. १६०); और सत्यके निरूपणमें (शां. १६२) कहा है, कि सत्य, समता, दम, अमात्सर्य, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, अनसूयता, याग, ध्यान, आर्यता (लोककल्याणकी इच्छा), धृति और दया, इन तेरह गुणोंका एक सत्यमेंही समावेश होता है; और वहीं इन शब्दोंकी व्याख्याएँभी दी गई हैं। इस रीतिसे एक गुणमेंही अनेकोंका समावेश कर लेना पांडित्यका काम है; और प्रत्येक गुणका ऐसा विवेचन करने लगें, तो प्रत्येक गुणपर एक एक ग्रंथ लिखना पड़ेगा। ऊपरके श्लोकमें इन सब गुणोंका समुच्चय इसीलिये बतलाया गया है, कि उससे दैवी संपत्तिके सात्त्विक रूपकी पूरी कल्पना हो जावे; और यदि एक शब्दसे कोई अर्थ छूट गया हो, तो दूसरे शब्दमें उसका समावेश हो जावे। अस्तु; ऊपरकी सूचीके 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' शब्दका अर्थ हमने गीताके ४. ४१ और ४२ वें श्लोकके आधारपर कर्मयोगप्रधान किया है। त्याग और धृतिकी व्याख्याएँ स्वयं भगवाननेही १८ वें अध्यायमें कर दी हैं (गीता १८. ४, २९)। यह बतला चुके, कि दैवी संपत्तिमें किन गुणोंका समावेश होता है; अब इसके विपरीत आसुरी या राक्षसी संपत्तिका वर्णन करते हैं :-]

(४) हे पार्थ! इसी प्रकार दंभ, दर्प, अतिमान क्रोध, पारुष्य अर्थात् निष्ठुरता और अज्ञान, आसुरी याने राक्षसी संपत्तिमें जन्मे हुएको (प्राप्त होते हैं)।

[महाभारतके शांतिपर्वके १६४ और १६५ वें अध्यायोंमें इनमेंसे कुछ दोषोंका वर्णन है, और अंतमें यहभी बतला दिया है, कि नृशंस किसे कहना चाहिये। इस श्लोकमें 'अज्ञान'को आसुरी संपत्तिका लक्षण कह देनेसे प्रकट होता है, कि 'ज्ञान' दैवी संपत्तिका लक्षण है। जगतमें पाये जानेवाले दो प्रकारके स्वभावोंका इस प्रकार वर्णन हो जानेपर :-]

§ § दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥
§ § द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

(५) (इनमेंसे) दैवी संपत्ति (परिणाममें) मोक्षदायक और आसुरी बंधनदायक मानी जाती है। हे पांडव! तू दैवी संपत्तिमें जन्मा हुआ है। शोक मत कर।

[संक्षेपमें यह बतला दिया, कि इन दो प्रकारके पुरुषोंको कौन-सी गति मिलती है। अब आसुरी पुरुषोंका विस्तारसे वर्णन करते हैं :–]

(६) इस लोकमें दो प्रकारके प्राणी उत्पन्न हुआ करते हैं; (एक) दैव और दूसरे आसुर। (इनमेंसे) दैव (श्रेणीका) वर्णन विस्तारसे कर दिया। (अब) हे पार्थ, मैं आसुर (श्रेणीका) वर्णन करता हूँ, सुन।

[कर्मयोगी कैसा बर्ताव करे और ब्राह्मी अवस्था कैसी होती है, या स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त अथवा त्रिगुणातीत किसे कहना चाहिये, और ज्ञान क्या है, इत्यादिकोंका पिछले अध्यायोंमें जो वर्णन है, और इस अध्यायके पहले तीन श्लोकोंमें दैवी संपत्तिका जो वर्णन है, वही दैव-प्रकृतिके पुरुषका वर्णन है, इसीसे कहा है, कि दैव श्रेणीका वर्णन पहले विस्तारसे कर चुके हैं। आसुर संपत्तिका थोड़ा-सा उल्लेख नवें अध्यायमें (९. ११, १२) में आ चुका है; परंतु वहाँका वर्णन अधूरा रह गया है, इस कारण उस अध्यायमें इसीको पूरा करते हैं :–]

(७) आसुर लोग नहीं जानते, कि प्रवृत्ति क्या है और निवृत्ति क्या है – अर्थात् वे यह नहीं जानते, कि क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये; और उनमें न शुद्धता रहती है, न आचार और न सत्यही। (८) ये (आसुर लोग) कहते हैं, कि सारा जगत् असत्य है, अ-प्रतिष्ठ अर्थात् निराधार है, अनीश्वर याने बिना परमेश्वरका है, अ-परस्परसंभूत अर्थात् एक दूसरेके बिनाही हुआ है, (अतएव) कामको छोड़, अर्थात् मनुष्यकी विषयवासनाके अतिरिक्त, उसका और क्या हेतु हो सकता है?

[यद्यपि इस श्लोकका अर्थ स्पष्ट है, तथापि इसके पदोंका अर्थ करनेमें बहुत-कुछ मतभेद है। हम समझते हैं, कि यह वर्णन उन चार्वाक आदि नास्तिकोंके मतोंका है, कि जो वेदान्त या कापिल इन दोनों सांख्यशास्त्रके सृष्टिरचनाविषयक सिद्धान्तोंको नहीं मानते; और यही कारण है, कि इस श्लोकके पदोंका अर्थ सांख्य और अध्यात्मशास्त्राके सिद्धान्तोंके विरुद्ध है। जगतको नाशवान् समझकर वेदान्ती उसके अविनाशी सत्यको – 'सत्यस्य सत्यं' (बृ. २. ३. ६) – खोज निकालता है और उसी सत्य तत्त्वको जगतका मूल आधार या प्रतिष्ठा मानता है – "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" (तै. २. ५)। परंतु आसुरी लोग मानते हैं, कि यह जग अ-सत्य है, अर्थात् इसमें सत्य नहीं है, और इसीलिये वे इस जगतको, अ-प्रतिष्ठभी कहते हैं, अर्थात् इसकी न प्रतिष्ठा है और न आधार। परंतु यहाँ यह शंका हो सकती है, कि इस प्रकार अध्यात्मशास्त्रमें प्रतिपादित अव्यक्त परब्रह्म यदि आसुरी लोगोंको संमत न हो, तोभी उन्हें भक्तिमार्गका व्यक्त ईश्वर मान्य होगा। इसीसे अनीश्वर (अन् + ईश्वर) इस तीसरे पदका प्रयोग करके कह दिया है, कि आसुरी लोग जगतमें ईश्वरकोभी नहीं मानते। जगतका कोई मूल आधार इस प्रकार न माननेसे उपनिषदोंमें वर्णित यह सृष्टयुत्पत्तिक्रम छोड़ देना पड़ता है, कि "आत्मनः आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्यः अन्नं। अन्नात्पुरूषः।" (तै. २. १); अथवा सांख्यशास्त्रोक्त इस सृष्टयुत्पत्तिक्रमकोभी छोड़ देना पड़ता है, कि प्रकृति और पुरुष, ये दो स्वतंत्र, मूल तत्त्व हैं, एवं सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणोंके अन्योन्य आश्रयसे अर्थात् परस्पर मिश्रणसे सब व्यक्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। क्योंकि यदि इस श्रृंखला या परंपराको मान लें, तो दृश्य-सृष्टिके पदार्थोंके पीछे जानेसे इस जगतका कुछ-न-कुछ मूल तत्त्व मानना पड़ेगा। इसीसे आसुरी लोग जगतके पदार्थोंको अ-परस्परसंभूत मानते हैं, अर्थात् वे यह नहीं मानते, कि ये पदार्थ एक दूसरेसे किसी न किसी क्रमसे उत्पन्न हुए हैं। जगतकी रचनाके संबंधमें एक बार ऐसी समझ हो जानेपर मनुष्य प्राणीही प्रधान निश्चित हो जाता है और फिर यह विचार आप-ही-आप हो जाता है, कि मनुष्यकी कामवासनाको तृप्त करनेके लियेही जगतके सारे पदार्थ बने हैं, उनका और कुछभी उपयोग नहीं है; और यही अर्थ इस श्लोकके अंतके 'किमन्यत्कामहेतुकम्' – कामको छोड़ उसका और क्या हेतु होगा? – इन शब्दोंसे, एवं आगेके श्लोकमेंभी वर्णित है। कुछ टीकाकार 'अपरस्परसंभूत' पदका अन्वय 'किमन्यत्' पदसे लगाकर यह अर्थ करते हैं, कि "क्या ऐसाभी कुछ दीख पड़ता है, जो परस्पर अर्थात् स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न न हुआ हो? नहीं; और जब ऐसा पदार्थही नहीं

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्‍गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

दीख पड़ता, तब यह जगत् कामहैतुक अर्थात् स्त्री-पुरुषोंकी कामेच्छासेही निर्मित हुआ है। " एवं कुछ लोग 'अपरश्च परश्च' अपरस्परौ ऐसा अद्‌भुत विग्रह करके इन्हीं पदोंका यह अर्थ लगाया करते हैं, कि " 'अपरस्पर'ही स्त्री-पुरुष हैं, इन्हींसे यह जगत् उत्पन्न हुआ है, इसलिये स्त्री-पुरुषोंका कामही इसका हेतु है, और कोई कारण नहीं है। " परंतु यह अन्वय सरल नहीं है, और 'अपरश्च परश्च 'का समास 'अपर-पर' होगा, बीचमें सकार न आने पावेगा। इसके अतिरिक्त असत्य, अप्रतिष्ठ आदि पहले, आये हुए पदोंके देखनेसे तो यही ज्ञात होता है कि अ-परस्परसंभत नञ् समासही होना चाहिये; और फिर कहना पड़ता है, कि सांख्यशास्त्रमें 'परस्परसंभूत' शब्दसे जो " गुणोंसे गुणोंका अन्योन्य जन " वर्णित है, वही यहाँ विवक्षित है (गीतार. प्र. १७, पृ. १५८, १५९) 'अन्योन्य' और 'परस्पर' ये दोनों शब्द समानार्थक हैं और सांख्यशास्त्रके गुणोंके पारस्पारिक झगड़ेका वर्णन करते समय ये दोनों शब्द आते हैं (मभा. शां. ३०५; सां. का. १२, १३)। गीतापर जो माध्वभाष्य है, उसमें इसी अर्थको मानकर यह दिखलानेके लिये, कि जगतकी वस्तुएँ एक दूसरीसे कैसे उपजती हैं, गीताका यही श्लोक दिया गया है – " अन्नाद्भवन्ति भूतानि " इत्यादि – (अग्निमें छोड़ी हुई आहुति सूर्यको पहुँचती है, अतः) यज्ञसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न, और अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है (गीता ३. १४; मनु. ३. ७६)। परंतु तैत्तिरीय उपनिषदका वचन इसकी अपेक्षा अधिक प्राचीन और व्यापक है, इस कारण उसीको हमने ऊपर प्रमाणमें दिया है। तथापि हमारा मत है, कि गीताके इस 'अ-परस्परसंभूत' पदसे उपनिषदके सृष्टयुत्पत्तिक्रमकी अपेक्षा सांख्योंका सृष्टयुत्पत्तिक्रमही अधिक विवक्षित है। जगतकी रचनाके विषयमें ऊपर जो आसुरी मत बतलाया गया है, उसका इन लोंगोके बर्तावपर जो प्रभाव पड़ता है, उसका अब वर्णन करते हैं। ऊपरके श्लोकके अंतमें जो 'कामहैतुक' पद है, उसीका यह अधिक स्पष्टीकरण है।]

(९) इस प्रकारकी दृष्टिको स्वीकार करके ये अल्पबुद्धिवाले नष्टात्मा और दुष्ट लोग क्रूर कर्म करते हुए जगतका क्षय करनेके लिये उत्पन्न हुआ करते हैं; (१०) (और) कभीभी पूर्ण न होनेवाले कामका अर्थात् विषयोपभोगकी इच्छाका आश्रय करके, ये (आसुरी लोग) दंभ, मान और मदसे व्याप्त होकर मोहके कारण

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥
आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

झूठमूठ बिश्वास अर्थात् मनमानी कल्पनाएँ करके गंदे काम करनेके लिये प्रवृत्त होते रहते हैं। (११) इसी प्रकार आमरणान्त (सुख भोगनेकी) अगणित चिंताओंसे ग्रसे हुए, कामोपभोगमें डूबे हुए और निश्चयपूर्वक उसीको सर्वस्व माननेवाले, (१२) सैंकड़ो आशा-पाशोंसे जकड़े हुए, कामक्रोधपरायण होते हुए (ये आसुरी लोग) सुख लूटने के लिये अन्यायसे बहुत-सा अर्थ-संचय करनेकी तृष्णा करते हैं। (१३) मैंने आज यह पा लिया, (कल) उस मनोरथको सिद्ध करूँगा; यह धन (मेरे पास) है, और फिर वहभी मेरा होगा; (१४) इस शत्रुको मैंने मार लिया, एवं औरोंकोभी मारूँगा; मैं ईश्वर, मैं (ही) भोग करनेवाला, मैं सिद्ध, बलाढच और सुखी हूँ, (१५) मैं संपन्न और कुलीन हूँ, मेरे समान और है कौन? मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान दूंगा, मैं मौज करूँगा – इस प्रकार अज्ञानसे मोहित; (१६) अनेक प्रकारकी कल्पनाओंमें भूले हुए, मोहके फंदेमें फँसे हुए और विषयोपभोगमें आसक्त (ये आसुरी लोग) अपवित्र नरकमें गिरते हैं! (१७) आत्मप्रशंसा करनेवाले, ऐंठसे बर्तनेवाले, और धन और मानके मदसे संयुक्त, ये (आसुरी) लोग दंभसे शास्त्रविधि छोड़कर केवल नामके

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

§§ त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

§§ यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

लिये यज्ञ किया करते हैं ; (१८) अहंकारसे, बलसे, दर्पसे, कामसे और क्रोधसे फूल-कर, अपनी और पराई देहमें वर्तमान मेरा (परमेश्वरका) द्वेष करनेवाले, (और) निंदक, (१९) अशुभ कर्म करनेवाले (इन) द्वेषी और क्रूर अधम नरोंको मैं (इस) संसारकी आसुरी अर्थात् पाप-योनियोंमेंही सदैव पटकता रहता हूँ । (२०) हे कौंतेय ! (इस प्रकार) जन्म-जन्ममें आसुरी योनिकोही पाकर, ये मूर्ख लोग मुझे बिना पायेही अंतमें अत्यंत अधोगतिको जा पहुँचते हैं ।

[आसुरी लोगोंका और उनको मिलनेवाली गतियोंका वर्णन हो चुका । अब बतलाते हैं, कि इससे छुटकारा कैसे पावें :–]

(२१) काम, क्रोध और लोभ, ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं, और ये हमारा नाशकर डालते हैं; इसलिये इन तीनोंका त्याग करना चाहिये । (२२) हे कौंतेय । इन तीन तमोद्वारोंसे छूटकर, मनुष्य वही आचरण करने लगता है, जिसमें उसका कल्याण हो; और फिर उत्तम गति पा जाता है ।

[प्रकट है, कि नरकके तीनों दरवाजे छूट जानेपर सद्गति मिलनीही चाहिये; किंतु यह नहीं बतलाया, कि कौन-सा आचरण करनेसे वे छूट जाते हैं । अतः अब उसका मार्ग बतलाते हैं :–]

(२३) जो शास्त्रोक्त विधि छोड़कर मनमाना बर्ताव करने लगता है, उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है और न उत्तम गतिभी मिलती है ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्याय: ॥१६॥

---

(२४) इसलिये कार्य-अकार्यव्यवस्थितिका अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेके लिये तुझे शास्त्रोंको प्रमाण मानना चाहिये; और शास्त्रोंमें जो कुछ कहा है, उसको समझकर, तदनुसार इस लोकमें कर्म करना तुझे उचित है ।

| [इस श्लोकके 'कार्याकार्यव्यवस्थिति' पदसे स्पष्ट होता है, कि कर्तव्य-शास्त्रकी अर्थात् नीतिशास्त्रकी कल्पनाको दृष्टिके आगे रख कर गीताका उपदेश किया गया है । गीतारहस्यमें (प्र. २, पृ. ४८–५१) स्पष्टकर दिखला दिया है, कि इसीको कर्मयोगशास्त्र कहते हैं ।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, दैवासुरसपद्विभागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

सप्तदशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

सत्रहवाँ अध्याय

[यहाँतक इस बातका वर्णन हुआ, कि कर्मयोगशास्त्रके अनुसार संसारका धारण-पोषण करनेवाले पुरुष किस प्रकारके होते हैं ? और इसके विपरीत, संसारका नाश करनेवाले मनुष्य किस ढँगके होते हैं ? अब यह प्रश्न सहजही होता है, कि मनुष्य-मनुष्यमें इस प्रकारके भेद होते क्यों हैं ? इस प्रश्नका साधारण उत्तर सातवेंही अध्यायके " प्रकृत्या नियताः स्वया " – अपना अपना प्रकृति-स्वभावपदोंमें दिया गया है (गीता ७. २०)। परंतु वहाँ सत्त्व, रज और तम , गुणोंका विवेचन नहीं किया गया था, अतएव वहाँ इस प्रकृतिजन्य भेदकी उपपत्तिका विस्तारपूर्वक वर्णनभी न हो सका। यही कारण है जो चौदहवें अध्यायमें त्रिगुणोंका विवेचन किया गया है, और अब इस अध्यायमें वर्णन किया गया है, कि त्रिगुणोंसेही उत्पन्न होनेवाली श्रद्धा आदिकेभी स्वभावभेद क्योंकर होते हैं और फिर इसी अध्यायमें ज्ञान-विज्ञानका संपूर्ण निरूपण समाप्त किया गया है, इसी प्रकार नवें अध्यायके भक्ति-मार्गके अनेक भेदोंका कारणभी इस अध्यायकी उपपत्तिसे समझमें आ जाता है (गीता ९. २३, २४) । पहले अर्जुन यों पूछता है, कि :–]

अर्जुनने कहा :– (१) हे कृष्ण ! जो लोग, श्रद्धासे युक्त होकरभी, शास्त्र-निर्दिष्ट विधिको छोड़करके यजन करते हैं, उनकी निष्ठा अर्थात् (मनकी) स्थिति कैसी है – सात्त्विक है, या राजस है, या तामस ?

[पिछले अध्यायके अंतमें जो यह कहा था, कि शास्त्रकी विधिका अथवा नियमोंका पालन अवश्य करना चाहिये; उसीपर अर्जुनने यह शंका की है। शास्त्रोंपर श्रद्धा रखते हुएभी मनुष्य अज्ञानसे भूल कर बैठता है। उदाहरणार्थ, शास्त्रविधि यह है, कि सर्वव्यापी परमेश्वरका भजन-पूजन करना चाहिये; परंतु वह इसे छोड़कर देवताओंकीही धुनमें लग जाता है (गीता ९ .२३) । अतः अर्जुनका प्रश्न है, कि ऐसे पुरुषकी निष्ठा अर्थात् अवस्था अथवा स्थिति कौनसी समझी जावे । यह प्रश्न उन आसुरी लोगोंके विषयमें नहीं है, कि जो शास्त्रका और धर्मका अश्रद्धापूर्वक तिरस्कार किया करते हैं । तोभी इस अध्यायमें प्रसंगानुसार उनके कर्मोंके फलोंकाभी वर्णन किया गया है ।]

श्रीभगवानुवाच ।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

श्रीभगवानने कहा :- (२) प्राणिमात्रकी यह श्रद्धा स्वभावतः तीन प्रकारकी होती है; सात्त्विक, राजस और तामस । उनका वर्णन सुन । (३) हे भारत ! सब लोगोंकी श्रद्धा अपने अपने सत्त्वके अनुसार अर्थात् प्रकृतिस्वभावके अनुसार होती है । मनुष्य श्रद्धामय है । जिसकी जैसी श्रद्धा (रहती) है, वैसाही वह होता है ।

[दूसरे श्लोकके 'सत्त्व' शब्दका अर्थ देहस्वभाव, बुद्धि अथवा अंतःकरण है । कठोपनिषदमें 'सत्त्व' शब्द इसी अर्थमें आया है (कठ. ६. ७), और वेदान्त-सूत्रके शांकरभाष्यमेंभी 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ' पदके स्थानमें 'सत्त्व-क्षेत्रज्ञ' पदका उपयोग किया गया है (वे. सू. शां. भा. १. २. १२) । तात्पर्य यह है, कि दूसरे श्लोकका 'स्वभाव' शब्द और तीसरे श्लोकका 'सत्त्व' शब्द दोनों यहाँ, समानार्थक हैं । क्योंकि सांख्य और वेदान्त इन दोनोंकोभी यह सिद्धान्त मान्य है, कि स्वभावका अर्थ प्रकृति है और इस प्रकृतिसे बुद्धि एवं अंतःकरण उत्पन्न होते हैं । "यो यच्छ्रद्धः स एव सः" – यह तत्त्व "देवताओंकी भक्ति करनेवाले देवताओंको पाते हैं" प्रभृति पूर्व-वर्णित सिद्धान्तोंकाही साधारण अनुवाद है (गीता ७. २०–२३; ९. २५), और इस विषयका विवेचन हमने गीतारहस्यके तेरहवें प्रकरणमें किया है (गीतार. पृ. ४२३–४२९) । तथापि जब यह कहा, कि जिसकी जैसी बुद्धि हो, उसे वैसा फल मिलता है, और इस बुद्धिका होना या न होना प्रकृति-स्वभावके अधीन है; तब प्रश्न होता है, कि फिर इस बुद्धि क्योंकर सुधर सकती है ? इसका यह उत्तर है, कि आत्मा स्वतंत्र है, अतः देहका यह स्वभाव क्रमशः अभ्यास और वैराग्यके द्वारा धीरे धीरे बदला जा सकता है । इस बातका विवेचन गीतारहस्यके दसवें प्रकरणमें किया गया है (पृ. २८०–२८१) । अभी तो यही देखना है, कि श्रद्धाके भेद क्यों और कैसे होते हैं ? इसीसे कहा गया है, कि प्रकृति-स्वभावानुसार श्रद्धा बदलती है । अब बतलाते हैं, कि जब प्रकृतिभी सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणोंसे युक्त है, तब प्रत्येक मनुष्यमें श्रद्धाकेभी त्रिधा भेद किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, और उनके परिणाम क्या होते हैं :–]

(४) जो पुरुष सात्त्विक हैं, अर्थात् जिनका स्वभाव सत्त्वगुण-प्रधान है, वे देवताओंका

§§ अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

यजन करते हैं; राजस पुरुष यक्षों और राक्षसोंका यजन करते हैं, एवं इनके अतिरिक्त जो तामस पुरुष हैं, वें प्रेतों और भूतोंका यजन करते हैं।

[इस प्रकार शास्त्रपर श्रद्धा रखनेवाले मनुष्योंकेभी सत्त्व आदि प्रकृतिके गुण-भेदोंसे जो तीन भेद होते हैं, उनका और उनके स्वरूपोंका वर्णन हुआ। अब बतलाते हैं, कि शास्त्रपर श्रद्धा न रखनेवाले कामपरायण और दांभिक लोग किस श्रेणीमें आते हैं। यह तो स्पष्ट है, कि ये लोग सात्त्विक नहीं है; परंतु ये निरे तामसभी नहीं कहे जा सकते; क्योंकि यद्यपि इनके कर्म शास्त्रविरुद्ध होते हैं, तथापि इनमें कर्म करनेकी प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति रजोगुणका धर्म है। तात्पर्य यह है, कि ऐसे मनुष्योंको न सात्त्विक कह सकते हैं, न राजस और न तामसभी। अतएव, दैवी और आसुरी नामक दो भिन्नही श्रेणियाँ बनाकर उक्त दुष्ट पुरुषोंका आसुरी श्रेणीमें समावेश किया जाता है। यही अर्थ अगले दो श्लोकोंमें स्पष्ट किया गया है।]

(५) (परंतु) जो लोग दंभ और अहंकारसे युक्त होकर, काम एवं आसक्तिके बलपर, शास्त्रके विरुद्ध घोर तप किया करते हैं, (६) तथा जो न केवल शरीरके पंचमहाभूतादिकोंके समूहकोही, वरन् शरीरके अन्तर्गत रहनेवाले मुझकोभी कष्ट देते हैं, उन्हें अविवेकी आसुरी बुद्धिके जान।

[इस प्रकार अर्जुनके प्रश्नोंके उत्तर हुए। इन श्लोकोंका भावार्थ यह है, कि मनुष्यकी श्रद्धा उसके प्रकृतिस्वभावानुसार सात्त्विक, राजस अथवा तामस हो सकती है; और उसके अनुसार उसके कर्मोंमें अंतर होता है, तथा अपने कर्मोंके अनुरूपही उसे पृथक् पृथक् गति प्राप्त होगी। परंतु केवल इतनेसेही कोई आसुरी श्रेणीमें नहीं गिना जाता। आत्माकी स्वाधीनताका उपयोगकर और शास्त्रानुसार आचरण करके प्रकृति-स्वभावको धीरे धीरे सुधारते जाना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। हाँ; जो ऐसा नहीं करते और दुष्ट प्रकृति-स्वभावकाही अभिमान रखकर शास्त्रके विरुद्ध आचरण करते हैं, उन्हें आसुरी बुद्धिके कहना चाहिये। अब यह वर्णन करते हैं, कि श्रद्धाके समानही आहार, यज्ञ, तप और दानके सत्त्व, रज, तममय प्रकृतिके गुणोंसे भिन्न-भिन्न भेद कैसे हो जाते है, एवं इन भेदोंसे स्वभावकी विचित्रताके साथ-ही-साथ क्रियाकी विचित्रताभी कैसे उत्पन्न होती है :–]

§§ आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

§§ अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

(७) प्रत्येककी रुचिका आहारभी तीन प्रकारका होता है। और यही अवस्था यज्ञ, तप एवं दानकीभी है। सुन, उनका भेद बतलाता हूँ। (८) आयु, सात्त्विक वृत्ति, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिकी वृद्धि करनेवाले, रसीले, स्निग्ध, शरीरमें भिदकर चिरकालतक रहनेवाले और मनको आनंददायक आहार सात्त्विक मनुष्यको प्रिय होते हैं। (९) कटु अर्थात् चरपरे, खट्टे, खारे, अत्युष्ण, तीखे, रूखे, दाहकारक तथा दुःख, शोक और रोग उपजानेवाले आहार राजस मनुष्यको प्रिय होते हैं।

[संस्कृतमें कटु शब्दका अर्थ चरपरा और तिक्तका अर्थ कड़ुआ होता है। इसीके अनुसार संस्कृतके वैद्यक ग्रंथोंमें काली मिर्च कटु तथा नींब तिक्त कही गई है (वाग्भट-सूत्र, अ. १०) हिंदीके कड़ुआ और तीखा शब्द क्रमानुसार कटु और तिक्त शब्दोंकेही अपभ्रंश हैं।]

(१०) कुछ काल रखा हुआ अर्थात् ठंडा, नीरस, दुर्गंधित, वासा, जूठा तथा अपवित्र भोजन तामस पुरुषको रुचता है।

[सात्त्विक मनुष्यको सात्त्विक, राजसको राजस तथा तामसको तामस भोजन प्रिय होता है, इतनाही नहीं, यदि आहार शुद्ध अर्थात् सात्त्विक हो, तो मनुष्यकी वृत्तिभी क्रम-क्रमसे शुद्ध या सात्त्विक हो सकती है। उपनिषदोंमें कहा है, कि "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः" (छां. ७. २६. २)। क्योंकि मन और बुद्धि प्रकृतिके विकार हैं, इसलिये जहाँ सात्त्विक आहार हुआ, वहाँ बुद्धिभी आप-ही-आप सात्त्विक बन जाती है। ये आहारके भेद हुए। इसी प्रकार अब यज्ञके तीन भेदोंकाभी वर्णन करते हैं :–]

(११) फलाशाकी आकांक्षा छोड़कर, अपना कर्तव्य समझ करके शास्त्रकी

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

§ § देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

विधिके अनुसार, शांत चित्तसे जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक यज्ञ है। (१२) परंतु हे भरतश्रेष्ठ ! उसको राजस यज्ञ समझ, कि जो फलकी इच्छासे अथवा दंभके हेतु अर्थात् ऐश्वर्य दिखलानेके लियेभी किया जाता है। (१३) शास्त्र-विधिरहित, अन्नदानविहीन, विना मंत्रोंका, बिना दक्षिणाका और श्रद्धासे शून्य यज्ञ तामस यज्ञ कहलाता है।

[आहार और यज्ञके समान तपकेभी तीन भेद हैं। पहले, तपके कायिक, वाचिक और मानसिक, ये भेद किये हैं; फिर इन तीनोंमेंसे प्रत्येककी सत्त्व, रज और तम गुणोंसे जो विविधता होती है, उसका वर्णन किया है। यहाँपर, तप शब्दसे यह संकुचित अर्थ विवक्षित नहीं है, कि जंगलमें जाकर पातंजलयोगके अनुसार शरीरको कष्ट दिया करें; किंतु मनुका किया हुआ 'तप' शब्दका यह व्यापक अर्थही गीताके निम्नलिखित श्लोकोंमें अभिप्रेत है, कि यज्ञयाग आदि कर्म, वेदाध्ययन, अथवा चातुर्वर्ण्यके अनुसार जिसका जो कर्तव्य हो – जैसे क्षत्रियका कर्तव्य युद्ध करना है और वैश्यका व्यापार इत्यादि – वह सब उसका तपही है (मनु. ११. २६३)।

(१४) देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानोंकी पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसाको शारीर अर्थात् कायिक तप कहते हैं। (१५) (मनको) उद्विग्न न करनेवाले, सत्य, प्रिय और हितकारक संभाषणको, तथा स्वाध्याय अर्थात् अपने कर्मके अभ्यासको, वाङमय (वाचिक) तप कहते हैं। (१६) मनको प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन अर्थात् मुनियोंके समान वृत्ति रखना, मनोनिग्रह और शुद्ध भावना – इनको मानस तप कहते हैं।

§ § श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

§ § दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

[जान पड़ता है, कि पंद्रहवें श्लोकके सत्य, प्रिय और हित, तीनों शब्द मनुके इस वचनको लक्ष्यकर कहे गये हैं :– "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।।" (मनु. ४. १३८) – यह सनातन धर्म है, कि सच और मधुर बोलना चाहिये; परंतु अप्रिय सच न बोलना चाहिये। तथापि महाभारतमेंही विदुरने दुर्योधनसे कहा है, कि "अप्रियस्त च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः" (मभा. सभा. ६३. १७) । अब फिर कायिक, वाचिक और मानसिक तपोंके जो भेद होते हैं, वे यों हैं :–]

(१७) इन तीनों प्रकारके तपोंको यदि मनुष्य फलकी आकांक्षा न रखकर उत्तम श्रद्धासे तथा योगयुक्त बुद्धिसे करे, तो वे सात्त्विक कहलाते हैं ; (१८) और जो तप अपने सत्कार, मान या पूजाके लिये, अथवा दंभसे, किया जाता है, वह चंचल और अस्थिर तप शास्त्रोंमें राजस कहा जाता है। (१९) मूढ़ आग्रहसे, स्वयं कष्ट उठाकर, अथवा (जारण-मारण आदि कर्मोंके द्वारा) दूसरोंको सतानेके हेतुसे किया हुआ तप तामस कहलाता है ।

[ये तपके भेद हुए; अब दानके त्रिविध भेद बतलाते हैं :–]

(२०) वह दान सात्त्विक कहलाता है, कि जो कर्तव्य-बुद्धिसे किया जाता है, जो (योग्य) स्थल, काल और पात्रका विचार करके किया जाता है, एवं जो अपने ऊपर प्रत्युपकार न करनेवालेको दिया जाता है। (२१) परंतु (किये हुए) उपकारके बदलेमें, अथवा किसी फलकी आशा रख, बडी कठिनाईसे अगे, जो दान दिया जाता है, वह राजस दान है। (२२) अयोग्य स्थानमें, अयोग्य कालमें,

§§ ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

अपात्र मनुष्यको, विना सत्कारके, अथवा अवहेलनापूर्वक, जो दान दिया जाता है, वह तामस दान कहलाता है।

[आहार, यज्ञ, तप और दानके समानही ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुखकी त्रिविधताका वर्णन अगले अध्यायमें किया गया है (गीता १८. २०–३९) इस अध्यायका गुणभेद-प्रकरण यहीं समाप्त हो चुका। अब ब्रह्म-निर्देशके आधारपर उक्त सात्त्विक कर्मकी श्रेष्ठता और संग्राह्यता सिद्ध की जावेगी। क्योंकि, उपर्युक्त संपूर्ण विवेचनपर सामान्यतः यह शंका हो सकती है, कि कर्म सात्त्विक हो, या राजस, या तामस, कैसाभी क्यों न हो ? है तो वह दुःखकारक और दोषमय ही; इस कारण इन सारे कर्मोंका त्याग किये बिना ब्रह्मप्राप्ति नहीं हो सकती; और यदि यह बात सत्य है, तो फिर कर्मके सात्त्विक, राजस आदि भेद करनेसे लाभही क्या है ? इन आक्षेपपर गीताका यह उत्तर है, कि कर्मके सात्त्विक, राजस और तामस भेद परब्रह्मसे अलग नहीं हैं। जिस संकल्पमें ब्रह्मका निर्देश किया गया है, उसीमें सात्त्विक कर्मोंका और सत्कर्मोंका समावेश होता है, और इससे निर्विवाद सिद्ध है, कि ये कर्म अध्यात्म-दृष्टिसेभी त्याज्य नहीं है (गीतार. प्र. ९, पृ. २४६–२४७)। परब्रह्मके स्वरूपका मनुष्यको जो कुछ ज्ञान हुआ है, वह सब 'ॐ तत्सत्' इन तीन शब्दोंके निर्देशमें ग्रथित है। इनमेंसे ॐ अक्षर-ब्रह्म है, और उपनिषदोंमें उसका भिन्न-भिन्न अर्थ किया गया है (प्रश्न ५; कठ. १५–१७; तै. १. ८; छां. १. १; मैत्र्यु. ६. ३, ४; मांडूक्य १–१२)। और जब यह वर्णाक्षररूपी ब्रह्महीं जगतके आरंभमें था, तब सब क्रियाओंका आरंभ वहींसे होता है। 'तत् = वह' शब्दका अर्थ है सामान्य कर्मसे परेका कर्म, अर्थात् निष्काम बुद्धिसे फलाशा छोड़कर किया हुआ सात्त्विक कर्म; और 'सत्'का अर्थ वह कर्म है, कि जो यद्यपि फलाशासहित हो, तोभी शास्त्रानुसार किया गया हो और शुद्ध हो – यही उक्त संकल्पका अर्थ है; और इस अर्थके अनुसार निष्काम बुद्धिसे किये हुए सात्त्विक कर्मकाही नहीं, वरन् शास्त्रानुसार किये हुए सत् कर्मकाभी परब्रह्मके सामान्य और सर्वमान्य संकल्पमें समावेश होता है; अतएव इन कर्मोंको त्याज्य कहना अनुचित है। अंतमें 'तत्' और 'सत्' कर्मोंके अतिरिक्त 'असत्' अर्थात् बुरा कर्म बच जाता है। परंतु अंतिम श्लोकमें सूचित किया है, कि वह दोनों लोकोंमें गर्ह्य माना गया है, इस कारण उस कर्मका इस संकल्पमें समावेश नहीं होता। भगवान् कहते हैं कि :–]

(२३) (शास्त्रमें) परब्रह्मका निर्देश 'ॐ तत्सत्' यों तीन प्रकारसे किया जाता है। इसी निर्देशसे पूर्वकालमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञ निर्मित हुए हैं।

§§ तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

[पहलेही कह चुके हैं, कि संपूर्ण सृष्टिके आरंभमें ब्रह्मदेवरूपी पहला ब्राह्मण, वेद और यज्ञ उत्पन्न हुए हैं (गीता ३. १०)। परंतु ये सब जिस परब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं, उस परब्रह्मका स्वरूप 'ॐ तत्सत्' इन तीन शब्दोंमें है। अतएव इस श्लोकका यह भावार्थ है, कि 'ॐ तत्सत्' संकल्पही सारी सृष्टिका मूल है। अब इस संकल्पके तीनों पदोंका कर्मयोगकी दृष्टिसे पृथक् निरूपण करते हैं :–]

(२४) तस्मात् अर्थात् जगतका आरंभ इस संकल्पसे हुआ है, इस कारण, ब्रह्मवादी लोगोंके यज्ञ, दान, तप तथा अन्य शास्त्रोक्त कर्म सदा इस ॐके उच्चारके साथ हुआ करते हैं (२५) 'तत्' शब्दके उच्चारणसे फलकी आशा न रखकर, मोक्षार्थी लोग यज्ञ, दान, तप आदि अनेक प्रकारकी क्रियाएँ किया करते हैं। (२६) अस्तित्व और साधुता अर्थात् भलाईके अर्थमें 'सत्' शब्दका उपयोग किया जाता है; और हे पार्थ ! इसी प्रकार प्रशस्त अर्थात् अच्छे कर्मोंके लियेभी 'तत्' शब्द प्रयुक्त होता है। (२७) यज्ञ, तप और दानमें स्थिति अर्थात् स्थिर भावना रखनेकोभी 'सत्' कहते हैं; तथा इनके निमित्त जो कर्म करना हो, उस कर्मका नामभी 'सत्' ही है।

[यज्ञ, तप और दान मुख्य धार्मिक कर्म हैं; तथा इनके निमित्त जो कर्म किया जाता है, उसीको मीमांसक लोग सामान्यतः यथार्थ कर्म कहते हैं। इन कर्मोंको करते समय यदि फलकी आशा हो, तोभी वह धर्मके अनुकूल रहती है, इस कारण ये कर्म 'सत्'की श्रेणीमें गिने जाते हैं और सब निष्काम कर्म 'तत् = वह अर्थात् परेका' की श्रेणीमें लेखे जाते हैं। प्रत्येक कर्मके आरंभमें जो यह 'ॐ तत्सत्' ब्रह्मसंकल्प कहा जाता है, उसमें इस प्रकारसे इन दोनों कर्मोंका समावेश होता है, इसलिये इन दोनों कर्मोंको ब्रह्मानुकूलही समझना चाहिये। (गीतार. प्र. ९, पृ. २५०)। अब असत् कर्म विषयमें कहते हैं :–]

§ § अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

---

(२८) अश्रद्धासे जो हवन किया हो, (दान) दिया हो, तप किया हो या जो कुछ (कर्म) किया हो, वह 'असत्' कहा जाता है। हे पार्थ ! वह (कर्म) न मरनेपर (परलोकमें) और न इस लोकमें हितकारी होता है।

[तात्पर्य यह है, कि ब्रह्मस्वरूपके बोधक इस सर्वमान्य संकल्पमेंही निष्काम बुद्धिसे, अथवा केवल कर्तव्य समझकर, किये हुए सात्त्विक कर्मका, और शास्त्रानुसार सद्बुद्धिसे किये हुए प्रशस्त कर्म अथवा सत्कर्मका समावेश होता है। अन्य सब कर्म वृथा हैं। इससे सिद्ध होता है, कि उस कर्मको छोड़ देनेका उपदेश करना उचित नहीं है, कि जिस कर्मका ब्रह्मनिर्देशमेंही समावेश होता है, और जो कर्म ब्रह्मदेवके साथही उत्पन्न हुआ है (गीता ३. १०), तथा जो किसीसेभी छूट नहीं सका है। 'ॐ तत्सत्' रूपी ब्रह्मनिर्देशके उक्त कर्मयोग-प्रधान अर्थको इसी अध्यायमें कर्मविभागके साथही बतलानेका हेतुभी यही है। क्योंकि केवल ब्रह्मस्वरूपका वर्णन तो पीछे तेरहवें अध्यायमें और उसके पहलेभी हो चुका है। गीतारहस्यके नवें प्रकरणके अंतमें (पृ. २५०) बतला चुके हैं, कि " ॐ तत्सत् पदका असली अर्थ क्या होना चाहिये " आजकल 'सच्चिदानन्द' पदसे ब्रह्मनिर्देश करनेकी प्रथा है। परंतु उसको स्वीकार न करके यहाँ जब इस 'ॐ तत्सत्' ब्रह्मनिर्देशकाही उपयोग किया गया है, तब इससे यह अनुमान निकल सकता है, कि 'सच्चिदानंन्द' पदरूपी ब्रह्मनिर्देश गीता-ग्रंथके निर्मित हो चुकनेपर साधारण ब्रह्मनिर्देशके रूपसे प्रायः प्रचलित हुआ होगा।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

अठारहवाँ अध्याय।

[अठारहवाँ अध्याय पूरे गीता-शास्त्रका उपसंहार है। अतः अबतक जो विवेचन हुआ है, उसका हम यहाँ संक्षेपमें सिंहावलोकन करते हैं (अधिक विस्तार गीतारहस्यके १४ वें प्रकरणमें देखिये) पहले अध्यायसे स्पष्ट होता है, कि स्वधर्मके अनुसार प्राप्त युद्धको छोड़, भीख माँगनेपर उतारू होनेवाले अर्जुनको अपने कर्तव्यमें प्रवृत्त करनेकेलिये गीताका उपदेश किया गया है। अर्जुनकी शंका थी, कि गुरुहत्या आदि सदोष कर्म करनेसे आत्मकल्याण कभी न होगा। अतएव आत्मज्ञानी पुरुषोंके स्वीकृत, आयु बितानेके दो प्रकारके मार्गोंका – सांख्य (संन्यास) मार्गका और कर्मयोग (योग) मार्गका – वर्णन दूसरे अध्यायके आरंभमेंही किया गया है; और अंतमें यह सिद्धान्त किया गया है, कि यद्यपि ये दोनों मार्ग मोक्ष देते हैं, तथापि इनमेंसे कर्मयोगही अधिक श्रेयस्कर है (गीता ५. २)। फिर तीसरे अध्यायसे लेकर पाँचवें अध्यायतक इन युक्तियोंका वर्णन है, कि कर्मयोगमें बुद्धि श्रेष्ठ समझी जाती है; बुद्धिके स्थिर और सम होनेसे कर्मकी बाधा नहीं होती; कर्म किसीकेभी नहीं छूटते; तथा उन्हें छोड़ देनाभी उचित नहीं; केवल फलाशाको त्याग देनाही काफी है; अपनेलिये न सही, लोकसंग्रहके हेतु कर्म करना आवश्यक है; बुद्धि अच्छी हो, तो ज्ञान और कर्मके बीच विरोध नहीं होता; तथा पूर्वपरंपरा देखी जाय तो ज्ञात होगा, कि जनक आदिने इसी मार्गका आचरण किया है। अनन्तर इस बातका विवेचन किया है, कि कर्मयोगकी सिद्धिके लिये बुद्धिकी जिस समताकी आवश्यकता होती है, उसे कैसे प्राप्त करना चाहिये, और इस कर्मयोगका आचरण करते हुए अंतमें उसीके द्वारा मोक्ष कैसे प्राप्त होता है। बुद्धिकी इस समताको प्राप्त करनेके लिये इंद्रियोंका निग्रह करके पूर्णतया यह जान लेना आवश्यक है, कि सब प्राणियोंमें एक परमेश्वरही भरा हुआ है, इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है। अतः इंद्रिय-निग्रहका विवेचन छठे अध्यायमें किया गया है और फिर सातवें अध्यायसे सत्रहवें अध्यायतक बतलाया है, कि कर्मयोगका आचरण करते हुएही परमेश्वरका ज्ञान कैसे प्राप्त होता है, और वह ज्ञान क्या है। सातवें और आठवें अध्यायमें क्षर-अक्षर अथवा व्यक्त-अव्यक्तके ज्ञान-विज्ञानका विवरण किया गया है। नवें अध्यायसे बारहवें अध्यायतक इस अभिप्रायका वर्णन किया गया है, कि यद्यपि परमेश्वरके व्यक्त स्वरूपकी अपेक्षा अव्यक्त स्वरूप श्रेष्ठ है, तोभी इस बुद्धिको न डिगने दें, कि परमेश्वर एकही है, और व्यक्त स्वरूपकीही उपासना प्रत्यक्ष ज्ञान देनेवाली अतएव सबके लिये सुलभ है। अनन्तर तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका यह विचार किया गया है, कि क्षर-अक्षरके विचारमें जिसे अव्यक्त कहते हैं, वही मनुष्यके शरीरका आत्मा है। इसके पश्चात् चौदहवें

अष्टादशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अध्यायसे लेकर **सत्रहवें** अध्यायतक, चार अध्यायोंमें क्षर-अक्षर विज्ञानके अंतर्गत इस विषयका विस्तारसहित विचार किया गया है, कि प्रकृतिके गुणोंके कारण एकही अव्यक्तमे जगतके विविध स्वभावोंके मनुष्य कैसे उपजते हैं, अथवा और अनेक प्रकारका विस्तार कैसे होता है, एवं ज्ञान-विज्ञानका निरूपण समाप्त किया गया है। तथापि स्थान-स्थानपर अर्जुनको यही उपदेश है, कि तू कर्म कर; और यह सिद्धान्त किया गया है, कि शुद्ध अंतःकरणसे परमेश्वरकी भक्ति करके " परमेश्वरार्पणपूर्वक स्वधर्मके अनुसार केवल कर्तव्य समझकर मरणपर्यंत सब कर्म करते रह नही " कर्म-योग-प्रधान आयु वितानेका मार्ग सबसे उत्तम है, जिसमें इस प्रकार ज्ञानमूलक और भक्ति-प्रधान कर्मयोगका सांगोपांग विवेचन कर चुकनेपर, अठारहवें अध्यायमें उसी धर्मका उपसंहार करके अर्जुनको स्वेच्छासे युद्ध करनेके लिये प्रवृत्त किया है। गीताके इस मार्गमें, कि जो गीतामें सर्वोत्तम कहा गया है, अर्जुनसे यह नहीं कहा गया, कि " तू चतुर्थ आश्रमको स्वीकार करके संन्यासी हो जा। " हाँ, यह अवश्य कहा है, कि इस मार्गके आचरण करनेवाला मनुष्य 'नित्यसंन्यासी' है (गीता ५. ३)। अतएव अब अर्जुनका प्रश्न है, कि चतुर्थ आश्रमरूपी संन्यास लेकर किसी समय सब कर्मोंको सचमुचही त्याग देनेका तत्त्व इस कर्मयोग-मार्गमें है या नहीं, और नहीं है तो 'संन्यास', एवं 'त्याग' दोनों शब्दोंका अर्थ क्या है? गीता प्र. ११, पृ. ३४८–३५१ देखो।]

अर्जुनने कहा :– (१) हे महाबाहु, हृषीकेश ! मैं संन्यासका तत्त्व, और हे केशिदैत्य-निषूदन ! त्यागका तत्त्व पृथक् पृथक् जानना चाहता हूँ।

[संन्यास और त्याग शब्दोंके केवल उन अर्थों अथवा भेदोंको जाननेके लिये यह प्रश्न नहीं किया गया है, कि जो कोशकारोंने किये हैं। यह न समझना चाहिये, कि अर्जुन यहभी न जानता था, कि दोनोंकाभी धात्वर्थ 'छोड़ना' है। परंतु बात यह है, कि भगवान् कर्म छोड़ देनेकी आज्ञा कहींभी नहीं देते; बल्कि चौथे, पाँचवें अथवा छठे अध्यायमें (गीता ४. ४१; ५. १३; ६. १) या अन्यत्र जहाँ कहीं संन्यासका वर्णन है, वहाँ उन्होंनें यही कहा है, कि केवल फलाशाका 'त्याग' करके (गीता १२. ११) परमेश्वरमें सब कर्मोंका 'संन्यास' करो अर्थात् सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करो (गीता ३. ३०; १२. ६); और

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

| उपनिषदोंमें देखें, तो कर्मत्याग-प्रधान संन्यास-धर्मके वचन पाये जाते हैं, कि "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" (कै. १. २. नारायण १२. ३), सब कर्मोंका स्वरूपतः 'त्याग' करनेसेही कई एकोंने मोक्ष प्राप्त किया है, अथवा "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्ध सत्त्वाः" (मुंडक ३. २. ६) कर्मत्यागरूपी 'संन्यास' योगसे शुद्ध होनेवाले 'यति', या "कि प्रजया करिष्यामः" (बृ. ४. ४. २२) हमें पुत्रपौत्र आदि प्रजासे क्या काम है? अतएव अर्जुनने समझा, कि भगवान् स्मृति-ग्रंथोंमें प्रतिपादित चार आश्रमोंमेंसे कर्मत्यागरूपी संन्यास आश्रमके लिये 'त्याग' और 'संन्यास' शब्दोंका उपयोग नहीं करते, किंतु वे और किसी अर्थमें उन शब्दोंका उपयोग करते हैं, इसीसे अर्जुनने चाहा, कि उस अर्थका स्पष्टीकरण हो जाय। इसी हेतुसे उसने उक्त प्रश्न किया है। गीतारहस्यके ग्यारहवें प्रकरण (पृ. ३४८–३५१ में इस विषयका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

श्रीभगवानने कहा :– (२) (जितने) काम्य कर्म हैं, उनके न्यास अर्थात् छोड़नेको ज्ञानी लोग संन्यास समझते हैं; (तथा) समस्त कर्मोंके फलोंके त्यागको पंडित लोग त्याग कहते हैं।

| [इस श्लोकमें स्पष्टतया बतला दिया है, कि कर्मयोग-मार्गमें संन्यास और त्याग किसे कहते हैं? परंतु संन्यास-मार्गीय टीकाकारोंको यह मत ग्राह्य नहीं, इस कारण उन्होंने इस श्लोककी बहुत कुछ खींचातानी की है। श्लोकके आरंभमेंही 'काम्य' शब्द आया है। अतएव इन टीकाकारोंका मत है, कि यहाँ मीमांसकोंके नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध प्रभृति कर्मभेद विवक्षित हैं; और उनकी समझमें भगवानका अभिप्राय यह है, कि उनमेंसे केवल "काम्य कर्मोंहीको छोड़ना चाहिये।" परंतु संन्यास-मार्गीय लोगोंको नित्य और नैमित्तिक कर्मभी नहीं चाहिये, इसलिये उन्हें यों प्रतिपादन करना पड़ा है, कि यहाँ नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका काम्य कर्मोंमेंही समावेश किया गया है। इतना करने-परभी इस श्लोकके उत्तरार्धमें जो कहा गया है, कि फलाशा छोड़नी चाहिये; न कि कर्म (आगे छठा श्लोक देखिये) उसका मेल मिलताही नही; अतएव अंतमें इन टीकाकारोंने अपनेही मनसे यों कहकर अपना समाधान कर लिया है, कि भगवानने यहाँ कर्मयोग-मार्गकी कोरी स्तुति की है, उनका सच्चा अभिप्राय तो यही है, कि कर्मोंको छोड़ही देना चाहिये! इससे स्पष्ट होता है, कि संन्यास

आदि संप्रदायोंकी दृष्टिसे इस श्लोकका ठीक ठीक अर्थ नहीं लगता। वास्तवमें इसका अर्थ कर्मयोग-प्रधानही करना चाहिये, अर्थात् फलाशा छोड़कर मरण-पर्यंत सारे कर्म करते जानेका जो तत्त्व गीतामें पहले अनेक बार कहा गया है, उसीके अनुरोधसे यहाँभी अर्थ करना चाहिये; तथा यही अर्थ सरल है और ठीक ठीक जमताभी है। पहले इस बातपर ध्यान देना चाहिये, कि 'काम्य' शब्दसे इस स्थानमें मीमांसकोंका नित्य, नैमित्तिक, काम्य, और निषिद्ध कर्मविभाग अभिप्रेत नहीं है। कर्मयोग-मार्गमें सब कर्मोंके दोही विभाग किये जाते हैं, एक 'काम्य' अर्थात् फलाशासे किये हुए कर्म और दूसरे 'निष्काम' अर्थात् फलाशा छोड़कर किये हुए कर्म; मनुस्मृतिमें उन्हींको क्रमसे 'प्रवृत्त' कर्म और 'निवृत्त' कर्म कहा है (मनु. १२. ८८, ८९)। कर्म चाहे नित्य हों, नैमित्तिक हों, काम्य हों, कायिक हों, वाचिक हों, मानसिक हों, अथवा सात्त्विक आदि भेदके अनुसार और किसी प्रकारके हों, उन सबको 'काम्य' अथवा 'निष्काम' वर्गोंमें इन दो, किसीएक विभागमें आनाही चाहिये। क्योंकि काम अर्थात् फलाशाका होना अथवा न होना, इन दोनोंके अतिरिक्त फलाशाकी दृष्टिसे तीसरा भेद होही नहीं सकता। शास्त्रमें जिस कर्मका जो फल कहा गया है, जैसे, पुत्रप्राप्तिके लिये पुत्रेष्टि, उस फलकी प्राप्तिके लिये वह कर्म किया जाय, तो वह 'काम्य' है; तथा मनमें उस फलकी इच्छा न रखकर वही कर्म केवल कर्तव्य समझकर किया जाय, तो वह 'निष्काम' हो जाता है। इस प्रकार सब कर्मोंके 'काम्य' और 'निष्काम' (अथवा मनुकी परिभाषाके अनुसार प्रवृत्त और निवृत्त) येही दो भेद सिद्ध होते हैं। अब कर्मयोगी सब 'काम्य' कर्मोंको सर्वथा छोड़ देता है, अतः सिद्ध हुआ, कि कर्मयोगमेंभी काम्य कर्मोंका संन्यास करना पड़ता है। फिर बच रहे निष्काम कर्म। सो गीतामें कर्मयोगीको निष्काम कर्म करनेका निश्चित उपदेश किया गया है सही; परंतु उसमेंभी 'फलाशा'का सर्वथा त्याग करना पड़ता है (गीता ६. २)। अतएव त्यागका तत्त्वभी गीता-धर्ममें स्थिरही रहता है। सारांश अर्जुनको यही बात समझा देनेके लिये, कि सब कर्मोंको न छोड़नेपरभी कर्मयोग-मार्गमें 'संन्यास' और 'त्याग', दोनों तत्त्व बने रहते हैं, इस श्लोकमें संन्यास और त्याग, दोनोंकी व्याख्याएँ यों की गई हैं, कि 'संन्यास'का अर्थ 'काम्य कर्मोंको सर्वथा छोड़ देना' है, और 'त्याग'का यह मतलब है, कि "जो कर्म करना हों, उनकी फलाशा न रखें।" पीछे जब यह प्रतिपादन हो रहा था, कि संन्यास (अथवा सांख्य) और योग ये दोनों तत्त्वतः एकही हैं; तब 'संन्यासी' शब्दका अर्थ (गीता ५. ३–६, ६. १,२) तथा इसी अध्यायमें आगे 'त्यागी' शब्दका अर्थभी (गीता. १८. ११) इसी भाँति किया गया है, और इस स्थानमें वही अर्थ इष्ट है। यहाँ स्मार्तोंका यह मत प्रतिपाद्य नहीं है, कि क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ आश्रमका पालन करनेपर

§§ त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥ ४॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥

एतन्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥

"अंतमें प्रत्येक मनुष्यको सर्वकर्मत्यागरूपी संन्यास अथवा चतुर्थाश्रम लिये विना मोक्षप्राप्तिही हो नहीं सकती।" इससे सिद्ध होता है, कि कर्मयोगी यद्यपि संन्यासियोंका गेरूआ भेष धारणकर सब कर्मोंका त्याग नहीं करता, तथापि वह संन्यासके सच्चे तत्त्वका पालन किया करता है, इसलिये कर्मयोगका स्मृति-ग्रंथसे कोई विरोध नहीं है। अब संन्यास-मार्ग – और मीमांसकोंके कर्मसंबंधी वादका उल्लेख करके कर्मयोगशास्त्रका, इस विषयमें अंतिम निर्णय सुनाते है :–]

(३) कई पंडितोंका कथन है, कि कर्म दोषयुक्त है, अतएव उसका (सर्वथा) त्याग करना चाहिये; तथा दूसरे कहते हैं, कि यज्ञ, दान, तप और कर्मको कभी न छोड़ना चाहिये। (४) अतएव हे भरतश्रेष्ठ! त्यागके विषयमें मेरा निर्णय सुन। हे पुरुषश्रेष्ठ! त्याग तीन प्रकारका कहा गया है। (५) यज्ञ, दान, तप और कर्मका त्याग न करना चाहिये; इनको (कर्मों) करनाही चाहिये। यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानोंके लिये (भी) पवित्र अर्थात् चित्तशुद्धिकारक हैं। (६) अतएव इन (यज्ञ, दान आदि) कर्मोंकोभी विना आसक्ति रखे, फलोंका त्याग करके (अन्य निष्काम कर्मोंके समानही लोकसंग्रहके हेतु) करते रहना चाहिये। हे पार्थ! इस प्रकार मेरा निश्चित मत (है, और वही) उत्तम है।

[कर्मका दोष अर्थात् बंधकता कर्ममें नहीं, फलाशामें है, इसलिये पहले अनेक बार जो कर्मयोगका यह तत्त्व कहा गया है, कि सभी कम फलाशा छोड़-कर निष्काम बुद्धिसे करने चाहिये, उसका यह उपसंहार है। संन्यास मार्गका यह मत गीताको मान्य नहीं है, कि सब कर्म दोषयुक्त, अतएव त्याज्य हैं (गीता १८. ४८, ४९), गीता केवल काम्य-कर्मोंका संन्यास करनेके लिये कहती है। परंतु धर्मशास्त्रमें जिन कर्मोंका प्रतिपादन है, वे सभी काम्यही हैं (गीता २. ४२–४४)। इसलिये अब कहना पड़ता है, कि उनकाभी संन्यास करना चाहिये; और यदि ऐसा करते हैं, तो यज्ञ-चक्र बंद हुआ जाता है (३. १६) एवं

§§ नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥

उससे सृष्टिके उद्ध्वस्त होनेकाभी अवसर आ जाता है। प्रश्न होता है, कि फिर करना क्या चाहिये? गीता इसका यों उत्तर देती है, कि यद्यपि शास्त्रमें कहा है, कि यज्ञ, दान प्रभृति कर्म स्वर्गादि फलप्राप्तिके हेतु करो, तथापि ऐसी बात नहीं है, कि येही कर्म लोकसंग्रहके लिये निष्काम बुद्धिसे न हो सकते हों, कि यज्ञ करना, दान देना और तप करना आदि मेरा कर्तव्य है (गीता १७. ११, १७. २०)। अतएव लोकसंग्रहकेनिमित्त स्वधर्मके अनुसार जैसे अन्यान्य निष्काम कर्म किये जाते हैं वैसेही यज्ञ, दान आदि कर्मोंकोभी फलाशा और आसक्ति छोड़कर करना चाहिये। क्योंकि वे सदैव 'पावन' अर्थात् चित्तशुद्धिकारक अथवा परोपकार बुद्धि बढ़ानेवाले हैं। मूल श्लोकमें जो 'एतान्यपि – येभी' शब्द हैं, उनका अर्थ यही है, कि "अन्य निष्काम कर्मोंके समान ये यज्ञ, दान आदि कर्मभी करने चाहिये।" इस रीतिसे ये सब कर्म फलाशा छोड़कर अथवा भक्ति-दृष्टिसे केवल परमेश्वरार्पण-बुद्धिपूर्वक किये जावें, तो सृष्टिका चक्र चलता रहेगा। और कर्ताके मनकी फलाशा छूट जानेके कारण ये कर्म मोक्ष-प्राप्तिमेंभी बाधा नहीं डाल सकते. इस प्रकार सब बातोंका ठीक ठीक मेल मिल जाता है। कर्मके विषयमें कर्मयोगशास्त्रका यही अंतिम और निश्चित सिद्धान्त है (गीता २. ४५ पर हमारी टिप्पणी देखो)। मीमांसकोंके कर्म-मार्ग और गीताके कर्मयोगका भेद गीतारहस्यमें (प्र. १०, पृ. २९५–२९७; प्र. ११, पृ. ३४५–३४८) अधिक स्पष्टतासे दिखाया गया है। अर्जुनके प्रश्न करनेपर संन्यास और त्यागके अर्थोंका कर्मयोगकी दृष्टिसे इस प्रकार स्पष्टीकरण हो चुका; अब सात्त्विक आदि भेदोंके अनुसार कर्म करनेकी भिन्न-भिन्न रीतियोंका वर्णन करके उसी अर्थको दृढ करते है।]

(७) जो कर्म (स्वधर्मके अनुसार) नियत अर्थात् स्थिरकर दिये गये हैं, उनका संन्यास याने त्याग करना (किसीकोभी) उचित नहीं है। उनका, मोहसे किया हुआ त्याग तामस कहलाता है। (८) शरीरको कष्ट होनेके डरसे, अर्थात् दुख:कारक होनेके कारणही, यदि कोई कर्म छोड़ दे, तो उसका वह त्याग राजस हो जाता है, (तथा) त्यागका फल उसे नहीं मिलता। (९) हे अर्जुन! (स्वधर्मा-

§§ न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

न हि देहभूता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

§§ अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

नुसार) नियत कर्म जब कार्य अथवा कर्तव्य समझकर और आसक्ति एवं फलको छोड़कर किया जाता है, तब वह सात्त्विक त्याग समझा जाता है।

[सातवें श्लोकके 'नियत' शब्दका अर्थ कुछ लोग नित्यनैमित्तिक आदि भेदोंमेंसे 'नित्य' कर्म समझते हैं, किंतु वह ठीक नहीं है "नियतं कुरु कर्म त्वम्" (गीता ३. ८) पदमें 'नियत' शब्दका जो अर्थ है, वही अर्थ यहाँपरभी करना चाहिये, और हम ऊपर कह चुके हैं, कि यहाँ मीमांसकोंकी परिभाषा विवक्षित नहीं है। गीता ३. १९ में 'नियत' शब्दके स्थानमे 'कार्य' शब्द आया है और यहाँ नवें श्लोकमें 'कार्य' एवं 'नियत' ये दोनों शब्द एकत्र आ गये हैं। इस अध्यायमें आरंभमें, दूसरे श्लोकमें, यह कहा गया है, कि स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले किसीभी कर्मको न छोड़कर, उसीको कर्तव्य समझकर करते रहना चाहिये (गीता ३. १९), इसीको सात्त्विक त्याग कहते हैं, इतनाही नहीं, तो कर्मयोग-शास्त्रमें इसीको 'त्याग' अथवा 'संन्यास' कहते हैं, इसी सिद्धान्तका इस श्लोकमें समर्थन किया गया है। इस प्रकार त्याग या संन्यासके अर्थोंका स्पष्टीकरण हो चुका; अब इसी तत्त्वके अनुसार बतलाते हैं, कि वास्तविक त्यागी या संन्यासी कौन है :–]

(१०) जो किसी अकुशल अर्थात् अकल्याणकारक कर्मका द्वेष नहीं करता, तथा कल्याणकारक अथवा हितकारी कर्ममें अनुषक्त नहीं होता, उसे सत्त्वशील, बुद्धिमान् और संदेहविरहित त्यागी अर्थात् संन्यासी कहना चाहिये। (११) क्योंकि जो देहधारी है, उससे, कर्मोंका निःशेष त्याग होना संभव नहीं है, अतएव जिसने (कर्म न छोड़कर) केवल कर्मफलोंका त्याग किया हो, वही (सच्चा) त्यागी अर्थात् संन्यासी है :

[अब यह बतलाते हैं, कि उक्त प्रकारसे, अर्थात् कर्म न छोड़कर केवल फलाशा छोड़करके, जो त्यागी हुआ हो, उसे उसके कर्मके कोईभी फल बंधक नहीं होते :–]

(१२) मृत्युके अनन्तर अत्यागी मनुष्यको अर्थात् फलाशाका त्याग न करनेवाले को तीन प्रकारके फल मिलते हैं – अनिष्ट, इष्ट और (कुछ इष्ट और

§ § पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥ १४ ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥
§ § तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

कुछ अनिष्ट मिला हुआ) मिश्र । परंतु संन्यासीको अर्थात् फलाशा छोड़कर कर्म करनेवालेको (ये फल) कभी नहीं मिलते, अर्थात् बाधा नहीं कर सकते ।

| [त्याग, त्यागी और संन्यासी संबंधी उक्त विचार पहले (गीता ३. ४–७; ५. २–१०; ६. १) कई स्थानोंमें आ चुके हैं, उन्हींका यहाँ उपसंहार किया गया है । समस्त कर्मोंका संन्यास गीताको कभीभी इष्ट नहीं है । फलाशाका त्याग करनेवाला पुरुषही गीताके अनुसार सच्चा अर्थात् नित्य-संन्यासी है (गीता ५. ३) । ममतायुक्त फलाशाका अर्थात् अहंकार-बुद्धिका त्यागही सच्चा त्याग है । इसी सिद्धान्तको दृढ करनेके लिये अब और कारण दिखलाते हैं :–]

(१३) हे महाबाहु ! सब कर्मोंकी सिद्धिके लिये सांख्योंके सिद्धान्तमें जो पाँच कारण कहे गये हैं; उन्हें मैं बतलाता हूँ, सुन । (१४) अधिष्ठान (स्थान), तथा कर्ता, भिन्न भिन्न करण याने साधन या हथियार, (कर्ताकी) अनेक प्रकारकी पृथक् पृथक् चेष्टाएँ अर्थात् व्यापार, और उसके साथही साथ पाँचवाँ (करण) दैव है । (१५) शरीरसे, वाणीसे अथवा मनसे मनुष्य जो जो कर्म करता है, फिर चाहे वह न्याय्य हो या विपरीत अर्थात् अन्याय्य उसके उक्त पाँच कारण हैं ।

(१६) (वास्तविक) स्थिति ऐसी होनेपरभी, जो संस्कृत बुद्धि न होनेके कारण यह समझे, कि मैंही अकेला कर्ता हूँ, (समझना चाहिये, कि), वह दुर्मति कुछभी नहीं जानता । (१७) जिसमें यह भावना नहीं है, कि मैं कर्ता हूँ तथा जिसकी बुद्धि अलिप्त है, वह यदि इन लोगोंको मार डाले, तथापि (समझना चाहिये, कि) उसने उन्हें नहीं मारा है, और वह (कर्म) उसे बंधकभी नहीं होता ।

| [कई टीकाकारोंने तेहरवें श्लोकके 'सांख्य' शब्दका अर्थ वेदान्तशास्त्र किया है । परंतु अगला अर्थात् चौदहवाँ श्लोक नारायणी धर्ममें (मभा. शां.

| ३४७. ८७) अक्षरशः आया है, और वहाँ उसके पूर्व कापिल-सांख्यके प्रकृति
| और पुरुष – तत्त्वोंका उल्लेख है, अतः हमारा यह मत है, कि – 'सांख्य' शब्दसे
| इस स्थानमें कापिल-सांख्यशास्त्रही अभिप्रेत है। गीतामें यह सिद्धान्त पहले
| अनेक बार कहा गया है, कि मनुष्यको न तो कर्मफलकी आशा करनी चाहिये,
| और न ऐसी अहंकार-बुद्धि मनमें रखनी चाहिये, कि मैं अमुक करूँगा (गीता
| २. १९; २. ४७; ३. २७; ५. ८–११; १३. २९); और यहाँपर वही
| सिद्धान्त यह कहकर दृढ किया गया है, कि "कर्मका फल होनेके लिये अकेला
| मनुष्यही कारण नहीं है" (गीतार. प्र. ११)। चौदहवें श्लोकका अर्थ यह
| है, कि मनुष्य इस जगतमें हो या न हो, प्रकृतिके स्वभावके अनुसार जगतका
| अखंडित व्यापार सदैव चलताही रहता है; और जिस कर्मको मनुष्य अपनी
| करनी समझता है, वह केवल उसीके यत्नका फल नहीं है, वरन् उसके यत्न और
| संसारके अन्य व्यापारों अथवा चेष्टाओंकी सहायताका परिणाम है। उदाहरणार्थ
| खेती केवल मनुष्यकेही यत्नपर निर्भर नहीं है, उसकी सफलताके लिये धरती,
| बीज, पानी, खाद और बैल आदिके गुणधर्म अथवा व्यापारोंकी सहायता आव-
| श्यक होती है। इसी प्रकार, मनुष्यके प्रयत्नकी सिद्धि होनेके लिये जगतके जिन
| विविध व्यापारोंकी सहायता आवश्यक है, उनमेंसे कुछ व्यापारोंको जानकर,
| उनकी अनुकूलता पाकरही मनुष्य यत्न किया करता है। परंतु हमारे प्रयत्नोंके
| लिये अनुकूल अथवा प्रतिकूल, सृष्टिके औरभी कई व्यापार ऐसे हैं, कि जिनका
| हमें ज्ञान नहीं है। इसीको दैव कहते हैं; और कर्मकी घटनाका यह पाँचवाँ
| कारण कहा गया है। मनुष्यका यत्न सफल होनेके लिये जब इतनी सब बातोंकी
| आवश्यकता है, तथा जब उनमेंसे कई या तो हमारे वशकी नहीं या हमें ज्ञातभी
| नहीं रहतीं, तब यह बात स्पष्टतया सिद्ध होती है, कि मनुष्यका ऐसा अभिमान
| रखना निरी मूर्खता है, कि मैं अमुक काम करूँगा; अथवा ऐसी फलाशा
| रखनाभी मूर्खताका लक्षण है, कि मेरे कर्मका फल अमुकही होना चाहिये (गीतार.
| प्र. ११, पृ. ३१८–३१९)। तथापि सत्रहवें श्लोकका अर्थ योंभी न समझ लेना
| चाहिये, कि जिसकी फलाशा छूट जाय, वह चाहे जो कुकर्म कर सकता है।
| साधारण मनुष्य जो कुछ करते हैं, वह स्वार्थके लोभसे करते हैं, इसलिये उनका
| बर्ताव अनुचित हुआ करता है। परंतु जिसका स्वार्थ या लोभ नष्ट हो गया है,
| अथवा फलाशा पूर्णतया विलीन हो गयी है और जिसे प्राणिमात्र समानही हो
| गये हैं, उससे किसीकाभी अनहित नहीं हो सकता। कारण यह है, कि दोष बुद्धिमें
| रहता है, न कि कर्ममें। अतएव सत्रहवें श्लोकका यही तात्पर्य है, कि जिसकी
| बुद्धि पहलेसे शुद्ध और पवित्र हो गयी हो, उसका किया हुआ कोई कर्म यद्यपि
| लौकिक दृष्टिसे विपरित भलेही दिखलाई दे; तोभी न्यायतः कहना पड़ता है,
| कि उसका बीज शुद्धही होगा; फलतः उस कामके लिये फिर उस शुद्ध-बुद्धि-

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

वाले मनुष्यको जिम्मेदार न समझना चाहिये। स्थितप्रज्ञ, अर्थात् शुद्ध-बुद्धिवाले, मनुष्यकी निष्पापताके इस तत्त्वका वर्णन उपनिषदोंमेंभी है (कौषी ३. १; पंचदशी. १४. १६, १६)। गीतारहस्यके बारहवें प्रकरणमेंभी (पृ. ३७२–३७६) इस विषयका पूर्ण विवेचन किया गया है, इसलिये यहाँपर उसके अधिक विस्तारकी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार अर्जुनके प्रश्न करनेपर संन्यास और त्याग शब्दोंके अर्थकी मीमांसा-द्वारा यह सिद्ध कर दिया, कि स्वधर्मानुसार जो कर्म प्राप्त होते जायँ, उन्हें अहंकार-बुद्धि और फलाशा छोड़-कर करते रहनाही सात्त्विक अथवा सच्चा त्याग है; कर्मोंको छोड़ बैठना सच्चा त्याग नहीं है। अब सत्रहवें अध्यायमें कर्मके सात्त्विक आदि भेदोंका जो विचार आरंभ किया गया था, उसीको यहाँ कर्मयोगकी दृष्टिसे पूरा करते हैं।]

(१८) कर्मचोदना तीन प्रकारकी है – ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता; तथा कर्मसंग्रह तीन प्रकारका है – करण, कर्म और कर्ता। (१९) गुणसंख्यानशास्त्रमें अर्थात् कापिल-सांख्यशास्त्रमें कहा है, कि ज्ञान, कर्म और कर्ता (प्रत्येक सत्त्व, रज और तम इन तीन) गुणोंके भेदोंसे तीन-तीन प्रकारके हैं। उन (प्रकारों)को ज्यों-के-त्यों (तुझे बतलाता हूँ,) सुन।

[कर्मचोदना और कर्मसंग्रह पारिभाषिक शब्द हैं। इंद्रियोंके द्वारा कोईभी कर्म होनेके पूर्व, मनसे उसका निश्चय करना पड़ता है। अतएव इस मानसिक विचारको 'कर्मचोदना' अर्थात् कर्म करनेकी प्राथमिक प्रेरणा कहते हैं; और वह स्वभावतः ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञाताके रूपसे तीन प्रकारकी होती है। एक उदाहरण लीजिये :– प्रत्यक्ष घड़ा बनानेके पूर्व कुम्हार (ज्ञाता) अपने मनसे निश्चय करता है, कि मुझे अमुक बात (ज्ञेय) करनी है, और वह अमुक रीतिसे (ज्ञान) होगी। यह क्रिया कर्मचोदना हुई। इस प्रकार मनका निश्चय हो जानेपर वह कुम्हार (कर्ता) मिट्टी, चाक इत्यादि साधन (करण) इकठ्ठेकर प्रत्यक्ष घडा (कर्म) तैयार करता है। यह कर्मसंग्रह हुआ। कुम्हारका कर्म घट तो है; पर उसीको मिट्टीका कार्यभी कहते हैं। इससे मालूम होगा, कि कर्मचोदना शब्दसे मानसिक अथवा अन्तःकरणकी क्रियाका बोध होता है, और कर्मसंग्रह शब्दसे उसी मानसिक क्रियाकी जोड़की बाह्यक्रियाओंका बोध होता है। किसीभी कर्मका पूर्ण विचार करना हो, तो 'चोदना' और 'संग्रह', दोनोंका विचार

§ § सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

करना चाहिये । इनमेंसे ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाताके (क्षेत्रज्ञ) लक्षण प्रथमही तेरहवें अध्यायमें (१३. १८) अध्यात्म-दृष्टिसे बतला चुके हैं । परंतु क्रियारूपी ज्ञानका लक्षण कुछ पृथक् होनेके कारण अब इस त्रयीमेंसे ज्ञानकी, और दूसरी त्रयीमेंसे कर्म एवं कर्ताकी, व्याख्याएँ दी जाती हैं :–]

(२०) जिस ज्ञानसे यह मालूम होता है, कि विभक्त अर्थात् भिन्न भिन्न सब प्राणियोंमें एकही अविभक्त और अव्यक्त भाव अथवा तत्त्व है, उसे सात्त्विक ज्ञान समझ । (२१) जिस ज्ञानसे इस पृथकत्वका बोध होता है, कि समस्त प्राणिमात्रमें भिन्न भिन्न प्रकारके अनेक भाव हैं, उसे राजस ज्ञान समझ । (२२) परंतु जो निष्कारण और तत्त्वार्थको विना जाने-बूझे एकही बातमें यह समझ कर आसक्त रहता है, कि यही सब कुछ है, वह अल्प ज्ञान तामस कहा गया है ।

[ये भिन्न भिन्न ज्ञानोंके लक्षण बहुत व्यापक हैं । अपने बाल-बच्चों और स्त्रीकोही सारा संसार समझना तामस ज्ञान है । इससे कुछ ऊँची सीढ़ीपर पहुँचनेसे दृष्टि अधिक व्यापक होती जाती है और अपने गाँवका अथवा देशका मनुष्यभी अपना-सा जँचने लगता है; तोभी यह बुद्धि बनी रहती है, कि भिन्न भिन्न गाँवों अथवा देशोंके लोग भिन्न भिन्न हैं । यही ज्ञान राजस कहलाता है । परंतु इससेभी ऊँचे जाकर प्राणिमात्रमें एकही आत्माको पहचानना पूर्ण और सात्त्विक ज्ञान है । सार यह हुआ, कि ‘ विभक्तमें अविभक्त ’ अथवा ‘ अनेकतामें एकता ’को पहचाननाही ज्ञानका सच्चा लक्षण है; और बृहदारण्यक एवं कठोपनिषदोंके वर्णनानुसार जो यह पहचान लेता है, कि इस जगतमें नानात्व नहीं है – “ नेह नानास्ति किंचन ” – वह मुक्त हो जाता है; परंतु जो इस जगतमें अनेकता देखता है, वह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा रहता है – “ मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेन पश्यति ” (बृ. ४. ४. १९; कठ. ४. ११) । इस जगतमें जो कुछ ज्ञान प्राप्त करना है, वह यही है (गीता १३. १६); और ज्ञानकी यही परम सीमा है; क्योंकि सभीके एक हो जानेपर फिर एकीकरणकी ज्ञानक्रियाको आगे स्थानही नहीं रहता (गीतार. प्र. ९, पृ. २३२–२३३) । एकीकरण करनेकी इस ज्ञानक्रियाका निरूपण गीतारहस्यके नवें प्रकरण में (पृ. २१६–२१७)

§§ नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

| किया गया है। जब यही सात्त्विक ज्ञान मनमें भली भाँति प्रतिबिंबत हो जाता है, तब मनुष्यके देहस्वभावपर उसके जो परिणाम होते हैं, उनका वर्णन, दैवी-संपत्ति-गुणवर्णनके नामसे, सोलहवें अध्यायके आरंभमें किया गया है, और तेरहवें अध्यायमें (१३. ७–११) ऐसे देहस्वभावकाही नाम 'ज्ञान' बतलाया है। इससे जान पड़ता है, कि 'ज्ञान' शब्दसे (१) एकीकरणकी मानसिक क्रियाकी पूर्णता, तथा (२) उस पूर्णताका देहस्वभावपर होनेवाला परिणाम, – ये दोनों अर्थ गीतामें विवक्षित हैं। अतः गीतारहस्यके नवें प्रकरणके अंतमें (पृ. २४९–२५०) यह बात स्पष्टकर दी गयी है, कि बीसवें श्लोकमें वर्णित ज्ञानका लक्षण यद्यपि बाह्यतः मानसिक क्रियात्मक दिखायी देता है, तथापि उसीमें इस ज्ञानके कारण देहस्वभावपर होनेवाले परिणामका समावेश करना चाहिये। अस्तु; ज्ञानके भेद हो चुके। अब कर्मके भेद बतलाये जाते हैं :–]

(२३) फल-प्राप्तिकी इच्छा न करनेवाला मनुष्य, (मनमें) प्रेम या द्वेष न रख कर, बिना आसक्तिके (स्वधर्मानुसार) जो नियत अर्थात् नियुक्त किया हुआ कर्म करता है, उसको (कर्म) सात्त्विक कहते हैं। (२४) परंतु काम अर्थात् फलाशाकी इच्छा रखनेवाला अथवा अहंकार-बुद्धिका (मनुष्य) बड़े परिश्रमसे जो कर्म करता है, उसे राजस कहते हैं। (२५) तामस कर्म वह है, कि जो इन बातोंका विचार किये बिना मोहसे आरंभ किया जाता है, कि अनुबंधक अर्थात् आगे क्या होगा, पौरुष याने अपनी सामर्थ्य कितनी है, और (होनहारमें) नाश अथवा हिंसा होगी या नहीं।

| [इन तीन प्रकारके कर्मोंमें सभी प्रकारके कर्मोंका समावेश हो जाता है। निष्काम कर्मोंकोही सात्त्विक अथवा उत्तम क्यों कहा है, (गीतारहस्यके ग्यारहवें प्रकरणमें इस बातका विवेचन किया गया है, उसे देखो) यही सच्चा अकर्मभी है (गीता ४. १६ पर हमारी टिप्पणी देखो)। गीताका सिद्धान्त है, कि कर्मकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है, अतः स्मरण रहे, कि कर्मके उक्त लक्षणोंका वर्णन करते समय बार बार कर्ताकी बुद्धिका उल्लेख किया गया है, कर्मका सात्त्विकपन या तामसपन केवल उसके बाह्य परिणामसेही निश्चित नहीं किया गया है (गीता

§§ मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च तार्क तामस उच्यते ॥ २८ ॥

| र. प्र. १२, पृ. ३८२ – ३८३) । इसी प्रकार २५ वें श्लोकमें यहभी सिद्ध है, कि फलाशाके छूट जाने पर यह न समझना चाहिये, कि अगला-पिछला या सारासार विचार किये विनाही चाहे जो कर्म किया जाय क्योंकि २५ वें श्लोकमें यह निश्चय किया है, कि अनुबंध और फलका विचार किये विना जो कर्म किया जाता है, वह तामस है; न कि सात्त्विक (गीतार. प्र. १२, पृ. ३८२–३८३) । अब इसी तत्त्वके अनुसार कर्ताके भेद वतलाते हैं :–]

(२६) जिसे आसक्ति नहीं रहती, जो 'मैं' ओर 'मेरा' नहीं कहता, कार्यकी सिद्धि हो या न हो, (दोनों समय) जो (मनसे) विकाररहित होकर धृति और उत्साहके साथ कर्म करता है, उसे सात्त्विक (कर्ता) कहते हैं । (२७) विषयासक्त, लोभी, (सिद्धिके समय) हर्ष (और असिद्धिके समय) शोकसे युक्त, कर्मफल पानेकी इच्छा रखनेवाला, हिसात्मक और अशुचि कर्ता राजस कहलाता है । (२८) अयुक्त अर्थात् चंचल बुद्धिवाला, असभ्य, गर्वसे फूलनेवाला, ठग, नैष्कृतिक याने दूसरोंकी हानि करनेवाला, आलसी, अप्रसन्नचित्त और दीर्घसूत्री अर्थात् देरी लगानेवाला या घडी भरके कामको महीने भरमें करनेवाला कर्ता तामस कहलाता है ।

| [२८ वें श्लोकमें नैष्कृतिक (निस् + कृत = छेदन करना, काटना) शब्दका अर्थ दूसरेके कामका छेदन करनेवाला अथवा करनेवाला है । परंतु इसके वदले कई लोग 'नैष्कृतिक' पाठ मानते हैं । अमरकोशमें 'निकृत'का अर्थ शठ लिखा हुआ है । परंतु इस श्लोकमें शठ विशेषण पहले आ चुका है, इसलिये हमने नैष्कृतिक पाठको स्वीकार किया है । इन तीन प्रकारके कर्ताओंमेंसे सात्त्विक कर्ताही अकर्ता, अलिप्त कर्ता अथवा कर्मयोगी है । ऊपरवाले श्लोकसे प्रकट है, कि फलाशा छोड़नेपरभी कर्म करनेका विश्वास, उत्साह और सारासार विचार उस कर्मयोगीमें वनेही रहतें हैं । जगतके त्रिविध विस्तारका यह वर्णनही अब वुद्धि, धृति और सुखके विषयमेंभी किया जाता है । इन श्लोकोंमें वुद्धिका अर्थ वही व्यवसायात्मका वुद्धि अथवा निश्चय करनेवाली इंद्रिय अभीष्ट है, कि जिसका वर्णन दूसरे अध्यायमें (२. ४१) हो चुका है: और इसका स्पष्टीकरण गीतारहस्यके छठे प्रकरणमें (पृ. १३९–१४३) किया गया है ।]

§§ बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

§§ धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

(२९) हे धनंजय ! गुणोंके कारण बुद्धि और धृतिकेभी जो तीन प्रकारके भिन्न भिन्न भेद होते हैं, उन सबको पृथक् पथक् तुझसे कहता हूँ, सुन। (३०) हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्ति, अर्थात् किसी कर्मके करने, और निवृत्ति, अर्थात् किसी कर्मके न करनेको जानती है, एवं यह जानती है, कि कार्य अर्थात् करनेके योग्य काम क्या है और अकार्य अर्थात् करनेके अयोग्य क्या है, किससे डरना चाहिये और किससे नहीं, किससे बंधन होता है और किससे मोक्ष, वह (बुद्धि) सात्त्विक है। (३१) हे पार्थ ! वह बुद्धि राजसी है, कि जिससे धर्म और अधर्मका, अथवा कार्य और अकार्यका, यथार्थ निर्णय नहीं होता। (३२) हे पार्थ ! वह बुद्धि तामसी, है कि जो तमसे व्याप्त होकर अधर्मको धर्म समझती है, और सब बातोंमें विपरीत याने उलटी समझ कर देती है।

[इस प्रकार बुद्धिके विभाग करनेपर सदसद्विवेक-बुद्धि कोई स्वतंत्र देवता नहीं रह जाती, किंतु सात्त्विक बुद्धिमेंही उसका समावेश करना पड़ता है। विवेचन गीतारहस्यके प्रकरण ६, पृष्ठ १४२–१४३ में किया गया है। बुद्धिके भेद हो चुके, अब धृतिके भेद बतलाते हैं :–]

(३३) हे पार्थ ! जिस अव्यभिचारिणी अर्थात् इधर उधर न डिगनेवाली धृतिसे मन, प्राण और इंद्रियोंके व्यापार, (कर्मफल-त्यागरूपी) योगके द्वारा चलाये जाते हैं, वह धृति सात्त्विक है। (३४) हे अर्जुन ! जिस धृतिसे धर्म, काम और अर्थ (ये पुरुषार्थ) चलाये जाते हैं और जो प्रसंगानुसार (धर्म-अर्थ-कामके)

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

§ § सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

फलकी इच्छा रखती है, वह धृति राजस है। (३५) हे पार्थ ! जिस धृतिसे मनुष्य दुर्बुद्धि होकर निद्रा, भय, शोक, विषाद और मद नहीं छोड़ता, वह धृति तामस है।

['धृति' शब्दका अर्थ धैर्य है; परंतु यहाँपर शारीरिक धैर्यसे अभिप्राय नहीं है, इस प्रकरणमें धृति शब्दका अर्थ मनका दृढनिश्चय है। निर्णय करना बुद्धिका काम है सही; परंतु इस बातकीभी आवश्यकता है, कि बुद्धिके योग्य निर्णय करनेपर वह सदैव स्थिर रहे। बुद्धिके निर्णयको ऐसा स्थिर या दृढ करना मनका धर्म है। अतएव कहना चाहिये, कि धृति अथवा मानसिक धैर्यका गुण मन और बुद्धि, दोनोंकी सहायतासे उत्पन्न होता है। परंतु इतना कह देनेसे सात्त्विक धृतिका लक्षण पूर्ण नहीं हो जाता, कि अव्यभिचारी अर्थात् इधर उधर विचलित न होनेवाले धैर्यके बलपर मन, प्राण और इंद्रियोंके व्यापार करने चाहिये। बल्कि यहभी बतलाना चाहिये, कि ये व्यापार किसपर होते हैं, अथवा इन व्यापारोंका कर्म क्या है; और वह कर्मयोगी शब्दसे सूचित किया गया है। अतः 'योग' शब्दका अर्थ केवल 'एकाग्र चित्त कर देनेसे काम नहीं चलता। इसीलिये पूर्वापर संदर्भके अनुसार, हमने इस शब्दका अर्थ, कर्मफल-त्यागरूपी योग किया है। सात्त्विक कर्मके और सात्त्विक कर्ता आदिके लक्षण बतलाते समय जैसे 'फलकी आसक्ति छोड़ने'को प्रधान गुण माना है, वैसेही सात्त्विक धृतिका लक्षण बतलानेसमयभी उसीको प्रधान मानना चाहिये; इसके सिवा अगलेही श्लोकमें यह वर्णन है, कि राजस धृति फलाकांक्षी होती है। अतः उस श्लोकसेभी सिद्ध होता है, कि सात्त्विक धृति, राजस धृतिके विपरीत अफलाकांक्षी होनी चाहिये। तात्पर्य यह है, कि निश्चयकी दृढता तो निरी मानसिक प्रक्रिया है, और उसके भली या बुरी होनेका विचार करनेके अर्थ यह देखना चाहिये, कि जिस कार्यके लिये इस क्रियाका उपयोग किया जाता है, वह कार्य कैसा है। नींद और आलस्य आदि कामोंमेंही यदि दृढनिश्चय किया गया हो; तो वह तामस है; फलाशापूर्वक नित्य व्यवहारके काम करनेमें किया गया हो तो राजस है; और फलाशा-त्यागरूपी योगमें दृढ निश्चय किया गया हो, तो वह सात्त्विक है। इस प्रकार धृतिके भेद हुए। अब बतलाते हैं, कि गुणभेदानुसार सुखकेभी तीन प्रकार कैसे होते हैं :-]

(३६) अब हे भरतश्रेष्ठ ! सुखकेभी तीन भेद बतलाता हूँ, सुन। अभ्याससे

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

अर्थात् निरंतर परिचयसे जिसमें रम जाता है और जहाँ दुःखका अंत होता है, (३७) जो आरंभमें (तो) विषके समान जान पड़ता है, परंतु परिणाममें अमृतके तुल्य है, जो आत्मनिष्ठ-बुद्धिकी प्रसन्नतासे प्राप्त होता है, उस (आध्यात्मिक) सुखको सात्त्विक कहते हैं। (३८) इंद्रियों और उनके विषयोंके संयोगसे होनेवाला (अर्थात् आधिभौतिक) सुख राजस कहा जाता है, कि जो पहले तो अमृतके समान होता है पर अंतमें विष-सा रहता है। (३९) और जो आरंभमें एवं अनुबंध अर्थात् परिणाममेंभी मनुष्यको मोहमें फँसाता है, और जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद अर्थात् कर्तव्यकी भूलसे उपजता है, उसे तामस सुख कहते हैं।

[३७ वें श्लोकके आत्मबुद्धि शब्दका अर्थ हमने 'आत्मनिष्ठ बुद्धि' किया है, परंतु 'आतम'का अर्थ 'अपना' करके, उसी पदका अर्थ 'अपनी बुद्धि'भी हो सकेगा। क्योंकि पहले (६. २१) कहा गया है, कि अत्यंत सुख केवल 'बुद्धिसेही ग्राह्य' और 'अतींद्रिय' होता है। परंतु अर्थ कोईभी क्यों न किया जाय, तात्पर्य तो एकही है। यदि कहा जावे, कि सच्चा और नित्य सुख इंद्रियोपभोगमें नहीं है, किंतु वह केवल बुद्धिग्राह्य है, तथापि जब विचार करते हैं, कि बुद्धिको यह सच्चा और अत्यंत सुख प्राप्त होनेके लिये क्या करना पड़ता है, तब गीताके छठें अध्यायसे (गीता ६. २१, २२) प्रकट होता है, कि यह परमावधिका सुख आत्मनिष्ठ बुद्धिके हुए बिना प्राप्त नहीं होता। 'बुद्धि' एक ऐसी इंद्रिय है, कि वह एक ओरसे त्रिगुणात्मक प्रकृतिके विस्तारकी ओर देखती है, और दूसरी ओर से उसको आत्मस्वरुपी परब्रह्मकाभी बोध हो सकता है, कि जो इस प्रकृतिके विस्तारके मूलमें अर्थात् प्राणिमात्रमें समानतासे व्याप्त है। तात्पर्य यह है, कि इंद्रियनिग्रहके द्वारा बुद्धिको त्रिगुणात्मक प्रकृतिके विस्तारसे हटाकर जहाँ अंतर्मुख और आत्मनिष्ठ किया – और पातंजलयोगके द्वारा साधनीय विषय यही है – तहाँ वह बुद्धि प्रसन्न हो जाती है, और मनुष्यको सत्य एवं आत्यंतिक सुखका अनुभव होने लगता है। गीतारहस्य के ५ वें प्रकरण (पृ. ११६–११७) में आध्यात्मिक सुखकी श्रेष्ठताका विवरण किया जा चुका है। यह बतलाते हैं, कि इस जगतमें सामान्यतः उक्त त्रिविध भेदही भरा पड़ा है :–]

§ § न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥
§ § ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

(४०) इस पृथ्वीपर आकाशमें अथवा देवताओंमें अर्थात् देवलोकमेंभी ऐसी कोई वस्तु नहीं कि जो प्रकृतिके इन तीन गुणोंसे मुक्त हो ।

[अठारहवें श्लोकसे यहाँतक ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुखके भेद बतलाकर, अर्जुनकी आँखोंके सामने इस बातका एक चित्र रख दिया है, कि संपूर्ण जगतमें प्रकृतिके गुणभेदसे विचित्रता कैसे उत्पन्न होती है, तथा फिर प्रतिपादन किया है, कि इन सब भेदोंमें सात्त्विक भेद श्रेष्ठ और ग्राह्य है । इन सात्त्विक भेदोंमेंभी जो सबसे श्रेष्ठ स्थिति है, उसीको गीतामें त्रिगुणातीत अवस्था कहा है । गीतारहस्यके सातवें प्रकरणमें (पृ. १६८–१६९) हम कह चुके हैं, कि गीताके अनुसार त्रिगुणातीत अथवा निर्गुण अवस्था कोई स्वतंत्र या चौथा भेद नहीं है, और इसी न्यायके अनुसार मनुस्मृतिमेंभी सात्त्विक गतिकेही फिर उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ, ये तीन भेद करके कहा गया है, कि उत्तम सात्त्विक गति मोक्षप्रद है, और मध्यम सात्त्विक गति स्वर्गप्रद है (मनु. १२. ४८–५०, ८९–८१) । जगतमें जो प्रकृति है, उसकी विचित्रताका यहाँतक वर्णन किया गया । अब निरूपण किया जाता है, कि इस गुणविभागसेही चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाकी उत्पत्ति कैसे हुई । यह बात पहले कई बार कही जा चुकी है, कि (गी. १८. ७–९, २३; ३. ८) प्रत्येक मनुष्यको स्वधर्मानुसार अपना 'नियत' अर्थात् नियुक्त किया हुआ कर्म फलाशा छोड़कर, परंतु धृति, उत्साह और सारासार विचारके साथ साथ करते जाना चाहिये, यही संसारमें उसका कर्तव्य है । परंतु जिस बातसे यह कर्म 'नियत' होता है, उसका बीज अबतक कहींभी नहीं बतलाया गया । पीछे एक बार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाका कुछ थोड़ा-सा उल्लेखकर (४. १३) कहा गया है, कि कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय शास्त्रके अनुसार करना चाहिये (गीता १६. २४); परंतु जगतके व्यवहारोंको नियमानुसार जारी रखनेके हेतु (गीतार. प्र. ११–१२, पृ. ३३६, ३९९–४००, प्र. १५, पृ. ४९६–४९७) जिस गुणकर्मविभागके तत्त्वपर चातुर्वर्ण्यरूपी शास्त्र-व्यवस्था निर्मित की गयी है, उसका पूर्ण स्पष्टीकरण उस स्थानमें नहीं किया गया है । अतएव जिस संस्थासे समाजमें हर एक मनुष्यका कर्तव्य नियत होता है, अर्थात् स्थिर किया जाता है, उस चातुर्वर्ण्यकी, गुणत्रयविभागके अनुसार, उपपत्ति बतलाकर उसके साथही साथ अब प्रत्येक वर्णके नियत किये हुए कर्तव्यभी कहे जाते हैं :–]

(४१) हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके कर्म, उसके स्वभाव-

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

§§ **स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।**
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

जन्य अर्थात् प्रकृतिसिद्ध गुणोंके अनुसार पृथक् बँटे हुए हैं। (४२) ब्राह्मणका स्वभावजन्य कर्म शम, दम, तप, पवित्रता, क्षान्ति, सरलता (आर्जव), ज्ञान अर्थात् अध्यात्मज्ञान, विज्ञान याने विविध ज्ञान और आस्तिक्य-बुद्धि है। (४३) शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्धसे न भागना, दान देना और (प्रजापर) शासन करना क्षत्रियका स्वाभाविक कर्म है। (४४) कृषि अर्थात् खेती, गोरक्षा याने पशुओंको पालनेका उद्यम, और वाणिज्य अर्थात् व्यापार वैश्यका स्वभावजन्य कर्म है; और इसी प्रकार, सेवा करना शूद्रका स्वाभाविक कर्म है।

[यह न समझा जाय, कि यह उपपत्ति गीतामेंही पहले बतलायी गयी है, कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था स्वभावजन्य गुणभेदसे निर्मित हुई है; किंतु महाभारतके वनपर्वान्तर्गत नहुष-युधिष्ठिर-संवादमें और द्विज-व्याध-संवादमें (वन. १८०, २११), शांतिपर्वके भृगु-भारद्वाज-संवादमें (शां. १८८), अनुशासनपर्वके उमा-महेश्वर-संवादमें (अनु. १४३), और अश्वमेधपर्वकी (अश्व. ३९. ११) अनुगीतामें गुणभेदकी यही उपपत्ति कुछ अंतरसे पायी जाती है। यह पहलेही कहा जा चुका है, कि जगतके विविध व्यवहार प्रकृतिके गुणभेदसे हो रहे हैं, और फिर सिद्ध किया गया है, कि जिस चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थासे, यह नियत किया जाता है, कि किसे क्या करना चाहिये, वह व्यवस्थाभी प्रकृतिके गुणभेदका परिणाम है। अब यह प्रतिपादन करते हैं, कि उक्त कर्म हरएक मनुष्यको निष्काम बुद्धिसे अर्थात् परमेश्वरार्पण-बुद्धिसेही करने चाहिये, अन्यथा जगतका कारोबार नहीं चल सकता; तथा मनुष्यके इस प्रकारके आचरणसेही सिद्धि प्राप्त हो जाती है, सिद्धि पानेके लिये और कोई दूसरा अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता नहीं है :-]

(४५) अपने अपने (स्वभावजन्य गुणोंके अनुसार प्राप्त होनेवाले) कर्मोंमें नित्य रत (रहनेवाला) पुरुष (उसीसे) परम सिद्धि पाता है। सुन, अपने कर्मोंमें

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥
§ § श्रेयान्स्वाधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

तत्पर रहनेसे सिद्धि कैसे मिलती है (४६) प्राणिमात्रकी जिससे प्रवृत्ति हुई है और जिसने इस सारे जगतका विस्तार किया है अथवा जिससे यह सब जगत व्याप्त है, उसकी अपने (स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले) कर्मोंके द्वारा (केवल वाणी अथवा फूलोंसे नहीं) पूजा करनेसेही मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होती है।

[इस प्रकार प्रतिपादन किया गया, कि चातुर्वर्ण्यके अनुसार प्राप्त होनेवाले कर्मोंको निष्काम बुद्धिसे अथवा परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे करनाही विराट्स्वरूपी परमेश्वरका एक प्रकारका यजन-पूजनही है, तथा उसीसे सिद्धि मिल जाती है (गीतार. प्र. १३, पृ. ४३९–४४०) । अब उक्त गुण-कर्म-भेदानुसार मनुष्यको स्वभावतःही प्राप्त होनेवाला कर्तव्य किसी दूसरी दृष्टिसे कदाचित् सदोष, अश्लाघ्य, कठिन अथवा अप्रियभी हो सकता है (उदाहरणार्थ, इस अवसरपर क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध करनेमें हत्या होनेके कारण वह सदोष दिखायी देगा, तो ऐसे समयपर मनुष्यको क्या करना चाहिये ? क्या वह स्वधर्म छोड़कर अन्य धर्म स्वीकार कर ले (गीता ३. ३५), या कुछभी हो, स्वकर्मकोही करता जावें, और यदि स्वकर्मही करना चाहिये, तो कैसे करे ? – इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर उसी न्यायके अनुरोधसे बतलाया जाता है, कि जो इस अध्यायके आरंभके (१८. ६) यज्ञयाग आदि कर्मोंके संबंधमें कहा गया है :–]

(४७) यद्यपि परधर्मका आचरण सहज हो, तोभी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्यविहित कर्म, विगुण याने सदोष होनेपरभी अधिक कल्याणकारक है; स्वभावसिद्ध अर्थात् गुणस्वभावानुसार निर्मित चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था द्वारा नियत किया हुआ अपना कर्म करनेमें कोई पाप नहीं लगता। (४८) हे कौन्तेय ! जो कर्म सहज है, अर्थात् जन्मसेही गुण-कर्म-विभागानुसार नियत हो गया है, वह सदोष हो, तोभी उसे (कभी) न छोडना चाहिये। क्योंकि संपूर्ण आरंभ अर्थात् उद्योग (किसी न किसी) दोषसे वैसेही व्याप्त रहते हैं, जैसे कि धुएँसे आग घिरी रहती है। (४९), (अतएव) कहींभी आसक्ति न रखकर, मनको वशमें करके

निष्काम बुद्धिसे चलनेपर (कर्मफलके) संन्यास-द्वारा परम नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

[इस उपसंहारात्मक अध्यायमें पहले बतलाये हुए उन्हीं विचारोंको अब फिरसे व्यक्त कर दिखलाया गया है, कि पराये धर्मकी अपेक्षा स्वधर्म भला है (गीता ३. ३५), और नैष्कर्म्य-सिद्धि पानेके लिये कर्म छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है (गीता ३. ४), इत्यादि। हम गीताके तीसरे अध्यायके चौथे श्लोककी टिप्पणीमें ऐसे प्रश्नोंका स्पष्टीकरण कर चुके हैं, कि नैष्कर्म्य क्या है और सच्ची नैष्कर्म्य-सिद्धि किसे कहना चाहिये। उक्त सिद्धान्तकी महत्ता इस बातपर ध्यान दिये रहनेसे सहजही समझमें आ जावेगी, कि संन्यास-मार्गवालोंकी दृष्टि केवल मोक्षपरही रहती है, और भगवानकी दृष्टि मोक्ष एवं लोकसंग्रह, दोनोंपरभी समानही है। लोकसंग्रहके लिये अर्थात् समाजके धारण और पोषणके निमित्त ज्ञान-विज्ञानयुक्त पुरुष, अथवा रणमें तलवारका जौहर दिखलानेवाले शूर क्षत्रिय, तथा किसान, वैश्य, रोजगारी, लुहार, बढई, कुम्हार और मांस-विक्रेता व्याधतककीभी आवश्यकता है। परंतु यदि कहा जाय, कि कर्म छोड़े बिना मोक्ष नहीं मिलता, तो इन सब लोगोंको अपना अपना व्यवसाय छोड़कर संन्यासी बन जाना चाहिये ! कर्मसंन्यास-मार्गके लोग इस बातकी परवाह नहीं करते, परंतु गीताकी दृष्टि इतनी संकुचित नहीं है। इसलिये गीता कहती है, कि अपने अधिकारके अनुसार प्राप्त हुए व्यवसायको छोड़कर, दूसरेके व्यवसायको भला समझकर, करने लगना उचित नहीं है। कोईभी व्यवसाय लीजिये। उसमें कुछ-न-कुछ त्रुटि अवश्य रहतीही है। जैसे ब्राह्मणके लिये विशेषतः विहित जो क्षान्ति है (गीता १८. ४२), उसमेंभी एक बड़ा दोष यह है, कि "क्षमावान् पुरुष दुर्बल समझा जाता है' (मभा. शां. १६०. ३४); और व्याधके पेशेमें मांस बेंचनाभी एक झंझटही है (मभा. वन. २०६)। परंतु कठिनाइयोंसे उकताकर इन कर्मोंकोही छोड़ बैठना उचित नहीं है। किसीभी कारणसे क्यों न हो, जब एक बार, किसी कर्मको अपना लिया, तो फिर उसकी कठिनाई या अप्रियताकी परवाह न करके, उसे आसक्ति छोड़कर रहनाही चाहिये। क्योंकि मनुष्यकी लघुता-महत्ता उसके व्यवसायपर निर्भर नहीं है, किंतु जिस बुद्धिसे वह अपना व्यवसाय या कर्म करता है, उसी बुद्धिपर उसकी योग्यता अध्यात्मदृष्टिसे अवलंबित रहती है (गीता २. ४९)। जिसका मन शांत है, और जिसने सब प्राणियोंके अंतर्गत एकताको पहचान लिया है, वह मनुष्य जाति या व्यवसायसे चाहे व्यापारी हो, चाहे कसाई; निष्काम बुद्धिसे उक्त व्यवसाय करनेवाला वह मनुष्य स्नानसंध्याशील ब्राह्मण अथवा शूर क्षत्रियकी बराबरीका माननीय और मोक्षका अधिकारी है। यही नहीं, वरन् ४९ वें श्लोकमें स्पष्ट कहा है, कि कर्म छोड़नेसे जो सिद्धि प्राप्त की जाती है, वही निष्काम

§§ सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

| बुद्धिसे अपना अपना व्यवसाय करनेवालोंकोभी मिलती है। भागवतधर्मका जो कुछ रहस्य है, वह यहीं है; तथा महाराष्ट्रके साधू-संतोंके इतिहाससे स्पष्ट होता है, कि उक्त रीतिसे आचरण करके निष्काम बुद्धिके तत्त्वको अमलमें लाना कुछ असंभव नहीं है (गीतार. प्र. १३, पृ. ४४२), अब बतलाते हैं, कि, अपने अपने कर्मोंमें तत्पर रहनेसेही अंतमें मोक्ष कैसे प्राप्त होता है :–]

(५०) हे कौन्तेय ! (इस प्रकार) सिद्धि प्राप्त होनेपर (उस पुरुषको) ज्ञानकी परम निष्ठा, अर्थात् ब्रह्म जिस रीतिसे प्राप्त होता है, उसका मैं संक्षेपसे वर्णन करता-हूँ, सुन। (५१) शुद्ध बुद्धिसे युक्त हो करके, धैर्यसे आत्मसंयमन कर, शब्द आदि (इंद्रियोंके) विषयोंको छोड़करके, और प्रीति एवं द्वेषको दूरकर, (५२) 'विविक्त' अर्थात् चुने हुए अथवा एकांत स्थलमें रहनेवाला, मिताहारी, काया-वाचा और मनको वशमें रखनेवाला, नित्य ध्यानयुक्त और विरक्त, (५३) (तथा) अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह अर्थात् पाशको छोड़कर शांत एवं ममतासे रहित, (मनुष्य) ब्रह्मभूत होनेके लिये समर्थ होता है। (५४) ब्रह्मभूत हो जानेपर प्रसन्नचित्त हो कर वह न किसीकी आकांक्षा करता है, और न किसीका द्वेषभी; तथा समस्त प्राणिमात्रमें सम होकर मेरी परम भक्तिको प्राप्त कर लेता है। (५५) भक्तिसे उसको मेरा तात्त्विक ज्ञान हो जाता है, कि मैं कितना हूँ और कौन हूँ; इस प्रकार मेरी तात्त्विक पहचान हो जानेपर वह मुझमेंही प्रवेश करता

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

है; (५६) और मेराही आश्रयकर, सब कर्म सदैव करते रहनेपरभी उसे मेरे अनुग्रहसे शाश्वत एवं अव्यय स्थान प्राप्त होता है।

[ध्यान रहे, कि सिद्धावस्थाका उक्त वर्णन कर्मयोगियोंका है, कर्मसंन्यास करनेवाले पुरुषोंका नहीं। आरंभमेंही, ४५ वें और ४९ वें श्लोकमें कहा है, कि उक्त वर्णन आसक्ति छोड़कर कर्म करनेवालोंका है, तथा अंतके ५६ वें श्लोकमें "सब कर्म करते रहनेपरभी" शब्द आये हैं। उक्त वर्णन भक्तोंके अथवा त्रिगुणातीतोंके वर्णनके समानही है। यहाँतक कि, कुछ शब्दभी उसी वर्णनसे लिये गये हैं। उदाहरणार्थ, ५३ वें श्लोकका 'परिग्रह' शब्द छठें अध्यायमें (६. १०) योगीके वर्णनमें आया है; ५४ वें श्लोक 'न शोचति न कांक्षति' पद बारहवें अध्यायके (१२. १७) भक्ति-मार्गके वर्णनमें हैं; और 'विविक्त' अर्थात् "चुने हुए 'एकान्त' स्थलमें रहना" शब्द १३ वें अध्यायके १०वें श्लोकमें आ चुका है। कर्मयोगीको प्राप्त होनेवाली उपर्युक्त अंतिम स्थिति और कर्म-संन्यास-मार्गसे प्राप्त होनेवाली अंतिम स्थिति, दोनों केवल मानसिक दृष्टिसे एकही हैं, इसीसे संन्यास-मार्गीय टीकाकारोंको यह कहनेका अवसर मिल गया है, कि उक्त वर्णन हमारेही मार्गके हैं। परंतु हम कई बार कह चुके हैं, कि यह सच्चा अर्थ नहीं है। अस्तुः, इस अध्यायके आरंभमें प्रतिपादन किया गया है, कि संन्यासका अर्थ कर्मत्याग नहीं है, किंतु फलशाके त्यागकोही संन्यास कहते हैं। जब संन्यास शब्दका इस प्रकार अर्थ हो चुका, तब यह सिद्ध है, कि यज्ञ, दान आदि कर्म चाहे काम्य हों, चाहे नित्य हों या नैमित्तिक, उनको अन्य सब कर्मोंके समानही फलाशा छोड़कर उत्साह और समतासे करते जाना चाहिये। तदनंतर संसारके कर्म, कर्ता, बुद्धि आदि संपूर्ण विषयोंकी गुणभेदसे अनेकता दिखलाकर उनमें सात्त्विकको श्रेष्ठ कहा है; और गीताशास्त्रका यह इत्यर्थ बतलाया है, कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाके द्वारा स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले समस्त कर्मोंको आसक्ति छोड़कर करते जानाही परमेश्वरका यजन-पूजन करना है; एवं इसीसे अंतमें क्रमशः परब्रह्म अथवा मोक्षकी प्राप्ति होती है; मोक्षके लिये कोई दूसरा अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता नहीं है, अथवा कर्मत्यागरूपी संन्यासभी लेनेकी जरूरत नहीं है, केवल इस कर्मयोगसेही मोक्षसहित सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। अब इसी कर्मयोग-मार्गको स्वीकारकर लेनेके लिये अर्जुनको फिर एक बार अंतिम उपदेश करते हैं:–]

§ § चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥

§ § यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

(५७) मनसे सब कर्मोंको मुझमें 'संन्यस्य' अर्थात् सर्मपित करके मत्परायण होता हुआ (साम्य) बुद्धियोगके आश्रयसे हमेशा मुझमें चित्त रख।

['बुद्धियोग' शब्द पहले-दूसरेही अध्यायमें (२.४९) आ चुका है; और वहाँ उसका अर्थ फलाशामें बुद्धि न रखकर कर्म करनेकी युक्ति अथवा समत्व बुद्धि है। यही अर्थ यहाँभी विवक्षित है और दूसरे अध्यायमें जो यह सिद्धान्त बतलाया था, कि कर्मकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है, उसीका यह उपसंहार है। इसीमें कर्मसंन्यासका अर्थभी इन शब्दोंके द्वारा व्यक्त किया गया है, कि " मनसे (अर्थात् कर्मका प्रत्यक्ष त्याग न करके, केवल बुद्धिसे) मुझमें सब कर्म समर्पित कर। " और वही अर्थ पहले गीता ३. ३० एवं ५. १३ मेंभी वर्णित है।]

(५८) मुझमें चित्त रखनेपर तू मेरे अनुग्रहसे सब संकटोंको अर्थात् कर्मके शुभाशुभ फलोंको पार कर जावेगा। परंतु यदि अहंकारके वश होकर मेरी न सुनेगा, तो (निस्संदेह) नाश पावेगा।

[५८ वें श्लोकके अंतमें अहंकारका जो परिणाम बतलाया है, अब यहाँ उसीका अधिक स्पष्टीकरण करते है :–]

(५९) तू अहंकारसे जो यह मानता (कहता) है, कि मैं युद्ध न करूँगा, तेरा वह निश्चय व्यर्थ है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव तुझसे वह (युद्ध) करावेगा। (६०) हे कौन्तेय ! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बद्ध होनेके कारण, मोहके वश होकर तू जिसे करनेकी इच्छा करता है, पराधीन (अर्थात् प्रकृतिके अधीन) हो करके तुझे वही करना पड़ेगा। (६१) हे अर्जुन ! सब प्राणियोंके हृदयमें रहकर ईश्वर (अपनी) मायासे प्राणिमात्रको (ऐसे) घुमा रहा है, मानो सभी (किसी)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

यंत्रपर चढ़ाये गये हों। (६२) इसलिये हे भारत ! तू सर्व भावसे उसीकी शरणमें जा। उसके अनुग्रहसे तुझे परम शांति और नित्यस्थान प्राप्त होगा। (६३) इस प्रकार मैंने यह गुह्यातिगुह्य ज्ञान तुझसे कहा है। इसका पूर्ण विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर।

[इन श्लोकोंमें कर्म-पराधीनताका जो गूढ तत्त्व बतलाया गया है, उसका विचार गीतारहस्यके १० वें प्रकरणमें विस्तारपूर्वक हो चुका है। यद्यपि आत्मा स्वयं स्वतंत्र है, तथापि जगतके अर्थात् प्रकृतिके व्यवहारको देखनेसे मालूम होता है, कि उस कर्मके चक्रपर आत्माका कुछभी अधिकार नहीं है, कि जो अनादि कालसे चल रहा हैं। जिनकी हम इच्छा नहीं करते, बल्कि जो हमारी इच्छाके विपरीतभी है, ऐसी सैंकडों-हजारों बातें संसारमें हुआ करती हैं; तथा उनके व्यापारके परिणामभी हमपर होते रहते हैं, अथवा उक्त व्यापारोंकाही कुछ भाग हमें करना पड़ता है। यदि इन्कार करते हैं, तो बनता नहीं है। ऐसे अवसरपर ज्ञानी मनुष्य अपनी बुद्धिको निर्मलकर, और सुख या दुःखको एकसा समझकर सब कर्म किया करता है, किंतु मूर्ख मनुष्य उनके फन्देमें फँस जाता है; यही दोनोंके आचरणमें महत्त्वपूर्ण भेद है। भगवानने तीसरेही अध्यायमें कह दिया है, कि "सभी प्राणी अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार चलते रहते हैं, वहाँ निग्रह क्या करेगा ?" (गीता ३. ३३)। ऐसी स्थितिमें मोक्षशास्त्र अथवा नीतिशास्त्र इतनाही उपदेश कर सकता है, कि कर्ममें आसक्ति मत रखो, इससे अधिक वह कुछ नहीं कह सकता। अध्यात्म-दृष्टिसे यह विचार हुआ; परंतु भक्तिकी दृष्टिसे प्रकृतिभी तो ईश्वरकाही अंश है, अतः ६१वें और ६२वें श्लोकमें यही सिद्धान्त ईश्वरको सारा कर्तृत्व सौंप कर बतलाया गया है। जगतमें जो कुछ व्यवहार हो रहे हैं, उन्हें परमेश्वर जैसे चाहता है, वैसे करवा रहा है। इसलिये ज्ञानी मनुष्यको उचित है, कि अहंकार-बुद्धि छोड़कर, अपने आपको सर्वथा परमेश्वरकेही हवालेकर दे। ६३वें श्लोकमें भगवानने कहा है सही, कि, "जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर" परंतु उसका अर्थ बहुत गंभीर है। ज्ञान अथवा भक्तिके द्वारा जहाँ बुद्धि साम्यावस्थामें पहुँची, वहाँ फिर बुरी इच्छा बचनेही नहीं पाती, अतएव ऐसे ज्ञानी पुरुषका 'इच्छा-स्वातंत्र्य' (इच्छाकी स्वाधीनता) उसे अथवा जगतको कभी अहितकारक नहीं हो सकता। इसलिये

§ § सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपाप्येभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

| उक्त श्लोकका ठीक ठीक भावार्थ यह है, कि " ज्योंही तू इस ज्ञानको समझ लेगा (विमृश्य), त्योंही तू स्वयंप्रकाश हो जायगा; और फिर (पहलेसे नहीं) तू अपनी इच्छासे जो कर्म करेगा, वही धर्म्य एवं प्रमाण होगा, तथा तुझे स्थितप्रज्ञकी ऐसी अवस्था प्राप्त हो जानेपर तेरी इच्छाको रोकनेकी आवश्यकताही न रहेगी ।" अस्तु, गीतारहस्यके १४ वें प्रकरणमें हम दिखला चुके हैं, कि, गीतामें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकोही अधिक महत्त्व दिया गया है । इस सिद्धान्तके अनुसार अब संपूर्ण गीताशास्त्रका भक्तिप्रधान उपसंहार करते हैं :-]

(६४) (अब) अंतकी यह और एक बात सुन, कि जो गुह्यातिगुह्य है । मेरा अत्यंत प्यारा है, इसलिये मैं तेरे हितकी बात करता हूँ । (६५) मुझमें अपना मन रख, मेरा भक्त हो, मेरा यजन कर, और मेरी वंदना कर; मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, कि (इससे) तू मुझमेंही आ मिलेगा, (क्योंकि) तू मेरा प्यारा (भक्त) है । (६६) सब धर्मोंको छोड कर तू केवल मेरीही शरणमें आ जा । मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूँगा, डर मत ।

| [कोरे ज्ञानमार्गके टीकाकारोंको यह भक्ति-प्रधान उपसंहार प्रिय नहीं लगता । इसलिये वे धर्म शब्दमेंही अधर्मका समावेश करके कहते हैं, कि यह श्लोक कठोपदिषदके इस उपदेशसे समानार्थक है, कि " धर्म-अधर्म, कृत-अकृत, और भूत-भव्य, सबको छोड़ कर उनके परे रहनेवाले परब्रह्मको पहचानो " (कठ २. १४); तथा इसमें निर्गुण ब्रह्मकी शरणमें जानेका उपदेश है निर्गुण ब्रह्मका वर्णन करते समय कठ-उपनिषदका श्लोक महाभारतमेंभी आया है । (शां. ३२९. ४०; ३३१. ४४) । परंतु इन दोनों स्थानोंपर धर्म और अधर्म, ये दोनों पद जैसे स्पष्टतया पाये जाते हैं, वैसे गीतामें नहीं हैं । यह सच है, कि गीता निर्गुण ब्रह्मको मानती है, और उसमें यह निर्णयभी किया गया है, कि परमेश्वरका वही स्वरूप श्रेष्ठ है (गीता ७. २४) । तथापि गीताका यहभी तो सिद्धान्त है, कि व्यक्तोपासना सुलभ और श्रेष्ठ है (१२. ५), और यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अपने व्यक्त स्वरूपके विषयमेंही कह रहे हैं; इस कारण हमारा यह दृढ मत है, कि यह उपसंहार भक्तिप्रधानही है । अर्थात् यहाँ निर्गुण ब्रह्म विवक्षित नहीं है,

§§ इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

§§ अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

| किंतु कहना चाहिये कि यहाँपर धर्म शब्दसे परमेश्वर-प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें जो अनेक मार्ग बतलाये गये हैं, – जैसे अहिंसा-धर्म, सत्य-धर्म, मातृपितृ-सेवाधर्म, गुरुसेवा-धर्म, यज्ञयाग-धर्म, दान-धर्म, संन्यास-धर्म, आदि – वेही अभिप्रेत हैं; और महाभारतके शांतिपर्वमें (शां. ३५४) एवं अनुगीतामें (अश्व. ४९) जहाँ इस विषयकी चर्चा हुई है, वहाँ धर्म शब्दसे मोक्षके इन्हीं उपायोंका उल्लेख किया गया है। परंतु इस स्थानपर गीताके प्रतिपाद्य धर्मको लक्ष करके भगवानका यह निश्चयात्मक उपदेश है, कि उक्त नाना धर्मोंकी गड़बड़में न पड़ कर 'मुझे अकेलेकोही भज, मैं तेरा उद्धार कर दूंगा, डर मत' (गीतार. पृ. ४४३)। सार यह है, कि अर्जुनको निमित्त बनाकर भगवान् अंतमें सभीको आश्वासन देते हैं, कि मेरी दृढ भक्ति करके, मत्परायण-बुद्धिसे स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले कर्म करते जानेपर, इहलोक और परलोक, दोनों जगह तुम्हारा कल्याण होगा, डरो मत। यही कर्मयोग कहलाता है; और सब गीता-धर्मका सारभी यही है। अब बतलाते हैं, कि इस गीता-धर्मकी, अर्थात् ज्ञानमूलक और भक्ति-प्रधान कर्मयोगकी, परंपरा आगे कैसे जारी रखी जावे :–]

(६७) जो तप नहीं करता, भक्ति नहीं करता और सुननेकी इच्छाभी नहीं रखता, तथा जो मेरी निंदा करता, है, उसे यह (गुह्य) कभी मत बतलाओ। (६८) जो यह परम गुह्य मेरे भक्तोंको बतलावेगा, उसकी मुझमें परम भक्ति होगी और वह निस्संदेह मुझमेंही आ मिलेगा। (६९) और उसकी अपेक्षा मेरा अधिक प्रिय करनेवाला संपूर्ण मनुष्योंमें दूसरा कोईभी न मिलेगा; तथा इस भूमिमें मुझे उसकी अपेक्षा अधिक प्रिय और कोई न होगा।

| [परंपराकी रक्षाके इस उपदेशके साथही अब फल बतलाते हैं :–]

(७०) हम दोनोंके इस धर्म-संवादका जो कोई अध्ययन करेगा, मैं समझूंगा,

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

§§ कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

कि उसने ज्ञानयज्ञसे मेरी पूजा की है। (७१) इसी प्रकार दोष न ढूँढ कर श्रद्धाके साथ जो कोई इसे सुनेगा, वहभी (पापोंसे) मुक्त होकर उन शुभ लोकोंमें जा पहुँचेगा, कि जो पुण्यवान् लोगोंको मिलते हैं।

[यहाँ उपदेश समाप्त हो चुका। अब यह जाँचनेके लिये, कि यह धर्म अर्जुनकी समझमें ठीक आ गया है या नहीं भगवान् उससे पूछते हैं :–]

(७२) हे पार्थ ! तूने इसे एकाग्र मनसे सुन तो लिया है न ? (और) हे धनंजय ! तेरा अज्ञानरूपी मोह अब सर्वथा नष्ट हुआ कि नहीं ? अर्जुनने कहा :– (७३) हे अच्युत ! तुम्हारे प्रसादसे मेरा मोह नष्ट हो गया; और मुझे (कर्तव्य-धर्मकी) स्मृति हो गई। मैं (अब) निःसंदेह हो गया हूँ। आपके उपदेशानुसार (युद्ध) करूँगा।

[जिनकी सांप्रदायिक समझ यह है, कि गीताधर्ममेंभी संसारको छोड देनेका उपदेश किया गया है, उन्होंने इस अंतिम अर्थात् ७३ वें श्लोककी बहुत कुछ निराधार खींचातानी की है। यदि विचार किया जाय, कि अर्जुनको किस बातकी विस्मृति हो गयी थी, तो पता लगेगा, कि दूसरे अध्यायमें (२. ७) उसने कहा है, कि "अपना धर्म अथवा कर्तव्य समझनेमें मेरा मन असमर्थ हो गया है" (धर्मसंमूढ चेताः); अतः उक्त श्लोकका सरल अर्थ यही है कि उसी कर्तव्य-धर्मकी अब उसे स्मृति हो आयी है। अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिये गीताका उपदेश किया गया है, और स्थान-स्थानपर कहा गया है, कि "इसलिये तू युद्ध कर" (गीता २. १८; २. ३७; ३. ३०; ८. ७; ११. ३४), अतएव "आपकी आज्ञानुसार करूँगा" का अर्थ "युद्ध करता हुँ" ही होता है। अस्तु; श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद समाप्त हुआ; अब महाभारतकी कथाके संदर्भानुसार धृतराष्ट्रको यह कथा सुनाकर संजय उपसंहार करता है :–]

संजय उवाच ।

§ § इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

संजयने कहा :– (७४) इस प्रकार शरीरको रोमांचित करनेवाला वासुदेव और महात्मा अर्जुनका यह अद्‌भुत संवाद मैंने सुना । (७५) व्यासजीके अनुग्रहसे मैंने यह परम गुह्य, याने योग अर्थात् कर्मयोग, साक्षात् योगेश्वर स्वयं श्रीकृष्णहीके मुखसे सुना है ।

[पहलेही लिख चुके हैं, कि व्यासजीने संजयको दिव्य-दृष्टि दी थी, जिससे रणभूमिपर होनेवाली सारी घटनाएँ उसे घर बैठेही दिखायी देती थीं, और उन्हींका वृत्तान्त वह धृतराष्ट्रसे निवेदन कर देता था । श्रीकृष्णने जिस योगका प्रतिपादन किया, वह कर्मयोग है (गीता ४. १–३), और अर्जुनने पहले उसे 'योग' (साम्यंयोग) कहा है (गीता ६. ३३); तथा अब इस श्लोकमें संजयभी श्रीकृष्णार्जुनके संवादको 'योग'ही कहता है । इससे स्पष्ट है, कि श्रीकृष्ण, अर्जुन और संजय, तीनोंके मतानुसार गीताका प्रतिपाद्य विषय; 'योग' अर्थात् कर्मयोगही है; और अध्याय-समाप्तिसूचक संकल्पमेंभी वही, अर्थात् योगशास्त्र, शब्द आया है । परंतु 'योगेश्वर' शब्दमें 'योग' शब्दका अर्थ इससे कहीं अधिक व्यापक है । योगका साधारण अर्थ कर्म करनेकी युक्ति, कुशलता या शैली है । इसी अर्थके अनुसार कहा जाता है, कि बहुरूपिया योगसे अर्थात् कुशलतासे अपने स्वाँग बना जाता है । परंतु जब कर्म करनेकी इन युक्तियोंमें श्रेष्ठ युक्तिको खोजते हैं, तब कहना पड़ता है, कि परमेश्वर मूलमें अव्यक्त होनेपरभी जिस युक्तिसे वह अपने आपको व्यक्त स्वरूप देता है, वही युक्ति अथवा योग सबसे श्रेष्ठ है । इसीको गीतामें 'ईश्वरी योग' (गीता ९. ५; ११. ८) कहा है; और वेदान्तमें जिसे माया कहते हैं, वहभी यही है (गीता ७. २५)। यह अलौकिक अथवा अघटित योग जिसे साध्य हो जाय, उसे अन्य सब युक्तियाँ तो हाथका मैल है । परमेश्वर इन योगोंका अथवा मायाका अधिपति है, अतएव उसे योगेश्वर अर्थात् योगोंका स्वामी कहते हैं । 'योगेश्वर' शब्दमें योगका अर्थ पातंजलयोग नहीं है ।]

(७६) हे राजा (धृतराष्ट्र) ! केशव और अर्जुन, दोनोंके इस अद्‌भुत एवं पुण्य-

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

कारक संवादका स्मरण होकर मुझे बार बार हर्ष हो रहा है; (७७) और हे राजा ! श्रीहरिके उस अत्यंत अद्भुत विश्वरूपकीभी बार बार स्मृति होकर मुझे बडा विस्मय होता है, और बार-बार हर्ष होता है । (७८) मेरा मत है, कि जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धर अर्जुन है, वहीं श्री, विजय, शाश्वत ऐश्वर्य और नीति है ।

[उक्त सिद्धान्तका सार यह है, कि जहाँ युक्ति और शक्ति, दोनों एकत्रित होती हैं, वहाँ निश्चयही ऋद्धि-सिद्धि निवास करती हैं, कोरी शक्तिसे अथवा केवल युक्तिसे सदैव काम नहीं चलता । जब जरासंधका वध करनेके लिये मंत्रणा हो रही थी, तब युधिष्ठिरने श्रीकृष्णसे कहा है, कि " अन्धं बलं जडं प्राहुः प्रणेतव्यं विचक्षणैः " (मभा. सभा. २०. १६) – बल अन्धा और जड़ है, बुद्धिमानोंको चाहिये, कि उसे मार्ग दिखलावें; तथा श्रीकृष्णनेभी यह कह कर, कि " मयि नीतिर्बलं भीमे " (सभा. २०. ३) – मुझमें नीति है और भीमसेनके शरीरमें बल है; भीमसेनको साथ लेकर उसके द्वारा जरासंधका वध युक्तिसे कराया है । केवल नीति बतलानेवालेको आधा चतुर समझना चाहिये । अर्थात् इस श्लोकमें योगेश्वरका अर्थ योग या युक्तिके ईश्वर है और धनुर्धरका योद्धा, और यहाँ ये दोनों विशेषण हेतुपूर्वक दिये गये हैं ।]

इस प्रकार श्रीभगवानके गाये हुए – अर्थात् कहे हुए – उपनिषदमें, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग – अर्थात् कर्मयोग – शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

[ध्यान रहे, कि " मोक्ष-संन्यासयोग 'शब्दमें' 'संन्यास' " शब्दका अर्थ 'काम्य कर्मोंका संन्यास' है, जैसा कि इस अध्यायके आरंभमें कहा गया है, यहाँ चतुर्थ आश्रमरूपी संन्यास विवक्षित नहीं है । इस अध्यायमें प्रतिपादन किया गया है, कि स्वकर्मको न छोड़ कर उसे परमेश्वरमें मनसे संन्यास अर्थात्

[समर्पित कर देनेसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है, अतएव इस अध्यायका मोक्ष-संन्यासयोग नाम रखा गया है।]

इस प्रकार बाल गंगाधर तिलककृत श्रीमद्भगवद्गीताका रहस्य-संजीवन नामक प्राकृत अनुवाद टिप्पणीसहित समाप्त हुआ।

गंगाधर-पुत्र, पूना-वासी, महाराष्ट्र विप्र,
वैदिक तिलक बाल बुध ते विधीयमान।
'गीतारहस्य' किया श्रीश को समर्पित यह,
वाँर काँल योर्ग भूँमि शकमें सुयोग जान।

॥ ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

॥ शान्तिः पुष्टिस्तुष्टिश्चास्तु ॥

गीताके श्लोकोंकी सूचि

र

ग्रंथ और ग्रंथकारोंकी सूचि

इस सूचिपत्रकी स्थूलरूपसे छानवीन करनेसेभी पाठक उसकी रचनाकी कल्पना कर सकेंगे। ग्रंथ और ग्रंथकारोंके नाम अक्षरानुक्रमसे दिये गये हैं और एकही स्वरूपके ग्रंथोंकी तालिका एकही दी गई है। युरोपियन ग्रंथकारोंकी सूचि स्वतंत्र-रूपसे दी गई है। गीताके रहस्यके स्पष्टीकरणके लिये विषयविवेचनके अनुरोधसे आनेवाले व्यक्तियोंका निर्देश स्वतंत्र शीर्षकके नीचे किया गया है और पारिभाषिक शब्दोंका समावेश व्याख्याओंमें किया गया है। टि.से टिप्पणी समझें।

ग्रंथ और ग्रंथकार

व्यक्तिनिर्देश

यूरोपियन ग्रंथकार

व्याख्या (पारिभाषिक शब्द)

हिंदु धर्म-ग्रंथोंका संक्षिप्त परिचय

हिंदु धर्मके मूलभूत ग्रंथोंमें, महत्त्व और कालानुक्रमकी दृष्टिसे, वेद श्रेष्ठ और आद्य ग्रंथ हैं, और संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषदोंका उन्हींमें समावेश किया जाता है। यज्ञयागादिके कर्मकाण्ड और परमार्थ-विचारोंके ज्ञानकाण्ड, इन दोनोंका मूल उक्त त्रयीमें है। तथापि ज्ञानकाण्डके मूलभूत आधार-ग्रंथ उपनिषद् हैं। हिंदु-धर्मके सामाजिक व्यवहारोंका नियंत्रण स्मृतिग्रंथोंके द्वारा किया जाता है; परंतु उनका मूल आधार गृह्यसूत्र हैं। गृह्यसूत्रोंके अतिरिक्त औरभी अनेक सूत्र-ग्रंथ हैं; परंतु उनका संबंध धर्मव्यवहारोंसे नहीं है, बल्कि केवल विश्वके रहस्यका उद्घाटन करनेवाली विविध विचार-परंपराओंसे है। इन विविध विचार-परंपराओंकोही षड्दर्शन कहते हैं। गौतमके न्यायसूत्र, सांख्यसूत्र, वैशेषिकसूत्र, जैमिनीके पूर्वमीमांसासूत्र, बादरायणके वेदान्त अथवा ब्रह्मसूत्र, पतंजलीके योगसूत्र इत्यादिका षड्दर्शनमें समावेश होता है; परंतु षड्दर्शनके सिवाभी अन्य अनेक सूत्र-ग्रंथ हैं। उन्हींमें पाणिनीसूत्र, शाण्डिल्यसूत्र, नारदसूत्र इत्यादिकी गणना होती है। प्राचीन मूर्तिपूजारहित और निर्मल पारमार्थिक स्वरूपके वैदिक धर्ममें परिवर्तन होकर उपास्य देवताओंको माननेकी प्रवृत्ति जागी होनेके बाद पुराणोंका जन्म हुआ। महाभारत और रामायण पुराण नहीं, किंतु इतिहास हैं। पुराणोंमेंही गीताओंका समावेश होता है। गीतारहस्य-ग्रंथमें इस विषयका प्रसंगानुसार ऊहापोह किया गया है; परंतु पाठकोंको उसका एकत्र ज्ञान करा देनेके उद्देश्यसे तालिकाके रूपमें निम्नलिखित जानकारी दी जाती है।

(१) वेद अथवा श्रुतिग्रंथ :–

वेद :– अथर्व, ऋग्वेद।

संहिता :– (ऋचाओंका अथवा मंत्रोंका संग्रह। कर्म अथवा यज्ञकांड) तैत्तिरीय, मनु, वाजसनेयी, सूत।

ब्राह्मण :– (आरण्यक। कर्म अथवा यज्ञकांड) आर्षेय, ऐतरेय, कौषिक, कौषीतकी, तैत्तिरीय, शतपथ।

उपनिषद् :– (ज्ञानकांड) अमृतबिंदु, ईश (ईशावास्य), ऐतरेय, कठ, केन, कैवल्य, कौषीतकी (कौ. ब्राह्मण), गर्भ, गोपालतापनी, छांदोग्य, छुरिका, जाबाल-संन्यास, तैत्तिरीय, ध्यानबिंदु, नारायणीय, नृसिंहोत्तरतापनीय, प्रश्न, बृहदारण्यक, महानारायण, मांडूक्य, मुंडक (मुंड), मैत्री (मैत्रायणी), योगतत्त्व, रामतापनी, वज्रसूची, श्वेताश्वतर, सर्व।

(२) शास्त्र :–

१. **धर्मग्रंथ** :– गृह्य-सूत्र, स्मृति-ग्रंथ (मनु, याज्ञवल्क्य और हारीत)।

२. **सूत्र** (षड्दर्शन) :– जैमिनी (मीमांसा अथवा पूर्वमीमांसा), ब्रह्म (वेदान्त, शारीरक अथवा उत्तर-मीमांसा), न्याय (गौतम), योग (पातंजल), सांख्य (सांख्यकारिका), वैशेषिक ।

(३) **अन्य सूत्र :–** आपस्तंब, आश्वलायन, गृह्यशेष, तैत्तिरीय, नारद, नारद-पंचरात्र, बौधायनधर्म, बौधायनगृह्य, शांडिल्य ।

(४) **व्याकरण :–** पाणिनी ।

(५) **इतिहास :–** रामायण, महाभारत (हरिवंश) ।

(६) **पुराण :–** अष्टादश-महापुराण, अष्टादश-उपपुराण और गीताएँ ।

अष्टादश-पुराण :– अग्नि, कूर्म, गणेश, गरुड, गौडीय पद्मोत्तर, देवी-भागवत, नारद, नृसिंह, पद्म, ब्रह्मांड, भागवत, मत्स्य, मार्कंडेय, लिंग, वराह, विष्णु, स्कंद, हरिवंश ।

गीताएँ :– अवधूत, अष्टावक्र, ईश्वर, उत्तर, कपिल, गणेश, देवी, पराशर, पांडव, पिंगल, ब्रह्म, बोध्य, भिक्षु, मंकि, यम, राम, विचिख्यु, व्यास, वृत्र, शिव, शंपाक, सूत, सूर्य, हरि, हंस, हारीत ।

(७) **पाली ग्रंथ :–** अमितायुसुत्त, उदान, चुल्लवग्ग, तारानाथ, तेविज्जसुत्त (त्रैविद्यसूत्र), थेरगाथा, दशरथजातक, दीपवंस, धम्मपद, ब्रह्मजालसुत्त, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त, महापरिनिब्बाणसुत्त, महावंस, महावग्ग, मिलिंदप्रश्न, वत्थुगाथा, सद्धर्मपुंडरीक, सुत्तनिपात, सेल्लसुत्त, सब्बासवसुत्त ।
